अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

International Relations

(1945—68)



By

DR M L SHARMA

M.A., D.Litt.,

Professor (Emeritus) and Head of the Deptt. of History and sometime Vice-Chancellor University of Rajasthan.



कालेज बुक डिपो, जयपुर

प्रकाशक :
कालेज बुक डिपो
जयपुर

प्रथम संस्करण १९५८

मूल्य तीस रुपया मात्र

मुद्रक :
कालेज प्रेस
जयपुर

पाठकों से दो शब्द

आज के युग में केवल राजनीति के विद्यार्थी के लिए ही नहीं बल्कि सामान्य व्यक्ति के लिए भी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं का उतना ही महत्व है जितना स्थानीय अथवा पारिवारिक घटनाओं का। राजनीति जीवन का सूत्र बन चुकी है और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रभाव से कोई मुक्त नहीं है। अन्तर्राष्ट्रीय जगत में घटित होने वाली घटनाओं का प्रत्येक समाज और प्रत्येक राष्ट्र पर प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। अतः उपयोगिता की दृष्टि से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर किसी भी अच्छे ग्रन्थ का प्रणयन स्वतः ही आवश्यक एवं वांछनीय है।

प्रस्तुत पुस्तक द्वितीय महायुद्ध के बाद से अब तक की अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं और क्रिया-कलापों का चित्र प्रस्तुत करने का एक प्रयास है। अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं के किसी भी चित्र में जिन बातों का समावेश करना चाहिए—उन्हें, पुस्तक के कलेवर के अनुरूप समाविष्ट करने की चेष्टा की गई है। चूंकि पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय अन्तर्राष्ट्रीय ऐतिहासिक घटनाक्रमों, राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों आदि के व्यावहारिक रूप का दिग्दर्शन करना है, अतः अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के सैद्धान्तिक पक्ष को प्रस्तुत नहीं किया गया है—आवश्यकतानुसार प्रासंगिक रूप में यथास्थान निर्देश कर देने का ध्यान अवश्य रखा गया है।

यह प्रयास किया गया है कि वर्णन पूर्ण स्पष्ट और आलोचनात्मक हो। विषय-सामग्री विविध और बहुल है। फिर भी यह पूरी चेष्टा की गई है कि पुस्तक पाठकों के लिए बोझिल न बन कर रोचक बनी रहे। विषय पूरी तरह बोधगम्य रहे भाषा दुरूह न हो आवश्यक प्रसंग छूटे नहीं—इन बातों का विशेष ध्यान रखा गया है।

पुस्तक के प्रणयन में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर लिखे गये सभी प्रसिद्ध विद्वानों के ग्रन्थों से पूरा लाभ उठाया गया है। उनके प्रति मैं आभार प्रकट करता हूं।

पुस्तक के प्रणयन व प्रकाशन में जिन मित्रों ने सहयोग दिया है उनका मैं कृतज्ञ हूं।

—लेखक

विषय-सूची

युद्धोत्तर विश्व

(THE POST WAR WORLD)

द्वितीय महायुद्ध का विनाशकारी रूप

युद्धोत्तर विश्व अथवा 'नूतन युग के नूतन क्षितिज'

(क) यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त
(ख) एशिया और अफ्रीका का जागरण
(ग) दो शक्ति गुटों का उदय
(घ) राष्ट्र मण्डल का प्रसार
(ङ) सिद्धान्तों का संघर्ष
(च) शीत युद्ध
(छ) प्रादेशिक संगठन
(ज) नि:शस्त्रीकरण
(झ) मध्य पूर्व और सुदूर पूर्व की विशिष्ट स्थिति
(ञ) विश्व सरकार अथवा एक विश्व का स्वप्न

हमारा झुकाव अब भी यूरोपियन रंगमंच को सबसे अधिक महत्व
देने की ओर है। अब ऐसी बात नहीं रही ये वास्तव में
अब प्रथम कोटि की घटनाएं नहीं हैं । निस्सन्देह
रंगमंच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त
महासागर में पहुंच गया है। मेरा विचार है
कि अगले ५० वर्ष या इससे भी अधिक
वर्षों तक प्रशान्त महासागर की
समस्याएं विश्व-समस्याएं
होंगी।

—जनरल स्मट्स

वर्तमान
अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का
पुनर्गठन हो रहा है जिसमें कि पहले
की राज्य व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्य
व्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपों में
बदलती जा रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है
और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्र
राज्य एक बड़े संघ में विलीन होते जा रहे हैं ।

—डी. बी. कालिबार्दी

युद्धोत्तर विश्व

(The Post War World)

अपने को अपराजेय समझने वाले जर्मनी और जापान की आत्मघाती पराजय के साथ ही अगस्त १९४५ में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति हुई। लगभग ६ वर्ष तक लड़ा जाने वाला यह युद्ध मानव-इतिहास का सर्वाधिक क्रूर, भयानक और विनाशकारी युद्ध था जिसने लगभग सम्पूर्ण संसार के प्रत्येक राष्ट्र, यहाँ तक कि प्रत्येक परिवार को किसी न किसी रूप में प्रभावित किया। यह युद्ध इतना व्यापक और प्रभावकारी था कि इसके अन्त के साथ ही विश्व इतिहास के एक अध्याय अथवा युग का अन्त हो गया और 'नूतन युग व नूतन क्षितिज' का उदय हुआ।

द्वितीय महायुद्ध का विनाशकारी रूप—द्वितीय महायुद्ध मानव इतिहास के किसी भी पूर्ववर्ती युद्ध की अपेक्षा अधिक यान्त्रिक और वैज्ञानिक युद्ध था। यह युद्ध प्रधानतः मशीनों, टैंकों, पनडुब्बियों, जहाजों, हवाई-जहाजों और अन्य विनाशकारी अस्त्रों की सहायता से लड़ा गया था। युद्ध के दौरान सभी दलों ने अपने वैज्ञानिक अनुसंधानों का यथाशक्ति सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयोग किया था। समस्त राष्ट्रों की सम्पूर्ण वैज्ञानिक बुद्धि नये-नये विध्वंसकारी अस्त्रों के निर्माण में व्यय की गयी थी और युद्ध-सामग्री के उत्पादन में सम्पूर्ण राष्ट्रीय स्रोतों को लगा दिया गया था। उदाहरण के लिए, संयुक्त राज्य अमेरिका में अकेले अणु-बम के उत्पादन पर दो बिलियन डालर (२० अरब डालर) प्रतिवर्ष व्यय किया जाता था। वहाँ १९४२ में प्रतिदिन एक जहाज और प्रति पाँच मिनिट पर एक हवाई-जहाज का निर्माण हो रहा था।

महायुद्ध काल में ही दोनों पक्षों को अपार क्षति उठानी पड़ी थी। विनाश के सबसे अधिक भयंकर रूप का दर्शन सोवियत रूस को करना पड़ा था। यह अनुमान लगाया गया है कि अकेले स्टालिनग्राड के युद्ध में जितने सोवियत नागरिक मृत्यु के ग्रास बने थे उनकी संख्या सम्पूर्ण युद्ध में मारे गये अमरिकनों के बराबर थी। चूँकि सोवियत संघ के युद्ध-कालीन पाश्चात्य मित्रों ने १९४४ तक रूस के बार-बार कहने पर भी धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध कोई दूसरा मोर्चा नहीं खोला अतः नाजी जर्मनी का प्रहार सबसे अधिक मात्रा रूस को ही सहना पड़ा। अधिकृत सरकारी अनुमान के अनुसार युद्ध के परिणामस्वरूप ७० लाख सोवियत नागरिक मारे गये, १७ हजार नगर ध्वस्त हुए और १ खरब २८ करोड़ डालर की सम्पत्ति नष्ट हुई। ८ लाख वर्गमील से भी अधिक भू-क्षेत्र को नाजियों ने बर्बाद कर दिया। सभी मिलों, फैक्टरियों, विद्युत-स्टेशनों और रेल-मार्गों का कल्पनातीत रूप में संगठित विनाश किया गया। लगभग २५० लाख नागरिक गृहहीन हो गये। इसके अतिरिक्त युद्ध के

कुप्रभावों के फलस्वरूप जन्म दर में कमी और मृत्यु दर में वृद्धि के फलस्वरूप ८० लाख प्राणों से सोवियत रूस को हाथ धोना पड़ा।

युद्ध में फ्रान्स को १ लाख ८० हजार प्राणों से हाथ धोना पड़ा। उसके १० लाख मकान पूर्ण रूप से नष्ट हो गये और ४० लाख मकानों को गंभीर क्षति पहुँची। फ्रान्स के कृषि-उत्पादन में ३८% की कमी हो गई और औद्योगिक उत्पादन भी पहले से ३०% गिर गया। उत्पादन में कमी हो जाने और मुद्रा प्रसार के कारण रहन-सहन की कीमतें भी आकाश छूने लगीं। यह अनुमान लगाया गया है कि १९४५ में रहन-सहन की कीमतों में २६१% की वृद्धि हो गयी थी।

द्वितीय महायुद्ध ने ग्रेट ब्रिटेन को राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टि से गम्भीर क्षति पहुँचाई। १९३९ में ब्रिटेन विश्व का एक प्रमुख ऋणदाता राष्ट्र था किन्तु युद्ध के बाद १९४५ में यह एक ऋणी अथवा कर्जदार राष्ट्र हो गया। उसकी विदेशी देनदारियां लगभग ३ ५०० ००० ००० पौंड हो गई। विदेशों में उसकी पूंजी (Foreign Investments) १९३९ में ४ ००० ००० ००० पौंड थी जो घटकर १९४५ में १ ००० ००० ० ० रह गई। युद्ध में ब्रिटेन को अपने ४ लाख ४५ हजार व्यक्तियों का बलिदान देना पड़ा। १९३८ में ब्रिटेन के व्यापारिक जहाज (Merchant marine) २२ मिलियन टन थे किन्तु १९४५ में वे घटकर १६,००० ००० टन ही रह गये। ब्रिटेन का आन्तरिक ऋण (Internal Debt) १९३८ में ४० ००० ००० ००० डॉलर था जो १९४५ में बढ़ कर १०० ००० ००० ००० डॉलर हो गया। ब्रिटेन का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार पहले की अपेक्षा बहुत अधिक गिर गया। जन शक्ति की कमी के कारण कोयला और कपड़े का उत्पादन बहुत कम हो गया और उसमें लगभग ४१ प्रतिशत गिरावट आ गई। लोहा, कोयला, स्टील, मशीनरी, काँच आदि मूल भूत उद्योगों के इस पतन से ब्रिटेन की आर्थिक व्यवस्था लगभग नष्ट सी हो गई। उसके विदेशी बाजार संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे औद्योगिक देश के हाथों में खिसकने लगे। ब्रिटेन की शोचनीय स्थिति ने उसके राजनीतिक प्रभुत्व को गम्भीर क्षति पहुँचाई और अब उसकी गणना संसार के तृतीय श्रेणी के राज्य में होने लगी। अपनी नष्ट प्राय अर्थव्यवस्था के पुनरुद्धार के लिये उसे १९४६ में संयुक्त राज्य अमेरिका से ३ अरब ७५ करोड़ डॉलर का दो प्रतिशत ब्याज पर ५० वर्ष के लिये कर्ज लेना पड़ा।

द्वितीय महा-युद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये प्रच्छन्न रूप में एक वरदान सिद्ध हुआ। युद्धोत्तर विश्व ने अमेरिका को आर्थिक समृद्धि के शीर्ष पर विराजमान देखा। प्रथम महायुद्ध ने अमेरिका को एक ऋणी से ऋणदाता राष्ट्र के रूप में बदल दिया था और द्वितीय महायुद्ध ने सम्पूर्ण संसार पर आर्थिक प्रभुत्व को आच्छादित कर दिया। इस आर्थिक समृद्धि का रहस्य यही था कि अन्य संघर्षरत राष्ट्रों के समान उसे युद्ध-जनित विनाश का सामना नहीं करना पड़ा। जर्मनी, ब्रिटेन, रूस, इटली, फ्रान्स आदि सभी राष्ट्रों को भयंकर बम वर्षा का शिकार होना पड़ा और ब्रिटेन को छोड़ कर इन सभी राष्ट्रों की भूमि पर घनघोर युद्ध हुआ था। सौभाग्यवश अमेरिका इस दुर्दशा

से बचा रहा। न उसकी भूमि पर युद्ध लड़ा गया और न उसे अन्य राष्ट्रों के समान क्रूर बम-वर्षा का शिकार ही होना पड़ा। इसीलिये जहाँ युद्ध काल में और युद्ध के उपरान्त अन्य देश आर्थिक एवं औद्योगिक दृष्टि से विनष्ट हुए वहाँ अमेरिका का उत्पादन न केवल पूर्ववत् स्थिर रहा अपितु बढ़ता ही गया। युद्ध के भीषण कुदिनों से बचे रहने के कारण युद्धोपरान्त वह आर्थिक दृष्टि से संसार का नेता बन गया। उसके औद्योगिक उत्पादन में लगभग ५० प्रतिशत और कृषि-उत्पादन में लगभग ३६ प्रतिशत की वृद्धि हुई। युद्ध में प्राणों की हानि भी अमेरिकन राष्ट्र को तुलनात्मक रूप से अन्य देशों की अपेक्षा कम हुई। उसके कुल मिलाकर ३ लाख २५ हजार व्यक्ति युद्ध की बलिवेदी पर चढ़े। इन सब कारणों से संयुक्त राज्य अमेरिका सम्पूर्ण युद्ध-पीड़ित जगत के लिये एक आर्थिक महाशक्ति बन गया। इसके अतिरिक्त उसके पास अणुबम का रहस्य भी था जो उसे राजनीतिक एवं सैनिक दृष्टि से संसार में सबसे अधिक शक्ति प्रदान कर रहा था। अब संसार और विशेषतः लोकतन्त्रवादी जगत का नेतृत्व ब्रिटेन के हाथों में से खिसक कर संयुक्त राज्य अमेरिका के हाथों में आ गया था। प्रत्येक देश उसकी सहायता के लिये लालायित था।

युद्ध से पराजित देशों की क्षति तो कल्पनातीत हुई। युद्ध समाप्त होने तक इटली आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक दृष्टि से एक मृत प्राय राष्ट्र बन गया। उसके जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में घोर अव्यवस्था व्याप्त हो गई। युद्ध में हुए विनाश के कारण उसकी राष्ट्रीय सम्पत्ति युद्धपूर्व की कुल १/३ रह गई। उसे लगभग १०० ००० अरब लिरा (Liras, इटालियन सिक्का) की साम्पत्तिक क्षति उठानी पड़ी। युद्ध में उसके ६०१ ६४७ सैनिक मारे गये। / नागरिक लोगों की मृत्यु संख्या ७८१ ४५० थी। १९४५ के मूल्य के अनुसार सार्वजनिक सम्पत्ति को १ ४५०,०००,००० लिरा की क्षति पहुँची। उसके ६० प्रतिशत व्यापारिक जहाज नष्ट हो गए और ४० प्रतिशत रेल्वे मार्ग ध्वस्त हो गया। युद्ध के कारण इटली का कृषि उत्पादन चौपट होगया। इटालियन कृषि को लगभग २५० ००० ००० ००० लिरा की क्षति पहुँची। उद्योगों को होने वाली हानि का अनुमान लगभग ४ ५०० अरब लिरा (450 billion liras) लगाया गया और अन्य प्रकार की गम्भीर व्यापारिक क्षतियाँ भी ८० अरब (8 billions) से अधिक हुईं। युद्ध से पहले की अपेक्षा रहन-सहन की कीमतें २० से ३० गुनी तक बढ़ गईं जबकि लोगों की मजदूरी केवल ३ गुनी अधिक हुई। बेकारी की संख्या १९४५ तक अनुमानतः २० लाख से भी अधिक हो गई।

जर्मनी को तो और भी भयानक विनाश का सामना करना पड़ा। युद्ध में ४० लाख जर्मन नागरिकों अथवा सैनिकों को प्राणों से हाथ धोना पड़ा या घायल होना पड़ा। उसके लगभग सभी महत्त्वपूर्ण नगर विनाश के मूर्तिमान स्वरूप बन गये और ३५ लाख से भी अधिक मकान पूरी तरह नष्ट कर दिये गये जिसके परिणामस्वरूप ७ लाख ५० हजार व्यक्ति गृहहीन हो गये। एक निरीक्षक के अनुसार १९४५ में जर्मनी विनष्ट नगरों, अधमरे व्यक्तियों और कल्पनातीत भयंकर दुर्दशाओं का देश था। जर्मनी ने युद्ध में लगभग २ खरब ७२ अरब डॉलर व्यय किये। इसके अतिरिक्त उसे क्षतिपूर्ति का भार

व्यय का अनुमान १० ०००,००० ००० डालर लगाया गया। ऑस्ट्रिया की दशा भी बहुत बुरी बनी। उसकी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था नष्ट भ्रष्ट हो गई क्योंकि उसे हिटलर ने जर्मन उद्योगों के लिये वायु आक्रमण से आश्रयस्थल (The Air Raid Shelter for German Industry) का रूप दे दिया। यूगोस्लाविया में हुए विनाश का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि युद्ध की समाप्ति पर वहाँ केवल एक रेलवे लाइन काम कर रही थी। हंगरी के ७० प्रतिशत कल-कारखाने युद्ध-काल में नष्ट होगये। डेनमार्क को गम्भीर आर्थिक एवं औद्योगिक हानि उठानी पड़ी। युद्ध काल में उसका आयात निर्यात व्यापार ६५ प्रतिशत से भी अधिक गिर गया। जर्मन आधिपत्य के परिणामस्वरूप नार्वे को २ ०००,००० ००० डालर की हानि सहनी पड़ी। तटस्थ स्वीडन को भी युद्ध से पीड़ित होना पड़ा। १९३९ से १९४४ की अवधि में लगभग १२५ ००० फिनलैण्डवासियों अथवा फिनों (Finns) को अपने प्राणों का विसर्जन करना पड़ा। बेल्जियम के अनुमानतः एक लाख व्यक्ति मारे गये और उसके २५ प्रतिशत मकान विनष्ट अथवा क्षतिग्रस्त हो गये। यूनान, इटली और जर्मन फौजों के बीच में करीब करीब पिस गया और उसे अकथनीय क्षति उठानी पड़ी। संक्षेप में द्वितीय महायुद्ध ने सम्पूर्ण संसार पर विनाश की कालिमा पोत दी। युद्ध समाप्त होने पर संसार के सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों के सम्मुख मानव इतिहास के सम्भवतः सर्वाधिक भयंकर आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक संकट विद्यमान थे। सर्वत्र अव्यवस्था का साम्राज्य था। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में निराशा और साहसहीनता का बोल-बाला था लेकिन पुनर्निर्माण की चिन्ता सभी को सता रही थी।

युद्धोत्तर विश्व अथवा 'नूतन युग के नूतन क्षितिज'
[The Post-War World]

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति धुरी राष्ट्रों की पराजय और मित्रराष्ट्रों की विजय में हुई। मानव इतिहास के एक अध्याय की इतिश्री हो गई और दूसरे का समारम्भ हुआ। इस 'नूतन युग' में 'नूतन क्षितिज' उभरे प्रभुत्व के क्षेत्र बदल गए नवीन प्रवृत्तियों और सिद्धान्तों का प्रादुर्भाव हुआ और नवीन समस्यायें अन्तर्राष्ट्रीय जगत को सताने लगीं। विश्व इतिहास के इस युद्धोत्तर युग ने विज्ञान की अभूतपूर्व प्रगति के दर्शन किये और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की अनेक प्राचीन तथा परम्परागत मान्यताओं को नष्ट कर दिया। इस युग में अनेक विरोधी प्रवृत्तियाँ एक साथ क्रियाशील हुईं और विभिन्न 'वाद' विश्व को प्रभावित करने लगे। *यूरोपियन राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की दुर्बलताओं के प्रति* सचेतनता आई तो एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्र राष्ट्रीय संप्रभुता की पवित्रता का प्रतिपादन करने लगे। ये प्रवृत्तियाँ मिटी नहीं प्रत्युत आज भी जारी हैं और इसीलिए डी० क्राउले (Desmond Crowley) के शब्दों में यह ठीक ही व्यक्त किया गया है कि "बीसवीं शताब्दी के मध्य में विश्व अपने इतिहास के एक अनोखे और क्षिप्र चलित युग में से गुजर रहा है।"*

**D. Crowley* The Background to Current Affairs, p 1

युद्धोत्तर युग ने एक साथ इतनी नवीनताओं और विलक्षणताओं को जन्म दिया कि उनका पूर्ण निरूपण एक जटिल विषय है। महायुद्ध ने किस तरह एक नवीन युग का सूत्रपात किया और किन नवीन परिवर्तनों को जन्म दिया—इन्हें मोटे रूप में निम्नलिखित पृथक्-पृथक् शीर्षकों के अन्तर्गत प्रकट करना सुविधा व बोधगम्यता की दृष्टि से उपयोगी होगा।

(१) यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त—युद्धोत्तर युग की प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति देखने को मिली यूरोपियन प्रभुत्व का अन्त। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व तक यूरोप विश्व इतिहास का निर्माता था। सन् १४९२ में कोलम्बस द्वारा नयी दुनिया की खोज से लेकर १९३९ तक के युग को विश्व इतिहास का यूरोपियन-युग कहा जाता था। किन्तु द्वितीय महायुद्ध ने यूरोपियन राष्ट्रों के आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व को धराशायी बना दिया उनकी सामरिक शक्ति को गहरा आघात पहुंचाया। प्राचीन काल का "संसार को अनुशासित करने वाला यूरोप (World dominating Europe) महायुद्ध के बाद नवीन 'समस्या प्रधान यूरोप' (Problem Europe) बन गया। १९४५ में इसके राजनीतिक प्रभुत्व का सूर्य अस्ताचल को पहुंच चुका था और विश्व-नेतृत्व उसके हाथों से निकल चुका था। वैसे तो यूरोपियन प्रभुत्व के पतन के प्रभाव के लक्षण प्रथम महायुद्ध और उसके बाद के युग में ही दृष्टिगोचर होने लगे थे किन्तु द्वितीय महायुद्ध ने तो यूरोपियन प्रभुत्व का एक प्रकार से जनाजा ही निकाल दिया। महायुद्ध समाप्त होने तक जर्मनी बरबाद हो चुका था इटली अपनी कब्र में तड़प रहा था और ब्रिटेन तथा फ्रांस आदि की स्थिति तृतीय श्रेणी के राष्ट्रों जैसी हो चुकी थी। युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया कि अब संसार में दो ही महानतम शक्तियां रह गई हैं—सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। ये दोनों ही देश प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उदित हुए और युद्धोत्तर विश्व इन्हीं के प्रभाव क्षेत्रों में बंटने लगा। विश्व का नेतृत्व यूरोप के हाथ से निकल कर इन दोनों राष्ट्रों के हाथों में आ गया। दोनों राष्ट्र मानव-चिन्तन की दो प्रबल विचारधाराओं के प्रतीक बन गये। सोवियत रूस साम्यवादी विचार की ध्वजा फहराने लगा तो संयुक्त राज्य अमेरिका लोकतंत्रवादी आकांक्षाओं का सहारा बन गया।

'नूतन युग' के नूतन क्षितिज में उदित रूस और अमेरिका रूपी दो सितारों ने तो यूरोप के हाथों से विश्व-नेतृत्व की कुंजी छीन ही ली। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण ने भी यूरोपियन राष्ट्रों के अवशिष्ट प्रभाव को खतरा पैदा कर दिया। उन देशों में जो यूरोपियन प्रभुत्व के अधीन थे राष्ट्रीयता और जन-जागरण की शक्तियां इतनी प्रबल हो उठीं कि यूरोपियन राष्ट्रों के लिये वहां अपने साम्राज्यों का बनाये रखना एक अत्यन्त दुष्कर कार्य होगया पराजित राष्ट्रों जर्मनी इटली जापान आदि के साम्राज्य तो छिन ही गये परन्तु ब्रिटेन फ्रांस आदि विजेता राष्ट्र भी अपने साम्राज्यों की रक्षा नहीं कर सके। काल-चक्र से प्रभावित होकर शनैः शनैः ब्रिटेन फ्रांस हालैण्ड बेल्जियम आदि के साम्राज्यों के अधिकांश प्रदेश स्वतंत्र होगये। यद्यपि पुर्तगाल और स्पेन आदि कुछ देश अफ्रीका के कुछ प्रदेशों में अभी तक जमे हुए हैं परन्तु यह तथ्य संदेहरहित है कि यूरोप का साम्राज्य-सूर्य अस्त हो चुका है।

(२) एशिया और अफ्रीका का जागरण—प्रथम एवं द्वितीय महायुद्धों ने एशिया तथा अफ्रीका में युगान्तकारी परिवर्तन किये। इन युद्धों से पहले य दोनों महाद्वीप विभिन्न यूरोपियन देशों के साम्राज्य के अंग थे। अफ्रीका का एक मात्र स्थानीय स्वतंत्र राज्य इथोपिया १९३५ में इटली के साम्राज्य वाद का शिकार बन गया था और एशिया का अधिकांश प्रदेश १९१४ तक ब्रिटिश फ्रेन्च डच एवं रूस साम्राज्यों के अंग हो चुके थे। इस समय तक यहां केवल चीन जापान स्याम अफगानिस्तान और टर्की ही स्वाधीन बचे थे। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर सम्पूर्ण एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता और जागरण की गहरी लहर आयी और द्वितीय महायुद्ध के बाद इसने प्रबल बाढ़ का रूप ले लिया। यह कहा जा सकता है कि १९१९ के बाद एशिया और अफ्रीका में यूरोपियन साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और १९४५ के बाद इसका समूलोन्मूलन होने लगा।

वास्तव में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति और संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना के बाद का दशक एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीप के लिए नयी आशाएं एवं स्वर्णिम भविष्य लेकर उपस्थित हुआ। एशिया और विशाल अज्ञात अन्ध महाद्वीप (अफ्रीका) में त्वरित गति से घटनाएं घटीं और आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक क्रान्तियों के भीषण विस्फोट हुए। दोनों महाद्वीपों का नया चित्र धीरे धीरे अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर उभरने लगा और इसने पराधीन राष्ट्र स्वतंत्र होने लगे। जी सी स्मिथ (Gordon Connell Smith) के शब्दों में अब "यह स्पष्ट हो गया कि भविष्य के लिए यूरोपियन राष्ट्रों के सम्बन्ध और गैर-यूरोपियन राष्ट्रों के सम्बन्ध सर्वाधिक महत्वपूर्ण होंगे।"* युद्धोत्तर काल में भारत बर्मा, कम्बोडिया श्रीलंका घाना इंडोनेशिया इजरायल जोर्डन कोरिया लाओस लेबनान लीबिया मोरक्को, फिलिपाइन्स सूडान सीरिया, ट्यूनिशिया आदि देश स्वतंत्र हुए। १९६० में अफ्रीका के १६ देशों ने स्वतन्त्रता प्राप्त की और इसीलिए १९६० को अफ्रीका का स्वाधीनता का वर्ष तक कहा जाता है। इसमें कोई संदेह नहीं कि महायुद्ध के बाद के विश्व में एशिया और अफ्रीका की राजनीति के इतिहास में निर्णायक भूमिका होगी। पामर और पर्किन्स (Palmer and Perkins) के अनुसार "एशिया का विद्रोह २०वीं शताब्दी का सर्वाधिक महत्वपूर्ण विकास सिद्ध हो सकता है।"†

१९४५ के उपरान्त यूरोपियन साम्राज्यवाद अथवा औपनिवेशिक व्यवस्था को कितना प्रबल आघात पहुंचा इसका अनुमान इसी तथ्य से सुगमता -पूर्वक लगाया जा सकता है कि पहले जहां संसार की जनसंख्या का ३३% भाग इन उपनिवेशों में निवास करता था वहां आज इसकी संख्या घट कर १४ प्रतिशत रह गयी है। महायुद्ध से पूर्व अनेक ऐसे भी देश थे जो कहने भर के लिए स्वतन्त्र थे अन्यथा वास्तव में वे भी आर्थिक साम्राज्यवाद के पंजों में

*G C Smith Pattern of the Post War World, p. 9

†Palmer and Perkins—International Relations, p 472. (Second Edition)

जकड़े हुए थे। ऐसे देशों में चीन और मिस्र के नाम उदाहरण रूप में लिये जा सकते हैं। युद्धोत्तरकाल इन देशों ने भी न केवल वास्तविक स्वतन्त्रता को प्राप्त किया अपितु आधुनिक विश्व में वह स्थान भी हासिल कर लिया कि आज के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उनकी भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। चेस्टर बाउल्स (Chester Bowles) ने ठीक ही लिखा है कि 'सम्पूर्ण महाद्वीप पर हुई क्रांति के धुएँ और अग्नि में उन दिनों का अन्त हो गया है जबकि एशिया के गुलाम लोग किसी पश्चिमी राष्ट्र द्वारा आवाज दी हुई धुन के अनुसार नाच उठते थे।*

एशिया और अफ्रीका के लोगों में यूरोपियन आधिपत्य के विरुद्ध इतनी प्रबल लहर आखिर उठी क्यों? मैकमहोनबाल (W Mac Mahon Ball) के अनुसार विद्रोह की यह लहर निम्नलिखित तीन प्रमुख शक्तियों के कारण उपजी—†

१ विदेशी राजनीतिक नियंत्रण एवं उपनिवेशवाद विरोधी प्रवृत्ति।

२ अपनी दरिद्रता और अभाव की तीव्रतर अनुभूति करने वाले व्यक्तियों की सामाजिक और आर्थिक विद्रोह की आकांक्षा।

३ एक जातीय (Racial) विद्रोह की भावना अथवा युग का नियम के विरुद्ध विद्रोह अर्थात् यह दृढ़ निश्चय कि एशिया के भाग्य का निर्णय एशियावासी ही करेंगे यूरोपियन नहीं और पूर्व के नवीन राष्ट्र स्वयं में साध्य होंगे पाश्चात्य राष्ट्रों के साधन नहीं।

सार रूप में यह कहना चाहिए कि एशिया और अफ्रीका की क्रांति न केवल विदेशी दासता के विरुद्ध थी अपितु यह सामाजिक और आर्थिक उत्पीड़न के विरुद्ध भी एक विद्रोह की सूचक थी। इन महाद्वीपों में नवीन चेतना के प्रादुर्भाव के कारण यूरोपियन राष्ट्र इनमें फैले हुए अपने साम्राज्यों की रक्षा नहीं कर सके और धीरे धीरे स्वतंत्र होते चले गये। एशिया और अफ्रीका आज के जागते हुए सिंह हैं जिन्होंने न केवल पराधीनता की शृंखलाओं को तोड़ा है बल्कि जो इनसे भी अधिक प्रबल और शताब्दियों से चली आ रही निर्धनता निरक्षरता सामाजिक एवं जातीय भेद भाव तथा महामारियों आदि की लौह-शृंखलाओं से भी मुक्ति पाने का प्रयत्न कर रहे हैं। श्री नेहरू ने १९४७ में प्रथम 'एशियायी सम्बन्ध सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में ही घोषणा कर दी थी कि—"एक परिवर्तन हो रहा है, एशिया अपने स्वरूप को पुनः पहचान रहा है। हम परिवर्तन के महायुग में

---

* "The days when a Western nation could call the tune and the Asian subject peoples would dance to it have ended in the smoke and fire of a revolution across the whole continent."

—Chester Bowles

† *W Mac Mahon Ball* : Nationalism and Communism in East Asia, p. 1

रह रहे हैं और इसमें नवयुग तब आयगा जब एशिया अन्य महाद्वीपों के साथ अपना उचित स्थान ग्रहण करेगा। विश्व-इतिहास के इस संकट में एशिया अवश्य महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।"

एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों की गंभीरतम समस्याएं गरीबी और आर्थिक विषमता भी है। रूस और चीन ने साम्यवाद के अन्तर्गत जो तीव्र आर्थिक प्रगति की है उसने उन्हें बहुत अधिक प्रभावित किया है। युद्धोत्तर अवधि में अल्बानिया बल्गेरिया, चेकोस्लोवाकिया पूर्वी जर्मनी स्टोनिया हंगरी, लेटविया लिथुआनिया पोलैण्ड रुमानिया, बाह्य मंगोलिया उत्तरी कोरिया चीन आदि देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से साम्यवादी प्रभाव में चले गये हैं। विख्यात इतिहासज्ञ अर्नाल्ड टॉयनबी (Toynbee) ने यह भविष्यवाणी की है* कि आजकल हम (पश्चिमी देश) साम्यवाद की चुनौती को अधिक महत्व दे रहे हैं किन्तु जब भारत और चीन की अधिक शक्तिशाली सभ्यताएं पश्चिमी जगत की चुनौती का उत्तर देने लगेंगी तो साम्यवाद का महत्व घट जायगा और अन्ततोगत्वा ये सभ्यताएं हमारे पाश्चात्य जीवन पर उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव डालेंगी जितना प्रभाव रूस अपने साम्राज्य द्वारा हमारी सभ्यता पर डाल सकते हैं।"

वस्तुस्थिति यही है कि एशिया और अफ्रीका के "नूतन क्षितिज" (नवोदित राष्ट्र) न तो पाश्चात्य शक्तियों के समान साम्यवादी देशों को अपना अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शांति का शत्रु मानने को उद्यत हैं और न पाश्चात्य साम्राज्यवादी शिकंजे में फंसना चाहते हैं। दरिद्रता और आर्थिक विषमता का अन्त उनके लिए साम्यवाद अथवा लोकतंत्रवाद से कहीं अधिक महत्वपूर्ण लक्ष्य है।

(३) दो शक्ति गुटों का उदय—द्वितीय महायुद्ध का तृतीय महत्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि प्राचीन शक्ति संतुलन का पूरी तरह विनाश हो गया। युद्ध के उपरान्त दो प्रमुख फासिस्ट शक्तियों जर्मनी और इटली का पूर्ण पराभव हो चुका था और फ्रान्स के विनाश को देखने के लिए किसी यंत्र की आवश्यकता न थी। ब्रिटेन राजनीतिक, आर्थिक और सामरिक दृष्टि से पहले की अपेक्षा बहुत अधिक क्षीण हो चुका था। यूरोपीय महाद्वीप पर यदि कोई देश युद्धकालीन महान् क्षतियों के बावजूद भी शक्तिशाली होकर निकला था तो वह सोवियत संघ था। महायुद्ध ने २॥ करोड़ रूसियों को आवासहीन बना दिया था लाखों रूसी सैनिकों और नागरिकों के प्राण ले लिए थे और रूस के ८ लाख वर्ग मील से भी अधिक प्रदेश को भस्मीभूत कर दिया था। परन्तु रूस के ये सारे बलिदान और संकट उसके लिए सदृश वरदान सिद्ध हुए। उसको विशाल प्रदेशों की उपलब्धि हुई और अनेक पड़ोसी देशों पर उसकी आर्थिक नीतियों का प्रभाव पड़ा। युद्ध काल में तो उसने अपनी सीमाओं का पश्चिम में विस्तार कर ही लिया अब उसके सीमान्तों में वे सम्पूर्ण प्रदेश शामिल हो गये जो किसी समय जारकालीन रूस में हुआ करते थे। सामरिक क्षेत्र में ही नहीं अपितु विदेशों में भी रूस

*Civilization on Trial, p. 221

के प्रभाव में आशातीत वृद्धि हुई। प्रथम महायुद्ध के बाद इसको जितना अपमान सहना पड़ा था उतना ही अब इसका सम्मान बढ़ गया। इसका विश्व की राजनीति पर दूरगामी प्रभाव स्थापित हो गया और साम्यवादी सिद्धान्तों तथा जीवन दर्शन में मानव की आस्था में वृद्धि हो गयी। पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, बल्गेरिया, अल्बानिया, चैकोस्लोवाकिया आदि में जो सरकारें स्थापित हुई वे सोवियत संघ की मित्र बनीं। आन्तरिक क्षेत्र में स्टालिन का और शासन का पूर्ण प्रभुत्व स्थापित हो गया। लेनिन गुट का प्रभाव समाप्त हो गया और साम्यवादी दल में जो अवांछनीय तत्व थे वे स्टालिन का लोहा मानने लगे। इसके अतिरिक्त रूसी नागरिकों में आत्म-निर्भरता तथा आत्मविश्वास की प्रचुरता का अभूतपूर्व प्रादुर्भाव हुआ। समाजवादी पद्धति के कारण सोवियत संघ ने विस्मयजनक द्रुतगति के साथ अपना पुनर्निर्माण किया। अति अल्पकाल में ही रूसियों ने उत्साह और जोश के साथ नाजी आक्रमण की कड़वी स्मृतियों को धो डाला। युद्ध समाप्त हो जाने के बाद भी रूसी फौजों में कोई विशेष कमी नहीं की गयी। उन्हें आधुनिकतम भयंकर से भयंकर अस्त्रशस्त्र बनाने पर विशाल धन राशियाँ व्यय की गयीं। परिणाम यह हुआ कि रूस ने विभिन्न प्रकार के अणु आयुधों और अणु बमों का निर्माण कर लिया।

महायुद्ध से विनष्ट, ध्वस्त और अस्तव्यस्त संसार में केवल एक ही देश ऐसा बचा जो सोवियत संघ का मुकाबला करने में सक्षम था और लोकतंत्रवादी शक्तियों को समर्थ नेतृत्व दे सकता था। वह देश था संयुक्त राज्य अमेरिका। जैसा कि कहा जा चुका है युद्ध में अमेरिका को कोई विशेष क्षति नहीं पहुँची थी न उसे विनाशकारी बमबारी का शिकार होना पड़ा था और न उसकी भूमि पर रक्तरंजित होली ही खेली गयी थी। आर्थिक दृष्टि से वह संसार का समृद्धतम देश था उसके कल-कारखाने प्रचुर उत्पादन कर रहे थे और युद्ध के बाद के कुछ काल तक अणु रहस्य का वह एक मात्र स्वामी था। संसार के सभी पूँजीवादी देश अमेरिकन सहायता से अपनी अर्थ-व्यवस्था को ठीक रास्ते पर लाने का प्रयास कर रहे थे।

इस तरह स्पष्ट है कि युद्धोत्तर विश्व में शक्ति के दो प्रमुख केन्द्र हैं—सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका। इन दोनों ही के नेतृत्व में फिर से दो विरोधी शक्तिशाली गुटों का निर्माण होने लगा जिसने उस भयानक शीतयुद्ध (Coldwar) को जन्म दिया जो आज विश्व शांति के लिए एक गंभीर खतरा सिद्ध हो रहा है और जिस पर यदि नियंत्रण नहीं पाया गया तो यह वास्तविक युद्ध का रूप लेकर मानवता का विनाश कर सकता है। शक्ति के इन दो प्रमुख केन्द्रों के स्थापित हो जाने का युद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर अत्यन्त व्यापक प्रभाव पड़ा है। इसकी समीक्षा आगे का विषय है। यहाँ इतना ही लिख देना पर्याप्त है कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति ने परिस्थितियों को साम्यवाद के विकास के अधिक अनुकूल बनाया है, राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार में वृद्धि की है, साम्राज्यवाद विरोधी आन्दोलनों को गति दी है और आर्थिक गुलामी से मुक्ति की नवचेतना जागृत की है। सोवियत संघ की अपेक्षा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रभाव में निरन्तर कमी आयी है। इसकी समीक्षा करते

हुए स्टालिन के अपनी अंतिम पुस्तक सोवियत संघ में समाजवाद की आर्थिक समस्या (Economic Problem of Socialism in the U S S R) में लिखे गये ये शब्द उल्लेखनीय हैं कि "द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप संसार के पूंजीवादी बाजार की सीमाएं संकुचित हुई हैं जिसके फलस्वरूप संसार की पूंजीवादी व्यवस्था के सामान्य संकट में वृद्धि हुई है। पूंजीवादी बाजार के इसी विघटन ने औपनिवेशिक संकट को और गहरा बनाया है और फलतः सोवियत संघ और पश्चिमी देशों के बीच की खाई दिन पर दिन गहरी होती जा रही है।

(४) राष्ट्रमण्डल का प्रसार—१९४५ के उपरान्त एक अत्यधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि भारत और पाकिस्तान भी राष्ट्रमण्डल के सदस्य रहे अर्थात् ऐसे लोग जो ब्रिटिश अथवा यूरोपीय रक्त-सम्बन्ध के नहीं थे वे भी उसमें सम्मिलित हो गये। धीरे धीरे यूरोपीय एशियायी अफ्रीकी आदि अनेक जातियों के लोग राष्ट्रमण्डल के सदस्य बन गये और आज इसका रूप बहु जातीय (Multi racial) संस्था का है। राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य देश इंग्लैण्ड के ताज (Crown) को अपने-अपने राज्य का प्रतिकात्मक अध्यक्ष (Symbolic Head of State) मानते हैं, चाहे वे डोमिनियन हों या गणतंत्र हों।

(५) सिद्धान्तों का संघर्ष—प्रथम महायुद्ध से पूर्व तक अन्तर्राष्ट्रीय जगत में राष्ट्रीयता का सिद्धान्त प्रभावी था। युद्ध के दौरान अन्तर्राष्ट्रीय विश्व में अन्य नवीन सिद्धान्तों तथा आदर्शों का प्रवेश हुआ। पाश्चात्य देशों ने प्रजातन्त्र की रक्षा के सिद्धान्त के नाम पर युद्ध लड़ा, अमेरिकन राष्ट्रपति विल्सन ने शांति के विख्यात चौदह सूत्रों को प्रतिपादित करते हुए आत्मनिर्णय के सिद्धान्त की वकालत की और १९२० में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में विधि के शासन (Rule of Law) के प्रतिष्ठापन के लिए और अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा बनाये रखने के लिये राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। द्वितीय महायुद्ध के बाद सिद्धान्तों और आदर्शों पर विशेष आग्रह किया जाने लगा। वास्तव में द्वितीय महायुद्धोत्तर विश्व में सिद्धान्तों व आदर्शों पर बल देने की प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक प्रमुख विशेषता बन गयी। विभिन्न सिद्धान्तों आदर्शों अथवा विचारधाराओं ने सिर उठाया जिनमें से कुछ में साम्य था तो अधिकांश में परस्पर विरोध। ये विभिन्न विचारधाराएं पनपती रहीं अपनी शाखाओं प्रशाखाओं का विस्तार करती रहीं और आज भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को व्यापक रूप से प्रभावित कर रही हैं। १९४५ के उपरांत जिन सिद्धान्तों या आदर्शों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक रंगमंच पर अपना जौहर दिखाया है वे संक्षेप में प्रमुखतः निम्नलिखित हैं —

(क) अमेरिकन उदारवाद (American Liberalism)
(ख) साम्यवाद (Communism)
(ग) असंलग्नतावाद (Non-alignm nt)
(घ) राष्ट्रवाद (Nationalism)
(ङ) अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद (Internationalism and Humanism)

(ग) अमेरिकन प्रसारवाद—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त अमेरिका विश्व के सर्वाधिक शक्तिशाली और समृद्धतम राष्ट्र के रूप में प्रकट हुआ। ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ही राष्ट्रों में एकमात्र अमेरिका ही ऐसा राष्ट्र था जिस पर महायुद्ध के विनाश की छाया नहीं के बराबर पड़ी। अमेरिका ने देखा कि सम्पूर्ण यूरोप और विश्व के अन्यान्य देश अपनी आर्थिक पतन में बुरी तरह छटपटा रहे हैं और यदि आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए कुछ सहायता न दिया गया तो उनकी बची-खुची आर्थिक क्षमता भी बुरी तरह नष्ट हो जायगी। अमेरिका के इस उदारता की विचारधारा के मूल में यह विचार भी निहित था कि आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न यूरोप एवं विश्व के अन्य देश ही भविष्य में अमेरिका की आर्थिक समृद्धि का कारण और अमेरिकन माल के ग्राहक बन सकते हैं। यही सब कुछ सोचकर अमेरिका ने युद्धोपरान्त एक उदारवादी नीति अपनायी। एक तरफ तो उसने आर्थिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त यूरोपियन देशों को आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया और दूसरी तरफ पिछड़े हुए ऐशियायी राष्ट्रों को भी उनके निर्माण के कार्यों में सहायता देने की नीति अपनायी।

(घ) साम्यवाद—कार्ल मार्क्स के सिद्धान्तों का व्यावहारिक रूप साम्यवाद सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के बाद सोवियत रूस में प्रकट हुआ। दो महायुद्धों के बीच की अवधि में तो सोवियत संघ अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अपने प्रभाव को कुछ न जमा सका, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के दौरान और उसके पश्चात् वह संसार की एक महानतम शक्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर उभरा। अब सोवियत रूस साम्यवाद का केन्द्र बन गया और उसका एक मात्र लक्ष्य विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना हो गया। श्रमिकों और कृषकों के समर्थन तथा पूंजीपतियों के शोषण के विरोध के अपने आकर्षक विचारों से साम्यवाद ने विश्व के सामान्य जन का ध्यान अपनी ओर खींचा। विश्व के पराधीन राष्ट्रों को साम्यवाद ने स्वाधीनता का आश्वासन दिया, उनमें साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध कड़ा प्रचार करके राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार किया। साम्यवाद ने मनुष्य की रोटी, कपड़े आदि की मूल आवश्यकताओं को पूरा करने की गारण्टी देकर तथा बहुसंख्यक निर्धन परिवारों को सम्पन्न व खुशहाल बनाने का वायदा कर एशिया और अफ्रीका के देशों को अपने प्रभाव क्षेत्र के अन्तर्गत लाने में सफलता अर्जित की। अनेक देशों में साम्यवादी दलों द्वारा क्रांति अथवा गृह युद्ध के माध्यम से सत्ता को हथिया लिया गया। इस प्रक्रिया में मास्को द्वारा प्रेरणा, निर्देशन, सहयोग एवं मार्ग-दर्शन दिया गया। आज भी साम्यवाद अपने प्रभुत्व के प्रसार में प्रत्येक सम्भव साधन प्रयुक्त करने से नहीं चूकता। इसका ध्येय पूंजीवाद का अन्त कर श्रमिकों के अधिनायकत्व की स्थापना करना है। साम्यवादियों का यह विश्वास है कि अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य देश पूंजीपतियों की ईष्ट सिद्धि में रत हैं।

साम्यवाद के विकास की विश्व राजनीति पर तीव्र प्रतिक्रिया हुई। अमेरिका एवं यूरोप के पूंजीवादी देशों ने साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को अपने अस्तित्व के लिये खतरा समझा। फलतः उन्होंने इस विचारधारा का

डटकर विरोध करने की कमर कसली। इस क्रिया प्रतिक्रिया का ही यह परिणाम है कि आज सम्पूर्ण विश्व साम्यवादी और पूंजीवादी दो खेमों में विभाजित है और दोनों ही खेमे प्रत्येक स्थान पर प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार से एक दूसरे के प्रभाव को नष्ट करने को प्रयत्नशील हैं।

(घ) असंलग्नतावाद—द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त १९४७ में स्वतन्त्र भारत के उदय के साथ ही असंलग्नतावाद (Non-alignment) की प्रभावशाली विचारधारा प्रादुर्भूत हुई। भारत की इस विचारधारा का एशिया और अफ्रीका के अधिकांश नवोदित राष्ट्रों ने अपना समर्थन प्रदान किया। यह विचारधारा इस बात को मानने के लिए प्रस्तुत नहीं है कि साम्यवाद और अमेरिकन प्रजातांत्रिक उदारवाद हो विश्व के सामने सम्भावित मार्ग हैं। भारत ने प्रभावपूर्ण शब्दों में बलपूर्वक यह आवाज बुलन्द की कि भावी विनाश की स्थिति को रोकने के लिये यह आवश्यक है कि दोनों गुटों के बीच के मनमुटाव को कम किया जाय और उनके मध्य सहयोग तथा मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना की जाय। सौभाग्यवश सोवियत रूस में स्टालिन तथा स्टालिनवाद को समाप्त कर दिया गया अब वहाँ का दृष्टिकोण अपने विरोधी वर्गों और तटस्थ देशों के प्रति बहुत कुछ उदारतापूर्ण बन गया। पहले तटस्थता असंलग्न देशों को पूंजीवाद का पिट्ठू समझा जाता था, किन्तु ख्रुश्चेव युग में सोवियत सरकार ने असंलग्नतावादी देश भारत की ईमानदारी पूर्ण सक्रिय तटस्थता का आदर किया और वह भारत को अपना मित्र समझने लगी। भारत विश्व में असंलग्न या तटस्थ देशों (Non-aligned Countries) का नेता बना और उसने दृढ़ शब्दों में यह विश्वास व्यक्त किया कि रूस या अमेरिका दोनों में से किसी के भी शक्ति गुट का सदस्य बने बिना स्वयं अपना मार्ग खोजने और आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति करने में ही प्रत्येक राष्ट्र का कल्याण है।

(ङ) राष्ट्रवाद—१९४५ के उपरान्त एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवाद की प्रबल लहरें हिलोरें मारने लगीं। जहाँ १९११ के बाद इन महाद्वीपों में साम्राज्यवाद की पराजय प्रारम्भ हुई वहाँ १९४५ के बाद इसका सर्वतोमुखी ह्रास हो गया। यूरोप के पराभव पर राष्ट्रवाद का महत्व बढ़ा हो गया और राष्ट्रवाद की यह भावना आज के विश्व की सबसे बड़ी विशेषता बन चुकी है।

राष्ट्रवाद का विकास प्रायः वहाँ पर होता है जहाँ इसे दबाया जाता है। इसकी तुलना मानव आत्मा से की जा सकती है। मानव आत्मा की भाँति राष्ट्रवाद भी एक राष्ट्र को चेतना प्रदान करता है उसे विकास के लिये आगे बढ़ाता है उत्थान की प्रेरणा देता है और एक देश के स्वयं के व्यक्तित्व का निर्माण करने में सहायक बनता है। राष्ट्रवाद किसी भी देश की स्वतन्त्रता की आशा में ढाल का काम देता है क्योंकि इसके झण्डे के नीचे एकत्रित होकर सम्पूर्ण राष्ट्र की जनता अपनी स्वतन्त्रता के अपहरण-कर्ताओं का विरोध करने लगती है। द्वितीय महायुद्ध के बाद इसी शक्तिशाली राष्ट्रवाद की भावना ने एशिया और अफ्रीका के गुलाम राष्ट्रों में स्वाधीनता की उद्दाम लालसा उत्पन्न करदी और वे अपनी इच्छा के अनुसार अपना शासन और विकास करने को

कटिबद्ध होगये। शनैः-शनैः एक-एक करके अधिकांश पराधीन एशियायी और अफ्रीकी देशों ने अपनी पराधीनता की बेड़ियाँ काट डालीं और आज भी वे विश्व के दोनों शक्तिशाली गुटों और विशेषकर पश्चिमी अमेरिकन गुट की गति-विधियों के प्रति सशंकित रहते हैं ताकि वे पुनः किसी नवीन साम्राज्यवाद के चंगुल में न फंस जायें।

(४) अन्तर्राष्ट्रीयतावाद और मानवतावाद—द्वितीय महायुद्ध का एक दुष्परिणाम यह निकला कि अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की विचारधारा को लोकप्रियता प्राप्त होने लगी। आज एक तरफ तो सुसंगठित देश राष्ट्रवाद को समयानुकूल विचार मानकर अन्तर्राष्ट्रीयतावाद की ओर उन्मुख हो रहे हैं और दूसरी तरफ एशिया एवं अफ्रीका के नव-स्वतन्त्रता प्राप्त राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं का साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद विरोधी शक्ति के रूप में पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं।

युद्धोत्तर विश्व में एक अन्य विचारधारा 'मानवतावाद' प्रभावकारी रूप में सामने आयी। महायुद्ध के पहले और महायुद्ध की अवधि में अल्प-संख्यकों के अधिकारों को क्रूरतापूर्वक कुचला गया था। अतः युद्ध के बाद एक ऐसी व्यवस्था के स्थापित करने की आवश्यकता का अनुभव किया गया जो अल्पसंख्यकों की समस्या का सफलतापूर्वक समाधान कर सके। परिणामस्वरूप संयुक्तराष्ट्र संघ ने मानवीय अधिकारों का एक घोषणा-पत्र (*Declaration of Human Rights*) प्रस्तुत किया। इस तरह युद्धोत्तर विश्व में मानव-व्यक्तित्व की पवित्रता को स्थापित करने की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम उठाया गया।

(५) शीतयुद्ध—जैसा कि कहा जा चुका है द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय जगत में रूस और अमरीका इन दोनों महाशक्तियों का उदय हुआ। धुरी राष्ट्रों पर, विशेषकर नाजी जर्मनी पर विजय प्राप्त करने की समान स्वार्थ भावना के कारण युद्ध काल में रूस तथा अमेरिका एवं पाश्चात्य शक्तियों में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे थे किन्तु स्वार्थ पर आधारित मैत्री कब तक टिकी रह सकती थी ? युद्ध के बाद दोनों महा शक्तियों के मतभेद उग्र रूप में उठ खड़े हुए। साम्यवादी देशों का नेतृत्व रूस बन गया और साम्यवाद विरोधी देशों का नेतृत्व संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा किया जाने लगा। दोनों महाशक्तियों के संघर्ष ने एक नवीन प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध को जन्म दिया जो 'शीत-युद्ध' (Cold-war) के नाम से विख्यात है। इस प्रकार के सम्बन्ध में विरोधी राष्ट्रों में कूटनीतिक सम्बन्ध बने रहते हैं और स्पष्ट शत्रुता नहीं होती लेकिन फिर भी उनका पारस्परिक व्यवहार शत्रुवत रहता है। आज रूस और अमेरिका तथा उनके अपने-अपने पिछलग्गू राष्ट्रों के मध्य इसी शीत-युद्ध की स्थिति है। प्रत्येक गुट का जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण अलग है। धर्म समाज राज्य सत्ता, धन आदि के बारे में दोनों ही गुटों के विचार परस्पर पूर्णतः विरोधी हैं। एक अपनी विचारधारा का प्रसार चाहता है जब कि दूसरा इस प्रसार को अपनी पूरी शक्ति से रोकने के लिए कटिबद्ध है। दोनों गुट एक-दूसरे पर बुरी तरह विषवमन करते हैं। एक कहता है कि पूंजीवाद की नींव मजदूरों और गरीबों के शोषण पर आधारित

है यह अन्याय और अत्याचार से जन्म लेता है और दासता तथा गरीबी में प्रतिफलित होता है अतः इसका समूल नाश किया जाना चाहिये। दूसरा गुट प्रतिक्रियास्वरूप अपने विरोधी को दमन हिंसा और आतंक पर आधारित बताते हुए आरोप लगाता है कि इसमें मानव स्वतन्त्रता का कोई स्थान नहीं है, मनुष्य की आत्मा के स्वतन्त्र विकास की इसमें कोई आशा नहीं है यह फासीवादी प्रवृत्तियों का मूलरूप है और हिटलरवादी तानाशाही का पुनर्जन्म।

दोनों गुटों के इस प्रकार के विरोधी विचार भूतकाल के अनेक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों और संस्थाओं में प्रकट किये जाते रहे हैं और वर्तमान में प्रकट किये जा रहे हैं। परस्पर बिना सशस्त्र संघर्ष किये अपनी कूट-नीतिक चालों और शरारत भरी पैंतरेबाजियों के बल पर दोनों गुट अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार में संलग्न है और दुर्भाग्य की बात यह है कि दो सिंह की इस लड़ाई में छोटे-छोटे सियार (लघु राष्ट्र) मारे जा रहे हैं।

(७) प्रादेशिक संगठन—युद्धोत्तर विश्व में साम्यवाद ने प्रबलता ग्रहण की और शीत-युद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में संदेह आशंका और तनाव का वातावरण पैदा किया। इन स्थितियों में युद्ध के बाद कोई संतोषजनक शान्ति समझौता (Peace Settlement) नहीं हो सका। दूसरी ओर संयुक्त राष्ट्र संघ भी स्थाई अन्तर्राष्ट्रीय-शान्ति के प्राप्ति के अपने लक्ष्य में सफल नहीं हो पाया क्योंकि रूस और अमरिका के दोनों ही शक्ति-गुटों ने इसे शीत-युद्ध के प्रचार का एक साधन बना लिया। परिणाम यह हुआ कि दोनों ही शक्ति केन्द्र अपनी भावी सुरक्षा के लिये प्रादेशिक संगठनों और संधियों के निर्माण की ओर अग्रसर हुए। साम्यवाद का प्रसार एशिया अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका में स्थापित पूंजीवादी राष्ट्रों के साम्राज्य और उपनिवेशों में घुन का काम कर रहा था। अतः जहाँ कहीं भी साम्राज्यवादी शक्तियों को चुनौती मिली वहीं पूंजीवादी प्रजातन्त्रों ने इस चुनौती का डट कर मुकाबला करने की कोशिश की। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर अनेक ऐसी संधियां एवं संगठनों का विकास होने लगा जिनका मुख्य ध्येय अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ावा देकर साम्यवाद के प्रसार को रोकना था। स्वाभाविक था कि साम्यवादी रूस तथा उसके साथी राष्ट्रों में भी पाश्चात्य शक्तियों के इन प्रयासों की प्रतिक्रिया हुई। इस तरह की क्रिया-प्रतिक्रिया का परिणाम यह निकला कि जहां एक ओर अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी शक्तियों ने साम्यवादी राष्ट्रों के चारों ओर सुरक्षा-संगठनों का एक घेरा सा डाल कर साम्यवाद पर अंकुश लगाने की चेष्टा की वहां दूसरी ओर रूस ने अपने और पश्चिमी राष्ट्रों के बीच के देशों में साम्यवादी शासनों की स्थापना और संगठन करके अपनी सुरक्षा व्यवस्था को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाने का प्रयत्न किया। पश्चिमी पूंजीवादी राष्ट्रों के सुरक्षा संगठनों में उल्लेखनीय हैं— उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन [NATO] दक्षिणी-पूर्वी एशिया संधि संगठन [SEATO] बगदाद पैक्ट आदि। साम्यवादी सुरक्षा संगठनों में सब से अधिक प्रमुख वारसा पैक्ट है।

यह कहा जाता है कि सामान्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका की कोई दीर्घकालीन महत्वाकांक्षा नहीं है और न ही उसका यह लक्ष्य है कि सारा संसार ठीक उसी प्रकार रहे और सोचे जिस प्रकार कि उसके जीवन का तरीका है। उसका प्रमुख लक्ष्य तो यह है कि वह स्वयं की रक्षा करना चाहता है और साथ ही उन देशों की रक्षा करने को कटिबद्ध है जो साम्यवादी समाज को पसन्द नहीं करते। श्लीचर (Schllecher) का कहना है कि अमेरिका का युद्ध कौशल का लक्ष्य कुछ स्वतन्त्र निश्चित लक्ष्यों को प्राप्त करना नहीं है वरन् यह तो उस साम्यवादी चुनौती के लिये सीधा उत्तर है जिसे वह एक चुनौती मानता है।[**]

यह उल्लेखनीय है कि सुरक्षा संगठनों के अतिरिक्त कुछ एक-न-एक प्रादेशिक संगठनों का भी विकास हो रहा है। ये वर्तमान विश्व के बढ़ते हुए एकीकरण के परिचायक हैं। इनमें सर्वाधिक उल्लेखनीय यूरोपियन साझा बाजार (European Common Market or European Economic Community) है जिसके द्वारा पश्चिमी यूरोप के छः देशों—फ्रान्स, पश्चिमी जर्मनी, इटली, बेल्जियम, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग ने अपने को आर्थिक दृष्टि से एक बड़ी सीमा तक एक इकाई बना लिया है। अमेरिका के सोलह राष्ट्र इस आर्थिक समुदाय के साथी सदस्य (Associate Members) हैं। इस बात की काफी सम्भावना है कि निकट भविष्य में ब्रिटेन भी साझा बाजार में सम्मिलित हो जायगा। संयुक्त राज्य अमेरिका के भूतपूर्व विदेश मंत्री क्रिश्चियन हर्टर के शब्दों में यूरोपियन साझा बाजार वह 'केन्द्रक' [Nucleus] है 'जिससे यूरोप के लिए एक संघीय सरकार का विकास हो सकता है।'[*] विश्व के अन्य भागों में भी इसी प्रकार के एकीकरण आंदोलन चल रहे हैं जिनमें अखिल अमेरिकन आंदोलन [Pan-American Movement] अखिल-अफ्रीकन आंदोलन [Pan-African Movement] आदि प्रमुख हैं। अरबलीग मलेशिया संघ आदि के नाम भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं।

(ग) निःशस्त्रीकरण—द्वितीय महायुद्ध के पहले भी निःशस्त्रीकरण के प्रयास होते रहते थे किन्तु १९४५ के उपरान्त तो इस समस्या का महत्व बहुत अधिक बढ़ गया क्योंकि अणु-बम के आविष्कार ने मानव-विनाश की नई दिशायें पैदा कर दीं। द्वितीय महायुद्धोत्तर अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय जगत में शस्त्रों को सीमित करने का प्रश्न विचारकों के गम्भीर मानसिक व्यायाम का प्रतीक बना हुआ है। इस प्रश्न के समाधान के लिए सरकारी और गैर-सरकारी दोनों ही स्तरों पर प्रयास किये जाते रहे हैं। प्रमुखतम समस्या यही है कि यदि शस्त्रों को सीमित किया जाए तो कितना किया जाए तथा एक देश द्वारा लगायी गई सीमाओं का निरीक्षण किस प्रकार किया जाए। सोवियत रूस और अमेरिका के मध्य निःशस्त्रीकरण के प्रयासों के सम्बन्ध में

**"American strategy is often a direct response to what it considers the communist threat rather than the pursuit of an independent set of goals."

—Schllecher International Relations, p 576

गम्भीर मतभेद है। एक पूर्ण निःशस्त्रीकरण चाहता है दूसरा आंशिक का पक्षपाती है। एक निःशस्त्रीकरण करने से पूर्व ही निरीक्षकों की नियुक्ति करना चाहता है दूसरा निःशस्त्रीकरण के बाद ही निरीक्षण की व्यवस्था करना सही मान कर चलता है। आधुनिक विश्व में चीन एक नई शक्ति के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय क्षितिज पर अवतरित हुआ है। युद्ध की उद्दाम लालसा और हिंसात्मकवादी मनोवृत्ति की साकार प्रतिमा चीन निःशस्त्रीकरण को टाल कर लगाते हुए हथियारों का सम्राट बनने का महत्त्वाकांक्षी है। इन सभी मतभेदों के कारण निःशस्त्रीकरण की दिशा में किए गए अधिकांश प्रयास बुरी तरह असफल हो गए हैं। यद्यपि आंशिक परीक्षण-विरोधी संधि (Partial Test Ban Treaty) द्वारा इस दिशा में कुछ सफलता प्राप्त की गई है और साथ, आयुधों के विनाश का लक्ष्य लेकर संयुक्त राष्ट्र संघ ने कुछ निकायों में भी कुछ काम किया है तथापि निःशस्त्रीकरण के ये सभी प्रयास अभी तक "ऊँट के मुँह में जीरा" या सागर में बूँद जैसे ही सिद्ध हुए हैं।

(६) मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व की विशिष्ट स्थिति—१९४५ के उपरान्त एशिया के दो प्रदेश मध्यपूर्व और सुदूरपूर्व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में निरन्तर विशेष महत्त्वपूर्ण होते जा रहे हैं। तेल के वृहत भण्डारों की खोज के परिणामस्वरूप मध्यपूर्व न केवल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्त्वपूर्ण केन्द्र अपितु विश्व का एक प्रधान संकट-स्थल (Danger Spot) भी बन गया है। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इस प्रदेश का अधिकांश भाग यूरोपियन विशेषकर ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र में था। किन्तु महायुद्ध के बाद राष्ट्रवाद के तूफान के कारण ब्रिटेन को इस क्षेत्र के एक बड़े भाग से हटना पड़ा। फलतः वहाँ एक 'शक्ति-शून्यता' (Power Vacuum) उत्पन्न हो गई। कहीं रूस इस शक्ति-शून्यता से लाभ न उठाले इस भय से पाश्चात्य शक्तियों ने इस क्षेत्र में सुरक्षा संगठनों की एक शक्तिशाली व्यवस्था का निर्माण करना चाहा परन्तु इस प्रयास में उन्हें अभी तक उल्लेखनीय सफलता नहीं मिली है। रूस ने भी इस स्थिति का लाभ उठाने का पूरा पूरा प्रयास किया है और आज स्थिति यह है कि मध्यपूर्व शीतयुद्ध का एक प्रमुख अखाड़ा और विश्वशान्ति के लिए प्रमुख संकटकेन्द्र बना हुआ है।

दूसरी ओर एक महत्त्वपूर्ण अर्धसम्पन्न राष्ट्र के रूप में स्वतन्त्र भारत के उदय ने और एक महान् शक्ति के रूप में लाल चीन के विकास ने सुदूर पूर्वीय प्रदेश को विश्व के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों की श्रेणी में ला दिया। इस क्षेत्र में विशेष रूप से चीन और अमेरिका और प्रतिद्वन्द्वी बन गये। उनके पारस्परिक संघर्ष ने सुदूरपूर्व को विश्व राजनीति का तूफान केन्द्र (Storm Centre) बना दिया। पी० सी० सिंघल के उल्लेखनीय शब्दों में "कोरिया और इसके बाद में चीन की सफलताओं का एशिया में प्रभाव २०वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जापान की रूस पर विजय से उत्पन्न प्रभाव के समान था। इसके कारण संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्वयं को पश्चिमी प्रशान्त महासागर में एक कमज़ोर स्थिति पाने को बाधित अनुभव किया और वह उस क्षेत्र में जिसे अमेरिकन 'अपना महासागर' समझने लगे थे अपनी स्थिति छोड़ने की अपेक्षा

लड़ने का प्रश्न हो गया।*

साम्यवादी चीन का उदय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में एक क्रान्तिकारी घटना है और सर्वाधिक चिन्ता का विषय यह है कि विस्तारवादी तथा आक्रमक नीति का समर्थक चीन अणु आयुधों से सम्पन्न हो कर विश्व-शान्ति के लिए तथा शान्ति-प्रिय राष्ट्रों के लिए एक गम्भीर खतरा बन गया। तिब्बत का हरण कर उसने भारतीय प्रदेश का भी कुछ हिस्सा चीन में मिला लिये पाकिस्तान से हथिया लिया है। और तो और अपनी ही बिरादरी के साम्यवादी रूस से भी उसके सीमावर्ती तथा सैद्धान्तिक झगड़े उग्र रूप लेते जा रहे हैं। इस कारण युद्धोत्तर विश्व के इस युग में अब एक सर्वथा नवीन परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा है और वह परिवर्तन है रूस व चीन के मध्य भावी संघर्ष की सम्भावना तथा रूस और अमेरिका के सम्बन्धों में आशातीत सुधार। सोवियत रूस अपने साम्यवादी भाई (चीन) के विरोध करने पर भी शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति को अपनाता जा रहा है और इस तरह साम्यवादी समाज में सैद्धान्तिक दरार (Ideological Conflict) चौड़ी होती जा रही है। कुछ विचारकों का मत है कि सोवियत रूस के लक्ष्य यदि वही भी हैं तो वे कार्य रूप से तो पीछे हट गये ही हैं। एटीजियोनी (Amitai Etzioni) का मत है कि "सोवियत रूस को घेरेबन्दी तथा निरोधों द्वारा मजबूर किया गया था कि वह अपनी विस्तारवादी नीतियों को छोड़ कर शस्त्र-विहीन प्रयासों की ओर अधिक ध्यान दे।"†

(१०) विश्व सरकार अथवा एक विश्व का स्वप्न—युद्धोत्तर युग में एक भिन्न अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रवृत्ति का उदय हुआ है वह है—अन्तर्राष्ट्रीयतावाद अथवा एक विश्व का स्वप्न अथवा विश्व सरकार की भावना। द्वितीय महायुद्ध के भयंकर विनाश ने राजनीतिज्ञों और मानवतावादियों को इस बात के लिए प्रेरित किया कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की रक्षा के प्रभावशाली साधन के रूप में वे संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करें। अनेक दुर्बलताओं के होते हुए भी यह संगठन राष्ट्रसंघ की अपेक्षा अधिक पूर्ण और शक्तिशाली सिद्ध हुआ किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विचारक अब एक विश्व का स्वप्न अथवा विश्व सरकार की स्थापना का स्वप्न देखने लगे हैं। वे चाहते हैं—विश्व सरकार की स्थापना तथा राष्ट्र राज्य के वर्तमान स्वरूप की समाप्ति। यह कहा जाता है कि "यदि आप विश्व में स्थायी रूप से शान्ति चाहते हैं और तृतीय विश्व-युद्ध में अणु शक्ति के प्रकोप से यदि मानवता को बचाना चाहते हैं तो आइये विश्व के सभी राष्ट्रों को मिला कर हम एक विश्वसंघ का निर्माण कर दें जिसमें शान्ति और व्यवस्था का काम विश्व सरकार को सौंप दिया जाए। पूर्ण निःशस्त्रीकरण को भी विश्व सरकार के विचार का पूरक माना जाता है क्योंकि उससे समस्त राष्ट्रों की स्थिति एक पंख काटे हुए तोते के समान हो

---

*G C Smith—Pattern of the Post War World p. 14-15

†"The Soviets are pressed by the combination of containment and deterrence to limit their expansionist efforts largely to non-armed capabilities."

—*Amitai Etzioni*, Winning Without War 1964 p. [illegible]

आयगी जिसके सामने विश्व अनुशासन मानने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं रहेगा।

विश्व सरकार का समर्थन करने वाले अधिकांश विचारक यह मानकर चलते हैं कि जब राष्ट्रीय स्तर पर संघ सरकार की रचना संभव है तो अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी ऐसा किया जा सकता है। ये सभी मानते हैं कि वर्तमान विश्व में संघर्ष और झगड़ों का मुख्य कारण राष्ट्रवाद है और जब तक संप्रभु राष्ट्र विश्व में रहेंगे तब तक यह कारण भी बना रहेगा अतः अच्छा है कि इस विरोधी तत्व को ही समाप्त कर दिया जाए। श्री नेहरू का तो यह दृढ़ विश्वास था कि "विश्व सरकार अवश्य आनी चाहिए और आयेगी क्योंकि विश्व की व्याधि का और कोई उपचार नहीं है।" अनेक विचारक संयुक्त राष्ट्र संघ को भावी विश्व सरकार के केन्द्र (Nucleus) के रूप में देखते हैं। उनका कहना है कि संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से विश्व सरकार का विकास हुआ है और होगा क्योंकि लोग इस विकास के लिए इच्छुक हैं।"

किन्तु दूसरी ओर ऐसे विचारक भी हैं जो विश्व सरकार के विचार को एक कपोल-कल्पना मानते हैं। उनके अनुसार यह विचार सिद्धान्त रूप में त्रुटिपूर्ण अव्यावहारिक और आशावादी दृष्टिकोण पर आधारित तथ्यों के विपरीत सुन्दर कल्पना है।

ऊपर युद्धोत्तर युग के अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के जिन उभरते हुए प्रश्नों का उल्लेख किया गया है उनमें से कुछ राजनीतिक प्रवृत्ति के हैं कुछ पर राजनीतिक आर्थिक एवं सैद्धान्तिक तत्वों का प्रभाव है और कुछ मनुष्य के शान्ति प्रिय एवं मानवतावादी विचारों की उपज है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि १९४५ के बाद का विश्व इन सभी सिद्धान्तों रूपों, विचारों या आदर्शों का रंग-स्थल बना हुआ है। इनके कारण विश्व राजनीति के केवल आकार ही नहीं परिवर्तित हो रहे हैं वरन नवीन राजनीतिक रूपों और सम्बन्धों की भी धीरे धीरे सृष्टि होती जा रही है। टी० वी० कालिजार्वी (T V Kalijarvi) ने वर्तमान विश्व के इन परिवर्तनों की व्याख्या बड़े स्पष्ट शब्दों में की है। उनका कहना है कि "वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पुनर्गठन हो रहा है जिसमें कि पहले की राज्यव्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्यव्यवस्था धीरे-धीरे नवीन राजनीतिक रूपों में बदलती जा रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश स्वतन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्र राज्य एक बड़े संघ में विलीन होते जा रहे हैं।"* यह परिवर्तन कल्याण की ओर है अथवा विनाश

---

*"Contemporary International relations are going through a reorganisation in which the old national state and the old state system are being slowly molded into new political forms. Colonies are gaining independence as empires are breaking up National States are being merged into great federations

—*T V Kalijarvi* "The persistence of lower Politics The annals of the American academy of Political and Social Science CCLVII (May 1948) p 10-11

की स्थिति में इसके स्वरूप में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। अनेक विचारकों का मत है कि इस परिवर्तन की ओर विश्व को बीमारी गरीबी दासता असमानता आदि कष्टों से छुटकारा पाने तथा स्वतन्त्रता एवं समानतापूर्ण प्रसन्न जीवन व्यतीत करने के लिए आशा की दृष्टि से देखना चाहिए। किन्तु दूसरी ओर इस परिवर्तन के प्रति विरोधी विचार रखने वाले विचारक भी हैं जो निराशावादी तो हैं किन्तु उनका अध्ययन भी तथ्यों पर ही आधारित है। ये विचारक यह मानते हैं कि विश्व आज उसी स्थिति में आ गया है जहाँ पर अपना पूर्ण विनाश करने की शक्ति उसके हाथों में केन्द्रित हो गयी है। ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल (Sir Winston Churchill) ने एक बार कहा था कि हम तब पत्थर और कुन्त के युग में प्रवेश कर चुके हैं। मनुष्य की शक्ति उसका स्वर्ग को छोड़ कर प्रत्येक क्षेत्र में विकसित हो चुकी है। इस कथन का अर्थ यही है कि आज अणु-शक्ति के रूप में मनुष्य के पास बड़ी भारी शक्ति केन्द्रित हो चुकी है किन्तु उसमें आत्म नियन्त्रण का विकास अभी तक नहीं हो पाया है और इसीलिए इस शक्ति का दुरुपयोग करने का भय सदैव ही बना रहता है। यह भय जब सत्य बनेगा तो विश्व रसातल को चला जायगा। इस प्रकार विश्व के इन परिवर्तनों के कारण आशावादी और निराशावादी दोनों ही प्रकार की सम्भावनाएं की जा रही हैं। वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं तथा सम्बन्धों पर इन दोनों दृष्टिकोणों का प्रभाव है तथा दोनों ही पक्षों ने विश्व राजनीति पर प्रभाव डालने वाले तत्वों को प्रभावित करने का बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है।

EXERCISES

1. Discuss the main features of International Relations after the Second World War

द्वितीय महायुद्ध के बाद के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिए।

2. "The Problems of the Pacific are, to mind the world problems of the next 50 years or more" (General Smuts) Bring out the significance of the Pacific in World Affairs after the Second World War

"मेरे विचार से प्रशान्त सागर की समस्याएं अगले ५० अथवा इससे भी अधिक वर्षों के लिए विश्व समस्याएं हैं" (जनरल स्मट्स)। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व मामलों में प्रशान्त सागर के महत्व को स्पष्ट कीजिए।

3. Explain your thoughts on the awakening of Asia and its effects on world politics

एशिया के जागरण पर अपने विचार प्रकट कीजिए और विश्व राजनीति पर इसके प्रभाव बताइए —

4. Write short notes on —

[a] Conflict of Ideologies in International Politics after the Second World War
[b] Internationalism

[c] Far East and World Politics.
[d] Cold War

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(अ) द्वितीय महायुद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सिद्धान्तों की सपय;
(ब) अन्तर्राष्ट्रीयतावाद
(स) सुदूर पूर्व और विश्व राजनीति
(द) शीत युद्ध,

5 "Contemporary international relations are going ough a reorganisation in which the old national state and old state system are being slowly molded into new political ms. Colonies are gaining independence as empires are eaking up, National Statse are being merged into great fede ions. (T V Kalijarvi) Discuss.

"वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का पुनगठन हो रहा है जिसमें कि पहले राज-व्यवस्था एवं राष्ट्रीय राज्य-व्यवस्था धीरे धीरे नवीन राजनैतिक रूपों बदलती जा रही है। साम्राज्यों का पतन हो रहा है और उपनिवेश तन्त्रता प्राप्त करते जा रहे हैं। राष्ट्र राज्य एक बड़े संघ में विलीन होत रहे हैं।" (टी वी कालीजार्वी) विवेचना कीजिए।



2

युद्धोत्तर शांति-समझौता

(THE POST WAR PEACE SETTLEMENT)

१ समस्या का स्वरूप शांति स्थापना की कठिनाइयाँ

२ शांति समझौते के सम्मेलन और संधियाँ :

- (i) विदेश मंत्री परिषद् की लन्दन की बैठक
- (ii) मास्को की विदेश मंत्री परिषद्
- (iii) पैरिस का शांति सम्मेलन
- (iv) पाँच शांति संधियाँ ।
  - (क) इटली के साथ संधि
  - (ख) रूमानिया के साथ संधि
  - (ग) बल्गेरिया के साथ संधि
  - (घ) हंगरी के साथ संधि
  - (ङ) फिनलैण्ड के साथ संधि
- (v) शांति संधियों का उल्लंघन
- (vi) आस्ट्रिया के साथ संधि
- (vii) जर्मनी के साथ संधि वार्ता
- (viii) जापान के साथ संधि

2

युद्धोत्तर शांति-समझौता

(THE POST WAR PEACE SETTLEMENT)

१ समस्या का स्वरूप शांति स्थापना की कठिनाइयां

२. शांति समझौते के सम्मेलन और संधियां :

(i) विदेश मंत्री परिषद् की लन्दन की बैठक

(ii) मास्को की विदेश मंत्री परिषद्

(iii) पेरिस का शांति सम्मेलन

(iv) पांच शांति संधियां।

(क) इटली के साथ संधि

(ख) रूमानिया के साथ संधि

(ग) बल्गेरिया के साथ संधि

(घ) हंगरी के साथ संधि

(ङ) फिनलैण्ड के साथ संधि

(v) शांति संधियों का मूल्यांकन

(vi) आस्ट्रिया के साथ संधि

(vii) जर्मनी के साथ संधि वार्ता

(viii) जापान के साथ संधि

"अटलांटिक चार्टर 'चार स्वतंत्रताओं' तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में उज्जवल आशाएं विजेताओं के झगड़ों एवं एशिया के विद्रोह के कारण अपूर्ण रह गयीं।"

"क्षतिपूर्ति के प्रश्न का संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक अर्थ है और सोवियत संघ के लिए दूसरा। संयुक्त राज्य अमेरिका दूसरी स्थिति में है। संभवतः वहां के यह अनुभव नहीं करते कि नाजी अधिकृत प्रदेशों में दारुण यंत्रणाओं, विध्वंस और लूट का अनुभव करने के उपरान्त सोवियत नागरिक इसके सम्बन्ध में क्या महसूस करते हैं।"

—मोलोटोव

७ मई १९४५ को जर्मनी के साथ विराम संधि होने के उपरान्त २ सितम्बर, १९४५ को जापान के प्रतिनिधियों और जनरल मेकार्थर के मध्य विधिवत् विराम संधि सम्पन्न हो जाने पर द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति होगई। जर्मनी और जापान के आत्म-समर्पण से सैनिक संघर्ष का अन्त अवश्य हो गया किन्तु वास्तविक शान्ति की स्थापना की आशा अभी बाकी था। शान्ति के भीतर व्यवस्था स्थापित करने के तत्व का समावेश होता है और पराजित शक्तियों जर्मनी जापान, इटली आस्ट्रिया, रूमानिया हंगरी बल्गेरिया और फिनलैण्ड के साथ शान्ति संधियां करके वांछित व्यवस्था स्थापित करने का काम अभी शेष था।

समस्या का स्वरूप : शान्ति-स्थापना की कठिनाइयां

युद्धोत्तर शान्ति-स्थापना का उपरोक्त कार्य प्रथम महायुद्ध के उपरान्त शान्ति स्थापना करने के कार्य से कहीं अधिक सरल प्रतीत होता था क्योंकि विजेता राष्ट्र महायुद्ध के काल की अवधि में विविध सम्मेलनों और वार्ताओं द्वारा शान्ति-स्थापना के मार्ग की काफी दूरी तय कर चुके थे। लैंगसम (Langsam) के शब्दों में "१९४५ में युद्ध की समाप्ति के उपरान्त शान्ति की व्यवस्था का प्रयत्न १९१८-१९ की शान्ति-व्यवस्था की स्थापना की प्रक्रिया से अति अल्प समानता रखता है। द्वितीय महायुद्ध में मित्रराष्ट्रीय नेता अन्तिम शांति-वार्ता के लिये, अग्रिम शांति-वार्ता के लिये अग्रिम तैयारी के मार्ग पर प्रथम महायुद्ध के समय की अपेक्षा कहीं अधिक आगे बढ़ चुके थे।"* १९४१ में रूजवेल्ट और चर्चिल अटलांटिक चार्टर द्वारा शांति स्थापित करने के कुछ सिद्धान्तों की स्थापना कर चुके थे और चार्टर के प्रति सोवियत रूस ने भी कोई आपत्ति प्रकट नहीं की थी। नवम्बर १९४३ में काहिरा सम्मेलन में (Cairo Conference) में जापान के साथ की जाने वाली शांति संधि की मान्य शर्तों को निश्चित हो चुका था और नवम्बर १९४३ में ही होने वाले तेहरान सम्मेलन (Teheran Conference) में जापानी शांति संधि और पोलैण्ड के सीमान्तों पर उपयोगी चर्चा के साथ ईरान की प्रादेशिक अखण्डता के सम्मान का निश्चय किया जा चुका था। फरवरी १९४५ के याल्टा सम्मेलन में न केवल पोलैण्ड की सीमाओं और जापान से रूस को अनेक प्रदेश दिलाये जाने के सम्बन्ध में निर्णय ले लिया गया था बल्कि विजेता शक्तियों के मध्य जर्मनी के अस्थाई विभाजन का निश्चय भी कर लिया गया था। इतना ही नहीं विभिन्न कूटनीतिक प्रश्नों पर विचार करने के लिए १९४३

---

*"The attempted *organisation of peace after the close* of hostilities in 1945 offered little parallel to the peace-making procedures of 1918-19. During the Second War the Allied leaders had gone much farther along the path of advance preparation for the eventual peace proceedings than had previously been the case."

—*W. C. Langsam*, The World Since 1919 p. 604

र्व ही एक यूरोपियन परामर्शदाता आयोग (European Advisory Commission) की स्थापना भी की जा चुकी थी। ब्रिटेन के 'The Royal Institute of International Affairs' और संयुक्त राज्य अमेरिका में 'The Council on Foreign Relations' जैसी गैर सरकारी संस्थायें (Private Groups) भी जन्म ले चुकी थी और अन्तर्राष्ट्रीय विषयों के गहन अध्ययन में व्यस्त थी। एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय संगठन के रूप में सान फ्रांसिस्को सम्मेलन (San-Francisco Conference) द्वारा संयुक्त राष्ट्रसंघ का चार्टर तैयार किया जा चुका था। जुलाई-अगस्त १९४५ के पोट्सडम सम्मेलन (Potsdam Conference) में यह भी निश्चय कर लिया गया था कि १९१९ के समान किसी बृहत् शांति-सम्मेलन का आयोजन नहीं किया जायेगा वरन् ५ शक्तियों—ब्रिटेन अमेरिका रूस फ्रांस और चीन—के विदेश मन्त्रियों की एक परिषद् द्वारा शांति समझौते (Peace Settlement) के लिए आवश्यक प्रारम्भिक कार्य किया जायगा।

इस पृष्ठ भूमि और इन परिस्थितियों में यह आशा की जा सकती थी कि शांति समझौते का कार्य १९१९ की अपेक्षा निश्चित रूप से कहीं अधिक सरल होगा। परन्तु यह आशा फलीभूत नहीं हुई। १९१९ का पेरिस सम्मेलन लगभग सभी पराजित देशों के साथ शांति संधियों का प्रारूप एक वर्ष के अन्दर बनाने में सफल हो गया था और ६ अगस्त १९२४ को टर्की के साथ की गई लासेन की संधि (Treaty of Lausanne) के कार्यान्वित होने के साथ शांति समझौते की व्यवस्था पूर्ण हो गई थी। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के समाप्त होने के लगभग १½ वर्ष बाद तक भी शांति संधियों के प्रारूप तैयार नहीं हो सके। १० फरवरी १९४७ को जाकर केवल इटली रूमानिया बल्गेरिया हंगरी और फिनलैण्ड के साथ शांति संधियां सम्पन्न की जा सकी। जापान के साथ तो युद्ध समाप्ति के लगभग ६½ वर्ष बाद २८ अप्रैल १९५२ को शांति संधि की गई किन्तु फिर भी उस समय यह एक अधूरी शांति संधि ही रही क्योंकि रूस ने उस पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। रूस और जापान के मध्य युद्ध-अवस्था की औपचारिक समाप्ति तो अक्टूबर १९५६ में हुई जब दोनों राष्ट्रों द्वारा एक संयुक्त विज्ञप्ति जारी की गई। आस्ट्रिया के साथ शांति संधि युद्ध समाप्ति के लगभग १० वर्ष बाद २७ जुलाई १९५५ को कार्यान्वित की गई, और जर्मनी के साथ स्थाई शांति-संधि अभी तक नहीं की जा सकी है। बर्लिन का प्रश्न आज भी भयानक रूप धारण किये हुए है। पोट्सडम सम्मेलन के निर्णय के आधार पर जर्मनी आज दो भागों में विभक्त है। पूर्वी जर्मनी पर सोवियत रूस का अधिकार है और पश्चिमी जर्मनी पर मित्र राष्ट्रों का। उसकी एकता का प्रश्न अभी तक शेष है।

स्पष्ट है कि १९४५ के बाद की शान्ति-व्यवस्था करने का कार्य प्रथम महायुद्ध के बाद की शांति-व्यवस्था के कार्यों की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन और दुष्कर सिद्ध हुआ। निश्चय ही इसके मूल में कुछ प्रमुख कारण थे जिन्हें संक्षेप में हमें देखना चाहिये।

प्रथम और सर्वप्रमुख कारण विजेता राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक मतभेदों का उठ खड़ा होना था। यद्यपि प्रथम महायुद्ध के बाद भी मित्र राष्ट्रों

पारस्परिक मतभेदों से शान्ति-व्यवस्था के मार्ग में बाधा खड़ी की थी किन्तु इस र के मतभेद अधिक उग्र एवं स्थायी थे। युद्ध के दौरान विजेता राष्ट्रों का दीर्घ उद्देश्य केवल जर्मनी एवं अन्य धुरी राष्ट्रों को पराजित करना था। उएव स्थायी भय के आवरण में युद्ध काल में उनके मतभेद दब रहे। लेकिन प्त के पश्चात् इन मतभेदों को खुल कर व्यक्त किया जाने लगा। नवीन सार के दो व्यापक साम्यवादी और पूंजीवादी आदर्शों के मध्य उलझ गये। ाम्यवादी रूस पाश्चात्य पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा स्वयं को घेरे जाने के भय सशंकित हो गया और ब्रिटेन फ्रांस तथा संयुक्त राज्य अमेरिका अन्तर्रा ष्ट्रीय साम्यवाद के रूसी दृष्टिकोण को गहन शंका की दृष्टि से देखने लगे। इस प्रकार के पारस्परिक संशय और अविश्वास ने शान्ति-सन्धियों के निर्माण मार्ग को कंटकाकीर्ण बना दिया। इसका अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद 'शीत युद्ध' का भी गणेश हो गया।

वास्तव में सन्देह के बीज तो युद्ध काल में ही पड़ गये थे। सहयोग के बावजूद भी दोनों पक्ष युद्धकाल में एक दूसरे के उद्देश्यों के प्रति शंकालु थे। पश्चिमी राष्ट्र यह समझते थे कि वे यद्यपि रूस को सैनिक सहायता पहुँचा रहे हैं, परन्तु रूस उनके साथ मिल कर जर्मनी पर संयुक्त आक्रमण की योजनायें नहीं बनाता उन्हें अपने सैनिक रहस्य नहीं बताता, अपने सैनिक अड्डों का उपयोग नहीं करने देता। वे समझते थे कि रूस प्राग एवं बर्लिन जैसे महत्वपूर्ण स्थान अपने कब्जे में बनाये रखना चाहता है। उनका कहना था कि १९४३–४४ में मास्को बर्लिन के साथ ब्रेस्ट-लिटोवस्क की सन्धि की भांति पृथक सन्धि करना चाहता था। इसके विपरीत रूस का आरोप था कि मित्रराष्ट्रों द्वारा दी गई युद्ध-सामग्री की सहायता रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध सामग्री का केवल ४ प्रतिशत थी। मित्र-राष्ट्र हृदय से यही चाहते थे कि जर्मनी के साथ संघर्ष द्वारा रूस बिलकुल क्षीण हो जाय। इसीलिये उन्होंने प्रथम तो केवल प्रदर्शनात्मक सहायता दी और दूसरे यह सहायता भी बहुत विलम्ब से दी। ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं में सोवियत विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही लन्दन की पोल सरकार ने १९४२ में रूस से एक लाख पोल सेना हटाली। स्टालिनग्राड की विजय (फरवरी १९४३) ने मित्र राष्ट्रों को मास्को के प्रति ईर्ष्यालु बना दिया। अगस्त १९४३ से उन्होंने अणुबम की वार्ता रूस से गुप्त रखी। इतना ही नहीं युद्धकाल में सन् १९४३ में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल के सदस्य जान स्मट्स ने सोवियत संघ को यूरोप का नया महादैत्य' (New Colossus) बताया। रूस का यह भी कहना था कि तेहरान सम्मेलन में प्रस्तावित बाल्कान प्रदेश पर आक्रमण की एंग्लो-अमेरिकन योजना का उद्देश्य यूरोप में दूसरा मोर्चा खोलने की स्थिति को टालने का बहाना था। युद्धकाल में और भी ऐसी अनेक बातें हुईं जिनसे दोनों पक्षों के मतभेद विकसित हुए। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा जनरल फ्रांको के स्पेन के साथ जुलाई १९४४ के समझौते ने अल्जीरियन सरकार के साथ ब्रिटिश अमेरिकन सरकारों की पृथक सन्धिवार्ता ने और यूनान में ब्रिटिश मोर्चे ने दोनों ही पक्षों की कटुता में अभिवृद्धि की। याल्टा सानफ्रांसिस्को और पोट्सडम

सम्मेलनों द्वारा ये मतभेद दूर और भी स्पष्ट होगये। युद्ध के समय परिस्थितियों वश, इन मतभेदों ने स्वयं को मैत्री के छद्मवेश में छिपाये रखा। परन्तु युद्ध समाप्त होने के बाद दोनों ही पक्षों के हृदयों में मतभेदों का सुलगता हुआ ज्वालामुखी फूट पड़ा। परिणामतः शान्ति की रचना (*Peace Making*) टेढ़ी खीर हो गई।

दूसरा कारण था सोवियत रूस और संयुक्तराज्य अमेरिका द्वारा संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने की अभिलाषा। द्वितीय महायुद्ध के उपरांत दोनों ही राष्ट्र विश्व के महान् शक्तियों के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय पटल पर अवतरित हुए। अणु बम का रहस्य इस समय तक केवल अमेरिका के पास था। इसके अतिरिक्त अमेरिका ही संसार का सबसे धनाढ्यतम देश भी था। अतः अमेरिकन एकाएक यह अनुभव करने लगे थे कि वे संसार की सबसे बड़ी ताकत हैं। उन्हें इस बात का अभिमान हुआ कि अणु बम के रूप में उनके राष्ट्र के पास एक ऐसी शक्ति है जिसके बारे में न किसी राष्ट्र को कुछ जानकारी है और न ही किसी के पास इस शक्ति से बचाव के साधन ही हैं। दूसरी तरफ ब्रिटेन फ्रांस आदि पश्चिमी देश भी यही अनुभव करने लगे कि उन्हें अपने पुनर्निर्माण के लिये संयुक्तराज्य अमेरिका की आर्थिक सहायता की महती आवश्यकता है। यह अनुभव भी उन्हें हो चुका था कि पिछले दोनों महायुद्धों में जो सफलता उन्हें मिली थी—वह भी प्रमुखतः अमेरिकन सहायता के कारण ही उपलब्ध हो सकी थी। इन परिस्थितियों में उन्होंने अमेरिका का साथ देने में ही अपना कल्याण समझा और इस तरह पूंजीवादी पश्चिमी राष्ट्रों का नेतृत्व अमरिका के हाथ में आ गया। किन्तु यह स्थिति सोवियत रूस को कैसे सहन हो सकती थी? द्वितीय महायुद्ध में अपने रक्त-कौशल और शौर्य का वह सिक्का जमा चुका था और महायुद्ध के उपरांत एक अत्यन्त प्रबल शक्ति के रूप में उदित हुआ था।

अमेरिका द्वारा संसार पर प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास उसके लिए गम्भीर चुनौती थी। यदि पूंजीवादी पश्चिमी गुट का अगुवा अमेरिका बना हुआ था तो वह भी पूर्वी गुट का नेतृत्व कर रहा था। उसे अपनी विजय पर सन्तोष था और यह बात याद थी कि उसने अपने स्वयं के प्रयत्नों और त्याग से जर्मनी जैसी महाशक्ति को पराजित किया था। वह इस्टोनिया, लैटविया, लिथुआनिया, बेसारबिया, रूमानिया, पूर्वी पोलैण्ड, पूर्वी प्रशा के कुछ भागों एवं फिनलैण्ड के कुछ हिस्सों को अपने साम्राज्य में मिला चुका था और इस तरह उसकी आबादी में लगभग २४ मिलियन की वृद्धि हो गई थी। इसके अतिरिक्त उसका अन्य अनेक देशों पर प्रभाव तथा नियंत्रण था। वह नहीं चाहता था कि उसके प्रभाव क्षेत्र में किसी प्रकार की कमी हो अथवा अमेरिका उसकी महत्वाकांक्षाओं को ठोकर लगाने में सक्षम हो सके। अतः यह स्वाभाविक था कि दोनों ही राष्ट्रों में प्रतिद्वन्द्विता की उग्र भावनाएं पैदा हो गई। दोनों ही अपने प्रभाव के प्रसार के लिये कूटनीतिक दांव-पेच खेलने लगे और उनमें एक-दूसरे के प्रति शत्रुता की भावनाएं पनपती गई। वास्तव में शांति व्यवस्था के मार्ग में एक बड़ा अवरोध यह भी था कि जहां १९१९ में विजेताओं में पारस्परिक मतभेद से वैमनस्य नहीं वहां १९४५ में विजेताओं

में न केवल वैमनस्य था वरन् स्पष्ट शत्रुता भी थी। अविश्वास सन्देह वैमनस्य और शत्रुता के इस वातावरण में दोनों ही राष्ट्रों में से किसी का भी यह ध्येय नहीं था कि पराजित देश फिर से अपने यहां आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त कर सकें। दोनों ही पक्ष अपने-अपने ढंग से साम्राज्य विस्तार के आकांक्षी थे। इसी का यह परिणाम हुआ कि सोवियत संघ यूरोप और जापान में साम्यवाद की स्थापना की चेष्टा करने लगा तथा पश्चिमी देश विशुद्ध लोकतंत्र की स्थापना के लिये सचेष्ट हुए और हर तरह से साम्यवादी शक्ति का विरोध करने लगे।

चौथा कारण शांति के मार्ग में बाधक रूप में यह था कि इस बार १९१९ की भांति शांति-सम्मेलन आयोजित करने की अपेक्षा यह उचित समझा गया कि ब्रिटेन संयुक्तराज्य अमेरिका, सोवियत संघ, फ्रांस, और चीन के विदेश मंत्रियों की एक परिषद् बनायी जाय जो शांति-संधियों के बारे में सर्व सम्मतिसे निर्णय करे। सर्व सम्मति से निर्णय करने का यह निश्चय बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण था क्योंकि इसके द्वारा सोवियतसंघ को मित्र राष्ट्रों के समस्त कार्यों पर निषेधाधिकार (Veto Power) प्राप्त हो गया। इस तरह वह किसी भी निर्णय को रोकने की स्थिति में आ गया। सर्व सम्मति से निर्णय करने का निश्चय स्वीकार करके मित्र राष्ट्रों ने सोवियत संघ के सामने एक तरह से आत्मसमर्पण किया था। स्पष्ट ही शांति रचना के मार्ग में इस व्यवस्था ने एक बड़ी बाधा पहुंचाई।

पांचवां कारण व्यक्तित्व सम्बन्धी था। शांति-सन्धियों के निर्माण में व्यक्तियों के व्यक्तित्व की उपेक्षा नहीं की जा सकती। जिन तीन बड़ों ने महायुद्ध का संचालन किया था, उनमें से एक-रूजवेल्ट का स्वर्गवास हो चुका था और दूसरे-चर्चिल का दल चुनाव में हार चुका था। इसी तरह फ्रेंच विदेश नीति का संचालन एक समय के अध्यापक जार्ज बिदो (Bidault) कर रहे थे। ये सब उतने अनुभवी नहीं थे जितने कि रूस के स्टालिन और मोलोटोव थे। अतः सन्धियों का काम तेजी से आगे न बढ़ सका। पुनश्च मोलोटोव बेविन तथा बर्नेस (Byrnes) जो क्रमशः रूस ब्रिटेन एवं अमेरिका के विदेश मंत्री थे, के पारस्परिक मतभेद एवं विभिन्नता के कारण द्वितीय महा युद्धोत्तर शांति शीत युद्ध में परिणत हो गयी। रूसी विदेश मंत्री मोलोटोव तीनों में सर्वाधिक अनुभवी एवं कूटनीतिज्ञ था। उसकी स्टालिन के नेतृत्व में पूर्ण श्रद्धा थी और पश्चिमी राष्ट्रों पर पूर्ण अविश्वास था। पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति उसकी आलोचना बड़ी उग्र होती थी। बेविन चर्चिल के गृहमंत्री के रूप में अत्यन्त ख्याति प्राप्त कर चुका था और व्यक्तित्व में मोलोटोव के समान ही प्रभावशाली था। बर्नेस ही इन तीनों में सबसे अधिक शांत प्रकृति का था। जब उसने अमेरिका की ओर से रूस को अनेक सुविधाएं प्रदान की तो बेविन द्वारा उसके इस दृष्टिकोण की कटु आलोचना हुई। परिणाम स्वरूप राष्ट्रपति ट्रूमेन ने बर्नेस के स्थान पर शीघ्र ही जनरल मार्शल को भेजा। यह सैनिक था और उसकी सैनिक वृत्ति स्वाभाविक थी। कि यह

व्यक्तियों और उनके विभिन्न दृष्टिकोणों ने १९४५ के बाद की शान्ति-स्थाप में उसी तरह अनेकों समस्याएं उत्पन्न कर दी जिस तरह १९१९ के शान्ति सम्मेलन में विल्सन लायड जार्ज और क्लेमेंशो के विपरीत दृष्टिकोणों विभिन्न समस्याएं उत्पन्न कर दी थी। मोलोटोव बेविन और बर्नेस उप तीन नेताओं में से किसी में भी ऐसे गुण नहीं थे कि वे तेजी से किसी सहमति प पहुंच पाते। १९१९ के शांति निर्माताओं में विभिन्न दृष्टिकोणों के होते हुए भी तेजी से निर्णय पर पहुंचने की क्षमताएं अवश्य विद्यमान थीं।*

अन्य कारण जिसने शांति-स्थापना के मार्ग में अड़चनें प्रस्तुत की य था कि विदेश मंत्री परिषद में फ्रांस और चीन के विदेश मंत्रियों को सम्मिलि कर लिया गया था, लेकिन पांच पराजित देशों के साथ की जाने वाली संधियों का प्रारूप तैयार करने और उनके बारे में अन्तिम निर्णय करने के काम में भाग नहीं ले सकते थे क्योंकि उन्होंने युद्धबंदी के नियमों पर हस्ताक्षर नहीं किए थे। इस अवस्था को बाद में इस सीमा तक तो सुलझा लिया गया कि प्रारूप तैयार करने में फ्रांस और चीन के विदेश मंत्री भी भाग लें परन्तु य व्यवस्था अवश्य रखी गई कि वे उन पर होने वाले मतदान में भाग नहीं ले सकते।

उपरोक्त सभी कारणों से और पारस्परिक अविश्वास संदेह वैमनस्य तथा शत्रुता के वातावरण में शांति समझौते के प्रयत्नों का वही हाल हुआ जो एक ऐसी गाड़ी का होता है जिसके दोनों ओर घोड़े जुते हुए हों किन्तु वे घोड़े उस गाड़ी को दो विपरीत दिशाओं में खींच रहे हों और बहुत धीरे धीरे करके उनमें से अधिक शक्तिशाली घोड़ा गाड़ी को थोड़ा-थोड़ा करके अपने की दिशा में खींच रहा हो।

---

* *In so far as there is a parallel to the Big Three of 1919 it l in the curious trinity of Molotov Bevin and Byrnes. The first, though handicapped by an inability to speak English was infinitely the most-experienced of the three in the ways of diplomacy Plump and urbane, non-smoker and vegetarian, Molotov as an associate of Lenin, was steeped in distrust of the west, and as Stalin's most loyal lieutenant was vigorous in his denunciation of its motives Bevin brought to the conference table the methods of the trade-union organizer the high reputation he had won as Mr Churchill's Minister of Labour during the war years an intransigence as complete and language as robust as Molotov's own Byrnes, the U S Secretary of State, was the most patient negotiator of the three but in the worsening weather of international relations he soon made way for the more soldierly virtues of General Marshall. None of the three had the qualities, or the success in coming to speedy agreements, of their predecessors of twenty-six years before"*

—*Esmond Wright* A Short History of our Own Times (1919–1950) P P 113–114

शांति समस्या के स्वरूप एवं शांति-स्थापना के मार्ग को कंटकाकीर्ण बनाने वाली बाधाओं आदि पर विचार करने के उपरान्त अब हम शांति समझौता सम्पन्न करने की प्रारम्भिक तैयारी हेतु किए गए युद्धोत्तर प्रयासों और इनके फलस्वरूप हुई विभिन्न शांति-संधियों पर प्रकाश डालेंगे।

शान्ति समझौते के सम्मेलन और संधियाँ

शांति स्थापित करने के मौलिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन मित्र राष्ट्रों ने अटलांटिक चार्टर कासाब्लांका मास्को, तेहरान, याल्टा और पोट्सडम सम्मेलनों में किया। विश्वयुद्ध के बाद १९१९ के समान किसी बृहत् शांति सम्मेलन का आयोजन करना उचित न समझते हुए पोट्सडम सम्मेलन में शांति-समझौते की प्रारम्भिक तैयारी का भार ५ बड़े राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों की परिषद् को सौंपा गया और यह आशा की गई कि यह परिषद बिना किसी विशेष कठिनाई के अपना कार्य करने में सफल होगी। परन्तु दुर्भाग्य से इन विजयी प्रतिनिधियों में समझौता न हो सका और पराजित राष्ट्रों के साथ यथाशीघ्र संधियाँ भी न की जा सकीं। २ वर्ष के काफी वादविवाद के बाद इटली रूमानिया बल्गेरिया हंगरी और फिनलैण्ड से संधियाँ हुईं। इसके पीछे भी राजनीतिक उद्देश्य थे—रूस चाहता था कि पाश्चात्य देश इटली से यथाशीघ्र हट जाँय जब कि पश्चिमी देश चाहते थे कि मध्य यूरोप से रूस यथाशीघ्र हट जाये।* इन राजनीतिक स्वार्थों की अनिवार्यताओं के कारण ही ये संधियाँ जल्दी हो सकीं परन्तु जर्मनी आस्ट्रिया और जापान के बारे में पूर्व तथा पश्चिम का मतभेद उग्र होता गया और नतीजा यह हुआ कि आज तक एक सम्मिलित संधि का काम खटाई में पड़ा हुआ है।

विदेश मंत्री-परिषद की लन्दन में बैठक (सितम्बर १९४५)—विदेश मंत्री-परिषद का प्रथम सम्मेलन ११ सितम्बर से २ अक्टूबर, १९४५ तक लंदन में हुआ। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेटब्रिटेन फ्रांस और रूस के विदेश मंत्रियों-बर्नेस (Bornes), बेविन (Bebin) बिदो (Bidanet) तथा मोलोटोव (Molotov) ने सर्वप्रथम इटली की संधि पर विचार आरम्भ किया। मोलोटोव ने इटली के भूतपूर्व उपनिवेश लीबिया पर सोवियत रूस के संरक्षण (Trusteeship) की माँग करके और कम्यूनिस्ट प्रधानता वाले युगोस्लाविया के एड्रियाटिक सागर पर प्रादेशिक विस्तार का समर्थन करके पश्चिमी राष्ट्रों को स्तब्ध कर दिया। द्वितीय महायुद्ध में टर्की की तटस्थता से रूस दर्रे-दानियाल और बास्फोरस द्वारा भूमध्यसागर में प्रवेश और प्रभुत्व की चिरवांछित अभिलाषा की पूर्ति से अतृप्त रह गया था। अब उसकी आकांक्षा थी कि लीबिया पर प्रभुत्व स्थापित किया जाए और युगोस्लाविया के समर्थन से उसे प्राप्त किया जाय। रूस की इस नीति की व्याख्या करते हुए लैंग्सम (Langsam) ने लिखा है कि 'यह शीघ्र ही स्पष्ट हो गया कि प्रमुख कार्य इटली के साथ संधि करना नहीं है बल्कि पश्चिमी राष्ट्रों और सोवियत रूस के मध्य समझौता करना है।'* यहाँ पर एक बात यह स्मरणीय है कि सोवियत रूस ने पूर्वी यूरोप के राष्ट्रों—रूमानिया बल्गेरिया फिनलैण्ड और हंगरी के साथ पहले ही स्वतंत्र रूप से संधियाँ करली थी और पश्चिमी राष्ट्रों

---

*Langsam: The World Since 1919

ने रूस के इस कार्य के विरुद्ध अधिक विरोध का प्रदर्शन इसलिये नहीं किया था कि वे पूर्वी यूरोप में रूसी प्रभाव को मानने को तैयार थे बशर्ते कि रूस पश्चिमी यूरोप में हस्तक्षेप न करे। लेकिन पश्चिमी शक्तियों की यह आशा निष्फल हुई। जब इटली का प्रश्न आया तो रूस उसमें भी अपनी स्थिति को दृढ़ करने की दृष्टि से अपनी मांग पर अड़ने लग गया पश्चिमी राष्ट्रों को यद्यपि पूर्वी यूरोप पर रूस की प्रभाव-वृद्धि किसी भी रूप में स्वीकारणीय नहीं थी तथापि उन्होंने उसे सन्तुष्ट करने के लिए कुछ रियायतें देना चाहा। लेकिन रूस ने उनकी इस मनोवृत्ति को समझकर खूब बड़ी मांग रखकर हठ करना शुरू किया ताकि अन्तिम समझौतों में उसकी अधिकतम मांगें मान्य हो सकें।*

लंदन की विदेश मंत्री परिषद में इटालियन संधि के सम्बन्ध में दोनों पक्षों के मतभेद मुख्य रूप से इन समस्याओं पर केन्द्रित थे—

(क) इटली एवं यूगोस्लाविया की सीमा।
(ख) इटली से ली जाने वाली क्षति पूर्ति की राशि।
(ग) इटली के उपनिवेशों का विभाजन।

(क) इटली एवं यूगोस्लाविया की सीमा—इस विषय में सोवियत संघ चाहता था कि ट्रीस्टे और फ्यूम के बन्दरगाहों सहित सम्पूर्ण जूलियन मार्च (जूलियन आल्पस का उत्तर-पश्चिमी यूगोस्लाविया और उत्तर-पूर्वी इटली का सीमावर्ती प्रदेश) यूगोस्लाविया को दे दिया जाए। रूस की मांग के विपरीत पश्चिमी देश ट्रीस्टे के बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण चाहते थे और जूलियन मार्च का भाषा एवं प्रकृति के आधार पर इटली तथा यूगोस्लाविया के मध्य बँटवारा चाहते थे। चूंकि इस प्रश्न को विदेश मंत्री हल करने में असमर्थ रहे इसलिये यह निश्चित किया गया कि उस पर उपविदेश मंत्री विस्तार पूर्वक विचार करेंगे।

(ख) इटली से ली जाने वाली क्षति-पूर्ति की राशि-सोवियत संघ इटली से १० करोड़ डालर की क्षतिपूर्ति वसूल करना और इसका अधिकांश भाग स्वयं हस्तगत करना चाहता था। उसका तर्क था कि महायुद्ध में सबसे अधिक क्षति उसी को हुई थी अतः क्षतिपूर्ति का सबसे बड़ा हिस्सा उसे ही मिलना चाहिये। पश्चिमी राष्ट्र १० करोड़ डालर की इस राशि को क्षतिपूर्ति के रूप में अत्याधिक समझते थे। उनका कहना था कि उन्होंने इटली को पर्याप्त धन उधार में दिया है और इटली की आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है कि वह क्षति-पूर्ति की रकम दे सके।

(ग) इटली के उपनिवेशों का विभाजन-सोवियत रूस लीबिया पर ट्रस्टीशिप तथा डोडेकनीज टापू में सैनिक अड्डा चाहता था। पश्चिमी राष्ट्र भूमध्यसागर और अरब प्रदेशों पर रूस के प्रभाव के विरोधी थे।

इस तरह स्पष्ट है इटालियन संधि के प्रत्येक पहलू पर सोवियत संघ और पश्चिमी देशों में गहरे मतभेद विद्यमान थे। दूसरे प्रश्नों पर भी उनमें मतैक्य का सर्वथा अभाव था। उदाहरणार्थ जब मोलोटोव ने पश्चिमी प्रतिनिधियों से बल्गेरिया और रूमानिया की सरकारों को मान्यता देने का

*Langsam—The World Since 1919 P 876.

अनुरोध किया तो उन्होंने इस प्रार्थना को यह कहकर ठुकरा दिया कि ये सरकारें अपने देश की जनता की इच्छा का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं करती। इन सभी प्रश्नों पर कोई समझौता न हो सकने के कारण अन्त में लन्दन का विदेश मन्त्रियों का यह सम्मेलन पूर्ण रूप से विफल होकर भंग हो गया। युद्ध में जिन राष्ट्रों ने विजय प्राप्त करने में सफलता अर्जित की थी वे ही शांति-संधि करने में असफल रहे।

लन्दन की बैठक के उपरान्त और बैठक की अवधि में कुछ अन्तर्राष्ट्रीय घटनायें तेजी से घटी जिनके फलस्वरूप दोनों पक्षों के बीच तनाव में वृद्धि होती गई। रूस ने सुदूर पूर्व में कोरिया में ३८ वीं अक्षांश रेखा के उत्तर में और मंचूरिया में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर लिया। ऐसा करना उसके लिए इसलिए आवश्यक होगया क्योंकि दक्षिणी कोरिया में अमेरिका ने सिंग मेन री (Syngham Rhee) की अध्यक्षता में खुल्लमखुल्ला साम्यवादी विरोधी सरकार को स्थापित करवा दिया था। रूस ने एक कदम और आगे बढ़ते हुए ईरान में भी अपनी सेनायें बढ़ादीं जब कि पूर्व समझौतों के अनुसार मार्च १९४६ तक उसे वहाँ से अपनी फौजें हटा लेनी चाहिए थीं। इतना ही नहीं बल्कि यूनान में भी रूसी हस्तक्षेप बढ़ता गया। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन को रूस की यह *नीति पसन्द नहीं आई। उसने इस नीति की आड़ में निकटपूर्व* और भूमध्यसागर पर रूसी प्रभुत्व की तृष्णा को पहचान लिया। इसीलिए उसने इन सोवियत चालों को "विशाल संडासी की चालें" (Giant Pincer Movements) का नाम दिया। परन्तु संधियों के काम को तो किसी न किसी प्रकार पूरा करना ही था अतः दोनों पक्षों ने समझौते के प्रयत्न जारी रखे।

मास्को की विदेश मन्त्री परिषद (१६ दिसम्बर १९४५)—लन्दन सम्मेलन के बाद अमेरिकन विदेश मन्त्री बर्नेस के सुझाव पर १६ दिसम्बर १९४५ को विदेश मन्त्री परिषद का दूसरा सम्मेलन हुआ। बर्नेस के इस सुझाव पर इस सम्मेलन में भाग लेने के लिए फ्रान्स और चीन को आमंत्रित नहीं किया गया। अतः यह सम्मेलन केवल संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन और सोवियत रूस के विदेश मन्त्रियों के मध्य ही हुआ। यह सम्मेलन प्रथम सम्मेलन की अपेक्षा कुछ अधिक सफल रहा और इसमें प्रस्तावित पांच शांति संधियों से सम्बन्धित मामलों पर विचार-विमर्श किया गया। इसके अतिरिक्त सम्मेलन के समक्ष विचारणीय मुख्य प्रश्न दो रहे—(१) रूमानिया एवं बल्गेरिया की सरकार को मान्यता देने के प्रश्न पर विचार करना (२) अणुशक्ति के नियन्त्रण की समस्या पर विचार करना (३) एक ऐसे यन्त्र की स्थापना करना जो सुदूरपूर्व तथा ईरान की समस्याओं का समाधान कर सके।

पूर्व निश्चित तिथि से सम्मेलन का आरम्भ हुआ। प्रारम्भिक प्राविधिक कठिनाइयों का शीघ्रता से इस प्रकार निराकरण हो गया कि पहले संधियों के प्रारूप उन राज्यों द्वारा तैयार किये जायेंगे जिन्होंने विराम-संधि पर हस्ताक्षर किये थे। तत्पश्चात् उन प्रारूपों पर वे सब राज्य विचार करेंगे जिन्होंने धुरी राष्ट्रों (Axis-powers) के विरुद्ध संघर्ष में भाग लिया था। यह निश्चय किया गया कि इस विचार-विमर्श में पांचों पराजित राज्य

भी अपनी बात कहने के अधिकारी होंगे। संधियों के अन्तिम मसौदे लिखने का कार्य विदेश मन्त्रियों की परिषद द्वारा किया जायगा। इसके साथ ही यह भी व्यवस्था की गयी कि संधियों पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद पराजित राष्ट्रों के प्रदेशों से मित्र राष्ट्रों की सेनाएं हटा ली जायेंगी। किन्तु आस्ट्रिया के साथ संधि होने तक वियना-लिंज रेलवे लाइन के लिए रूमानिया से यातायात का मार्ग सुरक्षित बनाये रखने के लिए रूमानिया और हंगरी में सोवियत सेनाओं का बना रहना स्वीकार किया गया। वास्तव में यह निर्णय रूस की एक बहुत बड़ी सफलता थी क्योंकि इसमें रूस को वियना के साथ कठोर शर्तें तय करने का अवसर मिल गया। इससे वियना के साथ संधि में बड़ी अड़चन पड़ी और इसके पूरा न होने पर संधि न होने से बहुत समय तक तीनों देशों में अपनी फौजें बनाये रखने का उसे अधिकार प्राप्त हो गया।

इसी सम्मेलन में निम्नलिखित आयोगों की स्थापना भी की गयी—

(क) सुदूरपूर्व आयोग [Far-Eastern Commission]—यह आयोग रूस, संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रान्स, हालैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, फिलिपाइन्स और भारत का था जो वाशिंगटन में स्थापित किया गया।

(ख) मित्र परिषद [Allied Council]—जापान के लिए सोवियत रूस, ग्रेट ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और चीन की यह परिषद बनायी गयी जिसका अध्यक्ष टोकियो स्थित मित्र राष्ट्रों का सर्वोच्च कमाण्डर नियुक्त किया गया।

(ग) रूस अमेरिका आयोग [Russia-America Commission]—इस आयोग की स्थापना कोरिया की समस्या के अध्ययन और समाधान हेतु की गयी।

सम्मेलन में अणु शक्ति के नियन्त्रण के सम्बन्ध में यह तय हुआ कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक अणुशक्ति नियन्त्रण आयोग [Atomic Energy Control Commission] की स्थापना करे जिसमें सुरक्षा परिषद [Security Council] के समस्त सदस्यों के अतिरिक्त कनाडा को भी स्थान दिया जाय।

मास्को-सम्मेलन में रूस के प्रति बर्नेस द्वारा दिखायी गयी उदारता को अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने पसन्द नहीं किया और इसलिए उसके स्थान पर मार्शल को विदेश मन्त्री नियुक्त किया गया। ब्रिटेन के बेविन ने भी बर्नेस की तुष्टीकरण की नीति को अनुचित मानते हुए उसकी कठोर आलोचना की। इस सम्मेलन के निर्णयों की पाश्चात्य देशों में अच्छी प्रतिक्रिया नहीं हुई और ब्रिटेन तथा अमेरिका के मध्य भी एक खाई पैदा हो गयी।

पेरिस का उपविदेश मंत्री सम्मेलन—मास्को सम्मेलन के उपरान्त लन्दन की विदेशमन्त्री परिषद् के निर्णय के अनुसार जनवरी १९४६ में उप विदेशमन्त्रियों की नियमित बैठकें शान्ति संधियों के प्रारूपों को तैयार करने के लिए आरम्भ हुईं। ये बैठकें थोड़े समय को छोड़ कर १२ जुलाई तक चलती रहीं और इनमें पांच शान्ति-संधियों (Five-peace Treaties) के

मसविदे अथवा प्रारूप तैयार किये गये। सम्मेलन के समक्ष जटिलतम समस्या इटली और युगोस्लाविया के सीमान्त की थी। प्रश्न था कि ट्रीस्टे और उसके समीपवर्ती प्रदेश को किसे दिया जाय—इटली को अथवा युगोस्लाविया को। १९४५ के अप्रैल के अन्तिम दिनों में ट्रीस्टे को जर्मन आधिपत्य से मुक्त कराने का श्रेय युगोस्लाव सेना को था। २ मई, १९४५ को मित्र राष्ट्रीय फौजें भी ट्रीस्टे में प्रविष्ट हुईं और युगोस्लाविया तथा मित्र राष्ट्रों के मध्य सम्पन्न हुए एक समझौते के अनुसार ट्रीस्ट के स्वतन्त्र नगर को दो क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया—एक क्षेत्र पर अमेरिका के आधिपत्य को स्वीकार किया गया जब कि दूसरा क्षेत्र युगोस्लाविया के अधिकार में रख दिया गया। सम्मेलन में सोवियत संघ ने अपना यह तर्क दोहराया कि जूलियन मार्च एक अविभाज्य पूर्ण इकाई है और सांस्कृतिक तथा आर्थिक दृष्टिकोण से उस पर युगोस्लाविया का अधिकार होना चाहिए। रूसी तर्क के विरोध में पश्चिमी देशों ने कहा कि सांस्कृतिक एवं जातीय आधार पर जूलियन मार्च पर इटली एवं युगोस्लाविया दोनों ही का अधिकार वांछित है। सोवियत रूस युगोस्लाविया के सम्बन्ध में अपनी बात मनवाने को लालायित था अतः ट्रिपोलिटानिया पर अपनी ट्रस्टीशिप के दावे का उसने परित्याग कर दिया। अन्त में बिदो (Bedault) के सुझाव पर ट्रीस्ट के अन्तर्राष्ट्रीयकरण का प्रस्ताव मान लिया गया। इस विवादास्पद प्रदेश के सम्बन्ध में बिदो ने २९ जून को एक सात सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसमें यह कहा गया था कि इस प्रदेश को दस वर्ष की अवधि के लिए स्वतंत्र क्षेत्र घोषित कर दिया जाय और उसके प्रशासन पर रूस, ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस, इटली, युगोस्लाविया, सुरक्षा परिषद और उस क्षेत्र के निवासियों का संयुक्त नियंत्रण स्थापित किया जाय। प्रस्तावित कार्यक्रम में यह भी कहा गया कि स्वतंत्र क्षेत्र की प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद पर डाला जाय।

बाद में यह निश्चय हुआ कि जूलियन मार्च का अधिकांश भाग युगोस्लाविया को मिलेगा। स्वतंत्र क्षेत्र के लिए बाद में एक संविधान भी बनाया गया जिसे इटली के साथ की गयी संधि में शामिल कर लिया गया।

पेरिस का शांति सम्मेलन—प्रारम्भिक अवरोधों के निराकरण के उपरान्त मास्को की विदेश मंत्री परिषद के निर्णय के अनुसार, पेरिस में २९ जुलाई, १९४६ से १५ अक्टूबर १९४६ तक २१ राष्ट्रों का एक सामान्य सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इस सम्मेलन में विदेशमंत्री परिषद द्वारा तैयार किये गये ५ पराजित देशों के साथ शांति संधियों के प्रारूपों पर विचार किया गया। संधि प्रारूपों के लगभग ६० अनुच्छेद ऐसे थे जिन पर विदेशी मंत्री परिषद एक मत न थी। इन सभी को सामान्य सम्मेलन में विचारार्थ प्रस्तुत किया गया। २१ राष्ट्रों के लगभग १५०० प्रतिनिधियों ने संधि प्रारूपों पर अनुच्छेदों के अनुसार खुलकर विचार-विमर्श एवं वाद-विवाद किया। कैम्पबेल (Campbell) महोदय का विचार है कि इस सम्मेलन में विचार-विमर्श का जो तरीका अपनाया गया तथा प्रतिनिधियों द्वारा जो दृष्टिकोण रखा गया उसके कारण किसी सर्वमान्य समझौते पर पहुँचने की संभावना ही समाप्त हो

गयी । अनेक राष्ट्रों ने सम्मेलन पर बड़ी शक्तियों के अनिमय प्रभाव का विरोध किया तथा इसी प्रश्न पर असंतुष्ट होकर आस्ट्रेलिया के विदेशमंत्री ने सम्मेलन को ही छोड़ दिया ।

पेरिस में होने वाला शान्ति सम्मेलन प्रायः असफल ही माना जाता है किन्तु तो भी इस सम्मेलन का महत्व है क्योंकि इसमें जो सिफारिशें की गई थीं उन पर विदेशमंत्री सम्मेलन में बड़ी गम्भीरता पूर्वक विचार किया गया और उनमें से कुछ को अपनाया भी गया । ४ नवम्बर १९४६ को विदेश मंत्रियों के इस परिषद की न्यूयार्क में पुनः बैठक हुई । दिसम्बर १९४६ म सब मतभेदों का निराकरण करके परिषद द्वारा पांचों शांति संधियों के प्रा प्रारूप तैयार कर लिये गए । १० फरवरी १९४७ को पेरिस में २१ स अथवा मित्रराष्ट्रों तथा ५ पराजित राष्ट्रों द्वारा इन संधियों पर हस्ताक्षर किये गए । शांति-संधियों के अनुसमर्थन के लिए १५ सितम्बर १९४७ की तिथि मानली गई । इस तरह यूरोप के अधिकांश भू भाग पर शांति पुनरावृत्ति सम्भव हो सकी । फिर भी किसी भी पराजित राष्ट्र ने शांति संधियों को संतोषजनक न्याय संगत और अच्छी नहीं माना तथा संशोध आन्दोलन" का यथाशीघ्र सूत्रपात हुआ । आस्ट्रिया जर्मनी और जापान साथ शांति-संधियों के बारे में पारस्परिक मतभेदों की उग्रता बनी रही और गतिरोध जारी रहा । चार्ल्स श्लीचर (Charles S hleicher) का मत है कि "संघर्ष विजेताओं और पराजित शत्रुओं में कम था सोवियत संघ और पाश्चात्य शक्तियों में अधिक तथा यह यूरोप के राजनीतिक ढांचे और अन्तर्राष्ट्रीय अनुस्थापन (Internatiodal Orientation) के निर्धारण में सोवियत संघ और पश्चिम के बढ़ते हुए संघर्ष का परिचायक था ।"+

पांच शांति संधियां
(Five Peace Treaties)

जिन ५ शान्ति संधियों पर २१ संयुक्त राष्ट्रों और ५ पराजित राष्ट्रों ने पेरिस में हस्ताक्षर किये वे निम्नलिखित थीं—

इटली के साथ संधि (Peace Treaty with Italy)—इस संधि में ९० धारायें और १७ परिशिष्ट थे जिनके अन्तर्गत की जाने वाली प्रमुख व्यवस्थायें इस प्रकार थीं—

(क) इटली के प्रदेशों का विभाजन—संधि के अन्तर्गत इटली को अपने निम्नि प्रदेश अन्य राज्यों को देने पड़े—

---

*"The possibility of arriving of generally accepted solutions by negotiations was ruled by the methods adopted and by the temper of the delegates."

—J. C. Campbell—The U.S. In World Affairs, 1945—47 p 136.

+Schleicher—Introduction to International Politics p. 347

(i) फ्रांस को छोटा सैण्ट बर्नार्ड का दर्रा और ब्रीगा टाण्डा (Briga Tanda) का प्रदेश मिला।

(ii) यूगोस्लाविया को पूर्वी वासात्स्या जूलिया (Venezia Giulia) में ३००० वर्ग मील का क्षेत्र तथा ज़ारा (Zara) और एड्रियाटिक सागर के कुछ टापू मिले।

(iii) यूनानको डोडेकेनीज रोड्स तथा कास्टेलोरिजो (Castellorezo) के टापू मिले।

(iv) अल्बानिया को साजेनो (Sorseno) का टापू दिया गया।

(v) दक्षिणी टिरोल यद्यपि इटली के पास रहा किन्तु उसे इस प्रदेश के जर्मन भाषा-भाषियों को समान अधिकार और मर्यादित स्वायत्त शासन देना पड़ा।

(vi) ट्रीस्टे को स्वतन्त्र बन्दरगाह बनाया गया तथा वहां सुरक्षा परिषद ने अपना गवर्नर नियुक्त किया।

(ग) इटली के उपनिवेशों की समाप्ति—इटली को अपने उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। उसे अफ्रीका में लीबिया इरीट्रिया (Eritrea) और सोमालीलैण्ड के अपने उपनिवेशों पर अधिकार का परित्याग करना पड़ा तथा इनके भविष्य का निर्णय अमेरिका रूस और ब्रिटेन पर छोड़ा गया। इनमें समझौता न होने पर संयुक्त राष्ट्र संघ की महा-सभा को इनके भविष्य का निर्णय करने का अधिकार दिया गया। चूंकि चार बड़ों द्वारा इस विषय में कोई समझौता न हो सका अतः दिसम्बर १९४९ में महासभा के निर्णय के अनुसार यह निश्चित हुआ कि १ जनवरी, १९५२ तक लीबिया को स्वतंत्र कर दिया जाएगा। इटालियन सोमाली लैण्ड को १० वर्ष के लिए इटली की ट्रस्टी शिप में रखने का निश्चय हुआ और यह व्यवस्था की गई कि इस अवधि के बाद उसे भी स्वाधीन घोषित कर दिया जाएगा। इरीट्रिया को १९५४ तक संयुक्त राष्ट्र संघ के नियंत्रण में रखने का निश्चय किया।

१९४९ में महासभा द्वारा किये गए निर्णयों के अनुसार लीबिया जनवरी १९५२ में और सोमालीलैण्ड दिसम्बर, १९६० में स्वतंत्र हो गया। अल्बानिया और एबीसीनिया युद्ध के दौरान ही मित्रराष्ट्रीय सेनाओं द्वारा स्वाधीन किये जा चुके थे।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अन्तर्गत इस प्रकार इटली का औपनिवेशिक साम्राज्य बिल्कुल समाप्त कर दिया गया।

(घ) इटली से वसूल की जाने वाली क्षतिपूर्ति की राशि—संधि के अन्तर्गत यह निश्चित हुआ कि इटली क्षतिपूर्ति के तौर पर ३६ करोड़ डालर मित्रराष्ट्रों को देगा। भुगतान की अवधि ७ वर्ष नियत की गई। यह राशि विभिन्न देशों में इस प्रकार से बँटनी थी—

१ यूगोस्लाविया को १२.५ करोड़ डालर
२ यूनान को १०.५ करोड़ डालर
३ सोवियत संघ को १०.०० करोड़ डालर
४ एबीसीनिया को २.५ करोड़ डालर
५. अल्बानिया को ५० लाख डालर

ने फिनलैण्ड को पुनः पराजित कर दिया और इस शांति-संधि के अन्तर्गत हांगो के बदले उसने पोरकक्ला-उड् का प्रदेश प्राप्त किया ।

(ख) निःशस्त्रीकरण—फिनलैण्ड पर सैनिक प्रतिबन्ध लगाते हुए उसके स्थल-सैनिकों की संख्या ३४४०० नौ सैनिकों की संख्या ४५०० वायु सेना ३०० और विमानों की संख्या ६० निश्चित कर दी गयी । यह भी तय हुआ कि वह ७० हजार टन से अधिक के जहाज नहीं रखेगा ।

(ग) क्षतिपूर्ति—क्षतिपूर्ति के रूप में फिनलैण्ड द्वारा १९ सितम्बर १९४४ से ८ वर्षों में सोवियत संघ को ३० करोड़ डालर वस्तुओं के रूप में चुकाना तय किया गया ।

युद्धोत्तर शांति प्रयासों के फलस्वरूप इस प्रकार जो पांच शांति संधियां सम्पन्न की गयीं उनके द्वारा पराजित राष्ट्रों की आक्रमणकारी प्रयासों का समुचित दण्ड दिया और विजयी राष्ट्रों को उनकी क्षतिपूर्ति की व्यवस्था के लिए धन एवं प्रदेश दिलाने का प्रबन्ध किया गया । शांति-संधियों ने युगोस्लाविया को बालकान प्रायद्वीप में सब शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया जिसके परिणामस्वरूप वह इटली का प्रतिस्पर्धी बन गया । आर्थिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक लाभ रूस को हुआ क्योंकि पांचों राष्ट्रों पर लादी गयी क्षतिपूर्ति का ७० प्रतिशत भाग अर्थात् ९० करोड़ डालर वसूल करने का अधिकार रूस को मिला । राजनीतिक प्रभाव की दृष्टि से भी पूर्वी यूरोप में रूस का अधिकार स्थापित हो गया । २९ जून १९४५ की संधि के अनुसार उसे चैकोस्लोवाकिया से 'सबकार्पेथियन रूथेनिया (Subcarpathean Ruthenia) मिला और पोलैण्ड से १६ अगस्त १९४५ की संधि द्वारा पूर्वी पोलैण्ड का बड़ा भाग प्राप्त हुआ । इन शांति-संधियों से पश्चिमी राष्ट्रों को आर्थिक अथवा प्रादेशिक दृष्टि से किसी प्रकार का लाभ नहीं हुआ उल्टे भावी समझौतों में रूस की मांगें उत्तरोत्तर बढ़ती गयीं जिसके परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्र जर्मनी जापान और आस्ट्रिया के साथ सामूहिक रूप से शांति संधियां करने में असफल रहे ।

शान्ति संधियों का उल्लंघन—इटली हंगरी बल्गेरिया रूमानिया और फिनलैण्ड के साथ सम्पन्न की गयी शांति संधियां यद्यपि १५ सितम्बर १९४७ से अन्तिम रूप में लागू कर दी गयीं तथापि इन संधियों का पूरी तरह पालन नहीं किया गया और इनके अनेक प्रावधानों का उल्लंघन हुआ अथवा उनकी उपेक्षा की गई । * हंगरी (बल्गेरिया) और रूमानिया के लोगों की स्वतंत्रता की गारंटी के प्रति अभी तक केवल मौखिक सेवा [Lip Service] ही चुकायी गयी है । सोवियत रूस की सहमति से डैन्यूब में स्वतंत्र-नौ-संचालन की गारंटी दी गयी थी किन्तु बाद में रूस ने इस प्रकार की स्वतंत्रता को निष्प्रभावित

---

* "Some two years after the cessation of hostilities, the peace treaties with Italy Hungary Bulgaria, Rumania, and Finland were finally declared to be in effect as of September 15 1947 Many of their provisions, however have been deliberately violated evaded or ignored."

—*Palmer & Perkins* International Relations, p. 441

होने से रोक दिया। इस पर डैन्यूब में अन्तर्राष्ट्रीय नौका-परिचालन-सत्ता की व्यवस्था के लिए सन् १९४८ के जुलाई-अगस्त में बेलग्रेड में एक सम्मेलन बुलाया गया। रूस ने इस तरह की संधि प्रस्तावित की जिसमें सिद्धान्त रूप में डैन्यूब में स्वतन्त्र नौ-परिचालन को स्वीकार किया गया था लेकिन व्यवहार में इस स्वतन्त्र नौ-संचालन व्यवस्था पर कुठाराघात था। पश्चिमी शक्तियों ने संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया और रूसी प्रयासों की कटु निन्दा की। तदुपरान्त व्यावहारिक दृष्टि से डैन्यूब का नियन्त्रण सोवियत संघ और उसके गुट के हाथों में चला गया केवल युगोस्लाविया ही इस सम्बन्ध में सोवियत स्थिति के प्रति असन्तोष रहा।

महाशक्तियों के पारस्परिक विरोधों के कारण सुरक्षा-परिषद् इटालियन शांति-संधि में की गई व्यवस्था के अनुसार ट्रीस्टे के मुक्त क्षेत्र [Free Territory of Trieste] का निर्माण करने के लिए आवश्यक कदम उठाने में असमर्थ रही। इस प्रकार, जहां सैद्धान्तिक रूप से ट्रीस्टे के मुक्त क्षेत्र का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया वहां व्यवहारतः युगोस्लाविया का इसके बी क्षेत्र [Zone B] और अमेरिका तथा ब्रिटिश सेनाओं का क्षेत्र [Zone A] पर नियन्त्रण विद्यमान रहा। १९४८ में इटालियन निर्वाचनों के अवसर पर संयुक्त राज्य अमरीका, ब्रिटेन और फ्रान्स ने अचानक ही यह प्रस्तावित किया कि ट्रीस्टे इटली को लौटा दिया जाय किन्तु यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाना असम्भव प्रमाणित हुआ। वास्तव में इटली और युगोस्लाविया दोनों की सहमति के बिना कोई भी वास्तविक समझौता नहीं हो सकता था। यद्यपि १९४८ के बाद दोनों देशों के मध्य सम्बन्धों में कुछ सुधार हुआ किन्तु फिर भी अनेक महीनों तक ट्रीस्टे विवाद शांत अवस्था में विद्यमान रहा। अन्त में लन्दन में लम्बे वाद-विवाद के उपरान्त ५ अक्टूबर, १९५४ को इटली, युगोस्लाविया-ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका ने ट्रीस्टे विवाद पर एक "सहमति अथवा समझदारी के स्मरणपत्र" (Memorandum of Understanding) पर हस्ताक्षर किये। इस स्मरण पत्र के अनुसार ट्रीस्टे नगर और क्षेत्र ए [Zone A] का लगभग सम्पूर्ण भाग इटली को दे दिया गया, और क्षेत्र बी [Zone B] का थोड़ा सा बढ़ा हुआ भाग युगोस्लाविया को दिया गया।

इटालियन शांति-संधि बल्गेरिया हंगरी और रूमानिया के साथ की गयी संधियों की भांति ही लगभग मृतप्राय हो गयी। १९५१ में संयुक्त राज्य अमरीका ब्रिटेन और फ्रांस ने सोवियत संघ तथा अभिरुची रखने वाले अन्य राष्ट्रों के सामने प्रस्ताव रखा कि संधि का संशोधन किया जाय तथा इटली का पूर्ण सार्वभौमिकता दी जाय एवं उसे संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाया जाय। चूंकि इटली अपना भाग्य पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों और अटलांटिक समुदाय के साथ बांध चुका था तथा प्रस्तावित संधि संशोधन का प्रारम्भिक उद्देश्य इटली की सशस्त्र सेनाओं पर लगे प्रतिबन्धों को हटाना था अतः इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि रूस ने प्रस्ताव का उत्तर असन्तोषजनक दिया। अब स्थिति यह है कि इटली ने अपनी पूर्ण स्वतंत्रता और राष्ट्रीय सुरक्षा को अपने अस्तित्व के लिये आवश्यक मानते हुए शांति संधि की

अधिकांश धाराओं का पूर्ण उन्मूलन कर दिया है और ऐसा करने में उसे पाश्चात्य शक्तियों के दृढ़ समर्थन का प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष बल मिला है।

आस्ट्रिया के साथ संधि

[Peace Treaty with Austria]

छोटे-छोटे राज्यों के साथ उपरोक्त पांचों शांति संधियां करने में मित्र राष्ट्रों को अधिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़ा परन्तु आस्ट्रिया जर्मनी और जापान की समस्याएं इतनी उलझी हुई तथा महत्त्व-पूर्ण थीं कि इनके साथ शांति संधियां करने में मित्र राष्ट्रों के मार्ग में गम्भीर कठिनाइयां उपस्थित हो गयीं और उनके आपसी तनाव बढ़ते गये। यद्यपि सितम्बर १९४५ से होने वाली सभी बैठकों में समस्या को सुलझाने में काफी समय नष्ट किया गया, परन्तु मित्र राष्ट्र किसी एक सर्व-सम्मत सन्तोषजनक निर्णय पर पहुंचने में असफल रहे। फिर भी आस्ट्रिया के साथ संधि करने की दिशा में प्रगति और आशा के अधिक लक्षण दृष्टिगोचर हुए।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान नवम्बर १९४३ में मास्को में हुए विदेशमंत्री सम्मेलन में यह घोषणा की गयी थी कि जर्मनी द्वारा आस्ट्रिया को बलपूर्वक अपने राज्य में मिलाया जाना एक अवैधानिक घटना थी अतः युद्धोपरान्त आस्ट्रिया की पुनः एक स्वतन्त्र राज्य के रूप में स्थापना की जायगी। इस घोषणा से स्पष्ट था कि युद्ध के बाद आस्ट्रिया के साथ वह व्यवहार होना चाहिए जो एक स्वतन्त्र किये हुए देश के साथ होता है न कि वह व्यवहार जो शत्रु देश के साथ किया जाता है। परन्तु इस घोषणा के बावजूद भी जुलाई १९४५ के समझौते के अनुसार आस्ट्रिया चार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया गया यहां तक कि सोवियत क्षेत्र में स्थित आस्ट्रिया की राजधानी वियना के भी चार टुकड़े कर दिये गये। फिर भी इन विभाजनों के होते हुए भी आस्ट्रिया को अपनी इच्छानुसार सरकार स्थापित करने एवं अपने वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन करने का अधिकार दिया गया। युद्ध समाप्त होने के पश्चात् विदेश मंत्रियों की परिषद में आस्ट्रिया और जर्मनी का मामला अनेक बार उठा और गिरा। अप्रैल-मई १९४६ में पेरिस की विदेशमंत्री परिषद में संयुक्त राज्य अमरिका ने आस्ट्रिया की संधि का प्रश्न उठाया लेकिन रूस द्वारा इसे वीटो (Veto) कर दिया गया। जून-जुलाई १९४६ की विदेशमंत्री परिषद की दूसरी बैठक में पुनः ब्रिटेन तथा अमरीका ने आस्ट्रिया से विदेशी सेनाएं हटाने का प्रस्ताव पेश किया परन्तु रूस द्वारा विरोध में यह तर्क दिया गया कि आस्ट्रिया में नाजी तत्वों का पूरी तरह उन्मूलन नहीं हुआ है और वह अभी मास्को विरोधी शरणार्थियों का अड्डा है अतः वहां से सेनाएं नहीं हटायी जा सकतीं।

पांच शांतिसन्धियों (Five Peace Treaties) के सम्पन्न होने के उपरान्त विदेशमंत्री परिषद को १९४७ के मास्को सम्मेलन में आस्ट्रिया और जर्मनी के साथ शांति स्थापित करने वाले मसलों पर पुनः विचार-विमर्श हुआ। आस्ट्रिया के सम्बन्ध में एक आधारभूत समझौता होने की आशाएं

आयोजित हुई। इस समय आस्ट्रिया से सम्बन्धित संधि वार्ता पर सोवियत रूस का पाश्चात्य शक्तियों के साथ तीन मुख्य बातों पर मतभेद था—

(i) दक्षिणी कैरिन्थिया (Southern Carinthia) में आस्ट्रियन प्रदेश के एक भाग पर युगोस्लाविया का दावा,

(ii) युगोस्लाविया द्वारा क्षतिपूर्ति के रूप में १५ करोड़ की धनराशि की मांग एवं

(iii) जर्मन सम्पत्ति (assets) की परिभाषा।

अन्तिम विवाद (जर्मन सम्पत्ति की परिभाषा का) अधिक आधारभूत था। सोवियत रूस का कहना था कि आस्ट्रिया में किसी भी साधन द्वारा अधिकृत की गयी जर्मन सम्पत्ति पर उसका स्वयं का अधिकार है। इस परिभाषा को मान लेने पर आस्ट्रिया अपनी बहुत सी सम्पत्ति एवं विकास स्रोतों से वंचित रह जाता। इस कारण पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा इस सोवियत व्याख्या का दृढ़तापूर्वक विरोध किया गया। मतभेद के कारण जब आस्ट्रिया के मसले पर कोई समझौता न हो सका तो विदेशमंत्री परिषद ने एक चतुःशक्ति संधि आयोग Four Power Treaty Commission] की स्थापना की जो वियना में समस्या का समाधान ढूंढने के लिए मिलने वाला था। इस आयोग की अनेक बैठकों में पर्याप्त विचार-विमर्श करने के बाद भी आस्ट्रिया के सम्बन्ध में कोई संतोषजनक हल नहीं निकल पाया।

१९५५ के प्रारम्भ तक आस्ट्रिया का प्रश्न अधर झूल में लटका रहा। अप्रैल १९५५ में आस्ट्रिया के चान्सलर जूलियस रैब (Julius Raab) ने अपने देश की निष्पक्ष नीति (Policy of Neutrality) की घोषणा की। सोवियत रूस ने इस घोषणा का समर्थन किया। बाद में बातचीन के लिए चार बड़े देशों के विदेश मन्त्री वियना में मिले। काफी विचार विमर्श के उपरान्त १५ जुलाई, १९५५ को आस्ट्रिया के साथ शान्ति-संधि पर हस्ताक्षर हो गये। इस संधि द्वारा १२ मार्च १९३८ के बाद १७ वर्ष तक पराधीन रहने के पश्चात् आस्ट्रिया को स्वाधीनता एवं सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हुई। आस्ट्रिया राज्य की संधि पर संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस ग्रेट ब्रिटेन और आस्ट्रिया ने हस्ताक्षर किये। संधि के द्वारा आस्ट्रिया यद्यपि 'एक प्रभुत्वसम्पन्न स्वतन्त्र और प्रजातन्त्रात्मक राज्य (A Sovereign, Independent and Democratic State) के रूप में उदित हो गया किन्तु उसके द्वारा यह वचन दिया गया कि वह जर्मनी के साथ किसी प्रकार का राजनीतिक या आर्थिक संघ नहीं बनायगा और विध्वंसकारी शस्त्रों की दौड़ में अपने आप को सम्मिलित नहीं करेगा। संधि के द्वारा की गई व्यवस्थाओं के अनुरूप ३१ दिसम्बर, १९५५ तक आस्ट्रिया से सभी देशों की सेनाओं को हट जाना था। इसमें कोई संदेह नहीं कि आस्ट्रिया को स्वतन्त्रता प्रदान करने वाला यह समझौता शीत-युद्ध छिड़ने के बाद पूर्व और पश्चिम के बीच प्रथम और महत्वपूर्ण शान्ति समझौता था।*

*Thus Austria regained her independence in "the first major European settlement between East and West since the outbreak of the cold war"

—Quoted from "International Relations" (page 443) by Palmer & Perkins.

जर्मनी के साथ संधि-वार्ता
[Peace Talks with Germany]

यद्यपि युद्ध काल में ही विभिन्न सम्मेलनों द्वारा मित्र राष्ट्रों ने यह तय कर लिया था कि जर्मनी के साथ शान्ति स्थापना किन सिद्धान्तों के आधार पर होगी किन्तु युद्ध के बाद यह समस्या इतने उग्र रूप में प्रकट हुई और पाश्चात्य शक्तियों व सोवियत संघ के मध्य जर्मनी के प्रश्न पर इतने व्यापक मतभेद प्रकट हुए कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी अब तक इस सम्बन्ध में विधिपूर्वक कोई संधि सम्पन्न नहीं हो सकी है।

जर्मनी के विषय में युद्ध की अन्तिम अवस्था के समय अगस्त १९४५ में हुए पोट्सडम सम्मेलन में सबसे अधिक विस्तृत व्यवस्थाएं की गयी थीं। इस सम्मेलन में अमरिका, ब्रिटेन और रूस द्वारा यह निर्णय किया गया था कि युद्धोत्तरकाल में जर्मनी का पूर्ण रूप से असैनिकीकरण और निःशस्त्रीकरण किया जाय नाजी कानून का उन्मूलन और नाजी दल को भंग किया जाय। युद्ध अपराधियों पर मुकदमा चलाया जाय प्रशासन का विकेन्द्रीकरण और प्रजातन्त्री सिद्धान्तों पर स्थानीय उत्तरदायित्व का विकास हो शस्त्रों और वाल्वों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया जाय जर्मनी की विदेशों में पड़ी सम्पत्ति और औद्योगिक उत्पादनों से प्राप्त रकम क्षतिपूर्ति अदा करने में व्यय की जाय आदि। इसके अतिरिक्त जर्मनी को अमरिकन ब्रिटिश रूसी और फ्रान्स चार अधिकार क्षेत्रों में बांटा गया तथा इसके नियन्त्रण के लिए चार महाशक्तियों के प्रतिनिधियों की एक परिषद् स्थापित की गयी।

युद्ध की समाप्ति पर स्थिति यह थी कि चारों महाशक्तियों ने जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभक्त कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया था और चारों ही क्षेत्रों के प्रधान सेनापतियों को अपने प्रदेश में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। जर्मनी की राजधानी बर्लिन को भी चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। चारों राष्ट्रों की मित्र राष्ट्रीय नियन्त्रण परिषद् बर्लिन में फिर स्थापित हुई जो आपसी मतभेदों के कारण अधिक समय तक काम नहीं कर सकी और १९४८ में समाप्त हो गयी।

युद्ध के बाद १९४६ में जर्मनी से सम्बन्धित प्रत्येक मामले पर रूस एवं अमरिका में जबरदस्त खींचातानी होने लगी। रूस की मांग थी कि जर्मनी को शक्तिशाली संघीय राज्य बनाया जाय और वह १० वर्षों के भीतर दस अरब डालर क्षतिपूर्ति के रूप में अदा करे। इसके अतिरिक्त रूर का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाय और पूर्वी सीमाओं का नये ढंग से निर्धारण हो। आंग्ल-अमरिकन गुट चाहता था कि जर्मनी में प्रजातांत्रिक संघीय सरकार की स्थापना की जाय सेनाओं का पुनर्निर्धारण किया जाय और जर्मनी की हालत आर्थिक दृष्टि से स्वस्थ बना दी जाय ताकि वह क्षतिपूर्ति आसानी से अदा कर सके।

पेरिस बैठक में अमरिकन विदेशमन्त्री बर्नेस (Byrnes) ने रूसी भय को कम करने की दृष्टि से जर्मन निःशस्त्रीकरण और असैनिकीकरण के सम्बन्ध में एक २५ वर्षीय संधि का सुझाव रखा परन्तु ९ जुलाई १९४६ को मोलोटोव ने यह कह कर इस संधि प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि यह अपूर्ण है और

इसका उद्देश्य जर्मनी सैनिक शक्ति का पुनरुत्थान करना है। इसके अगले ही दिन मालोटोव ने परिषद में घोषणा की कि जर्मनी के साथ सन्धि करने से पूर्व एक ऐसी अस्थायी जर्मन सरकार की स्थापना की जानी चाहिए जो विशुद्ध रूप से लोकतान्त्रिक हो और नाजी तत्वों को नष्ट करने में तथा मित्र राष्ट्रों के प्रति अपने दायित्वों को—विशेषकर क्षतिपूर्ति के दायित्वों को पूरा करने में समर्थ हो। रूस के इस रवय से अमेरिका, जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रयत्न में लग गया और उसने घोषणा की कि वह जर्मनी की आर्थिक एकता की दृष्टि से अन्य अधिकार-क्षेत्रों से सम्बन्धित सरकारों के साथ मिलजुल कर काम करने को तैयार है। २० जुलाई, १९४६ को ब्रिटेन ने स्पष्टतया रूस को यह बता दिया कि यदि वह (रूस) जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रस्ताव को स्वीकार नहीं करेगा तो ब्रिटेन अमरिका के प्रस्ताव को मान लेगा और ब्रिटेन तथा अमरीका के जर्मन अधिकार-क्षेत्रों को संयुक्त कर दिया जायगा। रूस की कटु आलोचनाओं और उसके उग्र विरोध का मित्र राष्ट्रों के निश्चय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और १ जनवरी १९४७ को ब्रिटिश-अमरिकन अधिकार क्षेत्रों को मिला कर एक द्विक्षेत्र [Bizonia] का निर्माण किया गया। इस द्विक्षेत्र के प्रशासन हेतु एक संयुक्त बोर्ड एक संयुक्त आर्थिक नियन्त्रण बोर्ड एवं एक जर्मनी कार्यपालिका कमेटी की स्थापना की गयी।

स्पष्टतः उपरोक्त व्यवस्था जर्मन समस्या का कोई समाधान न थी। जनवरी १९४७ से मार्च १९४७ के मध्य जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या को हल करने के लिए विदेश-मन्त्रियों की अनेक बैठकें हुईं। १० मार्च, १९४७ से आरम्भ होने वाली मास्को की विदेश-मन्त्री परिषद की बैठक में जर्मन समस्या के सम्बन्ध में ५० दिन तक लम्बा वाद-विवाद होता रहा। जर्मनी की थल और जल सेना को समाप्त करने वहाँ प्रजातन्त्र लाने और औद्योगीकरण समाप्त करने जैसे विषयों पर गरमा-गरम बहसें हुईं। परन्तु न तो परिषद जर्मनी के विषय में कोई संधि ही तैयार कर सकी और न ही जर्मनी की आर्थिक तथा राजनीतिक एकता में सहायक हो सकी। इस परिषद में होने वाले उग्र विवादों से केवल दोनों पक्षों में कटुता और वैमनस्य की वृद्धि ही हुई। तत्कालीन अमेरिकन विदेश मन्त्री जॉन फास्टर डलेस के मतानुसार दोनों पक्षों में मतभेद के निम्नलिखित कारण थे—

१ संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन और फ्रान्स जर्मनी का ऐसा पुनर्निर्माण चाहते थे जिससे भविष्य में जर्मनी कभी भी युद्ध न कर सके। इसके विपरीत रूस जर्मनी को पुनः मध्य यूरोप में एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का आकांक्षी था।

२ शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने की दृष्टि से पोट्सडम सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि जर्मनी में अधिक शक्ति-सम्पन्न केन्द्रीय सरकार न हो; किन्तु सोवियत रूस सोवियत संघ में बर्लिन से संचालित होने वाली शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली राजनीतिक दल और ट्रेड यूनियन संघ के निर्माण का पक्षपाती था।

जर्मनी के साथ संधि-वार्ता
[Peace Talks with Germany]

यद्यपि युद्ध काल में ही विभिन्न सम्मेलनों द्वारा मित्र राष्ट्रों ने यह तय कर लिया था कि जर्मनी के साथ शान्ति स्थापना किन सिद्धान्तों के आधार पर होगी किन्तु युद्ध के बाद यह समस्या इतने उग्र रूप में प्रकट हुई और पाश्चात्य शक्तियों व सोवियत संघ के मध्य जर्मनी के प्रश्न पर इतने व्यापक मतभेद प्रकट हुए कि अनेक प्रयत्नों के बावजूद भी अब तक इस सम्बन्ध में विधिपूर्वक कोई संधि सम्पन्न नहीं हो सकी है।

जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की अन्तिम अवस्था के समय अगस्त १९४५ में हुए पोट्सडम सम्मेलन में सबसे अधिक विस्तृत व्यवस्थाएं की गयी थीं। इस सम्मेलन में अमेरिका ब्रिटेन और रूस द्वारा यह निश्चय किया गया था कि युद्धोपरान्त जर्मनी का पूर्ण रूप से असैनिकीकरण और निःशस्त्रीकरण किया जाय नात्सी कानून का उन्मूलन और नात्सी दल को भंग किया जाय। युद्ध-अपराधियों पर मुकदमा चलाया जाय प्रशासन का केन्द्रीयकरण और प्रजातन्त्री सिद्धान्तों पर स्थानीय उत्तरदायित्व का विकास हो शस्त्रों और शस्त्रों के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगाया जाय जर्मनी की विदेशों में पड़ी सम्पत्ति और औद्योगिक उत्पादनों से प्राप्त रकम क्षतिपूर्ति अदा करने में व्यय की जाय आदि। इसके अतिरिक्त जर्मनी को अमरिकन ब्रिटिश रूसी और फ्रेन्च-चार अधिकार क्षेत्रों में बांटा गया तथा इनके नियन्त्रण के लिए चार महा-शक्तियों के प्रतिनिधियों की एक परिषद स्थापित की गयी।

युद्ध की समाप्ति पर स्थिति यह थी कि चारों महाशक्तियों ने जर्मनी को चार क्षेत्रों में विभक्त कर उन पर अपना अधिकार जमा लिया था और चारों ही क्षेत्रों के प्रधान सेनापतियों को अपने क्षेत्र में सर्वोच्च अधिकार प्राप्त थे। जर्मनी की राजधानी बर्लिन को भी चार भागों में विभक्त कर दिया गया था। चारों राष्ट्रों की मित्र राष्ट्रीय नियन्त्रण परिषद बर्लिन में फिर स्थापित हुई पर आपसी मतभेदों के कारण अधिक समय तक काम नहीं कर सकी और १९४८ में समाप्त हो गयी।

युद्ध के बाद १९४५ से जर्मनी से सम्बन्धित प्रत्येक मामले पर रूस एवं अमरिका में जबरदस्त खींचातानी होने लगी। रूस की मांग थी कि जर्मनी को शक्तिशाली संघीय राज्य बनाया जाय और वह १० वर्षों के भीतर दस अरब डालर क्षतिपूर्ति के रूप में अदा करे। इसके अतिरिक्त रूर का अन्तर्राष्ट्रीयकरण किया जाय और पूर्वी सीमाओं का नये ढंग से निर्धारण हो। आंग्ल-अमरिकन गुट चाहता था कि जर्मनी में प्रजातान्त्रिक संघीय सरकार की स्थापना की जाय सेनाओं का पुनर्निर्धारण किया जाय और जर्मनी की हालत आर्थिक दृष्टि से स्वस्थ बना दी जाय ताकि वह क्षतिपूर्ति आसानी से अदा कर सके।

पेरिस बैठक में अमरिकन विदेशमन्त्री बर्नेस (Burnes) ने रूसी भय को कम करने की दृष्टि से जर्मन निःशस्त्रीकरण और असैनिकीकरण के सम्बन्ध में एक २५ वर्षीय संधि का सुझाव रखा परन्तु ६ जुलाई १९४६ को मोलो-टोव ने यह कह कर इस संधि प्रस्ताव को ठुकरा दिया कि यह अपूर्ण है और

इसका उद्देश्य जर्मनी सैनिक शक्ति का पुनरुत्थान करना है। इसके अगले ही दिन मास्कोटोव न परिषद में घोषणा की कि जर्मनी के साथ स धि करने से पूव एक ऐसी अन्तरिम जर्मन सरकार की स्थापना की जानी चाहिए जो विशुद्ध रूप से लोकतान्त्रिक हो और नाजी तत्वों को नष्ट करने में तथा मित्र राष्ट्रों के प्रति अपने दायित्वों को—विशेषकर क्षतिपूर्ति के दायित्वों को पूरा करने में समर्थ हो। रूस के इस रवय से अमेरिका जर्मनी की आर्थिक एकता क प्रयत्न में लग गया और उसने घोषणा की कि वह जर्मनी की आर्थिक एकता की दृष्टि स अन्य अधिकार-क्षेत्रों स सम्बन्धित सरकारों के साथ मिलजुल कर काम करने को तैयार है। २० जुलाई १९४६ को ब्रिटेन न स्पष्टतया रूस को यह बता दिया कि यदि वह (रूस) जर्मनी की आर्थिक एकता के प्रस्ताव का स्वीकार नहीं करेगा तो ब्रिटेन अमरिका के प्रस्ताव को मान लेगा और ब्रिटेन तथा अमरीका के जर्मन अधिकार-क्षेत्रों को स युक्त कर दिया जायगा। रूस की कटु आलोचनाओं और उसके तज विरोध का मित्र राष्ट्रों के निश्चय पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा और १ जनवरी १९४७ को ब्रिटिश-अमरिकन अधिकार क्षेत्रों को मिला कर एक द्विक्षेत्र [Bryonia] का निर्माण किया गया। इस द्विक्षेत्र के प्रशासन हेतु एक स युक्त बोर्ड एक स युक्त आर्थिक नियन्त्रण बोर्ड एवं एक जर्मनी कार्यपालिका कमेटी की स्थापना की गयी।

स्पष्टत उपरोक्त व्यवस्था जर्मन समस्या का कोई समाधान न थी। जनवरी १९४७ से मार्च १९४७ के मध्य जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या को हल करने के लिए विदेश-मन्त्रियों की अनेक बैठकें हुई। १० मार्च १९४७ से आरम्भ होने वाली मास्को की विदेश-मन्त्री परिषद की बैठक में जर्मन समस्या के सम्बन्ध में ४६ दिन तक लम्बा वाद-विवाद होता रहा। जर्मनी की थल और जल सेना को समाप्त करने वहां प्रजातन्त्र लाने और औद्योगीकरण समाप्त करने जैसे विषयों पर गरमा-गरम बहसें हुई। परन्तु न तो परिषद जर्मनी क विषय में कोई सन्धि ही तैयार कर सकी और न हो जर्मनी की आर्थिक तथा राजनीतिक एकता में सहायक हो सकी। इस परिषद में होने वाले उग्र विवादों से केवल दोनों पक्षों में कटुता और वैमनस्य की वृद्धि ही हुई। तत्कालीन अमेरिकन विदेश-मन्त्री जॉन फास्टर डलेस के मतानुसार दोनों पक्षों में मतभेद के निम्नलिखित कारण थे—

१ स युक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन और फ्रान्स जर्मनी का ऐसा पुन निर्माण चाहते थे जिससे भविष्य में जर्मनी कभी भी युद्ध न कर सके। इसके विपरीत रूस जर्मनी को पुन मध्य यूरोप में एक शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का आकांक्षी था।

२ शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने की दृष्टि से पोट्सडम सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि जर्मनी में अधिक शक्ति-सम्पन्न केन्द्रीय सरकार न हो किन्तु सोवियत रूस सोवियत क्षेत्र में बर्लिन से स चालित होने वाली शक्तिशाली केन्द्रीय सरकार शक्तिशाली राजनीतिक दल और ट्रेड यूनियन स घ के निर्माण का पक्षपाती था।

३ जर्मनी को आर्थिक दृष्टि से निर्बल बनाने के लिए पोट्सडम सम्मेलन ने यह व्यवस्था की थी कि युद्ध-सामग्री का उत्पादन करने वाले जर्मन कारखानों की मशीनें एवं अन्य सामग्री क्षतिपूर्ति के रूप में रूस आदि को दे दी जायगी। रूस ऐसे बहुत से कारखाने व मशीनें अपने देश में ले गया लेकिन इन्हें चलाने में सफल नहीं हो सका। अधिकांश मशीनें रेलवे स्टेशनों पर पड़ी हुई जंग खाने लगीं। अतः अब रूस यह चाहने लगा कि क्षति-पूर्ति के रूप में जर्मन कारखाने न उठाये जायें अपितु उन कारखानों में उत्पादित माल लिया जाय और इसके लिए जर्मनी का औद्योगीकरण हो और वह जर्मनी से १० अरब डालर का हर्जाना वसूल कर सके।

उपरोक्त मतभेदों के अतिरिक्त दोनों ही पक्षों में और भी कुछ मतभेद थे—

(i) पश्चिमी राष्ट्र जर्मनी का नया संविधान संघात्मक (Federal) बनाना चाहते थे जबकि रूस आरम्भ में सहमत होने पर भी बाद में इसका विरोध करने लगा।

(ii) पश्चिमी देश रूहर प्रदेश को जर्मनी से पृथक करना चाहते थे पर रूस इस बात से सहमत न था।

(iii) मित्र राष्ट्र इस पक्ष में न थे कि जर्मनी के औद्योगिक व्यापारिक संघों तथा बड़ी जमींदारियों को नष्ट किया जाय जबकि मास्को रूर पर चार शक्तियों के नियंत्रण का और व्यापारिक संघों (Cartels) तथा जमींदारियों आदि की समाप्ति का पक्षपाती था।

(iv) जर्मनी के पूर्वी सीमाओं के सम्बन्ध में भी वे एक मत नहीं थे। याल्टा में इसे कर्जन रेखा माना गया था और पोट्सडम में पूर्वी प्रशिया को रूस तथा पोलैण्ड के मध्य विभाजित करने का समझौता हुआ था। लेकिन यह निश्चित नहीं किया गया था कि पोलैण्ड द्वारा रूस को दिये जाने वाले प्रदेश की क्षति पूर्ति जर्मनी से किस तरह पूरी की जायेगी। सोवियत रूस पोट्सडम सम्मेलन द्वारा निर्धारित सीमा को अन्तिम मानता था जब कि पश्चिमी राष्ट्र इसमें संशोधन के पक्षपाती थे।

(v) सोवियत रूस द्वि-क्षेत्र (Bizonia) के निर्माण से बहुत क्रोधित हो गया था क्योंकि एक तो इसका अभिप्राय पश्चिमी जर्मनी को शेष जर्मनी से पृथक करना था और दूसरा रूर के क्षेत्र से जो खनिज संपदा का भण्डार था और इन्हीं क्षेत्रों में सम्मिलित था—सोवियत रूस को दूर रखना चाहता था। जैसा कि कहा जा चुका है रूस की आकांक्षा यही थी कि रूर क्षेत्र पर चारों राष्ट्रों का नियंत्रण रहे।

(vi) पूर्व और पश्चिम की लोक मान्यताओं में आधारभूत अन्तर था क्योंकि पश्चिम के निवासियों को विशेष कर अमेरिकन लोगों को—महायुद्ध से उत्पन्न विनाश का उतना व्यावहारिक अनुभव नहीं था जितना रूसियों को था और साथ ही उनके जन-धन की भी इतनी क्षति नहीं हुई थी जितनी रूस वालों की। रूसियों को नाजियों के हाथों घोर अत्याचार और आर्थिक विनाश सहन करना पड़ा था। इसीलिये मोलोटोव का कहना था कि क्षति

पूर्ति का प्रश्न संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये एक भिन्न अर्थ रखता है और सोवियत संघ के लिये दूसरा। संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति दूसरी ही है। नाज़ी अधिकृत क्षेत्रों में उनके द्वारा किये गये विनाश, घोर दुष्कर्म और लूट पाट आदि का अनुभव करने के उपरांत रूसी नागरिक जो महसूस करते हैं संयुक्त राज्य अमेरिका के लोग वैसा महसूस नहीं करते।"*

उपरोक्त सभी मतभेद इतने व्यापक और उग्र थे कि पूर्व और पश्चिम में कोई समझौता हो सकने की सम्भावना मास्को सम्मेलन में नजर नहीं आई और फलतः जर्मनी के साथ कोई संधि नहीं की जा सकी। अब मित्र राष्ट्र (ब्रिटेन अमेरिका और फ्रांस) रूस की उपेक्षा करते हुए अपने द्वारा अधिकृत जर्मन प्रदेशों के बारे में एक कदम और आगे बढ़े। जनवरी १९४७ में ब्रिटेन और अमेरिका द्विक्षेत्र (Bizonia) का निर्माण कर ही चुके थे। ११ मई १९४८ को फ्रांस के साथ मिल कर उन्होंने अर्थात् अमेरिका ब्रिटेन व फ्रांस तीनों ने अपने तीनों क्षेत्रों (Trizonia) के लिए एक केन्द्रीय सरकार बनाना स्वीकार कर लिया। २१ सितम्बर, १९४९ को पश्चिमी जर्मनी में संघीय गणराज्य (Federal Republic of Germany) की स्थापना हुई जो अब तक चला आ रहा है और जिसकी राजधानी बोन (Bonn) है। मित्र राष्ट्रों के सैनिक कमीशन ने पश्चिमी जर्मनी के इस संघीय गणराज्य को प्रामाणिक अधिकार प्रदान किये। दूसरी ओर पूर्वी क्षेत्र में सोवियत संघ ने ७ अक्टूबर १९४९ को जर्मन जनतांत्रिक गणराज्य (German Democratic Republic) की स्थापना की जिसकी राजधानी सोवियत क्षेत्र के बर्लिन में स्थित है।

चूंकि अभी तक जर्मनी के साथ कोई शांति संधि सम्पन्न नहीं हो सकी थी अतः वैधानिक दृष्टि से जर्मन और मित्र राष्ट्रों के मध्य युद्ध की अवस्था विद्यमान थी। सन् १९५१ में पाश्चात्य राष्ट्रों ने अपनी तरफ से जर्मनी के साथ युद्ध की समाप्ति की घोषणा कर दी और २६ मई १९५२ को "Contractual Agreements" के द्वारा पश्चिमी जर्मनी को व्यावहारिक स्वशासन प्रदान कर दिया गया। ८ मई १९४९ को जर्मन नेताओं की बोन पार्लियामेंट्री कौंसिल द्वारा "जर्मनी के संघीय गण राज्य का मौलिक कानून" (Basic Law of the Federal Republic of Germany) तैयार किया गया और उसे पश्चिमी क्षेत्रों के मित्र राष्ट्रीय सैनिक गवर्नरों द्वारा स्वीकार कर लिया गया। इस अधिनियम द्वारा पश्चिमी जर्मनी पर से पश्चिमी राष्ट्रों ने अपने सैनिक अधिकार समाप्त कर दिये और इस प्रकार संघीय गणराज्य को स्वाधीनता तथा सर्वोच्च प्रभुता प्राप्त हो गयी। सोवियत संघ ने भी २०

*"This question of reparation has one meaning for the United States and another for the Soviet Union. The United States ... is in a different position. Perhaps there they do not feel what Soviet Citizens feel after having lived through the excruciating atrocities, destruction and plunder perpetrated by the Nazis in the occupied territories. —*Molotov*

सितम्बर १९५५ को एक संधि द्वारा पूर्वी जर्मनी के जनतांत्रिक गणराज्य को पूर्ण स्वाधीनता और प्रभुसत्ता प्रदान कर दी जो वास्तव में मात्र सैद्धान्तिक ही थी क्योंकि व्यावहारिक रूप से पूर्वी जर्मन सरकार पर पूरा नियंत्रण सोवियत संघ का ही है।

जर्मनी की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये अभी तक एक प्रश्न चिन्ह बनाया हुआ है क्योंकि इसके सम्बन्ध में पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत संघ के मध्य अभी तक कोई समझौता नहीं हो सका है। आज भी जर्मनी में दो सर्वोच्च सत्ताधारी राज्य—जर्मन जनतांत्रिक गणराज्य तथा जर्मनी का संघीय गणराज्य—मौजूद हैं। इस तरह जर्मनी के एकीकरण की और बर्लिन की समस्या अभी तक हल नहीं हुई है। जर्मनी की एकता के सम्बन्ध में अनेक बार दोनों तरफ से घोषणाएं की जा चुकी हैं किन्तु समस्या ज्यों की त्यों बदस्तूर कायम है।

उपरोक्त प्रसंग में बर्लिन—जो आज भी चार क्षेत्रों में विभाजित है—के बारे में दोनों पक्षों के मध्य हुए एक कटु विवाद की संक्षिप्त चर्चा उल्लेखनीय है। वैसे तो महायुद्ध के बाद से ही बर्लिन को लेकर चारों महाशक्तियों के बीच खींच-तान चलती रही लेकिन १९४८ की इस खींच-तान ने एक बड़े भारी विवाद का रूप ले लिया। १ मार्च १९४८ को स्थानीय मुद्रा विषयक एक झगड़े को आधार बनाकर रूस ने पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जल के सब मार्ग बन्द कर दिये। अब पश्चिमी शक्तियों के पास बर्लिन पहुंचने के लिए एक मात्र हवाई मार्ग रह गया। इस घेराबन्दी का पश्चिमी शक्तियों द्वारा भारी विरोध किया गया और ४ अक्टूबर १९४८ को उन्होंने यह मामला सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत कर दिया। सोवियत रूस ने इसका विरोध करते हुए कहा कि सुरक्षा परिषद को इस विषय पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। उसने बताया कि पश्चिमी क्षेत्र में जो मुद्रा विषयक सुधार किये गये हैं उनका सोवियत क्षेत्र पर विध्वंसक प्रभाव पड़ने वाला था इसी आशंका से यह कदम उठाया गया है। यह कदम जर्मनी के साथ सन्धि की मूल समस्या से बद्ध होने के कारण संघ द्वारा विचारणीय नहीं है। पश्चिमी शक्तियों ने विश्व-शान्ति के लिये इस घटना को एक खतरा मानते हुए संघ द्वारा इस पर विचार किया जाना आवश्यक बताया। दोनों पक्षों में बातचीत द्वारा ४ मई १९४९ को एक समझौता किया जिसके परिणाम स्वरूप रूस अपना घेरा तथा पश्चिमी राष्ट्र घेरे की प्रतिक्रिया-स्वरूप लगाई गई पाबन्दियां हटाने को तैयार हो गये। यह समझौता विदेश मन्त्रियों की परिषद् द्वारा किया गया था। १२ मई १९४९ को दोनों पक्षों की ओर से लगाये गये प्रतिबन्ध हटा लिये गये।

जर्मनी के विभाजक रूप का वैसे तो दोनों ही गुट विरोध करते हैं क्योंकि दोनों का विचार है कि जर्मनी का यथासम्भव शीघ्र एकीकरण विश्व शान्ति के लिए उपयोगी है। पश्चिमी शक्तियों ने पश्चिमी जर्मनी के आर्थिक एवं औद्योगिक विकास पर भारी ध्यान दिया है तथा वे उसे बराबर का एक साथी बना कर पश्चिमी यूरोप तथा अटलांटिक समुदाय से इसका घनिष्ट सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। दूसरी ओर सोवियत रूस भी जर्मनी के एकीकरण

के पक्ष में है। उन्होंने अपने क्षेत्र को साम्यवादी तरीकों पर संगठित किया है तथा वे हर सम्भव प्रयास कर रहे हैं कि भविष्य का जर्मनी राष्ट्र रूस द्वारा प्रभावित राष्ट्र रहे। किन्तु पश्चिमी राष्ट्र एकीकृत जर्मनी को पश्चिमी यूरोप का समर्थक तथा पक्षपाती बनाना चाहते हैं। इन दोनों लक्ष्यों के बीच भारी अन्तर है। यह अन्तर जब तक रहेगा तब तक जर्मनी का एकीकरण नहीं हो सकता। कोई बीच का मार्ग खोजना होगा किन्तु अभी तक इस दिशा में कोई स्पष्ट प्रगति दिखाई नहीं देती।

जापान के साथ संधि

(Peace Treaty with Japan)

जर्मनी की ही भांति जापान के भविष्य के सम्बन्ध में भी विजेताराष्ट्र काहिरा, याल्टा और पाट्सडम सम्मेलनों में कुछ महत्वपूर्ण उद्देश्यों की घोषणा कर चुके थे। १९४३ के काहिरा सम्मेलन में यह निश्चित किया गया था कि जापान द्वारा चीन से छीने गये प्रदेश जैसे मंचूरिया, फारमूसा और पेस्काडोरेज़ द्वीप (Pescadores Islands) चीन को वापिस दिलाये जायेंगे तथा कोरिया का एक स्वतन्त्र और प्रभु राज्य बनाया जायगा। फरवरी १९४५ में याल्टा सम्मेलन में यह निर्णय लिया गया कि दक्षिणी साखालीन और इसके समीपवर्ती द्वीप, पोर्ट आर्थर का नौसैनिक अड्डा तथा क्यूराइल द्वीप सोवियत रूस को लौटा दिये जायेंगे और डाइरेन (Dairen) के बन्दरगाह का अन्तर्राष्ट्रीयकरण कर दिया जायगा। जुलाई अगस्त १९४५ के पोट्सडम (बर्लिन) सम्मेलन में जापान के भविष्य के सम्बन्ध में कुछ व्यापक घोषणायें की गईं जो मुख्य रूप से इस प्रकार थीं—जापान के सैनिक तत्वों का पूर्ण विध्वंस होने तक मित्र राष्ट्रों का जापानी प्रदेश पर सैनिक अधिकार बना रहेगा, जापान की सर्वोच्च प्रभुता केवल होंशू (Honshu), होकाइडो (Hokkaido), क्यूशू और शिकोको (Shikoku) नामक चार बड़े टापुओं तथा निकटवर्ती कुछ अन्य छोटे टापुओं तक सीमित रखना, कोरिया को स्वतंत्र बनाना, जापानी सेनाओं को पूर्ण रूप से निःशस्त्र कर देना, युद्धापराधियों को दण्डित करना, युद्धोद्योगों को बन्द करना, जापानी सरकार का लोकतन्त्रात्मक संगठन करना, क्षति-पूर्ति की वसूली करना, जापानियों को नागरिक स्वतंत्रतायें प्रदान करना, उत्तरदायी शान्तिवादी सरकार की स्थापना होने तक मित्रराष्ट्रों की सेनाओं का जापान में बना रहना और रूस को १९०४ के बाद उससे लिए गए अनेक प्रदेश—साखालिन टापू का दक्षिणी भाग तथा चीन के कुछ प्रदेश वापिस करना।

परणुबम की प्रलयकारी शक्ति से भयभीत होकर जब जापान ने मित्र राष्ट्रों के सामने बिना शर्त आत्म-समर्पण कर दिया तो उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिए तथा सुदूर पूर्व का प्रभावकारी नियंत्रण करने के लिए जापान में एक अन्तरिम सैनिक प्रशासन की स्थापना कर दी गई। टोकियो में मित्र-शक्तियों के सर्वोच्च सेना नायक (Supreme Commander for the Allied Power—SCAP) के पद पर जनरल मैकार्थर को १४ अगस्त १९४५ को नियुक्त किया गया। जापान की सम्पूर्ण कार्यपालिका शक्ति इसी सर्वोच्च सेनानायक के पद में निहित की गई।

सितम्बर १९४५ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह प्रस्ताव रखा कि जापान में अमेरिकन सैनिक प्रशासन से परामर्श करने के लिए एक सुदूर पूर्वीय परामर्शदाता आयोग (Far Eastern Advisory Commission) की नियुक्ति की जाय जिसमें १० राष्ट्र हों। इस प्रस्ताव का आस्ट्रेलिया, चीन और सोवियत संघ ने विरोध किया। परन्तु दिसम्बर १९४५ में मास्को में इस प्रश्न पर एक समझौता हो गया और संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ तथा चीन के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक मित्रराष्ट्रीय संयुक्त परिषद् का निर्माण कर दिया गया जिसका अध्यक्ष जनरल मैकार्थर को बनाया गया। इस परिषद् (Allied Council for Japan) का प्रमुख कार्यालय टोकियो में स्थित किया गया। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च सेनापति की सहायता के लिए ही एक सुदूरपूर्व आयोग (Far Eastern Commission) भी बनाया गया जिसमें ११ राज्यों के प्रतिनिधि थे—संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ, चीन, फ्रांस, हालैण्ड, कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, भारत और फिलिपाइन। इस आयोग का कार्य जापान समर्पण की शर्तों के बारे में नीतियाँ बनाना और परामर्श देना था। इसका केन्द्रालय वाशिंगटन में कायम किया गया। वास्तव में ये दोनों ही संस्थाएँ निरर्थक थीं क्योंकि उन्हें कोई शक्तियाँ नहीं प्रदान की गई थीं। प्रो० शूमैन (Schuman) ने इस सम्बन्ध में ठीक ही लिखा है कि "सुदूरपूर्व आयोग शक्तियों के न होने के कारण विनम्रतापूर्वक सर्वोच्च सेनानायक की नीतियों को स्वीकृति प्रदान करके अपने आपको सन्तुष्ट कर लेता था। मित्रराष्ट्रों की परिषद में बहुधा सोवियत और अमरीकी प्रवक्ताओं के बीच और कभी-कभी अन्य प्रतिनिधियों के बीच शोरगुलपूर्ण झगड़े हुआ करते थे। किन्तु यहाँ भी बात सर्वोच्च सेनानायक की ही चलती थी। उसका तरीका अमरीकी तरीका था।"* वास्तव में जापान पूर्ण रूप से अमेरिका के नियन्त्रण में ही रहा क्योंकि यह अमेरिका ही था जिसने अणु बम गिरा कर जापान को जीता था। प्रारम्भ में जापान की भूमि पर ब्रिटिश आस्ट्रेलियन और न्यूजीलैण्ड की सैनिक टुकड़ियाँ थीं परन्तु १९५० के बाद वहाँ केवल अमेरिकन सेना ही रह गई और जनरल मैकार्थर जापान का एक प्रकार से सर्वेसर्वा बन गया।

जर्मनी की अपेक्षा जापान की युद्धोत्तर समस्याएँ यद्यपि कम जटिल थीं और जापान जर्मनी के समान चार विदेशी सेनाओं से अधिकृत नहीं था, तथापि विजेता राष्ट्रों में इसके भविष्य के बारे में गहरे मतभेद थे और इसी लिए इसके साथ एक लम्बे समय तक संधि-वार्ता नहीं चलाई जा सकी। क्यों-

---

* "The far Eastern Commission, having no power modestly contended itself with quite approbation of the politics of S C.A.P The Allied Council was often the Scene of noisy disputes between Soviet and American Spokesman and occasionally between others. But here, too S C.A.P had its way Its way was the American way"

—*Frederick. L. Schuman* International Politics, p 442

ज्यों ज्यों समय बीतता गया, इन मतभेदों की उग्रता बढ़ती गई। जुलाई १९४७ में सुदूरपूर्व आयोग की बैठक में अमेरिका ने जापान के साथ की जाने वाली संधि के सम्बन्ध में कुछ प्रस्ताव रखे परन्तु सोवियत रूस ने उन्हें ठुकरा दिया। उसका कहना था कि अन्य राष्ट्रों के साथ की जाने वाली संधियों के समान ही जापान के साथ संधि करने का दायित्व भी विदेश मंत्रियों की परिषद् को सौंप दिया जाना चाहिए। इसके विपरीत अमेरिका का कथन था कि काहिरा, याल्टा अथवा पोट्सडम सम्मेलन में कहीं पर इस प्रकार का समझौता नहीं किया गया था। उसका तर्क था कि यदि विदेश मंत्री परिषद् द्वारा जापान के साथ की जाने वाली संधि तैयार करने का यत्न किया गया तो जर्मनी और आस्ट्रिया की समस्या के समान ही जापानी समस्या भी कभी नहीं सुलझ सकेगी। विदेश मंत्री परिषद् में निर्णय सर्वसम्मति से होने की व्यवस्था थी और इसलिये कोई भी महाशक्ति अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करके किसी भी प्रस्ताव को रद्द कर सकती थी।

इस प्रकार पूर्व और पश्चिम में, यहां तक कि पश्चिमी देशों में आपस में भी जापानी प्रश्न पर मतभेद बढ़ता गया। मतभेद संधि से संबद्ध प्रत्येक प्रश्न के साथ जुड़े हुए थे। इन मतभेदों को संक्षेप में इस प्रकार गिनाया जा सकता है—

(i) रूस जापानी क्षतिपूर्ति में भी हिस्सा लेना चाहता था परन्तु मंचूरिया में उसने प्रचुर मात्रा में जो जापानी माल हथिया लिया था उस माल के मूल्य को वह अपने हिस्से में सम्मिलित नहीं करना चाहता था।

(ii) सोवियत रूस जापान से निश्चित अवधि में अमेरिकन सेना को हटाने और जापानी भूमि पर से ७०० अमेरिकन सैनिक अड्डों को खाली कराने का समर्थक था। वह वाशिंगटन द्वारा जापान के पुनः शस्त्रीकरण का विरोधी था।

(iii) रूस इस प्रस्ताव का भी विरोधी था कि र्यूक्यू (Ryuku) तथा बोनिन के टापुओं पर अमेरिकन ट्रस्टीशिप कायम किया जाए।

(iv) रूस संधि वार्ता में चीन का प्रतिनिधित्व अमेरिका द्वारा समर्थित राष्ट्रवादी चीन द्वारा नहीं अपितु साम्यवादी चीन द्वारा चाहता था।

(v) ब्रिटेन और अमेरिका में जापान तथा चीन के सम्बन्धों के बारे में जब मतभेद थे। ब्रिटेन चाहता था कि जापान साम्यवादी चीन को मान्यता दे दे जब कि अमेरिका इसका विरोधी था। अमेरिका च्यांगकाई शेक के राष्ट्रवादी चीन का पक्ष पोषक था।

(vi) भारत की नीति यह थी कि अमेरिका जापान से अपनी सेनाएं हटा ले और जापान के साथ उसके सम्मान योग्य संधि की जाय।

(vii) आस्ट्रेलिया न्यूज़ीलैण्ड और फिलिपाइन द्वीप समूह जापान से क्षति पूर्ति की राशि अवश्य वसूल करना चाहते थे किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका सामान्य रूप से इसे नहीं लेना चाहता था।

उपरोक्त गम्भीर मतभेदों के कारण जापान के साथ मित्रराष्ट्रों की किसी प्रकार की संधि नहीं हो सकी। इसी मध्य कोरिया का युद्ध छिड़ जाने के कारण मतभेदों में और भी अधिक तीव्रता आ गई। तथा समस्या में कोई

प्रगति नहीं हो सकी। अमेरिका के जापानी संधि विषयक प्रस्तावों को २० दिसम्बर १९५० को सोवियत सरकार ने रद्द कर दिया।

कोरिया-युद्ध के कारण अमेरिका की नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन आ गये और उसने जापान के साथ संधि करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ११ जनवरी १९५१ को जापान के साथ संधि सम्पन्न कराने का कार्य विदेश मंत्री जान फास्टर डलेस को सौंपा। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने डलेस को यह काम सौंपते समय अपनी यह इच्छा व्यक्त की कि (i) संधि में दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं होनी चाहिए, (ii) उसमें आर्थिक दृष्टि से जापान को समर्थ बनाने और विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता होनी चाहिए, एवं (iii) यदि यह संधि रूस के सहयोग से हो तो अच्छा है लेकिन यदि रूस का सहयोग प्राप्त न हो और विरोध हो तो भी संधि सम्पन्न होनी चाहिए।

राष्ट्रपति द्वारा जापान से संधि कराने के महत्वपूर्ण उत्तरदायित्व को लेकर अमेरिका का विख्यात कूटनीतिज्ञ स्वर्गीय डलेस अपने काम में जुट गया। उसने जापान, फिलिपाइन्स, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन और फ्रांस का भ्रमण करने के बाद संधि का प्रारूप तैयार किया जिसके अनुसार—

(१) जापान की सर्वोच्च सत्ता और प्रभुता केवल चार बड़े और कुछ छोटे द्वीपों के एक लाख ३० हजार वर्गमील के क्षेत्र तक ही सीमित कर दी गयी।

(२) जापान ने कोरिया की स्वतंत्रता स्वीकार की, फारमूसा और क्यूराइल सखालीन टापुओं पर अपने अधिकार छोड़े और प्रशान्त महासागर में बोनिन व र्युक्यू टापुओं पर २ अप्रैल, १९४७ से अमेरिका की ट्रस्टीशिप मान ली। जापान ने प्रशान्त महासागर के अन्य टापुओं के अमेरिका द्वारा प्रशासित होने को स्वीकार कर लिया बशर्ते कि इस व्यवस्था को संयुक्त राष्ट्र संघ पुष्ट करे।

(३) विदेशी सेनाओं को जापान से शीघ्र हटा लिया जाय परन्तु यदि इनके बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान में कोई पृथक समझौता हो जाय तो वे सेनाएं जापान में रह भी सकेंगी।

(४) जापान ने चीन में अपने सब अधिकारों को छोड़ना और युद्ध अपराधियों के सम्बन्ध में मित्र राष्ट्रों के युद्ध अपराध-न्यायालयों के निर्णयों को मानना स्वीकार किया।

(५) मित्र राष्ट्रों को ४ वर्षों के लिए जापान से व्यापारिक मामलों में "परमानुग्रह का व्यवहार" (Most-favoured Treatment) पाने का अधिकार दिया गया।

(६) क्षति पूर्ति के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि जापान को मित्र राष्ट्रों को हर्जाना अवश्य देना चाहिए, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि वर्तमान समय में उसके पास ऐसे आर्थिक साधन नहीं हैं कि वह हर्जाना प्राप्त कर सके। फिर भी जापान ने युद्ध के पूर्व लिए गये ऋणों की अदायगी का दायित्व स्वीकार किया।

शान्ति सन्धि के उपरोक्त प्रारूप में २७ धाराएं थीं और इसमें जापान पर शस्त्रीकरण अथवा युद्ध उद्योगों के सम्बन्ध में कोई सीमा नहीं लगायी गयी थी। इसी मध्य कोरिया, युद्ध को रोकने के लिए साम्यवादी चीन के विरुद्ध आक्रमणकारी कार्यवाही के लिए जिद् करने के कारण ७ अप्रैल १९५१ को जनरल मैकआर्थर को पदच्युत करके उसके स्थान पर ले० जनरल मैथ्यू रिजवे को जापान में मित्र राष्ट्रों का सर्वोच्च सेनापति नियुक्त कर दिया गया और इससे परिस्थितियों में कुछ अधिक अनुकूलता आ गयी।

२० जुलाई १९५१ को जापान के विरुद्ध लड़ने वाले ५१ राष्ट्रों को आगामी सन्धि का उपरोक्त प्रारूप भेजा गया और इस सम्बन्ध में ४ सितम्बर को सान-फ्रान्सिस्को में होने वाले सम्मेलन में उन्हें आमन्त्रित किया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि सन्धि का प्रारूप पेकिंग अथवा फारमोसा में स्थित च्यांगकाईशेक की सरकार के पास नहीं भेजा गया था। प्रस्तावित सन्धि का वस्तुतः कहीं भी स्वागत नहीं हुआ। स्वयं टोकियो में सन्धि के समर्थकों की अपेक्षा विरोधियों की संख्या अधिक थी। ब्रिटेन ने सन्धि को यदि समर्थन दिया तो इसलिए क्योंकि ब्रिटिश सरकार समझती थी कि इस विषय में वह कुछ करने में असमर्थ है। भारत ने इस प्रारूप को कठोर एवं अपमानजनक बतलाया और १० जुलाई को ट्रूमैन को भेजे गये पत्र में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने सन्धि की व्यवस्थाओं पर निम्नलिखित आपत्तियां प्रकट कीं—[i] बोनिन और र्‍यूक्यू टापुओं पर अमरिकन ट्रस्टीशिप स्थापित न करके इन्हें जापान को वापिस किया जाय [ii] फारमोसा चीनी को मिले, एवं [iii] जापान में सन्धि के उपरान्त विदेशी सेनाएं न रहें। ट्रूमैन ने जब भारत की आपत्तियों पर कोई ध्यान नहीं दिया तो २३ अगस्त को नयी दिल्ली ने वाशिंगटन को यह सूचित कर दिया कि वह सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग नहीं लेगा प्रत्युत जापान से एक पृथक समझौता करेगा। भारत का ही अनुकरण करते हुए बर्मा ने भी प्रस्तावित सन्धि सम्मेलन में शामिल होने से इन्कार कर दिया।

यह पूरी आशा की जाती थी कि सोवियत रूस और उसके साथी देश प्रस्तावित सान फ्रांसिस्को सम्मेलन का बहिष्कार कर देंगे परन्तु १२ अगस्त को जब मास्को ने सम्मेलन में शामिल होने की घोषणा कर दी तो वाशिंगटन और सम्पूर्ण पाश्चात्य शक्तियों को बड़ा ही विस्मित हो जाना पड़ा। उन्हें यही आशा थी कि रूस सन्धि प्रस्ताव को रद्द करते हुए सम्मेलन में नहीं आयेगा। उधर रूस की योजना सम्मेलन में उपस्थित होकर सन्धि को रद्द करने की थी। चतुर कूटनीतिज्ञ डलेस रूस की चाल समझ गया। उसे भय लगा कि कहीं सोवियत संघ को पाश्चात्य देशों में फूट पैदा करने में सफलता प्राप्त न हो जाय। अतः रूस के इरादों को विफल बनाने की दृष्टि से डलेस ने यह घोषणा की कि यह सम्मेलन केवल सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया जा रहा है इसमें सन्धि पर न तो विचार-विमर्श होगा और न ही इसके सम्बन्ध में नये प्रस्तावों और प्रति-प्रस्तावों पर बहस ही होगी। किन्तु डलेस की इस घोषणा के उपरान्त भी सोवियत संघ ने अपने दो सहयोगियों पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया के साथ सम्मेलन में भाग लिया।

प्रगति नहीं हो सकी। अमेरिका के आगामी सन्धि विषयक प्रस्तावों को २० दिसम्बर १९५० को सोवियत सरकार ने रद्द कर दिया।

कोरिया-युद्ध के कारण अमेरिका की नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गये और उसने जापान के साथ संधि करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ११ जनवरी १९५१ को जापान के साथ संधि सम्पन्न कराने का कार्य विदेश मंत्री जान फास्टर डलेस को सौंपा। राष्ट्रपति ट्रूमैन ने डलेस को यह कार्य सौंपते समय अपनी यह इच्छा व्यक्त की कि (i) संधि में दण्ड की कोई व्यवस्था नहीं होनी चाहिए, (ii) उसमें आर्थिक दृष्टि से जापान को समर्थ बनाने और विदेशी आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान करने की क्षमता होनी चाहिए, एवं (iii) यदि यह संधि रूस के सहयोग से हो तो अच्छा है लेकिन यदि रूस का सहयोग प्राप्त न हो और विरोध हो तो भी संधि सम्पन्न होनी चाहिए।

राष्ट्रपति द्वारा जापान से संधि कराने के सम्बन्ध में उत्तरदायित्व को लेकर अमेरिका का विख्यात कूटनीतिज्ञ स्वर्गीय डलैस अपने काम में जुट गया। उसने जापान फिलिपाइन्स आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड, ब्रिटेन और फ्रांस का भ्रमण करने के बाद संधि का प्रारूप तैयार किया जिसके अनुसार—

(१) जापान की सर्वोच्च सत्ता और प्रभुता केवल चार बड़े और कुछ छोटे द्वीपों के ६० लाख ५० हजार वर्गमील के क्षेत्र तक ही सीमित कर दी गयी।

(२) जापान ने कोरिया की स्वतंत्रता स्वीकार की। फारमूसा और प्यूरेडस सखालीन टापूओं पर अपने अधिकार छोड़े और प्रशान्त महासागर में बोनिन व र्‍युक्यू टापुओं पर २ अप्रेल, १९४७ से अमेरिका की ट्रस्टीशिप मान ली। जापान ने प्रशान्त महासागर के अन्य टापुओं के अमेरिका द्वारा प्रशासित होने को स्वीकार कर लिया, बशर्ते कि इस व्यवस्था को संयुक्त राष्ट्र संघ पुष्ट करे।

(३) विदेशी सेनाओं को जापान से शीघ्र हटा लिया जाय परन्तु यदि इसके बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका और जापान में कोई पृथक समझौता हो जाय तो वे सेनाएं जापान में रह भी सकेंगी।

(४) जापान ने चीन में अपने सब अधिकारों को छोड़ना और युद्ध अपराधियों के सम्बन्ध में मित्र राष्ट्रों के युद्ध अपराध न्यायालयों के निर्णयों को मानना स्वीकार किया।

(५) मित्र राष्ट्रों को ४ वर्षों के लिए जापान से व्यापारिक मामलों में "परमानुग्रह का व्यवहार" (Most-favoured Treatment) पाने का अधिकार दिया गया।

(६) क्षति पूर्ति के सम्बन्ध में यह निश्चय किया गया कि जापान को मित्र राष्ट्रों को हर्जाना अवश्य देना चाहिए, परन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया गया कि वर्तमान समय में उसके पास ऐसे आर्थिक साधन नहीं हैं कि वह हर्जाना प्राप्त कर सके। फिर भी जापान ने युद्ध के पूर्व लिए गये ऋणों की अदायगी का दायित्व स्वीकार किया।

शान्ति संधि के उपरोक्त प्रारूप में २७ धाराएं थीं और इसमें जापान पर शस्त्रीकरण अथवा युद्ध उद्योगों के सम्बन्ध में कोई सीमा नहीं लगायी गयी थी। इसी मध्य कोरिया, युद्ध को रोकने के लिए साम्यवादी चीन के विरुद्ध आक्रमणकारी कार्यवाही के लिए जिद करने के कारण ७ अप्रेल १९५१ को जनरल मैकआर्थर को पदच्युत करके उनके स्थान पर ले० जनरल मैथ्यू रिजवे को जापान में मित्र राष्ट्रों का सर्वोच्च सेनापति नियुक्त कर दिया गया और इससे परिस्थितियों में कुछ अधिक अनुकूलता आ गयी।

२० जुलाई १९५१ को जापान के विरुद्ध लड़ने वाले ५१ राष्ट्रों को जापानी संधि का उपरोक्त प्रारूप भेजा गया और इस सम्बन्ध में ४ सितम्बर को सान-फ्रान्सिस्को में होने वाले सम्मेलन में उन्हें आमन्त्रित किया गया। यहाँ यह स्मरणीय है कि संधि का प्रारूप पेकिंग अथवा फारमोसा में स्थित च्यांगकाईशेक की सरकार के पास नहीं भेजा गया था। प्रस्तावित संधि का वस्तुतः कहीं भी स्वागत नहीं हुआ। स्वयं टोकियो में संधि के समर्थकों की अपेक्षा विरोधियों की संख्या अधिक थी। ब्रिटेन ने संधि को यदि समर्थन दिया तो इसलिए क्योंकि ब्रिटिश सरकार समझती थी कि इस विषय में वह कुछ करने में असमर्थ है। भारत ने इस प्रारूप को कठोर एवं अपमानजनक बतलाया और १० जुलाई को ट्रूमैन को लिखे गये पत्र में प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने संधि की व्यवस्थाओं पर निम्नलिखित आपत्तियाँ प्रकट कीं—[i] बोनिन और र्‍यूक्‍यू टापुओं पर अमरिकन ट्रस्टीशिप स्थापित न करके इन्हें जापान को वापिस किया जाय [ii] फारमोसा चीनी को मिले, एवं [iii] जापान में संधि के उपरान्त विदेशी सेनाएं न रहें। ट्रूमैन ने जब भारत की आपत्तियों पर कोई ध्यान नहीं दिया तो २३ अगस्त को नयी दिल्ली ने वाशिंगटन को यह सूचित कर दिया कि वह सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग नहीं लेगा प्रत्युत जापान से एक पृथक समझौता करेगा। भारत का ही अनुकरण करते हुए बर्मा ने भी प्रस्तावित संधि सम्मेलन में शामिल होने से इन्कार कर दिया।

यह पूरी आशा की जाती थी कि सोवियत रूस और उसके साथी देश प्रस्तावित सान फ्रान्सिस्को सम्मेलन का बहिष्कार कर देंगे परन्तु १२ अगस्त को जब मास्को ने सम्मेलन में शामिल होने की घोषणा कर दी तो वाशिंगटन और सम्पूर्ण पाश्चात्य शक्तियों को बड़ा ही विस्मित हो जाना पड़ा। उन्हें यही आशा थी कि रूस संधि प्रस्ताव को रद्द करते हुए सम्मेलन में नहीं आयेगा। उधर रूस भी मोजना सम्मेलन में उपस्थित होकर संधि को रद्द करने की थी। चतुर कूटनीतिज्ञ डलैस रूस की चाल समझ गया। उसे भय लगा कि कहीं सोवियत संघ को पाश्चात्य देशों में फूट पैदा करने में सफलता प्राप्त न हो जाय। अतः रूस के इरादों को विफल बनाने की दृष्टि से डलैस ने यह घोषणा की कि यह सम्मेलन केवल संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए बुलाया जा रहा है इसमें संधि पर न तो विचार-विमर्श होगा और न ही इसके सम्बन्ध में नये प्रस्तावों और प्रति-प्रस्तावों पर बहस ही होगी। किन्तु डलैस की इस घोषणा के उपरान्त भी सोवियत संघ ने अपने दो सहयोगियों पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया के साथ सम्मेलन में भाग लिया।

४ सितम्बर को सम्मेलन शुरू हुआ और ५ सितम्बर को सोवियत प्रतिनिधि मण्डल के नेता ग्रोमिको ने अपना १३ सूत्री प्रस्ताव सम्मेलन के समक्ष प्रस्तुत किया जिसकी मुख्य रूप रेखा इस प्रकार थी—जापान द्वारा पेकिंग की साम्यवादी सरकार की स्वीकृति, जापान से हर्जाने की वसूली, जापान द्वारा यह वचन देना कि वह उसके विरुद्ध युद्ध करने वाली किसी महा शक्ति से सैनिक समझौता नहीं करेगा। रूस के प्रस्ताव को सम्मेलन में स्वीकार नहीं किया गया। जब ८ सितम्बर को सोवियत प्रतिनिधि ने अपने प्रस्ताव को अन्तिम बार पेश करना चाहा तो सम्मेलन के अध्यक्ष और अमरिकन विदेश मन्त्री ऐचेसन ने उसे बोलने नहीं दिया। सम्मेलन में डलेस की कूटनीति की विजय हुई और ८ सितम्बर १९५१ को ही प्रस्तावित जापानी संधि पर ४८ राष्ट्रों ने हस्ताक्षर कर दिये। सोवियत रूस और उसके साथी पोलैण्ड तथा चैकोस्लोवाकिया ने संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये। ठीक इसी दिन संयुक्त राज्य अमरिका और जापान के मध्य एक सुरक्षा संधि भी की गयी जिसके अनुसार जापान की भूमि पर अमेरिकन सेनाओं के बने रहने की अनुमति दे दी गयी और जापान ने अमरिका को अपने सैनिक अड्डे भी प्रदान किये। जापान के साथ होने वाली शांति संधि [Peace Treaty with Japan] २८ अप्रेल १९५२ में क्रियान्वित हुई। भारत ने ९ जून १९५२ को जापान के साथ एक पृथक शांति-संधि पर हस्ताक्षर किये। इसके अनुसार २८ अप्रेल १९५२ से चुंगी के विषय में परमानुग्रह का व्यवहार [Most Fav oured Treatment] करने तथा युद्ध के समय जब्त की गयी एक दूसरे की सम्पत्ति को लौटाने का निश्चय हुआ।

अक्टूबर १९५६ में एक समझौते द्वारा रूस और जापान के मध्य भी युद्ध-स्थिति का अन्त हो गया परन्तु इन दोनों राष्ट्रों के मध्य कोई औपचारिक शान्ति-संधि सम्पन्न नहीं हो सकी और आज भी यह स्थिति बनी हुई है।

प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत दिये गये सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि व्यापक अग्रिम तैयारियों के बावजूद १९४५ के बाद शान्ति समझौते का कार्य १९१९ की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन सिद्ध हुआ। द्वितीय महायुद्ध के साथी विजेता राष्ट्रों में युद्ध के उपरान्त मतभेद अधिकाधिक व्यापक और उग्रतर होते गये तथा पूर्व और पश्चिम के मध्य विश्व-शान्ति के लिए घातक दुर्भाग्यपूर्ण शीत-युद्ध का भी आरम्भ हो गया। शूमैन [Schuman] ने ठीक ही लिखा है कि "अटलांटिक चार्टर, चार स्वतन्त्रताओं तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के विषय में उज्ज्वल आशाएं विजेताओं के झगड़ों एवं एशिया के विद्रोह के कारण अपूर्ण रह गयी।"*

---

*"The bright promises of the Atlantic Charter the Four Freedoms and United Nations were unfulfilled in the face of quarrels of the victors and the revolt of Asia
—*Schuman* International Politics, p. 110.

EXERCISES

Compare and contrast the task of peace making in 1945 with peace making in 1919 Mention the causes which rendered more difficult the signing of peace treaties after the Second Word War

१९४५ में शांति निर्माण की कठिनाइयों की १९१९ की शान्ति निर्माण कठिनाइयों से तुलना कीजिये । उन कारणों का वर्णन कीजिये जिनके कारण द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् शांति संधियों पर हस्ताक्षर न हो सके ।

Or

"The bright promises of the Atlantic Charter the Four Freedoms and the United Nations were unfulfilled in the quarrels of Victors and the revolt of Asia"—(Schuman)-Discuss.

एटलांटिक चार्टर चार स्वतन्त्रतायें तथा संयुक्त राष्ट्रसंघ की महान आशायें विजेताओं के पारस्परिक संघर्ष तथा एशिया विद्रोह के कारण अपूर्ण ही रह गईं ।" (शुमा) विवेचना कीजिये ।

2. Describe the Allied treatment of Liberated Austria with particular reference to Austrian peace treaty problems

"मुक्त किये गये आस्ट्रिया" के साथ मित्र राष्ट्रों के व्यवहार का वर्णन आस्ट्रियन शांति संधि के विशेष सन्दर्भ के साथ कीजिये ।

3 Review the Allied treatment of defeated Japan with particular reference to the peace treaty with Japan

पराजित जापान के साथ मित्र राष्ट्रों के व्यवहार पर जापानी शांति-संधि के विशेष सन्दर्भ के साथ प्रकाश डालिये ।

Describe the peace settlements that followed the Second World War

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् हुई शांति-सन्धियों का उल्लेख कीजिये ।

Discuss the future of Germany in the light of the cold war between the Western Powers and the Soviet bloc countries.

पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत गुट के देशों में मध्यवर्ती शीत युद्ध के प्रकाश में जर्मनी के भविष्य की विवेचना कीजिये ।

6. "This question of reparation has one meaning for the United States and another for the Soviet Union. (Molotov)—Discuss.

'क्षतिपूर्ति के प्रश्न का संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक अर्थ है और सोवियत संघ के लिए दूसरा" । (मोलोटोव) विवेचन कीजिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ का रूपविधान

(THE UNITED NATIONS-STRUCTURE & ORGANISATION)

१ संघ के विचार का उद्भव और विकास
२ राष्ट्रसंघ द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को हस्तान्तरण
३ संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्य और प्रयोजन
४ संघ की सदस्यता
५. संहयोग के सात आधार
६ संयुक्त राष्ट्र संघ के महामन्त्री और संघ का बजट
७ संघ का ढांचा या रूप विधान—
   (i) महासभा
   (ii) सुरक्षा परिषद्
   (iii) आर्थिक और सामाजिक परिषद्
   (iv) ट्रस्टीशिप परिषद्
   (v) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
   (vi) सचिवालय
८. संघ के चार्टर का संशोधन
९ राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्रसंघ की तुलना
१० संघ की कमजोरियाँ या अपूर्णता
११ संघ को शक्तिशाली बनाने के लिये सुझाव
१२ संघ के परिवार की विशिष्ट ऐजेन्सियाँ एवं संस्थाएं

"संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर, जिस पर आपने भी हस्ताक्षर
किये हैं एक ऐसी शक्तिशाली नींव है जिस पर एक
सुन्दर विश्व का निर्माण कर सकते हैं।
इसके लिये इतिहास आपका सम्मान
करेगा।"

—राष्ट्रपति ट्रूमै

"संयुक्त राष्ट्र संघ
विश्वास का एक प्रतीक है—यह विश्वास की
शान्ति सम्भव है।.. .. —यह आशा से अनुप्राणित
कार्य करने का एक यन्त्र है तथा विश्व के प्रत्येक कोनों में
यह कल्याणकारी कार्यों के लिये एक ढांचे का कार्य कर रहा है।

—डाग हैमरशोल्

संयुक्त राष्ट्रसंघ के विचार का उद्भव और विकास

विगत बीसवीं शताब्दी में दो विश्व युद्ध हुए—सन् १९१४ और सन् १९३९ में। इन युद्धों से झुलसी हुई मानव सभ्यता के अन्तर में हूक उठी कि राष्ट्रों के पारस्परिक विरोधों और मतभेदों को बातचीत से हल किया जाए। इसके लिए सशस्त्र संघर्ष के स्थान पर एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण हो जो विभिन्न देशों की सरकारों के मध्य उठने वाले विरोधों का हल निकाल सके। इसीलिये प्रथम महायुद्ध के उपरान्त अमरीका के तत्कालीन राष्ट्रपति विल्सन के १४ सूत्रों के आधार पर युद्धों को समाप्त करने और शांति कायम करने के लिये "राष्ट्र संघ (League of Nations)" नामक प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की गई जिसके उद्देश्य थे—युद्ध-निषेध देशों के मध्य न्यायोचित और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन और राष्ट्रों के बीच होने वाली संधियों की शर्तों को पूरा करवाना। इस अन्तर्राष्ट्रीय संघ को दुर्भाग्यवश विश्व के कुछ शक्ति-शाली देशों ने अपना सहयोग प्रदान नहीं किया जिनमें संयुक्त राज्य अमरीका प्रमुख था। साथ ही इस संगठन के पास न इतनी क्षमता और शक्ति ही थी कि वह सदस्य राज्यों द्वारा अपने आदेशों का पालन कराने में समर्थ हो सके। इसका स्पष्ट और स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि राष्ट्र संघ के चार्टर अथवा संविदा (Charter) के उद्देश्य की अवहेलना होने लगी। इटली ने एबीसीनिया पर हमला किया जापान ने राष्ट्रसंघ की विभिन्न समितियों की दलीलों की अवहेलना कर चीन को पदाक्रान्त किया और उसकी सदस्यता से त्याग-पत्र दे दिया। निःशस्त्रीकरण की योजना भी असफल हुई और इस प्रकार पूरी बदनामी उठा कर राष्ट्रसंघ की अन्तर्राष्ट्रीय संस्था १४ दिसम्बर १९३९ को समाप्त हो गई।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध के बादल घिर आये। इस युद्ध में जन-धन की जो अपार हानि हुई उसके कारण मानवतावादी शांतिवादी एवं अन्तर्राष्ट्रीयतावादी विचारकों को ऐसा कोई साधन ढूंढने की प्रेरणा मिली जो युद्ध की पुनरावृत्ति को रोक सके और मानव-सभ्यता एवं संस्कृति को अतीत की गाथा होने से बचा सके। राष्ट्रसंघ के अवशेष यद्यपि बाकी थे किन्तु इन्हें पुनर्व्यवस्थित करना ही पर्याप्त नहीं था। अतः विश्व में स्थायी शान्ति की स्थापना करने के लिये राष्ट्रसंघ से अधिक शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्था बनाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ।

इस आवश्यकता को मूर्तरूप देने के लिये मित्र राष्ट्रों में विचार-विमर्श का प्रारम्भ युद्ध-काल में ही हो गया और सैनिक विजय के उस पार क्या होना चाहिये का प्रश्न मित्र राष्ट्रों के मन को आन्दोलित करने लगा। वे युद्ध के कारणों को उनके मूल उद्गम-स्थान पर ही खत्म कर देना चाहते थे। सन् १९४१ के जुलाई माह में ब्रिटेन कनाडा, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैंड और

दक्षिण अफ्रीका यूनियन तथा अपने देशों में लन्दन में निर्वासित यूनान बेल्जियम चैकोस्लोवाकिया लक्जमबर्ग नीदरलैण्ड्स (हॉलैण्ड) नार्वे पोलैण्ड युगोस्लाविया और फ्रांस की सरकारों के प्रतिनिधि प्राचीन सैन्ट जेम्स पैलेस में एकत्रित हुए। वहां उन्होंने अपनी एक संयुक्त-घोषणा द्वारा स्थायी शांति और आर्थिक तथा सामाजिक सुरक्षा की स्थापना करने की प्रतिज्ञा की। इस घोषणा के एक महीने बाद अगस्त १९४१ में अमरीका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट तथा ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री चर्चिल 'अटलान्टिक महासागर में कहीं एक जहाज पर मिले। उन्होंने दुनिया में स्थायी शांति की समस्या पर बातचीत की और खूब सोच-विचार तथा मनन के बाद एक आदेश-पत्र प्रकाशित किया जो अटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter) के नाम से प्रसिद्ध है। इस आदेश-पत्र अथवा चार्टर में उन्होंने अपने देशों की ओर से अपनी नीति और सिद्धान्तों की घोषणा की। उन्होंने कहा कि हम साम्राज्य-विस्तार अथवा किसी नये प्रदेश पर अधिकार करना नहीं चाहते हम चाहते हैं कि जन-मत से ही प्रत्येक राष्ट्र का शासन चले सब राष्ट्रों में पारस्परिक आर्थिक सहयोग हो; युद्ध के बाद पराजित राज्य पुनः प्रतिष्ठित हों और उनको पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो एवं प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करे तथा अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए प्रयत्न करें। १४ अगस्त १९४१ के इस अटलान्टिक चार्टर को ही संयुक्त राष्ट्रसंघ का जन्मदाता माना जाता है। इस चार्टर पर बाद में २४ सितम्बर को सोवियत रूस ने भी अपने हस्ताक्षर कर दिये। तदुपरान्त संयुक्त राज्य अमरीका रूस ब्रिटेन और चीन आदि २६ मित्र राष्ट्रों ने अटलान्टिक चार्टर को अपना समर्थन प्रदान किया जिसे "संयुक्तराष्ट्र की घोषणा (United Nations Declaration) कहते हैं।

जनवरी १९४३ में चर्चिल तथा रूजवेल्ट ने फ्रेंच प्रतिनिधि के साथ कैसाब्लांका [Casablanka] में युद्ध के बाद शांति की स्थापना के सम्बन्ध में बातें की। मई-जून १९४३ में ४४ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने खाद्य एवं कृषि सम्मेलन में लाखों विस्थापित लोगों की भोजन की समस्या पर विचार किया और इस प्रकार आगामी खाद्य एवं कृषि संगठन की नींव डाली।

अक्टूबर १९४३ में मास्को में अमरीका ब्रिटेन रूस और चीन के विदेश मंत्रियों का एक सम्मेलन हुआ जिसमें उन्होंने अटलान्टिक चार्टर के सिद्धान्तों के आधार पर विश्व-शान्ति और सुरक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना पर जोर दिया। सम्मेलन की एक नवम्बर, १९४३ की घोषणा में आत्मसमर्पण करने वाले शत्रुओं के प्रति संयुक्त कार्यवाही करने के निश्चय के साथ यह भी निश्चय प्रकट किया कि "वे सभी शांति प्रिय देशों की सर्व-प्रभुत्व सम्पन्नता के आधार पर शीघ्रातिशीघ्र सम्भव तिथि को एक साधारण अन्तर्राष्ट्रीय संघ के निर्माण की और अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति के लिये सभी शांतिप्रिय सर्व प्रभुत्व सम्पन्न छोटे या बड़े राष्ट्रों को उसका सदस्य बनने का अवसर देने की आवश्यकता का अनुभव करते हैं।"

नवम्बर १९४३ में ही तेहरान में एक सम्मेलन हुआ जिसमें चर्चिल रूजवेल्ट तथा स्टालिन ने यह निर्णय किया कि छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों

का संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के लिए आमन्त्रित किया जाए। १ दिसम्बर, १९४३ को तहरान सम्मेलन की एक विज्ञप्ति के द्वारा इन तीनों राष्ट्रों ने यह घोषणा की कि—

"हम अपने इस निश्चय को व्यक्त करते हैं कि हमारे राष्ट्र युद्ध में और आने वाली शांति में एक दूसरे के सहयोग में काम करेंगे। हम पर और संयुक्त राष्ट्रों के इस परम उत्तरदायित्व को सभी प्रकार समझते हैं कि हमें ऐसी शांति की रचना करनी चाहिये जिस संसार के बहुसंख्यक लोगों की सद्भावना प्राप्त हो और जो अनेक पीढ़ियों तक युद्ध के कष्ट और आतंक को मिटाने के लिये समर्थ हो सके। अत्याचार, दासता, दमन तथा असहिष्णुता को अस्त करने के लिये हम छोटे और बड़े सभी राष्ट्रों का जिनके लोग हमारे ही भांति इन बुराइयों को मिटाना चाहते हैं—सहयोग प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। यदि उन्होंने उसकी सदस्यता मानली हो तो हम उनका प्रजातान्त्रिक राष्ट्रों के विश्व परिवार में स्वागत करेंगे।*

इसी घोषणा में उन्होंने यह आशा व्यक्त की कि शीघ्र ही वह दिन आयेगा जब समस्त संसार के लोग अत्याचार से मुक्ति पाकर अपनी इच्छानुसार स्वतंत्र रूप से अपना जीवन-यापन कर सकेंगे।

मित्र राष्ट्रों के नेताओं ने जो उपरोक्त प्रकार की घोषणायें की उनसे स्पष्ट हो गया कि वे ईमानदारी के साथ एक विश्व संगठन की स्थापना करना चाहते हैं। अतः इस संगठन के संविधान की रचना के लिये २१ अगस्त १९४४ से ७ अक्टूबर १९४४ तक वाशिंगटन के एक भवन डम्बरटन ओक्स में चार महान शक्तियों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य अंगों-महासभा, सुरक्षा परिषद, सचिवालय तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के संबंध में विचार किया गया और इसमें संयुक्त राष्ट्र के चार्टर का प्रथम प्रारूप तैयार किया गया। सम्मेलन में संघ के सचिवालय के द्वारा किये जाने वाले कार्यों को अधिक क्षमतापूर्वक करने के लिए एक आर्थिक तथा सामाजिक परिषद (Economic and Social Council) बनाने एवं शांति स्थापित करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय सशस्त्र-सेनाओं की व्यवस्था क

---

*"We express our determination that our nations shall work together in war and in the peace that will follow ………We recognise fully that supreme responsibility resting upon us and all the United Nations to make a peace which will command that goodwill of the overwhelming mass of the peoples of the world and banish the scourge and terror of war for many generations. We shall seek the cooperation and active participation of all nations, large and small whose peoples in heart and mind are delicated as are our own peoples, to the elimination of tyranny and slavery oppression and intollerance. We will welcome them, as they may choose to come into a world family of Democratic Nations"

—Extract from the Tehran Declaration

लिये सैनिक स्टाफ समिति के निर्माण के भी सुझाव दिये गये। इस समय पहली बार इस संस्था के सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों और रूस के कुछ मतभेद प्रकट हुए। सोवियत रूस का मत था कि संस्था में पूँजीवादी देशों का बहुमत रहेगा, अतः उसको निषेधाधिकार दिया जाना चाहिये। इसके विपरीत संयुक्त राज्य अमेरिका निषेधाधिकार को सीमित करना चाहता था। इस सम्मेलन में पारित किये गये प्रस्तावों की घोषणा ९ अक्टूबर को की गई। इस अवसर पर एक वक्तव्य देते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने कहा—"प्रस्तावित सामान्य संगठन को महराब की मुख्य आधारशिला समझना चाहिये। सुरक्षा और शांति की इमारत के नियोजन का कार्य अच्छी प्रकार से प्रारम्भ होगा। अब यह राष्ट्रों के लिये है कि वे रचनात्मक और पारस्परिक विश्वास की भावनाओं के साथ इस निर्माण कार्य को पूरा करें।" *

डम्बरटन ओक्स के मतभेदों को फरवरी १९४५ के याल्टा सम्मेलन में दूर करने का प्रयास किया गया। इस सम्मेलन में सुरक्षा परिषद में मतदान की क्या पद्धति हो इसके सम्बन्ध में एक महत्वपूर्ण निर्णय लिया गया जो "याल्टा वोटिंग फार्मूला" के नाम से जाना जाता है। सम्मेलन में रूजवेल्ट और स्टालिन ने यह समझौता किया कि सुरक्षा परिषद प्रक्रिया संबंधी (Procedural) मामलों में ११ सदस्यों में से ७ के बहुमत से तथा अन्य आवश्यक विषयों (Substantive matters) में ७ स्वीकारात्मक मतों (Affermative Votes) से कार्य करे। इसमें सुरक्षा परिषद के पांचों सदस्यों संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, सोवियत संघ, फ्रांस और चीन की सहमति तथा एक-मती (Unanimity) होनी चाहिये।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर को अन्तिम रूप से निश्चित करने के लिए सान फ्रान्सिस्को (अमेरिका) में विश्व के ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधि सम्मेलन में एकत्रित हुए और उन्होंने खूब सोच-विचार वाद-विवाद के बाद विश्व संगठन का एक चार्टर तैयार किया। २६ जून १९४५ के दिन सान फ्रान्सिस्को के वटरन मेमोरियल हाल में ५० राष्ट्रों के ८५० प्रतिनिधियों ने उस चार्टर पर हस्ताक्षर किये और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हुआ। इस चार्टर में संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य सिद्धान्त और उसका विधान समाविष्ट था। ऐसा माना जाता है कि विश्व में ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय सभा पहले कभी नहीं हुई थी। अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सम्मेलन के अन्तिम अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा "संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर जिस पर आपने भी हस्ताक्षर किये हैं एक ऐसी सुदृढ़ नींव है जिस पर हम एक सुन्दर

---

*"The projected general organisation may be regarded as the keystone of the arch. The task of planning the great design of security and peace has been well begun. It now remains for the nations to complete the structure in a spirit of constructive purpose and mutual confidence"

—*Roosevelt*

विश्व का निर्माण कर सकेगा । इसके लिए इतिहास आपको स्मरण करेगा ।"

२४ अक्टूबर १९४५ को संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर लागू हुआ । यही दिन विश्व में संयुक्त राष्ट्र दिवस (U N Day) के रूप में मनाया जाता है । १० फरवरी १९४६ को लन्दन के वेस्टमिंस्टर हॉल में संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रथम बैठक हुई । इसमें इसके पदाधिकारियों के चुनाव हुए और १४ फरवरी १९४६ को इस संघ का प्रथम अधिवेशन समाप्त हुआ । संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रधान कार्यालय पहले लेकसक्सेस (अमेरिका) में रखा गया किन्तु इसके लिए न्यूयार्क में एक भव्य विशाल भवन तैयार किया जाने लगा जो १४ अक्टूबर १९५ को समाप्त हुआ और तब से संघ का कार्यालय न्यूयार्क में उसी भवन में है ।

राष्ट्र संघ द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को हस्तांतरण

उपर्युक्त प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जब संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हुआ तो राष्ट्र संघ (League of Nations) भी औपचारिक रूप से विद्यमान था । स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का भवन और पुस्तकालय अब तक हेग में विद्यमान थे और उसके अनिवार्य न्यायाधीश अपने पदों पर आसीन थे यद्यपि उनके पदों का कोई महत्व न रह गया था । अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ जेनेवा और मौन्ट्रीयल में कायम था तथा राष्ट्र संघ के कुछ सामाजिक एवं आर्थिक कार्यक्रम अब भी वाशिंगटन, लन्दन, जेनेवा एवं प्रिंसटन में चल रहे थे । इन परिस्थितियों में यह समस्या उठ खड़ी हुई कि राष्ट्र संघ का किस प्रकार अन्त किया जाए और उसके भवनों, पुस्तकालयों तथा अन्य सम्पत्ति का क्या किया जाए । समस्या के समाधान हेतु संयुक्त राष्ट्र संघ और राष्ट्र संघ में काफी पत्र-व्यवहार हुआ जिसके परिणाम स्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ ने राष्ट्र संघ के अधिकांश सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों को स्वयं संभाल लिया और साथ ही राष्ट्र संघ के भवनों व उसकी अन्य सम्पत्ति को भी अपने अधिकार में ले लिया । ८ अप्रैल १९४६ को राष्ट्र संघ की महासभा ने अपना अन्तिम अधिवेशन करके एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें उसने स्वयं अपनी समाप्ति की घोषणा कर दी ।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विचार के उद्‌गम और विकास पर दृष्टि डालने के उपरान्त अब हम संघ की विभिन्न बातों पर क्रमशः विस्तार से प्रकाश डालेंगे ।

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर
[Charter of the Organisation of United Nations]

संयुक्त राष्ट्र संघ के संविधान को चार्टर कहते हैं । संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर राष्ट्र संघ के संविधान अथवा प्रतिज्ञा-पत्र की अपेक्षा अधिक विस्तारपूर्ण है । इसमें १० हजार शब्द, १११ धाराएं अथवा अनुच्छेद (Articles) और १९ अध्याय (Chapters) हैं । संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों, उनके अधिकारों और कार्यों का तथा संघ के उद्देश्यों और सिद्धान्तों आदि का विस्तार रूप से इस चार्टर में वर्णन किया गया है ।

पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कदम उठाना आवश्यक हो। सदस्यों को प्राविधिक जानकारी परामर्श व सहयोग देने का काम यह समिति करती है। वर्ष में कम से कम एक बार इसकी बैठक का होना आवश्यक है। इसके सदस्य हैं—विश्व ऋतु विज्ञान संघ के प्रधान तथा उप प्रधान संघ के ऋतु विज्ञान सम्बन्धी छः प्रादेशिक ऋतु विज्ञान-एसोसियशनों के प्रधान एवं छः निर्वाचित सदस्य।

(iii) संघ का एक सचिवालय है और प्राविधिक आयोग भी।

छः प्रादेशिक ऋतु विज्ञान एसोसियेशन क्रमशः अफ्रीका एशिया दक्षिण अमरिका उत्तर व मध्य अमेरिका यूरोप एवं दक्षिण-पश्चिम प्रशान्त के लिए हैं। संघ का मुखिया एक महासचिव होता है जिसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है।

उद्देश्य एवं काम—विश्व ऋतु विज्ञान संघ के उद्देश्य एवं कार्य ये हैं—

(1) संसार की ऋतुविज्ञानीय क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करना उनका प्रमापीकरण करना।

(ii) ऋतु विज्ञान सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्थाओं के लिए केन्द्र रूप में कार्य करना और उन्हें ठीक ठाक रखना।

(iii) मौसम की जानकारी के तेजी से आदान-प्रदान के लिए आवश्यक व्यवस्था करना और उसे सुव्यवस्थित रखने में योग देना।

(iv) ऋतु विज्ञान के क्षेत्र में अन्वेषण तथा प्रशिक्षण को प्रोत्साहन देना।

(v) विमान संचालन जहाजरानी कृषि एवं अन्य मानवीय उद्योगों में ऋतु विज्ञान से लाभ उठाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।

प्राविधिक सहायता क्रम में विश्व ऋतु विज्ञान संघ का सम्बन्ध राष्ट्रीय ऋतु-सेवाओं और ऋतु विज्ञान के कृषि स्वास्थ्य तथा यातायात जैसे क्षेत्रों से रहता है।

(१३) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी
(International Atomic Agency)

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी एक नवीनतम अन्तर-सरकारी संगठन है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा ८ दिसम्बर १९५१ को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के सामने दिये गये एक भाषण में इस अणु शक्ति एजेन्सी का प्रस्ताव सामने आया और अधिकृत रूप से २९ जुलाई १९५७ को इसकी स्थापना हुई। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में की गयी।

उद्देश्य एवं काम—इस एजेन्सी की स्थापना का उद्देश्य अणुशक्ति के शांतिमय उपयोग को और आगे बढ़ाना था। यह शांतिमय उपयोग के लिए अणुशक्ति सम्बन्धी अनुसन्धान में सहायता पहुँचाती है इस ज्ञान के विकास और उसे काम में लाने में सहयोग देती है। एजन्सी वैज्ञानिक तथा प्राविधिक सूचनाओं के आदान-प्रदान में योग देती है और वैज्ञानिकों का प्रशिक्षण एवं आदान-प्रदान को प्रोत्साहित करती है। इस क्रम में एक मध्यस्थ का काम

महासभा के द्वितीय अधिवेशन में प्रस्तुत की गई थी किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में समस्या के पूर्ववर्ती इतिहास की रूप रेखा पर दृष्टि डालना बोधगम्यता की दृष्टि से उपयोगी होगा।

पृष्ठभूमि—कोरिया द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जापान के नियंत्रण में था वह इसे १९१० में चीन से जीत चुका था। दिसम्बर १९४३ को काहिरा सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि जापान नियंत्रित कोरिया को युद्ध में विजय के उपरान्त स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय। काहिरा घोषणा की शब्दावली इस प्रकार थी— संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन और चीन कोरियाई जनता की दासता से परिचित हैं और उनका यह दृढ़ निश्चय है कि उचित समय पर कोरिया को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। फरवरी १९४५ में यह तय हुआ कि कोरिया स्वतंत्र होने के पूर्व कुछ समय तक संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में रहे। जुलाई १९४५ के पोट्सडम सम्मेलन में भी काहिरा घोषणा को स्वीकार कर लिया गया और इस तरह कोरियाई स्वतन्त्रता के प्रश्न को सोवियत संघ की भी मान्यता प्राप्त हो गई। दिसम्बर १९४५ में मास्को में आयोजित ३ बड़े राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों के सम्मेलन में यह फैसला किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की कोरिया पर संरक्षण की अवधि ५ वर्ष रहे। लेकिन युद्ध समाप्त होने पर स्थिति बिल्कुल बदल गई। जब जापानी सेनाओं ने कोरिया और मंचूरिया में आत्म समर्पण किया उस समय सैनिक सुविधा की दृष्टि से ३८ अक्षांश रेखा के उत्तर में सोवियत रूस के तथा इसके दक्षिण में अमेरिकन सेनाओं के आगे हथियार डाले गये। यही रेखा उत्तरी और दक्षिणी कोरिया को विभाजित करने वाली सुदृढ़ सीमान्त रेखा बन गई और एक तरह से कोरिया दो भागों में विभक्त हो गया। कई महीनों तक सोवियत रूस और अमेरिका के मध्य कोरिया का एकीकरण करने और उसे ४ राष्ट्रों के संरक्षण में लेने के प्रश्न पर वार्ता होती रही किन्तु कोई समझौता नहीं हो सका। वस्तुतः दोनों ही पक्ष कोरिया में अपनी स्थिति को दृढ़ बनाना चाहते थे अतः इस पृष्ठभूमि में समझौते की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती थी।

संयुक्त राष्ट्र संघ और कोरिया संकट—१९४७ की शीत ऋतु में दोनों पक्षों की वार्ता में पूर्ण गतिरोध उत्पन्न हो गया और तब १७ सितम्बर १९४७ को अमेरिका ने महासभा के द्वितीय अधिवेशन में कोरिया की स्वतंत्रता का प्रश्न प्रस्तुत कर दिया। अपने प्रस्ताव में अमेरिका ने कोरिया का एकीकरण कर उसे अविलम्ब स्वतंत्रता प्रदान करने की सिफारिश की। अमेरिका द्वारा यह भी सुझाव दिया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक कमीशन (आयोग) की स्थापना करे और यह कमीशन अथवा आयोग अपनी देख-रेख में समस्त कोरिया में स्वतंत्र निर्वाचन कराये तथा बहुमत प्राप्त दल को कोरिया की सत्ता सौंप दी जाय। सोवियत रूस की ओर से अमेरिकन प्रस्ताव का घोर विरोध हुआ परन्तु ६ के विरुद्ध ४१ के बहुमत से महासभा ने कोरिया में एक सप्त सदस्यी आयोग भेजने का निर्णय किया। इस आयोग को यह भी निर्देश दिया गया कि वह कोरिया में स्वतंत्र निर्वाचन द्वारा एक स्वतंत्र सरकार की स्थापना के कार्य में योग प्रदान करे।

संयुक्त राष्ट्र संघ के कोरिया पर अस्थायी आयोग" [U N Temporary Commission On Korea] को दक्षिणी कोरिया में आवश्यक जांच पड़ताल करने की सभी सुविधाएं सुलभ की गयीं। भारत भी इस आयोग का एक सदस्य था। आयोग को सोवियत अधिकृत उत्तरी कोरिया में प्रवेश नहीं करने दिया गया। अतः इसने विवश होकर अपनी देख-रेख में दक्षिणी कोरिया में १० मई १९४८ को चुनाव करा दिये जिसके फलस्वरूप २१ अगस्त १९४८ को दक्षिणी कोरिया में गणतन्त्र सरकार की स्थापना हो गयी। सिंगमनरी [Sygman Rhee] को इस गणतन्त्र का राष्ट्रपति चुना गया। १७ दिन पश्चात् अमेरिका ने गणतंत्र का अधिकार दक्षिण कोरिया सरकार को सौंप दिया। इसी मध्य जनरल किम इल-संग की अध्यक्षता में उत्तरी कोरिया में आम चुनाव के बाद लोकतन्त्रीय जन गणराज्य की स्थापना हो गयी।

१२ दिसम्बर १९४८ को महासभा ने सिंगमनरी की सरकार को ही पूरे कोरिया की एक मात्र वैध सरकार घोषित किया उत्तरी कोरिया का 'लोकतंत्रीय जनगणराज्य' उपेक्षित कर दिया गया। इसके उपरान्त महासभा ने अपने प्रस्ताव नं० १९५ के द्वारा अमेरिका और सोवियत संघ से यह सिफारिश की कि वे अपनी सेनायें कोरिया से वापिस बुला लें। साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा कोरिया के एकीकरण हेतु ७ सदस्यों का एक आयोग बनाया गया जिसके कार्य में साम्यवादी और सिंगमनरी दोनों ही अड़ंगेबाजी लगाने लगे। सोवियत संघ ने यह तर्क प्रस्तुत किया कि महासभा कोरिया के सम्बन्ध में कोई पग नहीं उठा सकती क्योंकि यह प्रश्न मास्को समझौते के अधीन है और उस पर विचार सम्बन्धित मित्र राष्ट्रों द्वारा किया जाना चाहिए। २५ दिसम्बर १९४८ को रूस ने उत्तरी कोरिया से अपनी सेनाओं की वापसी की घोषणा की। दक्षिण में अमेरिकन सैनिकों को २९ जून १९४९ को वापिस बुला लिया गया जिसकी पुष्टि संयुक्त राष्ट्रीय कोरियायी आयोग द्वारा की गयी। इस समय तक दक्षिणी कोरिया की सरकार को अमेरिका के सभी पिछलग्गू देश और उत्तरी कोरिया की सरकार को सभी साम्यवादी देश मान्यता प्रदान कर चुके थे। २१ अक्तूबर १९४९ को संयुक्त राष्ट्रीय महासभा ने अपने पांचवें अधिवेशन में 'कोरिया पर अस्थायी आयोग' को जारी रखने का निर्णय किया। आयोग विभाजन के फलस्वरूप उत्पन्न हुए दोनों भागों के बीच आर्थिक सामाजिक और अन्य अवरोधों को दूर कर मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करने लगा।

विभाजित कोरिया के दोनों भागों में वैमनस्य बढ़ता गया और दोनों में संघर्ष की स्थिति अनिवार्यतः पैदा हो गयी। दोनों की सीमाओं पर परस्पर मुठभेड़ें भी होने लगी। उत्तर में जनरल किम-इल-संग की सरकार अत्यधिक लोकप्रिय थी जबकि दक्षिण में सिंगमनरी की सरकार में सामन्तों और रूढ़िवादियों का ही बोलबाला था। १९४८ से लेकर १९५० तक दोनों भागों के बीच छुटपुट झगड़े चलते रहे। संयुक्त राष्ट्र संघीय आयोग ने इन झगड़ों को निपटाने की कोशिश भी की किन्तु इस काम में उसे कोई सफलता नहीं मिली।

२५ जून १९५० को उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरियाबासी गणतंत्र पर आकस्मिक रूप से विशाल पैमाने पर आक्रमण कर दिया। यद्यपि उत्तरी कोरिया और सोवियत सरकार ने बार-बार यह दोहराया कि आक्रमण उत्तरी कोरिया की ओर से नहीं बल्कि दक्षिणी कोरिया की ओर से हुआ परन्तु संयुक्त राष्ट्र कमीशन आयोग के अध्ययन और जांच पड़ताल से जो अकाट्य प्रमाण सामने आये उनसे समस्त संसार को यह विश्वास हो गया कि उत्तरी कोरिया ही आक्रमण का दोषी था।

आयोग ने जिसकी अध्यक्षता भारत के श्री बी एन राव कर रहे थे, और जिसमें अमरिका तथा रूस सम्मिलित नहीं थे, संयुक्त राष्ट्र संघ को रिपोर्ट दी कि आक्रमण बिना सूचना दिये पूर्व आयोजित तथा पूरी तैयारी के साथ किया गया था। तुरन्त ही २७ जून १९५० को सुरक्षा परिषद की आपत्कालीन बैठक बुलाई गयी जिसमें यह प्रस्ताव पास किया गया कि "वहां शांति भंग हुई है और इसलिए संघ के सदस्य राज्य कोरिया के गणतंत्र को ऐसी सहायता दें जो सशस्त्र आक्रमण को खदेड़ने और उस क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक है। सुरक्षा परिषद ने लड़ाई की शीघ्र समाप्ति तथा ३८ वीं समानान्तर रेखा से उत्तरी कार्यवाहियों की वापिसी का आदेश दिया। चूंकि इन दिनों चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता दिलाने के प्रश्न पर सोवियत रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों का बहिष्कार कर रखा था अतः सुरक्षा परिषद में कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने का अमेरिकन प्रस्ताव १ के विरुद्ध ७ मतों से निषेधाधिकार के प्रयोग के बिना स्वीकृत हो गया। उधर संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा परिषद के इस निश्चय के पूर्व ही उत्तरी कोरिया के विरुद्ध युद्ध घोषित कर चुका था। वस्तुतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति न होगी कि संयुक्त राष्ट्र संघ के नाम पर यह अमेरिका का युद्ध था। अनेक निष्पक्ष देशों ने परिषद के इस निर्णय की आलोचना की और युद्ध की अपेक्षा शांति पूर्ण ढंग से समस्या के समाधान का सुझाव दिया। सोवियत रूस ने इस प्रस्ताव की कटु आलोचना करते हुए इसे एक स्थायी सदस्य की अनुपस्थिति में लिया गया निर्णय होने के कारण गलत बतलाया। परन्तु इन बातों पर कोई ध्यान नहीं दिया गया। सुरक्षा परिषद ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना करने के लिये जिस सैनिक कार्यवाही करने का निश्चय लिया और सदस्य राष्ट्रों से संघ की पूरी सहायता करने का जो अनुरोध किया उसके प्रत्युत्तर में ५१ राष्ट्रों ने अपना नैतिक समर्थन तथा कुछ राष्ट्रों ने अपना सक्रिय सहयोग देने का वायदा किया।

७ जुलाई १९५० को सुरक्षा परिषद् ने संयुक्त राष्ट्र संघ के झंडे के अधीन एक संयुक्त कमान की रचना की और अमेरिका के नेतृत्व में इसे सहयोग प्रदान करने के लिए सभी देशों से प्रार्थना की गयी। जनरल मेक आर्थर को कोरिया में संयुक्त राष्ट्रीय सेनाओं का सेनापति बना दिया गया। इस संयुक्त कमान की सेना में अपनी स्वेच्छा से १६ राष्ट्रों ने भाग लिया। आस्ट्रेलिया बेल्जियम कनाडा कोलम्बिया, इथोपिया फ्रान्स यूनान लक्जम बर्ग नीदरलैण्ड न्यूजीलैण्ड फिलिपाइन्स थाइलैण्ड टर्की दक्षिण अफ्रीका और इंगलैण्ड की सैनिक टुकड़ियां अमेरिकन सेनाओं के साथ कन्धे से कन्धा

मिल कर कोरिया में आक्रमण का प्रतिरोध करने लगी। भारत डेनमार्क नार्वे और स्वीडन ने अपनी चिकित्सा टुकड़ियां भेजी तथा अन्य २४ राष्ट्रों ने किसी-न-किसी प्रकार की सहायता भेजी।

आरम्भ में उत्तरी कोरिया को ही सफलता मिली और उस की सेनाओं ने थोड़े ही दिनों में दक्षिण कोरिया की राजधानी सीओल पर अधिकार कर लिया। उत्तरी कोरिया तेजी से दक्षिण कोरिया के भागों पर अधिकार करता गया। परन्तु बाद में युद्ध की स्थिति में परिवर्तन आया, अब पासा संयुक्त राष्ट्र संघ की सेना के पक्ष में पलट गया। संघ की सेनाओं ने आगे बढ़ते हुए पुसान क्षेत्र (Pusan area) से ३८ अक्षांश की ओर बढ़ना प्रारम्भ किया। अमेरिका का विचार था कि संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं को ३८ अक्षांश पार कर साम्यवादी कोरिया में प्रवेश कर जाना चाहिए। महासभा ने ७ अक्टूबर को यह सुझाव मान लिया और साथ ही कोरियायी एकीकरण एवं पुनर्वास के लिए एक आयोग भी नियुक्त किया। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री जवाहरलाल नेहरू ने संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना के ३८ अक्षांश रेखा से आगे बढ़ने का विरोध किया। भारत का कहना था कि इस प्रकार युद्ध का क्षेत्र बढ़ जायगा। परन्तु अमेरिका पर इस विरोध का कोई असर न पड़ा। यह प्रशान्त महासागर और सम्पूर्ण पूर्वी एशिया में अमेरिकन प्रभुता कायम करने का प्रश्न था। जनरल मैक आर्थर अपनी सेनाओं को न केवल कोरिया की उत्तरी सीमा यालू नदी तक किन्तु मन्चूरिया तक ले जाना चाहता था क्योंकि उसके मतानुसार वहीं से उत्तरी कोरिया वालों को सेना तथा अन्य सामग्री की कुमक पहुंच रही थी।

उपरोक्त युद्ध नीति का परिणाम यह हुआ कि सुसंगठित चीनी सैनिक कोरिया के युद्ध में साम्यवादियों की ओर से लड़ाई में कूद पड़े। ५ नवम्बर १९५० को जनरल मैक आर्थर ने यह स्वीकार किया कि शक्तिशाली एवं संगठित चीनी फौजों द्वारा उसकी सेनाओं पर हमला किया जा रहा है। १० नवम्बर को सुरक्षा परिषद् में कई राष्ट्रों द्वारा एक प्रस्ताव रखा गया जिसके अनुसार साम्यवादी कोरिया की सेनाओं को किसी प्रकार की सहायता देने पर रोक लगाने की सिफारिश की गयी तथा उस खतरे को स्वीकार किया गया जो चीन के सक्रिय हस्तक्षेप द्वारा पैदा हो गया था। सुरक्षा परिषद् ने चीनी गणतंत्र के प्रतिनिधि को भी विवाद में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया। सुरक्षा परिषद् में चीन के प्रतिनिधि ने अमेरिका की बुरी तरह आलोचना की उसे चीन की भूमि पर बम बारी करने के लिए दोषी ठहराया तथा कोरिया युद्ध में हस्तक्षेप को अपनी सुरक्षा का प्रतीक बताया। उसने यह भी कहा कि संघ को फारमोसा के प्रश्न पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। चीनी प्रधानमंत्री और विदेशमंत्री चाउ-एन-लाई ने कोरिया से सभी संयुक्त राष्ट्रीय सेना वापिस हटाने फारमोसा छोड़ने तथा संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान पाने की मांग की। १४ दिसम्बर १९५० को महासभा ने युद्ध विराम के लिए एल० बी० पीयर्सन (कनाडा) बी० एन० राव (भारत) तथा मू० ऐन्तजम (ईरान) का एक दल कोरिया में एक सन्तोषप्रद संधि की स्थापना के लिए नियुक्त किया किन्तु शांतिपूर्ण समझौते के सभी प्रयास असफल रहे।

राजनीतिक मामलों पर बोलते हुए आज्ञा का उल्लंघन करने पर जनरल मैक आर्थर को ११ अप्रैल १९५१ को वापिस बुला लिया गया और उनके स्थान पर जनरल रिजवे की नियुक्ति हुई। इससे पूर्व फरवरी १९५१ में अमेरिका के प्रभाव से महासभा ने एक प्रस्ताव पारित करके चीन को भी आक्रमणकारी घोषित कर दिया। इस प्रस्ताव का भारत द्वारा जोर-शोर से विरोध किया गया।

कोरिया युद्ध की समस्या को हल करने में भारत ने विशेष महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। भारत की प्रेरणा से ही साम्यवादी चीन ने समस्या के समाधानार्थ संयुक्त राष्ट्र संघ में अपना प्रतिनिधि भेजा यह बात दूसरी है कि चीन की मांगों को संयुक्त राष्ट्र संघ में अपेक्षित समर्थन नहीं मिला और उल्टे फरवरी ५१ में अमेरिकन प्रभाव के कारण संघ द्वारा चीन को आक्रान्ता घोषित करने का अबुद्धिमत्तापूर्ण कार्य कर दिया गया। अमेरिका और संयुक्त राष्ट्र संघ की इन कार्यवाहियों से चीन का विरोध बहुत ही उग्र हो गया।

एक ओर तो संघ द्वारा कोरिया में शांति स्थापना के प्रश्न पर जितना विचार किया गया समस्या उतनी ही उलझती गयी और कोरिया में दोनों पक्षों की तरफ से युद्ध की भीषणता बढ़ती गयी। राष्ट्रपति ट्रूमैन अणुबम तक का प्रयोग करने का विचार करने लगे किन्तु ब्रिटेन के आग्रह पर उन्होंने ऐसा नहीं करने का वायदा किया। २ मई, १९५१ को महासभा ने एक और प्रस्ताव पास करके चीन तथा उत्तरी कोरिया को युद्ध सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगा दिया। परन्तु इस समय तक दोनों ही पक्ष युद्ध से तंग आ चुके थे। दोनों तरफ से जन धन की अपार क्षति हो रही थी। अतः दोनों ही पक्षों में विराम संधि चलने लगीं। जून १९५१ में उत्तरी कोरियायी युद्ध विराम पर विचार-विमर्श के लिए सहमत हो गये। १० जुलाई १९५१ को संयुक्त राष्ट्र संघीय संयुक्त कमान तथा साम्यवादी चीन व कोरिया की संयुक्त कमान के प्रतिनिधियों ने केसांग(Kaesong)में अपनी वार्ता प्रारम्भ की। अधिकांश विषयों पर दोनों पक्षों में समझौता हो गया, किन्तु कुछ बातों पर गंभीर मतभेद बने रहे। ये मतभेद मुख्यतः तीन थे—प्रथम हवाई अड्डों का निर्माण द्वितीय तटस्थ राष्ट्रों के नियन्त्रण आयोग (Neutral Nations Supervisory Commission) की रचना और तृतीय युद्ध बंदियों की वापसी। सबसे गंभीर समस्या युद्ध-बन्दियों की वापसी ही सिद्ध हुई। समस्या लगभग दो लाख बन्दियों की वापसी के बारे में थी। संयुक्त राष्ट्र संघ का कहना था कि उसके अधीन किसी भी उस बन्दी को वापिस न भेजा जायगा जो अपनी इच्छा से ही साम्यवादी भाग में लौटने को न कहे। अमेरिका का यह दृढ़ मत था कि अपनी इच्छा के विरुद्ध किसी व्यक्ति को जबरदस्ती उसकी मातृभूमि में लौटाना एक मौलिक मानवीय अधिकार का हनन है। साम्यवादियों का कहना था कि बन्दियों को आवश्यक रूप से अपने देश को लौटाया जाय। साम्यवादियों के कब्जे में संघ के लगभग १२ हजार बन्दी थे। बन्दियों की वापसी का प्रश्न बुरी तरह उलझ गया। इस समस्या को हल करने में भारत ने महत्वपूर्ण योगदान दिया।

५ मार्च १९५३ को मार्शल स्टालिन की मृत्यु के बाद मोलेनकोव रूस के प्रधान मंत्री बने और उन्होंने कोरिया युद्ध समाप्त करने की इच्छा प्रकट की। अप्रैल १९५३ में कोरिया में घायल तथा रोगी युद्ध बंदियों की अदला बदली का काम शुरू हो गया। विराम संधि की प्रारम्भिक वार्ता पानमुनजाम (Panmunjom) में २६ अप्रैल, १९५३ को पुनः शुरू हुई। ८ जून को दोनों कमानों ने युद्ध बंदियों के अदला बदली के सम्बन्ध में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते के अनुसार ५ तटस्थ राष्ट्रों के एक आयोग की रचना हुई जिसमें स्वीडन स्विटज़रलैंड पोलैंड चैकोस्लोवाकिया तथा भारत को स्थान दिया गया। इस आयोग के सुपुर्द उन बंदियों को कर दिया गया जिन्होंने अपनी वापसी के अधिकार का प्रयोग नहीं किया था। भारत के जनरल थिमैया आयोग के अध्यक्ष बने। यह तय किया गया कि आयोग के किसी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त नहीं होगा और सभी निर्णय बहुमत से लिये जायेंगे। २७ जुलाई, १९५३ को अन्ततः कोरिया की युद्ध विराम-संधि पर हस्ताक्षर कर दिए गये। इस तरह ३ साल से भी अधिक समय तक चलने वाला कोरिया-युद्ध समाप्त हो गया। ६ सितम्बर १९५३ तक बंदियों की अदला-बदली का कार्य समाप्त हो गया। साम्यवादियों ने १२७६० बंदियों को संयुक्त राष्ट्र संघीय कमान के सुपुर्द किया और इसके विपरीत अपने ७५,७९९ सैनिक उन्हें मित्र राष्ट्रों से बदले में मिले। १० सितम्बर से भारतीय संरक्षक दस्ते को दोनों पक्षों के वे युद्ध बंदी सौंप गये जिन्होंने स्वदेश लौटने से इन्कार कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघीय पक्ष से प्राप्त ऐसे उत्तरी कोरियायी और चीनी सैनिकों की संख्या २३ हज़ार थी जबकि उत्तरी कोरिया के पास से ऐसे केवल ४०० सैनिक प्राप्त हुए। इन बंदियों से इस सम्बन्ध में इनकी इच्छा जानने के लिए पूछताछ करना एक खतरनाक काम था किन्तु भारतीय सैनिक दस्तों ने यह काम अनेक कष्ट झेल कर भी बड़ी खूबी से निपटाया। २१ जनवरी १९५४ तक बंदियों की सम्पूर्ण समस्या का लगभग समाधान हो गया।

३ साल से भी अधिक समय तक चलने वाले कोरिया-युद्ध में धन-जन की अपार क्षति हुई। इस युद्ध में अकेले अमेरिका के १ लाख ४२ हज़ार सैनिक हताहत हुए।

कोरिया संकट के समाधान से संघ के महत्व में वृद्धि—संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व युद्ध बनने से रुक गया। इस संकट ने संघ को निखार कर कुन्दन बना दिया। ए० ई० स्टीवेन्सन के कथनानुसार—

"कोरिया के युद्ध की निरर्थकता का विचार उसी समय फैला जब एक विराम संधि के विषय में बातचीत प्रारम्भ हुई और वास्तव में जब हमने आक्रमण को रोकने तथा आक्रमणकारियों को वापिस भगाने के प्रारम्भिक उद्देश्य की सिद्धि कर ली थी । संयुक्त राष्ट्र संघ की इस प्रथम महान् सामूहिक सैनिक कार्यवाही ने यह सिद्ध कर दिया कि यह संगठन शक्ति तथा शांति दोनों से काम लेने के रूपों को ग्रहण करने के योग्य है । हम

लोगों ने सामूहिक सुरक्षा के लिए एक प्रभावी व्यवस्था की स्थापना की ओर ऐतिहासिक उन्नति करती है

क्लार्क आइक-बगर (Clark Eicheberger) ने लिखा है—

कोरिया के विवाद ने विश्व को यह आशा बंधा दी कि यदि बड़ी शक्ति के विरुद्ध नहीं तो कम से कम एक बड़ी शक्ति के अधीन राज्य (Sete llite) के विरुद्ध तो निश्चय ही सामूहिक कार्यवाही कर सकते हैं।"[1]

कोरिया की घटना ने विश्व संस्था के संचालन की कुछ नवीन परम्पराओं का सूत्रपात किया और अनेक महत्वपूर्ण परिणामों को जन्म दिया—

(i) चार्टर के अनुसार सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद के निर्णय को सदस्य राष्ट्रों के लिए मानना आवश्यक था किन्तु कोरियायी घटना ने इस व्यवस्था में संशोधन करते हुए इसे ऐच्छिक बना दिया अर्थात संयुक्त राष्ट्र संघ को सैनिक सहायता देना सदस्य राष्ट्रों की इच्छा पर हो गया। सुरक्षा परिषद ने सैनिक कार्यवाही करने के संघीय कार्य में सहायता करने की सदस्यों से सिफारिश की थी इसका स्पष्ट अर्थ था कि यह सदस्यों की इच्छा पर था कि वे संघ को सैनिक सहायता दें। उदाहरणार्थ भारत ने सेनाएं नहीं भेजी केवल घायल सैनिकों की चिकित्सा के लिए डाक्टरी सहायता भेजी। और भी अनेक देशों ने सैनिक कार्यवाही में भाग नहीं लिया।

(ii) कोरिया की घटना ने स्पष्ट कर दिया कि सुरक्षा परिषद में पांचों स्थायी सदस्यों का मत किसी प्रस्ताव को पास कराने के लिए आवश्यक नहीं है। यदि एक या अधिक स्थायी सदस्य अनुपस्थित हैं तथा मत नहीं दे रहा है तो उसकी अनुपस्थिति परिषद की कार्यवाही में बाधा नहीं डाल सकती और उसका वीटो भी लागू नहीं होता। सोवियत रूस की अनुपस्थिति में सुरक्षा परिषद द्वारा लिये गये निर्णय ने वीटो अधिकार के सम्बन्ध में निश्चय ही एक अत्यधिक महत्वपूर्ण स्पष्टीकरण कर दिया।

(iii) यदि रूस ने सुरक्षा परिषद का बहिष्कार न किया होता तो संयुक्त राष्ट्र संघ इतनी शीघ्रतापूर्वक प्रभावशाली कार्यवाही करने में समर्थ न होता। इस कमी को ध्यान में रखते हुए अमेरिका ने १ नवम्बर १९५०को महासभा में 'शांति के लिए एकता' (Uniting for Peace) का प्रस्ताव रखा जिसमें इस बात की व्यवस्था की गयी कि 'सुरक्षा परिषद के कोई सात सदस्य अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ के बहुसंख्यक सदस्य आवश्यकता पड़ने पर विशेष रूप से उस समय जबकि सुरक्षा परिषद के सदस्यों में मतभेद होने के कारण अविलम्ब कार्यवाही की कोई आशा न रहे २४ घण्टे की सूचना पर महासभा

---

1 Korea gave the World hope that the nations could take the collective action if not against a great power certainly against the setellite of great power"

—Clark M Eicheberger U N The First Years 1965 p. 22

का संकटकालीन अधिवेशन बुला सकते हैं यदि वे यह समझते हैं कि स्थिति इतनी गंभीर है कि उससे विश्व की शांति खतरे में पड़ सकती है" इस प्रस्ताव में महासभा को शांति रक्षा के नवीन अधिकार देते हुए उसकी प्रतिष्ठा और गौरव में बड़ी महत्वपूर्ण वृद्धि की। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह प्रस्ताव कोरिया-संघर्ष की सबसे बड़ी देन कहा जा सकता है।

(iv) कोरिया समस्या ने संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्बन्ध में इस मौलिक धारणा को भ्रान्त सिद्ध कर दिया कि सैनिक कार्यवाही केवल तभी प्रभावशाली बन सकती है जबकि पांचों स्थायी सदस्यों का सहयोग मिले। कोरिया में सैनिक कार्यवाही रूस की सहमति के बिना की गयी। पहले सुरक्षा परिषद के एक भी स्थायी सदस्य के सहमत न होने से ऐसी कार्यवाही नहीं हो सकती थी लेकिन अब महासभा इसे दो-तिहाई बहुमत से कर सकती थी।

(v) इस घटना ने यह भी सिद्ध किया कि संघ की सैनिक कार्यवाही की सफलता उसके सदस्यों के सक्रिय सहयोग तथा महाशक्तियों के उत्साह पर अवलम्बित है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति की विशेष रुचि के कारण ही कोरिया-युद्ध में संघ सफल हो सका।

यद्यपि कोरिया में शांति स्थापित की जा चुकी है किन्तु कोरिया राजनीतिक एकीकरण की समस्या आज भी पूर्ववत बनी हुई है।

सीरिया-लेबनान समस्या
(Syria Lebanon Issue)

सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में सीरिया और लेबनान के प्रतिनिधियों ने यह मांग रखी थी कि उनके देश से फ्रांस और ब्रिटेन अपनी फौजें हटा लें। ऐसा न किये जाने पर ४ फरवरी १९४६ को उन्होंने (सीरिया और लेबनान) सुरक्षा परिषद में यह शिकायत रखी। उन्होंने कहा कि उनके प्रदेश में विदेशी तथा फ्रेंच दस्तों की उपस्थिति संयुक्त राष्ट्रीय चार्टर की भावना के विरुद्ध है। संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा परिषद द्वारा इन सेनाओं को यथासम्भव शीघ्र हटाने की आशा दिलाना चाहता था जबकि सोवियत संघ सेनाओं को तत्काल हटा देने के पक्ष में था। सीरिया और लेबनान की शिकायत का अमेरिका ने जो प्रस्ताव रखा उसमें इस शब्दावली का प्रयोग किया गया— "सुरक्षा परिषद को विश्वास है कि ये फौजें यथासम्भव शीघ्र ही हटा ली जायेंगी।" स्पष्ट ही अमेरिका मामले को टालने के पक्ष में था। लेकिन सोवियत संघ ने अपने विरोधी प्रस्ताव में इस बात का आग्रह किया कि सेनाएं तत्काल हटा ली जायं। पहले प्रस्ताव के पक्ष में सात स्वीकारात्मक वोट दिये गये, लेकिन रूस के वीटो के कारण वह रद्द हो गया। रूस ने इस आधार पर वीटो किया कि प्रस्ताव की शब्दावली पर्याप्त रूप से शक्तिपूर्ण नहीं है। यद्यपि प्रस्ताव पारित होने में असफल हो गया किन्तु फ्रांस और ब्रिटेन ने परिषद के बहुमत का पालन करते हुए यह घोषणा की कि वे अपनी फौजें हटा लेंगे। बाद में उन्होंने ऐसा ही किया और १० अप्रैल, १९४६ तक अपनी सेनाएं सीरिया तथा लेबनान से हटा लीं।

इस समस्या का महत्व इस बात में निहित है कि सुरक्षा परिषद ने कार्य का रचनात्मक ढंग दिखाया है यदि वीटो के प्रयोग से बाधित होने पर

करती है कि इससे एक सदस्य से दूसरे सदस्य के लिए प्राविधिक और अन्य सहायता प्राप्त की जा सके। इसका एक प्रमुख कार्य स्वास्थ्य एवं सम्पत्ति की सुरक्षा के लिए सुरक्षामानकों का स्थापित करना है। इसके लिए यह संयुक्त राष्ट्र संघ की विशेष एजेन्सियों के साथ मिलकर काम करती है। अन्तर्राष्ट्रीय परमाणु शक्ति एजेन्सी यह भी सुनिश्चित करती है कि दी गई सहायता का सैनिक उद्देश्य के लिए उपयोग न हो। इसका एक काम आवश्यकतानुसार साजसामान का एकत्रित करना तथा विखण्डनीय सामग्री का एकत्र व सप्लाई करने के लिए सुविधाएं स्थापित करना है।

एजेन्सी का प्रधान कार्यालय वियना (आस्ट्रिया) में है। इसका संगठन इस प्रकार है—एक सामान्य सभा, गवर्नर बोर्ड तथा कर्मचारी संगठन जिसका अध्यक्ष महानिदेशक होता है। सामान्य सभा में समस्त एजेन्सी के सदस्य होते हैं। इसका अधिवेशन प्रति वर्ष नियमित रूप से होता है। सामान्य सभा एजेन्सी की नियमावली की अधिकार-परिधि के अन्तर्गत किसी भी मामले पर विचार कर सकती है। गवर्नर बोर्ड में २३ सदस्य होते हैं जो एजेन्सी के काम को चलाते हैं।

(१४) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corporation–IFC)

संसार के अविकसित देशों को आर्थिक विकास के लिए अधिक मात्रा में वित्तीय सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम को स्थापित करने का विचार सर्व प्रथम विश्व बैंक द्वारा बनायी गयी उस रिपोर्ट में व्यक्त किया गया था जो १९५२ में संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक व सामाजिक परिषद को प्रस्तुत की गयी था। तत्पश्चात वर्षों के विचार के बाद अन्त में जुलाई १९५६ में इस वित्त निगम की स्थापना हुई।

सदस्यता और संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व बैंक के सहायक के रूप में कार्य करता है। निगम के चार्टर के अनुसार विश्व बैंक का प्रत्येक सदस्य, जो अपनी सरकार का प्रतिनिधित्व करता है निगम की गवर्नर परिषद का भी सदस्य बन सकेगा। विश्व बैंक का अध्यक्ष जो बैंक की कार्यकारी संचालक परिषद का सभापति होता है वित्त निगम की संचालक परिषद का भी सभापति होता है।

निगम का अलग अस्तित्व है और इसकी सभी परिसम्पत्ति विश्व बैंक की परिसम्पत्ति से अलग रखी जाती है। यह विश्व बैंक से ऋण नहीं ले सकता है। इसका अपना अलग कर्मचारी होता है जो इसके सभी कार्यों के लिए जिम्मेदार होता है।

पूंजी उद्देश्य एवं कार्य आदि—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूंजी ११० मिलियन डालर है।

निगम का उद्देश्य सदस्य देशों में विशेष रूप से कम विकसित देशों में व्यक्तिगत क्षेत्र में ऋण प्रदान करके उत्पादक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देकर आर्थिक विकास के अंतिम कार्य को सरल बनाना है। इस मूल उद्देश्य को निगम निम्नलिखित प्रकार पूरा करने का प्रयत्न करता है—

(१) उस स्थिति में जब व्यक्तिगत पूंजी पर्याप्त मात्रा में उद्योग को सुचारु रूप से चलाने के लिए उचित शर्त पर प्राप्य नहीं है अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम सदस्य देशों में व्यक्तिगत निवेशकर्ताओं के साथ व्यक्तिगत उत्पादक उद्योगों में सदस्य देश की सरकार द्वारा पूंजी अथवा ऋण के भुगतान की किसी भी प्रकार की गारन्टी दिये बिना निवेश (Investment) करता है।

(२) निगम निवेश अवसरों ऐसे व्यक्तिगत पूंजी जो निवेश अवसरों की खोज में है तथा अनुभवी प्रबन्ध के बीच सूचना गृह का कार्य करके अर्ध विकसित देशों में पूंजी के निवेश संभव बनाता है।

(३) देशी तथा विदेशी व्यक्तिगत पूंजी के उत्पादक निवेश को प्रोत्साहित करने में सहायता देकर अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम अविकसित देशों के आर्थिक विकास काम में उचित सहायता प्रदान करता है।

निगम का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन डी सी में है। अपनी स्थापना के समय से लेकर ३१ दिसम्बर १९६६ तक निगम ने ३४ सदस्य देशों में विभिन्न व्यवसायों की स्थापना और विकास के लिए लगभग १८० मिलियन डालर धनराशी के १०९ ऋण तथा निवेश दिये थे। भारत में इसने १ ८६४ मिलियन डालर राशि के उद्योगों में निवेश (Investments) किये हैं।

अन्य संगठन—उपरोक्त संगठनों के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी अन्तर सरकारी नागरिक समाहकार संगठन आदि अनेक अन्य दूसरे संगठन भी कार्य कर रहे हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा कुछ गैरसरकारी संगठनों को मान्यता दी गयी है जो प्रधानतः इस प्रकार से हैं—

(i) अमरिका का श्रमिक संघ जिसकी संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों व कार्यों में मौलिक रूचि है।

(ii) कई अन्य संगठन जो भी संयुक्त राष्ट्र संघ के कुछ कार्यों से सम्बन्धित हैं जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए कारनेगी स्थायी दान कोष (Carnegie Endowm nt for Int rnational Peace) अन्तर्राष्ट्रीय चर्च आयोग (Commis ion of the Chur hes on International Aff airs), अन्तर्राष्ट्रीय रैड क्रॉस समिति लोकतन्त्रीय युवक विश्व संघ (World Federation of Democr tic youth) और विश्व यहूदी संगठन (World Jewi h Congre s)।

(iii) कुछ इस प्रकार के संगठन जिनका सम्बन्ध विश्व में स्वस्थ जनमत का निर्माण करने और उसका प्रचार करने से है जैसे माध्यमिक अध्यापक विश्व संघ अन्तर्राष्ट्रीय रोटरी क्लब आदि।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने राजनीतिक क्षेत्र की अपेक्षा आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में अपनी विभिन्न एजेन्सियों द्वारा अधिक सराहनीय कार्य किया है। इन कार्यों के मूल्यांकन में कहे गये एक राज्याध्यक्ष के ये शब्द निश्चय ही उपयुक्त हैं—

'संयुक्त राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण और राजनीतिक कार्यों का बरामोद तो अभी भ्रमणों ही में रहा है जबकि इसकी विशेष संस्थाओं की

सीकी सहायता और सहयोग का कछुआ अपनी धीमी चाल से बहुत आगे गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्भव और विकास इसके विभिन्न अंगों चार्टर संशोधन राष्ट्र संघ से इसकी तुलना इसकी कमजोरियां और उन्हें दूर के इसे शक्तिशाली बनाने के उपायों तथा इसकी विशिष्ट एजेन्सियों एवं कार्यों पर सविस्तार विचार करने के उपरान्त अगले अध्याय में हम संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति की दिशा में किये गये विभिन्न राजनीतिक यों और संघ की सफलताओं तथा असफलताओं और उसके मूल्यांकन आदि र आलोचनात्मक प्रकाश डालेंगे।

EXERCISES

1 Give an account of the organisation and functions of the United Nations Organisation

संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन तथा उसके कार्यों का विवरण दीजिये।

2 Describe the Composition and powers of the Security Council of the U N Discuss its Voting procedure.

संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के संगठन और उसकी शक्ति का वर्णन कीजिए। इसकी मतदान प्रणाली की विवेचना कीजिए।

3 Discuss the importance and the working method of the Security Council of the United Nations organisation with special reference to the Veto Would you advocate the abolition of the Veto as a means of making the U N more effective ?

निषेधाधिकार को विशेषतः स्पष्ट करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद के महत्व तथा कार्य प्रणाली की विवेचना कीजिये। क्या आप संयुक्त राष्ट्र संघ को और भी प्रभावशाली बनाने के लिये निषेधाधिकार को समाप्त करने का अनुमोदन करेंगे ?

4 "Lack of Unanimity of the five great powers has paralysed the system of collective security established in the charter and has prevented or at least hampered the exercise of other important functions of the U N organisations " Discuss.

"पाँच महान् शक्तियों में एकता के अभाव ने चार्टर में स्थापित सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को पंगु बना दिया है अथवा कम से कम संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के प्रयोग को बाधित कर दिया है या रोक दिया है।" विवेचना कीजिए।

5 Nothing has done more to lessen public confidence in the United Nations than the frequent use or disabuse, of the Veto in the Security Council" (Palmer and Perkins). Discuss.

"किसी भी बात ने संयुक्त राष्ट्र में लोक विश्वास को कम करने में इतना योग नहीं दिया है जितना कि सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार के बार-बार उपयोग अथवा दुरुपयोग ने।" विवेचना कीजिए।

6 How far the Veto power in the Security Council of the U N heen exercised so far ? Do you favour the retention of this power and if so with what modification ?

अब तक सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार का कहां तक उपयोग किया गया है ? क्या आप इस अधिकार को रखे जाने के पक्ष में हैं यदि हां तो किन परिवर्तनों के साथ ?

7 Describe the machinery for international supervision over backward areas under the League of Nations and the U N In what respects if any would you regard the Charter provisions as an improvement upon the mandate system ?

राष्ट्र संघ एवं संयुक्त राष्ट्रसङ्घ के अन्तर्गत अविकसित प्रदेशों की अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण प्रणाली का विवरण दीजिये। किस दृष्टिकोण से आप चार्टर व्यवस्था को राष्ट्र संघ की व्यवस्था से यदि है तो श्रेष्ठ समझते हैं।

8 Discuss the statement that "The International trusteeship is no mere prolongation of the mandate system under the League of Nations. It is a new system of international supervison. Its scope is wider its power broader and its potentialities are greater than those of the mandate system."

इस कथन की विवेचना करिये कि "अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति राष्ट्र संघ की समादेश प्रणाली का केवल विकास मात्र ही नहीं है यह अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की एक नवीन पद्धति है। इसका क्षेत्र अधिक विस्तृत है इसकी शक्ति अधिक व्यापक है तथा इसकी सम्भावना समादेश पद्धति की अपेक्षा अधिक है।'

How far is the U N Trusteeship system is an improvement upon the mandate system ?

क्या आप संयुक्त राष्ट्र सङ्घ की न्यास पद्धति को राष्ट्र सङ्घ की समादेश पद्धति की अपेक्षा अधिक सुविकसित समझते हैं ?

Describe the constitutions, functions and objectives of the Economic and Social Council and assess its contribution to international co-operation.

आर्थिक और सामाजिक परिषद् की रचना कार्यों और उद्देश्यों का

वर्णन कीजिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में इसका योगदान को आंकिये ।

11 "It has not only provided a forum but it h shown itself capable of taking decisions. (L M. Good rich and L Hambro) in the light of this statement discuss the role of the General Assembly of the U.N

"इसने न केवल वाद विवाद के लिए एक रंगमंच प्रदान किया है बल्कि अपने आप को निर्णय लेने में समर्थ भी सिद्ध किया है। इस कथन के प्रकाश में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की समीक्षा कीजिए ।

12. It is not a policy forming body but rather a special Committee designed to promote and to carry on the practical work of International Economic and Social Co-operation without detracting from the ultimate responsibility to the General Assembly in the matter (Charles G Fenwick) Discuss

"आर्थिक और सामाजिक परिषद् कोई नीति निर्धारण की संस्था नहीं है बल्कि एक विशिष्ट समिति के समान है जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग के व्यावहारिक काम करना है। विवेचना कीजिए ।

13 Describe the machanism for collective Security under the charter of the United Nations and show how it differs from the collective security system under the Covenant of the League of Nations.

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा का वर्णन कीजिए और बताइये कि राष्ट्र संघ के संविदा या प्रतिज्ञापत्र के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा व्यवस्था से यह कहाँ तक भिन्न है ।

14. Describe the composition and powers of the Security Council of U N To what extent it is better qualified to establish world peace than the Council of the League of Nations ?

संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद् के संगठन और उसकी शक्तियों का वर्णन कीजिए । राष्ट्र संघ की परिषद् की अपेक्षा विश्व शांति की स्थापना की दिशा में यह कहाँ तक श्रेष्ठतर है ?

Write an essay on International Court of Justice.
अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय पर एक निबन्ध लिखिये ।

16. How is the Charter of United Nations considered an improvement on the Covenant of the League of Nations ?

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर राष्ट्र संघ के समझौता का संशोधन कैसे है ?

Or

Compare and contrast the Charter of the U N with that of the Covenant of the League of Nations. In what respect the Charter is an improvement on the Covenant ?

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर और राष्ट्र संघ के संविदा या प्रतिज्ञापत्र की तुलना कीजिए। चार्टर किन दृष्टियों से संविदा पर एक सुधार है ?

17 Give the most important provisions in the Charter of United Nations that need revision.

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की उन मुख्य व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिये जिनमें परिवर्तन होना आवश्यक है।

18 What are the weak points of the United Nations ? *Give suggestions for strengthening the U N*

संयुक्त राष्ट्र संघ की कमजोरियाँ क्या हैं ? संघ को शक्तिशाली बनाने के सुझाव दीजिये।

19 What is the provision for the amendment of the Charter of the U N ? On what points, in your view is the amendment necessary ?

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में संशोधन का क्या प्रावधान है ? आपकी दृष्टि में किन मुख्य बातों पर संशोधन आवश्यक है ?

20 Describe in brief the objectives, functions and achievements of I LO

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के उद्देश्यों, कार्यों और उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

21 Describe in brief the objectives, functions and achievements of UNESCO

यूनेस्को के उद्देश्यों, कार्यों और उपलब्धियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

21 Write short notes on any three of the following —
(a) The Covenant on Human Rights, (b) Technical Assistance, (c) Optional Clause (d) Trusteeship, (e) Little Assembly of the United Nations, (f) Universal Declaration of Human Rights (g) International Court of Justice, (h) Uniting for Peace Resolution, (i) Food and agriculture Organisation, (j) International Monetary Fund, (k) The International Bank for

Reconstruction and Development, (l) The International Civil Aviation Organization, (m) The World Health Organization, (n) The International Refugee Organization, (o) The International Maritime Consulative Organization (p) The Universal Postal Union, (q) The International Tele-communications Union, (r) The World Meterological Organization.

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

[a] मानव अधिकारों का संविदा [b] तकनीकी सहायता [c] ऐच्छिक धारा [d] न्यास व्यवस्था [e] संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा [f] मानव अधिकारों का सार्वभौमिक घोषणा पत्र [g] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष [h] शांति की एकता का प्रस्ताव [i] खाद्य और कृषि संगठन [j] अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष [k] पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक [l] अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन [m] विश्व स्वास्थ्य संगठन [n] अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन [o] अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र परामर्श संगठन [p] विश्व डाक संघ [q] अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ [r] विश्व अन्तरिक्ष ऋतु विज्ञान संघ।

—•—

४

संयुक्त राष्ट्र संघ-विश्व शांति में भूमिका

(क्रमशः)

(THE U.N.O. : ITS ROLE IN WORLD PEACE)

१ संघ के सम्मुख प्रस्तुत विवाद

कोरिया-वियतनाम, फिलस्तीन, इण्डोनेशिया, कोरफू-चैनल, ट्रीस्टे, एंग्लो-ईरानियन तेल, बर्मा में चीनी सेनाएँ, अमेरिका के इल्जाम, मोरक्को तथा ट्यूनिस, दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार, कश्मीर, स्वेज नहर, हंगरी, अल्जीरिया, कांगो, पश्चिमी इरियन, यू-२ विमान काण्ड, आर. बी-४७ विमान काण्ड, लैन, साइप्रस समस्या, क्यूबा संकट, डोमिनिकन गणराज्य, भारत-पाकिस्तान संघर्ष, संघ में चीन का प्रवेश, आदि विवाद।

२ संघ अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर
३ संघ-विश्व सरकार की ओर एक कदम
४ संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं संहिताकरण
५ संघ द्वारा मानव-अधिकारों की रक्षा
६ संघ—एक मूल्यांकन

'संयुक्त राष्ट्र संघ की मुख्य विशेषता यह है कि वह राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें उतना ही अधिक अच्छा है क्योंकि इतने समय तक युद्ध टल जाता है।'

—डा० राल्फ बुंच

"हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई बार हमारे बार-बार उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणत होने से बचाया है।"

—पं० जवाहरलाल नेहरू

संयुक्त राष्ट्र संघ—विश्व शांति में भूमिका
(The U N O Its Role in World peace)

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुए पूरे 50 वर्ष गुजर चुके हैं। इस काल के दौरान इसने कई महत्वपूर्ण काम किये हैं व यद्यपि संतोष की सीमा से दूर है फिर भी उपयोगिता की दृष्टि से उसे नजरअंदाज नहीं किया जा सकता। संयुक्त राष्ट्र संघ मूल रूप से संसार को युद्ध विहीन बनाना चाहता। मानवता उन बुरे परिणामों को पुनः भुगतने के लिए मजबूर न हो जिन्हें वह विगत दो महायुद्धों द्वारा भुगत चुकी है। इसके लिए संघ ने निषेधात्मक और विधेयात्मक दोनों ही रूपों में कार्य किया है। यह मूल मानवाधिकारों में व्यक्ति के व्यक्तित्व व सम्मान में, पुरुषों एवं स्त्रियों व छोटे एवं बड़े राष्ट्रों के समान अधिकारों में विश्वास जागृत करने का प्रयत्न करता है तथा विश्व में ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करता है कि प्रत्येक देश अन्तर्राष्ट्रीय संधियों और कानूनों से उत्पन्न होने वाले दावों का न्याय एवं शान्ति के साथ पालन कर सके।

प्रत्येक व्यक्ति उसकी स्वतन्त्रता को निर्बाध प्रयोग कर सके—इसके लिए संघ समाज-विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने में काफी हाथ बंटाता है। संघ के इन सभी लक्ष्यों के बीच सामञ्जस्य है। जब तक विश्व से युद्धों का निराकरण करके शांति एवं सहयोगपूर्ण वातावरण नहीं बनाया जायेगा तब तक उन लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा करना और पिछड़े वर्गों का आर्थिक विकास करना संभव नहीं हो सकता। यह एक तथ्य है कि गरीबी हीनता वमन असमानताएं संकुचित दृष्टिकोण आदि प्रायः युद्धों का कारण बन जाया करते हैं। जब तक इन मूल कारणों को दूर नहीं किया जाय युद्ध की संभावना बनी ही रहती है। इसीलिए, विश्व शांति के लिए एक उत्तरदायी संस्था होने के नाते संयुक्त राष्ट्र संघ विभिन्न प्रकार के अनेक कार्य करता है जिनका प्रमुख लक्ष्य होता है—

प्रथम राष्ट्रों के मध्य उत्पन्न होने वाले सीमा सम्बन्धी या अन्य प्रकार के राजनीतिक विवादों को दूर करना ताकि वे विश्व युद्ध या अशांति का कारण न बन जायें।

दूसरा युद्ध की प्रेरणा देने वाले तथा युद्ध को विध्वंसक बनाने वाले कारणों को समाप्त करना उदाहरणार्थ निःशस्त्रीकरण की योजना बनाना व क्रियान्वित करना।

तीसरा विश्व से आर्थिक व सामाजिक असमानता को मिटा कर पिछड़े देशों के लोगों को भी इतना समर्थ बना देना कि उनकी शक्तिहीनता सशक्त देशों को युद्ध एवं साम्राज्यवाद की ओर प्रवृत्त न कर सके।

चौथे विश्व सरकार की स्थापना की ओर कदम बढ़ाना ताकि संसार में स्थायी रूप से शांति एवं व्यवस्था कायम की जा सके।

संयुक्त राष्ट्र संघ उपरोक्त सभी लक्ष्यों की पूर्ति के लिए कार्य करता रहा है। इसने अधिकाधिक लोगों की राष्ट्रीयता की भावना को गौण बना कर उनमें विश्व बन्धुत्व एवं अन्तर्राष्ट्रीयता के भाव भरने का उदार लक्ष्य अपनाया है। इसमें मिलने वाली सभाएं लोगों के दिलों को विश्व सहयोग की दिशा में आकृष्ट करती हैं। इसके सचिवालय एवं अन्य अंगों में काम करने वाले नागरिक सेवाओं के कर्मचारियों से यह आशा की जाती है कि वे किसी देश विशेष के प्रति अपने मन में पक्षपात व विरोध न रख कर संघ के स्वामि भक्ति रखेंगे तथा अन्तर्राष्ट्रीय रूप से ही सोचेंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने सराहनीय प्रयासों एवं विविध कार्यों द्वारा कई बार युद्ध को टाला है कई बार उसे कठिन बना दिया है तथा कई बार उसे अनुपयोगी सिद्ध कर दिया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जो गैर राजनीतिक अर्थात् सामाजिक आर्थिक एवं सांस्कृतिक कार्य किये जाते हैं, उनका सम्पादन यह अपनी विशिष्ट एजेन्सियां—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन खाद्य एवं कृषि संगठन अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम विश्व स्वास्थ्य संघ यूनेस्को आदि के द्वारा करता है। इन सभी एजेन्सियों अथवा संगठनों या संस्थाओं के उद्देश्यों एवं कार्यों आदि पर पूर्ववर्ती अध्याय में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अतः प्रस्तुत अध्याय में हमारे अध्ययन का विषय संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किये जाने वाले राजनीतिक कार्य अथवा संघ के समक्ष उपस्थित होने वाली राजनीतिक समस्याएं होंगी।

संघ के सम्मुख प्रस्तुत विवाद

२० वर्ष की अपनी अल्पावधि में इस विश्व संस्था के समक्ष छोटे बड़े अनेक राजनीतिक विवाद प्रस्तुत हुए हैं जिनका समाधान करने में कहीं इसे उल्लेखनीय सफलता मिली है, कहीं महाशक्तियों की अड़ंगे-बाजियों के फलस्वरूप कुछ विवादों में इसे गम्भीर रूप से पराजित होना पड़ा है लड़खड़ाना पड़ा है। अपनी स्थापना के बाद से लेकर संघ के समक्ष अब तक निम्नलिखित समस्याएं उपस्थित हुई हैं—

१ रूस-ईरान विवाद
२ यूनान विवाद
३ बर्लिन समस्या
४ कोरिया का संकट
५ सीरिया-लेबनान समस्या
६ फिलस्तीन का विभाजन
७ इण्डोनेशिया का विवाद
८ कोरफू चैनल विवाद
९ ट्रीस्टे का विभाजन
१० एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद
११ बर्मा में चीनी सेनाएं
१२ संयुक्त राज्य अमेरिका के हवाबाजों सम्बन्धी विवाद
१३ मोरक्को तथा ट्यूनिस सम्बन्धी विवाद

१४ दक्षिणी अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न
१५ काश्मीर विवाद
१६ स्वेज नहर विवाद,
१७ हंगरी विवाद
१८ अल्जीरिया विवाद,
१९ कांगो की समस्या (१९६० में संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष उपस्थित सबसे जटिल समस्या थी और राजनीतिक पर्यवेक्षकों का कथन था कि इस समस्या के समाधान पर ही संयुक्त राष्ट्र संघ का भविष्य बहुत कुछ निर्भर करता है।)
२० पश्चिमी इरियन की समस्या
२१ यू-२ विमान की घटना
२२ आर. बी.-४७ विमान काण्ड
२३ स्पेन का प्रश्न
२४ लाओस की समस्या
२५ यमन की समस्या
२६ क्यूबा की समस्या
२७ साइप्रस की समस्या
२८ डोमिनिकन गणराज्य विवाद
२९ अरब इजरायल संघर्ष
३० संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश की समस्या।

अब हम एक-एक करके इन सभी विवादों और संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इनके समाधानार्थ किये गये प्रयत्नों का आलोचनात्मक वर्णन करें।

(१) रूस-ईरान विवाद

(Soviet-Iran Dispute)

संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष प्रस्तुत किया जाने वाला यह प्रथम विवाद था। ईरान के एक प्रान्त आजरबाइजान (Azrbizan) में सोवियत रूस की फौजें घुसी हुई थीं। १९ जनवरी १९४६ को ईरान की सरकार ने सुरक्षा परिषद में इसके विरुद्ध शिकायत की। उसमें रूसी सरकार पर ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया और परिषद से प्रार्थना की कि ईरानी प्रान्त में रूसी सेनाओं की उपस्थिति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा कर सकती है अतः परिषद इस पर विचार करे। ईरान की सरकार चाहती थी कि पूर्व समझौते के अनुसार युद्ध समाप्त हो जाने पर सोवियत सेनाएँ ईरान की भूमि पर से हटकर अपनी सीमाओं के अन्दर चली जायें।

सुरक्षा परिषद में पश्चिमी गुट के राज्यों ने ईरान का प्रबल समर्थन किया। ब्रिटिश विदेशमन्त्री बेविन द्वारा ईरान की शिकायत को पूरी तरह से उचित बताया गया। ईरानी पक्ष का कहना था कि सोवियत सशस्त्र सेनाएँ महायुद्ध के उपरान्त भी ईरान के प्रदेशों पर अधिकार कर रही हैं और रूस

की यह कार्यवाही २९ जनवरी १९४२ को ब्रिटेन, रूस एवं ईरान के मध्य हुए त्रिराष्ट्रीय समझौते और अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन है। सोवियत प्रतिनिधि आन्द्रे विशिन्स्की (Vishinsky) ने ईरान के आरोपों से इन्कार किया और कहा कि आजरबायजान में होने वाली घटनाएं ईरान राज्य की सीमाओं में प्रजातन्त्र राज्य की लोकप्रिय भावनाओं के कारण हो रही हैं। सोवियत प्रतिनिधि ने समस्या पर विचार-विमर्श करने से इन्कार करते हुए यह मांग की कि यदि सोवियत रूस की सेनाओं को ईरान खाली करने के लिए कहा जाता है तो ब्रिटेन की जो फौजें यूनान में विद्यमान हैं उन्हें निकालने की समस्या भी सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत किया जाय।

ईरान के विवाद को लेकर स्पष्ट ही झगड़ा दो गुटों का हो गया— पश्चिमी गुट और रूसी गुट। ब्रिटिश विदेश मंत्री बेविन और सोवियत प्रतिनिधि विशिन्स्की में बड़ी जोरदार झड़पें हुईं, तू-तू मैं-मैं हुआ और वातावरण बहुत ही क्षुब्ध हो गया। सुरक्षा परिषद के कार्य का इस विवाद के साथ ही ग्राम्भ होना वस्तुतः शुभ नहीं था।

रूस ने यह मत दिया कि वह ईरानी सरकार के साथ प्रत्यक्ष वार्ता करना पसन्द करेगा। अतः परिषद ने भी दोनों सम्बन्धित देशों को सीधी बातचीत का तथा उसमें हुई प्रगति से परिषद को सूचित करने का सुझाव दिया। तदनुसार एक ईरानी प्रतिनिधि-मण्डल मास्को गया और उसने सोवियत संघ से प्रार्थना की कि वह ईरान के आन्तरिक क्षेत्र में हस्तक्षेप न करे और आश्वासन दे कि सोवियत सेनाएं ईरानी प्रदेश से शीघ्र हटा ली जायेंगी। सोवियत रूस इस प्रार्थना पर सहमत नहीं हुआ और उसने ईरानी मांग के प्रत्युत्तर में निम्नलिखित सुझाव पेश किये—

१. सोवियत सेनाओं की अनिश्चित काल के लिए ईरान में स्थिति
२. आजरबायजान की आन्तरिक स्वतंत्रता की स्वीकृति तथा
३. सोवियत-ईरानी संयुक्त तेल की कम्पनी की स्थापना।

ईरान ने सोवियत संघ की मांगों को अस्वीकार कर दिया और १९ मार्च को सुरक्षा परिषद में पुनः शिकायत की कि सोवियत रूस भेदियों तथा प्रतिनिधियों के माध्यम से ईरान के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है और उसने अभी तक ईरान की सीमा में अपनी सेनाएं बना रखी हैं। ईरान ने चार्टर की धारा ३५ की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए सुरक्षा परिषद द्वारा विवाद का तुरन्त न्यायपूर्ण निपटारा" कराये जाने की प्रार्थना की। परिषद ने मामले पर बहस करना स्वीकार कर लिया। रूसी प्रतिनिधि ने विरोध प्रकट किया कि सम्बन्धित आरोप अ प्रेषों के कहने पर लगाया गया है अतः वह बहस में भाग नहीं लेगा। रूस के वाक आउट कर जाने पर परिषद ने ४ अप्रेल १९४६ को अपनी बैठक में यह निर्णय लिया कि विवाद को ६ मई तक विचाराधीन रखा जाय। सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको ने परिषद से मांग की कि इस प्रश्न को परिषद् की कार्य-सूची से हटा दिया जाना चाहिए। लेकिन इस मांग को स्वीकार नहीं किया गया। परिषद् ने सोवियत संघ से प्रार्थना की कि वह ६ मई, १९४६ तक ईरान से अपनी सेनाएं वापिस बुला ले। इस बीच ईरान और रूस के मध्य सम्मिलित तेल कम्पनी

का समझौता हो गया और महासचिव ने बताया कि परिषद् को अब इस प्रश्न पर विचार करने का अधिकार नहीं रहा है। २१ मई, १९४६ को तेहरान तथा मास्को ने यह घोषणा की कि सोवियत सेनाएँ ६ मई को ही ईरान खाली कर चुकी हैं। इस तरह ईरानी समस्या का हल स्वतः ही सफलतापूर्वक हो गया। यद्यपि प्रश्न परिषद् की कार्य-सूची पर बना रहा किन्तु उसे इस दिशा में आगे कोई कदम उठाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ी।

ईरानी संकट का हल सुरक्षा परिषद् की पहली बड़ी सफलता थी। इस प्रश्न को सुलझाने में यद्यपि सुरक्षा परिषद् द्वारा की गई किसी विशेष कार्यवाही का हाथ नहीं था किन्तु परिषद में हुई बहसों ने समस्या पर प्रबल लोकमत का आयुन कर दिया। इस विवाद से सम्पूर्ण विश्व को यह ज्ञात हो गया कि सोवियत सेनाएँ आजरबाइजान में तेहरान की इच्छा के विरुद्ध ठहरी हुई हैं जबकि यूनान में ब्रिटिश फौजें एथेन्स के निमन्त्रण पर गई हैं। दोनों स्थितियों में यह महत्वपूर्ण अन्तर स्पष्ट हो जाने से विश्व लोकमत निश्चित रूप से सोवियत विरोधी हो गया और रूस ने अनिच्छापूर्वक अपनी सेनाएँ ईरानी भूमि से हटा लेना ही उचित समझा। डलेस (Dulles) के मतानुसार इस घटना द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि जैसे चोर को चाँदनी से डर लगता है वैसे ही आक्रमण करने वाले राज्य को भी संघ में उसके विरुद्ध होने वाली बहसों एवं बदनामी से डर लगता है।* वस्तुतः कई बार लोकमत सैनिक कार्यवाही से अधिक प्रभावशाली होता है। स्टालिन ने एक बार राष्ट्र संघ के बारे में यह कहा था "अनेक दुर्बलताओं के होते हुए भी यह एक ऐसे मंच का प्रयोजन भली भाँति पूरा करता है जहाँ आक्रान्ताओं की पोल खोली जा सके; इस प्रकार शान्ति स्थापना का दुर्बल साधन होते हुए भी यह युद्ध छिड़ने को रोक सकता है। स्टालिन का यह कथन ईरान के संकट में सोलह आने सही सिद्ध हुआ।

सुरक्षा परिषद् में ईरान की माँग पर बहस करते समय सोवियत रूस द्वारा वाक आउट कर जाने सम्बन्धी घटना पर यह प्रश्न स्वाभावतः मन में उठता है कि रूस निषेधाधिकार (Veto Power) के प्रयोग द्वारा समस्या को परिषद् में खत्म कर सकता था फिर उसने ऐसा क्यों नहीं किया। इसका उत्तर यह है कि वाद-विवाद को रोकने के बारे में उसे निषेधाधिकार को प्रयुक्त करने का अधिकार नहीं था। दूसरे शब्दों में वह प्रश्न पर मतदान लेने के समय ही अपने निषेधाधिकार का प्रयोग कर सकता था। अतः इसका परिणाम यह हुआ कि बहसों द्वारा रूस को अपने विरोधी विश्व लोकमत का स्पष्ट ज्ञान हो गया और वह ईरान से हट गया। उस समय रूस में इतना साहस न था कि वह विश्व के जनमत की खुल कर उपेक्षा कर सकता। रूस ने केवल मात्र जनमत के दबाव से ही ईरान में अपना हस्तक्षेप खत्म नहीं किया अन्यथा उस समय संयुक्त राष्ट्र संघ के पास इतनी पर्याप्त सैनिक शक्ति नहीं थी कि रूस ईरान से हटने के लिए विवश किया जा सकता।

---

*"*Dulles John Foster* War or Peace, students edition, p.43

(२) यूनान विवाद
(Greece Dispute)

१ जनवरी १९४६ को सोवियत रूस ने सुरक्षा परिषद् के सम्मुख यह शिकायत प्रस्तुत की कि महायुद्ध के समाप्त हो जाने के उपरान्त भी ब्रिटिश फौजें यूनानी भू प्रदेश पर विद्यमान हैं और यह उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना है तथा इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा हो रहा है। रूस ने आरोप लगाया कि विरोधी तत्त्वों से सहायता प्राप्त साम्राज्यवादी फासिस्ट संस्थाओं की हलचलों ने यूनान में आतंकवादी राज्य को प्रोत्साहन दिया है।

वस्तुस्थिति यह थी कि यूनान में साम्यवादी गुरिल्ले बल्गेरिया, अल्बानिया और युगोस्लाविया आदि साम्यवादी देशों से प्रोत्साहन पाकर अशांति तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे और ब्रिटिश फौजें वहाँ यूनानी सरकार की सहायता के लिए थीं।

अतः जब रूस द्वारा सुरक्षा परिषद् में ब्रिटिश फौजों की यूनान में अवांछित उपस्थिति की शिकायत की गयी तो यूनानी सरकार ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि ब्रिटिश सेनाएँ उसके आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर रही थीं और न ही वहाँ कोई किसी प्रकार का तनाव ही था। यूनानी प्रतिनिधि ने बताया कि यूनानी जनता उनके देश में स्थित ब्रिटिश सैनिक दस्तों की उपस्थिति को शान्ति-व्यवस्था तथा सभी के लिए समान अधिकारों की प्राप्ति और साधारण राजनीतिक स्थिति के लिए अनिवार्य समझती है। जिस देश के हितों की रक्षा के लिए सोवियत रूस ने शिकायत की थी उस देश के द्वारा ही शिकायत को अनुचित करार देने का परिणाम यह हुआ कि ६ फरवरी १९४६ को सुरक्षा परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय कर लिया।

अगस्त १९४६ में यूक्रेन (Ukraine) के प्रतिनिधि ने मामले को पुनः सुरक्षा परिषद् में उठाया और उससे बाल्कन प्रदेश में उठ खड़ी हुई संकटापन्न स्थिति पर विचार करने को कहा। इस मामले पर अनेक प्रस्ताव रखे गये किन्तु उनके समर्थन में पर्याप्त मत प्राप्त न होने से उनमें से कोई भी पारित न हो सका।

इसी मध्य यूनान में ब्रिटिश सरकार ने यह अनुभव किया कि साम्यवादी छापामार दस्तों को काबू में करने का कार्य वह अकेला नहीं कर सकता। अतः उसने अमेरिका से इस विषय में सहायता माँगते हुए कहा कि यदि अमेरिका सहायता के लिए आगे न आया तो यूनान, टर्की और मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव बढ़ जायगा। दूसरी ओर दिसम्बर १९४६ में यूनान ने सुरक्षा परिषद् से यह शिकायत प्रस्तुत की कि पड़ौसी साम्यवादी राज्य छापामारों को सहयोग दे रहे हैं और इससे यूनान तथा उन देशों के बीच तनाव पैदा हो रहा है। इस पर सुरक्षा परिषद् की ओर से एक जाँच आयोग नियुक्त किया गया। अमेरिका ने भी यूनान पर साम्यवादियों के नियन्त्रण के सम्भावित परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए, यूनान में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। १२ मार्च १९४७ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस के एक भाषण में

यूनान और टर्की को सहायता देने की घोषणा की जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से दी जानी थी। कांग्रेस को अपने संदेश में ट्रूमैन ने प्रस्तावित किया कि "अन्तर्राष्ट्रीय शांति के आधारभूत तत्वों की उपेक्षा करते हुए एक सर्वाधिकारवादी शासनतन्त्र को स्वतन्त्र जनता पर लादने का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जो प्रयत्न किया जा रहा है उससे स्वयं अमेरिका की सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न हो जाता है। अतएव अमेरिका इस प्रकार के हस्तक्षेप का मुकाबला करने के लिए यूनान और टर्की को भी आवश्यक सहायता सुलभ करेगा।" ट्रूमैन की यही नीति आगे चलकर 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) के नाम से विख्यात हुई।

यूनान की शिकायत पर सुरक्षा परिषद् द्वारा जो जांच आयोग नियुक्त किया गया उसने २७ मई, १९४७ को यह रिपोर्ट दी कि साम्यवादी अल्बानिया बल्गेरिया और युगोस्लाविया से छापामार दस्तों की सहायता कर रहे हैं। लेकिन जब सुरक्षा परिषद् ने इस रिपोर्ट को आधार बना कर और आगे जांच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग करके यह प्रयत्न विफल कर दिया। इस पर १५ सितम्बर, १९४७ को यह प्रश्न सुरक्षा परिषद की कार्य-सूची में शामिल कर दिया गया।

महासभा में सम्बन्ध विचार पर बहुत ही उग्र वाद-विवाद हुआ और अन्त में २१ अक्टूबर १९४७ को छः के विरुद्ध ४० मतों से बाल्कन प्रदेश में निरीक्षण के लिए एक आयोग भेजने का निर्णय लिया गया। इस आयोग में सोवियत रूस और पोलैण्ड को भी स्थान दिया गया परन्तु उन्होंने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नियत आयोग यूनान गया परन्तु अल्बानिया बल्गेरिया और युगोस्लाविया ने इसे अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। फिर भी यूनान की उत्तरी सीमा पर रह कर आयोग ने वस्तुस्थिति का अध्ययन किया। कई बार तो आयोग के सदस्य छापामार लड़ाइयों में फंस गए। इस जांच में आयोग ने यह भली प्रकार देखा-सुना कि यूनानी साम्यवादी छापामारों को किसी सीमा तक अल्बानिया बल्गेरिया और युगोस्लाविया से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सैनिक सहायता तथा आश्रय मिलता है चूंकि आयोग का निरीक्षण काम समाप्त नहीं हुआ अतः १९४८ की पतझड़ ऋतु में महासभा ने आयोग की अवधि एक वर्ष के लिए और बढ़ा दी। १९४८ में ही महासभा ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि यूनानी छापामार सैनिकों को किसी प्रकार की बाह्य सहायता नहीं दी जानी चाहिए। १९४९ में आयोग का कार्य काल पुनः आगे बढ़ाया गया।

महासभा में हुए वाद-विवाद के दौरान रूस ने इस बात का हर सम्भव प्रयास किया कि यूनान को मिलने वाली अमेरिकी आर्थिक और सैनिक सहायता बन्द हो जाय लेकिन उसका यह प्रयत्न व्यर्थ गया और महासभा ने एक प्रकार से 'ट्रूमैन-सिद्धान्त' पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। अन्त में निम्नलिखित तीन कारणों से यूनान की समस्या का समाधान हो गया—

(२) यूनान विवाद
(Greece Dispute)

१ जनवरी १९४६ को सोवियत रूस ने सुरक्षा परिषद् के सम्मुख यह शिकायत प्रस्तुत की कि महायुद्ध के समाप्त हो जाने के उपरान्त भी ब्रिटिश फौजें यूनानी भू प्रदेश पर विद्यमान हैं और यह उस देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करना है तथा इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनाव पैदा हो रहा है। रूस ने आरोप लगाया कि विदेशी शस्त्रों से सहायता प्राप्त साम्राज्यवादी फासिस्ट संस्थाओं की हलचलों ने यूनान में आतंकवादी राज्य को प्रोत्साहन दिया है।

वस्तुस्थिति यह थी कि यूनान में साम्यवादी गुरिल्ले बल्गेरिया, अल्बानिया और युगोस्लाविया आदि साम्यवादी देशों से प्रोत्साहन पाकर अशांति तथा अव्यवस्था उत्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे थे और ब्रिटिश फौजें वहाँ यूनानी सरकार की सहायता के लिए थीं।

अतः जब रूस द्वारा सुरक्षा परिषद् में ब्रिटिश फौजों की यूनान में अवांछित उपस्थिति की शिकायत की गयी तो यूनानी सरकार ने सुरक्षा परिषद् को सूचित किया कि ब्रिटिश सेनाएँ उसके आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप नहीं कर रही थीं और न ही वहाँ कोई किसी प्रकार का तनाव ही था। यूनानी प्रतिनिधि ने बताया कि यूनानी जनता उनके देश में स्थित ब्रिटिश सैनिक दस्तों की उपस्थिति को शान्ति-व्यवस्था तथा सभी के लिए समान अधिकारों की प्राप्ति और साधारण राजनीतिक स्थिति के लिए अनिवार्य समझती है। जिस देश के हितों की रक्षा के लिए सोवियत रूस ने शिकायत दर्ज की उस देश के द्वारा ही शिकायत को अनुचित करार देने का परिणाम यह हुआ कि ६ फरवरी १९४६ को सुरक्षा परिषद् ने मामले की सुनवाई समाप्त करने का निश्चय कर लिया।

अगस्त १९४६ में यूक्रेन (Ukraine) के प्रतिनिधि ने मामले को पुनः सुरक्षा परिषद् में उठाया और उससे बाल्कन प्रदेश में उठ खड़ी हुई चिन्ताजनक स्थिति पर विचार करने को कहा। इस मामले पर अनेक प्रस्ताव रखे गये किन्तु उनके समर्थन में पर्याप्त मत प्राप्त न होने से उनमें से कोई भी पारित न हो सका।

इसी मध्य यूनान में ब्रिटिश सरकार ने यह अनुभव किया कि साम्यवादी छापामार दस्तों को काबू में करने का काम वह अकेला नहीं कर सकता। अतः उसने अमेरिका से इस विषय में सहायता माँगते हुए कहा कि यदि अमेरिका सहायता के लिए आगे न आया तो यूनान, टर्की और मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव बढ़ जायगा। दूसरी ओर दिसम्बर १९४६ में यूनान ने सुरक्षा परिषद् से यह शिकायत प्रस्तुत की कि पड़ोसी साम्यवादी राज्य छापामारों को सहयोग दे रहे हैं और इससे यूनान तथा उन राज्यों के बीच तनाव पैदा हो रहा है। इस पर सुरक्षा परिषद् की ओर से एक जाँच आयोग नियुक्त किया गया। अमरीका ने भी यूनान पर साम्यवादियों के नियन्त्रण के सम्भावित परिणामों को दृष्टिगत रखते हुए, यूनान में हस्तक्षेप करने का निर्णय लिया। १२ मार्च १९४७ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कांग्रेस के एक भाषण में

यूनान और टर्की को सहायता देने की घोषणा की जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सहयोग से दी जानी थी। कांग्रेस को अपने संदेश में ट्रूमैन ने प्रस्तावित किया कि "अन्तर्राष्ट्रीय शांति के आधारभूत तत्वों की उपेक्षा करते हुए एक सर्वाधिकारवादी शासनतन्त्र को स्वतन्त्र जनता पर लादने का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से जो प्रयत्न किया जा रहा है उससे स्वयं अमेरिका की सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा उत्पन्न हो जाता है। अतएव अमेरिका इस प्रकार के हस्तक्षेप का मुकाबला करने के लिए यूनान और टर्की को भी आवश्यक सहायता सुलभ करेगा। ट्रूमैन की यही नीति आगे चलकर ट्रूमैन सिद्धान्त (Truman Doctrine) के नाम से विख्यात हुई।

यूनान की शिकायत पर सुरक्षा परिषद् द्वारा जो जाँच आयोग नियुक्त किया गया उसने २७ मई, १९४७ को यह रिपोर्ट दी कि साम्यवादी अल्बानिया, बल्गेरिया और युगोस्लाविया से छापामार दस्तों की सहायता कर रहे हैं। लेकिन जब सुरक्षा परिषद् ने इस रिपोर्ट को आधार बना कर और आगे जाँच-पड़ताल करने का प्रयत्न किया तो सोवियत रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग करके यह प्रयत्न विफल कर दिया। इस पर १५ सितम्बर, १९४७ को यह प्रश्न सुरक्षा परिषद् की कार्य-सूची से खारिज कर दिया गया।

महासभा में सम्बद्ध विषय पर बहुत ही उग्र-वाद-विवाद हुआ और अन्त में २१ अक्टूबर १९४७ को छः के विरुद्ध ४० मतों से बाल्कन प्रदेश के निरीक्षण के लिए एक आयोग भेजने का निर्णय लिया गया। इस आयोग में सोवियत रूस और पोलैण्ड को भी स्थान दिया गया परन्तु उन्होंने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा नियत आयोग यूनान गया परन्तु अल्बानिया, बल्गेरिया और युगोस्लाविया ने इसे अपनी सीमाओं में प्रवेश की अनुमति नहीं दी। फिर भी यूनान की उत्तरी सीमा पर रह कर आयोग ने वस्तुस्थिति का अध्ययन किया। कई बार तो आयोग के सदस्य छापामार लड़ाइयों में फंस गये। इस जाँच से आयोग ने यह भली प्रकार देखा-सुना कि यूनानी साम्यवादी छापामारों को किसी सीमा तक अल्बानिया बल्गेरिया और युगोस्लाविया से प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सैनिक सहायता तथा आश्रय मिलता है। चूंकि आयोग का निरीक्षण कार्य समाप्त नहीं हुआ अतः १९४८ की पतझड़ ऋतु में महासभा ने आयोग की अवधि एक वर्ष के लिए और बढ़ा दी। १९४८ में ही महासभा ने यह प्रस्ताव स्वीकृत किया कि यूनानी छापामार सैनिकों को किसी प्रकार की बाह्य सहायता नहीं दी जानी चाहिए। १९४९ में आयोग का कार्यकाल पुनः आगे बढ़ाया गया।

महासभा में हुए वाद-विवाद के दौरान रूस ने इस बात का हर सम्भव प्रयास किया कि यूनान को मिलने वाली अमेरिकी आर्थिक और सैनिक सहायता बन्द हो जाय लेकिन उसका यह प्रयत्न व्यर्थ गया और महासभा ने एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त पर अपनी स्वीकृति की मोहर लगा दी। अन्त में निम्नलिखित तीन कारणों से यूनान की समस्या का समाधान हो गया—

(i) महासभा द्वारा नियुक्त आयोग की उपस्थिति में साम्यवादी देशों द्वारा पूर्ववत मात्रा में छापामारों को सहायता नहीं दी जा सकी।

(ii) युगोस्लाविया के मार्शल टीटो और रूस के स्टालिन के मध्य मतभेद बढ़ जाने से यूनानी छापामारों को युगोस्लाविया से मिलने वाली सहायता बन्द हो गयी।

(iii) संयुक्त राष्ट्र संघ के निरीक्षण में अमेरिका द्वारा यूनान को पूरी-पूरी आर्थिक एवं सैनिक सहायता दी जाने से तथा अपने स्वयं के प्रयासों से यूनानी सरकार ने न केवल साम्यवादी छापामारों पर काबू पा लिया बल्कि अपनी आर्थिक दशा भी सुधार ली।

इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ के सामयिक और साहसिक हस्तक्षेप से दक्षिणी यूरोप का एक महत्त्वपूर्ण देश साम्यवादी नियन्त्रण में जाते-जाते बच गया। ग्रीस की स्थिति सुधारने पर अमेरिका ने वहां से अपनी सेनाएं भी वापिस बुला लीं।

(२) बर्लिन की समस्या
(Berlin Issue)

पृष्ठभूमि—बर्लिन तथा जर्मनी के सम्बन्ध में जर्मनी के आत्मसमर्पण से पूर्व १९४४ व ४५ में अनेक सैनिक समझौते हुए थे। इन समझौतों के द्वारा उन्होंने यह तय किया था कि विजेता शक्तियां किन किन क्षेत्रों पर जर्मनी की हार के बाद अपना अस्थायी अधिकार करेंगे। २६ सितम्बर, १९४४ को प्रकाशित लन्दन प्रोटोकोल नामक समझौते में बर्लिन की प्रशासन-व्यवस्था के बारे में कहा गया था कि—

१ बर्लिन एक पृथक इकाई के रूप में रहेगा

२ सभी विजेता राष्ट्रों का बर्लिन-प्रशासन में संयुक्त रूप से [illegible]त्व होगा। यह संयुक्त व्यवस्था तब तक सक्रिय रहेगी जब तक कि [illegible]य में शांति संधि के अन्तर्गत जर्मनी को अपनी सरकार स्वयं चुनने का [illegible]कार नहीं मिल जाता एवं

३ बर्लिन पर अस्थायी रूप से अधिकार करने वाली शक्तियों का [illegible]-प्रवेश मार्ग प्राप्त होगा।

समझौते में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि बर्लिन का जर्मनी से [illegible] अथवा स्वतन्त्र अस्तित्व होगा अर्थात् जिन विभिन्न भागों में शेष [illegible] को विभाजित किया गया था उनमें से किसी भी क्षेत्र का भाग बर्लिन को नहीं माना जायगा। २६ जुलाई, १९४५ को फ्रांस द्वारा इस व्यवस्था में सम्मिलित हो जाने पर (पहले ब्रिटेन अमेरिका और रूस में यह व्यवस्था हुई थी) पश्चिमी जर्मनी का एक क्षेत्र उसे मिल गया और इसी तरह बर्लिन के एक अंश पर उसका भी अधिकार हो गया। जुलाई-अगस्त १९४५ के पोटसडम सम्मेलन में जो समझौता हुआ उसमें बर्लिन नगर को चारों महाशक्तियों—अमरिका ब्रिटेन फ्रांस और सोवियत रूस के नियन्त्रण में चार क्षेत्रों में विभाजित करने के पूर्व निश्चय को दोहरा या गया। इसका पूर्वी भाग सोवियत रूस के तथा पश्चिमी भाग तीन टुकड़ों में फ्रांस अमरिका और

ब्रिटेन के नियन्त्रण में रहा। तभी से आज तक यह स्थिति चली आ रही है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि समूचा बर्लिन जर्मनी के रूस अधिकृत क्षेत्र में लौहावरण की परिधि के अन्दर १०० मील की दूरी पर स्थित है और फ्रांस ब्रिटेन तथा अमेरिका अधिकृत बर्लिन के पश्चिमी भागों का मार्ग रूस के पूर्वी भाग में से होकर ही गुजरता है। बर्लिन जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि रूस अधिकृत जर्मन क्षेत्र का भाग नहीं है, अपितु संधि के अनुसार इसका स्वतन्त्र राजनीतिक अस्तित्व है।

विवाद का प्रारम्भ —यद्यपि चारों महाशक्तियों के सैन्य अधिकारी रेल सड़क और वायुमार्ग से बर्लिन पहुँचने के अनुमति-सम्बन्धी समझौते कर चुके थे और संधि द्वारा यह तय किया जा चुका था कि बर्लिन पर अस्थायी रूप से अधिकार करने वाली शक्तियों को बर्लिन-प्रवेश का मार्ग प्राप्त होगा किन्तु एक आर्थिक झगड़े को लेकर इस व्यवस्था में रूस की ओर से अवरोध पैदा कर दिया गया। हुआ यह कि चारों देश जर्मनी सम्बन्धी पोट्सडम समझौते को विशेषतया आर्थिक क्षेत्र में पूरा न कर सके। १९४५ से ही मित्र राष्ट्रों ने आधिपत्य कालीन मार्क्स (Marks) छापने (Printing) आरम्भ किये थे और इनका प्रयोग चारों भागों में किया जा रहा था। पश्चिमी देश मार्क्स को मितव्ययिता-पूर्वक खर्च करते थे लेकिन रूस का व्यवहार अनुकूल न था। उसने पर्याप्त मात्रा में कागजी मुद्रा छाप डाली और उस मुद्रा से मनचाही वस्तुयें खरीद कर जर्मनी से ले जाने लगा। इससे मुद्रा के मूल्यहीन होने का पूरा खतरा पैदा हो गया। पाश्चात्य शक्तियों ने यह प्रस्ताव किया कि आयात निर्यात का सामान्य कार्यक्रम (Common export import programme) बनाया जाए तथा जर्मनी को एक इकाई समझा जाय। लेकिन सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव से असहमति प्रकट करते हुए यह मत व्यक्त किया कि प्रत्येक क्षेत्र को (*Zone*) अपने-अपने विदेशी व्यापार का दायित्व स्वयं उठाना चाहिये। इससे पूर्व और पश्चिमी जर्मनी दो पृथक इकाइयां (Two Separate units) बन गये। संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह प्रस्ताव किया कि जब तक जर्मनी का आर्थिक एकीकरण सम्बन्धी समझौता (Agreement on German Economic Unity) न हो जाय तब तक तीनों पश्चिमी क्षेत्रों को मिला कर एक बना दिया जाय। इस प्रस्ताव के अनुरूप ब्रिटेन और अमेरिका में एकीकरण समझौता हो गया जिसे १ जनवरी १९४७ से लागू कर दिया गया। तीनों पाश्चात्य शक्तियां अर्थात् संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस जर्मनी के राजनीतिक एवं आर्थिक एकीकरण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहीं लेकिन रूस की हठवादिता और चालों के कारण उनके ये प्रयत्न सफलीभूत नहीं हुए। फरवरी मार्च १९४८ में ब्रिटेन अमेरिका फ्रांस और बैनीलक्स देशों (बेल्जियम नीदरलैण्ड तथा लक्जमबर्ग) का एक सम्मेलन लन्दन में हुआ। इस सम्मेलन में आर्थिक नीति के सभी प्रमुख पहलुओं अथवा अंगों में सामञ्जस्य करने (To Co-ordinate all major aspects of economic policy) तथा पश्चिमी जर्मनी को यूरोप के पुनरुद्धार कार्यक्रम (European recovery programme) में सम्मिलित करने का निश्चय किया गया।

उपरोक्त कार्यक्रम स्वीकृत किये जाने की रूस पर बड़ी विपरीत प्रतिक्रिया हुई और जर्मनी के रूसी प्रशासन का मुख्य अधिकारी मार्शल सोकोलोवस्की (Marshall Sokolovsky) मित्रराष्ट्रीय नियंत्रण परिषद् (The Allied Control Council) से २० मार्च को हट गया। तत्पश्चात् यह परिषद् सन्देहास्पद स्थिति में विलम्बित हो गई।

इस स्थानीय मुद्रा-विषयक झगड़े की रूसी प्रतिक्रिया उपरोक्त कदम से ही शान्त नहीं हुई। इस झगड़े का आधार लेकर रूस ने जनवरी १९४८ से ही पाश्चात्य शक्तियों की यातायात सुविधाओं में आकस्मिक हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया। उसने बर्लिन तथा पश्चिमी देशों के आधिपत्य वाले जर्मनी के बीच यातायात पर रोक लगाना आरम्भ कर दिया। १५ जून को बर्लिन तथा पश्चिमी देशों के मध्य स्थल मार्ग बन्द कर दिया गया। १८ जून को पश्चिमी देशों ने मुद्रा में सुधार किया (Introduced a currency reform)। लेकिन संशोधित मुद्रा को बर्लिन तक नहीं लाया गया। उन्होंने कहा कि वे बर्लिन में राइकमार्क (Reichmark) को इस शर्त पर चालू रखने के लिए सहमत हो सकते हैं कि जो मुद्रा जारी की जाय उसमें उन्हें उचित भाग का नियन्त्रण प्राप्त हो। जब सोवियत अधिकारियों ने कथन इस नियन्त्रण का भाग देने से इन्कार कर दिया और अपने क्षेत्र में एक अलग मुद्रा भी चालू कर दी तो पश्चिमी राष्ट्रों ने भी बर्लिन के अपने क्षेत्रों में पृथक डी-मार्क (D-Mark) चालू कर दिया। उसके इस कदम से विक्षुब्ध होकर प्रतिशोध लेने की दृष्टि से रूस ने बर्लिन की कुख्यात नाकेबंदी का पूरा दौर चला दिया। २४ जून १९४८ को पश्चिमी बर्लिन के स्थल और जल के सब मार्ग बंद कर दिये गये और बहाना यह लिया गया कि वह अपने क्षेत्र में नये मार्क को न आने देने का उपाय कर रहा है। अब बर्लिन पहुँचने के लिये फ्रांस अमरिका एवं ब्रिटेन के पास केवल हवाई मार्ग ही बच गया। रूस द्वारा की गई इस नाकेबंदी का नाम 'बर्लिन परिरोध' (Berlin Blockade) पड़ा। शूमैन के शब्दों में "यह इस बात की परीक्षा थी कि पश्चिमी देश बर्लिन से धकेल कर बाहर निकाले जा सकते हैं अथवा कम-से-कम उन्हें एक पश्चिमी जर्मन राज्य बनाने की योजना त्यागने को विवश भी किया जा सकता है अथवा नहीं।"*

नाकेबंदी की रूसी कार्यवाही का प्रत्युत्तर पश्चिमी मित्र राष्ट्रों ने तत्काल दिया। उन्होंने हवाई मार्ग से विमानों द्वारा पश्चिमी बर्लिन के निवासियों के लिये रसद तथा अन्य आवश्यक सामग्रियाँ पहुँचानी प्रारम्भ की। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि १६ अप्रैल १९४८ को जर्मनी में अमेरिकन सैनिक राज्यपाल जनरल लुशियस डी० क्ले (Lucius D. Clay) ने अपनी

*The Berlin Blockade was "in fact a test to see whether the Western Powers could be pushed out of Berlin or at least be coerced into abandoning their plans for a West German State"

—Schuman.

सरकार को किसी भी कीमत पर बर्लिन में डटे रहने का परामर्श दिया था। उसने स्पष्ट लिखा था— 'हम चेकोस्लोवाकिया खो चुके हैं और नार्वे में खतरा विद्यमान है। हम बर्लिन भी छोड़ जायें लेकिन जब बर्लिन छिन जायगा तो पश्चिमी जर्मनी की बारी आ जायगी। यदि हमारा आशय यूरोप में साम्यवाद के प्रसार को रोकना है तो हमें यहाँ से हिलना भी नहीं चाहिये'''' यदि हम हट गये तो यूरोप में हमारी स्थिति खतरे में पड़ जायगी मेरा विश्वास है कि हमें प्रजातंत्र का भविष्य बनाने के लिये ठहरना ही होगा।* रूसियों द्वारा यातायात के मार्गों को अवरुद्ध करने पर जनरल क्ले ने तो सैन्यबल के प्रयोग द्वारा मार्ग खोलने का प्रस्ताव किया था लेकिन लंदन और वाशिंगटन ने रूस द्वारा उपस्थित किये गये विघ्नों को दूर करने के लिये वायुयानों से विशाल मात्रा में खाद्यान्न तथा ईंधन पश्चिमी बर्लिन पहुंचाने की नीति का अनुसरण करना ही उचित समझा।

सुरक्षा परिषद में विवाद का पदार्पण—२९ सितम्बर १९४८ को फ्रांस ब्रिटेन और अमेरिका इन तीनों देशों ने सुरक्षा परिषद में सोवियत संघ द्वारा लगाये गये बर्लिन के घेरे के विरुद्ध शिकायत की तथा चार्टर के अनुच्छेद २ के अधीन इसे शांति के लिये घातक बताया। सोवियत रूस ने पश्चिमी देशों के दोषारोपण का निराकरण करते हुए कहा कि यह कदम केवल पाश्चात्य राष्ट्रों के षड्यन्त्र से पूर्वी जर्मनी के आर्थिक संगठन को स्थापित रखने के लिए उठाया गया है। सोवियत प्रतिनिधि ने यह भी कहा कि बर्लिन की समस्या को सम्पूर्ण जर्मनी की समस्या से अलग नहीं किया जा सकता साथ ही चार्टर की १०७वीं धारा के अनुसार सुरक्षा परिषद को इस विषय पर विचार करने का ही कोई अधिकार नहीं है। रूस का तर्क था कि याल्टा और पोट्सडम के निर्णयों के अनुसार इस विषय पर विचार विमर्श केवल विदेश मंत्री परिषद (The Council of Foreign Ministers) में ही होना चाहिये जिसकी स्थापना भूतपूर्व शत्रु राष्ट्रों से सम्बन्धित मामलों का हल खोजने के लिये की गई थी। अमेरिका ने उत्तर दिया कि उस समय प्रश्न जर्मनी की एक भूतपूर्व शत्रु देश के रूप में समस्या से सम्बन्धित नहीं था बल्कि उस खतरे से सम्बन्धित था जो जर्मनी के चार स्वामियों में पारस्परिक मतभेद के फलस्वरूप विश्व शांति एवं सुरक्षा के लिए पैदा हो गया था। चूं कि सुरक्षा परिषद ने प्रश्न विश्व शांति के लिये एक गम्भीर चुनौती बन कर आया अतः परिषद द्वारा इस पर विचार करना आवश्यक समझा गया। विरोध स्वरूप सोवियत संघ और यूक्रेन के प्रतिनिधियों ने परिषद की बैठकों में भाग न लेने की घोषणा की।

२२ अक्टूबर १९४८ को सुरक्षा परिषद के छः निष्पक्ष राष्ट्रों ने घेरा उठाने से सम्बन्धित मसविदा तैयार किया इस संयुक्त मसविदे अथवा प्रस्ताव में चारों महाशक्तियों से प्रार्थना की गई कि वे मुद्रा समस्या के हल और 'बर्लिन

---

*Cited in Charles B. Robsan Berlin—Pivot of German Destiny (University of North Carolina Press U.S.A. 1960), 48.

गतिरोध' के रूप में विद्यमान प्रतिबंधों को दूर करने के लिये तुरन्त वार्ता करें। परिषद के ९ सदस्यों ने प्रस्ताव के पक्ष में मतदान किया लेकिन रूस के वीटो के कारण यह मान्य न हो सका। तत्कालीन सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष महासचिव एवं महा सभा का अध्यक्ष-ये तीनों ही चाहते थे कि दोनों पक्षों को मान्य कोई शांति पूर्ण समझौता हो जाय। उन्होंने १३ नवम्बर १९४८ को बर्लिन विवाद से सम्बन्धित चारों बड़ी शक्तियों के प्रतिनिधियों के प्रधानों के पास एक सम्मिलित परिपत्र भेजा। बर्लिन का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख आने वाले कुछ गम्भीर प्रश्नों में से एक था। महा शक्तियों के मतभेद के कारण सुरक्षा परिषद इस प्रश्न पर विचार करने के अतिरिक्त और कुछ भी कर सकने में असमर्थ थी। परिषद ने चारों दलों से मुद्रा और नियन्त्रण सम्बन्धी प्रश्न पूछे और चारों शक्तियों के नियंत्रण में बर्लिन के लिये एक मुद्रा का प्रचलन करने हेतु एक टकनिकल समिति की स्थापना भी की। परन्तु इस समिति की सिफारिशों से वांछित फल की उपलब्धि न हो सकी।

इस मध्य चारों महाशक्तियों के मध्य अनौपचारिक रूप से समस्या को सुलझाने की बातचीत चलती रही। ४ मई, १९४९ को फ्रांस ब्रिटेन और अमेरिका के प्रतिनिधियों ने सुरक्षा परिषद को यह सूचना दी कि बर्लिन की समस्या पर सोवियत संघ से उनका समझौता हो गया है। इस समझौते में यह निश्चित किया गया कि १ मार्च १९४८ से यातायात और व्यापार के ऊपर दोनों पक्षों की ओर से जो भी प्रतिबन्ध लगाये गये थे वे उठा लिये जायेंगे और यह काम १२ मई, १९४९ तक सम्पन्न कर लिया जायगा। इसी समझौते में यह भी तय किया गया कि २२ मई १९४९ को जर्मनी से सम्बन्धित समस्याओं तथा बर्लिन की स्थिति पर विचार करने हेतु विदेश मन्त्री परिषद की एक बैठक होगी। इस निश्चय के अनुसार विदेश मन्त्री परिषद की जो बैठकें हुई उनमें यह निर्णय लिया गया कि वे अपने आधिपत्य-क्षेत्रों में निकटतर आर्थिक सम्बन्ध स्थापित करेंगे। जहाँ तक जर्मनी की आर्थिक और राजनीतिक एकता का प्रश्न था इस सम्बन्ध में कोई समझौता नहीं हो सका।

बर्लिन समस्या के समाधान के विषय में यह लिखना अनुचित न होगा कि यद्यपि समस्या का हल सुरक्षा-परिषद् ने किया तथापि संयुक्त राष्ट्र संघ ने दोनों पक्षों के परस्पर मिलाने के लिये महत्वपूर्ण एवं उपयोगी पृष्ठभूमि तैयार की तथा स्थान और सुविधाएं उत्पन्न कीं। अमेरिकन विदेशमन्त्री जॉन फोस्टर डलेस के मतानुसार इस विवाद को हल करने में सुरक्षापरिषद् के अस्थायी सदस्यों ने बड़ी उल्लेखनीय भूमिका अदा की।*

(४) कोरिया का संकट
(Korean Crisis)

युद्धोत्तर काल की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में कोरिया का संकट उन गम्भीरतम संकटों में से एक था जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की सामूहिक सुरक्षा और संघ व्यवस्था की वास्तविक परीक्षा की और जिसके समाधान के लिए संघ को पहली बार सैनिक कार्यवाही का आश्रय लेना पड़ा। यद्यपि कोरिया की समस्या १७ सितम्बर १९४७ में अमेरिका द्वारा

* *Dulles* War and Peace, page 58.

भी सम्मिलित अभिनयों सुरक्षा परिषद के बहुमत के विचार का आदर करती हैं।

(७) फिलस्तीन (Palestine) विभाजन की समस्या

पृष्ठभूमि—प्रथम महायुद्ध के उपरान्त टर्की का यह प्रदेश 'संरक्षण प्रदेश' (Mandate) के रूप में ग्रेट ब्रिटेन को प्राप्त हुआ। इस प्रदेश में यहूदियों के पवित्र धार्मिक स्थान और जेरूसलम का नगर विद्यमान है। यहूदी इसे अपनी धर्म भूमि मानते थे। प्रथम महायुद्ध काल में ब्रिटेन ने यह घोषणा की थी कि फिलस्तीन को यहूदियों की राष्ट्रीय गृहभूमि (National Home Land) में परिवर्तित कर दिया जायगा और वहां यहूदियों का राज्य स्थापित होगा। किन्तु इस घोषणा को क्रियान्वित करना कोई सरल काम न था। फिलस्तीन उस समय मुख्य रूप से अरबों की बस्ती थी और वे भी इसे अपनी मातृभूमि समझते थे। प्रथम महायुद्ध काल में अरबों की सहानुभूति व उनका समर्थन पाने के लिए ब्रिटेन ने उन्हें भी यह गुप्त आश्वासन दिया था कि युद्ध की समाप्ति पर टर्की से पृथक करके एक स्वतंत्र अरब राज्य की स्थापना कर दी जाएगी। इन विरोधी प्रलोभनों का यह स्वाभाविक परिणाम निकला कि प्रथम युद्ध की समाप्ति के बाद फिलस्तीन में यहूदियों और अरबियों के मध्य उग्र संघर्ष होने लगा और यह स्थिति द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक चलती रही।

द्वितीय महायुद्ध के बाद फिलस्तीन की समस्या अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति के लिए एक भयंकर खतरा सिद्ध होने लगी। इसमें न केवल विश्व के तीन एकेश्वरवादी धर्म यहूदी इस्लाम और ईसाई मत ही फंसे हुए थे वरन् उसमें 'बड़े पांच' में से तीन अमेरिका ब्रिटेन और रूस तथा अरब लीग के समस्त सदस्यों का भाग भी निहित था।

संघ में समस्या का प्रस्तुत होना—फरवरी १९४७ में ब्रिटिश विदेश मंत्री अर्नेस्ट बेविन ने संसद में यह घोषणा की कि चूंकि ब्रिटेन के लिए इस मेंडेट के शासन प्रबन्ध को चलाना सम्भव नहीं है अतः इस समस्या को संघ के समक्ष प्रस्तुत किया जाएगा। तदनुसार २ अप्रेल १९४७ को फिलस्तीन समस्या संघ की महासभा के सामने रखी गई। ब्रिटेन ने महासभा का ध्यान फिलस्तीन पर से 'मेन्डेट हटाने तथा इसकी स्वतंत्रता की घोषणा' के प्रश्न की ओर आकृष्ट किया। लगभग डेढ़ माह तक विचार-विमर्श करने के उपरान्त १५ मई १९४७ को महासभा ने ११ सदस्यों (आस्ट्रेलिया कनाडा चेकोस्लोवाकिया ग्वाटेमाला भारत ईरान निदरलैण्ड्स पीरू स्वीडन युराग्वे और युगोस्लाविया) की *फिलस्तीन पर एक विशेष समिति (UNSCOP)* नियुक्त की। इस समिति को सम्बन्धित समस्या पर सभी प्रश्नों की विस्तृत अधिकार के साथ जांच तथा सिफारिश करने को कहा गया। विशेष समिति ने ३१ अगस्त १९४७ को अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी जिसमें यह सिफारिश की गई कि फिलस्तीन को २ भागों में विभाजित कर दिया जाय—एक भाग में अरब राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। इसके बाद जेरूसलम के एक विशेष क्षेत्र की रचना की जाय और उसमें अन्तर्राष्ट्रीय शासन की व्यवस्था हो। संघ की महासभा ने समिति द्वारा प्रस्तावित योजना को

स्वीकार कर लिया और इसे क्रियान्वित करने के लिए एक 'फिलस्तीन आयोग' (Palestine Commission) नियुक्त किया। महासभा ने इस प्रकार फिलस्तीन पर से ब्रिटिश मैन्डेट का अन्त कर देने और वहां से ब्रिटिश फौजों को हटा देने का निर्णय ले लिया। ग्रेट ब्रिटेन ने यह घोषणा की कि वह १५ मई १९४७ को अपने मैन्डेट की अवधि पूर्ण होने पर अपनी सेनाओं और प्रशासन प्रभुत्व को फिलस्तीन पर से हटा लेगा।

फिलस्तीन आयोग ने जिसकी नियुक्ति १ अगस्त १९४८ तक फिलस्तीन के विभाजन की योजना को क्रियान्वित करने के लिये की गई थी बड़ी कठिन परिस्थिति में अपना कार्य आरम्भ किया। संघ द्वारा निश्चित की गई फिलस्तीन विभाजन की योजना अरबिया और यहूदियों दोनों ही के लिए संतोषजनक न थी। अरब इस बात पर तुले हुए थे कि उनकी मातृभूमि में कोई विदेशी राज्य स्थापित न हो। दूसरी ओर यहूदियों का यह दृढ़ निश्चय था कि वे अपनी धर्मभूमि में नवीन राज्य की स्थापना अवश्य करेंगे। दोनों ही पक्षों के पारस्परिक संघर्ष ने फिलस्तीन में अरबिया और यहूदियों को गृहयुद्ध की सी स्थिति पैदा कर दी। अरबों ने विभाजन से मातृभूमि की रक्षा के लिए सीधी कार्यवाही प्रारम्भ की तो यहूदियों ने अपने उद्देश्य को सफल बनाने के लिये घोर हिंसापूर्ण उपायों का आश्रय लिया।

फिलस्तीन की बिगड़ती हुई परिस्थिति को देख कर फरवरी १९४८ में 'फिलस्तीन आयोग' ने संघ को यह सूचित किया कि यहूदियों तथा अरबिया के सशस्त्र उपद्रवों से ब्रिटेन के सहयोग के अभाव से और आवश्यक सशस्त्र सहायता न होने से महासभा के प्रस्ताव को कार्यान्वित करना असम्भव प्राय है। स्थिति वास्तव में बड़ी चिन्ताजनक हो गई और तब मार्च १९४८ में अमरिका ने यह प्रस्ताव रखा कि सुरक्षा परिषद् के लिये महासभा के निर्णय को कार्यान्वित करना अनिवार्य नहीं है अतः फिलस्तीन के लिए संयुक्त राष्ट्र संघीय न्यास व्यवस्था (Trusteeship) के प्रश्न पर विचार करने के लिए महासभा का एक विशेष अधिवेशन आमंत्रित किया जाना चाहिए। यह प्रस्ताव स्वीकृत हो जाने पर महासभा का विशेष अधिवेशन १६ अप्रैल १९४८ को सम्पन्न हुआ लेकिन कोई निर्णय नहीं लिया जा सका क्योंकि राष्ट्रों में परस्पर मतैक्य नहीं था। महासभा के इस अधिवेशन में न्यास-परिषद् से यह प्रार्थना की गई कि वह फिलस्तीन में व्यवस्था स्थापित करने के उपाय खोज कर बताये।

न्यास-परिषद् (Trusteeship Council) के प्रयत्नों से अरबियों और यहूदियों के प्रतिनिधियों के बीच एक समझौता हो गया जिसके अनुसार युद्ध बन्द कर देना तथा एक विराम सन्धि किया जाना निश्चित हुआ। इस समय सुरक्षा परिषद् ने अरबियों और यहूदियों के सम्मुख दबाों से हिंसापूर्ण कार्य और बन्द करने के ७ प्रस्ताव पास किये। २७ अप्रैल १९४८ को फिलस्तीन में शांति स्थापना के कार्य को पूर्ण करने के लिये विराम सन्धि आयोग (Truce Commission) नियुक्त किया गया। परन्तु इससे परिस्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ।

१४ मई १९४८ को अर्थात् ब्रिटेन द्वारा फिलस्तीन में अपना मैंडेट समाप्त कर देने की विधिवत घोषणा से एक दिन पूर्व महासभा ने मामला सुरक्षा परिषद को सुपुर्द कर दिया तथा अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास के उपाध्यक्ष स्वीडन के काउण्ट फोक बर्नाडोट (Count Floke Bernadotte) को फिलस्तीन में युद्ध विराम के प्रबन्ध के लिए संयुक्त राष्ट्रीय मध्यस्थ नियुक्त किया। इसी दिन ब्रिटेन ने फिलस्तीन से अपना शासन प्रबन्ध हटा लिया (जिसकी घोषणा १५ मई को की गई) और यहूदियों ने फिलस्तीन में इजरायल राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। इस घोषणा की अविलम्ब प्रतिक्रिया यह हुई कि ईराक लेबनान सीरिया तथा ट्रांसजोर्डन ने अरबों की रक्षा के लिए फिलस्तीन पर हमला बोल दिया। इधर संयुक्त राज्य अमेरिका ने इजरायल को एकदम मान्यता प्रदान कर दी। यह मान्यता इतने आकस्मिक रूप से और इतनी जल्दी प्रदान की गई कि संयुक्त राष्ट्र संघ में अमेरिका के प्रतिनिधि मण्डल को इसका ज्ञान समाचार पत्रों से ही हुआ। दूसरी ओर इजरायल को सोवियत संघ की मान्यता भी प्राप्त हो गई।

अरब राज्यों द्वारा नवोदित इजरायल राज्य पर चारों ओर से इतना भीषण आक्रमण हुआ कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानों नवीन इजरायल की भ्रूणहत्या हो जायगी। संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस ने सुरक्षा परिषद में इजरायल को सहायता देने का प्रस्ताव रखा किन्तु ग्रेट ब्रिटेन सीरिया अर्जेन्टाइना कनाडा चीन और बेल्जियम के इस प्रस्ताव पर मतदान से अनुपस्थित रहने के कारण यह पारित नहीं हो सका। नवोदित राष्ट्र इजरायल ने प्रारम्भ में रक्षात्मक और बाद में अरब राष्ट्रों पर करारी चोट की और उन्हें पीछे खदेड़ दिया। अन्त में ११ जून को मध्यस्थ बर्नाडोट अरबियों और यहूदियों में ४ सप्ताह के लिये युद्ध-विराम समझौता कराने में सफल हो गये। सुरक्षा परिषद ने १५ जुलाई को फिलस्तीन में युद्ध बन्द करने का प्रस्ताव पास किया। १८ जुलाई से यद्यपि युद्ध बन्द हो गया किन्तु उपद्रव चलते रहे। १७ सितम्बर को काउण्ट बर्नाडोट उस समय गोली से मार दिये गये जबकि वे यहूदी सैनिक सुरक्षा में जेरूसलम में से होते हुए जा रहे थे। उनके इस बलिदान के बाद सुरक्षा परिषद ने डा० राल्फबंच को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। २९ दिसम्बर को तीसरी बार युद्ध-विराम स्थापित हुआ। महासभा ने अपने तीसरे अधिवेशन में इस विषय में अन्तिम समझौता कराने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका फ्रान्स और टर्की के प्रतिनिधियों का एक 'संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग' (U.N Conciliation Commission) नियुक्त किया। इसके सामने इजरायल से भगाये गये १० लाख अरबियों के पुनर्वास तथा अन्य अरब राज्यों के साथ इजरायल की सीमाओं के निर्धारण और जेरूसलम की समस्या हल करने आदि के अनेक विकट प्रश्न थे। अन्त में, पर्याप्त विवादों और झगड़ों के बाद मध्यस्था का काम सुगम हो गया और इजरायल तथा पड़ोसी राज्यों में निम्नलिखित सीमा सम्बन्धी संधियां सम्पन्न हुईं।

( ) २४ फरवरी १९४९ को मिस्र तथा इजरायल ने रोड्स (Rhodes) में विराम-संधि पर हस्ताक्षर किये, यह रोड्स की संधि कहलाती।

(ii) २३ मार्च १९४९ को लेबनान तथा इजरायल के मध्य रास नसमकौरा नामक स्थान पर विराम संधि हुई। यह रासनसमकौरा की संधि कहलायी।

(iii) ३ अप्रैल १९४९ को इजरायल तथा जार्डन के मध्य रोड्स में समझौता हुआ।

(iv) २० जुलाई १९४९ को मन हनयीम (Man Hao yim) के स्थान पर सीरिया और इजरायल का झगड़ा तय हुआ।

उपरोक्त संधियों के फलस्वरूप फिलस्तीन प्रदेश में शान्ति स्थापित हुई यद्यपि यह एक चिरस्थायी शांति न थी। मई १९४९ में इजरायल को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हो गयी। अरब क्षेत्र गास जार्डन के अधिकार में आ गया और दक्षिण पश्चिम किनारे की पट्टी मिस्र के अधीन आ गयी। जेरूसलम इजरायल तथा जोर्डन सेनाओं के अधीन रहा। १० दिसम्बर को महासभा ने ४० मत से हराकर ८ मत से संयुक्त राष्ट्रीय बजट जेरूसलम के लिए स्वीकार किया क्योंकि उसे अन्तिम समझौता होने तक न्यास परिषद के अधीन रखा गया था। २ जून १९५० को इजरायल तथा जार्डन दोनों ने न्यास परिषद द्वारा विधान को अस्वीकार कर दिया तथा पवित्र नगर जेरूसलम से अपनी सेनाएं हटाने से इन्कार कर दिया। इस तरह जेरूसलम नगर का 'नया भाग' इजरायल एवं 'पुराना भाग' जोर्डन के आधिपत्य में ही रहा। काउन्ट बर्नाडोट की हत्या की क्षतिपूर्ति के लिए इजरायल ने ५४,६२८ डालर दिए। १९५० के अन्त तक इजरायल को भारत की मान्यता भी मिल गयी।

यद्यपि U.N.O. के अथक प्रयासों के फलस्वरूप फिलस्तीन विभाजन की समस्या का समाधान हो कर इजरायल व अरब राष्ट्रों के मध्य उपरोक्त सैनिक संधियाँ सम्पन्न हो गयीं तथा युद्ध विराम लागू हो गया किन्तु इस क्षेत्र में स्थायी शान्ति की समस्या आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है। फिलस्तीन का विभाजन तो हो गया किन्तु इसने अर्थात् नवीन इजरायल राष्ट्र के उदय ने इस क्षेत्र में एक ऐसे ज्वालामुखी का निर्माण कर दिया जो अब तक १९५६ और १९६७ में अपने विस्फोट से विश्व-शान्ति को गम्भीर रूप से भंग कर चुका। ४ सैनिक संधियों के कारण इजरायल व अरब राष्ट्रों के मध्य १९५६ तक युद्ध विराम रहा (यद्यपि बीच-बीच में इसका उल्लंघन भी होता रहा) लेकिन अक्टूबर १९५६ के अन्तिम दिनों में मिस्र व इजरायल के मध्य युद्ध पुनः भड़क उठा। रूस के कठोर हस्तक्षेप व संयुक्त राष्ट्र संघ के गंभीर प्रयासों से पुनः शांति स्थापित हुई। किन्तु इजरायल अरबियों के हृदय में स्थित विष-बीज विषवृक्ष का रूप लेता गया और १९६७ के मध्य एक बार फिर अरब राष्ट्रों व इजरायल के मध्य घनघोर युद्ध छिड़ा और अस्थायी तौर पर शांत हो गया। इजरायल अरब संघर्ष की १९५६ और १९६७ की इन नवीन घटनाओं का और इनका समाधान करने में संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका का वर्णन अग्रिम पृष्ठों में 'अरब इजरायल संघर्ष' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

(७) इण्डोनेशिया विवाद
(Indonesia Issue)

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व इण्डोनेशिया पर हॉलैण्ड का अधिकार था। युद्ध के समय जापान के पराजित होने पर हॉलैण्ड उस पर पुनः अपना अधिकार जमाना चाहता था। लेकिन डच लोग (हॉलैण्ड निवासी) की यह आशा पूरी नहीं हुई। जब जापान ने इण्डोनेशिया में हथियार डाले तो वहां के राष्ट्रवादियों ने अपने यहां एक स्वतन्त्र गणराज्य की स्थापना कर दी। फलस्वरूप हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया में युद्ध छिड़ गया। डा० सुकार्णो के नेतृत्व में स्थापित हुआ इन्डोनेशियाई प्रजातन्त्र राज्य ब्रिटेन द्वारा सहायता प्राप्त हॉलैण्ड की सेनाओं के सम्मुख पराजित होने लगा। ३० जुलाई १९४७ को भारत और आस्ट्रेलिया ने हॉलैण्ड तथा इण्डोनेशिया के युद्ध की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित किया। सुरक्षा परिषद ने तुरन्त युद्ध विराम की अपील करते हुए अमेरिका, बेल्जियम और आस्ट्रेलिया इन तीनों देशों की एक सत्कार्य समिति' (Good Offices Committee) की स्थापना की।

समिति के प्रयासों के फलस्वरूप अगस्त १९४७ में युद्ध बन्द हो गया। समिति ने एक विराम सन्धि समझौता तैयार किया जिस पर १७ जनवरी १९४८ को अमेरिकन जलयान रैनविल (Renville) पर हॉलैण्ड और इण्डोनेशिया गणराज्य के प्रतिनिधियों ने हस्ताक्षर किए। तत्पश्चात् दोनों ही देशों में स्थायी सन्धि की शर्तों पर वार्ता चलती रही। परन्तु, विरामसन्धि के समझौते की अवहेलना करते हुए १८ दिसम्बर १९४८ को हॉलैण्ड ने इण्डोनेशियन गणराज्य के विरुद्ध पुनः युद्ध प्रारम्भ कर दिया। हॉलैण्ड की फौजों ने इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति तथा अन्य नेताओं को गिरफ्तार कर लिया। इस पर, नवीन परिस्थितियों का अध्ययन करने के लिए सुरक्षा परिषद की संकट कालीन बैठक बुलायी गयी। परिषद ने हॉलैण्ड को युद्ध बन्द करने, गणराज्य के राष्ट्रपति और अन्य राज्य कैदियों को छोड़ने की आज्ञा दी। साथ ही उसने यह भी सिफारिश की कि इण्डोनेशिया में एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न संघात्मक गणराज्य की स्थापना की जाय जिसे डच सरकार १ जुलाई १९४९ तक सम्प्रभु शक्तियों को हस्तांतरित कर दे। इस प्रस्ताव को कार्यान्वित करने के लिए सत्कार्य समिति को इण्डोनेशिया आयोग में परिवर्तित कर दिया गया।

अनेक सप्ताहों तक डच सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव का विरोध करते रहे किन्तु बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव से वे इस विषय पर हेग में एक गोलमेज सम्मेलन का आयोजन करने को सहमत हो गये। यह सम्मेलन अगस्त में बुलाना निश्चित हुआ। इसी मध्य सुरक्षा परिषद ने आयोग को इस बात का अधिकार दिया कि वह दोनों पक्षों का समझौता कराने में सहायता करे। आयोग की पहल करने पर बैटाविया में प्रारम्भिक विचार विमर्श के लिए दोनों पक्षों के मध्य वार्तालाप हुए जिसके फलस्वरूप डचों ने इण्डोनेशियाई राजधानी से अपनी फौजें बुला लीं। इसके बाद पूर्व निश्चित निर्णय के अनुसार हेग में गोलमेज सम्मेलन २३ अगस्त को प्रारम्भ हुआ जो २ नवम्बर, १९४९ तक चला। इस सम्मेलन में न केवल

इण्डोनेशिया और हॉलैण्ड के प्रतिनिधि बैठे तथा आयोग के सदस्यों ने भी भाग लिया। काफी वाद-विवाद के बाद डच और इण्डोनेशिया सरकार के मध्य एक समझौता हो गया जिसके अनुसार यह तय किया गया कि ३ दिसम्बर १९४९ तक इण्डोनेशिया के गणतन्त्र को सर्वोच्च सत्ता हस्तांतरित कर दी जाय किन्तु इस समझौते को पश्चिमी न्यूगिनी पर लागू नहीं किया जाना था। सम्मेलन के निर्णय की सूचना विधिवत् सुरक्षा परिषद को दे दी गयी। बाद में २७ दिसम्बर १९४९ को ही इण्डोनेशिया को एक स्वतन्त्र संप्रभु गणराज्य मान लिया गया और २८ सितम्बर १९५० को उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी प्रदान कर दी गई।

इण्डोनेशियाई विवाद में संयुक्त राष्ट्र संघ को पूरी सफलता मिली। सुरक्षा परिषद ने इस समस्या के समाधान के लिए अनेक आयोग समितियाँ और प्रस्ताव प्रस्तुत करके बड़ा श्रम किया। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसी महाशक्ति द्वारा हॉलैण्ड को दबाये जाने से संघ के लिए अपनी कठिनाइयों को हल करना अपेक्षाकृत अधिक सरल हो गया। अमेरिका ने हॉलैण्ड को यह धमकी दी थी कि यदि वह इण्डोनेशिया को स्वतन्त्रता नहीं देगा तो वह उसके पुनरुद्धार के लिए दी जाने वाली मार्शल योजना की आर्थिक सहायता बन्द कर देगा। चार्ल्स श्लिचर (Charles Schleicher) का स्पष्ट मत है कि यदि अमेरिका का यह दबाव न होता तो संघ को सम्भवतः इतनी सफलता न मिलती।* इसके अतिरिक्त अन्य-एशियाई राज्यों ने भी समस्या के समाधान हेतु अपने प्रभाव का पूरा उपयोग किया था। उन्होंने यह धमकी दी थी, कि यदि प्रश्न का समाधान न किया गया तो उसे महासभा के समक्ष लाया जायगा। इस कारण भी समस्या के समाधान में शीघ्रता हुई।

(८) कोरफू चैनल विवाद
(Corfu Channel Issue)

इस विवाद का जन्म यों हुआ कि अल्बानिया ने प्रादेशिक समुद्र में एक सुरंग बनायी जिससे अक्टूबर १९४६ में दो ब्रिटिश जहाजों को हानि पहुँची। इस पर ब्रिटेन ने १० जनवरी १९४७ को सुरक्षा परिषद में अपनी शिकायत पेश की कि अल्बानिया द्वारा कोरफू टापू के पास वाले समुद्र में बिछायी गयी सुरंग से ब्रिटिश युद्ध पोत क्षतिग्रस्त हुए हैं तथा सैनिकों को चोट लगी है अतः अल्बानिया को इसकी क्षतिपूर्ति करनी चाहिए। अल्बानिया ने इसके प्रत्युत्तर में कहा कि ग्रेट ब्रिटेन ने उसके प्रादेशिक समुद्र में उसकी सर्वोच्च सत्ता का उल्लंघन किया है। अल्बानिया के प्रतिनिधि ने आगे कहा कि उसकी सरकार ने सुरंग ही नहीं बिछायी है और वह अपने प्रादेशिक समुद्र क्षेत्र में नौपरिवहन की सुरक्षा के लिए उत्तरदायी नहीं है। यहाँ यह स्मरणीय है, कि अल्बानिया संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं था किन्तु उसे परिषद के विचार-विमर्श में भाग लेने के लिए आमंत्रित किया गया था और उसने यह आमंत्रण स्वीकार कर लिया था।

---

* *Charles Schleicher* An Introduction to International Relations, p. 704

प्रश्न पर सुरक्षा परिषद में गरमागरम वाद-विवाद हुआ और "बिना सूचना के शान्तिकाल में सुरंग बिछाना अनुचित तथा मानवता के विरुद्ध अपराध है" वाली शब्दावली के ब्रिटिश प्रस्ताव को सोवियत संघ द्वारा वीटो कर दिया गया। तत्पश्चात् ९ अप्रैल १९४७ को एक प्रस्ताव पास करके मामले को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करने की सिफ़ारिश की गयी। अल्बानिया ने इसका यह कह कर विरोध किया कि मामला न्यायालय के अधिकार के बाहर है। परन्तु न्यायालय ने मामले पर विचार किया और यह निर्णय दिया कि अल्बानिया को २४ लाख डालर क्षतिपूर्ति के रूप में दे चाहिए। अल्बानिया ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को स्वीकार न करते हुए हर्जाने की राशि की अदायगी अभी तक नहीं की है।

ट्रीस्ट (Trieste) का विभाजन

द्वितीय महायुद्ध के बाद इटली के साथ १० फरवरी १९४७ को जो शान्ति-संधि हुई थी उसके अन्तर्गत ट्रीस्ट के अन्तर्राष्ट्रीयकरण की व्यवस्था की गयी थी। तदनुसार यह निश्चित हुआ था कि ट्रीस्ट के शासन का भार एक सुरक्षा परिषद द्वारा नियुक्त एक गवर्नर करेगा। इस गवर्नर की नियुक्ति तक ट्रीस्ट के ३००—६०० मील लम्बे स्वतन्त्र प्रदेश को दो क्षेत्रों में बाँटा गया—क्षेत्र 'ए' पर ब्रिटेन अमरिका एवं फ्रांस की सेनाओं का तथा क्षेत्र 'बी' पर युगोस्लाव सेनाओं का आधिपत्य रखा गया।

१९४८ में पाश्चात्य देशों ने इटली के चुनावों में पश्चिमी गुट का समर्थन करने वालों की शक्ति बढ़ाने के लिए इटली को ट्रीस्ट देने की माँग की। इस पर जुलाई १९४८ में युगोस्लाविया ने सुरक्षा परिषद से शिकायत की कि अमरिका और ब्रिटेन विभिन्न अन्य विदेशी व्यापार के दृष्टिकोण से ट्रीस्ट के स्वतन्त्र प्रदेश की स्वाधीनता में बाधा डाल रहे हैं। उसने यह आरोप लगाया कि पश्चिमी देशों का प्रयास ट्रीस्ट को इटली में मिलाने का है। युगोस्लाविया ने बताया कि मित्र राष्ट्रों के सैनिक अधिकारियों द्वारा इटली के साथ अनेक ऐसी संधियां की गयी हैं जो इटालियन शांति संधियों के प्रतिकूल हैं और जिनका उद्देश्य ट्रीस्ट को आर्थिक दृष्टिकोण से इटली के साथ मिला देना है। युगोस्लाविया ने प्रार्थना की कि पश्चिमी शक्तियों की योजना को रोका जाय और इटालियन शांति संधि में की गयी शांति संधि के अनुरूप ट्रीस्ट के स्वतन्त्र प्रदेश के लिए संयुक्त राष्ट्र संघीय गवर्नर की नियुक्ति की जाय।

युगोस्लाविया की शिकायत पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक हुई। लेकिन चूंकि प्रस्ताव के पक्ष में ७ वोट नहीं आ सके अतः प्रश्न पर विचार नहीं हो सका, और गवर्नर की नियुक्ति भी नहीं हुई। परिषद में ब्रिटिश अमरीकन और फ्रेंच प्रतिनिधियों ने बताया कि बहुत सी बाधाओं के कारण—जिनमें गवर्नर की नियुक्ति होना भी शामिल है—शांति संधि को व्यवहार में लाना कठिन हो गया है।

८ अक्टूबर, १९५३ को ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपना क्षेत्र 'ए' इटली को हस्तांतरित करने की घोषणा की। इस पर ...

के मार्शल टीटो ने धमकी दी कि यदि क्षेत्र 'ए' में इटालियन सेना प्रवेश करेगी तो युगोस्लाविया भी इस क्षेत्र में अपनी सेना भेज देगा। अब स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी किन्तु ब्रिटेन और अमरिका ने संयम से काम लेते हुए ट्रीस्ट के अपने क्षेत्र से अपनी सेनाएं नहीं हटायीं। सोवियत रूस ने जो १९४७ की इटालियन शान्ति ... पहले से ही विरोधी था ब्रिटिश-अमेरिकन घोषणा की कठोर निन्दा की। उसने सुरक्षा परिषद में यह प्रस्ताव रखा कि ट्रीस्ट प्रदेश में गवर्नर की नियुक्ति फौरन की जाय। परिषद में बहुत दिनों तक इस प्रश्न पर कटु विवाद होता रहा किन्तु कोई परिणाम नहीं निकला। १४ दिसम्बर १९५३ को अमेरिका ने यह प्रस्ताव पेश किया कि चूंकि सम्बन्धित पक्ष समस्या का हल करने के लिए आपस में बातचीत कर रहे हैं, अतः समस्या पर परिषद में विचार विमर्श बन्द कर दिया जाय। परिषद द्वारा अमेरिकन प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया।

अन्त में ट्रीस्ट के प्रश्न पर इटली और युगोस्लाविया में ५ अक्टूबर, १९५४ को एक समझौता हो गया जिसके अनुसार क्षेत्र 'ए' पर इटली का तथा क्षेत्र 'बी' पर युगोस्लाविया का आधिपत्य मान लिया गया। समझौते के अनुसार युगोस्लाविया और ट्रीस्ट के स्वतन्त्र क्षेत्र की सीमाओं में कुछ हेर-फेर हुआ। अमेरिका और युगोस्लाविया ने सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष को एक स्मृतिपत्र (Memorandum) द्वारा उपरोक्त समझौते की सूचना दे दी। इस तरह ट्रीस्ट-विभाजन का विवाद समाप्त हो गया।

(१०) एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद
(Anglo Iranian Oil Dispute)

१ मई, १९५१ को ईरान की सरकार ने "ईरानी तेल राष्ट्रीयकरण अधिनियम" द्वारा एंग्लो ईरानियन तेल कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया। चूंकि इस कम्पनी में अधिकांश हिस्से ब्रिटिश सरकार के थे अतः उसने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में ईरान सरकार के इस काम की शिकायत की। ब्रिटेन का दावा था कि "ईरानी तेल राष्ट्रीयकरण अधिनियम" १९३३ में ईरानी सरकार तथा कम्पनी के बीच हुए समझौते की शर्तों का उल्लंघन करता है। उसका कहना था कि १९३३ के तेल सुविधा-समझौते के अनुसार विवाद का निर्णय मध्यस्थता (Arbitration) के माध्यम से होना चाहिये। न्यायालय ने ब्रिटिश सरकार की इस प्रार्थना पर विचार करते हुए ५ जुलाई १९५१ को ईरान को यह आदेश दिया कि अन्तिम निर्णय होने तक कम्पनी को काम करने दे। लेकिन ईरान सरकार ने इस आधार पर न्यायालय के आदेश को मानना अस्वीकार कर दिया कि सम्बन्धित विषय में ईरान उसके अधिकार क्षेत्र (Jurisdiction) में नहीं है। न्यायालय के आदेश के विरोध में अबादान शोधशाला बन्द कर दी गई तथा ३१० ब्रिटिश टेक्नीशियनों को तेल क्षेत्रों से निष्कासित कर दिया गया।

ईरान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय की अवहेलना कर देने पर २९ सितम्बर १९५१ को ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद को 'एंग्लो-ईरान तेल विवाद' प्रस्तुत किया। सुरक्षा परिषद ने विवाद को अपनी विचारणीय विषय-सूची में स्थान दे दिया लेकिन उस पर सक्रिय रूप से विचार करना

यह कह कर (१९ अक्तूबर १९५१) स्थगित कर दिया कि जब तक न्याया लय के इस निर्णय की घोषणा नहीं हो जायेगी कि वह इस समस्या पर कानूनी तौर पर विचार कर सकता है अथवा नहीं तब तक वह (परिषद) इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का निर्णय लेने में असमर्थ है। ब्रिटेन ने सुरक्षा परिषद में विवाद को इस आधार पर प्रस्तुत किया था कि ईरान ने अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के आदेश की अवहेलना की है और उसने न केवल ब्रिटेन को बल्कि सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व को महान् आर्थिक हानि पहुँचाई है तथा भावों में ऐसी की एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जो अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा के लिए एक गंभीर खतरा है। ईरान ने ब्रिटेन के आरोप को निराधार करते हुए कहा कि चूँकि यह उसकी पूर्णतया आन्तरिक समस्या है अतः परिषद को मामले पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। अपनी कुछ बैठकों में दोनों पक्षों के दावों को सुनने के बाद ही परिषद ने न्यायालय द्वारा अपनी क्षेत्राधिकार-क्षमता का निर्णय लेने तक समस्या पर विचार करना स्थगित किया।

"२२ जुलाई १९५२ को अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने निर्णय लिया कि तेल-राष्ट्रीयकरण पर आंग्ल ईरानी तेल कम्पनी का विवाद" उसके अधिकार क्षेत्र से बाहर है क्योंकि—

(i) ईरान ने न्यायालय की वैकल्पिक धारा (Optional Clause) पर हस्ताक्षर करते [illegible] उसके बाद की सन्धियों और समझौतों के लिए ही न्यायालय का अधिकार क्षेत्र स्वीकार किया था जबकि १९३३ का तेल कम्पनी का समझौता इससे पहले का है।

(ii) तेल-कम्पनी का समझौता दो राज्यों की सन्धि नहीं है अपितु एक वैयक्तिक कम्पनी को रियायतें प्रदान करने वाला समझौता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपने निर्णय में यह भी कहा कि चूंकि उसे सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करने का अधिकार नहीं है अतः उसका पहला आदेश (५ जुलाई, १९५१ का) कार्यान्वित न किया जाय। अन्त र्राष्ट्रीय न्यायालय के इस निर्णय के फलस्वरूप ईरान की सरकार के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटिश शिकायत का अन्त हो गया।

विवाद पर दोनों पक्षों के मध्य वार्ता चलती रही। १४ अक्तूबर १९५२ को ब्रिटेन ने तेल-विवाद के आंशिक हल के लिए ईरान की ४९० लाख पौंड की मांग को पूर्णतः अस्वीकृत कर दिया तथा अन्तिम समझौते के लिए तेहरान में अपना मिशन भेजने से इन्कार कर दिया। ब्रिटेन ने ईरान से यह मांग की कि ५० करोड़ के तेल-उद्योग की ईरानी राष्ट्रीयकरण से हुई क्षति की पूर्ति ४० वर्ष के भाग से की जाय। इसके दो दिन बाद ही ईरान ने ब्रिटेन के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिए। अन्त में एक लम्बी बातचीत के बाद ईरानी-तेल-विवाद को समस्त पक्षों के सन्तोष के आधार पर तय कर लिया गया। ८ अगस्त १९५४ को ईरान सरकार और आठ अन्तर्राष्ट्रीय तैल-कम्पनियों की एक संयुक्त संस्था के बीच एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अनुसार ईरान के प्रमुख तैल क्षेत्र तथा अबादान प

तेल-कारखानों का नियन्त्रण आठों अन्तर्राष्ट्रीय तेल-कम्पनियों की संयुक्त संस्था के हाथ में चला गया और स्वामित्व का कानूनी अधिकार ईरानी सरकार के पास ही रहा।

इस प्रकार बिना संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप के एंग्लो ईरानी-तेल विवाद स्वतन्त्रता पूर्वक उन्हीं पक्षों द्वारा हल कर लिया गया जो प्रत्यक्ष रूप से इससे सम्बन्धित थे।

(११) बर्मा में चीनी सेनाएं
(Chinese Troops in Burma)

सन् १९५३ में महासभा के सामने बर्मा में चीनी सेनाओं के अनधिकृत प्रवेश का प्रश्न उपस्थित हुआ। बर्मा ने यह शिकायत की कि राष्ट्रवादी चीन की सेनाएं बर्मा प्रदेश में घुस आयी हैं और अनुचित पूर्ण कार्य कर रही हैं अतः उन्हें वहां से फौरन बाहर निकाला जाना चाहिये। महासभा ने २३ अप्रैल १९५३ को एक प्रस्ताव पारित करके बर्मा में चीनी सेनाओं की उपस्थिति की निन्दा की और कहा कि इन सेनाओं को संधि-वार्ता द्वारा एवं कुछ राज्यों के सत्प्रयत्नों द्वारा बाहर हटा दिया जाना चाहिये। महासभा ने सभी राज्यों से प्रार्थना की कि वे बर्मा प्रदेश से चीनी सेनाओं को हटाने में सहायक बनें। सन् १९५३-५४ की महासभा की बैठकों में बर्मा ने इस प्रश्न को उठाते हुए इस बात पर असन्तोष प्रकट किया कि इस विषय में बहुत कम प्रगति हुई है। किन्तु इसी मध्य बर्मा, थाईलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका और राष्ट्रवादी चीन की 'संयुक्त सैनिक समिति' ने बर्मा प्रदेश से चीनी सैनिकों को निकालना शुरू कर दिया और इस तरह यह समस्या शांति पूर्ण तरीके से हल हो गई।

(१२) संयुक्त राज्य अमेरिका के हवाबाजों सम्बन्धी विवाद

१० दिसम्बर १९५४ को कोरिया युद्ध में भाग लेने वाले १६ राष्ट्रों ने संयुक्त राज्य अमेरिका के चीन द्वारा कैद किये गये ११ हवाबाजों की मुक्ति कराने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ के महामंत्री से प्रार्थना की। ये हवाबाज चीन द्वारा गिरफ्तार किये गये थे और जासूसी के अपराध में इन्हें लम्बी सजा दी गई थी। प्रार्थी राष्ट्रों का कहना था कि चीन का यह कार्य कोरियायी विराम संधि-समझौते का उल्लंघन है। इस पर संघ के तत्कालीन महामन्त्री डाग हैमर शोल्ड ने पांच दस जनवरी १९५५ को पेकिंग में चीनी प्रधान मंत्री चाउ-एन-लाई से इस विषय पर वार्तालाप की। इसके बाद उन्होंने इस समस्या से सम्बद्ध अन्य महाशक्तियों के साथ भी बात चीत की। महामंत्री के प्रयासों का अनुकूल परिणाम निकला। अप्रैल १९५५ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने कुछ चीनी छात्रों को स्वदेश लौटने दिया, मई में फारमोसा जलडमरू मध्य में सैनिक कार्यवाही बंद कर दी गई और बदले में अमेरिका के राष्ट्रसंघ हवाई जहाजों के चालक द्वारा बंदी बना लिये गये ४ चालक मुक्त कर दिये गये। तत्पश्चात ४ अगस्त १९५५ को चीन ने ११ अमेरिकन हवाबाजों को भी मुक्त कर दिया। चूंकि संघ के महामंत्री के प्रयासों के फलस्वरूप ही प्रधानतः यह समस्या सुलझ सकी थी अतः अमेरिकन राष्ट्रपति ने संघ एवं महामंत्री दोनों को ही विशेष रूप से धन्यवाद दिया।

(११) मोरक्को तथा ट्यूनिसिया सम्बन्धी विवाद
(The Question of Morocco and Tunisia)

मोरक्को और ट्यूनिसिया दोनों ही उत्तरी अफ्रीका में फ्रेंच साम्राज्य के अंग थे। द्वितीय महायुद्ध के बाद इनमें राष्ट्रीयता की भावना ने जोर पकड़ा और स्वतन्त्रता का प्रबल आन्दोलन हुआ।

१९५१ में छः अरब राज्यों ने महासभा में यह शिकायत पेश की कि फ्रांस मोरक्को में संघ के चार्टर के उद्देश्यों एवं मानवीय अधिकारों की अवहेलना कर रहा है अतः महासभा को मामले की छानबीन करनी चाहिये। ११ अफ्रे-शियायी राष्ट्रों के प्रस्ताव पर महासभा ने अपने सातवें अधिवेशन में इस प्रश्न पर विचार किया। इस पर फ्रांस ने आपत्ति प्रकट करते हुए कहा कि चूंकि यह प्रश्न उसके आन्तरिक अधिकार क्षेत्र में आता है अतः महासभा को इस पर विचार करने का कोई अधिकार नहीं है। लेकिन फ्रांस की यह आपत्ति स्वीकार नहीं की गई और १९ दिसम्बर १९५२ को पारित किये गये अपने प्रस्ताव में महासभा ने यह आशा व्यक्त की कि "फ्रांस मोरक्को की जनता को मौलिक स्वाधीनताएं देने का प्रयास करेगा। परन्तु स्थिति बिगड़ती ही गई। तब २१ अगस्त १९५३ को पाकिस्तान साइबेरिया एवं १३ अफ्रेशियायी राज्यों ने सुरक्षा परिषद् का आपातकालीन अधिवेशन बुलाने का आग्रह किया। परन्तु परिषद् ने इस विषय पर विचार विमर्श करने से इंकार कर दिया। फिर भी महासभा इसी निर्णय पर बल देती रही कि फ्रांस और मोरक्को परस्पर वार्ता करके प्रश्न को हल करें। बाद में २ मार्च १९५६ को फ्रांस ने एक संधि द्वारा मोरक्को में अपने अधिकारों का परित्याग कर दिया और उसकी स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान कर दी। १२ नवम्बर १९५६ को मोरक्को को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया।

ट्यूनीसिया का प्रश्न भी मोरक्को के समान ही था। २ अप्रेल १९५२ को ११ एशियायी और अफ्रीकी राज्यों ने तथा ट्यूनीसिया के प्रधानमंत्री ने ट्यूनीसिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित किया। यह कहा गया कि फ्रांस तथा स्वतन्त्रता की प्राप्ति के लिये संघर्षरत ट्यूनीसिया की जनता के बिगड़ते हुए सम्बन्धों पर ध्यान दिया जाय। फ्रेंच प्रतिनिधि ने विरोध प्रदर्शित करते हुए कहा कि परिषद् को किसी देश के घरेलू अधिकार में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये और सुरक्षा परिषद् ने भी १४ अप्रेल १९५२ को ट्यूनीसिया के प्रश्न पर विचार करने से यह कह कर इंकार कर दिया कि यह फ्रांस का घरेलू मामला है। इसके उपरांत अरब राज्यों ने इस प्रश्न पर विचार करने के लिये महासभा का विशेष अधिवेशन की मांग की परन्तु आवश्यक बहुमत न मिल सकने के कारण उनकी मांग स्वीकृत नहीं हुई। तत्पश्चात् महासभा के सातवें अधिवेशन की कार्य सूची में इस समस्या को स्थान दिलाने का प्रयास किया गया। फ्रांस ने उग्र विरोध करते हुए प्रश्न के विवाद में भाग लेने से इंकार कर दिया। अन्त में महासभा का निर्णय इस प्रश्न को कार्यसूची में स्थान देने के पक्ष में हुआ।

मोरक्को के प्रश्न को भी इसी अधिवेशन के कार्यक्रम में सम्मिलित किया गया।

महासभा के सातवें और आठवें वार्षिक अधिवेशनों में मोरक्को तथा ट्यूनीसिया प्रदेशों में रहने वाले लोगों की स्वतन्त्रता के मौलिक अधिकार को स्वीकार करते हुए सम्बन्धित पक्षों में इस विषय में समझौता करने का आग्रह किया गया। नवें अधिवेशन में यह प्रश्न फिर से महासभा के समक्ष प्रस्तुत हुआ। परन्तु चूंकि दोनों पक्षों में अलग से वार्ता प्रारम्भ हो चुकी थी अतः यही उचित समझा गया कि इस पर विचार स्थगित कर दिया जाय।

अन्त में पारस्परिक वार्ता के फलस्वरूप फ्रांस तथा ट्यूनीसिया के मध्य २० मार्च १९५६ का प्रोटोकोल समझौता हुआ जिसमें फ्रांस की सरकार ने ट्यूनीसिया की स्वाधीनता को मान्यता प्रदान की। १२ नवम्बर १९५६ को ट्यूनीसिया को भी संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया।

(१४) दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार का प्रश्न

संयुक्त राष्ट्र संघ के इतिहास में जितना विचार इस प्रश्न पर हुआ है संभवतः उतना किसी अन्य प्रश्न पर नहीं हुआ। महासभा के लगभग प्रत्येक अधिवेशन में इस प्रश्न को उठाया गया है उस पर विस्तार से विवाद हुआ है लेकिन अन्तिम परिणाम के रूप में दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के के साथ दुर्व्यवहार की समस्या ज्यों की त्यों पूर्ववत् बनी हुई है। इसका एक मात्र कारण महाशक्तियों की सक्रिय अभिरुचि का अभाव और दक्षिण अफ्रीकन सरकार की हठवादिता है।

सन् १९४६ में महासभा के प्रथम अधिवेशन में ही भारतीय प्रतिनिधि ने दक्षिण अफ्रीकन यूनियन में वहां की सरकार द्वारा भारतीयों के प्रति बरती जाने वाली भेद भाव की नीति एवं १९४६ की 'एशिया टिक लैण्ड टैन्योर एण्ड रिप्रेजेन्टेशन एक्ट' (Asiatic Land Tenure and Representation Act) की अन्याय पूर्ण तथा अपमानजनक व्यवस्थाओं की ओर ध्यान आकर्षित किया। भारत ने कहा कि दक्षिण अफ्रीका की नीति १९२७ और १९३२ के केपटाउन समझौतों *(Capetown Agreements) और संघ के चार्टर की

* भारतीय नैटाल के ब्रिटिश उपनिवेश में यूरोपियन मिलों की मांग और एक समझौते के आधार पर जिसमें कहा गया है कि दक्षिण अफ्रीका में जाने वाले भारतीयों को यूरोपियन पर लागू होने वाले कानून से किसी पृथक कानून द्वारा शासित नहीं किया जायेगा सर्व प्रथम भारतीय १८६० में प्रतिज्ञाबद्ध भारतीय स्वतन्त्र श्रमिकों के रूप से दक्षिण अफ्रीका गये थे। लेकिन बाद में उनके साथ भेदभावों की नीति बरती जाने लगी। १९०७ में महात्मा गांधी ने इस अन्याय के विरुद्ध सत्याग्रह आन्दोलन चलाया और १९१३ में भारतीय प्रवासियों पर लगाये गये विभिन्न प्रतिबंधों का विरोध किया। परिणामस्वरूप

उन व्यवस्थाओं के प्रतिकूल है जिनमें 'मानवीय अधिकारों तथा मौलिक स्वतंत्रताओं की पवित्रता' का उल्लेख हुआ है। दक्षिण अफ्रीका की यूनियन ने यह तर्क पेश किया कि प्रश्न विशुद्ध रूप से संघ के चार्टर की धारा २ (७) के अनुसार उसका घरेलू मामला है अतः संघ इसमें कोई हस्तक्षेप नहीं कर सकता। किन्तु महासभा ने दक्षिण अफ्रीकन यूनियन के मत से असहमत होते हुए कहा कि चूँकि यह प्रश्न ऐसा है जिसमें संघ के २ सदस्यों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बिगड़ सकते हैं अतः इस पर संघ को विचार करने का अधिकार है। दक्षिण अफ्रीका ने प्रश्न को घरेलू मामला बताते समय यह भी कहा था कि पश्चिमी जीवन स्तर के संरक्षण के लिए श्वेत और अश्वेत का भेदभाव अनिवार्य है।

महासभा ने भारतीय शिकायत पर विचार करने का निश्चय कर लेने के उपरान्त १६ नवम्बर १९४६ को एक प्रस्ताव पारित करके दक्षिण अफ्रीका को 'धार्मिक जातीय अत्याचार तथा भेदभाव की तुरन्त समाप्ति' के लिए कहा। दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रस्ताव के आधार पर होने वाले पारस्परिक वार्तालाप में भाग लेना अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसका अर्थ यह होता कि उसने महासभा के कथनानुसार चार्टर का उल्लंघन स्वीकार कर लिया है। १९४९ के तृतीय अधिवेशन में महासभा ने अपने एक प्रस्ताव के द्वारा यह सिफारिश की कि गतिरोध को समाप्त करने के लिए भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका इस विषय में एक गोलमेज सम्मेलन करें और उसमें समस्या पर विचार करते समय चार्टर के सिद्धान्तों और प्रयोजनों तथा मानवीय अधिकारों की सार्वभौम घोषणा का ध्यान रखें। किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इस प्रस्ताव को पुनः 'घरेलू मामले में हस्तक्षेप' के आधार पर अस्वीकार कर दिया। फरवरी १९५० में इस सम्मेलन के लिए प्रारम्भिक वार्तालाप की चर्चा भी भंग हो गई।

जून १९५० में दक्षिण अफ्रीका के प्रधानमन्त्री डा० मलान ने कुख्यात 'समूह क्षेत्र विधेयक' (Group Area Act) पारित कर दिया। श्वेत और अश्वेत जातियों के शहरों में पृथक क्षेत्रों में रहने के कानून से क्षुब्ध हो कर भारत ने दक्षिण अफ्रीका से अपना कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। दक्षिण

गांधी-स्मट्स समझौता हुआ तथा भारतीय सहायता विधेयक बना जिसके फलस्वरूप भारतीयों की कठिनाइयों में सुधार हो गया और उनका देशान्तर जाना रुक गया। बाद में 'केपटाउन समझौतों' में उपरोक्त व्यवस्थाओं का नवीनीकरण किया गया। किन्तु विभिन्न समझौतों के बाद भी भारतीयों के साथ दक्षिण अफ्रीकन गोरी सरकार की [illegible] नीति जारी रही। १९४३ में नेटाल प्रान्त में 'पेगिंग विधेयक' (Pegging Act) द्वारा एशियाइयों के भूमि प्राप्त करने सम्बन्धी अधिकार पर वैधानिक प्रतिबंध लगा दिया और १९४६ के एशियाटिक लैंड टेन्योर एण्ड इण्डियन रिप्रेजेन्टेशन एक्ट' लागू कर दिया जिसका परिणाम यह हुआ कि व्यापार एवं निवास के बारे में भारतीयों का पूर्ण अलगाव हो गया।

अफ्रीकन सरकार की पृथक्करण की इस नई नीति ने प्रवासी भारतीयों के सत्याग्रह आन्दोलन को और भी बढ़ावा दिया। १ नवम्बर १९५१ को महासभा के सातवें अधिवेशन के सम्मुख श्रीमती विजय लक्ष्मी पंडित ने कहा—"दक्षिण अफ्रीका की नीति उन सबके लिए गम्भीर चिंता है जिनके लिए संयुक्त राष्ट्र की स्थापना हुई है। एक जाति का दूसरे पर प्रभुत्व स्थिर रखने के लिए निर्मित जाति भेद भाव की नीति के अनुसरण से दक्षिण अफ्रीका में स्थिति दिन प्रतिदिन बिगड़ रही है। अपने मूलभूत अधिकारों और स्वतंत्रता को स्थापित करने का साहस करने पर भारतीयों को कारावास, आर्थिक दण्ड यहां तक कि कोड़े इत्यादि की मार भी सहनी पड़ती है। पर्याप्त विचार विमर्श के बाद महासभा ने अपने इस अधिवेशन में एक प्रस्ताव पारित करके पुनः यह सिफारिश की कि ग्रुप एरिया ऐक्ट कानून का प्रयोग स्थगित किया जाय और गोलमेज सम्मेलन का आयोजन हो। यह भी निश्चय किया गया कि यदि गोलमेज सम्मेलन के आयोजन में सफलता नहीं मिले तो युगोस्लाविया, क्यूबा और सीरिया के प्रतिनिधियों का सत्कार्य आयोग (Good off ces Commi- ssion) समस्या को सुलझाने के लिए नियुक्त किया जाय। दक्षिण अफ्रीका में श्वेत एवं अश्वेत जातियों को पृथक रखने की समस्या का अध्ययन करने के लिए एक समिति भी नियुक्त की गई। इस तीन सदस्यीय समिति में संयुक्त राज्य अमरिका के राल्फ बुंच, चिली के हर्मन सैण्टाक्रूज और मैक्सिको के जेम टोरेस बोडे (Jaime Torres Bodet) को नियुक्त किया गया।

सातवें अधिवेशन में नियुक्त सत्कार्य आयोग को अपनी रिपोर्ट महासभा के आठवें नियमित अधिवेशन में प्रस्तुत करनी थी। तदनुसार १४ सितम्बर, १९५३ को आयोग ने महासभा को सूचित किया कि दक्षिण अफ्रीका की सरकार की सम्मति में पिछले वर्ष का प्रस्ताव अवैधानिक है इसलिए उसने आयोग को मान्यता देने से इन्कार कर दिया है। इस प्रकार की रिपोर्ट प्राप्त होने पर भी महासभा के आठवें अधिवेशन में यही निश्चय किया गया कि आयोग अपना कार्य जारी रखे। सितम्बर १९५४ में आयोग ने पुनः महासभा को अपनी असफलता की सूचना दी। अपने नवें अधिवेशन में महासभा ने यह सुझाव दिया कि भारत, पाकिस्तान और दक्षिण अफ्रीका के लिए यही हितकर है कि वे पारस्परिक बातचीत के द्वारा समस्या को सुलझाने की चेष्टा करें। वे अपनी सहायता के लिए किसी व्यक्ति अथवा अभिकरण को नियुक्त कर लें। यदि इसमें उन्हें सफलता न मिले तो संयुक्त राष्ट्र संघ के महामंत्री उनकी सहायता के लिए किसी व्यक्ति को नियुक्त कर देंगे। चूंकि दक्षिण अफ्रीका के तीव्र विरोध और दुराग्रह के कारण तीनों सरकारें पारस्परिक वार्तालाप में आगे बढ़ने में असफल रहीं और किसी व्यक्ति को एकमत से नियुक्त न कर सकीं अतः जून १९५५ में संघ के महामंत्री ने ब्राजील के लुइ डी फारो (Luis d F ro) को इस काम को सम्पादित करने के लिए नियुक्त कर दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ का यह प्रयत्न भी निष्फल हुआ क्योंकि जहाँ भारत और पाकिस्तान ने लुइ डी फारो के साथ सहयोग करना मान लिया वहां दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने उसके साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया। इसके बाद महासभा ने दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार के प्रश्न

को अपने दसवें अधिवेशन के कार्यक्रम में शामिल करके आवश्यक विचार हेतु उसे राजनीतिक समिति को सौंप दिया। परन्तु इसके पहले कि राजनीतिक समिति प्रश्न पर विचार प्रारम्भ करती दक्षिण अफ्रीका ने महासभा से अपने प्रतिनिधि को वापिस बुला लिया। विवश होकर महासभा ने १४ दिसम्बर १९५५ को पुनः अपना वही पुराना रवैया अपनाया कि दोनों पक्ष बातचीत के द्वारा प्रश्न को सुलझायें और उनकी सूचना महासभा के अगले अधिवेशन में प्रस्तुत करें। अपने ग्यारहवें अधिवेशन में ३० जनवरी १९५७ को महासभा ने जातीय आधार पर भेदभाव की नीति की आलोचना करते हुए दक्षिण अफ्रीकन सरकार के रवैया पर खेद प्रकट करके सन्तोष कर लिया। महासभा ने दक्षिण अफ्रीका से अपनी नीतियों को बदलने की प्रार्थना एक बार और दोहराई।

दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के साथ दुर्व्यवहार के प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ अभी तक नहीं सुलझा पाया है। संघ ने प्रारम्भ के कुछ वर्षों में इस प्रश्न के प्रति अवश्य सक्रिय दिलचस्पी ली किन्तु बाद में उसकी नीति प्रदर्शनात्मक ही अधिक रही है। इसका मुख्य कारण यही है कि पाश्चात्य शक्तियों ने शीत युद्ध अधिक उग्र होने के कारण भारत के पक्ष का पहले के समान समर्थन करना छोड़ दिया है। वे दक्षिण अफ्रीका को मास्को के विरुद्ध संघर्ष में अपने साथ बनाये रखना चाहते हैं और इसीलिए उसके प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाये हुए हैं। एशिया और अफ्रीका में उपनिवेशवाद के विरुद्ध उमड़ते हुए व्यापक असंतोष ने भी उन्हें भयभीत कर दिया है। वास्तव में इस प्रकार की मानवीय व्यवहार की समस्या को न सुलझा पाना संयुक्त राष्ट्र संघ की एक बहुत बड़ी विफलता है। यह एक दुर्भाग्यपूर्ण भूल है कि समस्त विश्व असहाय होकर ताकता रहे जबकि दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद जातीय घमण्ड और गोरों की प्रभुता की काम प्रवाह के विपरीत आस्था के सवाग्य समर्थकों द्वारा मानवीय मूल्यों पर आघात किया जा रहा है। इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं कि यदि संयुक्त राष्ट्र संघ रंगभेद की नीति और जातिवाद को समाप्त करने के प्रति सक्रिय नहीं हुआ तथा पश्चिमी शक्तियों के हाथों का खिलौना बना रहा तो विश्व को भयंकर जातीय संघर्ष की ज्वाला में जलना पड़ेगा।

१५ काश्मीर की समस्या
(The Dispute of Kashmir)

लगभग ८४४११ वर्गमील में फैला भारत का अविभाज्य अंग काश्मीर का छोटा सा राज्य भारत के स्वतन्त्रता के अरुणोदय से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक शतरंज का मोहरा बना हुआ है और भारत तथा पाकिस्तान के बीच राजनीतिक विवाद और तनाव का एक प्रमुखतम कारण है। पाकिस्तान का मत, गला फाड़-फाड़ कर यह कहते नहीं थकते कि जब तक भारत काश्मीर को पाकिस्तान को नहीं सौंप देता तब तक भारत और पाकिस्तान के पारस्परिक सम्बन्धों में कभी सुधार नहीं हो सकता। पाकिस्तान हथियारों के बल पर काश्मीर पर कब्जा करने के प्रथम अनेक असफल प्रयास कर चुका है किन्तु हर बार मुँह की खाकर भी उसे और उसके युद्धोन्मादी नेताओं को यह होश नहीं

पाया कि भविष्य में ऐसी भी आने वाली किसी भी हिमाकत का जो परिणाम उन्हें भोगना पड़ेगा वह उससे कहीं अधिक भयंकर होगा जो अगस्त सितम्बर १९६५ के भारत-पाक युद्ध में उन्हें भोगना पड़ा था।

काश्मीर विवाद का जन्म भारत की स्वतंत्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद ही हो गया और तब से लेकर आज तक यह सजीव रूप में विद्यमान है और इस बात का खुला ढिंढोरा पीट रहा है कि अपने आप को विश्व-शांति न्याय और मानव अधिकारों का संरक्षक कहने वाला संयुक्त राष्ट्र संघ किस तरह पाश्चात्य एवं पूंजीवादी राष्ट्रों के हाथ का खिलौना बना हुआ अपने महान उद्देश्यों का स्वयं ही उपहास उड़ा रहा है तथा एक खुली सचाई पर राजनीतिक प्रपंचों और दाव-पेंचों की ओट में झूठ का पर्दा डालने का असफल प्रयास कर रहा है। फिर भी एक विश्व संस्था से हमें यही आशा करनी चाहिए कि अपना अस्तित्व बनाये रखने के लिए वह निष्पक्षता की ओर दृढ़ता पूर्वक कदम बढ़ायेगी और यह सिद्ध कर देगी कि वह जिन महान उद्देश्यों को लेकर बनी है उन्हें पूरा करने को दृढ़ प्रतिज्ञ है तथा उसकी दृष्टि में आक्रमणकारी राष्ट्र, आक्रमण पीड़ित राष्ट्र नहीं बन सकता—चाहे वह कितने भी कूटनीतिक दाव पेंच खेले।

पृष्ठ-भूमि—इससे पहले कि हम काश्मीर-समस्या पर विस्तार से विचार करें, यह अधिक उचित होगा कि काश्मीर की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक संक्षिप्त दृष्टि डाल ली जाय। ज्ञात ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर १८१४ में पंजाब के प्रतापी सिक्ख नरेश रणजीतसिंह ने काश्मीर पर अधिकार कर लिया था। फरवरी १८४६ में अंग्रेजों द्वारा सिक्खों की पराजय होने पर जम्मू राज्य के सिक्ख गवर्नर गुलाबसिंह ने लद्दाख व काश्मीर को अपने अधिकार में करके स्वयं को वहाँ का स्वतन्त्र शासक घोषित कर दिया। तत्पश्चात् इसी वंश के शासक हरिसिंह ने १९२५ में गिलगित को भी विजय करके अपने राज्य में मिला लिया। तभी से इस सम्पूर्ण प्रदेश पर हिन्दू वंश के राजा राज्य करते रहे।

सन् १९३०–३१ में काश्मीर के मुसलमानों द्वारा एक एसोसिएशन का संगठन किया गया जिसने तत्कालीन शासक के विरुद्ध आन्दोलन चलाने की विफल चेष्टा की। तत्पश्चात् अंग्रेजों के हस्तक्षेप से ग्लैंसी कमीशन की नियुक्ति हुई। इस कमीशन की सिफारिशों के आधार पर शासन सम्बन्धी कुछ सुधार किये गये यद्यपि राजा के निरंकुश शासन पर कोई प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित नहीं हो सका। १९३८ में शेख अब्दुल्ला द्वारा 'National Conference of Jammu and Kashmir' नामक एक नवीन राजनीतिक दल गठित किया गया जिसने अखिल भारतीय कांग्रेस से स्वाधीनता-संग्राम का संचालन करने के लिए पथ-प्रदर्शन माँगा। अब मुस्लिम कान्फ्रेंस भी सक्रिय हो उठी और उसने मुस्लिम लीगी नेता मोहम्मद अली जिन्ना की ओर नेतृत्व के लिए निहारा। सन् १९४१ में 'National Conference of Jammu and Kashmir' वाला शेख अब्दुल्ला का दल All India States Peoples

Conference का सदस्य बन गया। भारत की सभी देशी रियासतों में स्वतन्त्रता संग्राम का संचालन करने का उत्तरदायित्व इसी संस्था पर था।

१९४७ में भारत के स्वतन्त्र होने पर काश्मीर की स्थिति पूर्ण स्वतन्त्र देशी राज्य की थी।

काश्मीर के महाराजा द्वारा भारत में काश्मीर का विलय और विवाद का प्रारम्भ—जब अंग्रेजों ने भारतीय उपमहाद्वीप को अगस्त १९४७ में दो स्वतंत्र राज्यों— भारत तथा पाकिस्तान—में विभाजित किया तो उन्होंने देशी राज्यों के बारे में कोई स्पष्ट बात नहीं कही। ३ जून १९४७ को इस सम्बन्ध में एक घोषणा करते हुए यह अवश्य कहा गया कि जब ब्रिटिश सरकार यहां से हट जायगी तो सर्वोच्चसत्ता का लोप हो जायगा देशी राज्य पूर्ण स्वतन्त्र राज्यों का स्तर प्राप्त कर लेंगे और इन राज्यों को अपनी स्थिति स्पष्ट करने के लिए अपने भाग की केन्द्रीय-सत्ता से कोई न कोई समझौता करना पड़ेगा। १२ मई १९४६ को जो केबिनट मिशन योजना प्रस्तावित की गयी थी उसका भी यही सारांश था।

देशी राज्यों के विषय में अपनी उपरोक्त नीति प्रकार सुविचारित योजना के अनुसार भारत के तत्कालीन गवर्नर जनरल ने देशी रियासतों के समक्ष यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि वे १५ अगस्त १९४७ तक भारत व पाकिस्तान दोनों में से किसी एक में शामिल होने का अन्तिम निर्णय कर लें और प्रवेशपत्र (Instrument of Accession) पर हस्ताक्षर कर दें अथवा जब तक वे अन्तिम निर्णय न कर लें तब तक सम्बन्धित केन्द्रीय सरकार से 'स्थिति को यथापूर्व रखने का समझौता (Standstill Agreement) कर लें। इसके उत्तर में काश्मीर नरेश श्री हरिसिंह ने भारत और पाकिस्तान दोनों की अन्तरिम सरकारों को १२ अगस्त १९४७ को निम्न आशय के तार भेजे—

जम्मू और काश्मीर की सरकार आपकी सरकार के साथ 'यथा स्थिति-समझौते' का स्वागत करेगी। इस सरकार का प्रस्ताव है कि जब तक नया समझौता वस्तुस्थिति को अधिक विस्तार से निश्चित करने के लिये न हो जाय तब तक मौजूदा प्रबन्धों को चालू रखा जाय।"

अपने १५ अगस्त के उत्तर में पाकिस्तान ने काश्मीर सरकार के 'यथास्थिति समझौते' को स्वीकार कर लिया और यातायात, पूर्ति तार एवं डाक-व्यवस्था को चालू रखने का वचन दिया। भारत ने अपने उत्तर में कहा कि जम्मू एवं काश्मीर की सरकार अपने किसी प्रतिनिधि को 'यथास्थिति समझौते' पर वार्ता करने को शीघ्र भेजे।

लेकिन भारत के साथ किसी प्रकार का समझौता किये जाने से पूर्व ही काश्मीर में गंभीर स्थिति के लक्षण पैदा हो गये। पाकिस्तान के गवर्नर जनरल श्री मोहम्मद अली जिन्ना ने काश्मीर राज्य-सरकार पर इस बात के लिए पूरा जोर डालना शुरू किया कि वह काश्मीर का पाकिस्तान में विलय करने के लिए राजी हो जाय। अपने दबाव को प्रभावकारी बनाने के लिए

पाकिस्तान ने अपने प्रदेश में होकर आने वाले मार्गों से अनाज, नमक, पैट्रोल आदि भेजना बन्द करके काश्मीर राज्य के लिए विकट आर्थिक कठिनाइयां पैदा कर दीं। कुछ समय के लिए ऐसा लगा मानों काश्मीर पाकिस्तान में शामिल हो जायगा। काश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरिसिंह ने पाकिस्तान के साथ 'स्थिति को यथापूर्व' बनाये रखने के लिए यद्यपि १२ अगस्त को ही समझौता कर लिया था लेकिन इसके पहले कि वे पाकिस्तान में काश्मीर के विलय के बारे में किसी अन्तिम निर्णय पर पहुंच पाते की जिन्ना के आदेश पर कबाइलियों और पाकिस्तानी सेना के एक बड़े भाग ने २२ अक्टूबर, १९४७ को काश्मीर पर अपना अमानवीय और नग्न आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण इतना आकस्मिक और तीव्र था कि ४ दिन में ही आक्रान्ता तेजी से आगे बढ़ते हुए काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से २० मील दूर बारामूला पहुंच गये। मार्ग में कबाइलियों और पाकिस्तान के नियमित सैनिकों ने जनता को लूटा, स्त्रियों का अपहरण किया और ऐसे अनेक लज्जाजनक कार्य किये जो मनुष्यता के नाम पर अमिट कलंक हैं। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख कर काश्मीर के महाराजा और नेशनल कान्फ्रेंस ऑफ जम्मू एण्ड काश्मीर दल के नेता तथा काश्मीर के तत्कालीन प्रधान मंत्री शेख अब्दुल्ला ने २६ अक्टूबर १९४७ को (अर्थात् आक्रमण होने के चार दिन बाद ही) भारत सरकार से काश्मीर को भारत में सम्मिलित कर अविलम्ब सैनिक-सहायता देने का अनुरोध किया। महाराजा ने प्रवेश-पत्रक (Instrument of Accession) पर अपने हस्ताक्षर कर जम्मू और काश्मीर राज्य को भारत में सम्मिलित करते हुए लिखा—

"मैं भारत सरकार की सहायता चाहते हुए प्रवेश-पत्रक पर हस्ताक्षर कर स्वीकृति के लिये भेज रहा हूं। इसके सिवाय मेरे पास दूसरा विकल्प यही हो सकता है कि अपने राज्य और प्रजा को आततायी लुटेरों के हाथ में दे दूं। इस लूट के आधार पर संसार का कोई सभ्य राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। मैं आपकी सरकार से शीघ्र सैनिक सहायता भेजने के लिये निवेदन करता हूं।*"

काश्मीर सरकार के अनुरोध पर भारत की सरकार ने गंभीरता से विचार किया और २७ अक्टूबर १९४७ को महाराजा की प्रार्थना स्वीकार करते हुए हवाई जहाजों से काश्मीर की रक्षा के लिए अपनी सेनाएं भेज दीं और साथ ही युद्ध-समाप्ति पर जन-मत-संग्रह की शर्त के साथ काश्मीर को भारत का अंग मान लिया। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड माउण्ट बेटन ने महाराजा हरिसिंह को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने भारत द्वारा सहायता का आश्वासन और सुरक्षात्मक कार्यवाही का उल्लेख किया तथा इसी के साथ शांति और सुरक्षा की स्थापना के पश्चात् जनमत जानने का भी आश्वासन दिया। परन्तु, जैसा कि बेन्स (J. S. Bains) महोदय का कहना है कि यद्यपि इस तथ्य से मना नहीं किया जा सकता कि जनता की इच्छा

*Vital Speeches on Kashmir (Special Issue) p. 80

की ओर इशारा किया गया था लेकिन गवर्नर जनरल का पत्र जनमत संग्रह के बारे में कुछ नहीं कहता।*

वस्तुत जनमत संग्रह की बात भारत की सरकार ने इसलिए कही थी कि भारतीय नेताओं का बहुमत प्रारम्भ से ही आदर्शवादी दृष्टिकोण का रहा है और काश्मीर की समस्या पर भी वे आदर्शवाद से मुक्त नहीं हो सके। श्री नेहरू ने अपने अनेक भाषणों और पत्रों में जनमत का आग्रह किया है, उन्होंने जनता की इच्छा को आधार माना। २ नवम्बर, १९४७ को अपने एक भाषण में उन्होंने कहा कि जब तक काश्मीर के लोग अपनी इच्छा प्रकट नहीं करते तब तक विलय अस्थायी है। काश्मीर में शांति स्थापित होने पर ही यह संभव है। इस संकट के समय किसी भी प्रकार का निर्णय लेने के लिए वे उत्सुक नहीं हैं। काश्मीर की जनता को अपनी बात कहने का पूर्ण अवसर दिया जायगा।† आलोचकों का कहना है कि जनमत संग्रह की बात कहना श्री नेहरू की और भारत सरकार की एक गंभीर राजनीतिक गलती थी जिसका खमियाजा उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाना पड़ा।

भारतीय संघ में काश्मीर के विलय की प्रक्रिया का प्रारम्भ २६ अक्टूबर १९४७ से हुआ और २५ नवम्बर, १९४९ को काश्मीर के युवराज कर्णसिंह ने भारतीय संघ के साथ काश्मीर के विलय को और पुष्ट किया।+ इसी समय भारतीय फौजें श्रीनगर से २० मील की दूरी पर बारामूला पर ही पाकिस्तान की सेनाओं की गति रोक चुकी थीं और उन्हें बुरी तरह पीछे धकेलने लग गई थी।

---

*J S Bains India's International Disputes, 1947 p 72.

†"We made a condition that the accession would have to be considered by the people of Kashmir later when peace and order were established. We were anxious not to finalise any thing in a moment of crisis and with-out the fullest opportunity to the people of Kashmir to have theirsay"

—2-November 1947—*Nehru*

+26th October 1947 Maharaja, Jammu and Kashmir to Governor General, India.

"— — —I have accordingly decided to do so and I attach the Instrument of Accession for acceptance by your Government"

25th November 1949 Proclamation—Maharaja J K. "The constitution of India shortly to be adopted by the constituent Assembly of India shall in so far as it is applicable to the state of J K. govern the constitutional relationship between this state and contemplated Union of India and shall be enforced by me."

पाकिस्तान ने अपने प्रदेश में होकर आने वाले मार्गों से अनाज, नमक, पैट्रोल आदि भेजना बन्द करके काश्मीर राज्य के लिए विकट आर्थिक कठिनाइयाँ पैदा कर दीं। कुछ समय के लिए ऐसा लगा मानों काश्मीर पाकिस्तान में शामिल हो जायगा। काश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरिसिंह ने पाकिस्तान के साथ 'स्थिति को यथापूर्व' बनाये रखने के लिए यद्यपि १२ अगस्त को ही समझौता कर लिया था लेकिन इसके पहले कि वे पाकिस्तान से काश्मीर के विलय के बारे में किसी अन्तिम निर्णय पर पहुँच पाते श्री जिन्ना के आदेश पर कबाइलियों और पाकिस्तानी सेना के एक बड़े भाग ने २२ अक्टूबर १९४७ को काश्मीर पर अपना अमानवीय और नग्न आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण इतना आकस्मिक और तीव्र था कि ४ दिन में ही आक्रान्ता तेजी से आगे बढ़ते हुए काश्मीर की राजधानी श्रीनगर से २० मील दूर बारामूला पहुँच गये। मार्ग में कबाइलियों और पाकिस्तान के नियमित सैनिकों ने जनता को लूटा, स्त्रियों का अपहरण किया और ऐसे अनेक लज्जाजनक कार्य किये जो मनुष्यता के नाम पर अमिट कलंक हैं। अपनी रक्षा का कोई उपाय न देख कर काश्मीर के महाराजा और नेशनल कान्फ्रेंस ऑफ जम्मू एण्ड काश्मीर दल के नेता तथा काश्मीर के तत्कालीन प्रधान मंत्री शेख अब्दुल्ला ने २६ अक्टूबर १९४७ को (अर्थात् आक्रमण होने के चार दिन बाद ही) भारत सरकार से काश्मीर को भारत में शामिल कर अविलम्ब सैनिक-सहायता [redacted] का अनुरोध किया। महाराजा ने प्रवेश-पत्रक (Instrument of Accession) पर अपने हस्ताक्षर कर जम्मू और काश्मीर राज्य को भारत में सम्मिलित करते हुए लिखा—

"मैं भारत सरकार की सहायता चाहते हुए प्रवेश-पत्रक पर हस्ताक्षर कर स्वीकृति के लिये भेज रहा हूँ। इसके सिवाय मेरे पास दूसरा विकल्प नहीं है सकता है कि अपने राज्य और प्रजा को अत्याचारी लुटेरों के हाथ बेच दूँ। इस लूट के आधार पर संसार का कोई सभ्य राष्ट्र जीवित नहीं रह सकता। मैं आपकी सरकार से शीघ्र सैनिक सहायता भेजने के लिये निवेदन करता हूँ।"*

काश्मीर सरकार के अनुरोध पर भारत की सरकार ने गंभीरता पूर्वक विचार किया और २७ अक्टूबर १९४७ को महाराजा की प्रार्थना स्वीकार करते हुए हवाई जहाजों से काश्मीर की रक्षा के लिए अपनी सेनाएँ भेज दीं और साथ ही युद्ध-समाप्ति पर जन-मत-संग्रह की शर्त के साथ काश्मीर को भारत का अंग मान लिया। भारत के गवर्नर जनरल लार्ड माउन्ट बेटन ने महाराजा हरिसिंह को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने भारत द्वारा सहायता का आश्वासन और सुरक्षात्मक कार्यवाही का उल्लेख किया तथा इसी के साथ शांति और सुरक्षा की स्थापना के पश्चात् जनमत जानने का भी आश्वासन दिया। परन्तु, जैसा कि बेन्स (J. S. Bains) महोदय का कहना है कि यद्यपि इस तथ्य से मना नहीं किया जा सकता कि जनता की इच्छा

---

*Vital Speeches on Kashmir (Special Issue) p. 80.

की ओर इशारा किया गया था लेकिन अवसर जनरल का पत्र जनमत संग्रह के बारे में कुछ नहीं कहता।*

वस्तुतः जनमत संग्रह की बात भारत की सरकार ने इसलिए कही थी कि भारतीय नेताओं का बहुमत प्रारम्भ से ही आदर्शवादी दृष्टिकोण आ रहा है और काश्मीर की समस्या पर भी वे आदर्शवाद से मुक्त नहीं हो सके। श्री नेहरू ने अपने अनेक भाषणों और पत्रों में जनमत का आग्रह किया है उन्होंने जनता की इच्छा को आधार माना। २ नवम्बर १९४७ को अपने एक भाषण में उन्होंने कहा कि जब तक काश्मीर के लोग अपनी इच्छा प्रकट नहीं करते तब तक विलय अस्थायी है। काश्मीर में शांति स्थापित होने पर ही यह संभव है। इस संकट के समय किसी भी प्रकार का निर्णय लेने के लिए वे उत्सुक नहीं हैं। काश्मीर की जनता को अपनी बात कहने का पूर्ण अवसर दिया जायगा।† आलोचकों का कहना है कि जनमत संग्रह की बात कहना श्री नेहरू की और भारत सरकार की एक गंभीर राजनीतिक गलती थी जिसका खमियाजा उन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ में उठाना पड़ा।

भारतीय संघ में काश्मीर के विलय की प्रक्रिया का आरम्भ २६ अक्टूबर १९४७ से हुआ और २५ नवम्बर १९४७ को काश्मीर के युवराज कर्णसिंह ने भारतीय संघ के साथ काश्मीर के विलय को और पुष्ट किया।+ इसी समय भारतीय फौजें श्रीनगर से २० मील की दूरी पर बारामूला पर ही पाकिस्तान की सेनाओं की गति रोक चुकी थी और उन्हें बुरी तरह पीछे धकेल भगा दी थी।

---

*J S *Bains* India's International Disputes, 1947 p 72.

† We made a condition that the accession would have to be considered by the people of Kashmir later when peace and order were established. We were anxious not to finalise any thing in a moment of crisis and with-out the fullest opportunity to the people of Kashmir to have theirsay"

—2-November 1947—*Nehru*.

+26th October 1947 Maharaja, Jammu and Kashmir to Governor General, India

"— — —I have accordingly decided to do so and I attach the Instrument of Accession for acceptance by your Government"

25th November 1949 Proclamation—Maharaja J K. "The constitution of India shortly to be adopted by the constituent Assembly of India shall in so far as it is applicable to the state of J K. govern the constitutional relationship between this state and contemplated Union of India and shall be enforced by me."

संयुक्त राष्ट्र संघ में काश्मीर समस्या का प्रवेश—एक तरफ तो भारतीय सेना द्वारा आक्रमणकारियों को भगा कर शान्ति स्थापित करने का कार्य जारी था और दूसरी तरफ भारत सरकार राजनीतिक स्तर पर पाकिस्तान से अनुरोध करते हुए उस युद्ध में सहकार्य भारी कार्यवाही न करने की प्रार्थना कर रही थी। आक्रमणकारियों को पाकिस्तान द्वारा दी गई सहायता के स्पष्ट प्रमाण मिल चुके थे। स्वयं लन्दन टाइम्स ने अपने ५ दिसम्बर १९४७ के अंक में लिखा था कि—

यह निश्चित है कि पाकिस्तान आक्रमणकारियों को गैर-सरकारी रूप में सहायता कर रहा है। हमारे संवाददाताओं की ताजी खबर के अनुसार पाकिस्तान सरकार आजाद काश्मीर की सेनाओं को शस्त्र, गोलाबारूद व दूसरा सामान दे रही है। कुछ पाकिस्तानी अधिकारी युद्ध का संचालन भी कर रहे हैं। चाहे पाकिस्तान की सरकार कितना ही क्यों न इन्कार करे, पर वह नैतिक और भौतिक दोनों ही प्रकार की सहायता आक्रमकों को दे रही है।

२२ दिसम्बर को भारतीय प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने पाक प्रधानमन्त्री को कबाइलियों को दी जाने वाली पाकिस्तानी सहायता का विस्तृत विवरण देते हुए इसे बन्द करने की प्रार्थना की। शान्ति का हामी होने के कारण ही भारत इस प्रकार का अनुरोध कर रहा था अन्यथा १९४७ में स्थिति इस प्रकार की थी कि भारत सैनिक शक्ति के बल पर कुछ ही दिनों के भीतर काश्मीर के सम्पूर्ण क्षेत्र पर अधिकार कर सकता था।

पाकिस्तान की ओर से भारत के शान्ति-प्रयासों का कोई प्रत्युत्तर न मिलने पर भारत ने सुरक्षा परिषद् से शिकायत की कि पाकिस्तानी सेना और उसके द्वारा प्रेरित कबाइलियों ने भारत में विलीन काश्मीर पर आक्रमण किया है, अतः वह पाकिस्तान को काश्मीर से अपनी सेनाएं वापिस बुलाने और कबाइलियों को किसी प्रकार की सैनिक सहायता न देने आदि न देने के लिए कहे। सुरक्षा परिषद् में जो प्रार्थना पत्र भारतीय प्रतिनिधि श्री पी० पी० पिल्लई द्वारा प्रस्तुत किया गया वह इस प्रकार था—

"कबाइली और पाकिस्तान के लोगों ने भारत के अंग काश्मीर पर हमला करके ऐसी स्थिति पैदा कर दी है जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये एक गंभीर खतरा पैदा हो गया है। अतः भारत सुरक्षा परिषद् से प्रार्थना करता है कि—

(१) वह पाकिस्तान को काश्मीर में आक्रमण करने या आक्रमणकारियों को किसी भी प्रकार की सहायता देने से रोके।

(२) जम्मू और काश्मीर क्षेत्र में हो रहे युद्ध में पाकिस्तान के लोगों को किसी भी प्रकार की सहायता देने से रोके।

(३) आक्रमकों को पाकिस्तान के क्षेत्र में से गुजरने, युद्ध-संचालन के लिये पाकिस्तानी क्षेत्र का प्रयोग करने अथवा आक्रमणकारियों को सैनिक या असैनिक किसी भी प्रकार की सहायता प्राप्त होने से रोके।

भारत ने अपनी शिकायत करते समय यह भी स्पष्ट कर

दिया कि पाकिस्तान का यह आक्रमण स्वयं भारत के विरुद्ध किया आक्रमण है।

वस्तुत पाकिस्तान का इस प्रकार का व्यवहार शांति और मानव के उपासक श्री नेहरू के लिए अत्यन्त दुःखद था। श्री नेहरू ने उस स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि—

'मैं ही जानता हूं तब मैं कितना परेशान था। एक ओर हमारी शान्ति और अहिंसा की नीति दूसरी ओर आजादी के तुरन्त बाद पाकि-स्तानियों द्वारा हमको युद्ध भूमि में घसीटना— काश्मीर में खून्मार–अत्याचार हो रहा था। सौभाग्य से गांधीजी तब हमारे बीच थे—मैं उनकी शरण गया—उन्होंने हमें बताया कि काश्मीर की रक्षा करना हमारा धर्म है।

काश्मीर में जाकर हमने देखा कि न केवल कबाइली लुटेरे ही घुस आये थे बल्कि पाकिस्तानी सेना भी निहत्थे गांवों पर आक्रमण कर रही थी।

पाकिस्तान द्वारा भारत को यह खुल्लमखुल्ला युद्ध दावत में आने की दावत थी—हमने पाकिस्तान के प्रधान मंत्री से तार द्वारा अपील की कि वे कबाइली लुटेरों को (जो फंटियर प्रान्त के थे और पाकिस्तानी सीमा से होकर आते थे), रोके और इसका सरलतम उपाय यह है कि इन लुटेरो को उन दो पुलों पर रोकना जो काश्मीर पाक सीमा पर है। लेकिन पाकिस्तान ने ऐसा नहीं किया। वहां के गवर्नर जनरल ने बताया कि यह उनके बस की बात नहीं है। मन व छापामार 'आजाद' काश्मीर से आये थे और वे काश्मीर को मुक्त कर रहे थे। इतना ही नहीं पाकिस्तान ने इन लुटेरो को आधुनिक अस्त्र शस्त्रों से लैस किया था।

इधर पाक की ओर से अफसरानों दुराग्रहपूर्वक जोर देकर कह रहे थे कि—

'हमारे सेनापति का कहना है कि हमने किसी को अस्त्र शस्त्र नही दिये है और न हम कबाइलियों का नतृत्व कर रहे है।

श्री कृष्ण मेनन ने सुरक्षा परिषद में सशक्त वाणी में कहा—" "यह सब जानते हुए भी हम यहां इसलिये नही आये कि पाकिस्तान को विश्व राष्ट्रों द्वारा बलपूर्वक ठिकाने पर लगाया जाय या उस पर आर्थिक पाबन्दियां लगाई जायें — या उसे संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर निकाल जाय हम केवल यह प्रार्थना लेकर आये है कि पाकिस्तानी आक्रमण को रोका जाय।

परन्तु १५ जनवरी १९४८ को पाकिस्तान ने अपने पर आक्रमण के आरोप को मानने से इन्कार कर दिया। तब सुरक्षा परिषद में मतदान द्वारा २१ अप्रैल १९४८ को यह निर्णय लिया गया कि पांच राष्ट्रों का एक आयोग मौके पर स्थिति का अवलोकन कर समझौते का प्रयत्न करे।

पाकिस्तान ने भारत के सभी आरोपो का खण्डन करते हुए भारत पर अनेक प्रत्यारोप लगाए और यह कहा कि काश्मीर का भारत में विलय सर्वथा अवैध है।

दोनों देशों के प्रतिनिधियों को सुनने के बाद सुरक्षा परिषद ने १७ जनवरी को यह प्रस्ताव पास किया कि दोनों देशों की सरकारें अपनी जनता से

परिस्थितियों में सुधार लाने का प्रयास करें। स्वयं उस दिशा में प्रयत्न करें और ऐसी कोई बात पैदा न होने दें जिससे स्थिति और गम्भीर हो जाय। दोनों ही देशों कि सरकारों ने उक्त प्रस्तावों के पालन की स्वीकारोक्ति तो दे दी पर पाकिस्तान ने कभी भी उनका सही रूप में पालन नहीं किया।

तीन दिन पश्चात् अर्थात् २० जनवरी १९४८ को परिषद् ने ३ सदस्यों के एक आयोग की स्थापना करने का फैसला किया जो जम्मू काश्मीर में जाकर वस्तु–स्थिति के बारे में अपना प्रतिवेदन परिषद को दे तथा स्थिति में सुधार लाने के लिये आवश्यक कार्यवाही भी करे। इस आयोग के एक सदस्य की नियुक्ति भारत की सिफारिश पर, दूसरे की नियुक्ति पाकिस्तान की सिफारिश पर और तीसरे की नियुक्ति इन दोनों की सिफारिश पर होनी थी। भारत ने इस आयोग के लिए चैकोस्लोवाकिया को और पाकिस्तान ने अर्जेनटाइना को नामजद किया परन्तु ये दोनों राज्य तीसरे नाम पर रजामन्द न हो सके। इसलिए सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष ने संयुक्त राज्य अमेरिका को तीसरा सदस्य नामजद कर दिया। २१ अप्रैल को सुरक्षा परिषद् ने इस आयोग में २ सदस्य और बढ़ा दिये ये अतिरिक्त सदस्य बेल्जियम और कोलम्बिया थे। इस ५ सदस्यीय आयोग (United Nations Commission for India and Pakistan–U N C I P) को भारत में युद्ध बंद कराने तथा जनमत संग्रह का कठिन कार्य सौंपा गया। सुरक्षा परिषद् ने अपने एक अन्य प्रस्ताव में इस बात की भी सिफारिश की कि काश्मीर से विदेशी कबाइली पाकिस्तान के नागरिक एवं बड़ी मात्रा में भारतीय फौजें भी हटा ली जाय और भारत द्वारा जनमत संग्रह के लिये आवश्यक शान्ति तथा व्यवस्था के स्वतंत्रता का वातावरण तैयार किया जाय।

दोनों पक्षों से मिलने और उनके विचारों को जानने के बाद ११ अगस्त १९४८ को संयुक्त राष्ट्रीय ५ सदस्यीय आयोग ने मौके पर स्थिति का अध्ययन कर दोनों सरकारों से युद्ध बंद कर तथा समझौता करने के लिए निम्नलिखित आधार प्रस्तुत किए —

(i) पाकिस्तान अपनी फौजें काश्मीर से हटा ले और विदेशी कबाइलियों तथा काश्मीर में सामान्य रूप से न रहने वाले विदेशियों को वहां से हटाने का प्रयत्न करे।

(ii) सेनाओं द्वारा इस प्रकार खाली किये गए प्रदेश का शासन प्रबन्ध स्थानीय अधिकारियों द्वारा आयोग के निरीक्षण के अन्तर्गत किया जाए।

(iii) जब आयोग भारत को पाकिस्तान द्वारा उपरोक्त शर्तों के पूरा करने की सूचना दे तो भारत भी आयोग के साथ किये जाने वाले समझौते के अनुसार अपनी सेनाओं का अधिकांश भाग वहां से वापिस हटा ले।

(iv) अन्तिम समझौता होने तक भारतीय सरकार युद्ध विराम की सीमा के भीतर उतनी ही सेनायें रखे जितनी इस प्रदेश में कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने के कार्य में स्थानीय अधिकारियों को सहायता देने के लिये आवश्यक हो।

पहले तो पाकिस्तान ने आयोग की शर्तों को मानने में आनाकानी की और आयोग को सूचित किया कि वह कुछ शर्तों के साथ ही स्वीकार कर सकता है परन्तु अन्त में लम्बी वार्ता के बाद १ जनवरी १९४९ को दोनों देश युद्ध-विराम पर सहमत हो गए। इसके अनुसार युद्ध-विराम रेखा निश्चित की गई और उसके निरीक्षण के लिए आयोग द्वारा विभिन्न राष्ट्रों के निरीक्षक नियुक्त कर दिए गये। जनमत सम्बन्धी कार्य को पूरा करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका के एडमिरल श्री चेस्टर निमिट्ज नियुक्त हुए। उन्होंने दोनों देशों से बातचीत की परन्तु काफी प्रयास करने के उपरान्त भी वे दोनों देशों को इस प्रश्न पर सहमत नहीं कर सके और अन्त में उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया।

मैक्नाटन योजना — इसके बाद पाकिस्तान के आक्रमक इरादों के कारण काश्मीर की समस्या पुनः गम्भीर होने लगी। इस परिस्थिति में सुरक्षा परिषद् के कनाडियन सभापति मैक्नाटन ने समस्या को सुलझाने का विफल प्रयास किया। २९ दिसम्बर १९४९ को उन्होंने पाकिस्तान और भारत दोनों को अपनी अपनी सेनायें हटाने का प्रस्ताव किया जिससे काश्मीर का विसैन्यीकरण कर जनमत संग्रह किया जा सके। इस 'मैक्नाटन योजना' (Mc Naughton Plan) में पाकिस्तानी आक्रमण की कोई चर्चा नहीं थी और आक्रान्त तथा आक्रान्ता को एक ही स्तर पर रखा गया था। अनेक कारणों से भारत को यह प्रस्ताव मान्य नहीं हो सकता था। संयुक्त राष्ट्र संघ में भारतीय प्रतिनिधि श्री बेनेगल नरसिंह राव ने इस योजना पर बोलते हुए कहा था—*"आज स्थिति यह है कि पाकिस्तान जिसने कि १९४८ की सम्पूर्ण अवधि में आक्रमणकारियों अथवा आजाद काश्मीर-सेनाओं को किसी प्रकार की मदद देने से इन्कार किया था अब स्वयं न केवल एक आक्रमणकारी ही है बल्कि रियासत के लगभग आधे भाग पर अवैधानिक रूप से वास्तविक कब्जा जमाये बैठा है। यह एक नग्न आक्रमण है जिसका कोई समर्थन नहीं कर सकता। किन्तु मैक्नाटन प्रस्ताव में इस आक्रमण के अनुमोदन का कोई संकेत नहीं है।" भारत ने मुख्यतः इसी कारण योजना को अस्वीकार कर दिया।

डिक्सन मिशन—मैक्नाटन योजना के विफल होने पर २४ फरवरी १९५० को सुरक्षा परिषद ने एक प्रस्ताव को स्वीकृत किया जिसका आशय ५ महीने के भीतर काश्मीर से दोनों पक्षों की सेनाएं हटाने (Demilitarisa

---

*"To-day the position is that Pakistan which throughout 1948 denied giving any aid either to the invaders or the Azad Kashmir Forces, is now itself not only an invader but in actual occupation of nearly half the area of the State without any lawful authority from any source. This is naked aggression of which no one can approve but there is no sign of disapproval in Mac-Naughton proposal."

—B.N Rao.

tion) में था। इस कार्य को करने का उत्तरदायित्व आस्ट्रेलिया न्यायाधीश सर ओवन डिक्सन (Sir Owan Dixon) पर डाला गया। मई १९५० में डिक्सन ने अपना कार्य आरम्भ किया किन्तु अगस्त तक उन्हें यह विश्वास हो गया कि समस्या उनसे नहीं सुलझ सकती। डिक्सन का इरादा यह था कि पाकिस्तानी सेना द्वारा अधिकृत भाग पाकिस्तान के पास रहे और भारत के अधीन भाग भारत में रहे तथा केवल काश्मीर घाटी का निर्णय, जनमत संग्रह द्वारा कर लिया जाय। यह योजना दोनों ही राज्यों को मान्य नहीं हुई। अपनी असफलता स्वीकार करते हुए भी डिक्सन ने १५ सितम्बर १९५० को अपना प्रतिवेदन सुरक्षा परिषद के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। प्रतिवेदन की मुख्य बातें यह थीं—

१ मैं यह स्वीकार करता हूं कि जब २० अक्टूबर १९४७ को आक्रमणकारियों द्वारा जम्मू काश्मीर की सीमा पार की गई तो यह अन्तर्राष्ट्रीय विधियों का स्पष्ट उल्लंघन था और जब ८ मई १९४८ को पाकिस्तानी सेना के दस्तों ने काश्मीर में प्रवेश किया तो यह भी अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विरुद्ध था।

२ आत्मनिर्णय के बजाय काश्मीर का बंटवारा अधिक उचित होगा क्योंकि आत्मनिर्णय के बाद चाहे किसी राज्य में क्यों न शामिल हो, शरणार्थियों की एक नई समस्या पैदा होगी जो चिन्तनीय है।

३ पूरे राज्य में आत्मनिर्णय को लागू करने के बजाय कुछ ही हिस्सों में इसका प्रयोग करना उचित होगा। इसका प्रयोग केवल उन क्षेत्रों में हो, जहां मतदान के बिना उस क्षेत्र का भाग्य निश्चित न किया जा सके।

डिक्सन योजना भारत को स्वीकार क्यों नहीं हुई—इसके मूल में अनेक आधारभूत एवं न्याय सम्मत कारण थे—

(क) पाकिस्तानी सेना ने काश्मीर पर आक्रमण किया था जब कि भारतीय सेनायें काश्मीर सरकार के अनुरोध पर उसकी रक्षा करने के लिए गई थीं। अतः दोनों की स्थिति में एक मौलिक अन्तर था। आक्रान्ता होने के कारण पाकिस्तानी फौजों का काश्मीर से हटाया जाना आवश्यक था तथा भारत से अपनी फौजें हटाने की बात कहना सर्वथा अनुचित था।

(ख) डिक्सन ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया था कि 'काश्मीर में विरोधी कबाइलियों का तथा मई १९४८ में पाकिस्तान की नियमित सेनाओं का प्रवेश अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध था'। लेकिन डिक्सन योजना में पाकिस्तान को आक्रान्ता मानते हुए भी काश्मीर से दोनों पक्षों की सेनायें हटाये जाने का आग्रह था। इस प्रकार आक्रमणकारी पाकिस्तान और रक्षक भारत दोनों को बराबर स्तर पर ला पटकना किसी भी रूप में न्यायसंगत न था।

(ग) डिक्सन योजना में काश्मीर के विभाजन का सुझाव दिया गया था जो कदापि उचित नहीं था। काश्मीर की वैध सरकार वैधानिक रूप से काश्मीर का भारत में विलय कर चुकी थी। इस तरह काश्मीर एक भारत का अंग था जिसके विभाजन की बात कहना भारत के विभाजन की योजना स्वीकार करना था।

चूंकि डिक्सन महोदय के लिए काश्मीर समस्या का हल सम्भव नहीं हो सका, अतः उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया और साथ ही दोनों राज्यों को प्रत्यक्ष वार्ता का सुझाव दिया।

राष्ट्रमण्डलीय देशों के सुझाव—भारत और पाकिस्तान दोनों राष्ट्रमण्डल के सदस्य थे अतः राष्ट्रमण्डलीय देशों ने काश्मीर समस्या के समाधान के प्रयत्न किये और इस सम्बन्ध में तीन महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव उपस्थित किये जो सारतः में इस प्रकार थे—

(क) जनमत-संग्रह से पहले और जनमत-संग्रह के समय काश्मीर में राष्ट्रमण्डल के सदस्य अपनी सेनायें रखें।

(ख) इस समय में भारत और पाकिस्तान दोनों की संयुक्त सेना एक स्थान में वहां रहे।

(ग) इस समय के लिए स्थानीय काश्मीरी व्यक्तियों की एक सेना बनाई जाय।

भारत इन प्रस्तावों से सहमत नहीं हो सका। अतः राष्ट्रमण्डलीय देश भी काश्मीर समस्या के समाधान में सफल नहीं हो सके। राष्ट्रमण्डलीय देशों के प्रस्ताव एकदम अपूर्ण थे। उनमें आक्रमणकारी व आक्रमणपीड़ित में कोई अन्तर नहीं किया गया था और अप्रत्यक्ष रूप से वे पाकिस्तान का पक्ष पोषण करते थे।

ग्राहम मिशन—इसी समय काश्मीर सरकार ने यह निश्चय किया कि काश्मीर में नवीन संविधान के निर्माण के लिए विधान निर्मात्री परिषद (Constituent Assembly) के चुनाव कराये जायें। इस पर फरवरी १९५१ में पाकिस्तान ने पुनः सुरक्षा परिषद में इस प्रश्न को उठाया। तब काश्मीर से दोनों राष्ट्रों की सेना हटा कर जनमत-संग्रह के लिए वातावरण तैयार करने हेतु ३० अप्रैल १९५१ को सुरक्षा परिषद ने अमरिका के डा० फ्रेंक ग्राहम (Frank Graham) को मध्यस्थ के पद पर नियुक्त किया। डा० ग्राहम ने इस समस्या के समाधान हेतु दो वर्षों (१९५१–५३) में अनेक सुझाव रखे। उनके अन्तिम प्रस्तावों की मुख्य बातें ये थीं—

(i) दोनों पक्षों द्वारा अपनी सेनायें हटाई जाय और जनमत-संग्रह किया जाय

(ii) जनमत-संग्रह के कार्य सञ्चालन हेतु भारत १८ हजार और पाकिस्तान ६ हजार सैनिक रखे।

६ नवम्बर १९५२ को सुरक्षा परिषद ने उपरोक्त विषय में एक प्रस्ताव भी पास किया। लेकिन ग्राहम मिशन की व्यवस्था व सुरक्षा परिषद का प्रस्ताव दोनों ही पक्षों को मान्य नहीं हुआ तब ग्राहम ने २७ मार्च, १९५३ को अपनी अन्तिम रिपोर्ट प्रस्तुत की जिसमें काश्मीर प्रश्न को डिक्सन की भांति भारत और पाकिस्तान के मध्य सीधी संधि-वार्ता द्वारा सुलझाने का सुझाव रखा गया।

प्रधान मन्त्रियों की वार्ता—ग्राहम के सुझाव के अनुसार भारत और पाकिस्तान के प्रधान मन्त्रियों ने जून १९५३ में लन्दन में जुलाई, १९५३ में करांची में और गई दिल्ली में काश्मीर के सम्बन्ध में विस्तार से बातचीत

थी। १९५३–५४ में दोनों प्रधान मन्त्रियों में इस विषय में पत्र-व्यवहार चलता रहा जिसके अनुसार सन् १९५४ में जनमत-संग्रह करवाने के सम्बन्ध में प्रायः निर्णय भी हो सा गया परन्तु जनमत-संग्रह हेतु प्रशासक व अन्य व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी प्रकार का समझौता नहीं हुआ।

इसी बीच पाकिस्तान ने सैनिक सहायता प्राप्त करने और सैनिक दृष्टि से प्रबल होने की नीति पर सक्रिय रूप से आचरण करना शुरू कर दिया। वह संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा समर्थित मध्यपूर्व और दक्षिणी पूर्वी एशिया के सैनिक संगठनों में सम्मिलित हो गया। नवम्बर १९५३ में पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधान सेनापति और वर्तमान में उसके सर्वेसर्वा जनरल अय्यूबखाँ सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए वाशिंगटन गए। संयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान को सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। इस सम्बन्ध में २५ फरवरी १९५४ को पाकिस्तानी प्रधानमन्त्री मोहम्मद अली ने स्वयं यह घोषणा की कि संयुक्त राज्य अमेरिका पाकिस्तान को 'संयुक्त राज्य सैनिक सुरक्षा कानून' के अन्तर्गत सैनिक सहायता देने को तैयार हो गया है। भारत ने पाकिस्तान को अमेरिका द्वारा सैन्य सहायता दिए जाने का तीव्र विरोध किया तथा अमेरिका के नागरिकों को जो काश्मीर में काम कर रहे थे ४८ घंटे में निकल जाने के आदेश दे दिये। यद्यपि अमरिका ने अपने स्पष्टीकरण में कहा कि पाकिस्तान को सैनिक सहायता देने का उद्देश्य भारत को क्षति पहुँचाना नहीं है किन्तु अमरिका के इस स्पष्टीकरण की पोल उस समय तुरन्त ही खुल गई जब पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा की कि "सैनिक सहायता से उन्हें काश्मीर की समस्या को सुलझाने में सहायता मिलेगी। अब भारत में अमेरिका के प्रति एक जबरदस्त क्षोभ की लहर व्याप्त हो गई। भारत ने अमेरिका की आलोचना करना प्रारम्भ कर दिया और इसी लिए उसे अमेरिका विरोधी रूस-समर्थक होने का खिताब दिया जाने लगा।

अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सैन्य सहायता का काश्मीर की समस्या पर अवश्य ही बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। १ मार्च १९५४ को पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने लोकसभा में इस स्थिति पर प्रकाश डालते हुए कहा—

'संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ने कहा है कि पाकिस्तान को दी गई सैनिक सहायता का यदि दुरुपयोग होता है इससे दूसरों पर हमला किया जाता है तो वह ऐसे आक्रमण को रोकेगा। परन्तु हमारा पिछला अनुभव यह बतलाता है कि जब आक्रमण होता है तो उस रोकने का कोई यत्न नहीं किया जाता है। छाह छः वर्ष पूर्व काश्मीर पर भीषण हमला हुआ था किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका ने आज तक इसकी निन्दा तक नहीं की और हमें यह कहा जाता रहा है कि हम शान्ति बनाए रखने के लिए इस पर आग्रह नहीं करें। अतः यह बात निश्चित है कि संयुक्त राज्य अमरिका द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सहायता से आक्रमण को प्रोत्साहित करने वाली परिस्थितियों के उत्पन्न होने की सम्भावना है। — — पाकिस्तान के प्रधान मंत्री ने कहा कि यह सैनिक सहायता काश्मीर की समस्या को सुलझाने में सहायक सिद्ध होगी।

यह इस बात की सूचक है कि उसका मन किस प्रकार सोचता है और वह सैनिक सहायता को किस प्रकार प्रयोग करना चाहता है।

संयुक्त राज्य अमरिका द्वारा समर्थित सैन्य संगठनों में पाकिस्तान के शामिल हो जाने से काश्मीर की समस्या "शीत युद्ध" के क्षेत्र में आ गई। अमेरिका की पाकिस्तान में दिलचस्पी लेने का कारण यह था कि वह गिलगित को जो सोवियत रूस की सीमा के पास है अमेरिकन सैनिक अड्डे के रूप में प्रयोग करना चाहता था। गिलगित क्षेत्र सामरिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहाँ अपना शक्तिशाली सैनिक अड्डा कायम करके अमेरिका अफगानिस्तान से लगती हुई रूसी सीमा पर अपनी प्रहार शक्ति में वृद्धि करने का अभिलाषी था। अतः यह स्वाभाविक था कि रूस इस स्थिति को बर्दाश्त न करे। यों तो पहले से ही साम्यवादी जगत की सहानुभूति भारत के प्रति थी परन्तु अब सोवियत संघ ने काश्मीर प्रश्न पर भारत का खुला समर्थन करने का निर्णय किया। १९५५ में श्री बुलगानिन और ख्रुश्चेव ने अपनी भारत यात्रा के समय यह स्पष्ट रूप से कह दिया कि वे काश्मीर को भारत का अविभाज्य अंग समझते हैं। श्री ख्रुश्चेव ने तो श्रीनगर में यहाँ तक कह डाला– आप पहाड़ की चोटी पर खड़े होकर आवाज दीजिये हम आपकी सहायता के लिये आ जायेंगे।

इसी बीच १९५४ में काश्मीर संविधान–सभा ने काश्मीर के भारत में विलय का अनुमोदन कर दिया और १९५६ में उसने राज्य के लिए एक नये संविधान को स्वीकृत तथा अंगीकृत किया जिसके द्वारा काश्मीर प्रत्येक दृष्टिकोण से भारत का वैध अंग बन गया। इस संविधान को २६ जनवरी १९५७ से लागू करने का निर्णय किया। इस तरह अब काश्मीर समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई मूल्य नहीं रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिकन सैन्य गुट में शामिल हो जाने के कारण जनमत संग्रह की बात पहिले ही निरर्थक हो चुकी थी। ११ अप्रैल १९५६ को हमारे तत्कालीन प्रधान मंत्री श्री नेहरू ने अपने एक भाषण में इसे स्पष्ट करते हुए ये शब्द कहे—

"जनमत संग्रह का प्रश्न स्पष्ट रूप से इस शर्त के साथ सम्बद्ध था कि पाकिस्तान काश्मीर से अपनी सेनायें हटा लेगा। पिछले नौ वर्षों में पाकिस्तान यह शर्त पूरी करने में असमर्थ रहा है। इस बीच में काश्मीर का स्वरूप बिल्कुल बदल गया है और कई नई घटनायें हुई हैं। पाकिस्तान को दी जाने वाली अमेरिकी सहायता ने इसका स्वरूप बिल्कुल बदल दिया है। क्योंकि अब यदि पाकिस्तानी सेनायें काश्मीर की भूमि से निकल कर सीमा से २०–३० मील के अन्दर अपनी नई किले बन्दी करती हैं तो भी नई सहायता से उनकी संहारक और मारक शक्ति पहिले से बहुत अधिक बढ़ गई है। पाकिस्तान को मिलने वाली सैनिक सहायता ने और उसकी सैनिक समझौते की सदस्यता ने काश्मीर में जनमत संग्रह करने के प्रस्ताव के मूल आधार को ही नष्ट कर कर दिया है।

२ जनवरी १९५७ को पाकिस्तान के विदेशमंत्री फिरोजखाँनून ने काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद के प्रधान को लिखे गये एक पत्र में पुन

उठाया। इस पत्र में श्रीयुत न लिखा कि— संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि के सुझाव के अनुसार पिछले तीन वर्षों म दोनों पक्षो के बीच प्रत्यक्ष बातचीत हुई परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकला है। इसके अतिरिक्त हाल की घटनाओं से उनकी सरकार का यह विश्वास तो हो गया है कि सीधी बातचीत के द्वारा समस्या के हल होने की कोई सम्भावना नहीं है। उन्होंने यह भी लिखा कि काश्मीर की तथाकथित विधान निर्मात्री परिषद न राज्य के भविष्य के सम्बन्ध में जो निर्णय लिया है वह सुरक्षा परिषद के ३१ मार्च १९५१ के प्रस्ताव के सर्वथा प्रतिकूल है। इससे बड़ी भयंकर परिस्थिति उत्पन्न हो गयी है अत इस पर शीघ्र विचार होना चाहिए।"

इस प्रकार ४ वष बाद सुरक्षा परिषद म काश्मीर का प्रश्न एक बार फिर उठा। इसके पहले परिषद ने दिसम्बर, १९५२ म इस समस्या पर विचार किया था। श्री फिरोजखानुन के अनुरोध पर १६ जनवरी १९५७ को सुरक्षा परिषद म काश्मीर पर पुनर्विचार प्रारम्भ किया। इस अवसर पर श्री कृष्णा मेनन ने ७ घंटे ४८ मिनट की अपनी ऐतिहासिक विस्तृत एव प्रभावशाली वक्तृता मे भारत के दृष्टिकोण को बड़े स्पष्ट एव तर्कपूर्ण ढग से प्रतिपादित किया। परन्तु पाकिस्तान के एंग्लो-अमेरिकन गुट के समर्थक तो भारत विरोधी निर्णय लेने को तुले हुए थे। अत १५ फरवरी को इस गुट की चार मे चार महाशक्तियों (संयुक्त राज्य अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रेलिया और क्यूबा) का यह प्रस्ताव सुरक्षा परिषद मे उपस्थित किया गया कि उस महीने के सुरक्षा परिषद के प्रधान स्वीडन के गुन्नार जारिंग (Gunnar Jarring) भारत और पाकिस्तान जाकर इस समस्या को सुलझाने का प्रयास करें। १५ अप्रैल तक परिषद को इस विषय में रिपोर्ट दें और पाकिस्तान के इस सुझाव पर विचार करें कि राज्य के विसैन्यीकरण (Demilitarisation) तथा जन मत सग्रह के सम्पन्न होने तक संयुक्त राष्ट्र संघ की आपातकालीन सेना (United Nations Emergency Force) को काश्मीर भेजा जाय। भारतीय प्रतिनिधि श्री वी के कृष्णमेनन ने काश्मीर संयुक्त राष्ट्रीय सकटकालीन सेना भेजन का घोर विरोध किया। सोवियत रूस के प्रतिनिधि श्री सोबोलोव ने श्री मेनन के मत का समर्थन करते हुए १८ फरवरी १९५७ को स्पष्ट रूप से यह कहा कि काश्मीर के प्रश्न का निर्णय वहां की जनता कर चुकी है और अब वह भारत का अविभाज्य अग है। श्री सोबोलोव ने एंग्लो-अमेरिकन गुट द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्ताव से सेना सम्बन्धी व्यवस्थाओं को हटाने का अर्थात् काश्मीर मे संघ की सकट कालीन सेना न भेजने का संशोधन पेश किया। किन्तु जब अमेरिकन गुट ने प्रस्तावित रूसी संशोधन को स्वीकार नहीं होने दिया तो मूल प्रस्ताव पर वोट लिये जाते समय रूस ने अपने वीटो का प्रयोग करके उसे रद्द कर दिया (२० फरवरी)। रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग से पहला प्रस्ताव रद्द हो जाने पर २१ फरवरी १९५७ को सुरक्षा परिषद मे एक दूसरा प्रस्ताव पेश हुआ जिसमे केवल जारिंग के भारत और पाकिस्तान जाकर समस्या को सुलझाने और उनके सम्बन्धो म परिषद को परिचित करने का उल्लेख था। इस प्रस्ताव में सेना भेजने की बात नहीं कही गयी थी। इस बार सोवियत प्रतिनिधि ने वोट देने मे अपने आपको अनुपस्थित रखा और यह प्रस्ताव १० वोटों से स्वीकार हो गया।

ग्राहम मिशन—सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के अनुसार ग्राहम १४ मार्च १९५७ को पाकिस्तान और २४ मार्च को भारत पहुंचे। सुरक्षा परिषद् में भारतीय प्रतिनिधि यह आश्वासन दे चुका था कि यद्यपि काश्मीर भारत में न्याय रूप से शामिल हो चुका है तथापि भारत ग्राहम का स्वागत करेगा।

दोनों पक्षों से विस्तार पूर्वक बातचीत करने के बाद १ अप्रैल १९५७ को ग्राहम ने सुरक्षा परिषद् को यह रिपोर्ट पेश की कि वह ऐसे ठोस प्रस्ताव रखने में असमर्थ है कि जिससे इस समस्या का हल निकल सके क्योंकि दोनों देशों में १३ अगस्त १९४८ के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव के सम्बन्ध में मौलिक मतभेद है। ग्राहम ने काश्मीर समस्या को सुलझाने में असमर्थता प्रकट की और यह भी स्वीकार किया कि पिछले ९ वर्षों में काश्मीर की स्थिति बहुत बदल गया है। यह उल्लेखनीय है कि ग्राहम द्वारा समर्थ किये जाने वाले १३ अगस्त १९४८ के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव (जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है) के दो मुख्य भाग थे—पहले भाग में कहा गया था कि जम्मू व काश्मीर के दोनों भागों में एक साथ युद्ध बन्द हो और इसकी तिथि ४ दिन के भीतर निश्चित हो। दोनों देशों से कोई ऐसा काम न करने को कहा गया था जिससे काश्मीर में उनकी सेनाओं में वृद्धि हो जाय। इस भाग के दूसरे पैराग्राफों में सैनिक निरीक्षकों का उल्लेख था और दोनों देशों की सरकारों से यह अनुरोध किया गया था कि वे विचार विमर्श के लिए उपयुक्त वातावरण स्थापित करने हेतु अपने-अपने देश की जनता की सहायता करें। दूसरे भाग में विराम सन्धि सम्बन्धी समझौते की बात थी। यह कहा गया था कि पाकिस्तान अपनी फौजों को काश्मीर से हटा लेगा तथा कबाइलियों एवं अन्य पाकिस्तानी नागरिकों को वहाँ से हटाने में अपने प्रभाव को प्रयोग में लायेगा। इस प्रकार खाली किये हुए प्रदेश के प्रशासन का संचालन स्थानीय अधिकारियों के द्वारा आयोग की देखरेख में होगा। पाकिस्तानी फौजों और कबाइलियों के हट जाने के बाद भारत भी क्रमिक रूप से अपनी फौजें वहाँ से हटाना आरम्भ कर देगा। इन दो भागों के अतिरिक्त एक तीसरा भाग भी था जिसमें यह आशा व्यक्त की गई थी कि जम्मू और काश्मीर के भविष्य का निर्णय वहाँ की जन-इच्छा के अनुसार किया जायगा।

जब ग्राहम और भारतीय नेताओं के मध्य विस्तार से बातचीत हुई तो भारत के नेताओं ने भी ग्राहम को समझाया कि १३ अगस्त १९४८ के सुरक्षा परिषद् के प्रस्ताव की क्रियान्विति में अभी तक दो विशेष रुकावटें रही हैं—प्रथम पाकिस्तान ने न तो काश्मीर से अपनी फौजों को हटाया है और न उस वातावरण को बनाये रखने में ही सहयोग दिया है जिससे वार्ता आगे चलायी जा सके एवं द्वितीय सुरक्षा परिषद् ने पाकिस्तान द्वारा भारत पर किये गये आक्रमण के बारे में चुप्पी साध कर उसके साहस को बढ़ाया है।

ग्राहम ने सुरक्षा परिषद् को जो अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की उसमें उन्होंने यह भी कहा दिया कि भारत की राय में इस प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् को एक स्पष्ट एवं निश्चित रवैया अपनाना चाहिए और पाकिस्तान

को अधिकृत भूमि शीघ्राति शीघ्र खाली कर देनी चाहिए। जारिंग ने रिपोर्ट में यह भी लिखा कि पाकिस्तान ने भारतीय दृष्टिकोण को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है।

जारिंग द्वारा दोनों पक्षों के मध्य उपस्थित गतिरोध को तोड़ने के जो प्रयास किये गये उस सम्बन्ध में और भी बात ध्यान देने योग्य है। अपनी वार्ता के दौरान श्री जारिंग ने दोनों ही पक्षों से यह जानना चाहा कि वे इस विवाद को किसी मध्यस्थ को सौंपने को तैयार हैं अथवा नहीं। यद्यपि पाकिस्तान द्वारा सैद्धान्तिक रूप में मध्यस्थता का सुझाव स्वीकार कर लिया गया लेकिन भारत ने इस सुझाव को इस आधार पर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि मध्यस्थता के प्रस्ताव को मानने का अर्थ होगा जम्मू और काश्मीर की जनता के सम्मुख अधिकारों को और इस प्रदेश के प्रति भारत के उत्तरदायित्वों को न मानना।

जारिंग की रिपोर्ट सुरक्षा परिषद के सम्मुख प्रस्तुत होने पर पाकिस्तान ने परिषद् के सभापति को अपने एक पत्र में सूचित किया कि काश्मीर को भारत में और गहराई के साथ मिलाया जा रहा है। इस शिकायत का आधार न्यूयार्क टाइम्स में प्रकाशित एक समाचार था जिसमें यह कहा गया था कि काश्मीर को भारत के उत्तरी क्षेत्रीय कौंसिल (Northern Zonal Council) का पंजाब राजस्थान दिल्ली और हिमाचल प्रदेश के साथ सदस्य बना लिया गया है। ३ अगस्त १९५७ को पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध और भी निम्नलिखित शिकायतें सुरक्षा परिषद में पेश की—

(क) काश्मीर के विभिन्न प्रदेशों में हिन्दुओं को बसा कर भारत राज्य में हिन्दुओं का बहुमत बढ़ा कर जनमत संग्रह को प्रभावित करने की कोशिश कर रहा है।

(ख) भारत काश्मीर में मुसलमानों पर अत्याचार कर रहा है और उनकी सम्पत्ति का अपहरण कर रहा है तथा उन्हें काश्मीर से भागने के लिए भी बाध्य कर रहा है।

पाकिस्तान द्वारा शिकायतें की जाने पर समस्या पर विचार के लिए २४ सितम्बर १९५७ को सुरक्षा परिषद् की एक बैठक फिर बुलायी गयी जिसमें दिसम्बर, १९५७ तक प्रश्न पर विचार किया जाता रहा। इस बैठक में भाषण करते हुए फिरोजखाँ नून ने भारत पर गम्भीर आरोप लगाते हुए उपरोक्त वर्णित शिकायतों को दोहराया। भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्णा मेनन ने भी नून के भाषण को आदि से अन्त तक असत्य कथनों से भरा हुआ बताया और कहा कि उसमें पाकिस्तान के कानून तथा संविधान के विषय में भी झूठ बोला गया है। ९ अक्टूबर, १९५७ को पाकिस्तानी आरोपों का मुँहतोड़ उत्तर देते हुए श्री कृष्णा मेनन ने घोषणा की कि कोई भी प्रस्ताव भारत को अपनी काश्मीर सम्बन्धी नीति को बदलवाने में सफल नहीं हो सकता। उन्होंने कहा कि हम परिषद् के सामने यह शिकायत लेकर आये थे कि हम पर आक्रमण हुआ है और उस आक्रमण का अन्त होना चाहिए। "हम यहाँ मध्यस्थता की मांग में नहीं आये परन्तु छठे अध्याय के अन्तर्गत

आक्रमण का अन्त कराने के लिए परिषद् की सहायता को प्राप्त करने के लिए आये हैं।

२ दिसम्बर, १९५७ को सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव पास करके समस्या को सुलझाने के लिए डा० फ्रैंक ग्राहम को पुनः नियुक्त करने का निश्चय किया और दोनों देशों से यह प्रार्थना की कि वे कोई ऐसा कार्य नहीं करें जिससे सन्धि-वार्ता के लिए प्रतिकूल वातावरण उत्पन्न हो। भारतीय प्रतिनिधि श्री मेनन ने इस प्रस्ताव का विरोध करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया कि हम अपनी प्राचीन अतिथि-सत्कार की परम्पराओं के कारण श्री ग्राहम का स्वागत अवश्य करेंगे लेकिन ऐसे किसी भी प्रस्ताव को भारत द्वारा स्वीकार नहीं किया जा सकता जिसमें आक्रान्ता (पाकिस्तान) से अपनी सेनाओं को हटाने के लिए न कहा गया हो। सोवियत संघ ने भी सुरक्षा परिषद् के उपरोक्त प्रस्ताव का विरोध किया और कहा कि यह प्रस्ताव पाकिस्तान के हितों का पोषक है।

ग्राहम मिशन का दुबारा प्रयास—सुरक्षा परिषद् के २ दिसम्बर, १९५७ के प्रस्ताव के अनुसरण में डा० फ्रैंक ग्राहम ने १२ जनवरी १९५८ से १५ फरवरी १९५८ तक दोनों देशों से मिल कर बातचीत की और तब ३ अप्रैल १९५८ को ११ प्रश्नों का अपना प्रतिवेदन परिषद के सम्मुख प्रस्तुत किया जिसकी मुख्य सिफारिशें इस प्रकार थी—

(i) काश्मीर-समस्या को और अधिक न उलझने देने के लिए भारत तथा पाकिस्तान आपत्तिजनक वक्तव्य न दें,

(ii) भारत और पाकिस्तान युद्ध विराम रेखा का उल्लंघन न करें,

(iii) काश्मीर से पाकिस्तानी सेनाएं हटायी जायें और इनके स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाएँ रखी जाएं

(iv) दोनों सरकारों एवं संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिनिधि के बीच जनमत-संग्रह कराने की संभावना के विषय में वार्ता हो

(v) दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों की जल्दी से जल्दी इस विषय में भेंट हो

पश्चिमी देशों से सम्बन्धित होने के कारण ग्राहम का दृष्टिकोण स्पष्टतया पाक-समर्थक था। अतः पाकिस्तान ने सिद्धान्त रूप में इन सिफारिशों को स्वीकार कर लिया परन्तु भारतीय प्रधान मन्त्री ने इन्हें निम्न कारणों के आधार पर अस्वीकार कर दिया—

(i) पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद् द्वारा १३ अगस्त १९४८ को स्वीकृत प्रस्ताव पर अभी तक अमल नहीं किया है—पाकिस्तानी सेनाओं को काश्मीर से हटाने की व्यवस्था का पालन नहीं हुआ है,

(ii) ग्राहम रिपोर्ट में आक्रान्ता पाकिस्तान और आक्रान्त भारत को एक ही स्तर पर रखा गया है।

भारत इस बात के लिए भी सहमत नहीं हुआ कि काश्मीर में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाएं रखी जांय। जहाँ तक जनमत संग्रह का प्रश्न था

प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने १९५६ में ही यह स्पष्ट कर दिया था कि चूंकि स्थिति में आमूल परिवर्तन हो गया है अतएव भारत अब इसे स्वीकार नहीं कर सकता।

इसके बाद १९६१ के अन्त तक काश्मीर का प्रश्न लगभग शान्त रहा। परन्तु २० अप्रैल १९६२ को पाकिस्तान के प्रतिनिधि श्री जफरुल्ला खां ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद् में पुनः उठाया। फलस्वरूप अप्रैल मई और जून १९६२ में परिषद् इस प्रश्न पर विचार करती रही। पाकिस्तान ने यह निराधार शिकायत की कि भारत शक्ति के बल पर काश्मीर प्रश्न को हल करने का प्रयत्न कर रहा है। पाकिस्तान ने जनमत-संग्रह की बात भी पुनः दोहरायी। ४ मई १९६२ को सुरक्षा परिषद् में भारत की स्थिति को और अधिक स्पष्ट करते हुए भारतीय प्रतिनिधि ने कहा कि जनमत संग्रह की मांग का सबसे बड़ा आधार संयुक्त राष्ट्र संघीय कमीशन द्वारा ५ जनवरी १९४९ को वह स्वीकृत प्रस्ताव था जिसमें दोनों पक्षों से अपने सैनिक वापिस बुलाने के लिए कहा गया था। लेकिन चूंकि पाकिस्तान ने उस पर अमल नहीं किया और साथ ही अब इस घटना को १२ वर्ष बीत चुके हैं अतः भारत कोई ऐसा कदम उठाने के लिए तैयार नहीं जिससे देश की स्थिरता, अर्थव्यवस्था और दक्षिण एशिया की शांति के लिए खतरा उत्पन्न होता हो।

लेकिन चूंकि सुरक्षा परिषद् में पाकिस्तान समर्थक एंग्लो-अमेरिकन गुट का अधिक प्रभाव था अतः २१ जून १९६२ को आयरलैण्ड ने सुरक्षा परिषद् में निम्नलिखित आशय का प्रस्ताव रखा—

(क) दोनों देश संयुक्त राष्ट्र संघ के १३ अगस्त १९४८ के प्रस्ताव के तीसरे भाग के अनुसार जनमत संग्रह कराने का ध्यान रखें तथा

(ख) वे कोई ऐसा कार्य न करें जिससे पारस्परिक शांति का खतरा पैदा हो जाय।

भारत के प्रतिनिधि श्री कृष्णा मेनन ने आयरलैण्ड के प्रस्ताव का घोर विरोध करते हुए इन शब्दों में भारत की यह मान्यता दोहराई कि काश्मीर भारत का अभिन्न भाग बन चुका है और अब वहां जनमत संग्रह का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। श्री मेनन ने कहा कि जनमत संग्रह से पहले की शर्त को पूरा करते हुए पाकिस्तान ने काश्मीर पर आक्रमण करने वाली अपनी सेनाओं को नहीं हटाया है प्रत्युत उसने काश्मीर में अपनी सेनाओं में वृद्धि करके और इन्हें वहां बनाये रख कर के संयुक्त राष्ट्र संघ के उपरोक्त प्रस्ताव का (१३ अगस्त १९४८ का) उल्लंघन किया है। जब भारत के विरोध के बावजूद आयरलैण्ड का प्रस्ताव पारित होने लगा तो सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार (Veto Powers) का प्रयोग करके उसे रद्द कर दिया।

अक्टूबर, १९६२ में भारत पर चीनी आक्रमण के प्रारम्भ से काश्मीर की समस्या में एक नयी सरगर्मी आयी। ऐसी स्थिति में अमरिका एवं ब्रिटेन की सलाह से पाकिस्तान और भारत में मन्त्रियों के स्तर पर वार्ता प्रारम्भ हुई। इस वार्ता के पश्चात् भारतीय प्रधानमन्त्री एवं पाक राष्ट्रपति के मध्य वार्ता

होती थी। लेकिन इसी बीच फरवरी १९६३ में पाकिस्तान ने चीन से एक समझौता करके पाक अधिकृत काश्मीर का एक बड़ा भूभाग चीन को दे दिया। वास्तव में यह एक ऐसी ही घटना थी कि एक डाकू साहूकार के माल का कुछ हिस्सा लूट कर उसे अपना बताता हुआ उसमें से कुछ हिस्सा एक दूसरे डाकू को दे दे। भारत ने पाकिस्तान के इस कदम का विरोध करते हुए कहा कि काश्मीर में पाकिस्तान स्वयं आक्रामक है अतः उसको किसी दूसरे देश के साथ काश्मीर पर किसी तरह का समझौता करने का कोई अधिकार नहीं है। भारत ने इसकी सूचना सुरक्षा परिषद को दे दी किन्तु उसकी कोई सुनवाई नहीं हुई।

२८ दिसम्बर १९६३ को काश्मीर-समस्या के इतिहास में एक नया अध्याय शुरू हुआ। इस दिन श्रीनगर की हजरत बाल मसजिद से पैगम्बर मोहम्मद साहब का एक पवित्र बाल चोरी चला गया। इस घटना को लेकर पाकिस्तानी नेताओं ने भारत के विरुद्ध साम्प्रदायिक विष उगलना शुरू कर दिया और पूर्वी पाकिस्तान में बहुत बड़े पैमाने पर दंगे शुरू हो गये जिनमें हजारों हिन्दू मारे गये तथा हजारों शरणार्थी पश्चिमी बंगाल भाग कर आये। इसकी प्रतिक्रियास्वरूप भारत के कुछ भागों में भी साम्प्रदायिक दंगे हुए। हजरत बाल काण्ड के फलस्वरूप उत्पन्न इस क्षोभ और गड़बड़ी का लाभ उठा कर जनवरी १९६४ में पाकिस्तान ने पुनः सुरक्षा परिषद् से काश्मीर समस्या पर विचार किये जाने की अपील की। हजरत बाल काण्ड को लेकर काश्मीर में जो सरगर्मी आयी उसे पाकिस्तान के 'झूठ को सच और सच को झूठ बनाने वाले' नेताओं ने 'काश्मीरियों के विद्रोह" की संज्ञा दी और संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप की माँग की। यद्यपि भारत सरकार ने पाकिस्तान की इस माँग का विरोध किया लेकिन सुरक्षा परिषद् ने इस समस्या पर विचार करने का निर्णय कर लिया।

परिषद् में पाकिस्तान का पक्ष वहाँ के विदेश मन्त्री श्री जुल्फिकार अली भुट्टो तथा भारत का पक्ष भारत सरकार के शिक्षामन्त्री श्री एम सी छागला ने प्रस्तुत किया। परिषद् में पाकिस्तान का पक्ष प्रस्तुत करते हुए विदेश मन्त्री भुट्टो ने वही पुरानी दलीलें दुहरायी और यह माँग की कि भारत को काश्मीर की संवैधानिक स्थिति बदलने से रोका जाना चाहिए। अप्रत्यक्ष रूप से उन्होंने भारत के विरुद्ध 'धर्म' युद्ध छेड़ देने की भी धमकी दी। श्री भुट्टो ने पाकिस्तान के जाने पहिचाने पुराने स्वर में ही यह भी कहा कि सुरक्षा परिषद् में पारित प्रस्तावों के अनुरूप जम्मू व काश्मीर की जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार मिलना चाहिए। उन्होंने आरोप लगाया कि भारत ने परिषद् के फैसलों तथा प्रस्तावों की परवाह न करते हुए जम्मू एवं काश्मीर में आधिकाधिक अधिकार हस्तगत कर लिये हैं। पाकिस्तानी आरोपों का जोरदार उत्तर देते हुए भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के नेता श्री एम सी छागला ने कहा कि काश्मीर में अब जनमत संग्रह का प्रश्न उठाना बेईमानी है, पाकिस्तान परिषद में एक हमलावर के रूप में उपस्थित है और भारत को खुली धमकियां दे रहा है। भारत द्वारा जनमत संग्रह का प्रस्ताव जिस शर्त पर स्वीकार किया गया था वह शर्त पाकिस्तान द्वारा पूरी नहीं की गयी है। और फिर

समय बीत चुका है कि पिछले प्रस्तावों की उपयोगिता समाप्त हो गयी है तथा इस विषय में किसी भी नवीन प्रस्ताव को भारत द्वारा स्वीकार नहीं किया जायगा क्योंकि इस मामले में अब वह प्रस्ताव सहायक नहीं होगा। श्री छागला ने पाकिस्तानी तर्कों को बालू के टीले की तरह ढहाते हुए कहा कि पाकिस्तान जम्मू और काश्मीर में जनमत संग्रह की मांग इसलिए नहीं करता कि उसको लोकतन्त्र में विश्वास है बल्कि जनमत संग्रह पर जोर देने में उसकी वास्तविक मंशा यह है कि वह काश्मीर में साम्प्रदायिक भावनायें उभारना चाहता है। श्री छागला ने व्यंग्य कसा कि जब से पाकिस्तान बना है तब से अब तक वहां जनता को सीधे चुनावों में भाग लेने का अवसर तक सुलभ नहीं किया गया है। भारतीय प्रतिनिधि ने परिषद् के सदस्यों को चेतावनी देते हुए कहा कि भारत द्वि राष्ट्र सिद्धान्तों को स्वीकार नहीं करता और यदि पाकिस्तान का द्वि राष्ट्र सिद्धान्त काश्मीर पर भी लागू कर दिया जाय तो उसका अनिवार्य परिणाम शांति के स्थान पर खून की होली होगी।

यद्यपि प्रारम्भ में यह आशा थी कि बहस के दौरान अमरिका एवं ब्रिटेन कुछ संयत रुख अपनायेंगे लेकिन बात एकदम उल्टा सिद्ध हुई। ब्रिटिश प्रतिनिधि श्री पैट्रिक डीन ने अब तक का सबसे उग्रतम भारत विरोधी भाषण किया जिसकी भारतीय नेताओं व जनमानस पर घोर प्रतिक्रिया हुई। यद्यपि अमेरिकन प्रतिनिधि की भाषा अपेक्षाकृत कम कटु थी लेकिन उसने भी जनमत संग्रह एवं आत्म निर्णय सम्बन्धी पाकिस्तान की मांग का समर्थन किया। ब्रिटिश रुख से क्षुब्ध होकर संयुक्त राष्ट्र संघीय भारतीय प्रतिनिधि मण्डल ने उस समारोह का बहिष्कार कर दिया था जो ब्रिटिश विदेशमन्त्री के सम्मान में आयोजित किया गया था।

परिषद् में काश्मीर विवाद पर जो भाषण हुए उनमें केवल यह एक बात सामने आई कि चीन, माली, चैकोस्लोवाकिया तथा सोवियत रूस बोलि किया तथा अमरिका ने काश्मीर विवाद को शांतिमय तरीके से हल करने के लिए भारत एवं पाक के मध्य सीधी वार्ता का सुझाव दिया। इन देशों में से अधिकांश ने यह सुझाव दिया कि यदि सम्भव हो तथा दोनों देशों को मान्य हो तो किसी देश या व्यक्ति को पंच बना लिया जाय। इस बात पर भी बल दिया गया कि काश्मीर-विवाद सहित भारत-पाक समस्याओं को सुरक्षा परिषद् में कोई प्रस्ताव पारित करके या पुराने प्रस्तावों का जिक्र करके हल नहीं किया जा सकता। दोनों देशों की पारस्परिक समस्याओं का समाधान तभी हो सकता है जब कि दोनों देश परस्पर समझौता करने का दृढ़ संकल्प कर लें।

परिषद् की इस बैठक में एक उल्लेखनीय बात यह हुई कि यद्यपि सोवियत रूस और चैकोस्लोवाकिया ने भारत के पक्ष का समर्थन किया लेकिन उन्होंने संभवतः परिषद् में वातावरण को मैत्रीपूर्ण बनाये रखने के लिए, अपने पुराने तर्कों एवं बयानों पर विशेष बल नहीं दिया। सोवियत प्रतिनिधि श्री फेडोरेन्को अपनी बीमारी की अवस्था में भी भारत के पक्ष का समर्थन करने के लिए परिषद् में उपस्थित हुए और जब परिषद् भवन के बाहर कुछ

भारतीयों में उनके स्वास्थ्य का हाल पूछा तो उन्होंने हँसते हुए उत्तर दिया—यह हमारी भूमि का प्रश्न है मैं कभी भी आऊँगा।

काश्मीर प्रश्न पर सुरक्षा परिषद में भी भारत के कठोर रुख का एक शुभ परिणाम यह निकला कि पश्चिमी देशों ने सुरक्षा परिषद में कोई भारत-विरोधी प्रस्ताव लाने का विचार छोड़ दिया और वे यह प्रयत्न करने लगे कि परिषद के सभी सदस्य जब अपना विचार प्रकट कर चुके तो अध्यक्ष महोदय बहुमत के विचार को परिषद का अभिमत बता कर कार्यवाही शुरू कर दें किन्तु इसमें भी पश्चिमी देशों की एक गूढ़ चाल थी जिसे भाँप कर भारत ने यह स्थिति स्वीकार नहीं की। भारत का तर्क था कि परिषद का अभिमत वही बात हो सकती है जिस पर परिषद के सभी ११ सदस्य एकमत हों बहुमत को 'अभिमत' (आमराय) की संज्ञा नहीं दी जा सकती। भारत के विरोध एवं कुछ अन्य कारणों से परिषद में 'अभिमत' का फार्मूला व्यापक समर्थन प्राप्त न कर सका। यह स्पष्ट था कि यदि पश्चिमी राष्ट्र परिषद का अभिमत प्राप्त करने में सक्षम हो जाते तो वह निश्चय ही भारत विरोधी होता। अन्त में सुरक्षा परिषद ने १७ फरवरी १९६४ को काश्मीर मामले पर विचार अनिश्चितकाल के लिए स्थगित कर दिया।

३ मार्च १९६४ को पाकिस्तान ने अपने संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रतिनिधि के माध्यम से पुनः सुरक्षा परिषद की बैठक बुलाये जाने की मांग की और दलील यह पेश की कि परिषद ने काश्मीर प्रश्न पर विचार अल्पकाल के लिए स्थगित करके पाकिस्तान के अनुरोध को स्वीकार कर लिया था अतः अब परिषद की बैठक बुला कर उसमें काश्मीर प्रश्न पर विस्तार से विचार किया जाना चाहिए। इस पर परिषद के अध्यक्ष द्वारा कहा गया कि यदि कोई इस सिलसिले में प्रस्ताव रखे तो पाकिस्तान के अनुरोध पर विचार किया जा सकता है पर ऐसा कोई प्रस्ताव नहीं आया। मोरक्को के प्रतिनिधि ने केवल यह सुझाव दिया कि अध्यक्ष बैठक को यह स्पष्ट करते हुए स्थगित कर दें कि यह मामला विचार-सूची में बना रहेगा और साथ ही अगली तारीख निश्चित करने के बारे में सदस्यों से न हो सके तो भारत व पाक से भी विचार विमर्श कर लें। अध्यक्ष ने यह निर्णय किया कि प्रस्ताव पर कोई आपत्ति न हो तो बैठक स्थगित समझी जाय। चूंकि प्रस्ताव पर कोई आपत्ति नहीं आयी अतः बैठक स्थगित कर दी गयी।

मई, १९६४ के प्रारम्भ में शेख अब्दुल्ला को जेल से मुक्त कर दिया गया। भारत सरकार ने शेख को मुक्त पाकिस्तान के इस झूठे प्रचार का भण्डाफोड़ करने के लिए किया था कि काश्मीर के एक मात्र नेता शेख अब्दुल्ला को कारावास में डाल कर भारत सरकार काश्मीरी जनता को कुचले हुए है। जेल से छूटते ही शेख अब्दुल्ला ने काश्मीर के लिये आत्मनिर्णय के अधिकार और जनमत-संग्रह की मांग करके वातावरण को बिगाड़ना शुरू कर दिया। शेख जिस पर पाकिस्तानी नेताओं का गुणगान चल चुका था काश्मीर विलय के प्रश्न पर अपनी पुरानी स्थिति से बिल्कुल मुकर गया। इसी वातावरण में ५ मई, १९६४ को पाकिस्तान के प्रतिनिधि श्री भुट्टो ने जनमत संग्रह की मांग दुहरा कर सुरक्षा परिषद की बैठक बुलवाई। परिषद में

पाकिस्तान का प्रतिनिधित्व भुट्टो ने और भारत का श्री छागला ने किया। भारत के प्रतिनिधि ने काश्मीर में जनमत संग्रह की पाकिस्तानी माँग का डट कर विरोध किया। अन्त में अन्य अवसरों की तरह इस बार भी सुरक्षा परिषद किसी निश्चय पर नहीं पहुँच सकी। परिषद ने दोनों पक्षों द्वारा सीधी वार्ता से इस समस्या का समाधान करने सम्बन्धी प्रस्ताव पास करके ही सन्तोष कर लिया।

पाकिस्तान का काश्मीर पर पुनः आक्रमण—सुरक्षा परिषद में निरन्तर विफल होने पर पाकिस्तान ने काश्मीर को अपने अधिकार क्षेत्र में करने की नियत से युद्ध का सहारा लेने का विचार किया। ५ अगस्त १९६५ से १ सितम्बर १९६५ तक की लगभग ७० दिनों की अवधि में ३००० से ५००० पाकिस्तानी हमलावर काश्मीर युद्ध-विराम रेखा को पार करके भारतीय क्षेत्र में घुस गये।

१४ अगस्त १९६५ को 'वाशिंगटन पोस्ट' ने खबर छापी—"पाकिस्तानी अफसरों के अधीन कम से कम १५०० छापामार ५ अगस्त से युद्ध विराम-रेखा को पार कर काश्मीर में घुस गये हैं।"

लन्दन 'टाइम्स' के रावलपिंडी स्थित संवाददाता द्वारा भेज गये ११ अगस्त १९६५ को प्रकाशित समाचार में कहा गया है कि "इसमें कोई शक नहीं कि काश्मीर में पाकिस्तान की ओर से आए लोगों ने गुरिल्ला कार्यवाई की है और इन सरगर्मियों की योजना पाकिस्तान सरकार के निर्देशन से की गई है। पत्र में आगे कहा गया है कि पाकिस्तान ने काश्मीर में अपना आखरी दाव लगा दिया है, और ऐसा लगता है कि वह अन्तिम हद तक के लिए कटिबद्ध है यहाँ तक कि महायुद्ध के लिए भी चाहे इसका नतीजा दोनों देशों के करोड़ों लोगों के लिये कितना भी नुकसान देह क्यों न हो।"

वास्तव में पाक योजना यह थी कि असैनिक वेष में सशस्त्र पाकिस्तानियों की टोलियाँ जम्मू-काश्मीर में घुस कर रेडियो स्टेशन हवाई अड्डे सचिवालय आदि मुख्य-मुख्य स्थानों पर अधिकार जमा लेंगी कुछ लोग मार-काट शुरू कर देंगे और इस तरह उस प्रदेश में अराजकता मच जायगी। तब पाकिस्तान की नियमित सेना काश्मीर पर अधिकार जमा लेगी और दुनिया को काश्मीर का स्वेच्छा से पाकिस्तान में मिलने का विद्रोह कह कर चुप कर दिया जायेगा। पाकिस्तान को यह भी विश्वास था कि काश्मीर के मुसलमान घुसपैठियों को सहयोग देंगे और उन्हें हर प्रकार से सहायता पहुँचायेंगे। परन्तु पाकिस्तान की आशा निराशा में बदल गयी। पाकिस्तानी छापामारों में से १००० से भी ज्यादा भारतीय सैनिकों द्वारा मार दिये गये और बहुत से पकड़ लिये गये तथा दुनिया को यकीन हो गया कि ये हमलावर पाकिस्तान द्वारा ही ट्रेनिंग दे कर भेजे गये थे। हमलावर छापामारों को काश्मीरी जनता की ओर से जो किसी प्रकार का सहयोग नहीं मिला—यह बात अनेक विदेशी सम्वाददाताओं ने मौके पर जा कर देख ली। बी.बी.सी. के नई दिल्ली स्थित सम्वाददाता श्री माईकल ग्रीन ने २१ अगस्त को श्रीनगर से खबर भेजते हुए कहा—

मगर गुरिल्ला यह आशा ले कर आये थे कि स्थानीय लोग उनका स्वागत करेंगे या उनका साथ देंगे तो उनकी आशा पूरी नहीं हुई।

१४ अगस्त १९६५ के 'न्यूयार्क टाइम्स' में श्रीनगर से अपने सम्वाददाता श्री जैक्स लेलाड की भेजी हुई यह खबर छापी—

'पाकिस्तान से आने वाली खबरों में जो यह कहा जाता है कि भारत अधिकृत जम्मू-काश्मीर में गड़बड़ हुई है और भारतीय शासन के विरुद्ध एक आम विद्रोह हुआ है यह निराधार है।

'बाल्टीमोरसन' के सम्वाददाता श्री जेम्स बीट ने ११ अगस्त को श्रीनगर से भेजी गयी अपनी खबर में कहा—

भारतीय काश्मीर सरकार के विरोधी राजनीतिक ग्रुप भी इस बात पर सहमत हैं कि स्थानीय लोगों ने कोई विद्रोह नहीं किया। सम्वाददाता ने आगे चल कर कहा है—

'पाकिस्तान सरकार ने जो यह दावा किया है कि काश्मीर में क्रांतिकारी विद्रोह हो रहा है उसके कोई चिह्न नहीं हैं।

'क्रिश्चियन साइन्स मोनिटर' के सम्वाददाता ने अपने पत्र को भेजी गई खबर में इस तथ्य को और अधिक अच्छे ढंग से पेश किया है। उसने कहा है काश्मीर का कोई भी आदमी पाकिस्तान में शामिल नहीं होना चाहता। स्थानीय लोगों द्वारा काश्मीर सरकार और भारतीय अधिकारियों को सूचना दिये जाने के कारण जिस ढंग से और जिस तादाद में घुसपैठियों का पता लगाया जा रहा है उससे इस बात की और भी पुष्टि हो जाती है।

इस सम्बन्ध में बोलते हुए भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री शास्त्री ने कहा—

पाकिस्तान का ख्याल था कि उसके इशारे पर वहां बगावत होगी। उसका अनुमान था कि सारा काश्मीर पाकिस्तान के साथ जाने के लिये तैयार बैठा है। इसलिए पाकिस्तान के आकाओं ने काश्मीर में क्रांति की ज्वाला प्रज्वलित करने के लिए अपने हथियारबन्द व्यक्तियों को भेजा तो हमें भी अपनी सुरक्षा सेना के जरिये उनका मुकाबला करना पड़ा। पाकिस्तानी हथियारबंद व्यक्तियों का काम तोड़फोड़ की कार्यवाही करना आग लगाना और मारे हवाई अड्डों को क्षति पहुंचाना था। लेकिन पाकिस्तान का ख्वाब ख्वाब ही रह गया। क्योंकि एक तरफ तो हमारी सुरक्षा सेना उन हथियारबन्द किरतानियों का मुकाबला कर रही थी तो दूसरी ओर काश्मीर के लोग न उन हथियारबन्द लोगों को पनाह देते थे और न खाना। इस तरह काश्मीर के बहादुर लोगों ने साबित कर दिखाया कि काश्मीर भारत का अंग है और पाकिस्तान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

जब घुसपैठिये आक्रमण में नाकामयाब होकर और यह जान कर कि दुनिया को पता लग गया है कि छापामार हमलावर काश्मीर में पाकिस्तान द्वारा ही भेजे गए थे पाकिस्तानी फौज ने काश्मीर और भारत पर खुल्लमखुल्ला हमला कर दिया। १ सितम्बर १९६५ को हमले की शुरुआत हुई जब पाकिस्तान की एक पैदल ब्रिगेड और ७० टैंक काश्मीर पर चढ़ आये।

समझौते का आदर करने तथा युद्ध विराम रेखा के अपने भागों में समस्त सैनिकों को वापिस बुला लेने का आग्रह करती है। मलेशियाई प्रतिनिधि श्री राधाकृष्ण रमानी ने कहा कि प्रस्ताव इससे अधिक कुछ नहीं कर सकता इसमें केवल अविलम्ब युद्ध बंद कर देने की मांग है।

यद्यपि सुरक्षा परिषद द्वारा उपरोक्त प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया लेकिन इसके द्वारा परिषद् ने तथ्यों की उपेक्षा करते हुए न्यायालय का गला घोटने का एक और उदाहरण सामने ला दिया। परिषद् का यह प्रस्ताव अनेक गम्भीर त्रुटियों से भरा पड़ा था—

(i) प्रस्ताव में काश्मीर पर पाकिस्तान के नवीन आक्रमण की निन्दा न करके पुनः उस ऐतिहासिक भूल को दोहराया गया जो १९४७ में पाकिस्तानी आक्रमण के समय की गई थी।

(ii) संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव स्वयं पाकिस्तान को वर्तमान हमले के लिए दोषी मान चुके थे ऐसी सूरत में सुरक्षा परिषद द्वारा पाकिस्तान को दोषी न ठहराना न्याय को ताक पर उठा कर रख देने के समान था।

(iii) सुरक्षा परिषद की यह बैठक महासचिव की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए आयोजित की गई थी किन्तु बैठक में इस रिपोर्ट पर कोई विचार ही न किया जाना एक विस्मयजनक बात थी। वास्तव में यह पक्षपात का एक नग्न प्रदर्शन था। इस पक्षपात की तब और भी पराकाष्ठा हो गई जब परिषद में मूल प्रश्न पर विचार न करके आक्रामक पाकिस्तान और आक्रान्त भारत को समान स्तर पर रखने का प्रयत्न किया गया।

(iv) इस प्रस्ताव में भारत एवं पाकिस्तान दोनों से तत्काल युद्ध विराम करने की अपील की गई। लेकिन परिषद यह भूल गई कि वास्तविकता की ओर उपेक्षा कर केवल औपचारिक कार्यवाही से कोई लाभ नहीं हो सकता। परिषद के सदस्यों द्वारा युद्ध विराम का प्रस्ताव स्वीकार करके फर्ज-अदायगी की कार्यवाही तो कर दी गई किन्तु इस बात पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया कि आक्रमणकारी पाकिस्तान को अपनी फौजें अविलम्ब पीछे हटाने का आदेश दिया जाय। परिषद यह भूल गई कि जब तक काश्मीर पर नया हमला बोलने वाले देश को रोका नहीं जायगा तब तक आखिर युद्ध बन्द कैसे हो सकेगा। सुरक्षा परिषद के अध्यक्ष और सदस्यों का इस तथ्य की ओर ध्यान न देना वस्तुतः अत्यन्त खेद जनक था।

उपरोक्त परिस्थितियों में प्रस्ताव का केवल कागजी कार्यवाही होकर रह जाना अस्वाभाविक न था। वस्तुतः शान्ति की रक्षक और न्याय की ठेकेदार सुरक्षा परिषद द्वारा आक्रमणकारी की अप्रत्यक्ष रूप से इस तरह पीठ ठोकना संघ के महान् उद्देश्यों के प्रति विश्व की शान्तिप्रिय और निष्पक्ष जनता में अनास्था पैदा करता था। यह एक आश्चर्यकारी बात थी कि पहले तो महासचिव की प्रथम रिपोर्ट और उसके काश्मीर-सम्बन्धी वक्तव्य को प्रकाशित नहीं होने दिया गया और जब तत्सम्बन्धी गोपनीय रिपोर्ट परिषद् में उपस्थित की गई तब भी उस पर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

रिपोर्ट में महासचिव श्री ऊ-थांट ने पाकिस्तान को ही वर्तमान संघर्ष के लिए उत्तरदायी ठहराया था तो फिर सुरक्षा परिषद् के अध्यक्ष एवं सदस्यों का पाकिस्तान को दोषी कहने में संकोच करने का कोई कारण नहीं था। वास्तविकता यही थी कि परिषद् एंग्लो-अमेरिकन गुट के हाथों का खिलौना बनी हुई थी जिसका उद्देश्य न्याय को तिलांजलि करके छल-कपट और कूटनीतिक शिकार वृत्ति को प्रोत्साहन देना था।

६ सदस्यों के उपरोक्त प्रस्ताव की अव्यावहारिक असफलता के बाद ५ सितम्बर को युद्ध की स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद् की दूसरी बैठक हुई। ६ सितम्बर को ही लाहौर क्षेत्र में ३० मील लम्बे मोर्चे से सीधे पाकिस्तान की सीमा में भारतीय फौजें कूच कर चुकी थीं और इससे कुछ पश्चिमी देश विशेषकर ब्रिटेन बौखला उठा। परिषद् की बैठक में महासचिव ने स्पष्ट शब्दों में यह सूचित कर दिया कि भारत और पाकिस्तान दोनों ने युद्ध बंद करने से इन्कार कर दिया है और स्थिति तेजी से बिगड़ती जा रही है। इस पर उसी रात सुरक्षा परिषद् ने सर्व सम्मति से एक संकटकालीन प्रस्ताव पारित किया जिसमें भारत एवं पाकिस्तान से तत्काल युद्ध बंद करने की अपील की गई। प्रस्ताव में यह अनुरोध किया गया कि दोनों देश अपने सशस्त्र सैनिकों को उन स्थानों पर लौटा लें जहाँ वे गत ५ अगस्त को थे। साथ ही महासचिव से भी यह प्रार्थना की गई कि वे इस प्रस्ताव को एवं ४ सितम्बर के प्रस्ताव को मनवाने के लिए प्रत्येक संभव प्रयत्न करें।

सुरक्षा परिषद् द्वारा यह प्रस्ताव पारित किये जाने के तुरन्त बाद महासचिव ने घोषणा की कि वे बहुत शीघ्र युद्ध बंद कराने के लिए स्वयं भारत और पाकिस्तान जायेंगे।

सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव और अपनी घोषणा के अनुसार अपने 'शान्ति अभियान' का श्रीगणेश करते हुए महासचिव ऊ-थांट सर्वप्रथम ९ सितम्बर को कराची पहुँचे। तीन दिनों तक वे पाकिस्तानी नेताओं से बातचीत करते रहे। पाकिस्तान ने युद्ध विराम के प्रस्ताव को मंजूर करने के लिये निम्नलिखित ३ शर्तें रखीं—

१ युद्ध विराम के बाद पूरे काश्मीर से भारत तथा पाकिस्तान अपनी सेनाओं को पूरी तरह हटा लें।

२ जनमत संग्रह होने तक काश्मीर में शांति-व्यवस्था बनाये रखने के लिए अफ्रो-एशियाई देशों की सेना रखी जाये।

३ तीन महीने के भीतर काश्मीर में सुरक्षा परिषद् के ५ जनवरी, १९४९ के प्रस्ताव के अनुसार जनमत संग्रह के लिए मतदान किया जाय।

उपरोक्त शर्तों से स्पष्ट था कि पैटन टैंकों और सैबरजेटों के बल पर भारत को घुटने टिकाने का स्वप्न देखने वाला पाकिस्तान अभी युद्ध बंद करने के लिए तैयार नहीं था। उसकी ये तीनों शर्तें ऐसी थीं जो भारत को किसी हालत में स्वीकार नहीं हो सकती थीं।

पाकिस्तान से वार्ता करने के बाद १२ सितम्बर को ऊ-थांट भारत की राजधानी देहली पहुँचे जहाँ उन्होंने भारतीय प्रधान मंत्री स्वर्गीय श्री शास्त्री

२ कोई भी देश स्थिति को खराब करने के लिए किसी तरह की उग्र बनात्मक कार्यवाही न करे एवं

३ जब सुरक्षा परिषद द्वारा ६ सितम्बर को स्वीकृत प्रस्ताव नम्बर २१० के पैराग्राफ पर अमल हो जाय तो शीघ्रातिशीघ्र इस बात पर विचार किया जाय कि इस संघर्ष में निहित राजनीतिक समस्या के समाधान की दिशा में सहायता करने के लिए क्या कदम उठाये जायें।

२१ सितम्बर को भारत युद्ध विराम के लिए सहमत हो गया और उसके दूसरे दिन पाकिस्तान ने भी अपनी सहमति की सूचना दे दी किन्तु युद्ध २३ सितम्बर १९६५ को प्रातः ३।। बजे बन्द हुआ।

सुरक्षा परिषद् का २० सितम्बर का प्रस्ताव भारत के साथ एक अन्याय था क्योंकि इसके द्वारा दोनों ही देशों को युद्ध बन्द करने के लिए आदेश दिया गया था जबकि इस तरह का आदेश केवल पाकिस्तान को दिया जाना चाहिए था क्योंकि उसने ही सुरक्षा परिषद के युद्ध बन्दी के पहले वाले प्रस्ताव को अस्वीकार किया था। जब भारत ही बिना शर्त युद्ध बन्द करने के लिए सहमत हो चुका था तो उसे २० सितम्बर के प्रस्ताव में युद्ध बन्दी का आदेश देना सर्वथा अनुचित था। आक्रमणकारी और आक्रान्त दोनों के साथ परिषद का यह एक सा व्यवहार निश्चय ही न्यायसंगत न था। युद्ध बन्द करने का आदेश तो उसे ही दिया जाना चाहिए जिसने युद्ध की शुरुआत की हो और वह पाकिस्तान ही था जिसने केवल युद्ध की शुरुआत की बल्कि परिषद के युद्ध बन्दी आदेश को भी ठुकराया। भारतीय प्रतिनिधि श्री चागला ने सुरक्षा परिषद में भारत का उपरोक्त मत स्पष्ट शब्दों में रख भी दिया था परन्तु परिषद द्वारा उस पर ध्यान नहीं दिया गया। इसके अतिरिक्त, इस बार भी सुरक्षा परिषद ने पहले ही की भांति मूल प्रश्न की उपेक्षा कर पाकिस्तान के आक्रमणकारी स्वरूप पर पर्दा डालने की कोशिश की। जब संयुक्त राष्ट्र संघ के कश्मीर स्थित प्रधान पर्यवेक्षक जन. रत निम्मो ने स्पष्ट शब्दों में पाकिस्तान को हमलावर बताया और महासचिव ने परिषद को दी गई अपनी रिपोर्ट में इस बात की पुष्टि की तो फिर पाकिस्तान को हमलावर घोषित न करना भारत के साथ सरासर अन्याय था। साथ ही प्रस्ताव में केवल युद्ध बन्दी का आदेश ही न होकर राजनीतिक समस्या के समाधानों की भी चर्चा की गयी थी जिसका प्रस्ताव में उल्लेख होना एकदम अप्रासंगिक व अनावश्यक था—कारण कश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता के सम्बन्ध में कोई विवाद नहीं उठाया जा सकता। सुरक्षा परिषद में युद्ध विराम के बाद संघर्ष की मूल समस्या के समाधान की बात कहना सर्वथा निरर्थक था। भारत ने त्रुटियों से भरे हुए इस प्रस्ताव को केवल इसलिए स्वीकार किया कि विश्व उसकी शान्तिप्रियता पर कोई अंगुली न उठा सके, हालांकि बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया है कि पाकिस्तान के साथ ईंट का जवाब पत्थर से देने की नीति ही काम दे सकेगी। पाकिस्तान ने युद्ध-विराम के बाद होने वाले 'ताशकन्द-समझौते' का जिसका उल्लेख भारत की विदेशनीति के सम्बन्ध में किया जायगा निरन्तर उल्लंघन किया है

समझौते के किसी भी गंभीर उल्लंघन को भारत बर्दाश्त नहीं करेगा। अन्त में इतना लिखना ही पर्याप्त है कि २३ सितम्बर का युद्ध-विराम अवश्य हो गया लेकिन यह युद्ध विराम केवल घोषणा मात्र ही रहा है क्योंकि पाकिस्तान ने न तो युद्ध विराम रेखा का उल्लंघन करने तथा काश्मीर को शक्तिपूर्वक हथियाने की नीति से विमुख नहीं हुआ है किन्तु साथ ही यह भी स्पष्ट है कि पाकिस्तान द्वारा यदि पुरानी गलती फिर दोहराई गयी तो इस बार भारत के सशक्त हाथों का उसे पूर्वापेक्षा अधिक कटु स्वाद चखना पड़ेगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ और काश्मीर समस्या के बारे में यही कहा जा सकता है कि पश्चिमी देशों के प्रभाव से अपनी पक्षपातपूर्ण नीति और पाकिस्तानी दुराग्रह के कारण काश्मीर समस्या का समाधान करने में यह असफल रहा है लेकिन उसे अगस्त-सितम्बर १९६५ में होने वाले भीषण रक्तरंजित युद्ध को समाप्त करने में अवश्य सफलता मिली है।

(१६) स्वेज नहर विवाद
(The Suez Canal Question)

अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार और राजनीति में असाधारण महत्व रखने वाली स्वेज नहर की समस्या को भली भाँति समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर एक विहगम दृष्टि डाल लें।

इस नहर का निर्माण एक फ्रेंच कम्पनी "The Compagnie Universell du Canal Maritime de Suez" ने २५ अप्रेल, १८५९ में प्रारम्भ किया और १७ नवम्बर १८६९ को इसका उद्घाटन हुआ। इस प्रकार १० वर्ष के कठिन परिश्रम से भूमध्य सागर को रक्त सागर से जोड़ने वाला एक ऐसा जल मार्ग तैयार हुआ जिससे यूरोप से पूर्व जाने वाला मार्ग ४००० मील छोटा हो गया। यह उल्लेखनीय है कि इस नहर के निर्माण का ब्रिटेन द्वारा विरोध किया गया था किन्तु फिर भी फ्रांस ने इसे पूरा किया और नहर के जो हिस्से बेच गए उसमें से आधे से अधिक फ्रान्स ने ही खरीदे। मिश्र के तत्कालीन शासक खदीव के साथ हुए एक समझौते के अनुसार नहर का प्रबन्ध फ्रेन्च कम्पनी को १७ नवम्बर १९६९ तक के लिए अर्थात् ९९ वर्ष के लिए ठेके (Lease) पर मिला। ब्रिटेन के विशाल साम्राज्य के लिए भी यह नहर एक अत्यन्त महत्वपूर्ण सामरिक मार्ग थी अतः सन् १८७५ में इसके लगभग आधे हिस्से उसने खरीद लिये। इस नहर से जो आय होगी उसका २५ प्रतिशत मिश्र को तथा ७५ प्रतिशत हिस्सेदारों को लाभ के रूप में दिये जाने की व्यवस्था हुई।

स्वेज नहर के बढ़ते हुए अन्तर्राष्ट्रीय महत्व को देखते हुए सन् १८७५ में सर ट्रेवर्स टर्न (Sir Travers Turn) ने इसके 'तटस्थीकरण' (Neutralisation) का प्रस्ताव रखा। इस पर सन् १८८३ में ब्रिटिश सरकार द्वारा एक अन्तर्राष्ट्रीय अधिवेशन आमन्त्रित किया गया। इस अधिवेशन में यद्यपि इस प्रकार का प्रस्ताव पारित अवश्य हो गया किन्तु वह क्रियान्वित नहीं हो पाया। फलस्वरूप २९ अक्टूबर १८८८ को कुस्तुनतुनिया में एक दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें ग्रेट ब्रिटेन

रूस जर्मनी फ्रान्स आस्ट्रिया हंगरी हालैण्ड इटली स्पेन और टर्की आदि ने भाग लिया। इन विभिन्न राष्ट्रों में एक समझौता (Convention) हुआ जिसके अनुसार मुख्यतः निम्नलिखित बातें तय हुयीं—

(i) नहर का प्रयोग युद्ध एवं शांति दोनों के समय सब राष्ट्रों द्वारा स्वतंत्र रूप से *किया जा सकेगा। नहर व्यापारिक और जंगी सभी जहाजों* के लिए खुली रहेगी और इसमें कोई स्थायी किलेबन्दी नहीं की जायगी।

(ii) युद्ध काल में टर्की के आक्रमणकारी होने पर भी नहर के अन्दर और बन्दरगाह के ३ मील बाहर तक कोई देश शांति भंग करने अथवा युद्ध करने का अधिकारी नहीं होगा।

(iii) युद्ध से सम्बन्धित कोई भी जहाज नहर में शरण नहीं ले सकेगा। पोर्ट सईद और स्वेज बन्दरगाहों पर प्रत्येक देश दो जहाज रख सकेगा लेकिन युद्ध काल में यह अधिकार मिस्र के किसी भी राष्ट्र को प्राप्त नहीं होगा। नहर पर कोई भी देश किलेबन्दी नहीं करेगा।

(iv) युद्ध के *बाद जिन* राष्ट्रों में संधि होगी उन्हें मिस्र के दूसरे राष्ट्रों को इस बारे में सूचना देनी होगी।

प्रथम महायुद्ध में उपरोक्त शर्तों का पूरी तरह पालन हुआ। महायुद्ध के फलस्वरूप एक विशेष परिवर्तन यह हुआ कि जो मिस्र अब तक टर्की के अधीन था उस पर १८ दिसम्बर १९१४ से ब्रिटेन का अधिकार हो गया और यद्यपि फरवरी १९२२ में मिस्र को स्वतंत्रता दे दी गयी किन्तु फिर भी स्वेज *नहर की रक्षा का दायित्व ब्रिटिश सेनाओं को ही सौंपा गया।* २६ अगस्त १९३६ को ग्रेट ब्रिटेन और मिस्र में एक संधि हुई जिसके अनुसार ग्रेट ब्रिटेन का नहरी क्षेत्र में सेना रखने का अधिकार मिस्र ने स्वयं स्वीकार किया यद्यपि इससे नहर की मिस्र का एक अभिन्न अंग होने की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आया। चूंकि स्वेज नहर ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों तक पहुंचने के लिए यातायात का एक प्रमुख साधन थी अतः यह निश्चित हुआ कि जब तक मिस्री सेना इसकी रक्षा करने योग्य न हो जाय तब तक ब्रिटेन अपनी सेनाओं को नहर के आस-पास रखेगा। द्वितीय महायुद्ध में इसी संधि के अनुसार ग्रेट ब्रिटेन ने नहर की रक्षा की और शत्रु देशों के लिए नहर से आने-जाने की रोक लगा दी। सन् १९४० में ब्रिटेन ने स्वेज नहर कम्पनी पर अपना आधिपत्य जमा लिया।

युद्ध के बाद १९३६ की उपरोक्त संधि में संशोधन की बातचीत चलायी गयी परन्तु उसमें सफलता नहीं मिली। सन् १९४८ के फिलस्तीन के युद्ध में मिस्र द्वारा यह दावा किया गया कि स्वेज नहर से आने जाने वाले जहाजों की मिस्र जानकारी ले सकता है। २६ नवम्बर १९५० को मिस्र के शाह फारूक ने निम्नलिखित मांगें प्रस्तुत कीं—

(क) १९३६ की एंग्लो-मिस्र संधि रद्द की जाय

(ख) स्वेज नहर के क्षेत्र से ब्रिटिश फौजें अविलम्ब हट जायें तथा

(ग) मिस्र और सूडान की एकता स्थापित हो—यह एकता मिस्र के राजमुकुट के नीचे स्थापित हो।

परन्तु ब्रिटेन ने शाह फारूक की मांगों को अस्वीकार कर दिया। ब्रिटिश विदेश मन्त्री अर्नेस्ट बेविन ने कहा कि ब्रिटेन मध्य-पूर्व को सुरक्षित छोड़ कर कहीं नहीं जाना चाहता और संधि में संशोधन केवल दोनों पक्षों की सहमति के द्वारा ही हो सकता है।

बेविन के उपरोक्त उत्तर की उपेक्षा करते हुए मिस्री प्रधान मन्त्री नहसपाशा ने ८ अक्टूबर १९५१ को ब्रिटिश सेना को नहरी क्षेत्र से हट जाने को कहा। उसने १९३६ की संधि और १८९९ के मिस्र एवं ब्रिटेन द्वारा सूडान के संयुक्त शासन (Condominium) के समझौते की निन्दा करते हुए मिस्री संसद में मिस्र के राजा फारूक को सूडान का शासक बनाने की घोषणा की। १६ अक्टूबर १९५१ को संसद द्वारा इस घोषणा को स्वीकार कर लिया गया। इसी घोषणा में यह भी कहा गया कि स्वेज नहर में ब्रिटेन को अभी तक जितनी सुविधायें प्राप्त थी उन्हें अब समाप्त किया जाता है। इस पर ब्रिटेन ने उपरोक्त घोषणा को असंवैधानिक घोषित करते हुए कहा कि जब तक १९३६ की एंग्लो मिस्री संधि का स्थान अन्य समझौता नहीं लेता है तब तक ब्रिटिश सेना के नहर से हटने का प्रश्न नहीं उठता है। सुरक्षा परिषद ने भी इसकी पुष्टि करते हुए घोषित किया कि मिस्र को ऐसी आज्ञा देने का अधिकार नहीं है अतः उसे अपना आदेश समाप्त कर देना चाहिए। इस अवसर पर ब्रिटेन ने मध्य-पूर्व की प्रतिरक्षा के लिए चार महाशक्तियों (ब्रिटेन अमेरिका फ्रान्स और टर्की) के सम्मेलन का प्रस्ताव रखते हुए इसमें मिस्र को भी बराबर के साझीदार की तरह शामिल होने को आमन्त्रित किया। परन्तु मिस्र ने इस प्रस्ताव को यह कह कर ठुकरा दिया कि यह उसकी राष्ट्रीय भावनाओं के अनुरूप नहीं है।

अन्त में काफी वाद-विवाद और लम्बी संधि-वार्ता के उपरान्त २७ जुलाई १९५४ को काहिरा में ब्रिटेन तथा मिस्र के बीच एक संधि सम्पन्न हो गयी जिसकी मुख्य-मुख्य शर्तें यह थी—

(i) २० जून १९५६ तक ब्रिटेन के ८००० सैनिकों की फौज स्वेज नहर क्षेत्र से हटा ली जायगी।

(ii) किन्तु मिस्र पर टर्की अथवा अन्य किसी राज्य का आक्रमण होने पर ब्रिटिश सेना नहरी क्षेत्र में पुनः आ सकती है।

(iii) स्वेज नहर मिस्र का अभिन्न अंग एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का मार्ग है।

(iv) १८८८ के समझौते के अनुसार सब राष्ट्रों द्वारा नहर के स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग की स्थिति कायम रखने के लिए दोनों पक्ष दृढ़ प्रतिज्ञ हैं।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण एवं संकट का उदय—इस समय मिस्र में कर्नल नासिर का शासन था जो आरम्भ से ही पश्चिमी साम्राज्यवाद एवं प्रभुता के कट्टर विरोधी थे और अपने देश की गरीबी दूर करने के लिए नील नदी पर अस्वान में बांध बनाना चाहते थे। चूंकि बांध के लिए अपेक्षित विशाल धनराशि उन्हें पश्चिम से प्राप्त हो सकती थी अतः उन्होंने पश्चिमी

राष्ट्रों से भारी आर्थिक सहायता की माँग की। परन्तु उनके सोवियत रूस पक्षपाती एख के कारण पश्चिमी देशों ने मिस्र को भारी मात्रा में आर्थिक सहायता देने से इन्कार कर दिया हालांकि अमेरिका और ब्रिटन ने क्रमशः ५६ व १५ करोड़ तथा विश्व बैंक ने २०० करोड़ डालर देने का आश्वासन अवश्य दिया। इस पर नासिर ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण (Nationalisation) करके इससे मिस्र के विकास के लिए आवश्यक धनराशि प्राप्त करने का निश्चय किया। नासिर का कहना था कि स्वेज नहर का लगभग १ अरब डालर का मुनाफा प्रति वर्ष कम्पनी के ब्रिटेन फ्रांस और यूरोप के हिस्सेदारों में चला जाता था जब कि इस विदेश धन प्रवाह को रोक कर मिस्र में क्रांतिकारी कल्याण कार्य किये जा सकते थे।

अपने उपरोक्त निश्चय के अनुसार २६ जुलाई १९५६ को सिकन्दरिया नगर में भाषण करते हुए मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी और कहा कि नहर के संचालन से जो आर्थिक लाभ होगी उसका उपयोग आस्वान नदी घाटी योजना को क्रियान्वित करने के लिए किया जायेगा। श्री नासिर ने यह भी घोषणा की कि 'स्वेज कम्पनी' (दी यूनिवर्सल स्वेज मेरीटाइम कैनाल कम्पनी) की समस्त चल-अचल पूंजी और सम्पत्ति पर मिस्र सरकार का अधिकार हो जाने के बाद कम्पनी को उचित हर्जाना दिया जायगा तथा सरकार के वाणिज्य मन्त्रालय के अधीन नहर का संचालन और देख-रेख करने के लिए एक अलग संगठन की स्थापना की जायगी। इस अवसर पर कर्नल नासिर ने पश्चिमी साम्राज्यवाद पर भी कटु आक्षेप किये।

राष्ट्रीयकरण की प्रतिक्रिया—कर्नल नासिर की उपरोक्त घोषणा के फलस्वरूप एक गम्भीर अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न हो गया। ब्रिटेन और फ्रांस के लिए तो यह अलग वज्रपात था। इन दोनों राष्ट्रों और अमेरिका के विदेशमन्त्रियों के मध्य कई दिनों तक गम्भीर मन्त्रणा होती रही। २ अगस्त को उन्होंने एक संयुक्त वक्तव्य प्रकाशित किया जिसमें स्पष्ट तौर पर यह कहा गया कि मिस्र द्वारा स्वेज कम्पनी का राष्ट्रीयकरण किया जाना पूर्णतः एकतरफा और मनमानी कार्यवाहियों तथा मिस्र के इस कार्य से स्वेज नहर के स्वतन्त्र और निर्बाध प्रयोग के बारे में १८८८ के अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का साफ उल्लंघन हुआ है। जब मिस्र ने इन प्रतिवादों की परवाह न की तो लन्दन में ब्रिटेन ने २४ राष्ट्रों का एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आमंत्रित किया। ये राष्ट्र थे—मिस्र फ्रान्स इटली नीदरलैण्ड स्पेन टर्की ब्रिटेन रूस आस्ट्रेलिया श्रीलंका डेनमार्क इथोपिया पश्चिमी जर्मनी ग्रीस भारत इण्डोनेशिया ईरान जापान न्यूजीलैंड नॉर्वे पाकिस्तान पुर्तगाल स्वीडन और संयुक्त राज्य अमेरिका। यह सम्मेलन १६ अगस्त से २३ अगस्त १९५६ तक हुआ। ग्रीस और मिस्र को छोड़ कर अन्य सभी देशों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशमंत्री जॉन फॉस्टर डलेस ने समस्या के समाधान हेतु एक योजना प्रस्तावित की जिसमें निम्नलिखित सुझाव थे—

(क) स्वेज नहर के सभी विवाद एक अन्तर्राष्ट्रीय परिषद द्वारा सुलझाये जायें। यह परिषद संधि द्वारा अथवा अन्य राष्ट्रों से मिल कर उन विवादों को सुलझा देगी। मिस्र भी इस परिषद में अपना प्रतिनिधि भेजे परन्तु वह प्रतिनिधि किसी सत्ता के अधीन न हो।

(ख) नहर का राष्ट्रीयकरण हो जाने पर स्वेज नहर-कम्पनी को भी प्रतिकर के रूप में कुछ दिया जायगा।

(ग) इस प्रबन्ध से मिस्र भी लाभ उठा सकेगा लेकिन उसे यह लाभ निष्पक्ष रूप से यथायोग्य ही प्राप्त होगा।

(घ) यदि दूसरी और तीसरी बात में मिस्र का मतभेद होगा तो इसका निर्णय एक आयोग द्वारा किया जायगा। इस आयोग के न्यायाधीश का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय करेगा।

डलेस योजना में १८८८ के कुस्तुन्तुनिया समझौते की प्रस्तावना की भाँति यह कहा गया कि नहर सब देशों के लिये युद्ध एवं शान्तिकाल में खुली रहनी चाहिये। इस योजना में यद्यपि नहर पर मिस्र की सर्वोच्च सत्ता को मान्यता दी गई किन्तु नहर को चलाने के लिए एक अन्तर्राष्ट्रीय स्वेज नहर बोर्ड की स्थापना का प्रस्ताव रखा गया। इस बोर्ड को अपने कार्यों की रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्र संघ को देनी थी किन्तु उसे कार्य करने के लिए अधिकार तथा सुविधाएं मिस्र की सरकार से प्राप्त करनी थी।

डलेस योजना के अतिरिक्त सम्मेलन में दो और भी योजनाएं रखी गई और वे थीं शेपीलोव (रूस) योजना एवं मेनन (भारत) योजनाएं। रूसी विदेश मंत्री शेपीलोव ने अपनी योजना में मिस्र के सम्प्रभु अधिकारों को मान्यता देते हुए सभी देशों के लिए नहर को सदैव स्वतन्त्र एवं खुली रखने तथा मिस्र द्वारा नहर की सुरक्षा मरम्मत आदि की व्यवस्था की मांग की। परन्तु भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्ण मेनन के प्रभाव से शेपीलोव ने अपनी योजना वापिस ले ली।

भारत के श्री कृष्ण मेनन ने सम्मेलन में जो योजना प्रस्तुत की वह डलेस योजना से सर्वथा भिन्न थी। इस योजना में नहर पर मिस्र सर्वोच्च सत्ता का और इसे सदैव खुला रखने का सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भौगोलिक प्रतिनिधित्व के आधार पर नहर का उपयोग करने वाले देशों की एक परामर्श दात्री संस्था बनाने की बात थी। श्री मेनन ने डलेस योजना के विरोध में कहा था—"स्वेज नहर मिस्र की है। इस पर अन्तर्राष्ट्रीय सत्ता की स्थापना का अर्थ नये शासन बोर्ड के साथ स्वेज नहर कम्पनी का पुनरुज्जीवन है।"

परन्तु सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव ही सर्वोपरि था अत १७ देशों ने २१ अगस्त को डलेस योजना का ही समर्थन किया। सम्मेलन द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि डलेस योजना आस्ट्रेलिया के प्रधान मन्त्री डॉ० मेन्जीज स्वयं काहिरा ले जायें। परन्तु जब आस्ट्रेलियायी प्रधानमंत्री ने काहिरा पहुंच कर डलेस योजना राष्ट्रपति नासिर के सामने पेश की तो उन्होंने इसे ठुकरा दिया।

नासिर द्वारा लंदन सम्मेलन में प्रस्तावित डलेस योजना को ठुकरा दिये जाने पर १६ सितम्बर को लंदन में पुनः १८ राष्ट्रों का एक सम्मेलन

हुआ। इस द्वितीय लन्दन सम्मेलन ने स्वेज नहर उपभोक्ता संघ (Suez Canal Users Association) का एक कार्यालय खोला गया और डैनमार्क के राजदूत जारम्प को अमरिका में इसका प्रशासक भी नियुक्त कर दिया गया। फिर भी ब्रिटेन और फ्रांस को यह स्पष्ट विदित हो गया कि इस उपभोक्ता संघ की स्थापना से स्वेज नहर पर उनका पूर्ववत अधिकार फिर से कायम नहीं हो सकता है। अतः उन्होंने स्वेज-विवाद को सुरक्षा परिषद में ले जाने का निश्चय किया।

सुरक्षा परिषद में स्वेज-विवाद का प्रवेश—२९ सितम्बर, १९५६ को ब्रिटेन और फ्रांस ने स्वेज नहर सम्बन्धी सम्पूर्ण विवाद सुरक्षा परिषद के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया। इसके उपरांत अक्टूबर १९५६ के प्रारम्भिक दिनों में संयुक्त राष्ट्र संघ के महामंत्री श्री डाग हैमरशोल्ड की अध्यक्षता में फ्रांस ब्रिटेन और मिश्र के विदेश मंत्रियों के मध्य पर्याप्त विचार-विमर्श हुआ। इस विचार विमर्श में विदेश मंत्री स्वेज नहर के संचालन के सम्बन्ध में छः सिद्धान्तों पर सहमत हो गये और इन्हीं सिद्धान्तों को आधार बना कर फ्रांस व ब्रिटेन ने संयुक्त रूप से सुरक्षा परिषद के समक्ष एक प्रस्ताव रखा। ये छः सिद्धान्त (जो प्रस्ताव में सम्मिलित थे) निम्नानुसार थे—

(i) स्वेज नहर के उपयोग में किसी भी देश के साथ कोई भेद-भाव न बरता जाय सबको नहर में जहाज लाने की पूर्ण स्वतन्त्रता हो।

(ii) मिश्र की सार्वभौम अथवा सर्वोच्च सत्ता का पूर्ण सम्मान किया जाय। (iii) नहर के संचालन और प्रबन्ध व्यवस्था को सभी प्रकार की राजनीति से पृथक रखा जाय। (iv) स्वेज नहर से होकर गुजरने वाले जहाजों से किस दर से टैक्स और कितना 'टोल' वसूल किया जाय—इस बात का निर्णय मिश्र एवं नहर का उपयोग करने वाले राष्ट्रों के प्रतिनिधि मिल कर करें। (v) नहर से होने वाली आमदनी का पर्याप्त भाग नहर के विकास एवं सुधार आदि कार्यों पर व्यय किया जाय। (vi) स्वेज नहर कम्पनी और मिश्र सरकार के मध्य होने वाले विवादों का निर्णय मध्यस्थता (Arbitration) द्वारा किया जाय।

उपरोक्त प्रस्ताव के दूसरे भाग में स्वेज नहर पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण की संस्था वाली डलेस योजना का वर्णन था।

१३ अक्टूबर को जब प्रस्ताव पर सुरक्षा परिषद में मतदान हुआ तो प्रस्ताव में निहित उक्त छः सिद्धान्त तो स्वीकार कर लिये गये किन्तु शेष पर सोवियत रूस ने निषेधाधिकार का प्रयोग कर दिया। दूसरे शब्दों में प्रस्ताव का केवल एक भाग स्वीकृत हो सका और यह भाग उपरोक्त छः सिद्धान्तों पर व्यावहारिक रूप में अमल करने से सम्बन्ध रखता था। इस प्रकार, सोवियत वीटो के प्रयोग से नहर पर अपने अधिकार को फिर से स्थापित करने का एंग्लो-फ्रेंच वर्तमान विफल हो गया।

मिश्र पर आक्रमण—अब ब्रिटेन और फ्रांस मिश्र में हस्तक्षेप करने का मौका ढूंढने लगे ताकि वे स्वेज नहर पर पुनः स्वत्व स्थापित कर सकें। यह मौका शीघ्र ही उन्हें मिल गया। २९ अक्टूबर, १९५६ को इजरायल

ने अपने प्राचीन शत्रु मिस्र पर, सम्भवतः इनकी सलाह अथवा प्रेरणा से अचानक आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण इतना आकस्मिक था कि इजरायल सेनाएं मिस्र प्रदेश में सहसा ही ५० मील अन्दर तक घुस गयीं और इस प्रकार उन्होंने स्वेज नहर तक की आधी दूरी तय कर ली। इस पर भी तुर्रा यह था कि इजरायल द्वारा आरोप यह लगाया गया कि इसका सम्पूर्ण उत्तरदायित्व मिस्र पर है जिसकी उत्तेजनापूर्ण कार्यवाहियों ने इजरायल को ऐसा कठोर कदम उठाने को बाध्य किया है।

इजरायली आक्रमण के ठीक दूसरे ही दिन ३० अक्टूबर को ब्रिटेन के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री एन्थोनी ईडन ने ब्रिटिश लोकसभा में यह घोषणा की कि फ्रांस व ब्रिटेन की सरकार ने मिस्र एवं इजरायल से यह मांग की है कि वे परस्पर युद्ध करना बंद करके स्वेज से १० मील परे तक अपनी सेनायें हटा लें और इस बात के लिये सहमति प्रकट करें कि ब्रिटिश तथा फ्रेंच सेनायें पोर्ट सईद इस्माइलिया एवं स्वेज के महत्वपूर्ण स्थानों पर अस्थायी तौर पर अपना नियंत्रण स्थापित कर लें ताकि युद्धरत दोनों पक्षों को परस्पर लड़ने से रोका जा सके और स्वेज नहर में जहाजों के स्वतन्त्र आवागमन की गारन्टी दी जा सके। इस मांग का उत्तर देने के लिये मिस्र को केवल १२ घण्टों का समय दिया गया और यह चेतावनी दी गई कि यदि इस अवधि में दोनों पक्षों ने प्रस्तावित शर्तों पर अमल नहीं किया तो ब्रिटिश एवं फ्रेंच फौजें स्थिति को सुधारने के लिये हस्तक्षेप करेंगी।

स्पष्ट रूप से स्वेज पर कब्जा जमाने की यह एक ब्रिटिश-फ्रेंच चाल थी। मिस्र के राष्ट्रपति नासिर ने ब्रिटेन और फ्रांस के इस संयुक्त अल्टीमेटम को अस्वीकार कर दिया। इस पर ब्रिटिश एवं फ्रेंच वायु सेना के हवाई जहाजों ने साइप्रस स्थित हवाई अड्डे से उड़ान भर कर मिस्र के महत्वपूर्ण सैनिक स्थलों पर हमला बोल दिया। इसी दिन सुरक्षा परिषद में सब राष्ट्रों से मिस्र में सेना का प्रयोग न करने की प्रार्थना करने वाला प्रस्ताव फ्रांस और ब्रिटेन के वीटो के कारण पास नहीं हो सका। यह प्रस्ताव अमेरिका द्वारा प्रस्तुत किया गया था जिसमें यह मांग रखी गई थी कि इजरायल अविलम्ब अपनी सेनाएं मिस्र से वापिस बुला ले और संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य मिस्र के क्षेत्र में शक्ति का प्रयोग न करें अथवा शक्ति का प्रयोग करने की धमकी न दें।

उपरोक्त प्रस्ताव रद्द हो जाने के उपरांत 'शांति के लिये एकता' (Uniting for Peace) नामक प्रस्ताव के अन्तर्गत महा सभा की संकट कालीन बैठक बुलाई गई। १ नवम्बर, १९५६ से आरम्भ होने वाले महा सभा के इस अधिवेशन में स्वेज-विवाद पर बड़ी कटु एवं उग्र बहस हुई। ब्रिटिश प्रतिनिधि ने अपने देश के कार्यों की तुलना कोरिया में अमेरिका द्वारा की गई कार्यवाही से की किन्तु ब्रिटिश विरोध के बावजूद २ नवम्बर १९५६ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में संयुक्त राज्य अमेरिका का एक प्रस्ताव प्रबल बहुमत से पारित कर दिया। इस प्रस्ताव में स्वेज नहर के प्रदेश में ब्रिटिश फ्रेंच और इजरायली सैनिक कार्यवाही पर गंभीर चिन्ता व्यक्त की गई थी तथा अविलम्ब युद्ध-बन्द करने पर बल दिया गया।

तत्पश्चात् ४ नवम्बर को महासभा ने कनाडा का यह प्रस्ताव पास किया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव श्री डाग हैमरशोल्ड मिस्र में युद्ध बन्द करने और युद्ध विराम की देखभाल के लिए संघ की एक आपातकालीन सेना (United Nations Emergency Force) की योजना प्रस्तुत करें। इस पर १० देशों की सैनिक टुकड़ियों से बनी ६ हजार सैनिकों की अन्तर्राष्ट्रीय सेना शांति स्थापना के लिए मिस्र भेजी गई।

उपरोक्त सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय आपातकालीन सेना के प्रस्ताव को ब्रिटेन एवं फ्रान्स ने मानने से आनाकानी की थी। इन दोनों राष्ट्रों का रुख संघ को शान्ति कार्यों में सहयोग न देने का था। इस पर ५ नवम्बर को सोवियत संघ के प्रधानमन्त्री ने आक्रमणकारियों को स्पष्ट शब्दों में यह चेतावनी दी कि यदि एक निश्चित समय तक मिस्र पर हमला बंद नहीं किया गया तो सोवियत संघ नवीनतम अस्त्रों के साथ इस संघर्ष में हस्तक्षेप करेगा। ब्रिटिश-फ्रेन्च-इजरायली आक्रमण को नष्ट करनेके लिए शक्ति प्रयोग करने सम्बन्धी सोवियत नोट ब्रिटेन व फ्रांस दोनों को अलग-अलग प्रेषित किया गया। इस चेतावनी से तृतीय महायुद्ध की संभावना एकदम सन्निकट दिखाई पड़ने लगी। दूसरी ओर अमेरिका ने भी मिस्र में फ्रांस व ब्रिटेन की सैनिक कार्यवाही का समर्थन नहीं किया और खुले तौर पर उनके कार्य को गलत घोषित किया। सोवियत चेतावनी और अमेरिका के विरोध ने ब्रिटेन एवं फ्रांस को मिस्र में अपनी सैनिक कार्यवाही रोकने के लिए बाध्य कर दिया। इस दिन अर्थात् ५ नवम्बर को ही डाग हैमरशोल्ड ने संघ को यह शुभ समाचार दिया कि ६–७ नवम्बर की मध्य रात्रि में एंग्लो-फ्रेन्च फौजें युद्ध बन्द कर देंगी। इसके तुरन्त बाद ७ नवम्बर को संयुक्त राष्ट्रीय महासभा ने एशिया-अफ्रीका के देशों का यह प्रस्ताव पास किया कि ब्रिटिश फ्रेन्च और इजरायली फौजें मिस्र की भूमि से हट जायें तथा स्वेज नहर के क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय पुलिस की व्यवस्था की जाय। इन प्रस्तावों के फलस्वरूप युद्ध पूरी तरह बन्द हो गया। मिस्र ने इस आश्वासन पर कि संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना के रहने पर उसकी प्रभुसत्ता को कोई आंच नहीं आयेगी अफ्रो-एशियाई देशों का प्रस्ताव मान लिया। इस प्रस्ताव के अनुरूप अन्तर्राष्ट्रीय सेना का आयोजन करने के लिए ब्राजील, कनाडा, श्रीलंका, कोलम्बिया, भारत, नार्वे और पाकिस्तान—इन देशों की एक समिति बनायी गयी। १५ नवम्बर को इस आपातकालीन सेना (U.N.E.F) का पहला दस्ता मिस्र पहुँच गया।

चूंकि अभी तक आक्रमणकारी फौजें मिस्र से नहीं हटी थीं, अतः २४ नवम्बर को महासभा ने पुनः एक प्रस्ताव पास करके आक्रमणकारियों (ब्रिटेन फ्रांस व इजरायल) को यह आदेश दिया कि वे यथाशीघ्र अपनी सेनाएं मिस्र की भूमि से हटा लें। फलस्वरूप ३ दिसम्बर को शेष ब्रिटिश-फ्रेन्च टुकड़ियाँ मिस्र से वापिस बुलाने की घोषणा कर दी गयी। २१ दिसम्बर तक ब्रिटेन और फ्रांस की सम्पूर्ण आक्रमणकारी सेना, भारी कलंक कालिमा के साथ मिस्र की भूमि को खाली कर गयी। इस बीच में इजरायली सेना भी धीरे-धीरे पीछे हटती गयी और २२ दिसम्बर को केवल गाजा पट्टी और शरमल शेख नामक क्षेत्र में उसकी सेनाएं रह गयीं। यह अकाबा खाड़ी में विराजत

जलडमरूमध्य के सामने स्थित एक भूखण्ड था। इस क्षेत्र से भी इजरायली सेनाओं के वापिस जाने के सम्बन्ध में वार्ता चालू रही किन्तु इजरायल के दुराग्रह के कारण बातचीत में विशेष प्रगति नहीं हुई। तब १९ जनवरी और २ फरवरी १९५७ को महासभा ने इजरायल द्वारा फौजें हटाने तथा महासचिव को इस प्रस्ताव को क्रियान्वित कराने सम्बन्धी दो प्रस्ताव पारित किये। इजरायल ने इन प्रस्तावों पर भी ध्यान नहीं दिया। इस पर ६ शक्तियों ने महासभा में यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि "सब राज्य इजरायल को सैनिक तथा आर्थिक सहायता देना बन्द कर दें।" महासभा द्वारा यह प्रस्ताव पारित कर दिये जाने पर १ मार्च १९५७ को इजरायल ने कुछ शर्तों के साथ सेनाएं हटाना स्वीकार कर लिया और ७ मार्च १९५७ तक समस्त इजरायली फौजें सम्पूर्ण मिस्री क्षेत्र से हटा ली गयीं। इस सम्बन्ध में जो भी समझौता-वार्ताएं हुईं उस सिलसिले में अमेरिका ने भी इस बात को मान्यता प्रदान की कि अकाबा की खाड़ी अन्तर्राष्ट्रीय जल-मार्ग है और किसी भी राष्ट्र को वहां पर जहाजरानी के मार्ग में रुकावट डालने का कोई अधिकार नहीं। बरमूडा में तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री मैकमिलन और राष्ट्रपति आइजनहोवर ने संयुक्त रूप से इस बात पर सहमति प्रकट की कि यदि इजरायल मिस्र का कोई स्थायी हल निकालना है तो यह आवश्यक है कि गाजा पट्टी में संयुक्त राष्ट्र संघीय सैनिक टुकड़ी कुछ समय तक तैनात रहने दी जाय।

मिस्र में युद्ध बन्द कराने और विदेशी सेनाओं को हटाने में संयुक्त राष्ट्र संघ को पूरी सफलता मिली और स्वेज पर ब्रिटेन व फ्रांस के पुनः आधिपत्य के सपने चूर चूर हो गये। इस घटना ने एक बार फिर यह सिद्ध कर दिया कि यदि अमेरिका और रूस जैसी महाशक्तियां सहयोग करें तो संयुक्त राष्ट्र संघ की सभी कार्यवाही बहुत कुछ सफल हो सकती है।

यद्यपि स्वेज विवाद पर शुरू होने वाला युद्ध बन्द हो गया किन्तु स्वेज नहर को आवागमन के लिए चालू करना अभी शेष था। युद्ध के समय अनेक जहाजों को नहर में डुबो कर नौचालन के लिए उसे बेकार कर दिया गया। अतः इसे फिर से परिवहन के योग्य बनाने में भी संयुक्त राष्ट्र ने महत्वपूर्ण सहायता की। संघ द्वारा १५ करोड़ रुपयों की प्राविधिक सहायता (Technical Assistance) दी गयी जिससे नहर को साफ करा कर शीघ्र ही नौचालन के योग्य बना दिया गया। संक्षेप में संघ के हस्तक्षेप से स्वेज नहर पर मिस्र का पूर्ण अधिकार कायम हो गया और यह सभी देशों के लिए खोल दी गयी।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि मिस्र ने स्वेज नहर को इजरायल के लिये सदैव से बन्द कर रखा है और यह भी दोनों देशों के मध्य तनाव व संघर्ष का एक मुख्य कारण है। अभी हाल ही में जून १९६७ में होने वाले 'अरब इजरायल-संघर्ष' में, जिसका उल्लेख इसी अध्याय के अन्तर्गत आगे यथास्थान किया गया है, इजरायल का आक्रमण के मूल में निहित एक उद्देश्य यही रहा है कि स्वेज नहर पर मिस्र का एकछत्र आधिपत्य समाप्त कर दिया जाय। इजरायल इस बात पर तुला है कि स्वेज उसकी जहाजरानी के लिए भी खुली रहे। इजरायली प्रधान मन्त्री एश्कोल के पक्षधर अखबार 'दावर'

आज्ञा नहीं मिली किन्तु इसने हंगरी से भाग कर आये हुए लगभग १०० व्यक्तियों से न्यूयार्क रोम वियना लन्दन आदि में भेंट की। ५ महीने तक समिति सारी की गवाहियों जैसी और स्थिति का अध्ययन करती रही। तत्पश्चात् इसने हंगरी में सोवियत हस्तक्षेप के विरुद्ध १०२ पृष्ठों की ठास और प्रमाणिक तथ्यो पर आधारित रिपोर्ट प्रस्तुत की। २ जून १९५७ को प्रस्तुत अपनी इस रिपोर्ट में समिति ने एकमत से इस बात की पुष्टि की कि सोवियत रूस हंगरी में हस्तक्षेप का दोषी था और उसने हंगरी के विद्रोह को जो असली अर्थों में एक जन-क्रान्ति थी कुचलने के लिए बड़े पैमाने पर अपनी सैनिक शक्ति का प्रयोग किया। समिति ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि सोवियत रूस ने यह दमनकार्य बहुत ही नृशंसतापूर्वक संचालित किया जिसके परिणाम स्वरूप हंगरी की बहुसंख्यक जनता को असह्य कष्ट सहन करने पड़े। हंगरी की सरकार ने समिति की रिपोर्ट को "देशद्रोही कार्यवाहियों और अपराधियों की गवाहियों पर आधारित झूठों का पुलिन्दा" बताया और कहा कि हंगरी के घरेलू मामले में यह संयुक्त राष्ट्र संघ का अनुचित हस्तक्षेप है।

हंगरी और सोवियत रूस के विरोध के बावजूद सितम्बर १९५७ में महासचिव ने समिति की रिपोर्ट पर विचार करने के लिए महासभा का अधिवेशन आमंत्रित किया। महासभा में १४ सितम्बर, १९५७ को रूस के हस्तक्षेप की निन्दा का एक और प्रस्ताव ६० वोटों के बहुमत से पास किया गया और पुनः यह मांग की गई कि रूस हंगरी से अपनी सेनाएं वापिस बुला ले तथा हंगरीवासियों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान करे। परन्तु इस प्रकार के प्रस्तावों और निन्दाओं का हंगरी पर कोई क्रियात्मक प्रभाव नहीं पड़ा। महासभा ने उपरोक्त प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए एक विशेष मिशन हंगरी भेजा परन्तु वहां की कठपुतली सरकार ने उसे हंगरी में प्रवेश करने की अनुमति ही नहीं दी। रूस के विरोध के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ को हंगरी के मामले में कोई सफलता नहीं मिल पायी।

यद्यपि महासभा और सुरक्षा परिषद सोवियत रूस तथा हंगरी के दुराग्रह के कारण पंगु बन कर रह गयी किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका बाद में भी संघ में हंगरी के प्रश्न को बार-बार उठाता रहा। १९५९ में १० के विरुद्ध ५४ वोटों के बहुमत से महासभा ने हंगरी के सम्बन्ध में पुनः एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें इमरेनेगी जनरल पालमेलेटर और अन्य हंगेरियन देशभक्तों को प्राणदण्ड दिये जाने की निन्दा की गयी रूसी सेनाओं की उपस्थिति में 'हंगेरियन जनता के मौलिक अधिकारों के दमन' की भर्त्सना की गयी हंगरी और रूस द्वारा संघ के पहले पास किये हुए प्रस्तावों की अवज्ञा करने पर खेद प्रकट किया गया। महासभा ने हंगरी पर नियुक्त की गयी विशेष समिति की रिपोर्ट का समर्थन करते हुए न्यूजीलैण्ड के सर लैसली मुनरो को यह कार्य सौंपा कि वे संघ के हंगरी सम्बन्धित प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के सम्बन्ध की घटनाओं पर संघ को रिपोर्ट देते रहें।

यहां पर स्मरणीय है कि यद्यपि हंगरी के मामले पर संयुक्त राष्ट्र संघ में इतनी चिन्ताएं थीं, लेकिन दक्षिण अफ्रीका और फ्रान्स की सरकार के विरुद्ध महासभा निष्क्रिय सी रही। चूंकि इन देशों में अमेरिका के मित्रराष्ट्रों

का शासन था इसलिए संभवतः वहां मानव के मौलिक अधिकारों का हनन नहीं हो रहा था। दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद नीति तो शायद मौलिक अधिकारों की पोषक है और इसीलिए संयुक्त राष्ट्र संघ इसके विरुद्ध कुछ नहीं कर रहा है?

अन्त में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि हंगरी में संयुक्त राष्ट्र संघ कोई प्रभावशाली कार्य न कर सकता किन्तु फिर भी वह हंगेरियन जनता की पर्याप्त अप्रत्यक्ष सहायता करने में समर्थ रहा। हंगरी-वासियों के कष्टों के निवारणार्थ संघ के माध्यम से पर्याप्त सहायता सामग्री हंगरी भेजी गयी वहां से भागने वाले शरणार्थियों के भोजन-वस्त्र तथा आवास की समुचित व्यवस्था हुई और सर्वोपरि बात यह हुई कि हंगरी में सोवियत सैनिक हस्तक्षेप के विरुद्ध विश्व जनमत को पूरी तरह जागरूक कर दिया गया। इस जनमत का ही यह प्रभाव हुआ कि अन्ततः रूस एवं हंगरी की कठपुतली सरकार ने अपने दमन कार्यों पर अंकुश लगाया।

हंगरी की समस्या यद्यपि अभी भी संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष उपस्थित है पर उसका अब कोई व्यावहारिक महत्व नहीं है।

(१८) अल्जीरिया–विवाद

(Algerian Issue)

३ जुलाई १९६२ को स्वतंत्रता प्राप्त करने वाला अल्जीरिया लगभग १३४ वर्ष तक उत्तरी अफ्रीका में फ्रान्स का एक उपनिवेश बना हुआ पराधीनता की यातनायें सहता रहा था। सन् १८३० में फ्रांस ने इस प्रदेश पर अधिकार करके १८४८ में एक घोषणा द्वारा इसे फ्रांस की भूमि का अंग बना दिया। १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हजारों फ्रेंच तथा यूरोपियन इस प्रदेश में आकर बसने लगे और उन्होंने स्थानीय बर्बर (Berber) मुस्लिम धर्म मानने वाली जाति एवं अरब जातियों का आर्थिक शोषण शुरू कर दिया। यूरोपियनों ने मुसलमानों के साथ असम्मानजनक व्यवहार करना प्रारम्भ किया उन्हें द्वितीय श्रेणी का नागरिक समझते हुए अपने से नीचा दर्जा दिया। अपने साथ इस हीन व्यवहार को देख कर उनमें असन्तोष की भावनाएं प्रबल हो उठीं और वे फ्रेंच साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंकने को व्यग्र हो उठे।

मन्थर गति से बढ़ती हुई विद्रोह की भावनाओं ने अन्त में भयंकर रूप धारण कर लिया और १ नवम्बर, १९५४ को अल्जीरियनों ने फ्रांसीसी शासन के विरुद्ध बगावत का झण्डा खड़ा कर दिया। दूसरी ओर फ्रांस ने इन स्वाधीनता प्रेमियों को निर्ममता से कुचल देने की नीति ग्रहण की।

संघ में अल्जीरिया-विवाद का प्रवेश—एक तरफ अल्जीरियाई जनता के स्वातन्त्र्य-संघर्ष और दूसरी तरफ फ्रेंच सरकार की नृशंसतापूर्वक सैनिक कार्यवाही द्वारा अल्जीरिया की राष्ट्रीय सांस्कृतिक एवं धार्मिक विशेषताओं को नष्ट करने की नीति एवं अल्जीरियनों के क्रूरतापूर्ण दमन ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति व सुरक्षा को खतरे में डालने वाली गम्भीर स्थिति पैदा कर दी। ५ फरवरी १९५५ को सऊदी अरब ने इस मामले की ओर सुरक्षा-परिषद का ध्यान आकर्षित

किया। २६ जुलाई १९५५ को १४ अफ्रीकन एवं एशियाई देशों ने इस प्रश्न को महासभा के दसवें अधिवेशन में उपस्थित किया। उसमें एक व्याख्यात्मक परिचय-पत्र में इन राष्ट्रों ने कहा कि अल्जीरिया की वर्तमान स्थिति शान्ति को एक ठोस खतरा है और अन्तर्राष्ट्रीय विभेद का कारण है। इस परिचय-पत्र में की गई शिकायत इस प्रकार थी—

"अल्जीरिया की बिगड़ती हुई परिस्थिति औपनिवेशिक नियम का प्रत्यक्ष परिणाम है और यह नहीं कहा जा सकता कि अल्जीरिया निवासियों ने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में दिए गए आत्मनिर्णय के अधिकार को प्रयुक्त किया है। अल्जीरिया में बड़े पैमाने पर पकड़-धकड़ करना, राष्ट्रीय राजनीतिक पार्टियों को गैर-कानूनी घोषित करना, सेंसरशिप लगाना और सशस्त्र फ्रेन्च सैनिक दस्तों द्वारा मकानों पर कब्जा जमा लेना—ये सब अल्जीरिया के लोगों को उनके यथोचित अधिकारों को स्वीकार करने की असफलता के अनिवार्य परिणाम हैं। ये मामले इस हद तक पहुँच गये कि स्वयं फ्रान्स के प्रधान मन्त्री के अनुसार अल्जीरिया में फ्रांस के पैर जमाये रखने के लिये फ्रांस के पास केवल एक ही मार्ग रह गया है कि वह शक्ति का सहारा ले। इस क्षेत्र में अभी १,२०,००० की विशाल सशस्त्र सेना और उत्तरी अटलांटिक सन्धि-संगठन (NATO) के फ्रांसीसी दस्ते वहाँ की गम्भीर स्थिति को स्पष्टतः प्रमाणित करते हैं। ऐसी स्थिति का बना रहना भूमध्यसागरीय क्षेत्र में शान्ति को गम्भीर खतरा उत्पन्न कर रहा है।"

एशियाई अफ्रीकन राष्ट्रों के इस निवेदन ने महासभा के समक्ष एक गम्भीर कानूनी प्रश्न उपस्थित कर दिया। अल्जीरिया फ्रेंच गणराज्य का एक वैधानिक अंग था। १८४८ में एक घोषणा द्वारा फ्रांस इसे अपनी भूमि का अंग घोषित कर चुका था। अतः फ्रांस का कहना था कि चार्टर के अनुच्छेद २ (७) के अन्तर्गत यह उसका घरेलू मामला है जिसमें सब को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। किन्तु अन्त में पर्याप्त विचार विमर्श के उपरान्त महासभा ने इस प्रश्न पर विचार करने का साहसिक निर्णय ले ही लिया। दूसरी ओर महासभा के इस निर्णय के विरोध में फ्रांस ने महासभा के अधिवेशन का बहिष्कार कर दिया। इतना ही नहीं उसने सभा की प्रमुख समितियों की बैठकों में भाग लेना भी बन्द कर दिया। १९५५ के अन्त में फ्रांस तब ही महासभा में सम्मिलित हुआ जब २५ नवम्बर १९५५ को महासभा ने इस प्रश्न पर आगे से विचार न करने का निश्चय किया।

१२ अप्रैल १९५६ को एशिया एवं अफ्रीका के १३ राज्यों ने अल्जीरिया की गम्भीर स्थिति की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकर्षित किया। इस प्रयास का कोई परिणाम न निकलने पर १३ जून को उपरोक्त में से ही ११ राज्यों ने अल्जीरिया की दिन-प्रति-दिन बिगड़ती हुई स्थिति व अल्जीरिया तथा फ्रांस के बढ़ते हुए तनाव का हवाला देते हुए, मामले पर विचार करने हेतु सुरक्षा परिषद की अविलम्ब बैठक बुलाने की मांग पुनः रखी। परिषद में अधिकांश देशों के प्रतिनिधियों ने यही विचार प्रकट किया कि चार्टर के अनुच्छेद २ (७) के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ को इस प्रश्न

पर विचार करने का अधिकार नहीं है। ऐसी स्थिति में परिषद ने प्रश्न को अपनी कार्य-सूची में सम्मिलित नहीं किया।

महासभा और सुरक्षा परिषद दोनों ही के द्वारा अल्जीरिया-विवाद को अपनी कार्य सूची में न लेने पर भी एशिया-अफ्रीका के देश इस समस्या को हल करने के लिये संघ में निरन्तर प्रस्ताव लाते रहे। देश १५ देशों ने महासभा के ग्यारहवें अधिवेशन से अल्जीरिया-प्रश्न पर विचार करने का पुनः आग्रह किया। अन्त में समस्या पर विचार हुआ और कई प्रारूप-प्रस्ताव (Draft resolutions) प्रस्तुत किये गये। काफी वाद-विवाद के बाद १५ फरवरी १९५७ को महासभा ने एक प्रस्ताव पारित किया, जिसके पक्ष में ७७ मत पड़े। फ्रांस द्वारा मतदान में भाग नहीं लिया गया। इस प्रस्ताव में यह आशा व्यक्त की गई कि समस्या का एक शांतिपूर्ण, न्यायसंगत एवं प्रजातन्त्रीय हल खोज निकाला जायगा तथा फ्रांस एवं अल्जीरिया के सम्बन्धों में संयुक्त राष्ट्र संघीय चार्टर के अनुरूप सुधार कर लिया जायगा। इस प्रस्ताव का कोई प्रभाव अथवा परिणाम नहीं निकला।

इसी मध्य अल्जीरिया की समस्या दिन-प्रति-दिन बिगड़ती चली गई। अब मोरक्को के बादशाह एवं ट्यूनीशिया गणराज्य के राष्ट्रपति ने समस्या के समाधानार्थ अपनी सद्भावनापूर्ण मध्यस्थता अर्पित की। १० दिसम्बर, १९५७ को महासभा द्वारा इस पर विचार किया गया और सम्बन्धित पक्षों से इसका लाभ उठाने का अनुरोध किया। परन्तु फ्रांस द्वारा मध्यस्थता के ऐसे किसी भी प्रस्ताव के प्रति पूर्ण उपेक्षा प्रदर्शित की गई।

१६ जुलाई १९५८ को महासभा के १३वें अधिवेशन में २४ सदस्य-देशों ने इस प्रश्न को पुनः उठाया। उन्होंने इसे महासभा की कार्यसूची में सम्मिलित करने का आग्रह किया जिसे मान लिया गया। तदुपरान्त १७ देशों ने अल्जीरिया-समस्या पर एक प्रस्ताव पेश किया जिस पर इस अधिवेशन में कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी।

फ्रांस अल्जीरिया सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रत्येक कार्यवाही का लगभग बहिष्कार करता रहा या उसके प्रति उपेक्षापूर्ण रहा। किन्तु अफ्रीकी एशियाई देश भी प्रश्न को बारबार उठाते रहे। १९६० में २१ अफ्रेशियाई राष्ट्रों ने १० दिसम्बर को राजनीतिक समिति में यह प्रस्ताव रखा कि संयुक्त राष्ट्र संघ की मध्यस्थता में जनमत-संग्रह (Referendum) कराकर अल्जीरिया के प्रश्न का समाधान कराने का प्रयास किया जाय। अन्ततः फ्रांस और अल्जीरिया में एक पारस्परिक समझौता हुआ और १ जुलाई १९६२ को अल्जीरिया में मत संग्रह किया गया जिसमें अल्जीरियावासियों ने स्वतन्त्र होने का निर्णय लिया। अतः इस निर्णय का आदर करते हुए, ३ जुलाई, १९६२ को फ्रांस ने अल्जीरिया को स्वाधीनता प्रदान कर दी। विश्व-जनमत अफ्रेशियाई राष्ट्रों के बढ़ते हुए विरोध अल्जीरिया-युद्ध की बर्बादियों और अल्जीरियनों के दृढ़ स्वातन्त्र्य-संकल्प—इन सबने मिलकर फ्रांस की दुराग्रही सरकार को बाध्य कर दिया कि वह अल्जीरिया से अपना बोरिया बिस्तर समेट ले।

(१६) कांगो की समस्या
(The Question of Congo)

कांगो पर विस्तारपूर्वक चर्चा 'अफ्रीका की जागृति' नामक अध्याय के अन्तर्गत यथास्थान की गई है। प्रस्तुत सन्दर्भ में हम केवल 'संयुक्त राष्ट्र संघ और कांगो' का ही उल्लेख करेंगे।

बेल्जियम का भूतपूर्व उपनिवेश कांगो एक लम्बे समय तक अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा बना रहा। ३० जून १९६० को बेल्जियम के लगभग ७५ वर्ष तक चलने वाले आधिपत्य से मुक्त होने के पश्चात् स्वतन्त्र कांगो गणराज्य की स्थापना हुई लेकिन दुर्भाग्यवश स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही इस देश पर मुसीबतों के बादल घिर आये। देश का शासन और वहाँ की अर्थ-व्यवस्था चलाने वाले हजारों बेल्जियन स्वतन्त्र गणराज्य में अपनी स्थिति असुरक्षित समझ कर स्वदेश लौट गये। परिणाम यह हुआ कि अनुभवशून्य कांगोवासियों के हाथ में शासन तन्त्र तथा अर्थ-व्यवस्था एकदम अस्त-व्यस्त हो गई और कांगो के कई प्रान्त स्वतन्त्र होने का प्रयत्न करने लगे। प्रधान मंत्री लुमुम्बा देश में शासन और व्यवस्था केवल २५ हजार सैनिकों की कांगोली सेना द्वारा ही रख सकता था लेकिन सेना स्वयं विद्रोह पर उतारू थी। ५ जुलाई को लियोपोल्ड विले की सेना में अचानक विद्रोह हो गया। ७ और ८ जुलाई को १०० मील दूर दक्षिण में थिसविल नामक स्थान पर भी विद्रोह हो गया। विद्रोहियों की मांग, वेतन में वृद्धि और सेना के उच्च पदों पर अपने देशवासियों की नियुक्ति की थी। विद्रोह का एक बड़ा कारण यह भी था कि कांगोली सैनिक अपने बेल्जियन अफसरों से उन हथियारों को छीन लेना चाहते थे जो उनके कांगो के सरकारी गोदामों में जमा कराने के स्थान पर तेजी से अपने असैनिक देशवासियों में बाँट जा रहे थे। बेल्जियम कांगो में पुनः हस्तक्षेप करने के अवसर की ताक में था ही। अतः उसने कांगो के बेल्जियनों की सुरक्षा के बहाने ९ जुलाई, १९६० को कांगो में अपनी सेना भेज दी। इसके साथ ही बेल्जियम के षड्यन्त्र से ११ जुलाई को कांगो के एक प्रान्त कटंगा ने शोम्बे के नेतृत्व में लियोपोल्डविल के विरुद्ध विद्रोह करके एक पृथक स्वतंत्र राज्य बनाने की घोषणा कर दी और बेल्जियम ने इस सरकार को पूरी तरह सहायता देना शुरू कर दिया। स्वतन्त्रता प्राप्ति के समय हुए एक समझौते के अनुसार कांगो के कुछ निश्चित अड्डों पर २०… बेल्जियन सैनिकों को रखने की व्यवस्था हुई थी परन्तु इस व्यवस्था का उल्लंघन करते हुए बेल्जियम की फौजें कटंगा में पहुँच गयीं। इस पर लुमुम्बा ने बेल्जियम सरकार से मांग की कि बेल्जियम फौजों को केवल अपने अड्डों तक ही सीमित रहना चाहिए। परन्तु बेल्जियम पर इस शिकायत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसकी फौजों ने राजधानी के यूरोपियन भाग पर भी अधिकार कर लिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ में कांगो-विवाद का प्रवेश—उपरोक्त परिस्थितियों में १२ जुलाई को प्रधान मंत्री लुमुम्बा द्वारा बेल्जियम पर 'आक्रमण करने' तथा 'कटंगा' को पृथक राज्य बनाने के लिए षड्यन्त्र' का आरोप लगाया गया। लुमुम्बा ने कहा कि बेल्जियम की साम्राज्यवादी चालों (Colonia

list Machinations) का मुख्य उद्देश्य कांगो पर अपना प्रभुत्व बनाए रखना था। १२ जुलाई को लुमुम्बा ने संयुक्त राष्ट्र संघ से बेल्जियम के आक्रमण के विरुद्ध सैनिक सहायता की प्रार्थना की।

यह एक ऐसी स्थिति थी जो संयुक्त राष्ट्र संघ के अब तक के इतिहास में सर्वथा नवीन थी। कांगो में शक्ति-रिक्तता की एक ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई थी जिससे लाभ उठाने की चेष्टा स्वाभाविक होती। तथापि यह सन्तोषजनक बात थी कि बड़े राष्ट्रों ने ऐसा करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने स्पष्ट रूप से कह दिया कि उसके द्वारा कोई भी सहायता संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से ही दी जायगी।

प्रधान मंत्री लुमुम्बा की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्र संघ में अविलम्ब विचार हुआ क्योंकि कटंगा के स्वतन्त्र शासन ने बेल्जियम की फौजें तेजी से घुस रही थी और इस संकटकाल में केवल संयुक्त राष्ट्र संघ से ही कांगो की स्वतन्त्रता एवं प्रादेशिक अखंडता की रक्षा की अपेक्षा की जा सकती थी। कांगो को पूर्व और पश्चिम के संघर्ष का अखाड़ा बनने से रोकने के लिए ११ जुलाई, १९६० की रात को ही संघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड द्वारा सुरक्षा परिषद की विशेष बैठक बुलाई गई जिसमें कांगो सरकार को अविलम्ब सैनिक सहायता भेजने की याचना की गई। परिषद की बैठक में रूसी एवं अमेरिकन प्रतिनिधियों में बड़ा उग्र और कटु-विवाद हुआ। रूस ने एक प्रस्ताव द्वारा बेल्जियम के सशस्त्र आक्रमण की निन्दा करनी चाही और संयुक्त राज्य अमेरिका पर कांगो की स्वतन्त्रता छीनने का षड्यन्त्र करने का गंभीर दोषारोपण किया। अमेरिका ने सोवियत संघ के आरोपों को एकदम बेहूदा और सर्वथा असत्य बताया।

काफी वाद विवाद के पश्चात् १४ जुलाई को सुरक्षा परिषद ने ट्यूनीशिया का एक प्रस्ताव पारित किया कि—

(i) बेल्जियम की सेनायें कांगो से वापिस बुला ली जायें (इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की गई)।

(ii) महासचिव को यह अधिकार दिया जाये कि "जब तक कांगो की रक्षा करने वाली सेना अपने कार्य में समर्थ न हो तब तक आवश्यक समझी जाने वाली सैनिक सहायता दी जाय।

उपरोक्त प्रस्ताव के अनुपालन में संयुक्त राष्ट्र संघी सेना कांगो में भेजने सम्बन्धी आवश्यक कार्यवाही तेजी से शुरू हो गई। १५ जुलाई को रूसी प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि मास्को का विचार कांगो में सीधा हस्तक्षेप करने का है, क्योंकि उसे प्रधानमन्त्री लुमुम्बा और राष्ट्रपति कासावुबू का इस आशय का तार मिला है कि "उनके प्राण संकट में हैं" और यदि पश्चिमी राष्ट्र कांगो गणराज्य की प्रभु-सत्ता के विरुद्ध आक्रमण करने से विरत नहीं होंगे तो वे सोवियत संघ से हस्तक्षेप करने की प्रार्थना करने को बाध्य हो जायेंगे। श्री ख्रुश्चेव ने स्पष्ट शब्दों में यह भी बता दिया कि पाश्चात्य देशों का आक्रमण जारी रहने पर सोवियत संघ आवश्यक कार्यवाही करने में किसी प्रकार का संकोच नहीं करेगा।

कांगो में संयुक्त राष्ट्र संघ की आपातकालीन सेना भेजने की कार्यवाही इतनी त्वरित गति से हुई कि २८ जुलाई तक संघ की सेनाओं के १० हजार से अधिक सैनिक कांगो पहुंच गए। अधिकांश सैनिक घाना, इथोपिया, मिस्री संयुक्त अरब गणराज्य, आयरलैंड, मोरक्को और ट्यूनीसिया के थे। इन सैनिकों को हवाई जहाजों से पहुंचाने में इन देशों ने सहायता की—अर्जेन्टाइना, ब्राजील, इथोपिया, भारत, नार्वे, स्वीडन और यूगोस्लाविया। संयुक्तराष्ट्र संघीय सैनिकों ने कांगो तथा बेल्जियम के सैनिकों के बीच होने वाले संघर्ष को समाप्त कर दिया। इन्होंने कांगो के हवाई अड्डों पर अधिकार कर लिया ताकि विदेशी शक्तियों द्वारा इनका दुरुपयोग न किया जा सके। संघ ने कांगो सरकार को अविलम्ब प्राविधिक सहायता और सरकारी कांगोली सेना को फौजी प्रशिक्षण देना शुरू किया ताकि सरकार विद्रोही तत्वों का सफलतापूर्वक दमन कर सके। जुलाई १९६० के अन्त तक संघ की सेनायें कटंगा को छोड़ कर पूरे कांगो में फैल गयीं।

संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं की इस प्रभावशाली कार्यवाही को देखते हुए बेल्जियम ने यह वचन दिया कि वह एक सन्धि द्वारा निश्चित किये गये दो सैनिक अड्डों के अतिरिक्त शेष सभी स्थानों से अपने सैनिक हटा लेगा। परन्तु बेल्जियम ने अपने वचनों को पूरा नहीं किया उसके केवल १५०० सैनिक ही इन स्थानों से हटे। अपनी सफाई में बेल्जियम द्वारा यह तर्क पेश किया गया कि इथोपिया से आई हुई संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों ने कांगोली फौजों के साथ मिल कर यूरोपियनों की लूटमार की है अतः उनके रक्षार्थ बेल्जियन फौजों का वहां रहना आवश्यक है। इस समय अकेले कटंगा प्रान्त में बेल्जियम के ८५०० सैनिक थे। प्रधान मंत्री लुमुम्बा के द्वारा निरन्तर यह आग्रह किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों को कटंगा में प्रवेश करके वहां से बेल्जियन सेनाओं को हटा देना चाहिये। दूसरी ओर कटंगा का प्रधान मन्त्री शोम्बे (Tshombe) इस बात पर कटिबद्ध था कि वह संघ की सेनाओं को अपने प्रदेश में नहीं आने देगा। ५ अगस्त को अपने एक वक्तव्य में उसने यह घोषणा की कि कटंगा स्वतन्त्र राज्य है और जब तक यहां शान्ति तथा व्यवस्था है तब तक हमारी इच्छा के विरुद्ध संघ को अपनी सेनायें भेजने का कोई अधिकार नहीं है। शोम्बे की इस घोषणा से स्पष्ट था कि संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनायें रक्तपात के बिना कटंगा में प्रवेश नहीं कर सकती थीं। चूंकि हैमरशोल्ड इस स्थिति से बचना चाहते थे अतः उन्होंने घोषणा की कि संघ किसी भी अवस्था में कांगो के "आन्तरिक झगड़ों" में नहीं पड़ता। इसके बाद सुरक्षा परिषद में समस्या पर गम्भीरता से विचार होने लगा। और यह तय हुआ कि कटंगा की समस्या को हल करने के लिए संघ के अन्डर सैक्रेट्री डा० राल्फ बुन्च कटंगा जाय। परन्तु ६ अगस्त को जब डाक्टर बुन्च संघ के प्राविधिक कर्मचारियों के साथ विमान द्वारा कटंगा पहुंचे तो पहले तो विमान को अड्डे पर उतरने की ही अनुमति नहीं दी गई और बाद में जब यह अनुमति मिली भी तो संघ के किसी कर्मचारी को कटंगा की भूमि पर नहीं उतरने दिया गया। विवश होकर डा० बुन्च अपने साथियों सहित लियोपोल्डविले वापिस लौट आये।

स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक पुनः बुलाई गई। इसमें महासचिव ने कहा कि "बेल्जियम सेनाओं की निरन्तर उपस्थिति ही कांगो के संकट को उग्र और जटिल बना रही है।" महासचिव ने इस बात पर बल दिया कि बेल्जियमों को कटंगा खाली कर देना चाहिये और यदि शोम्बे कटंगा में संघ की सेनाओं को प्रवेश न करने दे तो अव्यवस्था का संपूर्ण उत्तरदायित्व उसके शासन व समर्थकों पर होगा। सुरक्षा परिषद में समस्या पर लगभग १६ घण्टे गर्मागर्म बहस हुई। तत्पश्चात् ट्यूनीशिया का एक प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया जिसमें कहा गया था कि—

(i) बेल्जियम फौजें कटंगा से अविलम्ब निकल जायें।
(ii) कटंगा में संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों का प्रवेश आवश्यक है।
(iii) संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजें "कांगो की केन्द्रीय सरकार के साथ कटंगा के संघर्ष के परिणाम" को किसी रूप में प्रभावित नहीं करेंगी और न ही इस झगड़े में हस्तक्षेप करेंगी।

सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव के बाद महासचिव हैमरशोल्ड संघ की स्वीडिश सेना के २४० व्यक्तियों के साथ कटंगा रवाना हो गया। १२ अगस्त को कटंगा के अधिकारियों ने इस सेना को प्रथम प्रवेश में प्रवेश करने दिया। इसका मुख्य कारण यही था कि कटंगा के खान-मालिकों के मतानुसार उस समय बेल्जियम सरकार उनकी सहायता करने में असमर्थ थी और अफ्रीकन या रूसी फौजों की अपेक्षा यूरोपियन फौजें उनके हितों की सुरक्षा की दृष्टि से अधिक उपयुक्त सिद्ध हो सकती थीं। इसके अतिरिक्त कटंगा में संघ की फौजों के प्रवेश से शोम्बे की स्थिति को भी सुरक्षा ही मिलती थी क्योंकि जब तक कटंगा में संघ की फौजें विद्यमान रहतीं तब तक लुमुम्बा कांगो में सम्मिलित होने के लिए उस पर सैनिक दबाव नहीं डाल सकता था।

जहाँ शोम्बे ने संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना को कटंगा में प्रवेश की अनुमति दी वहाँ लुमुम्बा ने १३ अगस्त को हैमरशोल्ड के इस कार्य का विरोध करते हुए कहा कि कटंगा में अफ्रीकी सेनायें भेजी जानी चाहियें क्योंकि संघ की वर्तमान सेना से बेल्जियम की सत्ता सुदृढ़ हो रही है। १४ अगस्त को लुमुम्बा और हैमरशोल्ड के बीच एक कड़ा पत्र-व्यवहार हुआ जिसमें लुमुम्बा ने खुले रूप से हैमरशोल्ड में अपना अविश्वास प्रकट किया। लुमुम्बा संघ की कार्यवाही को कांगो के लिए घातक समझ रहा था। उसने सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को क्रियान्वित करने के लिए निम्नलिखित १४ देशों के तटस्थ प्रेक्षक भेजने की मांग की—भारत, लंका, मोरक्को, ट्यूनीशिया, इथोपिया, घाना, गिनी, संयुक्त अरब गणराज्य, सूडान, लाइबेरिया, माली, बर्मा, अफगानिस्तान और लेबनान। लुमुम्बा द्वारा पैदा किये गये वातावरण से कुछ समय तक के लिए अफ्रीका के विभिन्न देशों में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति अविश्वास की भावना बढ़ती दिखाई दी। मिस्र, सूडान, घाना और गिनी ने घोषणा की कि यदि संयुक्त राष्ट्र संघ कांगो गणतन्त्र की एकता और अखंडित प्रभुसत्ता को बनाये रखने के लिए अपने निर्धारित उद्देश्य में आगे प्रयत्नशील न हुआ तो सब मिल कर लुमुम्बा सरकार को सीधी सैनिक सहायता देंगे। दूसरी ओर लुमुम्बा और संयुक्त राष्ट्र संघीय सैनिकों में छोटी-मोटी मुठभेड़ें भी होने लगीं।

१६ अगस्त १९६० को लुमुम्बा ने कांगो में ६ माह के लिए फौजी शासन स्थापित करने की घोषणा की तथा सुरक्षा परिषद को यह अल्टीमेटम भेजा कि यदि एक सप्ताह के भीतर वह समस्या का पूर्णरूपेण सन्तोषजनक हल नहीं प्रदान कर सके तो वह एफ्रो-एशियाई मित्र-राज्य की सहायता से कटंगा पर आक्रमण कर देगा किन्तु संघ ने कांगो के इस संकट में निष्पक्षता और तटस्थता का रुख अपनाया। उधर अगस्त के अन्त तक स्थिति और भी बिगड़ती गयी तथा कटंगा का अनुसरण करते हुए कांगो के अन्य प्रान्तों में भी पृथक राज्य स्थापित करने की नीति अपनाई। विभिन्न प्रान्तों में निवासियों भिड़े और लुमुम्बा की सरकार के विरुद्ध विद्रोह होने लगे। कसाई प्रान्त में अल्बर्ट कलोंजी ने एक नवीन स्वतन्त्र 'खनिज राज्य' (Mining State) की घोषणा करते हुए स्वयं को उसका राष्ट्रपति घोषित कर दिया। इसी तरह इक्वेटोर (Equator) प्रान्त में एक अन्य व्यक्ति जीन बोलो कांगो ने इसे स्वतन्त्र घोषित किया। देश के विभिन्न प्रान्तों की इस पृथककरणवादी नीति को रोकने तथा पृथकतावादी तत्वों को कुचल देने के लिये लुमुम्बा ने सैनिक शक्ति का आश्रय लिया। लेकिन जब उसने सोवियत विमानों की सहायता से कटंगा के उत्तर में किवु और कसाई प्रान्तों में विद्रोह को दबाने का प्रयास किया तो विद्रोहियों ने बेल्जियम आदि देशों से सहायता प्राप्त की। अगस्त के अन्तिम सप्ताह में कसाई प्रान्त में भीषण लड़ाई छिड़ गई और सितम्बर के प्रारम्भ से ही कांगो में शक्ति प्राप्त करने के लिए विभिन्न नेताओं के बीच कटु संघर्ष प्रारम्भ हो गया। राष्ट्रपति कासावुबु और प्रधानमंत्री लुमुम्बा दोनों ही इस बात में रुचि लेने लगे कि सेना और प्रशासन पर उनका एकाधिकार हो जाय। इसी समय संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं ने विदेशी हस्तक्षेप को रोकने के लिए कांगो के सभी हवाई अड्डों पर अपना अधिकार स्थापित करते हुए इस गृहयुद्ध में तटस्थता की नीति स्वीकार की। कांगो की समस्या को सुलझाना संघ के लिए एक बड़ा दुष्कर कार्य हो गया। यह स्थिति और भी कठिन इसलिए हो गई क्योंकि रूस एवं बेल्जियम द्वारा दोनों पक्षों को तेजी से सहायता प्रदान की जाने लगी। सितम्बर के आरम्भ में रूस के १५ सामान ढोने वाले हवाई जहाज और १ ट्रक कांगो आ पहुंचे।

४ सितम्बर को कांगो में राष्ट्रपति कासावुबु की इस घोषणा के साथ बड़ा नाटकीय घटनाक्रम शुरू हुआ कि वह लुमुम्बा को प्रधानमंत्री पद से हटा रहा है। कटंगा में इस घोषणा का बहुत स्वागत हुआ किन्तु लुमुम्बा आसानी से हार मानने वाला नहीं था। उसने कांगो की संसद के दोनों सदनों की बैठक आमंत्रित की जिसमें कासावुबु पर बेल्जियम का पिट्ठू होने का आरोप लगाया गया। लुमुम्बा ने निम्न सदन (Lower House) में ११ के विरुद्ध ६० वोटों से और उच्च सदन (Upper House) में २ के विरुद्ध ४१ वोटों से अपने पक्ष में विश्वास प्रस्ताव पारित करवाया। तत्पश्चात् उसने तुरन्त ही यह घोषणा की कि राष्ट्रपति कासावुबु को पदच्युत कर के वह स्वयं राज्य के अध्यक्ष और प्रधान सेनापति का कार्य संभाल रहा है। इस समय लुमुम्बा ने संयुक्त राष्ट्र संघ पर भी अपने आक्षेपों की वर्षा की और कहा कि संघ की नीति से कांगो सरकार को नहीं बल्कि विद्रोहियों को लाभ पहुंच रहा

है। मुमुम्बा ने माँग की कि या तो लियोपोल्डविले रेडियो स्टेशन और कांगो के हवाई अड्डों को संघीय सेनाओं के नियन्त्रण से मुक्त कर के उसके अधिकार में सौंप दिया जाय या ऐसा न करने पर संघ की फौजें कांगो से लौट जायें। इसी तरह कटंगा की राजधानी एलिजाबेथ में भी विद्रोही संघीय फौजों द्वारा हवाई अड्डों पर अधिकार का विरोध कर रहे थे।

कांगो और कटंगा में संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना के प्रति बढ़ते हुए असहयोग और विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप ने मिल कर संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने कांगो में विकट स्थिति पैदा कर दी। ७ सितम्बर को महासचिव डाग हैमरशोल्ड ने विदेशी शक्तियों के हस्तक्षेप का विरोध करते हुए संघ के समक्ष यह सुझाव रखा कि गृह युद्ध का भीषण विस्फोट होने से पूर्व ही कांगो की सेनाओं को निःशस्त्र कर देना चाहिये। ८ सितम्बर को महासचिव ने बेल्जियम द्वारा कांगो में अपनी सेना बनाये रखने व हथियार भेजने की प्रवृत्ति की निन्दा की। सुरक्षा परिषद् में महासचिव ने कांगो में रेडियो स्टेशन व हवाई अड्डों पर संघीय फौजों के नियन्त्रण को उचित बताते हुए इस बात पर बल दिया कि कासावुबू और लुमुम्बा के बीच होने वाले शक्ति-संघर्ष में संघ के लिए निष्पक्ष रहना ही उचित है। महासचिव की रिपोर्ट व उनके सुझाव पर जब परिषद ने ११ सितम्बर को विचार आरम्भ किया तो परिषद में भाग लेने के लिये कांगो के दोनों पक्षों के दो प्रतिनिधि मंडलों के आ जाने से विचित्र स्थिति पैदा हो गई। सुरक्षा परिषद के सामने समस्या यह उठ खड़ी हुई कि कासावुबू के प्रतिनिधि मंडल को मान्यता दी जाय या लुमुम्बा के प्रतिनिधि मंडल को। अन्त में परिषद द्वारा यह निश्चित किया गया कि १७ सितम्बर को कांगो समस्या पर विचार करने के लिए संघ का एक विशेष अधिवेशन बुलाया जाय।

लेकिन इसी मध्य घटनाओं ने फिर एक नया मोड़ लिया। १२ सितम्बर को कासावुबू ने लुमुम्बा को गिरफ्तार करके राजधानी के पास ही एक सैनिक कैम्प में भेज दिया। परन्तु लुमुम्बा अपने पहरेदारों के बीच से किसी प्रकार निकल भागा। उसने उसी रात कांगो की संसद की बैठक बुला कर उसके समर्थन से अपने को राष्ट्रपति और प्रधान मंत्री दोनों ही घोषित कर लिया ताकि कासावुबू का ५ सितम्बर को उसे पदच्युत करने वाला आदेश लागू न हो।

कासावुबू-लुमुम्बा संघर्ष से कांगोली सेना बहुत परेशान हो चुकी थी अतएव १४ सितम्बर को दोनों पक्षों के इस संघर्ष को समाप्त करने के लिए, कर्नल मोबुटू ने सारी शासन-सत्ता अपने हाथों में ले ली और ३१ दिसम्बर १९६० तक कांगो में सैनिक-शासन बने रहने की घोषणा कर दी। मोबुटू ने यह भी घोषित किया कि प्रधान मंत्री व राष्ट्रपति उस समय तक अपने पद से निलम्बित समझे जायेंगे जब तक देश की समस्याओं का समाधान नहीं हो जायेगा। शासन-सत्ता को हथियाने के बाद ही कर्नल मोबुटू ने सोवियत नागरिकों और राजदूत को कांगो से चले जाने का आदेश दिया। चूँ कि लुमुम्बा के साथ भी बुरा व्यवहार होने लगा, अतः वह संयुक्त राष्ट्र ।

की सेनाओं के संरक्षण में चला गया। यह स्मरणीय है कि मोबूतु को न केवल पार्थक्यवादियों का बल्कि निष्कासित राष्ट्रपति कासावुबू का भी समर्थन प्राप्त था।

९ अक्टूबर को लुमुम्बा ने अपने सुरक्षित स्थान से बाहर निकल कर जनता से अपील की कि वह उसे अपना समर्थन प्रदान करे तथा घाना और गिनी की सेना को छोड़ कर संयुक्त राष्ट्र संघीय अन्य सेनाओं को देश से बाहर निकालने की दिशा में तत्पर हो। लुमुम्बा की इस चेष्टा से कुपित होकर कर्नल मोबूतु ने यह मांग की कि संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना ११ अक्टूबर को तीन बजे तक लुमुम्बा को उसे समर्पित कर दे अन्यथा युद्ध के लिए तैयार हो जाय। संघ ने इस चेतावनी की उपेक्षा करते हुए प्रत्युत्तर दिया कि एक राजनीतिक नेता का कानून की उचित प्रक्रिया के बिना पकड़ा जाना एक सर्वथा अनैतिक एवं अन्यायपूर्ण कार्य है जिसकी स्वीकृति नहीं दी जा सकती। संघ के दृढ़ रुख के आगे मोबूतु की चेतावनी कोरी गीदड़ भभकी बन कर रह गयी।

कांगो में महासचिव ने तटस्थता की जो नीति अपनाई उसे सोवियत रूस और लुमुम्बा सन्देह की नीति से देखते थे। उनका कहना था कि संघ के लिये न्यायसंगत एवं औचित्यपूर्ण रुख यही होना चाहिये था कि वह लुमुम्बा की वैध सरकार (Legitimate Govt.) का समर्थन करता उसे विद्रोहियों की आक्रमणकारी कार्यवाहियों से बचाता तथा कांगोली संसद को पुनः बुला कर समस्या के समाधान की दिशा में अग्रसर होता।

किन्तु इन नाना आक्षेपों और आरोपों की बौछार में महासचिव अपने ही तरीके से समस्या का समाधान करने को प्रयत्नशील थे। उन्होंने शीघ्र ही १८ सदस्यों की एक "कांगो परामर्शदात्री समिति" (Congo Advisory Committee) नियुक्त की जिसका कार्य कांगो समस्या पर उन्हें (महासचिव को) परामर्श प्रदान करना था। भारत के श्री राजेश्वरदयाल को कांगो में महासचिव का विशेष प्रतिनिधि नियुक्त किया गया जिन्होंने अपने पर्याप्त निरीक्षण और कार्य के आधार पर महासचिव को कांगो पर लगभग १९ हजार शब्दों की विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की। इस रिपोर्ट में स्पष्टतः बताया गया कि— बेल्जियमों ने पृथकतावादी कांगोली सेनाओं को सशस्त्र करने में सहायता प्रदान की है बेल्जियम अधिकारियों द्वारा इन सेनाओं का संचालन किया गया है और कुछ क्षेत्रों में क्रूरतापूर्ण अमानुषिक कार्य करने का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व इन्हीं का है। कसाई प्रान्त में इनका नेतृत्व एक बेल्जियन कर्नल द्वारा किया जा रहा है। कांगो में इस समय कोई सरकार नहीं है। केवल दो संस्थाओं का मूलाधार मात्र है और ये संस्थायें हैं— राष्ट्रपति का पद और संसद। कांगो की सेना सुरक्षा और सुरक्षा की स्थापना करना तो दूर रहा उल्टे अराजकता उत्पन्न कर रही है।'

श्री राजेश्वरदयाल द्वारा कांगो का यथार्थ एवं अत्यन्त मार्मिक चित्र उपस्थित किये जाने के उपरान्त नवम्बर १९६० में महासभा में कांगो की समस्या पर पुनः विचार प्रारम्भ हुआ। सबसे पहला प्रश्न यह उठा कि सभा द्वारा कांगो के कौन-से प्रतिनिधि मंडल को मान्यता दी जानी चाहिये—कासावुबू

के अथवा लुमुम्बा के। संघ में पर्याप्त विचार-विमर्श एवं वाद विवाद के बाद २२ नवम्बर १९६० को महासभा के बहुमत द्वारा यही निश्चय किया गया कि कासावुबु का प्रतिनिधि मंडल ही संघ को मान्य है। इस सन्दर्भ में यह भी उल्लेखनीय है कि महासचिव द्वारा नियुक्त 'कांगो परामर्शदात्री समिति' के अनेक सदस्य भी लुमुम्बा विरोधी थे। उनका कहना था कि जब लुमुम्बा सत्तारूढ़ था, तब भी उसमें इतनी शक्ति नहीं थी कि वह देश में एकता और सुदृढ़ शासन की व्यवस्था करता अतः अब सत्ताच्युत-अवस्था में उसकी शक्तिशालिता में विश्वास करना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त उनका यह भी आरोप था कि लुमुम्बा के ही आमन्त्रण पर संघीय सेनायें कांगो गईं और अब वही संघीय सेनाओं तथा कार्यों का प्रबल विरोध कर रहा है, अतः उसे संघ का समर्थन नहीं दिया जाना चाहिये।

महासभा में कांगो के प्रतिनिधि-मण्डल की मान्यता के प्रश्न पर जो मतदान हुआ उससे इस बात का स्पष्ट पता चल गया कि कांगो पर अफ्रीकन राज्यों में मतैक्य नहीं रहा है क्योंकि जहाँ घाना एवं उसके साथी राज्यों ने कासावुबु-प्रतिनिधि-मण्डल का विरोध किया वहाँ कैमरून आदि अनेक राज्यों ने इसका समर्थन किया। कासावुबु प्रतिनिधि-मण्डल को संयुक्त राष्ट्र संघ में मान्यता मिलने में एक यह कारण भी सहायक हुआ कि स्वयं कासावुबु ने न्यूयार्क जाकर पश्चिमी राष्ट्रों की सहानुभूति अर्जित करने के सफल प्रयास किये।

इसके बाद से ही कांगो की राजनीति ने फिर से एक खतरनाक और नाटकीय मोड़ लिया। २७ नवम्बर को जब कासावुबु, लियोपोल्डविले-स्थित अपने महल में विजयोत्सव मनाने में व्यस्त था, तभी भूतपूर्व प्रधान मंत्री लुमुम्बा संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण से भाग निकला। ओरियण्टल प्रदेश में अभी भी उसके समर्थकों की संख्या काफी थी अतः वह इस प्रदेश की राजधानी स्टैनलीविले पहुँच कर अपना संघर्ष जारी रखना चाहता था। किन्तु दुर्भाग्य से लुमुम्बा के मानो हाथ धोकर पीछे पड़ गया था अतएव स्टैनलीविले के रास्ते में ही कर्नल मोबुटु के सैनिकों द्वारा वह गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तार करके उसे पुनः लियोपोल्डविले में लाया गया और नजरबन्द कर दिया गया। कहा तो यह जाता है कि उस पर नाना प्रकार के अत्याचार किये गये परन्तु उसने अपना साहस नहीं छोड़ा और किसी भी अपमानजनक समझौते को मानने से इन्कार कर दिया। उधर मोबुटु ने यह घोषणा की कि लुमुम्बा पर राजद्रोह का मुकदमा चलाया जायगा।

लुमुम्बा के पलायन और उसकी मोबुटु द्वारा गिरफ्तारी की घटना से उत्पन्न कांगो की नवीन स्थिति पर ८ दिसम्बर को सुरक्षा-परिषद ने विचार करना आरम्भ किया। परिषद में दो प्रस्ताव उपस्थित किये गये—रूसी और पश्चिमी देशीय। सोवियत रूस ने प्रस्ताव रख कर यह माँग की कि—

(लुमुम्बा को तुरन्त मुक्त किया जाय;

(ii) मोबुटु की सेना को निःशस्त्र किया जाय

(iii) मोबुटु को हथियार और पैसा किन स्रोतों से मिल रहा है—

इसका पता लगाने के लिये एफ्रो-एशियन राज्यों का एक आयोग बनाया जाय

(iv) बेल्जियनों को कांगो से अविलम्ब हटा दिया जाय एवं

(v) कांगोली संसद की बैठक बुलायी जाय।

किन्तु पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत संघ के इस न्यायोचित प्रस्ताव को बहुमत से रद्द करके प्रत्युत्तर में एक दूसरा प्रस्ताव पेश किया जिसे सोवियत रूस ने अपने वीटो से समाप्त कर दिया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि कांगो में बन्दी व्यक्तियों से मिलकर उनकी जाँच करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रास के लोगों को भेजा जाय।

रूसी और पश्चिमी दोनों प्रस्तावों के अस्वीकृत हो जाने से सुरक्षा परिषद में गतिरोध पैदा हो गया। इस पर समस्या महासभा में विचारार्थ प्रस्तुत हुई। १७ दिसम्बर १९६० को भारत घाना संयुक्त अरब गणराज्य इण्डोनेशिया ईराक और युगोस्लाविया ने महासभा में निम्नलिखित आशय का प्रस्ताव रखा

१ संघ को कांगो में शांति और सुरक्षा की भंग होने से रोक कर कानून तथा व्यवस्था कायम करनी चाहिये

२ संघ कांगो की महत्वपूर्ण आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करे

३ सभी राजनीतिक बन्दियों विशेषकर केन्द्रीय सरकार के अधिकारियों और संसद-सदस्यों को तुरन्त रिहा किया जाय

४ संयुक्त राष्ट्र संघ की संरक्षकता में कांगो संसद की बैठक अविलम्ब बुलाई जाय

५ फौरन ऐसे उपाय किये जायें कि समस्त दल देशे के राजनीतिक जीवन में कोई हस्तक्षेप न करें और विदेशियों से कोई सहायता प्राप्त न कर पावें।

६ बेल्जियम सरकार का ध्यान संघ के प्रस्तावों की अवहेलना की ओर आकर्ष्ट किया जाय

७ बेल्जियम सरकार अपनी सेना पूरी तरह कांगो से हटा ले।

इस समय कांगो की सबसे जटिल समस्या शोम्बे के नेतृत्व में कटंगा प्रान्त का केन्द्रीय सरकार से पृथक होकर इसके साथ संघर्ष करना था। कटंगा ने ११ जुलाई १९६ को अपने स्वाधीन होने की घोषणा कर दी थी और तभी से बेल्जियम शोम्बे को हर प्रकार की सहायता दे रहे थे। खनिज सम्पत्ति से भरपूर और औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध प्रान्त कटंगा के बिना कांगो एक दिवालिया देश था। इसीलिये ऊ-थांट ने जुलाई १९६२ में लन्दन के एक प्रेस सम्मेलन में अपना यह मत प्रकट किया था कि— कांगो की समस्या कटंगा की समस्या है। कटंगा की समस्या वित्त की समस्या है। वित्त की समस्या यूनियन मिनियरे कम्पनी की समस्या है। यह कम्पनी कांगो की समस्या के शीघ्र समाधान करने में महत्वपूर्ण सहायता दे सकती है। ऊ-थांट ने जिस कम्पनी का उल्लेख किया, वह बेल्जियम के शासन-काल से ही कांगो में विशाल खनिज-सम्पत्ति को निकालने का कार्य कर रही थी। विश्व की

अत्यन्त सफल खनिज कम्पनियों में इसकी गणना की जाती थी। कांगो के कुल टैक्सों का ४५ से ५० प्रतिशत भाग अकेले यही कम्पनी दिया करती थी। इस तरह कांगो की आय का यह कम्पनी प्रधान स्रोत है और यदि कटंगा प्रान्त को यह कांगो से पृथक कर देती है तो कांगो दिवालिया बन जाता है, १९६१ में इस कम्पनी ने अकेले शोम्बे सरकार को टैक्सों तथा डिविडेन्ड के रूप में ४ करोड़ ५४० मिलियन पौण्ड प्रदान किये।

१९६१ में कांगो की राजनीति में एक बड़ी मर्मनाक घटना घटी। १३ जनवरी को अधिकृत रूप से कटंगा में यह घोषणा की गई कि लुमुम्बा एक दिन पहले कटंगा के एक छोटे से गाँव के निवासियों द्वारा मार डाले गये हैं। प्रायः सभी संसार में इस हत्या की तीव्र भर्त्सना की गई और किसी ने भी यह विश्वास नहीं किया कि लुमुम्बा के प्राण ग्रामवासियों ने लिये हैं। हुआ यही कि कर्नल मोबुतु और राष्ट्रपति कासावुबू ने शोम्बे का सहयोग प्राप्त करने के लिए लुमुम्बा को शोम्बे सरकार को सौंप दिया जिसने यह आश्वासन दिया कि लुमुम्बा के प्राणों की पूर्ण रक्षा की जायगी। लेकिन कुछ दिन बाद शोम्बे के आदेश पर एक बेल्जियन सैनिक द्वारा लुमुम्बा व उसके साथी को गोली मार दी गई जिसकी पुष्टि बाद में संयुक्त राष्ट्र संघीय जाँच आयोग ने भी कर दी। प्रारम्भ में कटंगा सरकार ने यह स्वांग रच कर संसार को धोखा देने का प्रयास किया कि लुमुम्बा जेल से भाग गये थे और इसी अवस्था में कुछ कटंगा वासियों ने उन्हें गोली मार दी, किन्तु जाँच पूरी हो चुकने के बाद अब यह निश्चित हो चुका है कि उनकी हत्या जानबूझ कर की गई थी और उसके लिए कासावुबू भी जिम्मेदार था।

श्री लुमुम्बा की हत्या के फलस्वरूप संसार में एक भयंकर तूफान उठ खड़ा हुआ और कुछ समय तक अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति अत्यधिक विस्फोटक रही। सोवियत रूस ने तो लुमुम्बा की मृत्यु का सम्पूर्ण दायित्व महासचिव हैमरशोल्ड पर डाल दिया और कहा कि एक ऐसे पक्षपातपूर्ण व्यक्ति को वह संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था का महासचिव मानने को तैयार नहीं है परन्तु रूसी विरोध के बावजूद भी हैमरशोल्ड ने अपने पद से त्यागपत्र देना स्वीकार नहीं किया। वे कांगो-समस्या के न्यायपूर्ण एवं उचित समाधान के लिए कटिबद्ध थे।

लुमुम्बा की मृत्यु के बाद शोम्बे का रुख और अधिक उग्र हो गया। उसका साहस इतना बढ़ गया कि उसने संयुक्त राष्ट्र संघ को यह धमकी देना शुरू कर दिया कि यदि संघीय सेनायें कटंगा भेजी गईं तो उनके विरुद्ध घोर आक्रमणात्मक कार्यवाही की जायगी। कटंगा में जो संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनायें विद्यमान थीं उन पर भी छुटपुट हमले किये जाने लगे। इतना ही नहीं स्वयं लियोपोल्डविले में मोबुतु के सैनिकों ने संघीय फौजों पर आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया और लियोपोल्डविले हवाई अड्डा खाली करने की संघ को चुनौती भी दे दी गई। दूसरी ओर लुमुम्बा की मृत्यु के बाद भी लुमुम्बा के समर्थक निष्क्रिय नहीं हुए उन्होंने केन्द्रीय सत्ता की उपेक्षा कर अपनी अलग सरकार ओरियेंटल प्रान्त में कायम कर ली।

कांगो की बिगड़ती हुई परिस्थिति पर पर्याप्त विचार विमर्श करने के उपरान्त सुरक्षा परिषद ने इस सम्बन्ध में दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किए। २१ फरवरी १९६१ ने प्रथम प्रस्ताव में इस बात पर बल दिया गया कि कांगो में गृह युद्ध रोकने के लिए सब उपाय बरते जायें और ऐसे उपाय किए जायें कि वे सब विदेशी सैनिक और वेतनभोगी राजनीतिक परामर्शदाता जो संयुक्त राष्ट्र संघ की सेवा में न हों कांगो से चले जायें। २४ नवम्बर १९६१ को पारित दूसरे प्रस्ताव में कहा गया कि कांगो से कटंगा के पृथक होने के कार्यों को रोकने का प्रयत्न किया जाय।

उपरोक्त प्रस्तावों के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ कांगो समस्या के समाधान की दिशा में कुछ कुछ कदमों से आगे बढ़ा। संयुक्त राष्ट्र संघ की एक सैनिक कमान नियत की गई जिसके सेनाध्यक्ष ब्रिगेडियर के जनरल सिदन मैक ओवन बनाए गए। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ को ३००० सैनिक देने का वादा किया। जब यह प्रतीत होने लगा कि संयुक्त राष्ट्र संघ कटंगा के विरुद्ध कठोर कार्यवाही करेगा तो संघ के आदेशों व प्रस्तावों की पूर्ण उपेक्षा करते हुए बेल्जियम ने भी एक शक्तिशाली सेना कटंगा भेज दी। १२ मार्च १९६१ को कांगो में वहां के तीन नेताओं का (जिसमें शोम्बे भी शामिल था) एक गोलमेज सम्मेलन हुआ जिसमें कांगो के विभिन्न राज्यों का एक महासंघ स्थापित करने का निश्चय किया गया। लेकिन २ अप्रैल को शोम्बे ने अपने पूर्व निश्चय को ठुकराते हुए महासंघ में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। जुलाई १९६१ में संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में कांगोली संसद का अधिवेशन बुलाया गया। इसके दूसरे दिन प्रधानमंत्री जोसेफ इलियो की सरकार ने पदत्याग कर दिया और २ अगस्त को साइरिल अदौला कांगो के प्रधानमंत्री बने। इस घटनाक्रम के बाद से ही कांगो की केन्द्रीय सरकार के प्रति शोम्बे का रुख और भी कठोर हो गया। शोम्बे ने संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ भी किसी भी प्रकार का सहयोग करने से इन्कार कर दिया। कटंगा सरकार के असहयोग को देखते हुए १ दिसम्बर १९६१ को संघ ने उसके साथ अपना सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। इसके तुरन्त बाद ही ११ दिसम्बर को कटंगा प्रदेश पर नियन्त्रण रखने व केन्द्रीय कांगोली सरकार के अधिकार में उसे लाने के लिए, एलिजाबेथ विले के सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थानों पर संघीय फौजों ने कब्जा कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने कटंगा में संघ के इस कार्य की बहुत निन्दा की और इसे अवैध बताया। ब्रिटिश समाचार पत्र और बी० बी० सी० ने कटंगा में अवस्थित भारतीय सैनिक दल पर मिथ्या आरोप लगाये और उनके द्वारा कटंगा के नागरिकों पर किये जाने वाले तथाकथित अत्याचारों की मनगढ़न्त कहानियां प्रचारित कीं।

स्वयं पश्चिमी शक्तियों और साथ ही सोवियत रूस आदि की अनुचित आलोचनाओं से व्यथित हो कर, महासचिव डाग हैमरशोल्ड कांगो की राजनीति में तेजी से कार्यवाही करने में व्यस्त हो गए। उन्होंने कटंगा को केंद्रीय कांगोली शासन के अन्तर्गत लाने का निश्चय कर लिया। अमेरिका और ब्रिटेन ने उनके इस न्यायसंगत निश्चय को पसन्द नहीं किया। साम्राज्यवादी शक्तियां क्रुद्ध हो कर हैमरशोल्ड के विरुद्ध षड्यन्त्रों में लिप्त हो गईं। इस

षड्यंत्र में बेल्जियम सेना के उच्च पदाधिकारी कटंगा के शोम्बे और उत्तरी राडेशिया के प्रधानमंत्री सर राय वेलेन्सकी सम्मिलित थे। सितम्बर के महीने में महासचिव कांगो की स्थिति का अध्ययन करने के लिए और कांगो के नेताओं से प्रत्यक्ष बातचीत करने के लिए स्वयं कांगो गए। परन्तु अपने इस शान्ति अभियान में शोम्बे से वार्ता के लिए लियोपोल्डविले से एन्डोला जाते हुए, मार्ग में ही इनका वायुयान रहस्यपूर्ण ढंग से दुर्घटना का शिकार हो गया और महासचिव सहित विमान के सभी मुसाफिर जल कर खत्म हो गए। श्री डाग हैमरशोल्ड शांति के और संघ के उच्च सिद्धान्तों के प्रतीक बन गए थे। उनकी हत्या से सारे संसार में शोक का वातावरण बन गया। यद्यपि उनकी मृत्यु की परिस्थितियों पर अब भी रहस्य का आवरण पड़ा है, फिर भी यह निश्चित है कि कांगो की कुत्सित कूटनीति और शोम्बे का षड्यंत्र ही उनकी मृत्यु के लिए उत्तरदायी है।

१८ सितम्बर को ही श्री हैमरशोल्ड की मृत्यु-घटना पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की आवश्यक बैठक हुई। नये महासचिव की नियुक्ति के प्रश्न को लेकर पश्चिमी देशों और सोवियत रूस के मध्य विवाद चलता रहा और अन्त में बर्मा के श्री ऊ-थांट को इस पद पर नियुक्त करने के लिए सभी पक्ष सहमत हो गए।

श्री ऊ-थांट ने प्रारम्भ से ही कांगो की समस्या पर काबू पाने के लिए दृढ़तापूर्वक कार्यवाही करने का निश्चय किया। अगस्त १९६२ में उन्होंने कांगो के पुन एकीकरण की योजना (Re-unification Plan) तैयार की जिसका उद्देश्य कांगो के विभिन्न प्रान्तों को एकता के एक सूत्र में पिरोना था। किन्तु श्री ऊ-थांट की इस योजना में सबसे बड़ी बाधा कटंगा के शोम्बे व यूनियन मिनियरे कम्पनी की थी। इस बाधा को दूर करने के लिए अगस्त १९६२ में ही श्री ऊ-थांट ने यह सुझाव दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को कांगो में एकता स्थापित करने हेतु अपने प्रभाव का प्रयोग करना चाहिए और यदि इससे भी काम न चला तो फिर कटंगा के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने होंगे। इन प्रतिबन्धों में सबसे महत्वपूर्ण प्रतिबन्ध यह होगा कि यूनियन कम्पनी द्वारा कटंगा को दी जाने वाली धनराशि बन्द (Freeze) कर दी जाय क्योंकि शोम्बे की सम्पूर्ण कार्यवाहियों का मुख्य आधार ही इस कम्पनी द्वारा मिलने वाली वित्तीय सहायता है। महासचिव के इस प्रस्ताव पर संयुक्त राज्य अमेरिका को कोई आपत्ति न थी किन्तु फ्रान्स ब्रिटेन व बेल्जियम इसके विरोधी थे।

अन्त में अमेरिका ब्रिटेन व बेल्जियम से आवश्यक परामर्श करने के उपरान्त महासचिव द्वारा कांगो के एकीकरण की जो विस्तृत योजना तैयार की गई उसमें अनेक संवैधानिक सैनिक व आर्थिक उपायों का निर्देश था कांगो के संघीय विधानों की व्यवस्था थी केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकारों में राजकीय आय के विभाजन का नवीन नियम था और कांगो की सेना के एकीकरण तथा केन्द्रीय सरकार व सभी दलों के सम्मिलित आधार पर बनाने के प्रस्ताव थे। चूंकि शोम्बे द्वारा इस योजना को ठुकरा दिये जाने की सम्भावना थी अतः महासचिव द्वारा इस बात पर जोर दिया गया कि यदि

शोम्बे १० दिन में योजना को स्वीकार नहीं करे तो कटंगा के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने तथा सैनिक कार्यवाही करने की व्यवस्था की जानी चाहिये।

११ नवम्बर १९६२ को कांगो में संघ के प्रतिनिधि श्री रोबर्ट गार्डिनर द्वारा कांगो के एकीकरण हेतु शोम्बे से आग्रह किया गया कि वह निम्नलिखित ५ बातें पूरी करे—

(i) वह अपने बड़े सैनिक अधिकारियों को यह आदेश दे कि वे राष्ट्रपति कासावबू के प्रति वफादारी की शपथ लें और कटंगा की जो अलग सेना है उसे भंग कर दें।

(ii) कटंगा की खानों से होने वाली आय का उपयोग केन्द्रीय सरकार के साथ मिल कर किया जाय।

(iii) केन्द्रीय सरकार के कस्टम व आवागमन विभाग (Customs and Immigration) विभाग के कर्मचारी कटंगा के अन्य प्रान्तों की भांति ही कार्य करें।

(iv) संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना को अब तक के सभी निषिद्ध स्थानों में प्रवेश की सुविधा मिले क्योंकि इन स्थानों में कांगो की एकता के बाधक विदेशी वेतन भोगी सैनिक (White Mercenaries) छिपे हुए हैं।

(v) वह वेतन भोगी विदेशियों को देश से बाहर निकालने में संघ को सहयोग प्रदान करे।

इसी मध्य महासचिव ने ब्रिटेन बेल्जियम पुर्तगाल दक्षिण अफ्रीका आदि को इस बात के लिए प्रेरित किया कि वे कटंगा से कोई सामान न खरीदें। कांगो के प्रधान मन्त्री अदौला ने भी १७ अन्य राष्ट्रों से अपील की कि वे कटंगा के माल का बहिष्कार करें। संयुक्त राज्य अमेरिका से इस बात का विशेष अनुरोध किया गया कि वह कांगो-सेना को मजबूत बनाने के लिए आवश्यक युद्ध सामग्री भेजे।

यद्यपि इन सभी प्रयत्नों के मूल में संयुक्त राष्ट्रसंघ की इच्छा युद्धरत न होकर केवल शोम्बे को आतंकित करके उसे कांगो की एकता में सहायक बनाने के लिए राजी करना था परन्तु जब शोम्बे द्वारा कटंगा में संघ के प्रति न केवल उपेक्षापूर्ण रुख अपनाया गया बल्कि कटंगा की सेना द्वारा संघीय सेना पर हमला भी होने लगा तो महासचिव ऊ थांट ने संघीय फौजों को व्यापक पैमाने पर सैनिक कार्यवाही करने का आदेश दे दिया। इस कार्यवाही में वायुयानों और बमवर्षकों का उपयोग भी किया गया। इस बार अमेरिका और रूस ने भी महासचिव के प्रयासों में सहयोग दिया। वस्तुतः डाग हैमर शोल्ड की हत्या ने इन महाशक्तियों को कुछ ठोस कार्यवाही करने के लिए विवश कर दिया और शोम्बे के विरुद्ध प्रत्यक्ष हो गए विश्वव्यापी जनमत की अधिक समय तक उपेक्षा करना सम्भव न था। अमेरिका व रूस समर्थित संयुक्त राष्ट्रसंघ की प्रभावशाली सैनिक कार्यवाही ने शोम्बे के छक्के छुड़ा दिये। २१ जनवरी १९६३ को कटंगा की सेनाओं के अन्तिम गढ़ कोलवैजी पर संघीय फौजों का अधिकार हो गया। अन्त में शोम्बे ने घुटने टेक दिये और २१ जनवरी, १९६३ को घोषणा की कि कटंगा का कांगो के साथ पृथक्करण

समाप्त होता है और अब वह महासचिव ऊ-थांट द्वारा बनाई हुई एकीकरण की योजना में पूरा सहयोग देगा।

इस प्रकार कांगो में अन्ततः शांति स्थापित कर दी गई संयुक्त राष्ट्रसंघ का शांति स्थापना का प्रधान काम कांगो के एकीकरण के साथ समाप्त हुआ। परन्तु फिर भी कांगो के शासन को स्थिरता प्रदान कर वहां शैक्षणिक आर्थिक, प्रशासनिक वैज्ञानिक प्राविधिक आदि क्षेत्रों में उन्नति लाने का काम बाकी था। अत: संघ द्वारा इस दिशा म विशेष प्रयास किये जाने लगे जो आज भी न्यूनाधिक रूप में चल रहे हैं। वास्तव में श्री राजेश्वर दयाल का यह कहना सही था—'संयुक्त राष्ट्रसंघ यहां सहायता देने के लिए है हस्तक्षेप करने के लिए नहीं परामर्श देने के लिए है किन्तु आज्ञा देने के लिए नहीं। संघ बीच बचाव करने के लिए है पर किसी का पक्ष लेने के लिए नहीं। संघ ने इसी नीति का आचरण करते हुए कांगो के हवाई अड्डों पर अधिकार करके दोनों पक्षों को रूस एवं पश्चिम की सहायता लेने से वंचित कर दिया। और इस तरह कांगो का कोरिया बनने से बचा लिया। कांगो को गीत युद्ध एवं गृहयुद्ध की आग से बचाये रखने का सर्वाधिक श्रेय संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों को ही दिया जा सकता है। यदि संघ की सेनायें वहां न गई होती तो कांगो साम्यवादी एवं पश्चिमी शक्तियों के सशस्त्र संघर्ष का स्थल बन गया होता।'

(२०) पश्चिमी इरियन की समस्या
(The Question of West Irian)

पृष्ठभूमि—पश्चिमी इरियन प्रशांत महासागर में स्थित न्यूगिनी टापू का पश्चिमी भाग है। इरियन इस टापू का स्थानीय नाम है। टापू का पश्चिमी भाग अर्थात् पश्चिमी इरियन प्रदेश पहले हालैण्ड के अधिकार में था और डच न्यूगिनी कहलाता था। हालैण्ड से लगभग बारह गुना बड़े और लगभग आठ-दस लाख की जनसंख्या वाले इस विशाल क्षेत्र में हालैण्ड ने बहुत अधिक पूंजी लगा रखी थी। साथ ही यह हालैण्ड की अतिरिक्त आबादी के बसने के लिये भी उपयुक्त क्षेत्र था।

जब इण्डोनेशिया स्वतंत्र कर दिया गया तब भी हालैण्ड ने पश्चिमी इरियन पर से अपना अधिकार हटाने से इन्कार कर दिया। उसका तर्क था कि इस टापू के निवासी पपुअन लोग नस्ल की दृष्टि से इण्डोनेशिया के लोगों से सर्वथा भिन्न हैं, और इन्हें आत्मनिर्णय का अधिकार दिया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में आस्ट्रेलिया हालैण्ड के पक्ष का जोरदार समर्थक था क्योंकि टापू के पूर्वी भाग पर उसका आधिपत्य था जो अब तक बना हुआ है। १९४९ में इण्डोनेशिया के स्वाधीन होते समय हालैण्ड ने यह आश्वासन दिया कि १९५० तक पश्चिमी इरियन के भविष्य का निपटारा कर दिया जायगा। परन्तु यह आश्वासन पूरा नहीं किया गया। इस पर इण्डोनेशिया से उसका विवाद इतना उग्र हो गया कि दोनों देशों ने अपने कूटनीतिक सम्बन्ध भंग कर दिये। विवाद के इतना उग्र रूप ले लेने पर पश्चिमी इरियन की समस्या पर विचार करने के लिये एक संयुक्त राष्ट्र संघीय आयोग की स्थापना की गई जिसमें डच और इण्डोनेशिया के प्रतिनिधि शामिल किये गये। किन्तु आयोग के डच तथा

इण्डोनेशियायी प्रतिनिधियों में मतभेद इतने अधिक रहे कि दोनों ने अपनी अलग अलग रिपोर्ट प्रस्तुत की। २१ दिसम्बर को आयोग की वार्ता विफल होने पर इण्डोनेशिया के तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने यह घोषणा कर दी कि अब पश्चिमी इरियन के प्रश्न पर हालैण्ड से वार्ता केवल सत्ता के हस्तान्तरण के प्रश्न पर ही होगी।

संयुक्त राष्ट्र संघ में समस्या का विधिवत् प्रवेश—इण्डोनेशिया ने जब यह देखा कि हालैण्ड पश्चिमी इरियन की समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के प्रति निष्क्रिय एवं उदासीन है तो १७ अगस्त १९५४ को उसने संयुक्त राष्ट्र में यह विवाद विधिवत् प्रस्तुत कर दिया। इण्डोनेशिया ने महासभा से प्रार्थना की कि पश्चिमी इरियन का प्रश्न महासभा के नये अधिवेशन की कार्य सूची में सम्मिलित कर लिया जाय। इण्डोनेशिया ने कहा कि पश्चिमी इरियन सदा से इण्डोनेशिया का अविभाज्य अंग रहा है और प्रभुसत्ता हस्तांतरण के अनुच्छेद २ के अन्तर्गत जिसके द्वारा हालैण्ड ने इण्डोनेशिया को पूर्ण प्रभुसत्ता हस्तान्तरित की है हालैण्ड को न्यूगिनी के हस्तान्तरण के विषय में वार्ता करनी चाहिए, परन्तु उसने इस प्रकार की वार्ता करने से इन्कार कर दिया है। इण्डोनेशिया ने अनुरोध किया कि संयुक्त राष्ट्र संघ इस मामले में दिलचस्पी लेकर दोनों पक्षों को उचित हल ढूंढने में सहायता करे। इण्डोनेशिया की शिकायत के प्रत्युत्तर में हालैण्ड का कहना था कि वह प्रभुसत्ता के उद्देश्य-पत्र के अन्तर्गत (Under the Charter of Sovereignty) अपने दायित्वों (Obligations) से भी अधिक वार्ता कर चुका है लेकिन उसके सभी प्रस्ताव इण्डोनेशिया द्वारा ठुकरा दिये गये हैं। हालैण्ड के प्रधानमन्त्री ने यह भी तर्क किया कि १९४९ में हेग में आयोजित गोल मेज सम्मेलन में पश्चिमी इरियन का प्रश्न अलग रखा गया था अतः अब इसको उठाना अनुचित है। यह भी दलील दी गयी कि न्यूगिनी के निवासी नस्ल बोली धर्म आदि की दृष्टि से इण्डोनेशिया वालों से सर्वथा भिन्न हैं।

साम्राज्यवादी हालैण्ड के मित्र आस्ट्रेलिया के प्रधान मंत्री के आदेश पर वहाँ के परराष्ट्र मंत्री श्री के सी ने संयुक्त राष्ट्र संघ में इण्डोनेशिया के पश्चिमी इरियन सम्बन्धी दावे का जोरदार विरोध किया और हालैण्ड का प्रबल समर्थन। यही नहीं ६ नवम्बर १९५० को हालैण्ड तथा आस्ट्रेलिया की सरकारों ने एक संयुक्त विज्ञप्ति में यह घोषणा की कि आस्ट्रेलियाई न्यूगिनी एवं न्यूगिनी भौगोलिक तथा सुरक्षा की दृष्टि से परस्पर सम्बद्ध हैं, अतः दोनों देशों कि एकता के विकास की दृष्टि से नीति और शासन में दोनों देश परस्पर सहयोग करेंगे ······ वे इस भौगोलिक एकता को ध्यान में रखते हुए सहयोग के आधार पर राजनीतिक आर्थिक सामाजिक एवं शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में कार्यरत होंगे। इस संयुक्त विज्ञप्ति के मूल में यह उद्देश्य निहित था कि संयुक्त संघ में पश्चिमी इरियन के विषय पर हो रहा विचार-विमर्श किसी न किसी रूप में उनके पक्ष में प्रभावित हो। इस संयुक्त विज्ञप्ति के कारण इण्डोनेशिया इन इरादों के प्रति गंभीर रूप से सशंकित हो उठा और १९५७ से समस्त इण्डोनेशिया में पश्चिमी इरियन की मुक्ति के लिए एक राष्ट्रव्यापी आन्दोलन की शुरुआत हो गया।

महासभा में पश्चिमी राष्ट्रों का प्रभाव होने के फलस्वरूप पश्चिम इरियन सम्बन्धी १९ अफ्रो-एशियाई राष्ट्रों का पश्चिमी इरियन सम्बन्धी प्रस्ताव आवश्यक दो तिहाई बहुमत न मिलने से गिर गया। अपने न्यायसंगत दावे को संघ में समर्थन न मिलने के कारण इण्डोनेशिया की जनता में व्यापक क्षोभ पैदा हुआ और डचों के विरुद्ध जनक्षोभ भड़क उठा। जनता ने इण्डोनेशियाई सरकार और सैनिक अधिकारियों की चेतावनियों के बावजूद इण्डोनेशिया में स्थित डच उद्योगों कारखानों व्यापारिक प्रतिष्ठानों कार्यालयों, विमान कम्पनियों आदि पर अधिकार करना शुरू कर दिया परन्तु यह सब होने पर भी डच नागरिकों के जीवन के लिए कहीं खतरा पैदा नहीं हुआ। दिसम्बर १९५७ में इण्डोनेशिया सरकार ने भी जनमत के दबाव के कारण, १० दिन के अन्दर ही १० हजार डच नागरिकों को इण्डोनेशिया से निष्कासित कर दिया। हालैण्ड ने अपने साथी राष्ट्रों के साथ इण्डोनेशिया की कार्यवाही पर खूब शोर गुल किया और इण्डोनेशिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने का वातावरण तैयार करने लगा। इससे क्षुब्ध होकर इण्डोनेशियाई राष्ट्रपति सुकार्णो ने हालैण्ड के साथ राजनीतिक सम्बन्ध भंग करने की घोषणा कर दी। इसके साथ ही इण्डोनेशिया ने युद्ध की तैयारियाँ भी शुरू कर दीं क्योंकि परिस्थितियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि हालैण्ड केवल शक्ति एवं शस्त्र बल की ही भाषा जानता है।

दूसरी ओर अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी और संयुक्त राष्ट्रसंघ के महा मंत्री ऊ-थान्ट पश्चिमी इरियन की समस्या के शान्तिपूर्वक समाधान के लिए पूर्वापेक्षा अधिक सक्रिय हो गये। किन्तु राष्ट्रपति कैनेडी की प्रेरणा से वाशिंगटन में हालैण्ड के प्रतिनिधि तथा इण्डोनेशिया के राजदूत के मध्य जो वार्ता हुई उसका कोई शुभ परिणाम नहीं निकला। इसी मध्य इण्डोनेशियाई छापामार दस्ते प्रारम्भिक सैनिक कार्यवाही का संकेत देते हुए, पश्चिमी इरियन के विभिन्न स्थानों पर उतर कर हालैण्ड की सेना को व्यस्त करने लगे। दिसम्बर १९६१ में राष्ट्रपति सुकार्णो ने हालैण्ड को यह अल्टीमेटम दे दिया कि या तो ३१ दिसम्बर १९६२ तक पश्चिमी इरियन इण्डोनेशिया को सौंप दिया जाय अन्यथा वह इसे शक्ति द्वारा प्राप्त करने का प्रयास करेगा फलस्वरूप अब दोनों ही देशों में युद्ध की विस्फोटक स्थिति उत्पन्न हो गयी।

स्थिति को नियन्त्रण से बाहर जाने से रोकने के लिए अमेरिका के भारत स्थित भूतपूर्व राजदूत श्री एल्सवर्थ बंकर ने समस्या के समाधानार्थ एक योजना प्रस्तुत की जो 'बंकर योजना' के नाम से विख्यात हुई। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव के प्रतिनिधि की हैसियत से दोनों पक्षों के दृष्टिकोणों का अध्ययन करने के उपरान्त ही उन्होंने अपनी योजना प्रस्तुत की। यह योजना त्रिसूत्रीय थी—

१ 'पश्चिमी इरियन को अन्तरिम अवधि में एक अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी को सौंपना होगा "

२ "पश्चिम इरियन के हस्तान्तरण के प्रथम वर्ष में डच अधिकारियों को योजना बनाकर कार्य मुक्त कर दिया जायगा और उनके स्थान पर इण्डो-नेशिया के अधिकारियों को उनकी योग्यतानुसार नियुक्त किया जायगा" तथा

१ "अन्तर्राष्ट्रीय एजेन्सी उचित समय पर जनमत संग्रह द्वारा स्वतन्त्रता अथवा इण्डोनेशिया के साथ विलयन के प्रश्न पर निर्णय प्राप्त करेगी। यह सम्पूर्ण कार्य तीन वर्ष के पर्यवेक्षण काल में सम्पन्न हो जायगा।"

बंकर योजना में पश्चिमी इरियन के प्रशासनिक नियन्त्रण को कई वर्षों में इण्डोनेशिया को सौंपने की बात कही गयी। महामन्त्री ऊ-थान्ट ने इण्डोनेशिया को सूचित किया कि हालैण्ड बंकर योजना को स्वीकार करने को तैयार है जिसके अनुसार कार्यवाही के दूसरे वर्ष के अन्त तक किसी निश्चित तिथि को पश्चिमी इरियन का सम्पूर्ण प्रशासनिक नियन्त्रण इण्डोनेशिया को हस्तांतरित कर दिया जायगा और इस क्षेत्र की जनता को अपनी इच्छा प्रकट करने की पूरी स्वतन्त्रता दी जायगी। अपनी सूचना में श्री ऊ-थान्ट ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पश्चिमी इरियन की जनता को स्वतन्त्र इच्छा प्रकट करने की व्यवस्था संयुक्त राष्ट्रसंघ के महामन्त्री के सहयोग से इण्डोनेशिया करेगा।

अपने प्रत्युत्तर में डा० सुकार्णो ने महासचिव से यह प्रस्ताव किया कि पहले पश्चिमी इरियन का प्रशासन इण्डोनेशिया को हस्तांतरित किया जाय और वहाँ जनमत संग्रह हो।

अन्ततः मामला सुलझने की स्थिति में आ गया और १५ फरवरी १९६२ को पश्चिमी इरियन के प्रश्न पर हालैण्ड व इण्डोनेशिया ने एक औपचारिक समझौते पर हस्ताक्षर कर लिये जिसके अनुसार हालैण्ड द्वारा १ अक्टूबर १९६२ को पश्चिमी इरियन का शासन संयुक्त राष्ट्रसंघ को सौंपा गया और १ मई १९६३ को संघ द्वारा पश्चिमी इरियन अन्तिम रूप से इण्डोनेशिया को दे दिया गया। सत्ता हस्तांतरण समझौते पर इण्डोनेशिया की ओर से उसके परराष्ट्र मंत्री डा० सुबान्द्रियो और हालैण्ड की ओर से संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसके स्थायी प्रतिनिधि स्कुरमान व वाशिंगटन में हालैण्ड के राजदूत श्री रोयीन ने हस्ताक्षर किये। दीर्घावधि से चले आ रहे इस विवाद का निपटारा करने वाले ऐतिहासिक समझौते पर सुरक्षा परिषद के कमरे में हस्ताक्षर हुए। समझौते में इण्डोनेशिया ने वायदा किया कि वह पश्चिमी इरियन की जनता को अपने भविष्य के विषय में निर्णय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देगा अर्थात् पश्चिमी इरियन के वासी यह निर्णय करने को स्वतन्त्र होंगे कि वे एक अलग इकाई के रूप में रहना चाहते हैं या इण्डोनेशिया की प्रभुता स्वीकार करते हैं। आत्म निर्णय के इस अधिकार की पूर्ति इण्डोनेशिया को १९६९ की समाप्ति से पूर्व करनी होगी और इस कार्य में संयुक्त राष्ट्रसंघ इण्डोनेशिया को परामर्श व सहायता देगा।

(२१) यू-२ विमान-घटना

(The U-2 Incident)

१८ मई १९६० को सोवियत विदेश मन्त्री आन्द्रे ग्रोमिको (Andrei Gromyko) ने सुरक्षा परिषद् के इस मास के प्रधान सरदार कोरिया से संयुक्त राज्य अमेरिका की हवाई सेना के आक्रमणात्मक कार्यों पर विचार करने [illegible] एक आवश्यक बैठक अविलम्ब बुलाने की प्रार्थना की। इस प्रार्थना-पत्र के साथ सोवियत सरकार का एक व्याख्यात्मक पत्र (Esploratory Note) भी जुड़ा था। इस पत्र में यह कहा गया था कि—

"१ मई, १९६० को प्रातःकाल संयुक्त राज्य अमेरिका के एक वायुयान ने सोवियत सीमा का उल्लंघन किया। जब यह वायुयान सोवियत अफगान सीमा के भीतर २००० किलोमीटर तक प्रवेश कर गया और इसके आक्रमणात्मक इरादों का निश्चय हो गया तो स्वर्डलोवस्क के निकट राकेट द्वारा इसे नीचे गिरा लिया गया। विनष्ट विमान के निरीक्षण से पता लगा कि इसमें जासूसी करने के अनेक यंत्र एवं उपकरण थे। पैराशूट की सहायता से सुरक्षित नीचे उतर आने वाले चालक पावर्स ने भी इस बात की पुष्टि की कि लाकहीड यू २ (Lockhead U 2) प्रकार का यह विमान सोवियत संघ के आकाश में सैनिक निरीक्षण करने के लिए-विशेषतः सोवियत औद्योगिक कारखानों एवं सैनिक अड्डों की सूचना प्राप्त करने के लिए भेजा गया था। इसमें इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विशेष यंत्र लगे हुए थे और सोवियत प्रदेश पर से उड़ते हुए यह विभिन्न स्थानों के फोटो ले रहा था।'

अमेरिकन विदेश विभाग ने सर्वप्रथम तो उपरोक्त प्रकार की किसी भी उड़ान का खण्डन किया लेकिन बाद में यह कहा गया कि टर्की में सोवियत सीमान्त के निकट एक विमान ऋतु विज्ञानीय निरीक्षण एवं अनुसंधान के लिए उड़ रहा था। परन्तु सोवियत संघ द्वारा इतने अकाट्य प्रमाण पेश किये गये कि ७ मई को अमेरिकन विदेश विभाग को यह स्वीकार करना पड़ा कि सोवियत सैनिक संस्थानों की जानकारी प्राप्त करने के लिए यह विमान सोवियत आकाश में भेजा गया था। ९ मई को अमेरिकन विदेश मन्त्री हर्टर ने और ११ मई को स्वयं राष्ट्रपति आइजन होवर ने इस घटना की सत्यता की पुष्टि की।

सोवियत रूस ने अपने आक्षेपात्मक पत्र में इस बात पर बल दिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका इस प्रकार के अतिक्रमण करने का आदी बन गया है और इस तरह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक नियमों का एवं संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की व्यवस्थाओं का उल्लंघन करके विश्व शांति को संकट में डालने के लिए प्रयत्नशील है। अपने पत्र में सोवियत संघ ने अमेरिका द्वारा की जाने वाली इस प्रकार की घटनाओं का प्रस्त करने की धमकी दी और मांग की कि सुरक्षा परिषद् को अमेरिका की इस प्रकार की कार्यवाहियों की निन्दा करनी चाहिए तथा भविष्य के लिए इन पर पूरी रोक लगाने की व्यवस्था होनी चाहिए। सोवियत पत्र में इस सब बातों का विस्तार से उल्लेख निम्नलिखित रूप में किया गया था—

"वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में और सैनिक तकनीकियों की प्रगति के वर्तमान स्तर में यह समझना कठिन नहीं है कि ऐसी घटनायें विश्व शांति के लिए कितनी खतरनाक हो सकती हैं। जब यह बात है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के बमवर्षक अणु एवं हाइड्रोजन बमों को लाद कर घूमते हैं तो यह कल्पना की जा सकती है कि सोवियत सीमा का अतिक्रमण करने वाले विमानों पर भी ऐसी घातक सामग्री लदी हो। ऐसी अवस्था में सोवियत संघ स्वाभाविक रूप से अपनी सुरक्षा के लिए एवं आक्रमण के प्रतिरोध के लिए प्रतिआघातात्मक कार्यवाही कर सकता है। इस सूरत में इसके परिणामों का सम्पूर्ण

उत्तरदायित्व दूसरे देशों के विरुद्ध आक्रमण करने वाले राज्यों का होगा" । इसमें यह तथ्य उल्लेखनीय है कि सोवियत संघ के प्रदेश में आक्रमणात्मक प्रयोजनों के लिए विमान भेजते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका छोटे देशों की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च अधिकारों (Territoral Integrity and Sovereign Rights) का अतिक्रमण करता है। ६ अप्रैल एवं १ मई १६६० को अमरिकन विमान ने रूस की दक्षिणी सीमा का अतिक्रमण करने से पूर्व अफगानिस्तान के आकाश का उल्लंघन किया है। १६५८ में मध्यपूर्व में सेनायें भेजने के लिए भी तटस्थ देश आस्ट्रिया के आकाश का अतिक्रमण किया गया था।

इस प्रकार प्रकाश तथ्य यह सिद्ध करते हैं कि संयुक्त राज्य अमेरिका जानबूझ कर पूरी तैयारी के साथ ऐसे कार्य करता है, जो न केवल अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रारम्भिक नियमों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की व्यवस्थाओं का घोर उल्लंघन है अपितु विश्व की शांति के लिए भीषण संकट है।

सोवियत सरकार को यह आशा थी कि पेरिस में शासनाध्यक्षों के सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमरिका आक्रमणात्मक कार्य करने वाली अपनी वायुसेना की निन्दा करेगा। इस प्रकार की नीति का परित्याग करेगा। यू २ वायुयान की जासूसी उड़ान का उत्तेजनात्मक कार्य करने वालों को दण्ड देगा। ऐसा आश्वासन देगा कि वह भविष्य में ऐसे कार्य नहीं करेगा। हमारे देश के इस प्रकार हुए अपमान के लिए सार्वजनिक रूप से आवश्यक कार्यवाही करेगा और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को बिगाड़ने वाली तथा शांति को संकट में डालने वाली घटना का अन्त करेगा। सोवियत सरकार को खेद है कि उसने ऐसा नहीं किया।" "सोवियत सरकार का यह विचार है कि सुरक्षा परिषद का यह कर्त्तव्य है कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के शांति भंग करने वाले कार्यों की दृढ़तापूर्वक निन्दा करे और दूसरे राज्यों के आकाश का अतिक्रमण करने वाले संयुक्त राज्य अमेरिका के कार्यों को बन्द कराये। संयुक्त राष्ट्र संघ जनता के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन नहीं करेगा यदि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में ऐसे अव्यवस्था तथा उत्तेजनापूर्ण कार्यों को बन्द नहीं कराता। अतः सुरक्षा परिषद में विश्व शांति को बनाये रखने के लिए सोवियत संघ के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका की वायुसेना के आक्रमणात्मक कार्यों पर तत्काल विचार होना चाहिए।

सोवियत संघ द्वारा की गयी शिकायत पर विचार करने के लिए २३ मई, १६६० को सुरक्षा परिषद की बैठक हुई। बैठक में रूस की ओर से जो प्रस्ताव रखा गया वह इस प्रकार था—

"परिषद में संयुक्त राज्य अमेरिका की वायुसेना के सोवियत संघ के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्यों के प्रश्न पर विचार किया। यह विश्व शांति के लिए संकट दूसरे राज्यों की सर्वोच्च सत्ता का अतिक्रमण संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों एवं उद्देश्यों के प्रतिकूल है। अतः यह संयुक्त राज्य अमेरिका के विमानों का अन्य राज्यों के प्रदेश में जाना आक्रमणात्मक कार्य समझता है

और संयुक्त राज्य अमरिका से प्रार्थना करता है कि ऐसे कार्यों को तुरन्त बन्द कर दे तथा भविष्य में उनकी पुनरावृत्ति न होने दे।"

प्रस्ताव पर दोनों पक्षों की ओर से बड़ा तीखा वाद-विवाद हुआ। सोवियत संघ के प्रतिनिधि ने संयुक्त राज्य अमेरिका पर कटु आक्षेप किये। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि श्री हेनरी केबट लाज ने रूस के आरोपों का मुँहतोड़ उत्तर देते हुए निम्नलिखित शब्द कहे—

"सोवियत आकाश में एक इन्जन वाले एक व्यक्ति को ले जाने वाले शस्त्रहीन वायुयान की उपस्थिति को 'आक्रमण' नहीं कहा जा सकता। सोवियत संघ दूसरे देशों के प्रदेश में हजारों जासूस रखता है और अब एक 'निर्दोष उड़ान' का प्रतिवाद कर रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका यदि चाहे तो सोवियत संघ के ऐसे कार्यों के अनेक उदाहरण दे सकता है। लोंग द्वीप (Long Island) के पास एक सोवियत जहाज ने संयुक्त राज्य अमेरिका की नौसैनिक कार्यवाहियों में बाधा डाली है। संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रदेश में रूस के अनेक गुप्तचर हैं। मार्शल स्टालिन की मृत्यु के बाद दूसरे देशों में पकड़े गये रूसी गुप्तचरों की संख्या ४६ है। सोवियत संघ द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अतिक्रमणों ने स्वतन्त्र देशों को बहुत चिन्ता में डाल दिया है। पर्ल हार्बर जैसे आकस्मिक आक्रमणों की पुनरावृत्ति रोकने के लिए ऐसी उड़ानें की गयी हैं।

किन्तु श्री मिको का यह कथन सत्य नहीं है कि सोवियत प्रदेश पर ऐसी उड़ानें निरन्तर करते रहना संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति है। यह तथ्यों के सर्वथा विपरीत है। राष्ट्रपति आइजन होवर ने पेरिस में कहा था कि ऐसी उड़ानें बन्द कर दी गयी हैं। राष्ट्रपति ने यह भी कहा था कि संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य देश निरन्तर रूस की जासूसी का शिकार हो रहे हैं। रूसी प्रतिनिधि ने राष्ट्रपति के वक्तव्य को गलत रूप में रखा है कि आइजन होवर ने ऐसी उड़ानों को निरन्तर जारी रखने की धमकी दी है। वस्तुतः ऐसी कोई धमकी नहीं दी गयी। केवल इतना कहा गया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका आकस्मिक आक्रमणों से अपनी रक्षा करने के उत्तरदायित्व में शिथिलता नहीं कर सकता। रूसी प्रदेश पर अमेरिकी उड़ानें स्थगित कर दी गयी हैं और इन्हें अब पुनः आरम्भ नहीं किया जायगा। शिखर सम्मेलन से पहले ही राष्ट्रपति ने सोवियत संघ के सम्मुख उन्मुक्त आकाश (Open Skies) की सन्धि करने का प्रस्ताव रखा था। सोवियत संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की बहुत दुहाई दी है किन्तु उस समय यह कानून कहाँ गया था जब कम्युनिस्ट फौजों ने दक्षिण कोरिया पर चढ़ाई की थी। १९५६ में हंगरी की स्वतंत्रता का अन्त किया था। सोवियत संघ ने सारी दुनिया में जासूसों का जाल फैला रखा है। संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशी दूतावासों में ऐसी जासूसी करने वाले १०० यन्त्र पकड़ गये हैं।

सोवियत रूस ने सुरक्षा परिषद में जो प्रस्ताव पेश किया उसके प्रत्युत्तर में अर्जेन्टाइना, लंका, इक्वेडोर और ट्यूनीशिया की तरफ से एक नवीन चतुःशक्ति प्रस्ताव (Four Power Resolution) पेश किया गया। इस प्रस्ताव की शब्दावली यों थी—

प्रार्थना-पत्र में रूस ने अमेरिकन वायुसेना के अतिक्रमण को विश्व शांति के लिए खतरा बताते हुए सुरक्षा परिषद की आवश्यक बैठक बुलाने की मांग की। बहस २२ जुलाई को आरम्भ हुई। बहस का समारम्भ करते हुए सोवियत प्रतिनिधि ने कहा कि सुरक्षा परिषद द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्य सरकारों से कहा गया था कि वे एक दूसरे की प्रभुसत्ता का अतिक्रमण न करें और तनाव बढ़ाने वाले कार्य न करें, लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा की गई हाल ही की घटनाओं से यह सिद्ध है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के उपरोक्त आधारभूत सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षापूर्ण है। सुरक्षा परिषद विश्व शांति का उत्तरदायित्व ग्रहण करने वाली प्रमुख संस्था है अतः उसे सोवियत आकाश का उल्लंघन करने वाले अमेरिकन आक्रान्ता की निन्दा करनी चाहिए और अन्य देशों के विरुद्ध उसके द्वारा किये जाने वाले ऐसे सत्तेजनात्मक कार्यों पर अंकुश लगाना चाहिए। अपने इस भूमिका-रूप भाषण के बाद सोवियत प्रतिनिधि ने अमेरिका की निन्दा विषयक निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया—

"सुरक्षा परिषद ने सोवियत संघ के विरुद्ध संयुक्त राज्य अमेरिका के वायुसेना के नये आक्रमणात्मक कार्यों पर विचार किया। ये कार्य विश्व-शांति के लिए एक संकट है। परिषद यह स्वीकार करती है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार ने अन्य देशों के संप्रभु-अधिकारों का अतिक्रमण करना जारी रखा है। इससे अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में अभिवृद्धि होती है और विश्व शांति को खतरा उपस्थित होता है। अतएव यह परिषद संयुक्त राज्य अमेरिका की वायुसेना के इन उत्तेजनात्मक कार्यों की निन्दा करती है और इन्हें आक्रमणकारी कार्य समझती है और संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार से यह आग्रह करती है कि वह ऐसे कार्यों को रोकने एवं भविष्य में इनकी पुनरावृत्ति न होने देने के लिए तत्काल कार्यवाही करे।"

सोवियत संघ द्वारा प्रस्तुत निन्दा प्रस्ताव और भाषण का उत्तर संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि हेनरी केबट लॉज ने दिया। उनके उत्तर का सारांश इस प्रकार था—

"आर०बी०-४७ को गोली मार कर नीचे गिराना एक अपराधपूर्ण सामूहिक डकैती वाला (Criminal and Piratical) कार्य है। सोवियत संघ जिस समय विमान का गिराया जाना बताता है तब वह सोवियत समुद्र तट की सीमा से ६० मील दूर था और ५० मिनट बाद रूस द्वारा बताये गये स्थान से २०० मील दूर था तथा उत्तरपूर्वी दिशा में रूसी सीमा से बाहर की ओर जा रहा था वह कभी भी सोवियत समुद्र तट से १० मील से कम दूरी के भीतर नहीं आया।.........विमान सारे समय अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र पर उड़ता रहा। इसमें आक्रमण करने के लिए कोई शस्त्र नहीं थे केवल पीछे की ओर रक्षा के लिए २० मिलीमीटर की तोपें थीं। यह विमान ग्रीनविच टाइम के अनुसार १.११ पर लुप्त हो गया.........जहां लुप्त हुआ उसे अमेरिका के अधिकारी राडार आदि यन्त्रों की सहायता से अच्छी तरह जानते हैं। यह स्थान कोला प्रायद्वीप से २०० मील उत्तर-पूर्व में था। विमान लुप्त होने पर इसकी खोज शुरू हुई। पहले रूस ने इस खोज कार्य में

सद्भावनापूर्वक सहायता दी और १० दिन बाद यह घोषित किया कि उन्होंने उसे सोवियत आकाश का अतिक्रमण करते हुए गोली मार कर नीचे गिराया है। १० दिन की यह देरी बड़ी रहस्यपूर्ण है—— सोवियत सरकार का यह दावा कोरी कल्पना है कि विमान को सोवियत रूस के प्रादेशिक समुद्र में गिराया गया है। यह कल्पना जानबूझ कर अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र में गिराये जाने वाले अवैध विमानकाण्ड पर पर्दा डालने के लिए गढ़ी गयी है। — विमान के गिराये जाने का सोवियत सरकार द्वारा बताया जाने वाला समय और स्थान ठीक नहीं है।— — —

वास्तविक घटना यह है कि जब विमान स्वियातोई नोस से ५० मील मील उत्तर-पूर्व में पहुंचा तो उसे पूर्व निर्धारित मार्ग के अनुसार उत्तर-पूर्व की ओर निकलना था। इसी समय समुद्र की ओर से एक सोवियत लड़ाकू विमान आकर अमेरिकन वायुयान को बलपूर्वक सोवियत प्रदेश की ओर धकेलने लगा यद्यपि उसका यह प्रयास सफल नहीं हुआ क्योंकि अमेरिकन वायुयान जल्दी ही घूम कर अपने पूर्व निर्धारित मार्ग पर पहुंच गया और ऐसा करते समय वह सोवियत सीमा के निकटतम बिन्दु से १० मील से अधिक अन्दर आया—— ——सोवियत नोट द्वारा बताये गये उसे गिराने के समय से २० मिनट बाद वह स्वियातोई नोस से २०० मील की दूरी पर उड़ रहा था। वहां उसे गिराया गया—— उसे अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र में गिरा कर यह कहा गया कि वह प्रादेशिक समुद्र में गिराया गया है। सोवियत वायुसेना वाले अपनी यह कमजोरी नहीं बताना चाहते थे कि उन्होंने २०० मील दूर इस विमान को गिराया है। अतः उन्होंने सत्य से मुंह मोड़ा। —— इन अवस्थाओं में संयुक्त राज्य अमेरिका सुरक्षा परिषद से यह मांग करने का अधिकार रखता है कि वह सोवियत घृणित आक्रमण की निन्दा करे और रूस से इस विमान के विनाश को तथा इसके चालकों की प्राणहानि की क्षतिपूर्ति करने की मांग करे। किन्तु फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका इस समय केवल यही चाहता है कि वह सोवियत संघ से इस मामले की निष्पक्ष जांच स्वीकार करने के लिए कहे।"

अपने इस भाषण के बाद हेनरी केबट लॉज ने अमेरिका की ओर से सुरक्षा परिषद में निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया।

"सुरक्षा परिषद ने १३ जुलाई, १९६० को सोवियत संघ द्वारा प्रस्तुत किये गये विषय पर विचार किया संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के प्रतिनिधियों के भाषण सुने और १ जुलाई, १९६० को सोवियत सेनाओं द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका की वायुसेना के एक विमान को गिराये जाने की घटना पर दोनों सरकारों के मतभेद विद्यमान होने के एवं इस घटना के कानूनी उत्तरदायित्व के बारे में विचार किया। २७ मई, १९६० में प्रस्ताव को पुनःस्मरण करते हुए सुरक्षा परिषद यह सिफारिश करती है कि सोवियत यूनियन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका १ जुलाई, १९६० को हुई विमान दुर्घटना के सम्बन्ध में उत्पन्न हुए मतभेद का हल एक आयोग द्वारा तथ्यों का स्वीकरणीय एक तीसरी सरकार के प्रतिनिधि मुख्य संख्या में हो यह इस

घटना की जाँच इसके स्थल पर जाकर वायुयान के अवशेषों को देख कर तथा इसके बचे हुए चालकों तथा अन्य साथियों से प्रश्न पूछ कर करे अथवा इस मामले का विचार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा जाय।

सोवियत प्रतिनिधि और अमेरिकन प्रतिनिधि में एक दूसरे की सरकारों पर जासूसी के विभिन्न आरोप-प्रत्यारोप लगाए और दोनों ही के मध्य कटु वाग्युद्ध हुआ। अमेरिकन प्रतिनिधि केबट लॉज ने कहा कि "संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ में यही अन्तर है कि हम सोवियत विमानों को अपने कैमरों से फोटो खींचने का लक्ष्य बनाते हैं जब कि रूसी हमारे विमानों का तोपों और राकेटों का लक्ष्य बनाते हैं तथा हमारे चालकों को मार डालते हैं या कैद कर लेते हैं।

रूसी और अमेरिकन प्रस्तावों के अतिरिक्त इटली द्वारा एक तीसरा प्रस्ताव यह रखा गया कि दुर्घटना-ग्रस्त व्यक्तियों की सहायता का मानवीय कार्य अन्तर्राष्ट्रीय रेडक्रॉस संस्था को सौंपा जाय।

२६ जुलाई, १९६० को रूस अमेरिका व इटली के तीनों प्रस्तावों पर वोट लिये गये। सोवियत रूस ने अमेरिकन प्रस्ताव को और इटली के प्रस्ताव को वीटो कर दिया। रूसी प्रस्ताव सुरक्षा परिषद के बहुमत द्वारा अस्वीकृत कर दिया गया। रूस द्वारा सुरक्षा परिषद में वीटो किये जाने की संख्या इस समय ८९ पहुंच गई।

रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ के १५वें अधिवेशन में पुनः यू-२ और आर० बी०-४७ विमानकाण्डों की दोनों घटनाओं का प्रश्न उठाने की चेष्टा की किन्तु उसे अपने प्रयासों में सफलता नहीं मिली।

(२१) स्पेन का प्रश्न
(The Question of Spain)

द्वितीय महायुद्ध में यद्यपि स्पेन प्रत्यक्ष रूप से सम्मिलित नहीं हुआ था किन्तु उसने धुरी राष्ट्रों (Axis Powers) को प्रत्येक संभव सहायता प्रदान की थी। स्पेन के इस शत्रुतापूर्ण व्यवहार से मित्र राष्ट्र उसके प्रति असन्तुष्ट एवं अप्रसन्न थे। इसीलिए सान-फ्रांसिस्को सम्मेलन में यह निश्चित किया गया कि स्पेन को भावी संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता से वंचित रखा जाय। बाद में पोट्सडम सम्मेलन में इस निश्चय को पुनः बहुमत प्रदान की गयी।

जब संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई तो स्पेन द्वारा यह प्रार्थना की गयी कि उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान की जानी चाहिए किन्तु उसकी यह प्रार्थना व्यर्थ गयी। ९ फरवरी १९४६ को महासभा द्वारा यह घोषित कर दिया गया कि स्पेन संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने के लिए अयोग्य है अतः उसे संघ का सदस्य नहीं बनाया जा सकता।

अप्रैल १९४६ में पोलैण्ड की तरफ से सुरक्षा परिषद में एक प्रार्थना की गयी। पोलैण्ड द्वारा कहा गया कि स्पेन में फ्रान्को का शासन फासिस्टवादी है अतः यह पोट्सडम एवं सान-फ्रांसिस्को सम्मेलनों के प्रस्तावों के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिए खतरा है। इस पर सुरक्षा परिषद ने मामले की जाँच करने के उद्देश्य से एक उपसमिति का निर्माण किया जिसने अपनी

रिपोर्ट में कहा कि यद्यपि स्पेन की सरकार की कार्यवाहियों से संघ के चार्टर की धाराओं के अन्तर्गत विश्व शांति को किसी प्रकार का भय नहीं है किन्तु भय उत्पन्न होने की संभावना अवश्य हो सकती है। तत्पश्चात् सुरक्षा परिषद् के सभी सदस्यों ने उपसमिति की इस रिपोर्ट पर अपना एकमत प्रकट किया। सोवियत संघ द्वारा तो यहाँ तक कह दिया गया कि स्पेन की सरकार को ही बदल दिया जाना चाहिए, तथापि परिषद् के दूसरे सदस्य इतनी गंभीर एवं बड़ी कार्यवाही करने को सहमत नहीं हुए। इस प्रकार स्पेन सम्बन्धी मामले में कोई कार्यवाही हो नहीं पायी। सुरक्षा परिषद् ने पाश्चात्य देशों के कथनानुसार पोलैण्ड की प्रार्थना में प्रयुक्त किये गये 'खतरे' शब्द के स्थान पर 'राजनीतिक संकट' (Political Menace) शब्द रखने का सुझाव दिया लेकिन सोवियत संघ द्वारा इस सुझाव को अपने निषेध अधिकार के प्रयोग द्वारा रद्द कर दिया गया। ४ नवम्बर १९४६ को स्पेन का प्रश्न यद्यपि सुरक्षा परिषद् की विषय सूची से हटा दिया गया किन्तु १२ दिसम्बर १९४६ को संघ की महासभा में अवश्य यह प्रस्ताव स्वीकार किया कि—

"फ्रान्को सरकार को संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्धित अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं अथवा निकायों की सदस्यता से निकाल दिया जाना चाहिए। सुरक्षा परिषद को स्पेन में यथाशीघ्र ही एक नई तथा सर्वमान्य सरकार के स्थापित न होने के विरुद्ध कार्यवाही करने पर विचार करना चाहिए तथा राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों को स्पेन की राजधानी मेड्रिड (Madrid) से अपने राजदूत वापिस बुला लेने चाहिए।"

परन्तु इसी समय विश्व में शीत युद्ध (Cold War) आरम्भ हो चुका था। अतः अमरिका ने ब्रिटेन एवं फ्रांस के विरोध पर ध्यान न देते हुए जनरल फ्रान्को की सद्भावना प्राप्त करना आवश्यक समझा। अमरिका सोवियत विरोधी गुट तैयार करने के किसी अवसर को खोना नहीं चाहता था। जनरल फ्रान्को सोवियत संघ का कट्टर शत्रु था अतः अमेरिका उसे अपनी ओर मिला कर उसके द्वारा साम्यवाद के विकास एवं प्रसार का विरोध करने का इच्छुक था। इसलिए नवम्बर १९४७ में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने अमेरिका के प्रभाव में आकर स्पेन के सम्बन्ध में यह प्रस्ताव पास किया कि "सुरक्षा परिषद स्पेन की स्थिति को ठीक करने के लिए आवश्यकता होने पर चार्टर के अन्तर्गत अपनी शक्तियों और दायित्वों का प्रयोग करेगा।"

मार्च १९४८ में अमेरिकन प्रतिनिधि सभा ने मार्शल योजना के अन्तर्गत अमेरिकन सहायता प्राप्त करने वाले राज्यों में स्पेन का नाम भी सम्मिलित किया, हालांकि बाद में उसकी समाप्ति कर दी गयी। नवम्बर १९५० में संयुक्त राष्ट्रीय महासभा ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा १९४६ के अपने पूर्व के प्रस्ताव के कुछ ऐसे अंशों को रद्द कर दिया जिनके अनुसार स्पेन को अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं अथवा विशेष निकायों से असम्बद्ध करने एवं दूसरे राज्यों को मेड्रिड से अपने राजदूत वापिस बुलाने के लिए कहा गया था। १९५० के इस प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य को यह अधिकार प्राप्त होगा कि वह स्वयं अपने दृष्टिकोण से स्पेन की

सरकार से सम्बन्ध स्थापित करे। महासभा में अनेक सदस्य राष्ट्रों ने अमेरिका की स्पेन विषयक नीति की कठोर आलोचना की और उस पर यह आरोप लगाया कि वह अप्रत्यक्ष रूप से स्पेन को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान कराना चाहता है तथा वह स्पेन को सोवियत संघ के विरुद्ध सैनिक अड्डों के लिए प्रयोग कर रहा है।

अमेरिका और स्पेन एक दूसरे के निकट आते गये। सन् १९५१ और ५३ के बीच दोनों राष्ट्रों के मध्य काफी वार्तायें हुयीं। फलस्वरूप स्पेन में अमेरिकन अड्डों के निर्माण के लिए अनेक आर्थिक एवं सैनिक दल अमेरिकन दल की ओर से मैड्रिड भेजे गये। २७ सितम्बर १९५३ को दोनों राष्ट्रों के बीच आर्थिक और सैनिक समझौता भी हो गया। नवम्बर १९५५ में अमेरिकन विदेशमंत्री डलेस द्वारा स्पेन की यात्रा की गयी। अन्त में अमेरिका के विपुल प्रयासों के फलस्वरूप १४ दिसम्बर १९५५ को स्पेन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी बना लिया गया।

(२४) लाओस की समस्या
(Laos Problem)

लाओस का क्षेत्रफल ९१ हजार वर्गमील और जनसंख्या ३० लाख है। सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण इस देश की सीमा साम्यवादी चीन साम्यवादी उत्तरी वियतनाम दक्षिण वियतनाम कम्बोडिया थाईलैण्ड और बर्मा से मिली हुई है। इस देश में तीन दल हैं—(१) साम्यवादियों के नेतृत्व में पाथेट लाओ (Pathet Lao) दल जिसके नेता राजकुमार सुफोनोवोंग हैं (२) राजसत्तावादी (Royalists) जिसके नेता बोनओम हैं और (३) तटस्थतावादी (Neutralists) दल जिसके नेता राजकुमार सुवन्नफोमा हैं। पिछले १० वर्षों से इन तीनों ही दलों में गृहयुद्ध चल रहा है और यहां शांति नहीं है।

लगभग १०–१२ वर्षों से इन तीनों दलों के गृह युद्ध में फंसा लाओस पहले फ्रांस के अधीन था। १९ जुलाई १९४९ को फ्रेंच संघ के अन्तर्गत यह वैधानिक रूप से स्वतन्त्र देश माना गया। लेकिन यहां के साम्यवादी समर्थक अल्पसंख्यक दल ने इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं किया। २१ जुलाई १९५४ को जैनेवा में हुए समझौते के अनुसार लाओस पूर्ण स्वतन्त्र देश मान लिया गया।

९ अगस्त १९६० को छतरीधारी सेना के वामपक्षी कमाण्डर कैप्टेन कौंगली ने लाओस सरकार को अपदस्थ कर दिया। उसने देश में तटस्थता की स्थापना एवं साम्यवादियों के साथ शांति संधि करने का संकल्प किया। युवराज सुवन्नफोमा के नेतृत्व में एक तटस्थ सरकार की स्थापना की गई। किन्तु जनरल फोमी नासवान के नेतृत्व में दक्षिणपंथी सेनाओं ने दिसम्बर १९६० में सुवन्न फोमा की अध्यक्षता में बने तटस्थ गुट को बाहर निकाल दिया और लाओस की प्रशासनिक राजधानी वियन तियन पर अधिकार कर लिया। सम्राट सावंग वाधना ने राजकुमार बोनओम को नयी सरकार का प्रधान मंत्री नियुक्त किया। इधर राजकुमार सुवन्नफोमा ने साम्यवादी समर्थक

पाथेट लाओ के सैनिकों के साथ मिल कर युद्ध प्रारम्भ कर दिया और दूसरी ओर सोवियत विमानों द्वारा उन्हें सैनिक सामग्री तेजी से पहुँचाई जाने लगी। इस पर ३१ दिसम्बर, १९६० को सौमफोम की राजभक्त लाओ सरकार ने सोवियत संघ के हस्तक्षेप के विषय में संयुक्त राष्ट्र संघ को सूचित किया। संघ द्वारा जाँच-पड़ताल के लिये जो प्रेक्षक नियुक्त किये गये उन्होंने २०-जनवरी १९६१ को अपनी रिपोर्ट में बताया कि १९ दिसम्बर १९६० के बाद हनोई तथा लाओस में १८० सोवियत विशेषज्ञों की पहिचान की जा चुकी है। २१ जनवरी १९६१ को ब्रिटेन ने प्रस्ताव किया कि वह और सोवियत संघ भारत के प्रधान मंत्री श्री नेहरू के सहयोग से लाओस अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण पुनः बुलाने का प्रयत्न करें। यह उल्लेखनीय है कि लाओस में शांति स्थापित करने के लिये संघ की ओर से तीन सदस्यों का एक अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग (International Control Commission) स्थापित किया गया था जो अभी तक लाओस में स्थायी शांति-स्थापना के काम में लगा हुआ है। मई १९६१ में लाओस के युद्धरत पक्षों में युद्ध विराम ़मझौता हो गया। इसी महीने में लाओस की समस्या पर विचार करने के ़लये १४ राष्ट्रों का एक सम्मेलन जेनेवा में हुआ। जून १९६१ में अमेरिका ़ राष्ट्रपति केनेडी और रूसी प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने वियना में लाओस के ़स्थ रहने की पुष्टि की। १९६२ के प्रारम्भ में पाथेट लाओ ने युद्ध विराम ़ंग कर दिया। स्थिति बिगड़ती देख अमेरिकन राष्ट्रपति ने १२ मई ़६२ को ५,००० अमेरिकन सैनिक थाईलैंड भेज दिये ताकि साम्यवादियों ़ थाईलैंड को कोई खतरा न हो जाय। २१ जून १९६२ को लाओस में ़त सरकार की स्थापना हुई। २ जुलाई १९६२ को १४ राष्ट्रों का जेनेवा ़लन पुनः बुलाया गया और उसमें एक समझौता हुआ। फरवरी १९६३ ़न युद्धाग्नि पुनः भड़क उठी। ऐसा कहा जाता है कि इसमें साम्यवादी चीन और उत्तरी वियतनाम की सेनाओं ने भी भाग लिया। इस प्रकार पुनः युद्ध भड़क उठने पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग के भारतीय अध्यक्ष श्री अवतारसिंह शांति स्थापना हेतु लाओस पहुँचे और संयुक्त राष्ट्र संघ के महामंत्री ऊ थांट ने समस्या का समाधान करने के लिये पुनः १४ राष्ट्रों का सम्मेलन जेनेवा में आमंत्रित किया।

लाओस की समस्या विश्व शांति के लिये आज भी एक गम्भीर प्रश्नचिह्न के रूप में विद्यमान है। न तो १४ राष्ट्रों का जेनेवा सम्मेलन ही समस्या का सर्वमान्य एवं स्थायी हल ढूंढ पाया और न अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग ही शांति स्थापित करने की दिशा में पूर्णतः सफल रहा है। फिर भी संयुक्त राष्ट्र संघ की यह एक उल्लेखनीय सफलता ही कही जायेगी कि उसने लाओस की विस्फोटक स्थिति को लाओस तक ही सीमित ़खा है और युद्ध के दावानल को विश्व युद्धाग्नि में परिणित नहीं होने ़या है।

(२५) यमन की समस्या
(The Question of Yemen)

१९ सितम्बर १९६२ को यमन के सत्ताधारी शासक इमाम अहमद

उन्होंने क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्र अड्डों के निर्माण व निर्माणि को तुरन्त रोक देने का समर्थन किया।

१० अक्टूबर को महासचिव इसी सिलसिले में स्वयं क्यूबा गये और उन्होंने क्यूबा सरकार के महत्वपूर्ण सदस्यों से संयुक्त राष्ट्र संघीय पर्यवेक्षकों द्वारा निरीक्षण किये जाने के बारे में समाह मशविरा किया। महासचिव के प्रयत्नों के फलस्वरूप वातावरण में सुधार होने और तनाव कम होने में पूरी सहायता मिली और ३० अक्टूबर को ही श्री ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि वे क्यूबा से सभी प्रक्षेपणास्त्र और आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्र हटाने को सहमत हैं और द्वीप पर स्थित सभी आक्रामक अड्डों को संयुक्त राष्ट्र संघ की देखरेख में तोड़ दिया जायगा।

तत्पश्चात् संघ के पर्यवेक्षकों की देख-रेख में सोवियत आक्रमणात्मक शस्त्रास्त्रों को क्यूबा से हटाने का कार्य सन्तोषजनक गति से पूर्ण हो गया और संघ ने एक बार पुनः विश्व को युद्ध के कगार से वापिस लौटा लाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

(२७) साइप्रस की समस्या
(The Problem of Cyprus)

पृष्ठभूमि—एशिया, अफ्रीका और यूरोप की संस्कृतियों का संगमस्थल साइप्रस टापू पूर्वी भू-मध्य सागर में टर्की के समुद्रतट से ४० मील दक्षिण में है। सन् १८१४ से १९०७ तक यह टापू ब्रिटेन का उपनिवेश रहा। ब्रिटेन ने भारत की भांति यहां भी 'फूट डालो और शासन करो' की नीति से काम लिया। अतः टापू के निवासी यूनानी ईसाइयों और तुर्क मुसलमानों में साम्प्रदायिक दंगे उसी प्रकार होते रहे जैसे भारत में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच होते थे।

१६ अगस्त १९६० को साइप्रस ब्रिटिश प्रभुता से मुक्त हो कर स्वतन्त्र गणराज्य बना, किन्तु स्वतन्त्रता प्रदान करते समय इस टापू की सुरक्षा के लिए संविधान ब्रिटेन द्वारा ही बनाया गया। इसमें टापू के दोनों विरोधी दलों के बीच सामञ्जस्य और शान्ति बनाये रखने की व्यवस्था की गई। दोनों जातियों में मैत्री भाव व सौहार्द बनाये रखने के लिये तथा एक जाति द्वारा दूसरी जाति के राजनीतिक एवं मानवीय अधिकारों के अपहरण को रोकने के लिये संविधान में कुछ विस्तृत व्यवस्थायें एवं गारण्टियां की गई। ये व्यवस्थायें एवं गारण्टियां १९५९ में दोनों पक्षों के लन्दन तथा ज्यूरिख में हुए समझौतों के आधार पर हुई। इन्हें संविधान की मौलिक धारायें (Basic Articles) माना गया अर्थात् इनमें किसी भी प्रकार का संशोधन या परिवर्तन करना असंवैधानिक व वर्जित ठहराया गया। इन मौलिक धाराओं में कुछ प्रमुखतम व्यवस्थायें इस प्रकार की गईं।

(i) अपरिवर्तनीय धाराओं को छोड़ कर संविधान की अन्य धाराओं में संशोधन प्रतिनिधि-सदन (House of Representative) में विद्यमान दोनों जातियों (यूनानी-ईसाइयों व तुर्क-मुसलमानों) के सदस्यों में से प्रत्येक जाति के सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से ही सम्भव बनाया गया। निर्वाचन

कानूनों कर लगान व नगरपालिका सम्बन्धी मामलों के बारे में भी यही स्थिति रखी गई। इस व्यवस्था का स्वाभाविक अभिप्राय एवं परिणाम यह निकला कि प्रतिनिधि-सदन के ५० वोटों में से तुर्कों के केवल ८ वोट ही किसी कानून को पारित होने से रोक सकते थे। (चूंकि साइप्रस में लगभग ८० प्रतिशत यूनानी और १८ प्रतिशत तुर्क रहते हैं)।

(ii) सेना में यूनानियों एवं तुर्कों की संख्या क्रमशः ६०% ४०% होना आवश्यक माना गया।

(iii) प्रतिनिधि-सदन और सरकारी नौकरियों में उपरोक्त अनुपात ७०% व ३०% का रखा गया।

(iv) किसी भी अन्य देश के साथ साइप्रस के सम्मेलन को अथवा इसके विभाजन को वर्जित ठहराया गया आदि।

साइप्रस की स्वतन्त्रता के बाद कुछ समय तो संविधान के अनुकूल व्यवस्थाओं को चलने दिया किन्तु बाद में राष्ट्रपति मकारियोस ने संविधान के संशोधन के कुछ ऐसे प्रस्ताव रखे जिनसे दोनों जातियों के मध्य स्थापित किया गया सन्तुलन व सामंजस्य समाप्त हो जाता। उदाहरण के लिये उसने सेनाओं तथा सार्वजनिक सेवाओं में यूनानियों और तुर्कों के पहले वाले अनुपात को बदल कर ८० और २० प्रतिशत के अनुपात का प्रस्ताव किया। राष्ट्रपति मकारियोस का विचार था कि राज्य के सामान्य कार्य के कुशल संचालन हेतु यह परिवर्तन आवश्यक है। लेकिन तुर्क नेता राष्ट्रपति द्वारा प्रस्तावित संशोधनों के उग्र विरोधी थे। उनका कहना था कि यूनानी लोग संविधान में दिये गये पवित्र वचनों और आश्वासनों को तोड़ रहे हैं तथा तुर्कों के प्रति भेदकारी नीति बरतने लगे हैं। मकारियोस द्वारा पेश किए गए १३ संशोधनों में से एक संशोधन साइप्रस के तुर्क-मुसलमानों ने स्वीकार नहीं किया। परिणामस्वरूप दोनों जातियों में वैमनस्य और विद्वेष की भावनायें प्रबल हो गईं और साम्प्रदायिक राजनीतिक संघर्ष तथा गृह युद्ध की शुरुआत हो गई।

विवाद का सुरक्षा परिषद में प्रवेश—जब साइप्रस में संघर्ष का सूत्रपात हो गया और गृहयुद्ध तेजी से भड़क उठा तो अंग्रेजों को प्रशासन अपने हाथ में लेने व पुलिस की भूमिका निभाने का अवसर मिल गया जिसकी ताक में वे लगे थे। ब्रिटिश सरकार को यह मौका मिला कि वह साइप्रस में शान्ति स्थापना के बहाने अपने खोये प्रभाव को कायम करने की कोशिश करे। ब्रिटेन चाहता था कि अपनी फौजों को साइप्रस में कायम करके अप्रत्यक्ष रूप से साइप्रस के आन्तरिक प्रशासन को अपने हाथों में ले ले तथा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में उसे अपना पिछलग्गू बना ले। इसीलिये जब इंग्लैण्ड में यूनान टर्की व साइप्रस के मध्य शान्ति सम्मेलन शुरू हुआ तो ब्रिटेन के श्री डंकन सैण्डस साइप्रसवासियों को दिए गए अपने आश्वासनों के विरुद्ध साइप्रस में नाटो सेनायें भेजने का सुझाव रखने लगे। किन्तु राष्ट्रपति मकारियोस इसके दुष्परिणामों को समझते थे अतः उन्होंने शांति-स्थापना की आड़ में नाटो सेनाओं को स्थापित किये जाने का विरोध किया। साथ ही यह भी कहा कि वे समस्या को सुरक्षा परिषद में ले जायेंगे। इस पर

ब्रिटेन के इशारे से टर्की ने यह धमकी दी कि यदि राष्ट्रपति मकारियोस मामला को सुरक्षा परिषद में उठायेंगे तो वह साइप्रस पर आक्रमण कर देगा।

राष्ट्रपति मकारियोस आक्रमण की इस धमकी के कारण अपने निश्चय से विरत नहीं हुए। उन्होंने २७ दिसम्बर १९६३ को सारा मामला सुरक्षा परिषद के सम्मुख पेश कर दिया तथा संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रेक्षक भेजने व स्थिति को सम्भालने के लिए संघ के हस्तक्षेप करने की अपील की। साइप्रस की अपील पर सुरक्षा परिषद की बैठक अवश्य हुई लेकिन प्रारम्भिक विचार विनिमय के उपरान्त वह स्थगित हो गई ताकि सम्बन्धित सरकारों से समस्या के विभिन्न पहलुओं पर परामर्श किया जा सके। साइप्रस के अल्पसंख्यक तुर्क मुसलमानों के नेता ने भी सुरक्षा परिषद के सम्मुख तुर्कों का मामला प्रस्तुत करने की इजाजत चाही।

ब्रिटेन व साइप्रस के अनुरोध पर जब १८ फरवरी १९६४ को सुरक्षा परिषद ने पुनः विचार आरम्भ किया उस बीच महासचिव ऊ-थाट के सैनिक पर्यवेक्षक की हैसियत से संयुक्त राष्ट्र संघ के विशेष प्रेक्षक ले० जनरल प्रेमसिंह स्थिति का अध्ययन व प्रत्यक्ष अवलोकन करने के लिए निकोसिया पहुंच गये। स्थिति के बारे में अपनी रिपोर्ट पेश करने के बाद भी महासचिव के अनुरोध पर, वे कुछ समय तक वहीं बने रहे।

साइप्रस के सभी पक्षों के विचार सुनने के उपरान्त सुरक्षा परिषद ने ४ मार्च १९६४ को बोलीविया, ब्राजील, आइवरी कोस्ट, मोरक्को और नार्वे द्वारा प्रस्तुत पंचराष्ट्रीय प्रस्ताव को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव द्वारा साइप्रस में शान्ति कायम रखने के लिए एक संयुक्त राष्ट्र संघीय शांति सेना भेजने का निर्णय किया गया। परिषद ने जो प्रस्ताव पारित किया उसकी प्रमुख बातें निम्नलिखित थीं—

(i) सदस्य राष्ट्र कोई ऐसा कार्य न करें या कोई ऐसा कदम न उठावें जिससे साइप्रस की स्थिति में अधिक बिगाड़ पैदा होकर विश्व-शान्ति के लिए खतरा बढ़े।

(ii) साइप्रस सरकार देश में हिंसा तथा रक्तपात को रोकने और शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने के लिए तुरन्त आवश्यक प्रभावशाली कार्यवाही करे।

(iii) साइप्रस के सभी साम्प्रदायिक वर्गों के नेता अत्यधिक सहनशीलता व धैर्य से काम लें।

(iv) एक संयुक्त राष्ट्र संघीय शांति सेना का गठन किया जाय। यह सेना साइप्रस में शांति एवं व्यवस्था स्थापित करने में साइप्रस सरकार की सहायता करे। इस शांति सेना का गठन व स्वरूप आदि निर्धारण का उत्तरदायित्व महासचिव वहन करें। साइप्रस सरकार, ग्रीस, टर्की और इंगलैण्ड से परामर्श करते हुए समस्या से सम्बन्धित आवश्यक कार्यवाही महासचिव करें। संयुक्त राष्ट्र संघीय शान्ति सेना के लिए जिन राष्ट्रों द्वारा सैनिक दिये जाय उन्हें महासचिव द्वारा स्थिति से पूर्ण अवगत रखा जाय।

ति सेना के कार्यों के बारे में भी महासचिव समय-समय पर सुरक्षा परिषद रिपोर्ट देते रहें। यह शांति सेना साइप्रस में तीन माह तक रहे।

(४) साइप्रस टर्की और यूनान की सरकारों की सहमति से सचिव द्वारा एक मध्यस्थ की नियुक्ति की जाय। यह मध्यस्थ साइप्रस के सम्प्रदायों से और उपरोक्त सरकारों से विचार विमर्श कर संघ के चार्टर में निहित सिद्धान्तों के अनुरूप समस्या का शान्ति पूर्ण हल खोजने का प्रयास करे। मध्यस्थ अपने प्रयासों के बारे में महासचिव को समय-समय पर सूचित भी करता रहे।

सुरक्षा परिषद द्वारा स्वीकृत प्रस्ताव पर अविलम्ब अमल करते हुए महासचिव श्री ऊ-थान्ट ने कनाडा, आयरलैंड, फिनलैण्ड, आस्ट्रिया और स्वीडन से संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना के लिये सैनिक दस्ते देने का अनुरोध किया। इस अन्तर्राष्ट्रीय सेना के प्रथम सेनापति ले० जनरल ग्यानी थे। बाद में भी इसका नेतृत्व भारत के ही एक अन्य सेनापति जनरल थिमैया अपनी मृत्यु-पर्यन्त दिसम्बर १९६५ के मध्य तक करते रहे।

संयुक्त राष्ट्र संघ की इस शांति-सेना ने साइप्रस में कानून व व्यवस्था बनाये रखने में उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की है। साइप्रस में इसके कार्यकाल की अवधि अनेक बार बढ़ाई जा चुकी है। संघ के महासचिव ने महासभा के बीसवें अधिवेशन में सितम्बर १९६५ में यह सिफारिश की थी कि इसका कार्यकाल २६ दिसम्बर १९६५ के बाद भी बढ़ाया जाना चाहिये। आज भी यह सेना साइप्रस के कलह-ग्रस्त इलाके में तैनात है।

(२८) डोमिनिकन गणराज्य का विवाद
(The Question of Dominican Republic)

डोमिनिकन गणराज्य वेस्टइन्डीज के हैटी टापू के एक भाग में स्थित है। लैटिन अमेरिका के इस छोटे से देश में २५ अप्रैल १९६५ को गृहयुद्ध छिड़ गया। विद्रोहियों द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा समर्थित सरकार को उखाड़ फेंकने के लिये भीषण युद्ध किया गया। संयुक्त राज्य अमेरिका को यह आशंका हुई कि यह विद्रोह साम्यवादियों के समर्थन से हुआ है और यहाँ क्यूबा की भाँति ही साम्यवादी शासन स्थापित होने का डर है। अतः उसने अमेरिकन व अन्य विदेशी नागरिकों के जानमाल की रक्षा तथा अमेरिकन दूतावास की सुरक्षा के बहाने २८ अप्रैल को अमेरिकन नौ सैनिक उतार दिये। २ मई को राष्ट्रपति जॉन्सन ने घोषणा की "साम्यवादी षड्यंत्रकारियों से रक्षा करने के लिये भेजे गये अमेरिकन सैनिकों की संख्या १४००० तक पहुँच गई है।" परन्तु इसी समय डोमिनिकन गणराज्य के भूतपूर्व निर्वाचित राष्ट्रपति बाश (Bosch) ने १ मई को स्पष्ट शब्दों में यह घोषित किया कि विद्रोहियों का साम्यवादियों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है और यदि अमेरिकन फौजें गणराज्य में न उतारी जाती तो वहाँ की लोकतन्त्रीय क्रांति अवश्य सफल हो जाती।

संयुक्त राज्य अमेरिका की इस सैनिक कार्यवाही की सर्वत्र निन्दा की गई। इस पर अमेरिका ने यह कार्यवाही अमेरिकन राज्यों के संगठन

(Organisation of American States) और सुरक्षा परिषद के माध्यम से की। सोवियत रूस ने अमरिका की कार्यवाही का विरोध करते हुए १ मई को परिषद से अनुरोध किया कि डोमिनिकन गणराज्य में अमेरिकन आक्रमण को बन्द कराने की दृष्टि से हस्तक्षेप करे। अमेरिका के प्रतिनिधि स्टीवेन्सन ने कहा कि गणराज्य में जो विद्रोह और गृहयुद्ध की स्थिति है उसके मूल में साम्यवादियों की करामात है और अमरिका ने गणराज्य में स्थित अपने नागरिकों की रक्षा के लिए सेना भेजी है। किन्तु सोवियत संघ ने अमरिका का प्रतिवाद करते हुए कहा कि अमेरिकन नागरिकों की रक्षा का प्रश्न एक निरा बहाना है अन्यथा वास्तविकता यही है कि वह गणराज्य में आक्रमण का नग्न नृत्य कर रहा है। रूस के अलावा फ्रांस ने भी डोमिनिकन गणराज्य के प्रति अमरिकन नीति की कटु आलोचना की। अन्त में पर्याप्त वाद विवाद तथा आरोपों प्रत्यारोपों को सुनने के बाद १४ मई १९६५ को सुरक्षा परिषद ने समस्या के विषय में सर्व-सम्मति से निम्नलिखित प्रस्ताव पास किया—

(i) सैन्टो-डोमिंगो (गणराज्य की राजधानी) में युद्ध करने वाले दोनों पक्षों से युद्ध-विराम का कड़ाई से पालन कराया जाय।

(ii) संघ के महासचिव द्वारा इस गणराज्य की स्थिति के बारे में रिपोर्ट देने के लिये एक व्यक्ति अपने प्रतिनिधि की हैसियत से डोमिनिकन गणराज्य में भेजा जाय।

(iii) इस विवाद में संलग्न सभी पक्ष शांति-स्थापना के कार्य में महासचिव को सहयोग प्रदान करें।

एक तरफ तो संयुक्त राष्ट्र संघ डोमिनिकन गणराज्य की समस्या के समाधान हेतु सक्रिय हुआ और दूसरी तरफ अमरिकन राज्यों के संगठन (O A S) ने भी इस दिशा में कुछ ठोस कदम उठाये। २३ मई को संयुक्त राज्य अमरिका और लैटिन अमेरिका के ४ राज्यों ने मिल कर एक अन्तर-अमेरिकन शांति सेना का गठन किया तथा अमेरिकन राज्यों के संगठन ने इस सेना को यह अधिकार दिया कि वह डोमिनिकन गणराज्य में शांति-स्थापना का कार्य करे।

अन्तर अमरिकन शांति सेना उपरोक्त निश्चय के अनुसार गणराज्य पहुंची और वहां की राजनीति में हस्तक्षेप करने लगी। सोवियत संघ ने पुनः इसका विरोध किया। और सुरक्षा परिषद से यह मांग रखी कि तथा कथित शांति सेना को गणराज्य से तुरन्त हटा कर उसके स्थान पर एक राष्ट्र संघीय सेना कायम की जाय। किन्तु सुरक्षा परिषद को यह रूसी प्रस्ताव मान्य नहीं हुआ। अन्ततः अमेरिकन राज्यों के संगठन और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से ४ महीने तक गृहयुद्ध चलने के बाद गणराज्य में ३१ अगस्त १९६५ को दोनों पक्षों में एक समझौता (Act of Dominican Reconciliation) हो गया और वहां शांति स्थापित हो गई। संघ के महासचिव ने महासभा के २०वें अधिवेशन में प्रस्तुत की गई रिपोर्ट में इन शब्दों में कहा कि डोमिनिकन गणराज्य में युद्ध बंद कराने के कार्य में संघ ने बड़ा महत्त्वपूर्ण भाग लिया था।

(२१) अरब-इजरायल संघर्ष
(The Arab-Israil War)

पश्चिमी एशिया में अरब—इजरायल सम्बन्धों के इतिहास में १६ साल के छोटे से अरसे के भीतर जब तीसरी बार अपने को दोहराया जब ५ जून १९६७ को अचानक ही संयुक्त अरब गणराज्य की राजधानी काहिरा में लगभग साढ़े ११ बजे खतरे के भोंपू बज उठे और कुछ ही मिनटों के भीतर इजरायली बमबार विमान काहिरा पर मंडराने लगे। इसके पहले दो बार १९४८ और १९५६ में अरब देशों व इजरायल के बीच सशस्त्र संघर्ष हो चुके थे जिनमें विजय श्री इजरायल ही के हाथ लगी थी। १९४८, १९५६ और १९६७ के तीनों युद्ध हर पहले युद्ध की अपेक्षा अधिक आधुनिक और अधिक संहारक हुए और संयोगवश या परिस्थितिवश तीनों ही बार संयुक्त राष्ट्र संघ के बीच में पड़ने पर ही युद्ध-विराम की स्थिति आ सकी। पहले दो बार युद्ध विराम की स्थिति मित्र न थी भर रही और अरब इजरायल संबंध सुधरने के बजाय बिगड़ते गये। इस तीसरे युद्ध-विराम (जिसे संयुक्त अरब गणराज्य ने ८ जून को व इजरायल तथा सीरिया ने ९ जून को स्वीकार किया) के बाद इन सम्बन्धों की स्थिति में कोई परिवर्तन आयेगा ऐसा प्रत्यक्ष तो दिखायी नहीं पड़ता फिर भी खुशी का हो मौका है कि पश्चिमी एशिया का यह युद्ध केवल छः दिन में ही समाप्त हो गया। इस युद्ध के पहले दिन के दाव-प्रतिदावों से ही मालूम हो गया था कि पलड़ा किसका भारी रहने वाला है। इस युद्ध में इजरायल ने निश्चित रूप से बहुत बड़ी विजय हासिल की। वह न केवल सिनाई को जीतकर स्वेज के पूर्वी तट के निकट तक आ धमका बल्कि उसने अकाबा की खाड़ी पर भी अपना नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

१९५६ के अरब-इजरायल संघर्ष में युद्ध विराम होने पर संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्तर्राष्ट्रीय शांति सेना गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पर तैनात हो गयी थी ताकि इजरायल और अरब में पुनः किसी संघर्ष का सूत्रपात न हो जाय। दोनों पक्षों के पारस्परिक सम्बन्धों का विस्तृत वर्णन पश्चिमी एशिया की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का वर्णन करते समय की गई है यहाँ हमारा आशय केवल वर्तमान संघर्ष और उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका से है। इजरायल और अरब राष्ट्रों के बीच बढ़ती हुई तनातनी तब विशेष रूप से विस्फोटक हो गई जब १८ मई १९६७ को संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने संयुक्त राष्ट्र महासचिव ऊ-थांट से गाजा और मिस्र की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा से सभी संघीय सैनिक हटा लेने की माँग की। चूँकि यह मिस्र की प्रभुसत्ता का मामला था अतः संभावित खतरे को समझते हुए भी १९ मई को महासचिव मिस्र की सीमा से अन्तर्राष्ट्रीय सेना हटाने को सहमत हो गये और इस निश्चय के अनुरूप सेना के हटाने की कार्यवाही भी शुरू कर दी गयी। संयुक्त राष्ट्र संघीय सेना के हट जाने का स्वाभाविक परिणाम यह हुआ कि अब संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल की सीमा के बीच संघर्ष की कोई रोक नहीं रह गयी और दोनों राष्ट्रों की सेनायें आमने-सामने हो गयीं। संघर्ष को टालने के लिए महासचिव के प्रयास

जारी रहे, किन्तु स्थिति तब अत्यधिक विषम हो गयी जब २१ मई को राष्ट्रपति नासिर ने इजरायली जहाजों के अकाबा की खाड़ी में प्रवेश की मनाही कर दी। अकाबा की खाड़ी इजरायल के लिए रक्तवाहिनी नाड़ी के समान थी जिसके कट जाने पर इजरायल की स्थिति परकटे पक्षी जैसी हो जाती। अतः इजरायल ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि भीषणतम युद्ध का खतरा मोल लेकर भी अकाबा की खाड़ी को अपने लिए खुली रखेगा। दूसरी ओर राष्ट्रपति नासिर ने कहा कि यह खाड़ी संयुक्त अरब गणराज्य की प्रभुसत्ता के क्षेत्र के अन्तर्गत है जिसका उपयोग वे भविष्य में इजरायल को कभी नहीं करने देंगे।

अकाबा की नाकेबन्दी से अनिवार्य संघर्ष का खतरा सिर पर मंडराने लगा। २३ मई को ही संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ऊ-थाण्ट बातचीत के लिए काहिरा गये और २४ मई को पश्चिमी एशिया की इस विस्फोटक स्थिति पर विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक हुई। प्रारम्भिक विचार विमर्श के बाद परिषद ने २५ मई को पश्चिमी एशिया की स्थिति पर विचार स्थगित कर दिया ताकि सम्बन्धित पक्ष संकट के बारे में सोच विचार कर सकें। २६ मई को अमेरिकन सरकार द्वारा संयुक्त अरब गणराज्य और इजरायल में रहने वाले अमेरिकनों को तुरन्त स्वदेश लौटने का आदेश दिया गया।

५ जून १९६७ को अरब देशों व इजरायल के बीच घमासान लड़ाई शुरू हो गयी। सुरक्षा परिषद में भारत द्वारा अविलम्ब युद्ध विराम की मांग की गयी। इसी दिन गाजापट्टी के पास इजरायल द्वारा बम फेंकने से ५ भारतीय सैनिकों की मृत्यु हो गयी। ६ जून को राष्ट्रपति नासिर द्वारा स्वेज नहर बन्द करने का ऐलान किया गया। इसी दिन संयुक्त अरब गणराज्य, सीरिया, अल्जीरिया और यमन ने अमेरिका पर इजरायल की सहायता व समर्थन देने का आरोप लगाते हुए उससे कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये। ७ जून को इजरायल ने आगे बढ़ते हुए अकाबा की खाड़ी पर स्थित शर्म उश्शेख पर कब्जा कर लिया। इस तरह अकाबा की खाड़ी पर उसका नियन्त्रण हो गया। यद्यपि युद्ध आरम्भ होते ही अमेरिका और ब्रिटेन ने युद्ध में तटस्थ रहने की घोषणा कर दी थी किन्तु फिर भी अमेरिका का छठा बेड़ा और कुछ ब्रिटिश जहाज पूर्वी भू-मध्य सागर में आ गये। दूसरी ओर सोवियत संघ के रूसी जहाज भी दर्रा-दानियाल्स पार कर पूर्वी भू-मध्य सागर में पहुंच गये। इस तरह पश्चिमी एशिया की स्थिति से तीसरे महायुद्ध का खतरा मंडराने लगा। फिर भी विश्व के लिए यह सौभाग्य की बात हुई कि कोई भी पक्ष (अमेरिका या रूस) युद्ध लिप्त नहीं हुआ।

इजरायली फौजें लहर लहराती हुई बैतलहेम और जरिका में पहुंच गयी। सिनाई प्रायद्वीप में अरब सेनाओं ने पीछे हट कर दूसरा मोर्चा सम्भाला। उधर सोवियत संघ ने इजरायल को चेतावनी दी कि यदि उसने युद्ध बन्द नहीं किया तो उसके साथ राजनीतिक सम्बन्ध तोड़ दिये जायेंगे। जोर्डन युद्ध विराम के लिये तैयार हो गया किन्तु अरब लीग की सुरक्षा परिषद युद्ध-विराम का विरोध करती रही। ८ जून तक इजरायली सेनाएं

सिनाई प्रायद्वीप को पार करती हुयी स्वेज नहर के पूर्वी किनारे पर जा पहुँची। जब यह स्पष्ट हो गया कि इजरायली सेना स्वेज बन्दरगाह पर अधिकार कर सकती है, काहिरा और सिकन्दरिया को बमबारी से धराशायी कर सकती है तो संयुक्त अरब गणराज्य ने युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया। ९ जून को इजरायल और सीरिया में भी युद्ध-विराम हो गया।

युद्ध प्रारम्भ होने के समय पश्चिमी एशिया के मामले में सुरक्षा परिषद में दो प्रस्ताव थे—एक अमेरिका का और दूसरा अरब गणराज्य का। अमरिकन प्रस्ताव में कहा गया था कि पश्चिमी एशिया में तनातनी नहीं बढ़ने देनी चाहिये और राजनयिक उपायों द्वारा किसी समाधान तक पहुँचने की कोशिश करनी चाहिये। संयुक्त अरब गणराज्य के प्रस्ताव में एकर का अपराध इजरायल पर मढ़ा गया था और संयुक्त अरब गणराज्य तथा इजरायल के संयुक्त युद्ध-विराम आयोग की पुनः नियुक्ति पर जोर दिया गया था। विश्वास किया जाता था कि यदि अमेरिका अपने पक्ष में पर्याप्त मत एकत्र कर सका तो सोवियत संघ उसके प्रस्ताव पर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करेगा। अतः प्रस्ताव पर मतगणना का कार्य टाल दिया गया। इजरायली प्रतिनिधि ने परिषद में भाषण देते हुए कहा "अकाबा की खाड़ी पर अपने अधिकार के बारे में वह दृढ़ है और उसमें जहाजों के प्रवाह रूप में बेरोक-टोक यात्रा करने की स्थिति के अलावा कोई भी दूसरी स्थिति इजरायल को मान्य नहीं है।" इजरायली प्रतिनिधि ने अरब देशों प आक्रमण करते कहा कि "वे दुनिया की आँखों के सामने एक ऐसा पर्दा डा देना चाहते हैं जिसके पीछे उनकी आक्रामक प्रवृत्तियाँ छिप जायें वे अप आक्रामक कार्यवाहियों के शिकार देश को आक्रमणकारी करार देना चाह हैं और तमाम अन्तर्राष्ट्रीय समुदाय को सम्मोहित करके भयाक्रांत कर दे चाहते हैं ताकि उनकी आक्रमण की तैयारियों में कोई भी देश किसी तर का हस्तक्षेप न कर सके।" इजरायली प्रतिनिधि के जवाब में अरब देशों प्रतिनिधियों ने अपने पक्ष की पुष्टि की। सीरियाई प्रतिनिधि ने सारा दो इजरायल के माथे मढ़ते हुए कहा—'एक नये स्वेज संकट का खतरा मंडर रहा है। इजरायल दुनिया को एक बार फिर विनाश के बिन्दु तक पहु देने वाला है और वह भी सिर्फ इसलिए कि उसे विश्वास है कि उसके सहाय और संरक्षक सदैव उसकी सहायता को तत्पर रहेंगे।" सोवियत प्रतिनि फेदोरेंको ने 'साम्राज्यवादी शक्तियों' को पश्चिमी एशियायी संकट जिम्मेदार ठहराते हुए अरब राष्ट्रों को हर तरह की सहायता देने आश्वासन दिया।

सुरक्षा परिषद में आरोप प्रत्यारोप होते रहे और उधर इजराय फौजें स्वेज नहर के पूर्वी तट तक पहुँच गयीं और तब सुरक्षा परिषद अपील पर, अपनी विवशता समझते हुए, संयुक्त अरब गणराज्य ने य विराम स्वीकार कर लिया (८ जून)। किन्तु युद्ध-विराम के बाद भी क्षेत्र में झड़पें होती रहीं जिससे युद्ध पुनः भड़क उठने का खतरा पैदा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दोनों पक्षों से युद्ध-विराम का यथोचित रूप पालन करने की अपील की। १० जुलाई को स्वेज के किनारे संयुक्त र

सीमीप प्रेक्षक रखने पर संयुक्त अरब गणराज्य सहमत हो गया। १९ जुलाई से स्वेज नहर क्षेत्र में संघ के पर्यवेक्षकों की देख रेख में युद्ध-विराम लागू हो गया।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों के फलस्वरूप अरबियों और इजरायलियों में युद्ध समाप्त हो चुका है किन्तु स्थायी शांति अभी कोसों दूर है। इजरायल न केवल अकाबा की खाड़ी में अपने निर्बाध आवागमन की गारन्टी चाहता है बल्कि स्वेज नहर को भी अपने लिए खुला देखना चाहता है। जीते हुए प्रदेशों का खाली करने की उसकी इच्छा नहीं है क्योंकि वह सामरिक महत्व के ऐसे ठिकानों को अपने हाथ से नहीं जाने देना चाहता कि जिससे भविष्य में इजरायल को अरब से विशेष खतरा रहे। दूसरी ओर अरब राज्य इजरायल की कोई मांग स्वीकार करने को उत्सुक नहीं है। संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर इस बात पर दृढ़ है कि इजरायल को विजय का कोई लाभ नहीं दिया जायगा। ऐसी सूरत में समस्या का कोई न कोई स्थायी समाधान ढूंढ निकालना ही काफी नहीं है दोनों पक्षों पर इसे अनिवार्य रूप से लागू भी किया जाना चाहिए। कुछ पक्षों की राय है कि अकाबा की खाड़ी में इजरायल के जहाजरानी के अधिकार और स्वेज के प्रश्न को तुरन्त ही विश्व न्यायालय में ले जाना चाहिये।

ब्रिटिश पत्र 'गार्जियन' ने अपने सम्पादकीय लेख में सुझाव दिया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को पश्चिमी एशिया में शांति प्रयत्नों की शुरुआत ठीक उसी ढंग से शुरू करनी चाहिये जिस ढंग से उन्होंने भारत-पाकिस्तान संघर्ष के दिनों में वहां शांति करायी थी। पत्र का कहना है—

"शांति प्रयत्नों का पहला और प्रधान सचिव ऊ थां की दोनों पक्षों के देशों की राजधानियों की यात्रा से शुरू होना चाहिये ठीक उसी तरह जिस तरह ऊ थां ने भारत-पाकिस्तान का संघर्ष समाप्त करने के लिये १९६५ में नयी दिल्ली और रावलपिंडी जाकर बातचीत की थी। ऊ थां को सम्भवतः पहले इजरायल जाना होगा क्योंकि विजयी देश होने के नाते और दूसरे पक्ष का कुछ भाग अपने अधिकार में ले लेने के कारण शांति की शर्तें अब वही बता सकता है। उसके साथ बातचीत करने के बाद ही शांति-प्रयत्न आगे बढ़ सकेंगे। इसका यह मतलब नहीं है कि इजरायल की सारी शर्तें मान ली जायेंगी लेकिन इजरायल जो कुछ चाहता है उसी के आधार पर सेनायें हटाने के लिये इजरायल पर अन्तर्राष्ट्रीय दबाव डाला जा सकता है। इजरायल जो कुछ चाहता है वह भी ज्यों का त्यों मान लेने की आशा नहीं की जा सकती पर इजरायल की शर्तें जितनी उदार होंगी उतनी ही समस्या के स्थायी समाधान की आशा बढ़ेगी।

सवाल यह है कि क्या नयी संयुक्त राष्ट्र आपात्कालीन सेना से कुछ मदद मिलेगी? इजरायल अपने पड़ोसी देशों से शांति सन्धि कर [illegible] ऐसी हालत में संयुक्त राष्ट्र आपात्कालीन सेना का कार्य [illegible]
देना

मतलब नहीं रह जाता। लेकिन फिर भी जैसा कि ब्रिटिश सरकार और प्रतिपक्ष दल के नेताओं ने अपने भाषणों में कहा है—संयुक्त राष्ट्र आपात् कालीन सेना सीमा के दोनों ओर तैनात होनी चाहिये जिससे कि किसी एक पक्ष के कहने अथवा माँग करने पर उसे हटाया न जा सके। संयुक्त राष्ट्र आपात्कालीन सेना रखने का सबसे बड़ा लाभ तो यह होगा कि शर्म उशेख पर अभी तारों का नियन्त्रण मिस्रियों के हाथ में नहीं रहेगा। शांति वार्ता में सम्भवतः एक बात तो यह तय हो ही जावेगी कि अकाबा की खाड़ी अन्तर्राष्ट्रीय जलमार्ग है।

शांति प्रयत्नों का पहला सिद्धान्त यह होना चाहिये कि जो भी समाधान हो, वह अपनी प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए मिस्र को स्वीकार्य होना चाहिये। वैसे इजरायल में खुशी की लहर दौड़ जाना स्वाभाविक ही है क्योंकि वहाँ अब यह धारणा जोर पकड़ने लगी है कि नासिर को गिराने का अब अच्छा अवसर आ गया है। इजरायल में अधिकतर लोग नासिर को अपने लिये बहुत जबर्दस्त खतरा मानते रहे हैं लेकिन फिर भी मिस्र और इजरायल की सीमा पर पिछले १० वर्षों से बराबर शांति रही और सीरिया से लगने वाली सीमा पर भी संयुक्त राष्ट्र आपात्कालीन सेना के बिना भी उन दो वर्षों तक पूर्ण शांति थी जब तक नासिर सीरिया और मिस्र दोनों के ही राष्ट्रपति थे। लेकिन इजरायल ने यह बात कभी छिपायी नहीं कि वह संयुक्त अरब गणराज्य को भंग होते देखना चाहता है और जब यह भंग हुआ तब इजरायल की खुशी का कोई ठिकाना भी नहीं रहा। इसके बाद से वे सीमाएँ कभी शांत नहीं रहीं और दोनों ही तरफ से कुछ न कुछ होता रहा। वर्तमान प्रत्यक्ष युद्ध उसी का परिणाम था।

गनीमत है कि इजरायल में सरकार की बागडोर अभी भी एश्कोल के हाथ में है। उनके बयान काफी उदार रहे हैं। यह बात सभी मानते हैं। अकाबा की खाड़ी में जहाजरानी के अधिकार की इजरायल की माँग न्यायोचित है लेकिन कुछ समय के लिये सामरिक महत्व की सुविधाएँ हासिल करने के लिये इजरायल या पश्चिमी एशिया का कोई देश अपनी वर्तमान उदारता को बैठता है तो यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी। सभी पक्षों को दूरदर्शिता से काम लेकर स्थायी राजनीतिक समाधान की बात सोचनी चाहिये।

अरब-इजरायल समस्या के समाधान के लिये यह नहीं भुलाया जाना चाहिये कि संयुक्त अरब गणराज्य का नेतृत्व नासिर के हाथों में ही रहना चाहिये क्योंकि उनमें यह क्षमता है कि वे अपनी लोकप्रियता तथा राजनीतिक सूझ-बूझ के आधार पर इजरायल के बारे में अरबियों का दिमाग पलट दें।*

---

* यद्यपि इजरायल द्वारा स्वेज नहर से जहाजरानी आने-ले-जाने सम्बन्धी विवाद बदस्तूर कायम है तथापि इस सम्बन्ध में संयुक्त अरब गणराज्य के निश्चय में कुछ ढील अवश्य आयी है। इस बात का संकेत नवभारत टाइम्स (२५ सितम्बर १९६७) में प्रकाशित निम्नलिखित समाचार से मिलता है—

जिस प्रकार फ्रांस में जनरल डिगॉल ही अल्जीरिया की स्वाधीनता के प्रश्न पर अपने देशवासियों की धारणा में परिवर्तन ला सके उसी प्रकार अरब जगत में नासिर ही अरब लोगों से इजरायल का अस्तित्व स्वीकार करा सकते हैं। बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि इजरायल के शांति प्रयत्नों की दिशा क्या रहती है? समझदारी की बात तो यही होगी कि इजरायली नेता विजय के नाते सिर्फ इतना ही चाहें कि इजरायल की सुरक्षा की गारण्टी हो और उसके अस्तित्व को स्वीकार किया जाय। शांति प्रयत्नों का सर्वोत्तम तरीका यही हो सकता है कि अरब व इजरायल आपस में बातचीत करके ही कोई रास्ता निकालें।

(१०) संघ में चीन के प्रवेश की समस्या
(The Question of Entrance of Communist China)

चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो जाने के बाद पैकिंग पर से राष्ट्रवादी सरकार का अधिकार हट गया तथा च्यांग काई शेक की सरकार को फारमोसा टापू पर अपनी जान बचाने के लिए जाना पड़ा। अनेक देशों ने साम्यवादी चीन को तुरन्त या कुछ बाद में मान्यता दे दी किन्तु दूसरे कुछ राष्ट्र जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका भी शामिल है चीन की इस नवीन सरकार को

पता चला है कि संयुक्त अरब गणराज्य ने राष्ट्र संघ महासचिव ऊ थान्ट को लिखा है कि वह स्वेज नहर को इजरायल के विरुद्ध व्यापारी जहाजों के लिए खोलने को तैयार है लेकिन शर्त है कि इजरायल फिलस्तीनी शरणार्थियों का मामला राष्ट्र संघ के प्रस्ताव के अनुसार हल करना स्वीकार कर ले।

संयुक्त अरब गणराज्य ने इजरायल के शत्रुतापूर्ण रवैये के खत्म समाप्त हो जाने का आश्वासन भी दिया है। लेकिन यहूदी राष्ट्र को मान्यता अथवा उससे स्थायी समझौते पर बातचीत का विरोध दोहराया है।

राष्ट्र संघ ने ११ वर्ष पूर्व प्रस्ताव में मिस्र को कहा था कि वह इजरायल के जहाजों को स्वेज नहर से गुजरने दे लेकिन मिस्र ने इसे मानने को इन्कार कर दिया था और तर्क दिया था कि उसकी इजरायल से लड़ाई है।

युद्ध के समय के बाद भी मिस्री नेता विदेशी प्रतिनिधियों को बताते रहे हैं कि जब तक विश्व अदालत तिरान की खाड़ी पर मिस्र की प्रभुसत्ता के बारे में फैसला नहीं कर देती तब तक वे इजरायली जहाजों व माल को खाड़ी से गुजरने दे सकते हैं लेकिन स्वेज नहर से इजरायल के झण्डे वाला जहाज कभी न गुजरने दिया जायगा।

संयुक्त अरब गणराज्य की नीति में यह बदल इजरायल के अरब भूमि से जल्दी हट जाने के लिए की गयी है। इसके बारे में ऊ-थान्ट को जनरल नासिर के द्वारा सूचना दी गयी। खारतूम सम्मेलन के बाद काहिरा जाने वाले कुछ अन्य व्यक्तियों को भी इस बारे में बताया गया।

ऊ-थान्ट चाहते हैं कि संयुक्त अरब गणराज्य के विदेश मंत्री इस कदम के बारे में राष्ट्र संघ महासभा में भाषण के दौरान घोषणा करें ताकि जो लोग पश्चिमी एशिया संकट का न्यायोचित हल करवाना चाहते हैं उनके हाथ मजबूत हो सकें।

मान्यता देने तथा राजनीतिक सम्बन्ध बनाने के लिए राजी न हुए। इसके फलस्वरूप रूस ने जब साम्यवादी चीन को संघ का सदस्य बनाये जाने के लिये सुरक्षा परिषद में प्रस्ताव रखा तो वह बुरी तरह से असफल हो गया। पश्चिमी शक्तियों ने इसका पूरी शक्ति से विरोध किया। क्योंकि इन शक्तियों को यह खतरा था कि यदि राष्ट्रवादी चीन के स्थान पर साम्यवादी चीन को सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य बना दिया गया तो सोवियत रूस का पक्ष भारी हो जायगा तथा सुरक्षा परिषद की बागडोर अमेरिका के हाथ से चली जायगी। महासभा में तो संयुक्त राज्य अमेरिका का पहला जैसा महत्व समाप्त हो ही चुका था क्योंकि १९६० में अनेक अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता ग्रहण की जो कि साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध तथा साम्यवादी आश्वासनों के प्रति आकर्षित थे। साम्यवादी चीन को मान्यता देना तथा उसे संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना देना न केवल संघ में ही वरन् एशिया-अफ्रीका महाद्वीप और इस प्रकार सारे विश्व में साम्यवाद का प्रभाव बढ़ाने में सहायक बन सकता था। यह सोच कर पूँजीवादी शक्तियों ने इस खतरे को दूर रखने का हर सम्भव प्रयत्न किया। सन् १९५० के दिनों में साम्यवादी चीन के संघ में प्रवेश के प्रश्न पर मतभेद होने के कारण सोवियत रूस ने सुरक्षा परिषद की बैठकों का बहिष्कार कर रखा था। भारत और दूसरे अनेक असंलग्न अथवा तटस्थ राष्ट्र साम्यवादी चीन को संघ का सदस्य बनाने के पक्ष में रहे हैं यद्यपि अब भारत के नेता इस सम्बन्ध में उतने सक्रिय और सचेष्ट नहीं हैं जितने पहले थे।

चीन के संघ के प्रवेश के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा अमेरिका ही रहा है। अमेरिका का कहना है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद २ में यह स्पष्ट घोषित है कि संघ में उन सभी देशों को प्रवेश दिया जा सकता है जो शांतिप्रिय हों, चार्टर में उल्लिखित दायित्वों को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत हों और संघ भी यह समझता हो कि वे यह दायित्व निभा सकते हैं। चार्टर के अनुच्छेद १ के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ सदस्यों का मुख्य दायित्व है—अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा को बनाये रखना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए तथा शांति के लिए उत्पन्न खतरे को दूर करने के लिए अथवा रोकने के लिए प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करना आक्रमण होने और किसी अन्य प्रकार से शांति भंग होने पर उसको रोकने के लिए प्रभावशाली कार्यवाही करना तथा ऐसे सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का न्याय और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार शांतिपूर्ण समाधान करना, जिनसे विश्व शांति भंग होने की सम्भावना हो।

संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके समर्थक राष्ट्रों का तर्क है कि साम्यवादी चीन चार्टर द्वारा सदस्यता के लिए प्रस्तुत कसौटी पर किसी प्रकार खरा नहीं उतरता। १९५० से ही वह निरन्तर हिंसात्मक तथा आक्रमणात्मक कार्यों में संलग्न रहा है। कदम-कदम पर उसने संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके आदेशों की अवहेलना की है। वह संघ पर चीन गणराज्य का गला घोंटने का आरोप लगाता रहा है। उसने फारमोसा पर बलात् अधिकार करने के लिए अनेक बार आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ की हैं और समस्या को शांतिपूर्ण

ढंग से सुलझाने से साफ इन्कार कर दिया है। चीन ने दक्षिणी एशिया के नवोदित राष्ट्रों के निवासियों को इस बात के लिए उकसाया है कि वे हिंसात्मक उपायों द्वारा अपनी वैध सरकारों को पलट कर साम्यवादी शासन की स्थापना कर दें। इतना ही नहीं उसने इन देशों के साम्यवादी छापामार दस्तों को सक्रिय रूप से सैनिक और आर्थिक सहायता प्रदान की है। चीन के युद्ध-पिपासु नेताओं के आदेश से चीनी फौजों ने तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण कर लिया है वहां के शांतिप्रिय निवासियों को बड़ी संख्या में मौत के घाट उतार दिया है और अपने मित्र देश भारत की सीमाओं का अतिक्रमण करके उसके कुछ भागों पर अनाधिकृत कब्जा जमा लिया है। साम्यवादी चीन का सम्पूर्ण इतिहास शांति और मैत्रीपूर्ण व्यवस्थाओं से इन्कार करते हुए हिंसा युद्ध और वैमनस्य के प्रसार के प्रयासों से भरा पड़ा है। सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया में कोरिया से लेकर हिमालय तक इसने लगभग १ ००० मील के विशाल अर्धाकार क्षेत्र में उसने घृणा और अशान्ति के बीज बोये हैं सैनिक कार्यवाही की है और तोड़-फोड़ व आक्रमण की नीति द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ाने का प्रयत्न किया है। चीन ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून की अवहेलना की है और अन्तर्राष्ट्रीय सदाचार के नियमों को उठा कर ताक में रख दिया है। उसके द्वारा सैकड़ों विदेशियों के साथ और विभिन्न देशों के राजदूतों और कर्मचारियों के साथ अमानवीय बर्बर व्यवहार किया गया है। शांतिप्रिय राष्ट्रों के विरुद्ध भी सदैव घृणा का शंख फूंकने की उसकी नीति है। चीनी साम्यवादी खुले तौर पर युद्ध की अनिवार्यता की घोषणा करते हैं। उनका कहना है कि क्रान्ति का अभिप्राय है—क्रान्तिकारी हिंसा अर्थात् क्रान्तिकारी युद्ध। स्पष्ट है कि इस प्रकार की मनोवृत्ति और पृष्ठभूमि वाले देश को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान नहीं दिया जाना चाहिये अन्यथा इसके भीषण परिणाम होंगे।

साम्यवादी चीन को संघ में स्थान देने का विरोध करने के लिए अमेरिका ने और भी अनेक कारण प्रस्तुत किये जिनमें से प्रमुख संक्षेप में इस प्रकार हैं—

१ यद्यपि चीन की जनसंख्या का अधिकांश भाग साम्यवादियों द्वारा नियंत्रित मुख्य भूमि पर निवास करता है किन्तु इस तथ्य की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती कि ताइवान में भी इस समय १ करोड़ १० लाख से भी अधिक चीनी रहते हैं जिनकी सरकार उस सरकार का प्रतिनिधित्व करती है जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना करने में प्रमुख और महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी।

२ संयुक्त राष्ट्र संघ के लिये यह सर्वथा अनुचित और अन्यायपूर्ण होगा कि वह एक ऐसे राष्ट्र को अपनी सदस्यता से वंचित करके, जिसने सदैव संघ से पूर्ण सहयोग किया हो उसके स्थान पर ऐसी सरकार को प्रतिनिधित्व प्राप्त करे जिसका सम्पूर्ण रिकार्ड ही आक्रमणात्मक व असहयोगपूर्ण कार्यवाहियों से भरा पड़ा है।

३ प्रश्न केवल साम्यवादी चीन को संघ में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का नहीं है, अपितु प्रश्न यह भी उपस्थित है कि फारमोसा (ताइवान) में

रहने वाले १ करोड़ से अधिक निवासियों को क्या साम्यवादियों को सौंप दिया जाय और इस तरह उन्हें स्वतन्त्रता व आधारभूत मानवीय अधिकारों से महरूम कर दिया जाय।

४ साम्यवादी चीन को संघ में स्थान दिये जाने का अभिप्राय यह होगा कि संघ ताइवान पर साम्यवादी चीन द्वारा आक्रमण किये जाने का मूक समर्थक होगा क्योंकि साम्यवादी चीन स्पष्ट रूप से यह घोषणा कर चुका है कि जब तक ताइवान पर उसका अधिकार नहीं होता तब तक संघ के साथ उसके सहयोग करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

५ यद्यपि साम्यवादी चीन के ७० करोड़ व्यक्तियों की तुलना में ताइवान की लगभग सवा करोड़ जनसंख्या बहुत कम है किन्तु फिर भी यह तथ्य स्मरणीय है कि ताइवान की जनसंख्या उन ६६ से भी अधिक देशों की जनसंख्या से कहीं अधिक है जिन्हें संघ की सदस्यता प्राप्त है।

६ क्या संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए यह न्यायसंगत होगा कि लाखों लोगों की स्वतन्त्रता और उनकी सरकार के कानूनी अधिकारों को समाप्त कर दिया जाय ?

चाहे अनेक एशियाई और तटस्थ राष्ट्र साम्यवादी चीन के राष्ट्र संघ के सदस्य बनने का पक्ष लें किन्तु ऐसा नहीं कहा जा सकता कि संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा चीन के संघ में प्रवेश-विरोधी तर्क बेकार हैं। किसी भी व्यक्ति या राष्ट्र को किसी संस्था में शामिल करते समय अथवा उससे मैत्री सम्बन्ध बनाते समय उसके पिछले इतिहास और कार्यों को नहीं भुलाया जा सकता। भारत स्वयं इस तथ्य की उपेक्षा करके इसका मूल्य चुका रहा है और अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को खतरे में डाल चुका है।

फिर भी इस तर्क में बल है कि संयुक्त राष्ट्र संघ को विश्व का दर्पण होना चाहिए और इसलिए जब तक चीन को इसका सदस्य नहीं बनाया जाता विश्व के एक बड़े हिस्से का मत अनजाना ही रह जायगा। जब संघ को सर्वव्यापी बनना है तो साम्यवादी चीन जैसे बड़े राष्ट्र के बिना इसके निर्णय प्रभावशाली नहीं बन पायेंगे। पुनः संयुक्त राष्ट्र संघ के अलावा ऐसा और कोई स्थान नहीं है जहां चीन से समझौता वार्ता की जा सके।

संघ में प्रवेश सम्बन्धी चीन-विरोधी और चीन-समर्थक धारणाओं का का समर्थन करने के लिए शांति विरुद्ध देशों को भी संघ में सम्मिलित किया ही जाना चाहिए ताकि उनकी उच्छृंखलताओं को मर्यादित किया जा सके और उनको भी एक सभ्य राष्ट्र बनाया जा सके। इतनी विशाल जनसंख्या वाले भू भाग को शांति एवं अनुशासन के नियमों तथा उत्तरदायित्वों से बाहर रखना विश्व-शांति की दृष्टि से उचित नहीं है। प्रशान्त क्षेत्र की अनेक समस्याएं तब तक नहीं सुलझायी जा सकती जब तक कि चीन इन समस्याओं के विचार-विमर्श में भाग न ले। इसके अतिरिक्त अनेक अमेरिकन अधिकारी भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि जब तक साम्यवादी चीन को भागीदार न बनाया जाय तब तक किसी भी निःशस्त्रीकरण-सम्मेलन के निर्णयों को सफल एवं प्रभावपूर्ण नहीं बनाया जा सकता।

आज मुख्य समस्या यही है कि दो चीनों में से किस को सुरक्षा परिषद का सदस्य बनाया जाय। नये देश राष्ट्रवादी चीन को बाहर नहीं करना चाहते। प्रत्येक विचारकों का मत है कि सोवियत रूस भी दिल से यह नहीं चाहता कि चीन संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया जाय और इसी कारण वह अपने प्रस्ताव को इस रूप में प्रस्तुत करता है कि वह दूसरों को मान्य ही नहीं होता। समय के साथ-साथ इस समस्या के मार्ग में नयी-नयी कठिनाइयाँ पैदा होती जा रही हैं। क्लार्क आइकलबर्गर का कहना है कि जितनी अधिक देर होगी पीकिंग के प्रवेश के लिए सन्तोषजनक प्रबन्ध करना उतना ही अधिक कठिन बन जायगा।*

संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष २० वर्ष की अवधि में प्रस्तुत किये जाने वाले सभी प्रमुख राजनीतिक विवादों और उनके समाधान के लिए किये गये संघ के प्रयासों का वर्णन हम कर चुके हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ ने राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में अपनी अमूल्य सेवायें आज तक अर्पित की हैं जिनके महत्व को इतिहास में सर्वत्र स्वर्णाक्षरों में लिखा जाता रहेगा। इनके अतिरिक्त संघ की कुछ विशिष्ट उपयोगिताएँ या विशेषताएं हैं जिन पर दो शब्द पृथक से लिख देना उपयोगी रहेगा। ये विशेषतायें या उपयोगितायें निम्न हैं—

(१) संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीयता का प्रसार,
(२) संघ विश्व सरकार की ओर एक कदम
(३) संघ द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं पंजीकरण
(४) संघ द्वारा मानव-अधिकारों की रक्षा।

(१) संयुक्त राष्ट्र संघ अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर (U.N.O. towards Internationalism)—उपरोक्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में संघ द्वारा जो कार्य किया गया वह सफल रहा अथवा नहीं एवं उससे सन्तोषजनक परिणाम प्राप्त किये जा सके अथवा नहीं इस प्रश्न पर तथ्यों की व्याख्या करते समय अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विद्वानों के बीच मतभेद रह सकता है। परन्तु यह मतभेद रहते हुए भी निःसन्देह रूप से यह कहा जा सकता है कि संघ ने विश्व-युद्ध को रोकने विनाश की भीषणता को अवरुद्ध करने न्याय कानून एवं व्यवस्था की स्थापना करने में जो योगदान किया है उसे मानव जाति कभी नहीं भूल सकती। ७ जून १९६१ को संघ की बजट कमेटी में भाषण देते हुए भारतीय प्रतिनिधि श्री बी० एन० चक्रवर्ती ने कहा था कि हम संघ से रहित विश्व कल्पना नहीं कर सकते। इसके बिना हम संघर्ष युद्ध और विध्वंस की पुरानी स्थिति में लौट जायेंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा विश्व के विभिन्न रहने वाले लोगों की बीच अपनत्व की भावना का विकास

---

*"The longer the delay the more difficult it may be to make satisfactory arrangements for Peeking's entrance."

—*Clark M. Eichelberger* op. cit., p. 138-9

करने की चेष्टा की गई है। इसके विशेष अभिकरणों द्वारा शिक्षा विज्ञान संस्कृति आदि क्षेत्रों में जो कल्याणकारी कार्य किये जाते हैं तथा पिछड़े देशों के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को आगे बढ़ाने के जो प्रयत्न किये जाते हैं उनका प्रभाव यह होता है कि जिन लोगों को इसकी सेवाओं से लाभ प्राप्त हो रहा है उनके दिलों में इसके प्रति सम्मान के भाव जाग्रत होंगे। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसे आक्रमण के विरुद्ध सामूहिक प्रयत्नों का पक्षपाती है उसी प्रकार यह एक राष्ट्र की प्रत्येक समस्या में दूसरों राष्ट्रों के सद्भावनापूर्ण सहयोग को सम्भव बनाता है। संसार के राष्ट्रों के बीच मिलजुल कर रहने तथा सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की परम्पराओं का सूत्रपात होता है। यह कहा जाता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने आज एक विशेष प्रकार का वातावरण तैयार कर दिया है जिसमें प्रत्येक राष्ट्र अपने आपको समग्र विश्व का एक अंग मानने लगा है। एक राष्ट्र की सम्प्रभुता मर्यादित हो कर उच्छृंखलताओं एवं मनमानी प्रवृत्तियों से हटकर अनेक अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं से मर्यादित होने लगी है। यह आक्रमणकारी विध्वंसक तथा विद्वेषपूर्ण अपने कुरूप चोले को छोड़ कर विश्व-कल्याण एवं मानव-जीवन के चरम लक्ष्यों की प्राप्ति के मार्गों का सौन्दर्यपूर्ण बाना पहन चुकी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में कार्य करने वाले नागरिक सेवा के कर्मचारी हजारों की संख्या में होते हैं। ये अलग-अलग देशों के निवासी होते हुए भी जब हमेशा विश्व की समस्याओं पर विचार करने तथा उनसे संबंधित ही कार्य करते रहते हैं तो यह स्वाभाविक है कि उनका दृष्टिकोण राष्ट्रीयतावाद की संकुचित परिधियों से ऊपर उठ कर अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से ओतप्रोत हो जावे। प्रत्येक विषय पर सोचते समय उनकी दृष्टि विश्व शांति सुरक्षा एवं कल्याण पर ही टिकी रहती है। सिविल सेवकों की यह कर्म-दक्षता क्षमता एवं ईमानदारी बहुत ऊँचे स्तर की होती है। अनेक राष्ट्रों के बहुत से प्रभावशाली व्यक्तियों का इस वर्ग के सदस्यों से घनिष्ट सम्बन्ध रहता है। यह सम्बन्ध जब तब इन राष्ट्रों की नीतियों को प्रभावित करने में भी महत्वपूर्ण योगदान करता है। दूसरे शब्दों में संघ के सिविल सेवक का बदला हुआ दृष्टिकोण उनके सम्बन्धियों की ओर इस प्रकार देश के दृष्टिकोण को बदलने में सहायक बनता है। चार्टर की धारा १०० में कहा गया है कि महासचिव और कर्मचारी वर्ग के लिए यह आवश्यक है कि वे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्व को पूरी तरह से समझें तथा संघ के बाहर के किसी राज्य या उसके अधिकारी से परामर्श प्राप्त न करें। उनकी पूरी की पूरी निष्ठा और भक्ति संघ के प्रति होनी चाहिये। इसके साथ ही संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य भी आवश्यक रूप से यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव तथा उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उनके पालन में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयास न करेगा।

(२) संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व सरकार की ओर एक कदम
(U N. O : An Step towards World Govt.)

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उन सभी लक्ष्यों को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है जिनकी साधना के लिए अनेक विचारक विश्व सरकार की

स्थापना की सिफारिश करते हैं। डॉ॰ हैमरशोल्ड ने संघ के चार्टर में पाये जाने वाले पाँच मूल सिद्धान्तों को परिभाषित किया था वे हैं—(i) समान राजनैतिक अधिकारों की एक व्यवस्था (ii) समान आर्थिक अधिकार (iii) विधि का शासन (iv) सामान्य सुरक्षा के अतिरिक्त कभी भी सैनिक शक्ति का प्रयोग न करना (v) अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को तथा मन मुटावों को तय करना जो कि बाद में अन्तर्राष्ट्रीय अशान्ति का कारण बन सकते हैं। ठीक यही उद्देश्य विश्व सरकार के बताये जाते हैं। विश्व सरकार की स्थापना एक साधन मात्र है जिसके द्वारा अनेक मान्य राजनीतिज्ञ एवं विचारक संसार में अशांति असुरक्षा एवं विनाश को मिटा कर इसके स्थान पर न्याय शान्ति सुरक्षा एवं व्यवस्थापूर्ण विश्व समाज की रचना करना चाहते हैं। इस समाज में प्रत्येक व्यक्ति को समानता एवं स्वतन्त्रता के अधिकार के साथ साथ व्यक्तित्व के विकास के सभी सम्भव साधन एवं अवसर प्रदान किये जायेंगे। विश्व सरकार की प्राथमिक आवश्यकता होती है अन्तर्राष्ट्रीय समाज जिसके अभाव में विश्व सरकार से सम्बन्धित कोई भी योजना सफलता से कोसों दूर ही रहेगी। इसमें सन्देह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा ऐसे समाज के निर्माण की दिशा में प्रयास किये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त विश्व सरकार में राष्ट्रों की सम्प्रभुता शक्ति को पूरी तरह समाप्त करके उसे अन्तर्राष्ट्रीय सरकार के हाथों में सौंप दिया जायगा। सम्प्रभुता का यह हस्तांतरण विश्व सरकार की स्थापना के मार्ग की सबसे बड़ी बाधा है। संयुक्त राष्ट्र संघ इस बाधा को दूर करने में भी कुछ काम कर रहा है। संघ द्वारा इसके सदस्यों को कुछ दायित्व सौंपे गये हैं जिनको पूरा करना विश्व शान्ति एवं सुरक्षा के लिए आवश्यक होता है। एक राष्ट्र द्वारा किसी विश्व संस्था द्वारा लगाये गये इन उत्तरदायित्वों का पालन कुछ सीमा तक उसकी सम्प्रभुता को मर्यादित करता है और इस प्रकार उसे विश्व सरकार का प्रारम्भिक प्रशिक्षण प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त आज तक एक राष्ट्र की सीमित एवं संकुचित समस्याओं पर विचार करने वाले राजनीतिज्ञ विश्व सरकार का एवं अन्तर्राष्ट्रीय समाज का संचालन तथा व्यवस्था किस प्रकार करेंगे यह भी एक समस्या है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय मंच प्रदान किया गया है जहाँ विभिन्न देशों के राजनीतिज्ञ अन्तर्राष्ट्रीय रूप में विचार विमर्श कर सकें विश्व की समस्याओं का समाधान ढूँढ सकें। कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक प्रशिक्षण केन्द्र है जहाँ विश्व के निवासियों एवं राष्ट्रों के नेताओं को उन सब बातों की शिक्षा दी जाती है जो विश्व सरकार की स्थापना एवं संचालन के लिए अनिवार्य है। क्लार्क आइकलबर्गर (Clark Eicheberger) के मतानुसार यदि विश्व शांति प्राप्त करना चाहता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ को एक सीमित सरकार के रूप में कार्य करना चाहिये इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं है।*

*"...... in fact, the U N must act as a limited govt. if the world is to have peace it has no other choice."

—*Clark M Eicheberger* U N., The first twenty years, 1965 p. 128

(३) अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का आदर एवं पंजीकरण (Codification and respect for International Law)

संयुक्त राष्ट्र संघ ने अन्तर्राष्ट्रीय कानून को नियमबद्ध (Codified) करने में बहुत कुछ योगदान किया है। इसके चार्टर में इस काम पर विशेष ध्यान दिया गया है। महासभा ने १७ सदस्यों की एक तात्कालीक समिति (Adhoc Committee नियुक्त की जो कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा पंजीकरण के कार्य को कर सके। चार्टर के अनुच्छेद १३ के अनुसार महासभा का यह उत्तरदायित्व है कि वह अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विकास तथा पंजीकरण को प्रोत्साहन प्रदान करे। इस उत्तरदायित्व को पूरा करने के साधनों की इस समिति द्वारा खोज की जाती है। सितम्बर, १९४७ के अपने प्रतिवेदन में समिति ने एक अन्तर्राष्ट्रीय कानून आयोग नियुक्त करने की सलाह दी। इस आयोग को दो प्रकार के काम सौंपे जाने थे। प्रथम तो उस अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विषय का अध्ययन जो कि अभी तक विकसित नहीं हो पाया है। दूसरे उन कानूनों को संक्षिप्त रूप दे देना जिनका कि पहले से ही अभिसमयों परम्पराओं एवं सिद्धान्तों के रूप में प्रचलन है। समिति द्वारा यह भी सिफारिश की गई कि आयोग को प्रचलित अन्तर्राष्ट्रीय कानून (Customary International Law) के विस्तृत क्षेत्र का अध्ययन करना चाहिये ताकि पंजीकरण के लिए शीर्षक छांटे जा सकें। समिति ने बताया कि उसके उत्तरदायित्व से दो कार्य निकलते हैं—(i) नवीन कानून का प्रगतिशील विकास (ii) प्रस्तुत कानून का पंजीकरण। इन दोनों कार्यों के बीच भारी अन्तर वर्तमान है। महासभा ने २१ नवम्बर, १९४७ को अन्तर्राष्ट्रीय कानून आयोग (ILC) की स्थापना की। इसके १५ सदस्यों को तीन वर्ष के लिये चुना गया।

आयोग ने राज्यों के अधिकार और कर्तव्यों पर एक घोषणा तैयार की तथा न्यूरेम्बर्ग युद्ध अपराधी ट्रायल (Nuremberg War Crimes Trials) के आधारभूत कानूनों के सिद्धान्तों में से कुछ को रचनात्मक रूप प्रदान किया। पंजीकरण (Codification) के क्षेत्र में आयोग ने अपना ध्यान मुख्यतः चार विषयों पर ही केन्द्रित रखा।

(१) सन्धियों के कानून (Law of Treaties)
(२) न्यायीकरण प्रक्रिया (Arbitral Procedure)
(३) ऊँचे समुद्रों की शासन पद्धति (Regime of the high Seas)
(४) प्रादेशिक जल (Territorial Waters)

महासभा ने आयोग से एक अन्तर्राष्ट्रीय फौजदारी न्यायालय स्थापित करने के बारे में राय पूछी। १९५० में आयोग ने रिपोर्ट दी कि इस प्रकार का न्यायालय (Tribunal) अपेक्षित भी है तथा सम्भव भी। महासभा ने १९५१ में आयोग को आक्रमण की परिभाषा का काम सौंपा किन्तु भारी वाद-विवाद के बाद आयोग इस निर्णय पर आया कि आक्रमण की कोई भी संक्षिप्त परिभाषा अव्यावहारिक है। संयुक्त राष्ट्र द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून के पंजीकरण का कार्य केवल आयोग ही नहीं करता है

वरन् सचिवालय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय मानवीय अधिकार आयोग (The Human Rights Commission) आदि भी इस दिशा में कार्य करते हैं। संघ द्वारा देशों के राजनैतिक मतभेद दूर करते समय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा की स्थापना एवं रक्षा के लिए कोई भी कदम उठाते समय अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन पूरी तरह किया गया है। इसका हर सम्भव प्रयास यह रहता है कि संसार के विभिन्न राष्ट्रों का इन कानूनों के प्रति आदर-भाव पैदा किया हो और कहीं भी किसी भी स्थिति में उनका उल्लंघन न किया जाय। युद्ध के कानून व शान्ति के कानून समुद्री सीमा सम्बन्धी कानून व्यापार सम्बन्धी कानून एवं अन्य किसी भी प्रकार का अन्तर्राष्ट्रीय कानून यदि किसी भी रूप में तोड़ा गया तो विश्व की शान्ति एवं व्यवस्था खतरे में पड़ जायेगी इसलिये संघ द्वारा यह पूरा-पूरा ध्यान रखा जाता है कि ऐसी स्थिति उत्पन्न ही न होने दी जाय।

(४) संघ द्वारा मानव अधिकारों की रक्षा
(Protection of Human Rights by the U N O)

संयुक्त राष्ट्र संघ व्यक्ति के मानवीय अधिकारों एवं राष्ट्रों के भिन्न स्वतन्त्रताओं से पूरी तरह सम्बन्धित है। अनुच्छेद ५५ तथा ५६ में इन विषयों के ऊपर पर्याप्त रूप से विचार किया गया है। चर्चिल तथा रूजवेल्ट का कहना था कि इसका अर्थ यह है कि सभी प्रदेशों के सभी व्यक्ति आत्मसम्मान एवं भय से स्वतन्त्र रहकर अपना जीवनयापन कर सकें। महासभा ने पेरिस में १० दिसम्बर, १९४८ की आधी रात को मानव अधिकारों का घोषणा-पत्र दिया। जब यह घोषणा की गई तो महासभा के अध्यक्ष ने कहा कि यह पहला ही अवसर है जबकि राष्ट्रों के संगठित समुदाय ने मनुष्यों के अधिकारों और मौलिक स्वतन्त्रताओं की घोषणा की है। इस घोषणा के पीछे सम्पूर्ण संघ की विश्व के असंख्य स्त्री-पुरुषों की शक्ति है जो कि दूरस्थ कोने-पर भी इस घोषणा को लेखपूर्ण बनाने के लिए सहायता प्रेरणा एवं मार्ग दर्शन प्रदान करेंगे। महासभा के अनेकों प्रस्ताव इस घोषणा के सिद्धान्तों पर ही आधारित हैं। इसके बहुत से अनुच्छेद शान्ति सन्धियों में सम्मिलित कर लिए गये हैं तथा नये राज्यों के संविधानों में भी इन्हें लिया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा मानव अधिकारों की कई परम्परायें स्थापित कर दी गई हैं —

(i) जाति संस्कृति एवं धर्म सम्बन्धी (Genocide Convention)

(ii) महिलाओं के राजनीतिक अधिकार (Political Rights of Women) महासभा द्वारा १९५२ में निर्मित परम्परा

(iii) दासता विरोधी परम्परा (Anti-slavery Convention) १९२६

(iv) जबर्दस्ती के श्रम के विरुद्ध परम्परा (Convention Against Forced Labour) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा १९५७ में निर्मित

सन् १९५३ में संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा मानव अधिकारों के सम्बन्ध में जो रुख अपनाया गया था वह इस आन्दोलन के पूरी तरह

से विरुद्ध था। किन्तु २२ जुलाई १९६१ को जान एफ० कैनेडी ने इस निषेधात्मक नीति को समाप्त किया। इन्होंने अमरीकी सीनेट संयुक्त राष्ट्र संघ की उक्त चार परम्पराओं में से तीन को स्वीकार करने को कहा जनसंहार परम्परा (Genocide Convention) का उल्लेख नहीं किया गया था। मानव अधिकार आयोग के अमरीकी प्रतिनिधि ने इस दिशा में अमरिकन कार्य योजना (American action programme) को प्रस्तुत किया। इसके तीन भाग थे—

(i) मानव अधिकारों पर सामयिक प्रतिवेदनों (Periodic Reports) की योजना।

(ii) मानव अधिकारों पर अध्ययन की एक शृंखला (Series)।

(iii) कुछ मानव अधिकारों में तकनीकी सहायता प्रदान करना।

यह सहायता तीन प्रकार से दी जा सकती है अर्थात् विशेषज्ञों के उपबन्ध द्वारा, वजीफा तथा फैलोशिप के उपबन्ध द्वारा सेमिनारों के संगठन द्वारा। विश्व शान्ति तथा मानव अधिकारों के बीच गाढ़ा सम्बन्ध है। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है तथा ये दोनों परस्पर सहयोगी भी हैं। क्लार्क आइकलबर्गर (Clark M Eicheberger) का मत है कि राष्ट्र स्थायी शान्ति की ओर अग्रसर होते हैं तो यह भी अपरिहार्य है कि मानवीय अधिकारों की भी प्रगति होगी तथा वे संरक्षित होंगे।*

संयुक्त राष्ट्रसंघ—एक मूल्यांकन

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर, उसके विभिन्न संगठनों और कार्यकलापों आदि से यह भलीभांति स्पष्ट है कि यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उपयोगी संस्था है जिसने अनेक अवसरों पर युद्धों का निवारण करके और गम्भीरतम अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करके विश्व में तृतीय महायुद्ध के सूत्रपात को भविष्य के लिए टाला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि महाशक्तियां इस संस्था के माध्यम से अपने विवादों को ईमानदारी से सुलझाने का प्रयत्न करें और इस संस्था के कार्यों में अपेक्षित सहयोग दें तो भविष्य में तृतीय महायुद्ध की संभावना को भी यह संस्था बहुत कुछ समाप्त कर सकती है।

आलोचकों का यह कहना कि संघ अपने प्रधान उद्देश्य—युद्धों के निवारण और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण हल करने में विफल हुआ है अनेक समस्याओं का अभी तक समाधान नहीं कर सका है और न ही शस्त्रीकरण की होड़ को मिटा पाया है निस्संदेह बहुत कुछ सत्य है। इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता कि मानवीय अधिकारों और अन्तर्राष्ट्रीय शांति की रक्षा करने का उत्तरदायित्व संभालने वाला संयुक्त राष्ट्र संघ आज तक दक्षिण अफ्रीकन संघ में भारतीयों और अश्वेत जातियों के साथ दुर्व्यवहार

*"If the nations advance toward permanent peace it is invitable that human rights will be advanced and safeguarded"

—*Clark M Eicheberger* U N The first twenty years, 1965 p. 85

को नहीं रोक सका है, साम्यवादी चीन का न अपना सदस्य बना सका है और न ही उसकी हिंसात्मक आक्रामक प्रवृत्ति पर ही किसी तरह का अंकुश लगा पाया है, पूर्व और पश्चिम के मतभेदों को नहीं पाट सका है, महाशक्तियों के वैमनस्य और विरोध को नहीं मिटा सका है। इसने काश्मीर की स्पष्ट और सरल समस्या को उलझाया है तथा महाशक्तियों के हाथों में खेल कर आक्रान्ता व आक्रमणकारी को तराजू के दोनों पलड़ों में बैठाकर बराबर तोलने की चेष्टा की है। इतना ही नहीं आक्रान्ता पाकिस्तान की आक्रमणकारी प्रवृत्ति पर रंचमात्र नियंत्रण भी लगाने में यह असफल रहा है, उल्टे इसकी गतिविधियां प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से पाकिस्तान को अवैधानिक रूप से लिये गये भारतीय प्रदेश में पैर जमाये रखने को प्रोत्साहित ही करती रही हैं। यह महाशक्तियों के शीतयुद्ध का अखाड़ा बना हुआ है और अनेक अवसरों पर इसने अनेक देशों की स्वतन्त्रता व स्वाधीनता के अपहरण को कोरे एक मूकदर्शक के समान निहारा है।

संघ के पास अपनी स्वयं की दण्डकारी शक्ति का अभाव है। इसकी अपनी स्वयं की कोई सेना नहीं है। सैन्य शक्ति और आर्थिक दृष्टि से यह अपने सदस्य देशों की कृपा का पात्र ही है। जहां महाशक्तियों के स्वार्थ निहित होते हैं वहां संघ के निर्णय नहीं काम आते बल्कि महाशक्तियों के आपसी निर्णय ही महत्व रखते हैं। किन्तु जहां छोटे राष्ट्रों का प्रश्न होता है वहां संघ अपने प्रयासों की सफलता की डुगडुगी बजाकर अन्तर्राष्ट्रीय शांति का रक्षक होने की वाही-वाही लूटता है और वह भी इसीलिए कि महाशक्तियां उन छोटे राष्ट्रों को दबाकर संघ का निर्णय मानने को बाध्य कर देती हैं। यदि विभिन्न शांति प्रस्ताव ईमानदारी के साथ और सही भावना से सुरक्षा परिषद् में प्रस्तुत होते भी हैं तो महाशक्तियां अपने परस्पर विरोधी स्वार्थों के कारण अपने निषेधाधिकार से उन्हें नष्ट कर देती हैं। वस्तुतः संघ में इतना विरोध और निषेधाधिकार का प्रयोग देखने को मिलता है कि इसे 'संयुक्त राष्ट्र संघ' कहने के स्थान पर विभक्त तथा विरोधी दलों में विभाजित राष्ट्र संघ कहना अधिक उपयुक्त लगता है। भारत के भूतपूर्व शिक्षा मंत्री मोहम्मद करीम छागला ने संयुक्त राष्ट्र संघ की २०वीं वर्षगांठ पर यह सत्य ही कहा था कि—"इसका मुख्य उद्देश्य शांति को स्थापित करना व युद्ध को रोकना था परन्तु इस विषय में संघ का कार्य अत्यन्त निराशापूर्ण रहा है। संघ का उद्देश्य आक्रमण को रोकना व उसकी निन्दा करने से पूरा हो सकता था लेकिन सितम्बर १९६५ में काश्मीर में की गयी कार्यवाही में ऐसा नहीं किया गया क्योंकि इसमें संघ ने भारत पर आक्रमण करने वाले पाकिस्तान को तथा उसके आक्रमण का शिकार बनने वाले भारत को समान दर्जा प्रदान किया था।"

सितम्बर १९६६ में संयुक्त राष्ट्र संघ की २१वीं महासभा के समक्ष अपनी वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए संघ के ही महासचिव ऊ-थांट ने यह स्वीकार किया था कि संघ अपने मूल उद्देश्यों की पूर्ति की दिशा में बहुत कम प्रगति कर पाया है। उसका मूल कारण उनके मतानुसार यही है कि संघ परस्पर विरोधी महाशक्तियों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है। स्वयं उनके शब्दों में—

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक वातावरण में सुधार नहीं हुआ है। वियतनाम पर युद्ध के बादल बढ़ रहे हैं। काश्मीर प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच खुला युद्ध यद्यपि संघ के प्रयत्नों से समाप्त हो गया तथापि वहां और अन्य स्थानों में तनावपूर्ण वातावरण कायम है। दक्षिणी अफ्रीका दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका व दक्षिणी रोडेशिया साइप्रस व मध्य पूर्व में सभी जगह लम्बे समय से समस्यायें मौजूद हैं जिनका हल रचनात्मक दृष्टिकोण से नहीं निकाला जा रहा है।"*

महासचिव ने बड़े राष्ट्रों पर अप्रत्यक्ष रूप से आरोप लगाते हुए कहा कि वे पारस्परिक शंका भय और अविश्वास की भावनाओं से ग्रस्त हैं और प्रत्येक समस्या पर मानवीय हित के दृष्टिकोण से विचार नहीं करते। संघ के संगठनात्मक दोषों का उल्लेख करते हुए उन्होंने इस बात की सिफारिश की कि जनवादी चीन को संघ का सदस्य बनाया जाना चाहिये ताकि संयुक्त राष्ट्र सब सच्चे अर्थों में सभी राष्ट्रों का संगठन बना सके। उनके द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट में स्पष्ट उल्लेख किया गया कि—

"यदि संघ की आवश्यकता को बनाये रखना है तो हमें यह तथ्य स्वीकार करना पड़ेगा कि १९४६ के ५ बड़े राष्ट्र आज के विश्व के भाग्य निर्माता नहीं हैं और न ही वे उद्देश्यों की उस एकता से कार्य कर रहे हैं जो उनके विचारों में १९४६ में थी। आज वे आपस में विभक्त हैं जिसके कारण विश्व की समस्याओं में सामूहिक रूप से उपयोगी योगदान करने में असमर्थ हैं। इस स्थिति में उनके बीच कामचलाऊ संतुलन तब ही स्थापित किया जा सकता है जब कि विश्व को सुरक्षित और मनुष्य मात्र के रहने योग्य बनाने में छोटे और बड़े सभी राष्ट्र समान स्तर पर माने जाय। †

---

*"The international political situation has not improved The cloud over Vietnam has grown larger and more ominous. The serious open rift between India and Pakistan over Kashmir has, with the help of U.N., been calmed down but tensions have been heightened and violence has erupted elsewhere Frustrations have been more dominant than constructive change in respect of such long standing problems as the situation in South-Africa, South West Africa and South Rhodesia and such long standing disputes as those in Cyprus and the Middle East.

—Secretary General U—Thant's Report in September 1966

† If the usefulness of the Organization is sought to be maintained, it must be recognised that the big five of 1946 are not longer the arbiters of the fate of this earth. Neither are they working with that unity of purpose

संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष तीन आधारभूत समस्यायें रही हैं—पू
और पश्चिम के मध्य संघर्ष, घरेलू अधिकार क्षेत्र और संयुक्त राष्ट्र संघ
अधिकार क्षेत्र में उत्पन्न विवाद। इन तीनों आधारभूत समस्याओं पर विज
प्राप्त करने में संघ वस्तुतः समर्थ नहीं हो सकता है। हंगरी और तिब्बत
मामले पर सोवियत रूस तथा चीन पर कोई दबाव डालने में उसकी असमर्थत
और असफलता इस बात का प्रमाण है कि संघ शक्तिशाली राष्ट्रों के सम्मु
कितनी दयनीय स्थिति रखे हुए है।

परन्तु इन सब कमियों दोषों व दुर्बलताओं के होते हुए भी यह नहीं क
जा सकता कि संयुक्त राष्ट्र संघ केवल मात्र राष्ट्र संघ की ही एक पुनरावृत्ति
है और इसके अस्तित्व का महत्व नगण्य है। वास्तविकता यही है कि अपन
विफलताओं में भी यह निरन्तर सफलता की सीढ़ियां चढ़ता रहा है और इस
अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को घटा कर शांति बनाये रखने की दिशा में सराहनी
प्रयास किया गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ मरणासन्न नहीं है अपितु प्रगति प
पर उन्मुख है। इसने न केवल अनेक राजनीतिक विवादों में सफलता पायी
बल्कि गैर राजनीतिक कार्यों में भी महान् यश कमाया है। यह कहन
अत्युक्तिपूर्ण न होगा कि गैर-राजनीतिक अर्थात् सामाजिक व आर्थिक क्षेत्र
तो इसने संसार की अन्य किसी भी संस्था की अपेक्षा अधि
प्रशंसनीय कार्य किया है। २० वर्षों की अल्प अवधि में विश्व के सभी भाग
में निवास करने वाली जनता के जीवन-स्तर को सुधारने के लिए विशा
धन राशियां व्यय की गयी हैं। सिंचाई बाढ़ नियंत्रण, विद्युत् शक्ति, उत्पाद
भूमि की उपज में वृद्धि सम्बन्धी लगभग ६० से भी अधिक योजनाओं प
प्रयोग किया जा रहा है ताकि मानव जाति अकाल के खतरे से मुक्त हो सके।
स्वास्थ्य श्रम एवं चिकित्सा के क्षेत्र में इसके प्रयास स्वर्णाक्षरों में लिखे जाने
योग्य हैं।

राजनीतिक विवादों को हल करने में भी यह सर्वथा असफल नहीं
रहा है। १९४८ और बाद में अभी १९६७ में भारत पाक संघर्ष का अन्त
करके युद्ध-विराम स्थिति लाने में १९५८ १९५६ और १९६७ के अरब
इजरायल संघर्षों में हर बार युद्ध रोक कर शांति स्थापित करने में स्वेज
नहर को फ्रांस और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी आपाक इरादों से बचाने में,
दक्षिणी कोरिया को साम्यवाद के लौह शिकंजे से मुक्त रखने में ईरान ग्रीरिया

---

which informed their thinking in 1946. Today they stand divided and incapable of making any useful contribution collectively to the affairs of the world In this situation a working balance can be achieved only if all nations, big and small are treated as equals in the task of making this world a safe and fit place for human beings to live."

—U.N Secretary General's report to General Assembly 1966.

लेबनान से विदेशी सेनायें हटाने में, इण्डोनेशिया में युद्ध बन्द कराने में, बर्लिन के घेरे में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में, कांगो के गृह-युद्ध को समाप्त कर उसके एकीकरण को बनाये रखने में और ऐसे ही अनेक विवादों में संघ ने उल्लेखनीय सफलता अर्जित की है। संघ के १५ वें अधिवेशन में ३ अक्टूबर १९६० को भाषण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने ठीक ही कहा था—

'हम निश्चित रूप से यह कह सकते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने कई बार हमारे बार बार उत्पन्न होने वाले संकटों को युद्ध में परिणित होने से बचाया है।'

डॉ० राल्फ बुन्च ने इसकी विशेषता का वर्णन करते हुए लिखा है—'संयुक्त राष्ट्र संघ की मुख्य विशेषता यह है कि राष्ट्रों को बातचीत में व्यस्त रखता है। वे जितनी अधिक देर तक बात करते रहें उतना ही अच्छा है क्योंकि इतने समय तक युद्ध टल जाता है।'

संयुक्त राष्ट्र संघ के अस्तित्व के कारण ही बड़े-बड़े राष्ट्र छोटे राष्ट्रों के विरुद्ध अनियन्त्रित शक्ति का प्रयोग करने में हिचकिचाते हैं। इस तरह युद्ध का भय कुछ कम हुआ है और इस दृष्टि से छोटे राष्ट्रों की शक्ति में वृद्धि हुई है। इसके अतिरिक्त महासभा को पर्याप्त अधिकार होने के कारण छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपनी शक्ति का पूर्ण उपयोग करने के अवसर प्राप्त हुए हैं और उन्होंने अपने लाभार्थ इन अवसरों का पूरा उपयोग किया भी है। यह निश्चित रूप से एक शुभ लक्षण है कि संभवतः पहली बार छोटे-छोटे राष्ट्रों द्वारा बड़े राष्ट्रों के प्रयासों को निष्फल कर पाना संभव हो सका है। उदाहरणार्थ महासभा में एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के सम्मिलित प्रयास के कारण ही, सोवियत रूस का 'त्रियोका' सिद्धान्त कार्यान्वित न हो सका।

संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रभाव राष्ट्रों की सीमाओं से परे व्याप्त तत्वों और शक्तियों पर विशेष रूप से पड़ा है। इसने अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रसार में अपने प्रभाव का उल्लेखनीय ढंग से उपयोग किया है और अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्तियों को अधिक सबल व स्पष्ट बनाया है।

यद्यपि सामूहिक सुरक्षा की दृष्टि से संघ एक व्यवस्थित और एकीकृत प्रणाली का उपयुक्त विकास नहीं कर पाया है किन्तु फिर भी मानव-जाति की इच्छाओं, कठिनाइयों, विषमताओं को इसने प्रभावशाली ढंग से मुखरित किया है। यह विश्व की समस्याओं और वास्तविकताओं का एक सुन्दर दर्पण है।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद के उन्मूलन में पर्याप्त सफलता पायी है। एबीसीनिया, लिबिया, सोमाली लैण्ड, मोरक्को, ट्यूनीशिया, टोगोलैण्ड आदि की स्वाधीनता इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों के अत्याचारपूर्ण कारनामों की चर्चा जब संघ के रंगमंच पर की जाती है तो उसका प्रचार अनिवार्यतः सम्पूर्ण देश में हो जाता है और इसका यह प्रभाव पड़ता है कि नैतिक दबाव अनेक बार सैनिक शक्ति से अधिक प्रभावशाली बन जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा पैदा किये गये

नैतिक बल और विश्व जनमत के कारण ही रूस को बदनाम होकर ईरान से सेनायें हटानी पड़ी फ्रांस को उत्तरी अफ्रीका के उपनिवेश छोड़ने पड़े और हालैण्ड को इण्डोनेशिया का मोह त्यागना पड़ा।

इस तरह स्पष्ट है कि अपनी दुर्बलताओं व विफलताओं के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ मानवीय बुद्धि द्वारा परिकल्पित अब तक का श्रेष्ठतम अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। यही एकमात्र ऐसी संस्था है जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में स्थिरता ला सकती है। किन्तु आवश्यकता इस बात की है कि सभी क्षेत्रों में संघ की क्षमता और उसके साधनों का उपयोग बुद्धिमत्ता तथा विवेक के साथ किया जाय और संघ के सदस्य विशेषकर महान् राष्ट्र, चार्टर के सिद्धान्तों के प्रति निष्ठावान रह कर उन पर क्रियात्मक आचरण करें। संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था तभी जीवित रह सकती है व सफलीभूत हो सकती है जबकि इसके सभी सदस्य राष्ट्र सह-अस्तित्व के सिद्धान्त पर चलें और संगठन में विश्व के सभी राष्ट्रों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए उद्यत रहें। सदस्य राष्ट्रों ने जिस तरह संघ को विश्व में वैज्ञानिक ज्ञान का प्रचार करने में विश्व की सामाजिक शैक्षणिक समस्याओं का वैज्ञानिक अध्ययन करने में विश्व क्षेत्र में सामाजिक बुराइयों की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करने में एक स्वतंत्र स्वस्थ और सुखद जीवन किस प्रकार विश्व में जन-जन को प्राप्त हो इसका रास्ता ढूंढने के प्रयत्नों में प्रशंसनीय सहयोग दिया है और दे रहे हैं उसी प्रकार वे राजनीतिक क्षेत्र में मानव-मन में विश्वास जमाने में संघ के उद्देश्यों में सहयोग दें। इस सम्बन्ध में अन्त में यही कहा जा सकता है कि यदि मानव चाहे तो यह संयुक्त राष्ट्र संघ एक विश्व राज्य बन सकता है बशर्ते कि मनुष्य अपनी इस चेतना के प्रति पूरी तरह जाग उठे कि संकुचित एकदेशीय भावना से ऊपर उठे बिना समस्त मानव कल्याण की दृष्टि से सोचे बिना उसका त्राण नहीं।

अन्त में समाहार के रूप में हम संयुक्त राज्य अमेरिका के स्वर्गीय महान् राष्ट्रपति कैनेडी द्वारा २० सितम्बर १९६१ को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के समक्ष दिये भाषण के कुछ अंश उद्धृत करेंगे जो इस महान संस्था के लिए स्वर्गीय राष्ट्रपति ने कहे थे—

"इस महान् संस्था के काम का मूल्य संकटों की उपस्थिति या नाटकीय विजयों के द्वारा शांति जीत जाने पर ही निर्भर नहीं है। शांति तो एक दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक प्रक्रिया है जो धीरे-धीरे मत-परिवर्तन लाकर, पुरानी बाधाओं को थोड़ा-थोड़ा हटाती हुई मौन भाव से नया निर्माण करती है। शान्ति-पथ का अनुगमन चाहे जितना उबाउ कष्टप्रद हो लेकिन इस पथ पर चलना जारी रहना चाहिए। --- शांति स्थापना की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ का काम गौरवपूर्ण रहा है हालांकि उसके काम हमेशा ही बहुत दुस्तर रहे हैं। हमारा सौभाग्य है कि हमें सुयोग्य महासचिव की सेवायें सुलभ हैं तथा उन लोगों के वीरतापूर्ण प्रयासों का लाभ मिला है जिन्होंने कांगो मध्यपूर्व, कोरिया काश्मीर, पश्चिमी न्यूगिनी तथा मलयेशिया में शांति-स्थापनार्थ काम किया है। लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ ने भूतकाल में जो काम

किये हैं वे भविष्य में किये जाने वाले कार्यों से कम महत्वपूर्ण हैं। हम यह नहीं मान सकते कि इसके शांति-स्थापना-कार्य सदा सफल ही होंगे। इसके प्रशासनतंत्र के लिए उपयुक्त धन होना ही चाहिए। अगर कुछ सदस्य अपने हिस्से का धन न दें तो इस संस्था की वित्तीय स्थिति कैसे सुदृढ़ होगी। इस प्रकार वे अपना दायित्व पूरा न करके इस संस्था को भी अपना दायित्व पूरा न करने देंगे। जो राष्ट्र इस संस्था में मत देने के अधिकारी हैं, उन सब ने सस्था का धन अदा करना चाहिये। और इसके कार्यकलापों का आखिर तक समर्थन करना चाहिए।""""

संयुक्त राष्ट्र संघ जड़ अवस्था में जीवित नहीं रह सकता। इसके आकार के साथ-साथ इसकी जिम्मेदारियाँ बढ़ रही हैं। इसके कार्यकलाप तथा इसकी परम्पराओं में परिवर्तन किया जाना चाहिए। उस घोषणापत्र के निर्माताओं का यह उद्देश्य कभी नहीं था कि वह अनन्तकाल तक यथावत बना रहेगा। अस्त्रशस्त्र-विज्ञान तथा युद्धों ने अठारह वर्ष पहले सैन फ्रांसिस्को की अपेक्षा आज हमें कहीं अधिक एक विश्व व एक मानव जाति बना दिया है जिसका भाग्य एक साथ जुड़ा हुआ है। ऐसे विश्व में पूर्ण सार्वभौमिता सम्पूर्ण सुरक्षा का प्रति आश्वस्त नहीं कर सकती। शांति प्रयत्न आगे बढ़ें और युद्ध के आविष्कारों से भी आगे निकल जायें। अपनी सफलताओं की सीढ़ियों पर चढ़ते तथा विफलताओं से सबक लेते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ को वास्तविक विश्व सुरक्षा-व्यवस्था करनी चाहिए।

किन्तु शांति-घोषणाओं तथा प्रतिज्ञाओं में ही नहीं रहती। वह तो सभी व्यक्तियों के हृदयों में तथा मस्तिष्कों में रहती है और आज के विश्व में कोई भी अधिनियम कोई करार, कोई संधि तथा कोई संगठन शांति को तब तक स्थायी नहीं बना सकता जब तक उसे सभी देशों के लोगों का पूर्ण समर्थन नहीं मिलता तथा वे उसके प्रति पूर्णतः अपने को अर्पित नहीं करते। इसीलिए हम अपनी आशायें करार-पत्रों और कागजों पर केन्द्रित न रखें वरन् हमें शांति की स्थापना के लिए प्रयास करना चाहिए। सभी लोगों के अन्दर शांति की इच्छा हो, शांति-स्थापनार्थ काम करने की भावना विभिन्न विभागों में होनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि हम ऐसा कर सकते हैं। मुझे विश्वास है कि मानव के भविष्य की समस्या मानव की पहुंच के बाहर नहीं है।"

इस पृथ्वीग्रह के निवासी मेरे बन्धुओ! आओ हम राष्ट्र संघ की इस महासभा में अपना स्पष्ट शांति-मंतव्य प्रकट करें और यह देखें कि क्या हम अपने ही जमाने में विश्व को न्यायपूर्ण तथा स्थायी शांति प्रदान करने की दिशा में अग्रसर कर सकते हैं।",

(कैनेडी के ओजस्वी विचार)

EXERCISES.

1 Describe the composition and powers of the Security Council of U N To what extent it is better qualified to establish world peace than the Council of the League of Nations ?

संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद के संगठन और उसकी शक्तियों का वर्णन कीजिये। राष्ट्र संघ की परिषद की अपेक्षा विश्व शांति की दिशा में यह किस सीमा तक अधिक श्रेष्ठ एवं साधन सम्पन्न है ?

2 Describe the mechanism for Collective Security under the charter of the United Nations and show how it *differs from the Collective Security System* under the Covenant of the League of Nations

संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था का वर्णन कीजिए और बताइये कि राष्ट्र संघ के संविदा के अन्तर्गत स्थापित सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था से यह कहाँ तक भिन्न है।

3. "U N O is going the way of League of Nations." Discuss.

"संयुक्त राष्ट्र संघ की वही गति होने जा रही है जो राष्ट्र संघ की हुई थी।" विवेचना कीजिए।

Write an essay on working of the U.N. as an instrument for the establishment of world peace

विश्व-शांति की स्थापना के एक यंत्र के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्य पर एक निबन्ध लिखिये।

Discuss the various international problems tackled by the U.N How far it has been able to solve them ?

संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा की गयी विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं की विवेचना कीजिए। यह उनकी समाधान करने में कहाँ तक सफल हुआ है ?

What problems did the U.N face during 1964-65 and how far it has been able to solve them ?

१९६४-६५ के दौरान संयुक्त राष्ट्र ने किन समस्याओं का सामना किया और यह उनका समाधान करने में किस सीमा तक सफल हुआ ?

Discuss the Utility of the U N in International Politics.

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में संयुक्त राष्ट्र संघ की उपयोगिता की विवेचना कीजिए।

Assess the successes or failures of the United Nations in respect of pacific settlements of the international disputes and collective security. Give illustrations.

अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधानों और सामूहिक सुरक्षा के विषय में संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलताओं या असफलताओं का मूल्यांकन कीजिए।

9 How far has U N O been successful in applying the *system of security* ? Answer with illustrations.

सामूहिक सुरक्षा पद्धति को कार्यान्वित करने में संयुक्त राष्ट्र संघ कहां तक सफल रहा है ? उदाहरण सहित उत्तर दीजिए।

10 "Korea gave the world hope that the nations could take collective action if not against a great power certainly against setellite of great power (Clark M Eicheberger) Discuss.

"कोरिया के विवाद ने विश्व को यह आशा दी थी कि यदि बड़ी शक्ति के विरुद्ध नहीं तो कम से कम एक बड़ी शक्ति के अधीन राज्य (Setellite) के विरुद्ध तो निश्चय ही सामूहिक कार्यवाही कर सकते हैं। विवेचना कीजिए।

11 What is meant by *Collective Security and what* are its problems ? Is there any alternative to Collective Security ?

सामूहिक सुरक्षा परिपद से क्या तात्पर्य है तथा उसकी समस्यायें क्या हैं ? क्या सामूहिक सुरक्षा का कोई अन्य स्थानापन्न उपाय है ?

12. "... ... In fact, the U N must act as a limited govt. If the world is to have peace it has no other choice." Discuss.

"यदि विश्व शांति प्राप्त करना चाहता है तो संयुक्त राष्ट्र संघ को एक सीमित सरकार के रूप में कार्य करना चाहिए, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं।" विवेचना कीजिए।

13 "Here, then is the U N and international personality clothed by its frams with authority to operate on an international plane and whose members have taken important obligations toward it But it is neither a state nor a superstate. The dilema is inherent in the development of world society" (Clark, M Eicheberger), Discuss.

"संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व है जिसके निर्माताओं ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने की शक्ति का जामा पहनाया है तथा जिसके सदस्यों ने इसके प्रति महत्वपूर्ण दायित्व संभाले हैं। किन्तु यह न तो एक राज्य है और न ही सर्वोच्च राज्य। यह अन्तर्विरोध तो विश्व समाज के विकास में निहित ही रहता है।" विवेचना कीजिए।

14 "In the final analysis it is up to the statesman and the people they represent to make a success of the United Nations." Discuss.

"विस्लेषण के अन्त में संयुक्त राष्ट्र संघ को सफल बनाने का काम इसका प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों तथा राजनीतिज्ञों पर ही निर्भर है।" विवेचना कीजिए।

5 "It is fortunate for the peace of the world that the charter has been liberally interpreted, instead of bein astraight jacket." Discuss.

"विश्व-शांति के लिए यह सौभाग्यपूर्ण होगा कि चार्टर की कठोरता की अपेक्षा उदारतापूर्वक व्याख्या की जाय।" विवेचना कीजिए।

5

निःशस्त्रीकरण

(DISARMAMENT)

१ युद्धोत्तरकालीन निःशस्त्रीकरण वार्तायें

(i) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था

(ii) अणु शक्ति आयोग की स्थापना

(iii) परम्परागत हथियारों का आयोग

(iv) संयुक्त राष्ट्र संघीय निःशस्त्रीकरण आयोग और इसके विभिन्न सम्मेलन

(v) रूस एवं अमेरिका द्वारा प्रस्तुत किये गये विभिन्न प्रस्ताव एवं प्रति प्रस्ताव उन्मुक्त आकाश योजना, इसके विरोध में प्रस्तुत की ख्रुश्चेव की योजना, लन्दन सम्मेलन बुल्गानिन योजना, रापाकी योजना, विभिन्न जेनेवा सम्मेलन, ख्रुश्चेव की व्यापक और पूर्ण निःशस्त्रीकरण की योजना आदि।

(vi) दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन और इसमें दोनों पक्षों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न निःशस्त्रीकरण योजनायें

(vii) निःशस्त्रीकरण पर राष्ट्रपति कैनेडी का स्मरणीय भाषण

(viii) अणु-परीक्षण-प्रतिबन्ध संधि

२ निःशस्त्रीकरण की दिशा में १९६३ के उपरान्त किये गये प्रयास

"संयुक्त राज्य अमेरिका और भारत के राष्ट्रपति इस बात में सहमत हैं कि विज्ञान और टेक्नोलोजी के क्षेत्रों में आश्चर्यजनक प्रगति ने मानव जाति के हाथों में महान् शक्ति प्रदान कर दी है जिसका प्रयोग मानव जाति के हित और विनाश दोनों के लिये किया जा सकता है। अतः सब सम्बन्धित लोगों के लिये यह आवश्यक है कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग में [illegible] बात की व्यवस्था कि शांति बनी रह सके और विज्ञान और टेक्नोलोजी द्वारा प्रदान की गई महान् शक्ति का प्रयोग मानव जाति के हित के लिये किया जायेगा।"

—राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन और राष्ट्रपति जॉन एफ० कैनेडी

"जब पशु इकट्ठे हो गए तब सिंह ने गरुड़ की ओर देखा और गम्भीरतापूर्वक कहा "हमें शिकारी पक्षियों के नखों (Talons) को समाप्त कर देना चाहिये।" गरुड़ ने हाथी की ओर देखा और कहा "हमें गजदन्तों को समाप्त कर देना चाहिये।" हाथी ने चीते की ओर फिर कर देखा और कहा "हमें पंजों और नाखूनों को समाप्त कर देना चाहिये।"

"इस प्रकार प्रत्येक पशु ने बारी-बारी से उन शस्त्रों को समाप्त करने का प्रस्ताव रखा जो उसके पास नहीं थे जब तक कि अन्त में भालू नहीं उठा और उसने हर्ष और उसमें मधुर युक्ति-युक्तता के स्वर में कहा, 'कॉमरेडों! हमें सब चीजों को समाप्त कर दें, ऐसे दो-चार चीजों को सिवाय महान् सर्वव्यापी आलिंगन के।"

—सालवेडोर डी० मेड्रीयागा

निःशस्त्रीकरण

निःशस्त्रीकरण की समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी विश्व शान्ति की समस्या। आधुनिक युग में यह समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या है और इसके उचित समाधान पर ही संसार का सम्पूर्ण भविष्य निर्भर करता है। जापान के नागासाकी और हिरोशिमा आज भी पुकार-पुकार कर कह रहे हैं कि मनुष्य को चेत जाना चाहिए, उसे अपने प्रलयकारी शस्त्रों का निर्माण बन्द कर देना चाहिए, अन्यथा उसके द्वारा पैदा किए हुए ये शस्त्र क्षण भर में इस पृथ्वी का सारा सामान तैयार कर देंगे। इसीलिए तो अमरिका के स्वर्गीय राष्ट्रपति कैनेडी ने कहा था—

"मानव का मस्तिष्क, मानव के हृदय और मानव की आध्यात्मिक आकांक्षाओं सभी की यही कामना है कि ह्रास के इतिहास की धारा उलट जाए, विनाश के अनवरत बढ़ते हुए समूह का स्थान मानव की सफलताओं के लिए उन्मुक्त निरन्तर बढ़ते हुए अवसर ले लें। यह कार्य मानवता की नियम-सूची की सबसे पहली मद होनी चाहिए।"

निःशस्त्रीकरण की समस्या इतनी महत्त्वपूर्ण, इतनी निर्णयात्मक और इतनी तात्कालिक पहले कभी नहीं थी जितनी आज है। आधुनिक शस्त्रास्त्रों की संहारक शक्ति प्रथम महायुद्ध काल में ही इतनी बढ़ गई थी कि विश्व के राजनीतिज्ञ उससे चिन्तित हो उठे थे परन्तु द्वितीय महायुद्ध में अणुबम के विकास और उसके पश्चात् हाइड्रोजन बमों, अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों (Inter Continental Ballistic Missiles) तथा स्पूतनिक आदि के विकास ने युद्ध को एक भयावह कल्पना बना दिया है। अब यह स्पष्ट हो गया है कि यदि तृतीय महायुद्ध हुआ तो सम्पूर्ण मानवता का ही विनाश हो जायगा, विजित और विजेता का कोई अन्तर अवशिष्ट नहीं रहेगा। महान् वैज्ञानिक आइन्स्टीन का यही आशय था जब उन्होंने यह पूछे जाने पर कि तृतीय महायुद्ध कैसा होगा जवाब दिया था "तृतीय महायुद्ध के बारे में तो मैं नहीं कह सकता, परन्तु चौथा निश्चय ही पाषाण अस्त्रों से होगा।" आज विश्व के सभी विवेकशील व्यक्ति इस विषय में एकमत हैं कि शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा का रोका जाना मानव-सभ्यता की रक्षा के लिए आवश्यक है। लार्ड ग्रे (Lord Grey) का यह कहना शत-प्रतिशत ठीक है कि—"यदि सभ्यता शस्त्रास्त्रों का नाश नहीं कर सकती है तो शस्त्रास्त्र सभ्यता का नाश कर देंगे।" किन्तु इस अनुभूति के बावजूद निःशस्त्रीकरण की दिशा में अविलंब प्रभावशाली कदम उठाने में देर होती जा रही है। यह देर भी घातक सिद्ध हो सकती है, यह शायद विश्व-नेताओं की समझ में अभी नहीं आ रहा है।

युद्धोत्तरकालीन निःशस्त्रीकरण-वार्तायें

(The Post World War Disarmament Talks)

द्वितीय महायुद्ध के बाद निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में जो वार्तायें सम्पन्न हुई हैं उनका इतिहास मोटे रूप में दो भागों में विभाजित हो सकता

है—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्तायें सम्मिलित हैं जब केवल अमरिका ही अणुबम का स्वामी था। द्वितीय भाग का आरम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणुबम का निर्माण कर लिया। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूंजीवादी व साम्यवादी दोनों ही पक्षों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस क्षेत्र में किये जाने वाले प्रयासों का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्र संघ भी है तथा निजी वार्तायें भी।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था—यद्यपि राष्ट्र संघ के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण के प्रयास असफल रहे थे किन्तु विश्व के राजनीतिज्ञों ने निःशस्त्रीकरण की आशा न त्यागते हुए संयुक्त राष्ट्र द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास जारी रखे। और तो और, नाजी आक्रान्ताओं से जूझते समय भी संयुक्त राज्य अमेरिका व ग्रेट ब्रिटेन ने १९४१ के अटलान्टिक चार्टर में स्पष्ट रूप से घोषित किया—

उनका विश्वास है कि संसार के राष्ट्रों को यथार्थवादी और साथ ही आध्यात्मिक कारणों से भी शक्ति-प्रयोग के त्याग के निश्चय पर पहुँच जाना चाहिए क्योंकि कोई भी भावी शान्ति सुरक्षित नहीं रखी जा सकती है यदि जल-थल और वायु के अस्त्र शस्त्र उन राष्ट्रों द्वारा प्रयुक्त किये जाते रहे हैं जो अपनी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी देते हैं या दे सकते हैं। इसीलिए उनका विश्वास है कि सामान्य सुरक्षा की एक व्यापकतर और स्थायी पद्धति की स्थापना नहीं होने तक ऐसे राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। इसी प्रकार वे उन अन्य सभी व्यावहारिक उपायों को सहायता और प्रोत्साहन देंगे जो शान्तिप्रिय लोगों के लिए अस्त्र शस्त्रों के अपमर्दक भार (Crushing Burden) को कम कर देंगे।"

१९४५ में जब संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हो गई तो उसके चार्टर में निःशस्त्रीकरण की समस्या को एक नवीन दृष्टि से देखा गया और इसे एक नैतिक कर्त्तव्य की अपेक्षा आर्थिक वरदान अधिक माना गया। १९५३ में इसी विचार पर बल देते हुए जनरल आइजनहावर ने कहा था—"प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावतरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थों में उन लोगों के प्रति—जो भूखे रहते हैं और जिन्हें खाना नहीं खिलाया जाता, जो ठिठुरते हैं किन्तु जिन्हें वस्त्र नहीं दिये जाते—एक चोरी का सूचक होता है।"

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर निःशस्त्रीकरण को महासभा तथा सुरक्षा परिषद दोनों ही की कर्त्तव्य-सूची में सम्मिलित करता है। अनुच्छेद ११ में कहा गया है—"महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है, इनमें निःशस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण के सिद्धान्त भी शामिल हैं। अनुच्छेद २६ में उल्लिखित है—"अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की ऐसे ढंग से स्थापना करने और ऐसे ढंग से उसे बनाये रखने के लिए कि जिसमें संसार की जन-शक्ति और आर्थिक साधनों की कम से कम मात्रा शस्त्रों पर खर्च हो सुरक्षा परिषद पर यह भार होगा कि वह अनुच्छेद ४७ में बताई सैनिक

समता समिति की सहायता से ऐसी योजनाओं को संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के सामने रखे जिनसे शस्त्र नियन्त्रण की एक पद्धति स्थापित हो सके।

आगे चल कर चार्टर का अनुच्छेद ४७ इस बात की व्यवस्था करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना और अभिवृद्धि के लिए सुरक्षा परिषद सेना-स्टाफ समिति की सहायता से ऐसी योजनायें बनाने के लिए उत्तरदायी होगी जिसमें संसार के मनुष्यों के आर्थिक साधनों का उपयोग शस्त्रीकरण के लिए कम से कम हो। ये योजनायें संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के सामने पेश की जायेंगी जिससे कि वे शस्त्रों के नियमन की समुचित व्यवस्था स्थापित कर सकें।

अणुशक्ति आयोग की स्थापना (जनवरी १९४६)–U N O ने प्रारम्भ से ही निःशस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू कर दिया। चूंकि हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबमों के विस्फोट ने विश्व के सभी राष्ट्रों को स्तब्ध कर दिया था और वे अणुशक्ति की भयंकरता से काँप उठे थे अतः अणुशक्ति के नियन्त्रण का ध्यान सबसे पहले उनके जनमानस को उद्वेलित करने लगा। युद्ध काल में संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन और कनाडा ने तथा अन्य राष्ट्रों ने यह भली भाँति समझ लिया था कि अणुशक्ति का नियन्त्रण राष्ट्रीय स्तर पर नहीं किया जा सकता। अतः नवम्बर १९४५ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति तथा ब्रिटेन और कनाडा के प्रधान मन्त्रियों ने संयुक्त रूप से यह घोषणा की कि संयुक्त राष्ट्र संघ अणुशक्ति का नियंत्रण अपने हाथ में ले ले। सोवियत संघ ने भी इस घोषणा का समर्थन किया। फलस्वरूप संघ द्वारा परमाणु शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना २४ जनवरी, १९४६ को कर दी गयी जिसका प्रधान उद्देश्य था–

"एक ऐसी योजना का निर्माण जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन का अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत रखने को तैयार हो जाय ताकि केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए इसके उपयोग की निश्चित व्यवस्था की जा सके और आणविक तथा सामूहिक विनाश के अन्य सभी शस्त्रों का पूर्ण निषेध किया जा सके।"

अणु शक्ति आयोग में सुरक्षा परिषद् के सदस्यों के एक-एक प्रतिनिधि के अतिरिक्त कनाडा का भी एक प्रतिनिधि लिया गया। आयोग से यह अपेक्षा की गयी कि वह सुरक्षा परिषद् के नियंत्रण में कार्य करेगा। परिषद् ने आयोग को आदेश दिया कि वह तेजी से कार्य करते निम्नलिखित विषयों पर निश्चित प्रस्ताव तैयार करे —

१ शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए बुनियादी वैज्ञानिक ज्ञान को समस्त राष्ट्रों के मध्य विनिमय करना,

२ अणुशक्ति का इस प्रकार नियमन करना कि उसका प्रयोग केवल शांतिपूर्ण प्रयोजनों के लिए ही हो सके एवं

३ अणु शस्त्रों और ऐसे दूसरे शस्त्रास्त्रों को राष्ट्रीय शस्त्रागारों से निकालना जिनसे मानव-जाति का व्यापक संहार किया जा सकता हो।

है—प्रथम भाग के अन्तर्गत उस समय तक की वार्तायें सम्मिलित हैं जब केवल अमेरिका ही अणुबम का स्वामी था द्वितीय भाग का प्रारम्भ तब से माना जा सकता है जब सोवियत संघ ने भी अणुबम का निर्माण कर लिया। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में पूंजीवादी व साम्यवादी दोनों ही खेमों में विरोधी दृष्टिकोण मिलता है और इस क्षेत्र में किए जाने वाले प्रयासों का क्षेत्र संयुक्त राष्ट्र संघ भी है तथा निजी वार्तायें भी।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में निःशस्त्रीकरण की व्यवस्था—यद्यपि राष्ट्र संघ के अन्तर्गत निःशस्त्रीकरण के प्रयास असफल रहे थे किन्तु विश्व के राजनीतिज्ञों ने निःशस्त्रीकरण की आशा न त्यागते हुए संयुक्त राष्ट्र द्वारा निःशस्त्रीकरण के प्रयास जारी रखे। और तो और, नाजी आक्रान्ताओं से जूझते समय भी संयुक्त राज्य अमेरिका व ग्रेट ब्रिटेन ने १९४१ के अटलान्टिक चार्टर में स्पष्ट रूप से घोषित किया—

"उनका विश्वास है कि संसार के राष्ट्रों को यथार्थवादी और साथ ही आध्यात्मिक कारणों से भी शक्ति-प्रयोग के त्याग के निश्चय पर पहुँच जाना चाहिए क्योंकि कोई भी भावी शांति सुरक्षित नहीं रखी जा सकती है यदि थल-जल और वायु के अस्त्र-शस्त्र उन राष्ट्रों द्वारा प्रयुक्त किए जाते रहे हैं जो अपनी सीमाओं के बाहर आक्रमण की धमकी देते हैं या दे सकते हैं। इसीलिए उनका विश्वास है कि सामान्य सुरक्षा की एक व्यापकतर और स्थायी पद्धति की स्थापना नहीं होने तक ऐसे राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण आवश्यक है। इसी प्रकार वे उन अन्य सभी व्यावहारिक उपायों को सहायता और प्रोत्साहन देंगे जो शांतिप्रिय लोगों के लिए अस्त्र शस्त्रों के भयावने भार (Crushing Burden) को कम कर देंगे।"

१९४५ में जब संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हो गई तो उसके चार्टर में निःशस्त्रीकरण की समस्या को एक नवीन दृष्टि से देखा गया और इसे एक नैतिक कर्तव्य की अपेक्षा आर्थिक बचाव अधिक माना गया। १९५३ में इसी विचार पर बल देते हुए जनरल आइजनहावर ने कहा था—"प्रत्येक बन्दूक जिसे बनाया जाता है, प्रत्येक युद्धपोत जिसका जलावतरण किया जाता है, प्रत्येक रॉकेट जिसे छोड़ा जाता है, अन्तिम अर्थों में उन लोगों के प्रति—जो भूखे रहते हैं और जिन्हें खाना नहीं खिलाया जाता, जो ठिठुरते हैं किन्तु जिन्हें वस्त्र नहीं दिये जाते—एक चोरी का सूचक होता है।"

संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर निःशस्त्रीकरण को महासभा तथा सुरक्षा परिषद दोनों ही की कर्तव्य-सूची में सम्मिलित करता है। अनुच्छेद ११ में कहा गया है—"महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग के सामान्य सिद्धान्तों पर विचार कर सकती है इनमें निःशस्त्रीकरण और शस्त्र-नियन्त्रण के सिद्धान्त भी शामिल होंगे ।" अनुच्छेद २६ में सम्मिलित है— "अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की ऐसे ढंग से स्थापना करने और ऐसे ढंग से उसे बनाये रखने के लिए कि जिसमें संसार की जन शक्ति और आर्थिक साधनों की कम से कम मात्रा शस्त्रों पर खर्च हो सुरक्षा परिषद पर यह भार होगा कि वह अनुच्छेद ४७ में बताई सैनिक

सेना-स्टाफ समिति की सहायता से ऐसी योजनाओं को संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों के सामने रखे जिनसे शस्त्र नियन्त्रण की एक पद्धति स्थापित हो सके।

इसी प्रकार चार्टर का अनुच्छेद ४७ इस बात की व्यवस्था करता है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना और अभिवृद्धि के लिए सुरक्षा परिषद् सेना-स्टाफ समिति की सहायता से ऐसी योजनायें बनाने के लिए उत्तरदायी होगी जिनसे संसार के मनुष्यों के आर्थिक साधनों का उपयोग शस्त्रीकरण के लिए कम से कम हो। ये योजनायें संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के सामने पेश की जायेंगी जिससे कि वे शस्त्रों के नियमन की समुचित व्यवस्था स्थापित कर सकें।

अणुशक्ति आयोग की स्थापना (जनवरी १९४६)—U N O ने प्रारम्भ से ही निःशस्त्रीकरण की समस्या पर ध्यान देना शुरू कर दिया। चूंकि हिरोशिमा और नागासाकी पर अणुबमों के विस्फोट ने विश्व के सभी राष्ट्रों को स्तब्ध कर दिया था और वे अणुशक्ति की भयंकरता से कांप उठे थे अत अणुशक्ति के नियन्त्रण का ध्यान सबसे पहले उनके मनमानस को उद्वेलित करने लगा। युद्ध काल में संयुक्त राज्य अमरिका ब्रिटेन और कनाडा ने तथा अन्य राष्ट्रों ने यह भली भांति समझ लिया था कि अणुशक्ति का नियंत्रण राष्ट्रीय स्तर पर नहीं किया जा सकता। अत नवम्बर १९४५ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति तथा ब्रिटेन और कनाडा के प्रधान मन्त्रियों ने संयुक्त रूप से यह घोषणा की कि संयुक्त राष्ट्र संघ अणुशक्ति का नियन्त्रण अपने हाथ में ले ले। सोवियत संघ ने भी इस घोषणा का समर्थन किया। फलस्वरूप संघ द्वारा परमाणु शक्ति आयोग (Atomic Energy Commission) की स्थापना २४ जनवरी, १९४६ को कर दी गयी जिसका प्रधान उद्देश्य था—

"एक ऐसी योजना का निर्माण जिसके अन्तर्गत राष्ट्र परमाणु शक्ति के उत्पादन को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अन्तर्गत रखने को तैयार हो जाय ताकि केवल शान्तिपूर्ण उद्देश्यों के लिए इसके उपयोग की निश्चित व्यवस्था की जा सके और आणविक तथा सामूहिक विनाश के अन्य सभी शस्त्रों का पूर्ण निषेध किया जा सके।"

अणु शक्ति आयोग में सुरक्षा परिषद् के सदस्यों के एक-एक प्रतिनिधि के अतिरिक्त कनाडा का भी एक प्रतिनिधि लिया गया। आयोग से यह अपेक्षा की गयी कि यह सुरक्षा परिषद् के नियंत्रण में कार्य करेगा। परिषद् ने आयोग को आदेश दिया कि वह तेजी से कार्य करते हुए निम्नलिखित विषयों पर निश्चित प्रस्ताव तैयार करे —

१ शांतिपूर्ण उद्देश्यों के लिए बुनियादी वैज्ञानिक ज्ञान को समस्त राष्ट्रों के मध्य विनिमय करना

२ अणुशक्ति का इस प्रकार नियमन करना कि उसका प्रयोग केवल शांतिपूर्ण प्रयोजनों के लिए ही हो सके एवं

३ अस्त्र शस्त्रों और ऐसे दूसरे शस्त्रास्त्रों को राष्ट्रीय शस्त्रागारों से निकालना जिनसे मानव-जाति का व्यापक संहार किया जा सकता हो।

अणु शक्ति आयोग के आदेशों का पालन करने वाले राज्यों की अतिक्रमणकारी राज्यों से रक्षा करने हेतु निरीक्षण आदि की ठीक व्यवस्था करने के लिए १४ जून १९४६ को न्यूयार्क में आयोग की पहली बैठक हुई। इस बैठक में संयुक्त राज्य अमेरिका की ओर से बर्नार्ड बरूच ने और सोवियत संघ की ओर से ग्रामिको ने अणु शक्ति नियन्त्रण के प्रस्ताव रखे। संयुक्त राज्य अमेरिका चाहता था कि—

(i) एक अन्तर्राष्ट्रीय आणविक विकास सत्ता (International Atomic Development Authority) का निर्माण किया जाय जो कच्चे माल से लेकर अणु शक्ति के विकास एवं प्रयोग के प्रत्येक पहलू पर नियंत्रण करे।

(ii) पहले अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की स्थापना हो और तत्पश्चात् अणु बमों के उत्पादन पर रोक लगा दी जाय।

(iii) अणु शक्ति के उत्पादन के साधन और उन पर नियन्त्रण की सत्ता केवल संयुक्त राष्ट्र संघ के हाथों में रहे।

(iv) जब सुरक्षा परिषद् किसी अवैध उत्पादन पर किसी राज्य के विरुद्ध कार्यवाही करने पर विचार करे तो परिषद् के स्थायी सदस्यों को निषेधाधिकार के प्रयोग की शक्ति प्राप्त न हो।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने न केवल उपरोक्त प्रस्ताव ही पेश किये बल्कि साथ ही यह भी घोषणा की कि यदि विश्व के सब देशों में अणु शक्ति पर संयुक्त राष्ट्र संघ का नियन्त्रण स्थापित हो जाय तो वह अणुबम के निर्माण का रहस्य बता देगा और अपने सभी अणुबमों को नष्ट भी कर देगा।

सोवियत संघ ने अमेरिकन प्रस्ताव के विरोध में अपने भिन्न प्रस्ताव रखे। सोवियत प्रस्ताव में निषेधाधिकार के प्रयोग और राज्यों द्वारा अणु शक्ति के उत्पादन की व्यवस्था थी परन्तु साथ ही वह यह भी चाहता था कि अणु बमों के तत्कालीन संग्रह को तुरन्त नष्ट कर दिया जाय।

परिषद के आदेश के अनुसार कार्यवाही करते हुए आयोग ने एक-एक करके प्रथम तीन प्रतिवेदन परिषद के सम्मुख रखे। आयोग के प्रथम प्रतिवेदन पर परिषद द्वारा ३ फरवरी से १० मार्च १९४७ तक होने वाले सत्र (Session) में विचार किया गया। अमेरिकन गुट ने सामान्यतः प्रतिवेदन का समर्थन किया जबकि सोवियत संघ की ओर से कुछ संशोधन रखे गये। ये संशोधन ११ जून १९४७ को अणु शक्ति आयोग के पास भेज दिये गये। आयोग का दूसरा प्रतिवेदन ११ सितम्बर १९४७ को परिषद के सामने आया। १६ जनवरी से ९ मार्च १९४८ तक आयोग ने सोवियत संशोधनों पर विचार किया और अन्त में ५ अप्रैल को उन्हें अस्वीकार कर दिया। १७ मई १९४८ को रूस और पोलैण्ड की असहमति के बावजूद आयोग ने तीसरा प्रतिवेदन पेश करते हुए परिषद से प्रार्थना की कि उसके तीनों प्रतिवेदन महासभा के सम्मुख रखे जावें। इस तीसरे प्रतिवेदन का आशय यह था कि "किसी भी राज्य को चाहे उसका आकार,-उसकी शक्ति

और स्थिति कुछ भी हो तब तक आणविक-शस्त्रों के विरुद्ध सुरक्षा प्राप्त नहीं हो सकती जब तक कि एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की स्थापना नहीं हो जाती। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय प्रभुता से उत्पन्न होने वाले परम्परागत विशेष अधिकारों पर आयोग की योजना से जो प्रभाव पड़ता है उससे आयोग अपरिचित नहीं है, तथापि आयोग यह अनुभव करता है कि आज सिवाय इसके कोई चारा नहीं रह गया है कि संसार के राष्ट्र इस क्षेत्र में अपनी प्रभुता को बाँट लें।

आयोग की इच्छानुसार उसके तीनों प्रतिवेदन महासभा के समक्ष प्रस्तुत कर दिये गये। महासभा ने आयोग की योजना को व्यावहारिक मानते हुए उसे संयुक्त राष्ट्र संघ की योजना कह कर पुकारा। सभा ने आयोग को अपना कार्य जारी रखने के लिए कहा।

परम्परागत हथियारों का आयोग—संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा अणु शक्ति आयोग की स्थापना के कुछ मास उपरान्त २९ अक्टूबर १९४६ को सोवियत विदेश मंत्री श्री वी. एम. मोलोटोव (V. M. Molotov) ने महासभा के सम्मुख यह प्रस्ताव रखा जिसमें यह कहा गया कि संसार के सारे राष्ट्रों के हथियार कम किये जायें और सैनिक प्रयोग के लिए अणु शक्ति का न तो उत्पादन किया जाय और न प्रयोग ही। यह प्रस्ताव महासभा के बहुमत का समर्थन प्राप्त नहीं कर सका। साम्यवादी देशों के आलोचकों ने कहा कि प्रस्तुत प्रस्ताव उसी प्रकार सोवियत संघ की प्रचारात्मक नीति का परिचायक है जिस प्रकार नवम्बर १९२७ में सोवियत प्रतिनिधि लिटविनोव (Litvinov) का वह प्रस्ताव था जिसमें सम्पूर्ण निःशस्त्रीकरण और विसैन्यीकरण की बात कही गयी थी। इसी प्रस्ताव के उपरान्त महासभा के सामने एक दूसरा प्रस्ताव संयुक्त राज्य अमरिका की ओर से आया। इसके आधार पर १४ दिसम्बर १९४६ को महासभा में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पारित किया जिसमें अणुशक्ति आयोग के कार्य को बढ़ाने तथा सुरक्षा परिषद को शस्त्रों को सीमित एवं मर्यादित करने की सिफारिश की गयी। दूसरे शब्दों में इस प्रस्ताव का आशय था कि अणु शक्ति आयोग अपने कार्य में तीव्रता लाये तथा सुरक्षा परिषद शीघ्रतापूर्वक शस्त्रों के घटाने और उनका नियमन करने की व्यावहारिक योजनायें बनाये। इस प्रस्ताव के पारित होने के लगभग तीन मास बाद सुरक्षा परिषद ने 'परम्परागत हथियारों के आयोग' (The Commission for Conventional Armaments) की रचना की। इस आयोग में सुरक्षा परिषद के सभी सदस्य थे। इस आयोग का कार्य केवल परम्परागत शस्त्रों को सीमित एवं नियमित करने के प्रस्ताव रखना ही था अणु शस्त्रों एवं विनाश के व्यापक साधनों से इसका सम्बन्ध न था। इस कार्य के लिए परिषद द्वारा अणु शक्ति आयोग की स्थापना पहले ही की जा चुकी थी जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है।

संयुक्त राष्ट्र संघीय निःशस्त्रीकरण आयोग—निःशस्त्रीकरण के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा उपरोक्त दो आयोगों की स्थापना भी हो गई और महाशक्तियों द्वारा विविध प्रस्ताव भी रखे गये लेकिन इन सब प्रयासों का

समीक्षा कुल मिला कर शून्य रहा। शान्ति की दिशा में बढ़ने के विपरीत उल्टे इन प्रयासों ने शीत-युद्ध को प्रोत्साहन दिया। वास्तव में सच्ची बात यह थी कि दुनिया के दोनों शक्तिशाली देश (अमेरिकन तथा रूसी) अपनी कूटनीतिक पैंतरेबाजी की कला का प्रदर्शन मात्र करने में लगे हुए थे। अमरिका बराबर ऐसे प्रस्ताव प्रस्तुत करता रहा जिनको वह जानता था कि रूस कभी स्वीकार नहीं करेगा। इसी तरह रूस भी ऐसे ही प्रस्ताव रखता रहा जिनके बारे में वह जानता न था कि अमेरिका उन्हें किसी भी हालत में नहीं मानेगा। ऐसी परिस्थिति में यह स्वाभाविक था कि निःशस्त्रीकरण-वार्तालाप में कोई प्रगति नहीं हो सकी। विश्व शान्ति का भविष्य फिर अन्धकार में झांकने लगा। संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्कालीन महासचिव ट्रिग्वेली ने ६ जून १९५० को स्वयं यह स्वीकार किया कि अब तक इस मामले में (निःशस्त्रीकरण में) वस्तुतः पूर्ण असफलता रही है।

अक्टूबर १९५ में संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने निःशस्त्रीकरण के कार्य को एक संयुक्त आयोग को सुपुर्द करने की योजना रखी। नवम्बर १९५१ में संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने एक वक्तव्य द्वारा यह सिफारिश की कि शनैः शनैः प्रत्येक राज्य अपने शस्त्रास्त्रों की मात्रा की घोषणा करे और साथ ही निःशस्त्रीकरण की योजनाओं के क्रियान्वयन की जांच के लिये अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था हो। सोवियत रूस ने इन प्रस्तावों का मजाक बनाया। उसने यह सुझाव रखा कि एक सम्मेलन बुला कर आणविक शस्त्रों पर बिना किसी शर्त के प्रतिबन्ध लगाया जाय और एक कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की स्थापना की जाय। रूस ने आगे यह प्रस्ताव किया कि आणविक शस्त्रों पर प्रतिबन्ध लग जाने के पश्चात् महाशक्तियाँ एक वर्ष के भीतर अपने शस्त्रास्त्र का एक तिहाई कम कर दें जिसके निरीक्षण की समुचित व्यवस्था हो। किन्तु रूसी प्रस्ताव पश्चिमी देशों को स्वीकार न हो सका।

रूसी प्रस्ताव के ९ दिन बाद १९ नवम्बर १९५१ को पश्चिमी देशों ने राष्ट्रपति ट्रूमैन के इस सुझाव को अपने प्रस्ताव द्वारा समर्थन दिया कि 'अणु शक्ति आयोग' और 'परम्परागत हथियारों के आयोग' को मिला कर उनके स्थान पर संयुक्त निःशस्त्रीकरण आयोग' (Disarmament Commission) की स्थापना की जाय और उसे यह काम सौंपा जाय कि वह एक ऐसी सन्धि का प्रारूप तैयार करे जिसमें समस्त सशस्त्र सेनाओं और शस्त्रास्त्रों के इस दृष्टि से नियमन परिसीमन और संतुलित अपकरण (Balanced Reduction) की व्यवस्था हो जिससे प्रत्येक देश के पास सुरक्षा के लिये तो पर्याप्त साधन रह जाय परन्तु वे साधन आक्रमण की दृष्टि से पर्याप्त न हों। इस प्रस्ताव में यह भी उल्लिखित था कि आयोग विभिन्न देशों के पास शस्त्रास्त्रों का पता लगाने के लिये प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण की व्यवस्था की योजना बनाये। १९ दिसम्बर १९५१ को महासभा की राजनीतिक और सुरक्षा समिति ने पश्चिमी देशों के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया। यद्यपि अणुशक्ति आयोग और परम्परागत शस्त्रास्त्र आयोग के स्थान पर एक निःशस्त्रीकरण

आयोग की स्थापना हो गई किन्तु सोवियत विरोध के कारण आयोग द्वारा पेश किये जाने वाले प्रस्तावों को क्रियान्वित नहीं किया जा सका।

१९५२-५३ के मध्य संयुक्त राष्ट्र संघीय निःशस्त्रीकरण आयोग की अनेक बैठकें हुयीं। १९५२ में संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ने अपना प्रतिरक्षा व्यय एकदम बढ़ा दिया। २८ मई, १९५२ को अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस ने सभी देशों की सशस्त्र सेनाओं की संख्या सीमित करने के लिए एक व्यापक योजना प्रस्तुत की जिसमें यह सुझाव रखा गया कि बड़ी सैन्य शक्ति वाले सभी राष्ट्र अपनी सैन्य शक्ति की उच्चतम संख्या निर्धारित करें और इस संख्या का निर्धारण करते समय पाँचों बड़े राष्ट्रों के लिए निर्धारित उच्चतम सैन्य-संख्या को ध्यान में रखा जाय। परन्तु इन सभी योजनाओं या प्रस्तावों का कोई परिणाम नहीं निकला और निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठकों में निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई प्रगति नहीं हो सकी।

८ दिसम्बर १९५३ को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के समक्ष अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल आइजनहोवर का भाषण हुआ। अपने भाषण में राष्ट्रपति महोदय ने कल्याणकारी कार्यों के लिये अणु-सामग्री का अन्तर्राष्ट्रीय संग्रह स्थापित करने की अपील की। उनकी इस अपील के परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी (International Atomic Energy Agency) अस्तित्व में आई।

तत्पश्चात् लन्दन में १३ जून १९५४ से २२ जून १९५४ तक निःशस्त्रीकरण आयोग की पंचराष्ट्रीय उपसमिति की बैठकें हुयीं। इन बैठकों में ब्रिटिश और फ्रेंच प्रतिनिधियों ने नियन्त्रण-संगठन की स्थापना सैन्य-शक्ति और सैनिक व्यय को आगे न बढ़ने देने सामान्य शस्त्रास्त्रों और सेनाओं में संतुलित कमी (Balanced Reduction) आणविक शस्त्रास्त्रों के निर्माण के निषेध और अणु-सामग्री के कल्याणकारी उपयोग आदि के बारे में कुछ नये प्रस्ताव पेश किये। परन्तु इन सभी प्रस्तावों का कोई नतीजा नहीं निकल पाया क्योंकि सोवियत संघ की तरफ से इन प्रस्तावों पर कोई अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं हुई।

मार्च १९५५ में कनाडा फ्रांस और संयुक्त राज्य अमेरिका ने संयुक्त रूप से एक नये प्रस्ताव का मसविदा तैयार किया जिसे महासभा के समक्ष प्रस्तुत किया जा सके। इस प्रस्ताव में सामूहिक विनाश के शस्त्रास्त्रों के निर्माण और उपयोग पर रोक लगाने की तथा सशस्त्र सेनाओं व सामान्य शस्त्रास्त्रों में भी कटौती करने की बात कही गई थी। परन्तु जब निःशस्त्रीकरण उपसमिति की बैठक में इस प्रस्ताव पर विचार हुआ तो समिति के शक्तिशाली सदस्य सोवियत संघ ने इसे आगे नहीं बढ़ने दिया।

इसके बाद मई, १९५५ में निःशस्त्रीकरण-उपसमिति में सोवियत संघ ने स्थाई निरीक्षकों की नियुक्ति करने के सम्बन्ध में अपनी योजना प्रस्तुत की। इस योजना में शस्त्रास्त्रों की जाँच-पड़ताल का कार्य करने वाले निरीक्षकों का अधिकार क्षेत्र बहुत संकुचित कर दिया गया था। अतः पश्चिमी राष्ट्रों ने इस रूसी योजना को मानने से इन्कार कर दिया।

इस प्रकार १९५५ तक पूरी तरह यह स्थिति ही चलती रही कि एक पक्ष की ओर से निःशस्त्रीकरण के जो प्रस्ताव आते दूसरे पक्ष की ओर से उन्हें ठुकरा दिया जाता।

'उन्मुक्त आकाश' योजना—जुलाई १९५५ में जेनेवा में अमरिका के राष्ट्रपति मार्शल साथ ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधानमंत्रियों का एक शिखर सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में राष्ट्रपति आइजनहोवर ने 'खुले आकाशों' की योजना (Open Skies Plan) रखी। इस योजना का अभिप्राय था कि अमेरिका और रूस अपनी सैनिक गतिविधियों से एक दूसरे को अवगत करायें तथा एक दल को दूसरे देश के आकाश पर निरीक्षण करने का अवसर दें। इस योजना के अन्तर्गत दोनों पक्षों के मध्य जिन सूचनाओं के पारस्परिक विनिमय का सुझाव रखा गया वे इस प्रकार थीं—

(क) सैनिक टुकड़ियों की संख्या, ठिकानों और निवासों तथा शस्त्रागारों के सम्बन्ध में पूर्ण और विस्तृत विवरण।

(ख) शस्त्र-सामग्री तैयार करने वाले कारखानों और सैनिक अड्डों की क्षमता, संख्या तथा स्थिति आदि के बारे में पूर्ण और विस्तृत विवरण एवं

(ग) विमान उपकरणों और फोटोग्राफी के आधुनिकतम उपकरणों की सहायता से और सामान्य ढंग से आकाश से हवाई चौकसी तथा निरीक्षण आदि की पूर्ण सुविधायें।

अमेरिकन प्रस्ताव पर सोवियत रूस की प्रतिक्रिया अनुकूल नहीं हुई। रूस को अमरिका की योजना इसलिये मान्य नहीं हुई क्योंकि अमेरिका के सैनिक अड्डे तो संसार भर में फैले हुए हैं अतः रूस के लिए उसकी शक्ति का आंकना असम्भव था जबकि रूस का सैन्य संगठन अपने ही देश में था। अतः इस योजना से अमरिका रूस का सारा भेद जान जाता।

अमरिका योजना के विरोध में रूसी प्रधानमंत्री श्री बुल्गानिन ने एक नवीन योजना प्रस्तुत की जिसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

(क) एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण एजेन्सी की स्थापना हो जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर निरीक्षकों की नियुक्ति की जाय।

(ख) सभी देशों से विदेशी सैनिक अड्डे समाप्त किये जायें।

(ग) आणविक अस्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाया जाय।

(घ) परम्परागत शस्त्रों में कमी की जाय।

रूस की यह योजना अमेरिका को मान्य नहीं हुई। अक्टूबर १९५५ में इस समस्या का हल करने के लिए एक बार बड़े देशों के विदेशमंत्रियों की बैठक हुई पर उसमें भी यह मतभेद दूर नहीं हो सका।

सितम्बर १९५५ में भारत ने सुझाव दिया कि आणविक अस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाया जाय और शस्त्रों के सम्बन्ध में अल्पकालीन समझौता किया जाय किन्तु अमेरिका ने भारतीय सुझाव को अमान्य ठहरा दिया जबकि रूस इसे स्वीकार करने के पक्ष में था। दिसम्बर १९५५ में ही संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने यह सिफारिश की कि प्रारम्भिक निःशस्त्रीकरण समझौता-वार्ता में राष्ट्रपति आइजनहोवर की 'उन्मुक्त आकाश'

योजना जैसे एक-दूसरे के प्रति विश्वास की भावना को सबल बनाने वाले कदमों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

लन्दन-सम्मेलन—इसके बाद १९५५ की फरवरी तक निःशस्त्रीकरण उपसमिति की कई बैठकें हुयीं। किन्तु इस समय तक दोनों गुटों में मतभेद बहुत गहरा हो चुका था और पूर्ण गतिरोध की स्थिति पैदा हो गयी थी। इस हालत में १४ जून १९५७ को लन्दन में निःशस्त्रीकरण आयोग की एक उपसमिति की बैठक शुरू हुई जिसमें सोवियत संघ ने निम्नलिखित तीन सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत किया—

(i) दो वर्ष के लिए आणविक परीक्षण बन्द कर दिये जायें

(ii) परीक्षण की बन्दी को कार्यान्वित करने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की जाय एवं

(iii) उपयुक्त वैज्ञानिक यन्त्रों सहित अमेरिका रूस व ब्रिटेन को मिला कर प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र में नियंत्रण चौकियां स्थापित की जायें ताकि इस समझौते के कार्यकारण पर निगरानी रखी जा सके।

सोवियत रूस का यह प्रस्ताव एक ठोस प्रस्ताव था, किन्तु फिर भी पश्चिमी राष्ट्रों ने इसे अमान्य कर दिया और बदले में अपने सुझाव देते रहे। लगभग १० सप्ताहों तक उपसमिति इन विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार करती रही। इस विचार विमर्श के दौरान आइजनहोवर ने अपने 'उन्मुक्त आकाशों' के प्रस्ताव को पुनः पेश किया जिसे सोवियत संघ ने किसी भी रूप में मानने से इन्कार कर दिया। २९ अगस्त १९५७ को अमेरिका कनाडा ब्रिटेन और फ्रांस ने मिल कर एक व्यापक निःशस्त्रीकरण की योजना प्रस्तुत की जिसमें दो वर्षों की अवधि के लिए आणविक परीक्षणों को स्थगित करने के अलावा यह भी कहा गया कि शस्त्रास्त्रों के निर्माण हेतु विखण्डनीय सामग्री के उत्पादन पर भी रोक लगायी जाय। इस योजना में कल्याणकारी कार्यों के लिए वर्तमान अणु-सामग्री भण्डार को प्रयुक्त करने आकस्मिक आक्रमण की सम्भावना रोकने के लिए हवाई जांच-पड़ताल की व्यवस्था करने शस्त्रास्त्रों में कमी करने और बाह्य अन्तरिक्ष को कल्याणकारी कार्यों के हेतु प्रयुक्त करने का प्रस्ताव भी किया गया। परन्तु यह योजना भी पहले की अनेक योजनाओं के समान ही असफल हो कर रह गयी। साम्यवादी रूस ने इसे स्वीकार नहीं किया।

निःशस्त्रीकरण आयोग का विस्तार—अन्त में ६ सितम्बर १९५७ को निःशस्त्रीकरण उपसमिति की बैठक स्थगित हो गयी। उपसमिति ने निःशस्त्रीकरण वार्ता की असफलता घोषित कर दी और महासभा के १२वें अधिवेशन में उसने अब तक के कार्यकलापों की रिपोर्ट भी पेश कर दी।

महासभा के अधिवेशन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने निःशस्त्रीकरण की दिशा में सीमित परन्तु स्पष्ट कदम उठाने पर अधिक बल दिया। इधर सोवियत संघ निःशस्त्रीकरण आयोग की सदस्य संख्या बढ़ाने पर जोर दे रहा था। उसका कहना था कि महासभा के सभी सदस्य राष्ट्रों को उसमें स्थान दिया जाय। २९ सितम्बर, १९५७ को भारत द्वारा महासभा में एक

प्रस्ताव पेश करके यह माँग की गयी कि निःशस्त्रीकरण आयोग और उसकी उपसमिति में सदस्या का संख्या बढ़ायी जाय। इस प्रस्ताव में और भी कई सुझाव दिये गये थे जिनमें आणविक अस्त्रों का बन्द करने पर अधिक जोर दिया गया था। सोवियत संघ ने भारत का समर्थन करते हुए आयोग के सदस्यों को बढ़ाने का जोरदार आग्रह किया। कभी इस बात को लेकर निःशस्त्रीकरण वार्ता ही न टूट जाय इसलिए आयोग के सदस्यों की संख्या १९५७ में संख्या बढ़ा कर २५ कर दी गयी। किन्तु रूस इतने से ही सन्तुष्ट न हुआ। उसने स्पष्ट कह दिया कि जब तक निःशस्त्रीकरण आयोग में उसकी माँग के अनुसार विस्तार नहीं किया जायगा वह आयोग की किसी बैठक में शामिल नहीं होगा। वास्तव में सोवियत संघ की इस हठ के पीछे उस समय उसकी स्फूर्तिक कूटनीति काम कर रही थी। २६ अगस्त १९५७ को रूस ने यह दावा करके पश्चिमी राष्ट्रों में भय और सन्देह उत्पन्न कर दिया था कि उसने अन्तर-महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र (Inter-Continental Ballistic Missile—ICBM) का सफल परीक्षण कर लिया है और इससे विध्वंसक बम के गोले को दुनिया के किसी भी हिस्से में एक महाद्वीप से दूसरे महाद्वीप में फेंका जा सकता है। पश्चिम को पहले तो रूस की इस घोषणा पर विश्वास नहीं हुआ लेकिन जब ४ अक्टूबर, १९५७ को रूस ने पृथ्वी के चारों ओर घूमने वाला एक कृत्रिम उपग्रह (Sputnik) छोड़ दिया तो सम्पूर्ण पश्चिमी जगत् रूस की इस वैज्ञानिक प्रगति से स्तब्ध रह गये और निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता तीव्रता से अनुभव की जाने लगी। चूँकि इस समय शस्त्रों की होड़ में सोवियत संघ का पलड़ा भारी हो चुका था अतः निःशस्त्रीकरण के प्रति अब रूस का दृष्टिकोण कठोर होने लगा। स्थिति यह हो गयी कि सोवियत संघ की ओर से आये हुए प्रत्येक प्रस्ताव को पश्चिमी गुट और भी शंका की दृष्टि से देखने लगा।

बुल्गानिन योजना—८ फरवरी १९५८ को रूसी प्रधानमन्त्री बुल्गानिन ने राष्ट्रपति आइजन हावर के सम्मुख निःशस्त्रीकरण की एक विस्तृत योजना रखी जिसमें निम्नलिखित बातों पर विशेष बल दिया गया—

(i) अणु-बमों और उद्जन बमों के परीक्षणों को बन्द किया जाय

(ii) संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और रूस आणविक अस्त्रों का परित्याग कर दें

(iii) नाटो तथा वारसा पैक्ट के देशों में अनाक्रमण समझौता हो

(iv) जर्मनी और अन्य यूरोपियन देशों से विदेशी सेनाओं को हटाया जाय एवं

(v) आकस्मिक आक्रमणों को रोकने का समझौता।

१५ मार्च १९५८ को सोवियत विदेश मन्त्रालय ने इन्हीं प्रस्तावों के आधार पर कुछ अन्य प्रस्ताव रखे जो इस प्रकार थे—सैनिक प्रयोजनों के लिए बाह्य आकाश (Outer Space) के प्रयोग का निषेध तथा संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा इस निषेध के पालन

का निर्णीकरण। अमरिकन गुट की ओर से इस उचित प्रस्ताव का कोई सन्तोषजनक प्रत्युत्तर नहीं दिया गया।

रापाकी योजना— इसी समय (१४ फरवरी १९५८) पोलैण्ड के विदेशमंत्री रापाकी (Rapaki) द्वारा भी निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अपनी एक योजना प्रस्तुत की गयी। इस योजना में यूरोप में सुरक्षा और शांति बनाये रखने के लिए पोलैण्ड चेकोस्लोवाकिया पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी को अणुविहीन क्षेत्र (Atom Free Zone) बनाने का सुझाव दिया गया अर्थात् यह कहा गया कि इन प्रदेशों को अणु आयुधों के निर्माण संग्रह और उपयोग से शून्य बनाने पर बल दिया जाय ताकि निःशस्त्रीकरण को प्रोत्साहन मिल सके। सोवियत संघ ने इस प्रस्ताव का समर्थन किया पर अमरिका की तरफ से कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया गया।

जब सोवियत संघ के विविध प्रस्तावों की इस तरह अवहेलना होती रही तो ३१ मार्च १९५८ को उसने एकतरफा काम किया जो वस्तुतः अत्यन्त ही सराहनीय था। उस दिन सुप्रीम सोवियत में सर्वसम्मति से एक प्रस्ताव पास किया गया जिसमें कहा गया था कि सोवियत संघ में समस्त आणविक एवं उदजन अस्त्रों के परीक्षण इस आशा से बन्द किये जाते हैं कि अन्य देश भी इसका अनुकरण करेंगे। किन्तु अन्य देशों ने ऐसे परीक्षण बन्द न किये तो रूस उन्हें पुनः शुरू कर देगा।

आइजनहोवर द्वारा रूसी प्रस्तावों का जवाब—अमेरिकन प्रशासन सोवियत संघ की स्पूतनिक कूटनीति से तंग आ गया था। अतः २ अप्रैल १९५८ को राष्ट्रपति आइजनहोवर ने रूसी प्रस्तावों का करारा जवाब देते हुए कहा कि सोवियत संघ के ये सारे प्रस्ताव और आणविक परीक्षण का स्थगन प्रचारात्मक कार्य है। उन्होंने रूस द्वारा अमेरिका की पिछली निःशस्त्रीकरण योजनाओं को जून १९४६, जुलाई, १९५५ और अगस्त १९५७ में विफल बनाने की कार्यवाहियों के इतिहास पर प्रकाश डाला और ८ अप्रैल को यह घोषणा की कि एनीवीटोक (Eneniok) में चल रहे आणविक परीक्षण समाप्त होने पर अमेरिका को यदि यह निश्चय हो गया कि रूस ने वस्तुतः ऐसे परीक्षण बन्द कर दिये हैं तो अमेरिका भी उन्हें बन्द करने के विषय पर गंभीरतापूर्वक विचार करेगा। किन्तु सितम्बर १९५८ के अन्त में सोवियत संघ ने अपने आणविक परीक्षण पुनः इस आधार पर शुरू कर दिये कि ३१ मार्च से संयुक्त राज्य अमेरिका और ग्रेट ब्रिटेन ने रूस द्वारा परीक्षण बन्द करने की अवधि से "अधिकतम सैनिक लाभ उठाया है।"

जेनेवा सम्मेलन १९५८—११ अक्टूबर १९५८ से जेनेवा में निःशस्त्रीकरण पर अनेक प्रस्ताव पास किये गये। सम्मेलन में रूस ने यह प्रस्ताव किया कि सब प्रकार का आणविक परीक्षण सदा के लिये बंद करने का समझौता हो जबकि ग्रेट ब्रिटेन व अमेरिका का कहना था कि प्रभावशाली निरीक्षण पद्धति के साथ यह पहले एक-एक वर्ष के लिये बंद किये जायें। अन्त में दोनों पक्ष इस इस बात पर सहमत हो गये कि—

(i) आणविक परीक्षणों के नियंत्रण के लिये स्थापित किये जा वाले आयोग में सात सदस्य हों जिनमें से तीन आणविक परीक्षण कर वाले देश अर्थात् रूस, अमेरिका एवं ब्रिटेन इसके स्थायी सदस्य हों और शे चार दो वर्ष के लिए चुने जायें

(ii) आयोग का एक प्रशासक तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्टाफ हो

(iii) परीक्षणों की जांच और पहिचान की पद्धति निश्चित क जाय।

परन्तु इस प्रश्न पर समझौता नहीं हो सका कि (क) नियंत्र आयोग में मतदान की क्या प्रणाली हो और (ख) निरीक्षण कर वाले व्यक्तियों को तथा निरीक्षक मण्डलों को किस प्रकार नियुक्त किय जाय।

संयुक्त राष्ट्र संघ में ख्रुश्चेव का प्रस्ताव—संयुक्त राष्ट्र संघ क १९ अधिवेशन में १६ सितम्बर से १३ दिसम्बर १९५८ तक निःशस्त्रीकरण प्रश्न पर अनेक सम्मेलन और प्रस्ताव पास हुए। ४ नवम्बर को महासभ ने जेनेवा सम्मेलन (उपरोक्त वर्णित) की अवधि तक सब प्रकार के आणवि परीक्षण बंद करने का प्रस्ताव पास किया।

सितम्बर १९५९ में सोवियत प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव अमेरिका की यात्रा पर आये आइजन होवर-ख्रुश्चेव वार्ता में निःशस्त्रीकरण एक प्रमुख विषय रहा। चार बड़े राष्ट्रों द्वारा निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते के नया आधार ढूंढने के लिये दस राष्ट्रों की एक समिति नियुक्त की गई जिसमें पांच सदस्य पश्चिमी देशों के और पांच सदस्य साम्यवादी गुट के रखे गय अपनी अमेरिका यात्रा के दौरान श्री ख्रुश्चेव ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भाषण करते हुए निःशस्त्रीकरण के लिये एक प्रस्ताव रख जिसमें निम्नलिखित बातें सुझाई गयी।

(i) व्यापक और पूर्ण निःशस्त्रीकरण

(ii) सम्पूर्ण योजना चार वर्ष की अवधि में तीन चरणों में पूरी की जाय

(iii) प्रथम चरण—अमेरिका रूस और ब्रिटेन, फ्रांस की सेनाओं की कमी (यह कार्य १८ माह में पूरा हो)

(iv) द्वितीय चरण—राष्ट्रीय सशस्त्र सेनायें पूरी तरह भंग हों, विदेशी सैनिक अड्डे खत्म हों विदेशों से सेनायें वापिस बुलायी जायें (यह कार्य दो वर्ष की अवधि में पूरा हो) तथा

(v) तृतीय चरण—सब प्रकार के आणविक अस्त्रास्त्र और राकेट-अस्त्रों को नष्ट कर दिया जाय और समस्त सैनिक संयत्र तोड़ दिये जायें (एक वर्ष की अवधि में)।

श्री ख्रुश्चेव ने कहा "चार वर्ष की अवधि में सब राष्ट्रों को ऐसा निःशस्त्रीकरण कर लेना चाहिये कि इसके बाद उनके पास लड़ाई करने के लिये कोई साधन ही न रहे।" अपनी नेकनीयती सिद्ध करने के लिये सोवियत संघ ने निःशस्त्रीकरण के विषय में अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के लिये एक बिना

ही अपनी सैनिक शक्ति में १२ लाख सिपाहियों की कटौती कर दी। सोवियत सरकार के इस कदम का सम्पूर्ण संसार की शान्तिप्रिय जनता ने एकमत से स्वागत किया।

श्री ख्रुश्चेव ने "पूर्ण एवं सामान्य नि:शस्त्रीकरण" (Complete and General Disarmament) के प्रस्ताव का आशय सब राज्यों द्वारा बिना किसी अपवाद के सब प्रकार की सशस्त्र सेनाओं का परित्याग करना था। वे केवल आन्तरिक सुरक्षा के लिए थोड़ी सी आवश्यक पुलिस और सेना (Military) रख सकते थे। चूंकि श्री ख्रुश्चेव को यह सन्देह था कि पश्चिमी राज्य इस पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की योजना से सहमत न होंगे अतः उन्होंने इसके साथ ही एक आंशिक नि:शस्त्रीकरण (Partial Disarmament) की योजना भी प्रस्तुत की जिसमें निम्नलिखित बातें रखी गयी—

(i) एक विशेष क्षेत्र में नियन्त्रण और निरीक्षण की व्यवस्था स्थापित की जाय

(ii) मध्य यूरोप में आणविक आयुधों से रहित क्षेत्र (Denuclearized Zone) की स्थापना की जाय यूरोपियन राज्यों से सब विदेशी सेनायें हटा ली जायें

(iii) विदेशी प्रदेशों के सब सैनिक अड्डे समाप्त कर दिये जायें

(iv) नाटो संगठन के सदस्यों तथा पश्चिमी राज्यों के साथ वारसा पैक्ट के राज्यों की एक अनाक्रमण संधि हो एवं

(v) एक राज्य द्वारा दूसरे राज्य पर आकस्मिक आक्रमण रोकने के बारे में समझौता हो।

नियन्त्रण के सम्बन्ध में श्री ख्रुश्चेव ने कहा—

"पश्चिमी राष्ट्र ऐसे प्रस्ताव रखते हैं जिनमें न तो नि:शस्त्रीकरण की बात रहती है और न पूर्ण नि:शस्त्रीकरण की बल्कि जिनमें वस्तुतः किसी प्रकार के नि:शस्त्रीकरण की बात ही नहीं रहती है। उनमें केवल शस्त्रों पर नियन्त्रण सम्बन्धी कार्यवाहियों की अर्थात् नि:शस्त्रीकरण के बिना नियन्त्रण की ही बात रहती है। किन्तु यह बात हर कोई स्वीकार करेगा कि नि:शस्त्रीकरण के बिना नियंत्रण स्थापित करना अन्तर्राष्ट्रीय जासूसी प्रणाली को स्थापित करना होगा जिससे शांति को भुग्न करने में मदद मिलती तो दूर रही सीमाविद आक्रमण से बनपाया के लिए खतरनाक योजनायें क्रियान्वित करना सुगम हो जायगा। नि:शस्त्रीकरण का समझौता हो जाने के बाद हम उस क्रियान्वित करने के लिए कठोर नियंत्रण के पक्ष में हैं किन्तु हम नि:शस्त्रीकरण के बिना नियंत्रण को नहीं चाहते।"

श्री ख्रुश्चेव की योजना का सर्वत्र स्वागत हुआ केवल शीतयुद्ध के महारथियों को यह बात समझ में नहीं आयी। ख्रुश्चेव के प्रस्ताव की वही ही खिल्ली उड़ाई गई जैसी १९३२ के जनेवा नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि लिटविनोव के पूर्ण नि:शस्त्रीकरण के प्रस्ताव की उड़ाई गई थी।

दस राष्ट्रों का नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन—१९६० में जेनेवा में फिर नि:शस्त्रीकरण समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन शुरू हुआ।

इस बार एक ही साथ दो सम्मेलन चल रहे थे—१५ मार्च १९६० से आरम्भ होने वाला दस राष्ट्रों का निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा आणविक क्लब (Atom Club) के तीन सदस्यों की आणविक परीक्षणों को निषेध करने के सम्बन्ध में वार्ता। दस राष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने वाले अमरिका ब्रिटेन फ्रांस कनाडा इटली सोवियत संघ बल्गेरिया चेकोस्लोवाकिया पोलैंड और रूमानिया थे। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी मित्र राष्ट्रीय योजना में यह प्रस्ताव किया गया कि निम्नलिखित उपाय तत्काल लागू किए जायें—

(i) एक अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण संगठन के स्वरूप के सम्बन्ध में संयुक्त रूप से अध्ययन करके और संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ उसके सम्बन्ध का निर्धारण करके उसकी स्थापना।

(ii) अन्तरिक्ष वाहनों के प्रस्तावित प्रक्षेपणों के सम्बन्ध में अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण संगठन को पूर्व सूचना देना और इस संगठन को उपलब्ध संकेत ग्राहक यन्त्रों द्वारा उनके सम्बन्ध में प्राप्त आंकड़ों से अवगत रखना।

(iii) समस्त सेनाओं को समन्वित ढंग पर सीमित या कम करना जिसके अन्तर्गत अमेरिका और सोवियत रूस में से प्रत्येक अपनी सेना को घटा कर २५ लाख सैनिकों तक सीमित कर देना स्वीकार करे और समझौते द्वारा अन्य देशों की सैन्य शक्ति के अधिकतम स्तरों को निश्चित किया जाए।

(iv) समझौते के अन्तर्गत सम्मिलित प्रत्येक राष्ट्र में अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण संगठन की देखरेख में ऐसे शस्त्रागारों की स्थापना जिनमें समझौते द्वारा निर्धारित किस्म और मात्रा में परम्परागत शस्त्रास्त्र संगृहीत हों। शस्त्रास्त्रों की यह मात्रा समझौते द्वारा निर्धारित सैन्य शक्ति से सम्बद्ध होगी।

(v) विभिन्न राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण संगठन के समक्ष ऐसी सूचनायें प्रस्तुत करें जिनका सम्बन्ध सैन्य-व्यय पर उनकी वित्तीय प्रणाली के प्रभाव तथा सैन्य-शक्ति पर व्यय होने वाली राष्ट्रीय आय के अनुपात से हो।

इसके अतिरिक्त मित्र राष्ट्रीय योजना में यह सुझाव दिया गया कि कुछ विषयों के सम्बन्ध में फौरन संयुक्त रूप से अध्ययन किया जाय। ये विषय इस प्रकार बताये गए—

१ ऐसे उपाय जिनके द्वारा यह निश्चित व्यवस्था हो सके कि कोई भी राष्ट्र सर्वनाशक शस्त्रों को कक्षा अथवा अन्तरिक्ष में प्रक्षिप्त करने पर नियन्त्रण लगाने सम्बन्धी समझौते को भंग न करे। इस अध्ययन के अन्तर्गत घटनास्थल पर निरीक्षण सम्बन्धी व्यवस्था भी शामिल होगी।

२ ऐसे उपाय जिनके द्वारा यह निश्चित हो सके कि प्रक्षेपास्त्र छोड़ने के बारे में पूर्व सूचना देने और उनके छोड़ने व निर्मित होने के स्थान सम्बन्धी समझौतों का पूर्ण रूप से पालन हो रहा है।

३ ऐसे उपाय जिनसे इस बात की निश्चित व्यवस्था हो सके कि शस्त्रास्त्रों के लिए विखंडनीय सामग्रियों के निर्माण को बन्द करने सम्बन्धी समझौते का पूरी तरह पालन हो रहा है।

४ ऐसी व्यवस्थायें जो अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत पूर्वोत्पादित विखण्डनीय सामग्रियों का शस्त्रास्त्रों के निर्माण के अलावा अन्य कार्यों में प्रयुक्त करने के लिए हस्तान्तरित करने विषयक समझौता कार्यान्वित करने के उद्देश्य से आवश्यक हों।

५ ऐसे उपाय जिनसे समझौता करने वाले देशों के लिए हवाई निरीक्षणों निश्चित स्थानों पर स्थलीय निरीक्षण सक्षम भूमि टोलियों राडार, विमान-उड्डयन सम्बन्धी सूचना और उचित संचार व्यवस्था द्वारा आकस्मिक आक्रमण के विरुद्ध अधिक सुरक्षा प्रदान की जा सके।

६ संयुक्त राष्ट्र संघ से सम्बन्ध या उसके अङ्ग के रूप में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का निर्माण करके आक्रमण रोकने के लिए साधन।

७ निःशस्त्रीकरण सम्मेलन करने के उद्देश्य से निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी समझौते को इस प्रकार विस्तृत करने का समय और ढंग जिससे उन अन्य राष्ट्रों को भी इसके अन्तर्गत सम्मिलित किया जा सके जिनकी सैन्य क्षमता बहुत अधिक हो।

मित्र राष्ट्रों के नीति-पत्र में उन उपायों की सूची भी गई थी। जिन्हें अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण विषयक अध्ययन पूर्ण हो जाने पर शीघ्रातिशीघ्र लागू करना जरूरी होगा।

मित्र राष्ट्रों ने "सुरक्षित स्वतंत्र और शांतिपूर्ण विश्व" के निर्माण का अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कुछ अन्य उपायों को आवश्यक बताया जो मुख्यतः ये थे—

१ सशस्त्र सेनाओं को कम करके ऐसी सीमाओं पर पहुंचा देना जो आन्तरिक सुरक्षा व संयुक्त राष्ट्र संघीय चार्टर के अन्तर्गत निहित उत्तरदायित्वों को पूरा करने के लिए आवश्यक हों।

२ इस उद्देश्य को पाने के लिए लागू होने वाले उपायों के साथ साथ अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू करने के लिए आवश्यक क्षमता का निर्माण हो ताकि विश्व शान्ति को सुरक्षित रखा जा सके।

३ अन्तराष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण संगठन का विस्तार किया जावे ताकि निम्नलिखित बातों पर आवश्यक निरीक्षण और नियंत्रण की व्यवस्था हो सके—(अ) सर्वनाशक आणविक रासायनिक तथा अन्य प्रकार के शस्त्रास्त्रों का उत्पादन (आ) अन्त में उन्हें पूर्ण रूप से नष्ट करने या शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त करने के उद्देश्य से इन शस्त्रास्त्रों के वर्तमान भंडारों को कम करते जाना। (इ) अन्तरिक्ष का उपयोग केवल शान्तिपूर्ण कार्यों के लिए ही करना। (ई) सैनिक प्रक्षेपणास्त्रों के उत्पादन पर रोक लगाना और अन्त में उन्हें नष्ट करना। (उ) सैनिक बजट पर प्रभावकारी अंकुश। (ऊ) विश्व शान्ति को सुरक्षित करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना करना। (ए) आन्तरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक स्तर तक सैन्य शक्ति घटा देना। (ऐ) शेष सभी प्रकार के शस्त्रास्त्रों के उत्पादन को आन्तरिक सुरक्षा के लिए आवश्यक मात्रा तक ही सीमित करने के उद्देश्य से उन पर रोक लगाना।

मित्र राष्ट्रों की उपरोक्त विस्तृत योजना को सोवियत रूस ने कोई समर्थन प्रदान नहीं किया। रूसी प्रतिनिधि श्री जोरिन ने कहा कि पश्चिम की यह योजना निःशस्त्रीकरण की दिशा में काफी आगे नहीं जाती। श्री जोरिन ने सम्पूर्ण और आम निःशस्त्रीकरण की योजना पर जोर दिया जो सितम्बर १९६० में महासभा के सामने पेश की थी।

इस प्रकार द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से लेकर १९६० तक निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई प्रगति नहीं हो सकी और पश्चिमी व साम्यवादी खेमे में पूरे मतभेद बने रहे। यदि १९४५ से १९६० तक के निःशस्त्रीकरण के प्रयासों के इतिहास का विश्लेषण किया जाय तो पता चलता है कि दोनों पक्षों में पाए जाने वाले मतभेद प्रमुखतः निम्नलिखित थे—

(१) आणविक परीक्षण—इस सम्बन्ध में अमेरिकन गुट का दृष्टिकोण यह था कि पहले निरीक्षण की उपयुक्त व्यवस्था पर समझौता हो और तत्पश्चात आणविक परीक्षण को सदा के लिये बन्द किये जायें। जब आणविक आयुधों का उत्पादन बन्द हो जाय तो ऐसे परीक्षण बिल्कुल बन्द कर दिये जायें।

रूस का विचार था कि ऐसे सभी आणविक परीक्षणों को बंद कर दिया जाय जिनका वर्तमान साधनों से पता लगाया जाना सम्भव है। जब तक इनका पता लगाने का विश्वसनीय साधन न निकल आये तब तक सभी आणविक शक्तियाँ स्वेच्छा व ईमानदारी पूर्वक सब आणविक परीक्षण बंद कर दें।

(२) नियन्त्रण—अमेरिकन गुट का दृष्टिकोण था कि पहले नियन्त्रण की व्यवस्था निश्चित की जाय और तब निःशस्त्रीकरण हो। सोवियत संघ का कहना था कि पहले निःशस्त्रीकरण पर समझौता हो जाय और तब बाद में कठोर नियन्त्रण कायम करके उसको कार्यान्वित किया जाय।

(३) आणविक आयुध—इस विषय में अमेरिका और उसके समर्थकों का यह मत था कि आणविक विस्फोट होने वाली सामग्री के उत्पादन पर एक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण पद्धति की व्यवस्था होनी चाहिये और इस पद्धति के कार्यान्वित होते ही सब आणविक आयुधों का उत्पादन बंद हो जाना चाहिये। अमेरिकन गुट का यह भी कहना था कि आणविक विस्फोट की सामग्री का शान्तिपूर्ण उपयोग किया जाना चाहिये।

सोवियत गुट का दृष्टिकोण था कि आणविक आयुधों का प्रयोग सर्वथा बंद होना चाहिए और जब दोनों पक्ष अपनी सेनाओं को घटा लें तो इन्हें सर्वथा नष्ट कर देना चाहिए।

(४) सैनिकों की संख्या—अमेरिका चाहता था कि संयुक्त राज्य अमेरिका व रूस की सेनायें २१ लाख तक सीमित होनी चाहिये। यह [illegible] देशों की सेनाओं के सम्बन्ध में कोई बात नहीं कहता।

रूस चाहता था कि संयुक्त राज्य अमेरिका, चीन (साम्यवादी) और सोवियत संघ में से प्रत्येक १७ लाख सैनिक रखे और ब्रिटेन तथा फ्रांस की सेना की अधिकतम संख्या साढ़े सात लाख हो।

(५) उन्मुक्त आकाश—अमेरिका के मतानुसार उत्तरी अमेरिका सोवियत रूस और उत्तरी महासागर के बड़े भाग के आकाश दोनों देशों के लिए खुले रहने चाहिए। इसमें हवाई निरीक्षण राडार पद्धति तथा उड़ानों की पूर्व-सूचना द्वारा नियन्त्रण स्थापित होना चाहिए।

रूस का मत था कि लन्दन रीगा एथेन्स और मैड्रिड से घिरे हुए यूरोपियन क्षेत्र तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के पश्चिमी भाग से व रूस के पूर्वी भाग से लगे हुए प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र के आकाश को उन्मुक्त रखा जाय अर्थात् इन क्षेत्रों पर निर्बाध हवाई निरीक्षण का अधिकार होना चाहिए।

(६) वाह्य अन्तरिक्ष—अमेरिका का मत था कि वाह्य अन्तरिक्ष में राकेट छोड़ने वाले देशों को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण-संस्था (International Control Agency) को इसकी सूचना देनी चाहिए। वाह्य अन्तरिक्ष में सैनिक प्रयोग की दृष्टि से रॉकेट नहीं भेजने चाहिए।

इसके विपरीत रूसी दृष्टिकोण था कि सब सैनिक रॉकेटों को नष्ट कर देना चाहिए और उनका उत्पादन एकदम बंद होना चाहिए।

दोनों महाशक्तियों के ये मतभेद इतने मौलिक थे कि जिससे उनमें १९६० तक निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में कोई समझौता न हो सका और उसके बाद से आज तक भी सिवाय मामूली प्रगति के और कुछ नहीं किया जा सका है। अपने मूलरूप में निःशस्त्रीकरण की समस्या पहले से भी अधिक भयानक रूप में विद्यमान है।

दिसम्बर १९६० में सोवियत रूस ने दस राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया। उसका कहना था कि निःशस्त्रीकरण पर विचार करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों का एक आयोग बनना चाहिए। यह सुझाव पश्चिमी देशों को मान्य नहीं हुआ। १९६१ में सोवियत संघ और अमेरिका के बीच द्विपक्षीय वार्ता हुई जिसके परिणामस्वरूप ८ और राष्ट्रों को बढ़ा कर १८ राष्ट्रों के निःशस्त्रीकरण आयोग की स्थापना की गई। अब निःशस्त्रीकरण की समस्या पर यही संस्था विचार करती है। इस आयोग के १८ सदस्य निम्नलिखित हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन फ्रांस कनाडा इटली सोवियत रूस बल्गेरिया रूमानिया पोलैण्ड चैकोस्लोवाकिया ब्राजील बर्मा भारत मिस्र मेक्सिको एबीसीनिया स्वीडन और नाइजीरिया। इस आयोग अथवा समिति को परिष्कृत रूप में १८ राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण आयोग या समिति कहा जाता है, यद्यपि वास्तव में यह एक १७ राष्ट्रीय आयोग ही है क्योंकि फ्रांस ने आरम्भ में ही कह दिया था कि वह उसकी बैठकों में भाग नहीं लेगा।

निःशस्त्रीकरण पर अमेरिकन स्वर्गीय राष्ट्रपति कैनेडी का महत्त्वपूर्ण भाषण—१९६१ में निःशस्त्रीकरण की दिशा में कोई महत्त्वपूर्ण कदम नहीं नहीं उठाया जा सका। किन्तु अमेरिका के युवा राष्ट्रपति कैनेडी प्रारम्भ से निःशस्त्रीकरण के प्रयासों को सफल बनाने की चेष्टा करते रहे। राष्ट्रपति कनेडी को इस बात का दृढ़ विश्वास था कि निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में प्रगति हो सकती है। उनकी यह दृढ़ आस्था १९६१ के मध्य में कांग्रेस की स्वीकृति

से एक नई अमेरिकन शस्त्र-नियन्त्रण एवं नि:शस्त्रीकरण एजेन्सी की स्थापना करने से प्रकट हुई। नि:शस्त्रीकरण के लिए राष्ट्रपति कैनेडी कितने उत्सुक थे और इस बारे में उनके विचार कितने संतुलित तर्क सम्मत तथा ठोस थे—इसका आभास हमें "नि:शस्त्रीकरण के लिए उनके सर्वाधिक स्मरणीय उस भाषण" से मिलता है जो २५ सितम्बर १९६१ को उन्होंने तब दिया जब वे संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डाग हैमरशोल्ड को श्रद्धांजलि देने के लिए महासभा में उपस्थित हुए। श्री डाग हैमरशोल्ड गृह-युद्ध की लपटों से पीड़ित कांगो में युद्ध बन्द करने के प्रयास में विमान दुर्घटना में शहीद हुए थे। स्वर्गीय राष्ट्रपति कैनेडी का यह अविस्मरणीय भाषण इस प्रकार था—

"हम इस समय दुःख तथा चुनौती भरी घड़ी में मिल रहे हैं। डाग हैमरशोल्ड का निधन हो चुका है लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ अभी जीवित है। उनके दुःखद निधन से हमारे दिलों में गहरा घाव हुआ है लेकिन जिस उद्देश्य की खातिर उन्होंने अपने प्राण गंवाए वह हमारी कार्य-सूची में सबसे ऊपर है। शांति का एक सच्चा सेवक चला गया लेकिन शान्ति की तलाश अभी हमारे सामने जारी है।

समस्या एक व्यक्ति के मरने की नहीं समस्या इस संस्था के जीवन की है। या तो यह संस्था इतनी शक्तिशाली हो जायगी कि हमारे युग की चुनौतियों का सामना कर सके अथवा इतनी हलकी हो कर निष्प्राण शक्तिहीन तथा आदरहीन हो कर खत्म हो जायगी। अगर हम इसे मरने देंगे इसकी शक्ति को कम होने देंगे इसके अधिकारों को छीनने देंगे तो हम अपने भविष्य को ही नष्ट करेंगे।

इस संस्था के विकास में ही युद्ध का सच्चा विकल्प समाहित है और युद्ध रोकने की अपीलें अब सम्यक विकल्प नहीं रह गया है। बिना शर्त के छेड़ा गया युद्ध अब बिना शर्त जीता नहीं जा सकता। अब युद्ध के द्वारा झगड़ों का निपटारा नहीं हो सकता। अब युद्ध केवल बड़े राष्ट्रों तक ही सीमित नहीं है क्योंकि अब परमाणु बम की विभीषिका हवा पानी तथा भय के साथ छोटे और बड़े गरीब तथा अमीर, गुटबंदी में फंसे तथा गुटबंदी से अलग सभी को समान रूप से डसेगी। अतः मानव को युद्ध समाप्त कर देने चाहिए अन्यथा युद्ध मानव को समाप्त कर देंगे।

अतः हम संकल्प करें कि डाग हैमरशोल्ड व्यर्थ ही नहीं जिए या व्यर्थ ही नहीं मरे। हमें आतंक की समाप्ति करनी चाहिए। हमें शान्ति की शुभाशीषों को आमंत्रित करना चाहिए और जब हम शांति बनाए रखने की अन्तर्राष्ट्रीय क्षमता प्राप्त कर रहे हैं तो हमें युद्ध छेड़ने की राष्ट्रीय क्षमता समाप्त करने के लिए मिल कर प्रयास करना चाहिये।

इसके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ को नई शक्ति की आवश्यकता होगी तथा नई भूमिकाओं का निर्वाह करना होगा। क्योंकि बिना जांच के नि:शस्त्रीकरण करना आधामात्र है और कानून के बिना शान्ति मात्र एक ढोंग है। संयुक्त राष्ट्र संघ मानव की परम उदार भावनाओं का मापक तथा

वाहक बन चुका है। यह मध्यपूर्व एशिया तथा अफ्रीका में इस वर्ष कांगो में हिंसा को सीमाओं के अन्दर रखने के साधन प्रस्तुत कर सका है।

लेकिन इस महान संस्था के सामने १९४५ में जो प्रश्न उपस्थित था वह आज भी उपस्थित है क्या प्रगति तथा शान्ति की मानव की चिरपोषित आशायें आतंक तथा तोड़-फोड़ द्वारा नष्ट कर दी जायेंगी क्या 'युद्ध के दूषित झंझा' को समय रहते रोका जा सकेगा ताकि समझदारी की शीतल वायु उससे मुक्त रह सके क्या घोषणा-पत्र में की गई उन प्रतिज्ञाओं का परिपालन किया जाएगा अथवा उल्लंघन जिनमें शांति, प्रगति मानव-अधिकार तथा विश्व कानून प्राप्त करने की बात कही गई थी।

आज इस ग्रह के प्रत्येक निवासी को उस दिन की कल्पना करनी चाहिए कि जब इस ग्रह पर मानव के रहने के लिए जगह नहीं रह जाएगी। प्रत्येक पुरुष स्त्री तथा बच्चे के सिर पर आज परमाणु अस्त्र की तलवार अत्यन्त पतले धागे से बंधी लटक रही है और यह धागा किसी भी समय दुर्घटनावश गलतफ़हमी या पागलपन की अवस्था में टूट सकता है। युद्ध के शस्त्रास्त्र हमें नष्ट करें, उससे पहले ही हमें उनको ही नष्ट कर देना चाहिए।

आज मनुष्य इस बहस में नहीं पड़ता कि शस्त्रीकरण तनाव का लक्षण है या तनाव का कारण। आधुनिक शस्त्रास्त्रों का होना ही जो विश्व में पहले कभी भी मौजूद शस्त्रों से एक करोड़ गुना अधिक शक्तिशाली हैं, और पृथ्वी-भर में किसी भी लक्ष्य पर मिनटों के अन्दर पहुंच सकते हैं, भयानकता असंतोष तथा अविश्वास का कारण है। आज मानव-समाज यह नहीं मानता कि सभी झगड़े निपट जाने के बाद ही निःशस्त्रीकरण किया जाए क्योंकि स्वयं निःशस्त्रीकरण ही उस स्थायी शान्ति-व्यवस्था का अङ्ग होना चाहिए। अब मनुष्य यह नहीं कह सकता कि निःशस्त्रीकरण की इच्छा कमजोरी की निशानी है क्योंकि होड़ के कारण बढ़ रही शस्त्र-प्रतियोगिता में किसी राष्ट्र की सुरक्षा उसके शस्त्रास्त्रों के परिमाण में हुई वृद्धि के अनुपात में घट भी सकती है।

गत पन्द्रह वर्षों से यह संस्था शस्त्रास्त्रों में कमी करने तथा उनका विनाश करने का प्रयास करती रही है। अब यह लक्ष्य एक स्वप्नमात्र नहीं रह गया है यह जीवन या मरण का एक व्यावहारिक प्रश्न बन गया है। निःशस्त्रीकरण में अन्तर्निहित खतरे असीमित शस्त्रास्त्र-प्रतियोगिता में अन्तर्निहित खतरों की तुलना में कुछ भी नहीं है।

इसी भावना के अनुसार हाल के बेलग्रेड सम्मेलन ने यह मानते हुए कि अब यह न तो सोवियत समस्या है और न अमेरिकी समस्या वरन् मानव मात्र की समस्या है। 'सार्वभौमिक पूर्ण तथा सर्वथा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में निःशस्त्रीकरण' के एक कार्यक्रम को स्वीकार किया था। इसी भावना के वशीभूत हो कर संयुक्त राज्य अमेरिका के लोगों ने इस वर्ष प्रयास किये थे जिसमें नई आवश्यकतानुभूति थी तथा कांग्रेस द्वारा पूर्णतः अनुमोदित नई कानून के अनुसार नयी संस्था ने निःशस्त्रीकरण समस्या का ऐसा हल

खोजने के प्रयास किये जिससे निःशस्त्रीकरण दीर्घकालिक फिर भी यथार्थता पूर्ण तथा परस्पर इतना संतुलित एवं लाभदायक हो कि जिसे प्रत्येक राष्ट्र स्वीकार कर सके। इसी भावना के अनुसार इसने सोवियत संघ से करार किया है जिसमें दोनों राष्ट्रों ने व्यापक तथा पूर्ण निःशस्त्रीकरण' के लिए वार्ता के नये स्वीकृत सिद्धान्तों के नये वक्तव्य को स्वीकार किया है।

किन्तु हमें यह भली भांति विदित है कि सभी सैद्धान्तिक समस्यायें हल नहीं हो गई हैं और सिद्धान्तों पर सहमत होना ही काफी नहीं है। इसलिए हमारा इरादा सोवियत रूस को शस्त्र-प्रतियोगिता के लिए नहीं शान्ति प्रतियोगिता के लिए, कदम-कदम तथा एक चरण से दूसरे चरण में पहुंचने के लिए तब तक ललकारने का है जब तक व्यापक और पूर्ण निःशस्त्रीकरण सम्भव नहीं हो जाता। हम अब उनको सिद्धान्ततः सहमत होने से आगे बढ़ कर वास्तविक योजनाओं पर करार करने के लिए आमन्त्रित करते हैं।

प्रभावपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण के अन्तर्गत व्यापक एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण के लिए इस महासभा में प्रस्तुत किया जाने वाला कार्यक्रम उन दो विचारधाराओं का अन्तर दूर करने का प्रयास करेगा जिनमें एक तो धीरे-धीरे आगे बढ़ने का समर्थक है और दूसरा अन्तिम तथा पूर्ण सफलता की बात कहता है। इससे एक ऐसी व्यवस्था का जन्म होगा जिसके अनुसार ज्यों-ज्यों युद्धतंत्र नष्ट होता चलेगा त्यों-त्यों शान्ति का सिक्का जमता चलेगा। यह व्यवस्था संतुलित तथा सुरक्षित चरणों से गुजरेगी जो इस प्रकार बनाई जाएगी कि किसी एक राज्य को दूसरे राज्य पर सैनिक लाभ न हो। इसके अनुसार निःशस्त्रीकरण की जांच तथा नियन्त्रण का अन्तिम उत्तरदायित्व न तो बड़े राष्ट्रों पर, न किसी एक राष्ट्र या उसके विरोधी राष्ट्र पर डाला जायगा वरन् संयुक्त राष्ट्र संघ के ढांचे के अन्दर एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को सौंपा जाएगा।

इससे निःशस्त्रीकरण की एक अनिवार्य शर्त अच्छी जांच पूरी हो सकेगी तथा जिस प्रकार धीरे-धीरे निःशस्त्रीकरण होता चलेगा उसी मात्रा में निरीक्षण कार्य होता रहेगा। यह जांच शस्त्रास्त्रों के साथ उन्हें फेंकने वाले वाहकों की भी की जायगी। इसके अनुसार अन्ततः इनके उत्पादन परीक्षण उनके हस्तान्तरण तथा उन्हें अपने पास रखने आदि सभी पर रोक लगा दी जाएगी। इससे अन्तर्राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण संस्था की देख-रेख में परमाणु अस्त्रों तथा परम्परागत अस्त्रों से लैस सभी सेनाओं को धीरे-धीरे लगातार कम किया जायगा जब तक कि आन्तरिक शांति बनाए रखने तथा नई संयुक्त राष्ट्रीय शान्ति सेना के लिए आवश्यक टुकड़ियाँ ही शेष न रहें और उस दिशा में आज अभी जैसे बातचीत शुरू हो, उसी के साथ कार्यवाही शुरू कर दी जाय।

संक्षेप में, व्यापक तथा पूर्ण निःशस्त्रीकरण अब एक नारा-मात्र नहीं रह जाना चाहिए जो आरम्भिक कदम उठाना रोकने के उद्देश्य से दिया जाता है। यह एक ऐसा लक्ष्य नहीं रह जाना चाहिए जिसे प्राप्त करने के साधन न हों,

जिसकी प्रगति मापने की कोई तरकीब न हो तथा जिससे शान्ति बनाए रखना सम्भव न हो। यह एक यथार्थवादी योजना है एक परीक्षा है। उन लोगों की परीक्षा है जो खाली बातें करना चाहते हैं तथा उन लोगों की परीक्षा है जो काम करने के लिए भी तैयार हैं।

इस तरह की योजना से विश्व केवल संघर्ष अथवा आतंक से ही मुक्त नहीं होगा वरन् इससे सामूहिक विनाश से भी विश्व को मुक्ति मिल सकेगी। इससे किसी 'महाराज्य' का युग आरम्भ न होगा वरन् इससे एक ऐसे युग का श्रीगणेश होगा जिसमें एक राज्य दूसरों का न तो समूल नाश कर सकेगा और न कोई अन्य उसे विनष्ट कर सकेगा।

१९४६ में ही अमेरिका ने बरूच योजना का प्रस्ताव रखा था जिसके अधीन अन्य राष्ट्रों के पास परमाणु बम होने से पहले ही उसका अन्तर्राष्ट्रीयकरण करने तथा विसैन्यीकरण करने का प्रस्ताव रखा जबकि कोरिया में युद्ध चल रहा था। यद्यपि बर्लिन में हम अपनी रक्षा-व्यवस्था की तैयारी कर रहे हैं तब भी हम आज अपने प्रस्ताव प्रस्तुत कर रहे हैं इसलिए नहीं कि हमारा मत स्थिर नहीं है या हमारी नीयत नेक नहीं है या हम किसी से डर गये हैं, बल्कि इसलिए कि हम जानते हैं कि स्वतंत्र लोगों के अधिकार ही अन्ततः विजयी होंगे इसलिए कि हम अपनी इच्छा के प्रतिकूल सशस्त्र होने के लिए बाध्य किये जा रहे हैं फिर भी हम विश्वास पूर्वक बर्लिन से आगे उस निःशस्त्र विश्व की बाट जोह रहे हैं जिसे हम पसन्द करते हैं।

इसलिए मैं प्रस्ताव करता हूं कि इस योजना के आधार पर निःशस्त्री-करण वार्ता फौरन शुरू हो और तब तक बिना रुके चलती रहे जब तक न केवल पूर्ण निःशस्त्रीकरण के समूचे कार्यक्रम पर सहमति ही नहीं हो जाए वरन् ऐसा निःशस्त्रीकरण वास्तव में अपना लिया जाए।

इसकी तर्कसंगत शुरूआत एक ऐसी सन्धि होगी जिसके अनुसार सभी स्थितियों में सभी प्रकार के परमाणु परीक्षणों पर रोक लगाना तथा व्यावहारिक नियन्त्रण सुनिश्चित हो। संयुक्त राज्य अमरीका तथा ब्रिटेन ने इस प्रकार की संधि का प्रस्ताव किया है जो औचित्यपूर्ण तथा प्रभावकारी है तथा हस्ताक्षरों के लिए तैयार है। हम आज भी उस सन्धि पर हस्ताक्षर करने के लिए तैयार हैं।

हमने वायुमण्डलीय परीक्षणों पर आपसी प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव भी रखा है जिसके लिए निरीक्षण या नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं है। इसका उद्देश्य मानव-जाति को रेडियम धर्मी धूल से बचाना है। हमें खेद है कि हमारा यह प्रस्ताव भी स्वीकार नहीं किया गया।

गत पन्द्रह वर्षों से हम यत्न कर रहे हैं कि परम अणु को युद्ध की अपेक्षा शान्तिपूर्ण विकास का साधन बनायें। लेकिन गत पन्द्रह वर्षों में हमारी रियायतों का प्रत्युत्तर बाधाओं से मिला है तथा हमारे धैर्य का बदला अड़ियलपन से दिया गया है। शान्ति के लिए मानवता के तर्कों का उत्तर उनकी उपेक्षा करके दिया गया है।

अन्त में जब अन्य देशों के विस्फोटों से आकाश में बादल छा रहे थे तो हमारे देश के सामने इसके सिवा कोई विकल्प नहीं रह गया था कि वह भी अपनी तथा विश्व की सुरक्षा के खातिर कार्यवाही करे। जब और लोग अपने शस्त्रास्त्रों को सुधारने में लगे हों तब हम परीक्षणों से विरत होकर सुरक्षा को खतरे में नहीं डाल सकते। गत तीन वर्षों से हमने अपने मुक्त समाज में ये जोखिम भी उठाये हैं और दूसरी तरफ हम परीक्षणों की जांच पड़ताल पर समझौता करने के लिए भी प्रयत्नशील हैं। लेकिन इस बीच जब हम जेनेवा में ईमानदारी के साथ बातचीत कर रहे थे तो दूसरे लोग गुप्तरूप से विनाश के नये परीक्षण करने की तैयारियां कर रहे थे।

हमारे परीक्षण वायुमण्डल को दूषित नहीं करते हैं। दूसरे पक्ष को शस्त्र उठाने से रोकने वाले हमारे शस्त्रास्त्रों का आकस्मिक दुर्घटनावश विस्फोट का प्रयोग न हो, इसकी पूरी चौकसी है। हमारे डाक्टर तथा वैज्ञानिक ऐसे प्रत्येक राष्ट्र की सहायता करने को तैयार हैं तथा स्वास्थ्य के लिए घातक प्रत्येक परेशानी को दूर करने में सहायता करने को प्रस्तुत हैं जो वायुमण्डलीय परीक्षणों के अनिवार्य परिणाम होते हैं।

लेकिन इन भयंकर अस्त्रों के विस्तार वायुमण्डल को दूषित होने से तथा दिन दुनी रात चौगुनी बढ़ने वाली शस्त्रास्त्र प्रतियोगिता को रोकने के लिए हम समझौते के नये मार्ग खोजने को सदैव तैयार रहे हैं। इस प्रकार हमारे नये नि:शस्त्रीकरण-कार्यक्रम में निम्नलिखित प्रस्ताव सम्मिलित हैं :—

प्रथम सभी राष्ट्रों द्वारा परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाने की सन्धि पर हस्ताक्षर करना। यह तो अभी किया जा सकता है। परीक्षणों पर प्रतिबन्ध माने की वार्ता शुरू करने के लिए आम निःशस्त्रीकरण होने की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है न करनी ही चाहिए।

दूसरे शस्त्रास्त्रों में प्रयोग होने वाले विस्फोटक पदार्थों का उत्पादन रोकना तथा इस समय जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं उन्हें इन विस्फोटक पदार्थों का हस्तांतरण रोकना।

तीसरे, परमाणु अस्त्रों पर उन राष्ट्रों को नियन्त्रण हस्तांतरित करने से रोकना जिनके पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं।

चौथे परमाणु अस्त्रों को अन्तरिक्ष में नये युद्ध क्षेत्रों के बीच बोने से रोकना।

पांचवां इस समय बन चुके परमाणु अस्त्रों को धीरे-धीरे नष्ट करना तथा उनमें लगी सामग्री को शान्तिपूर्ण कार्यों में प्रयोग करना, और

अन्त में परमाणु अस्त्रों को ले जाने वाले सामरिक महत्व के वाहनं के उत्पादन तथा असीमित परीक्षण रोकना तथा धीरे-धीरे उन सबको नष्ट करना।

लेकिन शस्त्रास्त्रों को नष्ट कर देना ही पर्याप्त नहीं है। जैसे-जैसे हम शस्त्रास्त्र नष्ट करें हमें विश्व-भर में न्याय-व्यवस्था स्थापित करनी चाहिए और जैसे-जैसे हम विश्व भर में युद्धों तथा शस्त्रों को वर्जनीय बनायें,

उनके साथ ही विश्व में न्याय-व्यवस्था लागू करना सम्भव बनायें। हम जिस विश्व के निर्माण की बात कह रहे हैं उसमें जल्दी-जल्दी जुटाई गई संयुक्त राष्ट्र संघीय संकटकालीन सेनायें पर्याप्त नहीं होंगी जिनके पास रसद की सुनिश्चित व्यवस्था तथा जिनके खर्च की समुचित व्यवस्था नहीं है।

अतः संयुक्त राज्य अमेरिका की सिफारिश है कि प्रत्येक राष्ट्र अपनी सेनाओं में विशेष शान्ति-स्थापक दस्ते बना कर रखे जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ जब चाहे तभी बुला सके। ये दस्ते विशेष रूप से प्रशिक्षित हों फौरन उपलब्ध हो सकते हों तथा उनके खर्च एवं परिवहन की पहले से व्यवस्था हो।

इसके अतिरिक्त अमरीकी प्रतिनिधि मण्डल का सुझाव है कि ऐसे अनेक कदम उठाए जायें जिससे झगड़ों को शान्तिपूर्वक निपटाने घटनास्थल पर वस्तुस्थिति की जांच करने मध्यस्थता तथा पञ्चनिर्णय करने तथा कानून व्यवस्था का विस्तार करने की संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्य-प्रणाली में सुधार हो। क्योंकि शान्ति केवल सैनिक अथवा टैक्नीकल समस्या ही नहीं है यह तो मूल-भूत रूप में राजनैतिक तथा जनता की समस्या है। जब तक मानव शस्त्र-निर्माण एवं टैक्नालाजी में की गई प्रगति के समान ही सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्र में प्रगति नहीं करता तब तक हमारी शक्ति का समुचित नियन्त्रण न होगा और हम इस पृथ्वी पर मिट जायेंगे।

आगामी दस महीनों की घटनायें तथा निर्णय आगामी दस हजार वर्षों तक के लिए मानव के भाग्य का निर्णय कर देंगे। इन घटनाओं को टाला नहीं जा सकता। इन निर्णय के विरुद्ध कहीं भी अपील नहीं की जा सकेगी। इस हाल में बैठे हम लोगों को या तो उस पीढ़ी का अङ्ग गिना जायेगा जिसने इस ग्रह को जलती चिता में परिणित किया था वह पीढ़ी समझा जायगा जिसने आने वाली पीढ़ियों को युद्ध की विभीषिका से बचाने की अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह किया।

उस प्रतिज्ञा का निर्वाह करने के प्रयास-स्वरूप मैं इस राष्ट्र द्वारा शक्ति भर हर सम्भव कोशिश करने का वचन देता हूँ। मैं वचन देता हूँ कि यह राष्ट्र न तो आक्रमण करेगा और न आक्रमण के लिए उकसाएगा यह राष्ट्र न तो शक्ति की धमकी देगा और न धमकी के आगे भागेगा तथा यह राष्ट्र न तो डर कर बातचीत करेगा और न बातचीत करने से डरेगा।

शान्ति तथा स्वतन्त्रता में विश्वास रखने वाले किसी राष्ट्र को निराश होने की जरूरत नहीं है क्योंकि वह अकेला नहीं है। अगर हम सब आत्म नियन्त्रण रख सकते हैं अगर हम सब चाहे जिस देश या जिस पद पर हों अपनी सीमाओं तथा आकांक्षाओं से आगे देख सकते हैं तो निश्चय ही उस युग का अभ्युदय होगा जिसमें शक्तिशाली न्यायपूर्ण कमजोर संरक्षित तथा शान्ति सुरक्षित रहेगी।

इस महासभा में उपस्थित महिलाओं तथा सज्जनों निर्णय करना हमारे ऊपर है। विश्व के राष्ट्रों को आज जितना खोना या पाना है उतना पहले कभी नहीं था। आज मिल कर हम अपने पृथ्वी ग्रह को बचा सकते हैं अथवा आग की लपटों में भस्मसात् कर सकते हैं। इसे हम बचा सकते

हमें ऐसे प्रयास बनाना चाहिये और तभी हम मानवता के शाश्वत स्वभाव तथा शान्ति स्थापक के रूप में परमात्मा के शाश्वत वरदान के अधिकारी होंगे।"

शस्त्रास्त्र कम करने के श्री कैनेडी के प्रस्तावों को विस्तार के साथ अमेरिकन प्रतिनिधि ने मार्च १९६२ में १८ राष्ट्रीय जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में प्रस्तुत किया। यह प्रस्ताव किसी भी राष्ट्र द्वारा प्रस्तुत सर्वाधिक व्यापक और विशिष्ट सुझाव थे। इसके साथ ही जिनेवा नगर में पृथक से हो रहे अमेरिकन-ब्रिटिश सोवियत सम्मेलन में परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध के नये अमेरिकन प्रस्ताव भी उपस्थित किये गये। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी यह सम्मेलन सारे वर्ष भर चलते और स्थगित होते रहे। इस बीच सोवियत संघ ने संसार के उस समय तक के सर्वाधिक शक्तिशाली ६० मेगाटन बम का विस्फोट करके विश्व में तहलका मचा दिया। इस बम का परीक्षण उस अवस्था में किया गया कि संयुक्त राष्ट्रीय महासभा एक प्रस्ताव पारित करके सोवियत रूस से अपील कर चुकी थी कि वह यह परीक्षण न करे। यही नहीं अक्टूबर १९६२ में रूस ने क्यूबा को प्रक्षेपणास्त्रों के अग्रिम अड्डे के रूप में परिवर्तित करके विश्व-शान्ति के लिए संकट उपस्थित कर दिया यद्यपि बाद में श्री कैनेडी की दृढ़ता और श्री ख्रुश्चेव के विवेक और धैर्य ने मिल कर इस संकट को किसी तरह टाल दिया। क्यूबा संकट के बाद अक्टूबर १९६१ के अन्त में श्री ख्रुश्चेव ने श्री कैनेडी को लिखा—

"हमको अणु तथा परमाणु शस्त्रास्त्रों पर प्रतिबन्ध लगाने, आम निःशस्त्रीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने सम्बन्धी अन्य समस्याओं पर विचार-विमर्श जारी रखना चाहिए।"

राष्ट्रपति कैनेडी ने तत्काल इसके उत्तर में सोवियत प्रधानमंत्री को लिखा—

"हमें निःशस्त्रीकरण समस्या पर फौरन ध्यान देना चाहिए क्योंकि इसका सारे संसार से तथा संकटपूर्ण क्षेत्रों से सम्बन्ध है। शायद अब जब हम खतरे से एक कदम पीछे हट आये हैं हम मिल कर इस महत्त्वपूर्ण क्षेत्र में कुछ वास्तविक प्रगति कर सकें। मैं समझता हूँ कि हमें पृथ्वी पर तथा बाह्य अन्तरिक्ष में परमाणु अस्त्रों पर रोक लगाने सम्बन्धी प्रश्नों को प्राथमिकता देनी चाहिए। लेकिन हमें इस बात के लिए कठोर परिश्रम करना चाहिए कि निःशस्त्रीकरण के व्यापक मसलों पर भी सहमति हो जाय और शीघ्र ही उन समझौतों पर अमल किया जा सके। संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार इन प्रश्नों पर फौरन ही रचनात्मक भावना के साथ जेनेवा में या अन्यत्र कहीं भी विचार करने को तैयार होगी।"

इसके बाद के महीने निःशस्त्रीकरण वार्ता के युद्धोत्तर इतिहास में सबसे अधिक परिणामदायक सिद्ध हुआ। ५ अप्रैल १९६३ को जेनेवा में सोवियत प्रतिनिधि मण्डल ने अमेरिका का यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि वाशिंगटन और क्रेमलिन के बीच सीधी टेलीटाइप लाइन चालू की जाय। संकट के समय अमेरिकन राष्ट्रपति व सोवियत प्रधानमंत्री के बीच शीघ्रता-पूर्वक वार्ता करने का साधन सुलभ होने से आकस्मिक दुर्घटना से युद्ध छिड़ने,

का खतरा कम हो सकेगा—इसी दृष्टि से हेमन्त ऋतु में यह 'हाट लाइन' चालू की गयी।

अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध संधि (Nuclear Test Ban Treaty, 1963)—कैनेडी और ख्रुश्चेव के प्रयत्नों से निःशस्त्रीकरण वार्ता में और प्रगति हुई। १४ जुलाई १९६३ को मास्को में ब्रिटेन रूस और अमेरिका के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ और २५ जुलाई, १९६३ को तीनों देशों ने "सीमित परमाणु प्रतिबन्ध सन्धि" पर हस्ताक्षर कर दिये। राष्ट्रपति कैनेडी इस सन्धि की माँग अपने प्रशासन काल के प्रारम्भ से करते आ रहे थे। इस संधि के सम्पन्न होने के अगले ही दिन उन्होंने अपने कार्यकाल की सर्वाधिक महत्वपूर्ण मानवीय घोषणा में से एक घोषणा की और संविधान के अन्तर्गत अमेरिकन सीनेट से इस संधि की संपुष्टि का आग्रह किया। श्री कैनेडी ने अमेरिकन राष्ट्र को सम्बोधित करते हुए कहा—

"आज रात मैं आप लोगों के सामने आशापूर्ण भावना के साथ बोल रहा हूँ। अठारह वर्ष पहले परमाणु अस्त्रों के अभ्युदय से विश्व तथा युद्ध की अवस्था ही बदल गई थी। उसी समय से समस्त मानवता पृथ्वी पर सामूहिक विनाश की अन्धकारपूर्ण सम्भावना से बचने के लिये संघर्ष करती चली आ रही है। ऐसे युग में जब दोनों पक्षों के पास इतनी परमाणु शक्ति हो कि वे समस्त मानव जाति को कई बार विध्वस्त कर सकते हैं साम्यवादी तथा स्वतन्त्र विचारों के विश्व परस्पर विरोधी सिद्धान्तवाद तथा परस्पर विरोधी हितों के कुचक्र में फंस गए हैं। तनाव की हर वृद्धि के साथ शस्त्रास्त्रों की वृद्धि हुई है और शस्त्रास्त्रों की हर वृद्धि के साथ तनाव बढ़ा है।" "

कल अन्धकार की सघनता चीरती हुई प्रकाश की एक किरण उदित हुई है मास्को में बातचीन के फलस्वरूप एक संधि हुई है जिसके अनुसार पृथ्वी बाह्य अन्तरिक्ष अथवा जल के अन्दर सभी तरह के परमाणु परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगा दिया जायेगा। पहली बार परमाणु विनाश की शक्तियों को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में लाये जा सकने के लिये एक समझौता हुआ है। यह ऐसा लक्ष्य है जिसे बर्नार्ड बरूच ने १९४६ में ही संयुक्त राष्ट्र संघ के सामने एक व्यापक नियन्त्रण योजना के अधीन प्रस्तुत किया था।

इस योजना तथा बाद की अनेक छोटी बड़ी योजनाओं को उन लोगों ने अस्वीकार कर दिया जो अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के विरोधी थे। अकिन परमाणु परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने की व्यवस्था के अन्तर्गत निरीक्षण की आवश्यकता तभी पड़ती जब भूगर्भीय परीक्षण किये जायें। इस राष्ट्र के पास ऐसी बहुत सी तकनीकें सुलभ हैं जिनसे अन्य राष्ट्रों द्वारा वायु मण्डल या पानी के भीतर किये गये परमाणु परीक्षणों का पता आसानी से चल सकता है क्योंकि इस प्रकार के परीक्षणों से वे स्पष्ट चिन्ह प्रकट होते हैं जिन्हें आधुनिक यंत्रादि से पकड़ा जा सकता है।

अब. जल जो संधि हुई है वह एक सीमित संधि है जिसके अनुसार भूगर्भीय परमाणु-परीक्षण किये जा सकते हैं। इसके अधीन उन्हीं परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाया गया है, जिन्हें हम स्वयं भी पकड़ सकते हैं। इसके लिये

किसी नियन्त्रण चौकी घटनास्थल पर जाकर किसी प्रकार के निरीक्षण करने अथवा कोई भी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने की आवश्यकता नहीं।

हमें यह भी समझ लेना चाहिये कि इसकी अपनी सीमायें भी हैं। इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाला कोई राष्ट्र उस अवस्था में इस संधि से बाहर जा सकता है जब वह समझे कि संधि के विषय से सम्बन्धित असाधारण घटनाओं के कारण उसके सर्वोच्च हित खतरे में पड़ गये हैं और किसी भी राष्ट्र का आत्मरक्षा का अधिकार किसी भी अवस्था में इससे बाधित नहीं होगा। इस संधि का यह अर्थ भी नहीं है कि इससे परमाणु-युद्ध का खतरा समाप्त हो गया। इससे परमाणु अस्त्रों का संग्रह भी कम नहीं होगा। इससे परमाणु अस्त्रों का उत्पादन भी न रुकेगा और युद्ध छिड़ने पर इनका प्रयोग भी न रोका जा सकेगा।

फिर भी इस संधि से परमाणु-परीक्षणों में जबर्दस्त कमी आ जायगी जो अन्यथा दोनों तरफ से चलते रहते। यह संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन तथा सोवियत संघ को वायुमण्डलीय परीक्षण करने से रोकेगी जिसने मानवता को इतना अधिक चिन्ताग्रस्त कर दिया है और इससे समूचे विश्व को स्वागत योग्य मात्रा विशुद्ध मिल गया है।

यह कोई एकपक्षीय रोक नहीं है बल्कि एक निश्चित तथा पवित्र कानूनी दायित्व है। हालांकि इस राष्ट्र को यह संधि भूगर्भीय परीक्षण करने तथा अन्य राष्ट्रों को कार्यवाहियों से आवश्यक हो जाने के कारण वायुमण्डलीय परीक्षण करने से रोक न सकेगी फिर भी यह एक ऐसा ठोस सुअवसर उपस्थित करती है कि इससे अन्य राष्ट्र बचें तथा बाद में अन्य प्रकार के परमाणु-परीक्षण रोके जा सकें।

यह संधि एक तरह से पश्चिमी राष्ट्रों के [illegible] तथा सतत् सतर्कता का परिणाम है। हमने स्पष्ट कर दिया सबसे हाल में बर्लिन तथा क्यूबा में कि हम अपनी सुरक्षा तथा अपनी स्वतन्त्रता की किसी भी प्रकार के आक्रमण से रक्षा करने के लिये कृतसंकल्प हैं। साथ ही हमने शस्त्र-प्रतियोगिता सीमित करने का अपना दृढ़ निश्चय भी स्पष्ट कर दिया।

यह संधि ही सब कुछ नहीं है। इससे सभी समस्यायें हल नहीं हो सकेंगी अथवा इससे कम्युनिस्ट अपनी महत्वाकांक्षायें नहीं त्याग देंगे या युद्ध का खतरा नहीं टल जायगा। इससे शस्त्रास्त्रों या मित्रों की आवश्यकता या अन्य राष्ट्रों की सहायता देने के कार्यक्रम की जरूरत कम नहीं होगी। लेकिन यह एक महत्वपूर्ण पहला कदम है—शांति की तरफ समझदारी की तरफ उठाया गया तथा युद्ध से हट कर एक कदम है।

इतिहास तथा हमारी आत्मा हमें बुरा कहेगी अगर हम अब अपनी आशाओं को कार्य की कसौटी पर कसने का हर सम्भव प्रयत्न नहीं करते हैं और यह स्थान उस प्रयत्न को शुरू करने का है। प्राचीन चीनी कहावत है "हजार मील की यात्रा का श्रीगणेश एक कदम उठाने के साथ होना चाहिये।"

मेरे अमेरिकी बन्धुओं हमें यह पहला कदम उठाना चाहिये। अगर हम बच सकें तो हमें युद्ध की काली छायाओं से बच जाना चाहिये और शांति का रास्ता खोजना चाहिये और यह यात्रा एक हजार मील या इससे भी अधिक लम्बी है तो इतिहास को लिखने दीजिये कि इस राष्ट्र के रहने वाले हम लोगों ने इस अवसर पर पहला कदम उठाया।

राष्ट्रपति कैनेडी ने अपने संदेश में इस संधि के सीनेट द्वारा स्वीकार किये जाने के पक्ष में जो युक्तियाँ दीं वे संक्षेप में यह थीं—

(i) यह संधि विश्व-शांति को बढ़ाने वाली और आणविक शस्त्र-प्रतिस्पर्धा को रोकने वाली है।

(ii) यह पृथ्वी के वायुमण्डल का आणविक विस्फोटजन्य दूषित और हानिप्रद तत्वों से बचावगी।

(iii) यह संधि अमेरिकन हितों को सुरक्षित करने वाली है क्योंकि जब कभी वह इसे अपने लिए हानिप्रद समझे तभी वह इससे पृथक हो सकता है।

(iv) इससे अमेरिका के आणविक आयुधों की प्रगति में कोई बाधा नहीं पहुँचती क्योंकि वह भूमिगत परीक्षणों द्वारा इनका विकास कर सकता है।

(v) अमेरिका के लिए यह संधि इसलिए भी लाभदायक है क्योंकि वह इस समय आणविक आयुधों की दृष्टि से रूस से आगे है और अब अणु-परीक्षणों पर रोक लग जाने के कारण आगे भी इस विषय में उसकी श्रेष्ठता बनी रहेगी।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि पर सीनेट का अनुमोदन सितम्बर में प्राप्त हुआ। वाशिंगटन लन्दन तथा मास्को में संपुष्टि-पत्रों के आदान-प्रदान के बाद १० अक्टूबर १९६३ को यह संधि लागू हो गयी। उस समय तक लगभग १०० राष्ट्र इस संधि पर हस्ताक्षर कर चुके थे।

इस संधि के द्वारा भूगर्भ परीक्षणों को छोड़ कर बाह्य आकाश जल और वायु मण्डल में अणु-परीक्षण करने पर रोक लग गयी। १९५५ की आस्ट्रिया की शांति-संधि के बाद पूर्व और पश्चिम का यह सबसे बड़ा समझौता था। इसका विश्व में सर्वत्र स्वागत हुआ। भारत ने इस संधि पर अन्य राष्ट्रों में प्रथम हस्ताक्षर किये। फ्रांस ने अब तक इस पर हस्ताक्षर नहीं किए हैं और साम्यवादी चीन इस संधि का विरोधी रहा है।

"अणु-परीक्षण प्रतिबन्ध संधि ५ धाराओं की छोटी सी किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असाधारण महत्व रखने वाली संधि है। इसकी प्रस्तावना में तीनों देशों (ब्रिटेन रूस व अमेरिका) ने यह घोषणा की है कि उनका प्रधान उद्देश्य—

'संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्यों के अनुसार कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में एक सामान्य और पूर्ण निःशस्त्रीकरण का समझौता यथासंभव शीघ्र ही कराना है ताकि शस्त्रों के उत्पादन और निर्माण की प्रतिस्पर्धा बन्द हो सके।"

संधि की पाँचों धारायें सारांश रूप में इस प्रकार हैं—

पहली धारा में तीनों देशों द्वारा यह निश्चय किया गया है कि वे अपने अधिकार क्षेत्र और नियन्त्रण में विद्यमान किसी भी प्रदेश के वायुमंडल में, इसकी सीमाओं में बाह्य अन्तरिक्ष में प्रादेशिक अथवा महासमुद्रों के जल में कोई भी आणविक विस्फोट नहीं करेंगे और इस प्रकार के आणविक विस्फोटों को रोक देंगे।

दूसरी धारा में संधि के संशोधन की व्यवस्था है। संधि में संशोधन का प्रस्ताव किसी भी सरकार द्वारा रखा जा सकता है और हस्ताक्षरकर्ता राज्यों में से यदि एक-तिहाई प्रस्ताव के पक्ष में हों तो संशोधनों पर विचार हो सकता है।

तीसरी धारा के अनुसार इस संधि पर सब देश हस्ताक्षर कर सकते हैं। यह व्यवस्था है कि हस्ताक्षरकर्ता देश इस पर अपनी संसद अथवा राष्ट्रीय परिषद से इसकी पुष्टि प्राप्त करेंगे और इन पुष्टियों या संपुष्टियों को उन्हें रूस, अमेरिका एवं ग्रेट ब्रिटेन के पास जमा कराना पड़ेगा।

चौथी धारा में उल्लिखित है कि यह संधि असीमित अवधि (Unlimited duration) के लिए है हालांकि हस्ताक्षरकर्ता प्रत्येक देश को यह अधिकार होगा कि वह अपनी राष्ट्रीय प्रभुसत्ता का प्रयोग करते हुए उस समय स्वयं को इस संधि की बाध्यताओं से मुक्त कर ले जब वह यह निर्णय करे कि इस संधि से सम्बन्धित ऐसी असाधारण घटना घटित हुई है कि उससे उस देश का सर्वोच्च हित संकट में पड़ गया है। इस धारा में कहा गया है कि उपरोक्त अवस्था में संधि से हटने की इच्छा करने वाले देश संधि पर हस्ताक्षर करने वाले अन्य देशों को ३ महीने पहले अपने पृथक होने का नोटिस दे देगा। यही इसकी पृथक होने वाली धारा (Escape Clause) कहलाती है। संधि की इस पृथक्करण की धारा से स्पष्ट है कि यदि फ्रांस और चीन अपने अणु-परीक्षण जारी रखते हैं और भारत को या अन्य किसी राष्ट्र को ऐसा अनुभव होता है कि उसकी राष्ट्रीय सुरक्षा को संकट है, तो वे इस संधि पर हस्ताक्षर करने पर भी इससे अलग होकर अपने प्रतिरक्षात्मक साधनों को बढ़ाने के लिए तैयार हो सकते हैं।

पांचवीं धारा में यह कहा गया है कि इस संधि के रूसी भाषा के तथा अंग्रेजी के दोनों रूप समान रूप से प्रामाणिक समझे जायेंगे।

इस संधि में स्थल जल और आकाश में किये जाने वाले अणु-परीक्षणों पर ही प्रतिबन्ध लगाया गया है अतः स्वभावतः यह प्रश्न पैदा होता है कि भूमिगत (Underground) परीक्षण पर प्रतिबन्ध क्यों नहीं लगाया गया। ऐसा इसलिए नहीं हुआ कि भूमिगत परीक्षणों का पता लगाने के लिए उनकी जाँच करने की कोई संतोषजनक और सर्वसम्मत विधि नहीं निकल सकी तथा रूस ने इस बात का घोर विरोध किया कि ऐसे परीक्षणों की जाँच विस्फोट के स्थान पर जाकर की जाय। रूस को यह अभीष्ट न था कि अमेरिका रूसी प्रदेश में जाकर अणु परीक्षणों के स्थानों का निरीक्षण करे। रूस ने इसका विरोध करते हुए कहा कि ये निरीक्षण बेकार हैं क्योंकि अब ऐसे यन्त्र बन चुके हैं जो दूरवर्ती स्थानों की भूमि के भीतर होने वाले विस्फोटों

की हलचल मालूम करते रहते हैं। इसी दृष्टिकोण के विपरीत अमेरिका का विचार था कि भूमि के अन्दर किये जाने वाले आणविक विस्फोटों को भूचाल के धक्के (Earth tremors) से पृथक करना संभव नहीं है।

श्री ख्रुश्चेव ने इस संधि पर हस्ताक्षर करते समय कुछ अन्य प्रस्ताव भी रखे। पहला प्रस्ताव सेना पर किये जाने वाले विशाल व्यय में कटौती का था। दूसरा प्रस्ताव पूर्वी और पश्चिमी जर्मनी के दोनों ओर सेनाओं की संख्या में कमी करना था। तीसरा प्रस्ताव नाटो तथा वार्सा पैक्ट के देशों के मध्य अनाक्रमण समझौते का था। किन्तु इन तीनों ही प्रस्तावों को स्वीकार करने की दिशा में कोई सफलता नहीं मिली।

अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि का संसार के अधिकांश सभी छोटे-बड़े राष्ट्रों ने पूर्ण स्वागत किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मैकमिलन ने कहा "आंशिक अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है और यह पहला अवसर है कि इस भयानक शक्ति को नियन्त्रण करने की दिशा में हम लोग एक बात पर राजी हुए हैं।" ख्रुश्चेव ने इसे एक अच्छी शुरूआत और युगान्तकारी घटना कहा। लंका की प्रधानमंत्री श्रीमती भंडारनायक ने कहा "यह संधि अन्तर्राष्ट्रीय विश्वास के नये युग का श्रीगणेश करेगी तथा सामान्य और पूर्ण निःशस्त्रीकरण का मार्ग खोल देगी।

इसमें कोई संदेह नहीं कि आणविक परीक्षण पर रोक लगाने से सम्बन्धित यह संधि केवल निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में ही एक महान् घटना नहीं थी वरन् यह शीत युद्ध की समाप्ति की दिशा में भी एक प्रभावशाली शुरूआत थी जिसके कारण विश्व इतिहास में एक नये अध्याय का प्रारम्भ हुआ।

निःशस्त्रीकरण की दिशा में १९६३ के उपरान्त किये गये प्रयास— १९६३ में राष्ट्रपति कैनेडी की सहसा हत्या हो जाने के उपरान्त जब उपराष्ट्रपति जिन्सन की जानसन ने राष्ट्रपति पद का भार संभाला तब नये वर्ष के अवसर पर अमेरिका के नये राष्ट्रपति को शुभ कामना संदेश देते हुए रूसी प्रधानमंत्री ने इस बात पर बल दिया कि निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी प्रयासों के साथ-साथ संघर्षों के कारणों को दूर करने के और सीमा संघर्षों के कारणों को मिटाने के तथा सीमा विवादों को हल करने के लिए बल-प्रयोग न करने की प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की जाय। श्री ख्रुश्चेव ने सुझाया कि एक ऐसी संधि की जानी चाहिये जिसके अन्तर्गत सीमा संघर्षों के समाधान के लिए बल प्रयोग करना वर्जित कर दिया जाय।

राष्ट्रपति जॉनसन ने निःशस्त्रीकरण और शांति की रक्षा के लिए अमेरिका द्वारा अनवरत रूप से प्रयत्नशील रहने के संकल्प का ठोस प्रमाण देने के लिए प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव को एक पत्र लिखा और माघ १९६४ में जेनेवा में पुनः प्रारम्भ होने वाले सम्मेलन में अमेरिका की ओर से नयी पहल करते हुए ५ नये और ठोस प्रस्ताव रखे। निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में अमेरिका के जो ये नये प्रस्ताव थे उनका उल्लेख राष्ट्रपति जॉनसन के उस विशेष संदेश में किया गया था जिन्होंने जेनेवा निःशस्त्रीकरण सम्मेलन को भेजा था। ये प्रस्ताव संक्षेप में इस प्रकार थे—

१ प्रादेशिक झगड़ों को तय करने के लिए भविष्य में बल-प्रयोग न किया जाय।

२ सामरिक महत्व के अस्त्रास्त्रों में वृद्धि को अविलम्ब रोका जाय।

३ एक समझौता किया जाय जिसके अन्तर्गत अस्त्रास्त्रों के लिए विखण्डनीय पदार्थों का सारा उत्पादन रोक दिया जाय और यह मालूम किया जाय कि सम्बद्ध पक्ष उस समझौते का पालन कर रहे हैं या नहीं।

४ आकस्मिक घटना गलत अनुमान अथवा आकस्मिक आक्रमण के कारण युद्ध के छिड़ने का खतरा कम किया जाय।

५ जिन देशों के पास आणविक अस्त्र नहीं हैं उन तक इन अस्त्रों को पहुँचने से रोका जाय।

अमेरिकन प्रस्तावों के उत्तर में सोवियत रूस की ६ सूत्री निःशस्त्रीकरण योजना सामने आयी। १८ राष्ट्रीय निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में रूस द्वारा यह प्रस्ताव किया गया कि आणविक हथियारवाहक सभी विमानों को नष्ट कर दिया जाय। रूसी ६ सूत्री योजना में यही मुख्य बात थी। इस योजना को रूसी प्रतिनिधि श्री जारापकिन ने प्रस्तुत किया। यह इस प्रकार थी—

१ विदेशों से सभी विदेशी सेनायें हटायी जायें।

२ सभी राष्ट्र अपनी थल सेनाओं में कटौती करें (अवशेष सेना के अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया)।

३ सभी राष्ट्र अपने सैनिक बजट में भी कटौती करें।

४ यूरोप व अन्य क्षेत्रों में अणु रहित क्षेत्रों की स्थापना हो।

५ नाटो व वारसा संधि राष्ट्रों में अनाक्रमण संधि हो।

६ आणविक अस्त्रास्त्रों का और दूसरे देशों में प्रसार न करने के सम्बन्ध में समझौता हो।

७ अनायास आक्रमण की संभावना को खत्म करने पर्यवेक्षक चौकियों सेनाओं में कटौती तथा केन्द्रीय यूरोप में (अणु-रहित व अ सहित) का समझौता हो।

८ बमवर्षक विमानों को नष्ट किया जाय।

९ भूमिगत परमाणु परीक्षणों पर भी प्रतिबन्ध लागू हो।

सोवियत संघ ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि यदि अमेरिका वास्तव में आणविक अस्त्रास्त्रों के प्रसार को रोकने का इच्छुक है तो उसे यूरोप में बहुपक्षीय आणविक सेना संगठित करने का विचार छोड़ना पड़ेगा क्योंकि ऐसी सेना के मौजूद रहते हुए किसी भी प्रकार का समझौता नहीं हो सकता। रूसी प्रतिनिधि ने कहा कि अमेरिका द्वारा यह कदम उठाये जाने पर ही सोवियत संघ राष्ट्रपति जॉनसन के प्रस्तावों पर गंभीरतापूर्वक विचार करेगा।

जून १९६४ में जेनेवा सम्मेलन में अमेरिका ने आणविक अस्त्रास्त्रों के प्रसार को रोकने तथा अणुशक्ति के कल्याणकारी उपयोगों को प्रोत्साहन देने के लिए ५ परस्पर सम्बद्ध प्रस्ताव प्रस्तुत किये। इनमें निम्नलिखित प्रमुख सुझाव दिये गये—

(i) आणविक शस्त्रास्त्रों में प्रयुक्त करने के लिए आवश्यक आणविक सामग्री के उत्पादन को प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की व्यवस्था के साथ अविलम्ब पूरी तरह से रोक दिया जाय।

(ii) आक्रमणात्मक और प्रतिरक्षात्मक आणविक शस्त्रास्त्रों की संख्या निर्धारित की जाय। इसके लिए परीक्षण की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था हो और इसी प्रकार के प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण के अन्तर्गत निर्धारित संख्या के अतिरिक्त सभी आणविक शस्त्रास्त्र नष्ट किये जायें।

(iii) अमेरिका और रूस दोनों ही बराबर संख्या में अपने उन बमवर्षकों को नष्ट कर दें जो अणुबम ले जाने और दूर तक प्रहार करने में समर्थ हैं। इनमें बी०—४७ और टी० यू०—१६ को शामिल किया गया है।

(iv) प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षात्मक व्यवस्था के अन्तर्गत ही कल्याणकारी कार्यों के लिए आणविक सामग्री का हस्तान्तरण हो।

(v) प्रमुख अणुशक्ति सम्पन्न राष्ट्र अणुशक्ति के कल्याणकारी उपयोगों के विकास में संलग्न अपनी और अधिक सुविधाओं और कारखानों को अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण और जाँच-पड़ताल के लिए खोलें।

१९६४ में ही इंगलैंड की लेबर पार्टी के नेता और वर्तमान प्रधानमन्त्री हेरॉल्ड विल्सन ने नि:शस्त्रीकरण के सम्बन्ध में ये प्रस्ताव रखे—

१ सैनिक व्यय में कमी हो पूर्व जर्मनी पोलैण्ड और चेकोस्लोवाकिया में सभी आणविक शस्त्र नष्ट कर दिए जायें।

२ अचानक आक्रमण के लिए निरीक्षण पोस्ट स्थापित किये जायें।

३ सभी प्रकार के परीक्षणों पर प्रतिबन्ध लगाये जायें।

जेनेवा में चलने वाले इन नि:शस्त्रीकरण सम्मेलनों का और उसमें दोनों पक्षों की ओर से रखे जाने वाले प्रस्तावों–प्रति-प्रस्तावों का कोई मधुर फल नहीं निकला। सितम्बर में नि:शस्त्रीकरण सम्मेलन कुछ काल के लिए स्थगित कर दिया गया और इसी के कुछ दिनों बाद ५ अक्टूबर, १९६४ को काहिरा में तटस्थ राष्ट्रों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें भारतीय प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री और मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने संयुक्त विज्ञप्ति में पूर्ण नि:शस्त्रीकरण पर बल दिया। श्री शास्त्री ने चीन में एक मिशन भेज कर उसे अणु-परीक्षण बन्द करवाने की अपील करने का सुझाव भी दिया। इस विषय में भारत के पूर्व निश्चय को दोहराते हुए श्री शास्त्री ने एक बार फिर घोषणा की कि भारत अणुशक्ति का शांतिमय उपयोग करने के अपने विश्वास पर अटल है।

कुछ ही दिनों बाद चीन ने अपने प्रथम अणुबम का परीक्षण कर लिया। १९६३ के जेनेवा समझौते का यह प्रथम उल्लंघन था। सारे संसार में इसकी बड़ी आलोचना हुई। २९ नवम्बर, १९६४ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा ने एक प्रस्ताव पास करके नि:शस्त्रीकरण आयोग से आग्रह किया कि परमाणविक आयुधों के सम्बन्ध में शीघ्रतापूर्वक किसी प्रकार का

समझौता अवश्य होना चाहिए। रूस के ६ सूत्री प्रस्ताव का सोवियत संघ ने विरोध किया और ऐसा प्रतीत होने लगा कि एक बार दोनों महाशक्तियाँ (अमेरिका तथा रूस) इस बात पर उलझ जायेंगी।

७ सितम्बर १९५४ को उस समय ११५ सदस्यों वाली महासभा में रूसी विदेशमन्त्री श्री ग्रोमिको ने एक ११ सूत्री निःशस्त्रीकरण कार्यक्रम प्रस्तुत किया जिसका उद्देश्य विश्व-तनाव को कम करना और निःशस्त्रीकरण की दिशा में तेजी से अग्रसर होना था। यह प्रस्ताव संक्षेप में इस प्रकार था—

१ सैनिक बजट में कमी
२ दूसरे देशों में स्थित सैनिकों को हटाना व उनमें कमी करना
३ अन्य देशों में विदेशी सैनिक अड्डों की समाप्ति
४ अणु आयुधों के विस्तार पर रोक
५ अणु-आयुधों के प्रयोग पर रोक
६ अणु विहीन क्षेत्रों का निर्माण
७ बमवर्षक विमानों की समाप्ति
८. भूमिगत आणविक आयुधों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध
९ नाटो और वारसा देशों में अनाक्रमण संधि
१० आकस्मिक आक्रमण पर रोक तथा
११ सैनिकों की कुल संख्या में कमी।

रूस का यह प्रस्ताव अमेरिकन गुट को स्वीकार्य नहीं हुआ।

दोनों पक्षों के मतभेदों को दूर करने के उद्देश्य से २० जुलाई, १९६५ को जेनेवा में निःशस्त्रीकरण आयोग की बैठक फिर बुलायी गयी। इस सम्मेलन में अपने द्वारा अब तक के किये गये कार्यों की विस्तृत रिपोर्ट प्रस्तुत की परन्तु सम्मेलन के आरम्भ होने के समय ही रूसी और अमेरिकन मतभेद तेजी से उभर आये। दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों ने ऐसे-ऐसे भाषण दिये कि सम्मेलन के भाग्य का फैसला ही गया। यद्यपि दोनों ही पक्षों में आणविक आयुधों की अपावश्यकता के सम्बन्ध में कोई मतभेद न था लेकिन इन आयुधों को नियन्त्रित करने के तरीकों के बीच स्पष्ट तीव्र मौलिक मतभेद थे। निःशस्त्रीकरण सम्मेलन ने अपनी असफलता के विषय में रिपोर्ट का प्रकाशन भी किया जिसमें उसने स्वीकार किया कि वह इस अधिवेशन में किसी भी विषय समझौते पर नहीं पहुँच सका है न तो आम और पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रश्नों पर और न ही अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने के उपायों पर ही किसी तरह की कोई सफलता मिली है। आयोग अथवा समिति ने यह विश्वास अवश्य प्रकट किया कि अधिवेशन में हुए वाद-विवाद और विचारों के आदान-प्रदान आयोग के भावी समझौता प्रयासों में अवश्य सहायक हो सकते हैं। *

---

*"As at past sessions the question before the Committee were in general discussed in a thorough manner All the participants in the Committee took an active part

१९ नवम्बर, १९६५ को भारत सहित ९१ अन्य सदस्य राष्ट्रों ने
युक्त राष्ट्र संघ की राजनीतिक समिति में यह प्रस्ताव रखा कि अक्टूबर
९६४ के काहिरा सम्मेलन के निर्णयों को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा स्वीकार
या जाय और उन पर विस्तार से विचार करने के लिए साम्यवादी चीन
हित १८ राष्ट्रों का एक निःशस्त्रीकरण सम्मेलन जेनेवा में १९६७ के
हले बुलाया जाय। यह प्रस्ताव ११२ मतों से बिना किसी विरोध के स्वीकार
र लिया गया किन्तु साम्यवादी चीन ने सम्मेलन में शामिल होना मन्जूर
हीं किया। इस पर १७ राष्ट्रों का (भारत सहित) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन

---

in this discussion and a number of interesting suggestions were put forward. The Soviet Union stated its readiness to meet the position taken by the United Arab Republic and to agree to its proposal that the implementation of the Moscow Treaty relating to the banning of tests of nuclear weapons in the atmosphere,in outer space and under water should be extended to cover underground nuclear test above a seismic magnitude of 4 75 and that, as an additional measure, the nuclear Powers should agree to moratorium on all other forms of underground nuclear testing until such time as agreement had been reached on an overall ban on nuclear weapon tests.

"The United States reiterated its readiness to conclude an adequately verified comprehensive test ban treaty and in this regard emphasized the desirability of an exchange of scientific information among nuclear Powers, as suggested by the eight non-aligned States

"The Committee did not reach any specific agreement at this session either on questions of general and complete disarmament, or on measures aimed at the lessening of international tension. However the members of the Committee believe that the extensive discussion on major problems relating to certain collateral measures were particularly valuable in clarifying the respective points of view of member Governments. The Committee believes that these discussions and exchanges of views may facilitate agreement in the further work of the Committee"

—Extracts from the Report.

पुनः जेनेवा में प्रारम्भ हुआ जो जनवरी १९६६ से अगस्त तक पूरे ७ महीने चलता रहा। सम्मेलन के प्रारम्भ में महासचिव ऊ-थांट ने एक सन्देश भेजा जिसमें कहा गया कि परमाणुविक आयुधों के सम्बन्ध में इस बार आयोग को अवश्य ही कुछ करना चाहिए। पोप पाल छठे, राष्ट्रपति जॉनसन और रूसी प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने भी ऐसे ही विचार व्यक्त किये। दोनों ही ओर से प्रस्ताव प्रतिप्रस्ताव आये किन्तु दोनों ने एक दूसरे के मसविदे को दोषपूर्ण बताते हुए अस्वीकार कर दिया। ११ अगस्त १९६६ को संयुक्त राज्य अमेरिका की अणु-आयुधों की नीति की आलोचना करते हुए सोवियत प्रतिनिधि रोचीन (Rochchin) ने बड़े जोरदार शब्दों में कहा कि संयुक्त राज्य अमेरिका एक तरफ तो सम्मेलनों में अणु-आयुधों के नियन्त्रण की बात कह कर संसार को गुमराह कर रहा है और दूसरी तरफ 'नाटो' (NATO) के माध्यम से पश्चिमी जर्मनी व गैर अणु-आयुधों वाले अन्य राष्ट्रों में भी अणु-आयुधों का विस्तार कर रहा है जैसा कि जुलाई १९६६ में इस बारे में नाटो संगठन के राष्ट्रों का निश्चय हो चुका है।

इसी सम्मेलन में संयुक्त राज्य अमेरिका ने रूस से आग्रह किया कि वह अपने 'अन्तरमहाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्रों के द्वारा सुरक्षा-व्यवस्थाओं' (Anti-Ballistic Mis-iles Defence Systems) का तुरन्त परित्याग करे। सम्मेलन में भाग लेने वाले भारत ब्राजील बर्मा इथोपिया, मेक्सिको, नाइजीरिया स्वीडन और संयुक्त अरब गणराज्य के ८ तटस्थ राष्ट्रों ने इस बात की मांग की कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत रूस भूगर्भ अणु-परीक्षणों को भी बन्द करने की बात तुरन्त स्वीकार करें, परन्तु सम्मेलन में दोनों ही शक्तियां अपनी हठवादी प्रवृत्ति का प्रदर्शन करती रहीं जिसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि यह सम्मेलन भी बिना किसी प्रकार के महत्वपूर्ण निर्णय के ही समाप्त हो गया।

अगस्त १९६७ का परमाणु-अस्त्र-सन्धि प्रारूप

परमाणु-अस्त्रों पर रोक लगाने के लिये इसके बाद भी प्रयास चलते रहे और जेनेवा में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। यह सम्मेलन भी ऊंघते-ऊंघाते लगभग सो ही चला था कि अगस्त के अन्तिम सप्ताह में अमेरिकन प्रतिनिधि फास्टर और सोवियत प्रतिनिधि रोशिचन ने यह ऐलान किया कि परमाणु-अस्त्र संधि के मसविदे के बारे में सोवियत संघ और अमेरिका में मोटे तौर पर समझौता हो गया है और उस समझौते के अनुसार संधि का एक मसविदा हम विचारार्थ यहां पेश कर रहे हैं। दो बड़े राष्ट्रों में रजामंदी होने की यह खबर मिलते ही इस मामले से सम्बद्ध छोटे राष्ट्रों के प्रतिनिधि चौकन्ने होकर बैठ गये। संधि का मसविदा बड़ा लम्बा-चौड़ा था और उसकी भूमिका भी काफी लम्बी-चौड़ी थी तो भी परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों की शंकाओं और उनके सन्देहों का कोई समाधान नहीं हो सका।

मसविदे के पहले अनुच्छेद में यह कहा गया है कि परमाणु-अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे।

दूसरे अनुच्छेद में कहा गया है कि हस्ताक्षर करने वाले परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्र बनाने की कोई कोशिश नहीं करेंगे।

तीसरा अनुच्छेद परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में है। इस अनुच्छेद में कुल एक पंक्ति है। अभी इस विषय में कोई समझौता नहीं हो सका है।

चौथा अनुच्छेद उन राष्ट्रों को आश्वस्त करने के लिए रखा गया है जिन्होंने अपने यहां आणविक उद्योग का काफी विकास कर लिया है। इसमें कहा गया है कि हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों को असैनिक कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का विकास करने में पूरी छूट रहेगी।

पांचवें छठे और सातवें अनुच्छेद में कार्यविधि-सम्बन्धी व्यवस्थाएं हैं।

लेकिन सन्धि में कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि अगर किसी परमाणु अस्त्र-विहीन राष्ट्र पर कोई परमाणु-अस्त्रधारी राष्ट्र हमला करता है तो हस्ताक्षर करने वाले देश उसके बचाव की क्या-व्यवस्था करेंगे ? तीसरे अनुच्छेद के बारे में कोई समझौता न हो सकने के कारण फिलहाल किसी है जो किसी परमाणु-अस्त्र विहीन राष्ट्र को परमाणु-अस्त्र भी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की परिकल्पना भी नहीं हो सकी है जो किसी परमाणु-अस्त्र विहीन राष्ट्र को परमाणु अस्त्र बनाने से रोक सके जो विभिन्न देशों के परमाणु-शक्ति के विकास के कार्यक्रमों का निरीक्षण और नियन्त्रण करके यह गारण्टी दे सके कि असैनिक उपयोग के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह सैनिक उपयोग में नहीं आवेगा और जो हस्ताक्षर करने वाले परमाणु शक्ति-विहीन राष्ट्रों को शान्तिपूर्ण उपयोगों के लिए परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों में परमाणु शक्ति के बारे में आवश्यक जानकारी और सामग्री दिला सके।

स्पष्ट है कि इस तरह की व्यवस्थाओं के अभाव में सन्धि का कोई महत्व नहीं रह जाता है। इसलिए नहीं कि परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्रों ने मसविदे की कम कर आलोचना की। फ्रांस और चीन बिरादरी से बाहर रहने वाले इन दो परमाणु अस्त्र-सम्पन्न देशों ने भी मसविदे का विरोध किया। चीन की सरकारी समाचार एजेंसी ने इस सन्धि को सोवियत संशोधनवाद और अमेरिकी साम्राज्यवाद की सन्धि ठहराया और कहा कि इसका मुख्य उद्देश्य चीन के विरुद्ध एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन तैयार करना है।

पेरिस में फ्रांसीसी सरकार ने पहले इस मसविदे पर कोई भी टिप्पणी करने से इन्कार कर दिया क्योंकि फ्रांस वर्तमान जेनेवा वार्ता से सम्बद्ध नहीं है। बाद में एक सरकारी प्रवक्ता ने कहा कि हम यह मानते हैं कि परमाणु-अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगनी चाहिए, हम यह भी स्वीकार करते हैं कि सभी राष्ट्र परमाणु-अस्त्र बनाने लगें तो सभ्यता का सर्वनाश हो जायेगा। लेकिन साथ में हम यह भी कहना चाहते हैं कि फिलहाल सबसे बड़ा खतरा अमेरिका और सोवियत संघ जैसे उन बड़े राष्ट्रों से है जिन्होंने बड़े पैमाने पर परमाणु-अस्त्र बना कर रख लिए हैं। दूसरों को नसीहत देने

से पहले से अपनी कमजोरियाँ दूर करें। परमाणु-अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगा दें और इस समय उनके पास जितने परमाणु-अस्त्र हैं उन्हें अन्तर्राष्ट्रीय देख रेख में नष्ट करवा दें। पश्चिम जर्मन के एक सरकारी प्रवक्ता ने कहा कि सब कुछ मसविदे के तीसरे अनुच्छेद पर निर्भर है और इसी अनुच्छेद के बारे में अब तक कोई समझौता नहीं हो सका है। स्पेन के समाचार पत्रों ने लिखा है कि प्रस्तावित सन्धि और कुछ नहीं परमाणु-शक्ति के क्षेत्र में सोवियत संघ और अमेरिका की बपौती बनाये रखने की सन्धि है।

सन्धि पर सबसे ज्यादा आपत्ति पश्चिम जर्मनी इटली और भारत को है। पश्चिम जर्मन और इटली यह महसूस करते हैं कि परमाणु-अस्त्र सम्पन्न सोवियत संघ फ्रांस और ब्रिटेन के सामने व यूरोप में दीन होकर रह जायेंगे। भारत को परमाणु-अस्त्र सम्पन्न चीन से जबरदस्त खतरा है और प्रस्तावित सन्धि इस खतरे को दूर नहीं कर सकती।

कुल मिला कर प्रस्तावित सन्धि का महत्व मात्र इतना रह जाता है कि सोवियत संघ और अमेरिका अपने किसी भक्त राष्ट्र को परमाणु अस्त्र न देने के विषय में सहमत हो गये हैं और यह इस बात का और प्रमाण है कि वे यह मानने लगे हैं कि भक्तों और चेलों को गुमा कर सीधे आपस में बांट कर खा लेना ज्यादा सुविधाजनक योजना और लाभप्रद भी। अगर प्रस्तावित सन्धि पर सम्बद्ध राष्ट्रों ने हस्ताक्षर कर दिये तो परमाणु-अस्त्र-सम्पन्न होने के नाते सोवियत संघ और अमेरिका दो बड़े राष्ट्र पद पर कुछ और इत्मीनान से प्रतिष्ठित हो जायेंगे। निरीक्षण और नियन्त्रण सम्बन्धी व्यवस्था हो जाने पर वे वैज्ञानिक और औद्योगिक दृष्टि से विकसित किन्तु परमाणु-अस्त्र-विहीन राष्ट्रों के परमाणु शक्ति-कार्यक्रमों की जासूसी खुले आम और विधिवत् कर सकेंगे। इस समय दोनों को इस बात की बड़ी चिन्ता है कि परमाणु-शक्ति के शान्तिपूर्ण उपयोग के लिए स्थापित परमाणु-भट्टियों में जो प्लूटोनियम तैयार हो रहा है वह किस काम में लाया जा रहा है। इस समय भी बिजली-घरों के लिए परमाणु-अस्त्र विहीन राष्ट्रों में जितनी परमाणु भट्टियां बनी हुई हैं उतनी से ही १९८० तक सौ मीट्रिक टन प्लूटोनियम प्राप्त हो सकेगा और इतना प्लूटोनियम १२ हजार परमाणु बम बनाने के लिए काफी है।

(साप्ताहिक हिन्दुस्तान १७ सितम्बर, १९६७)

अन्त में यह कहा जा सकता है कि जब से सामूहिक रूप से युद्ध होने प्रारम्भ हुए हैं तभी से निःशस्त्रीकरण की वार्तायें चल रही हैं। परन्तु इस दिशा में अब तक ऐसी कोई सफलता अर्जित नहीं हुई है जिसे सचमुच में निःशस्त्रीकरण की तरफ एक बुनियादी कदम कहा जा सके। इसका कारण यही है कि कोई भी देश इस कार्य में निष्कपट भाव से कार्य नहीं कर रहा है अपितु निःशस्त्रीकरण के नाम पर दुरंगी चालें खेली जा रही हैं। हर चाल का आशय यही होता है कि यदि विपक्षी निःशस्त्रीकरण की योजना स्वीकार कर लेगा तो सामरिक दृष्टि से कमजोर हो जायगा और यदि अस्वीकार करेगा तो इस बात के प्रचार का साधन बन जायगा कि अमुक देश ने निःशस्त्रीकरण योजना को स्वीकार नहीं किया है अब यह मानवता का शत्रु है। और युद्ध का आकांक्षी। रूस और अमेरिका पास परमाणुविक शस्त्रास्त्रों प

प्रतिबन्ध की बात करते हैं लेकिन उनके हृदय में यही भावना है कि यदि इस क्षेत्र में कोई संधि सम्पन्न हुई भी तो इससे विपक्षी के मुकाबले उसकी सैन्य शक्ति में कमजोरी नहीं आ पायेगी दोनों ही महाशक्तियों के पास प्रक्षेपास्त्रों, परमाणु बमों व उद्जन बमों आदि का इतना विशाल भण्डार है कि वे चाहें तो सम्पूर्ण दुनिया को कुछ घंटों मात्र में विनष्ट कर सकते हैं। दोनों ही महाशक्तियाँ यह समझने लगी हैं कि युद्ध की अवस्था में एक दूसरे के प्रहार से बचने की क्षमता दोनों में से किसी की नहीं है, अतः उन्हें यदि जीवित रहना है तो शनैः शनैः सम्मानपूर्ण ढंग से एक दूसरे के निकट आना चाहिए। दोनों राष्ट्रों की यह अनुभूति विश्व-कल्याण की दृष्टि से उचित है। परन्तु निःशस्त्रीकरण की समस्या और विश्व-शांति का प्रश्न केवल दो या कुछ राष्ट्रों की मर्जी पर नहीं अपितु सभी राष्ट्रों की इच्छा पर निर्भर है क्योंकि हिटलर के कदमों पर चलने वाला एक भी युद्धोन्मत्त राष्ट्र बारूद के ढेर पर बैठी हुई दुनिया को विनाश की ज्वालामुखी में धकेल सकता है। यह किसी से छिपा नहीं है कि चीन (साम्यवादी) जैसा युद्धोन्मादी राष्ट्र तेजी से परमाणु अस्त्रों का विकास कर रहा है और अभी से उसकी यह मनोदशा है कि वह ऐसा कोई अवसर हाथ से नहीं जाने देता जब विश्व-शांति को वह कोई आघात लगा सके। यदि चीन की युद्ध पिपासा और हिंसात्मक प्रवृत्ति पर समय रहते हुए अंकुश नहीं लगाया गया तो निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में किये जाने वाले किसी भी समझौते का कोई महत्त्व स्थायी रह सकेगा इसमें सन्देह है। इतना ही नहीं फ्रान्स भी अणुशक्ति सम्पन्न राष्ट्रों की अग्रिम पंक्ति में आने के लिए वायुमण्डल में अणु-परीक्षण करने को कटिबद्ध है। १९६६ में उसने प्रशान्त महासागर में कुछ अणु-विस्फोट किये भी थे। वास्तव में यह एक विचित्र बात है कि विश्व में एक ओर निःशस्त्रीकरण के प्रयत्न हो रहे हैं तो दूसरी ओर कुछ राष्ट्र शस्त्रीकरण के लिए पागलों की भी दौड़ लगा रहे हैं। निःशस्त्रीकरण के स्वप्न की पूर्ति तब तक संभव नहीं दिखायी देती जब तक विश्व के राष्ट्र राष्ट्रीय संप्रभुता के सिद्धान्त को त्याग कर एक विश्व-सरकार की सत्ता को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत न हो जायें। एस० डी मेडरियागा (Salvador de Medariaga) ने ठीक ही कहा है "निःशस्त्रीकरण की समस्या निःशस्त्रीकरण की नहीं है, यह वास्तव में विश्व-समाज के संगठन की समस्या है।" *

---

*Quoted by Schleicher in International Relations p 432.

EXERCISES

1 Discuss the attitude of Great Powers towards disarmament since the close of Second World War

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद निःशस्त्रीकरण के प्रति महाशक्तियों के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।

2. Discuss the 'progress of disarmament under the U.N.O pointing out specially the basic differences in the points of view of Western Powers and U.S.S.R

पाश्चात्य शक्तियों और सोवियत संघ के मध्यवर्ती मौलिक मतभेदों को बताते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में निःशस्त्रीकरण की दिशा में की गई 'प्रगति' की विवेचना कीजिए।

Give an account of the attempts made after 1945 to tackle the problem of disarmament.

निःशस्त्रीकरण की समस्या के समाधान के लिए १९४५ के बाद किये गये प्रयत्नों का विवरण दीजिए।

4 Account for the failure of the attempts so far made to tackle the problem of disarmament.

निःशस्त्रीकरण की समस्या का समाधान करने के लिये अब तक किये गये प्रयासों की असफलता के कारण बताइये।

5 Discuss the main provisions and significance of the nuclear test ban treaty of August 1963.

अगस्त १९६३ की परमाणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि के प्रावधानों और महत्व की विवेचना कीजिए।

6. Write short notes on—[a] Open Skies Plan [U.S.A.] [b] Complete and General Disarmament Plan [U.S.S.R.] [c] Disarmament Committee of the U N O [d] Various Disarmament Conferences held in Jeneva from time to time after 1946.

संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—(अ) उन्मुक्त आकाश योजना (अमेरिका) (ब) पूर्ण और आम निःशस्त्रीकरण योजना (सोवियत रूस) (स) संयुक्त राष्ट्र की निःशस्त्रीकरण समिति (द) १९४६ के बाद जनेवा में समय-समय पर होने वाले निःशस्त्रीकरण सम्मेलन।

6

प्रादेशिक संगठन और समझौते

(REGIONAL ORGANIZATION & PACTS)

प्रादेशिक संगठनों की महत्ता मानवीय इतिहास में परम्परागत रही है। विभिन्न प्रमुख प्रादेशिक संगठन एवं समझौते —

१ अमेरिकन राज्यों का संगठन
२ डंकर्क संधि
३ ब्रुसेल्स संधि संगठन
४ नाटो
५ एंजुस की संधि
६ वारसा पैक्ट
७ पश्चिमी यूरोप का एकीकरण
  (i) यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन
  (ii) यूरोपियन भुगतान संघ
  (iii) यूरोपियन परिषद्
  (iv) यूरोपियन कोयला-इस्पात समुदाय
  (v) यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय
  (vi) यूरोपियन आणविक शक्ति समुदाय
  (vii) यूरोपियन साझा बाजार
  (viii) यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ
  (ix) पश्चिमी यूरोपियन संघ
८. दक्षिणी-पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन (सीटो)
९ अरब लीग
१० बगदाद पैक्ट
११ केन्द्रीय सन्धि संगठन (सैण्टो)
१२ अफ्रीका की एकता का संगठन
१३ एशियाई विकास बैंक
१४ प्रादेशिक संगठनों का मूल्यांकन

"यह हमारा दृढ़ विश्वास है कि सैनिक संधियों की पद्धतियाँ शांति के मार्ग में बाधा बन कर आती हैं, भय और शंका को बढ़ाती हैं, सुरक्षा के नजदीक नहीं ले जाती जिस उद्देश्य के लिये उनकी रचना हुई है और वास्तव में शस्त्रीकरण की दौड़ को सहायता देती हैं।"

—जवाहरलाल नेहरू

'भविष्य के अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक-संघ के वास्तविक सदस्य प्रादेशिक राज्य-संगठन होंगे।'

—वाल्टर लिपमैन

"एक प्रादेशिक संगठन या संधि ऐसे प्रभुता सम्पन्न राज्यों का स्वैच्छिक समुदाय है जो एक ही क्षेत्र के भीतर हो या जिनका उस क्षेत्र में ऐसे समान उद्देश्यों के लिये सम्मिलित हित हो जिनका प्रयोजन उस क्षेत्र के सम्बन्ध में आक्रामक कार्यवाही न हो।"

—डा० ई० एन० वान क्लीफेन्स

प्रादेशिक संगठन और समझौते

प्रादेशिक संगठनों की महत्ता मानवीय इतिहास में परम्परागत रही है—संगठित सम्मिलित जीवन के लिए शांति और सुरक्षा की स्थापना अनिवार्य है और मनुष्यों ने अपने राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विभिन्न आधारों पर अपने संगठन बनाये हैं। सदा से ही राष्ट्र अपने कुछ उद्देश्यों को पाने के लिये विभिन्न प्रकार के संगठन समय-समय पर निर्मित करते रहे हैं। प्रादेशिक व्यवस्थाओं के उदाहरण प्राचीन यूनान से ले कर वर्तमान काल तक के इतिहास में हमें निरन्तर और लगभग सर्वत्र मिलते हैं।

प्रथम महायुद्ध से पूर्व राष्ट्रपति विल्सन की यह धारणा थी कि समस्त राष्ट्रों का एक संगठन होना चाहिये और प्रादेशिक संगठनों को कोई स्थान नहीं दिया जाना चाहिये क्योंकि इनके कारण शांति और सुरक्षा की स्थापना नहीं होती वरन् ये युद्ध की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित ही करते हैं। परन्तु विल्सन को भी बाद में प्रादेशिक संगठनों (Regional Organisations) को मान्यता प्रदान करनी पड़ी और राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र या संविदा (Covenant) में उनको स्थान दिया गया। द्वितीय महायुद्ध के मध्यवर्ती काल में इस प्रकार के संगठनों को बड़ी संख्या में निर्मित किया गया। बहुत कुछ इन्हीं के कारण राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा की स्थापना में असफल हुआ और वह उन राज्यों के विरुद्ध कोई दृढ़ कार्यवाही न कर सका जिन्होंने आक्रमण का रूप धारण किया।

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में प्रादेशिक प्रबन्ध—जब द्वितीय महायुद्ध के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा संगठन के मौलिक सिद्धान्तों का निर्माण हो रहा था तो अमेरिकन विदेश सचिव हल (Hull) और राष्ट्रपति रूजवेल्ट एक अन्तर्राष्ट्रीय लीग के पक्ष में थे और प्रादेशिक संगठन के विरोधी थे परन्तु अन्ततः प्रादेशिक संगठनों की स्थापना करने में सफल हुए। अधिकांश अमेरिकन एवं पश्चिमी राजनीतिज्ञ तथा सैन्य विचारकों के लिये यह चिन्ता का विषय था कि 'रूसी दानव' यूरोप में 'लौह आवरण' (Iron Curtain) के पूर्व में उच्छृंखलतापूर्वक विचर रहा था और उसका प्रभाव सारे यूरोप पर पड़ रहा था। पामर और परकिन्स ने लिखा है कि 'यह तो अटकल लगाने की बात थी कि रूसी सेनायें कुछ ही दिनों सप्ताहों अथवा महीनों में इंगलिश चैनल तथा अटलांटिक सागर तक पहुँच सकती हैं अथवा नहीं परन्तु यह निश्चित था कि 'पूर्व' (अर्थात् रूस) की ओर से हमारे आक्रमण के मार्ग में कोई भौगोलिक अथवा सैनिक बाधायें नहीं थीं।'*

**Palmer and Perkins* International Relations, Page 627

चूंकि राजनीतिज्ञों का बहुमत और अधिकांश राज्य यह नहीं चाहते थे कि आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद (Security Council) के ५ स्थायी सदस्यों के हाथ में ही कार्यवाही करने का अधिकार रहे अत उन्होंने अपनी भावी सुरक्षा के लिए प्रादेशिक संगठनों का बल मे के सिद्धान्त का समर्थन किया और इसी बात को सामने रखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के ५१वें अनुच्छेद में यह उल्लिखित किया गया कि—

"यदि संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकार है वर्तमान चार्टर के अनुसार उस पर उस समय तक कोई रोक नहीं होगी जब तक सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये आप ही कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिए सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद को देंगे। पर इस चार्टर के अनुसार इससे सुरक्षा परिषद के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।"

इसके साथ ही चार्टर के ५२वें अनुच्छेद में प्रादेशिक संगठनों के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख कर दिया गया कि—

इस चार्टर की कोई धारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के लिये स्थापित अथवा निर्मित क्षेत्रीय संस्थाओं और व्यवस्थाओं के विरुद्ध नहीं है किन्तु ऐसी संस्थायें व व्यवस्थायें तथा उनकी गतिविधियां संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के अनुकूल होनी चाहिये।

"यदि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य ऐसी संस्थाओं के सदस्य हों या उन्होंने ऐसे प्रबन्ध किये हों तो वे स्थानीय झगड़ों को सुरक्षा परिषद के सामने लाने से पहले इन्हीं क्षेत्रीय (प्रादेशिक) संस्थाओं या प्रबन्धों के जरिये शांतिपूर्ण ढंग से समझने की कोशिश करेंगे।"

"यदि राष्ट्र अपनी इच्छा प्रकट करें या सुरक्षा परिषद की ओर से कोई संकेत मिले तो स्थानीय झगड़े इन्हीं प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों के द्वारा सुलझाये जायेंगे। सुरक्षा परिषद इस प्रकार के कदम को बढ़ावा देगी।"

चार्टर की धाराओं से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों को प्रादेशिक व्यवस्थाओं अथवा एजेन्सियों का प्रयोग करने के लिये उत्साहित किया गया। इतना ही नहीं आगे चल कर चार्टर की ५३वीं धारा में यह भी स्पष्ट कर दिया कि सुरक्षा परिषद को यह अधिकार होगा कि वह चार्टर के प्रादेशिक संगठनों को अपने अन्तर्गत कार्यवाही करने का आदेश दे सकती है। प्रादेशिक संगठन सुरक्षा परिषद का आदेश प्राप्त किए बिना किसी प्रकार की कार्यवाही करने का अधिकार नहीं रखते हैं उन्हें यह अधिकार केवल उसी समय प्राप्त होगा जब वे इस प्रकार की कार्यवाही किसी ऐसे राज्य के विरुद्ध करें जो द्वितीय महायुद्ध में शत्रु राज्य थे। यह अनुच्छेद ५१ अधिकार रूप से इस प्रकार है—

जहाँ उचित होगा सुरक्षा परिषद अपने अधिकार में इन प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों से अपनी अमल कराने की कार्यवाही का काम लेगी लेकिन इन प्रादेशिक संस्थाओं या प्रबन्धों के अधीन अमल कराने की कार्यवाही तब तक न की जाएगी जब तक सुरक्षा परिषद ऐसा करने का अधिकार न दे दे। परन्तु यदि इस अनुच्छेद के पैरा २* में बताये गये किसी शत्रु राष्ट्र के खिलाफ अनुच्छेद १०७+ के अनुसार कार्यवाही की जा रही हो तो इस प्रकार का अधिकार पाने की आवश्यकता तब तक न होगी जब तक उस मामले से सम्बन्ध रखने वाली सरकारों की प्रार्थना पर संयुक्त राष्ट्र संघ को उस राष्ट्रों को आगे आक्रमण करने से रोकने की जिम्मेदारी न दे दी जाए।

प्रादेशिक प्रबन्धों की दी गई विभिन्न-व्यवस्थाओं के पूरक के रूप में और संघ को संबंधित सूचनाओं से सदैव अवगत किये रखने कि दृष्टि से चार्टर के अनुच्छेद ५४ में लिखा गया कि- इन प्रादेशिक संस्थाओं और प्रबन्धों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा बनाये रखने की जो भी कार्यवाही होगी उसकी सूचना सुरक्षा परिषद को हर समय दी जाएगी।

यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ की चार्टर की उपरोक्त सभी व्यवस्थायें यही घोषणा करता है कि प्रादेशिक संगठन विश्व संगठन के उद्देश्यों का परित्याग न करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील होंगे परन्तु विश्व की महाशक्तियों ने इस व्यवस्था की आड़ में अपने स्वार्थपूर्ण उद्देश्यों का खेल खेला। परिणामतः गत १०-१२ वर्षों में ऐसे प्रादेशिक संगठनों की बाढ़ आ चुकी है जिनसे विश्व-शांति की समस्या सुलझने के स्थान पर उलझ रही है। इन संगठनों और समझौतों ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या को उत्पन्न किया है, तनाव को बढ़ाया है संयुक्त राष्ट्र संघ के महत्व को घटाया है।

प्रमुख प्रादेशिक संगठन एवं समझौते

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख प्रादेशिक समझौतों एवं संगठनों का वर्णन करेंगे जो इस प्रकार है—

---

*अनुच्छेद ५३ का पैरा २ शत्रु राष्ट्र की व्याख्या करता है। इसमें लिखा गया है कि "शत्रु राष्ट्र शब्द उस राष्ट्र के लिये लागू होता है जो द्वितीय महायुद्ध में संघ के चार्टर पर हस्ताक्षर करने वाले किसी राष्ट्र का शत्रु रहा हो।"

+अनुच्छेद १०७ में लिखा गया है कि "द्वितीय महायुद्ध में यदि कोई राष्ट्र किसी हस्ताक्षरकर्ता सदस्य का शत्रु रहा हो और जिन सरकारों के ऊपर इसके खिलाफ कार्यवाही करने की जिम्मेदारी सौंपी गई हो अगर उन्होंने इसके खिलाफ कोई कार्यवाही की हो या करने के अधिकारी हों तो वर्तमान चार्टर के अनुसार उस कार्यवाही को किसी प्रकार नहीं रोका जा सकेगा और न रद्द ही किया जा सकेगा।"

१. अमेरिकन राज्यों का संगठन
[Organisation of American States-OAS]

२ डनकर्क संधि
[Dunkirk Treaty]

३ ब्रुसेल्स संधि संगठन
[Brussels Treaty Organisation]

नाटो
[The North Atlantic Treaty Organisation-NATO]

५. अन्जुस की संधि
[Anzus Treaty]

६ वारसा पैक्ट या पूर्वी यूरोपियन संधि संगठन
[Warsa Pact or Organisation of Eastern European Countries]

७ पश्चिमी यूरोप का एकीकरण
[Integration of Western Countries]

(i) यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन
[The Organisation for European Economic Co-operation-OEEC]

(ii) यूरोपियन भुगतान या मध्यस्थी
[European Payment Union—EPU]

(iii) यूरोप की परिषद
[Council of Europe]

(iv) यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय
[European Coal and Steel Community—ESSC]

(v) यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय
[European Defence Community—EDC]

(vi) यूरोपियन आणविक शक्ति समुदाय
[European Atomic Energy Community—EUROTOM]

(vii) यूरोपियन सामान्य मंडी या साझा बाजार
[The European Common Market—ECM]

(viii) यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ
[European Free Trade Association—EFTA]

(ix) पश्चिमी यूरोपियन संघ
[Western European Union—WEU]

८. दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन
[South East Asian Treaty Organisation—SEATO]

९. अरब लीग
[Arab League]

१० बगदाद पैक्ट
[Bagdad Pact]

११ केन्द्रीय संधि तथा संगठन
[Central Treaty Organisation—CENTO]

१२ अफ्रीका की एकता का संगठन
[Organization of African Unity]

१३ एशिया विकास बैंक
[Asia Development Bank]

(१) अमेरिकन राज्यों का संगठन

(Organization of American States—OAS)

उद्भव विकास एवं उद्देश्य—अखिल अमेरिकनवाद (Pan Americanism) वर्तमान प्रादेशिक आंदोलनों में सर्वाधिक पुराना है। इसका प्रारम्भ १८८९ के वाशिंगटन अन्तर अमेरिकन सम्मेलन (Inter American Congress) से माना जाता है। इसका उद्देश्य यह था कि अमेरिकन महाद्वीप के जो भी राज्य हों उनके बीच राजनीतिक और आर्थिक सहयोग की भावनाओं का विकास हो। यद्यपि इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए विभिन्न समय तथा स्थानों पर इन राज्यों के प्रतिनिधियों के सम्मेलन नियमित रूप से होते रहे किन्तु प्रथम महायुद्ध तक आंदोलन को विशेष सफलता प्राप्त नहीं हुई। किन्तु जब संयुक्त राज्य अमेरिका ने इसका उपयोग अपनी साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिये करना चाहा जिससे लैटिन अमेरिका के देश सशंकित हो उठे। परन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद धीरे-धीरे संयुक्त राज्य अमेरिका और लैटिन अमेरिका के देशों के सम्बन्धों में सुधार हुए तथा अखिल अमेरिकनवादी आन्दोलन एक सहकारिता आन्दोलन का रूप धारण करने लगा।

अमेरिकन राज्यों के संगठन के सर्वाधिक ठोस प्रयास द्वितीय महायुद्ध में १९४५ के प्रारम्भ में मैक्सिको नगर में हुए। इस नगर में युद्ध एवं शांति की समस्याओं पर विचारार्थ एक अन्तर अमेरिकन सम्मेलन हुआ जिसने निम्नलिखित उपाय स्वीकृत किये—

(i) युद्ध के समय के लिये एक सुरक्षात्मक संधि की गई जिसका प्रयोग केवल गोलार्द्ध के बाहर के आक्रमणों के विरुद्ध ही नहीं बल्कि आन्तरिक आक्रमणों के लिये भी किया गया। इसके साथ ही इस बात की व्यवस्था की योजना की गई कि युद्ध-समाप्ति के बाद इसी प्रकार की एक स्थायी संधि करने हेतु विचार-विमर्श किया जाए। यह सब बाद में रियो-डी-जैनीरो में १९४७ में हुआ।

(ii) युद्ध की समाप्ति पर एक स्थायी संविधान के अन्तर्गत अन्तर अमेरिकन प्रणाली को मान्यता दी जाए, उसका एकीकरण किया जाए और उसकी सम्पुष्टि हो। यह व्यवस्था १९४८ में बोगोटा (Bogota) में की गई।

(iii) एक ऐसा समझौता हो जो वर्तमान अन्तर अमेरिकन शांति साधनों के लिये इसी प्रकार की व्यवस्था करे।

(iv) अर्जेन्टाइना को अन्तर अमेरिकन सदस्यता पुनः ग्रहण करने का आमन्त्रण मिला क्योंकि उस पर नाजी फासिस्ट सहयोग का आरोप लगा कर उसे इस सम्मेलन से पृथक कर दिया गया था।

मैक्सिको नगर के अन्तर-अमेरिकन सम्मेलन के बाद १५ अगस्त १९४७ को रियो-डी-जेनीरो (Rio-de-Jeneiro) के समीप पेट्रो पोलिस (Petro-Polis) नामक स्थान पर एक अंतिम अमेरिकन सम्मेलन हुआ जो असीम या प्रादेशिक सामूहिक आत्मरक्षा की दिशा में एक बड़ा गम्भीर और सफल प्रयास था। इसके परिणामस्वरूप २० अगस्त को १९ अमेरिकन गणराज्यों ने 'पारस्परिक सभाओं की अन्तर-अमेरिकन संधि' (Inter American Treaty of Reciprocal Societies) को जो कि 'रियो की संधि' (Rio Treaty) के नाम से भी प्रसिद्ध है को सर्वसम्मति से स्वीकार किया। इस संधि के तीसरे अनुच्छेद में यह निर्दिष्ट किया गया कि—

"हस्ताक्षरकर्ता देश सहमत हैं कि यदि किसी भी अमेरिकन राज्य पर सशस्त्र आक्रमण होता है तो उसे सभी अमेरिकन राज्यों के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा और तदनुसार प्रत्येक हस्ताक्षरकर्ता देश संयुक्त राष्ट्र संघ के ५१वें अनुच्छेद द्वारा स्वीकृत व्यक्तिगत और सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार का प्रयोग करते हुए आक्रमण का सामना करने में सहायता करने का वचन देता है।"

स्पष्ट है कि इसका लक्ष्य पश्चिमी गोलार्द्ध में सैनिक आक्रमण होने या शान्ति भंग का भय होने की दिशा में सामूहिक कार्यवाही की व्यवस्था करता है। इसमें उत्तरी ध्रुव से दक्षिणी ध्रुव तक अमेरिकन महाद्वीप और ग्रीन-लैंड के चारों ओर एक सुरक्षा क्षेत्र निश्चित किया गया है। इसके भीतर से या इस पर बाहर से होने वाला कोई भी आक्रमण सब राज्यों पर आक्रमण समझा जाएगा और इस संधि पर हस्ताक्षर करने वाला हर एक देश इसके प्रतिरोध में सहायता प्रदान करेगा।

सम्मेलन में पारित की गई रियो संधि में २६ अनुच्छेद थे जिनमें प्रतिरक्षा की पद्धति का सामान्य ढांचा बताया गया था। अनुच्छेद ३ इस संधि का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बिन्दु था। संधि के अतिरिक्त पेट्रो पोलिस सम्मेलन में कुछ अन्य प्रस्ताव घोषणायें और आरक्षण भी निर्धारित किये गए।

सन् १९४८ में बोगोटा (Bogota) में जो कोलम्बिया में है अमेरिकन राज्यों का नवाँ अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में "अमेरिकन राज्यों का संगठन" (OAS) बनाया गया जो संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुरूप था। इसी सम्मेलन में इस संगठन की रूपरेखा का प्रणाली आदि निश्चित की गई। इसके संविधान अथवा चार्टर में स्पष्ट रूप से समस्त सम्मिलित राज्यों के अधिकारों और कर्त्तव्यों का उल्लेख किया गया और इसके साथ ही विवादों का शांतिपूर्ण उपायों द्वारा सुलझाना, सामूहिक सुरक्षा आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक सहयोग करना आदि बातों का भी उल्लेख किया गया।

संगठन के अङ्ग—उपरोक्त वर्णन से स्पष्ट है कि अमेरिकन राज्यों का संगठन तीन लेख-पत्रों पर आधारित है। ये लेख-पत्र हैं—

१ संगठन का चार्टर
२ रियो की संधि एवं
३ बोगाटा समझौता।

संगठन के चार्टर मे एक व्यापक प्रादेशिक संगठन की व्यवस्था की गई है जिसके निम्नलिखित प्रधान अङ्ग हैं—

(i) अन्तर अमेरिकन सम्मेलन—यह संगठन की सर्वोच्च संस्था है। इसमें संगठन के २१ सदस्य राज्यों (अर्जेन्टाइना बोलीविया ब्राजील चिली कोलम्बिया कोस्टारिका इक्वेडोर एलसाल्वेडर ग्वाटेमाला हैटी होण्डुरस मैक्सिको निकारगुआ, पेरू पनामा पराग्वे संयुक्त राज्य अमेरिका युराग्वे वनेजुएला, डोमीनिकन रिपब्लिक तथा क्यूबा) में से प्रत्येक का एक प्रतिनिधि होता है। यह सम्मेलन संगठन के अन्य अङ्गों के स्वरूप तथा कार्यों और संगठनों की नीति का निर्धारण करती है। इसका अधिवेशन प्रत्येक ५ वर्ष के पश्चात् होता है।

(ii) विदेश मन्त्रियों की बैठक (Meeting of Foreign Ministers)—यह बैठक आवश्यक विषयों पर विचार करती है। सशस्त्र आक्रमण की दशा में इसे आमन्त्रित किया जाता है और इसकी सहायता के लिये एक परामर्शदात्री प्रतिरक्षा समिति भी होती है।

(iii) परिषद (Council)—संगठन की परिषद का निर्माण प्रत्येक सदस्य राज्य के एक प्रतिनिधि से होता है। इसका अभिप्राय यह है कि परिषद में प्रत्येक राज्य का एक प्रतिनिधि होता है। इसका प्रमुख कार्यालय संयुक्त अमेरिका की राजधानी वाशिंगटन में है। परिषद का प्रधान कार्य शांति सुरक्षा के कार्यों की देखभाल करना तथा अन्य अङ्गों के कार्यों को भी देखना है। यह संस्था स्थायी रूप से काम करती है।

(iv) पान अमेरिकन यूनियन (Pan American Union)—यह इसका केन्द्रीय एवं स्थायी संगठन और इसका सचिवालय है।

(v) अमेरिकन राज्यों के संगठन में उपरोक्त के अतिरिक्त और भी कुछ विशेष अङ्ग हैं जिनमें से प्रमुख यह हैं-परामर्शदात्री सुरक्षा समिति विशिष्ट सम्मेलन तथा समितियां अन्तर-अमेरिकन आर्थिक और सामाजिक परिषद अन्तर-अमेरिकन विधि वेत्ताओं की परिषद तथा अन्तर अमेरिकन सांस्कृतिक परिषद।

अमेरिकन राज्यों के संगठन (OAS) को संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत प्रादेशिक संगठन घोषित किया गया है। कनाडा सहित सभी अमेरिकन राज्य इसके सदस्य हो सकते हैं। इस संगठन के किसी भी सदस्य को निकाला नहीं जा सकता किन्तु दो वर्ष का नोटिस देकर कोई भी राज्य इससे पृथक हो सकता है।

पामर और परकिन्स (Palmer and Perkins)—के अनुसार अमेरिकन राज्यों का संगठन "अब अपने सर्वाधिक उपवर्ती रूप में अन्तर्राष्ट्रीय

प्रादेशिकतावाद है।* इस संगठन के सदस्य राज्यों की सम्मिलित जनसंख्या लगभग १८ करोड़ है और इसके सदस्य न केवल आक्रमण का सामूहिक प्रतिरोध करने के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हैं बल्कि आर्थिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक प्रगति तथा विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिये भी परस्पर सहयोग करने के अभिलाषी हैं।

(२) डनकर्क संधि
(Dunkirk Treaty)

यह संधि ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस के मध्य ४ मार्च १९४७ को ५० वर्ष के लिये की गई। इसका प्रयोजन सम्भावित वर्तमान आक्रमण के विरुद्ध पारस्परिक सैनिक सहायता है। संधि की धारा २ में यह निर्दिष्ट है कि—

"यदि दोनों में से किसी भी एक पक्ष को उस पक्ष पर जर्मनी द्वारा पुनः आक्रमण किये जाने पर संयुक्त राष्ट्र संघ के ५१वें अनुच्छेद के आशय के अन्तर्गत अथवा संधि की प्रथम धारा के अन्तर्गत जर्मनी के विरुद्ध सहमतिपूर्ण कार्यवाही के फलस्वरूप अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद द्वारा जर्मनी के विरुद्ध बल प्रयोग का आदेश दिये जाने पर, जर्मनी से युद्ध-रत होना पड़े तो ऐसी सूरत में दूसरा पक्ष इस प्रकार युद्ध में फंसे हुए पक्ष को यथा-सम्भव सभी प्रकार की सैन्य एवम् अन्य सहायता प्रदान करेगा।

इसका स्पष्ट आशय है कि ब्रिटेन तथा फ्रांस ने यह निश्चय किया कि (क) जर्मनी के आक्रमण करने पर (ख) जर्मनी द्वारा आक्रमण को प्रोत्साहित करने की नीति स्वीकार करने पर, एवम् (ग) संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा जर्मनी के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने पर दोनों देश एक दूसरे को सैनिक तथा अन्य प्रकार की सहायता उपलब्ध करेंगे। इस संधि के द्वारा दोनों ही देशों ने एक दूसरे को यह भी आश्वासन दिया कि वे दोनों एक दूसरे को निरन्तर आर्थिक सहयोग तथा सहायता प्रदान करेंगे।

(३) ब्रूसेल्स की संधि
(Brussels Treaty)

१७ मार्च १९४८ को ग्रेट ब्रिटेन बेल्जियम फ्रांस लक्जमबर्ग और हालैण्ड ने आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक सहयोग एवम् सामूहिक सुरक्षा के उद्देश्य से ५० वर्ष के लिये यह संधि की। यह संधि बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर में हुई। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि यदि उपरोक्त राष्ट्रों में से किसी पर भी आक्रमण होगा तो सदस्य देश संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा ५१ के अनुसार उसकी सैनिक सहायता करेंगे। इस संधि के प्रमुख ध्येय इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं—मूलभूत अधिकारों में विश्वास की पुष्टि तथा संघ के चार्टर में उल्लिखित आदर्शों की पुष्टि जन-तंत्र एवम् स्वतन्त्रता का स्थायित्व, आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों की स्थापना यूरोपियन आर्थिक पुनर्गठन में सहयोग अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवम् सुरक्षा में सहयोग युद्ध नीति के विरुद्ध मोर्चा आदि।

*Palmer and Perkins International Relations, Page 613.

ब्रुसेल्स की इस संधि में १० धारायें हैं—

पहली धारा के अनुसार सब राष्ट्र मिल कर इस प्रकार का आर्थिक संगठन बनायेंगे कि जिससे आर्थिक संकट दूर हो और उत्पादन तथा विनिमय में समानता प्राप्त हो।

दूसरी धारा के अनुसार सब मिल कर जीवन स्तर को ऊंचा उठाते हुए सामाजिक क्षेत्र में विकास करेंगे।

तीसरी धारा के अनुसार सब मिल कर सांस्कृतिक उन्नति करेंगे और एक दूसरे के सिद्धान्तों का समर्थन करेंगे।

चौथी धारा के अनुसार यह निर्दिष्ट किया गया कि "यदि हस्ताक्षरकर्ता में से किसी एक पक्ष पर भी यूरोप का सशस्त्र आक्रमण हो तो शेष सभी हस्ताक्षरकर्ता देश संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की ५१वीं धारा के अनुसार आक्रमण पीड़ित देश को यथा शक्ति सभी सैनिक सहायता एवम् अन्य सहयोग देंगे।

पांचवी धारा के अनुसार चौथी धारा के अन्तर्गत किये गये प्रयत्नों की सुरक्षा समिति (संयुक्त राष्ट्र संघ) को रिपोर्ट दी जाएगी।

छठी धारा के अनुसार सब सदस्य राष्ट्र यह घोषणा करेंगे कि यह संधि किसी अन्य राष्ट्र के विरुद्ध नहीं है और साथ ही वे किसी भी राष्ट्र से इन राष्ट्रों के विरुद्ध कोई संधि नहीं करेंगे।

सातवीं धारा के अनुसार यह निश्चय किया गया कि सभी समस्याओं के विचारार्थ सब हस्ताक्षकर्ता देश मिल कर परामर्शदात्री समिति का निर्माण करेंगे जिसे आवश्यकतानुसार व इच्छानुसार बुलाया जा सकेगा।

आठवीं धारा के अनुसार सब अपने विवादों का समाधान शांतिपूर्ण ढंग से करने और स्थायी न्यायालय के द्वारा उन्हें निपटाया जाएगा।

नवीं धारा के अनुसार यह तय हुआ कि हस्ताक्षरकर्ता देश मिल कर अन्य देश को इस संधि में शामिल कर सकते हैं बशर्ते कि संधि की सब शर्तें उस देश के द्वारा मान ली जावें। ऐसे देश को बेल्जियम सरकार को संधि पत्र देना होगा।

दसवीं धारा के अनुसार यह निर्णय किया गया कि इस संधि में संशोधन किया जा सकता है।

ब्रुसेल्स संधि (Brussels Treaty Organisation-BRUTO) नामक संस्था को जन्म दिया। इस ब्रुसेल्स संधि संगठन का सर्वोच्च अङ्ग एक परामर्शदात्री परिषद (Consultative Council) थी जो पाँचों सदस्य राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों से मिल कर बनी थी। इसके सुरक्षा संगठन के दो अङ्ग थे (१) हायर डायरेक्शन (Higher Direction) तथा (२) कमाण्ड आरगेनाइजेशन (Command Organisation)। आर्थिक कार्यों के संचालन के लिये एक वित्त तथा अर्थ समिति (Financial & Economic Committee) थी। इस प्रकार सामाजिक एवम् सांस्कृतिक कार्यों के लिये भी अनेक समितियां थीं।

उल्लेखनीय है कि १९५४ में पेरिस के समझौते से पश्चिमी जर्मनी और इटली भी ब्रुसेल्स संधि संगठन में सम्मिलित हो गये हैं और अब इस

संगठन का नया नाम पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) रखा गया है ।

(४) नाटो-उत्तरी अटलान्टिक संधि संगठन
(North Atlantic Treaty Organisation-NATO)

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त किये गए समझौतों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझौता–नाटो (NATO) अर्थात् "उत्तरी अटलान्टिक संधि संगठन" है। यह संधि प्रमुखतः दो शंकाओं के कारण की गई

(१) सोवियत साम्राज्यवाद के भय से तथा

(२) सोवियत आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्र संघ से पर्याप्त सहायता प्राप्त न होने की सम्भावना से ।

ब्रूसल्स संधि (Brussels Treaty) भी इन्हीं उद्देश्यों की प्राप्ति करने के लिये की गई थी। वस्तुतः साम्यवादी विरोधी गुट के नेता अमरिका एवम् विभिन्न पश्चिमी यूरोपियन राष्ट्रों का यह विश्वास हो चला था कि वर्तमान व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के बढ़ते हुए खतरे का सामना करने के लिये पर्याप्त नहीं है। यह अनुभव किया गया कि सुरक्षा और प्रगति को अलग अलग नहीं रखा जा सकता। यदि सुरक्षा नहीं तो उन्नति असम्भव है। इस विचार का उदय एकाएक ही नहीं हो गया था अपितु वाल्टर लिपमैन के अनुसार वास्तविक अटलान्टिक समुदाय कायम करने की बात १० वर्ष से भी अधिक काल से सोची जा रही थी।

इस संगठन की रचना के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए और संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के प्रादेशिक प्रबन्ध की धाराओं से संकेत पाकर अमेरिकन सीनेट ने ११ जून १९४८ को सीनेटर वैण्डनबर्ग द्वारा प्रस्तावित एक प्रस्ताव पारित किया। इस प्रस्ताव में कहा गया कि शान्ति के स्थायित्व के लिये अमेरिका को अन्य कार्यों के अलावा संवैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा स्वयं को उन क्षेत्रीय तथा उसी प्रकार की अन्य सामूहिक व्यवस्थाओं से भी सम्बद्ध करना चाहिये जो सतत तथा प्रभावशाली सामूहिक स्वयं सेवा एवम् पारस्परिक सहायता पर आधारित है और अमेरिकन सुरक्षा पर इनका प्रभाव पड़ सकता है।" प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि अमेरिका को यह स्पष्ट घोषित कर देना चाहिये कि यदि उसकी सुरक्षा को खतरा पहुँचाने वाला कोई भी सशस्त्र आक्रमण हुआ तो वह चार्टर के ५१वें अनुच्छेद के अन्तर्गत व्यक्तिगत एवम् सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार का प्रयोग करेगा।

अपने उपरोक्त कदमों के द्वारा अमरिकन सरकार ने वस्तुतः पश्चिमी यूरोप की प्रतिरक्षा पद्धति को रियो संधि (Rio Treaty) की रूपरेखा के अनुसार संगठित करने का बीड़ा उठा लिया। १८ मार्च १९४९ को उत्तरी अटलांटिक संधि का मूल रूप (Text) प्रकाशित किया गया और ४ अप्रेल १९४९ को वाशिंगटन में—अमरिका, ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, कनाडा, डेनमार्क, आइसलैण्ड, इटली, लक्जमबर्ग, नीदरलैण्ड्स (हालैण्ड), नार्वे और पुर्तगाल–इन १२ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने संधि पर हस्ताक्षर कर दिये। २४ अगस्त १९४९ को सम्बन्धित सदस्य राज्यों द्वारा इस संगठन का अनुसमर्थन कर देने

पर इस संगठन की विधिवत स्थापना की गई। फरवरी, १९५२ को लिस्बन मे हुए सम्मेलन के अवसर पर यूनान और टर्की भी संधि संगठन में शामिल कर लिए गये। ५ मई, १९५५ को पश्चिमी जर्मनी को भी संधि संगठन का सदस्य बना लिया गया। इस तरह संगठन में कुल १५ सदस्य हो गए।

संधि संगठन के उद्देश्य एवं उसकी व्यवस्थायें नाटो अथवा उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन के संविधान या चार्टर में अधिक विस्तृत नहीं हैं। इसमें केवल १४ अनुच्छेद हैं। चार्टर की प्रस्तावना तथा उसके कुछ प्रमुख अनुच्छेद इस प्रकार हैं—

प्रस्तावना— "इस संधि से सम्बन्धित दल संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के उद्देश्यों एवं सिद्धान्तों को अपने विश्वास तथा सब लोगों और सभी सरकारों के साथ शांतिपूर्ण रहने की इच्छा को दुहराते हैं।

वे लोग प्रजातन्त्र वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं कानून के सिद्धान्तों पर आधारित अपने लोगों की स्वतंत्रता सामान्य दायभाग एवं सभ्यता की सुरक्षा के लिये कृतप्रतिज्ञ हैं।

वे उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र में स्थायित्व एवं कल्याण की अभिवृद्धि करने के आकांक्षी हैं।

उन्होंने सामूहिक सुरक्षा तथा शांति एवं सुरक्षा को अक्षुण्ण रखने के लिये अपनी चेष्टाओं को सुगठित करने का दृढ़ निश्चय कर लिया है।"

अनुच्छेद १ 'संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में निर्धारित नीति के अनुसार इस संधि से सम्बन्धित दल किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े को जिसमें वे फंस जायेंगे शांति पूर्ण उपायों से इस प्रकार निपटाने का वचन देते हैं कि जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा तथा न्याय को किसी भी प्रकार का खतरा न पहुंचे। साथ ही वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी ऐसे तरीके से जो संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के विरुद्ध हो शक्ति की धमकी अथवा शक्ति के प्रयोग से दूर रहने का भी वचन देते हैं।

अनुच्छेद ३— 'इस संधि के उद्देश्यों को और भी अधिक प्रभावपूर्ण तरीके से प्राप्त करने के लिये दल अलग-अलग तथा मिल कर निरन्तर एवं प्रभावपूर्ण आत्मनिर्भरता तथा पारस्परिक सहायता से सशस्त्र आक्रमण का विरोध करने के लिये व्यक्तिगत एवं सामूहिक योग्यता का विकास करेंगे।"

अनुच्छेद ४—"जब कभी उनमें से किसी एक की भी राय में किसी भी दल की प्रादेशिक एकता राजनीतिक स्वतंत्रता एवं सुरक्षा के लिये भय पैदा हो गया हो तो दल आपस में विचार-विनिमय करेंगे।"

अनुच्छेद ५— "दल इस बात में एकमत हैं कि यूरोप अथवा उत्तरी अमेरिका में उनमें से किसी एक अथवा अधिक के विरुद्ध आक्रमण सभी के विरुद्ध आक्रमण समझा जाएगा। इसीलिये वे इस बात पर सहमत होते हैं कि यदि किसी प्रकार सशस्त्र आक्रमण होता है तो उनमें से प्रत्येक संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के ५१वें अनुच्छेद द्वारा प्रदत्त व्यक्तिगत अथवा सामूहिक आत्मरक्षा के अधिकार के अनुसार कार्य करते हुए, शीघ्र ही व्यक्तिगत रूप में

तथा अन्य दलों के साथ इस प्रकार से आक्रमण पीड़ित दल या दलों की सहायता करने के लिये ऐसी कार्यवाही करना जिसे वह आवश्यक समझे और जिसमें उत्तरी अटलान्टिक क्षेत्र में सुरक्षा की पुनर्स्थापना के लिये सशस्त्र शक्ति का प्रयोग भी सम्मिलित है।

इस प्रकार के किसी भी सशस्त्र आक्रमण तथा उसके परिणामस्वरूप जो कार्यवाही की जाएगी उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद को दी जाएगी।

नाटो संधि में उपरोक्त चार अनुच्छेद ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं। शेष अनुच्छेदों का अधिक महत्व नहीं है। अनुच्छेद १० में अन्य राज्यों को भी संगठन में सम्मिलित किये जाने की व्यवस्था है और अनुच्छेद १३ में इस संगठन की अवधि जो २० वर्ष है का उल्लेख किया गया है।

संगठन—नाटो की सर्वोच्च नीति निर्धारक संस्था उत्तरी अटलांटिक परिषद (North Atlantic Council) है। प्रारम्भ में यह सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रियों से मिल कर बनती थी किन्तु बाद में इसमें सुरक्षा, अर्थ एवं वित्त मन्त्री भी भाग लेने लगे। नाटो की सुरक्षा व्यवस्था का सचालन एक सैनिक समिति (Military Committee) करती है जिसकी सहायता के लिए एक सैनिक प्रतिनिधि समिति (Military Representative Committee) और एक स्टैंडिंग ग्रुप (Standing Group) है। स्टैंडिंग ग्रुप ब्रिटेन, फ्रांस एवं संयुक्त राज्य अमरीका के सेनाध्यक्ष (Chief of Staff) अथवा उनके प्रतिनिधियों से मिल कर बनता है। नाटो के अन्तर्गत उसके सदस्य राज्यों की एक संयुक्त सेना का निर्माण किया गया है जो यूरोप की मित्र शक्ति के मुख्य कार्यालय (Supreme Headquarters of Allied Powers in Europe-SHAPE) के अधीन रहती है। नाटो का एक सचिवालय भी है जिसका अध्यक्ष एक महामन्त्री होता है। नाटो में प्रत्येक क्षेत्र की प्रतिरक्षा के लिए योजनायें तैयार करने हेतु पाँच क्षेत्रीय अथवा प्रादेशिक योजना ग्रुप भी बनाए गए हैं—उत्तरी यूरोपियन ग्रुप, पश्चिमी यूरोपियन ग्रुप, पश्चिमी भू-मध्य सागरीय ग्रुप, कनाडा अमेरिकन ग्रुप एवं उत्तरी अटलांटिक ग्रुप। इन सब अंगों से मिल कर ही सम्पूर्ण उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन बना है जिसे साधारणतः नाटो (NATO) के नाम से सम्बोधित किया जाता है।

नाटो सैन्य संगठन के अन्तर्गत जिस विशाल संयुक्त सेना का निर्माण किया गया है उसके प्रधान सेनापति १९५१ में जनरल आइजनहोवर थे। इस सेना के अतिरिक्त संगठन के पास दो और कमान हैं—एक अटलांटिक सागर कमान और दूसरी चैनल कमान। १९५२ में इस सेना की अनेक टुकड़ियों को अणुआयुधों से सुसज्जित किया गया।

अक्टूबर १९५६ में स्वेज संकट के समय देशों में तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए क्योंकि अनेक देशों के मतानुसार ब्रिटेन तथा फ्रांस द्वारा मिस्र पर किया गया आक्रमण संगठन के सिद्धान्तों के अनुकूल न था। लेकिन अमेरिका के दबाव के कारण ये मतभेद मिट गये। इसके बाद १९५७ में हंगरी के हत्याकांड से भी नाटो काफी प्रभावित हुआ क्योंकि इस सम्बन्ध में नाटो की

चुप्पी ने उसकी निर्बलता को स्पष्ट कर दिया। तब से नाटो की सेना को आधुनिक अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित किये जाने के प्रयत्न जारी हैं।

नाटो के प्रभाव —नाटो अथवा उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन के दायित्व इतने अस्पष्ट हैं कि आक्रमण की दशा में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता है।* तथापि इस संधि के तीन मनोवैज्ञानिक प्रभाव हैं—

(i) यह सोवियत संघ को एक चेतावनी है कि यदि उसने संधि पर हस्ताक्षरकर्ता किसी देश पर आक्रमण करने का साहस किया तो संयुक्त राज्य अमेरिका तुरन्त ही आक्रमण पीड़ित देश की सहायता करेगा। ११ सितम्बर १९५९ को अमेरिकन विदेश मन्त्री जनरल फोस्टर डलस ने १५ राष्ट्रों वाले इस संगठन में भाषण करते हुए कहा था—

विश्व महान संकट में से गुजर रहा है। इस संगठन को अपनी पूरी सैनिक शक्ति बनाये रखनी चाहिये और इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं रहने देना चाहिये कि आवश्यकता पड़ने पर इस सैनिक शक्ति का उपयोग भी किया जा सकता है और तब ही इस बात का पूरा विश्वास होगा कि लाल सेना के जो टैंक बुडापेस्ट में बढ़ आये हैं वे पश्चिमी यूरोप में आगे नहीं बढ़ेंगे।

(ii) इस संगठन का दूसरा प्रभाव यूरोपियन देशों को एक ऐसा सुरक्षा आवरण प्रदान करना है जिससे वे अपने आर्थिक तथा सैनिक विकास के कार्यक्रमों को निर्भय होकर पूरा कर सकें।

(iii) इसका तीसरा प्रभाव संयुक्त राज्य अमेरिका को किसी भी साम्यवादी युद्ध के लिये सदैव सन्नद्ध रखना है। इस संगठन की व्यवस्था से यह स्पष्ट हो जाता है कि सोवियत आक्रमण की दशा में अमेरिका किसी भी भावी युद्ध में तुरन्त ही कूद पड़ेगा पिछले दो महायुद्धों की भाँति युद्ध में सम्मिलित होने में देरी न करेगा।

नाटो के पक्ष विपक्ष में प्रतिक्रिया तथा उस का पूर्ववर्ती एक मूल्यांकन—नाटो अतिशयोक्तिपूर्ण प्रशंसा और अत्यन्त कटु आलोचना दोनों ही का पात्र रहा है। नाटो के सम्बन्ध में विभिन्न राजनीतिज्ञों ने जो विचार व्यक्त किये हैं उनमें से कुछ प्रमुख को यहाँ उद्धृत करना उपयोगी रहेगा—

'अटलांटिक संधि— स्वतन्त्रता और शांति को बनाये रखने की एक प्रत्याभूति (Guarantee) रही है और बनी हुई है।"

—गे० मोलर फ्रांस के प्रधानमन्त्री (४ अप्रैल १९५९)

'सामूहिक सुरक्षा के लिये नाटो एक संगठन के रूप में अत्यधिक महत्व की वस्तु है। ······ "विश्व समस्याओं के एक सामान्य राजनीतिक एवं आर्थिक दृष्टिकोण को सुगठित करने के एक साधन के रूप में यह महत्वपूर्ण है।

—मिस्टर पियर्सन कनाडा के विदेश सचिव (२४ अप्रैल १९५९)

**Charles Schliecher* The Introduction of International Relations page 76

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में निष्कपट सहयोग के विश्वास और प्रयास की स्थापना के मार्ग में नाटो एक तोड़फोड़ करने वाला रोड़ा प्रमाणित हुआ है।

—तास सोवियत पत्र (११ मई १९५६)

"संधि के दायित्व इतने अस्पष्ट हैं कि आक्रमण की स्थिति में प्रत्येक सदस्य को अपनी इच्छानुसार कदम उठाने की स्वतन्त्रता प्राप्त है।

—पाल्म स्पीचर

निःसंदेह हममें से कोई प्रसन्न नहीं है कि हंगरी की घटनाओं के सम्मुख नाटो शक्तिहीन प्रभावहीन निर्वीय है।"

—गेटस्कल (ब्रिटिश मजदूर दल के स्वर्गीय नेता)

नाटो अथवा उत्तरी अटलांटिक संधि पर हस्ताक्षर होते ही पाश्चात्य देशों के समाचार पत्रों में इस पर टीका टिप्पणी होना प्रारम्भ हो गया था। वहां शुरूआत में पाश्चात्य देशों की ओर से इसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रुख अपनाया गया वहां कुछ समय के बाद उनमें से भी अनेक देश और राजनीतिज्ञ इस पर आलोचना का निशाना बनाने लगे। साम्यवादी गुट और अनेक तटस्थ राष्ट्रों का इस संगठन के प्रति विमुख होना स्वाभाविक ही था। नाटो के प्रति जो आलोचनायें की गयी और की जा रही हैं उसके सम्बन्ध में प्रायः निम्नलिखित तर्क विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१ इस संधि के द्वारा सैनिक संगठन को पद प्राप्त हुआ है। इसके सैनिक आक्रमण की सम्भावना को नव स्थापित किया है जबकि ऐसी सम्भावना को कोई स्थान नहीं दिया क्योंकि रूस की आन्तरिक इच्छा युद्ध करने की नहीं है। यह संधि दुरस्थ युद्ध की आशंका को उल्टा नजदीक लाई है।

२ इसके द्वारा निःशस्त्रीकरण को आघात और शस्त्रीकरण की दौड़ को प्रोत्साहन प्राप्त हुआ है। परिणामस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में विरोध हुआ है और सुरक्षा के प्रश्न हल की सम्भावना घटी है।

३ यह संधि शस्त्रीकरण के विकास में सहायक है और इस तरह यह स्पष्ट है कि जब राष्ट्र शस्त्रीकरण की दौड़ में लग जायेंगे तो उनका सैनिक व्यय बहुत बढ़ जाएगा जिसका परिणाम यह होगा कि देशों के आर्थिक विकास के लिये धन का अभाव होगा और उनका आर्थिक विकास अवरुद्ध हो जाएगा।

४ इस संधि का प्रभाव रूस पर अच्छा नहीं पड़ा है। वह पश्चिमी देशों को और भी अधिक आशंका की दृष्टि से देखने लगा है। इसने रूस में प्रतिक्रियात्मक भावना को और भी तेजी से जाग्रत किया है तथा विश्व में शीत युद्ध को आगे बढ़ाया है।

५ युद्ध को रोकने के लिये गारंटी का कोई मूल्य नहीं होता यह बिल्कुल व्यर्थ है। किसी देश पर आक्रमण हो जाने के बाद ही उसकी

आक्रमणकारी से रक्षा करने के लिये यह संगठन कुछ कर सकता है अन्यथा नहीं ।

६ इस संविधान के बारे में यह भी कहा गया है कि अमेरिका में साम्यवाद का अत्यधिक विरोध है और यह उसकी रूस विरोधी भावना का ही दिग्दर्शन है ।

७ फ्रांस का यह दृष्टिकोण भी रहा है कि इसके द्वारा जर्मनी अपनी सैनिक शक्ति का विकास करेगा और शीघ्र ही शस्त्रीकरण की दौड़ में भाग लेने लगेगा । फ्रांस का यह दृष्टिकोण किस प्रकार बना—इसका उत्तर देना कठिन है ।

८ इस संधि को प्रादेशिक संगठनों में स्थान नहीं दिया जाना चाहिये क्योंकि इसके अन्तर्गत एक ओर तो अमेरिका का संयुक्त राज्य है और दूसरी ओर टर्की तथा यूनान है जिनको एक प्रदेश में सम्मिलित नहीं किया जा सकता ।

वास्तव में यह सम्पूर्ण रूप से रूस के विरुद्ध रचा गया एक सैनिक संगठन है । रूस की ओर से इसकी अत्यधिक आलोचना की गई है । उसने इसके विरोध में अनेक विरोध-पत्र भेजे हैं और संयुक्त राष्ट्र संघ में भी इसके विरुद्ध आवाज उठाई है हालांकि इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । इस संधि के कारण रूस एवं नाटो के देशों के बीच सद्भावना की ज्योति धुम्मन में ही सहायता मिली है और इसीलिए उनके सम्बन्ध निरन्तर कटु होते चले गये हैं ।

फ्रांस का परिवर्तित रुख—नाटो अथवा उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन के सदस्यों में मतभेद सदा से रहे हैं । जैसा कि कहा जा चुका है अक्टूबर १९५६ में स्वेज संकट के सम्बन्ध में और बाद में १९५७ के हंगरी की हत्याकांड के समय में इस संधि संगठन के सदस्य देशों में तीव्र मतभेद उठ खड़े हुए थे किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका के महान प्रभाव के फलस्वरूप किसी प्रकार से मतभेद शान्त हुए । इस संगठन के प्रति फ्रांस का दृष्टिकोण अन्य पश्चिमी देशों की अपेक्षा कुछ असम रहा है । फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल ने मार्च १९६६ में यह स्पष्ट घोषणा कर दी कि उनका देश १ जुलाई १९६६ से नाटो का सदस्य नहीं रहेगा । श्री डिगाल ने यह भी मांग की कि १ अप्रैल १९६७ तक संयुक्त राज्य अमेरिका फ्रांस के नाटो अड्डों को खाली कर दे तथा सुप्रीम हेडक्वार्टर्स तथा मध्य यूरोप कमान का हेडक्वार्टर्स कार्यालय भी खाली कर दें । विभिन्न प्रयासों के बावजूद भी फ्रान्स अपनी मांग से टला नहीं और अमेरिका को अपने सैनिक अड्डे फ्रान्स के प्रदेश से हटाने पड़े हालांकि फ्रान्स की सदस्यता नाटो संगठन में अभी तक किसी न किसी प्रकार बनी हुई है । तथापि यह स्मरणीय है कि ७ अप्रैल १९६९ को नाटो समझौते की २० वर्ष की निर्धारित अवधि समाप्त हो रही है ।

जब डिगाल द्वारा की गई घोषणा के अनुसार १ जुलाई १९६६ को फ्रान्सीसी अधिकारी और कर्मचारी नाटो संगठन से सौंपे गये अपने अपने कार्यों पर नहीं गये और साथ ही फ्रान्सीसी अड्डों से अमेरिकन विमानों का

हटाना शुरू हो गया तो संगठन के सभी १४ सदस्य अत्यन्त चिंतित हो उठे। उन्होंने बेल्जियम में एक सम्मेलन करके यह निश्चय किया कि नाटो संस्था पूर्ववत बनी रहनी चाहिये व उसका हेडक्वार्टर बेल्जियम में स्थापित कर दिया जाना चाहिए। उन्होंने इस संगठन की उपयोगिता बताते हुए कहा कि—

(क) इस संधि के भंग होने से पश्चिमी जर्मनी अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने में स्वतन्त्र हो जायेगा जिसके परिणामस्वरूप भविष्य में प्रथम और द्वितीय महायुद्धों के समान ही भयंकर स्थिति पैदा हो सकती है।

(ख) इस संधि के अभाव में पश्चिमी राष्ट्रों का शक्ति संतुलन बिगड़ जायेगा जिससे नये संघर्ष का भड़क उठना स्वाभाविक है।

(ग) पूर्व और पश्चिम की सद्भावना भी बहुत कुछ नाटो की सैनिक शक्ति के कारण ही उत्पन्न हुई है लेकिन इसके न रहने पर यह सद्भावना नष्ट हो जायगी।

(घ) नाटो साम्यवाद के विस्तार को रोकने में बड़ा सहायक हुआ है। यदि यह संगठन न होता तो अब तक साम्यवाद यूरोप में ही नहीं बल्कि एशिया अफ्रीका तथा अमरिका के भी कई देशों में फैल जाता।

फ्रांस का नाटो संगठन के विरुद्ध आक्षेप यह है कि (i) अमेरिका सारी कमान को अपने हाथों में संभाले हुए है जो उसे मान्य नहीं हो सकता एवं (ii) सोवियत संघ व स्वतन्त्र राष्ट्रों के इतने निकट आ गया है कि अब नाटो सैनिक बनाये रखने की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है।

फ्रांस के परिवर्तित रुख से अनेक राजनीतिज्ञ यह भी अनुमान लगाते हैं कि फ्रांस जो महायुद्ध के बाद से ही व्यावहारिक रूप से पश्चिमी देशों द्वारा उपेक्षा का पात्र रहा है अब शक्तिशाली बनते हुए पुनः यूरोप का नेता बनना चाहता है। फ्रांस का यह विचार है कि ब्रिटेन को यूरोप से पृथक समझा जाए क्योंकि वह यूरोपियन देशों की अपेक्षा अमेरिका के अधिक निकट है। कुछ लोगों का तो यहां तक अनुमान है कि फ्रांस अमेरिका के राजनीतिक नेतृत्व का प्रतिद्वंदी बन गया है। वियतनाम के प्रश्न पर उत्तरी वियतनाम का समर्थन और चीन के साथ मैत्री का रुख अपनाना फ्रांस की इसी नीति का द्योतक है।

कुछ भी हो इसमें संदेह नहीं कि नाटो की स्थापना अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के इतिहास में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है। प्रथम इसने लगभग सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप को एक सुरक्षा संगठन के अन्तर्गत ला दिया है। द्वितीय इसने अपने सदस्यों के बीच अत्यन्त घनिष्ट सहयोग की स्थापना की है सम्भवतः संसार के इतिहास में पहली बार पश्चिमी यूरोप की शक्तियां अपनी कुछ सेनाओं को स्थायी रूप से अधि राष्ट्रीय सैनिक संगठन की अधीनता में रखने को तैयार हुई हैं। तृतीय श्री क्राउले (Crouley) का मत है कि "संयुक्त राज्य अमरिका का नाटो में सम्मिलित होना स्पष्टतः अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में एक नयी क्रान्ति का सूचक है। इसके द्वारा संयुक्त राज्य अमरिका ने अपनी परम्परागत पृथक्करण की नीति को तिलांजलि दे दी है। राष्ट्रपति आइजनहावर ने स्पष्ट रूप से कहा था कि नाटो "विश्व

की शांति एवं सुरक्षा के प्रति अविच्छिन्न सोवियत साम्यवादी धमकी के विरुद्ध अमेरिकन सुरक्षा-नीतियों का एक आधारभूत एवं अपरिहार्य तत्व है।"

(६) अन्जुअस की संधि
(ANZUS)

सन् १९४९ में अमेरिका इस पक्ष में नहीं था कि प्रशान्त महासागरीय क्षेत्र की सुरक्षा के लिये नाटो के समान किसी सैन्य संगठन की स्थापना की जाए। उस समय अमेरिकन राजनीतिज्ञों की दृष्टि में यूरोप एवं नाटो का अधिक महत्व था और इसीलिये अमेरिका ने अपना सम्पूर्ण ध्यान इसी तरफ केन्द्रित कर रखा था। १८ मई, १९४९ को तत्कालीन अमेरिकन विदेश मन्त्री अमेरिकन विदेश सचिव एचेसन (Acheson) ने भी कहा था कि जब तक एशिया के आन्तरिक झगड़ों का निपटारा नहीं हो जाता तब तक प्रशान्त समझौता अपना अस्तित्व ग्रहण नहीं कर सकता।

अमेरिका की उदासीनता के बावजूद भी आस्ट्रेलिया ने इस प्रकार के समझौते पर अत्यधिक बल दिया। इसी मध्य अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तेजी से बदलती गयीं। १९५० में एशिया की घटनाओं ने एक नया मोड़ लिया। अब अमेरिका का अपना पूर्ववर्ती विचार बदल गया और वह प्रशान्त क्षेत्र की महत्ता तथा सुरक्षा की एक आवश्यकता अनुभव करने लगा। १८ अप्रैल १९५१ को तत्कालीन अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने आस्ट्रेलिया एवं न्यूजीलैंड के साथ एक त्रि दलीय रक्षा समझौता करने का सुझाव दिया। जून १९५१ में इस संधि के प्रारूप पर समझौता हो गया और तब जुलाई १९५१ में इसे प्रकाशित कर दिया गया और १ सितम्बर १९५१ को सान फ्रांसिस्को में इस संधि पर हस्ताक्षर हो गये। अमेरिका आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के मध्य हुई यह त्रि-पक्षीय संधि (ANZUS) कहलाई। (A का तात्पर्य आस्ट्रेलिया से NZ का न्यूजीलैंड से तथा US का संयुक्त राज्य अमेरिका से है।)

अन्जुअस संधि अथवा समझौता किसी निश्चित अवधि के लिये न होकर अनिश्चित काल के लिये है। इस संधि के अनुच्छेद २ में कहा गया है—

"इस संधि के उद्देश्यों को अधिक प्रभावपूर्ण रूप से प्राप्त करने के लिये हस्ताक्षरकर्ता पक्ष निरन्तर आत्मनिर्भरता एवम् पारस्परिक सहायता के द्वारा अलग-अलग एवम् मिल कर सशस्त्र आक्रमण का विरोध करने के लिये अपनी व्यक्तिगत एवम् सामूहिक योग्यता का विकास करेंगे।"

संधि के अनुच्छेद ३ में उल्लिखित है कि—

"जब कभी किसी दल अथवा पक्ष की राय में प्रशान्त में उसके किसी भी दल की प्रादेशिक एकता राजनीतिक स्वतन्त्रता अथवा सुरक्षा के लिये खतरा उत्पन्न हो गया तो वे आपस में मिल कर सलाह करेंगे।"

(७) वारसा पैक्ट या पूर्वी यूरोपियन संधि संगठन
(WARSAW PACT)

पाश्चात्य राष्ट्रों ने जब पश्चिमी जर्मनी का शस्त्रीकरण करने का निश्चय कर लिया और उसे नाटो संधि संगठन तथा पश्चिमी यूरोपियन संघ

का सदस्य बना लिया तो सोवियत रूस ने ११ से १४ मई १९५५ तक वारसा में "यूरोप में शांति एवम् रक्षा की सुरक्षा के लिये यूरोपियन देशों का एक सम्मेलन" आयोजित किया। इस सम्मेलन में सोवियत संघ के अतिरिक्त अन्य ७ साम्यवादी देश—पोलैण्ड, रूमानिया, हंगरी, पूर्वी जर्मनी, अल्बानिया, बल्गेरिया और चैकोस्लोवाकिया सम्मिलित हुए। साम्यवादी चीन का एक प्रेक्षक भी संधि में सम्मिलित था।

१४ मई को सोवियत रूस सहित उपरोक्त आठों देश इस बात पर सहमत हो गये कि उनकी सेनाओं की एक संयुक्त कमान बनाई जाए और वे आपस में मैत्री, सहयोग एवम् पारस्परिक सहायता की संधियां करें। इस निश्चय के फलस्वरूप १४ मई १९५५ को ही उपरोक्त सभी राष्ट्रों ने "सुरक्षा और शांति" के इस समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये।

यह संधि जिसे वारसा संधि या पूर्वी यूरोपियन संधि समठन के नाम से सम्बोधित किया जाता है, २० वर्ष के लिए की गई। इसका उद्देश्य पारस्परिक शक्ति के प्रयोग से बचे रहना तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण उपायों से निपटारा करना है परन्तु साथ ही इसमें सदस्य राष्ट्रों को बाह्य आक्रमण के समय सामूहिक सुरक्षा की गारण्टी दी गई है।

संधि की प्रस्तावना एवम् कुछ प्रमुख धारायें इसके प्रधान स्वरूप व इसकी शक्ति को व्यक्त करती हैं। संधि की भूमिका में यूरोप में सामूहिक सुरक्षा पद्धति स्थापित करने पर बल देते हुए कहा गया है कि पश्चिमी यूरोप के संघ एवम् पश्चिमी जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण से यह आवश्यक हो गया है कि हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी सुरक्षा सुदृढ़ करें तथा यूरोप में शांति कायम रखें। इस दृष्टि से इसमें आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों में घनिष्ठ सहयोग का वर्णन है।

संधि की धारा १ में कहा गया है कि इसके सदस्य "शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहने का प्रयत्न करेंगे और वे यह घोषणा भी करते हैं कि वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिपूर्ण उपायों से करेंगे। परन्तु यह उल्लेखनीय है कि हंगरी के मामले में १९५६ में इस सिद्धान्त की उपेक्षा की गई।

धारा ३ के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि यदि किसी सदस्य पर सशस्त्र सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश उसकी सैनिक सहायता करेंगे।

धारा ४ के अनुसार "यदि यूरोप में संधि करने वाले एक अथवा अनेक राज्यों के विरुद्ध कोई सैनिक आक्रमण एक या अनेक राज्यों के द्वारा हो तो संधि करने वाला प्रत्येक सदस्य राज्य से आक्रमणकारी राज्य अथवा राज्यों के लिये शीघ्र ही स्वयं ही सहायता करेगा अथवा सदस्य राज्यों के समझौते उन सभी प्रकार के साधनों का जो आवश्यक हों और आवश्यकता के समय यह सैनिक शक्ति को प्रयोग करने के लिये तैयार रहेगा

धारा ५ के अनुसार संधिकर्ता शक्तियों ने एक सामूहिक शक्ति का निर्माण करने का जिसका प्रयोग सामूहिक समझौते के अनुसार किया जाएगा निश्चय किया। इस प्रकार धारा ५ में एक संयुक्त सैनिक कमान (Unlud

Military Command) बनाई गई है जिसके अधीन सब देशों की सेनायें होंगी और जिसका एक सर्वोच्च सेनापति होगा जो महामंत्री तथा सोवियत संघ स स्टाफ के साथ परामर्श करके सेनाओं का संगठन और इसका विभिन्न प्रदेशों मे वितरण करेगा। यूरोप में इसकी उत्तरी मध्य तथा दक्षिणी यूरोप की तीन कमाने और सुदूरपूर्व की एक कमान रखी गई है।"

धारा ६ में ८ शक्ति की "राजनीतिक परामर्शदात्री समिति" (Political Consultative Committee) द्वारा सब सामान्य प्रश्नों पर विचार करने की सहायक संस्थायें स्थापित करने की और वर्ष में दो बार बैठक करने की व्यवस्था है। इस समिति के महामंत्री का कार्यालय मास्को में है। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का अध्ययन करने तथा विदेश नीतियों के बारे में आवश्यक सिफारिशें करने के लिये सन् १९५६ में एक स्थायी आयोग भी कायम किया गया था।

वारसा संधि ने अपनी उदारता व्यक्त करने के लिये धारा ९ में यह व्यवस्था की है कि यह संधि सामाजिक अथवा राज्य संगठन के प्रकार की ओर ध्यान न देकर उन अन्य राज्यों के लिये भी खुली हुई है जो इस संधि की शर्तों के अनुसार अन्य राष्ट्रों की शांति और सुरक्षा के लिये तैयार हैं।

इस प्रकार वारसा संधि नाटो का पूरा एवम् सशक्त जवाब है। इस सम्बन्ध में एक विशेष बात यह है कि संधि करने वाले सभी राज्य केवल रूस के अनुयायी मात्र हैं। यूगोस्लाविया ने साम्यवादी होते हुए भी इस संधि में भाग नहीं लिया और इससे पृथक रह कर ही अपनी आर्थिक स्थिति को उच्चतर बनाया।

अन्त में यह बात और उल्लेखनीय है कि वारसा संधि के अतिरिक्त भी समस्त साम्यवादी देशों—यूगोस्लाविया पोलेण्ड रूमानिया चैकोस्लोवाकिया हंगरी बल्गेरिया और फिनलैण्ड ने पारस्परिक सहायता की २० संधियां कर रखी हैं। मास्को ने साम्यवादी चीन के साथ उस जापान द्वारा अथवा जापान के साथ सम्बद्ध किसी शक्ति द्वारा सैनिक आक्रमण होने की सूरत में पूरी सैनिक सहायता देने की ३० वर्षीय संधि १४ फरवरी १९५० को की थी।

(८) पश्चिमी यूरोप का एकीकरण
(Integration of Western Europe)

द्वितीय महायुद्ध से पूर्व पश्चिमी यूरोप के राष्ट्र ग्रेट ब्रिटेन फ्रान्स और जर्मनी ही विश्व की प्रथम श्रेणी की महाशक्तियों में गिने जाते थे, किन्तु युद्ध के बाद पासा पलट गया और यह स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत रूस ने ले लिया। युद्धोत्तर विश्व में न केवल यूरोप का प्राचीन महत्व एवं प्रभुत्व क्षीण हो गया प्रत्युत युद्ध के भीषण विनाश ने उसको आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से भी एकदम निर्बल तथा पंगु बना दिया। उसके पूर्व में सोवियत रूस अपनी विस्तारवादी नीति का आतंक पैदा करने लगा तथा पश्चिम में आणविक शक्ति सम्पन्न और धन कुबेर संयुक्त राज्य अमेरिका का उत्कर्ष उसे व्यथित करने लगा। इन दो नवीन महाशक्तियों

के बीच में पश्चिमी यूरोप के राष्ट्रों का यही मापूर्ण दिखाई दिया कि उनकी आत्मरक्षा और उन्नति का सर्वोत्तम उपाय यही है कि यूरोपियन एकता सुदृढ़ किया जाए तथा इसके लिये विविध आर्थिक और राजनीतिक संघ की स्थापना हो।

स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका भी साम्यवादी रूस के विरुद्ध संगठनों को आत्मरक्षा के लिये बड़ा उपयोगी और आवश्यक समझता। इसीलिये १९५१ के पारस्परिक सुरक्षा का अणु (The Mutual Security Act) में 'यूरोप का आर्थिक और राजनीतिक संघ बनाने के लिये" अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई। १९४६ में ब्रिटेन के चर्चिल ने यूरोप की एकता के आन्दोलन का सूत्रपात किया। यूरोप के अनेक राष्ट्रों ने इस आन्दोलन का समर्थन साम्यवाद के विरोध की दृष्टि से किया और कुछ राष्ट्रों ने इसे विशेष संघ की दिशा में प्रथम पग समझा। इन सब विचारों और आन्दोलनों के परिणामस्वरूप यूरोप में आर्थिक एवं राजनीतिक एकीकरण के लिये अनेक संगठनों का निर्माण हुआ जिनमें से निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं—

(i) यूरोपियन आर्थिक सहयोग का संगठन [The Organisation for European Economic Co-operation-OEEC]—जैसा कि कहा जा चुका है कि द्वितीय महायुद्ध ने यूरोप में जो आर्थिक अस्त-व्यस्तता उत्पन्न कर दी थी और साम्यवादी रूस को एक महाशक्ति के रूप में उपस्थित कर दिया था इसने न केवल यूरोपियन देश को बल्कि संयुक्त राज्य अमेरिका को चिंतित बना दिया। अतः अमेरिका के तत्कालीन विदेश मन्त्री ने जून १९४७ में एक 'यूरोपियन रिकवरी प्रोग्राम"(European Recovery Programme) जो मार्शल योजना के नाम से प्रसिद्ध हुआ प्रस्तुत किया। इस योजना के द्वारा अमेरिका ने यूरोपियन देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्य में पूरी सहायता देने का वचन दिया बशर्ते कि यूरोपियन देश स्वयं इस कार्य में हल करें पाश्चात्य यूरोप के देशों ने मार्शल योजना का बड़े उत्साह के साथ स्वागत किया और इस योजना से सम्बन्धित अपनी गतिविधियों के समन्वय के लिये १९४८ में 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग के संगठन-OEEC" की स्थापना की।

इस संगठन के ट्रीस्टे और जर्मन फैडरल रिपब्लिकन सहित १८ यूरोपियन राज्य सदस्य हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा इसके साथी सदस्य (Associated Members) हैं। इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है।

इस संगठन का उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों को ऐसी सहायता करना था, जिससे कि असाधारण बाह्य सहायता के बिना ही वे अपनी आर्थिक क्रियाकलापों को संतोषजनक स्तर तक पहुंचा सकें, अपने उत्पादन में वृद्धि करें, अपने औद्योगिक इकाइयों तथा कृषि व्यवस्था का विकास और आधुनिकीकरण करें, व्यापार का विस्तार करें, व्यापारिक प्रतिबन्धों को धीरे धीरे कम करें, पूर्ण रोजगार को प्रोत्साहन दें तथा अपनी अर्थ-व्यवस्था एवं मुद्रा पद्धति में

सुदृढ़ बनायें। इस संगठन के निर्माण के उद्देश्य में मूल भावना यही निहित है कि मार्शल योजना अथवा यूरोपियन पुनर्निर्माण कार्यक्रम (European Recovery Programme) के अन्तर्गत जो कुछ भी आर्थिक सहायता मिले वह व्यवस्थित और उपयोगी बनाया जाए। इस संगठन ने प्रभावशाली ढंग से कार्य करते हुए पश्चिमी यूरोप के जीवन स्तर को निःसंदेह काफी ऊंचा उठाया।

संगठन का परिवर्तित रूप–आर्थिक सहयोग और विकास का संगठन (O E C D)—यूरोपियन आर्थिक सहयोग के संगठन ने १४ वर्ष तक प्रभावशाली रूप से कार्य किया। किन्तु तत्पश्चात् ३० सितम्बर १९६१ को इस संगठन का स्थान एक नवीन संस्था "आर्थिक सहयोग और विकास के संगठन" (The Organisation for Economic Co-operation and Development-OECD) ने ले लिया। यह नाम परिवर्तन निश्चित रूप से पहले वाले संगठन की स्थिति और कार्यों में परिवर्तन का परिचायक है।

सदस्यता—इस नवीन संस्था "आर्थिक सहयोग और विकास के संगठन" में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा पूर्ण सदस्य भाग लिये गये हैं। इस प्रकार अब यह केवल मात्र विशुद्ध यूरोपियन संगठन ही नहीं रहा है। इस संगठन में कुल मिला कर २० सदस्य देश हैं—

१ आस्ट्रिया	२ बेल्जियम	३ कनाडा
४ डेनमार्क	५ फ्रांस	६ पश्चिमी जर्मनी
७ ग्रीस	८ आइसलैंड	९. आइरिश गणराज्य
१० इटली	११ लक्जमबर्ग	१२ नीदरलैंड्स
१३ नार्वे	१४ पुर्तगाल	१५ स्पेन
१६ स्वीडन	१७ स्विटजरलैण्ड	१८. टर्की
१९ ग्रेट ब्रिटेन	२० संयुक्त राज्य अमेरिका	

फिनलैंड यूगोस्लाविया और जापान इसके विशेष कार्यों में भाग लेते हैं।

उद्देश्य एवं कार्य—१४ दिसम्बर, १९६० का इस संगठन के सम्बन्ध में स्वीकार किए गये एक-एक अभिसमय अथवा समझौतों (Conventions) इसके निम्नलिखित उद्देश्य एवं कार्य बताये गये हैं—

(क) सदस्य देशों को उच्चतम आर्थिक विकास और रोजगार प्रदान करना तथा जीवन यापन के स्तर को उन्नत बनाना

(ख) आर्थिक स्थिरता बनाये रखते हुए विश्व की अर्थ व्यवस्था के विकास में सहायक होना,

(ग) सदस्य राष्ट्रों को और अन्य देशों में स्वास्थ्य आर्थिक विस्तार और विकास में सहयोग प्रदान करना

(घ) विश्व व्यापार के ऐसे विस्तार में सहयोग देना जो बहु पक्षीय हो तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के अनुसार और कोई विशेष भेदभाव न करने वाला (Non-discriminatory) हो।

उपरोक्त उद्देश्यों और कार्यों की पूर्ति के लिये इस संगठन के अन्तर्गत आर्थिक नीति समिति विकास सहायता समिति और व्यापार समिति आदि का गठन किया गया है। दिसम्बर १९६१ में संघ की पहली परिषद में यह लक्ष्य निर्धारित किया गया कि संगठन के २० सदस्य राष्ट्रों के वास्तविक कुल राष्ट्रीय उत्पादन में १९६०-७० की दस वर्ष की अवधि में ५० प्रतिशत वृद्धि की जाए।

(ii) यूरोपियन अदायगी संघ (The European Payments Union—EPU)—इस संघ की स्थापना सितम्बर १९५० में की गई थी। यह संघ वस्तुतः 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग का संगठन" (OEEC) की ही एक शाखा थी। इसका कार्य विनिमय सुविधाओं की व्यवस्था करना अन्तः यूरोपियन व्यापार को विशेष सुविधाजनक बनाना था। दिसम्बर १९५८ में इसके स्थान पर 'यूरोपियन मानेटरी एग्रीमेन्ट' (European Monetory Agreement) की स्थापना की गई।

(iii) यूरोपियन परिषद (Council of Europe)—इस संस्था का गठन ५ मई १९४९ को किया गया था। इसके उद्देश्य के सम्बन्ध में लिखा गया था कि—

'यह आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिये तथा अपनी सामान्य विरासत के आदर्शों और सिद्धान्तों में पहिले से अधिक एकता लाने का प्रयत्न करेगी।

यूरोपियन परिषद का प्रधान कार्यालय स्ट्रेसबर्ग (Strasbourg) में है। इस परिषद के दो भाग हैं-विमर्श सभा (Consultative Assembly) और मंत्री समिति (Committee of Ministers)। विमर्श सभा में १२५ सदस्य होते हैं जिनका निर्वाचन विभिन्न सदस्य देशों की पार्लियामेंटों में विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों की आनुपातिक संख्या के आधार पर होता है। साम्यवादियों का इसमें कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया जाता। विभिन्न देशों के प्रतिनिधियों की संख्या अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की भांति समान नहीं है प्रस्तुत सदस्य देशों के महत्व को देखते हुए निश्चित की गई है। उदाहरणार्थ फ्रांस, इटली ग्रेट ब्रिटेन जर्मन फडरल रिपब्लिक में से प्रत्येक के १८ प्रतिनिधि होते हैं जबकि सार प्रदेश के केवल ३ प्रतिनिधि थी। विमर्श सभा प्रतिरक्षा के विषयों के अतिरिक्त यूरोप से सम्बन्ध रखने वाले सभी आर्थिक और सामाजिक प्रश्नों पर विचार करती है। आवश्यक विचार विमर्श करने के उपरान्त यह कोई निर्णय नहीं ले सकती अपितु केवल "मंत्री समिति" को सिफारिशें करने का अधिकार रखती है। मंत्री समिति के सदस्यों को इन सिफारिशों को अपनी सरकारों तक पहुँचाने की पूर्ण स्वतंत्रता है। मंत्री समिति का निर्माण विभिन्न देशों के मंत्रिमडलों के एक सदस्य प्रायः विदेश मंत्री—से होता है।

अभी तक के इतिहास से यही अनुभव है कि विमर्श सभा और मंत्री समिति में सामान्यतः मतैक्य कभी नहीं रहा है। ग्रेट ब्रिटेन ने इस संघ के बनने का विरोध किया है तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि यह परिषद यूरोप की स्थिति को सुदृढ़ बनाने में पर्याप्त सहायक बन सकती है।

यूरोपियन परिषद के सदस्य देश ये हैं–बल्जियम नीदरलैण्ड लक्जमबर्ग फ्रांस आयरलैण्ड इटली नार्वे स्वीडन डेनमार्क ब्रिटेन ग्रीस टर्की माइसलण्ड जर्मन फेडरल रिपब्लिकन और सार प्रदेश।

(iv) यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय (European Coal & Steel Community)—इस संगठन की योजना फ्रांस के विदेश मंत्री शूमां (Shuman) द्वारा १९५० में तैयार की गई थी। इसके आधार पर इस संगठन की स्थापना ११ अगस्त १९५२ को हुई।

उद्देश्य व कार्य–यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय का उद्देश्य कोयले और इस्पात के लिये एक मंडी बनाना है। इसके सम्बन्ध में आयात और निर्यात करों को तथा राजकीय सहायता को बन्द करना तथा इस बारे में अवांछनीय बातों का विरोध करना व्यापारिक बाधाओं और एकाधिकार वादी तथा भेदभाव करने वाले मूल्यों को हटा कर" उच्च सत्ता (High authority) द्वारा निर्धारित मूल्यों पर बिक्री की व्यवस्था करना है।

संगठन–यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय में ९ सदस्यों की उच्च सत्ता (High Authority) और ७८ सदस्यों की सामान्य सभा (Common Assembly) है। सामान्य सभा के निर्णय २।३ बहुमत से लिये जाते हैं। यह २।३ बहुमत से उच्च सत्ता की आलोचना करती है और उस पर नियन्त्रण स्थापित करती है इसके अतिरिक्त एक विभिन्न देशों के मंत्रियों की परिषद (Council of Ministers) है जो उच्च सत्ता का सरकारों के साथ सम्बन्ध स्थापित करती है। राष्ट्रीय अर्थ व्यवस्था सामान्य मण्डी (Common Market) सम्बन्धी विषयों में कार्य करने के लिये उच्च सत्ता मन्त्री परिषद की पूर्व स्वीकृति लेती है। विवादास्पद मामलों को निपटाने के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (Court of Justice) की स्थापना की गई है।

उच्च सत्ता को परामर्श देने के लिये उत्पादकों मजदूरों और उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों की एक विमर्श समिति (Consultative Committee) भी है जिसकी नियुक्ति मन्त्री परिषद द्वारा की जाती है।

समुदाय का प्रधान कार्यालय लक्जमबर्ग में रखा गया है और यह संधि ५० वर्ष के लिये है। १९५३ से कोयले और इस्पात की एकल मंडियां (Single Markets) क्रिया रूप में परिणत हो गई हैं।

शक्ति व्यवस्था —यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय में सर्वोपरि महत्वपूर्ण स्थान उच्च सत्ता (High Authority) का है। विभिन्न राज्यों द्वारा विनियोग उत्पादन मूल्य मजदूरी और श्रमिकों के पुनर्वास सम्बन्धी अपने कुछ सर्वोच्च अधिकार (Sovereign Rights) इस उच्च सत्ता को प्रदान किये गए हैं। उच्च सत्ता के बहुमत से किए गये सब निर्णयों का पालन करना सदस्य के लिये अनिवार्य है। यह भी व्यवस्था है कि इन निर्णयों का पालन न करने पर अथवा उल्लंघन करने पर समुदाय के सदस्यों को दंड दिया जा सके। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय जगत में यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय इस दृष्टि से पहला अन्तर्राष्ट्रीय तथा अधिराष्ट्रीय (Super-national) संगठन

है, जिसके सामने कुछ देशों ने अपने सर्वोच्च अधिकारों का परित्याग किया है और इस तरह अपने राष्ट्र से बाहर की किसी सत्ता के आदेशों का अनिवार्यत पालन करने का निश्चय किया है। इस संगठन के अन्तर्गत जर्मनी और फ्रांस की अर्थव्यवस्था का एकीकरण होने से पारस्परिक शत्रुता समाप्त हुई है। यह दावा किया जाता है कि इसने न केवल इन दोनों देशों के युद्ध को अवांछनीय बनाया है प्रत्युत इसे सर्वथा असम्भव बना दिया है।* भविष्य इस बात का सही रूप में निर्णय करेगा कि यह दावा कहाँ तक सत्य सिद्ध होता है।

ग्रेट ब्रिटेन ने समुदाय की सदस्यता प्राप्त करने के लिये आवेदन किया था लेकिन २९ जनवरी १९६३ में फ्रांस के विरुद्ध जाने के कारण ब्रिटिश प्रार्थना स्वीकार नहीं की जा सकी।

इस समुदाय ने इस्पात के उत्पादन में निःसंदेह विशेष सफलता प्राप्त की है। इसका प्रमाण यही है कि जहाँ १९५२ में इस्पात का उत्पादन ४२० लाख मीट्रिक टन था वहाँ १९६२ में यह बढ़ कर ७२८ लाख टन हो गया। इसके बाद भी यह उत्पादन निरन्तर संतोषजनक गति से बढ़ता रहा है।

(४) यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय (The European Defence Community E. D C)—१९४९ के उत्तरार्द्ध से अन्तर्राष्ट्रीय जगत में अनेक आकस्मिक घटनाएं घटीं। सितम्बर १९४९ में रूस ने सफलतापूर्वक अणु बम का विस्फोट किया व दूबर के आरम्भ में चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई और १९५० में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया तथा अमेरिका इस संघर्ष में बुरी तरह उलझ गया। अब अमेरिका व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के लिए रूसी खतरा बहुत कुछ वास्तविक हो गया। अमेरिकन राजनीतिज्ञ विशेष रूप से यह महसूस करने लगे कि यूरोप की प्रतिरक्षा-योजना में जर्मनी की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण होगी अतः उसका निःशस्त्रीकरण बहुत समय तक जारी रखना व्यावहारिक नहीं। लेकिन साथ ही उनके सामने यह प्रश्न भी था कि जर्मनी की स्वतंत्र सेना का निर्माण अनेक दृष्टियों से जिनमें फ्रांस का गहरा विरोध भी सम्मिलित था सम्भव नहीं है। बेनेलक्स देशों (बेल्जियम नीदरलैण्ड, लक्जमबर्ग) का भी विचार था कि एकतंत्रीय रूस की अपेक्षा पुनः शस्त्र-सज्जित जर्मनी अधिक खतरनाक हो सकता था।

अन्त में निश्चय यह हुआ कि सम्पूर्ण पश्चिमी यूरोप की प्रतिरक्षा के लिए एक संगठन का निर्माण किया जाय। सर्वप्रथम, १९५० में ब्रिटेन के सर विन्सटन चर्चिल ने ऐसे संगठन के निर्माण का प्रस्ताव 'यूरोप की परिषद्' (Council of Europe) की विमर्श या परामर्शदात्री सभा' (Consultative Assembly) के सम्मुख रखा। इसके स्वीकृत होने पर फ्रेंच प्रधानमन्त्री प्लेवें (Pleven) ने इसकी विस्तृत योजना बनाई। बड़ी लम्बी

*Charles Slicher An Introduction to International Relations Page 684-87

और अंतिम संधि वार्ता के बाद २७ मई १९५२ को 'यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की संधि' पर पेरिस में हस्ताक्षर हो गये। इस संधि के द्वारा ही 'यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय' का जन्म हुआ। इस ५० वर्षीय संधि पर फ्रांस पश्चिमी जर्मनी इटली नीदरलैण्ड, बेल्जियम और लक्जमबर्ग इन ६ देशों ने हस्ताक्षर किये।

'यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय' का उद्देश्य एक ऐसे संगठन की स्थापना करना है जिसमें हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र मिल कर अपने सैन्य बल सैन्य संस्थाओं और सैन्य बजट का एकीकरण कर सकें। इसके संविधान में यह व्यवस्था की गई कि नाटो के सैन्य-संगठन में उपरोक्त ६ राज्य अपनी सेनाओं को एक इकाई की तरह से शामिल करेंगे। दूसरे शब्दों में इस संधि के अनुसार संधिकर्ता राज्यों की सब सेनाओं को संयुक्त होकर नाटो की कमान में एक यूरोपियन सेना का अङ्ग बनाना था। सदस्य राज्य अपने समुद्र पार के प्रदेशों की रक्षा के लिए और कोरिया-युद्ध जैसे अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों में संयुक्त राष्ट्र संघ की सहायता के लिए पृथक सेनायें रख सकते थे। इस समुदाय को सदस्य राज्यों के युद्ध उद्योगों पर भी नियंत्रण का अधिकार दिया गया था।

इस समुदाय के चार अङ्गों की व्यवस्था की गई थी—(i) परिषद—इसमें प्रत्येक सदस्य राज्य का एक मंत्री होगा था जिसका काम समुदाय के विभिन्न कार्यों के बीच समन्वय कायम करना था (ii) बोर्ड आफ कमिश्नर्स इसका कार्य परिषद की देखरेख में समुदाय में संगठन प्रशासन-भर्ती और शस्त्रास्त्र-उत्पादन के कार्यक्रम का संचालन करना था (iii) असेम्बली—८७ सदस्यीय इस असेम्बली का कार्य समुदाय के सैन्य बजट को निर्धारित करना तथा बोर्ड आफ कमिश्नर्स की रिपोर्ट पर विचार करना था एवं (iv) न्यायालय—इसको सैनिक वित्तीय और संगठनात्मक विवादों को सुलझाने का अधिकार दिया गया था।

यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय यूरोप के राजनीतिक एकीकरण के लिए एक बड़ी महत्वपूर्ण योजना थी और इसे वास्तविक संघ का पूर्वरूप समझा जा रहा था। अमेरिका ने इस योजना का पूर्ण स्वागत किया। यह समुदाय यूरोप में अमेरिकन नीति का एक महत्वपूर्ण अङ्ग बन गया। पहली बार पश्चिमी यूरोप की प्रतिरक्षा को एक स्पष्ट और बुद्धिपूर्ण उचित आधार पर स्थिर किया गया। वाशिंगटन से यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय-संधि के हस्ताक्षरकर्ताओं पर इसके पुष्टीकरण के लिए दबाव डाला गया। परन्तु राजनीतिक घटनाचक्र इस तेजी से घूमा कि समुदाय की व्यावहारिक स्थापना और सफलता संदिग्ध हो गई। इस संधि के संपुष्ट होने से पहले ही स्टालिन की मृत्यु हो गई और इस प्रकार रूस के आक्रमण का आतंक घट गया। ग्रेट ब्रिटेन ने इस प्रतिरक्षा समुदाय के साथ सहयोग करना अस्वीकार कर दिया। सार तथा अन्य समस्याओं को लेकर फ्रांस का लोकमत इस प्रतिरक्षा समुदाय के विरुद्ध हो गया और वहां एक के बाद एक सरकारें जल्दी-जल्दी टूटने लगीं। अमेरिकन विदेशमंत्री डलेस ने चेतावनी दी कि ई. डी. सी. के असफल होने पर अमेरिका को "यूरोप के प्रति अपनी नीति का कठोरतापूर्वक पुनर्मूल्यांकन करना पड़ेगा।" इस चेतावनी का अर्थ यह भी हो सकता था कि

अमेरिकन सहायता बंद कर दी जायगी । परन्तु यह धमकी बेकार सिद्ध हुई । फ्रांस के प्रभावशाली लोकप्रिय नेताओं ने अपनी सरकार को अमेरिका की अनावश्यक धौंस-पट्टी सहन के लिए बुरी तरह लताड़ा । आखिर स्थिति यहाँ तक बिगड़ गई कि ३० अगस्त १९५४ को फ्रांस की राष्ट्रीय परिषद ने यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय संधि को अस्वीकार कर दिया । इधर आणविक आयुधों के कारण स्थल सेनाओं का महत्व घटने लगा और जर्मनी के नव की आवश्यकता अधिक स्पष्ट रूप से उपस्थित की जाने लगी । इ डी सी योजना की सफलता के आसार इसलिये और भी कम हो गये कि यद्यपि कई देशों ने संधि पर हस्ताक्षर तो कर दिये थे परन्तु उनके पारस्परिक संदेह और द्वेष विद्यमान थे । प्रत्येक पश्चिमी यूरोपियन देश राष्ट्रीय आधार पर कुछ कर पाने की स्वतन्त्रता पुनः प्राप्त करना चाहता था और कोई भी देश ऐसा कोई काम करने का इच्छुक न था जिससे रूस के साथ अच्छे सम्बन्ध विकसित कर सकने का मार्ग ही बंद हो जाय ।

यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय के इस अस्तित्विपर्यय मार्ग से अमेरिकन सरकार को घोर निराशा हुई यह एक विस्मयात्मक स्थिति थी । अतः १९५४ में यूरोपियन प्रतिरक्षा संधि पर हस्ताक्षर करने वाले देशों के अतिरिक्त कनाडा और संयुक्त राज्य अमेरिका के विदेशमंत्री लन्दन में एक सम्मेलन के लिए एकत्रित हुए । वहाँ तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री सर एन्थोनी ईडन के इस आश्वासन से गहरी आशा का संचार हुआ कि ब्रिटेन यूरोप की रक्षा के लिए वहाँ अपनी सेनायें रखने को तैयार है । ब्रिटेन की इस सहमति के फलस्वरूप पश्चिमी यूरोप के संघ (Western European Union—W. E. U) का निर्माण हुआ। जिसका उल्लेख पहले किया गया है । लन्दन सम्मेलन में भी देशों के प्रतिनिधियों ने ३ अक्टूबर को एक संधि पर हस्ताक्षर करके इस संघ का निर्माण किया । संघ द्वारा पश्चिमी जर्मनी को अन्य पश्चिमी यूरोपियन देशों के साथ राजनीतिक और आर्थिक स्तर पर सम्बद्ध करने का सिद्धान्त स्वीकार किया गया ।

(vi) यूरोपियन आणविक शक्ति समुदाय (European Atomic Energy Community : EUROTOM)—२५ मार्च १९५७ को रोम में हुई संधि के अनुसार इस समुदाय की स्थापना १ जनवरी १९५८ को हुई । इसका उद्देश्य यूरोप के छः राज्यों—नीदरलैण्ड (हालैण्ड) बेल्जियम लक्समबर्ग फ्रांस पश्चिमी जर्मनी और इटली में शान्तिपूर्ण प्रयोजनों के लिए आणविक शक्ति के विकास हेतु सामान्य प्रयत्न करना है । ग्रेट ब्रिटेन ने जुलाई १९६२ में इसका सदस्य बनने के लिये आवेदन पत्र दिया था किन्तु जनवरी १९६३ में इसे अस्वीकार कर दिया गया ।

(vii) यूरोपियन आर्थिक समुदाय अथवा यूरोपियन साझा बाजार (The European Economic Community EEC or The European Common Market ECM)—यूरोपियन आर्थिक समुदाय की स्थापना प्रथम जनवरी १९५८ को हुई थी । इसका अधिक लोकप्रिय दूसरा नाम यूरोपियन सामान्य बाजार (European Common Market) है । यह एक क्षेत्रीय योजना है जिसका उद्देश्य यूरोप के ६ देशों का आर्थिक एकीकरण

करना है । ये ६ देश हैं :—बेल्जियम फ्रांस पश्चिमी जर्मनी इटली, नीदरलैण्ड एवं लक्जमबर्ग । अफ्रीका के सोलह राष्ट्र इसके साथी सदस्य (Associate Members) हैं । यह समुदाय रोम की सन्धि जिस पर मार्च १९५७ में हस्ताक्षर किये गये थे का परिणाम है ।

यूरोप के देशों की भौगोलिक स्थिति अमेरिका रूस चीन और भारत के समान विशाल देशों से भिन्न है । अधिकांश यूरोपियन देशों का क्षेत्रफल इतना कम है कि इन देशों की आन्तरिक मांग के आधार पर बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली की किफायतों को प्राप्त करना कठिन है । इन देशों के क्षेत्रफल तथा जनसंख्या के आधार पर इन देशों में आर्थिक योग्यता (Economic Viability) का भारी अभाव है । इन देशों का आन्तरिक बाजार भी इतना अधिक छोटा है कि इच्छित पैमाने के उद्योगों का सुचारु रूप से चलाना कठिन है । इन्हीं कठिनाइयों के कारण योजना निर्माताओं के दिमाग में यह विचार आया कि पश्चिमी यूरोप के ६ देशों का आर्थिक दृष्टि से एकीकरण किया जाय ताकि बाजार के क्षेत्र का विस्तार हो जाय बड़े पैमाने के उद्योगों को सुचारु रूप से चलाया जा सके बड़े पैमाने की किफायतों के लाभ प्राप्त किये जा सकें और इस तरह सम्पूर्ण क्षेत्र में रहने वाले निवासियों के आर्थिक कल्याण में वृद्धि हो सके ।

उद्देश्य—यद्यपि यूरोपियन आर्थिक समुदाय का अन्तिम अथवा दीर्घावधि लक्ष्य यूरोप के देशों का राजसंघ बनाना है, परन्तु योजना का तात्कालिक लक्ष्य आर्थिक है । आर्थिक लक्ष्य के रूप में समुदाय बनाने का एकमात्र उद्देश्य उत्पादन के क्षेत्र में बड़े पैमाने की उत्पादन प्रणाली के द्वारा उत्पादन करके विशिष्टीकरण तथा श्रम में विभाजन के लाभों को प्राप्त करना है । यह योजना इस आशा का परिणाम है कि ६ देशों के व्यापक क्षेत्रफल में फैले विस्तृत बाजार में बड़े पैमाने के उद्योगों को अधिक कुशल ढंग से चलाया जाकर सम्पूर्ण क्षेत्र को आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली बनाया जा सकेगा ।

इस योजना में जो प्रमुख व्यवस्थायें की गयी हैं वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(i) आयात और निर्यात की जाने वाली वस्तुओं पर लगाये जाने वाले प्रतिबन्धों और करों की समाप्ति ।

(ii) एक सामान्य तट कर नीति तथा व्यापार नीति को स्वीकार करना ।

(iii) व्यक्तियों सेवाओं तथा पूंजी के स्वतन्त्र संचरण की बाधाओं को दूर करना ।

(iv) आर्थिक विकास की सुविधा के लिए एक यूरोपियन विनियोग निधि (Investment Fund) का निर्माण ।

(v) अन्य देशों के प्रति एक सामान्य तट-कर की तथा व्यापार की नीति का अनुसरण ।

(vi) कृषि एवं परिवहन की सामान्य नीति का अनुसरण करना ।

(vii) यूरोप का राजनीतिक एकीकरण ।

संगठन—यूरोपियन आर्थिक समुदाय आर्थिक मामलों में एक प्रकार की सरकार के रूप में कार्य करता है। किसी भी देश की सरकार के समान कार्य करने नियम बनाने तथा झगड़ों को तय करने के लिए इसके विभिन्न अङ्ग हैं—

(i) आर्थिक आयोग (Economic Commission)

(ii) मन्त्रियों की एक परिषद (Council of Ministers),

(iii) एक सामान्य सभा (Assembly)

(iv) एक न्यायालय (Court of Justice)

आर्थिक आयोग समुदाय का प्रमुख प्रशासकीय अङ्ग है। यह दैनिक प्रशासन का संचालन और नीति सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत करता है। ६ सदस्य देशों का एक प्रतिनिधि इस आयोग का सदस्य होता है।

परिषद में ६ सदस्य देशों के प्रतिनिधि होते हैं। यह नीति का निर्धारण करती है सदस्यों के सम्बन्ध में आचरण के नियम और विधान आदि बनाती है। परिषद सदस्यों को समुदाय की मूल नीति का पालन करने के लिए भी प्रेरित करती है। परिषद को अपने कार्य में सहायता देने के लिए एक यूरोपियन आयोग है जिसमें ६ सदस्य होते हैं। आयोग का मुख्य कार्य समुदाय की विशेष समस्याओं का अध्ययन करना यह देखना कि सदस्य संधि के नियमों का पालन करते हैं अथवा नहीं तथा परिषद को सलाह देना है। इसके अतिरिक्त सलाह देने के लिए एक यूरोपियन आर्थिक व सामाजिक समिति भी है जिसमें जीवन के सभी क्षेत्रों (उद्योग श्रम व्यापार, कृषि आदि) से सम्बद्ध सदस्य हैं।

सामान्य सभा समुदाय के लिए एक सीमित संसद के रूप में कार्य करती है। इसमें १४२ सदस्य हैं जिनका वितरण इस प्रकार है—इटली फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी में से प्रत्येक देश के ३६ सदस्य बेल्जियम तथा नीदरलैण्ड्स से प्रत्येक के १४ सदस्य तथा लक्जमबर्ग के ६ सदस्य। सभा (Assembly) परिषद द्वारा की गयी सिफारिशों पर अन्तिम निर्णय करती है।

न्यायालय का कार्य समुदाय के सदस्यों की शिकायतों को तय करना है। यह संधि से सम्बन्धित वैधानिक विवादों का निर्णय करता है।

महत्व एवं सफलता—यूरोपियन आर्थिक समुदाय अथवा सामान्य या साझा बाजार की स्थापना न केवल यूरोप प्रत्युत विश्व के इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है। क्रिश्चियन ए. हर्टर (Christian A. Herter) के शब्दों में "सामान्य बाजार वह केन्द्रक (Nucleus) है जिससे यूरोप के एक संघीय शासन का विकास हो सकता है। इसने फ्रांस तथा जर्मनी की परम्परागत शत्रुता का अन्त कर उन्हें एक सामान्य आर्थिक ढाँचे के अन्दर ला दिया। इसके सदस्य ६ देशों की सामान्य मण्डी का क्षेत्रफल ४,६१,०००

---

* Current Events April 61, p 57

बर्गमील और जनसंख्या १० करोड़ से भी अधिक है। इसका क्षेत्र बाल्टिक तथा उत्तरी सागर से अटलांटिक और भूमध्य सागर तक फैला हुआ है। इस सम्पूर्ण यूरोपियन क्षेत्र में इस समुदाय को कार्य-कलापों के कारण बड़ी समृद्धि हुई है। पश्चिमी जर्मनी और फ्रांस की डालरों की सुरक्षित निधि में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।

समुदाय के ६ सदस्य राज्यों के मध्य यात्रा रोजगार निवास और वित्त आदि के सम्बन्ध में पारपत्रों तथा अन्य नियमों की बाधायें दूर हो गयी हैं। यह पूरी आशा की जाती है कि प्रथम जनवरी १९७० से सदस्यों के मध्य सीमा शुल्कों का भी पूर्णतः अन्त हो जायगा और औद्योगिक वस्तुओं में सदस्यों के मध्य पूर्ण मुक्त व्यापार संभव हो सकेगा। इस तरह १९७० तक ये देश आन्तरिक सीमा-कर शुल्कों से रहित एक सुदृढ़ आर्थिक इकाई बन जायेंगे।

समुदायों के सदस्यों के मध्य कुछ कृषि वस्तुओं के मध्य में भी एक सामान्य कृषि नीति पर सहमति हो पायी है और इन कृषि वस्तुओं पर सीमा करों का समाप्त कर दिया गया है। इस समुदाय से यूरोप को बहुत ही लाभ हुआ है। इसका अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि अमेरिका और रूस के बाद यह समुदाय विश्व की तीसरी महानतम आर्थिक शक्ति है। समुदाय के कुल राष्ट्रीय उत्पादन में ३१ से ४० प्रतिशत तक की औद्योगिक उत्पादन में ४० से ५० प्रतिशत तक की और ६ दशों के पारस्परिक व्यापार में ८० से १० प्रतिशत तक की वृद्धि हुई है।

आर्थिक विकास के प्रयुक्त के रूप में यूरोपियन आर्थिक समुदाय साम्यवाद के प्रसार में एक बड़ी बाधा बनता जा रहा है इसीलिए रूस इसका विरोधी है। भूतपूर्व रूसी प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने इसे 'दो पुरुषों की नारी-प्रकृति के विरुद्ध एक शादी' * कहा था।

यद्यपि यूरोपियन आर्थिक समुदाय ने प्रशंसनीय प्रगति की है और बड़े पैमाने के विकास आर्थिक लाभ सदस्य राष्ट्रों को प्राप्त हुए हैं किन्तु यह कहना अनुचित न होगा कि इस प्रकार की योजनायें सच्ची अन्तर्राष्ट्रीय मित्रता तथा मुक्त व्यापार के हितों के लिए घातक सिद्ध होती हैं क्योंकि इनके कारण संसार भिन्न गुटों में विभाजित हो जाता है जो कुछ समय पश्चात् एक दूसरे के शत्रु हो जाते हैं।

यूरोपियन आर्थिक समुदाय और ब्रिटेन—यह उल्लेखनीय है कि ब्रिटेन इस समुदाय अथवा सामान्य या साझा बाजार का अभी तक सदस्य नहीं बन सका है। इस समुदाय की स्थापना से पूर्व ब्रिटेन ने 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग-संगठन (The Organisation for European Economic Co-operation—O. E. E. C.) के १८ सदस्य राज्यों [redacted] मिल कर बने एक मुक्त व्यापार क्षेत्र (Free Trade Area) की स्थापना का सुझाव रखा था। यूरोपियन आर्थिक सहयोग-संगठन की स्थापना के बाद ब्रिटेन और आस्ट्रिया डेनमार्क नार्वे स्वीडन पुर्तगाल तथा स्विट्जरलैण्ड ने मार्च १९५९ में

* Carriers and Courses, Sept. 1962, p 764.

यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association–E. F T A) की स्थापना का निश्चय किया और तदनुसार २६ जून १९६१ को इसकी स्थापना कर दी गयी। बाद में फिनलैण्ड और आइसलैण्ड भी इस एसोसियेशन में सम्मिलित हो गये।

परन्तु जहां यूरोपियन आर्थिक समुदाय एक सफल संस्था के रूप में प्रगति और समृद्धि की सीढ़ियां चढ़ता गया वहां यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ एक भूठा दिखावा सिद्ध हुआ। अतः शीघ्र ही ब्रिटेन यह अनुभव करने लग गया की उसे यूरोपियन आर्थिक समुदाय या साझा बाजार का सदस्य बन जाना चाहिए। दूसरी ओर समुदाय के सदस्यों ने भी यह अनुभव किया कि ब्रिटेन से पृथक रहते हुए यूरोप के किसी राजनीतिक राज्य मण्डल की स्थापना नहीं की जा सकेगी। फलस्वरूप फरवरी १९६१ के उपरान्त निरन्तर दोनों ही ओर से इस बात के प्रयास होने लगे कि ब्रिटेन भी समुदाय में प्रविष्ट हो जाय। ब्रिटेन के समुदाय में प्रवेश के मार्ग में सर्वाधिक प्रतिरोध फ्रांस की तरफ से हुआ और जनवरी १९६३ में ब्रिटेन के समुदाय में प्रविष्ट होने के प्रयास को विफलता मिली।

ब्रिटेन इसके बाद भी यूरोपियन आर्थिक समुदाय या साझा बाजार में शामिल होने का प्रयास करता रहा और अब वह दिन दूर नहीं है जब उसे यूरोपियन साझा बाजार के परिवार में विधिवत् सम्मिलित कर लिया जायगा। इस विषय में मतभेदों की खाई करीब-करीब पट चुकी है और ९ मई १९६७ को ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री विल्सन ने यूरोपियन साझा बाजार में ब्रिटेन के शामिल होने के फैसले की सूचना भी दे दी थी। ब्रिटेन के इस निश्चय और साझा बाजार में उसके प्रवेश की कठिनाइयों व परिणामों आदि पर 'साप्ताहिक हिन्दुस्तान' दिनांक १४ मई १९६७ में एक बड़ा समीक्षात्मक विवेचन किया गया था जो इस प्रकार है—

हम कोई इमारत नहीं चाहते, पुलों नहीं देखते। हमारी बातचीत हमारी आवश्यकताओं पर आधारित नहीं होगी बल्कि इस आधार पर होगी कि हम क्या योग दे सकते हैं' —ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री विल्सन ने पिछले मंगलवार ९ मई १९६७ को संसद में यूरोपीय साझा बाजार में शामिल होने का फैसला सुनाते हुए कहा हमने जो निर्णय किया है, उसके ऐतिहासिक महत्त्व को हम तत्काल के लिये भी कम करके नहीं आंक रहे हैं। यह एक ऐसा निर्णय है जो ब्रिटेन का भविष्य तय करेगा। और सम्भवतः यूरोप का भी।

"ब्रिटेन और यूरोप की सबसे बड़ी मजबूरी यह है कि आर्थिक और औद्योगिक दृष्टि से अमेरिका पश्चिमी यूरोप पर इस कदर हावी होता जा रहा है। कि उसका अस्तित्व–राजनीतिक और आर्थिक दोनों-खतरे में पड़ता जा रहा है। यूरोपीय देश राष्ट्रीयता का मोह छोड़ कर कम-से-कम आर्थिक दृष्टि से नजदीक आ जायें तो अपनी स्वतन्त्र सत्ता कायम रख सकते हैं। अमेरिका की करीब पांच सौ करोड़ डालर की पूंजी यूरोप में लगी हुई है, जिसमें से साढ़े १ करोड़ डालर ब्रिटेन में इस तरह लगे हैं कि प्रमुख उद्योगों में अमेरिका का सर्वांग दखल है। अमेरिका की उन्नत औद्योगिकी

यूरोप से न केवल एक करोड़ डालर हर मास खींच ले जाती है वरन् वैज्ञानिकों और तकनीकी जानकारों को भी अपनी ओर आकृष्ट करती है। साझा बाजार आयोग के उपाध्यक्ष मार्जोलिन की सकारण धारणा यह है कि "यदि साझा बाजार के देश आविष्कारों के सबसे बड़े आयातक और तकनीकी जानकारों के सबसे बड़े निर्यातक बन गये तो वे निश्चय ही विकास के मामले में पिछड़ जायेंगे और शीघ्र ही स्थिति बेकाबू हो जायेगी। उन्नत तकनीकी और बड़े स्थानीय बाजार के कारण अमेरिका की कम्पनियों का आकार-प्रकार इतना बड़ा और उनके उत्पादन की लागत इतनी कम हो गई है कि उनकी प्रतिद्वन्द्विता में ब्रिटेन की यूरोप की बौनी कम्पनियों का उबरना कठिन से कठिनतर होता जा रहा है। ब्रिटेन की अपेक्षा उन्नत तकनीक और बड़ा सम्मिलित बाजार साझा बाजार को आमामित करके हारती बाजी जिता सकता है। यही वह मुद्दा है जिसने ब्रिटेन को यूरोप की तरफ मुखातिब किया है और यही साझेदारी को भी सम्भव बना सकता है।

जब ब्रिटेन की पहली अर्जी नामंजूर कर दी गई थी तब से स्थिति कुछ बदली है और मुमकिन है कि विल्सन और दिगाल के मोल भाव के बाद सौदा पट जाये। यदि नहीं पटा तो वह ब्रिटेन के लिए बहुत घातक सिद्ध होगा। भूतपूर्व प्रतिरक्षामन्त्री थिनक्रोफ्ट के शब्दों में विल्सन का फैसला 'जोखिम से भरा दुस्साहसपूर्ण कार्य' और बहुत बड़ा जुआ है। जहाँ तक दीखता है वहाँ तक उम्मीद है कि साल-डेढ़ साल की अथक सौदेबाजी के बाद १९६९ या १९७० से ब्रिटेन को यूरोपीय साझा बाजार में साझेदारी की अनुमति दे दी जायेगी।

'दिगाल अभी तक चुप्पी साधे हुए हैं, लेकिन वह भी यह नहीं भुला सकते कि ब्रिटेन की अपेक्षा उन्नत तकनीक और सदस्यता साझा बाजार को अमेरिका या रूस के मुकाबले में खड़ा कर सकती है ब्रिटेन भी उनकी तरह आर्थिक एकीकरण के बावजूद राजनैतिक एकीकरण के पक्ष में नहीं है जर्मनी की बढ़ती हुई ताकत के मुकाबले में ब्रिटेन को इस्तेमाल किया जा सकता है; यूरोपीय आणविक प्रतिरक्षा-व्यवस्था में ब्रिटेन का सहयोग अनिवार्य है और ब्रिटेन को अमेरिका के प्रभाव से खींचने की आवश्यकता और उपयोगिता भी कम नहीं है। इन सब बातों के बावजूद सौदेबाज दिगाल उतने ही सौदेबाज विल्सन से सौदेबाजी करना चाहेंगे। उनका पहला सवाल होगा कि पाउंड अपने पैरों पर खड़ा होने की स्थिति में नहीं है इसलिए उसका अवमूल्यन क्यों न कर दिया जाये। दूसरे दिगाल की इच्छा है कि ब्रिटेन न केवल अमेरिका की छत्र-छाया से नाता तोड़ कर सही माने में यूरोपीय बन जाये बल्कि यह भी कि पाउंड को सुरक्षित मुद्रा बनाये रखने का मोह त्याग दे। ये दोनों शर्तें बड़ी टेढ़ी हैं। ब्रिटेन के लिए आदर्श स्थिति यही हो सकती है कि इन दोनों बातों पर उसे झुकने को बाध्य न किया जाये और उसे साझा बाजार में शामिल भी कर लिया जाय।

"ब्रिटेन इन मुद्दों पर झुकना नहीं चाहेगा क्योंकि साझेदारी की कीमत अन्य क्षेत्रों में आर्थिक हानि के रूप में चुकानी पड़ेगी। यह हानि पहले

साझा बाजार की कृषि-सम्बन्धी नीति अपनाने के कारण उठानी पड़ेंगी। कुछ विशेषज्ञों का कहना है कि कुल हानि प्रति वर्ष पचास-साठ करोड़ पाउण्ड बैठेगी। फिर भी दीर्घकालीन हित के लिए अस्तित्व की रक्षा के लिए यदि विल्सन को यह फैसला करना ही पड़ा है तो यह तकनीक का, समय का तकाजा ही है। बातचीत का लम्बा दौर किन ऊबड़-खाबड़ रास्तों से होकर गुजरेगा यह कहना मुश्किल है लेकिन विल्सन का यूरोप के दरवाजे पर दूसरी दस्तक देना का फैसला—भले ही उसे जुआ कहा जाये-सचमुच ऐतिहासिक है।"

साप्ताहिक दिनमान में ही २८ मई १९६७ को 'अर्थनीति बनाम राजनीति' शीर्षक के अन्तर्गत निम्नलिखित समाचार छपा—

"ब्रिटेन का साझा बाजार में शामिल करना अब सम्भव दिखायी पड़ता है। साझा बाजार में शामिल होने के लिए ब्रिटेन के आवेदन पत्र पर फ्रांस के राष्ट्रपति दिगाल ने एक प्र स सम्मेलन में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए ये शब्द कहे। इसी सांस में उन्होंने उन ढेर-सी कठिनाइयों का भी उल्लेख कर डाला जो साझा बाजार में ब्रिटेन के प्रवेश के मार्ग में बाधा बनी हुई हैं या बन सकती हैं। दूसरे शब्दों में राष्ट्रपति दिगाल ने कठिनाइयां गिना कर फिलहाल प्रवेश की सम्भावना पर मुहर लगा दी है। दूसरी ओर ब्रिटेन हर हाल में साझा बाजार का एक भागीदार बनने को कमर कसे है। प्रधानमन्त्री विल्सन का कहना है कि हम न केवल इस बातचीत को सफल बनाने के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ हैं बल्कि अपनी शक्ति-भर उसे शीघ्र से शीघ्र सफल में भी लाना चाहते हैं। हम यूरोपवासियों का हित इसी में है कि तेजी से प्रगति की ओर बढ़ा जाय।"

ब्रिटेन साझा बाजार में शामिल होने के लिए इतना उत्सुक क्यों है? क्योंकि यद्यपि उसका आर्थिक पहलू अधिक स्पष्ट है, तथापि राजनैतिक पहलू भी किसी भी हालत में कम महत्व नहीं है। ब्रिटेन की शक्ति दिनों-दिन क्षीण हो रही है यूरोपीय देश यह भली प्रकार जानते हैं। उधर उत्तरी अफ्रीका और लाल सागर के इलाके में रूस का प्रभाव बढ़ता जा रहा है। अगर ब्रिटेन को साझा बाजार में प्रवेश मिल जाता है तो वह यूरोपीय देशों और अमेरिका के बीच परस्पर हितों की दृष्टि से अधिक अर्थपूर्ण सहयोग स्थापित करने में सफल हो जायेगा। इससे रूस का प्रभाव रोकने में सफलता मिलेगी और यूरोपीय देशों में ब्रिटेन का दर्जा भी ऊंचा होगा।"

'ब्रिटेन किसी न किसी रूप में विश्व राजनीति के मंच पर बना रहना चाहता है। वह जानता है कि पहले से ही कमजोर राष्ट्रकुल और भी कमजोर होता जा रहा है। यदि ब्रिटेन को साझा बाजार में प्रवेश होने के अपने प्रयास में सफलता मिल गयी तो वह विश्व की राजनीति में विशेषकर एशियाई देशों की राजनीति में दखल बनाये रख सकेगा।"

ब्रिटेन के साझा बाजार में सम्मिलित होने के सिलसिले में अब तक एक बड़ी बाधा यह रही थी कि ब्रिटेन के राष्ट्र मण्डल सम्बन्धी उत्तरदायित्वों के विषयों पर कोई समझौता नहीं हुआ था और ब्रिटेन भी पशोपेश में पड़ा हुआ था। किन्तु अब ब्रिटेन ने राष्ट्र मण्डल के मित्र देशों को हानि पहुंचाने की

कीमत पर भी साझा बाजार में शामिल होने का निश्चय कर डाला है। इस विषय में भारत को भी काफी आर्थिक हानि व असुविधा होने की संभावना है। इस सम्बन्ध में ४ जून १९६७ के साप्ताहिक दिनमान में पृष्ट ७ पर भारत की चिन्ता ब्रिटेन की उदासीनता नामक शीर्षक के अन्तर्गत यह लिखा गया कि—

'ब्रिटेन के साझा बाजार में शामिल होने के फ़ैसले पर भारतीय भावनाओं को ब्रिटानी पत्र इवनिंग स्टैंडर्ड ने व्यक्त किया है। पत्र ने इस प्रश्न पर अपनी टिप्पणी में कहा है—

ब्रितानी सरकार के साझा बाजार में शामिल होने के जल्दबाजी के फैसले पर भारत ने चिन्ता व्यक्त की है।

भारत को खेद इस बात पर है कि प्रधानमंत्री श्री विल्सन ने साझा बाजार की संधि पर अन्तिम रूप से दस्तखत करने से पहले की शर्तों में न्यूजीलैण्ड और राष्ट्र मण्डल देशों में चीनी का उत्पादन करने वालों की समस्याओं का विशेष रूप से उल्लेख किया है। इसका मतलब यह लगाया जा रहा है कि भारत की चिन्ता को कोई विशेष महत्व नहीं दिया गया उस पर ब्रिटेन के अन्तिम रूप से दस्तखत हो जाने के बाद विचार होता रहेगा।

दिल्ली में विचार यह पाया जा रहा है कि श्री विल्सन राष्ट्र मण्डल के मित्र देशों के साथ धोखा करने जा रहे हैं और ब्रिटेन की परम्पराओं को भी वह छोड़ रहे हैं।

ब्रिटेन की राष्ट्र मण्डल देशों के माल पर सीमा शुल्क में रियायत देने की परम्परा रही है। भारत को आशंका यह है कि साझा बाजार में शामिल होने के बाद ब्रिटेन को भारतीय माल के आयात पर कैनेडी कमीशन की सिफारिश के अनुसार सीमा शुल्क लगाना ही पड़ेगा।

ब्रिटेन के साझा बाजार में सम्मिलित होने की यद्यपि पूर्ण संभावना और पृष्ठभूमि बन चुकी है तथापि फ्रान्स के लिए यह बात स्वागत योग्य नहीं है जैसा कि २१ जुलाई १९६७ के साप्ताहिक दिनमान में पृष्ठ १२ पर छपे इस समाचार से विदित होता है—

'पश्चिम एशिया के मामले में पाँचवाँ सवार बन जाने की विफल कोशिश के बाद दिगाल ने यूरोपीय साझा बाजार में ब्रिटेन की सदस्यता को एक झटका दिया—१० जुलाई को साझा बाजार-आयोग की एक बैठक में विदेशमन्त्री से कहलवाया कि पहले ब्रिटेन सुरक्षित मुद्रा का मोह छोड़े और बाजार की कृषि-नीति को बिना शर्त अपनाये तब यूरोप की ओर रुख करे। (इसके पहले फ्रांस बड़ी सफाई से फ्रांसीसी-ब्रितानी-विमान विकास कार्य से नाता तोड़ कर जता चुका था कि प्रेसीडेंट दिगाल ब्रिटेन को आगे बढ़ने देने से रोकने के लिए ऐसे ही हमेशा कुछ न कुछ करते रहेंगे)। प्रेसीडेंट दिगाल जब १२ जुलाई को पश्चिम जर्मनी की राजधानी बान पहुँचे, तो उनका पहला लक्ष्य था ब्रिटेन की सदस्यता के मसले पर आतिथेय का समर्थन प्राप्त करना। पर उन्होंने प्रधानमन्त्री डॉ॰ कीसिंगर को समझाना शुरू किया कि ब्रिटेन अभी साझा मंडी की सदस्यता के योग्य नहीं है। ... सदस्य देशों का यूरोप अलग है जिसमें 'एफ-टीए' की शामिल ...

यूरोपीय एकता को कमजोर नहीं बनाना चाहिये। यद्यपि डिगाल ने साफ शब्दों में नहीं कहा कि वह ब्रिटेन की सदस्यता के खिलाफ हैं लेकिन उनकी मंशा बिल्कुल साफ थी और वह चाहते थे कि कॉसिमर यूरोप के नेतृत्व की वसीयत मेरे नाम कर दी जाये।"

(viii) यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ (*European Free Trade Association–EFTA*)—इसकी स्थापना ३ मई १९६० को की गयी। यूरोपियन सामान्य मण्डी अथवा साझा बाजार (European Common Market) से ग्रेट ब्रिटेन और अन्य देशों को पर्याप्त आर्थिक हानि पहुँची, अतः उसके दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए इस व्यापार संघ का निर्माण हुआ। इस संघ के सदस्य ७ राज्य हैं—ग्रेट ब्रिटेन आस्ट्रिया डेनमार्क नार्वे पुर्तगाल स्वीडन और स्विट्जरलैण्ड। फिनलैण्ड २ मार्च १९६१ से ही इसका साथी सदस्य है। चूंकि यूरोपियन मुक्त-व्यापार संघ के अधिकांश सदस्य यूरोप के बाहरी छोर पर अवस्थित हैं अतः इन्हें यूरोपियन सामान्य मण्डी अथवा यूरोपियन आर्थिक समुदाय या या साझा बाजार के आन्तरिक छ (*Inner Six*) देशों की तुलना में बाहरी सात (Outer Seven) भी कहा जाता है।

यूरोपियन मुक्त-व्यापार संघ यूरोपियन आर्थिक समुदाय की अपेक्षा शिथिल आर्थिक संगठन है। इस संघ के अन्तर्गत सदस्य राज्यों द्वारा शनैः शनैः तट-कर घटाने की व्यवस्था है। ऐसे सदस्य संघ से भिन्न देशों के माल पर चुंगी लगाने का अधिकार है। परन्तु ब्रिटेन को राष्ट्र मण्डल के सदस्य-देशों को चुंगी में छूट देने तथा उनके साथ विशेष व्यवहार करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है।

ग्रेट ब्रिटेन पहले यूरोपियन सामान्य मण्डी अथवा साझा बाजार में सम्मिलित होने को इसलिए विशेष उत्सुक नहीं था क्योंकि उसे प्रथम तो उसकी सफलता में बड़ा सन्देह था और दूसरे वह राष्ट्र मण्डल के देशों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था। विश्व में अपनी स्थिति ऊँची बनाये रखने के लिए वह किसी ऐसे संगठन में सम्मिलित नहीं होना चाहता था जिसमें वह अपना पूरा प्रभाव न डाल सके। लेकिन १९६१ तक ब्रिटेन का यूरोप के साथ निर्यात व्यापार घट चला था और उसकी कृषि की वस्तुओं की मण्डी लगभग समाप्त हो चली थी। यह आशंका हुई कि यूरोप के साथ उसका व्यापार सर्वथा समाप्त हो जायगा। इस भयानक स्थिति से बचने के लिए ब्रिटेन ने अपनी नीति में परिवर्तन किया और वह यूरोपियन साझा बाजार का सदस्य बनने का प्रयत्न करने लगा। ब्रिटेन के इस प्रयास से राष्ट्र मण्डलीय देशों में चिन्ता की स्वाभाविक लहर दौड़ गयी क्योंकि ब्रिटेन का यह कदम उनके व्यापार को गहरी हानि पहुँचाने वाला था। उदाहरणार्थ इस समय भारतीय चाय पर ग्रेट ब्रिटेन में कोई चुंगी नहीं है लेकिन ब्रिटेन के यूरोपियन साझा बाजार का सदस्य बन जाने पर भारतीय चाय पर लगभग १५ प्रतिशत चुंगी लग जाएगी और इस तरह भारतीय चाय की माँग वहाँ लगभग समाप्त हो जायगी। १९६१ में ब्रिटेन के साझा बाजार प्रवेश के प्रयास को फ्रांस के विरोध के कारण विफलता मिली किन्तु अब जैसा कि पहले कहा जा चुका

है, उसका साझा बाजार का सदस्य बन जाना लगभग निश्चित सा हो गया। २१ अप्रैल १९६७ को यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ द्वारा उसे यूरोपियन साझा मण्डी में सम्मिलित होने की अनुमति मिल गयी है और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री साझा बाजार में प्रवेश के ब्रिटिश निश्चय की घोषणा अपने देश की लोकसभा में ९ मई १९६७ का कर चुके हैं। यह उल्लेखनीय है कि अब तक फ्रांस के जनरल दिगाल ने ब्रिटेन के साझा बाजार प्रवेश का विरोध प्रधानतः निम्नलिखित कारणों के आधार पर किया था—

(i) ग्रेट ब्रिटेन का एक पृथक टापू है, अतः यूरोप में उसका कोई स्थान नहीं है।

(ii) वह राष्ट्र मण्डल के साथ सम्बन्ध को बड़ा महत्त्व देता है अतः उसे इसके साथ ही सम्बन्ध बनाये रखना चाहिये।

(iii) ग्रेट ब्रिटेन सामान्य मण्डी में इसलिए प्रवेश चाहता है कि वह संयुक्त राज्य अमरिका के हितों को सुरक्षित रख सके।

(ix) पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union-WEU)—यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय की असफलता के परिणामस्वरूप २८ सितम्बर से ३ अक्टूबर १९५४ तक लन्दन में होने वाले एक सम्मेलन में पश्चिमी यूरोपियन संघ की स्थापना की गयी। ब्रिटेन, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली और बैनीलैक्स देश (हालैण्ड, बेल्जियम और लक्जमबर्ग) कम से कम १९९८ तक के लिए परस्पर प्रतिज्ञा और अन्य उद्देश्यों को लेकर संगठित हो गये। इस संघ का एक अन्य उद्देश्य 'यूरोप के एक अन्य संगठन को प्रोत्साहन देना' भी था। इस संघ का निर्माण करते समय यह निश्चय किया गया कि पश्चिमी जर्मनी को मित्र राष्ट्रों का सैनिक अधिकार समाप्त कर दिया जाय व उसे नाटो में सम्मिलित होने का निमंत्रण दिया जाय। इसके बदले में पश्चिमी जर्मनी द्वारा यह स्वीकार किया गया कि वह अपने शस्त्रास्त्रों के उत्पादन पर स्वेच्छापूर्वक नियंत्रण करेगा। पश्चिमी जर्मनी ने प्रभुसत्ता पुनः प्राप्त कर ली और उसे पुनः शस्त्र धारण करने की अनुमति भी मिल गयी परन्तु उसने आणविक, रासायनिक और कमी-वस्त्रों का निर्माण न करने की शपथ ली। यह भी निश्चित हुआ कि जब तक पश्चिमी जर्मनी की सरकार स्वयं अपनी प्रतिरक्षात्मक सेनायें तैयार न कर ले तब तक अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रान्स की सेनायें पश्चिमी जर्मनी व उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र की रक्षा के लिए वहां रहें।

पश्चिमी-यूरोपियन संघ की सभी सशस्त्र सेनायें नाटो के सर्वोच्च सेनापति (Supreme Allied Commander of Europe-SACEUR) के अधीन रखी गयीं। पुनः शस्त्रीकृत जर्मनी से फ्रान्स के भय का निराकरण करने के लिए ब्रिटेन द्वारा यह वचन दिया गया कि वह अपनी सेना के ४ डिवीजन और एक प्रभावशाली वायुसेना यूरोप की मुख्य भूमि पर बनाये रखेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भी यूरोप में "उत्तरी अटलांटिक क्षेत्र की प्रतिरक्षा में अपना समुचित योगदान प्रदान करने हेतु पर्याप्त सेनायें" बनाये रखना स्वीकार किया।

पश्चिमी जर्मनी के पुन: शस्त्रीकरण की सम्भावना से आशंकित होकर ११ जनवरी, १९५५ को सोवियत सरकार ने पश्चिमी जर्मनी के अतिरिक्त संघ के अन्य सभी सदस्य राष्ट्रों को विरोध-पत्र भेजे। इसके चार दिन बाद ही रूस ने पश्चिमी जर्मनी के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थिर रखने की इच्छा भी व्यक्त की। तत्पश्चात् एक प्रपत्र जारी करके सुप्रीम सोवियत के प्रेसीडियम ने जर्मनी के विरुद्ध 'युद्ध स्थिति' का समाप्त कर दिया। यह 'युद्ध स्थिति' २२ जून १९४१ को रूस पर जर्मन आक्रमण के समय से चली आ रही थी।

सोवियत संघ के विरोध-पत्रों को पश्चिमी यूरोपियन संघ के सदस्य राज्यों द्वारा अस्वीकार कर दिया गया। २७ मार्च १९५५ को फ्रांस और तदुपरान्त बेल्जियम लक्जमबर्ग नीदरलैण्ड एवं अन्य सम्बन्धित राष्ट्रों की संसदों ने संघ-स्थापना संधि की संपुष्टि की कार्यवाही पूर्ण कर दी।

संगठन—पश्चिमी यूरोपियन संघ के कार्य का संचालन करने वाले अङ्ग ये हैं—(i) परिषद (ii) सभा (iii) सचिवालय (iv) अस्त्र नियन्त्रण एजेन्सी एवं (v) स्थायी शस्त्रास्त्र समिति।

परिषद में सदस्य देशों के विदेश मन्त्री लिए जाते हैं। यह संघ के प्रमुख नीति निर्धारक अङ्ग हैं। यह संगठन की परिधि में आने वाले सभी मामलों पर विचार करते हैं। इसके द्वारा अपने कार्य-कलापों का वार्षिक विवरण सभा को दिया जाता है।

सभा में परिषद की परामर्शदात्री सभा के सातों सदस्यों के प्रतिनिधि लिये जाते हैं। इसका मुख्य कार्यालय स्ट्रासबर्ग में है। यहां इसके वार्षिक अधिवेशन होते हैं। सभा द्वारा परिषद को पश्चिमी यूरोपीय संघ के विचार क्षेत्र में आने वाले सभी प्रश्नों पर सिफारिशें की जाती हैं। इसके कार्य संचालन में सहायता देने के लिए अनेक स्थायी समितियां हैं जैसे—प्रतिरक्षा प्रश्न व शस्त्रास्त्रों से सम्बन्धित समिति विशेषाधिकार नियम सम्बन्धी समिति और बजट विषयक प्रश्नों तथा प्रशासन सम्बन्धी समिति।

पश्चिमी यूरोपीय संघ का सचिवालय लन्दन में है। इसका एक मुख्य सचिव होता है। सचिवालय के चार प्रशासनिक भाग हैं।

शस्त्रास्त्र नियंत्रण एजेन्सी पेरिस में स्थापित है और 'नाटो' के अन्तर्राष्ट्रीय कर्मचारियों के साथ निकट सहयोग से कार्य करती है।

स्थायी शस्त्रास्त्र समिति में सातों सदस्य देशों के प्रतिनिधि हैं। इस समिति की स्थापना शस्त्रास्त्रों के उत्पादन व प्रामाणिकता निर्धारण के उद्देश्य से की गई है। इस समिति के प्रधानतः दो काम हैं—(क) पश्चिमी यूरोपियन संघ के देशों की सेनाओं की कुशलता में अभिवृद्धि और उनके प्रसाधनों आदि में उन्नति कराना एवं (ख) इन देशों की सेनाओं को उपलब्ध सामग्री पुराने व हथियार देने के लिये उपायों का खोजना। यह स्मरणीय है कि पश्चिमी यूरोपियन संघ (WEU) यूरोपियन परिषद् (Council of Europe) के

साथ अत्यन्त सहयोगपूर्वक कार्य करता है और इसके सदस्य यूरोपियन परिषद् की परामर्शदात्री या विमर्श सभा (Consultative Assembly of the Council of Europe) के भी सदस्य हैं।

अपनी स्थापना के समय से लगभग $1\frac{1}{2}$ वर्ष तक पश्चिमी यूरोपियन संघ उचित ढंग से काम करता रहा लेकिन शीघ्र ही इसके सदस्य देशों में मतभेद प्रकट होने लगे। फरवरी १९५७ में ब्रिटेन ने "उत्तरी अटलांटिक परिषद्' और पश्चिमी यूरोपियन संघ की परिषद' को सूचित किया कि जर्मनी स्थित अपनी सेनाओं में भारी कटौती करने का निश्चय किया है। ब्रिटेन के इस कदम से 'संघ' के अन्य सदस्य राष्ट्र बड़े चिन्तित हो गये। विशेषकर फ्रांस और पश्चिमी जर्मनी ने इसका तीव्र विरोध किया। 'संघ' की परिषद ने और दूसरी तरफ उत्तरी अटलांटिक परिषद ने ब्रिटिश निर्णय पर विचार किया किन्तु कोई भी स्वीकार्य परिणाम नहीं निकल सका। पश्चिमी यूरोपियन संघ के सभी सदस्य राष्ट्रों ने इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की कि ब्रिटेन "पहले से ही अपर्याप्त सेनाओं में और कटौती करके यूरोप की सुरक्षा-व्यवस्था को कमजोर बना रहा है। संघ के सदस्य राष्ट्रों की इस फूट ने तीन वर्ष पूर्व बड़े परिश्रम से निर्मित किये गये राजनीतिक सहयोग के भवन की आन्तरिक कमजोरियों का पर्दाफाश कर दिया। जनवरी १९५८ में 'संघ' की परिषद ने घोषणा की कि उसने ब्रिटेन के १९५८–५९ के वित्तीय वर्ष प्रतिरक्षा-योजना के अनुसार यूरोप से अपने ८२० सैनिक वापिस बुलाने के प्रस्ताव पर स्वीकृति दे दी है।

१९५८ से ही पश्चिमी यूरोपियन संघ ने अपने को सुदृढ़ करने के विभिन्न प्रयास किये किन्तु सदस्य राष्ट्रों के मतभेद पूरी तरह मिट नहीं। फिर भी यह संघ कठिनाइयों और अव्यवस्थित परिस्थितियों में से गुजरता हुआ विद्यमान है।

(८) दक्षिणी–पूर्वी एशिया सन्धि-संगठन
(South East Asia Treaty Organization—SEATO)

नाटो संधि संगठन द्वारा अटलांटिक क्षेत्र में साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने की चेष्टा के बाद दूसरा क्षेत्र जिसकी सुरक्षा में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रधान रूप से रुचि हुई प्रशान्त महासागर था। १९४९ में चीन में साम्यवादी की विजय और सुदूरपूर्व में पूर्वापेक्षा अधिक साम्यवादी प्रसार की सम्भावना ने अमेरिका को चिन्तित बना दिया। उसने सुदूरपूर्व में साम्यवादी प्रसार पर प्रभावशाली अंकुश लगाने के लिए चीन के चारों ओर मित्र राष्ट्रों का एक घेरा स्थापित करने का प्रयत्न किया। इस प्रयत्न का पहला चरण ३० अगस्त १९५१ का अमेरिका फिलीपाइन्स समझौता था। इसके द्वारा दोनों ही देशों ने एक दूसरे को यह वचन दिया कि उनमें से किसी पर भी सशस्त्र आक्रमण होने की दशा में वे एक-दूसरे को सहायता देंगे। तत्पश्चात् दूसरा चरण अन्जुस पैक्ट के द्वारा पूरा हुआ जिसका उल्लेख पूर्ववर्ती पृष्ठों में किया जा चुका है। तृतीय चरण के रूप में कुछ और भी समझौते किए गए जिनमें से उल्लेखनीय ये हैं अमेरिका जापान सुरक्षा संधि ८ सितम्बर १९५१ पाकिस्तान के साथ सैनिक सहायता संधि १९५४ तथा

राष्ट्रवादी चीन के साथ की गई संधि जिसके द्वारा फारमोसा और पैस्काडोर्स द्वीपों की साम्यवादी चीन के आक्रमण के विरुद्ध रक्षा का भार अमेरिका ने अपने ऊपर ले लिया।

किन्तु इन सब सुरक्षा-संधियों मात्र से संयुक्त राज्य अमेरिका इस बात के प्रति आश्वस्त नहीं हो सका कि वे साम्यवादी चीन के प्रसार का सफलतापूर्वक प्रबन्ध कर सकेंगे। कोरिया में साम्यवादी चीन के हस्तक्षेप और हिन्द चीन में फ्रांस की पराजय ने उसे साम्यवादी शक्ति के प्रति बड़ा आशंकित कर दिया। १९५१ में ही वाशिंगटन में संयुक्त राज्य अमेरिका के आगे यह प्रस्ताव रखा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए 'नाटो' जैसे एक संगठन का निर्माण किया जाए। फ्रांस-हिन्द चीन में हो रहे स्वातंत्र्य युद्ध में हो-ची-मिन्ह को साम्यवादियों द्वारा दी जाने वाली सहायता रोकने के लिए वह इसका समर्थक था। आस्ट्रेलिया और न्यूजीलैण्ड भी उन देशों में थे जो प्रशान्त महासागर में साम्यवाद के प्रसार को अपने लिए घातक समझते थे। हिन्द चीन के प्रश्न पर 'जेनेवा समझौता' हो जाने पर उत्तरी वियतनाम साम्यवादियों के पास चले जाने पर आस्ट्रेलिया के प्रधानमंत्री मैंजीज ने कहा—"साम्यवादियों का भय व हिन्द चीन से दक्षिणी ओर तक पहुंच गया है।" स्याम और फिलीपाइन्स भी साम्यवादी प्रसार से भयभीत थे।

'सीटो' की स्थापना—इस तरह दक्षिण-पूर्वी एशिया में साम्यवाद के प्रसार का विरोध करने की आवश्यकता लगभग सभी सम्बन्धित छोटे-बड़े राष्ट्रों में की जाने लगी थी। इन परिस्थितियों में अप्रैल १९५४ में तत्कालीन अमेरिकन विदेश सचिव श्री डलेस लन्दन गए और उन्होंने इस प्रदेश के लिए ब्रिटेन के सम्मुख नाटो जैसी एक सामूहिक सुरक्षा-पद्धति की योजना रखी। तदनुसार दक्षिण-पूर्वी एशिया के लिए नाटो के नमूने पर एक सुरक्षा संगठन की स्थापना के उद्देश्य से ६ से ८ सितम्बर १९५४ तक फिलीपाइन्स द्वीपसमूह के बाग्यो (Baguio) नामक स्थान पर एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में दक्षिण-पूर्वी एशिया के बर्मा इण्डोनेशिया भारत पाकिस्तान लंका आदि को भी आमंत्रित किया गया लेकिन इनमें से पाकिस्तान के अतिरिक्त किसी भी देश ने सम्मेलन में भाग नहीं लिया। इस सम्मेलन में हुए विचार विमर्श और निश्चयों के फलस्वरूप ८ राष्ट्रों (संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन फ्रांस आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड फिलीपाइन्स और थाईलैण्ड) ने ८ सितम्बर १९५४ को दक्षिण-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि' (South East Asia Collective Defence Treaty) पर हस्ताक्षर करके दक्षिण पूर्वी एशिया संधि संगठन (South East Asia Treaty Organisation-SEATO) की स्थापना की। भारत बर्मा लंका और इण्डोनेशिया ने अपनी 'तटस्थतावादी' नीति के कारण ही सम्मेलन में भाग नहीं लिया था।

संधि की प्रमुख धारायें व इसके उद्देश्य—इस संधि की प्रस्तावना में लिखा गया है कि संधि-कर्त्ताओं का 'संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों और शान्ति स्वाधीनता जनतन्त्र व्यक्ति-स्वातन्त्र्य तथा कानूनी व्यवस्था में" इ
विश्वास है।

पहली धारा में लिखा है कि संधि-कर्ता राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय विवादों शान्तिपूर्ण निपटारे की ओर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी भी रूप में शक्ति-प्रयोग की धमकी का मार्ग न अपनाने की प्रतिज्ञा करते हैं।

तीसरी धारा में हस्ताक्षर कर्ता राज्यों ने 'स्वतन्त्र संस्थाओं को सुदृढ़ रने आर्थिक उन्नति एवं सामाजिक कल्याण को बढ़ावा देने वाले अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और प्राविधिक सहायता देने' का वचन दिया है।

चौथी धारा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इसमें लिखा है कि "यदि संधि करने वाले किसी देश के मतानुसार राज्य की स्थिरता अखंडता प्रभुसत्ता और राजनीतिक स्वतन्त्रता को संधि-क्षेत्र में सशस्त्र युद्ध या अन्य किसी कारण से भय उत्पन्न होगा या वह अन्य किसी कारण से प्रभावित होगी जिससे शान्ति-क्षेत्र में भय उत्पन्न हो तो संधि करने वाले राज्य सामान्य सुरक्षा की दृष्टि से विचार विमर्श करेंगे और सब देश अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार संयुक्त रूप से कार्यवाही करेंगे तथा इसकी सूचना संयुक्त राष्ट्रसंघ को देंगे। इस धारा में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि किसी सदस्य-राष्ट्र के सीमा-क्षेत्र में उस समय तक कोई कार्यवाही नहीं की जा सकती जब तक वहां की सरकार का निमन्त्रण अथवा सहमति प्राप्त नहीं हो जाती। इस धारा में वर्णित 'आक्रमण' के सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का स्पष्टीकरण है 'साम्यवादियों द्वारा आक्रमण'। साम्यवादी आक्रमण की स्थिति में ही अमेरिका सहायता देगा अन्यथा वह आपसी विवाद में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

पांचवीं धारा में संधि-सम्बन्धी सभी विषयों पर विचार करने के लिए तथा "सैनिक एवं किसी दूसरी योजना के लिए सलाह देने के लिए" प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के एक-एक प्रतिनिधि से निर्मित होने वाली परिषद का वर्णन है।

आठवीं धारा में इस संधि के क्षेत्र को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि वह इसमें सम्मिलित होने वाले राज्यों की सीमायें तथा २१ डिग्री ३० मिनट की उत्तरी अक्षांश रेखा (हिन्द चीन की उत्तरी सीमा) है।

यह संधि अनिश्चित काल के लिए की गई है किन्तु कोई भी देश एक वर्ष का नोटिस दे कर इससे पृथक हो सकता है। सीटो का प्रधान कार्यालय थाईलैण्ड की राजधानी बैंकाक में है। यह संधि १९ फरवरी १९५५ से कार्यान्वित कर दी गई है।

सीटो का मूल्यांकन—यद्यपि सीटो और नाटो की स्थापना एक जैसे ही उद्देश्यों के लिए की गई थी किन्तु फिर भी सीटो नाटो की अपेक्षा एक दुर्बल संस्था है जिसमें न तो हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्रों में से किसी पर आक्रमण माना गया है और न ही किसी संयुक्त सेना का निर्माण किया गया है। पामर (Palmer) के शब्दों में—"नाटो स्वाभाविक मित्रों का एक सुदृढ़ संघ है... जो दृढ़ वचनों और एक विस्तृत संगठन के द्वारा परस्पर आबद्ध है। ... दूसरी ओर सीटो एक अदृढ़ संघ है जिसका अत्यन्त थोड़ा संगठन है, कोई स्वीकृत कमान नहीं है और लगभग कोई भी एकीकृत सैनिक

कार्यवाहियां नहीं है और जिसमें नॉर्थ अटलांटिक ट्रीटी के स्वयंचालित उपबन्धों जैसा कोई उपबन्ध नहीं है।'

सीटो की अनेक प्रकार से आलोचना की गई है–

प्रथम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में सीटो-सन्धि पर विचार करने से पता चलता है कि उसके संविधान में प्रयुक्त भाषा और और उसके वास्तविक उद्देश्य में विरोधाभास है। सन्धि की प्रस्तावना और धाराओं में बड़े उच्च भावनों की स्थापना की गई है किन्तु संधि के वास्तविक उद्देश्यों से इन भावनों का कोई मेल नहीं बैठता। प्रस्तावना घोषित करती है कि एक-दूसरे की सम्प्रभुता को मान्यता देते हुए हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सन्निहित उद्देश्यों और सिद्धान्तों के प्रति अपना विश्वास प्रकट करते हैं सभी सरकारों के साथ शान्तिपूर्ण रहने की इच्छा व्यक्त करते हैं तथा सभी लोगों के लिए समान अधिकार एवं आत्मनिर्णय के सिद्धान्तों में विश्वास करते हुए शान्ति और स्वतन्त्रता के ढांचे को मजबूत बनाना चाहते हैं। लेकिन वास्तव में सन्धि में निहित उद्देश्य इन भावनों के अनुरूप नहीं हैं। इस सन्धि संगठन की रचना में अमेरिका का केवल एक ही अभीष्ट था कि दक्षिणी वियतनाम कम्बोडिया और लाओस को साम्यवादी प्रभाव में जाने से रोका जाय।

जब मई १९५४ में डीन-बीन-फू (Dien-Bien-Phu) का पतन हुआ तो पश्चिमी राष्ट्र गम्भीरता पूर्वक यह महसूस करने लगे कि "जिस शक्ति के पास हिन्द चीन का राजनीतिक नियन्त्रण होगा उस शक्ति की कृपा पर ही थाईलैण्ड का अस्तित्व कायम रह सकता है उसका बर्मा पर जबरदस्त प्रभाव रहेगा और अन्ततोगत्वा वह मलायन प्रायद्वीप को दूसरे देशों से अलग करने में सफलता प्राप्त कर लेगा।"* इस अनुभति की अभिव्यक्ति भूतपूर्व अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर के इस कथन से होती है जिसमें उन्होंने यह प्रकट किया कि दक्षिणी-पूर्वी एशिया में राज्यों की एक ऐसी कतार लगी है जिसमें यदि एक राज्य का पतन हुआ तो सब राज्यों का सम्पूर्ण ढांचा ही गिर कर खत्म हो जायगा। संयुक्त राज्य अमरिका भला इस स्थिति की अवहेलना कैसे कर सकता था। यद्यपि उसका न इस क्षेत्र में औपनिवेशिक साम्राज्य था और न इस क्षेत्र से किसी प्रकार का प्रत्यक्ष सम्बन्ध ही था तो भी उसके लिए इसके अतिरिक्त कोई चारा न था कि साम्यवाद व राष्ट्रवाद की बेमवती धारा को इस क्षेत्र में अवरुद्ध करने की प्रत्येक कोशिश की जाय। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही यह सन्धि की गयी। इसीलिए अमेरिका ने जुलाई १९५४ के जेनेवा सन्धि-पत्र पर हस्ताक्षर नहीं किये। उसी की प्रेरणा पर दक्षिणी वियतनाम ने भी इस संधि को मान्यता नहीं दी। अमेरिकन तोड़ फोड़ (Sabotage) के कारण ही हिन्द-चीन आयोग (Indo-China Commission) को अपना कार्य स्थगित कर देना पड़ा इसीलिए जेनेवा निर्णय के बावजूद भी वियतनाम के एकीकरण और संयुक्त निर्वाचन का मसला आज भी अधर में लटका पड़ा है।

**Friedmann* An Introduction to World Politics, Third Edition, 1957 p. 309

दूसरे, ब्रिटेन और फ्रांस ने दक्षिणी-पूर्वी एशियाई संधि संगठन में रुचि इसलिए प्रदर्शित की कि वे इसके माध्यम से इस क्षेत्र में अवस्थित अपने पुराने उपनिवेशों पर अपना नियन्त्रण कायम रखना चाहते थे। आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड और फिलीपाइन्स की राय में जापान अथवा किसी अन्य एशियाई राज्य के उद्गम को रोकने के लिए इस संगठन की सदस्यता आवश्यक है।

तीसरे, पाकिस्तान ने इस संधि को इसलिए स्वीकार किया है क्योंकि उसका विचार है कि पाश्चात्य देशों की सहायता से उसकी शक्ति में वृद्धि होती रहेगी और वह शक्ति भारत के साथ उसके विवादों को तय करने में तथा विशेषकर काश्मीर की समस्या को सुलझाने में उसकी सहायता करेगी।

चौथे इस संधि का उद्देश्य न केवल साम्यवाद का विरोध करना है बल्कि यह भी है कि दक्षिणी-पूर्वी एशियाई देशों पर इस बात के लिए दबाव डाला जाय कि वे पक्षतटस्थता की नीति का परित्याग कर अमेरिकन सैनिक संगठनों की सदस्यता स्वीकार कर लें। इस उद्देश्य के कारण दक्षिणी-पूर्वी एशियाई क्षेत्र में तनाव बढ़ा और अब भी बढ़ रहा है।

पांचवें, यह संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर से बिल्कुल मेल नहीं खाता। चार्टर भौगोलिक क्षेत्रों में सामूहिक सुरक्षा-पद्धति की स्थापना के लिए प्रादेशिक संगठनों के निर्माण की अनुमति प्रदान करता है। परन्तु यह समझ पाना मुश्किल है कि ब्रिटेन फ्रान्स संयुक्त राज्य अमेरिका, फिलीपाइन्स थाईलैण्ड और पाकिस्तान मिल कर एक भौगोलिक क्षेत्र की रचना किस प्रकार करते हैं।

छठे न केवल रूस और चीन की दृष्टि में यह संधि संगठन विश्व शांति के लिए घातक है बल्कि भारत बर्मा लंका और इन्डोनेशिया जैसे तटस्थतावादी देशों ने भी इसे अन्तर्राष्ट्रीय शांति के मार्ग में बाधक माना है। स्वर्गीय श्री नेहरू ने लोकसभा में भाषण देते हुए कहा था 'यह संयुक्त राष्ट्र संघ की भावना के विरुद्ध है इससे विश्व-शांति में वृद्धि के स्थान पर तनाव और असुरक्षा बढ़ेगी। यह एक प्रकार का मुनरो सिद्धान्त है जिसे दक्षिणी-पूर्वी देशों पर जबरदस्ती थोप दिया गया है।" भारत के भूतपूर्व रक्षामंत्री श्री कृष्णामेनन ने इस संधि संगठन पर प्रहार करते हुए कहा था, 'सुरक्षा का क्षेत्रीय संगठन नहीं है अपितु ऐसे विदेशी लोगों का संगठन है जिन्हें इस क्षेत्र में अपने हितों की सुरक्षा करनी है।"† साम्यवादी चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई के शब्दों में 'यह आक्रमण का एक साधन है जिसने सामूहिक सुरक्षा का लबादा (आवरण) ओढ़ रखा है।"*

---

†"It is not a Regional Organization for Security but it is an Organization of such foreigners who have to safe guard their interests in this area."

—*V. K. Krishna Menon*

*"It is a device of aggression under the disguise of Collective Security"

—*Chou En Lai* Chinese Prime Minister

सातवें, संगठन के सदस्यों में इसके उद्देश्यों पर मतैक्य नहीं है। जहाँ अमेरिका इसे साम्यवाद को रोकने का साधन मानता है वहाँ पाकिस्तान इसे एक भारत विरोधी साधन के रूप में लेता है।

आठवें, यह कहा जाता है कि सीटो निष्पक्ष राज्यों की संख्या में वृद्धि करने वाला है और उपनिवेशवाद को प्रोत्साहन देता है। श्री नेहरू के शब्दों में सीटो "एक गलत गमन-मार्ग है, एक खतरनाक गमन-मार्ग है और एक हानिकारक गमन मार्ग है और 'मूलतः एक गलत दिशा में होने के अतिरिक्त हमें अनिष्टतापूर्वक प्रभावित करता है तथा एक प्रकार से हमें दो या तीन दिशाओं में घेरने की ओर उन्मुख होता है।" २७ अगस्त १९५५ को भारतीय राज्य सभा में भाषण करते हुए श्री कृष्णामेनन ने इस संगठन को "प्रोटेक्टोरेट का आधुनिक रूप" (Modern Version of a Protectorate) बताया था जिसमें साम्राज्यवादी शक्तियाँ किसी भी देश की रक्षा का उत्तरदायित्व, उसके विरोध के होते हुए भी अपने ऊपर ले लिया करती थीं। सितम्बर १९५४ में श्री नेहरू ने इस संधि का हवाला देते हुए कहा था कि यह "दूसरी बात और दूसरे विचार" का एक उदाहरण है।

स्पष्ट है कि सीटो के लिए दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों में (जिनके लिए सीटो बनाया गया है) कोई व्यापक जन-समर्थन नहीं पाया जाता। एशिया के देश इस संधि को पुराने उपनिवेशवाद का ही आधुनिक संस्करण मानते हैं। चेस्टर बाउल्स (Chester Bowles) ने लिखा है कि—

"पीढ़ियों से एशिया के लोगों ने पश्चिम के रहने वालों की उबा देने वाली श्रेष्ठता को भुगता है उनसे यह कहा गया था कि वे प्रारम्भ में व्यक्तिगत मुनाफे के लिए एशिया में नहीं आये थे अपितु उनके आने का उद्देश्य यहाँ के निवासियों को ऊपर उठाना है और उन्हें पश्चिमी सभ्यता के वरदानों से परिचित कराना था। अब जब पश्चिम के लोग यह कहते हैं कि वे एशिया की साम्यवाद से रक्षा करने के लिए आये हैं तो स्वेज से जापान सागर तक सभी जगह कड़वी याद की एक लहर दौड़ जाती है।*

(१) अरब लीग
(Arab League)

अरब लीग अरब राज्यों का मध्य-पूर्व का एक प्रादेशिक संगठन है। टर्की से लेकर यमन तक और मिस्र से लेकर पाकिस्तान के प्रश्न को मध्य

*"For generations Asians have seethed under the weary superiority of Western explaining that they came originally to Asia not for personal profit but to uplift the natives and to introduce them to the blessings of Western civilizations. When Western now say that they have come to save Asia from Communism, a wave of bitter memory surges from Suez to the Sea of Japan."

—*Chester Bowles*

पूर्व कहा जाता है। यह एक ऐसा क्षेत्र है जिसमें समान भाषा समान ऐतिहासिक प्रथाओं समान धर्म और पश्चिमी उपनिवेशवाद व इजरायल के विरुद्ध घृणापूर्ण भावनाओं आदि के अनेक एकताकारी तत्व दीर्घकाल से विद्यमान रहे हैं। अरब राष्ट्रों ने इन एकताकारी तत्वों से प्रेरित हो कर ही अनेक बार संगठित होने का प्रयास किया और अन्त में अरब लीग जैसे प्रादेशिक संगठन की स्थापना के रूप में उनके प्रयासों का फल देखने को मिला। १९४४ में अरब एकता के लिए सिकन्दरिया में एक सम्मेलन आमंत्रित किया गया जिसमें मिस्र ईराक सीरिया लेबनान जोर्डन सऊदी अरब और यमन ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अरब राज्यों का एकीकरण करने के लिए एक प्रतिज्ञा-पत्र (Covenant) बनाने का निर्णय लिया गया जिस पर इन सभी राष्ट्रों ने २२ मार्च १९४५ को हस्ताक्षर किये। इस प्रकार अरब लीग (League of Arab States) की स्थापना हुई। मार्च १९५३ में लीबिया जनवरी १९५६ में सूडान अक्टूबर १९५८ में ट्यूनीशिया और मोरक्को जुलाई १९६१ में कुवैत और अक्टूबर १९६२ में अल्जीरिया भी शामिल हो गया।

उद्देश्य—अरब लीग जिन उद्देश्य के लिए स्थापित की गयी थी प्रमुखतः इस प्रकार हैं—सदस्य अरब राज्यों में पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध बनाना राजनीतिक कार्यवाहियों में सामंजस्य स्थापित करना अरब राज्यों की स्वतंत्रता और प्रभुसत्ता की रक्षा करना पराधीन अरबियों को स्वतन्त्र करवाना फिलस्तीन पर अरबियों के दावों को मनवाते हुए उसे यहूदियों से मुक्त करवाना, पारस्परिक विवादों का शान्तिपूर्ण निपटारा करना आदि आदि।

संगठन—अरब लीग के संगठन में एक परिषद (मजलिस Council) कुछ विशेष समितियाँ और एक सचिवालय है। सचिवालय काहिरा में स्थित है और इसका एक महासचिव होता है। इस लीग के प्रथम महासचिव मिस्र के अब्दुल रहमान आजम पाशा थे।

सदस्य राज्यों से निर्मित मजलिस की बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं। मजलिस के निर्णय सर्वसम्मति से लेने का प्रयत्न किया जाता है और किसी भी सदस्य को बहुमत का निर्णय मानने के लिए बाध्य नहीं किया जाता। मजलिस की एक महत्वपूर्ण समिति 'राजनीतिक समिति' है। इस समिति में सदस्य राज्यों के विदेशमंत्री होते हैं। मजलिस के कार्यों को महासचिव द्वारा निष्पादित किया जाता है।

यह उल्लेखनीय है कि अरब लीग के निर्माण का एक सर्वाधिक प्रमुख कारण यही था कि फिलस्तीन की भूमि पर से यहूदियों को नष्ट कर दिया जाय। किन्तु लीग इजरायल के निर्माण को नहीं रोक सकी-फिलस्तीन की भूमि यहूदियों को मिल गयी। १९ मार्च, १९५० को अरब राष्ट्रों ने एक सामूहिक सुरक्षा-संधि लागू की जिसे सम्मिलित प्रतिरक्षा और आर्थिक सहयोग संधि के नाम से पुकारा गया। संधि के अन्तर्गत एक सम्मिलित प्रतिरक्षा परिषद बनायी गयी जिसमें सदस्य देशों के विदेश मंत्रियों और प्रतिरक्षा मन्त्रियों को सदस्य बनाया गया। यह परिषद मजलिस के नियन्त्रण में रही और इसकी सहायता के लिए एक स्थायी सैनिक-आयोग का निर्माण किया गया जिसमें सम्मिलित देशों के सेनाध्यक्ष रखे गये।

अरब लीग आरम्भ में काफी मजबूत रही क्योंकि प्रथम तो अरब राज्य सीरिया और लेबनान से फ्रेंच सेनायें हटवाना चाहते थे और दूसरे वे इजरायल राज्य को समाप्त करना चाहते थे। परन्तु बाद के वर्षों में अरब राज्यों में फूट पड़ गयी उनके मतभेद अधिक उग्र हो गए और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अरब लीग का महत्व घटता गया। अरब देशों में द्वितीय महायुद्ध के बाद से अब तक विभिन्न क्रांतियां हुई हैं जो बताती हैं कि अरब लीग अपने क्षेत्र में न तो राजनीतिक स्थिरता ही ला सकी है और न ही अरब देशों को कुशल नेतृत्व प्रदान कर सकी है। यदि देखा जाय तो अरब राज्यों में एकता के अभाव का मुख्य कारण ही उनके नेतृत्व का प्रश्न है और पश्चिमी शक्तियां अपने स्वार्थ के लिए इनमें निरन्तर फूट डालने का प्रयास करती हैं। यद्यपि वर्तमान काल में विगत कुछ वर्षों से मिस्र अरब-एकता का प्रतीक बन गया था और एकतावादी तत्व कर्नल नासिर के झण्डे के नीचे एकत्रित होने का प्रयत्न कर रहे थे लेकिन इजरायल के सम्मुख संयुक्त अरब गणराज्य की करारी हार ने एकतावादी तत्वों को एक बार फिर पीछे धकेल दिया प्रतीत होता है। अरब संघ में सऊदी अरब के शाह, ट्यूनीशिया के राष्ट्रपति, अल्जीरिया के प्रधानमन्त्री और मोरक्को के राजा हुसन नेतृत्व के लिए नासिर के जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी हैं। सऊदी अरब व मोरक्को निरंकुश राजतंत्रीय देश हैं तथा पश्चिम के समर्थक हैं जबकि नासिर पश्चिम के घोर शत्रु हैं। अरब देशों में जून १९६७ के अरब इजरायल संघर्ष में एकता की जो लौ देखने को मिली थी वह युद्ध के बाद फिर से बुझने लगी है और अरब राज प्रच्छन्न व प्रत्यक्ष रूप से कूटनीतिक शतरंज के मोहरे चलाते हुए अपना अपना उल्लू सीधा करने की फिक्र में हैं। अरब देशों की अस्थिर सरकारें और अस्थिर नीतियां अरब-एकता के स्वप्न को साकार नहीं होने देतीं। इसमें कोई संदेह नहीं कि अरब लीग असफल दुर्बल संगठन सिद्ध हुई है और अरब एकता के प्रयासों में नितान्त असफल रही है। हां यह अवश्य कहा जा सकता है कि अरब राष्ट्रवाद की बढ़ती हुई लहर की ओर विश्व का ध्यान आकर्षित करने में यह सफल हुई है। यदि मिस्र सीरिया ईराक यमन जार्डन सूडान लेबनान मोरक्को अल्जीरिया और लीबिया आदि राष्ट्र अपने मतभेदों को भुला कर एक दृढ़ और विशाल अरब संघ का निर्माण कर सकें तो यह अरब संघ निश्चित रूप से संसार का एक बहुत शक्तिशाली राज्य होगा।

(११) बगदाद-पैक्ट
(Bagdad Pact)

नाटो और सीटो के संधि-संगठन बना लेने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन मध्य एशिया की ओर मुड़े। वे चाहते थे कि सोवियत रूस एवं अन्य साम्यवादी राष्ट्रों के चारों ओर सैनिक शक्ति का एक सुदृढ़ घेरा बना कर साम्यवाद के प्रसार को रोक दिया जाय। नाटो के द्वारा वे पश्चिमी यूरोप में निश्चिन्त हो गये और सीटो के द्वारा उन्होंने दक्षिण-पूर्वी एशिया में एक तथाकथित-रक्षा [illegible]। उनके इस प्रयास के मार्ग में भारत, बर्मा, लंका, इन्डोनेशिया मिस्र और अफगानिस्तान आदि किसी भी गुट में शामिल न होने

की नीति अपना कर बाधक बन रहे थे। इसमें भारत सबसे प्रमुख था। अतः भारत की पूर्ण उपेक्षा करके उन्होंने मध्य एशिया के मुस्लिम देशों को संगठित करने की चेष्टा की। दूसरे शब्दों में अपने प्रयोजनों की सफलता के लिए उन्होंने एक प्रकार से मुस्लिम एकता का आश्रय लिया।

इस बार मध्य एशिया का संगठन खड़ा करने के लिए अमेरिका ने पाकिस्तान को अपनी शतरंज चाल का मोहरा बनाया। उसके सामने आर्थिक व सैनिक सहायता का चुग्गा डाला गया और प्रेरित किया गया कि वह टर्की के साथ मित्रता और पारस्परिक सहयोग की संधि कर ले। परिणामस्वरूप २३ अप्रैल १९५४ को टर्की और पाकिस्तान के मध्य एक संधि हो गयी। टर्की-पाकिस्तान संधि को अन्य मध्य-एशियाई देशों के लिए खुला रखा गया और अमेरिका ने यह अभियान आरम्भ कर दिया कि वे देश इस संधि में सम्मिलित हो जायें। किन्तु पाकिस्तान के भाग्य में यह श्रेय बदा न था कि वह मध्य-एशियाई संधि संगठन का केन्द्र बनता। ईराक ने इस बारे में मिस्र एवं टर्की से वार्ता की जिसमें मिस्र ने तो ऐसी किसी संधि में सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया परन्तु टर्की ने अपनी सहमति प्रकट की। फलस्वरूप टर्की-ईराक पारस्परिक सहयोग-संधि सम्पन्न हो गयी। इस संधि पर २४ फरवरी १९५५ को बगदाद में दोनों पक्षों की ओर से हस्ताक्षर कर दिये गये।

यह टर्की-ईराक संधि ही बगदाद पैक्ट का आधार बनी। इस पंचवर्षीय संधि में यह कहा गया था कि संधि के द्वारा मध्य-पूर्व की सुरक्षा के लिए सक्रिय रूप से चिन्तित सभी राष्ट्रों के लिए खुले हैं। यह भी कहा गया कि ४ राष्ट्रों के इसमें सम्मिलित होने पर इस संधि संगठन की एक स्थायी परिषद बनायी जायगी जिसके सदस्य इन राज्यों के मन्त्रिमण्डलों के सदस्य होंगे। इसमें दोनों देशों (टर्की व ईराक) की सुरक्षा सम्बन्धी अनेक व्यवस्थाओं तथा ईराक के रास्ते टर्की को बिना चुंगी के अस्त्रास्त्र भेजने का उल्लेख था। टर्की-ईराक संधि ने मिस्र को बहुत रुष्ट कर दिया क्योंकि इसके द्वारा अरब-एकता पर कुठाराघात किया गया था और फारस की खाड़ी की सुरक्षा को बड़ा महत्त्व दिया गया था। इस संधि का ही एक परिणाम यह हुआ कि अरब देशों ने अमेरिका से चिढ़ कर सोवियत संघ के साथ अधिक मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर लिये।

४ अप्रैल १९५५ को ग्रेट ब्रिटेन टर्की की संधि में सम्मिलित हो गया और उसने १९३२ की संधि के स्थान पर एक नया समझौता किया जिसके अनुसार ईराक पर सशस्त्र आक्रमण होने या आक्रमण की आशंका मात्र पर उसके (ब्रिटेन के) द्वारा उसे पूरी सहायता देने का वचन दिया गया। २३ सितम्बर १९५५ को पाकिस्तान इस बगदाद संधि का चौथा और १९ अक्टूबर १९५५ को ईरान इसका पाँचवाँ सदस्य बन गया। अब बगदाद में हुई टर्की ईराक संधि इस प्रकार पूर्णतः बगदाद पैक्ट बन गई। जोर्डन को भी इस संधि संगठन का सदस्य बनाने का प्रयत्न किया परन्तु उसने सदस्य बनने से इन्कार कर दिया। यद्यपि इस संधि अथवा पैक्ट का प्रमुख प्रेरक संयुक्त राज्य अमेरिका था परन्तु वह इसका पूरा सदस्य नहीं बना क्योंकि उसे भय

था कि ऐसा करने से उसके और मिस्र के सम्बन्धों में अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो जायगी। फिर भी उसने इसकी आर्थिक और तोड़-फोड़ विरोधी (Counter Subversion) समितियों में भाग लेना स्वीकार कर लिया। स्वेज नहर के संकट के बाद से तो वह इसमें अपने प्रतिनिधि भेजने लगा। वह इस संगठन की सैनिक समिति में भी भाग लेने लगा। जैसे १ फरवरी १९५६ को एक विज्ञप्ति में राष्ट्रपति आइजनहोवर और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ईडन दोनों ही बगदाद समझौते की प्रशंसित शब्दों में प्रशंसा कर चुके थे। २८ जुलाई १९५८ को संयुक्त राज्य अमेरिका इस बात पर भी सहमत हो गया कि वह सहयोग देने की दृष्टि से समझौता करेगा। वह यह घोषणा पहले ही कर चुका था कि अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के ध्येयों में कोई अन्तर नहीं हुआ है अतः वह मध्य एशिया के देशों को आर्थिक एवं तकनीकी सहायता देता रहेगा तथा वह चेष्टा करेगा कि इन देशों की आत्मरक्षा की क्षमता में वृद्धि हो। जुलाई १९५८ की अपनी सहमति के अनुसार अन्त में अमेरिका ने टर्की ईरान और पाकिस्तान के साथ द्विपक्षीय संधियों पर ५ मार्च १९५९ को हस्ताक्षर कर दिए और इस प्रकार इनके द्वारा वह अप्रत्यक्ष रूप से बगदाद-समझौते का सदस्य बन गया।

बगदाद समझौते में एक प्रस्तावना और ८ अनुच्छेद थे। समझौते में कहा गया था कि हस्ताक्षरकर्ता राज्य अपनी सुरक्षा और प्रतिरक्षा के लिए परस्पर सहयोग देंगे। वे एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करेंगे और न ही ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को स्वीकार करेंगे जो इस समझौते से असंगत हों। यह भी उल्लिखित था कि अरब लीग का कोई भी सदस्य अथवा मध्यपूर्व की सुरक्षा से सक्रिय रूप से सम्बन्धित कोई भी अन्य राज्य इस समझौते अथवा पैक्ट का सदस्य बन सकेगा। यह व्यवस्था संधि के अनुच्छेद ५ में दी गयी थी और इसी के तहत ब्रिटेन मध्य-पूर्व के साथ कोई भौगोलिक सम्बन्ध न रखते हुए भी इस समझौते में शामिल हो सका। संधि की ११वीं धारा में इसकी अवधि ५ वर्ष निश्चित की गयी किन्तु साथ में यह भी कहा गया कि उसे ५ ५ वर्ष के लिए आगे भी बढ़ाया जा सकता है।

बगदाद पैक्ट का संगठन काफी सरल है। सर्वोच्च संस्था विदेश मन्त्रियों की एक परिषद थी जिसकी सहायता के लिए एक सैनिक तथा एक आर्थिक समिति थी। बगदाद में इसका स्थायी सचिवालय था। यह उल्लेखनीय है कि इस संगठन की पहली बैठक २१-२२ नवम्बर १९५५ को बगदाद में ईराकी प्रधानमन्त्री नूरी अस्सय्यद के सभापतित्व में हुई थी जिसमें यह घोषणा की गई थी कि यह संधि संयुक्त राष्ट्र संघ की धारा ५१ के अन्तर्गत मध्य-पूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए की गई है। १९५६ में तेहरान में इसकी दूसरी बैठक हुई थी जिसमें अमेरिकन प्रतिनिधि हैण्डरसन ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की थी कि यह संधि साम्यवादी आक्रमण का प्रतिरोध करेगी।

बगदाद पैक्ट में था कि सोवियत रूस की दक्षिणी सीमा से लगे राज्यों में उसके विरुद्ध गुटबन्दी हो तथा इन देशों में अमेरिकन सैनिक और हवाई अड्डों की स्थापना का सबूत था अपने जन्म से ही तीव्र राजनीतिक

विवाद को जन्म दिया। मध्य-पूर्वीय प्रदेश के ही अनेक नेताओं ने इस समझौते की खुलेआम आलोचना करते हुए इसे मध्य-पूर्व के आन्तरिक मामलों में ब्रिटेन और अमेरिका का खुला हस्तक्षेप बताया। राष्ट्रपति नासिर के शब्दों में "मध्य-पूर्व की प्रतिरक्षा का केवल इस प्रदेश के देशों के साथ सम्बन्ध है और हम किसी भी देश अथवा देशों के समूह के संरक्षण को अस्वीकार करते हैं। हमारा यह दृढ़ निश्चय है कि हम अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा अपने सैन्य बल के साथ करेंगे।"* सोवियत संघ की दृष्टि में बगदाद पैक्ट 'आक्रमक सैनिक तथा राजनीतिक गठबन्धन ही नहीं अपितु गुलाम बनाने के साधनों में से एक साधन तथा उपनिवेशवाद जैसा ही एक नये प्रकार के शोषण का साधन है।" मार्शल टीटो ने इस पैक्ट पर कठोर प्रहार करते हुए घोषित किया "मेरे विचार से बगदाद पैक्ट संसार के इस क्षेत्र के देशों और उनकी जनता का हित साधन नहीं करता क्योंकि यह उनकी एकता को नष्ट करता है। उससे किसी के भी विरुद्ध प्रतिरक्षा की दीवार नहीं खड़ी होती।"+

भारत तो इस प्रकार के सैनिक गठबन्धनों का सदैव ही कठोरतम आलोचक रहा है। उसके दृष्टिकोण से सर्वाधिक दुर्भाग्यपूर्ण बात यह थी कि पाकिस्तान ने इसे स्वीकार कर लिया। इस पैक्ट में उसके शामिल होने के कारण उसे संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा प्रभूतमात्र में सैनिक सहायता दी गई और यह भारत के लिए वास्तविक चिन्ता का विषय बन गया। पाकिस्तान का इसमें सम्मिलित होना निश्चित रूप से एक भारत-विरोधी कदम था। पिछले वर्षों में पाकिस्तान ने जिस नीति का अनुसरण किया उससे भारत का दृष्टिकोण सहज ही पुष्ट हो जाता है। बगदाद पैक्ट के साथ पाकिस्तान का काश्मीर का दावा जुड़ा हुआ है। यह इस तथ्य से प्रमाणित हो गया है कि इस पैक्ट के सम्मेलनों में काश्मीर के प्रश्न पर विचार-विनिमय किया जाता रहा। पाकिस्तान की हर समय यह कोशिश रही कि वह बगदाद पैक्ट के सदस्यों से प्रत्येक संभव सहायता प्राप्त करे ताकि भारत के विरुद्ध उसका उपयोग किया जा सके। इन शर्तों के माध्यम से उसने विभिन्न देशों से सैनिक सामग्री प्राप्त करने का सफल प्रयास किया। भारत का यह दृष्टिकोण एकदम सही था कि सीटो के साथ बगदाद पैक्ट भारत को सब तरफ से घेरने की और उसे हर प्रकार से दबाने की एक गहरी कूटनीतिक व सैनिक साजिश है।

---

*"The defence of the Middle East concerns only the countries of the region and we reject the guardianship of any country or group of countries We are fully resolved to defend our freedom with our armed forces."

—*Nasser*

+"I consider that the Bagdad Pact does not serve the interests of the people because it disunites them—it constitutes no kind of wall of defence, whatever against anyone."

—*Tito*

बगदाद पैक्ट ने वास्तव में सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया में शान्ति के लिए एक
महान् खतरा पैदा किया। इसने स्वतन्त्र ईराक को ग्रेट ब्रिटेन का उपनिवेश
बना दिया। यह संगठन अरबों की एकता तथा राष्ट्रीयता को कुचलने के
लिए पश्चिमी शक्तियों का षड्यन्त्र सिद्ध हुआ।

बगदाद संधि संगठन १४ जुलाई, १९५८ की ईराकी क्रांति के कारण
संकट में पड़ गया है। ईराक की नयी सरकार ने जिसके नेता जनरल
अब्दुल करीम कासेम थे २४ मार्च १९५९ को बगदाद-संधि-संगठन की
सदस्यता के परित्याग की घोषणा कर दी जिसके परिणामस्वरूप उसका प्रधान
कार्यालय बगदाद से हटा कर अंकारा में लाया गया। इस प्रकार ईराक के
संगठन से निकल जाने के कारण यह सन्धि-संगठन बुरी तरह कमजोर हो गया
और यह समस्या उत्पन्न हो गई कि उसे अब किस प्रकार जीवित रखा जाए
तथा किस नाम से पुकारा जाय। अन्त में २१ अगस्त १९५९ को इसका
नाम बदल कर केन्द्रीय संधि-संगठन (CENTO) कर दिया गया।

(११) केन्द्रीय संधि-संगठन
(Central Treaty Organization-CENTO)

बगदाद संधि के शेष सदस्यों ने उसके नये स्वरूप और नाम पर
विचार-विमर्श किया और तब जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है २१ अगस्त
१९५९ को उसे केन्द्रीय संधि संगठन या सेन्टो (CENTO) का नया नाम
दिया। इसके वर्तमान सदस्य टर्की ईरान पाकिस्तान और ब्रिटेन हैं। इनके
अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमेरिका इसका अर्ध-सदस्य (Half Member) है
और उसके सदस्यों में से अपने प्रतिनिधि प्रेक्षक भेजता है।

सेन्टो का संगठन बगदाद संधि के आधार पर ही हुआ है अतः
इसका लक्ष्य मध्य एशिया में सामूहिक सुरक्षा की पारस्परिक व्यवस्था को
बनाये रखना है। सेन्टो की परिषद की ग्यारहवीं बैठक १ मई १९६३ को
कराची में हुई थी। उसमें चारों पूर्ण सदस्यों के विदेशमन्त्री और संयुक्त राज्य
अमरिका के विदेश सचिव श्री डीन रस्क के नेतृत्व में एक प्रेक्षक दल ने भाग
लिया था। इस बैठक में परिषद ने यह निश्चय किया कि वह अपनी सामूहिक
सुरक्षा को बिना किसी प्रकार की बाधा पहुँचाये आर्थिक सहयोग पर अधिक
बल देगी। परिषद द्वारा जो विज्ञप्ति जारी की गई थी उसमें कहा गया था
कि—मन्त्रियों की परिषद में शान्ति और सुरक्षा का विकास करने के लिए
समस्त साधन खोजने के बारे में अपनी-अपनी सरकारों के दृढ़ निश्चय की
घोषणा की है। अन्तिम ध्येय विश्व-नि-शस्त्रीकरण है परन्तु उसके साथ
स्पष्ट, सुनिश्चित और पर्याप्त संरक्षण होने चाहिए। यह निश्चय किया गया
कि संधि के द्वारा अपने ध्येय की प्राप्ति के बारे में निरन्तर जागरूकता
रखी जाए।

यह उल्लेखनीय है कि कराची सम्मेलन में पाकिस्तान ने यह विचार
प्रस्तुत किया कि साम्यवादी देशों की अपेक्षा उसे भारत की ओर से अधिक
संकट है। चीन द्वारा भारत पर आक्रमण के बाद उसे जो सैनिक सहायता
मिली है उसके द्वारा यह पूर्वस्थिता अधिक पुष्ट हो गया है और अब संयुक्त

राज्य अमेरिका को भारत को सहायता देना बन्द करके पाकिस्तान की ओर भी अधिक सैन्य सामग्री देनी चाहिये ताकि वह विशेष रूप से शक्तिशाली हो जाय।

सेण्टो जो कि बगदाद पैक्ट का ही दूसरा नाम है अर्थात् 'नई बोतल में पुरानी शराब है' सोवियत संघ के विरुद्ध नाटो राष्ट्रों की रण-नीति का पूरक है। यह नहीं भूलना चाहिए कि रूस एक फौजी प्रहार करने एवं पश्चिमी एशिया के तेल-साधनों के शोषण की नीति को कायम रखने के उद्देश्य से ही सामूहिक सुरक्षा के नाम पर अमरिका के संकेत से १९५५ में बगदाद फौजी-संधि हुई थी। इस फौजी-सन्धि-योजना के पीछे अमेरिका की जो वास्तविक मनोवृत्ति थी वह एक अमरिकन पत्रिका में प्रकाशित लेख के इस अवतरण से स्पष्ट हो जायगी–"पश्चिमी एशिया में अमेरिकन पाइप लाइन की रक्षा के लिए यह अनिवार्य है कि इस क्षेत्र में अमेरिका का राजनीतिक अधिकार स्थापित हो। स्थल पर अमेरिकन फौजी अड्डों के साथ ही हवाई और नौसैनिक अड्डे भी कायम हों और किसी भी देश की चुनौती स्वीकार करने की पूरी तैयारी हो। इसके बिना पाइप लाइन की रक्षा अव्यावहारिक सिद्ध होगी।"

(१२) अफ्रीका की एकता का संगठन
(Organization of African Unity)

प्रादेशिक संगठनों के वर्णन के क्रम में दो शब्द 'अफ्रीका की एकता के संगठन' के बारे में भी लिख देना उपयुक्त होगा। यह एक तथ्य है कि अखिल अमेरिकनवाद के समान ही अफ्रीका भी द्वितीय महायुद्ध के बाद से 'अखिल अफ्रीक वाद' का आन्दोलन प्रबल होता जा रहा है। इस आन्दोलन की प्रबलता इतनी बढ़ गई कि मई १९६१ में आदिस अबाबा में हुए अफ्रीकन राज्यों के शिखर सम्मेलन में घाना के भूतपूर्व राष्ट्रपति नक्रूमा (Nkrumah) ने यह मांग पेश की कि अफ्रीकन राज्यों का एक संयुक्त राज्य स्थापित किया जाय। यद्यपि अधिकांश अफ्रीकन राज्य इस सीमा तक आगे बढ़ने को उद्यत नहीं थे किन्तु फिर भी अफ्रीकनवाद की लहर ने सभी अफ्रीकन देशों के मानस को इतना उद्वेलित कर रखा था कि सम्मेलन ने २५ मई १९६१ को अफ्रीकन-एकता की ओर प्रथम चरण के रूप में 'अफ्रीका की एकता के संगठन' का चार्टर स्वीकार कर लिया।

चार्टर में यह व्यवस्था की गई कि संगठन के ४ अङ्ग होंगे–

१ संगठन की सर्वोच्च संस्था राज्यों और शासनाध्यक्षों की एक सभा होगी। इस सभा की बैठक वर्ष में एक बार अवश्य की जायगी।

२ संगठन की एक परिषद होगी जो सदस्य राज्यों के विदेश मन्त्रियों से मिल कर बनेगी। इसकी वर्ष में कम से कम दो बार बैठक होगी। परिषद अखिल अफ्रीकन सहयोग की कार्यवाहियों का समन्वय करेगी तथा अध्यक्षों की सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।

३ संगठन का एक स्थाई सचिवालय होगा जिसका अध्यक्ष एक महासचिव होगा। सचिवालय प्रधानतः प्रशासकीय कार्यों के लिए जिम्मेदार होगा और संगठन की कार्यवाहियों को निपटायेगा।

४. एक मध्यस्थता, समझौता और पंच-निर्णय आयोग होगा। इसके द्वारा सद राज्यों के पारस्परिक विवादों का फैसला किया जायगा।

५. संगठन के अन्तर्गत अनेक विशेषज्ञ आयोगों की स्थापना की जायेगी जैसे आर्थिक एवं सामाजिक आयोग शिक्षा और संस्कृति आयोग स्वास्थ्य-सफाई व खाद्य आयोग सुरक्षा आयोग तथा वैज्ञानिक प्राविधिक एवं शोध सम्बन्धी आयोग।

संगठन का बजट महासचिव द्वारा तैयार किये जाने की व्यवस्था है जिसके लिये आवश्यक धन सदस्यों के अनुदानों द्वारा प्राप्त किया जायगा। ये अनुदान संयुक्त राष्ट्रीय-कर-निर्धारण मापक्रम पर आधारित होंगे।

इस संगठन की स्थापना तब की जायगी जब अफ्रीका के दो-तिहाई राज्य इसके चार्टर का अनुमोदन कर देंगे। जब तक ऐसे अनुमोदन प्राप्त न हो जायें तब तक के लिए आदिस अबाबा में एक अन्तरिम सचिवालय (Provisional Secretariat) की स्थापना की जायेगी।

एशिया विकास बैंक
(Asian Development Bank 1965)

एशिया विकास बैंक की स्थापना का निर्णय ४ दिसम्बर १९६५ को किया गया था। यह निश्चित हुआ था कि इसके घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वाले १५ देशों में से १० एशियायी देश हो जायेंगे तो यह बैंक अपना कार्य विधिवत् प्रारम्भ कर देगा। घोषणापत्र में यह भी स्वीकार किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव बैंक कोष के ट्रस्टी होंगे। एशियायी बैंक की स्थापना का प्रस्ताव सबसे पहले एशिया और सुदूरपूर्व सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघीय आर्थिक आयोग (इकाफे) में रखा था। यह बैंक मूलतः एशियायी होगा क्योंकि निश्चित व्यवस्था के अनुसार बैंक की पूञ्जी का १५% एशियायी देशों पर ही रहेगा।

कार्य—इस बैंक का प्रधान कार्यालय फिलीपाइन्स की राजधानी मनीला में होगा। इस बैंक का जो संविधान अथवा चार्टर है उसके अनुसार बैंक के प्रमुख कार्य निम्नलिखित होंगे—

(i) सार्वजनिक एवं निजी विकासगत-पूञ्जी के विनियोजन को प्रोत्साहन देना।

(ii) क्षेत्रीय उपक्षेत्रीय तथा राष्ट्रीय विकास-योजना के लिये वित्त की व्यवस्था करना।

(iii) राष्ट्रीय विकास की नीतियों और योजनाओं के समन्वय में सहायता देना।

(iv) विकास योजनाओं के लिये तकनीकी सहायता प्रदान करना।

(v) विनियोजन पूञ्जी की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और निजी स्रोतों के साथ सहयोग करना।

एशियायी विकास बैंक अपने सदस्य देशों के बीच व्यापार की बढ़ोतरी में सहायक होगा क्योंकि इससे सहायता प्राप्त करने वाले राष्ट्रों पर होने तरह का प्रतिबंध लगा दिया गया है कि इससे प्राप्त वित्तीय सहायता से इस

वाली प्राय का उपयोग केवल सदस्य देशों में उत्पादित वस्तुओं और सेवाओं की प्राप्ति हेतु किया जायगा। बैंक के विधान में यह व्यवस्था भी दी गई है कि जब तक बैंक के निर्देशक मण्डल का २/३ बहुमत इस प्रकार की छूट नहीं दे दे विकसित देश बैंक से कोई आर्थिक सहायता नहीं पायेंगे।

सदस्यता—इस बैंक की सदस्यता उन्हीं राष्ट्रों को प्राप्त होगी जो एशिया एवं सुदूरपूर्व सम्बन्धी संयुक्त राष्ट्र संघीय आर्थिक आयोग (इकाफे) के सदस्य हों या साथी सदस्य हों। इसके साथ ही वे क्षेत्रीय और गैर क्षेत्रीय देश भी बैंक के सदस्य बन सकेंगे जो संयुक्त राष्ट्र संघ अथवा उसकी किसी विशिष्ट एजेन्सी के सदस्य हों। अभी तक ३१ राष्ट्रों ने बैंक की सदस्यता के लिये प्रार्थनापत्र दिये हैं जिनमें से १९ एशियायी देश हैं।

पूञ्जी—एशियायी विकास बैंक की कुल पूञ्जी १०० करोड़ डालर होगी यद्यपि बैंक अपना कार्य १० करोड़ डालर की पूञ्जी से ही प्रारम्भ कर देगा। इस १० करोड़ डालर में आधा सोना विदेशी मुद्रा में परिवर्तनीय होगा और शेष आधा सदस्य राष्ट्रों की स्थानीय मुद्रा के रूप में होगा।

संकल्पित पूञ्जी—सदस्यता के लिये प्रार्थनापत्र देने वाले देशों की संकल्पित पूञ्जी इस प्रकार है—

(क) एशियाई देश—

१ अफगानिस्तान	३.३६	लाख डालर
२ आस्ट्रेलिया	८५.०	लाख डालर
३ कम्बोडिया	३.००	लाख डालर
४ श्री लंका	८.५२	लाख डालर
५. भारत	९३.००	लाख डालर
६ ईरान	६०.००	लाख डालर
७ जापान	२००.००	लाख डालर
८ कोरिया	३०.०	लाख डालर
९ लाओस	.४२	लाख डालर
१० मलेशिया	२०.००	लाख डालर
११ नेपाल	२.१६	लाख डालर
१२ न्यूजीलैण्ड	२२.५६	लाख डालर
१३ पाकिस्तान	३२.५०	लाख डालर
१४ फिलीपाइन्स	३५.०	लाख डालर
१५ रिपब्लिक चीन	१६.००	लाख डालर
१६ सिंगापुर	४.०	लाख डालर
१७ दक्षिण वियतनाम	७.००	लाख डालर
१८. थाईलैण्ड	२०.००	लाख डालर
१९. पश्चिमी समाओ	.०६	लाख डालर

(ख) गैर एशियाई राष्ट्र—गैर एशियाई राष्ट्रों में से १२ ने इसकी सदस्यता के लिये प्रार्थना-पत्र दिया है उनमें से ७ देशों की संकल्पित पूञ्जी नीचे लिखे (पृष्ठ ४०४) अनुसार है—

१ बेल्जियम	५	लाख डालर
२ डेनमार्क	५	लाख डालर
३ जर्मन गणराज्य संघ	३०	लाख डालर
४ नीदरलैंड	११	लाख डालर
५. ब्रिटेन	१०	लाख डालर
६ अमेरिका	२००	लाख डालर
७ कनाडा	२५	लाख डालर

बैंक की वास्तविक स्थापना का प्रबन्ध करने के लिये एक संचालन समिति की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त एक सलाहकार समिति की व्यवस्था भी की गई है जिसके मूल सदस्य होंगे भारत श्रीलंका ईरान जापान मलेशिया फिलीपाइन्स थाईलैंड दक्षिण वियतनाम और पाकिस्तान।

बैंक में मतदान व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि लघु राष्ट्रों की आवाज दबे भी नहीं और अधिक पूंजी लगाने वाले देशों का सम्मान भी बना रहे। इसीलिये २० प्रतिशत मौलिक मत रखे गये हैं और ८० प्रतिशत मत बैंक की पूंजी में सदस्य राष्ट्रों के योगदान के अनुपात के आधार पर रखे गये हैं।

यह बैंक निश्चित रूप से एशियायी देशों के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सकेगा। इसके सम्बन्ध में अमेरिका के राष्ट्रपति जॉनसन का लिखना है कि 'यह एशिया की विविधतापूर्ण भूमि के लिये एक आर्थिक घोषणा पत्र है।' ... इससे स्कूलों और अस्पतालों का निर्माण किया जा सकता है नदियों को नियंत्रित किया जा सकता है तथा नई फसलों और नई जाति के पशुओं का विकास हो सकता है। इसमें उसी प्रकार असीमित भावनायें निहित हैं जिस प्रकार हमारे स्वप्न असीमित हैं। सोवियत रूस की भी मान्यता है कि एशियायी विकास बैंक लघु राष्ट्रों के लिये आर्थिक-प्रगति की दृष्टि से बड़ा उपयोगी सिद्ध होगा।

प्रादेशिक संगठनों का मूल्यांकन

प्रादेशिक संगठन आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक सहयोग के संगठन भी हो सकते हैं तथा विशुद्ध सैनिक या सुरक्षा संगठन भी। प्रस्तुत अध्याय के अन्तर्गत जिन प्रादेशिक संगठनों का वर्णन किया गया है उनमें से कुछ तो व्यापारिक एवं आर्थिक विकास से सम्बन्धित संगठन हैं और अन्य मुख्य रूप से सैनिक संगठन हैं। आर्थिक व व्यापारिक सहयोग के संगठनों को सामान्यतः उपयोगी और हितकर माना जा सकता है लेकिन सैनिक अथवा सुरक्षा संगठन कटु आलोचना के पात्र हैं—

प्रथम इन सैनिक संगठनों के औचित्य को स्थापित करते समय सदैव संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की ५१वीं धारा का हवाला दिया जाता है और आत्मरक्षा के अधिकार की दुहाई दी जाती है। परन्तु चार्टर की प्रादेशिक संगठनों सम्बन्धी इस धारा की गलत और मनमानी व्याख्या करके इन संगठनों को उचित सिद्ध करने का प्रयास किया जाता है। आत्मरक्षा का प्रश्न तो उपस्थित ही तब होता है जब किसी देश पर कोई देश सशस्त्र आक्रमण आरम्भ

र दे। वस्तुस्थिति यही है कि इन संगठनों के द्वारा शक्ति-संतुलन की उस ाचीन पद्धति को पुनर्जीवित करने का प्रयास किया गया है जिसका संयुक्त ाष्ट्र संघ का चार्टर हमेशा के लिए अन्त करना चाहता था। ६ दिसम्बर १९५५ को संयुक्त राष्ट्र संघ की राजनीतिक समिति में श्री वी. के. मेनन ने स्पष्ट रूप से कहा था—

हमारा कहना है कि ये (सुरक्षा संगठन) ५१वीं धारा के अन्तर्गत नहीं आते क्योंकि प्रतिरक्षा की व्यवस्था का औचित्य उसी समय है जबकि कहीं सशस्त्र आक्रमण का प्रारम्भ हो जाय।

दूसरे, चार्टर की २४वीं धारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने का मुख्य उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद को सौंपती है ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ से आक्रमण का अविलम्ब निरोध किया जा सके। परन्तु ये प्रतिरक्षा संगठन इस मान्यता पर आधारित हैं कि आक्रमण निरोध की कार्यवाही संयुक्त राष्ट्र संघ की देख-रेख में न होकर इनके द्वारा सम्पादित होनी चाहिये। यह बात ध्यान देने योग्य है कि इन प्रतिरक्षात्मक संगठनों में कार्य सम्पादन के लिए परिषदों (Councils) की व्यवस्था की गई है जिनकी बैठकें किसी भी समय प्रतिरक्षात्मक कार्यवाही पर विचार करने के लिए बुलाई जा सकती हैं। सुरक्षा परिषद को भी इसी प्रकार की व्यवस्था है। वह इस तरह रखी गई है कि निरन्तर काम कर सके और आक्रमण प्रारम्भ होने या आक्रमण की संभावना प्रस्तुत होने पर उसे रोकने के लिए आवश्यक कार्यवाही पर अविलम्ब विचार कर सके। इस तरह स्पष्ट है कि प्रादेशिक प्रतिरक्षात्मक संगठन मूलतः इस विचार पर आधारित हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा की एक प्रभावशाली व्यवस्था का विधान करने में सफल नहीं हुआ है और विश्व के राष्ट्र अपनी सुरक्षा के लिए उस पर निर्भर नहीं रह सकते हैं। अन्य शब्दों में ये सुरक्षा अथवा प्रतिरक्षा संगठन स्वयं को एक प्रकार से संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रतिद्वन्द्वी बनाने में लगे हुए हैं और भविष्य में संघ की असफलता के प्रतीक बन सकते हैं। हैमिल्टन फिश आर्मस्ट्रांग (Hamilton Fish Armstrong) का स्पष्ट मत है कि—

"प्रादेशिक समझौतों की एक शृंखला कुछ समय में संघ की विश्व व्यापी प्रकृति और उद्देश्यों को रोक सकती है।"*

इसी प्रकार हंस केलसन (Hans Kelson) का विचार है कि—

"इस प्रकार की स्थापना व्यवस्थायें उस राजनीतिक और वैधानिक व्यवस्था का विस्थापन है जिसके लिए संयुक्त राष्ट्र की रचना की गई है।"+

इस सम्बन्ध में प्रो० ग्रेसन किर्क (Greyson Kirk) का यह कथन उल्लेखनीय है जो उन्होंने नाटो सन्धि के बारे में व्यक्त किया था—

---

*Dean Vera M Main Trends in Post War American Foreign Policy p. 84
+Ibid p. [illegible]

"अन्त में उसके प्रभाव से संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रभाव के कम होने की आशंका है। यदि उसने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के प्रभाव का विश्व के पैमाने पर विभाजन कर दिया तो उसके परिणामस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ के विकास की समस्त सम्भावनायें नष्ट हो जायेंगी। उसमें संयुक्त राष्ट्र संघ की जनरल असेम्बली में गुट के आधार पर मतदान करने की प्रणाली का बल मिलता।

तीसरे अनेक प्रादेशिक संगठनों की प्रेरक शक्तियाँ गैर प्रादेशिक राज्य हैं। उदाहरणार्थ सीटो और बगदाद पैक्ट (अब सेन्टो) की प्रेरक शक्तियाँ अमेरिका व ब्रिटेन हैं। इन सन्धि संगठनों के कारण राष्ट्रों के मध्य सहयोग नहीं अपितु फूट और घृणा का प्रसार अधिक हुआ है। सीटो के कारण भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध और भी खराब हो गये तो बगदाद पैक्ट ने अरब राष्ट्रों के बीच फूट डाल दी। वा कल्न मैनन का यह कहना सही है कि गैर प्रादेशिक शक्तियों के कारण प्रादेशिक सुरक्षा संगठन "न्यूनाधिक मात्रा में उपनिवेशवादी शासन की ओर प्रतिगमन" हो गए हैं। श्री नेहरू ने भी कहा था—"फौजी सन्धियाँ उपनिवेशों पर प्रभुत्व कायम रखने का जरिया बन रही हैं।" श्री लंका की भूतपूर्व प्रधानमन्त्री श्रीमती सिरिमावो भण्डारनायके ने घोषणा की थी— 'फौजी' सन्धियाँ एशिया और अफ्रीका की स्वतन्त्रता की नई भावना के विरुद्ध साम्राज्यवादी राष्ट्रों की साजिश की प्रतीक हैं।"

चौथे यदि यह मान लिया जाय कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की ५२वीं धारा प्रादेशिक संगठनों के लिए अनुमति प्रदान करती है तो प्रश्न उठता है कि टर्की जिस प्रकार नाटो सन्धि में शामिल है अथवा ब्रिटेन का सम्पूर्ण के साथ किधर से भौगोलिक सम्बन्ध है अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका सीटो सन्धि का क्योंकर सदस्य है। ६ दिसम्बर १९५६ को प्रधानमन्त्री श्री नेहरू ने भारतीय राज्य सभा को सम्बोधित करते हुए कहा था—

"मेरी विनम्र राय में इनमें से अधिकांश सन्धियाँ चार्टर के प्रतिकूल हैं। यू. एन. चार्टर में प्रादेशिक संगठनों की व्यवस्था की गयी है परन्तु उस किस्म के संगठनों की नहीं जिनका निर्माण हुआ है। क्षेत्र की ओर देखिए। मैं अटलांटिक क्षेत्र का समझ सकता हूँ। वहाँ भी एक सदस्य ऐसा है जिसका भूमध्य सागर के साथ सम्बन्ध है? उससे अटलांटिक का विस्तार होता महीद्र नियम देशों के साथ सम्बन्ध है। परन्तु मेरा विचार है कि अन्त में जहाँ है। टर्की का अटलांटिक से क्या सम्बन्ध है? की व्यवस्थाओं से मेल नहीं खाते और उनका परिणाम यह है कि अन्त में जहाँ तक अन्तराष्ट्र का सम्बन्ध है सुरक्षा में कोई वृद्धि नहीं होती अपितु उसके स्थान पर शीत युद्ध तथा भय में ही वृद्धि होती जाती है।"*

---

*"It is my humble opinion that many of these pacts are against the Charter of the U N The U N Charter provides for regional organizations but not of the type which have taken place. Look at the region I can understand the Atlantic region Even there a member of Mediterranean countries comes in. That extends

भारत के भूतपूर्व प्रतिरक्षा मंत्री श्री कृष्ण मेनन ने स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया था कि सीटो एक क्षेत्रीय संगठन नहीं कहा जा सकता। उन्हीं के शब्दों में—

"सीटो एक क्षेत्रीय संगठन नहीं है, बल्कि एक क्षेत्र के संरक्षण के लिए यह कुछ देशों का संगठन है। यह राज्यों की संरक्षण प्रणाली का आधुनिक रूप है। यह कुछ साम्राज्यवादी देशों तथा कुछ ऐसे देशों का संगठन है जो एक क्षेत्र को खतरे में बता कर उसके संरक्षण के लिए एक साथ मिल कर उसके संरक्षण के हामी हैं। हम भी उस क्षेत्र के अङ्ग हैं और हम कहना चाहते हैं कि हमें इस प्रकार के संरक्षण की आवश्यकता नहीं है। एक क्षेत्रीय संगठन के रूप में भी संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के अन्तर्गत इस प्रकार के फौजी गुट के लिए कोई स्थान नहीं है।

इस तरह स्पष्ट है कि आर्थिक एवं व्यापारिक विकास के लिए बनाए गए प्रादेशिक संगठनों को छोड़ कर सैनिक व सुरक्षा लक्ष्यों पर आधारित सभी प्रकार के प्रादेशिक एवं अन्य सैनिक संगठन अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिए घातक हैं, अतः इनका परित्याग किया जाना चाहिए। विगत १ वर्षों का इतिहास यह बताता है कि इन सैन्य संगठनों का व्यावहारिक महत्व संदेहास्पद है। १० वर्ष पहले रूस और अमेरिका एक दूसरे के उग्रतम विरोधी थे जबकि आज इन प्रतिरक्षा संगठनों के होते हुए भी एक-दूसरे के कुछ अधिक निकट आए हैं। पाकिस्तान चीन के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करके सीटो और सेन्टो संगठनों में दरार डाल चुका है। अमेरिका ने इन संगठनों को बनाया था साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए और पाकिस्तान ने साम्यवादी चीन से अपनी सांठगांठ जोड़ कर अमेरिका के मंसूबे को जबरदस्त आघात पहुँचा दिया है। अमेरिका ने पाकिस्तान को साम्यवाद का प्रतिरोध करने के लिए जो हथियार दिये थे उनका पाकिस्तान द्वारा सितम्बर १९६५ में भारत के विरुद्ध खुल्लमखुल्ला प्रयोग किया गया। यह घटना बताती है कि सैनिक संगठनों के सदस्य सैनिक कार्यवाही के समय और वैसे भी संगठन के उद्देश्यों के प्रति निष्ठावान रहें इसकी आशा करना सपनों की दुनिया में रहना है। प्रत्येक देश के अपने राष्ट्रीय हित होते हैं और कुछ राष्ट्र ऐसे होते हैं जो स्वयं के राष्ट्रीय हितों की भी परवाह न करते हुए अस्त्र और सैन्य बल का नंगा नाच करने में ही खुशी का अनुभव करते हैं। आज समय की पुकार है कि सैन्य संगठनों के स्थान पर निःशस्त्रीकरण की दिशा में आगे बढ़ते हुए 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त का सभी राष्ट्र अनुसरण करें। यदि

the Atlantic what has Turkey got to do with the Atlantic? But I think they are not in tune with the Charter ... ... the result is, in the balance you don't have greater security so far as armaments are concerned but you have cold war and fear"

—*Jawahar Lal Nehru*, Speech in Rajya Sabha on Dec. 9 1956.

"लोहा बजाने" की नीति पर ही चलते रहा जायगा तो यह निश्चित है कि मानवता तृतीय महायुद्ध के विस्फोट से नष्ट भ्रष्ट हो जायगी। 'संघर्ष मृत्यु-पथ है, सहयोग जीवन पथ"—यह विश्व नेताओं, राजनीतिज्ञों और सैन्य विशारदों पर निर्भर है कि वे संसार को किस पथ पर ले जाना चाहते हैं।

EXERCISES

1. Can Regionalism promote world peace ? Illustra... with reference to NATO and SEATO

   क्या क्षेत्रीयवाद विश्व-शान्ति को उन्नत बना सकता है ? नाटो और सीटो के संदर्भ में बताइए।

2. Describe the main provisions of the North Atlantic Treaty of 1949 and examine its compatibility with the United Nations Charter and its effects on Collective Security

   १६४९ की उत्तरी अटलान्टिक संधि की मुख्य व्यवस्थाओं का वर्णन कीजिए तथा स्पष्ट कीजिए कि संयुक्त राष्ट्र के चार्टर से इस संधि का औचित्य क्या है। इसका सामूहिक सुरक्षा पर क्या प्रभाव पड़ा

3. What is Pan Americanism ? What has been its effe... on world politics since 1 20 ?

   अखिल अमेरिकनवाद क्या है ? १६२० से विश्व राजनीति पर इस क्या प्रभाव रहा है ?

4. What do you know about European Common Mark... Examine its eff cts on world politics.

   यूरोपियन साझा बाजार के बारे में आप क्या जानते हैं ? विश्व राजनीति पर इसके प्रभाव की परीक्षा कीजिए।

5. Write short notes on the following —[a] Organization of American States (O A.S.), [b] Dunkirk Treaty [c] The Brussels Treaty 1948 [d] European Defence Community [E D C.] [e] U.S. Japanese Defence Pact [f] Warsaw Pact [g] Differen' Organizations of European Integration, [h] Baghdad Pact [i] South East Asian Treaty Organization—S.E.ATO [j] Balk n Pact [k] The ANZUS Pact, [l] Arab League [m] Organization of African Unity [n] The Soviet System of Collective Security 2, [o] CENTO

   निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये—

   (a) अमेरिकन राज्यों का संगठन (b) डनकर्क संधि (c) ब्रुसेल्स संधि १६४८ (d) यूरोपियन प्रतिरक्षा समुदाय (e) अमेरिका जापानी प्रतिरक्षा समझौता (f) वारसा पैक्ट (g) यूरोपियन एकीकरण के विभिन्न संगठन (h) बगदाद समझौता (i) सीटो

(j) बास्कान समझौता (k) अन्जुबस समझौता (l) अरब लीग (m) अमरीका की एकता का संगठन (n) सामूहिक सुरक्षा की सोवियत व्यवस्था (o) सेंटो।

6. Article 52 of the Charter of the United Nations provides for the creation of regional agreements for the maintenance of international peace and security Mention the regional agreements that have been created under this Article and examine briefly the nature of the work that is being done by them in the cause of international peace.

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद ५२ में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा कायम रखने के लिए प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण का प्रावधान है। उन क्षेत्रीय समझौतों का वर्णन कीजिए जिनकी रचना इस अनुच्छेद के अन्तर्गत हुई है और साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के नाम पर किए जाने वाले इनके कार्यों की प्रकृति की भी परीक्षा कीजिए।

7 "I am to say one thing with reference to SEATO or SEADO It is hardly a correct designation for an organization which has not much to do with Asia at all." (Nehru) Discuss.

"मुझे सीटो या सीडो के सम्बन्ध में एक बात कहनी है। वह एक संगठन के लिए, जिसे एशिया से कोई लेना-देना नहीं है एक उपयुक्त नाम नहीं है। (नेहरू) विवेचना कीजिए।

8 Do you agree that regional agreements for international peace and security are, at best, a 'necessary evil'?

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिए क्षेत्रीय संगठन एक आवश्यक बुराई है?

9 Give a critical estimate of any one of the military alliances (NATO SEATO or Warsa Pact) and its Warlike and peaceful possibilities

नाटो सीटो या वारसा पैक्ट में से किसी एक सैनिक संधि का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिये और इसकी युद्ध जैसी अथवा शान्तिपूर्ण सम्भावनाओं को बताइये।

7

राष्ट्रमंडल और भारत

(THE COMMONWEALTH OF NATIONS AND INDIA)

१ राष्ट्रमण्डल की प्रकृति
२ राष्ट्रमण्डल का ऐतिहासिक स्वरूप
प्रारम्भिक स्वरूप, द्वितीय महायुद्धोत्तर स्वरूप एवं वर्तमान स्वरूप
३ राष्ट्रमण्डल का संगठन
४ राष्ट्रमण्डल के उद्देश्य
५ राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्य
६ कोलम्बो योजना
७ भारत और राष्ट्रमण्डल
८ राष्ट्रमण्डल का भविष्य

'राष्ट्रमण्डल किसी कठोर व अव्यावहारिक कानूनी सिद्धान्त पर आधारित
नहीं है। यह एक प्रकार के आध्यात्मिक संगठन का प्रतीक है इसका
तत्व पृथक् स्वतन्त्र राज्यों का ऐसा संगठन है जो पारस्परिक
विश्वास, निष्ठा तथा समान आदर्शों के कारण आपस में
मित्रता के सूत्र द्वारा बंधे हुए हैं। यह ऐसे राष्ट्रों
का एक समुदाय है कि जो यह जानते हैं
कि किस प्रकार शांति व मैत्री के
वातावरण में रह कर अपने तथा मानव
समाज के हित व कल्याण के लिए
सहयोग किया जा सकता है और
जिनकी जीवन पद्धति
अनिवार्यतः विधि शासन
एवं मानव के मूल
अधिकारों के प्रति
आदर की भावनाओं
पर आधारित है।

—श्री आर्थर हेण्डरसन

ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल
राष्ट्रों के अव्यवस्थित
संग्रह से अधिक कुछ नहीं
है। इसमें विश्व के मामलों में
परस्पर संगति रखने की कोई कार्य
पद्धति नहीं है और न कोई सामान्य
जिम्मेदारियाँ हैं, और इनमें से कई राष्ट्र
एक दूसरे से झगड़ा भी करते रहते हैं। ये
राष्ट्र मिल कर एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति
उपस्थित करते हैं जिसे राष्ट्रमण्डल कहना
इस शब्द का उपहास करना होगा।'

—इकोनोमिस्ट

राष्ट्रमण्डल और भारत

(The Commonwealth of Nations and India)

राष्ट्र मण्डल की प्रकृति—राष्ट्रमण्डल (Commonwealth of Nations) का पुराना नाम ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल (British Commonwealth of Nations) है। यह एक विचित्र प्रकार का संगठन है जिसे न तो प्रादेशिक संधि अथवा संगठन कहा जा सकता है और न एक राज्य की संज्ञा ही दी जा सकती है। यह न राष्ट्र है न मैत्री-संधि और न ही एक संघ।

राष्ट्रमण्डल एक प्रादेशिक संगठन अथवा संधि इसलिए नहीं है क्योंकि यह "अत्यधिक बिखरा हुआ है और इसकी चालक शक्ति कभी-कभी व्यावहारिक कम लेकिन भावना मय अधिक होती है। जो सूत्र इसके सदस्यों को बांधते हैं वे एक साथ ही अत्यधिक ढीले और अनौपचारिक तथा अत्यधिक गहरी जड़ों वाले और परम्परागत हैं।"*

राष्ट्रमण्डल के बारे में १० जनवरी १९५१ को अपने एक भाषण में कनाडा के तत्कालीन प्रधानमन्त्री सेंट लॉरेंस ने कहा था—

"राष्ट्र मण्डल को एक राजनीतिक इकाई नहीं माना जा सकता है। यह एक संधि-व्यवस्था नहीं है। इसकी कोई सामान्य नीति नहीं है। विश्व-राजनीति की समस्याओं के बारे में राष्ट्रमण्डल के राष्ट्र पृथक्-पृथक निर्णय करते हैं, और उनमें कोई भी सदस्य स्वतन्त्र निर्णय के अपने अधिकार का परित्याग करने को तैयार नहीं है।

श्री सेंट लॉरेंस के विचार से बहुत कुछ मिलते-जुलते हुए विचार संयुक्त राज्य अमेरिका में तत्कालीन भारतीय राजदूत श्री जी० एल० मेहता ने ७ अप्रैल १९५४ को न्यूयार्क में दिये गये एक भाषण में अभिव्यक्त किये थे—

---

*"The Commonwealth is too scattered and its driving force is at times less practical than sentimental. The ties that bind its members are at once too loose and informal and too deep-rooted and traditional. While its members consult with each other regularly on many matters, they have deliberately avoided setting up elaborate machinery for commonwealth co-operation.

—*Palmer and Perkins* International Relations page 612.

'यह सब विदित है कि राष्ट्रमण्डल कोई वैधानिक संगठन नहीं है। यह कोई राज्योपरि संस्था भी नहीं है। यह एक ऐसा समुदाय है जिसके भीतर देशों का एक समूह अनुभव और कौशल के एक भण्डार में भाग लेता है। ऐसा नहीं है कि ये देश सदा एक दूसरे के साथ सहमत ही हों तथा साथ-साथ अपना मत दें अनेक अवसरों पर उन्होंने संयुक्त राष्ट्र संघ में अपने मतभेदों का परिचय दिया है। स्वतन्त्र और प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों के स्वतन्त्र समुदाय से सहज ही यह आशा की जा सकती है। उनमें से कोई भी देश इस बात के लिए तैयार नहीं है कि वह एक शिविर का अनुयायी या उपग्रह मात्र रह जाये। राष्ट्रमण्डल का एक महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग का रूप देने वाले दो तत्व हैं—उसके राष्ट्रों के बीच पारस्परिक आदर की भावना और समानता।

'इकोनोमिस्ट (Economist) के अनुसार ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल राष्ट्रों के एक अव्यवस्थित समूह से अधिक कुछ नहीं है। इसमें विश्व के मामलों में परस्पर संगति रखने की कोई कार्य-पद्धति नहीं है और न ही किसी प्रकार के सामान्य उत्तरदायित्व हैं। इसमें कई राष्ट्र एक दूसरे से झगड़ा भी करते रहते हैं। ये राष्ट्र मिल कर एक ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय पद्धति उपस्थित करते हैं जिसे राष्ट्रमण्डल कहना इस शब्द का उपहास करना होगा।"*

परन्तु इन सब बातों के होते हुए भी अर्थात् एक राष्ट्र या मैत्री संधि या संघ अथवा प्रादेशिक संगठन आदि के समान कोई भी सुदृढ़ आकार न रखते हुए भी यह स्वीकार करना होगा कि राष्ट्र मण्डल एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय मंच है जिसके निर्णयों तथा प्रस्तावों और निकट सहयोग का विश्व की समग्र राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ता है। राष्ट्र मण्डल अन्तर्राष्ट्रीय जगत की एक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली व्यवस्था है। यह एक 'आममार्ग' नहीं है प्रत्युत स्वेच्छापूर्ण सहयोग का प्रतीक है। यह एक ऐसा मंच है जिस पर विश्व के कुछ देश समय-समय पर एकत्रित होते हैं एक दूसरे के विचारों को जानने व समझने की चेष्टा करते हैं और जिन क्षेत्रों में निर्विवाद सहमति हो उनमें पारस्परिक सहयोग के लिए कार्यक्रम बनाते तथा उसे क्रियान्वित करते हैं। इस तरह यह कहना चाहिए कि राष्ट्र मण्डल के सदस्य कुछ समान भावों में विश्वास करते हैं और संसदीय प्रजातन्त्र की समान प्रणाली के भागीदार हैं। डा अप्पादोरय (Appadorai) के शब्दों में—

इन राष्ट्रों में एक प्रकार की मानसिक एकता (Like Mindedness) मिलती है। यह मानसिक एकता एक ऐसी उदार परम्परा पर आधारित है जिसमें स्वतन्त्रताओं धार्मिक सहिष्णुता और विधि की सर्वोच्चता में पूर्ण विश्वास सम्मिलित है और जिसमें प्रशासन का दैनिक पक्ष नागरिक प्राधिकारी (Civil Authority) के अधीन रहता है।"+

---

*Hass, Ernst B and Whiting, A.S. Dynamics of International Relations, p. 500.

+The Leader 9th July 1957

राष्ट्रमण्डल अनेक मतभेदों के बावजूद भी सहयोग का प्रतीक रहा है। पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) का यह लिखना अतिशयोक्तिपूर्ण नहीं है कि 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल संभवतः अन्तर्राष्ट्रीय समूहों में सर्वाधिक सफल रहा है।'*

राष्ट्रमण्डल का ऐतिहासिक विकास

प्रारम्भिक स्वरूप—राष्ट्रमण्डल उन देशों का संगठन है जो कभी अंग्रेजों के गुलाम रहे थे और स्वतन्त्रता प्राप्ति पर जिन्होंने ब्रिटेन से बराबरी का सम्बन्ध स्थापित कर लिया है। अतः 'अंग्रेजी साम्राज्य' 'अंग्रेजी राष्ट्र मण्डल' तथा 'राष्ट्र मण्डल' एक ही संस्था के नाम हैं जो आवश्यकतानुसार परिवर्तन के परिचायक हैं।

वर्तमान राष्ट्रमण्डल के बीज १९वीं शताब्दी तक में खोजे जा सकते हैं। संसार के इतिहास में एक ऐसा युग रहा था जब ब्रिटिश साम्राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था अर्थात् संसार का ऐसा कोई महाद्वीप न था—ऐसा कोई कोना न था जहां ब्रिटेन की सत्ता फैली हुई न हो। ब्रिटेन के अधीन आरम्भ से ही दो प्रकार के प्रदेश रहे थे—

(I) वे उपनिवेश अथवा प्रदेश जिनमें ब्रिटिश नागरिक एवं अन्य यूरोपियन जा कर बस गये थे और जो स्वयं को भाषा धर्म संस्कृति नस्ल तथा अन्य सब प्रकार से ब्रिटेन के साथ सम्बद्ध मानते थे। इनमें कनाडा, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड और आयरलैण्ड की गणना की जा सकती है। दक्षिणी अफ्रीका संघ के गोरे शासक भी ब्रिटेन के साथ इसी एकात्मकता का अनुभव करते थे।

(II) वे पराधीन देश जो ब्रिटेन के साथ न तो किसी प्रकार की एकता का अनुभव ही करते थे और न स्वयं को ब्रिटेन के साथ भाषा धर्म संस्कृति आदि से सम्बद्ध ही मानते थे। इन राष्ट्रों के मन में स्वतन्त्रता की अग्नि प्रज्ज्वलित थी और वे ब्रिटेन की अधीनता से मुक्त होने की चाह रखते थे। ऐसे देशों में भारत, सीलोन बर्मा मलाया सिंगापुर, उत्तरी बोर्नियो सारावाक नाइजीरिया युगांडा टांगानिका गोल्डकोस्ट कीनिया रोडेशिया न्यासालैण्ड साइप्रस अदन माल्टा सियरा लियोन आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

राष्ट्रमण्डल का प्रारम्भ १८८७ में महारानी विक्टोरिया की हीरक-जयन्ती के अवसर पर ब्रिटिश साम्राज्यवादियों के प्रतिनिधियों की

---

*"Although vast changes are occurring within it and its future is certain, the British Commonwealth of Nations has been probably the most successful of all international groupings. It will undoubtedly continue to exert a major influence in world affairs

—*Palmer and Perkins* International Relations page 749

अनौपचारिक बैठक से हुआ और कालान्तर में उसी बैठक ने आज स्वतन्त्र राष्ट्रों की साझेदारी का रूप धारण कर लिया। १८८७ के समान ही एक दूसरा अनौपचारिक सम्मेलन ओटावा में हुआ। इन सम्मेलनों में जिन प्रमुख बातों पर विचार किया गया वे इस प्रकार थीं—

(क) सुरक्षा एवं संचार-व्यवस्था पर विचार हुआ क्योंकि यह व्यवस्था राष्ट्रमण्डल को एक सूत्र में बांधने में सहायक थी।

(ख) ब्रिटेन के साथ व्यापार सम्बन्धी समस्या पर भी विचार हुआ।

(ग) यह भी निश्चय किया गया कि भविष्य में इस प्रकार के सम्मेलन समय-समय पर किये जाते रहें।

१८९४ के बाद अगला सम्मेलन एडवर्ड सप्तम के राज्यारोहण के अवसर पर सन् १९०२ में हुआ। इन सम्मेलनों से शनैः शनैः एक ऐसी पारिवारिक भावना उत्पन्न होने लगी कि जिससे राष्ट्रमण्डल का स्वरूप साकार होने लगा। १९०२ के बाद १९०७ में होने वाले सम्मेलन में (जो इम्पीरियल कान्फ्रेंस कहलाया) निम्नलिखित निर्णय लिये गये—

(i) यह सम्मेलन इम्पीरियल कान्फ्रेंस कहलायेगा और प्रति चौथे वर्ष हुआ करेगा।

(ii) इस प्रकार के सम्मेलनों में ब्रिटिश सरकार एवं स्वशासी उपनिवेश समान हित के प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया करेंगे।

(iii) इसके कार्य-संचालन के लिए एक स्थायी सचिवालय की स्थापना की जायगी (यह निर्णय कार्यान्वित नहीं हुआ और सम्बन्धित कार्य उपनिवेश कार्यालय द्वारा होता रहा)।

(iv) इम्पीरियल कान्फ्रेंस का एक उल्लेखनीय प्रभाव यह हुआ कि ब्रिटिश शासन में उपनिवेश मंत्री का एक पृथक विभाग स्थापित हो गया।

अगला सम्मेलन १९११ में सम्पन्न हुआ जिसमें यह मान लिया गया कि वैदेशिक मामलों में उपनिवेशों की सम्मति पर ध्यान दिया जाना चाहिए। ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों—कनाडा, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, न्यूफाउण्डलैण्ड, आयरलैण्ड और दक्षिणी अफ्रीका को इस समय तक शनैः-शनैः औपनिवेशिक स्वराज्य दे दिया और उनमें उत्तरदायी शासन की स्थापना भी कर दी। फिर भी १९११ तक उन्हें विदेश नीति, संधि करने, युद्ध आरम्भ करने या बन्द करने के क्षेत्र में कोई शक्तियां नहीं दी गयी थीं।

अगस्त १९१४ में ब्रिटेन ने अपने उपनिवेशों से बिना परामर्श लिए जर्मनी के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया हालांकि युद्ध के दौरान उनसे समय-समय पर परामर्श किया जाता रहा। १९१६ के सम्मेलन में आये हुए प्रधानमंत्री इम्पीरियल युद्ध मन्त्रिमण्डल की बैठक में शामिल हुए और यह निर्णय लिया गया कि इसकी बैठक प्रति वर्ष हो। इस बैठक में भारत सरकार का चुना हुआ प्रतिनिधि भी सम्मिलित हुआ और इस तरह भारत की औपनिवेशिक स्थिति बनाने को पहली बार स्वीकृति मिली। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर

प्रत्येक उपनिवेशों को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया गया जिससे उनके पृथक अस्तित्व की पुष्टि हो गयी।

१९२६ में ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल का स्वरूप निखरने लगा। इस वर्ष की इम्पीरियल कान्फ्रेन्स में यह स्वीकार कर लिया गया कि ब्रिटिश सरकार के अन्तगत उपनिवेशों को बराबर का दर्जा होगा अर्थात् उपनिवेशों को स्वतन्त्र रूप से अपने वैदेशिक मामलों का संचालन करने का अधिकार होगा परन्तु प्रत्येक संधि पर ब्रिटिश सम्राट या सम्राज्ञी की मुहर लगनी अनिवार्य होगी। बालफोर घोषणा में कहा गया कि "डोमिनियन ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वतंत्रता प्राप्त राष्ट्र हैं जो अपनी स्थिति में पूर्णतया समान तथा घरेलू या विदेश नीति में किसी भी तरह अधीन नहीं हैं। सम्राट के प्रति सामूहिक वफादारी के आधार पर वे संयुक्त हैं और ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के नाते एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।" इसी सम्मेलन में गवर्नर जनरल की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा गया कि "उपनिवेशों में गवर्नर जनरल सम्राट का प्रतिनिधि है जिसे उपनिवेशों के शासकीय मामलों के प्रशासन में सभी महत्वपूर्ण मुद्दों के सम्बन्ध में वैसी स्थिति प्राप्त है वैसी कि ग्रेट ब्रिटेन में सम्राट को प्राप्त है और यह कि वह ग्रेट ब्रिटेन की सरकार का या उस सरकार के किसी विभाग का प्रतिनिधि या एजेन्ट नहीं है।"

१९३० की इम्पीरियल कान्फ्रेन्स में यह बात स्वीकार की गयी कि उपनिवेशों के गवर्नर जनरल की नियुक्ति ब्रिटिश मंत्रिमण्डल की सलाह से नहीं प्रत्युत उपनिवेश के मंत्रिमण्डल की सलाह पर की जानी चाहिए। इसके बाद ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल के संबंध में एक अत्यधिक महत्वपूर्ण विधान १९३१ में पारित हुआ जिसे 'वेस्टमिनिस्टर विधान' (Statues of Westminister) कहा जाता है। वास्तव में राष्ट्रमण्डल का वैधानिक रूप से वास्तविक जन्म इसी वेस्टमिनिस्टर अधिनियम के द्वारा ही हुआ क्योंकि इसमें उन देशों के स्वशासन के अधिकार को स्वीकार किया गया जो राष्ट्रमण्डलीय देशों के नाम से जाने जाते थे। कनाडा आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका आदि ऐसे ही देश थे। वेस्टमिन्स्टर अधिनियम में इन देशों के सम्बन्ध में कहा गया था कि ये राष्ट्र "ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत स्वशासी जन समुदाय (Autohomous Communities) हैं हैसियत में बराबर हैं किसी भी प्रकार कोई एक सदस्य अपने आन्तरिक या विदेशी मामलों में दूसरे सदस्य के अधीन नहीं है यद्यपि ये सब मुकुट के प्रति समान निष्ठा से आबद्ध और स्वेच्छा से ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में सम्मिलित हैं।" यह स्मरणीय है कि वेस्टमिनिस्टर विधान की स्वीकृति से पूर्व ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल की व्यवस्था 'औपनिवेशिक नियम औचित्य विधान' (Colonial Laws Valibity Act 1865) के अनुसार की जाती थी जिसमें उपनिवेशों पर विभिन्न वैधानिक प्रतिबन्ध लगे हुए थे। उदाहरणार्थ १८६५ के इस अधिनियम के अनुसार उपनिवेशों द्वारा बनाया जाने वाला ऐसा प्रत्येक नियम अवैधानिक माना जाता था जो कि ब्रिटिश संसद द्वारा पारित नियमों के विरुद्ध हो। ब्रिटिश सम्राट किसी भी औपनिवेशिक विधान को रद्द कर सकता था। दूसरे शब्दों में उपनिवेशों की संसदें ब्रिटिश संसद के अधीनस्थ मानी जाती थीं। १९३१ के वेस्टमिनिस्टर

अधिनियम के अन्तर्गत उपनिवेशों की संसदें ब्रिटिश संसद के अधीन नहीं रहीं। इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि "ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल" (British Commonwealth of Nations) नाम का सर्वप्रथम आधिकारिक प्रयोग १६ अप्रैल १६१७ को जनरल स्मट्स द्वारा किया गया था।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर यह बात भली प्रकार स्पष्ट हो गयी कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य-राज्यों को स्वतंत्र रूप से यह निर्णय करने का अधिकार है कि वे युद्ध में भाग लेना चाहते हैं या नहीं। परन्तु स्मरणीय है कि यह अधिकार राष्ट्र मण्डल के केवल स्वतंत्र राज्यों को ही दिया गया था भारत और बर्मा जैसे पराधीन राष्ट्रों को नहीं। फिर भी बिना किसी वैधानिक बन्धन के यह बात स्पष्ट थी कि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्य परस्पर मित्र हैं और वे एक दूसरे के साथ बंधे हुए हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पश्चात्—द्वितीय महायुद्ध के अन्त तक ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल प्रधानतः कुछ श्वेत देशों का समूह था किन्तु द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद राष्ट्रमण्डल के इतिहास में एक नव युग का प्रारम्भ हुआ। महायुद्ध के बाद ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न एशियाई और अफ्रीकी भाग स्वतन्त्र हुए और उनमें से अधिकांश ने ब्रिटिश राष्ट्र मण्डल का सदस्य बने रहना पसन्द किया। १६४६ में जब भारत ने एक गणतन्त्र बनाने का निश्चय किया और ब्रिटिश राज्यवंश के प्रति निष्ठा से स्वयं को मुक्त रखते हुए भी ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में बने रहने की सहमति दे दी तब 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' के स्थान पर केवल 'राष्ट्रमण्डल' नाम कर देने का निश्चय किया गया। यह बात उल्लेखनीय है कि जहाँ १६४७—४८ में भारत पाकिस्तान श्रीलंका आदि ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी राष्ट्रमण्डल का सदस्य रहना स्वीकार कर लिया वहाँ बर्मा और दक्षिणी आयरलैण्ड इसकी सदस्यता से अलग हो गये। १६४७ में 'बर्मा स्वतन्त्रता विधेयक' पर भाषण करते हुए तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री एटली ने कहा 'हमारी दृष्टि से राष्ट्र अपनी शासन प्रणाली निश्चित करने के लिए स्वतन्त्र हैं। ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल राष्ट्रों का बंधन-मुक्त संघ है न कि अधीनस्थ राष्ट्रों का संकलन मात्र। अतएव जब बर्मी जनता के निर्वाचित प्रतिनिधि स्वतन्त्र रहने का निश्चय करें तो मैं समझता हूं कि सम्राट के शासन का कर्तव्य है कि उनके निश्चय को कार्यान्वित करने के लिए कार्यवाही की जाए।"

भारत पाकिस्तान श्रीलंका आदि के राष्ट्र मण्डल में बने रहने से इसके स्वरूप में आमूल परिवर्तन हो गया क्योंकि अब तक इसके सदस्य गोरे राष्ट्र (White Nations) और सभी उपनिवेश थे जबकि ये नए राष्ट्र इस प्रकार के नहीं थे। इस घटना को सर आइवर जैनिंग्स (Sir Ivor Jennings) ने "The Commonwealth in Asia" के नाम से सम्बोधित किया है। इन राष्ट्रों के राष्ट्र मण्डल के प्रवेश के बाद नवीन स्वतन्त्रता प्राप्त अन्य अफ्रीकन और एशियाई राष्ट्रों ने भी राष्ट्रमण्डल में बने रहने का निर्णय किया जिसके फलस्वरूप आज इसमें गोरे राष्ट्रों का

मत्पमत रह गया है और अफ्रीका तथा एशिया के अश्वेत राष्ट्र (Non-white Nations) इसके निर्णयों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।

वर्तमान स्वरूप—राष्ट्रमण्डल के ऐतिहासिक विकास की इस क्रमिक पृष्ठभूमि के उपरान्त यह स्पष्ट है कि आज राष्ट्रमण्डल ब्रिटिश संविधान की भाँति ही एक विकसित संगठन है जिसके सदस्य लगभग वे समस्त राज्य हैं जो अतीत में ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन थे। केवल बर्मा और दक्षिणी आयरलैण्ड ही इसके अपवाद हैं। जहाँ इस संगठन का नाम पहले 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' था वहाँ इसे अब केवल 'राष्ट्रमण्डल' के नाम से सम्बोधित किया जाता है और सदस्यता सम्बन्धी इसके स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है। ब्रिटिश सम्राट अब स्वतन्त्र सदस्य राज्यों के इस मुक्त समठन (Free Association of Free Member Nations) का प्रतीक (Symbol) मात्र है। अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि राष्ट्रमण्डल के सदस्यों का आधार समानता व स्वतन्त्रता है और इस संगठन की सदस्यता उनकी सार्वभौमिकता पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं लगाती। राष्ट्रमण्डल के बदलते हुए स्वरूप की व्याख्या तत्कालीन भारत उपसचिव श्री आर्थर हैण्डरसन ने १० जुलाई को 'हाउस आफ कामन्स' में इस प्रकार की थी— 'राष्ट्रमण्डल किसी प्रकार व अव्यावहारिक कानूनी सिद्धान्त पर आधारित नहीं है। यह एक प्रकार के आध्यात्मिक संगठन का प्रतीक है इसका तत्व कुछ स्वतन्त्र राज्यों का ऐसा संगठन है जो पारस्परिक विश्वास निष्ठा तथा समान भावनाओं के कारण आपस में मित्रता के सूत्र द्वारा बंधे हुए हैं। यह ऐसे राष्ट्रों का एक समुदाय है जो यह जानते हैं कि किस प्रकार शान्ति व मैत्री के वातावरण में रह कर अपने तथा मानव समाज के हित व कल्याण के लिए सहयोग किया जा सकता है और जिनकी जीवन पद्धति अनिवार्यतः विधि-शासन (Rule of Law) एवं मानव के मूल अधिकारों के प्रति आदर की भावनाओं पर आधारित है।"

यह एक ऐसा संगठन है जिसकी स्थापना किसी संविधान संधि या समझौते द्वारा नहीं हुई है। इसका अपना कोई लिखित नियम-कानून आदि भी नहीं है। इसकी सदस्यता में न तो किसी प्रकार के अधिकार हैं और न ही किसी प्रकार के उत्तरदायित्वों की बात है। एक सैनिक संगठन के समान इसके सदस्यों के लिए युद्ध काल में एक दूसरे की सहायता करना आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्रता और भाईचारे की इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था का उदाहरण इतिहास में प्राप्त नहीं होता। इसमें सभी सदस्यों को समान समझा जाता है तथा सभी निर्णय सामान्य हित को ध्यान में रख कर सामान्य मत के आधार पर ही लिए जाते हैं। ब्रिटेन को इस संस्था में कोई प्राथमिकता नहीं दी गयी है। फिर भी यह कहा जा सकता है कि ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डल के सहारे अपने हितों को सुरक्षित बनाये रखने का एक सफल एवं कुशल प्रयास किया है। साम्राज्य के समय जिन देशों से ब्रिटेन के आर्थिक राजनीतिक सामाजिक एवं अन्य हित सम्बद्ध हो गये थे उनको एकाएक ही तोड़ देना

न तो सम्भव था और न उपयोगी ही। अतः राष्ट्र मण्डल ने ब्रिटेन तथा उसके अतीत साम्राज्य के बीच एक कड़ी का काम किया है।

राष्ट्रमण्डल की यह महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसके सदस्य राष्ट्रों में देश नस्ल भाषा और संस्कृति सम्बन्धी किसी प्रकार की सादृश्यता का होना आवश्यक नहीं है किन्तु फिर भी उनमें सबके हितों की एकता सामूहिक लक्ष्य है। इसीलिए राष्ट्रमण्डल के बारे में यह कहा जाता है कि "विभिन्नताओं में ही इसकी एकता निहित है" (Its Unity Lies in Diversities) और यह भी कि इसकी शक्ति इसकी कमजोरियों में ही निहित है" (Its Strength Lies in Its Essential Weakness)। राष्ट्र मण्डल के राज्यों की एक बड़ी पहचान यह है कि इनके राजदूत एक दूसरे के देश में 'उच्चायुक्त' (High Commissioner) कहे जाते हैं। साथ ही राष्ट्र मण्डलीय देश एक दूसरे के नागरिकों को अपने यहाँ विशिष्ट प्रकार की सुविधायें (Preferential Treatment) प्रदान करते हैं।

राष्ट्रमण्डल राजनीतिक एकता के सूत्र में बंधा हुआ नहीं है। इसके सभी राष्ट्र स्वतन्त्र और समान हैं। इनमें सम्राट् अथवा साम्राज्ञी के प्रति किसी प्रकार की वफादारी होना जरूरी नहीं है हालांकि ब्रिटिश सम्राट या साम्राज्ञी ही राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष (Head) होता या होती है और इसके सम्मेलन प्रायः ब्रिटेन में ही होते हैं। राष्ट्रमण्डल का प्रत्येक सदस्य राष्ट्र अपनी इच्छानुसार राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अनुसरण करता है। ये सदस्य राष्ट्र एक दूसरे के साथ अपने पारस्परिक सम्बन्धों में पूर्णतः सार्वभौम व स्वतंत्र होते हैं यद्यपि आशा नहीं की जाती है कि उनमें मैत्री-पूर्ण सम्बन्ध बने रहें। राष्ट्रमण्डल के अधिकांश राज्य प्रजातन्त्रात्मक हैं किन्तु साथ ही पाकिस्तान जैसा तानाशाही प्रवृत्ति का राष्ट्र भी है जहाँ स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्तों का कोई मूल्य नहीं है और धर्म के नाम पर खून की होली खेलना सिखाया जाता है।

राष्ट्रमण्डल में किसी प्रकार के प्रस्ताव नहीं पारित किये जाते। न इसका कोई महासचिव है और न ही केन्द्रीय कार्यालय। प्रत्येक सदस्य राज्य अपने यहाँ उससे सम्बन्धित एक विभाग रखता है। जिसका काम दूसरे सदस्य राज्यों के साथ सम्पर्क बनाये रखना है। वस्तुतः यह कहना उपयुक्त होगा कि राष्ट्रमण्डल एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन है जिसका ध्येय सम्पर्क और जानकारी प्राप्त करना है। इस विषय में २८ जुलाई १९५० को तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एटली ने कहा था—

"जो विषय राष्ट्रमण्डल के समस्त सदस्य राज्यों के हित की दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं उन पर पूर्णतया सम्पर्क स्थापित किया जाता है तथा परामर्श होता है और यह चेष्टा की जाती है कि किसी सर्वसम्मत नीति का अनुसरण किया जा सके। बहुत से मामलों में राष्ट्रमण्डल के देशों को बराबर जानकारी दी जाती रहती है परन्तु बहुत से ऐसे विषय हैं जिनके बारे में किसी प्रकार की समन्वयात्मक नीति की आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार यह सम्भव नहीं है कि प्रत्येक विषय में राष्ट्रमण्डल के देशों की एक

ही नीति हो यह राष्ट्रमण्डल की उस प्रकृति के विपरीत है जो कालान्तर में उसके विकास के परिणामस्वरूप सहज ही विकसित हुई है।"

राष्ट्रमण्डल का संगठन—राष्ट्र मण्डल के तीन प्रमुख अङ्ग हैं—

(i) मुकुट (Crown)

(ii) राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन (Commonwealth Premiers Conference) एवं

(iii) राष्ट्रमण्डलीय सम्बन्ध कार्यालय (Commonwealth Relations Office)

ब्रिटिश मुकुट राष्ट्रमण्डल का प्रमुख अङ्ग है जिसे सभी सदस्य राज्य राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में स्वीकार करते हैं यद्यपि इससे मुकुट को सदस्य राज्यों के सम्बन्ध में कोई वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं है। मुकुट अथवा सम्राट या साम्राज्ञी केवल प्रतीक के रूप में राष्ट्रमण्डल का अध्यक्ष माना जाता है।

राष्ट्र मण्डल का दूसरा और सर्वाधिक प्रभावशाली अङ्ग राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन है। इसका अधिवेशन समय-समय पर लंदन में ब्रिटिश प्रधानमन्त्री की अध्यक्षता में होता है। द्वितीय महायुद्ध के बाद पहला राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन १९४६ में हुआ था। उसके बाद १९४८ १९४९, १९५१ १९५३ १९५५, १९५६, १९५७ १९६० १९६२ और १९६४ में ये सम्मेलन हुए। १९६४ के सम्मेलन में भारत की ओर से तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री जाने वाले थे किन्तु बीमारी के कारण वे नहीं जा सके। अतः उनकी अनुपस्थिति में भारत का प्रतिनिधित्व तत्कालीन वित्त मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णामाचारी और सूचनामन्त्री श्री इन्दिरा गांधी ने किया। इस सम्मेलन में भारत के दृष्टिकोण को व्यक्त करते हुए कहा गया—"भारत कुछ अफ्रीकी देशों के इस विचार से सहमत नहीं है कि राष्ट्रमण्डल को एक औपचारिक संस्था का रूप दे दिया जाय और इसके लिए एक स्थायी सचिवालय की स्थापना हो। राष्ट्रमण्डल का वर्तमान औपचारिक रूप ही पूर्ण विचार विनिमय के लिए उपयुक्त है। भारत यह नहीं चाहता है कि राष्ट्रमण्डल श्वेत और अश्वेत दो गुटों में विभाजित हो जाय। भारत की राय में इस प्रकार के विभाजन से राष्ट्रमण्डल की उपयोगिता बिल्कुल नष्ट हो जायगी।"

इसके बाद १७ से २५ जून १९६५ में राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन हुआ जिसमें तीन नये सदस्यों माल्टा गाम्बिया और जाम्बिया ने भी भाग लिया। इस सम्मेलन के द्वारा किए गये मुख्य कार्य तीन थे—प्रथम, वियतनाम में शान्ति स्थापना की दृष्टि से एक शान्ति समिति बनायी गई जिसके अध्यक्ष ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री हैराल्ड विल्सन बने। इस समिति का प्रधान कार्य यह रखा गया कि यह वियतनाम-समस्या से सम्बन्धित राज्यों से विचार विनिमय करके वियतनाम में शान्ति-स्थापना के प्रयास करे। दूसरे, रोडेशिया में उत्पन्न एक संवैधानिक संकट पर विचार किया गया। इस बात को बड़ा गम्भीर समझा गया कि वहाँ स्मिथ सरकार ने एकतरफा अपनी

ओर से ही अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जो प्रत्येक दृष्टि
से एक गैर-कानूनी कार्य था। तीसरे, पृथक रूप से ब्रिटेन में एक राष्ट्र
मंडलीय सचिवालय की स्थापना की गई और इसका अध्यक्ष एक कनाडियन
राजनीतिज्ञ को नियुक्त किया गया।

१९६५ के बाद रोडेशियायी प्रश्न पर पुनः विचार के लिये सितम्बर
१९६६ में पुनः राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलन हुआ जिसमें सरदार स्वर्णसिंह ने
भारत का प्रतिनिधित्व किया। इस सम्मेलन में यह निर्णय किया गया कि
ब्रिटेन द्वारा रोडेशिया की स्वतन्त्रता को मान्यता वहाँ बहुमत की सरकार
बनने पर ही दी जानी चाहिये और वर्तमान अल्पमत की सरकार को
विफल करने के लिये उसके विरुद्ध सभी आवश्यक प्रतिबन्ध लगाने चाहिये।

राष्ट्र मण्डलीय सम्बन्ध कार्यालय जो कि राष्ट्रमण्डल का दीघर
अङ्ग है लन्दन में स्थित है और विभिन्न राष्ट्रमण्डलीय देशों में निरन्तर
सम्पर्क स्थापित किये जाने का कार्य करता है।

यह बात उल्लेखनीय है कि राष्ट्रमण्डल के अन्य प्रकार के और भी
अनेक सम्मेलन सदस्य राष्ट्रों में विभिन्न क्षेत्रों में सहयोग स्थापित करने की
दृष्टि से होते रहते हैं। उदाहरणार्थ राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत शिक्षा एवं
विज्ञान विशेषज्ञों के अधिक सम्मेलन हुए हैं। इसके अतिरिक्त विगत पंद्रह वर्षों
में राष्ट्रमण्डलीय देशों के वित्तमन्त्रियों के भी पांच सम्मेलन हो चुके हैं।
सितम्बर १९६४ में क्वालालम्पुर में होने वाले अन्तिम सम्मेलन में भारत
के तत्कालीन वित्तमन्त्री श्री कृष्णामाचारी ने यह महत्वपूर्ण प्रस्ताव रखा था
कि अमीर एवं गरीब देशों की खाई पाटने की दिशा में अगले वर्ष के लिये
बढ़ा हुआ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा-कोष केवल स्वर्ण में लेना जरूरी नहीं होना
चाहिये। अफ्रीकन देशों के प्रतिनिधियों द्वारा भी आर्थिक सहायता बढ़ाने के
सम्मेलन में अनेक प्रस्ताव रखे गये।

राष्ट्रमण्डल के उद्देश्य—राष्ट्रमण्डल के स्वरूप उसकी प्रकृति आदि के
वर्णन से यह भली प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्रमण्डल उन विभाजित हुई सरकारों
का एक ऐसा समूह है जो ब्रिटिश मुकुट को स्वेच्छापूर्ण सहयोग के प्रतीक के
रूप में राष्ट्रमण्डल का प्रधान अथवा अध्यक्ष मानते हैं कुछ समान आदर्शों
में विश्वास करते हैं और इन आदर्शों को पाने के लिये तथा पारस्परिक
सहयोग को बढ़ाने के लिये नियमित विचार-विमर्श के तरीके अपनाने के लिये
तैयार हैं। राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों के बीच परस्पर कोई एकता नहीं
और न ही अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने हेतु इसके कोई निश्चित लक्ष्य या
ध्येय हैं। फिर भी सामान्यतः यह माना और कहा जाता है कि इसके सदस्य
राज्यों में कुछ विषयों पर प्रायः सहमति हो जाती है। जिनसे इसके निम्न
लिखित उद्देश्य प्रकट होते हैं—

(i) राष्ट्रमण्डल के प्रायः सभी सदस्य राज्य प्रजातंत्र के आदर्श एवं
मौलिक मानवीय अधिकारों की प्राप्ति (*Defence of Democracy and Basic Human Rights*) का उद्देश्य स्वीकार करते हैं। यद्यपि
राष्ट्रमण्डल में पाकिस्तान जैसा तानाशाही प्रवृत्ति वाला राष्ट्र भी है तथापि
उसने भी भारत के साथ मिल कर मानवी अधिकारों की रक्षा के लिए

किसी अफ्रीकन सरकार की रंगभेद-नीति (Apartheid Policy) का तीव्र विरोध किया है।

(ii) बाहरी आक्रमण के विरुद्ध सामान्य सुरक्षा (Common Defence against External Threats) भी इसका एक महत्त्वपूर्ण उद्देश्य अथवा आदर्श माना जा सकता है यद्यपि इस बारे में इसके संमस्त सदस्य राष्ट्रों के अपने पृथक विचार और व्यवहार हैं। आशा यही की जाती है कि सदस्य राष्ट्र किसी प्रकार की गलतफ़हमी उत्पन्न न करते हुए परस्पर सहयोग की दिशा में प्रयत्न जारी रखेंगे।

(iii) सदस्य राष्ट्रों का एक यह भी उद्देश्य अथवा आदर्श है कि राष्ट्रमण्डल-परिवार का होने के कारण वे सभी आर्थिक कल्याण एवं सामान्य हित (Economic Wellbeing and Common Welfare) के लिए अग्रसर होंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रमण्डल परिवार के सदस्य राज्य विभिन्न प्रकार के सम्मेलन करते हैं और सामान्य हितों की नीतियों का निर्माण करने का प्रयास करते हैं। इसी उद्देश्य की पूर्ति से प्रेरित होकर सदस्य राष्ट्रों के प्रधानमन्त्री वित्तमन्त्री शिक्षामन्त्री व्यापारमन्त्री आदि समय-समय पर मिलते रहते हैं। ब्रिटेन द्वारा यूरोपीय साझा बाजार (European Common Market) में सम्मिलित होने की इच्छा पर सभी राष्ट्रों से मंत्रणा की गई थी ताकि राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों के सामान्य हितों की रक्षा की जा सके। कोलम्बो-योजना (Colombo-Plan) राष्ट्रमण्डलीय राज्यों के आर्थिक कल्याण की एक महत्त्वपूर्ण योजना है जिसे सफल रूप से कार्यान्वित किया जा रहा है।

राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्य—२६ मई १९६६ तक राष्ट्रमण्डल के सदस्य राज्यों की संख्या २१ थी। यह उल्लेखनीय है कि इन सदस्य राज्यों में एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का प्रबल बहुमत है और उनके रंगभेद नीति की उग्र आलोचना से क्षुब्ध होकर ३१ मई १९६१ को दक्षिण अफ्रीका की गोरी सरकार ने राष्ट्रमण्डल का परित्याग कर दिया था। राष्ट्रमण्डल के वर्तमान सदस्य इस प्रकार हैं—

१ कनाडा	२ आस्ट्रेलिया	३ न्यूजीलैण्ड
४ उत्तरी आयरलैण्ड	५ भारत	६ पाकिस्तान
७ श्रीलंका	८ मलेशिया	९ सिंगापुर
१० घाना	११ जम्बीया	१२ मलावी
१३ केनिया	१४ नाईजीरिया	१५ तनजानिया
१६ सियरा लीयोन	१७ गेम्बीया	१८ युगाण्डा
१९ जंजीबार	२० साइप्रस	२१ माल्टा

२२ जमैका और ट्रिनीडाड और २३ टोबागो।

उपरोक्त २३ सदस्यों के अतिरिक्त ग्रेट ब्रिटेन तो स्वतः ही राष्ट्रमण्डल का सदस्य है ही।

राष्ट्रमण्डल की संस्थायें—राष्ट्रमण्डलीय देशों के समय-समय पर विभिन्न प्रकार के सम्मेलन तो होते ही रहते हैं इनके अतिरिक्त सदस्य राज्यों

में पारस्परिक सहयोग के लिये, इसके अन्तर्गत कुछ स्थायी संस्थायें भी कार्य कर रही हैं। इनमें से इन संस्थाओं के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं—

१ राष्ट्रमण्डलीय संसदीय संघ—इसके तत्वावधान में राष्ट्रमण्डल के सदस्य राष्ट्रों के संसद सदस्यों के सम्मेलन हुए हैं।

२ राष्ट्रमण्डलीय कृषि ब्यूरो—इसके द्वारा सदस्य राष्ट्रों को उन्नत कृषि सम्बन्धी सूचना व परामर्श दिया जाता है।

३ राष्ट्रमण्डलीय आर्थिक सलाहकार परिषद्—इसके द्वारा सदस्य राष्ट्रों को आर्थिक उन्नति सम्बन्धी विषयों पर महत्वपूर्ण सलाह उपलब्ध होती है।

कोलम्बो योजना (Colombo Plan)—यह कहा जा चुका है कि राष्ट्रमण्डल मैत्री विश्वास स्वतंत्र इच्छा तथा शान्ति की भावना पर आधारित एक ऐसा मानवीय संगठन है जिसका प्रमुख लक्ष्य सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास को प्रोत्साहित करना है। १९४९ के बाद से ही राष्ट्रमण्डल द्वारा भारत एवं अन्य सदस्य राष्ट्रों के आर्थिक विकास की दिशा में जो प्रयत्न किये गये हैं उनमें कोलम्बो योजना सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। इस योजना का प्रारम्भ १९५० में किया गया था। जनवरी १९५० में आस्ट्रेलिया कनाडा, श्रीलंका भारत न्यूजीलैण्ड, पाकिस्तान और ग्रेट ब्रिटेन के विदेशमंत्री दक्षिणी तथा दक्षिणी-पूर्वी एशिया के विशाल क्षेत्र में रहने वाले करोड़ों व्यक्तियों के राजनीतिक आर्थिक और मनोवैज्ञानिक समस्याओं पर विचार करने के लिए कोलम्बो में एकत्रित हुए। उन्होंने इस बात पर सहमति प्रकट की कि यदि इन क्षेत्रों में राजनीतिक स्थायित्व लाना है और विश्व-अर्थव्यवस्था में संतुलन स्थापित करना है तो इन क्षेत्रों का आर्थिक विकास करना ही होगा। इस निश्चय के परिणामस्वरूप इस क्षेत्र के आर्थिक विकास की योजनाओं पर विचार करने के लिए एक समिति नियुक्त की गई जिसने इस क्षेत्र के आर्थिक विकास के लिए जुलाई १९५१ से प्रारम्भ होने वाले ६ वर्षीय कार्यक्रम का सुझाव दिया और इस सम्बन्ध में राष्ट्रमण्डलीय और राष्ट्रमण्डल के बाहर के विभिन्न देशों के सुझाव आमंत्रित किए। सितम्बर में योजना को अन्तिम रूप दे दिया गया और २८ नवम्बर को 'कोलम्बो योजना' के नाम से इसे प्रसारित किया गया। यह १ जुलाई, १९५१ से प्रारम्भ होने वाली एक ६ वर्षीय योजना थी जिसे बाद में बढ़ाया जाता रहा।

कोलम्बो योजना में इस बात पर बल दिया गया कि योजना में भाग लेने वाले देशों के द्वारा अपनी ओर से अधिकतम योगदान दिया जाना चाहिये और बाहरी सहायता नितान्त आवश्यक होने पर ही ली जानी चाहिये। योजना का मूल उद्देश्य पूंजी एवं तकनीकी ज्ञान की ऐसी सुविधायें उपलब्ध कराना है जिनके आधार पर निजी साहस के अन्तर्गत आर्थिक विकास किया जा सके। इसके अन्तर्गत कृषि-कार्यक्रमों को प्राथमिकता दी जाती है।

कोलम्बो योजना को प्रारम्भ में राष्ट्रमण्डलीय योजना के रूप में आरम्भ किया गया था लेकिन शीघ्र ही इस योजना का उसके मौलिक भौगोलिक क्षेत्र से विस्तार हो गया। १९५९ तक उत्तरी वियतनाम को छोड़ कर दक्षिण-पूर्वी एशिया के सभी देश इसके सदस्य हो गये। जापान और अमेरिका भी इस योजना में शामिल हो गए। इस योजना से सम्बद्ध सब १७ देशों का विवरण नीचे लिखे अनुसार है—

सन्	कोलम्बो योजना के सदस्य देश	
	क्षेत्र के भीतर के देश (Inside Area)	क्षेत्र के बाहर के देश (Out-side Area)
१९५०	भारत	ग्रेट ब्रिटेन
	पाकिस्तान	आस्ट्रेलिया
	श्रीलंका	कनाडा
	मलाया	न्यूजीलैंड
	सिंगापुर	
	सारावाक	
	उत्तरी बोर्नियो	
१९५१	दक्षिणी वियतनाम	अमेरिका
	कम्बोडिया	
	लाओस	
१९५२	बर्मा	
	नेपाल	
१९५३	इन्डोनेशिया	
१९५४	थाईलैण्ड	जापान
	फिलीपाइन	

कोलम्बो योजना के सदस्य देशों की प्रति वर्ष होने वाली बैठकों में परस्पर विचार-विमर्श किया जाता है। इस योजना के अन्तर्गत न केवल राष्ट्रों को आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता दी जाती है बल्कि कभी-कभी पूंजी लगा कर भी सदस्य देशों के कार्यों को सम्पन्न किया जाता है। उदाहरणार्थ पाकिस्तान में बांध की सहायतार्थ कनाडा ने ६१,२०० ००० डालर पूंजी लगायी। भारत में दुर्गापुर के इस्पात कारखाने के लिए ब्रिटेन द्वारा १५,००० ००० डालर की सहायता इसी योजना के अन्तर्गत दी गयी। कोलम्बो योजना में सन् १९५० से १९६० तक कुल ८०० करोड़ डालर का सहायता कार्यक्रम अपनाया गया।

कोलम्बो योजना वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की दृष्टि से सहयोग की प्रतीक है। इसके अन्तर्गत प्रायः सभी सहायता प्राप्त देशों में खाद्यान्नों की उपज में वृद्धि हुई है। अविकसित राष्ट्रों को ऋण व औद्योगिक सामग्री की उपलब्धि हुई है और वहां के विद्यार्थियों को विदेशों में अध्ययन हेतु छात्र-वृत्तियां मिली हैं। इस योजना की सर्वाधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके

द्वारा पारस्परिक सहायता-वृत्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला है। भारत द्वारा इसी के अन्तर्गत नेपाल आदि छोटे पड़ोसी राष्ट्रों को सहायता देना स्वीकार किया गया है जबकि वह स्वयं अन्य राष्ट्रों से सहायता प्राप्त करता है।

भारत और राष्ट्रमण्डल
(India and the Commonwealth of Nations)

राष्ट्रमण्डल में भारत के प्रवेश पर उठायी गई आपत्तियाँ—१९४७ में जब भारत स्वतंत्र हुआ तब यह प्रश्न उठा कि भारत राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने अथवा नहीं। अनेक नेताओं द्वारा भारत के राष्ट्रमण्डल में प्रवेश का विभिन्न आधारों पर तीव्र विरोध किया गया—

प्रथम, यह कहा गया कि राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनना भारत के आत्म सम्मान के लिए एक कलंक का टीका होगा क्योंकि जिस देश ने हमें सैकड़ों वर्षों तक दास बनाये रखा उससे सम्बन्ध बनाये रखना और उसके सम्राट (British Crown) को अध्यक्ष स्वीकार करना (चाहे नाममात्र के लिए ही) दास मनोवृत्ति का परिचायक है। आलोचकों ने कहा कि ब्रिटिश राष्ट्र ने सैकड़ों वर्षों तक भारत का शोषण किया और उसके साथ भारतीयों को एक लम्बा स्वातन्त्र्य संघर्ष करना पड़ा तथा उस राष्ट्र ने भारतीयों पर अत्याचार करने में एवं निर्दयतापूर्ण एवं बर्बरतापूर्ण व्यवहार करने में कोई कसर न छोड़ी अतः उसकी ही अध्यक्षता में स्थापित राष्ट्रमण्डल की सदस्यता ग्रहण करना परतंत्रता की अभिव्यक्ति नहीं है।

दूसरे, राष्ट्रमण्डल के अधिकांश सदस्य-राज्यों की सभ्यता व संस्कृति ब्रिटेन से मेल खाती है (१९४७ तक राष्ट्रमण्डल के अधिकांश सदस्य राज्य वे ही थे जिनमें गोरी जातियाँ निवास करती थीं। एशिया और अफ्रीकन राष्ट्रों की बहुलता बाद में हुई थी)। ऐसी स्थिति में भारत का राष्ट्रमण्डल में रहना एक अस्वाभाविक सम्बन्ध कायम रखना होगा।

तीसरे यह कहा गया कि आर्थिक दृष्टि से भी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत पर ब्रिटेन पूंजीपतियों का दबाव बना रहेगा। यह तर्क दिया गया कि राष्ट्रमण्डल से प्राप्त होने वाले लाभ बिना उसकी सदस्यता के भी प्राप्त हो सकते हैं, जबकि इसकी सदस्यता के कारण भारत को एशिया और यूरोप के स्वतंत्र राष्ट्रों के साथ अपने व्यापारिक सम्बन्धों के विकास में कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

चौथे यह तर्क उपस्थित किया गया कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत की स्वतंत्र विदेश नीति के विकास में बाधा पड़ सकती है और प्रत्यक्ष न सही अप्रत्यक्ष रूप में भारत की प्रभुसत्ता सीमित होती है।

भारत सरकार का राष्ट्रमण्डल में प्रवेश का निश्चय—परन्तु भारतीय सरकार ने इन तर्कों को स्वीकार नहीं किया और राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहना ठीक समझा। कांग्रेस ने राष्ट्रमण्डल के प्रति अपने नवीन दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए १९४८ के जयपुर अधिवेशन में पारित एक प्रस्ताव में कहा—

"पूर्ण सर्वप्रभुता की प्राप्ति और भारत में गणतंत्र की स्थापना को दृष्टि में रखते हुए जो कि विश्व के राष्ट्रों में भारत को उचित स्थान प्रदान करते हैं ब्रिटिश साम्राज्य और राष्ट्रमण्डल के साथ उसके वर्तमान सम्बन्धों में परिवर्तन करना होगा— भारत फिर भी दूसरे देशों के साथ वे सब सम्बन्ध बनाये रखने की इच्छा रखता है जो उसकी स्वाधीनता एवं स्वतंत्र कार्यों में बाधक सिद्ध नहीं होंगे और कांग्रेस राष्ट्रमण्डल के स्वाधीन राष्ट्रों के साथ अपने समान हित तथा विश्व-शांति के विकास के लिए स्वतन्त्र सहयोग करने की भावना का स्वागत करेगी।"

इस प्रस्ताव के पारित होने के उपरान्त प्रधानमंत्री श्री नेहरू अप्रैल १९४९ में राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमंत्रियों के सम्मेलन में भाग लेने के लिए लन्दन गये। इस सम्मेलन में राष्ट्रमण्डल के आगे जुड़े हुए 'ब्रिटिश' शब्द को हटाने का निश्चय किया गया और इस तरह इस संगठन का नाम 'ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल' के स्थान पर केवल 'राष्ट्रमण्डल' हो गया। सम्मेलन में राष्ट्रमण्डल के अन्तर्गत भारतीय गणतंत्र की स्थिति सुनिश्चित करने के लिए एक विशेष घोषणा की गयी कि—

"भारत सरकार ने राष्ट्रमण्डल की दूसरी सरकारों को भारतीय जनता के इस इरादे की सूचना दी है कि भविष्य में लागू किये जाने वाले नवीन संविधान के अनुसार भारत एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न जनतंत्रीय गणराज्य होगा। तथापि भारत सरकार ने राष्ट्रमण्डल की पूर्ण सदस्यता को बनाये रखने की इच्छा प्रकट की है और राजा को राष्ट्रमण्डल के प्रमुख की स्थिति में स्वीकार किया है जो कि केवल इसके स्वतन्त्र सदस्य राज्यों के संगठन का प्रतीक है। राष्ट्रमण्डल के दूसरे देशों की सरकारें जिनकी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के आधार में कोई परिवर्तन नहीं होगा भारत की सदस्यता को इस घोषणा की शर्तों के अनुसार स्वीकार करते हैं वे यह घोषणा करते हैं कि वे राष्ट्रमण्डल के स्वतंत्र और समान सदस्यों की तरह से एक रहेंगे और शांति स्वतन्त्रता तथा उन्नति की प्राप्ति के लिए स्वतंत्रतापूर्वक सहयोग करेंगे।

इस घोषणा के बाद आलोचकों के इस तर्क में कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत की प्रभुसत्ता में कोई कमी आती है, कोई बल नहीं रह गया। २८ अप्रैल १९४९ को स्वर्गीय सरदार पटेल ने एक प्रेस सम्मेलन में स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा—

"भारत की एक सम्पूर्ण प्रभुता सम्पन्न गणराज्य की स्थिति किसी प्रकार भी इस सदस्यता से प्रभावित नहीं होती है। क्योंकि इसमें महामहिम राजा के प्रति निष्ठा रखने का कोई प्रश्न ही नहीं आता क्योंकि राजा तो केवल हमारे उन्मुक्त सम्पर्क का अन्य सदस्यों की तरह केवल प्रतीक रहेगा जहाँ तक हमारे संविधान का सम्बन्ध है वह सभी आन्तरिक और बाह्य क्षेत्रों में गणराज्य के रूप में ही रहेगा। आप देखेंगे कि राजा की राष्ट्रमण्डल की प्रधानता केवल उसके स्वतंत्र राष्ट्रों के उन्मुक्त सम्पर्क के प्रतीक होने तक ही सीमित रहेगी।"

'भारतीय संविधान सभा' से राष्ट्रमण्डल सम्बन्धी अपने निर्णय का पुष्टीकरण करने की प्रार्थना करते हुए श्री नेहरू ने इस पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये—

(१) यह समझौता स्वतंत्र इच्छा पर आधारित है और स्वतंत्र इच्छा द्वारा ही रद्द भी किया जा सकता है।

(२) परस्पर मैत्रीपूर्ण व्यवहार व सहयोग की इच्छा के अतिरिक्त किसी सदस्य पर किसी तरह का कोई दायित्व या बन्धन नहीं है, और उसमें भी यह शर्त है कि प्रत्येक राष्ट्र अपने इस व्यवहार व सहयोग की मात्रा का निश्चय स्वयं अपनी नीति के आधार पर करेगा।

(३) ब्रिटिश सम्राट को राष्ट्रमण्डल का प्रतीक माना गया है परन्तु व्यवहार में वह नितान्त प्रभावहीन है।

(४) भारत की स्वाधीनता व स्वतंत्रता इस निर्णय से जरा भी सीमित या प्रभावित नहीं हुई है।

(५) भारत राष्ट्रमण्डल को न तो किसी ऐसी उच्चतर संस्था का स्थान देने को ही तैयार है कि वह राष्ट्रों की संप्रभुता को सीमित करने वाली बने और न ही भारत इस बात के लिए कभी सहमति देगा कि सदस्य-राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों को राष्ट्रमण्डल के सम्मुख पेश किया जाय। यह एक अलग बात है कि भारत सदस्य राष्ट्रों के पारस्परिक विवादों पर मैत्रीपूर्ण समझौते में भाग लेने के लिए तैयार हो जाय।

(६) भारत जातिभेद और उपनिवेशवाद पर अपने दृष्टिकोण को अटल रखेगा और उसे इन प्रश्नों पर स्वतंत्र निर्णय लेने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।

(७) राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के और सम्पूर्ण विश्व के हित के लिए लाभदायक है। इससे भारत के लक्ष्यों को प्राप्त करने में सहयोग मिलेगा। अन्य देश भी पारस्परिक लाभ के सिद्धान्त के आधार पर ही भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता प्रदान करना चाहते हैं। आज एक दूसरे पर निर्भरता का युग है। भारत अपने व्यापार वाणिज्य और अपनी अनेक वस्तुओं के लिए दूसरों पर निर्भर है। ब्रिटेन से हमारे प्राचीन सम्बन्ध हैं और हम कुछ वस्तुओं के लिए बहुत कुछ उस पर निर्भर हैं। अतः उसके साथ पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद कर देने से हमारी अर्थ-व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(८) सम्पूर्ण विश्व यह बात देखेगा और समझेगा कि भारत उनके साथ भी सहयोग स्थापित कर सकता है जिनके विरुद्ध अब तक उसने संघर्ष किया है।

(९) राष्ट्रमण्डल की सदस्यता अन्य देशों के साथ भारत के मैत्री पूर्ण व सहयोगी सम्बन्धों की स्थापना के मार्ग में बाधक नहीं।

(१०) राष्ट्रमण्डल से पृथकता का अर्थ होगा भारत को कुछ समय के लिए विश्व से पूर्णतः पृथक हो जाना। यह एक असंभव स्थिति होगी और वातावरण के प्रभाव से हमारा झुकाव किसी न किसी ओर अवश्य होगा।

संविधान सभा में राष्ट्रमण्डल में भारत के सदस्य बने रहने के प्रस्ताव को रखते हुए १६ मई १६४६ को श्री नेहरू ने कहा—

"वर्तमान विश्व में जबकि अनेक विध्वंसकारी शक्तियाँ सक्रिय हैं और हम प्राय युद्ध की कगार पर खड़े हैं, मैं सोचता हूं कि किसी समुदाय से सम्बन्ध विच्छेद करना अच्छी बात नहीं है। उस समुदाय के बुरे अङ्ग को नष्ट कर दो आपके विकास में जो कुछ भी बाधक हो उसे नष्ट कर दो क्योंकि कोई भी व्यक्ति उस चीज से समझौते का साहस नहीं कर सकता जो राष्ट्र के विकास में बाधक हो। अन्यथा समुदाय के बुरे अङ्ग को नष्ट करने के अतिरिक्त एक ऐसे सहकारी समुदाय को नष्ट करने की अपेक्षा जीवित रखना ही अच्छा है जो वर्तमान विश्व में कुछ हितकारी कार्य कर सकता है।"*

भारतीय संविधान परिषद् ने इस निर्णय का स्वागत किया और जब ब्रिटिश साम्राज्य के अन्य एशियाई और अफीकन देशों ने भी स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद राष्ट्रमण्डल का सदस्य बनना स्वीकार किया तो सामान्यतः यह माना जाने लगा कि भारतीय नेताओं का राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का निश्चय बुद्धिमत्तापूर्ण था। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से भारत को होने वाले लाभों की एक झांकी देते हुए भारत के स्वर्गीय भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था—

"भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से अनेक लाभ हैं। भारत ने अपने व्यापार की बहुत उन्नति की है। भारत का सबसे अधिक व्यापार राष्ट्रमण्डलीय देशों के साथ ही होता है। भारत लगभग ४५ प्रतिशत वस्तुयें राष्ट्रमण्डलीय देशों से मंगवाता है और स्वयं ५५ प्रतिशत वस्तुयें राष्ट्रमण्डलीय देशों को भेजता है। इङ्गलैण्ड के साथ तो भारत का घनिष्ठ सम्बन्ध है। भारत अपना आधा व्यापार इङ्गलैण्ड से करता है।"

---

*"In the world to-day where there are so many disruptive forces at work, where we are often on the verge of war I think it is not a safe thing to encourage the breaking up of any association that one has. Break up the evil part of it break up any thing that may come in the way of our growth, because nobody dare agree to anything which comes in the way of a Nation's growth. Otherwise, apart from breaking the evil parts of association it is better to keep going a Co-operative association which may do good in this world than to break it"

—Nehru's speech in Constituent Assembly on May 16 1949

राष्ट्रमण्डल में भारत के बने रहने का निर्णय ले लिये जाने के उपरान्त भी इस सम्बन्ध में आलोचनायें की जाती रहीं। स्वतंत्र भारत के इतिहास में अनेक ऐसी घटनायें हुयीं जिन्होंने भारत के विभिन्न भागों में इस आन्दोलन को प्रबलता प्रदान की कि भारत राष्ट्रमण्डल से पृथक हो जाय। जब ब्रिटेन दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की नीति अपनाने का पक्ष लेता रहा और काश्मीर प्रश्न पर भारत के न्यायसंगत पक्ष की उपेक्षा करते हुए पाकिस्तान का समर्थन करता रहा तो विरोधियों ने भारत सरकार से अपील की कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता छोड़ दी जाय। इस पर उत्तर देते हुए स्वर्गीय पंडित नेहरू ने निम्नलिखित संयमपूर्ण और संतुलित शब्द कहे—

"आजकल संसार में पहले से ही अनेक विघटनकारी शक्तियाँ हैं। भारत की यह विश्वव्यापिकार और नीति है कि वह राष्ट्रों के बीच पुल का काम करे न कि पहले से ही बने हुए वर्तमान पुलों को तोड़े। हम अन्य देशों के साथ जो भी सम्पर्क रखते हैं चाहे वे राष्ट्रमण्डल के देश हों या अन्य देश हों उनसे शांति के उद्देश्य में सहायता मिलती है। मैं ऐसी प्रत्येक वस्तु के पक्ष में हूँ जो हमें बाँधे बिना एक दूसरे के निकट लाती है। किसी भी चीज को तोड़ना तो आसान है लेकिन बनाना मुश्किल।"

कुछ राजनीतिज्ञों ने यह मत प्रकट किया कि भारत भावनात्मक कारणों से राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना हुआ है। इसका भी उत्तर देते हुए पंडित नेहरू ने ये शब्द कहे—

"भारत के लिए वह दिन दुर्भाग्यपूर्ण होगा कि उसकी सरकार की नीति जनता की भावनाओं अथवा आकस्मिक तात्विक उत्तेजनाओं के आधार पर आश्रित होगी। मैं जानता हूँ कि इंग्लैण्ड में और राष्ट्रमण्डल के अन्य देशों में ऐसा बहुत कुछ किया जा रहा है जो हमारी रुचि के प्रतिकूल है और जिसके विरुद्ध हमने भूतकाल में संघर्ष किया है। लेकिन यह एक अन्य मामला है जिससे हम एक प्रभुता सम्पन्न राष्ट्र के नाते निपटेंगे।"

स्वर्गीय श्री नेहरू जी के समान अनेक विदेशियों ने भी भारत द्वारा राष्ट्रमण्डल की सदस्यता बनाये रखने का समर्थन किया। उदाहरणार्थ जनवरी १९५७ में ब्रिटेन के विश्व विख्यात दार्शनिक लॉर्ड बर्ट्रेण्ड रसेल ने अपने एक सन्देश में कहा—

"भारत राष्ट्रमण्डल का सबसे शक्तिशाली सदस्य है। इस नाते व संसार की बड़ी-बड़ी प्रतिद्वन्द्वी शक्तियों के संघर्ष के दुष्परिणाम को दूर कर मानव जाति की अपूर्व सेवा कर सकता है। मिस्र में इंग्लैण्ड और फ्रान्स की कार्यवाही की भारत सरकार ने जो निन्दा की है मैं उससे सहमत हूँ। इस वजह से भारत ने राष्ट्रमण्डल से अपना सम्बन्ध विच्छेद नहीं किया यह मेरे लिए प्रसन्नता की बात है।"

इसी प्रकार मार्च १९५७ में ब्रिटेन के श्रमिक नेता श्री बेविन ने अपने भारत भ्रमण के दौरान यह मत व्यक्त किया कि—

"राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद भारत और इंग्लैण्ड दोनों के लिए न केवल मूर्खतापूर्ण ही होगा प्रत्युत एक भयंकर भूल होगी। यदि हम भिन्न

जुल कर सहयोग नहीं करते तो हम अलग-अलग मर जायेंगे। राष्ट्रमण्डल का स्वरूप तेजी से बदल रहा है। उसको सही दिशा में पथ प्रदर्शन करने के लिए भारत के प्रभाव की आवश्यकता है।"

इसमें कोई सन्देह नहीं कि राष्ट्रमण्डल में रहने से भारत की न तो प्रभुसत्ता पर ही आंच आती है न उसकी स्वतन्त्र इच्छा ही कम होती है और उससे उसे कुछ न कुछ आर्थिक लाभ ही होता है परन्तु फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता भारत के लिए एकदम विशुद्ध रूप से उपयोगी है, उसमें किसी तरह का दाग नहीं। जहां भारत ब्रिटेन को प्रारम्भ से ही मित्र मान कर चलता रहा है वहां ब्रिटेन ने अधिकांशतः भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण रुख ही अपनाया है और भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को हमेशा शह दी है। १९६५ मे पाकिस्तान ने भारतीय क्षेत्र कच्छ पर हमला बोला। उस समय भी ब्रिटेन ने पाकिस्तान का पक्ष लिया लेकिन स्वर्गीय श्री शास्त्री ने ब्रिटेन से भारत के विस्तृत सम्बन्धों का ध्यान रखते हुए प्रधानमन्त्री विल्सन के परामर्शों को स्वीकार करके कच्छ समझौता किया। कच्छ समझौते के लिए उन्होंने विरोधी राजनीतिक दलों और भारतीय जनता के एक बड़े भाग की नाराजगी भी सही। परन्तु कच्छ घटना के कुछ ही समय बाद सितम्बर १९६५ में भारत-पाक संघर्ष में ब्रिटेन ने सत्य और न्याय को निष्ठरतापूर्वक तिलांजलि देते हुए, भारत को आक्रामक घोषित किया और साथ ही मुसीबत की घड़ियों में भारत को सैनिक सहायता देने से इन्कार किया। श्री मोरारजी देसाई ने स्पष्टतः कहा कि ब्रिटेन के लिए भारत व पाकिस्तान दोनों ही देश समान थे क्योंकि दोनों ही राष्ट्रमण्डल के सदस्य हैं किन्तु ब्रिटिश सरकार ने पहले तो एक उदासीन निरीक्षक की भांति अपनी आंखें पाकिस्तानी घुसपैठियों की ओर से बन्द रखी और बाद में ब्रिटिश प्रधानमंत्री की जो घोषणा एवं प्रतिक्रिया हुई वह आशानुकूल न थी। प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री तथा सूचना एवं प्रसारण मंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने अपने विभिन्न वक्तव्यों में ब्रिटेन के एकपक्षीय दृष्टिकोण का उल्लेख किया जो उसने भारत-पाक संघर्ष के समय भारत के विरुद्ध अपनाया था। ब्रिटिश सरकार द्वारा इन कथनों पर कोई प्रत्युत्तर न दिया गया। २७ सितम्बर को आकाशवाणी से बोलते हुए मोरारजी देसाई ने बताया कि पिछले कुछ वर्षों से हम देख रहे हैं ब्रिटेन की पाकिस्तान के साथ मित्रता भारत के हितों के विरुद्ध बढ़ती जा रही है। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री के पक्षपातपूर्ण रवैये को देख कर आशा नहीं की जा सकती कि भारत के न्यायपूर्ण दावों के प्रति ब्रिटेन कोई सहानुभूति रख सकेगा। इन सब कारणों से यह अनुचित न होगा कि भारत को राष्ट्रमण्डल की सदस्यता छोड़ देनी चाहिए।

२४ सितम्बर १९६५ को संसद में कांग्रेस कम्युनिस्ट तथा पी एस पी के कई सदस्यों द्वारा यह मांग की गयी कि भारत को राष्ट्रमण्डल छोड़ देना चाहिए। इस प्रसंग में अलवेरिस (Alvares) ने बताया कि अब भारत के सामने दो ही रास्ते हैं, एक तो यह कि वह राष्ट्रमण्डल को छोड़ दे दूसरे यह कि ब्रिटेन को कामनवेल्थ का नेतृत्व करने से रोक सके। कांग्रेस दल के भगवत झा आजाद ने राष्ट्रमण्डल-छोड़ने के अपने प्रस्ताव पर बोलते हुए कहा कि अनेक

प्रस्ताव का विकल्प (Alternative) यही हो सकता है कि ब्रिटेन राष्ट्रमण्डल से अपना सम्बन्ध हटा ले। श्री आजाद ने बताया कि ब्रिटिश नेता चाहे वे किसी भी दल के क्यों न रहे हों भारत के हितों का सदा विरोध करते रहे हैं। वर्तमान संघर्ष के समय ब्रिटिश प्रधानमंत्री अथवा ब्रिटिश प्रेस ने पाकिस्तान की आलोचना में एक शब्द भी न कहा। जब पाकिस्तान की वायु व पैदल सेना जम्मू तथा अखनूर क्षेत्र में लगातार हमले करती रही तो ब्रिटेन ने चुप्पी साध ली किन्तु ६ सितम्बर को पश्चिमी पाकिस्तान के कुछ क्षेत्रों में भारतीय सेना ने सुरक्षात्मक कार्यवाही शुरू की तो विल्सन साहब की जीभ खुली और भारत को पाकिस्तान पर आक्रमण करने का दोषी ठहरा दिया। दूसरे, ब्रिटेन न केवल खुले रूप से पाकिस्तान के समर्थन में आया वरन् उसने युद्ध सामग्री के निर्यात पर रोक लगा दी जिसकी कि भारत को आवश्यकता थी।* ब्रिटेन का उस समय में सबसे अधिक अमैत्रीपूर्ण कार्य यह था कि उसने भारत पर चीनी आक्रमण के खतरे को अमेरिका की दृष्टि में तुच्छ बना दिया।

भारत के साम्यवादी दल ने अपनी 'राष्ट्रमण्डल छोड़ो' की माँग दुहराते हुए कहा कि राष्ट्रमण्डल में भाग लेना भारत के लिए न केवल महत्त्वहीन है वरन् यह एक भार भी है। अखिल भारतीय शांति परिषद् ने १ अक्टूबर को 'राष्ट्रमण्डल छोड़ो' दिवस मनाने की बात कही। परिषद् ने बताया कि ब्रिटेन भारत के विरुद्ध पाक का समर्थन करने को दृढ़ निश्चय है। १९६२ के चीनी आक्रमण के समय वह भारत को इस शर्त पर सैनिक सहायता देने को तैयार था कि भारत काश्मीर को पाकिस्तान को सौंप दे तथा अपनी निर्गुट नीति को छोड़ दे।* राष्ट्रमण्डल छोड़ने के लिए कम्युनिस्ट पार्टी ने कई कारण बताये—(i) ब्रिटिश सरकार साम्राज्यवादी व उपनिवेशवादी अत्याचार कर रही है। (ii) दक्षिणी रोडेशिया व दक्षिणी अफ्रीका में वह जातीय भेद भाव की नीति व अत्याचार की तानाशाही का समर्थन कर रही है।

भारत की राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के औचित्य को अस्वीकार करने वाले इन उपरोक्त तर्कों में पर्याप्त बल है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। लेकिन यदि सम्पूर्ण आलोचना-प्रत्यालोचना और लाभ-हानि की समीक्षा के उपरान्त निष्कर्ष रूप में देखा जाय तो यह उचित प्रतीत नहीं होता कि भारत राष्ट्रमण्डल की सदस्यता का परित्याग कर दे। राष्ट्रमण्डल एक क्लब के समान है जहाँ सदस्य बात करने के लिए मिलते हैं। उनमें सहमतियाँ भी हो सकती हैं और उग्र मतभेद भी रह सकते हैं। एक क्लब के दो या तीन सदस्य नोंक-झोंक के संघर्ष की स्थिति में भी आ सकते हैं। लेकिन इसका परिणाम यह नहीं निकलना चाहिए कि प्रमुख सदस्य क्लब का परित्याग कर दे। भारत राष्ट्रमण्डल में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सदस्य है और अपनी प्रभावपूर्ण स्थिति के कारण एशिया तथा अफ्रीकन राष्ट्रों को अपने साथ लेकर

---

*"They stabbed us in the back. History will bitterly condemn this naked partiality."

—*Bhagwat Jha Azad.*

ब्रिटेन को इस बात के लिए बाध्य कर सकता है कि वह भारत के प्रति अमैत्रीपूर्ण रुख को त्याग दे या फिर राष्ट्रमण्डल का जनाजा निकलवाने को तैयार हो जाय। इसके अतिरिक्त यह भी अनुचित ही है कि ब्रिटेन के पापों के लिए राष्ट्रमण्डल जैसे अन्तर्राष्ट्रीय समूह से पृथक होने का निश्चय ले लिया जाय। यह बात ठीक वैसे ही होगी जैसे इण्डोनेशिया द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को छोड़ने की बात या पाकिस्तान द्वारा संघ के परित्याग की धमकी। ब्रिटेन पाकिस्तान अमेरिका आदि राष्ट्रों का रवैया संयुक्त राष्ट्र संघ में भी पूर्णत भारत विरोधी रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में उन राष्ट्रों की अमैत्रीपूर्ण कार्यवाहियों ने भारत को अकल्पनीय नुकसान पहुंचाया है। ऐसी सूरत में यदि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता अवांछनीय है तो संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता और भी अधिक अवांछनीय कही जा सकती है। पुनश्च राष्ट्रमण्डल एक स्वेच्छा पर आधारित अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और अन्य देशों से सम्बन्ध बढ़ाने या तोड़ने में किसी प्रकार भी बाधक नहीं होती।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राष्ट्रमण्डल की सदस्यता छोड़ देने पर भारत विश्व में अकेला दिखायी पड़ सकता है जबकि इसकी सदस्यता के कारण वह एक संगठन में है और सर्वोपरि बात यह है कि राष्ट्रमण्डल का परित्याग काश्मीर के प्रश्न को हमारे पक्ष में नहीं कर सकता है और न ही दक्षिणी अफ्रीका में रंगभेद की नीति को समाप्त कर सकता है। तब फिर राष्ट्रमण्डल में एक महत्वपूर्ण शक्ति के रूप में बने रहना अभी भारत के लिए हितकर ही होगा। इस प्रश्न पर विचार करते समय हमें धीरज व बुद्धि से काम लेना चाहिए। राष्ट्रमण्डल के प्रति हमारे सम्बन्धों के विषय में कम से कम वर्तमान संदर्भ में निश्चित रूप से स्वर्गीय श्री नेहरू के ये शब्द ही हमें आज भी मान्य होने चाहिए कि—

"नया राष्ट्रमण्डल न तो आन्तरिक और न बाहरी क्षेत्र में ही भारत की स्वतंत्रता को मर्यादित करता है। उसने भारत के ऊपर किसी प्रकार का बन्धन नहीं लगाया है। भारत अपनी इच्छा के विरुद्ध एक मिनट भी राष्ट्रमण्डल में रहने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। यह समझौता कांग्रेस की प्रतिज्ञाओं और किसी भी गुट में शामिल न होने की भारत की विदेश नीति के अनुकूल है। यह भारत को स्वतंत्रता और आर्थिक तथा राजनीतिक क्षेत्र में सुरक्षा प्रदान करता है। भारत ने किसी भी चीज का बलिदान नहीं किया है। उसकी मूल नीति अब भी यथावत् है। यदि कोई परिवर्तन हुआ भी है तो केवल राष्ट्रमण्डल में ही हुआ है।"

1

श्री एस के पाटिल ने २८ सितम्बर १९६५ को इस सम्बन्ध में रोटेरी क्लब बाम्बे के सम्मुख बोलते हुए ठीक ही कहा था कि—

"हमें नाराजगी के जोश में ऐसा कोई काम न करना चाहिए जो एक उत्तरदायी देश को नहीं करना चाहिए।"*

राष्ट्रमण्डल का भविष्य—यद्यपि राष्ट्रमण्डल अन्तर्राष्ट्रीय जगत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण एवं प्रभावशाली समूहों में से एक है तथापि यह धीरे-धीरे दुर्बल होता जा रहा है। १९६२ में पारित 'Commonwealth Immigration Act" द्वारा ब्रिटेन ने राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिकों की विशेष स्थिति को समाप्त कर उन्हें लगभग सामान्य विदेशियों की स्थिति में ला दिया है। ब्रिटेन के यूरोपियन साझा बाजार में सम्मिलित होने के निश्चय ने राष्ट्रमण्डल की स्थिति को डाँवाडोल कर दिया है। २६ अक्टूबर, १९६४ से ही ब्रिटिश सरकार ने खाद्य पदार्थों आदि को छोड़ कर लगभग सभी आयातित वस्तुओं पर चाहे वे राष्ट्रमण्डलीय देशों से आयातित हों अथवा अन्य देशों से—उनके मूल्य का पन्द्रह प्रतिशत शुल्क लगा दिया है जिससे राष्ट्रमण्डलीय देशों को मिलने वाला व्यापारिक लाभ एक बड़ी सीमा तक नष्ट हो गया। अब ब्रिटेन द्वारा साझा बाजार में सम्मिलित हो जाने पर तो राष्ट्रमण्डलीय देशों को और भी अधिक व्यापारिक हानि उठानी पड़ेगी। ब्रिटेन के इस प्रकार के कदमों से अनेक राष्ट्रमण्डलीय देशों को जिनमें भारत भी है राष्ट्रमण्डल की भावी उपयोगिता के विषय में सन्देह होने लगा है और कुछ देश इससे अलग हो जाने के बारे में भी सोचने लगे हैं। ब्रिटेन के साझा बाजार में शामिल होने के फैसले से राष्ट्रमण्डल पर कितना घातक प्रभाव पड़ सकता है उसका पता बहुत कुछ इसी बात से चल जाता है कि भारत में इस विचार को बल मिल रहा है कि ब्रिटिश प्रधानमन्त्री विल्सन 'राष्ट्रमण्डल के मित्र देशों के साथ धोखा करते जा रहे हैं और ब्रिटेन की परम्परा को भी वह छोड़ रहे हैं। ब्रिटेन की राष्ट्रमण्डल देशों के माल पर सीमा शुल्क में रियायत देने की परम्परा रही है। भारत को आशंका यह है कि साझा बाजार में शामिल होने के बाद ब्रिटेन को भारतीय माल के आयात पर ब्रुसेल्स कमीशन की सिफारिश के अनुसार सीमा शुल्क लगाना ही पड़ेगा।

भारत ही के समान अन्य राष्ट्र भी राष्ट्रमण्डल की सदस्यता के बारे में अथवा इसकी उपयोगिता पर पुनर्विचार करने लगे हैं। पामर और परकिन्स (Palmer and Perkins) का यह लिखना सर्वथा युक्तिसंगत है कि "निरन्तर सहकार्यता के बावजूद राष्ट्रमण्डल में सभी कुछ ठीक नहीं है।

---

*"Although sentiments do sometimes rise this war is not the be all and end all. Let us not in a moment of anger act in a manner that a responsible country should not'

—*S.K. Patil*

इसके सम्बन्ध सूत्र निश्चित रूप से दुर्बल हो गये हैं और इसका भविष्य अनिश्चित है।"*

EXERCISES

1. "The Commonwealth is not a Political Unit. It is not an alliance. It has no common policy. The nations of the Commonwealth make their own separate decision in world affairs and none of them is prepared to give up that right." Comment.

   "राष्ट्रमण्डल एक राजनैतिक इकाई नहीं है। यह एक संगठन या संधि भी नहीं है। इसकी कोई सामान्य नीति नहीं है। विश्व राजनीति की समस्याओं के बारे में राष्ट्रमण्डल के राज्य पृथक्-पृथक् निर्णय करते हैं और इसका कोई भी सदस्य स्वतन्त्र निर्णय के अपने अधिकार का परित्याग करने को तैयार नहीं है।" विवेचना कीजिए।

2. "How a nation can become Republic by abolishing allegiance to the Crown and at the same time retain full membership of United Commonwealth, which is and must be basically a Crown Commonwealth, is a complete mystery ?" (R.G. Menzies) Discuss the correctness of this statement with reference to India as a member of the Commonwealth of nations.

   'यह एक रहस्यपूर्ण बात है कि एक राष्ट्र गणराज्य कैसे बन सकता है जबकि वह एक साथ ही एक तरफ तो ताज से सम्बन्ध समाप्त कर ले और दूसरी तरफ राष्ट्रमण्डल की पूर्ण सदस्यता भी बनाये रखे जो कि आधारभूत रूप से ताज का राष्ट्रमण्डल ही है।" राष्ट्रमण्डल के सदस्य के रूप में भारत के संदर्भ में इस कथन की व्याख्या कीजिए।

---

*"In spite of continued collaboration however all is not well within the commonwealth. Its bonds have definitely weakened and its future is uncertain."

—*Palmer and Perkins* International Relations, Page 747

3. Write an essay on the Commonwealth of Nations.

   राष्ट्रमण्डल पर एक निबन्ध लिखिये।

4. Should India quit the Commonwealth of Nations ? Discuss.

   क्या भारत को राष्ट्रमण्डल छोड़ देना चाहिए ? विवेचना कीजिए।

5 Describe structure and functions of the British Commonwealth of Nations and examine it

   ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल के निर्माण व अधिकारों का वर्णन करो।

8

शीत-युद्ध

[COLD WAR]

१ शीत-युद्ध का जन्म

२ रूस एवं पश्चिमी मेल-इतिहास की पृष्ठभूमि में

३ द्वितीय महायुद्ध के दौरान पश्चिमी शक्तियाँ और सोवियत रूस

४ शीत-युद्ध का प्रारम्भ और इतिहास

(क) 'पश्चिम' की 'पूर्व' के विरुद्ध शिकायतें

(ख) 'पूर्व' की पश्चिम के विरुद्ध शिकायतें

५ १९४७ में वर्तमान समय तक शीत-युद्ध पर एक दृष्टि

(i) १९४७ से १९५३ तक का शीत-युद्ध

(ii) १९५३ से १९५८ तक का शीत-युद्ध

(iii) १९५८ से सितम्बर १९६७ तक का शीत-युद्ध

६. सैद्धान्तिक संघर्ष बनाम शक्ति-राजनीति

"आजकल विश्व में दो महान् राष्ट्र हैं, जिन्होंने विभिन्न स्थानों से चलना प्रारम्भ किया परन्तु एक ही लक्ष्य की ओर प्रवृत्त प्रतीत होते हैं। मेरा संकेत रूस और अमेरिका की ओर है ... । अमेरिका का प्रमुख साधन है स्वतन्त्रता और रूस का दासता। उनके प्रारम्भिक स्थल भिन्न हैं और यद्यपि उनके मार्ग भी एक नहीं हैं फिर भी प्रत्येक विश्व के गोलार्द्ध का भाग्य-विधाता बनेगा ऐसी ईश्वरीय इच्छा प्रतीत होती है।"

—अलेक्सिस डी० टोकवि

"आधुनिक
विश्व के दो भीमाकार
दानवों के मध्य संघर्ष ही समकालीन
विश्व-राजनीति की विशेषता है।'

शीत-युद्ध
(COLD WAR)

शीत-युद्ध का जन्म—द्वितीय महायुद्ध का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिणाम यह निकला कि विश्व में प्रथम कोटि की दो ही महाशक्तियाँ रह गयीं—सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध काल में यूरोप में हिटलरवाद और सुदूरपूर्व में जापानी युद्ध राष्ट्रीयता में जो सहयोग विद्यमान था वह समाप्त हो गया। एक सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह हुई कि जहाँ महायुद्ध के दौरान अमेरिका रूस और ब्रिटेन आदि ने परस्पर कंधे से कंधा मिला कर 'धुरी राष्ट्रों' (जर्मनी जापान व इटली) के विरुद्ध संघर्ष किया था उनके राजनीतिज्ञों और कूटनीतिज्ञों ने सम्मेलनों व पत्र-व्यवहार आदि में एक दूसरे से सहयोग किया था उनके जनरल और कमाण्डर विभिन्न युद्ध मोर्चों पर सहयोग करते हुए दुश्मन से जूझे और परिणामस्वरूप अपने सहयोग के बल पर ही अत्यन्त शक्तिशाली व प्रबल शत्रु का दमन कर सके वहाँ युद्ध के बाद इन राष्ट्रों में सहयोग के सभी आधार समाप्त हो गये। युद्ध के समय के दोस्तों में युद्ध के बाद बल्कि युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही तीव्र मतभेद उत्पन्न हो गये। शीघ्र ही इन मतभेदों ने इतने तनाव, वैमनस्य और मनोमालिन्य की स्थिति उत्पन्न कर दी कि पश्चिमी और पूर्वी खेमे के राज्यों में शस्त्र के गोले-गोलियों से लड़े जाने वाले प्रत्यक्ष सैनिक संघर्ष के न होते हुए भी कागज के गोलों अखबारों से लड़े जाने वाला परस्पर विरोधी राजनीतिक प्रचार का तुमुल संग्राम छिड़ गया।" इसी संग्राम को 'शीत-युद्ध' (Cold War) की संज्ञा दी गई, जिससे आज का सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत बुरी तरह पीड़ित है। अमेरिका ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी यूरोपियन शक्तियाँ मिल कर 'पश्चिमी (West) खेमा' कहलाती हैं और सोवियत संघ व उसके पूर्वी यूरोपियन मित्र राज्य संयुक्त रूप से 'पूर्वी (East) खेमा कहलाते हैं। पहले खेमे अथवा शिविर या गुट का नेता संयुक्त राज्य अमेरिका है और दूसरे खेमे का अगुआ सोवियत संघ है।

शत्रु को परास्त करने का युद्धकाल का सामान्य हित पूरा होते ही दोनों पक्षों की फूट ने इतना गम्भीर रूप धारण कर लिया कि वे आज तक एक दूसरे को अविश्वास और संशय की दृष्टि से देखते हैं तथा विश्व राजनीति के लगभग प्रत्येक प्रश्न पर उनके दृष्टिकोणों में फर्क है। लगभग सम्पूर्ण संसार इन दोनों पक्षों या गुटों में विभक्त है और सम्पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच प्रलयंकर आणविक आयुधों से सम्पन्न रूस व अमरिका जैसे भीमाकार दानवों के संघर्ष का अखाड़ा बना हुआ है। इस 'शीत-युद्ध' ने विश्व को एक तृतीय महायुद्ध के विस्फोट के निकट ला दिया है और यदि समय रहते इस पर नियंत्रण न हुआ तो यह एक न एक दिन 'व्यावहारिक युद्ध' को जन्म दे डालेगा क्योंकि यह (शीत-युद्ध) एक ऐसी स्थिति है जिसमें दोनों पक्ष परस्पर शान्तिकालीन कूटनीतिक सम्बन्ध बनाये रखते हुए भी परस्पर शत्रुभाव रखते

है और सशस्त्र युद्ध के अतिरिक्त अन्य सभी उपायों से एक दूसरे की स्थिति को दुर्बल बनाने का प्रयत्न करते हैं। यह एक कूटनीतिक युद्ध है जो व्यावहारिक युद्ध का जनक हो सकता है। "शीत-युद्ध की युद्ध-नीति कूटनीति के समस्त शस्त्रागार के न्सत्र सर्वाधिक क्रूर पक्षों से, एक प्रभावशाली प्रयोग पर आधारित है।"

इस 'शीत-युद्ध' में अमेरिका साम्यवाद को स्वतन्त्रता और विश्व-शांति का शत्रु बताते हुए रूस के प्रभाव के विस्तार को रोकने का प्रयत्न करता है और हंगरी आदि पूर्वी यूरोपीय देशों में हुए राष्ट्रीय विद्रोहों के आधार पर रूस को एक साम्राज्यवादी शक्ति बताता है तो रूस पश्चिमी शक्तियों को उपनिवेशवादी घोषित करते हुए साम्यवाद को एशिया और अफ्रीका के अविकसित देशों के लिए तथा विश्व की दीन-हीन जनता के लिए एक रामबाण औषधि के रूप में प्रस्तुत करता है। दोनों ही पक्ष अपने-अपने प्रभाव क्षेत्र में वृद्धि करने के लिए अपनी-अपनी सैद्धान्तिक मान्यताओं पर बल देते हैं तथा आर्थिक सहायता प्रचार, जासूसी सैनिक हस्तक्षेप सैनिक गुटबन्दियों प्रादेशिक संगठनों संयुक्त राष्ट्र संघ शस्त्रीकरण वैज्ञानिक और प्राविधिक प्रगति का प्रदर्शन आदि सभी सम्भव साधनों का प्रयोग करते हैं। अपने प्रभाव-क्षेत्र की वृद्धि करने के लक्ष्य को पूरा करने के लिए वे जाति और वर्णगत द्वेष को भड़काने राष्ट्रीय भावनाओं का दुरुपयोग करने, औद्योगिक असंतोष व स्थानीय संघर्षों को प्रोत्साहन देने आदि के सभी हीन उपायों का आश्रय लेते हैं। वे दरिद्रता भुखमरी आदि मानवीय दुर्भाग्यों का लाभ उठाने में भी नहीं हिचकिचाते।

रूस एवं पश्चिमी देश

इतिहास की पृष्ठभूमि—अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास से पता चलता है कि शीत-युद्ध के वर्तमान महारथियों—अमेरिका ब्रिटेन और सोवियत रूस—का युद्धकालीन सहयोग पूर्णतः अस्थाई प्रकृति का था क्योंकि उनके पारस्परिक मतभेद और संघर्ष तो मूलभूत व ऐतिहासिक हैं। १९वीं शताब्दी और २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में यूरोप के साथ संयुक्त राज्य अमरिका के सम्बन्ध 'मुनरो सिद्धान्त' पर आधारित थे। इस सिद्धान्त पर चलने के कारण उस समय अमेरिका यूरोपियन समस्याओं के प्रति लगभग उदासीन था। अतः उस काल में प्रमुख प्रतिद्वन्द्वी अथवा प्रतिस्पर्द्धी ब्रिटेन फ्रांस और रूस ही थे। इन देशों के पारस्परिक संघर्ष के मुख्य अखाड़े बाल्कन प्रायद्वीप (मध्य पूर्व) और एशिया थे। १९वीं शताब्दी के अन्तिम वर्षों में इस क्षेत्र में इनके अधिकारों और प्रभावों को संकट पैदा हो गया। जर्मनी और इटली ने जो भूमि-विस्तार के आकांक्षी थे ब्रिटेन के एंग्लो फ्रेंच रशियन स्वामित्व को चुनौती दी। १८८२ में जर्मनी इटली और आस्ट्रिया-हंगरी ने 'त्रिगुट संधि' (Triple Alliance) का निर्माण किया। इस त्रिगुट शक्ति के सब मिल जाने से भयभीत हो कर ब्रिटेन फ्रान्स और रूस ने अपने मतभेदों को भुला कर १९०७ में (Triple Entente) की रचना की। १९१४ में जर्मनी द्वारा प्रथम महायुद्ध की शुरुआत कर देने पर (Triple Entente) की शक्तियां उसके विरुद्ध संगठित हो गए। परन्तु जब जर्मनी की बढ़ती हुई

शक्ति ने कहर बा दिया और ब्रिटेन फ्रांस आदि की विजय को सुनिश्चित बना दिया तो विवश हो कर अप्रैल १९१७ में संयुक्त राज्य अमेरिका उनकी सहायता के लिए आगे आया।

नवम्बर १९१७ में रूस में बाल्शेविक क्रांति हुई जिसके फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में आधारभूत परिवर्तन हुए। पाश्चात्य पूंजीवादी राष्ट्रों ने इस क्रांति का स्वागत नहीं किया। उन्होंने अपने साम्राज्यों के लिये साम्यवादी क्रांति को एक चुनौती और जबरदस्त खतरे के रूप में अङ्गीकार करते हुए इसे असफल बनाने हेतु रूसी राजनीति में सशस्त्र हस्तक्षेप किया तथा क्रान्ति-विरोधी तत्त्वों को प्रत्येक प्रकार की सहायता पहुंचाने की चेष्टा की परन्तु क्रान्ति के तत्त्व इतने मौलिक और सुदृढ़ थे कि पश्चिमी शक्तियों की इस दुरभि संधि को मुंह की खानी पड़ी। संघर्ष से उबरते ही रूसी राजनीतिज्ञों नेताओं और जनता ने अपनी नई सभ्यता (साम्यवाद) को सुरक्षित एवं सुदृढ़ करने का दृढ़ संकल्प किया।

इसी बीच परिस्थितियों और स्वार्थों के वशीभूत हो कर पाश्चात्य राष्ट्रों ने यद्यपि सोवियत संघ के साथ व्यापार एवं वार्तालाप सम्बन्ध स्थापित किये तथा कूटनीतिक सम्बन्धों की प्रस्थापना भी की किन्तु उनका उसके प्रति शत्रुता का भाव कम नहीं हुआ और उनकी सदैव यह चेष्टा रही कि साम्यवादी रूस किसी न किसी रूप में एक क्षीण एवं दुर्बल राष्ट्र बन जाय ताकि अवसर पाकर वे उसका गला घोट सकें। संयुक्त राज्य अमरिका का रुख तो इतना कठोर रहा कि उसने १९३३ के अन्त में जाकर कहीं रूस को कूटनीतिक मान्यता प्रदान की। इस साम्यवादी राष्ट्र को लम्बे काल से ही पश्चिमी शक्तियों एवं पूंजीवादी तत्वों द्वारा 'अन्तर्राष्ट्रीय अछूत' समझा जाता रहा और उसके 'विश्व-परिवार' अर्थात् राष्ट्र संघ (League of Nations) का सदस्य बनने के मार्ग में सन् १९३४ तक हर प्रकार की बाधा डाली जाती रही।

जर्मनी में हिटलर के उदय के बाद भी पश्चिमी शक्तियों ने स्थिति का सतत मूल्यांकन करते हुए सोवियत रूस की मैत्री की कोई कीमत नहीं समझी। उन्होंने यह सोच कर जर्मनी जापान और इटली के कुचक्रों का समर्थन किया कि वे सोवियत रूस को निगल जायेंगे। नात्सी दल के जर्मनी में सत्तारूढ़ होने पर जब हिटलर ने बार-बार रूस के विरुद्ध विषवमन किया तो पश्चिमी राष्ट्र यही समझ बैठे कि जर्मनी को सन्तुष्ट करके रूस के विरुद्ध एक शक्तिशाली हथियार के रूप में उसका उपयोग उठाया जा सकेगा और भावी रूस-जर्मन संघर्ष में जब दोनों शक्तियां क्षीण हो जायेंगी तो वे इस अवसर का लाभ उठा कर दोनों को कुचल कर रख देंगे। उनकी यही विचारधारा सन् १९३० के बाद पूरी फ्रेंच 'तुष्टीकरण-नीति' का आधार बनी। द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ तक रूस ने जब भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया उसे ठुकरा दिया गया। यहां तक कि १९३९ में जबकि हिटलर की आक्रामक योजनायें पूरी तरह स्पष्ट हो चुकी थीं इंगलैंड ने मास्को के साथ एक मैत्री-संधि करने से इन्कार कर दिया।

अन्त में पश्चिमी राष्ट्र अपनी इस स्वार्थपरता से परिपूर्ण नीति के स्वयं शिकार हुए। हिटलर की महत्वाकांक्षाओं की कोई सीमा न थी और २० वर्ष की अल्पकालीन शान्ति के बाद विश्व पुनः एक दूसरे महायुद्ध की ज्वालाओं में झुलस गया। यदि पश्चिमी राष्ट्र शक्तिशाली रूस की अवहेलना न करते हुए उसके साथ सहयोग करते तो सम्भवतः हिटलर की महत्वाकांक्षाओं पर प्रभावकारी अंकुश लग सकता था।

द्वितीय महायुद्ध के दौरान पश्चिमी शक्तियाँ और साम्यवादी रूस—द्वितीय महायुद्ध काल में परिस्थितियों ने पश्चिमी शक्तियों और साम्यवादी रूस में सहयोग को जन्म दिया यद्यपि यह एक अस्थायी घटना ही रही। जून १९४० में जर्मनी ने फ्रांस जैसे शक्ति सम्पन्न राष्ट्र को धूल चटा दी और ब्रिटेन को अपनी भयंकर बमवर्षा का शिकार बनाया। अगस्त १९३९ में हिटलर न स्टालिन के साथ दोस्ती का नाटक खेला और जर्मनी व रूस दोनों परस्पर कट्टर शत्रुओं में मैत्री और तटस्थता के समझौते हो गये। जनवरी १९४१ में एक नये व्यापार-समझौते द्वारा सोवियत-जर्मन तटस्थता को सुदृढ़ बनाया गया। ब्रिटेन को घुटने टिका पाना एक अति कठिन काम समझ कर २१–२२ जून १९४१ को दोस्ती के वादों के बीच हिटलर ने सहसा ही सोवियत संघ पर भयानक आक्रमण कर दिया। रूस पर नाजी सेनाओं का यह आक्रमण अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के जगत में एक क्रान्तिकारी विकास था। इसने एक ओर रूस व दूसरी ओर पश्चिमी राज्यों के मध्य एक 'अनोखे गठबन्धन' को पैदा किया। युद्ध-जन्य परिस्थितियों ने ब्रिटेन के सामने एक ही मार्ग शेष छोड़ दिया और चर्चिल ने उसे ही चुना। उसने रूसियों का मित्र रूप में स्वागत करते हुए स्टालिन के साथ समान उद्देश्यों की घोषणा कर दी। रूस और पश्चिमी राष्ट्र जो अब तक एक-दूसरे के घातक शत्रु थे नाजी जर्मनी के विरुद्ध प्रगाढ़ मैत्री के आलिंगन में आबद्ध हो गये। अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी सोवियत संघ को Land Lease Act के अन्तर्गत अमेरिकन सहायता पाने के योग्य घोषित कर दिया। दिसम्बर १९४१ में पर्ल-हार्बर पर जापानी बमवर्षा के उपरान्त वह स्वयं युद्ध में कूद पड़ा। परम्परागत शत्रुओं का यह 'अनोखा गठबन्धन' (Strange Alliance) अनेक वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य करता रहा। जनवरी १९४२ में 'धुरी राष्ट्रों' के विरुद्ध युद्ध रत २६ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों के साथ रूजवेल्ट, चर्चिल और लिटविनोव ने 'संयुक्त राष्ट्र-घोषणा-पत्र' (U.N Declaration) पर हस्ताक्षर किये और 'अटलाण्टिक चार्टर' में निहित सिद्धान्तों का पालन करने तथा बर्लिन रोम टोकियो के विनाश के लिये अपनी सम्पूर्ण शक्ति एवं साधनों का प्रयोग करने की प्रतिज्ञा की। यह घोषणा-पत्र बैली (Bailey) के शब्दों में "अमेरिकन कूटनीतिक इतिहास में युग परिवर्तनकारी महत्व का" (An epochal significance in American diplomatic history) था जिसने "न केवल युद्ध में एकता को ही आश्वस्त किया अपितु शान्ति के लिये एक नये विश्व-संगठन की आधार शिला भी रखी। यह वस्तुतः एक स्थायी सैनिक गठबन्धन-पत्र था और अमेरिका की पार्थक्यता की सदियों पुरानी परिपाटियों

के सर्वथा विपरीत था।"* मई १९४२ में सोवियत संघ और ब्रिटेन ने जर्मनी के विरुद्ध पारस्परिक सहायता-सन्धि पर हस्ताक्षर किये। मई १९४४ में सोवियत संघ ने पश्चिम विरोधी प्रचार की एक प्रमुख संस्था 'कामिण्टर्न' (Comintern) के विघटन की घोषणा की। वाशिंगटन लन्दन व मास्को के गठबन्धन ने नाजी सैन्य बलों को पराजित करके तीनों पक्षों के मध्य विश्वास की भावनायें यद्यपि वे अस्थायी और स्वार्थपरक सिद्ध हुयीं जाग्रत अवश्य की। फरवरी १९४५ में याल्टा सम्मेलन में इस 'अनोखे गठ-बन्धन' की सफलता की प्रतीक भावनायें अभिव्यक्त हुयीं। २७ फरवरी १९४५ को ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल ने लोकसभा में घोषणा की 'सोवियत संघ के नेतागण पश्चिमी लोकतन्त्रों के साथ समान तथा सम्मानपूर्ण मैत्री की जिन्दगी बसर करना चाहते हैं। उनके शब्द ही उनकी प्रतिज्ञायें हैं। चार दिन बाद ही अमेरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह आशा व्यक्त की– 'मुझे विश्वास है कि याल्टा–समझौतों के फलस्वरूप यूरोप की राजनीतिक स्थिति पहले से कहीं ज्यादा स्थिर होगी।"

वास्तव में यह कहना उपयुक्त होगा कि १९४४–४५ में ब्रिटेन और अमेरिका को कुछ-कुछ यह विश्वास हो चला था युद्धोत्तर काल की समस्याओं के निपटारे में भी सोवियत संघ का सहयोग मिल सकेगा। लेकिन विजय जनित स्वार्थों और हितों को अधिकाधिक प्राप्त करने की होड़ दोनों ओर से ही ऐसी चली कि युद्धकालीन सहयोग व मैत्री का बालुई महल एकदम ढह गया। 'पूर्व-पश्चिम' सम्बन्ध द्रुतगति से बिगड़ने शुरू हो गये और 'अनोखा गठबन्धन' (Strange Alliance) अपनी मृत्यु-शैय्या पर कराहने लगा। अन्त में इस 'गठबन्धन' की अर्थी निकल ही गई और युद्ध काल के साथी युद्धोपरान्त एक-दूसरे के लिये अजनबी बन गये। इतना ही नहीं वे एक दूसरे के प्राणों के प्यासे भी हो गये।

शीत-युद्ध का प्रारम्भ और इतिहास

महायुद्धोत्तर स्थिति ने दोनों महाशक्तियों के मध्य जिस शीत युद्ध को जन्म दिया उसने याल्टा-सम्मेलन से लौटने वाले प्रतिनिधियों के विचारों को व्यक्त करने वाले हैरी हापकिन्स (Harry Hopkins) के इन शब्दों को झुठला दिया कि "हमें वस्तुतः अपने हृदय में यह विश्वास था कि यह एक नूतन दिवस का उपाकाल था जिसके लिये हम इतने वर्षों से प्रार्थना कर रहे

---

*This Declaration was of epochal significance in American diplomatic History It not only insured unity for war but provided the nuclear of a new world organisation for peace. It was in effect a binding military alliance and as such a significant departure from America's centuries old non entanglement tradition.

—*Bailey* A Diplomatic History of the American People page 906

थे। हमें इस बात का पूर्ण विश्वास था कि हमने शान्ति की प्रथम विजय प्राप्त कर ली है। रूस वासियों ने यह सिद्ध कर दिया था कि वे युक्तियुक्त और दूरदर्शी हो सकते हैं तथा हम भविष्य में जहाँ तक सोच सकते हैं वहाँ तक उनके साथ शान्तिपूर्वक रह सकते हैं और चल सकते हैं।"+ १८ अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य राष्ट्रों ने रूस पर गालियों और आरोपों की बौछार करना शुरू किया और उधर रूस ने उन पर आलोचना एवं प्रत्यारोपण की झड़ी लगा दी। दोनों ही पक्षों ने एक-दूसरे को शत्रुतापूर्ण मनोभावना और संदेहपूर्ण प्रवृत्तियों से भरा सिद्ध करने के लिए अपने-अपने तर्क पेश किए। यहाँ हम, शीत युद्ध के कारणों को बताते हुए, दोनों ही पक्षों द्वारा दिए गए तर्कों का पृथक-पृथक रूप से वर्णन करेंगे।

(क) 'पश्चिम' की 'पूर्व' के विरुद्ध शिकायतें—अमेरिका के नेतृत्व में पाश्चात्य शक्तियों ने सोवियत संघ के विरुद्ध महत्त्वपूर्ण शिकायतें प्रस्तुत कीं अथवा उस पर जो विभिन्न प्रमुख आरोप लगाए, वे इस प्रकार हैं—

(१) रूस द्वारा याल्टा समझौतों की अवहेलना—ब्रिटेन और अमेरिका की रूस के विरुद्ध सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शिकायत यह थी कि उसने याल्टा-समझौतों का पूर्ण उल्लंघन किया है। फरवरी १९४५ में रूजवेल्ट चर्चिल और स्टालिन ने कुछ समझौते किए थे उदाहरणार्थ—जर्मनी को चार 'आधिपत्य क्षेत्रों' (Occupation Zones) में विभाजित किया जायगा पोलैंड में सोवियत संघ द्वारा संरक्षित 'लुबलिन सरकार' और पश्चिमी देशों द्वारा संरक्षित 'लन्दन सरकार' के स्थान पर स्वतंत्र चुनाव किये जाकर एक प्रतिनिधिक सरकार की स्थापना की जायगी नये पोलैण्ड से उसके पूर्व में स्थित रूसी भाषा-भाषी प्रदेश कर्जन-रेखा के आधार पर पृथक कर दिये जायेंगे परन्तु पश्चिम में उसे मुआवजे के रूप में कुछ जर्मन भूमि दी जायेगी। सोवियत रूस द्वारा यह भी वचन दिया गया था कि बाह्य मंगोलिया में 'पूर्व स्थिति' (Status quo) दक्षिणी सखालिन तथा कुराइल द्वीपों पर रूसी स्वामित्व डाइरेन का अन्तर्राष्ट्रीयकरण (Internationalization of Dairen) पोर्ट आर्थर में एक रूसी नौसैनिक अड्डे की स्थापना तथा एक चीनी-रूसी कम्पनी द्वारा मंचूरियन रेलवे के संयुक्त संचालन की शर्तों के साथ जर्मनी के आत्म-समर्पण के दो तीन महीने बाद जापान के विरुद्ध युद्ध में शामिल हो जाएगा। स्टालिन ने यह भी कहा था कि वह चीन की 'राष्ट्रवादी' सरकार को ही वैध सरकार के रूप में मान्यता प्रदान करेगा।

लेकिन रूस द्वारा याल्टा-समझौतों की उपेक्षा की गई। राष्ट्रपति रूजवेल्ट की मृत्यु के बाद अप्रैल १९४५ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने हैरी हॉपकिन्स को मास्को यह सूचित करने के लिए भेजा कि उसका राष्ट्र (अमेरिका) रूजवेल्ट की नीतियों को क्रियान्वित करने पर कटिबद्ध है। प्रत्युत्तर में स्टालिन

+*Sherwood, Robert* : Roosevelt and Hopkins Vol. II, P 516.

द्वारा यह आश्वासन दिया गया कि सोवियत संघ भी याल्टा-समझौतों के पालन से पीछे नहीं हटेगा।

रूस ने उपरोक्त आश्वासन भले ही दे दिया परन्तु उसकी नीति याल्टा समझौतों का पालन करने की न थी। उसने अनेक ऐसी कार्यवाहियाँ कीं जिनसे पश्चिमी राष्ट्रों को यह स्पष्ट हो गया कि रूसी दृष्टिकोण में याल्टा समझौता रद्दी कागजों के ढेर के अलावा कुछ नहीं है—

(i) रूस ने पोलैण्ड में स्वतन्त्र चुनावों पर आधारित एक प्रतिनिधिक सरकार की स्थापना करने की अपेक्षा पोलिश जनता पर अपने द्वारा संरक्षित 'लुबलिन-सरकार' (Lublin Government) को लादने का प्रयत्न किया। इस कठपुतली 'लुबलिन सरकार' अथवा (Polish Committee of National Liberation) की स्थापना दिसम्बर १९४१ में रूसी भूमि पर की गई थी और २५ अप्रेल १९४३ को रूस ने प्रवासी पोलिश सरकार से सम्बन्ध तोड़ कर २१ जुलाई, १९४४ को लुबलिन सरकार से जोड़ लिये थे।

रूस ने न केवल लुबलिन सरकार को पोलिश जनता पर लादा ही बल्कि देश के अन्य प्रजातन्त्रीय दलों को गिरफ्तार भी कर लिया। पोलैण्ड के कैटिन (Katyn) वन-हत्याकाण्ड में ८ हजार गैर साम्यवादी पोलों का लाल सेना द्वारा सफाया कर दिया गया। यह आशंका भी की जाती है कि संभवतः ११ हजार अन्य लापता पोलों के साथ भी ऐसा ही व्यवहार किया गया होगा।* जब अमेरिकन और ब्रिटिश प्रेक्षकों ने पोलैण्ड में प्रवेश करना चाहा तो इसकी उन्हें अनुमति नहीं दी गई।

रूस की लाल सेना द्वारा पूर्वी यूरोप में साम्यवादी दलों के प्रोत्साहन और विरोधी तत्वों के विनाश ने मित्र राष्ट्रों को बड़ा चिन्तित बना दिया और रूस के प्रति गहरी आशंका व सन्देह का वातावरण उनके मन-मानस में पुष्ट हो गया।

(ii) हंगरी बल्गेरिया रूमानिया और चैकोस्लोवाकिया में भी रूस द्वारा युद्ध-विराम समझौतों तथा याल्टा व पाट्सडम संधियों का उल्लंघन किया गया। रूस द्वारा मित्र राष्ट्रों के साथ पहले यह निश्चय किया गया था कि—नाजियों से मुक्त किए गए राष्ट्र अपनी इच्छानुसार लोकतंत्रीय संस्था चुनेंगे और इसके लिए मित्र राष्ट्रों के बीच सम्मिलित विचार-विनिमय किया जाएगा। परन्तु रूस ने इस पूर्व निश्चय को ठुकराते हुए पूर्वी यूरोप के इन सभी देशों में प्रजातन्त्र की पुनर्स्थापना में मित्र राष्ट्रों के साथ सहयोग करने से इन्कार कर दिया और इन देशों के जनमत तथा पश्चिमी राष्ट्रों के विरोध की पूर्ण अवहेलना करते हुए वहाँ रूस-समर्थक सरकारें स्थापित कर दीं।

रूस द्वारा याल्टा और पोट्सडम समझौतों की इस खुली अवहेलना और उसके बढ़ते हुए प्रभाव ने पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के प्रति संदेह भावना को और भी बढ़ाया।

**Charles Schleicher* : Introduction to International Relations, p 42

(iii) सन् १९४४ के मध्य साम्यवादी सेना बाल्कन प्रदेश में प्रविष्ट हो गई। इस पर चर्चिल को आशंका हुई कि रूस सामरिक महत्त्व के इस सम्पूर्ण क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लेगा। अतः १९४४ में ही उसने स्टालिन के साथ पूर्वी यूरोप के विभाजन के प्रश्न पर यह निर्णय किया कि रूस को बल्गारिया व रूमानिया पर छाये रहने की अनुमति होगी और ब्रिटेन को यूनान में इसी प्रकार के अधिकार प्राप्त होंगे। यह निश्चय किया गया कि हंगरी और यूगोस्लाविया में दोनों ही देशों का समान प्रभाव माना जायगा। बाद में स्लीचर के कथनानुसार चर्चिल के मत में यह व्यवस्था तत्कालीन युद्ध-सम्बन्धी परिस्थिति का नियमन थी और इसमें पूर्ण समझौते की कोई आशा उन्हें प्रतीत नहीं होती थी।* पश्चिमी देशों के लिए यह स्थिति बड़ी चिन्ता-जनक और भय तथा आशंका से परिपूर्ण बन गई कि जर्मनी द्वारा आत्म-समर्पण किये जाने से पूर्व ही रूसी फौजों ने यूनान के उत्तर में अधिकांश पूर्वी और दक्षिण पूर्वी यूरोप पर अपना नियन्त्रण जमा लिया। जनता पर साम्यवादी सरकारें थोप दी और कुछ ही वर्षों में यूनान और बाल्टिकसागर के बीच सुदृढ़ अमिट तानाशाही राज्य स्थापित हो गये।

(iv) सोवियत रूस को जापान के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने की प्रतिज्ञा और उसके द्वारा मित्रराष्ट्रों को साइबेरियाई अड्डों की सुविधा प्रदान करने में हिचकिचाहट ने भी पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के प्रति संदेह और शंका को बढ़ाया। रूस ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषणा तभी की जब अमेरिका द्वारा प्रथम अणुबम के प्रहार से जापान की पूर्ण पराजय एकदम सुनिश्चित सन्निकट हो गई। साइबेरियाई अड्डों की सुविधा मित्रराष्ट्रों ने इसलिए चाही थी कि इससे प्रशान्त सागरीय युद्ध शीघ्र समाप्त हो जाने में सहायता मिलती।

(v) पश्चिमी देश रूस की इस बात से भी बड़े क्षुब्ध हुए कि ब- ब्रिटिश-अमेरिकन अधिकारी इटली में जर्मन सेनाओं के आत्मसमर्पण के बारे एक जर्मन सेना से वार्ता कर रहे थे तथा स्टालिन ने रूजवेल्ट को एक लिखा जिसमें उन पर और चर्चिल पर इस प्रकार का आरोप लगाया ब्रिटिश अमेरिकन अधिकारियों की जर्मन सेनापति से वार्ता का अ- यह है कि रूसी सेनाओं के बर्लिन पहुँचने से पूर्व ही आंग्ल अमरीकी सेनायें उस पर कब्जा कर लें।

(vi) सोवियत रूस द्वारा चीन में भी युद्धोत्तर-समझौतों की गंभीर अवहेलना की गई। मंचूरिया स्थित सोवियत फौजों ने सन् १९४६ के प्रारम्भ से राष्ट्रवादी सेनाओं को तो वहाँ प्रवेश तक नहीं करने दिया जबकि साम्यवादी सेनाओं को प्रवेश-सम्बन्धी सभी सुविधायें देते हुए वह सम्पूर्ण युद्ध सामग्री भी सौंप दी, जो जापानी सेना आत्म समर्पण समय छोड़ गई थी।

---

*Charles Schleicher Introduction to International Relations, p. 421

(२) रूसी सेनाओं का ईरान से न हटाया जाना—१९४२ में एक समझौते द्वारा यह निश्चित हुआ था कि युद्ध के दौरान जिन विदेशी सेनाओं ने ईरानी प्रदेश में प्रवेश किया था उन्हें जर्मनी द्वारा आत्मसमर्पण के अधिकतम ६ माह बाद वहां से हटा लिया जायगा। युद्ध के उपरान्त एंग्लो अमेरिकन फौजें दक्षिणी ईरान से हटा ली गयीं लेकिन रूसी फौजें उत्तरी ईरान में ज्यों की त्यों जमी रहीं। इतना ही नहीं रूस ने इस उत्तरी क्षेत्र में साम्यवादी पार्टी को समर्थन देकर क्रान्ति कराने का प्रयत्न भी किया। यद्यपि बाद में काफी प्रयासों और संयुक्त राष्ट्र संघीय हस्तक्षेप के बाद रूसी फौजें ईरान से हटा ली गयीं किन्तु यह घटना पाश्चात्य राष्ट्रों के सन्देह और और अविश्वास को पनपाने में सहायक हुई।

(३) टर्की पर रूसी दबाव—युद्ध की समाप्ति के तुरन्त बाद रूस ने टर्की से कुछ भू-प्रदेश एवं बास्फोरस (Bosphorus) में सैनिक अड्डे निर्मित करने के अधिकार की मांग की। इन प्रदेशों पर प्रभुत्व पाने के लिए वह टर्की पर प्रभाव डालने और उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने लगा। पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस के इस कदम को सर्वथा अनुचित बताते हुए अपनी नाराजगी प्रकट की और संयुक्त राज्य अमरिका ने उसे यह चेतावनी दी कि यदि उसने टर्की पर आक्रमण किया तो यह विषय सुरक्षा परिषद् में पेश किया जायगा। ईरान, यूनान और टर्की की घटनाओं के कारण ही अमेरिका ने इन देशों को अपनी सुरक्षा हेतु आर्थिक सहायता देना प्रारम्भ किया।

(४) रूस का अमेरिका विरोधी प्रचार अभियान—साम्यवादी पत्रों ने युद्ध समाप्त होने के कुछ समय पूर्व से ही अमेरिकन नीतियों और नीति निर्माताओं के विरुद्ध विष-वमन करना शुरू कर दिया। साम्यवादी पत्रों 'प्रावदा' और 'इजवेस्तिया' में अमेरिका के प्रति घोर आलोचनात्मक लेख प्रकाशित होने लगे। इस 'प्रचार-अभियान' से अमरिका के सरकारी और गैर-सरकारी क्षेत्रों में बड़ा विक्षोभ फैला। यद्यपि यह प्रमाणित नहीं हो सका कि इस आलोचना को प्रोत्साहन देने के पीछे क्रेमलिन का हाथ था किन्तु इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता था कि यदि रूसी अधिकारी चाहते तो ऐसी अवांछित भावनाओं को रोका जा सकते थे। अमेरिकन राष्ट्र इस बात को भली भांति समझता था कि इस प्रचार का उद्देश्य एशिया एवं अफ्रीका की जनता की दृष्टि में अमरिका को बदनाम करना था।

(५) रूस द्वारा जर्मनी पर बोझ लादना—युद्ध काल में जर्मनी के हाथों सर्वाधिक जन धन की हानि रूस को उठानी पड़ी। याल्टा-सम्मेलन में स्टालिन ने मांग की कि जर्मनी से क्षति-पूर्ति स्वरूप रूस को १० बिलियन डालर दिलाये जायें। अमरिकन राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रूस की मांग को "अग्रिम वार्ता के आधार के रूप में" स्वीकार कर लिया। परन्तु स्टालिन ने इसका अर्थ यह लगाया कि उसकी मांग अन्तिम रूप से स्वीकार कर ली गई है। अतः युद्धोपरान्त उसने जर्मन उद्योगों को खण्डित-विखण्डित करते हुए मूल्यवान

मशीनों का स्थानान्तरण रूस में करना शुरू कर दिया। रूस के इस कार्य से पहले ही से अस्त-व्यस्त जर्मन आर्थिक व्यवस्था पर अतिरिक्त रूप से भारी बोझ पड़ा। ब्रिटेन और अमेरिका में रूस की इस कार्यवाही से काफी विक्षोभ फैल गया और साथ ही उन्हें विवश होकर जर्मन अर्थ-व्यवस्था की सहायतार्थ पर्याप्त धन व्यय करना पड़ा।

रूस ने जर्मनी सम्बन्धी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के भी अनेक गम्भीर उल्लंघन किये—

(i) १ अगस्त १९४५ के पोट्सडम समझौते तथा मित्रराष्ट्रीय नियंत्रण परिषद (Allied Control Council) के बाद के निर्णयों में यह निश्चित हुआ था कि जर्मन जनता को कुछ आधारभूत व्यक्तिगत राजनीतिक स्वतंत्रताओं से वंचित नहीं किया जायगा। लेकिन सोवियत संघ ने अपने द्वारा अधिकृत जर्मन क्षेत्र के हजारों व्यक्तियों को कैद करके रूस भेज दिया था बंदी-शिविरों में डाल दिया।

(ii) पूर्वी जर्मनी की जनता को पश्चिमी जर्मनी की जनता से एकदम पृथक कर दिया गया।

(iii) अप्रैल १९४६ में कम्युनिस्टों ने जर्मन समाजवादी दल को बलपूर्वक साम्यवादी दल में इसलिये मिला दिया कि बर्लिन और पूर्वी क्षेत्र के समाजवादी मतदाताओं को अपने काबू में रखा जा सके।

(iv) पोट्सडम-संधि में यह निश्चय हुआ था कि जर्मनी को एक पृथक आर्थिक इकाई माना जायगा और सभी आवश्यक पदार्थों का विविध क्षेत्रों में समान वितरण किया जायगा। लेकिन रूस ने अप्रैल १९४६ में स्पष्ट रूप से यह कह दिया कि प्रत्येक क्षेत्र अपना व्यापार स्वयं करे। इसके अतिरिक्त फिनलैंड पूर्वी आस्ट्रिया हंगरी बल्गेरिया और रूमानिया में जर्मनी की जो सम्पत्ति (German External Property Commission) के अधिकार में रखी थ थी उसका रूस ने स्वयं उपयोग किया।

(v) २६ सितम्बर १९४४ को प्रकाशित लंदन प्रोटोकोल नामक समझौते में मुताबिक बर्लिन की प्रशासन व्यवस्था के बारे में कहा गया था कि बर्लिन पर अस्थाई रूप से अधिकार करने वाली शक्तियों को बर्लिन-प्रवेश का मार्ग प्राप्त होगा। परन्तु जून १९४८ में सोवियत संघ ने बर्लिन की घुमाव नाकेबंदी का दौर चलाया और पश्चिमी बर्लिन तथा पश्चिमी जर्मनी के बीच सभी रेल सड़क और जल यातायात भी बंद कर दिया। यही नहीं रूस हजारों जर्मन-युद्ध बंदियों और नागरिकों का स्वदेश लौटने की अनुमति देने इन्कार कर दिया।

(vi) याल्टा समझौते और पोट्सडम-प्रोटोकोल दोनों में ही यह तय किया गया था कि जर्मन-पोलिश सीमा का निर्णय जर्मनी के साथ पूर्ण निपटारे तक उठा रखा जाये। लेकिन रूस ने इस समझौते की कोई परवाह न करते हुए ओडर-नीसे (Oder Ni-sse) रेखा का जर्मन-पोलिश-सीमा के रूप में मान लिया और पुलिश सरकार को यह अनुमति प्रदान कर दी गई कि वह उस भूमि पर कब्जा करके वहां बसे जर्मन नागरिकों को बाहर

निकास है। ६ जुलाई, १९५० को पोलैण्ड और पूर्वी जर्मनी (रूस-संरक्षित) ने एक समझौते पर भी हस्ताक्षर कर दिये जिसके अनुसार ओडर नीसे रेखा को मान्यता प्रदान कर दी गई।

(६) रूस द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ में निषेधाधिकार का बारम्बार प्रयोग—पश्चिमी राष्ट्र और विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका को यह बात बहुत खली कि संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपना काम ठीक प्रकार से शुरू भी नहीं किया था कि सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार के अनियंत्रित प्रयोग द्वारा उसके मार्ग में बाधायें डालना आरम्भ कर दी। सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ को अमेरिका और पश्चिमी शक्तियों की विदेश नीति का एक अस्त्र समझ कर निषेधाधिकार के बल पर सुरक्षा परिषद में उनके (पश्चिमी राष्ट्रों व अमेरिका के) लगभग प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने की नीति अपना ली। इसका स्पष्ट परिणाम यह हुआ कि पश्चिम ने यह धारणा बना ली कि सोवियत रूस एक ऐसे संगठन को नष्ट करने का प्रयास कर रहा है जिसकी स्थापना विश्व-शान्ति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए हुई है। इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि जहाँ अगस्त १९५१ तक अमेरिका ने एक बार भी निषेधाधिकार का प्रयोग नहीं किया था वहाँ रूस ४५ बार इसका प्रयोग कर चुका था। इंगलैंड ने दो बार और फ्रान्स ने चार बार और चीन (राष्ट्रवादी) ने एक बार इस अधिकार का प्रयोग किया था।

(७) रूस द्वारा शान्ति-व्यवस्था में विघ्न—महायुद्ध की समाप्ति के उपरान्त शान्ति-व्यवस्था की पुनर्स्थापना के मार्ग में रूस द्वारा इतनी अड़ंगेबाजी की गई कि उससे पश्चिमी शक्तियों के हृदय में रूस के प्रति बेहद शंकायें पैदा हो गयीं। इटली के साथ शांति-संधि तय करने के लिए लन्दन में जो विदेश मंत्रियों की परिषद बुलाई गई उसमें रूसी विदेश मन्त्री मोलोतोव ने अपनी ऐसी माँगें प्रस्तुत की कि पश्चिमी राष्ट्र स्तब्ध हो गये। परिणाम यह निकला कि विदेश मन्त्री परिषद की बैठकें शान्ति की समस्यायें सुलझाने के स्थान पर उन्हें उलझा कर नये विवाद आरम्भ करने लगीं।

(८) अमेरिका में साम्यवादी गतिविधियाँ—सोवियत रूस ने न केवल अन्य देशों में बल्कि स्वयं संयुक्त राज्य अमेरिका में भी साम्यवादियों को विभिन्न प्रकार से प्रेरित किया। सन् १९४५ के आरम्भ में 'स्ट्रेटेजिक सर्विस' (Strategic Services) के अधिकारियों को पता चला कि उनकी संस्था के बहुत से गुप्त दस्तावेज (Secret Documents) साम्यवादी संरक्षण में चलने वाले 'अमेरेशिया' (Amerasia) नामक मासिक पत्र के सम्पादक के हाथ में पहुँच गए हैं। इसके अतिरिक्त १९४६ में 'कनाडियन शाही आयोग' (Canadian Royal Commission) की रिपोर्ट ने यह प्रमाणित किया कि कनाडा का साम्यवादी दल 'सोवियत संघ की एक भुजा' (An arm of the Soviet Government) है। इस आयोग ने अनेक सोवियत जासूसी गिरोहों का पता लगाया और यह रहस्योद्घाटन किया कि विश्वसनीय पदों पर आसीन अनेक कनाडी व्यक्ति (Canadians) जिनमें एक संसद सदस्य व एक प्रमुख अणु वैज्ञानिक भी शामिल हैं, साम्यवादी गुट के एजेन्ट हैं और

उन्होंने मास्को को आणविक भेद तथा यूरेनियम धातु के नमूने भेजे हैं। इस रिपोर्ट से अमेरिकन सरकार साम्यवादियों के प्रति पूरी तरह सशंकित हो गई और सम्पूर्ण अमेरिकन राष्ट्र तथा अन्य पश्चिमी शक्तियों में रूस के प्रति विक्षोभ की गहरी लहर फैल गई। दूसरी ओर मास्को रेडियो ने प्रजातन्त्रात्मक सरकारों के विरुद्ध अपना प्रचार-अभियान तेजी से चालू रखा।

पश्चिमी राज्यों ने उपरोक्त शिकायतें करते हुए और विभिन्न आरोप लगाते हुए सोवियत संघ के प्रति अपना पूर्ण अविश्वास व्यक्त कर दिया। अगस्त १९४६ में अमेरिका के राज्य सचिव बर्नेस और ब्रिटिश विदेश मन्त्री बेविन ने इस बात पर अत्यन्त क्षोभ प्रकट किया कि सोवियत संघ ने किसी भी रूप में अपने पवित्र वचन का पालन नहीं किया है। पूर्वी यूरोप के सोवियत नियन्त्रण को चुनौती देते हुए उन्होंने घोषणा की—

"हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।"

ब्रिटेन के प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल ने अमेरिकन राष्ट्रपति श्री ट्रूमैन की उपस्थिति में साम्यवाद के विरोध की एक नई नीति का निर्देश ५ मार्च १९४६ को अपनी सुप्रसिद्ध "फुल्टन वक्तृता" (फुल्टन नामक स्थान पर चर्चिल ने यह वक्तव्य दिया था) में किया। इस भाषण में चर्चिल ने यूरोप के आर-पार सोवियत "लौह आवरण' (Iron Curtain) की निन्दा की तथा 'स्वतन्त्रता की दीपशिखा प्रज्ज्वलित रखने एवं ईसाई सभ्यता की सुरक्षा के लिए" एक एंग्लो-अमेरिकन गठबन्धन की मांग की। सन् १९४६ के अप्रैल मास के बाद से ही दोनों पक्षों (पश्चिमी व पूर्वी गुट) ने अपने मतभेदों को खुलेआम उगलना शुरू कर दिया। १२ मार्च १९४७ को यूनानी गृह युद्ध के सम्बन्ध में कांग्रेस से यूनान एवं टर्की को ४० मिलियन डालर की सहायता देने का अनुरोध करते हुए राष्ट्रपति ट्रूमैन ने विख्यात 'ट्रूमैन सिद्धान्त" (Truman Doctrine) का प्रतिपादन किया। इस सिद्धान्त के अन्तर्गत उन्होंने उन सभी स्वतन्त्र देशों को सहायता देने की नीति पर बल दिया जो सशस्त्र अल्पसंख्यकों अथवा बाह्य शक्तियों के द्वारा आधिपत्य स्थापित करने के प्रयत्नों का विरोध कर रहे थे। ५ जून १९४७ को 'मार्शल योजना' की घोषणा की गई जिसका उद्देश्य यूरोप की अस्त-व्यस्त आर्थिक दशा को सुधारने का था। जहां पाश्चात्य यूरोपियन राष्ट्रों ने इस योजना का उत्साह पूर्वक स्वागत किया वहां रूस ने इसे अपने लिए गम्भीर चुनौती समझा। १ जुलाई, १९४७ को ब्रिटेन और फ्रांस ने यूरोपियन आर्थिक पुनरुत्थान की समस्या पर विचार करने के लिए पेरिस में २२ देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें प्रारम्भ में तो पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने भाग लेने की इच्छा प्रकट की परन्तु बाद में सोवियत रूस के विरोध के कारण इस निमन्त्रण को ठुकरा दिया। एटली (Attle) के शब्दों में—'जब पोलैण्ड और चैकोस्लोवाकिया ने मार्शल सहायता के विचार को स्वीकार कर लिया तब पूर्वी और पश्चिमी यूरोप के एकीकरण की उसकी (बेविन की) आशायें

छ भी उठ गयीं। परन्तु स्टालिन के आदेश पर इन स्वीकृतियों के परावर्तन ने इस मात्रा को नष्ट कर दिया। वस्तुतः यह 'शीत युद्ध' का एक घोषणा थी।

(ख) युद्ध की (रूस की) पश्चिम के विरुद्ध शिकायतें—पश्चिमी राज्यों द्वारा रूस के विरुद्ध जो आरोप लगाए गए, उनसे यह नहीं समझना चाहिए कि शीत-युद्ध के नाटक का एकमात्र खलनायक सोवियत रूस ही था। जहां पश्चिमी शक्तियों ने अपने विभिन्न आरोपों द्वारा यह सिद्ध करने की चेष्टा की कि पूरी तरह से शुरुआत केवल सोवियत संघ ने ही की है और उसी ने सारे पूर्ववर्ती समझौतों व निश्चयों का उल्लंघन किया है वहां 'पूर्व' न अर्थात् सोवियत संघ और उसके समर्थक राष्ट्रों ने अपने आरोपों से यह प्रमाणित करने की चेष्टा की कि युद्धोत्तर काल के तनाव और अशान्ति का सारा दोष पश्चिमी राष्ट्रों का है। जहां पश्चिमी शक्तियों ने साम्यवादियों को 'गुण्डों का निकृष्टतम गिरोह' (Worst scoundrels) कहा वहां रूसियों ने उन्हें 'लुटेरों तथा डाकुओं के गुट' (A den of robbers) की संज्ञा दी। रूस और उसके समर्थक राष्ट्रों द्वारा पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध जो शिकायतें की गयी—वे इस प्रकार थीं—

(1) युद्धकाल में पश्चिम द्वारा 'द्वितीय मोर्चा' खोले जाने में देरी—रूस की पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध एक सबसे बड़ी शिकायत यह थी कि जर्मनी द्वारा पूरी तरह से दबे रहने की स्थिति में स्टालिन ने मित्र राष्ट्रों से बार-बार अनुरोध किया था कि पश्चिमी यूरोप में जर्मनी के विरुद्ध दूसरा मोर्चा खोला जाय ताकि सोवियत रूस पर किए जाने वाले जर्मन आक्रमण में कमी आ सके। परन्तु रूजवेल्ट और चर्चिल ने रूस की इस प्रार्थना पर ध्यान नहीं दिया पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा रूसी सुझाव को यह कह कर अस्वीकार कर दिया गया कि उनकी तैयारी अभी अधूरी है। दूसरा मोर्चा खोले जाने में पर्याप्त विलम्ब किये जाने का परिणाम यह हुआ कि सोवियत रूस को जर्मनी के हाथों धन-जन की भयंकर क्षति उठानी पड़ी। इस हानि की ओर संकेत करते हुए स्वयं आइजनहोवर ने लिखा है— १९४५ में जब हम हवाई जहाज से रूस गये तो हमने इसकी पश्चिमी सीमा से मास्को तक के विशाल प्रदेश में एक भी मकान खड़ा नहीं देखा।" लैंगसम के लेखानुसार "विध्वंस और विनाश के इस ताण्डव में रूस द्वारा उठाई गई असीम धन-जन की क्षति का सही अनुमान लगाना बहुत कठिन है फिर भी यह कहा जा सकता है कि रूसवासी क. लगभग डेढ़ करोड़ रूसियों के बलिदान से अवश्य भरा होगा।" इतनी अधिक मात्रा में धन-जन की हानि के कारण रूस में मित्र राष्ट्रों की नेकनियती पर शंका उत्पन्न हो गई। सोवियत नेताओं और इतिहासकारों ने यह मान्यता प्रकट की कि अमेरिका और ब्रिटेन ने खूब सोच-समझ कर तथा जान-बूझ कर दूसरा मोर्चा खोलने में देर की थी ताकि जर्मनी किसी तरह रूस की साम्यवादी व्यवस्था का नाश कर दे। वास्तव में रूस के मन में सन्देह के बीज तो तभी पड़ गये थे जब मित्र राष्ट्रों ने अधूरी तैयारी के बहाने पर दूसरे मोर्चे को खोलने की सोवियत प्रार्थना टाल दी थी। बैली (Bailey) के

शब्दों में "इससे क्रेमलिन में यह सन्देह जड़ पकड़ गया कि पश्चिमी राष्ट्र जो युद्धोत्तर वर्षों में एक शक्तिशाली सोवियत संघ के उत्थान की संभावना से भयभीत हैं, युद्ध के प्रवाह में डूबने से पूर्व रूस को पूर्णतया आहत तथा शक्तिहीन' हुआ देखना चाहते हैं।"*

(ii) पश्चिमी देशों की फासिस्ट देशों से सांठ-गांठ—रूस ने इस बात पर बड़ा विक्षोभ प्रकट किया कि सैनिक व्यावहारिकता की आड़ में अमेरिका ने इटली और फ्रांस के फासिस्ट तत्वों से सम्पर्क स्थापित किया है और फिनलैण्ड द्वारा रूस के विरुद्ध युद्ध में सम्मिलित होने तथा लेनिनग्राड पर आक्रमण करने के काफी समय बाद तक वाशिंगटन से उससे अपने कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद नहीं किए।

(iii) युद्धकाल में पश्चिम की अपर्याप्त सहायता—सोवियत संघ ने युद्धकाल में जर्मनी द्वारा रूस पर आक्रमण होने पर रूस द्वारा यह आक्षेप लगाया कि युद्धकाल में सैनिक सहायता सोवियत रूस को दी वह रूस द्वारा पश्चिमी देशों ने जो भी सैनिक सहायता सोवियत रूस को दी वह रूस द्वारा उत्पन्न की गई युद्ध सामग्री का अत्यल्प भाग केवल ४ प्रतिशत था। वास्तव में मित्र राष्ट्रों की आन्तरिक इच्छा यही थी कि रूस जर्मनी के साथ संघर्ष में बिल्कुल क्षीण हो जाय। इसीलिये उन्होंने प्रथम तो बहुत विलम्ब से और दूसरे अत्यल्प मात्रा में केवल दिखावे के लिए सहायता दी। फिर जो कुछ भी सहायता दी गई वह भी इसीलिये कि पश्चिमी राष्ट्र समझ गए थे कि जर्मनी द्वारा रूस को पूर्ण रूप से नष्ट किया जाना सारे संसार के लिए घातक सिद्ध होगा।

(iv) अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखना— अमेरिका ने अणु बम के आविष्कार को सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा जबकि ब्रिटेन और कनाडा को इस बात का पता था। जब इस अणु बम का प्रयोग जापान पर किया गया तो उससे केवल हिरोशिमा का ही विनाश नहीं हुआ अपितु मित्र राष्ट्रों की मैत्री भी टूट गई। स्टालिन ने अमेरिका द्वारा अणुबम के रहस्य को रूस से गुप्त रखने की बात को परस्पर विश्वासघात माना इससे उसे व्यक्तिगत रूप से भी बड़ा दुःख हुआ। परिणामस्वरूप रूस और अमेरिका में परस्पर तनाव उत्पन्न हो गया और दोनों ही देश गुप्त रूप से वैज्ञानिक अस्त्र-शस्त्रों के आविष्कार की होड़ में लग गए। रूस ने युद्ध-समाप्ति के बाद ४ वर्षों में ही अणु बम के रहस्य का पता लगा लिया और अक्टूबर १९५७ में तो स्पूतनिक छोड़ कर वैज्ञानिक क्षेत्र में अमेरिका को मात दे दी।

(v) सोवियत संघ को 'लैण्ड लीज सहायता बन्द किया जाना— अमेरिका द्वारा 'लैण्ड लीज अधिनियम' (Land Lease Act) के अन्तर्गत सोवियत संघ को जो आर्थिक सहायता दी जा रही थी उससे यह (रूस) पहले से ही असंतुष्ट था क्योंकि सहायता एकदम ना-काफी थी। किन्तु यूरोप में विजय के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जब यह आर्थिक सहायता भी

*Bailey op. cit., p 811

एकाएक बंद कर दी तो सोवियत रूस इससे भड़क उठा। अमेरिका द्वारा इस सहायता को रोकने और पश्चिमी शक्तियों द्वारा स्टालिन की क्षति-पूर्ति की मांगों के विरोध ने मास्को का यह संदेह विश्वास में परिणत कर दिया कि पाश्चात्य राष्ट्र साम्यवादी रूस के शत्रु हैं और उसे फलते-फूलते नहीं देखना चाहते।

(vi) सोवियत विरोधी प्रचार अभियान—रूस पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति इस बात से भी बहुत असंतुष्ट था कि युद्धकाल में ब्रिटिश सरकार अपनी सेनाओं में निरन्तर सोवियत-विरोधी साहित्य का प्रचार करती रही। युद्धोपरान्त जहाँ पश्चिमी शक्तियों ने रूस पर पश्चिम के विरुद्ध विष-वमन का आरोप लगाया वहाँ रूस ने भी पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध यही शिकायत की। पश्चिमी प्रेस खुले आम साम्यवादी दल के प्रति घृणा-प्रचार में संलग्न हो गए। साम्यवादी खतरे को खूब बढ़ा-चढ़ा कर पेश किया जाने लगा और ऐसा वातावरण पैदा करने की भरसक चेष्टा की जाने लगी कि जनता में मास्को के भावी इरादों के प्रति भय और आशंका की भावनायें व्याप्त हो जायें। सोवियत सेनाओं के बर्लिन के निकट पहुँचते ही अमेरिकन समाचार पत्रों में इस प्रकार के शीर्षक छपने शुरू हो गए—'साम्यवादी प्रसार से ईसाई सभ्यता के डूबने का खतरा" "सोवियत संघ विश्व का एकमात्र आक्रामक राज्य" आदि। जिस सोवियत संघ ने अपार हानि सह कर अद्भुत शौर्य के साथ दुर्दमनीय नाजी शत्रु को पछाड़ा था और जिसके बलिदानों ने मित्र राष्ट्रों की विजय को सरल बना दिया था उसी के विरुद्ध इस प्रकार का अनर्गल प्रचार मास्को को एकदम क्षुब्ध कर देने वाला था।

(vii) ५ मार्च १९४६ को चर्चिल के विख्यात 'फुल्टन वक्तृता' ने सोवियत रूस को एकदम चौकन्ना कर दिया। इसमें इस बात का स्पष्ट निर्देश था कि 'हमें तानाशाही के एक स्वरूप के स्थान पर उसके दूसरे स्वरूप के संस्थापन को रोकना चाहिए।" यह दूसरा स्वरूप साम्यवादी साम्राज्यवाद के अतिरिक्त और क्या हो सकता था? चर्चिल का विचार था कि साम्यवाद के प्रसार को सीमित रखने के लिए प्रत्येक संभव उपाय का अवलम्बन किया जाना चाहिए।

(viii) 'पश्चिम' के प्रति विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध रूसी संदेहों और आशंकाओं में तब आशातीत वृद्धि हो गई जब २० सितम्बर १९४६ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भूतपूर्व उपराष्ट्रपति तथा तत्कालीन वाणिज्य सचिव हेनरी ए. वैलेस को केवल इस अपराध पर त्यागपत्र देने को कहा कि उसने १२ सितम्बर को न्यूयार्क में अपने एक सार्वजनिक भाषण में सोवियत संघ तथा अमेरिका के बीच मैत्री-स्थापना की अपील की थी। इसके कुछ ही माह बाद राज्य सचिव डीन एचीसन ने १० फरवरी १९४७ को सीनेट के सम्मुख स्पष्ट रूप से घोषणा की कि 'रूस की विदेश नीति आक्रामक तथा विस्तारवादी है।' इसके बाद ही साम्यवाद के विरोध के नाम पर और सोवियत-विस्तार को रोकने के लिए 'ट्रूमैन सिद्धान्त' 'मार्शल-योजना' आदि का सूत्रपात हुआ। सोवियत संघ ने इन सब कार्यवाहियों को अपने अस्तित्व के लिए एक चुनौती माना। २२ अक्टूबर को मार्शल योजना के जवाब में यूरोप के नौ

साम्यवादी देशों का कामिन फार्म स्थापित किया गया। अब बात-बात पर झगड़ा होने लगा और एक-दूसरे के विरुद्ध गाली-गलौज और आरोपों-प्रत्यारोपों के गोले बरसाये जाने लगे।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से यह तथ्य भली भाँति स्पष्ट हो जाता है कि युद्धोत्तर काल में पूर्व और 'पश्चिम' के मध्य एक गहरी खाई खुद चुकी थी जिसके बीज १९१७ की सोवियत क्रान्ति से लेकर द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक के इतिहास में अच्छी तरह बोये जा चुके थे। जब पश्चिमी देशों पर शीतयुद्ध को प्रारम्भ करने का आरोप लगाया जाता तो संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में संपूर्ण अमेरिकन गुट शीतयुद्ध का सम्पूर्ण उत्तरदायित्व सोवियत रूस पर डालता था। इस सम्बन्ध में दोनों पक्षों द्वारा दिये गये तर्कों के कुछ और उदाहरण उल्लेखनीय हैं—

१८ सितम्बर १९४७ को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा में सोवियत प्रतिनिधि विशिंस्की (Vyshinsky) ने कहा—

"कुछ देशों जिनमें संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रमुख स्थान है के युद्धप्रिय और विस्तारवादी प्रयत्नों से जो युद्ध भावना उत्तेजित हुई है वह फैलती जा रही है। और अधिकाधिक विकराल रूप धारण कर रही है।"

१ अक्तूबर १९४७ को यूरोप के १८ प्रमुख साम्यवादी प्रतिनिधियों (जिनमें रूस के मोलोटोव तथा झुदानोव भी शामिल थे) ने मास्को और वारसा (पोलैण्ड) में एक साथ जो घोषणापत्र जारी किया उसके कुछ अंश इस प्रकार हैं—

"दो विरोधी राजनीतिक विचारधारायें स्पष्ट हो गई हैं। एक ओर सोवियत संघ तथा अन्य लोकतंत्रीय राज्यों का उद्देश्य साम्राज्यवाद का विनाश करना तथा जनतंत्र को मजबूत बनाना है। दूसरी ओर इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका का उद्देश्य साम्राज्यवाद को मजबूत बनाना तथा जनतंत्र का गला घोटना है। चूंकि सोवियत संघ तथा लोकतंत्रीय देश विश्व प्रभुत्व एवं लोकतंत्रीय आन्दोलनों के दमन की साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति में बाधक हैं, इसलिए इङ्गलैण्ड तथा अमेरिका के कट्टर साम्राज्यवादियों ने सोवियत संघ तथा नये जनतंत्र के प्रतीक अन्य देशों के विरुद्ध एक अभियान शुरू कर दिया है और इस अभियान को एक नये युद्ध की धमकी द्वारा तीव्र बनाया जा रहा है— इन परिस्थितियों में साम्राज्यवाद-विरोधी लोकतंत्रीय समुदाय के लिए संगठित होना तथा साम्राज्यवादी समुदाय की प्रमुख शक्तियों के विरुद्ध अपनी चालें तय करने हेतु एक सम्मिलित मञ्च (Common Platform) का निर्माण आवश्यक है।

पश्चिमी विद्वानों ने जो तर्क दिए वे रूस को शीत युद्ध के लिए उत्तरदायी ठहराते हैं। हैस और व्हिटिंग (Hass and Whiting) के मतानुसार 'विस्तारवाद रूस (रूसी) नीति का एक अन्तर्निहित अङ्ग है।" चार्ल्स ब्लोचर का लिखना है कि अनेक कारणों से द्वितीय महायुद्ध के बाद

रूस के लिए शीत-युद्ध का दृष्टिकोण अपनाना अनिवार्य हो गया—पहला कारण था पूंजीवादी विश्व की साम्यवादी के प्रति शत्रुता रूस पर जर्मन आक्रमण दूसरे मोर्चे को खोलने में देरी जर्मन आत्म-समर्पण के बाद अमेरिका द्वारा उधार पट्टे (Land Lease) को एकाएक समाप्त कर देना अमेरिका द्वारा रूस को ऋण देने से इन्कार करना आदि। दूसरा कारण था कि पिछ-लग्गू राज्य रूस पर निरन्तर इस बात के लिए दबाव डाल रहे थे कि वह एक क्रान्तिकारी वैदेशिक नीति अपनाये। तीसरे सोवियत अधिकारियों के सम्मान और विशेषाधिकारों को शीत-युद्ध की नीति के आधार पर ही बनाए रखा जा सकता था। चौथे सोवियत व्यवस्था में रूसी जनता को कठोर अनुशासन और परिश्रम का जीवन व्यतीत करना पड़ रहा था। ऐसे जीवन-यापन के औचित्य को शीत युद्ध की रक्षा नीति के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता था।

अन्त में निष्कर्ष यही निकलता है कि द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में शीत युद्ध के कारण कुछ भी क्यों न रहे हों १९४७ के मध्य तक यह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक कटु सत्य अवश्य बन गया। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में 'शीत-युद्ध' का जन्म एक इतना महत्वपूर्ण और प्रभावशाली विकास था कि इसने सम्पूर्ण विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित किया यद्यपि इसके प्रधान केन्द्र कुछ दो ही थे।

१९४७ से वर्तमान समय तक के शीत-युद्ध पर एक दृष्टि—१९४५ से १९४७ तक का काल 'शीत-युद्ध' के आरम्भ का काल था जिस पर पूर्ववर्ती विवरण में प्रकाश डाला जा चुका है। अब हम १९४७ के बाद के 'शीत युद्ध' के इतिहास की प्रमुख बातों की चर्चा करेंगे। द्वितीय महायुद्धोत्तर काल की संपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति ही 'शीत युद्ध' की सन्तान है और इस अवधि में अब तक जो भी घटनायें घटी हैं उनका प्रधान कारण अधिकांशतः 'शीत युद्ध' ही रहा है। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के जिस इतिहास का अध्ययन हम प्रस्तुत पुस्तक में कर रहे हैं वह संपूर्ण इतिहास ही अपने आप में इस 'शीत युद्ध' का इतिहास है। इसलिए प्रस्तुत संदर्भ में कुछ प्रमुख घटनाओं का संक्षिप्त दिग्दर्शन कराते हुए 'शीत युद्ध' के उतार-चढ़ाव को बताया जायगा।

(1) १९४७ से १९५३ तक शीत युद्ध—१९४७ से १९५३ तक पश्चिमी देशों और रूस में संयुक्त राष्ट्र संघ के भीतर और बाहर अणुशक्ति के नियंत्रण व नियमीकरण निःशस्त्रीकरण पराजित राष्ट्रों के साथ शांति संधियों जर्मनी बर्लिन यूरोपियन सुरक्षा समस्याओं एशिया एवं अफ्रीका के अल्प विकसित राष्ट्रों के भविष्य आदि अन्तर्राष्ट्रीय महत्व के लगभग सभी प्रश्नों पर तीव्र वाद-विवाद तथा कूटनीतिक संघर्ष चला। रूस द्वारा मार्शल योजना के प्रत्युत्तर में अक्टूबर १९४७ में यूरोप के नौ-साम्यवादी देशों के 'कामिन फार्म (Cominform or Communist Information Bureau) की स्थापना के बाद से ही शीत युद्ध की उग्रता बढ़ती गई। रूस ने पूर्वी यूरोप पर अपने नियंत्रण को और भी अधिक कठोर बना दिया। शक्ति के दो बड़े अथवा गुट या खेमे बन गये और उनमें अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों के विस्तार के लिए भी होड़ स्पर्धा होने लगी। रूसी दबाव के कारण फिनलैण्ड को मार्शल सहायता के प्रस्ताव को अस्वीकार करना पड़ा। परन्तु एक साम्यवादी देश

युगोस्लाविया ने ही अपने नेता मार्शल टीटो के नेतृत्व में स्टालिन के प्रभुत्व को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। मार्शल टीटो का यह काम 'शीतयुद्ध' की एक महत्त्वपूर्ण घटना थी क्योंकि जहाँ इसने एक तरफ गैर साम्यवादी देशों को नवीन बल प्रदान किया वहाँ दूसरी तरफ रूस के दृष्टिकोण को और भी अधिक कठोर बना दिया। १९४८ में रूस ने बर्लिन की नाकेबंदी करके एक नया संकट उत्पन्न कर दिया। इस घटना ने 'शीत युद्ध' को एक नया मोड़ दिया। बर्लिन के घेरे के समय ही दोनों पक्षों को ताकत आजमाने का पहले-पहल वास्तविक मौका मिला और शीत युद्ध में इस बार अमेरिका का रुख पहली बार अत्यधिक कठोर हो गया। यद्यपि रूस की बर्लिन नाके-बन्दी असफल सिद्ध हो गई और मई १९४८ में इस नाके-बंदी को समाप्त कर दिया गया परन्तु इस घटना का एक गम्भीर परिणाम यह निकला कि अब सोवियत संघ का विरोध करने के लिए अमेरिका तरह-तरह के सैनिक-संगठनों की स्थापना करने की दिशा में सक्रिय हो गया।* दूसरी ओर पहले से ही विभक्त जर्मनी 'शीत-युद्ध' का एक प्रधान केन्द्र बना रहा। ब्रिटेन फ्रांस और अमेरिका ने अपने द्वारा अधिकृत जर्मनी के तीनों पश्चिमी क्षेत्रों का एकीकरण कर दिया और इस तरह २१ सितम्बर १९४९ को "जर्मनी के संघीय गणतंत्र" (Federal Republic of Germany) अथवा पश्चिमी जर्मनी का उदय हुआ। मित्र राष्ट्रों अर्थात् उपरोक्त तीनों शक्तियों के इस कार्य के प्रत्युत्तर में ७ अक्टूबर १९४९ को जर्मनी के रूसी क्षेत्र में 'जर्मन प्रजातंत्रात्मक गणराज्यों' (German Democratic Republic) अथवा 'पूर्वी जर्मनी' की स्थापना कर दी गई। इस तरह पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी के दो जर्मन राष्ट्र अस्तित्व में आये और उनके एकीकरण का प्रश्न अभी तक शीत-युद्ध की बलिवेदी पर चढ़ा हुआ है तथा निकट भविष्य में जर्मनी के संयुक्त होने की कोई आशा नहीं दिखाई देती।

रूस के कठोर होते गये रुख और साम्यवाद के प्रसार की नीति का उत्तर पश्चिमी शक्तियों ने ४ अप्रेल १९४९ को 'नाटो' (NATO) की स्थापना करके दिया। शीत युद्ध का क्षेत्र केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहा वरन् एशिया भी इसकी लपेट में आ गया। रूस ने टर्की और ईरान में अपना प्रभाव बढ़ाना चाहा परन्तु पाश्चात्य शक्तियों की सहायता से ये दोनों देश रूसी दबाव का सफलतापूर्वक प्रतिरोध करते रहे। १ अक्टूबर १९४९ को पीकिंग में साम्यवादियों का जन-गणराज्य स्थापित हो जाने से

*"The Berlin blockade, from early 1948 until May 1949 was the first open test in the Cold War It was a struggle fought with weapons of blockade and air lift and not only this test did harden American resolution to carry containment through to completion it also helped to bring about the birth of the North Atlantic Treaty Organisation in April 1949"

—*Peter dyon* Neutralism, p. 32.

'शीत युद्ध' में बड़ी गर्मी आ गई। साम्यवादियों की इस विजय ने रूस के उत्साह को बहुत बढ़ा दिया। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार चीन सुरक्षा परिषद का एक स्थायी सदस्य है। परन्तु जब च्यांगकाई शेक की राष्ट्रवादी सरकार भाग कर फारमोसा चली गई तो चीन की साम्यवादी सरकार ने महासभा एवं सुरक्षा परिषद में अपना स्थान पाने की माँग की। परन्तु पश्चिमी गुट यह नहीं चाहता था कि सुरक्षा परिषद में सोवियत संघ का एक और समर्थक हो जाय। परिषद के ५ स्थायी सदस्यों में से २ साम्यवादी हो जाने के डर से संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीन की नई सरकार को मान्यता नहीं दी और साम्यवादी प्रतिनिधि के संघ में बिठाने का घोर विरोध किया। साम्यवादी चीन की सदस्यता की माँग का इस प्रकार ठुकरा दिए जाने का रूस द्वारा तीव्र विरोध किया गया और एक बार तो उसने परिषद की बैठकों तक का बहिष्कार कर दिया। वास्तव में साम्यवादी चीन की संघ में सदस्यता के प्रश्न को लेकर शीत युद्ध में जिस कटुता और गम्भीर वैमनस्य का समावेश हुआ उसने आगे आने वर्षों में शीत युद्ध की भयंकरता और पारस्परिक मतभेदों की तीव्रता को हर प्रकार से बढ़ाया। भारत ने भी चीन की सदस्यता के प्रश्न पर सदैव सोवियत गुट का समर्थन किया यद्यपि अब यह समर्थन उतना सक्रिय प्रतीत नहीं होता जितना कि पहले था। संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध के कारण ही साम्यवादी चीन आज तक संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बन पाया है और यह प्रश्न आज भी शीत युद्ध का एक प्रधान अङ्ग बना हुआ है। इस विषय में अमेरिका के स्वर्गीय विदेश सचिव श्री डलेस का २८ जून १९५७ का भाषण उल्लेखनीय है क्योंकि उससे संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति पर बड़ा अच्छा प्रकाश पड़ता है। श्री डलेस के भाषण की उल्लेखनीय बातें इस प्रकार थी—

"चीनी साम्यवादी दल ने हिंसा द्वारा सत्ता प्राप्त की है। यह हिंसा द्वारा जीवित है। उसे चीनी जनता की इच्छा से नहीं किन्तु व्यापक और भीषण दमन से ही सत्ता हस्तगत हुई है। उसने कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघ से युद्ध किया है, इण्डोचीन के युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की है, तिब्बत को बलपूर्वक हस्तगत किया है। इसने फिलीपाइन्स में हुए विद्रोह को तथा मलाया में साम्यवादियों के उपद्रव को प्रोत्साहित किया है। यह संयुक्त राज्य अमेरिका का घोर शत्रु है। मान्यता एक विशेष अधिकार है यह उत्तम व्यवहार के अन्तर्राष्ट्रीय मापदण्डों के द्वारा ही उपार्जित की जानी चाहिए। बोल्शेविकों (Bı lsh vıcs) ने रूस में १९१७ में सत्ता छीनी थी फिर भी हम १६ वर्षों तक इस सरकार के दल से बाहर रहने वाले प्रतिनिधियों को वैध सरकार मानते रहे। १९३३ तक यह प्रतीत हुआ कि रूस के साम्यवादी शासन को समाज का शांति प्रिय सदस्य माना जा सकता है। उसने पिछले १० वर्षों में कोई सशस्त्र आक्रमण नहीं किया था। संयुक्त राज्य अमेरिका में तोड़ फोड़ की कार्यवाही बन्द करने का वचन दिया था। "यदि हमें १९३१ में यह मालूम होता कि रूस अपने वचन को भंग करेगा तो हम उसे भी मान्यता नहीं देते। साम्यवादी चीन का गत इतिहास सशस्त्र आक्रमण का इतिहास है। हम उसे मान्यता नहीं दे सकते।

साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान देने के विषय में झमेले के मध्य के 'गत सात वर्षों से कोरिया इण्डोचीन तिब्बत फिलिपाइन्स तथा मलाया में गांव विदेशी अथवा गृह-युद्ध करने वाले को संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा आक्रमणकारी घोषित किये जाने वाले तथा उससे लड़ने वाले का कोरिया के एकीकरण के संघ के विषय में आदेशों की अवहेलना करने वाले को सयुक्त राष्ट्र संघ में स्थाई सीट तथा वीटो का अधिकार प्रदान किया जाय, जिसका मुख्य उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सुरक्षा स्थापित करना है।"

कोरिया—प्रश्न पर और संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन के प्रवेश की समस्या पर शीतयुद्ध की बढ़ी हुई खुमारी अभी कम भी न हो पाई थी कि जून १९५० में उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण कर दिया गया जिससे 'शीतयुद्ध' ने कुछ समय के लिए 'उष्ण अथवा सशस्त्र युद्ध' का रूप धारण कर लिया। प्रत्यक्ष में यह युद्ध दो कोरियाई क्षेत्रों में था परन्तु वास्तव में यह दोनों शक्ति-गुटों के मध्य रूस एवं अमेरिका के बीच था। संयुक्त राष्ट्र संघ ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया और उसके झण्डे के नीचे अनेक देशों की विशेषतः अमेरिका की सेनाओं ने दक्षिणी कोरिया की सहायता की। परन्तु किसी भी पक्ष को निर्णयात्मक विजय प्राप्त न हो सकी और ८ जून १९५३ को अन्ततः कोरिया में युद्ध विराम हो गया। अमेरिका ब्रिटेन और रूस की सरकारों ने युद्ध बन्द हो जाने का स्वागत किया किन्तु इन देशों के वास्तविक मन-मुटाव का हृदयों में चलने वाला युद्ध समाप्त नहीं हुआ 'शीत' युद्ध जारी रहा। इसमें कोई संदेह नहीं कि कोरिया युद्ध शीतयुद्ध की ही एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। चेस्टर बाउल्स (Chester Bowles) के शब्दों में "कोरिया युद्ध ने रूसी और चीनी नीतियों को एक ही धक्के में एकत्र कर दिया।*" चीन के लिए सोवियत सहायता की आवश्यकता स्पष्ट रूप से सिद्ध हो गई और चीन और पश्चिमी राज्यों के सम्बन्ध और भी तनावपूर्ण हो गये।

जिस समय कोरिया–युद्ध चल रहा था तभी सितम्बर १९५१ में अमेरिका और कई अन्य देशों ने जापान के साथ एक शान्ति संधि पर हस्ताक्षर किये। रूस को यह बात बहुत बुरी लगी और उसने इस एकपक्षीय कार्यवाही की खुल कर आलोचना की।

(ii) १९५३ से १९५८ तक का 'शीतयुद्ध'—मार्च १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद शीतयुद्ध के इतिहास में एक नया मोड़ आया। स्टालिन हठवादी था और पश्चिम के प्रति कठोर नीति का पक्षपाती था। उसका रुख १९५३ के प्रारम्भ तक शीतयुद्ध का एक प्रधान कारण बना था। मर एमवनी मैंड-कोमन के अनुसार "१९४० के बाद यद्यपि स्टालिन ने पश्चिमी राष्ट्रों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित रखे परन्तु वह इतना शक्कीमिज़ाज और दुःसाध्य हो गया कि उसके साथ कार्य करना सहज नहीं था। श्री मुखाब भी सामने

*Chester Bowles The New Dimensions of Peace, page 133

रखा जाय उसको ही वह अस्वीकार कर देता था। सौभाग्यवश स्टालिन के बाद के उत्तराधिकारी विशेषत: ख्रुश्चेव ने समझौतावादी नीति को अपनाने की चेष्टा की यद्यपि शीतयुद्ध निरन्तर जारी रहा और आज भी वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का एक निर्णायक तथ्य बना हुआ है। अमेरिका के नेतृत्व में भी एक परिवर्तन आया और शीतयुद्ध के उन्नायक राष्ट्रपति ट्रूमैन के स्थान पर जनरल आइजनहावर अमेरिका के राष्ट्रपति बने। अगस्त १९५३ में सोवियत संघ का प्रथम आणविक परीक्षण हुआ और हथियारों के क्षेत्र में विद्यमान खाई को धीरे-धीरे कम करने की आवश्यकता दोनों ओर से महसूस की जाने लगी।

परन्तु शीतयुद्ध की यह शिथिलता एकदम अल्पकालीन ही रही क्योंकि रूस के विदेश मंत्री मोलोटोव और अमेरिका के विदेश सचिव डलेस दोनों ही शीतयुद्ध के बांके लड़ाके थे। एक तरफ तो हिन्द चीन के प्रश्न पर शीतयुद्ध में पुन: तेजी आ गई क्योंकि फ्रेंच साम्राज्यवाद के विरुद्ध वहां चलने वाले युद्ध में दोनों ही गुटों ने अलग-अलग पक्षों का पुर-जोर समर्थन किया और दूसरी तरफ अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को रोकने के लिए सैनिक समझौतों तथा सैन्य संगठनों की स्थापना करने की नीति अपना कर शीतयुद्ध को बढ़ावा दिया। अमेरिका ने किस तरह नाटो सीटो और बगदाद पैक्ट बनाए और उनके जवाब में किस प्रकार रूस ने वारसा पैक्ट कायम किया—इन सबका उल्लेख हम प्रादेशिक संगठनों के अध्ययन में कर चुके हैं। वास्तव में दोनों ही पक्षों ने अपनी-अपनी कार्यवाहियों से एक-दूसरे के प्रति सन्देह और शंकाओं को दृढ़ बनाया तथा अपनी प्रत्येक कार्यवाही से न्यूनाधिक मात्रा में शीतयुद्ध को आगे बढ़ाया। उदाहरणार्थ यदि सितम्बर १९५४ में रूस ने उसके और पश्चिमी देशों के मध्य के एक अनाक्रमण प्रस्ताव को ठुकरा दिया तो मार्च १९५४ में जब रूसी विदेश मंत्री मोलोटोव ने रूस के उत्तर अटलांटिक संधि में सम्मिलित होने के प्रश्न पर विचार करने की अपनी तत्परता बताई तो नाटो देशों ने इस सम्भावना को पूर्णत: अवास्तविक और पश्चिमी देशों की प्रतिरक्षा व्यवस्था व सुरक्षा के आधारभूत सिद्धांतों के प्रतिकूल बता कर उसका तिरस्कार कर दिया। जनवरी १९५६ में रूसी प्रधानमंत्री बुल्गानिन ने राष्ट्रपति आइजनहोवर के सम्मुख एक रूसी-अमेरिकन मैत्री व सहयोग संधि का प्रस्ताव रखा परन्तु वह भी फलीभूत नहीं हुआ। ऐसे प्रस्ताव समय-समय पर किए जाते रहे किन्तु पारस्परिक मतभेद व संदेह इतने गहरे थे कि कोई सफलता प्राप्त न हो सकी। संयुक्त राष्ट्र संघ यूरोप अफ्रीका मध्यपूर्व सुदूरपूर्व आदि सभी स्थलों में पूर्व और पश्चिम का संघर्ष बराबर जारी रहा। जापान और जर्मनी के पुन: शस्त्रीकरण ने दोनों ही गुटों में काफी तनाव उत्पन्न कर दिया। जर्मनी के भविष्य और बर्लिन के स्तर पर भी मतभेद न मिट सके। अणुशक्ति के निर्माण और नियन्त्रण पर कोई समझौते न हो सके। संसार के सबसे प्रमुख प्रश्न नि:शस्त्रीकरण पर दोनों ही गुटों में घोर मतभेद चला-प्रस्ताव व प्रति-प्रस्ताव प्रस्तुत किए जाते रहे किन्तु परिणाम कुछ भी नहीं निकला। वास्तव में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के प्रत्येक प्रश्न पर शीत युद्ध के पृष्ठाधार में दोनों गुटों के दृष्टिकोण निर्धारित होने लगे।

१९५६ में हंगरी के प्रश्न ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव और शीतयुद्ध में पर्याप्त अभिवृद्धि की। पश्चिमी देशों ने रूस के 'अत्याचार' की कटु निन्दा की और उधर रूस ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण के फलस्वरूप मिस्र पर १९५६ में ही होने वाले एंग्लो-फ्रेंच इजरायल आक्रमण की तीव्र भर्त्सना की। जून १९५७ में आइजनहोवर सिद्धान्त की घोषणा की गई जिसके अनुसार अमरीकन कांग्रेस ने राष्ट्रपति को मध्य-पूर्व के किसी भी देश में अपनी विवेक बुद्धि के अनुसार साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार दिया। 'आइजनहोवर सिद्धान्त' की घोषणा के बाद मध्यपूर्व में 'शीतयुद्ध' में काफी तीव्रता आ गई। रूस ने पश्चिमी एशिया के लिए इस सिद्धान्त को एकदम अनुचित बताया तो अमेरिका और ब्रिटेन ने उस क्षेत्र में रूसी घुसपैठ व तोड़फोड़ की कार्यवाहियों की निन्दा की। कहने का अभिप्राय यह है कि १९५५ से १९५८ तक पश्चिमी एशिया शीतयुद्ध का भयंकर अखाड़ा बना रहा। वास्तविकता यही थी कि उस क्षेत्र के सामरिक महत्त्व और तेल कूपों पर प्रभुता कायम रखने के लिए दोनों पक्षों में घोर संघर्ष होता रहा। फारस के तेल-विवाद, स्वेज नहर के संकट, लेबनान में अमरिका फौजों को उतारने, ईराक की क्रान्ति आदि अवसरों पर दोनों ही पक्ष ताल ठोंक कर मैदान में डट गए। इस क्षेत्र में कोई भी ऐसी घटना नहीं घटी जो शीत-युद्ध का परिणाम न हो या उससे प्रभावित न रही हो।

(iii) १९५८ से सितम्बर १९६० तक का शीतयुद्ध।—१९५९ के रूस में कुछ कारणों से शीतयुद्ध में थोड़ी कमी आई। ३ अगस्त को बीसवीं शताब्दी का सबसे महान् कूटनीतिक चमत्कार हुआ। इस दिन मास्को में विदेश मन्त्रालय के प्रवक्ता और वाशिंगटन में स्वयं राष्ट्रपति आइजनहोवर ने एक ही समय में यह घोषणा करके अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत को स्तब्ध कर दिया कि कुछ ही दिनों में सोवियत रूस के प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव संयुक्त राज्य अमेरिका का और उसके बाद राष्ट्रपति आइजनहोवर सोवियत संघ का भ्रमण करेंगे। सम्पूर्ण संसार ने इस समाचार का स्वागत किया। ऐसा प्रतीत होने लगा मानो शीत-युद्ध या तो सदैव के लिए समाप्त हो जायगा या उसका प्रभाव नगण्य रह जायगा क्योंकि दोनों ही देश मिल कर संसार में स्थायी शान्ति की नींव डालने के लिए कोई न कोई ठोस कदम अवश्य करेंगे। इसके पूर्व रूस के निमन्त्रण पर अमरिका की ओर अमरिका के उपराष्ट्रपति निक्सन रूस की यात्रा करके इस मिलन-सम्मेलन के लिए उपयुक्त आधारभूमि तैयार कर चुके थे।

दोनों देशों में बढ़ते हुए तनाव में कमी लाने के लिए भी ख्रुश्चेव ने १५ सितम्बर, १९५९ से २८ सितम्बर १९५९ तक अमेरिका की यात्रा की। शस्त्रीकरण की होड़ के कारण, बड़ी ताकतों में उस समय अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति भयानक बन चुकी थी। इसका अनुमान स्वर्गीय श्री नेहरू के इन शब्दों से लगाया जा सकता है कि 'यदि अगले ३-४ वर्षों में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में समझौता न हुआ तो कोई भी शक्ति विश्व को विनाश से नहीं बचा सकेगी।

शीत-युद्ध का प्रधान कारण शस्त्रीकरण की यह स्थिति ही बनी हुई थी। श्री ख्रुश्चेव की यात्रा से वातावरण में एक निश्चित, किन्तु दुर्भाग्यवश अस्थाई सुधार हुआ। श्री ख्रुश्चेव ने तीन दिन (२५–२७ सितम्बर) तक अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर के मेरीलैण्ड पहाड़ियों में अवस्थित निवास कम्प डेविड में मैत्रीपूर्ण वार्तालाप करते हुए शीत-युद्ध की समाप्ति पर बहुत बल दिया। उन्होंने यह मत प्रकट किया कि प्रत्येक पक्ष को शान्ति की खोज में आधा रास्ता आगे बढ़ कर दूसरे पक्ष के साथ मिल जाना चाहिए अन्यथा विश्व राख और ममानियों से ढक जाएगा।" श्री ख्रुश्चेव की यात्रा पर प्रकाशित संयुक्त वक्तव्य में कहा गया — श्री ख्रुश्चेव तथा श्री आइजनहोवर इस बात पर सहमत हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निर्णय शान्तिपूर्ण साधनों तथा वार्तालाप और चर्चा के माध्यम से किया जाना चाहिए।" ख्रुश्चेव ने इस बात का समर्थन करते हुए कहा हमें सब महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान में युद्ध के साधन के प्रयोग का निवारण करना चाहिए। हम सदैव विध्वंसक युद्धों के विरोधी रहे हैं। अन्त में हम यात्रा के सम्बन्ध में श्री ख्रुश्चेव ने लिखा "राष्ट्रपति आइजनहोवर से मेरी बड़ी मधुर वार्ता हुई है। हमने जिन प्रश्नों पर विचार किया है उन सबके बारे में यह पाया गया कि स्थिति के मूल्यांकन की दृष्टि से तथा दोनों में सम्बन्ध सुधारने की आवश्यकता की दृष्टि से दोनों पक्षों का दृष्टिकोण तथा विचार एक जैसे हैं।"

शीतयुद्ध के तनाव को कम करने और पारस्परिक मतभेदों को समाप्त करने के लिए ४ बड़े देशों (संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत संघ, ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस) के शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन बुलाया जाना आवश्यक समझा गया। श्री ख्रुश्चेव ने अपने एक पत्र में पश्चिमी देशों को लिखा— चारों देशों के अध्यक्षों का बीच-बीच में एक दूसरे के देश में शान्ति और स्थिरता बनाये रखने वाली प्रमुख समस्याओं पर विचार विमर्श करने के लिए उच्च स्तर पर मिलना चाहिए।" श्री ख्रुश्चेव का यह भी कहना था— शीतयुद्ध की बर्फ में पहली दरारें दीखने लगी हैं।"

परन्तु शिखर-सम्मेलन आरम्भ होने से ठीक १६ दिन पूर्व १ मई १९६० को यू २ विमान-काण्ड हो गया जिसने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि कर प्रस्तुत शिखर सम्मेलन को असफल बना दिया। बात तब बहुत अधिक बढ़ गई जब अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर ने स्पष्ट शब्दों में यह कह दिया कि सोवियत रूस में सामरिक गतिविधियाँ अत्यन्त गुप्त रहती हैं अतः पर्ल हार्बर के समान आकस्मिक आक्रमण को रोकने के लिए अमेरिका जान-बूझ कर ऐसी कार्यवाहियाँ करता है और भविष्य में भी करता रहेगा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय कानून में इसकी मनाही नहीं है। अमेरिकन राष्ट्रपति की इस धारणा से सोवियत रूस सख्त नाराज हो गया और ख्रुश्चेव ने ऐसी कार्यवाहियों को सोवियत राष्ट्र के लिए अपमानजनक मानते हुए अमेरिका को चेतावनी दी कि वह इस प्रकार की जासूसी गतिविधियों को तुरन्त रोक दे। इतना ही नहीं श्री ख्रुश्चेव ने यह माँग भी की कि अमेरिका अपने इस

कारनामे के लिए सोवियत सरकार से माफी मांगे । इन परिस्थितियों में दोनों पक्षों में पनपने वाला शीत-युद्ध आकाश छूने लगा । संयुक्त राष्ट्र संघ यू २ विमानकाण्ड के मामले में घोर शीत-युद्ध का अखाड़ा बन गया । रूसी आरोपों और प्रमाणों के प्रत्युत्तर में अमेरिकन प्रतिनिधि श्री हेनरी केबटलॉज ने रूस द्वारा जासूसी करने के अनेक उदाहरण पेश किये । श्री लॉज ने परिषद की मेज पर एक वस्तु रखी । यह अमेरिका की सरकारी राजमुद्रा की एक काष्ठ प्रतिकृति थी जिसका रूसी सरकार ने मास्को में अमेरिकन दूतावास में लगाने के लिए उपहार रूप में दिया था । इस काष्ठ प्रतिकृति में अमेरिकन दूतावास में होने वाले सभी वार्तालापों को अभिमुद्रित करने तथा बाहर सबाद भेजने के अति सूक्ष्म यन्त्र लगे हुए थे । यह मुद्रा काफी दिनों तक दूतावास के कार्यालय में लगी रही और इससे राजदूत के वार्तालाप की सूचना सोवियत अधिकारियों को मिलती रही । रूस ने भी अपनी ओर अमेरिकन कार्यवाहियों का भण्डाफोड़ करने में कोई कसर न रखी । संयुक्त राष्ट्र संघ में चलने वाले इस शीत-युद्ध में अपने प्रभाव और बहुमत के कारण संयुक्त राज्य अमरिका का पलड़ा भारी रहा और सुरक्षा परिषद में रूस द्वारा रखा गया अमेरिका की निन्दा का प्रस्ताव पास नहीं हो सका । भी यू-२ काण्ड ने शीत-युद्ध में जो तूफान खड़ा कर दिया उससे रूस ने लाभ उठाया । ख्रुश्चेव ने यह सिद्ध करने में कोई कसर नहीं छोड़ी कि रूस शान्ति का सबसे बड़ा प्रेमी और अमरिका सबसे बड़ा दुश्मन है तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के लिये वही एकमात्र जिम्मेवार है ।

१६ मई, १९६० को होने वाले शिखर-सम्मेलन की असफलता से संसार में बड़ी निराशा छा गई । परन्तु इससे भविष्य में होने वाले शिखर सम्मेलन की आशा अवश्य समाप्त नहीं हुई क्योंकि श्री ख्रुश्चेव बार बार यह घोषणा करते रहे कि वह अगले शिखर-सम्मेलन को सफल बनाने का प्रयत्न करेगा । १० अक्टूबर १९६० को ख्रुश्चेव ने ये आशाजनक शब्द कहे—'अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सब प्रकार के तनाव उत्पन्न होते हैं किन्तु समय बीतने के साथ ऐसे सम्बन्धों की कटुता दूर हो जाती है । इसकी परवाह न कीजिए कि समुद्र कितना तूफानी है । तूफान के बाद सदैव शान्ति आती है । अन्ततोगत्वा यही यू २ विमान की घटना के सम्बन्ध में होगा । इसकी जासूसी उड़ान एक शत्रुतापूर्ण कार्य था किन्तु कुछ समय बाद यह तूफान शान्त हो जायेगा ।"

८ नवम्बर १९६० को अमेरिकन राष्ट्रपति के निर्वाचन में सीनेटर जॉन फिट्ज जेरल्ड कैनेडी की सफलता के बाद शीत-युद्ध की समाप्ति की आशा कुछ बढ़ गई । इस अवसर पर राष्ट्रपति कैनेडी को बधाई देते हुए श्री ख्रुश्चेव ने लिखा— 'हमें आशा है कि जब तक आप इस उच्च पद पर हैं मानो देश पुनः उस नीति का अनुसरण करेंगे जो राष्ट्रपति रूजवेल्ट के समय में विकसित हो रही थी । यह नीति न केवल सोवियत संघ और अमेरिका के मौलिक हितों की पूर्ति करती है किन्तु नये युद्ध की आशंका से मुक्ति की आकांक्षा रखने वाली समूची मानव जाति ही इसी नीति को चाहती है । हमें पूरा विश्वास है कि शान्ति को बनाये रखने और उसे सुदृढ़

करने में कोई दुर्लंघ्य बाधायें नहीं हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिये हम तैयार हैं। हम अपनी ओर से ऐसा प्रयत्न जारी रखेंगे जिससे निःशस्त्रीकरण की समस्या का हल निकले शान्ति संधि द्वारा जर्मनी की समस्या का समाधान हो और समूची अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में सुधार हो।' सोवियत प्रधानमन्त्री की बधाई का श्री कैनेडी ने बड़ा ही आशावादी जवाब दिया कि राष्ट्रपति का पद सम्हालने के बाद उनका मुख्य कार्य 'न्यायपूर्ण और स्थाई शान्ति' की स्थापना करना होगा।

कैनेडी और ख्रुश्चेव की उपरोक्त आशाओं और आश्वासनों का कुछ समय तक प्रभाव दिखाई दिया और शीत-युद्ध में कुछ कमी आई। परन्तु सन् १९६२ में क्यूबा के संकट ने पुनः एक विस्फोटक स्थिति उत्पन्न कर दी। क्यूबा के प्रश्न पर एक बार फिर विश्व-युद्ध की संभावना उत्पन्न हो गई। परन्तु कैनेडी की दृढ़ता व श्री ख्रुश्चेव के धैर्य और सहनशीलता ने स्थिति को संभाल लिया क्यूबा का संकट समाप्त हो गया और तृतीय विश्व युद्ध होने से टल गया। इसमें कोई संदेह नहीं कि रूसी प्रधानमन्त्री ने क्यूबा संकट पर संघर्ष-क्षेत्र से हट जाने का निर्णय करके अत्यन्त बुद्धिमत्ता और महानशीलता परिचय दिया।

क्यूबा संकट अन्तिम अवस्था में अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों को सुधारने की दिशा में और शीत-युद्ध में शिथिलता लाने की दृष्टि से एक गुप्त वरदान सा सिद्ध हुआ। श्री ख्रुश्चेव और श्री कैनेडी-ये दोनों ही विवेकशील तथा निःशस्त्रीकरण की दिशा में प्रगति के लिए सराहनीय प्रयास करने लगे परिणामस्वरूप शीतयुद्ध में काफी समय तक कोई बाढ़ नहीं आई। शीतयुद्ध की इस नवीन अवस्था का अत्यन्त उज्ज्वल रूप ५ अगस्त १९६३ को सम्मुख आया जबकि रूस अमेरिका और इंगलैण्ड ने मास्को में आणविक परीक्षणों पर रोक सम्बन्धी संधि पर हस्ताक्षर किये और बाद में लगभग ९९ अन्य देशों ने भी इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिए। अब तो इस संधि पर हस्ताक्षरकर्ता देशों की संख्या लगभग १०२ तक पहुंच गयी है।

श्री ख्रुश्चेव और कैनेडी दोनों ही के प्रयत्नों से शीत-युद्ध में शिथिलता आई और शान्ति प्रिय देशों की जनता यह अनुभव करने लगी कि ये दोनों महान् नेता संसार में शीघ्र ही विश्वास और शांति के बीज बो देंगे। परन्तु ईश्वर को यह मंजूर न था अतः २२ नवम्बर १९६३ को राष्ट्रपति कैनेडी एक मदान्ध हत्यारे की गोली के शिकार बन गये और उसके बाद ही १५ अक्टूबर १९६४ को रूस के समाचार केन्द्र तास एजेन्सी ने यह घोषणा की कि—अधिक आयु और स्वास्थ्य खराब होने के कारण ख्रुश्चेव को कम्यूनिस्ट पार्टी के मन्त्री तथा प्रधानमंत्री के पद से मुक्त किया गया है।

श्री कैनेडी और ख्रुश्चेव के उत्तराधिकारियों ने यद्यपि उन्हीं की नीति का अनुसरण करने का आश्वासन दिया परन्तु विभिन्न कारणोंवश शीतयुद्ध की व्यापाओं से संसार को मुक्ति नहीं मिल सकी। समय-समय पर ऐसी अनेक घटनायें घटित होती रहीं जिनसे शीतयुद्ध में उतार चढ़ाव

चलता रहा। १९६४ में रूस द्वारा कांगो शांति में संयुक्त राष्ट्र के शान्ति स्थापक कार्यों के व्यय के अपने भाग की अदायगी से इनकार करने और अमरिका की इस मांग से कि यदि रूस अपना भाग अदा नहीं करेगा तो चार्टर के १९वें अनुच्छेद के अनुसार महासभा में मताधिकार से वंचित कर दिए जाये शीतयुद्ध को अत्यधिक उग्र करके एक बड़ी संकटपूर्ण स्थिति उत्पन्न क दी। सितम्बर १९६५ में कश्मीर को लेकर भारत पाक संघर्ष से अन्तर्राष्ट्री तनाव में वृद्धि की और पश्चिमी राष्ट्रों ने भारत के विरुद्ध अपना कूटनीति युद्ध चलाने में कोई कसर नहीं रखी यद्यपि उनकी शीतयुद्ध कुशलता औ कूटनीतिक पैंतरेबाजी श्री शास्त्री की दृढ़ता व स्पष्टता के सामने विशेष सफ नहीं हो सकी। तत्पश्चात् जून १९६७ में अरब इजरायल संघर्ष के सम शीतयुद्ध और सशस्त्र युद्ध का अनोखा नाटक संसार को देखने को मिला पहले अरब और इजरायली नेताओं द्वारा जबरदस्त कूटनीतिक एवं वाग्यु लड़ा गया और दोनों की पृष्ठ-पोषक महाशक्तियों ने शीतयुद्ध को हर प्रका से प्रोत्साहन दिया और बाद में यही शीतयुद्ध कोरियाई युद्ध के समान सशस्त्र युद्ध' में परिणित हो गया जिसकी समाप्ति संयुक्त राष्ट्र संघी हस्तक्षेप तथा अरब राष्ट्रों की अपमानजनक पराजय में हुई। अरब राष्ट्रों औ इजरायल का यह संघर्ष आज भी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को बढ़ा रहा है औ शीतयुद्ध में अग्नि में घी जैसा काम कर रहा है। इस शीतयुद्ध वियतनाम में चलने वाला संघर्ष भी उत्तरोत्तर वृद्धि किये जा रहा है वियतनाम के प्रश्न को लेकर 'पश्चिम और पूर्व' एक-दूसरे पर आरोपों प्रत्यारोप की झड़ी लगाते रहते हैं और किसी को भी इस बात की सच्ची चिन्ता सत न प्रतीत नहीं होती कि वियतनाम की जनता को कितने भयानक विध्वंस क सामना करना पड़ रहा है।

जो भी हो यह कहना अनुचित न होगा कि विभिन्न मतभेदों औ उतार-चढ़ाव के बावजूद स्टालिन की मृत्यु के पश्चात् पूर्व और 'पश्चिम' शीतयुद्ध की तीव्रता में निश्चित रूप से कमी आई। अब दोनों ही गुट य स्पष्ट रूप से महसूस करने लगे हैं कि बिना एक संहारक महायुद्ध के दूस गुट का दमन सम्भव नहीं है और यदि ऐसा कोई महायुद्ध हुआ तो दोनों पक्ष लगभग पूर्ण विनाश को प्राप्त हो जायेंगे जिसमें विजेता और विजित स बराबर होंगे। इस अनुभूति से दोनों ही पक्षों को सह-अस्तित्व क अनिवार्यता में विश्वास दिला दिया जिससे शीतयुद्ध (Cold War) क गर्मी एक बड़ी सीमा तक शान्त हो गयी और उसने एक प्रकार के 'ठंडे सह अस्तित्व' (Cool co-existance) का रूप धारण कर लिया है। रूस ने पश्चिम के अस्तित्व को मिटाने का संकल्प स्वप्न समझ लिया है और पाश्च में भी यह एक आम विश्वास जम रहा है कि रूस कुछ विवादों को सुलझा में तो अवश्य ही निष्कपट दृष्टिकोण रखता है। फिर भी कुछ निराशा वादियों का यही कहना है कि रूस का विश्वास करना पश्चिमी देशों क भयावह है। यह मत संभवतः विश्व के अधिकांश बुद्धिवादी वर्ग औ अधिकांश जनता को स्वीकार्य नहीं होगा।

शीतयुद्ध के १९५९ के बाद के इतिहास से और विशेषकर क्यूबा-संकट की समाप्ति के बाद से निष्कर्ष यही निकलता है कि यद्यपि समय-समय पर ऐसी घटनायें होती रही हैं जिनसे मौके-बेमौके काफी अन्तर्राष्ट्रीय तनाव उत्पन्न हो जाता है फिर भी जैसा कि एडवर्ड क्रैंकशा का मत है कि—"क्यूबा के बाद से ज्वार एक ही दिशा में बह रहा है। वाशिंगटन के साथ एक सदाचार और गुप्त कथोपकथन के साथ उष्ण स्पर्शों का एक क्रमिक शीतलीकरण (Damping down) हुआ है।"*

शीत युद्ध केवल 'पूर्व' और 'पश्चिम' की विशेषता ही नहीं रही है अपितु स्वयं साम्यवादी दुनिया में भी इसने अपना प्रभाव दिखाया है। साम्यवादी दुनिया में शीत युद्ध के नेता सोवियत रूस और साम्यवादी चीन हैं। जहाँ रूसी स्तालिन की मृत्यु के बाद से ही सह अस्तित्व के प्रति पूर्वापेक्षा अधिक आश्वस्त हुए हैं वहाँ चीनी साम्यवादियों का कहना है कि पूँजीवाद के साथ समाजवाद का अस्तित्व एक बेतुकी बात है। स्वयं को संसार का सबसे बुद्धिमान और विवेकशील तथा युद्ध-अनुभवी समझने वाले माओत्सेतुङ्ग का मानना है कि देवता और दानव एक साथ अगल-बगल में नहीं रह सकते। दानव रूपी पूँजीवाद का विनाश करना प्रत्येक साम्यवादी का परम पुनीत कर्तव्य है। उनका मत है कि जो साम्यवादी शान्तिपूर्ण सहजीवन की बात करते हैं वे असली मार्क्सवादी नहीं हो सकते। इस प्रकार साम्यवादी दुनिया में चलने वाला यह भयंकर सैद्धान्तिक मतभेद 'एक ही घर में शीत युद्ध' वाली बात है। स्वयं रूस में इस सैद्धान्तिक मतभेद के कारण अन्दर ही अन्दर दो गुट हैं – स्तालिनवादी गुट जो पहले से ही विद्यमान है और ख्रुश्चेववादी गुट जो सह-अस्तित्व का पक्ष करते हैं। यद्यपि श्री ख्रुश्चेव का लगभग राजनीतिक सन्यास हो चुका है, किन्तु वर्तमान रूसी नेतृत्व अपनी विचारधारा में बहुत कुछ ख्रुश्चेववादी ही है।

साम्यवादी संसार के इस संघर्ष का प्रभाव पश्चिम द्वारा चलाये जाने वाले शीत युद्ध पर निश्चित रूप से पड़ा है। पश्चिमी गुट यथासंभव ऐसा कोई कार्य नहीं करना चाहते कि जिसमें क्रेमलिन में स्तालिनवादी पक्ष को सहारा मिले। स्वयं संयुक्त अमेरिका को अधिकाधिक विश्वास होता जा रहा है कि पूँजीवादी विश्व के लिए अब साम्यवादी रूस संभवतः इतना बड़ा खतरा नहीं है जितना कि साम्यवादी चीन निकट भविष्य में हो सकता है। चीन की आक्रामक नीति से न केवल पश्चिमी राष्ट्र अपितु स्वयं रूस सहित विश्व के अन्य शान्तिप्रिय राष्ट्र त्रस्त हैं। सभी इस बात में अपना और विश्व का हित समझने लगे हैं कि या तो चीन को सहयोग का हाथ बढ़ाने के लिये विवश कर दिया जाय या फिर उसे अकेला बना दिया जाय। इसके साथ ही अब यह नवीन चर्चा भी चल पड़ी है कि एक ऐसा दिन भी आ सकता है जब चीन के विरुद्ध अमेरिका और सोवियत रूस का एक संयुक्त मोर्चा बन

*The Hindustan Times July 25 1964

जाय।* रूस और चीन का सैद्धान्तिक मतभेद शीत युद्ध में निश्चित रूप से शिथिलता लाता है और अब देखना यह है कि ऐसी स्थिति कब तक कायम रहती है। जहाँ तक शीत युद्ध की पूर्ण समाप्ति का प्रश्न है इस बात की आशा निकट भविष्य में नहीं की जा सकती। क्योंकि युद्ध का कृत्रिम वातावरण अमेरिकन आर्थिक व्यवस्था को जिन्दा रखने के लिए आवश्यक है और इस हालत में शीत युद्ध की स्थिति कायम रहना भी जरूरी है।

अन्त में शीत युद्ध के सम्बन्ध में यह बात याद रखी जानी चाहिए कि 'शीत युद्ध' के परस्पर विरोधी खेमों में यदा-कदा सेतुबंध (Bridge) का काम भारत सहित कुछ तटस्थ राष्ट्रों ने किया है। अन्यथा 'शीत युद्ध' में संलग्न राज्यों के बीच कभी भी उग्र महायुद्ध हो सकता था। भारत ने 'शीत युद्ध' वाले राज्यों के मध्य सह-अस्तित्व स्थापित करने पर हमेशा बल दिया है और विश्व के सैनिक संगठनों को सर्वत्र निरुत्साहित किया है ताकि मानवता के हित में विश्व को महायुद्ध की अग्नि से बचाया जा सके।

सैद्धान्तिक संघर्ष बनाम शक्ति-राजनीति

(Ideological conflict or Power Politics)

अब हमें 'शीत-युद्ध' के एक दूसरे पक्ष पर भी कुछ विचार कर लेना चाहिए। प्रायः यह कहा जाता है कि 'शीत युद्ध' एक सैद्धान्तिक संघर्ष (Ideological Conflict) है जिसमें दो विरोधी जीवन-पद्धतियाँ—उदारवादी लोकतंत्र तथा सर्वाधिकारवादी साम्यवाद—सर्वोच्चता के लिए संघर्ष रत हैं। प्रो० विलियम जी० कार्लटन (William G Carlton) के कथनानुसार "... राष्ट्रीय राज्यों के उदय से लगभग अब तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में प्रधान तत्व राष्ट्रवाद एवं राष्ट्रीय शक्ति-संतुलन रहा है। परन्तु उसे प्रश्नकर्ता को इस ऐतिहासिक तथ्य से पथभ्रष्ट न हो जाने की चेतावनी भी देनी चाहिए क्योंकि २०वीं शताब्दी का यह मध्यकाल अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की नींव में राष्ट्रवादी शक्ति-संतुलन से सैद्धान्तिकता की ओर एक युग प्रवर्तक मोड़ का साक्षी हो सकता है ...।"+

श्री कार्लटन की यह धारणा वास्तव में एक आधारभूत सत्य की ओर संकेत करती है। इससे इन्कार करना भ्रामक होगा कि शक्ति राजनीति के इस युग में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य जो एक विशेष प्रकार की प्रतिद्वन्द्विता है वह सर्वांश सैद्धान्तिक है। इसके पीछे एक महान

---

*S M International Scene, Hindustan ..., 16 1.63.

+"... any one called upon to answer the crucial question in international relations today would be, I think, on safe ground in saying that, from the rise of national states and up to about now the chief element

सामाजिक पतन है जो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का एक मुख्य कारण बन गया है। संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद प्रणाली को एक अन्तर्राष्ट्रीय षड्यन्त्र मानता है जिसका उद्देश्य अन्य देशों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करके अथवा येन-केन प्रकारेण अपना प्रभाव डाल कर साम्यवाद का प्रसार करना है। दूसरी ओर सोवियत संघ अपने कटु अनुभवों के आधार पर पश्चिमी देशों की प्रणालियों को शोषण, आक्रमण, हीनतर उपायों से भी स्वार्थ-साधन तथा संगठित लूट-खसोट के ऊपर आधारित मानता है। दोनों देशों और उनके पिछलग्गू राष्ट्रों के दृष्टिकोण परस्पर इस तरह विरोधी अथवा प्रतिकूल हैं कि उनका प्रभाव हर क्षेत्र पर पड़ा है और सर्वत्र रूस अमेरिका के वैचारिक संघर्ष प्रबल कर गये हैं। यह वैचारिक अथवा सैद्धान्तिक संघर्ष आज विश्व-राजनीति का एक आधार बन चुका है और इसी संघर्ष को जारी रखने एवं इसमें सफलता प्राप्त करने के प्रत्येक सम्भव उपाय सोचे जा रहे हैं।

वैसे तो इस सैद्धान्तिक अथवा वैचारिक संघर्ष का उदय प्रधानतः १९१७ की बोल्शेविक क्रान्ति के बाद ही अन्तर्राष्ट्रीय जगत में व्यावहारिक दृष्टि से हुआ किन्तु द्वितीय महायुद्धोत्तर काल में इस संघर्ष ने एक अत्यन्त चिन्ताजनक और भयंकर रूप धारण कर लिया। इसका परिणाम यह हुआ कि दोनों राष्ट्रों के बीच तनाव बढ़ते गये और सब विश्व की हर समस्याओं के प्रति विरोधी नीतियाँ टकराने लगीं। साम्यवाद को परिधि में स्थिर रखने की ओर अमेरिका ने विभिन्न कदम उठाये। ट्रूमैन सिद्धान्त का प्रतिपादन, मार्शल योजना आदि कार्यक्रमों की पूर्ति, सैनिक एवं प्रादेशिक संगठनों की स्थापना आदि कार्यों से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका ने साम्यवाद की प्रगति में बाधा डालने में कमर कस ली है। दूसरी ओर साम्यवाद ने भी अपने उद्देश्यों के आधार पर पूँजीवादी देशों को समाप्त कर साम्यवाद के मार्ग को प्रशस्त करने का संकल्प ले लिया। इन कार्यों का अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि द्वितीय महायुद्ध के बाद 'शीत युद्ध' का दानव समग्र संसार को ग्रस्त करने लगा। आज स्थिति यह है कि सैद्धान्तिक संघर्ष में विजय पाने के लिए और इस प्रकार शीत युद्ध को बनाये रखने के लिये राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक तथा सैनिक सभी प्रकार के अस्त्र काम में लाये जा रहे हैं। शीत युद्ध के युद्ध-कौशल के रूप में हस्तक्षेप, अहस्तक्षेप, प्रचार और राजनीति के

---

in international relations has been nationalism and the national balance of power. But he should warn the questioner not to be misled by this historic fact.... because this middle of the twentieth century may be witnessing the epoch making shift in the foundation of international politics from the nationalistic balance of power to ideology evidence of which we shall ignore at our peril."

—*Palmer and Perkins* International Relations page 264.

उपरोक्त विश्लेषण के आधार पर स्पष्ट यह निष्कर्ष निकलता है कि शीत युद्ध को एक सैद्धान्तिक संघर्ष की संज्ञा दी जाना गलत नहीं है। हाँ यह कहना अवश्य भ्रामक है कि १६वीं शताब्दी की शक्ति सन्तुलन की राजनीति से सर्वथा भिन्न यह कथन एक सैद्धान्तिक संघर्ष मात्र है। कहने का आशय यह हुआ कि शीत युद्ध और सैद्धान्तिक संघर्ष परस्पर पर्यायवाची नहीं हैं बल्कि सैद्धान्तिक संघर्ष शीत युद्ध के एक प्रधान कारण के रूप में स्वीकार्य है। इस बात के अनेक प्रमाण हमारे सामने हैं कि सैद्धान्तिक मतभेदों पर बल दिये जाने के बावजूद शीत युद्ध शक्ति-राजनीति का २०वीं शताब्दी का संस्करण है। प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की द्वि-ध्रुवी व्याख्या (Bi-polar interpretation) पूर्णतया सही नहीं है। भारत तथा एशिया और अफ्रीका के अनेक राष्ट्र ऐसे हैं जो पाश्चात्य प्रजातन्त्र अथवा मार्क्सवाद या चीनी साम्यवाद में से किसी एक को भी पूर्णतः स्वीकार न करते हुए तटस्थता अथवा असंलग्नता की नीति का अनुसरण कर रहे हैं। दूसरे, दोनों ही गुटों (रूसी व अमेरिकन) द्वारा कुछ ऐसे देशों को सहायता दी जा रही है जो उन सिद्धान्तों में विश्वास नहीं करते, जिनका संरक्षक होने का वे गुट दावा करते हैं। उदाहरणार्थ लैटिन अमेरिका के अधिकांश देशों में अप्रजातान्त्रिक और फासिस्ट प्रकृति की सरकारें पाई जाती हैं किन्तु फिर भी संयुक्त राज्य अमेरिका स्वयं को उनका प्रधान संरक्षक मानता है। तीसरे, प्रत्येक गुट में समान सिद्धान्तों के बावजूद पारस्परिक मतभेद विद्यमान हैं। रूसी अथवा अमेरिकन कोई भी गुट मतभेदों तथा नेतृत्व की होड़ से परे नहीं है। साम्यवादी गुट में चीन ने सोवियत संघ के विरुद्ध बगावत का झंडा उठा रखा है तो पश्चिमी गुट में फ्रांस अपने गुट के विरुद्ध विद्रोह के मार्ग पर चल रहा है। चौथे, रूस और अमेरिका के मध्य का तनाव यह बताता है कि शीत युद्ध शक्ति-राजनीति (Power Politics) का ही एक रूप है। इन दोनों राष्ट्रों में संघर्ष और प्रतिस्पर्धा का तीव्र विकास इसीलिए हुआ क्योंकि द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् बचे हुए संसार में यह दोनों ही राष्ट्र विश्व की महाशक्तियों के रूप में उदित हुए और अन्य किसी भी दिशा से चुनौती के अभाव में विश्व नेतृत्व के लिए संघर्षी हो गए और अब तो साम्यवादी चीन के रूप में एक तृतीय महाशक्ति का उदय हो रहा है जिसने इन दोनों कट्टर शत्रुओं को सैद्धान्तिक संघर्ष के बावजूद परस्पर मैत्री और सहयोग की दिशा में अग्रसर होने को प्रेरित कर दिया है। जुलाई १९५४ में एडवर्ड क्रैंकशा (Adward Crankshaw) ने ठीक ही लिखा था—

---

platform to work out its tactics against the chief forces of the imperialist Camp"

—For full text of the Manifesto see the Strategy and Tactics of World Communism—Report of Sub-committee No 5 of the Committee on Foreign Affairs of the U.S. House of Representatives (House Document No. 619 Washington 1949) pp. 209-230.

"गत महीनों की संप्राप्ति से एक नवीन सोवियत नीति उदय हो रही है। संयुक्त राज्य के साथ पुनः मैत्री की नीति जो कि पहले विचार की गई किसी भी वस्तु से अधिक मामूल परिवर्तनवादी है, तथा जो दोनों महाशक्तियों के मध्य विश्व के संयुक्त आणविक पुलिसमैन (Goint nuclear policemen) के रूप में कार्य करते हुए, एक मनोचित मैत्री की ओर ले जा सकती है।"*

EXERCISES

1 What do you know about so-called Cold War ? Give its short resume from 1946 to 1967

तथाकथित शीतयुद्ध के बारे में आप क्या जानते हैं ? १९४६ व १९६७ के मध्य के शीत युद्ध को संक्षेप में बताइये।

2. What are the causes of the so-called 'Cold War' ? Indicate main fronts on which it is being fought and the main episodes it has witnessed since 1946

तथाकथित 'शीतयुद्ध' के क्या कारण हैं ? जिन मुख्य बातों को लेकर यह लड़ा जा रहा है और १९४६ से जिन मुख्य घटनाओं के दर्शन इसने किये हैं—उनका वर्णन कीजिए।

3 "The Conflict between two monolithic giants of the modern world is the dominant reality of the contemporary world politics." Discuss the principal causes of friction between U.S.A. and the U.S.S.R and suggest remedies or solution if any

"आधुनिक विश्व के दो भीमाकार दानवों के मध्य संघर्ष ही समकालीन विश्व-राजनीति की विशेषता है।" संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य विवाद व मतभेदों के मुख्य कारणों की विवेचना कीजिए और सम्भाव्य हल बताइये।

4 Trace the origin and growth of the conflict between the United States of America and the U S S R after the Second World War How far is it proper to explain the conflict in terms of the ideological differences between the two great powers ?

---

*The Hindustan Times, 25th July 1964

द्वितीय महायुद्ध के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य जो संघर्ष रहा है उसकी उत्पत्ति और विकास पर प्रकाश डालिए। यह कहना कहाँ तक उचित है कि इन दो महान् शक्तियों के मध्य यह संघर्ष सैद्धान्तिक मतभेदों का है ?

5 Examine the role of ideological as a prime factor in International Relations : Illustrate your answer by one or two examples.

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सिद्धान्तों की भूमिका की एक प्रमुख पहलू के रूप म परीक्षा कीजिए। एक अथवा दो उदाहरणों द्वारा अपना उत्तर स्पष्ट कीजिए।

9

अमेरिका, ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति

(THE FOREIGN POLICIES OF U.S.A. U.K. & FRANCE)

१ अमेरिकन विदेश नीति के सिद्धान्त एवं लक्ष्य

२ १९४५ से पूर्व तक की अमेरिकन विदेश नीति

३ अमेरिका की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति

(१) मधु रात्रि का काल (मई १९४५ से अगस्त १९४६ तक)

(२) नवीन दिशान्वेषण का काल (अगस्त १९४६ से जून १९५० तक)

३) खुले संघर्ष का काल (जून १९५० से जुलाई १९५३ तक)

(४) नवीन दृष्टि का काल (जुलाई १९५३ से जनवरी १९६१ तक)

() सहअस्तित्व का काल (जनवरी १९६१ से)

(i) कैनेडी-युग

/ (ii) जानसन युग

टेन की विदेश नीति

स की विदेश नीति

'संयुक्त राज्य अमेरिका निरन्तर एवं नियमित रूप से शान्ति-स्थापना का समर्थन करता है। हम इस सिद्धान्त का समर्थन करते हैं कि संसार के समस्त राष्ट्रों की नीतियों के क्रियान्वयन में बल प्रयोग से तथा दूसरे राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप से बचना चाहिये। हम चाहते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में समस्याओं का समाधान शान्तिपूर्ण वार्ताओं तथा समझौतों के द्वारा किया जाए। हम अन्तर्राष्ट्रीय-संधियों का ईमानदारी के साथ पालन किये जाने में विश्वास रखते हैं। हमारा विश्वास है कि समस्त राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों के अधिकारों का सम्मान तथा अन्तर्राष्ट्रीय जगत में व्याप्त रूप से स्वीकृत व प्रचलित शक्तियों का परिपालन करना चाहिये।

—कार्डलहल

'मेरी धारणा है कि किसी भी देश को शाश्वत रूप से शत्रु अथवा मित्र मान लेना एक संकीर्ण नीति है। केवल हमारे हित ही शाश्वत तथा चिरन्तन हैं, तथा हमारा कर्त्तव्य है कि हम इन हितों का अनुसरण करें।"

—लार्ड पामर्स्टन

'यह बात बहुत स्पष्ट है कि इस संकटग्रस्त विश्व में फ्रांस को पहले की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य करना है यह सन्तुलन और शांति स्थापित करने का कार्य है।

—राष्ट्रपति डिगॉल

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति

(The Foreign Policy of the United States)

संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व का एक महानतम जनतंत्र है और यहां की विदेश नीति लोकमत के झुकावों से बहुत प्रभावित रहती है। इस देश के निवासी अपने देश को स्वतन्त्रता की देवी मानते हैं और संसार में स्वतन्त्रता का प्रकाश करना अपना उत्तरदायित्व समझते हैं। प्रकृति से अमेरिकन उतावले होते हैं सभी प्रश्नों का सीधा उत्तर मांगते हैं तथा सभी समस्याओं को शीघ्रता से सुलझाना चाहते हैं। अमेरिकन जनता के इस स्वभाव के कारण यहां की विदेश नीति के कर्णधारों को कभी-कभी बड़े उलझे हुए समझौते करने को राजी होना पड़ता है। यहां के लोग भावुक हैं। वे किसी से प्रेम करते हैं तो पूरी तरह और घृणा भी करते हैं तो पूरी तरह। उनकी इस प्रकृति का विदेश नीति पर भारी प्रभाव है।

अमरीकन वैदेशिक नीति को प्रभावित करने वाला एक प्रबल तत्व उसकी ऐतिहासिक परम्परायें और भौगोलिक स्थिति है। यह कहा जा सकता है कि सब समुद्रों से घिरा तथा यूरोप आदि महाद्वीपों से दूर स्थित होने के कारण ही यह राज्य द्वितीय महायुद्ध तक अपनी पार्थक्यवादी नीति का पालन करने में समर्थ हो सका था। यह द्वितीय महायुद्ध ही था जिसने अमेरिका को इस तथ्य से भली भांति परिचित करा दिया कि यदि विश्व की बड़ी शक्तियां लड़ने को उद्यत हो जायें तो उसे भी उस संघर्ष में चाहे या अनचाहे पड़ना ही पड़ेगा और नये युग की इन आवश्यकताओं एवं परिस्थितियों से परिचित होने के बाद ही अमेरिकन विदेश नीति की चार प्रमुख भूलों का तिरस्कार किया गया—ये थी कल्पनावाद (Utopianism) वैधानिकता (Legalism) भावुकता (Sentimentalism) और पार्थक्यवाद (Isolationalism)।

अमेरिकन विदेश नीति को प्रभावित करने वाला एक अन्य प्रमुख तत्व यहां की गृह नीति एवं राष्ट्रीय चरित्र है यहां की राजनीतिक और सामाजिक व्यवस्था है। एक विशेष परिस्थिति में अमरिकन किस प्रकार का व्यवहार करेंगे यह बात बहुत कुछ उन तत्वों पर निर्भर करती है जिनके द्वारा यहां के समाज का वर्तमान एवं भावी रूप का निर्धारण होता है। समाज का स्वरूप और लोगों का चरित्र गृह और विदेश दोनों ही नीतियों पर अपनी छाप छोड़ता है।+

+In foreign affairs as well as in domestic affairs "some clue as to how the American people will behave and should behave must be sought in the total complex of conditions and factors which make American Society

वस्तुत अमेरिका बहुत सी जातियों और लोगों का एक संयुक्त देश है जिसकी परम्परायें एव तदानुसार चरित्र असमान है। अपने आदर्शवादी कल्पनावादी एव क्रान्तिकारी स्वभाव के कारण यहाँ के लोग विश्व युद्ध के बाद की परिस्थितियों का यथार्थवादी रूप से अध्ययन नहीं कर पाये। साथ ही इन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या की ओर वैधानिक-नैतिक (Legalistic Moralistic) दृष्टि से देखा है। जार्ज एफ केनन (George F Kennan) के मतानुसार पिछली नीतियों का सबसे अधिक गम्भीर दोष यह दृष्टिकोण ही रहा है।

इसमे दो मत नहीं हो सकते कि अमेरिका की विदेश नीति पर गृह नीतियों एवं दबावों का भी प्रभाव पड़ता है कई बार तो उसकी अवहेलना करना असंभव बन जाता है। गृह नीति एवं विदेश नीति दोनों एक दूसरे पर प्रभाव डालती हैं। कुछ अवसर ऐसे आते हैं जबकि विदेश नीति मे किये जाने वाले परिवर्तनों का इस कारण विरोध किया जाता है क्योंकि ऐसा करने में गृह नीति में जिन परिवर्तनों की आवश्यकता पड़ती है वे लोगों के हितों को आघात पहुँचाते हैं। इस प्रकार व्यापारिक संस्थायें धार्मिक एवं अन्य प्रकार के दल तथा दूसरे सामाजिक संगठन विदेश नीति को अपने हितों के अनुरूप प्रभावित करते रहते हैं। एक संघात्मक प्रशासन होने के कारण विभिन्न संवैधानिक बन्धन अमेरिकन विदेश नीति के प्रवाह को एक दिशा प्रदान करते हैं। विदेश नीति का संचालन उस समय बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है जबकि राष्ट्रपति जिस दल का होता है उसका कांग्रेस में बहुमत नहीं होता।

अमेरिकन विदेश नीति के सिद्धान्त एवं लक्ष्य (The principles and objectives of United States Foreign Policy)—संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के लक्ष्यों का स्रोत वहाँ के समाज के मूल्य हित तथा मान्यतायें हैं। अमेरिकन लोगों के जीवन का अपना एक तरीका है जिसमें गुण तथा दोष दोनों का अस्तित्व है फिर भी वे उसे बनाये रखने बाधित एवं प्रसार प्रदान करने में प्रयत्नशील रहते हैं। यहाँ की राजनैतिक क्रिया एवं विदेश नीति मे इस प्रयत्न की स्पष्ट झलक परिलक्षित होती है और इनके आधार पर विदेश नीति के लक्ष्य एवं साधनों का निर्धारण किया जाता है। यहाँ की विदेश नीति के सामान्य रूप से दो प्रधान लक्ष्य माने जाते हैं—पहला है 'राष्ट्रीय सुरक्षा' तथा दूसरा है आर्थिक सद्भाव (Economic Well-being)। इन दोनों लक्ष्यों के मार्ग में अनेक गौण लक्ष्य भी आ जाते हैं जिनके बारे में यह निर्णय नहीं किया जा सकता है कि ये विदेश नीति के साध्य हैं अथवा साधन। कुछ लोग साम्यवाद की घेराबन्दी (Containment of Communism) को अमेरिकन विदेश नीति का प्रमुख प्रेरक मानते हैं जबकि दूसरों का मत है कि यह तो एक साधन है जिसका लक्ष्य है 'राष्ट्रीय

---

what it is or what it is becoming"

—*Robert K. Carr and others* American democracy in theory and practice The Nation Govt page 951

सुरक्षा'। इसी प्रकार अर्धविकसित देशों के लोगों को 'सहायता प्रदान करना' मानवता की दृष्टि से एक लक्ष्य भी हो सकता है तथा साम्यवाद के प्रभाव को रोकने वाला एक साधन भी। कुछ लोगों को इसमें भी संदेह है कि विश्व शान्ति अमेरिकन विदेश नीति का लक्ष्य है अथवा अन्य लक्ष्यों को प्राप्त करने का एक साधन है। श्लीचर महोदय का कहना है कि किसी भी कीमत पर शान्ति की प्राप्ति अमेरिकन विदेश नीति का लक्ष्य नहीं है।* कुछ विचारकों का तो यहाँ तक कहना है कि अमेरिकन विदेश नीति जैसी कोई चीज है ही नहीं। यह मत तथ्यों के विपरीत है और इसमें कोई संदेह की गुंजाइश नहीं है कि कुछ ऐसे आधारभूत सिद्धान्त एवं मान्यताएँ हैं जिन्होंने अमेरिका के पूरे अथवा अधिकांश इतिहास में यहाँ की विदेश नीति में महत्वपूर्ण भाग अदा किया है। वान आल्स्टीन (Van Alstyne) के मतानुसार इनमें सबसे प्रमुख हैं—सुरक्षा विस्तार एवं तटस्थता। नाथनील पीफर (Nathaniel Peffer) का मत है कि अमेरिकी सम्बन्धों के निश्चित बिन्दु हैं—पार्थक्यवाद (Isolationism) मुनरो सिद्धान्त समुद्रों की स्वतन्त्रता तथा खुला द्वार (Open Door) बीमिस (Bemis) का विचार है कि निम्न सिद्धान्त अमेरिकी विदेश नीति की नींव हैं—

१ संप्रभु स्वतन्त्रता
(Sovereign independence)

२ महाद्वीपीय प्रसार
(Continental expansion)

३ यूरोप की राजनीति के साधारण संधि-विच्छेदों की उपेक्षा करना
(Avoidance of the Ordinary vicissitudes and Ordinary Combinations and Collisions of European Politics).

४ अउपनिवेशवादी सिद्धान्त
(The non-colonization principle)

५ अहस्तान्तरण का सिद्धान्त
(The no-transfer principle)

६ अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की स्वतन्त्रता
(Freedom of international trade)

७ लोगों का आत्मनिर्णय
(Self-determination of Peoples)

---

*"Peace at any price is certainly not an objective of American Foreign Policy"

—*Schleicher* International Relations, p. 438.

८ युद्ध काल में तटस्थ राष्ट्रों को समुद्र की स्वतंत्रता तथा अन्तर्राष्ट्रीय नदियों में नौसंचालन की स्वतंत्रता
(Freedom of seas for neutral ships in time of war, and freedom of navigation of international rivers)

९ राष्ट्रता का औचित्य एवं कारावास का अनौचित्य
(The right of expatriation and the wrong imprisonment)

१० अहस्तक्षेप
(Non-intervention)

११ साम्राज्यवाद विरोधी भावना
(A feeling of anti-imperialism)†

उपरोक्त सिद्धान्तों के अतिरिक्त अमेरिकन विदेश नीति के कुछ सामान्य सिद्धान्त भी बताये जाते हैं, उदाहरणार्थ मानव मात्र का कल्याण प्रजातन्त्र का विकास एवं स्वतन्त्रता की रक्षा आदि। अमेरिकन विदेश नीति के लक्ष्यों का अध्ययन करते समय कभी-कभी उसकी वस्तु-स्थिति को बनाये रखने (Maintenance of Statusquo) की नीति पर बहुत जोर दिया जाता है। यह कहा जाता है कि अमेरिका परिवर्तन नहीं चाहता। वहां के लोग समृद्ध हैं तथा परिवर्तनशील विश्व के परिवर्तनों के प्रति उदासीन अथवा विरोधी दृष्टिकोण रखते हैं। इस विचार का विरोध करते हुए अमेरिकी विद्वान यह तर्क प्रस्तुत करते हैं कि अमेरिका उन हिंसात्मक एवं क्रान्तिकारी परिवर्तनों का विरोध करता है जो कि अव्यवस्था फैलाते हैं। किन्तु शांतिपूर्ण परिवर्तनों का यह पक्षपाती है।

अमेरिकन विदेश नीति को प्रभावित करने वाले तत्वों उसके सिद्धान्तों और लक्ष्य आदि पर सामान्य चर्चा करने के उपरान्त अब हम संक्षेप में यह देखने का प्रयास करेंगे कि द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से पूर्व तक अमेरिका की विदेश नीति व्यावहारिक दृष्टि से किन सिद्धान्तों पर स्थिर रही। अमेरिका की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति का वर्णन करने से पूर्व पृष्ठभूमि के रूप में यह जान लेना आवश्यक भी है।

१९४५ से पूर्व तक की अमेरिकन विदेश नीति (U S. Foreign Policy before 1945)—संयुक्त राज्य अमेरिका जो क्रमशः प्रगति करते हुए आज संसार का एक प्रमुखतम राष्ट्र है उसकी वैदेशिक नीति के आधार स्तम्भ आरम्भ से तीन सिद्धान्तों पर स्थिर रहे—एक तो यह कि अमेरिका यूरोप के साथ व्यापार करे किन्तु यूरोप की शक्ति-राजनीति से दूर रहे। दूसरा यह कि यूरोप के देश भी अमेरिका के साथ व्यापार करें किन्तु वे अमरिकन महाद्वीप की शक्ति राजनीति का दाव पेंच न करें। तीसरा यह कि

†"Samuel Flagg Bemis "The shifting strategy of American defence and diplomacy"
—The Virginia Quarterly Review XXIV (Summer 1948) p. 321 335

अमेरिका और यूरोप के देश एशियाई देशों के साथ व्यापार करें किन्तु सम्मिलित रूप से एशिया की शक्ति राजनीति से अलग रहें। पहले सिद्धान्त की अधिकारी व्याख्या प्रथम राष्ट्रपति वाशिंगटन के विदाई भाषण एवं जेफरसन के उद्घाटन भाषण में मिलती है। दूसरा सिद्धान्त राष्ट्रपति मुनरो के प्रसिद्ध 'मुनरो सिद्धान्त' में प्रतिपादित हुआ है। तीसरे सिद्धान्त की झलक अमेरिका की 'मुक्त-द्वार नीति' में मिलती है।

इन सिद्धान्तों से अमेरिका को १६वीं शताब्दी में विशेष लाभ हुए और एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में अपने अधिकारों पर बल देना ही इस काल की अमेरिकन कूटनीति की प्रधान विशेषता रही। १६वीं शताब्दी में विश्व राजनीति में अमेरिका स्वयं को पृथक रख सका। इस काल में उसने अपने घर को संवारा और अपना क्षेत्र विस्तार करके अमेरिकन महाद्वीपीय अविकसित क्षेत्रों का आर्थिक शोषण किया। २०वीं सदी के आगमन से परिस्थिति बदल गई संयुक्त राज्य अमेरिका के पृथक निवास की नीति को बड़ा धक्का लगा। अपने व्यापारिक एवं आर्थिक हितों की सुरक्षा के लिए अमेरिका ने विश्व-राजनीति में सक्रिय भाग लेना प्रारम्भ किया तथा अपनी सीमाओं से बाहर मुख्य रूप से सुदूरपूर्व एवं लैटिन अमेरिका के साथ सम्बन्धों के पाश में वह बंधने लगा। एडमिरल महन (Admiral Mahan) ने २०वीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी में अमेरिकन विदेश-नीति के बारे में लिखा है कि इस काल में यह एशिया के साथ सम्बन्ध बढ़ाने लगी कैरीबियन में अपने प्रभाव का विस्तार करने लगी हालांकि यूरोप के मामले में वह अब भी भाग नहीं ले रही थी। किन्तु प्रथम महायुद्ध के प्रारम्भ होने पर परिस्थितियों ने मजबूर करके संयुक्त राज्य को इसमें भाग लेने के लिए तैयार कर दिया।

युद्ध के बाद अमेरिका की पृथकतावाद की हल्की हुई प्रवृत्ति पर पुनः से जोर दिया गया। राष्ट्रपति विल्सन ने मानव कल्याण एवं राष्ट्रों में परस्पर सहयोग के लिए जो रचनात्मक कार्यक्रम प्रस्तुत किया उसे अमेरिकन कांग्रेस द्वारा मुख्य रूप से इस कारण अस्वीकृत कर दिया गया क्योंकि अमेरिका की विश्व राजनीति में बढ़ती हुई सक्रियता उसको पसन्द न थी। अमेरिकन विदेश-नीति युद्ध के बाद पुनः अपनी अतीत की परम्पराओं का पालन करने लगी। चेस्टर बाउल्स के शब्दों में प्रथम विश्व युद्ध के बाद संतुलित दशा प्राप्त करने की खोज में हमने पृथकत्व की महंगी राष्ट्रीय नीति अपनाई।[+] बोल्स का विचार है कि इस नीति के कारण ही यूरोप की सीमाओं के पार हिटलर का दहाड़ का भातंक छाया और इसी के कारण पर्ल हार्बर पर जापान की मृत्यु जैसी बमवर्षा हुई। इन सभी घटनाओं से हमें यह सबक लेना चाहिए कि हम घनिष्ठ रूप से परस्पर सम्बद्ध संसार में रहने वाली कोई भी बड़ी शक्ति इससे पृथक नहीं रह सकती। अतः पृथकत्ववाद को इसे हमेशा के लिए त्याग देना चाहिए। राष्ट्रपति विल्सन का कहना है कि 'अमेरिका के समक्ष महान् उद्देश्य है जो केवल अमेरिकन महाद्वीप तक ही

[+] चेस्टर बोल्स, शान्ति के नूतन क्षितिज, पृष्ठ—१५

सीमित नहीं है। वे स्वयं अमेरिका की विश्व-शान्ति मानव-विकास एवं राष्ट्रों के पारस्परिक मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना में सक्रिय एवं महत्वपूर्ण भागीदार देखना चाहते थे। सन् १९२० के बाद अमेरिका की विदेश नीति वास्तविकता से अविश्वासित दूर होती चली गई। बीमिस (Bemis) ने इस काल को अमेरिकन विदेश नीति का मूर्खों का स्वर्ग (Fool's Paradise) कहा है जबकि यह पांच मान्यताओं द्वारा संचालित हो रहा थी वे थे—पार्थक्यवाद साम्राज्यवाद का विरोध मित्रराष्ट्रीयता तटस्थता एवं शांतिवाद। युद्ध के बाद जिस पार्थक्यवाद की नीति का अनुसरण किया गया वह प्रारम्भिक समय की नीति से भिन्न थी। मार्गेन्थो ने इस बाद के पार्थक्यवाद को विदेश नीति का अभाव बताया है।* १९३० में द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका को पुनः अपने इस दृष्टिकोण को छोड़ना पड़ा तथा विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद अपने अतीत के अनुभवों से लाभ उठा कर फिर इस नीति का अनुसरण न किया।

अमेरिका की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति

(The Second Post World War Foreign Policy of the U.S.A.)

पार्थक्यवाद नीति का परित्याग होने से द्वितीय महायुद्धोत्तर अमेरिका की वैदेशिक नीति में वस्तुतः एक बड़ा क्रान्तिकारी सूत्रपात हुआ और अब संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के प्रसार का अवरोध करने के लिए सब देशों से सैनिक समझौते करने और उन्हें लगभग उसी प्रकार के सैनिक एवं आर्थिक सहायता देने की नीति का अनुसरण करने लगा। तथापि माइकल डोनेलन (Michael Donelan) के अनुसार युद्धोपरान्त अमेरिकन वैदेशिक नीति की धारणा सुरक्षात्मक ही बनी रही और इसके कारणवश जहां उस अनेक लाभ हुए वहां अनेक हानियां भी उठानी पड़ी। किन्तु यह सुरक्षात्मक नीति सैनिक रण कौशल (Military Strategy) से कहीं अधिक विस्तृत थी और केवल अमरिका की सुरक्षा से इसका क्षेत्र कहीं अधिक चौड़ा था। युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश नीति मानव कल्याण की भावना संचालित की गई थी, यह केवल अमरिका की सुरक्षा के लिए एक नये प्रकार की अवसरवादिता नहीं थी।+

वास्तव में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद की अमरिकन विदेश नीति मुख्य रूप से साम्यवादी देशों के साथ उसके विरोध समझौते प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष की कहानी है जिसमें कभी वे पुनः अपनी पार्थक्यवादी नीति पर आ गए और कभी अपने विचार के आदर्श समाज की रचना में भी कूद पड़े। आखिर उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया जो कि असंतोषजनक परिस्थितियों में रहता था। यह आशा की गई कि समय के साथ-साथ या तो ये समस्यायें

---

*"......It was the very negation of foreign policy"
—*Morgenthau, Hans J*

+Michael Donelan, The Ideas of American Foreign Policy 1963, p.10-11

सुलभ जायेगी अथवा स्वतः ही मिट जायेगी और इस प्रकार सम्पूर्ण युद्ध के खतरे को टाला जा सकेगा। युद्धोपरान्त वर्षों में अमेरिकन विदेश नीति ने विश्व के आकार को कल्पनातीत एवं तीव्र गति से विस्तृत कर लिया। पश्चिमी यूरोप की साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक शक्तियां शताब्दियों से विश्व में अपनी क्रियाओं को बढ़ाती जा रही थीं किन्तु संयुक्त राज्य ने दो दशाब्दियों में ही अपने तात्कालीन उत्तरदायित्वों को यूरोप मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया तथा अफ्रीका में बढ़ा लिया। माइकेल डोनेलन (Michael Donelan) के शब्दों में युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश नीति का विषय गोलार्द्ध सम्बन्धी मान्यताओं का समग्र विश्व के रूप में विस्तार कर लेना था।[1] युद्ध के बाद अमेरिका ने न केवल यूरोप के मामलों में रुचि ली है वरन् सुदूरपूर्व मध्यपूर्व और अफ्रीका के मामलों में भी सक्रिय भाग लिया है।

महायुद्धोपरान्त से लेकर अब तक अमेरिकन वैदेशिक नीति अनेक परिवर्तनों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रकट हुई है। इन परिवर्तनों का कारण एवं औचित्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न परिवर्तनों राष्ट्रीय दबावों नेतृत्व एवं लोकमत के विशेष दृष्टिकोणों को माना जाता है। जहां चार्ल्स श्लीचर (Charles Schleicher) ने इस युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश-नीति को तीन परस्पर सम्बन्धित एवं उत्तरोत्तर कालों में विभाजित किया है वहां पामर और परकिन्स ने इसे मुख्यतः चार भागों में बांटा है। श्लीचर द्वारा किया गया विभाजन इस प्रकार है—

(i) सहयोग तथा अनुकूलन की नीति
(Co-operation & accommodation 1945 Aug to 46)

(ii) सोवियत संघ के साथ धैर्य एवं कठोरता की नीति
(Patience and firmness with the Soviet Union—Aug. 1946 to March 1947)

(iii) शीत युद्ध एवं साम्यवाद को सीमित करने की नीति
(Cold War *Containment*—1947 to onward)

पामर और परकिन्स (Palmer and Perkins) द्वारा विभाजित ४ भाग इस प्रकार हैं—

(i) प्रथम युग वी० जे० दिवस से प्रारम्भ होकर लगभग डेढ़ साल तक चलता है। इस युग को वे हनीमून काल (Honeymoon) कहते हैं। जब संयुक्त राज्य अमेरिका रूसियों की मृदुलता में विश्वास कर रहा था और उसे बड़ी शक्तियों के सहयोग की आशा थी।

(ii) द्वितीय काल है नवीन यात्रा (New departure) का अवधि

---

1 "The course of American postwar foreign policy relied heavily on the extension of hemispheric conceptions of the world at large."

—*Michael Donelan*, op cit., p 12

सीमित नहीं है। वे स्वयं अमेरिका को विश्व-शान्ति मानव-विकास एवं राष्ट्रों के पारस्परिक मित्रतापूर्ण सम्बन्धों की स्थापना में सक्रिय एव महत्वपूर्ण भागीदार देखना चाहते थे। सन् १९२० के बाद अमेरिका की विदेश नीति वास्तविकता से अधिकाधिक दूर होती चली गई। बीमिस (Bemis) ने इस काल को अमेरिकन विदेश नीति का मूर्खों का स्वर्ग (Fools Paradise) कहा है जबकि यह पांच मान्यताओं द्वारा संचालित हो रही थी वे थे— पार्थक्यवाद साम्राज्यवाद का विरोध निःशस्त्रीकरण तटस्थता एवं शांतिवाद। युद्ध के बाद जिस पार्थक्यवाद की नीति का अनुसरण किया गया वह प्रारम्भिक समय की नीति से भिन्न थी। मार्गेन्थो ने इस काल के पार्थक्यवाद को विदेश नीति का अभाव बताया है।* १९३० में द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारम्भ होने पर संयुक्त राज्य अमरिका को पुनः अपने इस दृष्टिकोण को छोड़ना पड़ा तथा विश्व युद्ध समाप्त होने के बाद अपने अतीत के अनुभवों से लाभ उठा कर फिर इस नीति का अनुसरण न किया।

अमेरिका की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति (The Second Post World War Foreign Policy of the U.S.A.)

पार्थक्यवाद नीति का परित्याग होने से द्वितीय महायुद्धोत्तर अमेरिका की वैदेशिक नीति में वस्तुतः एक बड़ा क्रान्तिकारी सूत्रपात हुआ और अब संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए सब देशों से सैनिक समझौते करने और उन्हें लगभग सभी प्रकार के सैनिक एवं आर्थिक सहायता देने की नीति का अनुसरण करने लगा। तथापि माइकेल डोनेलन (Michael Donelan) के अनुसार युद्धोपरान्त अमरिकन वैदेशिक नीति की आत्मा सुरक्षात्मक ही बनी रही और इसके कारणवश जहां उसे अनेक लाभ हुए वहां अनेक हानियां भी उठानी पड़ीं। किन्तु यह सुरक्षात्मक नीति सैनिक रण कौशल (Military Strategy) से कहीं अधिक विस्तृत थी और केवल अमरिका की सुरक्षा से इसका क्षेत्र कहीं अधिक चौड़ा था। युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश नीति मानव कल्याण की भावना संचालित की गई थी यह केवल अमेरिका की सुरक्षा के लिए एक नये प्रकार की अवसरवादिता नहीं थी।+

वास्तव में द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के बाद की अमेरिकन विदेश नीति मुख्य रूप से साम्यवादी देशों के साथ उसके विरोध समझौते प्रतिद्वन्द्विता एवं संघर्ष की कहानी है जिसमें कभी वे पुनः अपनी पार्थक्यवादी नीति पर आ गए और कभी अपने विचार के आदर्श समाज की रचना में भी कूद पड़े। आखिर उन्होंने बीच का रास्ता अपनाया जो कि असंतोषजनक परिस्थितियों में रहना था। यह आशा की गई कि समय के साथ-साथ या तो ये समस्यायें

---

*"———It was the very negation of foreign policy"
—Morgenthau Hans J

+Michael Donelan, The Ideas of American Foreign Policy 1963 p.10–11

सुलभ जायेंगी अथवा स्वत ही मिट जायेंगी और इस प्रकार सम्पूर्ण युद्ध के खतरे को टाला जा सकेगा। युद्धोपरान्त वर्षों में अमेरिकन विदेश नीति ने विश्व के आकार को कल्पनातीत एवं तीव्र गति से विस्तृत कर लिया। पश्चिमी यूरोप की साम्राज्यवादी एवं व्यापारिक शक्तियां शताब्दियों से विश्व में अपनी क्रियाओं का बढ़ाती जा रही थीं किन्तु संयुक्त राज्य ने दो दशाब्दियों में ही अपने शान्तिकालीन उत्तरदायित्वों को यूरोप मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया तथा अफ्रीका में बढ़ा लिया। माइकेल डनेलन (Michael Donelan) के शब्दों में युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश नीति का विषय गोलार्द्ध सम्बन्धी मान्यताओं का समग्र विश्व के रूप में विस्तार कर लेना था।[1] युद्ध के बाद अमेरिका ने न केवल यूरोप के मामलों में रुचि ली है वरन् सुदूरपूर्व मध्यपूर्व और अफ्रीका के मामलों में भी सक्रिय भाग लिया है।

महायुद्धोपरान्त से लेकर अब तक अमरिकन वैदेशिक नीति अनक परिवर्तनों के साथ अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर प्रकट हुई है। इन परिवर्तनों का कारण एवं औचित्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के विभिन्न परिवर्तनों राष्ट्रीय दबावों नेतृत्व एवं लोकमत के विशेष दृष्टिकोणों को माना जाता है। जहां चार्ल्स श्लीचर (Charles Schleicher) ने इस युद्धोपरान्त अमेरिकन विदेश-नीति को तीन परस्पर सम्बन्धित एवं उत्तरोत्तर कालों में विभाजित किया है वहां पामर और परकिन्स ने इसे मुख्यत चार भागों में बांटा है। श्लीचर द्वारा किया गया विभाजन इस प्रकार है—

(i) सहयोग तथा अनुकूलन की नीति
(Co-operation & accommodation 1945 Aug to 46)

(ii) सोवियत संघ के साथ धैर्य एवं कठोरता की नीति
(Patience and firmness with the Soviet Union—Aug 1946 to March 1947)

(iii) शीत युद्ध एवं साम्यवाद को सीमित करने की नीति
(Cold War Containment—1947 to onward)

पामर और परकिन्स (Palmer and Perkins) द्वारा विभाजित ४ भाग इस प्रकार हैं—

(i) प्रथम युग वी० जे० दिवस से प्रारम्भ होकर लगभग डेढ़ साल तक चलता है। इस युग को वे हनीमून काल (Honeymoon) कहते हैं। अब संयुक्त राज्य अमरिका भ्रमों की मूढ़ता में निवास कर रहा था और उसे बड़ी शक्तियों के सहयोग की आशा थी।

(ii) द्वितीय काल है नवीन यात्रा (New departure) का जबकि

---

1 "The course of American postwar foreign policy relied heavily on the extension of hemispheric conceptions of the world at large."

—*Michael Donelan* op cit, p 12

विभाजित विश्व की यथार्थता से वे परिचित होने लगे और नीतियों के निर्माण में नेतृत्व अपनाने लगे।

(iii) तीसरा काल साम्यवादी आक्रमणों का है जो जून १९५० के अन्तिम दिनों से प्रारम्भ होता है। इस काल में कोरिया में युद्ध हुआ। आर्थिक पुनर्निर्माण को सैनिक तैयारियों से गौण बना दिया गया। पश्चिमी यूरोप तथा सुदूर पूर्व में अमेरिका की नीतियों पर पुनर्विचार करने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी तथा इसकी आलोचना की गई।

(iv) चौथा काल उस समय से प्रारम्भ होता है जबकि व्हाइट हाउस (White House) में डेमोक्रेटिक प्रभुत्व तथा सोवियत रूस से स्टालिन की तानाशाही समाप्त हो गई। नवीन सोवियत नेताओं ने अधिक लोचशील एवं समझौतेपूर्ण नीतियां अपनाने की इच्छा प्रकट की। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटाव दूर होने की आशायें बढ़ने लगी तथा युद्धों का युग समाप्त होने के आसार दिखाई देने लगे।

प्रस्तुत अध्याय में सुविधा की दृष्टि से अमेरिका की युद्धोत्तर नीति का अध्ययन हम निम्नलिखित पांच भागों में करेंगे—

१ मधु रात्रि का काल (The Honeymoon Period)—मई १९४५ से अगस्त १९४६ तक

२ नवीन विचारोन्मेष का काल (Period of New Departure)—अगस्त १९४६ से जून १९५० तक

३ खुले संघर्ष का काल (Period of Open Conflict)—जून १९५० से जुलाई १९५३ तक

४ नवीन दृष्टि का काल (Period of New Look)—जुलाई १९५३ से जनवरी १९६१ तक

५. सह-अस्तित्व का काल (Period of Co-existance)—जनवरी १९६१ के उपरान्त।

(१) मधु-रात्रि का काल (मई १९४५ से अगस्त १९४६ तक)

द्वितीय महायुद्ध सभी मित्र राष्ट्रों और सोवियत संघ के सहयोग से जीता गया था अतः अमेरिका ने युद्ध के बाद भी यही समझा कि जैसे लड़ाई में उसी प्रकार का सहयोग मिलता रहेगा और विवादग्रस्त मामले पारस्परिक समझौतों तथा सद्भावना के आधार पर स्वतः ही तय हो जायेंगे। अमेरिका को लगभग एक डेढ़ वर्ष तक यह विश्वास बना रहा कि युद्ध काल में अमेरिका और रूस की जिस मित्रता का विकास हुआ है वह युद्धोत्तर कालिकाल में भी बनी रहेगी। वस्तुतः में अमेरिका और रूस का युद्धकालीन सौहार्द फरवरी १९४५ के याल्टा सम्मेलन में अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था और तभी से मानाम्यन' यह विश्वास किया जाने लगा था कि याल्टा की भावना युद्धोत्तर काल को भी अनुप्राणित करती

रहेगी। इसी विश्वास के आधार पर अप्रैल जून १९४५ के सान-फ्रांसिसको सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर तैयार किया गया तथा जुलाई-अगस्त में पोट्सडम सम्मेलन में जर्मनी व जापान से शांति-संधियों एवं युद्धोत्तर व्यवस्थाओं के बारे में विभिन्न समझौते किये गये। सहयोग की इसी भावना का प्रदर्शनात्मक विचार यह रहा कि विश्व से सैनिक शक्ति का बहिष्कार कर देना चाहिए क्योंकि यह अनावश्यक होने के साथ-साथ विध्वंसात्मक एवं भयंकर भी है।

युद्धकालीन सहयोग और मैत्री की युद्ध के बाद इतनी खुमारी छायी रही कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने 'सहयोग और अनुकूलन की नीति' (Policy of Co-operation and Accommodation) का अनुसरण करते हुए युद्ध से विध्वस्त देशों के पुनर्वास और पुनर्निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया अणु शक्ति के नियंत्रण की योजनायें बनायीं यूरोप से अपनी सेनाओं को हटाया चीन में साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों के मध्य समझौता कराने के प्रयास किये जर्मनी और उसके साथी राष्ट्रों के साथ यथासम्भव शीघ्रातिशीघ्र शांति संधियाँ करने का आग्रह किया और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापारिक संगठन की स्थापना का प्रस्ताव रखा। २८ अक्टूबर, १९४५ को तत्कालीन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने सहयोग और अनुकूलन की तत्कालीन अमेरिकन विदेश नीति के बारह सूत्री (Twelve Point) उद्देश्यों" की घोषणा की। ये उद्देश्य सार रूप में इस प्रकार थे—

(i) अमेरिका प्रादेशिक विस्तार अथवा स्वार्थपूर्ण लाभ नहीं चाहता वह किसी छोटे या बड़े देश पर आक्रमण नहीं करेगा।

(ii) अमेरिका का मत है कि जिन देशों से सर्वोच्च प्रभुसत्ता के अधिकार बलपूर्वक छीने गये थे वे उन्हें वापिस किए जाने चाहिए।

(iii) अमेरिका किसी मित्र देश में स्वतन्त्रतापूर्वक व्यक्त की गयी जनता की सहमति के बिना किये गये किसी प्रादेशिक परिवर्तन को स्वीकार नहीं करेगा।

(iv) अमेरिका का यह विश्वास है कि स्वशासन के लिए समर्थ और उद्यत देशों का विदेशी हस्तक्षेप के बिना अपने शासन का स्वरूप चुनने में स्वाधीनता होनी चाहिए। यह सिद्धान्त यूरोप एशिया अफ्रीका और पश्चिमी गोलार्द्ध में समान रूप से लागू होता है।

(v) अमेरिका का लक्ष्य अपने साथियों के साथ सहयोग करते हुए पराजित देशों में शांतिपूर्ण लोकतंत्रीय शासन स्थापित करना है।

(vi) संयुक्त राज्य अमेरिका विदेशी शक्ति द्वारा किसी देश में बलपूर्वक थोपी गयी सरकार को मान्यता प्रदान नहीं करेगा।

(vii) अनेक देशों में से होकर गुजरने वाली नदियों में तथा समुद्रों में आवागमन की निर्बाध स्वतंत्रता सब देशों को होनी चाहिए।

(viii) विश्व में कच्चे माल की प्राप्ति तथा व्यापार में सब देशों को स्वतंत्रता होनी चाहिए।

(ix) अमेरिका का यह मत है कि पश्चिमी गोलार्द्ध के राज्यों को इस गोलार्द्ध के बाहर से किसी शक्ति के हस्तक्षेप के बिना उत्तम पड़ोसियों की भाँति अपनी सामान्य समस्याओं का समाधान करना चाहिए।

(x) अमेरिका चाहता है कि सम्पूर्ण विश्व में दरिद्रता के अभाव को दूर करने तथा जीवन के स्तर को ऊँचा करने के लिए सब देशों में पूर्ण आर्थिक सहयोग होना चाहिए।

(xi) संयुक्त राज्य अमेरिका विश्व में अभिव्यक्ति तथा धर्म की स्वतंत्रता को बढ़ाने के लिए प्रयत्न करेगा।

(xii) अमेरिका का यह दृढ़ विश्वास है कि राष्ट्रों में शांति बनाये रखने के लिए ऐसे संयुक्त राष्ट्र संघ की आवश्यकता है जिसके सदस्य शांति प्रेमी हों तथा शांति बनाये रखने के लिए आवश्यकता पड़ने पर सैनिक कार्यवाही करने के लिए भी तैयार हों।

युद्धोत्तरकाल में युद्धकाल की भाँति ही रूसी सहयोग के प्राप्त होते रहने की अमेरिकन आशा इतनी बड़ी चढ़ी थी कि अमेरिका ने अपनी समस्त सेनायें लगभग दो वर्ष के भीतर 1 करोड़ २० लाख सैनिकों से घटा कर १५ लाख सैनिक कर दिये। परन्तु शीघ्र ही इस आशा का लोकमापन मिथ्या होने लगा। अनेक क्षेत्रों में उल्लेखनीय प्रगति करते हुए भी अमेरिका विश्व राजनीति के दो महत्वपूर्ण विकासों के प्रति चूक कर बैठा—सोवियत संघ की आक्रमणकारी चालें और एशिया महाद्वीप में क्रांति। लगभग सभी क्षेत्रों में शीघ्र ही यह प्रकट हो गया कि रूस एवं अमेरिका परस्पर एक दूसरे के पूर्ण विरोधी हैं और विश्व के प्रत्येक भाग की प्रत्येक संभव समस्या पर उन दोनों में मतभेद है। क्या संयुक्त राष्ट्र संघ में क्या पूर्वी यूरोप में या जर्मनी अथवा जेनेवा मन्त्रियों की प्रत्येक परिषद में दोनों के बीच मूलरूप से असहमति स्पष्ट हो गयी। स्पष्टता की दृष्टि से यह कहना होगा कि विशेषतः ५ क्षेत्रों में उनके मतभेद विशेष रूप से उग्र हो गये—

(i) जर्मनी के एकीकरण का प्रश्न

(ii) पोलैण्ड में रूस द्वारा याल्टा सम्मेलन में दिये गये वचनों के भंजन की अमेरिकी शिकायत

(iii) इटली, हंगरी, रूमानिया, बल्गेरिया तथा फिनलैण्ड के साथ शांति संधियों का प्रश्न

(iv) संयुक्त राष्ट्र संघ तथा उसमें रूस द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग का प्रश्न तथा

(v) ईरान, टर्की और यूनान में रूसी महत्वाकांक्षाओं का प्रश्न।

इन सभी मतभेदों के कारण और अन्य विभिन्न असहमतियों के फलस्वरूप शनैः शनैः 'पश्चिम' और 'पूर्व' की युद्धकालीन 'अनोखी मैत्री (Strange Alliance) एक 'शीतयुद्ध' (Cold War) में परिवर्तित हो गयी। रूस के असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण से अमेरिका के आशावादी नेताओं को बड़ा धक्का

लगा। एशिया महाद्वीप में जो क्रान्ति हो रही थी उसका साम्यवादी देशों ने लाभ उठाया तथा पश्चिम विरोधी उपनिवेश विरोधी और साम्राज्य विरोधी भावनाओं का प्रचार कर यहां के देशों को अपनी ओर आकर्षित कर लिया तथा विश्व की नजरों में अमेरिका को प्रतिक्रियावादी तथा पूञ्जीवादी बना दिया।

(२) नवीन विशाल्वेषण का काल (अगस्त १९४६ से जून १९५०)

१९४६ के मध्य तक 'अमोखी मैत्री" की असफलता अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की एक कटु यथार्थता बन गयी। साम्यवादी देशों के रुख को देख कर राष्ट्रपति रूजवेल्ट और ट्रूमैन के प्रधान परामर्शदाता एवरिल हैरीमैन तथा विदेश विभाग के रूसी विशेषज्ञ जार्ज केनन (Kennan) ने कोमिन के साथ सहयोग की नीति में सदेह प्रकट किया। रूस के साथ सहयोग करने की नीति को अविवेकपूर्ण बताते हुए यह मत प्रकट किया गया कि रूस 'केवल दृढ़ता की नीति' का ही समझ सकता है और उसी का सम्मान भी कर सकता है, किसी दूसरी नीति का तो वह दुर्बलता और शिथिलता की ही निशानी समझता है। दिसम्बर १९४६ में विदेश मंत्री बर्न्स एव उनके बाद उनके उत्तराधिकारी विदेश मत्री मार्शल भी मास्को के विदेश मंत्री-सम्मेलनों से एस ही विचार लेकर लौटे। दोनों का यह विश्वास हो गया कि रूस के साथ सहयोग की नीति सफल होने की कोई सभावना नहीं है।

उपरोक्त अनुभूति होने के फलस्वरूप अमेरिकन विदेश नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन हुए और उसे सहयोग की अपनी प्रारम्भिक नीति का परित्याग करना पड़ा। यह समझा जाने लगा कि रूस चीन एवं पूर्वी यूरोप में साम्यवाद के प्रसार ने अमेरिका की सुरक्षा के लिए गंभीर खतरा पैदा कर दिया है अतः अमेरिका को तुरन्त ही ऐसी नीति अपनानी चाहिए जिसमे साम्यवादी प्रसार को प्रभावशाली रूप से अविलम्ब 'अवरुद्ध' कर दिया जाय। इस प्रकार अमेरिका 'सहयोग और आनुकूल्य" (Co-operation and Accommodation) की नीति के स्थान पर "अवरोध की नीति" (Policy of Containment) पर आया। सोवियत चुनौती के प्रति जागरूक होकर अमेरिका ने कठोर नीति को अपनाना आरम्भ किया। जार्ज एफ० केनन ने इस नीति को अधिक लोकप्रिय व्याख्यायें प्रदान कीं और साम्यवाद को सीमित करने के लिए विस्तृत योजनायें बनाने का प्रबल समर्थन किया। उसने ऐसा करना इसलिए आवश्यक बताया कि सोवियत सघ भी योजनाबद्ध रूप से आगे बढ़ रहा था। किन्तु फिर भी राष्ट्रपति ट्रूमैन इस बात में विश्वास व्यक्त कर चुके थे कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच चाहे कितनी भी कठिनाइयां क्यों न हों यह तथ्य विस्मृत नहीं किया जा सकता कि दोनों राष्ट्रों के मूल हित इसी बात में निहित हैं कि शांति बनायी रखी जाय ताकि विश्व के सभी देश उत्पादन और पुनर्निर्माण के अपने मूल कार्यों की ओर लौट सकें। उपराष्ट्रपति हेनरी वैलेस (Henry Wallace) का विश्वास था कि सोवियत संघ भयभीत है और पश्चिमी आक्रमण के विरुद्ध आश्वासन चाहता है।

किन्तु, अमेरिकन विदेश नीति के स्वरूप के बारे में दो भिन्न प्रकार के विचार प्रस्तुत किये जाने पर भी सामान्य इसी मत को मिल रहा था कि गोपनीयता अस्पष्टता दोहरापन अत्यधिक सन्देहशीलता और उद्देश्यों का अमैत्रीपूर्ण आदि सोवियत नीति की विशेषतायें हैं। ये अपने स्वयं सिद्ध स्रोतों की भांति सोवियत शक्ति की आन्तरिक प्रकृति की मूल हैं और जब तक इस सोवियत शक्ति की आन्तरिक प्रकृति ही न बदल जाय वे हमारे साथ रहेंगी। इस मत की प्रबलता के कारण सर्वत्र यह आशंका व्याप्त हो गयी कि अमेरिकन सरकार 'साम्यवाद' के विरुद्ध 'प्रजातंत्र' के पक्ष में सैद्धान्तिक संघर्ष छेड़ना चाहती है। यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि साम्यवादी गुट की ओर से विश्व के देशों में 'साम्यवादी धर्म' का जोर शोर के साथ प्रचार किया जा रहा था लेकिन अमेरिका की ओर से विश्व में प्रजातंत्र या अन्य सिद्धान्त के प्रचार के लिए कोई मिशनरी नियुक्त नहीं की गयी।

फिर भी जैसा की माइकेल डोनेलन (Michael Donelan) का कहना है यदि प्रजातंत्र का प्रचार नहीं तो कम से कम स्वतंत्रता का समर्थन तो युद्धोपरान्त अमरीकी विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य रहा है।[1] 'स्वतंत्रता' का पक्ष लेते समय अमेरिका ने साम्यवादी अथवा गैर साम्यवादी देशों के बीच अधिक भेद न करते हुए दोनों की स्वतंत्रता विरोधी नीतियों का विरोध एवं स्वतंत्रता समर्थक दृष्टिकोणों की प्रशंसा की है। उसने उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद का भी उतना ही विरोध किया है जितना कि साम्यवादी राष्ट्रों की महत्वाकांक्षाओं का। फिर भी इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि स्वतंत्रता समर्थक अपनी नीति के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका ने सबसे बड़ा शत्रु सोवियत रूस को माना। अमरीकी नेताओं ने प्रायः उन सिद्धान्तों का प्रचार न किया जिनमें उनका विश्वास था किन्तु सोवियत संघ को एक ऐसी शक्ति घोषित कर दिया जिसका लक्ष्य इन आदर्शों को मिटाना था। इस प्रकार व्यक्तिगत दृष्टिकोणों एवं राष्ट्रीय नीतियों के बीच अन्तर दिखाया गया। साम्यवादी होते हुए भी यूगोस्लाविया आदि देशों को उसने अनौपचारिक समर्थन प्रदान किया। यह कहा जाता है कि रिपब्लिकन दल के कुछ नेता व्यक्तिगत रूप से साम्यवाद से घृणा करते थे तथा उनकी दृष्टि में साम्यवाद तथा रूस एवं चीन के बीच कोई अन्तर न था फिर भी इन सीमाओं के होने पर भी कुछ विद्वानों के मत में यह सत्य है कि अमेरिकन नीति का लक्ष्य किसी सिद्धान्त का विरोध करना नहीं था वरन् विरोधी शक्तियों (Hostile Powers) के विस्तार का विरोध करना था। जनवरी १९५० में अपने एक भाषण में एचेसन (Acheson) महोदय ने कहा था "मैं प्रायः प्रति दिन यह सुनता हूँ कि किसी ने कहा है कि अमेरिका का वास्तविक लक्ष्य साम्यवाद के प्रचार को रोकना है। यह कथन घोड़े से पूर्व गाड़ी को रखना है।

---

1 "If not the spread of democracy at least the support of 'Freedom' has been a major aim of American Policy since the War

—*Michael Donelan*, The Ideas of American Foreign Policy Page 62.

यद्यपि हम साम्यवाद के प्रसार को रोकने में रुचि लेते हैं किन्तु ऐसा करने के बहुत महान कारण हैं न केवल यह कि रूस तथा अमेरिका के बीच झगड़े हैं।"[1]

अमेरिकन प्रवक्ताओं का कुछ भी विचार रहा हो इसमें सन्देह करने की गुन्जाइश प्रतीत नहीं होती कि साम्यवाद को सीमित या अवरुद्ध करने की नीति राष्ट्रपति ट्रूमैन के युग में आरम्भ हो गयी और इसकी निश्चित अभिव्यक्ति "ट्रूमैन सिद्धान्त" (Truman Doctrine) में हुई जिसकी प्रथम मुख्य आधिकारिक व्याख्या स्वयं राष्ट्रपति ट्रूमैन ने १२ मार्च १९४७ को अपने एक भाषण में कांग्रेस के समक्ष की।

ट्रूमैन सिद्धान्त का विवरण देने से पूर्व हमें उन मुख्य कारणों अथवा घटनाओं या समस्याओं को संक्षेप में जान लेना चाहिए जिनके वशीभूत होकर अमेरिकन प्रवक्ताओं के अनुसार इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया। अमेरिका द्वारा प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से यही प्रतिपादित किया गया कि यूनान, टर्की और ईरान पर बढ़ते हुए साम्यवादी दबाव के कारण "विपुल आर्थिक सहायता द्वारा साम्यवाद के प्रसार को रोकने की नीति" कार्यान्वित की गयी। इन तीनों देशों की समस्यायें इस प्रकार थीं—

(क) यूनान की समस्या—यूनान में दो राजनीतिक दल थे—एक साम्यवादी समर्थक (E. A. M.) और दूसरा राजतन्त्रवादी (E D E.S.)। द्वितीय महायुद्ध के दौरान यूनान पर इटली और जर्मनी का आक्रमण होने पर इन दोनों ही दलों ने इसका विरोध किया। बाद में १९४४ में जर्मन फौजों के वहाँ से हटने पर ब्रिटिश फौजों ने प्रवेश किया और चूंकि ब्रिटेन यूनान पर अपना प्रभाव बनाए रखना चाहता था अतः अक्टूबर १९४४ में एक समझौते के अनुसार सोवियत रूस ने यूनान को ब्रिटेन का प्रभाव-क्षेत्र स्वीकार कर लिया। ब्रिटेन यूनान को अपने प्रभाव-क्षेत्र में इसलिये रखना चाहता था ताकि इसके साम्राज्य के पूर्वी हिस्से को जाने वाला मार्ग सुरक्षित रह सके। ब्रिटेन इस बात को भली-भांति जानता था कि इस प्रदेश में साम्यवादियों का नियंत्रण होने पर रूस यूनान से इटली और टर्की में आगे बढ़ कर ब्रिटिश हितों को बड़ी हानि पहुंचा सकता था।

ब्रिटेन की उपरोक्त नीति का यह स्वाभाविक परिणाम था कि जर्मन यूनान में प्रवेश के बाद यूनान के साम्यवादी दल (E. A M.) का विरोध

---

1 "I hear almost every day someone say that the real interest of the United States is to stop the spread of Communism Nothing seems to me to put the cart before the hors- more completely than that. Of course we are interested in stopping the spread of communism But we are interested for a far deeper reason than any conflict between the Soviet Union and the U.S."

और राज पक्षपाती दल (E. D. E. S.) का समर्थन किया। फलतः मार्च १९४६ में जो चुनाव हुए, उनमें ब्रिटेन द्वारा समर्थित राज्य सत्तावादियों के समर्थन से यूनान में राजतंत्र की स्थापना हो गई।

राजतंत्रवादियों का पलड़ा भारी हो जाने के फलस्वरूप यूनान के साम्यवादी उत्तर की पहाड़ियों पर चले गये और उन्होंने वहां से यूनानी सरकार के विरुद्ध गुरिल्ला युद्ध प्रारम्भ कर दिया। पड़ौसी साम्यवादी देश भी इनकी सहायता करने लगे। दिसम्बर १९४६ में सुरक्षा परिषद् में यूनान ने "विद्रोही दलों को विदेशों से सहायता दिए जाने की" शिकायत पेश की। १९४७ में संयुक्त राष्ट्र संघीय जांच आयोग ने रिपोर्ट दी कि 'विद्रोहियों को हथियारों की सैनिक प्रशिक्षण तथा यातायात की सहायता यूगोस्लाविया से तथा कुछ अल्बानिया तथा बल्गेरिया से मिल रही है।" रूस इस मामले में गहरी दिलचस्पी ले रहा था।

चूंकि इस समय ब्रिटेन की आर्थिक स्थिति ऐसी न थी कि वह अपनी सेना बढ़ा कर अकेला विद्रोही साम्यवादियों का मुकाबला करता। इसलिए उसने वाशिंगटन को यह सूचित किया कि ब्रिटिश सरकार आर्थिक कारणों से विवश होकर वर्तमान वित्तीय वर्ष की समाप्ति तक ६ सप्ताह के भीतर अपनी सेनायें यूनान से हटा लेगी। ब्रिटेन के इस निश्चय ने संयुक्त राज्य अमेरिका को चिन्तित कर दिया क्योंकि ब्रिटिश फौजों के हटते ही उस क्षेत्र में त्वरित गति से साम्यवादी प्रभाव छा जाता। जब राष्ट्रपति ट्रूमैन ने इस विषय में अपने सहायकों से परामर्श किया तो एचसन और मार्शल ने स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया कि 'यदि यूनान हाथ से निकल गया तो साम्यवाद के समुद्र में टर्की के टापू की रक्षा असंभव हो जायगी (२६ फरवरी १९४७)। परिस्थिति विशेष ने ट्रूमैन को यह निश्चय करना पड़ा कि अमेरिका को इन स्वतंत्र देशों की सहायता अवश्य करनी चाहिए। इसी निश्चय के फलस्वरूप उन्होंने यूनान को आर्थिक सहायता देने का कार्यक्रम बनाया।

(ख) टर्की की समस्या—महायुद्ध के बाद भूमध्यसागर और कृष्ण सागर को जोड़ने वाले बास्फोरस और डार्डनेलीज जलडमरू मध्यों पर जो टर्की के अधिकार में थे सोवियत संघ अधिकार प्राप्त करना चाहता था क्योंकि इससे वह कृष्ण सागर के तटवर्ती देशों का व्यापार बन्द कर सकता था और कृष्णसागर तथा भूमध्यसागरों से भी सैनिक आक्रमण भी कर सकता था। टर्की के साथ जून १९३६ में किये गये माण्ट्रे समझौते (Montreaux Convention) में इस बात का निर्णय किया गया था कि इन डमरूमध्यों में शान्ति एवं युद्धकाल में व्यापारिक तथा जलपोतों को स्वतन्त्रतापूर्वक गुजरने दिया जाएगा और दोनों भागों में किसी प्रकार की किलेबन्दी नहीं की जाएगी। इस किलेबन्दी रहित प्रदेश की सुरक्षा की और इसमें जहाजों के स्वतन्त्र आवागमन की गारन्टी ग्रेट ब्रिटेन और फ्रांस दोनों ने दी थी।

चूंकि सोवियत रूस इस महत्त्वपूर्ण सामरिक केन्द्र पर अधिकार करने

का इच्छुक था अतः महायुद्ध समाप्त होने से पूर्व ही उसने २० मार्च १९४५ को टर्की के साथ १९२५ में किये गये अनाक्रमण-समझौते को भंग करने की घोषणा कर दी और कारण यह प्रस्तुत किया कि १९२५ के बाद से अब तक परिस्थितियाँ बहुत बदल चुकी हैं। पोट्सडम सम्मेलन में रूस ने मोन्ट्रो समझौते के संशोधन का आग्रह किया परन्तु ब्रिटिश प्रधानमन्त्री एटली और अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने रूस की इस मांग के प्रति पूर्ण सहमति प्रकट कर दी।

इसके बाद ७ अगस्त १९४६ को मास्को ने अपने एक पत्र द्वारा टर्की के समक्ष जल डमरूमध्यों के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किए—

(i) वे युद्ध एवं शान्ति काल में सब देशों के व्यापारिक जहाजों के लिए खुले रहेंगे।

(ii) कृष्णसागर (Black Sea) की शक्तियों के युद्ध पोतों के लिए वे सदैव खुले रहें।

(iii) विशेष अवस्थाओं को छोड़कर कृष्णसागर से भिन्न शक्तियों के युद्धपोतों का इनमें से गुजरना निषिद्ध होना चाहिए।

(iv) जल डमरूमध्यों का शासन प्रबन्ध टर्की तथा कृष्णसागर की अन्य सभी शक्तियों के हाथ में हो।

(v) जलडमरूमध्यों की रक्षा टर्की तथा सोवियत संघ दोनों के सामान्य साधनों से हो।

रूस ने टर्की पर यह भी आरोप लगाया कि महायुद्ध के दौरान उसने धुरी राष्ट्रों के अनेक रणपोतों को इस मार्ग से गुजरने दिया था। सोवियत रूस का कहना था कि इस तरह की कोई भी बात सोवियत सुरक्षा के लिए भविष्य में भी बहुत खतरनाक हो सकती थी। टर्की ने सोवियत आरोपों का खण्डन करते हुए प्रथम तीन प्रस्तावों को मानने के प्रति तो अपनी सहमति प्रकट कर दी किन्तु चौथे और पांचवें प्रस्ताव को रद्द कर दिया। क्योंकि इनको मानने का अर्थ होता जलडमरूमध्यों पर रूस की सत्ता का स्थापित हो जाना टर्की की सर्वोच्च सत्ता का हनन होना और कृष्णसागर की तटवर्ती शक्तियों से भिन्न देशों के अधिकारों का उल्लंघन होना।

टर्की के जवाब के प्रत्युत्तर में २४ सितम्बर को मास्को ने इस विषय में अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आमन्त्रित करने से पहले दोनों देशों में वार्तालाप का सुझाव दिया। परन्तु टर्की को इस बात की पूरी आशंका थी कि संभवतः उस पर सोवियत रूस का आक्रमण हो जायगा। अतः उसने वाशिंगटन से मास्को के प्रस्तावों के बारे में सलाह मांगी और उसके अनुसार उसने मास्को के सभी प्रस्तावों को पूर्ण रूप में अस्वीकार कर दिया। इधर अमरिका ने रूस को यह चेतावनी भी दे दी कि यदि टर्की पर कोई हमला हुआ तो इस मामले को सुरक्षा परिषद में उठाया जाएगा। टर्की ने भी अपनी सुरक्षात्मक तैयारियां

प्रारम्भ कर दी। १९४६ में उसका लगभग आधा बजट केवल प्रतिरक्षा और सैनिक कार्यों के लिए रख दिया गया। परन्तु इतना प्रतिरक्षा व्यय टर्की जैसा छोटा सा राष्ट्र सहन नहीं कर सकता था और साथ ही यह व्यय करके भी रूस जैसी महाशक्ति का प्रतिरोध करने के लिए आवश्यक सैन्य-शक्ति या अन्य शक्ति जुटाई नहीं जा सकती थी। अतः उसने अमेरिका से सहायता की प्रार्थना की और राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यूनान की भाँति टर्की को भी सहायता देने का निश्चय कर लिया। दूसरी ओर मास्को में अमेरिकन राजदूत ने ९ जनवरी १९४७ को अपनी सरकार को सूचित किया कि अब रूसी आक्रमण होने का बहुत कम खतरा है।

(ख) ईरान की समस्या—द्वितीय महा युद्ध में तेल का एक प्रधान उत्पादक और रूस को पश्चिमी सहायता पहुँचाने का मार्ग होने के कारण ईरान का सामरिक महत्व अत्यधिक बढ़ गया था। अतः युद्ध काल में अगस्त १९४१ में रूसी सेनाओं ने उत्तरी ईरान पर ब्रिटिश सेनाओं ने दक्षिणी ईरान पर अधिकार कर लिया। १९४२ में ईरान के साथ ब्रिटेन और रूस की एक संधि हुई जिसमें उत्तरी और दक्षिणी ईरान में सोवियत एवं ब्रिटिश सेनाओं के अधिकार को स्वीकार करते हुए यह व्यवस्था की गई कि युद्ध समाप्ति के बाद छः महिने के भीतर विदेशी सेनायें ईरान से हटा ली जायेंगी।

१९४५ में जर्मनी के पराजित होने पर २ मार्च १९४६ की तिथि ईरान से ब्रिटिश और अन्य सभी सेनाओं के हटाने की निश्चित हुई। परन्तु इसी मध्य यह घटना घटी कि नवम्बर, १९४५ में रूसी अधिकृत प्रदेश आजर बाइजान में तूदेह पार्टी ने ईरान की राजधानी तेहरान के विरुद्ध विद्रोह करते हुए अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की। जब तेहरान ने इस विद्रोह को दबाने के लिए अपनी सेनायें वहाँ भेजीं तो रूसी सेनाओं ने उन्हें वहाँ प्रविष्ट नहीं होने दिया। इस समस्या के हल के लिए रूस पर दबाव डालने की दृष्टि से अमेरिका ने कहा कि यदि सब विदेशी सेनायें ईरान से हटें तो वह १ जनवरी १९४६ तक अपनी सेनायें वहाँ से हटा लेगा। ३ दिसम्बर को रूसियों द्वारा अमेरिका का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिये जाने पर १९ जनवरी, १९४६ को ईरान ने यह प्रश्न सुरक्षा परिषद में उठाया। रूस ने विरोध करते हुए कहा कि यह विषय संयुक्त राष्ट्रसंघ के अधिकार क्षेत्र में नहीं आता। परिषद ने दोनों ही पक्षों को प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा इस प्रश्न का समाधान करने को कहा। अन्त में अप्रेल १९४६ में रूस का तेहरान के साथ एक समझौता हुआ जिसके अनुसार यह निर्णय किया गया कि ६ मई, १९४६ तक रूसी सेना ईरान खाली कर दे और ५१ प्रतिशत रूसी हिस्से वाली एक सोवियत ईरानी तेल कम्पनी स्थापित की जाय। समझौते के अनुसार मई में रूसी फौजें ईरान से हट गईं और जून में सम्पूर्ण आजर बाइजान तेहरान के अधिकार में आ गया लेकिन इसके बाद ही ईरान की पार्लियामेण्ट (मजलिस) ने संयुक्त तेल कम्पनी स्थापित करने वाला समझौता अस्वीकृत कर दिया।

ईरान, टर्की और यूनान की उपरोक्त घटनाओं से संयुक्त राज्य

अमेरीका की सरकार को सोवियत संघ की मध्यपूर्व में प्रभुता बढ़ाने की महत्वाकांक्षाओं के बारे में कोई संदेह नहीं रहा। अब राष्ट्रपति ट्रूमैन ने यह निश्चय कर लिया कि मध्यपूर्वीय क्षेत्र में रूस को शिकस्त देने के लिए इन देशों को सहायता देने की नीति पर चला जाए। यही नीति, उस समय के राष्ट्रपति ट्रूमैन के नाम पर 'ट्रूमैन सिद्धान्त' (Truman Doctrine) कहलाती है।

ट्रूमैन सिद्धान्त
(Truman Doctrine)

मार्च, १९४७ को राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपने मंत्रिमण्डल की बैठक में बताया कि उन्होंने कांग्रेस से यह सिफारिश की है कि यूनान को २५ करोड़ डालर की तथा टर्की को १५ करोड़ डालर की सहायता दी जाय। १२ मार्च, १९४७ को कांग्रेस के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में अपने ऐतिहासिक भाषण में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने अपील की कि साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए यूनान और टर्की को आर्थिक सहायता स्वीकार की जाय। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि स्वतन्त्र देशों की बाह्य प्रभाव से रक्षा करना संयुक्त राज्य की नीति होनी चाहिए। श्री ट्रूमैन की इस ऐतिहासिक भाषण की, जिसमें ट्रूमैन सिद्धान्त की व्याख्या निहित है, मुख्य बातें इस प्रकार थीं—

"आज यूनानी राज्य की सत्ता संकट में है। इसका कारण कम्यूनिस्टों से सरकार को चुनौती देने वाले कई हजार सशस्त्र व्यक्तियों के आतंककारी कार्य हैं। यूनानी सरकार इस स्थिति का सामना करने में असमर्थ है। उसको सहायता की आवश्यकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को उसे सहायता देनी चाहिए। टर्की की भी यही स्थिति है। अभी हाल में दुनिया के कई देशों में सर्वाधिकारवादी शासन वहाँ की जनता की इच्छा के विरुद्ध स्थापित कर दिये गये हैं। संयुक्त राज्य अमरिका ने याल्टा समझौते को भंग करते हुए पोलैण्ड, रूमानिया, बल्गेरिया में धमकी और दबाव से स्थापित शासनों के विरुद्ध प्रतिवाद किया है।

मेरा विश्वास है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की यह नीति होनी चाहिए कि वह बाह्य दबाव से या सशस्त्र अल्पसंख्या द्वारा स्थापित किये जाने वाले शासनों का प्रतिरोध करने वाली स्वतन्त्र जनताओं का समर्थन करे। मेरा विश्वास है कि हमें स्वतन्त्र जनताओं को अपने तरीके से अपना भाग्य निर्माण करने में सहायता देनी चाहिए। मेरा विश्वास है कि हमारी सहायता प्रधानतः आर्थिक और वित्तीय सहायता के द्वारा होनी चाहिए, जो कि आर्थिक स्थायित्व और सुव्यवस्थित राजनीतिक प्रक्रियाओं के लिए अनिवार्य है। यदि यूनान सशस्त्र अल्पसंख्या के हाथ में आ जाता है तो इसका तात्कालिक और भीषण प्रभाव इसके पड़ोसी पर पड़ेगा। समस्त मध्य पूर्व में गड़बड़ और अव्यवस्था का साम्राज्य हो जायगा। इसका प्रभाव यूरोप में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष करने वाली जनता पर पड़ेगा। स्वतन्त्र संस्थाओं का विनाश और स्वाधीनता का अपहरण न केवल उनके लिए वरन् समस्त विश्व के लिए घातक होगा।

सर्वाधिकारवादी शासनों के बीज दुःख और दरिद्रता में पनपते हैं। उनका विकास और वृद्धि निर्धनता तथा संघर्ष में होता है। जब जनता में उत्कृष्ट जीवन के लिए आशा नष्ट हो जाती है तो इसका पूर्ण विकास होता है। हमें यह आशा नष्ट नहीं होने देनी चाहिए।

जगत की स्वतन्त्र जनता अपनी स्वाधीनता बनाये रखने के लिए हमारी ओर निहार रही है। यदि हमने नेतृत्व में चूक की तो समस्त विश्व की शांति संकट में पड़ जायगी। हम अपने राष्ट्र के कल्याण को संकटपूर्ण बना देंगे। समय तथा परिस्थिति के परिवर्तन के कारण हमारे ऊपर बड़ा भारी उत्तरदायित्व आ गया है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि कांग्रेस इन समस्त उत्तरदायित्वों को पूर्ण रूप से निभायगी।"[1]

---

1 "The United States has received from the Greek Government an urgent appeal for financial and economic assistance Preliminary reports from the American Economic Mission now in Greece and reports from the American Ambassador in Greece corroborates the statement of the Greek Government that assistance is imperative if Greece is to survive as a free nation ... "The very existance of the Greek state is today threatened by the terrorist activities of several thousand armed men led by the communists, who defy the Government's authority ... ... A Commission appointed by the United Nations Security Council is at present investigating disturbed conditions in northern Greece and alleged border violations along the frontier between Greece on the one hand and Abania Bulgaria and Yugoslavia on the other Meanwhile the Greek Government is unable to cope with the situation. The Greek army is small and poorly equipped. It needs supplies and equipment if it is to restore authority to the Government throughout Greek territory Greece must have assistance if it is to become a s lf supporting and self-respecting democracy The United States must supply that assistance ...

Since the war Turkey has sought additional financial assistance from Great Britain and the United States for the purpose of effecting that modernisation necessary for the maintainance of its national integrity That integrity is essential to the preservation of order in the Middle East ... As in the case of Greece if Turkey is to have the assistance it needs the United States must supply it ... ... We shall not realise our obj-ctives unless we are willin to help free peoples to maintain their free institutions and their national integrity against aggressive movements that s ek to impose upon them by totalitarian regime

The peoples of a number of countries of th world have

मई के प्रारम्भ में अमेरिकन कांग्रेस ने यूनान और टर्की को ४० करोड़ डालर की सहायता देने का राष्ट्रपति ट्रूमैन का बिल स्वीकार कर लिया और इस पर २२ मई, १९४८ को राष्ट्रपति के हस्ताक्षर हो गए।

'ट्रूमैन सिद्धान्त' के अन्तर्गत प्राप्त विपुल सहायता के बल पर १९५० के अन्त तक यूनान और टर्की ने साम्यवादी दबाव से सफलतापूर्वक मुक्ति प्राप्त कर ली। वास्तव में ट्रूमैन सिद्धांत ने अमेरिकन वैदेशिक नीति के इतिहास में असाधारण महत्व के कीर्ति-स्तम्भ की स्थापना की। जिन दृष्टियों अथवा कारणों से इसका इतना महत्व है वे संक्षेप में निम्नलिखित हैं—

(i) यह अमेरिकन विदेश नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन और अमेरिकन परम्पराओं में मौलिक क्रांति का प्रणेता था। इस सिद्धांत के मान्य होने के समय से ही विश्व को यह ज्ञात हो गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका अब पृथकतावादी नीति का परित्याग करके संपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय जगत की समस्याओं के सम्बन्ध में सक्रिय बनता जा रहा है। ट्रूमैन के शब्दों में— यह

---

recently had totalitarian regimes forced upon them against their will ... I believe that it must be the policy of the United States to support free peoples who are resisting attempted subjugation by armed minorities or by outside pressures. I believe that our help should be primarily through economic and financial aid which is essential to economic stability and orderly political processes.

"If Greece should fall under the control of an armed minority the effect upon its neighbour Turkey would be immediate and serious. Confusion and disorder might well spread throughout the entire Middle East ... It would be unspeakable tragedy if these countries which have struggled so long against overwhelming odds, should be their victory for which they sacrificed so much ... Should we fail to aid Greece and Turkey in this fateful hour the effect will be far reaching to the West as well as to the East.

"The seeds of totalitarian regimes are nurtured by misery want. They spread and grow in evil soil of poverty and strife. They reach their full growth when the hope of a people for a better life has died. We must keep hope alive."

"The free peoples of the world look to us for support in maintaining their freedoms. If we falter in our leadership we may endanger the peace of the world and we shall surely endanger the welfare of our nation. Great responsibilities have been placed upon us by the swift movements of events. I am confident that the Congress will face these responsibilities squarely."

अमेरिका की विदेश नीति में नया मोड़ था। इसने यह घोषणा की कि जहाँ कहीं शांति भंग करने वाला प्रत्यक्ष या परोक्ष आक्रमणात्मक काम होगा वहाँ संयुक्त राज्य अमेरिका की सुरक्षा संकट में होगी" और वह इसे रोकने का पूरा प्रयत्न करेगा। जहाँ पहले अमेरिका की नीति यूरोपियन संघर्षों से यथासंभव पृथक रहने की थी वहाँ इस सिद्धान्त में निश्चित रूप से उसका कार्य क्षेत्र अमेरिकन गोलार्द्ध से बढ़ाकर विश्व-व्यापी कर दिया।

(ii) यद्यपि ट्रूमैन के भाषण में रूस के नाम का कहीं उल्लेख नहीं किया गया था और उन्होंने केवल 'सर्वाधिकारवादी' और 'स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाला राज्य' आदि शब्द ही कहे थे परन्तु उसके ये शब्द निःसंदिग्ध रूप में रूस को एक स्पष्ट चेतावनी थी उसके साथ शीत युद्ध की घोषणा थी और रूजवेल्ट की मास्को के साथ सहयोग करने वाली नीति का परित्याग था।

(iii) ट्रूमैन सिद्धान्त 'अवरोध' की नीति के विकास का प्रथम और सर्वाधिकार महत्वपूर्ण चरण था। यह इस विश्वास पर आधारित था कि 'अवरोध' की नीति के फलस्वरूप अन्त में सोवियत शक्ति विघटित हो जायगी।[1] यह सोवियत रूस को स्पष्ट संकेत था कि उसकी अपने प्रभाव का विस्तार करने की महत्वाकांक्षाओं को सहन नहीं किया जायगा।

(iv) ट्रूमैन सिद्धान्त से अमेरिका की यह धारणा पुष्ट हो गई कि विश्व की विचारधारा दो भागों में विभक्त है—एक तो 'स्वतन्त्रता का अपहरण करने वाले राष्ट्रों की विचारधारा' और दूसरी 'उसकी रक्षा करने वाली विचारधारा'। ट्रूमैन के अनुसार रूस पहली विचारधारा का प्रवर्तक था जबकि अमेरिका दूसरी का।

(v) यह सिद्धांत 'मुनरो सिद्धांत' का वृहद् और विश्व-व्यापी रूप था। मुनरो सिद्धांत में वाशिंगटन ने घोषणा की थी कि पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी राज्य में अमेरिका से बाहर की कोई शक्ति हस्तक्षेप न करे। इसी नीति को व्यापक बनाते हुए 'ट्रूमैन सिद्धांत' में कहा गया था कि अमेरिका द्वारा पूर्वी और पश्चिमी गोलार्द्ध में स्वतन्त्रता की आकांक्षी जनता को उसके स्वाधीनता संघर्ष में सहायता दी जायगी।

माइकेल डोनेलन के शब्दों में "ट्रूमैन सिद्धांत निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो सिद्धान्त है। इसने पुराने सिद्धान्त का नवीन परिस्थितियों के साथ आवश्यक रूप से समायोजित कर दिया तथा पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओं का स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक विस्तार कर दिया।"[2]

---

1 *Schuman* International Politics, Page 613

2. "... The Truman Doctrine was indeed a Monroe Doctrine for the entire free world. The Truman Doctrine made the necessary adjustment of the old doctrine to new conditions, the necessary extension of the borders of the

(vi) 'ट्रूमैन सिद्धांत' इस तथ्य की स्पष्ट स्वीकृति थी कि ब्रिटेन अपनी आर्थिक दुर्बलता के कारण पूर्वी भूमध्यसागर और मध्य-पूर्व में अपना प्रभाव बनाए रखने में असमर्थ है अतः ऐसी स्थिति में उत्पन्न हुए 'शक्तिशून्य' का साम्यवादी रूस द्वारा लाभ उठाए जाने से पूर्व अमेरिका द्वारा लाभ उठा लिया जाना चाहिए। सरल शब्दों में ट्रूमैन सिद्धांत ने यह स्पष्ट कर दिया कि मध्यपूर्व में ब्रिटिश प्रभाव को द्वितीय महायुद्ध ने समाप्त कर दिया है अतः उसकी जगह साम्यवाद के लेने से पहले ही अमेरिका वहां जम जाना चाहता है।

(vii) टर्की और यूनान को 'स्वतन्त्रता की रक्षा' के नाम पर सहायता देना अमेरिकन वास्तविक उद्देश्यों को मनमोहक शब्दों के जाल में छिपाना था। उस समय यूनान अथवा टर्की में ऐसा कोई सच्चा लोकतन्त्र या स्वातन्त्र्य वातावरण न था जिसकी रक्षा के लिए ट्रूमैन उन्हें सहायता देता। ट्रूमैन सिद्धांत का मूल उद्देश्य तो यूनान एवं टर्की को बाल्कान प्रायद्वीप में रूसी अधिकार को रोकने के लिए और साथ ही रूस को घेरने के लिए, महत्वपूर्ण सैनिक अड्डे के रूप में सुरक्षित रखना तथा मध्य पूर्व के विशाल तेल भंडार को अपने अधिकार में बनाए रखना था। राष्ट्रपति ट्रूमैन इस सिद्धांत को बाद में स्वतन्त्रता या लोकतन्त्र की रक्षा नहीं बल्कि तेल की रक्षा करना चाहते थे। उन्हीं के शब्दों में—"यदि रूसियों का ईरान के तेल पर अधिकार हो गया तो विश्व में इसका संतुलन बहुत बिगड़ जायगा और पश्चिमी जगत की अर्थ व्यवस्था से इसको भारी क्षति पहुंचेगी।"

(viii) ट्रूमैन सिद्धांत से यह स्पष्ट होता है कि संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस सिद्धांत का प्रतिपादन रूस के प्रति अपने मन-मुटाव घृणा वैमनस्य अविश्वास आदि के परिणामस्वरूप ही किया गया था। रूस के प्रति इस प्रकार का तीव्र विद्वेष कुछ कारणों का अनिवार्य परिणाम था उदाहरणार्थ—पूर्वी यूरोप को समूल उखाड़ फेंकने पर रूसी संकल्प रूस की तानाशाही व्यवस्था रूस द्वारा पैदा किया गया राजनीतिक आतंक वैयक्तिक स्वतन्त्रताओं का अपहरण रूस द्वारा अमेरिकन ऋणों की अदायगी से इन्कार कोमिन्फर्न की गतिविधियां और कार्य, पोलैण्ड के प्रति रूस का व्यवहार आदि। ट्रूमैन सिद्धांत रूस के प्रति अमेरिकन वैमनस्य की स्थूल अभिव्यक्ति थी।

ट्रूमैन सिद्धान्त को जहां इतना असाधारण महत्व मिला है वहां अनेक दिशाओं से इसे कटु आलोचनाओं का सामना भी करना पड़ा—

प्रथम साम्यवादियों ने अमेरिका की आर्थिक और सामरिक सहायता देने की नीति को साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद का एक नवीन रूप बताया।

Western Hemisphere to the borders of the free world.
—*Michael Donelan,* The Ideas of American Foreign Policy p 749

सोवियत संघ ने आरोप लगाया कि अमेरिका मध्य-पूर्व के अल्प विकसित देशों की आर्थिक कठिनाइयों का अपने स्वार्थ के लिए लाभ उठाता है, "सहायता के नाम पर इन देशों के साथ ऐसे समझौते होते हैं जिनसे अमेरिकन अर्थव्यवस्था इन पर हावी हो जाती है। वह इन देशों के कच्चे माल पर अधिकार कर लेता है, सैनिक अड्डों और सामरिक महत्व के मार्गों को अपने काबू में कर लेता है।

दूसरे, इस सिद्धान्त का सर्वाधिकारवाद के विरुद्ध लोकतन्त्र का रक्षक कहना विश्व को भ्रम में डालना है क्योंकि यूनान अथवा टर्की को इस सिद्धांत की आड़ में जब सहायता दी गयी तो दोनों में से एक का भी शासन लोकतान्त्रिक नहीं था। इस सिद्धांत का उद्देश्य तो पश्चिमी और मध्य एशिया के तेल भण्डारों को रूसी प्रभाव से बचाना था।

तीसरे, इस सिद्धान्त से संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति दुर्बल हो गयी क्योंकि यूनान और टर्की को संयुक्त राष्ट्र के माध्यम से नहीं वरन् पृथक रूप से सहायता प्रदान की गयी।

चौथे स्वयं अमेरिकनों की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धांत मुनरो सिद्धान्त का ही विकसित रूप है।

युद्धोपरान्त की प्रारम्भिक नीतियों में महत्वपूर्ण परिवर्तन के फलस्वरूप अब यह भली-भांति स्पष्ट हो गया कि अमेरिकन विदेश नीति का मौलिक उद्देश्य साम्यवाद और सोवियत प्रसार को रोकना बन गया। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए उसने अपनी विदेश नीति में तीन तत्वों को स्थान दिया—प्रथम आर्थिक द्वितीय राजनीतिक एवं तृतीय सैनिक। आर्थिक तत्व में आर्थिक सहायता और आर्थिक पुनर्निर्माण के कार्यक्रम अपनाये गये राजनीतिक नीति का सम्पादित करने के लिए पश्चिमी यूरोपियन संघ की स्थापना की दिशा में पग बढ़ा गया और सैनिक नीति के अन्तर्गत सैन्य संगठनों की स्थापना पर बल दिया जाने लगा।

Imp Short Note or Full question maybe written

मार्शल योजना (Marshall Plan)

अवरोध की नीति (Policy of Containment) का दूसरा चरण मार्शल योजना थी। यह योजना युद्ध-विध्वस्त यूरोप का पुनरुद्धार करके उसे साम्यवाद से बचाने की थी। यह इस विश्वास पर आधारित थी कि यदि यूरोप द्वितीय महायुद्ध के कारण पैदा हो गयी अस्त-व्यस्त अवस्था में ही रहा और अपनी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण नहीं कर सका तो वह साम्यवादी प्रभाव में आ जायगा। वैसे भी अमेरिका द्वारा यूरोप को सहायता देने की बात कोई नयी नहीं थी। द्वितीय महायुद्ध काल में वह उधार पट्टा कार्यक्रम (Land Lease Programme) के अन्तर्गत तथा १९४५ में इस कार्यक्रम की समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र सहायता और पुनर्वास प्रशासन (U N R.R.A) के माध्यम से यूरोप को आर्थिक सहायता देता रहा था। १९४७ में शीतयुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर अमेरिका और ब्रिटेन ने संयुक्त राष्ट्र

सहायता व पुनर्वास प्रशासन' की मुख्य गतिविधियों में इसलिए भाग लेना बन्द कर दिया क्योंकि उन्हें यह कदापि पसन्द न था कि उनके धन से पूर्वी यूरोप के साम्यवादी समर्थक शासनों को भी सहायता प्राप्त हो। अब उन्होंने किसी दूसरे ही माध्यम से यूरोपीय आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता देने का निश्चय किया और इसका माध्यम 'मार्शल योजना' बनी।

अमेरिका के विदेश मंत्री मार्शल ने मास्को के शांति सम्मेलनों में देखा कि रूसी हर बात में प्रतीक्षा करो नीति संधियां करने में विलम्ब कर रहे हैं। उसने स्टालिन को यह कहते हुए सुना, 'समय हमारे पक्ष में है, यह समझौता करा देगा।' मार्शल को शीघ्र ही समझ में आ गया कि रूसियों के संधि चर्चा में देर लगाने का परिणाम यूरोप में क्रांतियों द्वारा साम्यवाद की स्थापना हो जाना है ताकि फिर समझौता करने में कठिनाई न हो। अतः २८ अप्रैल १९४७ को वाशिंगटन लौटने पर मार्शल ने इस बात पर बल दिया कि यदि इस समय अविलम्ब यूरोप के आर्थिक पुनरुद्धार के प्रयास न किए गये तो वह साम्यवादी हो जायगा। अपने सहकारियों के साथ परामर्श करने के उपरान्त राष्ट्रपति ट्रूमैन ने भी इस प्रकार की सहायता देने का निश्चय कर लिया।

और तब ५ जून १९४७ को विदेश मंत्री मार्शल ने हार्वर्ड विश्वविद्यालय में अपने सुप्रसिद्ध भाषण में कहा—

"हमारी नीति किसी देश या सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं है। यह भूख दरिद्रता निराशा और अव्यवस्था के विरुद्ध है। इसका उद्देश्य विश्व में एक ऐसी अर्थव्यवस्था का पुनरुत्थान करना है जिसमें स्वतन्त्र संस्थाओं को विकसित करने वाली राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियां उत्पन्न हो सकें। यह स्पष्ट है कि संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार द्वारा यूरोप को सहायता दिये जाने से पहले यह आवश्यक है कि यूरोपियन देशों की इस सहायता की आवश्यकताओं के विषय में समझौता हो जाये। इस सरकार के लिए न तो यह अच्छा होगा और न प्रभावशाली होगा कि यूरोप को अपने पैरों पर खड़ा करने वाले आर्थिक कार्यक्रम का निर्माण करे। यह यूरोपियनों का कार्य है। इसकी पहल यूरोप से होनी चाहिए। हमारा कार्य सहायता देना है।"

यह उल्लेखनीय है कि मार्शल ने अपने भाषण में साम्यवादी और गैरसाम्यवादी देशों में कोई भेद नहीं किया बल्कि प्रकट रूप में यही कहा कि उनके देश की नीति किसी देश अथवा सिद्धान्त विशेष के विरुद्ध नहीं बल्कि भूख निर्धनता आशाहीनता और अव्यवस्था का सामना करने की है। परिणाम स्वरूप सोवियत संघ को भी पुनर्निर्माण के इस कार्यक्रम में हिस्सा लेने के लिए आमंत्रित किया गया परन्तु मास्को ने इस प्रस्ताव को अमेरिकन साम्राज्य का एक नया रूप बता कर ठुकरा दिया। सोवियत संघ के प्रभाव में जितने अन्य राज्य थे उन्होंने भी कोमिन्फार्म के निर्णय का अनुकरण किया। पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया जहाँ साम्यवादी सत्ता उस समय तक पूरी

तरह से स्थापित नहीं हो पायी थी, इस योजना में भाग लेना चाहते थे परन्तु रूसी दबाव के कारण अन्त में उन्होंने भी इस योजना को अस्वीकार कर दिया।

साम्यवादी और उसके प्रभाव से अभिभूत देशों के सर्वथा विपरीत पश्चिमी देशों के राष्ट्रों ने मार्शल योजना का उत्साहपूर्वक स्वागत किया। ब्रिटेन और फ्रांस की पहल पर जुलाई १९४७ में पेरिस में १६ यूरोपियन देशों (इंगलैण्ड, फ्रांस, आस्ट्रिया, बेल्जियम, डेनमार्क, ग्रीस, आइसलैण्ड, इटली, नार्वे, लक्जमबर्ग, स्वीडन, स्विटजरलैण्ड, पुर्तगाल, नीदरलैण्ड और टर्की) के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इसमें एक यूरोपियन आर्थिक सहयोग समिति (Committee of European Economic Co-operation) की स्थापना की गयी और यूरोपियन पुनरुद्धार का चार वर्षीय सहयोगात्मक कार्यक्रम तैयार किया गया।

यूरोपियन आर्थिक सहयोग समिति ने संयुक्त राज्य अमेरिका को एक रिपोर्ट प्रेषित की जिसमें कहा गया कि अमेरिका यदि २१ बिलियन डालर धन राशि खर्च करने को तैयार हो तो सन् १९५१ तक एक आत्मनिर्भर यूरोपियन अर्थव्यवस्था (Economy) की प्राप्ति की जा सकती है। यह रिपोर्ट 'मार्शल योजना' के नाम से प्रसिद्ध हुई। दिसम्बर १९४७ में राष्ट्रपति ट्रूमैन ने 'मार्शल योजना' से सम्बन्धित व्यय का अनुमान कांग्रेस के समक्ष प्रस्तुत किया जिसमें चार वर्ष की अवधि के लिए १७ अरब डालर और १५ महीनों के लिए ६ अरब ८० करोड़ डालर के खर्च का अनुमान लगाया गया। इस प्रस्ताव के उद्देश्य (Motive) की व्याख्या करते हुए ट्रूमैन ने कहा—"मेरा प्रस्ताव यह है कि अमेरिका उन १६ देशों को जो हमारी ही तरह स्वतन्त्र संस्थाओं की सुरक्षा एवं राष्ट्रों के बीच स्थायी शांति के लिए कृत संकल्प हैं, उनके पुनर्निर्माण कार्यों में सहायता दे, ताकि वे विश्व शांति एवं अपनी सुरक्षा में योगदान करें।"

'मार्शल योजना' को, जो अधिकृत रूप से यूरोपियन रिलीफ प्रोग्राम (European Relief Programme) कहलाई, कांग्रेस ने पास कर दिया। ३ अप्रैल १९४८ को कांग्रेस ने विदेशी सहायता अधिनियम पारित करके मार्शल योजना को पूर्ण रूप प्रदान किया और इसको कार्यान्वित करने के लिए 'यूरोपियन आर्थिक सहयोग संगठन' (Organization for European Economic Co-operation) की स्थापना की गयी।

मार्शल योजना "समकालिक कूटनीतिक इतिहास की सर्वाधिक विस्तृत और कुछ सर्वाधिक घटनाओं में से एक थी" जिसमें धन और परिश्रम का विनियोग पहले की अपेक्षा और भी अधिक उग्र हुआ। इस योजना के अन्तर्गत चार वर्षों (१९४९–१९५१) में अमेरिका ने यूरोप को लगभग १९ बिलियन डालर की सहायता दी। इस योजना के अन्त पर एक ओर तो पश्चिमी यूरोप आर्थिक पतन और साम्यवादी आधिपत्य से बच गया तथा

दूसरी ओर संयुक्त राज्य अमेरिका पाश्चात्य जगत का सर्वमान्य नेता बन गया। अमेरिका ने यूरोपियन देशों को आर्थिक सहायता देते हुए यह शर्त लगायी कि वे अपनी सरकारों में साम्यवादी तत्वों का उन्मूलन करेंगे। १९४६–४७ तक फ्रेन्च शासन मे साम्यवादी थे परन्तु १९४६ में जब ब्लुम फ्रान्स के लिए ऋण उपलब्ध करने हेतु वाशिंगटन गया तो उस पर यह दबाव डाला गया कि इसे पाने के लिए फ्रेन्च सरकार से साम्यवादियों का निकाला जाना आवश्यक है। इसी प्रकार इटली में मार्शल सहायता पाने वाली सरकार को मंत्रिमण्डल से साम्यवादियों को निकालना पड़ा।

मार्शल योजना एक प्रकार से ट्रूमैन सिद्धान्त का ही विकसित रूप थी जिसने ट्रूमैन सिद्धान्त में प्रतिपादित 'अवरोध की नीति' को तीन प्रकार से आगे बढ़ाया—

(i) जहाँ ट्रूमैन सिद्धान्त मे अलग-अलग राज्यों को सहायता देने की व्यवस्था की गयी थी, वहाँ मार्शल योजना में यूरोप को समग्र रूप से सहायता देने की व्यवस्था की गयी।

(ii) मार्शल योजना ने 'अवरोध की नीति' में आर्थिक तत्वों के महत्व को भली प्रकार स्पष्ट कर दिया।

(iii) इसके द्वारा पहली बार अमेरिकन आर्थिक सहायता को एक सहयोगी एवं योजनाबद्ध रूप दिया गया।

मार्शल योजना की भी काफी प्रशंसा और आलोचना की गयी। जहां प्रोफेसर एडवर्ड मीड अर्ल (Edward Mead Earle) के अनुसार यह राज-कार्य पद्धति के एक मूलभूत एंग्लो-अमेरिकन सिद्धान्त–प्रबुद्ध स्वार्थ–का एक चमत्कारिक उदाहरण था वहां साम्यवादी रूस ने इसे एक विशुद्ध साम्यवाद विरोधी योजना के रूप में ग्रहण करते हुए इसका प्रत्युत्तर सितम्बर १९४७ में 'कॉमिनफोर्म' की स्थापना के रूप में दिया। जी सी स्मिथ ने ठीक ही कहा है कि—"इसका उद्देश्य राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा पहले ही घोषित अवरोध नीति के अनुसार अमेरिकन पथ प्रदर्शन में पश्चिमी यूरोप की अर्थ व्यवस्थाओं को सुदृढ़ करना था और पृथकतावाद के अन्त का प्रतीक कहा जा सकता है इसने संयुक्त राज्य को यूरोप में वचनबद्ध कर दिया।[1]

यह उल्लेखनीय है कि आर्थिक स्तर पर साम्यवाद के अवरोध की नीति के अनुसार अमेरिका ने जर्मन अर्थव्यवस्था को भी पुनर्गठित करने का प्रयास किया। जून, १९४८ में पश्चिमी शक्तियों द्वारा जर्मनी के अपने क्षेत्रों में उन्होंने कुछ मुद्रा सम्बन्धी सुधार किये जिसके विरोध में रूस द्वारा बर्लिन की 'घेराबन्दी' की गयी जो अन्ततः असफल सिद्ध हुई। पश्चिमी-शक्तियों के मौद्रिक सुधारों और बर्लिन संकट पर उनकी दृढ़ता ने अमन

1 *G C. Smith* Pattern of the Postwar World, p 70.

जनता को यह विश्वास दिला दिया कि पश्चिमी शक्तियां उनके हितों की रक्षा करने के लिए उत्सुक और समर्थ हैं।

चार-सूत्री कार्यक्रम
[Four Point Programme]

मार्शल योजना का उद्देश्य केवल यूरोप की आर्थिक अस्त-व्यस्तता को पुनः ठीक करना था लेकिन चीन में साम्यवादियों की महान् विजय ने इस बात का भय पैदा कर दिया कि उपनिवेशों या नवस्वाधीन राष्ट्रों में बसने वाली अविकसित जनता चीन का अनुकरण करके पश्चिमी लोकतंत्र की अपेक्षा कहीं साम्यवादी व्यवस्था को ही पसन्द न कर ले। अमेरिकन और अन्य पश्चिमी राजनेता इस बात से चिन्तित हो गए कि विश्व के अल्प विकसित देश साम्यवादी प्रचार के लिए उत्तम क्षेत्र सिद्ध हो सकते हैं। अतः राष्ट्रपति ट्रूमैन ने ऐसे प्रदेशों में साम्यवादी प्रसार के अवरोध के लिए, अमेरिकन विदेश नीति की 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की घोषणा करते हुए २ जनवरी १९४९ को कहा कि—

"आगामी वर्षों में शांति और स्वतंत्रता के कार्यक्रम में चार प्रधान बातों पर बल दिया जायेगा—

(i) संयुक्त राष्ट्र संघ का पूर्ण समर्थन
(ii) विश्व के आर्थिक पुनरुद्धार के कार्य को करते रहना
(iii) आक्रमण के विरुद्ध स्वतंत्रता प्रेमी राष्ट्रों को सुदृढ़ बनाना एवं
(iv) अल्पविकसित देशों के उत्थान के लिए प्राविधिक (Technical) सहायता देना।

कांग्रेस ने १९५० के 'अन्तर्राष्ट्रीय विकास अधिनियम' (Act for International Development) के द्वारा इस कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। रिचर्ड स्टेबिन्स (Richard P Stebbins) के शब्दों में यह कानून अमेरिकी विश्व नीति का एक महत्त्वपूर्ण मील का पत्थर था।"[1] इस योजना द्वारा प्रथम बार तकनीकी सहायता प्रदान करने की आवश्यकता धीरे-धीरे बूझी गयी क्योंकि अर्द्ध विकसित देशों की आवश्यकताएं बहुत अधिक थी तथा अमेरिका के राष्ट्रीय हित भी इसके द्वारा साधना होती थी। आलोचकों द्वारा चार सूत्री कार्यक्रम को शीतयुद्ध का ही एक अस्त्र माना गया और कहा गया कि यह अर्द्ध-विकसित देशों का समर्थन प्राप्त करने तथा उनमें आवश्यक रणनीति का सामान प्राप्त करने का एक तरीका है न कि अर्द्ध विकसित देशों को आर्थिक सहायता प्रदान कर अपने पांवों पर खड़े होने तथा अन्य स्वतन्त्र देशों के साथ अपना समान सम्बन्ध बनाने की सुविधा देने का प्रयास।

---

1 The act was "a significant milestone in the evolution of American world policy
—*Richard P Stebbins* The U S in World Affairs, 1950 p 96.

नाटो अवरोध की रण-विधि
(NATO : The Strategy of Containment)

राजनीतिक तथा आर्थिक स्तर के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका ने सैनिक स्तर पर भी साम्यवादी प्रसार के अवरोध का प्रयत्न किया। उसने दूसरे देशों के साथ सैनिक संधियों और पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता कार्यक्रम (Mutual Defence Assistance Programme) का तरीका प्रारम्भ किया जो अमेरिकन विदेश नीति का एक नवीन प्रयोग था। वैसे इस दिशा में प्रथम पग १७ मार्च १९४८ की ब्रुसेल्स संधि थी जिसके द्वारा ब्रिटेन फ्रान्स बेल्जियम नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग ने यूरोप में सशस्त्र आक्रमण होने की दिशा में परस्पर सहायता देने का वचन दिया। किन्तु यह संधि वस्तु स्थिति की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका और कनाडा की वचनबद्ध सशस्त्र सहायता के अभाव में कुछ भी प्रभावशाली नहीं थी। अतः सैनिक अवरोध की व्यवस्था को विशेष प्रभावशाली बनाने के लिये अमेरिका द्वारा नाटो का आयोजन किया गया और ४ अप्रैल १९४९ को यह प्रथम सैनिक संधि संयुक्त राज्य कनाडा इटली आइसलैण्ड नार्वे डेनमार्क और पुर्तगाल के बीच हो गई। यह उत्तरी अटलांटिक संधि अनेक तरह से एक नवाचार (Innovation) थी। यह प्रथम संधि थी जिसके प्रति अमेरिका ने स्वयं को वचनबद्ध किया। इसी के साथ यूरोपियन देशों की रक्षाशक्ति बढ़ाने के लिए पारस्परिक प्रतिरक्षा कार्यक्रम भी अपनाया गया।

संयुक्त राज्य अमेरिका को तेजी से सैनिक संधियों के मार्ग पर आगे बढ़ाने के लिए उत्तरदायी एक और महत्वपूर्ण घटना यह थी कि सोवियत रूस ने १९४९ में ही एटम बम (Atom Bomb) के रहस्यों को खोज निकाला था जिन्हें कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने सोवियत रूस से सर्वथा गुप्त रखा था। रूस की इस खोज से अणुबम पर संयुक्त राज्य अमेरिका का अणुशक्ति पर एकाधिकार (Monopoly) का अन्त हो गया और उसकी सर्वोच्च शक्ति को खतरा पैदा हो गया। इस घटना के परिणामस्वरूप अमरिका के लिए साम्यवाद का आतंक बढ़ गया। इसलिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने कोरिया (Korea) में साम्यवाद के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही का भी नेतृत्व किया।

(२) खुले संघर्ष का काल (जून १९५० से जुलाई १९५३)

वास्तव में साम्यवाद का खतरा ज्यों-ज्यों बढ़ता जा रहा था अमेरिकन प्रतिक्रिया उसी के अनुरूप हो रही थी और इसी प्रतिक्रिया का एक स्वरूप यह था कि संयुक्त राज्य अमेरिका महत्वपूर्ण सैनिक संधियों व प्रतिरक्षा संगठनों की स्थापना की दिशा में झुका। जून १९५० में दक्षिणी कोरिया पर उत्तरी कोरिया का आक्रमण हो जाने से जिसमें संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत अमेरिकन सेनाओं ने लगभग पूर्ण युद्ध किया अमेरिकन विदेश नीति में सैनिक शक्ति का महत्व द्विगुणित हो गया। (श्लेचर Schleicher) महोदय के शब्दों में "अमेरिकी सैनिक शक्ति नीति के विनियोग गिनने में भी

चीन में यह नीति सफल न हो सकी। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अमरीकी सैनिक नीति के मुख्यतः तीन निष्कर्ष निकलते हैं—

(i) आक्रमण कई प्रकार के होते हैं अतः उनका प्रतिरोध भी कई प्रकार से किया जाना चाहिये। सामरिक महत्व की वायु सेना की भांति अत्यधिक गतिशील परम्परागत सेनायें भी बहुत आवश्यक हैं।

(ii) अणु अस्त्रों के विकास में एक ऐसा समय आ जायगा जबकि 'श्रेष्ठ' नहीं किन्तु 'पर्याप्त' अणुअस्त्रों को सुरक्षा के लिये उपयुक्त माना जायगा। परम्परागत सेना के प्रयोग एवं प्रशिक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिये।

(iii) अमेरिका को चाहिये कि सोवियत रूस अथवा साम्यवादी चीन के भावी आक्रमणों को रोकने के लिए एक रेखा खींच देनी चाहिए। किन्तु ऐसा करने से पहले काफी सोच-विचार लेना आवश्यक है। बिना साथियों के तथा बिना पर्याप्त सोच-विचार के किये गये अस्पष्ट और मनमाने वायदे जिनके पालन करने का कोई गम्भीर इरादा नहीं है उतने ही खतरनाक हैं जैसे कि वायदों का बिल्कुल न करना। इस प्रकार की रेखा खींचने पर बाहरी रूस के आक्रमण को रोका जा सकता है किन्तु इस नीति का पालन करते हुए ऐसा न हो कि विश्व अमेरिका को सैन्यवादी अथवा आक्रमणकारी समझ बैठे। बाउल्स के मतानुसार अमरीकी सैनिक नीति की प्रमुख आवश्यकताएं इस प्रकार हैं—

(i) सैनिकवादी हुए बिना सैनिक शक्ति में प्रबल होना।

(ii) निरोधक अथवा सामान्य युद्ध की पूर्ण समाप्ति को अस्वीकार करना।

(iii) विभिन्न सैनिक आकस्मिक आवश्यकताओं के लिए व्यवस्था करना।

(iv) बिना उद्दण्डता दिखाये सामरिक लक्ष्यों को प्राप्त करने में अपने मित्रों के साथ कार्य करना सीखना।

(v) धमकी दिये बिना राजनैतिक दृष्टि से व्यावहारिक रेखा की प्रतिरक्षा के लिये अपने दृढ़ निश्चय का स्पष्ट करना।

वर्तमान विश्व राजनीति के संचालन में सैनिक शक्ति का उपयोग प्रायः पूर्ण युद्ध के रूप में ही किया जा सकता है। वैसे प्रत्येक घटना पर निर्णायक प्रभाव डालने में यह असमर्थ रहती है। बाउल्स के शब्दों में "कोई भी सैनिक प्रतिरक्षा प्रणाली चाहे वह कितनी भी विशाल और कुशल क्यों न हो अपने ही शांति और सुव्यवस्थित प्रगति का प्राप्त कर नहीं दे सकती जिसे विश्व समुदाय को यदि युद्ध और भय के दोहरे खतरों से उबर सकना है, तो अवश्य प्राप्त करना चाहिये।" एडमिरल मारन का कहना है कि "सैन्य शक्ति का उद्देश्य नैतिक विचारों को जड़ पकड़ने के लिये समय प्रदान करना है।" मिस्टर बाउल्स की शिकायत है कि "हमने भौतिक और सैन्य शक्ति की प्रभावशीलता का मूल्यांकन अधिक किया है और जनता तथा विचारों की शक्ति का मूल्यांकन कम।" उनका सुझाव है कि साम्यवाद के विरुद्ध हमारी सैनिक

प्रतिरक्षा की अधिक महत्वपूर्ण अग्रिम पंक्तियों के पीछे और इस चिन्ता से मुक्त कि मास्को क्या करता है और क्यानहीं हमें एक विश्व व्यापी कार्यक्रम तैयार करना चाहिये जो युग-प्राचीन वर्ग और युद्ध की समस्याओं का समाधान कर सके।

(ख) आर्थिक सहायता के उपयोग एवं सीमाओं पर बाउल्स के विचार [Charter Bowles on the use and limitations of Economic Aid]

यदि हम विश्व से युद्ध को दूर करना चाहते है तो आर्थिक प्रगति की विश्व व्यापी मांग पर यथोचित ध्यान देना पड़ेगा। वर्तमान विश्व में किसी देश की सरकार, चाहे वह कितनी ही ईमानदार अथवा स्वतन्त्रता की पोषक हो तब तक कायम नहीं रह सकती जब तक कि वह जनता को यह विश्वास न दिला दे कि वह उन्हें राजनैतिक स्वतन्त्रता के साथ-साथ सुदृढ़ और चमत्कार पूर्ण आर्थिक विकास भी प्रस्तुत कर सकती है। अर्द्ध विकसित देशों में बहुमुखी विकास की मांगें रेखागणित की प्रगति से आगे बढ़ रही हैं जबकि इन मांगों को पूरा करने की प्रगति अंकगणित के अनुसार रही है। आर्थिक विकास को तीव्र गति से चलाने के मार्ग में इन देशों के सामने अनेक कठिनाइयां हैं जैसे यहां पूंजी सम्बन्धी साधनों का अभाव है। इन देशों की सरकारें उच्चस्तर वेतनों के लिये संगठित मांगों से दबी हुई हैं। भारत भर में मंहगाई भत्ते बढ़ाने की मांगें उग्र रूप में देखी जा सकती हैं। ये ऋण या अनुदान के रूप में भारी पैमाने पर बाहरी पूंजी प्राप्त नहीं कर सकते। इनके पास शोषण के लिये उपनिवेश नहीं है। करों की मात्रा बढ़ा कर जनता के कन्धों पर भार बढ़ाने की भी एक सीमा है जो कि पर्याप्त नहीं है।

आर्थिक सहायता के कारण

मिस्टर बाउल्स का कहना है कि इन अर्द्ध विकसित देशों के विकास के लिये अमेरिका द्वारा आर्थिक सहायता दिया जाना अनेक कारणों से आवश्यक है जैसे—

(i) इन देशों के लोगों में प्रगति की भावना द्वारा उस शक्ति एवं विश्वास का विकास करना जिसके द्वारा ये साम्यवाद के विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिये दृढ़ प्रतिज्ञ हो सकें।

(ii) औद्योगिक दृष्टि से कम विकसित देशों की 'प्रगति की भूखी' जनता शीघ्र ही बंचक नेताओं के प्रलोभनों का शिकार बन जाती है।

(iii) संसार बड़ी उत्सुकतापूर्वक यह देख रहा है कि लोकतन्त्रात्मक भारत एवं एकतन्त्रात्मक चीन के बीच आर्थिक प्रतिस्पर्धा में कौन कम समय में अधिक आर्थिक विकास कर लेगा।

(iv) इस बदल रहे विश्व में अमरिका समृद्धिशाली बन कर तब तक नहीं रह सकता जब तक कि विश्व के अन्य देशों से भारी गरीबी एवं दरिद्रता न मिट जाय।

(v) शीत युद्ध के शिथिल हो जाने पर आर्थिक विकास के साम्यवादी एवं प्रजातन्त्रात्मक ढंग के बीच प्रतिस्पर्धा और भी अधिक गहरी हो गई है।

(vi) विश्व के औद्योगिक उत्पादन का आधा भाग अमेरिका के पास है अतः केवल वही इस स्थिति में है कि असाम्यवादी अर्द्ध विकसित राष्ट्रों को सहायता प्रदान कर सके।

उक्त कारणों से आर्थिक सहायता योजना का क्रियान्वयन आवश्यक बन जाता है। फिर भी यह ध्यान रखना आवश्यक है कि इस सहायता के आधार पर किसी स्वतन्त्र राष्ट्र की निष्ठा को नहीं खरीदा जा सकता। यह भी आवश्यक नहीं कि एशिया अफ्रीका अथवा दक्षिणी अमेरिका का कोई राष्ट्र अमेरिकन आर्थिक सहयोग के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करे। इसके अतिरिक्त जिन राष्ट्रों में साम्यवाद का प्रभाव नहीं है वहां भी अमेरिका को आर्थिक विकास में सहयोग देना चाहिए ताकि साम्यवाद के भावी हस्तक्षेप को दूर रखा जा सके। लोगों की मूल आवश्यकताओं को पूरा कर देना ही उनको साम्यवाद विरोधी बनाने के लिए पर्याप्त नहीं है क्योंकि एशियाई क्रान्तियों का नेतृत्व प्रायः भूखे किसानों ने नहीं वरन् इनाम मध्यमवर्गीय बुद्धि जीवियों ने किया है। इन देशों का आध्यात्मिक विकास भी उतना ही जरूरी है जितना कि औद्योगिक विकास। कम राष्ट्र का कोई नहीं बना सकता जो स्वयं अपनी रक्षा के लिए इच्छुक नहीं है और इस प्रक्रिया में ठोस उद्यम करने के लिए तैयार नहीं है।

अर्द्ध विकसित देशों को आर्थिक सहायता देने के मार्ग में अनेक कठिनाइयाँ भी आती हैं जैसे अमेरिका का विदेशी सहायता बजट बहुत भारी हो गया है। दूसरे ज्यों ज्यों अर्द्ध विकसित देश विकास के मार्ग पर बढ़ते जायेंगे उनमें आत्म-विश्वास का प्रसार होता जाएगा तथा उनकी प्रतिक्रिया भी अमेरिका की आशा के विरुद्ध होती चली जायगी। इन देशों की प्रगति का स्वागत करने के लिए अमेरिका को काफी परिपक्व होना पड़ेगा। उसे यह समझना पड़ेगा कि यह वही आत्मस्वता है जो उनकी बढ़ती हुई इस स्वदेशी शक्ति से उत्पन्न होती है जो उन्हें साम्यवाद के या किसी भी अन्य बाहरी शक्ति के लिए दुर्गम बना देती है। अमेरिका अन्य राष्ट्रों को अपना उत्पादन बढ़ाना जितना आसान बना देगा उतना ही कम उसमें ऋणों एवं अनुदानों की उन्हें आवश्यकता पड़ेगी। इसके अतिरिक्त उनका जीवन स्तर जितना ऊंचा उठेगा उतनी ही अधिक चीजें वे अमेरिकन उत्पादनों से खरीदने योग्य होंगे। मिस्टर जोन्स का सुझाव है कि अमेरिकन सरकार को उन अमेरिकन फर्मों को सभी व्यावहारिक प्रोत्साहन प्रदान करने चाहिए जो समुद्र पार पूंजी लगाने के लिए तैयार हैं। विशेष कर एशिया दक्षिणी अमेरिका और अफ्रीका में जहां कि पूंजी की अतुल आवश्यकता है, यह नीति अपनाई जानी चाहिए।

(४) नवीन दृष्टि का काल (जुलाई १९५३ से जनवरी १९६१ तक)

जनवरी १९५३ में २४ वर्षों में प्रथम बार एक रिपब्लिकन राष्ट्रपति

के रूप में जनरल आइजन होवर ने व्हाइट हाउस में प्रवेश किया। उन्होंने अपने निर्वाचन अभियान में कोरिया युद्ध को समाप्त करने का वचन दिया था और जुलाई १९५३ में कोरिया युद्ध समाप्त हो गया। इसके पूर्व ही मार्च १९५३ में रूस के कठोर और लौह पुरुष स्टालिन की मृत्यु हो चुकी थी। १९५३ के वर्ष की इन सब घटनाओं के सम्मिलित परिणामस्वरूप शीत युद्ध की गर्मी में कुछ समय के लिए कमी आई अमेरिकन विदेश-नीति में इस स्थिति से कोई विशेष अन्तर नहीं पड़ा।

कई कारणों से अमेरिका की इस नवीन सरकार नवीन राष्ट्राध्यक्ष और नवीन सचिव के प्रति लोग संदेह भरी दृष्टि से देखते हुए यह आशंका कर रहे थे कि संभवतः ये अपने पहले वालों से अधिक सैनिकवादी एवं युद्ध प्रिय रहेंगे। किन्तु जैसा कि पामर तथा परकिन्स (Palmer and Perkins) का कहना है कि आइजन होवर ने किसी विशेष विदेश नीति की रूपरेखा नहीं रखी वरन् 'कुछ निश्चित सिद्धान्त' रखे जो उनके प्रशासन का संरक्षण करने को थे।[1] विदेश नीति के ये सिद्धान्त मुख्य रूप से इस प्रकार थे—युद्ध का बहिष्कार अमरिकन शक्ति का विकास दूसरे देशों के साथ सहयोग की इच्छा तुष्टीकरण का अभाव अमेरिकन शक्ति का दुरुपयोग नहीं दूसरे दलों की सुरक्षा के लिए समर्थन विश्व के उत्पादन तथा लाभ पूर्ण व्यापार को प्रोत्साहन देना संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भक्ति भावना पश्चिमी सौहार्द के दलों के साथ सहयोग यूरोपीय एकता को बढ़ावा देना सभी लोगों एवं जातियों की समानता तथा संयुक्त राज्य को शान्ति के लिए एक प्रभावशाली शक्ति बना देना।

वास्तव में रूस द्वारा परमाणु बम के निर्माण विपुल अमेरिकन सहायता के बावजूद चीन में साम्यवाद की विजय और सबसे बाद में कोरिया के युद्ध ने संयुक्त राज्य अमरीका को अपनी विदेश नीति पर एक नई दृष्टि (New look) डालने पर विवश कर दिया। कोरिया–युद्ध में किसी भी पक्ष को निर्णायक विजय प्राप्त न होने से आइजनहोवर-प्रशासन ने इस बात को भली प्रकार समझ लिया कि एक महाविनाशकारी युद्ध के बिना जिसमें विजेता और विजित दोनों ही नष्ट हो जायेंगे साम्यवादी रूस को पराजित नहीं किया जा सकता। इस अनुभूति के फलस्वरूप रूस के साथ सहअस्तित्व को इच्छा अथवा अनिच्छापूर्वक स्वीकार करना आवश्यक हो गया। इसके अतिरिक्त साम्यवादी चीन की बढ़ती हुई शक्ति ने यह बता दिया कि रूस का अवरोध न केवल यूरोप में बल्कि सुदूर पूर्व में भी किया जाना आवश्यक है। फिर कोरिया युद्ध से यह आशंका और भी दृढ़ हो गई कि यूरोप और पूर्वी एशिया में अवरुद्ध हो जाने के बाद रूस मध्यपूर्व में बढ़ने का प्रयत्न करेगा।

---

1 "He outlived no specific foreign policies but h asserted "certain fixed principles" that would guide his Administration

—*Palmer and Perkins* op cit., P 710.

इस आक्रमण के फलस्वरूप मध्यपूर्व का प्रदेश संयुक्त राज्य अमेरिका की दिलचस्पी का प्रधान केन्द्र बन गया।

राष्ट्रपति आइजनहोवर के शासन काल में घटना चक्र कुछ ऐसा घूमा कि जिससे शीत युद्ध में कुछ समय के लिए शिथिलता आ गई और अन्तर्राष्ट्रीय मनमुटाव के मिटने की आशायें की जाने लगीं। मार्च १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत नेतृत्व जिन लोगों के हाथों में आया उन्होंने भी पूर्वापेक्षा कुछ लचीली और समझौतापूर्ण नीतियां अपनानी चाहीं। फलस्वरूप अन्तर्राष्ट्रीय तनाव की स्थिति में कुछ सुधार हुआ। १६ अप्रैल १९५३ को राष्ट्रपति आइजनहोवर ने शांति के पक्ष में जो दलीलें दीं उन्हें सुन कर लोगों का यह भय बहुत कुछ हट गया कि यह सैनिक जनरल अमेरिका को पूरी तरह सैनिकवाद की ओर धकेल देगा। ११ मई को चर्चिल द्वारा फ्रांस ब्रिटेन रूस और अमेरिका का शिखर-सम्मेलन सुझाया गया। पश्चिमी यूरोप को अधिकाधिक एकीकृत करने के प्रयत्न किये गये। जुलाई १९५३ में ३ साल से भी अधिक समय से चलने वाला कोरियाई युद्ध बन्द हो गया। अगस्त में सोवियत रूस ने घोषणा की कि उसने हाइड्रोजन बम का विघटन कर लिया है। इसके तुरन्त बाद दिसम्बर में संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में आइजनहोवर ने अणु शक्ति पर नियन्त्रण रखने और उसका शांति के लिये प्रयोग करने का प्रस्ताव रखा। सन् १९५४ में इतने अधिक सम्मेलन हुए कि जॉन फोस्टर डलेस को यात्री-राज्य-सचिव की संज्ञा दी जाने लगी। पश्चिमी यूरोप को एकीकृत करने के प्रयत्नों के फलस्वरूप इसी वर्ष पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) की स्थापना की गई और जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया। १९५४ में ही साम्यवादी चीन की सहायता से साम्यवादी छापामारों द्वारा हिन्द चीन में गम्भीर स्थिति उत्पन्न कर दी गई जिसके फलस्वरूप जुलाई में हिन्द चीन फ्रांस साम्यवादी चीन रूस और ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने जेनेवा सम्मेलन में हिन्द चीन को विभाजित करने का निर्णय किया। इसके उत्तरी भाग में वियत मिन्ह (बाद में उत्तरी वियतनाम) का साम्यवादी राज्य स्थापित किया गया और दक्षिणी भाग को लाओस कम्बोडिया तथा दक्षिणी वियतनाम के तीन गैर साम्यवादी राज्यों में विभाजित कर दिया गया। इस घटना-चक्र ने संयुक्त राज्य अमेरिका को साम्यवादी चीनी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए दृढ़ संकल्प बना दिया और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए सितम्बर १९५४ में आस्ट्रेलिया फिलिपाइन्स पाकिस्तान ब्रिटेन फ्रांस थाइलैण्ड और न्यूजीलैण्ड के साथ 'दक्षिणी-पूर्वी एशिया सामूहिक सुरक्षा संधि' (South East Asia Collective Defence Treaty) पर हस्ताक्षर करके सीटो (SEATO) की स्थापना की।

मध्यपूर्व आइजनहोवर सिद्धान्त (Middle East Eisenhower Doctrine)

यूरोप और सुदूरपूर्व में साम्यवादी प्रसार के अवरोध के लिए नैटो संगठनों व अनेक संधियों आदि की स्थापना के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका

मध्य-पूर्व की ओर मुड़ा। इस क्षेत्र में साम्यवाद के प्रसार पर अंकुश लगाने के लिए आइजनहोवर-प्रशासन ने टर्की, ईराक, पाकिस्तान और ब्रिटेन आदि को प्रेरित कर के १९५५ में बगदाद पैक्ट (जिसे १९५९ में सैण्टो कहा जाने लगा) की रचना कराई। यद्यपि मध्यपूर्व में अमेरिका का यह प्रयास प्रभावकारी सिद्ध नहीं हुआ परन्तु इस क्षेत्र में अपना प्रभाव जमाने का उसे एक अन्य सुअवसर मिल गया। हुआ यह कि १९५६ में स्वेज नहर के प्रश्न को लेकर ब्रिटेन, फ्रांस और इजरायल ने संयुक्त रूप से मिस्र पर आक्रमण कर दिया। सौभाग्यवश संयुक्त राज्य अमेरिका ने ब्रिटेन और फ्रांस की इस कार्यवाही को अपना समर्थन प्रदान नहीं किया प्रत्युत उन्हें यही सद्परामर्श दिया कि वे अपना आक्रमण खत्म कर दें। अन्त में अमेरिका सहित विश्व-जनमत के विरोध पर विदेशी आक्रान्ताओं को स्वेज से हटना पड़ा। स्वेज काण्ड में पराजय का परिणाम यह निकला कि एक लम्बे समय से मध्यपूर्व की राजनीति पर नियंत्रण करने वाले ब्रिटेन और फ्रांस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव खो बैठे और मध्यपूर्व में इस शक्ति शून्यता से यह आशंका हो गई कि रूस इस क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित कर लेगा। इस सम्भावना को रोकने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका इस क्षेत्र में कूद पड़ा। उसने यहां शान्ति बनाये रखने तथा साम्यवादियों का प्रसार रोकने के लिए सुप्रसिद्ध आइजनहोवर सिद्धान्त प्रतिपादित किया।

'आइजनहोवर सिद्धान्त" की घोषणा ५ जनवरी १९५७ को राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा कांग्रेस को भेजे गये एक संदेश में की गयी। यह संदेश मध्यपूर्व के सम्बन्ध में अमेरिका की नीति की घोषणा थी। इस संदेश के अनुसार कांग्रेस के दोनों सदनों द्वारा संयुक्त रूप में पास किये गये कानून पर राष्ट्रपति ने ९ मार्च १९५७ को हस्ताक्षर कर दिये। इस कानून के अन्तर्गत राष्ट्रपति को मध्यपूर्व के किसी भी देश में अपनी विवेक बुद्धि से साम्यवादी आक्रमण को रोकने के लिए फौजें भेजने तथा सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार मिल गया। इस कानून की मुख्य व्यवस्थायें इस प्रकार हैं—

(क) इसके प्रथम भाग में मध्यपूर्व में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया गया है कि वह "मध्यपूर्व के सामान्य क्षेत्र में राष्ट्रीय स्वाधीनता बनाये रखने वाले" किसी भी देश को आर्थिक सहायता दे सकता है।

(ख) इस अधिनियम के दूसरे भाग के अनुसार राष्ट्रपति को 'मध्यपूर्व के राष्ट्रों की अखण्डता और स्वतन्त्रता तथा विश्व शांति की सुरक्षा के लिए उन देशों के द्वारा चाहने पर सैनिक सहायता देने के अधिकार दिये गये। साथ ही उसे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद द्वारा नियंत्रित किसी देश से सशस्त्र आक्रमण होने की स्थिति में सुसज्जित सेना भेजने का भी अधिकार दिया गया।

(ग) अधिनियम के तीसरे भाग में इस सहायता की व्यवस्था संबंधी बातों का उल्लेख है और पांचवें भाग में इस कार्य की प्रति वर्ष जनवरी और जुलाई में कांग्रेस को रिपोर्ट देने की व्यवस्था है।

कांग्रेस ने आइजनहोवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकन सहायता के

इन्हें मध्यपूर्व के देशों की सहायता के लिए २०० मिलियन डालर की धन राशि की स्वीकृति दी।

आइजनहोवर सिद्धान्त की प्रतिक्रियायें और सिद्धान्त का विश्लेषण

आइजनहोवर सिद्धान्त और कानून की प्रतिक्रियाएं मिश्रित हुईं। मध्यपूर्व में टर्की, लेबनान, ईरान, ईराक, सऊदी अरब और पाकिस्तान आदि ने इसका स्वागत किया। परन्तु मिस्र और सीरिया आदि ने इसे एक साम्राज्यवादी चाल बताया। सोवियत रूस ने इसका घोर विरोध करते हुए इसे संयुक्त राज्य अमेरिका की आक्रामक नीति की श्रृंखला की एक और कड़ी कहा। स्वर्गीय श्री नेहरू ने शक्ति शून्य के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए कहा— यदि पश्चिमी एशिया में एक शून्य है तो यह स्वयं उस क्षेत्र के देशों के द्वारा भरा जाना चाहिए। यदि दूसरे लोग आने का प्रयत्न करते हैं तो विपत्ति प्रारम्भ हो जाती है और सुरक्षा के स्थान पर हम उसका उल्टा पाते हैं। ब्रिटिश राष्ट्र के एक बड़े वर्ग ने भी आइजनहोवर सिद्धान्त के प्रति अपनी नाराजगी प्रकट की। अनेक अंग्रेजों द्वारा यह कह कर इस सिद्धान्त की आलोचना की गयी कि अमेरिका का वास्तविक उद्देश्य मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रसार के विरुद्ध रक्षा कवच तैयार करना न होकर ब्रिटिश और फ्रान्स प्रभाव को समाप्त कर के उसके स्थान पर अपना प्रभाव स्थापित करना है। प्रसिद्ध विद्वान डी एफ फ्लेमिंग (D F Fleming) का मत है कि आइजनहोवर सिद्धांत ने शीतयुद्ध को प्रोत्साहित करने में बड़ी सहायता दी।[1] मिस्र और सीरिया ने आरोप लगाया कि अमेरिका का यह कदम ब्रिटिश फ्रेन्च साम्राज्यवाद का जुआ उतार फेंकने वाली अरब राष्ट्रीयता को कुचलने की और इजराइल को अरबों के विरुद्ध आक्रमण के लिए प्रोत्साहित करने की साजिश है।

आइजनहोवर सिद्धान्त का विश्लेषण करने पर पता चलता है कि यह सिद्धान्त स्पष्टतः ट्रूमैन सिद्धान्त का एक विकसित रूप था—

प्रथम ट्रूमैन सिद्धान्त में सहायता का क्षेत्र बिल्कुल सुनिश्चित—टर्की और यूनान था जबकि आइजनहोवर सिद्धान्त के अन्तर्गत अमेरिकन राष्ट्रपति मध्यपूर्व के विशाल क्षेत्र में किसी भी देश को सहायता दे सकता था।

दूसरे, इसके अन्तर्गत दी जाने वाली सहायता का क्षेत्र भी अधिक व्यापक था। जहां ट्रूमैन सिद्धान्त के अन्तर्गत प्रधानतः आर्थिक सहायता की व्यवस्था की गई थी वहां आइजनहोवर सिद्धान्त के अन्तर्गत आर्थिक और सैनिक दोनों प्रकार की सहायता की व्यवस्था थी।

तीसरे, इस सिद्धान्त ने राष्ट्रपति को ट्रूमैन सिद्धान्त की अपेक्षा सेनायें भेजने व लड़ाई छेड़ने के अधिक विस्तृत अधिकार प्रदान किये।

चौथे इस सिद्धान्त में आक्रमण की प्रकृति की भी अधिक स्पष्ट व्याख्या की गई है। यह स्पष्ट कर दिया गया कि सहायता बाह्य साम्यवादी

---

1 *D F Fleming* The Cold War and its Origins p. 848

आक्रमण अथवा उसकी आशंका पर सम्बन्धित देशों की प्रार्थना और इच्छा पर ही भेजी जायगी ।

पांचवें, ट्रूमैन सिद्धान्त की भांति इस सिद्धान्त का घोषित लक्ष्य भी मध्यपूर्व के देशों में स्थिरता और स्वतन्त्रता की रक्षा करना था जबकि इसका वास्तविक लक्ष्य मध्यपूर्व के तेल भण्डारों को पश्चिमी गुट के लिए सुरक्षित रखना था । दूसरे शब्दों में यह कहना उचित होगा कि ट्रूमैन सिद्धान्त की भांति आइजनहोवर सिद्धान्त भी अमेरिका के नवीन साम्राज्यवाद का सूचक था ।

आइजनहोवर सिद्धान्त का प्रयोग

इस सिद्धान्त के प्रचार और प्रसार के लिए अमेरिका के विशेष राजदूत जेम्स पी रिचर्ड्स को मध्यपूर्व के देशों का दौरा करने के लिए भेजा गया । इस समय इन देशों में दो वर्ग थे—पश्चिम के समर्थक एवं पश्चिमी विरोधी किन्तु सोवियत पक्षपाती । पश्चिम समर्थक टर्की ईरान ईराक और पाकिस्तान (बगदाद पैक्ट के सदस्य राज्य) ने २१ जनवरी को इस सिद्धान्त का समर्थन कर दिया । इन राज्यों के अलावा लेबनान लीबिया और ईजरायल ने भी इसके प्रति अपनी सहमति प्रकट की । किन्तु पश्चिम विरोधी सीरिया और यमन ने इस सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया सूडान ने कोई निश्चित जवाब नहीं दिया और मिस्र ने मौन साध लेना उचित समझा ।

शीघ्र ही ऐसा अवसर भी उपस्थित हो गया जबकि दो देशों में अमेरिका को 'आईजनहोवर सिद्धान्त' का प्रयोग करने का मौका मिला । ये देश थे—लेबनान और जोर्डन । लेबनान में अमेरिका ने स्वयमेव इस सिद्धान्त का प्रयोग किया जबकि जोर्डन में ब्रिटेन की सहायता से । परन्तु इन दोनों देशों में भी यह सिद्धान्त व्यावहारिक दृष्टि से सफल न हो सका ।

(1) लेबनान में अमेरिकन सेना का प्रवेश

ईसाई और मुसलमानों के प्रवेश लेबनान के तत्कालीन राष्ट्रपति चामौं और प्रधानमन्त्री सामी सोलह के विरुद्ध ९ मई १९५८ को विद्रोह हो गया । यह सरकार अमेरिका समर्थक थी जिसने आइजनहोवर सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया था । लेबनानी विदेश मन्त्री ने मिस्र और सीरिया पर आरोप लगाया कि वे विद्रोह को भड़काने और विद्रोहियों को सहायता देने का कार्य कर रहे हैं । लेबनान ने सुरक्षा परिषद में शिकायत करते हुए मामले पर विचार करने के लिए परिषद की अविलम्ब बैठक बुलाने की मांग की । परिषद द्वारा यह मामला अरब लीग को सौंपा गया किन्तु जब लीग में यह मामला नहीं निपटा तो परिषद ने मामले की जांच के लिए एक संयुक्त राष्ट्र पर्यवेक्षक दल की व्यवस्था की जिसने ३ जुलाई १९५८ को घोषणा की कि "प्रेक्षक दल के पास संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) के नागरिकों अथवा हथियारों के बड़ी मात्रा में लेबनान में प्रवेश के आरोप की पुष्टि में पर्याप्त साक्ष्य नहीं है ।"

परन्तु लेबनान ने संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रेक्षक दल की रिपोर्ट को गलत बताते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका से सैनिक सहायता की मांग की। इस पर १५ जुलाई १९५८ को राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा घोषणा की गई कि लेबनानी राष्ट्रपति शामों की अत्यावश्यक अपील पर संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना वहां भेजी जा रही है। इसी दिन संयुक्त राज्य अमेरिका के युद्धपोतों से १५०० नौसैनिक लेबनान की राजधानी बेरुत में उतर गये और २० जुलाई तक अमेरिकन सैनिकों की संख्या १० हजार तक पहुंच गई। अमेरिकन फौजों ने विद्रोह को तो दबा दिया परन्तु लेबनानी जनता ने अपनी भूमि पर विदेशी सैनिकों की इस उपस्थिति का कतई स्वागत नहीं किया। लेबनान के प्रमुख नेताओं पार्लियामेंट के स्पीकर अदेल ओस्सीरां तथा विरोधी दल के नेता सल्लम ने इन सेनाओं के आगमन का घोर विरोध किया इसे अपने देश की सर्वोच्च सत्ता का उल्लंघन तथा निलर्ज्जतापूर्ण आक्रमण बताया। सोवियत संघ व अन्य तटस्थ राष्ट्रों ने भी संयुक्त राज्य अमेरिका की इस कार्यवाही का विरोध किया। सोवियत प्रतिनिधि सोबोलेव ने कहा कि—"अमेरिका और ब्रिटेन का कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का घोर उल्लंघन है। तेल अधिक तेल—यही संयुक्त राज्य अमेरिका तथा ब्रिटेन के एकाधिकारियों का प्रलोभन है।" सोवियत प्रतिनिधि ने सुरक्षा परिषद में १५ जुलाई को एक प्रस्ताव उपस्थित करके यह मांग की कि संयुक्त राज्य अमेरिका को लेबनान से और ब्रिटेन को जोर्डन से फौजें तुरन्त हटा लेने को कहा जाय। १८ जुलाई को सोवियत प्रस्ताव रद्द हो गया और १९ जुलाई को भी ख्रुश्चेव ने समस्या के समाधान के लिए जेनेवा में शिखर सम्मेलन का सुझाव देते हुए आइजनहावर मैकमिलन डीगाल नेहरू और महासचिव हेमरशोल्ड को पत्र लिखे तथा पश्चिम को यह धमकी भी दी कि रूस के पास अन्तर महाद्वीपीय प्रक्षेपणास्त्र हैं।

१३ अगस्त को महासभा के विशेष अधिवेशन में समस्या पर विचार हुआ जिसमें राष्ट्रपति आइजन होवर ने यह घोषणा की कि अमेरिका लेबनान से अपनी फौजें तुरन्त हटा लेने को तैयार है बशर्ते कि प्रथम तो वहां की विधिवत् स्थापित सरकार इसकी प्रार्थना करे और दूसरे यह कि संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा अथवा अन्य किसी प्रकार से लेबनान का संकट दूर हो जाय। २१ अगस्त को महासभा ने लेबनान से अमरीकन सेना की वापसी का प्रस्ताव पारित किया परन्तु अमरीका ने अपनी फौजें हटाने से इन्कार कर दिया

इस बीच लेबनान में गृह युद्ध जारी था और ३१ जुलाई १९५८ को राष्ट्रपति शामों के स्थान पर शेहाब राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हो गये। चूंकि विरोधी दलों की पश्चिम के कट्टर समर्थक शामों को हटाने की मुख्य मांग पूरी हो गया अतः लेबनान का आन्तरिक विद्रोह भी शान्त हो गया। राष्ट्रपति शेहाब ने मुस्लिम नेता करामी को सरकार बनाने का आमन्त्रण दिया। नयी सरकार ने सत्तारूढ़ होने के उपरान्त अमरीका से सेना हटाने की मांग की, अतः विवश होकर वाशिंगटन को लेबनान से अपनी फौजें वापस बुलानी पड़ीं। २५ अक्टूबर १९५८ तक अमरीकन फौजों ने लेबनान खाली कर दिया।

(ख) जोर्डन से ब्रिटिश फौजों की वापसी

जोर्डन एक पिछड़ा हुआ राजतन्त्र था जो १९५७ तक ब्रिटिश सरकार से प्राप्त होने वाली १२ लाख पौंड की सहायता पर जीवित होने के कारण पश्चिमी शक्तियों का पृष्ठ पोषक था। जब मिस्र एवं अन्य पश्चिम विरोधी अरब राज्यों ने इसे अपने साथ मिलाना चाहा तो इसने उनसे ब्रिटिश सरकार से मिलने वाले १२ लाख पौंड देने की मांग की। १९५७ के प्रारम्भ में मिस्र सऊदी अरब एवं सीरिया ने जार्डन को यह वचन दिया कि उसे ब्रिटेन द्वारा मिलने वाली उक्त राशि ये राष्ट्र मिल कर उपलब्ध करायेंगे।

इस समय जोर्डन के प्रशासन में दो विरोधी विचारधारायें विद्यमान थीं। जोर्डन का राजा हुसैन पश्चिमी शक्तियों का समर्थक था जब कि उसका प्रधान मन्त्री नाबुल्सी पश्चिमी शक्तियों का विरोधी। अतएव नाबुल्सी ने एक तरफ तो आइजन हावर सिद्धान्त को स्वीकार किया और दूसरी तरफ मिस्र सऊदी अरब तथा सीरिया के साथ अरब-एकता सुदृढ़ करने के लिए समझौते पर हस्ताक्षर किये। ११ फरवरी १९५७ को उसने यह घोषणा की कि १ अप्रेल १९५७ से १९४८ में की गयी उस एंग्लो-जोर्डन संधि को रद्द समझा जायगा जिसके अनुसार ब्रिटेन को जार्डन में सैनिक अड्डे प्राप्त थे।

नाबुल्सी के इस कार्य से जोर्डन के पश्चिम पक्षपाती तत्त्व असन्तुष्ट हो गये। परन्तु जब अप्रेल में जार्डन सरकार ने सोवियत संघ के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने का निश्चय कर लिया तो पश्चिमी पक्षपातियों अथवा रूस विरोधी तत्त्वों का असन्तोष भड़क उठा। इसी समय संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा जोर्डन को आर्थिक सहायता देने का प्रस्ताव रखा गया। इससे शाह हुसैन के प्रभाव में वृद्धि हुई और परिणामतः ब्रिटेन की अप्रत्यक्ष सहायता से नाबुल्सी सरकार को त्यागपत्र देने के लिए बाध्य कर दिया गया। इस पर १० अप्रेल १९५७ को पश्चिम और रूस समर्थक तत्त्वों के बीच व्यापक रूप से दंगे प्रारम्भ हो गये। शाह हुसैन ने जो अमरीकन सहायता लेने के पक्ष में था अपने अन्य अधिकारियों के सहयोग से जनता के विद्रोह को दबा दिया। उसने रूसी साम्यवाद को इन उपद्रवों के लिए उत्तरदायी बताते हुए पश्चिम-पक्षपाती इब्राहिम हाशिम को मन्त्रीमण्डल बनाने का कार्य सौंपा।

शाह हुसैन की प्रार्थना पर अमरीका ने उसे पहले एक करोड़ डालर की और बाद में ८ लाख डालर की सहायता दी। संयुक्त राज्य अमरीका का इस प्रकार की सहायता देने का मुख्य लक्ष्य जोर्डन को मिस्र और सीरिया से बिल्कुल अलग करना, अरब एकता को नष्ट करना एवं अरब राष्ट्रवाद के अगुआ देशों के विरोध के लिए मध्य-पूर्व में एक सुदृढ़ अड्डा स्थापित करना था। अमरीका के प्रभाव से जोर्डन ने एक अन्य अमरीका समर्थक राज्य ईराक के साथ मिल कर मिस्र और सीरिया के संयुक्त अरब गणराज्य (United Arab Republic) के मुकाबले में १४ फरवरी १९५८ को अरब संघीय राज्य (Arab Federal State) का भी निर्माण किया।

१४ जुलाई १९५८ को ईराक की पश्चिम पक्षपाती सरकार के विरुद्ध सैनिक विद्रोह हो गया अतः यह आशंका की जाने लगी कि कहीं जोर्डन भी ऐसी क्रांति का शिकार न हो जाय। अतः १७ जुलाई को शाह हुसैन ने रेडियो से यह घोषणा की कि ईराकी क्रांति से उत्पन्न स्थिति से रक्षा के लिए उसने "मित्र राज्यों से प्रभावशाली सैनिक सहायता" मांगने का निश्चय किया है ताकि चारों ओर के शत्रुओं से जोर्डन की सीमाओं की रक्षा की जा सके। शाह हुसैन ने ब्रिटेन और संयुक्त राज्य अमरीका से अविलम्ब सैनिक सहायता देने की अपील की। इस पर एक तरफ तो ब्रिटेन द्वारा वायुयानों के जरिये तेजी से अपने सैनिक जोर्डन में उतार दिये गये और दूसरी तरफ अमरीका की वायुशक्ति ने ईराकी तथा लेबनानी सीमाओं के बन्द होने से जोर्डन में उत्पन्न हुई पैट्रोल की कमी दूर करने के लिए, बहरीन से तेल की ढुलाई प्रारम्भ कर दी। ७ जुलाई को उसने जोर्डन को ७५ लाख डालर की नयी सहायता देने की भी घोषणा की।

१७ जुलाई १९५८ को जोर्डन ने सुरक्षा परिषद में यह शिकायत की कि संयुक्त अरब गणराज्य उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप कर रहा है। २१ अगस्त को महासभा के विशेष अधिवेशन में पारित प्रस्ताव के अनुसार ब्रिटेन ने २ नवम्बर १९५८ तक अपनी सेनायें जोर्डन की राजधानी से वापिस बुला लीं। इस प्रकार ब्रिटेन की सहायता से आइजनहोवर सिद्धान्त का जो सैनिक प्रयोग जोर्डन में किया गया वह अन्त में निष्फल हुआ।

आइजनहोवर सिद्धान्त का मूल्यांकन

लेबनान और जोर्डन इन दोनों देशों में आइजनहोवर सिद्धान्त का जो प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष प्रयोग किया गया उससे इस सिद्धान्त के सम्बन्ध में अनेक महत्वपूर्ण परिणाम निकलते हैं—

(i) आइजनहोवर सिद्धान्त को मध्य-पूर्व में साम्यवादी एवं सोवियत प्रभाव को रोकने में सफलता नहीं मिली और न ही वह इस क्षेत्र में शान्ति स्थापित करने अथवा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव दूर करने में सफल हुआ। इसके विपरीत लेबनान और जोर्डन में सैनिक हस्तक्षेप का उल्टा प्रभाव यह हुआ कि इन देशों में पश्चिम विरोधी एवं साम्यवादी तत्वों को पुष्टि मिली तथा दोनों राज्यों में पश्चिमी प्रभाव का प्रतिरोध करने वाली सरकारों की स्थापना हुई। ईराकी क्रांति के कारण बगदाद पैक्ट से उसका एक महत्वपूर्ण सदस्य निकल गया जिसके फलस्वरूप मध्य-पूर्वीय क्षेत्र में जहाँ अमरीकन प्रभाव में कमी हुई वहाँ मास्को का प्रभाव क्षेत्र बढ़ा।

(ii) यह स्पष्ट हो गया कि ट्रूमैन सिद्धान्त की तरह आइजनहोवर सिद्धान्त भी संयुक्त राष्ट्र संघ को निर्बल बनाने वाला था क्योंकि इसके कारण संयुक्त राज्य अमरीका द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के काम को अपने हाथ में लेने का प्रयत्न किया गया था। संयुक्त राज्य अमरीका ने संयुक्त राष्ट्रीय प्रेक्षक रिपोर्ट के विरुद्ध लेबनान में अपनी सेनायें भेजी जो अनुचित था। साम्राज्यवाद और संघ में अविश्वास का परिचायक

था। रूस के प्रेक्षक दल की रिपोर्ट के बाद भी अमेरिका की इस प्रकार की कार्यवाही करना यह सिद्ध करता था कि वह इस सामरिक तथा आर्थिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र में अपने नियन्त्रण और प्रभाव का भूखा था।

(iii) संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति आइजनहोवर ने मध्य-पूर्व में अरब राष्ट्रीयता के जागरण की उपेक्षा की। वह भूल गये कि अरब देश अब किन्हीं हस्तक्षेप के विरुद्ध थे। इस सिद्धान्त की असफलता का एक अन्य कारण मध्य-पूर्व में कर्नल नासिर का व्यक्तित्व भी था जिसकी अमरीका द्वारा प्रायः उपेक्षा ही कर दी गयी थी। परिणामस्वरूप आइजनहोवर को अपनी नीति में पूरी सफलता नहीं मिल सकी। इसके अतिरिक्त ईजरायल के विरुद्ध अरबों के तीव्र विरोध और इस प्रदेश की शोचनीय आर्थिक एवं सामाजिक दशा ने भी आइजनहोवर सिद्धान्त की सफलता के मार्ग में गम्भीर रोड़े अटकाये।

निष्कर्ष रूप से यही कहना चाहिए कि व्यावहारिक दृष्टि से आइजनहोवर सिद्धान्त एक साधारण असफलता रही। इसके अन्तर्गत १९५८ में लेबनान में भेजी गयी अमेरीकन सेनाओं के द्वारा स्थिति अवश्य स्थापित की गयी किन्तु पश्चिम के कट्टर समर्थक राष्ट्रपति शामों पुनर्निर्वाचित नहीं हो सके और बाद में अमेरिकन फौजों को लेबनान से हटना पड़ा। इसी प्रकार जोर्डन में भी अमेरिकन सहायता से शाह हुसैन के विरुद्ध विद्रोह को दबा दिया गया, परन्तु इसके बावजूद सीरिया, ईराक और मिस्र में साम्यवादी प्रभाव में वृद्धि हुई तथा ईराक बगदाद समझौते से अलग हो गया।

शीत युद्ध में शिथिलता (१९५९-६०)

आइजन होवर सिद्धान्त के कारण यद्यपि शीत युद्ध की धारा वेगवान बनी और आइजनहोवर प्रशासन विश्व के एक बड़े भाग में कटु आलोचना का पात्र बना परन्तु सितम्बर १९५९ में जब राष्ट्रपति के निमंत्रण पर सोवियत प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने अपने सम्पूर्ण परिवार और अन्य राजनीतिक सहयोगियों के विशाल दल-बल सहित अमेरिका की राजकीय यात्रा की तो इसके परिणामस्वरूप दोनों राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक तनावपूर्ण वातावरण में बड़ी कमी आयी। १७ सितम्बर को न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र संघ के १४ वें अधिवेशन में भाषण करते हुए श्री ख्रुश्चेव ने सामान्य एवं पूर्ण निःशस्त्रीकरण के प्रस्तावों का रखने के साथ "शीतयुद्ध की एवं शस्त्रास्त्रों की प्रतिस्पर्धा" समाप्त करने की ओर सब देशों द्वारा "शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और सभी पूर्ण सहयोग" के सिद्धान्तों के पालन पर विशेष बल दिया। सोवियत प्रधानमन्त्री ने आग्रह किया कि रूस एवं अमेरिका को शीत युद्ध के वातावरण का अन्त करना चाहिए। सोवियत प्रधानमन्त्री की राष्ट्रपति आइजनहोवर से मेरीलैण्ड पहाड़ियों (Maryland hills) के मध्य बने उनके निवास स्थान कैम्प डेविड (Camp David) में सौहार्दपूर्ण वातावरण में बातचीत हुई तथा दोनों नेताओं ने अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने के बारे में विचार-विमर्श करते हुए यह निर्णय किया कि पारस्परिक

मतभेदों के प्रश्नों पर बातचीत करने हेतु संयुक्त राज्य अमेरिका, सोवियत रूस, ब्रिटेन और फ्रांस इन चार बड़े राष्ट्रों का एक शिखर-सम्मेलन आयोजित किया जाय। अमेरिकन राष्ट्रपति ने १९६० के बसन्तकाल में रूस की यात्रा के निमन्त्रण को भी स्वीकार किया।

सोवियत प्रधानमन्त्री ने २८ सितम्बर को स्वदेश लौटते समय अपने अन्तिम टेलिविजन भाषण में कहा— "राष्ट्रपति आइजनहोवर से मेरी बड़ी मधुर वार्ता हुई है। हमने जिन प्रश्नों पर विचार किया है उन सबके बारे में यह पाया गया है कि स्थिति के मूल्यांकन की दृष्टि से तथा दोनों देशों के सम्बन्ध सुधारने की आवश्यकता की दृष्टि से दोनों पक्षों का दृष्टिकोण तथा विचार एक जैसे हैं।" श्री ख्रुश्चेव ने स्वदेश लौटकर भी "कैम्प डेविड की भावना" को दोहराया और साम्यवादी चीन को भी यह सलाह दी कि उन्हें महत्वपूर्ण समस्याओं के समाधान हेतु युद्ध के साधनों का परित्याग करना चाहिए और अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निर्णय वार्तालाप और चर्चा के माध्यम से शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा करना चाहिए। स्वदेश और विदेश में व्यक्त किये गये सोवियत प्रधानमन्त्री के इन विचारों से यह बात दिखाई पड़ने लगी कि मानों पूर्व और पश्चिम का संघर्ष शीघ्र ही दूर हो जायगा।

श्री ख्रुश्चेव के रूस लौट जाने के उपरान्त दिसम्बर १९५९ में पेरिस में राष्ट्रपति आइजनहोवर, फ्रेन्च राष्ट्रपति डिगॉल, ब्रिटिश प्रधानमन्त्री मैकमिलन और पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर कोनार्ड आडेनौर (Konard Audenaur) ने शीतयुद्ध एवं पूर्व-पश्चिम की समस्याओं पर विचार-विनिमय करके यह निश्चय किया कि २१ अप्रैल १९६० को ४ बड़े राज्यों के शासनाध्यक्षों का शिखर-सम्मेलन आयोजित होना चाहिये। किन्तु श्री ख्रुश्चेव को जब निमन्त्रण दिया गया तो उन्होंने इस तारीख को बदलने (२१ अप्रैल या ४ मई करने) का सुझाव दिया अतः अन्त में १६ मई १९६० को इस सम्मेलन का किया जाना निश्चित हुआ।

शिखर सम्मेलन के अपशकुन

दुर्भाग्यवश घटना चक्र कुछ इस प्रकार का घूमा कि शिखर-सम्मेलन के पूर्व ही कुछ अपशकुन हो गये जिन्होंने पहले तो सम्मेलन के होने में ही सन्देह उत्पन्न कर दिया और बाद में जब सम्मेलन हुआ भी तो उसे असफल कर दिया। मुख्य रूप से ये अपशकुन दो हुए—(i) जर्मनी से सम्बन्धित विवाद एवं (ii) यू-२ विमान घटना।

(i) जर्मनी से सम्बन्धित विवाद

पहला अपशकुन जर्मनी पर हुआ। १४ जनवरी १९६० को पश्चिमी जर्मनी के चान्सलर आडेनौर ने ख्रुश्चेव को भेजे गये एक पत्र में यह आरोप लगाया कि रूसी बर्लिन पर हमला कर रहे हैं और शिखर सम्मेलन का मुख्य विषय जर्मनी नहीं बल्कि निःशस्त्रीकरण की समस्या होनी चाहिए। श्री ख्रुश्चेव ने जर्मन चान्सलर को धमकीपूर्ण कटु उत्तर देते हुए कहा कि

मवि पूर्व पश्चिम की वार्ता से बर्लिन की स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं ाया तो वह पूर्वी जर्मनी से पृथक संधि कर लेगा पोलैण्ड और चेकोस्लो ाकिया के साथ उसकी सीमा का निर्धारण करेगा।"

फरवरी १९६० में बर्लिन में रूस द्वारा एक नया संकट उत्पन्न कर िया गया। हुआ यह कि पूर्वी जमनी में विद्यमान पश्चिमी देशों के सैनिक ाधनों को दिये जाने वाले पास पूर्वी जर्मन सरकार के नाम से जारी किय ाये जबकि अब तक वे पूर्वी जमनी के सोवियत अधिकारियों द्वारा जारी किये ाते थे। इस नयी व्यवस्था का उद्देश्य यह था कि रूस इस प्रकार पश्चिमी ेशों से पूर्वी जर्मनी की सरकार को तथ्यानुसार मान्यता' (Defacto recog ition) दिलवाना चाहता था। रूस की इस कार्यवाही के विरोध में स्वभावतः मेरिका ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा ११ फरवरी १९६० को सोवियत ैनिक अधिकारियों को विरोध पत्र प्रेषित किये गये। अन्त में १४ मार्च ो सोवियत रूस इस बात पर राजी हो गया कि पश्चिमी देशों के सैनिक धिकारियों को पूर्वी जर्मनी में यात्रा के लिए जो पास दिये जायेंगे उन पर सोवियत अधिकार का क्षेत्र (Zone of Soviet Occupation) लिखा ्हेगा। १६ मार्च को अपनी अमेरिका की यात्रा में जर्मन चान्सलर आडे ौर द्वारा यह घोषणा की गई कि १६ मई का शिखर-सम्मेलन होने से पूर्व ी पश्चिमी बर्लिन में इस बात पर जनमत संग्रह किया जाय कि लोग बर्लिन ी वर्तमान स्थिति बनाये रखने के पक्ष में हैं अथवा नहीं। आडेनौर की इस ोषणा की प्रतिक्रिया रूप में दूसरे पक्ष की ओर से यह कहा गया कि इस ्रकार का जनमत संग्रह बर्लिन के दोनों भागों में हो।

स्पष्ट ही ऐसे वातावरण में, दोनों पक्षों में एक दूसरे के प्रति संदेह ावनाओं की वृद्धि हुई और वह भी ऐसे समय जबकि एकदम निकट विष्य में शिखर-सम्मेलन होने वाला था।

(ख) यू-२ विमान काण्ड

शिखर सम्मेलन के मार्ग में दूसरा और सबसे मुख्य अपशकुन यू-२ िमानकाण्ड का हुआ जिसका विस्तार से उल्लेख संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्व र्ती अध्याय में किया जा चुका है। ५ मई १९६० को सोवियत प्रधानमन्त्री े बड़े रोषपूर्ण शब्दों में घोषणा की कि १ मई १९६० को सोवियत रूस ो हवाई अड्डों की जासूसी करते हुए एक यू-२ अमेरिकन विमान को राकेट ्वारा नीचे गिरा दिया है। यह एक डकैती का कार्य है और इसके हले भी ९ अप्रैल को एक अमेरिकन वायुयान ने सोवियत आकाश का तिक्रमण किया था। अमेरिका ने पहले तो रूसी आरोपों का प्रतिवाद ्या किन्तु जब उसे विमान चालक पावर्स की जीवित अवस्था में रूस में गिरफ्तारी का पता चला तो अमेरिकन विदेश विभाग के एक वक्तव्य में स्पष्ट रूप से यह चेतावनीपूर्ण घोषणा की गई कि आकस्मिक आक्रमणों की सम्भावना कम करने के लिए ही पिछले चार वर्षों से स्वतन्त्र जगत की सीमाओं पर यू-२ विमान उड़ान करते रहे हैं।" बाद में ११ मई को स्वयं

अपनी ओर से ऐसा प्रयत्न जारी रखेगे जिससे नि:शस्त्रीकरण की समस्या का तथा शांति संधि करके जर्मनी की समस्या का समाधान हो और समूची अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति मे सुधार हो।

श्री ख्रुश्चेव की बधाई के प्रत्युत्तर में १० नवम्बर को श्री केनेडी ने लिखा कि राष्ट्रपति का पद सम्भालने के बाद उनका मुख्य कार्य "न्यायपूर्ण और स्थायी शांति" की स्थापना करना होगा।

केनेडी अमेरिका के सबसे अधिक युवा राष्ट्रपति और अद्भुत साहस तथा सूझबूझ के व्यक्ति थे। उनके नेतृत्व में अमेरिका ने अपनी विदेश नीति में अत्यन्त साहसपूर्ण क्रान्तिकारी परिवर्तन किए। अमेरिका के युद्धोत्तर इतिहास में १९६० का वर्ष असफलताओं का वर्ष रहा था जिसमें कांगो का उलझा हुआ मसला, पेरिस के शिखर सम्मेलन की विफलता, रूस में जापान में सुरक्षा संधि के विरुद्ध किये गये उपद्रव और राष्ट्रपति के दौरे का रद्द कर दिया जाना, क्यूबा में अमेरिकन सम्पत्ति का छिन जाना, अटलांटिक संधि में ढीलापन आ जाना आदि समस्यायें एक साथ उभर आयी थी। १५ जुलाई, १९६१ को राष्ट्रपति केनेडी ने स्वयं कहा कि "हम आज एक नये सीमा प्रदेश की पार पर खड़े है—यह १९६० का सीमा प्रदेश है।" उन्होंने तत्कालीन खतरों और समस्याओं पर जोर डालते हुए यह विचार व्यक्त किया कि ये खतरे काफी समय तक बने रहेंगे। ऐसा नहीं है कि निकट भविष्य में ही पूर्ण और अन्तिम सफलता की प्राप्ति हो जाय। श्री केनेडी का मत था कि ये समस्यायें न प्रथम सौ दिनों में न प्रथम हजार दिनों में न इस प्रशासन के जीवन काल में और न इस ग्रह पर हमारे जीवन काल में ही पूरी तरह समाप्त हो जायेंगी लेकिन हमें प्रारम्भ तो करना ही चाहिए।

श्री केनेडी के शासन के नवीन नीति-निर्माताओं ने वैदेशिक नीति के मूल सिद्धान्तों को लगभग अपरिवर्तनीय ही रखा लेकिन उन्हें इतना सजीव और लचीला अवश्य बना दिया कि ऐसा लगने लगा कि मानो अमरिका की विदेश नीति में नयी जान आ गयी हो। वैसे जीवन के दो विभिन्न तरीकों के बीच संघर्ष अब भी चल रहा था—एक ओर तो स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र तो दूसरी ओर थी साम्यवादी तानाशाही। राष्ट्रपति केनेडी का विश्वास था कि समझौतों और वार्तालाप के द्वारा पूर्व एवं पश्चिम के भेदों को मिटाया जा सकता है किन्तु साथ ही किसी भी अन्य उपाय से वे साम्यवाद के विरुद्ध अन्तिम विजय के बारे में भी आश्वस्त न थे। उनका कहना था कि सबसे बड़ी चुनौती तो विश्व के उस भाग द्वारा दी जा रही है जो कि शीत युद्ध के पार है। इस प्रकार नवीन प्रशासन का यह दृष्टिकोण कि विश्व में साम्यवाद के अतिरिक्त गरीबी और अन्य सामाजिक बुराइयां भी शत्रु हैं, अमेरिकन विदेश नीति का एक महत्वपूर्ण भाग था। विश्व की सारी परेशानियों का कारण केवल साम्यवादी ही नहीं है—यह सोच कर ही आर्थिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों की ओर अधिक ध्यान दिया गया। अमरिका की विदेश नीति में केनेडी प्रशासन ने यथावत सैनिक सीमाओं को बनाये रखा किन्तु दूसरे प्रकार की

सीमाओं को पार करने पर जोर दिया। सितम्बर, १९५९ में कैम्प डेविड (Camp David) में आइजनहावर तथा ख्रुश्चेव के बीच होने वाली वार्ता की भावना को केनेडी प्रशासन ने मान लिया और कहा कि अब महाशक्तियों को यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि उनके हित स्पष्ट हैं और वे अधिक दिन तक अपने पारस्परिक सम्बन्धों को धोखा और बिगड़ा हुआ नहीं रख सकते। जून १९६१ में राष्ट्रपति केनेडी वियना में श्री ख्रुश्चेव से मिलने के बाद जब अमरीका लौटे तो उन्होंने कहा कि— केवल इस प्रकार के विचार विमर्श के द्वारा ही मैं इस बारे में निश्चित हो सका कि ख्रुश्चेव यह जानते हैं कि हम वर्तमान तथा भविष्य को किस प्रकार भिन्न रूप में सोचते हैं। हमारा दृष्टिकोण पूरी तरह परस्पर विरोधी है किन्तु अन्त में आखिर हम यह तो जान गये कि हम कहां खड़े हैं।" श्री केनेडी का मत था कि दोनों गुटों के बीच अस्पष्टता संदेह व गलत फहमी के कारण अनेक परेशानियां एवं संकट उत्पन्न हो जाते हैं किन्तु विचारों के स्पष्ट आदान-प्रदान के द्वारा इन्हें मिटाया जा सकता है।

केनेडी प्रशासन ने विदेश नीति में एक बड़ा महत्वपूर्ण विकास यह किया कि साम्यवाद को सीमित करने के लिए पूरे विश्व को यहां तक कि लोह-दीवार के पीछे के प्रदेशों को भी राजनीतिक एवं आर्थिक क्रियाओं का क्षेत्र बना लिया। इससे पूर्व दोनों गुटों की सैनिक शक्ति किले बन्दी के कारण यह क्षेत्र केवल साम्यवादी देशों तक ही सीमित था।

उपरोक्त संक्षिप्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति केनेडी ने अमरीकन विदेश नीति को एक नया निखार दिया। विस्तार से उनकी विदेश नीति का विश्लेषण निम्नलिखित सन्दर्भों में किया जाना उपयुक्त होगा।

(क) मानवीय अधिकारों के सन्दर्भ में केनेडी की विदेश नीति

राष्ट्रपति केनेडी ने समय-समय पर जो प्रेरणाप्रद और प्राणवान भाषण दिये उनको पढ़ कर ही हम मानवीय अधिकारों के प्रति उनकी दृढ़ निष्ठा का अनुमान लगा सकते हैं और साथ ही इनसे ही केनेडी की विदेश नीति को प्रेरक शक्तियों का भी बहुत कुछ अनुमान लग जाता है।

अपने एक भाषण में श्री केनेडी ने कहा—'मानव अधिकार के क्रांतिकारी विचारों की मशाल जो इस सदी में जन्मी है युद्ध काल में पली है कठोर एवं कटुशांति के अनुशासन में रही है जिसे अपने प्राचीन विरासत का अभिमान है को हम कदापि छीनने नहीं दे सकते हैं।"

उन्होंने आगे कहा— हमारे प्रति सद्भावना या दुर्भावना रखने वाले प्रत्येक राष्ट्र को जान लेना चाहिए कि हम स्वतन्त्रता की सुरक्षा और सफलता को आश्वस्त बनाने के लिए कोई भी मूल्य देने कोई भी भार वहन करने किसी भी कठिनाई का मुकाबला करने किसी भी मित्र की सहायता करने अथवा किसी भी शत्रु का विरोध करने के लिए तैयार हैं।

श्री केनेडी ने फिर अपने इन आदर्श वचनों को सामने रखा— "जिन नये राष्ट्रों का हम स्वतन्त्र देशों की पांती में स्वागत करते हैं उन्हें हम इस बात का वचन देते हैं कि हम उन पर एक प्रकार के औपनिवेशिक नियंत्रण को समाप्त होने दे कर उससे भी अधिक लौह शृंखला में उन्हें नहीं फंसने देंगे। हम उनसे यह भी आशा नहीं करते कि वे सदैव हमारे दृष्टिकोण का समर्थन करें लेकिन हम यह सदैव आशा करते हैं कि वे अपनी स्वाधीनता का दृढ़ता से समर्थन करें और याद रखें कि अतीत में जिन लोगों ने मूर्खतापूर्वक शेर की पीठ पर चढ़ कर शासन किया, वे भीतर से ही समाप्त हो गये।"

२० सितम्बर १९६१ को राष्ट्रपति ने नागरिक अधिकारों के प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ में विचार-विमर्श किया और अपना यह विचार स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि यह समस्या ऐसी है जो संयुक्त राज्य अमरीका की सीमा से भी आगे निकल गयी है। उन्होंने कहा—

" संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा पत्र के अधीन इस संस्था के सदस्यों पर मानव-अधिकार बढ़ाने तथा उनका समादर करने का उत्तरदायित्व है। अगर किसी बौद्ध पुजारी को पगोडा से निकाल दिया जाता है यदि एक यहूदी पूजास्थल बन्द कर दिया जाता है अगर एक प्रोटेस्टेंट चर्च अपना मिशन नहीं खोल सकता या एक पादरी को अवश्य छिपना पड़ता है या गिरजा घर में पूजा के लिए आई भीड़ पर बम वर्षा की जाती है तो उन अधिकारों का समादर नहीं होता। संयुक्त राज्य अमरीका संसार में कहीं भी स्वयं अपने देश में भी—जाति या वर्ण के आधार पर भेदभाव या अत्याचार किये जाने का विरोधी है। इन बातों को अपने देश से सुधारने के लिए हम प्रयास कर रहे हैं।

कानून बना कर तथा प्रशासनिक कदम उठा कर नैतिक तथा कानूनी बंधनों के द्वारा मेरी सरकार ने अपने राष्ट्र को उस भेदभाव से मुक्त करने का गौरवपूर्ण प्रयास शुरू किया है जो शिक्षा, आवास, परिवहन नौकरी तथा सरकारी सेवाओं आमोद प्रमोद तथा उठने बैठने के सार्वजनिक स्थानों पर एक लम्बे अरसे चला आ रहा है और इसीलिए इस स्थान या अन्य किसी माध्यम से हम जातीय या धार्मिक अन्याय की निन्दा करने से नहीं हिचकते चाहे वह हमारे मित्र द्वारा किया जा रहा हो चाहे शत्रु द्वारा।

" मुझे आशा है कि न केवल हमारा ही राष्ट्र अपितु अन्य बहुजातीय समाजों में भी औचित्य तथा न्याय का यह मापदण्ड मान्य होगा। हम वर्ण भेद तथा किसी भी रूप में मानव-अत्याचार के विरोधी हैं। हम काले अमरीकियों को अधिकार देने का समर्थन इसलिए नहीं करते कि श्वेत अमरीकियों को निकाल दिया जाय। हमारी इच्छा तो यही है कि सभी अमरीकियों को कानून के समक्ष समान सुरक्षा प्राप्त हो और चूंकि मानव अधिकार सर्वव्यापक हैं इसलिए यह संस्था भी उन समस्याओं से दूर रह नहीं

रह सकती जब किसी सदस्य राष्ट्र द्वारा उन अधिकारों का दुरुपयोग या हनन किया जा रहा हो।

संयुक्त राष्ट्र संघ शांति एवं युद्ध तथा सहअस्तित्व के प्रति केनेडी की विदेश नीति

राष्ट्रपति के पद पर आसीन होते ही श्री केनेडी ने संयुक्त राष्ट्र संघ के समर्थन में घोषणा की—

'जिस युग में युद्ध के साधनों ने शांति के साधनों को दौड़ में पीछे छोड़ दिया है संयुक्त राष्ट्र संघ ही हमारी अन्तिम श्रेष्ठतम आशा है। सार्वभौम सत्ता सम्पन्न राष्ट्रों की इस विश्व महासभा का समर्थन करने की हम नये सिरे से प्रतिज्ञा करते हैं कि हम इसे केवल वाक्-युद्ध का अखाड़ा न बनने देंगे तथा दुर्बल राष्ट्रों की रक्षा करने वाली इसकी ढाल को मजबूत बनायेंगे और उस क्षेत्र का विस्तार करेंगे जिसमें इसके आदेशों का पालन हो।

उन्होंने आगे कहा—

"किन्तु शांति घोषणा-पत्रों तथा प्रतिज्ञा-पत्रों में ही नहीं रहती अपितु वह सभी व्यक्तियों के हृदयों तथा मस्तिष्कों में रहती है और आज के विश्व में कोई भी अधिनियम कोई समझौता संधि अथवा संगठन शांति को तब तक स्थायी नहीं बना सकता जब तक कि उसे सभी देशों के लोगों का पूर्ण समर्थन नहीं मिलता तथा वे उसके प्रति अपने को पूर्णतः अर्पित नहीं करते। इसलिए हम अपनी आशायें घोषणा पत्रों और कागजों पर केन्द्रित न रखें वरन् हमें शांति की स्थापना के लिए प्रयास करना चाहिए। सभी लोगों में अन्दर शांति की इच्छा हो शांति स्थापनार्थ काम करने की भावना दिलों तथा दिमागों में होनी चाहिए। मुझे विश्वास है कि हम ऐसा कर सकते हैं। मुझे विश्वास है कि मानव के भविष्य की समस्या मानव की पहुंच से बाहर नहीं।"

शांति के लिए श्री केनेडी की आशा उनके भाषणों में निरन्तर प्रदर्शित होती थी। १० जून १९६३ को उन्होंने स्पष्ट शब्दों में बताया कि पृथ्वी का सबसे महत्वपूर्ण विषय है 'विश्व शांति'। उन्होंने कहा—

"किस प्रकार की शांति से मेरा आशय है? किस प्रकार की शांति हम प्राप्त करना चाहते हैं? वह अमेरिकन युद्ध अस्त्रों से विश्व पर थोपी हुई अमरीकी शांति नहीं होगी। न वह कब्र की शांति या दास की सुरक्षा होगी। मैं असली शांति की बात कह रहा हूं। इस प्रकार की शांति जिससे पृथ्वी पर जीवन जीने योग्य बनता है ऐसी शांति जिससे राष्ट्रों तथा व्यक्तियों को विकास का अवसर मिलता है आशायें पूरी होती हैं और जिसमें वे अपने बच्चों के लिए अच्छी जिन्दगी का निर्माण कर सकते हैं—वह शांति केवल अमेरिकनों के लिए नहीं वरन् समस्त स्त्री-पुरुषों के लिए होगी—वह शांति हमारे युग के लिए ही नहीं वरन् सार्वकालिक शांति होगी।"

शान्ति के पक्ष में युद्ध के भयानक चित्र को खींचते हुए, लिंकन के बाद सम्भवतः अमेरिका के सबसे महान मानवतावादी राष्ट्रपति ने कहा—

"मैं शांति की बात युद्ध के नये स्वरूप के कारण कर रहा हूं। आज के युग में समग्र युद्ध का कोई अर्थ नहीं जब बड़ी शक्तियां अपनी-अपनी विशाल तथा अपेक्षाकृत अमोघ परमाणु शक्ति बनाये रहें और उस परमाणु शक्ति का प्रयोग किए बिना आत्मसमर्पण करने से इन्कार कर दें। आज के युग में युद्ध का कोई अर्थ नहीं जब एक परमाणु अस्त्र की शक्ति द्वितीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की वायु सेनाओं द्वारा प्रयुक्त समस्त बमों की शक्ति से दस गुनी होती है। इस युग में युद्ध का कोई अर्थ नहीं जबकि दोनों पक्षों द्वारा प्रयुक्त परमाणु बमों से उत्पन्न घातक विषों को वायु व पानी और मिट्टी तथा बीज समस्त भूमण्डल में फैला देंगे तथा जिनका असर उन पर भी पड़े या जिनका अभी जन्म नहीं हुआ है।

श्री कनेडी ने सोवियत रूस को शांति और निःशस्त्रीकरण के प्रति अन्य अमरीकनों के समान देखा नहीं बल्कि उनके रवैये को विचारपूर्ण बताते हुए शांति के लिए उनके भावों को उभारा। उन्होंने कहा—

"कुछ लोग कहते हैं कि विश्व-शांति विश्व-कानून अथवा विश्व में निःशस्त्रीकरण की बात करना बेकार ही है और यह तब तक बेकार ही रहेगा जब तक सोवियत सरकार अधिक विचारपूर्ण रवैया नहीं अपनाती। मुझे आशा है सोवियत सरकार का रवैया विचारपूर्ण है। मुझे विश्वास है कि हम उन्हें यह रवैया अपनाने में मदद कर सकते हैं। लेकिन मेरा यह विश्वास भी है कि हमें एक व्यक्ति तथा एक राष्ट्र के रूप में अपने रवैये पर भी फिर से गौर करना चाहिए, क्योंकि उनके रवैये की तरह हमारा रवैया भी आवश्यक है।"

राष्ट्रपति केनेडी शांति के व्यावहारिक अनुगामी थे। उनकी विदेश नीति को समझने के लिए उनका यह दृष्टिकोण बड़ा महत्व रखता है कि "सामाजिक शांति के समान विश्व शांति के लिए यह जरूरी नहीं है कि हर व्यक्ति अपने पड़ोसी को प्यार करे। इसके लिए सिर्फ इतना ही आवश्यक है कि वे एक दूसरे को बर्दाश्त करते हुए रहें और अगर कोई झगड़े उठ खड़े हों तो उनके उपयुक्त और शांतिपूर्ण निपटारे के लिए प्रस्तुत रहें।

राष्ट्रपति को यह विश्वास था कि संयुक्त राज्य अमेरिका को सोवियत संघ के प्रति अपने दृष्टिकोण पर नये सिरे से विचार करना चाहिए क्योंकि उनकी दृष्टि में यह सोचना निराशापूर्ण था कि रूसी वैसा ही सोचते या विश्वास करते हैं जैसाकि उनके प्रचारकर्ता लिखते हैं। सोवियत रूस और साम्यवाद की प्रणाली के प्रति अमरीकनों में घृणा के प्रसार को केनेडी उचित नहीं समझते थे। उनका कहना था कि दूसरे पक्ष का विकृत तथा निराशापूर्ण चित्र नहीं देखना चाहिए और न ही संघर्ष को अवश्यम्भावी मानना चाहिये।

सहअस्तित्व की राष्ट्रपति केनेडी की कामना वस्तुतः एकदम हार्दिक और उत्कट थी। इस सम्बन्ध में उनके ये शब्द पठनीय हैं—

"कोई भी सरकार या सामाजिक प्रणाली इतनी बुरी नहीं है कि उसकी जनता को सद्गुणों से हीन ही समझा जाय। हम अमेरिकियों के लिए साम्यवाद वैयक्तिक स्वाधीनता एवं सम्मान के पूर्ण अस्तित्व का बोधक है। लेकिन हम इसके बाद भी रूसी लोगों की विज्ञान तथा अन्तरिक्ष-विद्या आर्थिक एवं औद्योगिक विकास तथा संस्कृति एवं साहस पूर्ण कार्यों के लिए प्रशंसा करते हैं।

हमारे दोनों देशों की जनता के बीच जो बहुत सी बातें मिलती जुलती हैं उनमें कोई भी इतनी शक्तिशाली नहीं है जितनी हम दोनों के लिए युद्ध के प्रति घृणा है। प्रमुख विश्वशक्तियों में एक तरह से यह अपूर्व बात ही है कि हमारा एक दूसरे से कभी युद्ध नहीं हुआ।" पुनश्च

"अगर अब फिर कभी महायुद्ध छिड़ा तो चाहे जैसे हो हमारे दोनों देश ही उस युद्ध के केन्द्र बन जायेंगे। विचित्र संयोग ही नहीं किन्तु वस्तु स्थिति यही है कि दो सर्वाधिक शक्तिशाली राष्ट्र ही विनाश के सर्वाधिक खतरे में हैं। युद्ध छिड़ने पर पहले चौबीस घण्टों के अन्दर ही जो कुछ हमने बनाया है या जिसके लिए हम प्रयत्नशील रहे हैं, वह सारा नष्ट भ्रष्ट हो जायगा।

और शीत युद्ध तक में जिसका भार और खतरा बहुत से देशों को जिनमें इस राष्ट्र के घनिष्ठतम मित्र राष्ट्र भी शामिल हैं—उठाना पड़ता है हमारे दोनों देशों को सबसे अधिक भार उठाना पड़ता है क्योंकि दोनों ही विशाल धनराशी शस्त्रास्त्र बनाने पर खर्च करते हैं जबकि इस राशि को अज्ञान गरीबी और बीमारी दूर करने पर लगा कर बेहतर ढंग से खर्च किया जा सकता है। हम दोनों ही एक खतरनाक कुचक्र में पड़ गये हैं जिसमें एक देश के सन्देह से दूसरे देश को सन्देह होता है और इधर नये बने शस्त्रास्त्रों के कारण दूसरी तरफ जवाबी हथियार बनने लगते हैं।

"संक्षेप में संयुक्त राज्य अमरिका और उसके मित्र राष्ट्र तथा सोवियत संघ दोनों का ही न्यायपूर्ण और वास्तविक शांति स्थापित होने अथवा शस्त्रास्त्र प्रतियोगिता रोकने में गहरी दिलचस्पी है। इस उद्देश्य के लिए किए गए समझौते सोवियत संघ के लिए जितने भले हैं उतने हमारे लिए भी और उन संधियों के किये गये वचनों को पालने तथा संधि दायित्वों को स्वीकार करने के लिए घोरतम विरोधी राष्ट्र पर भी विश्वास किया जा सकता है। हां वे उन्हीं संधि दायित्वों को मानेंगे जो उनके अपने हित में हों।

इसलिए हमें अपने मतभेदों की तरफ से आंखें नहीं फेर लेनी चाहिए पर इसके साथ ही हमें अपने समान हितों की तरफ भी ध्यान देना चाहिए जिनसे उन मतभेदों को दूर किया जा सकता है और अगर अब हम आपसी मतभेद दूर नहीं कर सकते तो हम कम से कम विश्व को विविधताओं के लिए सुरक्षित रख सकने में मदद तो कर सकते हैं क्योंकि अगर विश्लेषण करके

देखें तो हम अन्त में पाते हैं कि हम सबों का सबसे आधार भूत समान तत्व यही है कि हम सब इसी ग्रह के निवासी हैं। हम एक ही वायुमण्डल में साँस लेते हैं। हमारी सभी की कामना है कि हमारे बच्चों का भविष्य उज्ज्वल बने और हम सब नश्वर शरीरधारी हैं।

(घ) पुराने मित्रों के प्रति वफादारी का वचन

राष्ट्रपति कैनेडी ने यद्यपि सोवियत रूस एवं साम्यवादी व्यवस्था के प्रति सहअस्तित्व का नारा बुलन्द किया और उनके प्रति सहयोग की नीति अपनाते हुए भी उनसे सचेत रहने व विश्व में आर्थिक गरीबी को मिटा कर साम्यवाद का सामना या अवरुद्ध करने के प्रति सक्रियता बनाये रखने की नीति का अनुसरण किया वहाँ वफादार मित्रों के प्रति निष्ठा देने का वायदा भी किया और उसे निभाया भी। उन्होंने नाटो (NATO) का आर्थिक एवं राजनैतिक आधार मजबूत करने की ओर महत्त्वपूर्ण कदम उठाये और जर्मनी के प्रश्न पर झुकने से इन्कार कर दिया। जून १९६१ में ख्रुश्चेव ने पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक संधि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी और कहा कि इससे अमरीका ब्रिटेन तथा फ्रांस के लिये पश्चिमी बर्लिन में जाने के अधिकारों की प्रत्याभूति (Guarantee) करने वाले चतु: शक्ति समझौते समाप्त हो जायेंगे। किन्तु कनेडी ने जहाँ सहिष्णुता मैत्री और सहयोग का आदर करने के साथ ही दृढ़ता व धैर्य का परिचय भी दे सोवियत धमकी का जवाब विवेक पूर्ण अस्वीकृति में दिया। पश्चिमी शक्तियों ने रूस को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि रूस की एक पक्षीय कार्यवाही उन्हें किसी भी अवस्था में मान्य नहीं होगी। अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों की इस दृढ़ता का परिणाम यह हुआ कि रूस ने अपनी धमकी को कार्यान्वित नहीं किया।

(च) क्यूबा का संकट और कनेडी की विदेश नीति

राष्ट्रपति कनेडी के कार्यकाल में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं न केवल सम्पूर्ण अमेरिकन राष्ट्र बल्कि सम्पूर्ण विश्व को झकझोर देने वाली घटना क्यूबा की हुई और इस घटना में कनेडी की विदेशनीति और दृढ़ता ने अपनी सफलता की दुन्दुभि बजाई।

क्यूबा का टापू संयुक्त राज्य अमेरिका के दक्षिणपूर्व में वेस्टइण्डीज का सबसे बड़ा टापू है जो प्रारम्भ में काफी समय तक अमेरिका की नीति का समर्थक था। परन्तु २ जून १९५९ को फिडेल कास्ट्रो (Fidel Castro) के नेतृत्व में एक क्रांति हुई जिसके परिणामस्वरूप स्थापित शासन साम्यवादी रूस का समर्थक और अमेरिका विरोधी बन गया। यद्यपि कास्ट्रो ने साम्यवाद से अपना किसी प्रकार का सम्बन्ध होने से इन्कार किया और क्यूबा की जनता को राजनीतिक स्वाधीनता तथा सामाजिक न्याय प्रदान करने का वचन दिया किन्तु जैसे-जैसे समय बीतता गया कास्ट्रो सरकार का साम्यवादी रूस की ओर झुकाव स्पष्ट होता गया।

अक्टूबर, १९६२ में क्यूबा पर एक ऐसा संकट उत्पन्न हुआ जिससे

रूस एवं अमेरिका के मध्य खुले संघर्ष की सम्भावना प्रतीत होने लगी। इस संकट का कारण यह बना कि ३ सितम्बर १९६२ को सोवियत रूस द्वारा यह घोषणा की गई कि वह क्यूबा को साम्राज्यवादियों से अपनी रक्षा हेतु अस्त्रशस्त्रों की पूर्ण सहायता प्रदान करे। इसके जवाब में सितम्बर, को ही अमेरिकन राष्ट्रपति ने एक वक्तव्य प्रकाशित किया कि उनकी सरकार को यह सूचना मिली है कि सोवियत रूस ने क्यूबा को २५०० मील तक मार करने वाले विमान भेदी प्रक्षेपणास्त्र इन्हें संचालित करने वाले राडार १००० मील तक प्रक्षेपणास्त्र फेंकने वाली पनडुब्बियाँ तथा रॉकेट आदि प्रदान किये हैं जिससे अमेरिका की सुरक्षा को भारी खतरा पैदा हो गया है। ७ सितम्बर को संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया कि आवश्यकता पड़ने पर वह डेढ़ लाख रिजर्व सैनिकों को सैनिक सेवा के लिए बुला सकते हैं।

अमेरिका की चेतावनी के बावजूद क्यूबा में रूसी अस्त्रास्त्र पहुंचते रहे। १६ अक्टूबर, १९६२ को श्री कनेडी ने क्यूबा की पूरी तरह हवाई जांच पड़ताल का आदेश दे दिया। इस जांच-पड़ताल से पुष्टि हो गई कि क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्रों का भारी संग्रह हो रहा है। १८ अक्टूबर को स्वयं राष्ट्रपति सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको से मिले। उन्होंने ग्रोमिको से हुई अपनी वार्ता में क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्र अड्डों का सीधा उल्लेख न करके १३ सितम्बर को पत्रकार-सम्मेलन में दिया गया अपना यह वक्तव्य पढ़ कर सुनाया कि—"अगर क्यूबा में कभी भी साम्यवादियों का शस्त्र भण्डार इतना हो जाय कि वह किसी प्रकार भी हमारी (अमेरिका की) सुरक्षा के लिये खतरा या बाधक बन जाय या क्यूबा कभी भी सोवियत संघ के आक्रमण का महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया तो उस अवस्था में यह देश अपनी सुरक्षा तथा अपने मित्रराष्ट्रों की सुरक्षा के लिए वह सब कार्यवाही करेगा जो उसे करनी चाहिए।" सोवियत विदेश मंत्री ने प्रत्युत्तर में राष्ट्रपति को बताया कि क्यूबा में जो भी अस्त्रशस्त्र हैं वे सर्वथा उसकी अपनी रक्षा के लिए हैं। परन्तु राष्ट्रपति कनेडी खतरे से अनभिज्ञ न थे। २२ अक्टूबर को उन्होंने क्यूबा के इस संकट पर अपने कार्यकाल का सर्वाधिक महत्वपूर्ण भाषण अमेरिकन जनता के नाम रेडियो पर दिया। भाषण राष्ट्रपति कनेडी की सोवियत रूस के और अन्य देशों के प्रति विदेश नीति को इंगित करने वाला एक अत्यन्त महत्वपूर्ण भाषण था। अपने इस भाषण में उन्होंने क्यूबा में की जा रही सोवियत कार्यवाही को अत्यन्त खुले और निश्चित शब्दों में प्रकट किया और साथ ही इस बात को भली प्रकार बता दिया कि अमेरिका की विदेश नीति में सुरक्षा का तत्व कितना जबर्दस्त है और मैत्री तथा सहयोग का हाथ बढ़ाते हुए भी अमेरिका विदेश नीति में किस हद तक सैनिक कार्यवाही का प्रश्रय ले सकता है। श्री कनेडी का यह भाषण इतना ऐतिहासिक महत्वपूर्ण और क्यूबा संकट पर पूर्ण प्रकाश डालने वाला था कि उसे हम अधिकांश में ज्यों का त्यों उद्धृत कर रहे हैं—

"...इस सरकार ने अपने वचन के अनुसार क्यूबा द्वीप में सोवियत सैनिक तैयारी पर कड़ी निगरानी रखी है। पिछले सप्ताह में इस बात के अचूक प्रमाण देखने को आये हैं कि उस बन्दी द्वीप में बहुत से आक्रामक

प्रक्षेपणास्त्र-केन्द्र इस समय बनाये जा रहे हैं। इन अड्डों की स्थापना का उद्देश्य पश्चिमी गोलार्द्ध पर चोट करने के लिये परमाणु प्रहार की शक्ति प्राप्त करने के अलावा कुछ और नहीं हो सकता।

गत मंगलवार (१६ अक्टूबर) को प्रातः नौ बजे जब इस आशय की पक्की प्रारम्भिक सूचना मिली तो मैंने सर्वेक्षण एवं निगरानी करने वाले दस्तों को काम तेज करने का आदेश दिया। इसके फलस्वरूप प्रारम्भिक सूचना की पुष्टि होने तथा प्राप्त प्रमाणों को तोलने और अपनी भावी कार्यवाही के विषय में निश्चय कर लेने के बाद मेरी सरकार यह आवश्यक समझती है कि आप लोगों को इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक बताया जावे।

इन प्रक्षेपणास्त्र अड्डों पर दो प्रकार की तैयारी है। इनमें से कुछ अड्डों पर मध्यम दूरी तक मार करने वाले प्रक्षेपणास्त्र हैं जो एक हजार समुद्री मील (१८६० किलोमीटर) तक परमाणु अस्त्र फेंक सकते हैं। संक्षेप में कहें तो इनमें से प्रत्येक प्रक्षेपणास्त्र वाशिंगटन डी सी, पनामा नहर, केपकैनेवेरल (अब केप कैनेडी) मैक्सिको शहर या संयुक्त राज्य अमरीका के दक्षिण भाग मध्य अमरीका या कैरीबियन सागर के किसी अन्य शहर पर प्रहार कर सकता है।

अन्य अड्डे अभी बन कर तैयार नहीं हुए हैं जो इस प्रकार के बनाये जा रहे हैं कि उनसे मध्यम दूरी के अड्डों की अपेक्षा दूनी दूरी तक मार की जा सके और इस प्रकार इन अड्डों से पश्चिमी गोलार्द्ध के सभी प्रमुख शहरों पर हडसन की खाड़ी कनाडा से लेकर दक्षिण में लीमा पेरू तक प्रहार किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऐसे जेट बमवर्षक पेटियों से निकाले तथा क्यूबा में संयोजित किए जा रहे हैं जो परमाणु-अस्त्र ले जाकर कहीं भी गिरा सकते हैं। इनके लिए आवश्यक हवाई अड्डे भी तैयार किये जा रहे हैं।

क्यूबा को इस तेजी के साथ महत्वपूर्ण सामरिक अड्डा बनाने वाले बड़ी बड़ी संख्या में दूर तक मार करने वाले आकस्मिक रूप से सामूहिक विनाश के अस्त्रास्त्रों के होने के कारण उत्तरी व दक्षिण अमरीका की शान्ति तथा सुरक्षा को स्पष्ट खतरा पैदा हो गया है। —यह कार्यवाही सोवियत प्रवक्ताओं के द्वारा सार्वजनिक तौर पर तथा वैसे बार-बार दिये इन आश्वासनों के प्रतिकूल है कि क्यूबा में शस्त्रास्त्र-संग्रह सर्वथा रक्षात्मक दृष्टि से ही किया जायगा और सोवियत संघ को अन्य राष्ट्र की भूमि पर सामरिक महत्व के ये प्रक्षेपणास्त्र रखने की न तो आवश्यकता है और न ऐसी इच्छा।

इस तमाम कार्य का आकार इतना बड़ा है कि उसी से यह स्पष्ट है कि इसकी योजना कुछ महीनों से बनाई गई है। फिर भी गत मास ही जब मैंने पृथ्वी से पृथ्वी पर चलाये जाने वाले प्रक्षेपणास्त्रों तथा विमान विध्वंसक प्रक्षेपणास्त्रों का अन्तर स्पष्ट कर दिया तो सोवियत सरकार ने ११ सितम्बर को सार्वजनिक रूप से, उन्हीं शब्दों में कहा कि—"क्यूबा को जो शस्त्रास्त्र

तथा सैनिक सामग्री भेजी गई है, वह विशुद्ध रक्षात्मक है।" यही नहीं सोवियत सरकार ने कहा— 'सोवियत सरकार को अपने शस्त्रास्त्र किसी भी प्रतिशोधात्मक कार्यवाही के लिए किसी भी अन्य देश की भूमि उदाहरणार्थ क्यूबा में भेजने की आवश्यकता नहीं है।" मैं फिर सोवियत सरकार के शब्दों को उद्धृत करूंगा जिनमें उन्होंने कहा था कि— सोवियत संघ के पास इन परमाणु-अस्त्रों के छोड़ने के लिए इतने शक्तिशाली राकेट हैं कि उसे सोवियत संघ की सीमाओं से बाहर किसी भी स्थान की खोज करने की आवश्यकता ही नहीं है।" ये वक्तव्य सर्वथा झूठे थे।

गत बृहस्पतिवार को ही जब मेरे हाथ में इन आक्रामक अड्डों को तेजी से खड़ा करने के प्रमाण आ चुके थे सोवियत विदेश मन्त्री ग्रोमिको ने मुझे बताया था कि उनकी सरकार ने उन्हें एक बार फिर स्पष्ट करने के लिए निर्देश दिया है और उनकी सरकार ऐसा कह भी चुकी है कि क्यूबा को सोवियत सहायता "उन्हीं के शब्दों में क्यूबा की रक्षात्मक क्षमता बनाने के ही एक मात्र उद्देश्य से दी जा रही है," और फिर उन्हीं के शब्दों में "सोवियत विशेषज्ञ क्यूबा के राष्ट्रजनों को रक्षात्मक उपकरणों के उपयोग का जो प्रशिक्षण दे रहे हैं वह भी किसी रूप में आक्रामक नहीं है और अगर इसके विपरीत कभी हुआ" श्री ग्रोमिको ने आगे कहा "तो सोवियत सरकार ऐसी सहायता कभी नहीं देगी।" उनका यह कथन भी सत्य नहीं था।

न तो संयुक्त राज्य अमेरिका और न विश्व का राष्ट्र-समुदाय किसी राष्ट्र द्वारा चाहे वह राष्ट्र बड़ा हो चाहे छोटा इस प्रकार जान-बूझकर धोखा देने तथा आक्रामक खतरा उपस्थित करने को सहन करेगा। अब हम उस विश्व में नहीं रहते जब शस्त्रास्त्रों से वास्तव में प्रहार ही उस राष्ट्र की सुरक्षा के लिए अधिकतम खतरा उपस्थित करता है। अब परमाणु शस्त्रास्त्र इतने विध्वंसक हैं तथा प्रक्षेपास्त्र इतनी तेजी से काम करने वाले होते हैं कि उनके उपयोग की सम्भावना बढ़ने या उनका स्थान बदलने के साथ ही शान्ति को निश्चित खतरा उपस्थित हो सकता है।

इस तथ्य को समझते हुए सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमरीका ने विनाशकारी परमाणु शस्त्रास्त्रों को बड़ी सावधानी से रखा हुआ है तथा कभी-कभी यथास्थिति को बदलने नहीं दिया है जिससे यह निश्चित है कि जब तक गम्भीर चुनौती नहीं मिलेगी तब तक उनका उपयोग न होगा। हमारे अपने परमाणु प्रक्षेपास्त्र गुप्त रूप से या धोखा देकर किसी अन्य राष्ट्र की भूमि पर नहीं भेजे गये हैं और द्वितीय महायुद्ध के बाद से सोवियत रूस से भिन्न हमारा इतिहास [illegible] है कि किसी राष्ट्र को अपने [illegible] प्रणाली किसी अन्य राष्ट्र की जनता पर लादने की हमारी इच्छा कभी नहीं रही है। फिर भी अमरीकी नागरिक सोवियत रूस के अन्दर अथवा पनडुब्बियों में स्थापित रूसी प्रक्षेपास्त्रों की छाया में रहने के अभ्यस्त हो चुके हैं।

इस दृष्टि से क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्रों का होना पहले से विद्यमान स्पष्ट खतरे को और बढ़ाता है हालांकि इस प्रसंग में ध्यान रखने की बात यह है कि दक्षिण अमरीका के राष्ट्रों को कभी भी संभावित परमाणु-खतरा उपस्थित नहीं हुआ था।

लेकिन संयुक्त राज्य अमरीका तथा पश्चिमी गोलार्द्ध के देशों के साथ विशेष तथा ऐतिहासिक सम्बन्ध रखने के लिए विख्यात देश के अन्दर गुप्त रूप से तेज़ी के साथ कम्युनिस्ट प्रक्षेपणास्त्रों का असाधारण रूप से बड़ा संग्रह सोवियत रूस के आश्वासनों तथा अमरीकियों और इस गोलार्द्ध की नीति के प्रतिकूल है। सोवियत प्रदेश से पहली बार खतरनाक हथियार रखने का यह आकस्मिक एवं अति गम्भीर निर्णय जान-बूझकर भड़काने वाला है और यथास्थिति में अनुचित परिवर्तन है जिसे अगर हमारे साहस एवं हमारी बात पर मित्रों या शत्रुओं को विश्वास करना है तो यह देश कभी स्वीकार नहीं कर सकता।

बीसवीं सदी के चौथे दशक ने हमें एक स्पष्ट पाठ सिखा दिया है और वह पाठ यह है कि अगर आक्रामक व्यवहार को बिना रोके अथवा बिना चुनौती दिये छोड़ दिया जाय तो अन्तत उसका परिणाम युद्ध होता है। यह राष्ट्र युद्ध का विरोधी है। हम अपने वचन के सच्चे हैं अत हमारा एकमात्र उद्देश्य यह होना चाहिये कि इन प्रक्षेपणास्त्रों को इस या किसी अन्य देश के विरुद्ध प्रयोग किये जाने से रोकने तथा पश्चिमी गोलार्द्ध से इन्हें हटवाना या नष्ट कर देना।

हमारी नीति धर्म तथा विवेक की रही जो एक शान्तिप्रिय एवं शक्तिशाली राष्ट्र को शोभा देता है तथा जिससे विश्वभर में मैत्री स्थापित होती है। हम अपने मुख्य उद्देश्यों से केवल भड़काने में आकर या किसी के उन्मादपूर्ण कार्यों से हट कर अपना रास्ता बदलने के लिए दृढ़संकल्प हैं। वर्तमान ऐसे कार्यवाही करने की आवश्यकता है जो इस दिशा में किया जा रहा है और ये कार्यवाहियाँ तो केवल शुरुआत होंगी। हम न तो बिना सोचे-समझे और न अनावश्यक रूप से विश्वव्यापी परमाणु-युद्ध का खतरा उठायेंगे जिसमें विजय का फल केवल मुट्ठीभर राख ही होगा लेकिन अगर उस खतरे का सामना करना आवश्यक हो ही गया तो हम उससे कदम भी पीछे न हटायेंगे।

इसलिए अपनी खुद की तथा समूचे पश्चिमी गोलार्द्ध की सुरक्षा के लिए तथा संविधान में मुझे सौंपे गये अधिकार, जिसके प्रति कांग्रेस के प्रस्ताव में सहमति प्रकट की गई है का उपयोग करते हुए मैंने निम्नलिखित प्रारम्भिक कदम फौरन उठाने के निर्देश दिये हैं—

इस आक्रामक शस्त्र भण्डार को न बनने देने हेतु क्यूबा को जहाजों द्वारा आक्रामक सैनिक-सामग्री का भेजना एकदम रोकने के लिए प्रतिबन्ध

लगाये जा रहे हैं। किसी भी देश का जहाज जो क्यूबा जा रहा हो उसमें अगर आक्रमण में प्रयोग हो सकने वाले अस्त्रशस्त्र होंगे तो उसे क्यूबा न जाने दिया जायेगा वापस जाने पर विवश किया जायगा। अगर आवश्यक होगा तो यह प्रतिबन्ध अन्य प्रकार के माल तथा अन्य प्रकार के वाहकों पर भी लागू कर दिया जायगा। लेकिन इस समय हम जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुएँ जाना नहीं रोक रहे जैसा कि सोवियत रूस ने १९४८ में बर्लिन के घेरे के समय किया था।

मैंने क्यूबा तथा उसकी सैनिक तैयारी पर कड़ी तथा और अधिक निगरानी के आदेश दे दिये हैं। ओ० ए० एस (अमरीकी राज्य संगठन) के विदेश मन्त्रियों ने ६ अक्टूबर की विज्ञप्ति में इस गोलार्द्ध के इस प्रकार के मामलों पर गोपनीयता बरतना स्वीकार न किया था। अगर यह आक्रामक सैनिक तैयारियाँ जारी रहीं और इस प्रकार गोलार्द्ध को खतरा बढ़ गया तो और कदम उठाना औचित्यपूर्ण हो जायगा। मैंने सेनाओं को किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहने को कह दिया है और मुझे विश्वास है कि क्यूबा की जनता तथा वहाँ काम कर रहे सोवियत टैक्नीशियनों की भलाई की दृष्टि से इस खतरे को बनाए रखने से उत्पन्न होने वाले दुष्परिणामों को समझा जायगा।

......इस राष्ट्र की यह नीति होगी कि क्यूबा से पश्चिमी गोलार्द्ध के किसी भी राष्ट्र के विरुद्ध परमाणुविक मिसाइल का छोड़ा जाना स्वयं अमरीका पर सोवियत संघ का आक्रमण माना जायगा और सोवियत संघ का उसकी जवाबी कार्यवाही भुगतनी पड़ेगी।

आज रात अमरीकी राज्य संगठन के परामर्शदाता को एक आवश्यक बैठक हम बुला रहे हैं ताकि इस गोलार्द्ध की रक्षा के लिए उपस्थित इस खतरे पर विचार किया जा सके। ...विश्व भर में अपने अन्य मित्र राष्ट्रों को भी सावधान कर दिया गया है।

संयुक्त राष्ट्र संघ घोषणा-पत्र के अधीन हम आज रात सुरक्षा परिषद की आपत्कालीन बैठक अविलम्ब बुलाने के लिए कह रहे हैं ताकि विश्व-शांति के लिए सोवियत रूस के इस नये खतरे के विरुद्ध कार्यवाही की जा सके। हमारा प्रस्ताव यह होगा कि संयुक्त राष्ट्र के प्रेक्षकों की देखरेख में सभी आक्रमणकारी हथियार फौरन समाप्त कर दिया जाय या वापस ले जाया जाए, तभी क्यूबा पर हमारा प्रतिबन्ध हटाया जाएगा।

मैं प्रधान मन्त्री श्री ख्रुश्चेव से अनुरोध करता हूं कि वे विश्व-शान्ति तथा हमारे दोनों देशों के बीच स्थायी सम्बन्ध के लिए उपस्थित किए इस गुप्त और बेसमझे पूर्ण .... खतरे को रोकें तथा समाप्त करें। मैं उनसे यह अनुरोध भी करता हूं कि वे विश्व को अपने अधीन करने के इस मार्ग का अनुसरण करना बन्द कर दें तथा घातक अस्त्रशस्त्र होड़ समाप्त करने एवं मानव के इतिहास की धारा बदलने के ऐतिहासिक प्रयास में हमारे साथ

मिल जाए । इस समय उनको यह मौका है कि वे विश्व को विनाश के कगार से वापस ले आएं । ऐसा वे अपनी सरकार के इस वचन का पालन करके कर सकते हैं कि उसे अपने देश के भूभाग से बाहर कहीं भी प्रक्षेपास्त्र लगाने की आवश्यकता नहीं है । ऐसा वे क्यूबा से इन हथियारों को वापस लेकर, ऐसी कोई कारवाई न करके जिससे वर्तमान संकट फैले या गुरुता बढ़े और फिर शांतिपूर्ण तथा स्थायी समाधानों की खोज में हमारा साथ देकर कर सकते हैं ।

अन्त में मैं क्यूबा के दास बने लोगों से कुछ शब्द कहना चाहता हूं जिनके लिए इस भाषण को विशेष रेडियो सुविधाओं द्वारा उस ओर प्रेषित किया जा रहा है । मैं आपके मित्र के रूप में एक ऐसे व्यक्ति के रूप में बोल रहा हूं जिसे आपकी पितृभूमि से आपके सदृश स्नेह का पता है तथा जो सभी के लिए स्वतंत्रता तथा न्याय प्राप्त करने के लिए आपकी तरह ही आकांक्षा रखता है । मैंने तथा अमरीकी जनता ने अत्यन्त दुःख के साथ देखा है कि किस प्रकार आपकी राष्ट्रीय क्रांति को धोखा दिया गया है तथा किस प्रकार आपकी पितृभूमि विदेशी बन्धनों में जकड़ दी गई है । अब आपके नेता वे क्यूबाई नेता नहीं हैं जो क्यूबा के आदर्शों से अनुप्राणित हों । वे तो उस अन्तर्राष्ट्रीय षड़यन्त्र की कठपुतली तथा एजेन्ट बन गये हैं जिसने क्यूबा को उत्तरी-दक्षिणी अमरीका के आपके मित्रों तथा पड़ोसियों का दुश्मन बना दिया है तथा जिसने क्यूबा को पहला ऐसा लैटिन अमरीकी देश बना दिया है जो परमाणु-युद्ध का लक्ष्य बनेगा । क्यूबा ऐसा प्रथम लैटिन अमरीकी देश बन गया है जिसकी भूमि पर ये अस्त्रास्त्र आ गये हैं ।

ये नये हथियार आपकी भलाई के लिए नहीं हैं । इनसे आपकी शांति या हित नहीं होगा । इनसे उनको खतरा ही पैदा होगा । लेकिन यह देश नहीं चाहता है कि आपको कष्ट उठाने पड़ें और न ही आपके ऊपर कोई प्रणाली लादना चाहता है । हम जानते हैं कि आपके जीवन तथा आपकी भूमि को वे लोग बन्धक की तरह प्रयोग कर रहे हैं जिन्होंने आपकी स्वाधीनता छीन ली है ।

फिलहाल हमने जो मार्ग चुना है वह बहुत संकटपूर्ण है जैसे कि सभी मार्ग हुआ करते हैं लेकिन यह मार्ग एक राष्ट्र के रूप में हमारे चरित्र तथा साहस और विश्व भर में हमारे दायित्वों के अनुरूप है । स्वाधीनता की सदैव ऊंची कीमत देनी होती है—लेकिन अमरीकियों ने सदैव यह कीमत चुकाई है ।

२२ अक्तूबर के अपने उपरोक्त चेतावनी पूर्ण भाषण के बाद २१ अक्तूबर को ही कैनेडी ने क्यूबा को दी जा रही सोवियत सैनिक अस्त्रास्त्रों की सहायता की निन्दा करते हुए क्यूबा की नाकेबन्दी (Quarantine) की घोषणा की जिसका स्पष्ट आशय यही था कि अमेरिका के सैनिक जहाज क्यूबा के बन्दरगाहों को घेर लें और वहां सोवियत शस्त्रों से सुसज्जित

जहाज उतारने नहीं देंगे। राष्ट्रपति केनेडी की इस घोषणा ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में महान संकट उत्पन्न कर दिया क्योंकि उनका यह कार्य सोवियत रूस को स्पष्ट चेतावनी था कि वह क्यूबा को सैनिक सहायता देना बंद कर दे अन्यथा युद्ध हेतु तैयार हो जाय।

यह सौभाग्य की बात हुई कि सोवियत प्रधानमंत्री ने केनेडी की दृढ़ता और निश्चय को समझते हुए दूरदर्शिता से काम लिया। तृतीय महायुद्ध को रोकने की दृष्टि से अमेरिकन राष्ट्रपति की चेतावनी का जवाब चुनौती से नहीं बल्कि विवेक से दिया गया और २८ अक्टूबर को ख्रुश्चेव द्वारा यह घोषणा की गई कि रूस क्यूबा से अपने प्रक्षेपणास्त्र वापिस मंगाने की आज्ञा दे रहा है और वह उस द्वीप पर स्थित रूसी प्रक्षेपणास्त्र अड्डों का संयुक्त राष्ट्र संघ की देख रेख में तुड़वा देने को सहमत है। सोवियत प्रधान मंत्री ने यह भी कहा कि भविष्य में इस प्रकार की सामग्री वहां नहीं भेजने का भी रूस आश्वासन देता है। राष्ट्रपति केनेडी ने भी ख्रुश्चेव की घोषणा का तुरन्त उत्तर दिया कि "यह एक सच्चे नेता के सरीखा निर्णय है।"

इस प्रकार क्यूबा का संकट समाप्त हो गया और अणुयुद्ध की आशंका से संत्रस्त मानव जाति ने सन्तोष की सांस ली। क्यूबा के इस अन्तर्राष्ट्रीय संकट के बड़े व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय परिणाम हुए—

(i) यह परिणाम यह निकला कि रूस और चीन के सैद्धान्तिक मत-भेदों की खाई और भी चौड़ी हुई। चीन के युद्धोन्मादी नेता माओत्सेतुङ ने ख्रुश्चेव की शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति की निन्दा करते हुए आरोप लगाया कि क्यूबा संकट पर सोवियत रूस अमेरिका से डर कर पीछे हटा है और इस तरह उसने विश्व में साम्यवाद के प्रसार को एक जबरदस्त आघात पहुंचाया है। रूस और चीन के मध्य का यह सैद्धान्तिक मतभेद आज एक तथ्य बन चुका है। रूसी नेता ख्रुश्चेववादी नीति में विश्वास करते हुए यह मानते हैं कि इस अणुयुग में युद्ध की चर्चा करना मानवता के विनाश का आह्वान करना है अतः अमेरिका के पूंजीवादी देश और हमारे साम्यवादी होते हुए भी नवीन परिस्थितियों में हमें शांतिपूर्ण रीति से रहना चाहिये। इसके विपरीत चीन युद्ध और क्रांति द्वारा पूंजीवाद के उन्मूलन के पुराने साम्यवादी सिद्धान्त का ही बेसुरा राग अलापता है। अपनी विशाल जनसंख्या के कारण उसका विश्वास है कि अणुयुद्ध में जहां रूस और अमेरिका की अधिकांश जनसंख्या नष्ट हो जायगी वहां चीन के २०-३० करोड़ व्यक्ति मरने के बाद भी ४०-५० करोड़ चीनी बचे रह जायेंगे।

(ii) क्यूबा के संकट का एक दूसरा परिणाम चीन का भारत पर आक्रमण के रूप में निकला। भारतीय साम्यवादी दल के नेता श्री डांगे ने भारत पर चीनी आक्रमण के कारणों की अति सूक्ष्म मीमांसा करते हुए यह बताया कि क्यूबा का अन्तर्राष्ट्रीय संकट सितम्बर १९६२ में शुरू हुआ और ८ सितम्बर से [illegible] चीन ने भारतीय प्रदेश में घुसना शुरू किया। क्यूबा का संकट अक्टूबर में अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया और चीन ने इस संकट

का लाभ उठाने के लिये २० अक्टूबर को भारत पर आक्रमण शुरू कर दिया। श्री डॉम के अनुसार सम्भवतः चीन का इरादा यह था कि क्यूबा के प्रश्न पर अमेरिका और रूस संघर्ष में उलझे होंगे और इस तरह भारत को पश्चिम से कोई सहायता नहीं मिल सकेगी तथा वह भारत के एक बड़े भू भाग को अपने अधिकार में कर लेगा। किन्तु चीन के दुर्भाग्य से क्यूबा संकट का शांतिपूर्ण हल निकल आया पश्चिम की भारत को तेजी से सहायता मिली और तब उसने अपने आप युद्ध विराम कर दिया। इस प्रकार क्यूबा के संकट में चढ़ाव-उतार ने चीन की भारतीय नीति को प्रभावित किया।

क्यूबा-संकट के निवारण का श्रेय एक ओर केनेडी की नीतिकुशलतापूर्ण दृढ़ता एवं अदभुत सैनिक साहस को दिया जाता है तो दूसरी ओर ख्रुश्चेव के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व एवं शांति में विश्वास की नीति को। तत्कालीन ब्रिटिश प्रधानमन्त्री ह्यू म का मत था कि वस्तुतः ख्रुश्चेव का उद्देश्य संयुक्त राज्य अमेरिका पर आक्रमण का न होकर अपनी शक्ति को बढ़ाना और उसका प्रदर्शन करना मात्र था ताकि सोवियत रूस अमेरिका से जर्मनी बर्लिन आदि के प्रश्नों पर शक्ति की स्थिति (Position of Strength) से बात कर सकता। रूस को यह विश्वास था कि अमरिका की क्यूबा के सोवियत अड्डों से घेर कर और अमेरिकन नगरों का अपनी प्रक्षेपणास्त्रों का सुगम लक्ष्य बनाने के बाद वह अमेरिका से मनमानी रियायतें प्राप्त कर सकेगा। यह वस्तुतः स्वतन्त्र संसार की और विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका की कठोर धनिपरीक्षा थी। सौभाग्यवश रूस की यह योजना दो कारणों से विफल हुई—प्रथम तो भ्रामकपूर्ण होने से पहले ही उसका भेद खुल गया जिससे रूस तथा अमेरिका के शक्ति सन्तुलन में कोई अन्तर न आ सका और दूसरे अमेरिकन राष्ट्रपति ने दृढ़ साहस तथा संयम का प्रदर्शन किया।

मास्को ने क्यूबा संकट को चाहे किसी भी कारण से उत्पन्न किया हो किन्तु यह निश्चित है कि इस संकट की समाप्ति केनेडी की दृढ़ता व ख्रुश्चेव के विवेक दोनों से हुई। १९६२ में इसने दोनों देशों के विरोध को घटाया और १९६३ में अणुपरीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि ने मास्को एवं वाशिंगटन के मध्य सौहार्दपूर्ण वातावरण पैदा किया।

(ङ) निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में प्रगति—अणुपरीक्षण प्रतिबंध सन्धि

केनेडी-प्रशासन ने निःशस्त्रीकरण के लिए भरसक प्रयास किया। श्री केनेडी का विचार था—

"मानव का मस्तिष्क मानव के हृदय तथा मानव की आध्यात्मिक धाराओं सभी को यही कामना है कि हम। के इतिहास की धारा उलट जाए, विनाश के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए सबह का स्थान मानव की सफलताओं के लिए उपयुक्त निरन्तर बढ़ते हुए सागर ले लें।—यह कार्य मानवता की विषय-सूची की सबसे पहली मद होनी चाहिए।"

अतः निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति केनेडी ने निम्नलिखित प्रस्ताव प्रस्तुत किए—

(i) सभी राष्ट्रों द्वारा परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने की संधि पर हस्ताक्षर करना जो तुरन्त किया जा सकता है। परीक्षणों पर प्रतिबंध लगाने की वार्ता शुरू करने के लिए आम निःशस्त्रीकरण होने की प्रतीक्षा करना आवश्यक नहीं है और न करनी चाहिए।

(ii) शस्त्रास्त्रों में प्रयुक्त होने वाले विस्फोटक पदार्थों का उत्पादन बंद किया जाए और इस समय जिन राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र नहीं हैं उन्हें इन विस्फोटक पदार्थों को हस्तान्तरण न किया जाए।

(iii) परमाणु अस्त्रों पर उन राष्ट्रों को नियंत्रण हस्तान्तरित करने से रोकना, जिनके पास परमाणु अस्त्र नहीं हों।

(iv) परमाणु अस्त्रों को अन्तरिक्ष में नये युद्ध-क्षेत्रों के बीज बोने से रोकना।

(v) इस समय तक जो परमाणु अस्त्र बन चुके हैं उन्हें धीरे-धीरे नष्ट करना और उनमें लगी सामग्री को शांतिपूर्ण कार्यों में प्रयुक्त करना।

(vi) परमाणु अस्त्रों को ले जाने वाले सामरिक महत्व के वाहनों के उत्पादन और असीमित परीक्षण पर रोक लगाना व धीरे-धीरे उन्हें भी नष्ट करना।

राष्ट्रपति केनेडी और प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव इन दोनों दूरदर्शी नेताओं के सहयोगपूर्ण रुख के कारण अन्त में २५ जुलाई, १९६३ को तीन प्रमुख परमाणु शक्तियों—संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन और सोवियत संघ के बीच एक परमाणु-परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि पर हस्ताक्षर हुए। बाद में फ्रांस और जनवादी चीन को छोड़कर विश्व के लगभग अन्य सभी राष्ट्रों द्वारा इस संधि पर हस्ताक्षर कर दिए गए। इस संधि का विस्तार से वर्णन 'निःशस्त्रीकरण' नाम अध्याय में किया जा चुका है। इस संधि से कुछ ही दिन पूर्व १२ अप्रैल १९६३ को संयुक्त राज्य अमेरिका व सोवियत संघ में सीधा टेलीफोन और रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U S–Soviet Hot line Agreement) हुआ जिसका उद्देश्य क्यूबा जैसे संकटों के समय दोनों देशों में सीधा सम्पर्क स्थापित करके गलती से या आकस्मिक घटना से छिड़ने वाले युद्ध के संकट का निवारण करना था।

राष्ट्रपति केनेडी के समय उपरोक्त दोनों ही महत्वपूर्ण समझौतों से शीतयुद्ध के तनाव में बड़ी कमी हुई। दुर्भाग्यवश इस प्रतिभावान नेता की २२ नवम्बर, १९६३ को हत्या हो जाने से विश्व की भावी शान्ति की आशाओं को बड़ा आघात पहुंचा।

(च) केनेडी की लैटिन अमेरिका के प्रति नीति—
'प्रगति के लिए मैत्री'

लैटिन अमेरिका के प्रति राष्ट्रपति केनेडी ने अत्यन्त उदार और मैत्री

पूर्ण नीति अपनाई। वैसे द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका और लैटिन अमेरिका के देशों के पारस्परिक सम्बन्धों को सुदृढ़ बनाने के लिए १९४८ में 'अमेरिकन राज्यों के संगठन' (O.A.S.) की स्थापना की जा चुकी थी परन्तु जहाँ कैनेडी से पूर्व इस संगठन में सैनिक तथा कूटनीतिक सहयोग पर अधिक बल दिया जाता था वहाँ कैनेडी ने आर्थिक सहयोग पर अधिक बल देना शुरू किया। १३ मार्च १९६१ में उन्होंने औपचारिक रूप से अमेरिकन गणराज्यों के राजनयिक प्रतिनिधियों के समक्ष 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का प्रस्ताव रखा। इसके अन्तर्गत कहा गया कि अन्य स्वतंत्र देशों विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं और व्यक्तिगत पूँजीपतियों के साथ संयुक्त राज्य अमेरिका लैटिन अमेरिका के आर्थिक विकास एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाने के लिए २० हजार मिलीयन डालर की सहायता तथा ऋण देगा। अपने उद्घाटन भाषण में राष्ट्रपति कैनेडी ने पश्चिमी गोलार्द्ध के राष्ट्रों के प्रति एक विशेष प्रतिज्ञा की कि वे संयुक्त राज्य अमेरिका के "अच्छे शब्दों को प्रगति के लिए मैत्री के रूप में अच्छे कामों में परिणत करेंगे जिससे स्वतंत्र लोगों तथा स्वतंत्र सरकारों को निर्धनता की जंजीरें तोड़ फेंकने में सहायता दी जा सके।"

श्री कैनेडी ने 'प्रगति के लिए मैत्री' प्रस्ताव रखते हुए अपने भाषण में लैटिन अमेरिका के प्रति संयुक्त राज्य की नीति पर विशेष प्रकाश डाला। उनका यह भाषण निम्नलिखित रूप में था—

'हमारा काम समस्त विश्व को यह दिखाना है कि आर्थिक प्रगति और सामाजिक न्याय की मनुष्य की अपूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति प्रजातांत्रिक पद्धतियों के अनुरूप स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने से ही हो सकती है। अगर हम अपने गोलार्द्ध में अपनी जनता के साथ ऐसा कर दिखाते हैं तो भी हमें महान मैक्सीकन देशभक्त बेनिटो जुआरेज की यह भविष्यवाणी पूरी करनी है कि प्रजातन्त्र मानव मानवता की चरम गति है।

इसलिए मैंने इस गोलार्द्ध के सभी लोगों को प्रगति के लिए इस नयी मैत्री—एलियान्ज़ा पारा एल प्रोग्रेसो—में शामिल होने के लिए आमन्त्रित किया है। यह एक विशाल सहकारी प्रयास है जो विशालता तथा सदुद्देश्यता में अपनी सानी नहीं रखता जिसका लक्ष्य अमरीकी लोगों की घर काम तथा भूमि स्वास्थ्य तथा स्कूल की बुनियादी आवश्यकतायें पूरी करना है।

मेरा प्रस्ताव है कि अमरीकी गणराज्य दोनों अमरीकाओं के लिए एक दस वर्षीय योजना प्रारम्भ करें। यह योजना ऐसी हो कि बीसवीं सदी का यह साठवाँ दशक ऐतिहासिक दशक बन जाए।

यहाँ एक बात स्पष्ट कर दूँ कि स्वयं अमरीकी राष्ट्रों के दृढ़ निश्चय के साथ किए गए प्रयत्न हो इस प्रयास को सफल बना सकेंगे। वे केवल वे ही, साधन संचय कर सकते हैं अपनी जनता की शक्ति को जुटा सकते हैं और अपनी समाज-व्यवस्था में परिवर्तन कर सकते हैं जिससे सभी, न

की जाय सौभाग्यशाली विकास के सुफलों को चख सकें। अगर ये प्रयत्न किये गए तो बाहरी सहायता भी प्रगति के लिए महत्वपूर्ण प्रेरणा प्रदान कर सकेगी। इसके बिना बाहर की कितनी ही बड़ी सहायता मिले जनता का कल्याण नहीं हो सकेगा।

अगर हमारी मैत्री सफल होती है, तो प्रत्येक दक्षिण अमरीकी योजना ऐसी हो जिसमें लक्ष्य तथा प्राथमिकतायें निर्धारित की गई हों जिससे मुद्रा सम्बन्धी स्थिरता आए, महत्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तनों के लिए ढंग की स्थापना हो गैर सरकारी गतिविधि तथा पहल करने की भावना को प्रोत्साहन मिले तथा अधिकतम राष्ट्रीय प्रयास सम्भव हो। ये योजनायें हमारे विकास प्रयास की नींव होंगी तथा बाहरी साधनों के उपयोग का आधार होंगी।

हमें आर्थिक एकीकरण के सभी प्रयासों का समर्थन करना चाहिए जो कि व्यापक बड़े बाजारों तथा अधिकाधिक प्रतियोगिता के अवसरों की दिशा में अगली कदम होगा। दक्षिण अमरीका की अर्थव्यवस्थाओं का टुकड़ों में बंटा रहना औद्योगिक प्रगति के लिए बहुत बड़ी बाधा है। मध्य अमरीका साझा बाजार तथा दक्षिण अमरीका के स्वतन्त्र व्यापार-क्षेत्र सरीखी योजनायें इन बाधाओं को दूर करने में सहायक हो सकती हैं।

हम तत्काल शान्ति के लिए 'खाद्यान्न' का आपत्कालीन कार्यक्रम बढ़ा सकते हैं जिससे बार-बार सूखा पड़ने वाले इलाकों के लिए अन्नागार बनाए जा सकें बच्चों को स्कूलों में दोपहर का खाना देने में सहायता दी जा सके तथा ग्राम सुधार के लिए काम को धन दिया जा सके क्योंकि भूखे व्यक्ति तथा स्त्रियां आर्थिक विचार-विमर्श अथवा कूटनीतिक बैठकों की प्रतीक्षा नहीं कर सकते। उनकी आवश्यकता तात्कालिक है तथा उनकी भूख का उन लोगों की आत्मा पर बड़ा कुप्रभाव पड़ता है।

इस गोलार्द्ध के सभी देशों को विज्ञान के दिन दूने बढ़ने वाले चमत्कारों में भागीदार बनने दिया जाय। ये चमत्कार ऐसे हैं कि ये मानव के कल्पना लोक पर छा गये हैं उसकी मेधाशक्ति को उन्होंने चुनौती दी है तथा शीघ्र प्रगति के उपकरण प्रदान किये हैं। मैं दक्षिण अमरीका के वैज्ञानिकों को चिकित्सा कृषि भौतिकी एवं खगोल विज्ञान तथा अपसारी करण के क्षेत्रों में नई परियोजनाओं पर काम करने के लिए और इन तथा अन्य क्षेत्रों के लिए आंचलिक प्रयोगशालाओं की योजनायें बनाने तथा अमरीकी विश्वविद्यालयों एवं प्रयोगशालाओं के मध्य सहयोग को सुदृढ़ बनाने के लिए आमंत्रित करता हूँ।

विज्ञान के अध्यापकों का प्रशिक्षण हम के अपने कार्यक्रमों को बढ़ाकर हम दक्षिण अमीरिकी प्रशिक्षकों का भी प्रशिक्षण देना चाहते हैं जिससे अन्य अमरीकी देशों में इस प्रकार के कार्यक्रम स्थापित करने में सहायता मिले और भौतिकी, रसायनशास्त्र तथा गणितशास्त्र के शिक्षण की जो नई

क्रांतिकारी वस्तुयें सुलभ हैं वे उन्हें जो प्राप्त हो सकें और सभी राष्ट्रों के युवकों को विज्ञान की प्रगति में अपने श्रेष्ठ कौशल का योगदान करने का अवसर मिले।

हमें उन लोगों के प्रशिक्षण की व्यवस्था में तेजी से विस्तार करना चाहिए जिन्हें तेजी से विकसित हो रही अर्थ व्यवस्थाओं का काम सम्हालना है। इसका अर्थ होगा टैक्नीकल ट्रेनिंग के कार्यक्रमों का विस्तार, जिसके लिए, जहां आवश्यकता हो शान्ति सेना के स्वयंसेवकों की सेवायें सुलभ होंगी। इसका अर्थ दक्षिण अमरीका के विभिन्न विद्यालयों महा विद्यालयों तथा अन्वेषण-संस्थाओं को सहायता देना भी है।

हम दक्षिण अमरीका के अपने मित्रों को संयुक्त राज्य अमरीका के जीवन तथा संस्कृति को समृद्ध करने में योगदान देने को आमन्त्रित करते हैं। हमें आवश्यकता है कि आपके साहित्य तथा इतिहास और परम्पराओं की शिक्षा देने वाले अध्यापक हमारे यहां आयें और हमारे विश्वविद्यालयों में पढ़ें आपके संगीत आपकी कला तथा आपके महान दार्शनिकों के विचार जानने समझने का अवसर मिले।

हम अमरीकी महाद्वीपों की क्रान्ति को पूर्ण करने तथा इस गोलार्द्ध को ऐसा बनाने का काम पूर्ण करना चाहते हैं जहां सभी व्यक्तियों को उपयुक्त जीवनस्तर प्राप्त हो तथा सभी सम्मान तथा स्वतंत्रता के साथ रह सकें।

इस राजनीतिक स्वाधीनता के साथ-साथ सामाजिक परिवर्तन भी आने चाहिए क्योंकि जब तक आवश्यक सामाजिक सुधार, जिनमें भूमि तथा कर-सुधार भी सम्मिलित हैं स्वतंत्रता के साथ न किए गये जब तक हम अपने सभी लोगों के लिए अवसरों का विस्तार नहीं करते जब तक विशाल अमरीकी जनता बुद्धिमान समृद्धि में साझीदार नहीं बनती तब तक हमारी मैत्री हमारी क्रान्ति हमारा स्वप्न और हमारी स्वतन्त्रता निष्फल ही रहेगी। लेकिन हम ये सामाजिक परिवर्तन स्वतन्त्र व्यक्ति की भांति करना चाहते हैं जार्ज वाशिंगटन और जैफरसन बोलिवर तथा सान मार्टिन एवं मार्टिन की भावना के अनुरूप परिवर्तन करना चाहते हैं ऐसा परिवर्तन नहीं करना चाहते जिससे व्यक्ति अत्याचार के जुए के नीचे दब जाए जिसे कि हमने डेढ़ सदी पहले उतार फेंका था। हमारा आदर्श सदैव की भांति प्रगति हो अत्याचार नहीं हो रहेगा।

और १७ अगस्त १९६१ को श्री कैनेडी राजनयिक प्रतिनिधियों के समक्ष यह रिपोर्ट प्रस्तुत कर सके—

प्रगति के लिए मैत्री की इस पूरी वर्षगांठ पर मैं इस बात पर गर्व से भी नई प्रगति से बड़ा हर्षित हुआ हूँ। दक्षिण अमरीका के देशों में एक शान्तिपूर्ण क्रान्ति आ रही है जिससे इस गोलार्द्ध में हमारे करोड़ों अमरीकी भाईयों को अच्छा जीवन पाने की आशा बंधती है।

पहले दो वर्षों में हुई प्रगति तो शुरूआत-मात्र है लेकिन यह बहुत ही शानदार है। लगभग एक लाख चालीस हजार नये मकान बना दिये गये हैं, गन्दी बस्तियाँ साफ करने की परियोजनायें शुरू की गई हैं, आठ हजार तीसौ नयी कक्षाओं की इमारतें बन गई हैं, सात सौ अधिक नई जन प्रणालियां बना दी गई हैं जहां पानी में गन्दगी के कारण बिमारियां व्यापक रूप से फैलने का खतरा था अनेक देशों में भूमि-सुधार तथा कर-सुधार के कानून बनाये गये हैं, एक लाख साठ हजार से अधिक कृषि ऋण दिये गये हैं तथा चालीस लाख से अधिक स्कूल-पुस्तकें वितरित की गई हैं जो साझा बाजार करारों का नई प्रेरणा मिल रही है विश्व के बाजार में कॉफी के भाव स्थिर करने के लिए क्रान्तिकारी कदम उठाया गया है शान्ति के लिए खाद्य' कार्यक्रम के अधीन अठारह देशों में नब्बे लाख से अधिक बच्चों को खाना दिया जा रहा है तथा सड़क-निर्माण-कार्य खासकर कृषि-क्षेत्रों में तेजी के साथ चल रहे हैं।

प्रारम्भ के दो वर्ष तो शुरूआत मात्र हैं लेकिन मेरी ये आशा है कि मेरे देश के लोग तथा इस गोलार्द्ध के अन्य देशों के लोग इस महाद्वीप को इस गोलार्द्ध को यहां के रहने वाले हम सब लोगों के लिए आशा का तथा समस्त विश्व के लिए प्रेरणा-स्रोत बनाने के इस महान अन्तर्राष्ट्रीय प्रयास के लिए मिलकर काम करते रहेंगे।"

अन्त में यही कहना होगा कि राष्ट्रपति केनेडी के प्रशासन काल में यद्यपि अमेरिका की वैदेशिक नीति के आधारभूत सिद्धान्तों में कोई परिवर्तन नहीं हुए, किन्तु उन सिद्धान्तों में केनेडी के मानववादी और शान्तिप्रिय विचारों का नया रचनात्मक रंग भरे जाने से उन्हें एक नया निखार अवश्य मिल गया।

अमेरिका की वर्तमान विदेश नीति

(१९६३ के बाद राष्ट्रपति जानसन के काल में)

२२ नवम्बर, १९६३ को राष्ट्रपति केनेडी की हत्या के बाद तत्कालीन उपराष्ट्रपति लिन्डन जॉनसन संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने और बाद में १९६४ के निर्वाचन में विजयी होकर पुनः इस पद पर नियुक्त हुए। राष्ट्रपति पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद ही श्री जॉनसन ने घोषणा की कि वे विदेश नीति के क्षेत्र में दिवंगत राष्ट्रपति केनेडी के पद चिन्हों पर ही चलेंगे और अमेरिकन विदेश नीति के मूल में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं किया जायगा।

राष्ट्रपति जॉनसन की घोषणा प्रारम्भ में तो बहुत कुछ यथार्थ सी प्रतीत होती थी किन्तु अब तक के उनके कार्यकाल के इतिहास में उनकी घोषणा की यथार्थता को बहुत कम ही किया है। अमेरिका के वर्तमान प्रशासन के वैदेशिक नीति को निम्नलिखित प्रमुख पहलुओं के संदर्भ में देखा जा सकता है—

(क) जर्मनी और बर्लिन के एकीकरण का प्रश्न

जर्मनी और बर्लिन के प्रश्न पर अभी तक दोनों पक्षों (अमरीका एवं रूस) के मतभेद यथापूर्व हैं। यह बताया जा चुका है कि युद्ध के बाद से ही जर्मनी दो राज्यों में तथा बर्लिन चार भागों में बंटा हुआ चला आ रहा है। तब से लेकर अब तक जर्मनी के बर्लिन के एकीकरण के सम्बन्ध में अनेक बार अमेरिका व सोवियत संघ के बीच बातचीत हो चुकी है समस्या का निराकरण करने के लिए दोनों पक्षों ने अपने अपने सुझाव पेश किये हैं परन्तु इसके बावजूद भी समस्या अभी तक हल नहीं हो पायी है। इस समय बर्लिन से ८०–१०० मील पश्चिम में उत्तर से दक्षिण की ओर खींची जाने वाली एक रेखा से दोनों जर्मन राज्य विभक्त होते हैं। इस रेखा के पश्चिम में पश्चिमी जर्मनी का 'जर्मन संघीय गणराज्य' (German Federal Republic) है और पूर्व में पूर्वी जर्मनी का 'जर्मन लोकतंत्रीय गणराज्य' (German Democratic Republic) । पश्चिमी जर्मनी पश्चिम का प्रबल पक्षपाती है जबकि पूर्वी जर्मनी सोवियत रूस का प्रभाव क्षेत्र है। दोनों ही राज्यों में भौतिक सम्पत्ति उद्योगों सम्पन्नता तथा जन संख्या की दृष्टि से पश्चिमी राज्य बढ़ा चढ़ा है।

१९५४ में २५ जनवरी से १८ फरवरी तक दोनों भागों के एकीकरण के लिए बर्लिन में विदेश मन्त्रियों का एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमें पश्चिमी शक्तियों ने निम्न बातों पर बल दिया—

(i) जर्मनी के दोनों भागों में तथा बर्लिन में स्वतंत्र मतदान द्वारा संविधान परिषद का निर्वाचन किया जाय।

(ii) यह परिषद् एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे।

(iii) यह सरकार विजेता शक्तियों के साथ संधि करे और यह पोलैण्ड तथा रूस द्वारा हथियाये गये जर्मनी प्रदेशों का अन्तिम बंटवारा करे।

(iv) यह सरकार शांति संधि में सन्निहित शर्तों के अनुसार अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्वयं निश्चित करे।

पश्चिम शक्तियों के प्रस्तावों से असहमत होते हुए सोवियत संघ ने एकीकरण के लिए इन बातों पर बल दिया—

(i) पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी के 'जर्मन लोकतंत्रीय गणराज्य' को सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें।

(ii) पश्चिमी देश सोवियत रूस की यह बात मान लें कि जर्मनी पर अधिकार करने वाले देश अब जर्मनी के एकीकरण के लिए उत्तरदायी नहीं हैं।

(iii) पूर्वी और पश्चिमी दोनों गणराज्य एकीकरण के लिए आपस में सीधी बातचीत करें।

(iv) यह बातचीत कुछ निश्चित शर्तों या मान्यताओं के आधार पर हो जो इस प्रकार होंगी—दोनों राज्यों की सरकारों का बना रहना

सोवियत क्षेत्र में कम्युनिस्ट संस्थाओं की सुरक्षा, बान के संघीय जर्मन गणराज्य का नाटो से पृथक होना तथा पश्चिमी देशों की सेनाओं का जर्मनी के प्रदेश से हट जाना।

दोनों पक्षों की शर्तों की तुलना से स्पष्ट है कि पश्चिमी शक्तियों का बल दोनों देशों के सम्मिलित चुनाव कराने पर था क्योंकि पश्चिमी राज्य की आबादी पूर्वी क्षेत्र से तिगुनी होने के कारण उन्हें वांछित परिणाम निकलने के विषय में लगभग कोई सन्देह नहीं है। पश्चिमी शक्तियों का विश्वास है कि संयुक्त जर्मनी निश्चित रूप से पश्चिम का समर्थक होगा और इसका अर्थ होगा यूरोप में सोवियत सीमान्त का २०० मील पूर्व में चला जाना, पूर्वी जर्मनी में विद्यमान रूस के २ डिविजनों का पूर्वी पोलैण्ड में हट जाना, पश्चिम पर आक्रमण के लिए प्रक्षेपणास्त्र फेंकने के अड्डों का पीछे हटना और साथ ही पूर्वी यूरोप में रूसी समर्थक राज्यों पर बुरा प्रभाव पड़ना। साफ जाहिर है कि ऐसे परिणामों को जन्म देने वाले पश्चिमी प्रस्ताव को मास्को स्वीकार नहीं कर सकता। दूसरी ओर रूस की एकीकरण की शर्तें पश्चिम को इसलिए मान्य नहीं हुई क्योंकि यदि इसके आधार पर संधि हो जाय तो जर्मनी का एकीकरण करने पर सारा देश साम्यवादी हो जायगा, पश्चिमी देशों की सीमा राइन नदी पर आ जायगी, पश्चिमी जर्मनी के प्रमुख औद्योगिक केन्द्र सोवियत रूस के हाथ में चले जायेंगे और सोवियत संघ के नेतृत्व में उसकी शक्तिशाली सेना हिटलर की नाजी सेना की भाँति पश्चिम के लिए संकट बन जायगी।

रूस और पश्चिमी शक्तियों दोनों ही के प्रस्तावों के परस्पर टकराने के कारण जर्मनी के एकीकरण के प्रश्न पर कोई समझौता नहीं हो सका। जहाँ तक बर्लिन का प्रश्न है पश्चिमी शक्तियाँ यथास्थिति को कायम रखने के पक्ष में रही हैं जबकि सोवियत रूस का सुझाव रहा है कि जब तक जर्मन समस्या का हल नहीं हो जाता तब तक उसे स्वतन्त्र नगर घोषित करके उसका विसैन्यीकरण कर दिया जाय। चूँकि दोनों पक्ष एक दूसरे की शर्तों को मानने को तैयार नहीं हैं अतः यह समस्या भी अभी तक लटकी हुई है।

जर्मनी के प्रश्न पर सोवियत रूस और अमेरिका के मौलिक मतभेद तब अधिक उग्र हो गये जब मई, १९५५ में पश्चिमी जर्मनी को नाटो का सदस्य बना लिया गया और मार्च १९५८ में अमेरिका ने पश्चिमी जर्मनी को आणविक आयुधों तथा प्रक्षेपणास्त्रों से सुसज्जित करने का फैसला किया। कुपित होकर मई, १९५८ में श्री ख्रुश्चेव ने घोषणा की कि—"पश्चिमी जर्मनी के आणविक अस्त्रों से सुसज्जित होने से जर्मन राष्ट्रीय एकता सम्पन्न करने का बचा हुआ एकमात्र खुला दरवाजा भी कस कर बन्द कर दिया गया है।

१० नवम्बर, १९५८ को श्री ख्रुश्चेव ने यह घोषणा की कि— सम्पूर्ण बर्लिन जर्मन लोकतन्त्रीय गणराज्य के प्रदेश हैं इस क्षेत्र पर इस गणराज्य की सर्वोच्च प्रभुता है। इसके पश्चिमी भाग पर पश्चिमी शक्तियों के अधिकार का कोई कानूनी आधार नहीं है। अतएव सोवियत सरकार ने यह निश्चय किया

है कि बर्लिन में विदेशी शासन को समाप्त कर दिया जाय। सोवियत सरकार पश्चिम के साथ इस विषय पर वार्तालाप करने को तैयार है। सोवियत संघ चाहता है कि पश्चिमी बर्लिन को निःसैन्य (Demilitarized) स्वतन्त्र नगर बना दिया जाय और यह परिवर्तन ६ महीने के भीतर सम्पन्न हो जाय ताकि इस नगर का सोवियत विरोधी जासूसी के लिए प्रयोग बहुत अधिक दिनों के लिए न किया जा सके।" सोवियत रूस ने यह भी घोषणा की कि यदि पश्चिमी देशों ने पश्चिमी बर्लिन में बने रहने के लिए सैनिक शक्ति का प्रयोग किया तो सोवियत संघ को भी युद्ध करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। २७ नवम्बर को रूस ने इस विषय में अपने विस्तृत प्रस्ताव पश्चिमी देशों के सामने रखा किन्तु सोवियत धमकी से सर्वथा अप्रभावित रहते हुए उन्होंने कहा कि बर्लिन में उनकी वर्तमान स्थिति ५ जून १९४५ के पोट्सडम के तथा ४ मई, १९४९ को बर्लिन-घेरे की समाप्ति पर हुए समझौते के अनुसार है।

११ दिसम्बर, १९५८ को पश्चिमी देशों (फ्रांस ब्रिटेन व अमेरिका) ने बर्लिन के प्रश्न पर जर्मनी और यूरोपीय सुरक्षा की व्यापक पृष्ठभूमि में विचार करना स्वीकार कर लिया। १ जनवरी १९५९ को सोवियत रूस द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि समस्या पर विचारार्थ शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन आयोजित हो। किन्तु पश्चिमी देशों ने आग्रह किया कि शिखर सम्मेलन से पूर्व परराष्ट्रमन्त्रियों का सम्मेलन होना चाहिए। १९ मार्च १९५९ को सोवियत संघ ने इस पश्चिमी प्रस्ताव के प्रति अपनी सहमति दे दी।

११ मई १९५९ को संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में चारों देशों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन आरम्भ हुआ। अमेरिका की तरफ से क्रिश्चियन हर्टर, रूस की तरफ से आंद्रे ग्रोमिको ब्रिटेन की तरफ से सेल्विन लायड तथा फ्रांस की ओर से कुवेव मरवील (Couvede Murville) इस जेनेवा सम्मेलन में शामिल हुए। सम्मेलन के प्रारम्भ में पश्चिमी देशों ने संयुक्त रूप से जर्मन एकीकरण के लिए कुछ प्रस्ताव रखे जिन्हें अस्वीकार करते हुए ग्रोमिको ने कहा कि पहले शांति संधि की जानी चाहिए क्योंकि ऐसी संधि के अभाव में ही पश्चिमी जर्मनी आणविक आयुधों से सुसज्जित होकर और उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन का सदस्य बन कर यूरोप में तनाव उत्पन्न कर रहा है। ६ जून को बर्लिन विषयक रूसी प्रस्तावों पर वार्ता में गतिरोध पैदा हो गया। ये प्रस्ताव इस प्रकार थे—

(i) एक वर्ष के बाद पश्चिमी बर्लिन से पश्चिमी देशों का अधिकार समाप्त हो जाना चाहिए। एक वर्ष की अवधि तक वे कुछ सीमित अधिकारों का उपभोग कर सकते हैं।

(ii) इस बीच में (इस एक वर्ष की अवधि में) पश्चिमी देश वहां अपनी सेनायें कम करें, कम्युनिस्ट विरोधी प्रचार पर प्रतिबन्ध लगायें और कम्युनिस्ट विरोधी जासूसी और तोड़-फोड़ करने वाली संस्थाओं को समाप्त कर दें तथा वहां आणविक अथवा राकेट अड्डे नहीं बनायें।

(iii) एक वर्ष के भीतर पश्चिमी और पूर्वी बर्लिन की एक अखिल जर्मन समिति बनायी जाए, इसमें दोनों जर्मन राज्यों के प्रतिनिधियों की संख्या समान हो यह दोनों राज्यों में सम्पर्क बढ़ाये तथा एकीकरण एवं शांति के प्रस्ताव तैयार करे। श्री ग्रोमिको ने कहा कि यदि पश्चिम दो वर्ष के भीतर इन शर्तों के आधार पर समझौता करने में अड़चन डालेगा तो सोवियत रूस पूर्वी जर्मनी के साथ शांति-सन्धि कर लेगा।

पश्चिमी राष्ट्रों ने सोवियत प्रस्तावों को ठुकराते हुए उन्हें (प्रस्तावों को) अल्टीमेटम की संज्ञा दी। अमेरिका ने प्रस्तावों को 'पूर्णतया अस्वीकार्य' कहा। सोवियत प्रस्तावों के प्रत्युत्तर में पश्चिमी देशों ने बर्लिन के सम्बन्ध में ये प्रस्ताव रखे—

(i) पश्चिमी देश बर्लिन में विद्यमान अपनी ११ हजार सेना में वृद्धि नहीं करेंगे। यदि स्थिति अनुकूल रही तो इसमें कमी करने का विचार किया जा सकता है। इन सेनाओं को साधारण शस्त्र ही दिये जायेंगे।

(ii) रूस द्वारा पश्चिमी बर्लिन को जाने वाले स्थलीय जलीय और आकाशीय मार्गों को खुला रखने की गारण्टी दी जाय।

(iii) पश्चिमी देश पारस्परिक आधार पर इस बात के प्रति सहमत हैं कि वे विरोधी प्रचार अथवा तोड़फोड़ की कार्यवाहियों की जाँच करेंगे।

चूँकि दोनों ही पक्षों की जर्मनी व बर्लिन के सम्बन्ध में रखे गये एक दूसरे के प्रस्ताव स्वीकार नहीं हुए अतः ११ जून को यह सम्मेलन १३ जुलाई १९५९ तक के लिए स्थगित हो गया। १३ जुलाई से ५ अगस्त १९५९ तक विदेश मन्त्रियों का पुनः सम्मेलन हुआ किन्तु बर्लिन समस्या का कोई समाधान नहीं निकल सका और फलस्वरूप सम्मेलन विफल हो गया। तत्पश्चात् मई १९६० के शिखर सम्मेलन में इस समस्या पर विचार किया जाना निश्चित हुआ किन्तु यू-२ विमानकाण्ड हो जाने के फलस्वरूप शिखर सम्मेलन की भ्रूण हत्या हो गयी और उसमें किसी प्रकार का विचार-विमर्श नहीं हो सका।

तब से लेकर अभी तक जर्मनी और बर्लिन का प्रश्न समाधान के लिए भटका हुआ है। राष्ट्रपति जॉनसन के प्रशासन काल में भी संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति लगभग वही है जो पहले थी। अमेरिका चाहता है कि जर्मनी के दोनों भागों में और बर्लिन में स्वतन्त्र मतदान द्वारा विधान निर्मात्री सभा चुनी जाय और यह सभा एक केन्द्रीय जर्मन सरकार की स्थापना करे। यही सरकार विजेता शक्तियों के साथ संधि करे और इसमें पोलैण्ड एवं रूस द्वारा हथियाये गये प्रदेशों का अन्तिम बटवारा हो। इसके विपरीत सोवियत रूस भी पहले ही के समान यही है कि पश्चिमी देश पूर्वी जर्मनी को एक प्रभुत्व सम्पन्न राज्य स्वीकार कर लें और फिर पश्चिमी और पूर्वी जर्मनी ये दोनों गणराज्य अपने एकीकरण के लिए परस्पर प्रत्यक्ष वार्ता करें। दोनों ही

पक्षों की ओर से जर्मन एकीकरण के लिए रचनात्मक उपाय अपनाये जाने की अपेक्षा कूटनीतिक दावपेचों से उलझे हुए सुझाव पेश किये जाते हैं जिनसे समस्या का समाधान निकट भविष्य में होता दिखायी नहीं पड़ता।

(ख) साम्यवादी चीन की मान्यता का प्रश्न

पहले ही के समान आज भी अमेरिका और रूस की तनातनी का एक बड़ा कारण साम्यवादी चीन की मान्यता को लेकर है। अमरिका फारमोसा को च्यांगकाई-शेक की मरोड़ी राष्ट्रवादी सरकार को ही सम्पूर्ण चीन की वैध सरकार मानता है और उसे ही संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता मिली हुई है। वह सुरक्षा परिषद का स्थायी सदस्य है। इसके विपरीत सोवियत रूस की मान्यता है कि लाल चीन को जिसके नियन्त्रण में चीन की मुख्य भूमि है, संघ की सदस्यता मिलनी चाहिए और अमरिका को उसे मान्यता देनी चाहिये। जॉनसन प्रशासन की विदेश नीति पहले ही के समान इस प्रश्न पर अडिग है और वह मानती है कि जिस लाल चीन ने आज तक हिंसा और युद्ध का सहारा लिया है, संयुक्त राष्ट्र संघ से युद्ध किया है, तिब्बत की स्वतन्त्रता का अपहरण किया है और जो अमेरिका के विनाश की बात करता है उसे संघ में प्रवेश के योग्य एक शांतिप्रिय राष्ट्र नहीं माना जा सकता तथा अमरिका उसे मान्यता नहीं दे सकता।

(ग) नि:शस्त्रीकरण

इस क्षेत्र में कनेडी के प्रशासन काल में जो प्रगति हुई थी उसके बाद से कुछ समय पूर्व तक किसी प्रकार की प्रगति नहीं की जा सकी थी। परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने के लिए जेनेवा में एक वर्ष से जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन चल रहा था वह अचानक सफल सा हो चला था कि अगस्त १९६७ के अन्तिम सप्ताह में अमेरिकन प्रतिनिधि फास्टर एवं सोवियत प्रतिनिधि राश्चिन ने यह एलान किया कि संधि के मसविदे के बारे में सोवियत संघ और अमेरिका में मोटे तौर पर एक समझौता हो गया है जिसके अनुसार होने वाली संधि का मसविदा (Draft) इस प्रकार का है कि परमाणु अस्त्र सम्पन्न राष्ट्र परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्रों को परमाणु अस्त्र प्राप्त करने में किसी प्रकार की सहायता नहीं देंगे संधि पर हस्ताक्षर करने वाले परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्र परमाणु अस्त्र बनाने की कोशिश नहीं करेंगे किन्तु उन्हें असैनिक कार्यों के लिए परमाणु शक्ति का विकास करने की पूरी छूट रहेगी। घोषणा में यह बताया गया कि परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में अभी समझौता होना बाकी है। यद्यपि इस घोषणा से नि:शस्त्रीकरण के क्षेत्र में कुछ प्रगति का संकेत अवश्य मिलता है किन्तु जब तक संधि के प्रारूप को अन्तिम रूप दिया जाकर उस पर हस्ताक्षर नहीं हो जाते तब तक निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। फिर संधि का प्रस्तावित प्रारूप कुछ व्यवस्थाओं के अभाव में विशेष महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि संधि प्रारूप में कहीं भी यह नहीं बताया गया है कि यदि किसी परमाणु अस्त्रविहीन राष्ट्र पर कोई परमाणु अस्त्रधारी राष्ट्र हमला करता है तो हस्ताक्षर करने वाले देश उससे बचाव की क्या व्यवस्था करेंगे? फिर

परमाणु अस्त्रों के परीक्षण पर रोक लगाने की अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के सम्बन्ध में कोई समझौता न होने की बात कही गई है। इस तरह स्पष्ट है कि फिलहाल किसी ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की परिकल्पना भी नहीं हो सकी है जो किसी परमाणु अस्त्र विहीन राष्ट्र को परमाणु अस्त्र बनाने से रोक सके जो विभिन्न देशों के परमाणु शक्ति के विकास के कार्यक्रमों का निरीक्षण और नियंत्रण करके यह गारंटी दे सके कि असैनिक उपयोग के नाम पर जो कुछ हो रहा है वह सैनिक उपयोग में नहीं आयगा और जो हस्ताक्षर करने वाले परमाणु शक्ति विहीन राष्ट्रों को शांतिपूर्ण उपयोगों के लिए परमाणु शक्ति सम्पन्न राष्ट्रों से परमाणु शक्ति के बारे में आवश्यक जानकारी और सामग्री दिला सके।

इसके अतिरिक्त किसी भी निःशस्त्रीकरण अथवा परमाणु प्रतिबंध संधि का व्यावहारिक महत्व तब तक सिद्ध नहीं हो सकता जब तक कि फ्रान्स और चीन उसमें सम्मिलित न हों। चीन की बढ़ती हुई अणु शक्ति तो स्वयं रूस और अमेरिका के लिए भी सिरदर्द हो रही है।

(ब) वियतनाम के सम्बन्ध में जानसन प्रशासन की नीति

वियतनाम की समस्या पर विस्तार से विचार 'दक्षिण पूर्वी एशिया' के अध्याय में यथास्थान किया गया है। प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वियतनाम पर जानसन की विदेश नीति आक्रामक एवं आलोचना की पात्र रही है। अगस्त १९६४ से ही अमेरिका दक्षिणी वियतनाम की ओर से अपने विशाल सैन्यबल को लेकर उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध संघर्षरत हुआ है कि आज यह युद्ध हनोई और वाशिंगटन का युद्ध बन गया है। हां यह अवश्य है कि हनोई को भी चीन और रूस से पर्याप्त मात्रा में अस्त्रशस्त्र उपलब्ध हो रहे हैं। परन्तु संघर्ष में आमने सामने कुछ दक्षिण वियतनामी व अमेरिकन सैनिक और उत्तरी वियतनामी ही रहे हैं। वियतनाम युद्ध के प्रति जानसन प्रशासन का रुख स्वयं अमेरिका में गम्भीर आलोचना का पात्र बना हुआ है। यदि अमेरिका उत्तरी वियतनाम पर अपनी विनाशकारी बमवर्षा बन्द करके सहयोग का रचनात्मक वातावरण पैदा करे तो युद्ध-विराम होकर समझौते का मार्ग निश्चित रूप से प्रशस्त हो सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका ने उत्तरी वियतनाम पर की जाने वाली बमवर्षा को बन्द करने की संयुक्त राष्ट्र संघीय महासचिव की अनेक अपीलों पर भी ध्यान न देते हुए अपने दुराग्रह का ही परिचय दिया है। दो वर्ष से अमेरिका ने प्रबल बमवर्षा द्वारा हनोई को संधि वार्ता के लिए बाध्य करने की कोशिश की है किन्तु इसका प्रभाव उल्टा ही पड़ा है। इन बमवर्षा ने उत्तरी वियतनाम को निरन्तर संघर्ष चलाने के लिए आवश्यक साहस दृढ़ता और संकल्प का ही उपहार दिया है। वियतनाम का यह युद्ध क्षेत्रीय तभी तक है जब तक कि सोवियत रूस अथवा चीनी सैनिक स्वयं रणक्षेत्र में नहीं आ जाते। एक बार अमेरिकन सैनिकों की तरह उनके आ जाने पर इस बात की संभावना प्रत्येक आशा निराशा में बदल जायेगी कि तृतीय महायुद्ध का विस्फोट न हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि जानसन प्रशासन ने वियतनाम युद्ध को अपनी प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लिया है और साम्यवादी प्रसार के विरुद्ध यह इसे एक निर्णायक युद्ध मानता है। किन्तु मानवतावादी केनेडी के उत्तराधिकारी जानसन की यह नीति गलत है और विश्व को ध्वंस की ओर धकेलने वाली है। उनकी इस नीति ने उन्हें स्वयं को अमेरिका में ही उत्तरोत्तर अलोकप्रिय बनाया है और हो सकता है कि राष्ट्रपति के आगामी निर्वाचन में उन्हें इसका बड़ा मुआवजा चुकाना पड़े।

फिर भी अब ऐसे संकेत मिलने लगे हैं कि राष्ट्रपति जानसन अपने विरुद्ध बढ़ते हुए विश्व व अमेरिकन लोकमत को देखकर तथा वियतनाम युद्ध में लम्बे समय तक फंसे रहने से अमेरिकन व्यवस्था पर पड़ने वाले कुप्रभावों की गम्भीरता को समझकर निकट भविष्य में ही वियतनाम युद्ध को बन्द करने हेतु रचनात्मक कदम उठाने को प्रेरित होंगे। श्री जानसन के स्वयं के भाषणों से इस प्रकार की आशा बनने लगी है।

(इ) लैटिन अमेरिका और जानसन प्रशासन

जानसन प्रशासन के अन्तर्गत लैटिन अमेरिका अपनी आर्थिक और सामाजिक स्थिति बरकरार रखने की विवशता के अभिशाप से ग्रस्त है। स्वर्गीय राष्ट्रपति केनेडी ने इस क्षेत्र की आर्थिक समृद्धि के लिए मार्च १९६१ में 'प्रगति के लिए मैत्री' (Alliance for Progress) का कार्यक्रम प्रारम्भ किया था किन्तु जानसन प्रशासन इस कार्यक्रम को प्रभावशाली रूप में कार्यान्वित करने में असफल रहा है और उसकी मौलिक नीति यही है कि राजनीतिक प्रतिद्वन्द्वियों की भौगोलिक दूरी का लाभ उठाते हुए लैटिन अमेरिका को हर तरह से अमरिकन प्रभाव क्षेत्र में रखा जाए। यह वास्तव में एक दुखद तथ्य है कि आकार में भारत से चौगुना यह महाद्वीप उन सभी विषमताओं से पीड़ित है जिनसे कि अफ्रीका या दक्षिणी एशिया के देश। लगभग २५ करोड़ की आबादी वाले इस महाद्वीप के देशों की आर्थिक प्रगति के लिए अमेरिका के तत्वावधान में समर्पित किया गया 'प्रगति के लिए मैत्री कार्यक्रम' अपने उद्देश्य की प्राप्ति में असफल ही रहा है। कई अरब डालर की आर्थिक सहायता इस रूप में प्रदान की गई है या इस सहायता कार्यक्रम को इस तरह लागू किया गया है कि इस महाद्वीप की आर्थिक समृद्धि बढ़ने की बजाय घटी ही है और अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार में उसका हिस्सा लगभग ३% घट कर १६% रह गया है। अमेरीका के साये में पलती गरीबी का परिणाम यह है कि इस महाद्वीप के ५–६ देशों में वाम-पंथी छापामार गतिशील रहते हैं। माना कि लैटिन अमेरिका रूस और चीन से हजारों मील दूर है। उधर अमेरिका चाहता है कि इन देशों के बाजार तो उसे मिलें लेकिन उसको कम से कम कीमत चुकानी पड़े। इसके लिए राष्ट्रपति जानसन सैनिक प्रशासनों को भी उतना ही समर्थन देते हैं जितना कि अनुदार असैनिक प्रशासनों को। स्वर्गीय श्री केनेडी सत्ता से चोट खाकर नहीं चाहते थे कि लैटिन अमेरिका में साम्यवाद पनपे लेकिन उनके उत्तराधिकारी राष्ट्रपति जानसन ने उदार नीति

छोड़कर सख्त रवैया अपनाया है। उन पर हस्तक्षेप साम्यवाद के नाम से ही। बहुविवादास्पद सिद्ध, आर्थिक सुधारों का विरोध और दक्षिण-पंथी तानाशाही सरकारों के प्रति पक्षपात के आरोप खुले आम लगाये जा रहे हैं। लैटिन अमेरिका के प्रति जानसन प्रशासन की नीति 'कथनी और करनी' के अन्तर की है।

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति का मूल्यांकन

संयुक्त राज्य अमेरिका की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति का उपरोक्त विस्तृत वर्णन हमारे समक्ष अमेरिकन विदेश नीति के मुख्य तत्वों का स्पष्टीकरण देता है। इस विवेचना से कुछ स्पष्ट निष्कर्ष निकलते हैं। प्रमुख बात तो यही है कि अमरिकन विदेश नीति में उपनिवेश विरोधी अथवा साम्राज्य विरोधी तत्वों को कभी विशेष महत्व नहीं दिया गया है बल्कि स्वयं अमरिका ने आर्थिक व सैनिक सहायता की नीति द्वारा अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने का प्रयास किया है। लैटिन अमरिकन देश और सुदूरपूर्व स्पष्टतः ऐसे ही क्षेत्र हैं जहाँ अमेरिकन साम्राज्यवादी आकांक्षाओं ने अपना क्षेत्र बना। यही कारण है कि स्वर्गीय प्रसिद्ध लेखक अमेरिकन विदेश नीति को अदृश्य साम्राज्य बनाने की नीति कहकर उसने अपना वर्णन किया। यह ठीक है कि संयुक्त राज्य अमरिका का विश्व में कहीं कोई उपनिवेश नहीं है और उसने युद्धपरान्त अपने उपनिवेश फिलिपाइन्स को भी मुक्त कर दिया है किन्तु विश्व भर में फैले हुए अमरिका के सैनिक अड्डे और उसके असमान व्यापारिक सम्बन्ध वे प्रबल साधन हैं जिनके माध्यम से उसने विभिन्न देशों की आर्थिक व्यवस्था को अपने नियन्त्रण में कर रखा है। अमेरिका से असमान आर्थिक और सैनिक संधियाँ होने के कारण सम्बन्धित देशों को वही काम करना पड़ता है जो अमेरिकन प्रशासन का मन्तव्य होता है।

मध्यपूर्व के तेल को अपने अधिकार में रखने के लिए ही अमरिका ने वहाँ की राजनीति में खुलकर हस्तक्षेप किया है। ट्रूमैन सिद्धान्त आइजनहोवर सिद्धान्त आदि तो इस हस्तक्षेप को उचित ठहराने के आवरण का प्रयास मात्र है। सुदूरपूर्व और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव को बनाये रखने के लिए ही उसने चीन में च्यांगकाई शेक दक्षिणी कोरिया में सिंगमन-री और दक्षिणी वियतनाम में काओकाई के भ्रष्ट शासन को खुला समर्थन दिया है। लैटिन अमेरिका के फासिस्ट और अर्द्ध फासिस्ट शासनतंत्र उसी के समर्थन से आज तक कायम हैं। विश्व में स्वतन्त्रता और प्रजातन्त्र की रक्षा करने का उत्तरदायित्व मान बैठे अमेरिका ने स्पेन में फ्रांको तथा पाकिस्तान में अयूब के तानाशाही शासनों के साथ पूर्ण सहानुभूति दर्शायी है जबकि स्वतन्त्रता और शान्ति प्रेमी भारत के प्रति कटुता पक्षपाती और पक्षपातपूर्ण रवैया रखा है। काश्मीर पर उसका रुख और पाकिस्तान को दिये जाने वाले पैटन टैंक और सबर जेट इसके उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त पश्चिमी जर्मनी का शस्त्रीकरण करके और उसे आधुनिक आयुधों से सुसज्जित करके अमेरिका ने पॉट्सडम निर्णयों के प्रतिकूल आचरण किया है। वियतनाम युद्ध में अपनी दानवी शक्ति का प्रयोग कर के विश्व शान्ति को उसने संकट में डाल रखा है। संसार

* विभिन्न क्षेत्रों में प्रादेशिक सैनिक संगठनों की स्थापना उसने यह कह कर की है कि इससे अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार को रोका जा सकेगा। परन्तु इन सैनिक संगठनों की स्थापना के कारण साम्यवाद की लोकप्रियता को तो कोई विशेष आघात नहीं पहुंचा उल्टे अमरिका की प्रतिष्ठा ही समूचे संसार में और विशेषकर एशिया तथा अफ्रीका के महाद्वीपों में पूर्वापेक्षा कहीं अधिक कम हुई है। और तो और उसके पुराने साथी भी उसकी नीति से ऊब कर उसके चंगुल से निकलने का प्रयास कर रहे हैं। फ्रान्स इसका स्पष्ट प्रमाण है। एशिया में अमेरिका की प्रतिष्ठा को कितना आघात लगा है इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि जून १९६० में राष्ट्रपति आइजनहोवर को अपनी जापान यात्रा इसलिए स्थगित करनी पड़ी कि जापानी सरकार के निमंत्रण के बावजूद जापानी जनता अमेरिका के राष्ट्रपति का स्वागत करने को तैयार न थी। स्वयं एक अमेरिकन लेखक ने लिखा है कि आज एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका की पहचान स्वतन्त्रता के प्रतीक के रूप में नहीं अपितु शत्रुता से होती है।

अन्त में अमेरिकन वैदेशिक नीति और कूटनीति की मान्यताओं का मूल्यांकन सुविख्यात अमेरिकन लेखक वाल्टर लिप मैन के इन शब्दों में किया जाना अनुपयुक्त न होगा कि—

'यह एक अत्यन्त दुःखपूर्ण सत्य है कि यूरोप और एशिया दोनों ही जगह कूटनीतिक पहल कम्युनिस्ट शक्तियों के हाथ में है। हमारी पर राष्ट्र नीति की एक आधारभूत मान्यता कि कम्युनिस्ट विरोधी राज्यों का एक सैनिक घेरा तैयार किया जाय आधुनिक युग से मेल नहीं खाती। इस योजना को १९४९ ई० ट्रूमैन और उसके विदेश सचिव एचेसन के समय में उस समय बनाया गया था जब कि हमें यह मालूम न था कि सोवियत संघ ने हमारे एटमबम के एकाधिकार को तोड़ दिया है। १९४७ ई० के बाद से तमाम लचीले मजबूत समझौतों के बावजूद भी समस्त गैर-एटमी शक्तियां जिनमें जर्मनी और जापान भी शामिल हैं—और जिनमें सारे सीमान्त तथा अन्य राज्य भी सम्मिलित हैं—अन्दर अन्दर इस निष्कर्ष पर पहुंच रहे हैं कि उन्हें एक ऐसी मध्य की स्थिति ग्रहण करनी चाहिये जहां उन्हें दूसरे युद्ध में न फंसने की आशा बनी रहे। हमारी यह नीति—कि युद्ध की स्थिति में प्रत्येक कम्युनिस्ट विरोधी और गैर-कम्युनिस्ट देश हमारा साथ दे—पारमाणविक आयुधों की वास्तविकता की पृष्ठभूमि में असंगत प्रतीत होती है। यह कूटनीति अब काफी पिछड़ गई है।'[1]

---

1 "It is only too painfully obvious that both in Europe and in Asia, the Communist Power have the diplomatic initiative One basic conception of our foreign Policy in that it envisages a containing military ring of anti-Communist States-is out of date It was worked out under Mr Truman and his Secretary of State Mr Acheson in 1949 that is to say before we knew that the Soviet Union was breaking our monopoly of the Atomic bomb Since 1947

ब्रिटेन की विदेश नीति
(The Foreign Policy of Britain)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में प्रस्तुत एवं पिछले अध्यायों में ब्रिटेन और फ्रांस के क्रियाकलापों पर विस्तार से प्रकाश डाला जा चुका है अतः अब दोनों देशों की विदेश नीति अथवा उनके वैदेशिक सम्बन्धों पर यथासम्भव संक्षेप में ही चर्चा की जायगी। ब्रिटेन और फ्रांस दोनों को ही द्वितीय महायुद्ध में प्रबल आघात सहने पड़े और उनके हितों को कल्पनातीत नुकसान पहुँचा। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व ब्रिटेन विश्व की महाशक्तियों में शीर्षस्थ स्थान रखता था। उसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था परन्तु द्वितीय महायुद्ध उसके लिए विनाशकारी सिद्ध हुआ। युद्ध के पूर्व की शक्ति और प्रतिष्ठा उसकी विश्व में भी बहुत लुप्त हो गई और वह एक तृतीय श्रेणी का राष्ट्र रह गया। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व में महाशक्तियाँ केवल दो ही रह गईं—संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात को भली भाँति समझ गये कि उनके राष्ट्र को भविष्य में एक लम्बे अर्से तक संयुक्त राज्य अमेरिका का नेतृत्व परोक्ष या प्रत्यक्ष रूप में स्वीकार करना पड़ेगा। पहले अमेरिका और फिर रूस के आणविक अस्त्रों के आविष्कार से ब्रिटेन की स्थिति और भी निर्बल हो गई। अब समुद्र की लहरों पर भी उसका शासन नहीं रहा और विश्व की सर्वोच्च नौ-शक्ति का स्थान संयुक्त राज्य अमेरिका ने ले लिया। औद्योगिक क्षेत्र में उसकी प्रगति रुक गई, व्यापार शिथिल हो गया आयात-निर्यात कम हो गया और ऋणभार अत्यधिक बढ़ गया। इन सब तत्वों के कारण वह इतना निर्बल हो गया कि एक-एक करके एशिया और अफ्रीका के उसके उपनिवेश तेजी से मुक्त होने लगे और आज तो स्थिति यह है कि ब्रिटेन का साम्राज्य प्रधानतः उसकी अपनी ही भूमि तक सीमित रह गया। उसकी निर्बलता १९५६ में स्वेज संकट के समय तब स्पष्टतया सिद्ध हो गयी जबकि कुछ दिनों के साधारण युद्ध में ही वह काँप गया। द्वितीय महायुद्ध के पूर्व ब्रिटिश विदेश नीति दो सिद्धान्तों पर आधारित थी—प्रथम यूरोप में सन्तुलन की शक्ति (Balance of Power) को कायम रखना तथा दूसरे, अपनी बस्तियों (Colonies) में अपना प्रभुत्व बनाये रखना। परन्तु इस दूसरे महा समर ने तो उसका चित्र ही परिवर्तित कर दिया। किसी ने लिखा है

dispite all the grandiose pacts floating on the surface of events, there has been a deep and steady under tone which has been dragging the non-atomic powers which include not only West Germany and Japan but all the little border states & others too, into somekind of middle position where they have a hope a chance is to expect every anti-Communist or non Communist nation to line up with us in a position of defiance, is incompatible with the realities of nuclear weapons It has become a diplomacy of Col. Blimp (out-dated)."

—*Walter Lippman*

इङ्गलैण्ड जो दूसरों को जीतने के लिए था उसने स्वयं को विजित कर लिया (That England that was want to conquer others heth made a shameful conquest of itself)।" जब कि ब्रिटेन में अब इतना शक्ति नहीं रही कि वह यूरोप में संतुलनकारी सत्ता बना रह सके तब उसने शांतिकाल में ही सुरक्षा संधियों की व्यवस्था निर्माण करनी प्रारम्भ कर दी। परन्तु इस संधि व्यवस्था में भी उसके मस्तिष्क में शक्ति-सन्तुलन का मूल समाया हुआ रहा। वह तो यूरोप की शक्तियों को संतुलित रखने में ही अत्यधिक विश्वास रखे रहा ताकि वे तो आपस में लड़ें और ब्रिटेन अछूता रह सके।

ब्रिटेन और पश्चिम

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर जुलाई १९४५ में ब्रिटेन की नयी संसद का निर्वाचन हुआ और श्रमिक दल के श्री एटली (Attlee) प्रधान मन्त्री बने। श्री अर्नेस्ट बेविन ने विदेश मन्त्री पद सम्भाला। समाजवादी सरकार की स्थापना के कारण ब्रिटेन की विदेश नीति ने नया मोड़ लिया फिर भी पूर्व वर्णित परिस्थितियों के कारण अधिक हेर-फेर नहीं हो सका। हां यह अवश्य हुआ कि युद्धोत्तरकालीन ब्रिटिश विदेश नीति पूर्वापेक्षा बहुत अधिक यथार्थवादी हो गई। श्री बेविन रूस विरोधी थे अतः उन्होंने अपनी विदेश नीति का मुख्य आधार संयुक्त राज्य अमरीका का समर्थन करना बना लिया। वास्तव में इसके कुछ कारण भी थे। अपनी निर्बल स्थिति के कारण ब्रिटेन को पश्चिमी शक्तियों के सहयोग की बहुत अधिक आवश्यकता थी। ब्रिटेन आर्थिक विषमता की समस्या में था और उसे अपने पुनर्निर्माण के लिए तथा आर्थिक स्थिरता के लिए बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता वांछनीय थी। ब्रिटेन को समय-समय पर अमेरिका से ऋण मिलता रहा था और ऋण मिलने की आशा भी थी अतः अमरीका का समर्थन करने में ही ब्रिटेन का हित था। परन्तु इङ्गलैण्ड की जनता बेविन की इस नीति से सन्तुष्ट नहीं थी अतः देश में उसका भारी विरोध हुआ और श्री बेविन को पेरिस शांति सम्मेलन में यह ऐलान करना पड़ा कि हम किसी भी गुट में मिलना नहीं चाहते (We are not ganging up with anybody either with side or the other) परन्तु घोषणा और कार्य में फर्क था। बेविन ने जर्मनी के निर्णय पर अमेरिका का ही समर्थन किया। श्रमिक दल के लगभग ६० संसद सदस्यों ने सरकार से अपनी नीति बदलने की प्रार्थना की और अनुरोध किया कि सोवियत रूस के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाने का प्रयास किया जाय। परन्तु इङ्गलैण्ड की दयनीय आर्थिक अवस्था ने उसको अमेरिका का समर्थन करने को मजबूर कर दिया था। अपनी आर्थिक दशा सुधारने के लिए उसने मार्शल योजना (Marshall Aid Plan) को स्वीकार किया और उसके अन्तर्गत पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त की। बेविन ने इसके उपरान्त ट्रूमैन सिद्धान्त को भी मान लिया। यद्यपि ब्रिटेन अमेरिकन गुट में एक सहायक के रूप में ही रहा किन्तु फिर भी विश्व को यह तो स्पष्ट हो ही गया कि पाश्चात्य संसार का नेतृत्व अब ब्रिटेन के नहीं अमेरिका के हाथ में है। अतः अमेरिका के साथ रहने से अब ब्रिटिश प्रतिष्ठा

बढ़ने के स्थान पर घटी है। उसका साम्राज्य विच्छिन्न होता गया और अनेक क्षेत्रों में तो संयुक्त राज्य अमेरिका ने उसका स्थान ले लिया। न्यूजीलैण्ड और आस्ट्रेलिया जैसे पुराने डोमिनियनों ने राष्ट्रमण्डल से बाहर सुरक्षा प्राप्त करने के लिए 'एन्ज़ुस पैक्ट' (Anzus Pact) बनाना उचित समझा। मध्य पूर्व में ग्रीस फिलस्तीन टर्की और अन्य क्षेत्रों में ब्रिटेन के हटे जाने से जो शक्ति शून्यता पैदा हो गई उसे अमेरिका ने भरा।

अमरीका के साथ अपने सम्बन्धों को दृढ़ करने के अलावा ब्रिटेन ने अन्य पश्चिमी देशों को भी साथ लेने की कोशिश की और अपनी सुरक्षा की दृष्टि से उसने क्षेत्रीय योजनाओं (Regional Schemes) का विकास किया। ब्रिटेन इस बात को भली भांति समझ गया कि अपनी सुरक्षा और आर्थिक समृद्धि के लिए उसे पश्चिमी शक्तियों का सहयोग प्राप्त करना पड़ेगा। प्रारम्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा योजना में उसे पूरा विश्वास पैदा हुआ किन्तु शीघ्र ही उसकी आशायें धूमिल हो गईं और उसने इस विश्वास का अन्त तक निर्वाह करना कठिन पाया। सोवियत संघ के इरादों पर उसे कभी विश्वास न हो सका। चेकोस्लोवाकिया के सोवियत गुट में सम्मिलित हो जाने से परिस्थिति की यथार्थताओं के प्रति उसकी आंखें खुल गईं। ४ मार्च १९४७ को ब्रिटेन ने फ्रांस के साथ डन्कर्क संधि (Dunkirk Treaty) सम्पन्न की जो भावी जर्मन आक्रमणों के विरुद्ध एक-दूसरे की सहायता करने के उद्देश्य से हुई। इसके बाद १७ मार्च १९४८ को ब्रिटेन ने बेल्जियम नीदरलैण्ड्स लक्समबर्ग और फ्रांस के साथ मिल कर ब्रुसेल्स संधि की जिसके परिणामस्वरूप पश्चिमी यूरोपियन संघ (Western European Union) का निर्माण हुआ। इस संधि संगठन के सदस्यों में यह निश्चय हुआ कि हस्ताक्षरकर्ता देशों में से किसी देश पर यदि यूरोप में सैनिक आक्रमण होता है तो अन्य देश संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की धारा ५१ के अनुसार अपनी सम्पूर्ण सैनिक तथा अन्य सहायता आक्रमण का शिकार बने देश को प्रदान करेंगे। इसके पश्चात् नाटो (NATO) की रचना हुई जिसका ब्रिटेन एक प्रभावशाली सदस्य बना। नाटो में सम्मिलित होकर ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ खुला सैनिक गठबन्धन कर लिया और यह स्पष्ट कर दिया कि साम्यवाद के विरुद्ध जिहाद में वह पूरी तरह अमरीका के साथ है। इतना ही नहीं ब्रिटेन ने साम्यवाद की कटु आलोचना भी की और रूस को साम्राज्यवादी देश कह कर सम्बोधित किया।

दरअसल में ब्रिटेन की खोई प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए और ब्रिटेन की सुरक्षा के लिए, १९४५ में ही चर्चिल ने यूरोप की एकता के आन्दोलन का श्रीगणेश कर दिया था और इसी के फलस्वरूप इस विचारधारा के विकसित होने के साथ-साथ ब्रिटेन क्षेत्रीय प्रतिरक्षा संगठनों और विभिन्न आर्थिक सहयोग संगठनों के निर्माण की दिशा में अग्रसर हुआ। डंकर्क ब्रुसेल्स और नाटो संधियों का सदस्य बन जाने के बाद ब्रिटेन ने यूरोपीय परिषद् (Council of Europe) के निर्माण में रुचि ली। ५ मई, १९४९ को इस परिषद की स्थापना हुई

जिसका उद्देश्य यह बताया गया कि यह आर्थिक और सामाजिक प्रगति के लिए तथा अपनी सामान्य विरासत के आदर्शों और सिद्धान्तों में पहले से अधिक एकता लाने का प्रयत्न करेगी। ब्रिटेन ने यूरोपियन कोयला इस्पात समुदाय के साथ भी सहयोग करने की नीति अपनाई। उसने इसका सदस्य बनने के लिए आवेदन-पत्र भी दिया किन्तु फ्रांस के आग्रह से यह आवेदन-पत्र स्वीकार नहीं हो सका। ब्रिटेन ने १९५८ में स्थापित यूरोपियन आणविक शक्ति समुदाय का सदस्य बनने के लिए भी १९६२ में आवेदन पत्र दिया किन्तु जनवरी १९६३ में यह आवेदन पत्र भी अस्वीकार कर दिया गया।

जनवरी १९५८ में यूरोपियन सामान्य मंडी या साझा बाजार की स्थापना हुई जिसमें बेल्जियम, फ्रांस, पश्चिमी जर्मनी, इटली, नीदरलैण्ड्स और लक्जमबर्ग सम्मिलित हुए। ब्रिटेन इस मंडी में सम्मिलित नहीं हुआ क्योंकि उसे इसकी सफलता में बड़ा संदेह था। वह राष्ट्रमण्डल के देशों के साथ अपना सम्बन्ध बनाये रखना चाहता था तथा विश्व में अपनी स्थिति को भी बनाये रखने के लिए किसी ऐसे संगठन में सम्मिलित नहीं होना चाहता था जिसमें वह अपना पूरा प्रभाव न जमा सके। परन्तु जब यूरोपियन सामान्य मंडी से ब्रिटेन और अन्य देशों को काफी हानि पहुंचने लगी तो इसके दुष्प्रभावों को दूर करने के लिए ब्रिटेन ने यूरोपियन मुक्त व्यापार संघ (European Free Trade Association) का निर्माण किया। यह संघ यूरोपियन सामान्य मंडी का मुकाबला न कर सका। १९६१ तक ब्रिटेन का यूरोप के साथ निर्यात व्यापार घट गया उसकी कृषि-वस्तुओं की मंडी समाप्त सी हो गई और उसे यह आशंका हुई कि यूरोप के साथ उसका व्यापार सर्वथा समाप्त हो जायगा। अतः इस भयावह स्थिति से बचने के लिए उसने यूरोपियन सामान्य मंडी का सदस्य बनने का प्रयत्न किया। किन्तु फ्रांस के हठ से उसके सदस्य बनने का प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया। ब्रिटेन यूरोपियन सामान्य मंडी का सदस्य बनने का निरन्तर प्रयास करता रहा और अब उसका सदस्य बन जाना लगभग निश्चित सा हो गया है। ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री विल्सन मई १९६७ में ब्रिटिश संसद में इस बात की घोषणा भी कर चुके हैं। तथापि श्री विल्सन का यदि यह 'निश्चय' एक बार फिर 'अनिश्चय' में बदल दे तो कोई आश्चर्य नहीं होगा। वैसे यह समाचार मिलने भी लगा है कि यूरोपियन आर्थिक समुदाय आयोग ने सामान्य मंडी की ब्रिटिश सदस्यता के संदर्भ में पौण्ड की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा पर आपत्ति की है।

पश्चिमी यूरोप विशेष कर अमरीका के साथ सहयोग और सैनिक गठबन्धन की नीति ब्रिटेन ने निरन्तर जारी रखी। निःशस्त्रीकरण सम्बन्धी वार्ताओं में ब्रिटेन और अमरीका की नीति में सामञ्जस्य रहा और अन्त में वाशिंगटन को पूर्ण समर्थन दिया। सितम्बर १९५४ में ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य अमरीका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, न्यूजीलैंड, पाकिस्तान, फिलिपाइन्स, थाईलैंड आदि के साथ पारस्परिक सहायता और सामूहिक सुरक्षा सन्धि पर हस्ताक्षर करके दक्षिण पूर्वी एशिया सन्धि संगठन (SE

को जन्म दिया। ब्रिटेन ने १९४७ में प्रतिपादित आइजनहोवर सिद्धान्त के प्रयोग में पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित की और जोर्डन में तो इस सिद्धान्त के प्रयोग की दिशा में उसका व्यावहारिक व सक्रिय सहयोग रहा। जर्मनी के प्रश्न पर भी ब्रिटेन का अन्य सम्बन्धित पश्चिमी शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोगी रुख है। १९६३ में अमरीका रूस और ब्रिटेन द्वारा मास्को में अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि पर हस्ताक्षर किये गये और फिर १९६७ में परमाणु अस्त्रों के प्रसार पर रोक लगाने के सम्बन्ध में जो संधि सितम्बर-अक्टूबर में सम्पन्न हुई उस पर भी ब्रिटेन प्रमुख हस्ताक्षर कर्ता राष्ट्र था।

उपरोक्त विवरण से यही ध्वनित होता है कि युद्धोत्तर काल में संयुक्त राष्ट्र संघ और ब्रिटेन के सम्बन्ध निरन्तर घनिष्ठतम रहे हैं और उनमें विरोध की कोई बात पैदा नहीं हुई। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। दोनों देशों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर भी दोनों कुछ प्रश्नों पर एक दूसरे की आलोचना करते हैं और अपने तीव्र मतभेदों को व्यक्त करते हैं यद्यपि यह आलोचना और मतभेद-अभिव्यक्ति तथ्यों पर आधारित होती है न कि विरोध की भावना पर। विरोध करते समय दोनों यह मान कर चलते हैं कि एक व्यक्ति को अपने मित्र की आलोचना करने का अधिकार है। अब तक का इतिहास बताता है कि ऐसे कुछ प्रमुख मुद्दे रहे हैं और हैं जिन पर दोनों राष्ट्रों में मतभेद पाये जाते हैं। अगस्त १९४५ में ब्रिटेन को तब नाराजगी हुई जब अमरीका द्वारा एकदम लैण्ड-लीज (Land Lease) को बन्द कर दिए जाने से ब्रिटिश अर्थ-नीति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन में जो समाजवादी आन्दोलन चलने लगा और श्रमिक सरकार द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गईं उनके प्रति अमरीका में संदेहपूर्ण वातावरण बना। साम्यवादी रूस के प्रति अमरीका की कठोर नीति को ब्रिटेन ने विशेष नहीं सराहा। कतिपय मामलों में अमरीका के कठोर रुख का समर्थन करते हुए भी सामान्यतः ब्रिटेन की यही धारणा रही कि रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों के साथ अधिकाधिक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए और रूस तथा चीन को समझौतेपूर्ण रवैये द्वारा अपने निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिये। ब्रिटेन ने अमरीका की नाराजगी की परवाह न करते हुए जनवरी १९५० में ही चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने के विचार की घोषणा कर दी। उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में भी अमरीकन रुख के प्रति ब्रिटेन में असंतोष रहा। उसका यही मत है कि हिन्द चीन उत्तरी अफ्रीका पश्चिमी एशिया आदि प्रदेशों में ब्रिटिश स्वार्थों और हितों के प्रति अमरीका का रुख विशेष सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है। स्वेज का १९५६ में नासिर द्वारा राष्ट्रीयकरण किये जाने पर ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा जो आक्रमक नीति अपनाई गई उसका अमरीका ने समर्थन नहीं किया। अमरीका ने मिस्र की भूमि में ब्रिटिश व फ्रेंच सेनाओं के प्रवेश का घोर विरोध किया। अमरीका का यह रुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिये सर्वथा अनपेक्षित था। भारत-पाकिस्तान के १९६५ के सशस्त्र संघर्ष में भी ब्रिटिश और अमरीकन नीतियों में विशेष सामीप्य नहीं है। परन्तु विभिन्न मतभेदों के बावजूद भी दोनों देशों के मौलिक हित परस्पर घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं और भी अतीत के कहे गये ये वाक्य आज भी पूर्ण महत्व रखते हैं

कि— 'हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण नींव संयुक्त राज्य अमेरिका साथ संधि मित्रता तथा बढ़ती हुई भाई चारे की भावना पर आधारित है।'[1]

ब्रिटेन एवं विश्व के अन्य देश अमरीका के गुट में रहते हुए और विभिन्न अवसरों पर साम्यवादी देशों की कटु आलोचना करने पर भी ब्रिटेन का यह सामान्य मत रहा है कि साम्यवादी देशों विशेष कर रूस एवं अमरीका के प्रति पश्चिमी देशों को खास कर अमरीका को नरम एवं सहयोगी रुख अपनाना चाहिये। ब्रिटेन के अनुदार दल और श्रमिक दल दोनों ही इस विषय में एकमत हैं। अपनी इसी नीति के कारण युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन ने साम्यवादी गुट के देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। वास्तव में साम्यवादी देशों–सोवियत रूस और चीन के प्रति ब्रिटेन ने विदुषी नीति का अनुसरण किया। एक ओर तो यूरोप में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को तथा विश्व के अन्य भागों में साम्यवादी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए वह शीत युद्ध में सम्मिलित हो गया और प्रादेशिक संगठनों द्वारा साम्यवादी प्रभाव का विस्तार रोकने में तत्पर होने लगा और दूसरी ओर उसने साम्यवादी देशों के साथ अपने व्यावसायिक सम्बन्ध बढ़ाने की चेष्टा की। संयुक्त राज्य अमरीका के पथ पर चलते हुए भी ब्रिटेन ने चीन से विरोध नहीं किया क्योंकि चीन में उसकी अपार सम्पत्ति है और वृहत् व्यवसाय। उसने चीन को अमरीकन विरोध के बावजूद कूटनीतिक मान्यता भी प्रदान की। चीन के व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डलों ने यू० के० ब्रिटेन का भ्रमण किया और ब्रिटेन द्वारा चीन से विभिन्न क्षेत्रों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। ब्रिटेन द्वारा चीन को वायुयान भी बेचे गये। सोवियत रूस के प्रति भी ब्रिटेन का रुख सराहनीय रहा। दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों ने एक दूसरे के देशों की यात्रायें की। दोनों के मध्य समय–समय पर प्रतिनिधि मण्डलों के आने–जाने का क्रम अब भी जारी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटेन पश्चिमी गुट का उपनेता है और अधिकांशतः उसने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ मिल कर कार्य किया है। संघ में ब्रिटेन को अधिकांशतः एशिया और अफ्रीका के राज्यों का विरोध सहना पड़ा है। इस विरोध का प्रमुख कारण एशियाई और अफ्रीकन राज्यों के प्रति अपनायी जाने वाली उसकी विरोधी नीति रही है। भारत के साथ काश्मीर के मामले में और मिस्र अथवा संयुक्त अरब गणराज्य के साथ स्वेज एवं इजरायल के मामले पर ब्रिटेन ने न्याय का पथ छोड़ने की कोशिश की। १९५६ में स्वेज विवाद पर ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र के विरुद्ध जो आक्रामक कार्यवाही की उससे मिस्र और ब्रिटेन के सम्बन्ध अब तक तनावपूर्ण

---

1 The whole foundation of our existance stands on the alliance and friendship and, if I may say so an increasing sense of brotherhood with the United States."

—*Churchill Sir Winston*

बने हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद नीति के प्रति ब्रिटेन ने कोरा प्रदर्शनात्मक विरोध ही किया है और इस बारे में सक्रिय कार्यवाही का वह विरोधी रहा है। अफ्रीका में रोडेशिया की गोरी सरकार की नीतियों को भी वह नहीं रोक पाया है। कतिपय क्षेत्रों में सन्देह यही व्याप्त है कि रोडेशिया की अल्प संख्यक स्मिथ सरकार को ब्रिटेन की गुप्त एवं अप्रत्यक्ष मदद प्राप्त है। दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार की एक तरफा स्वतन्त्रता की घोषणा से और ब्रिटेन की अव्यावहारिक रूप से निष्क्रियता से अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न राज्य बड़े क्षुब्ध और सशंकित हैं। ईरान ईराक इण्डोनेशिया बर्मा मलेशिया साइप्रस वियतनाम जोर्डन आदि विभिन्न राज्यों से ब्रिटेन के जो सम्बन्ध रहे हैं उन पर पूर्ववर्ती अध्यायों में यथा स्थान पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों का काफी परिचय एशिया और अफ्रीका सम्बन्धी अध्यायों में दिया गया है।

फ्रांस की विदेश नीति

यूरोप महाद्वीप के पश्चिम में स्थित यह देश उत्तर पश्चिम और दक्षिण में क्रमशः उत्तरी सागर व इंगलिश चैनल अटलांटिक महासागर तथा भूमध्य सागर से घिरा हुआ है। इसके पूर्व में जर्मनी है पूर्वोत्तर में होलैण्ड-बेल्जियम, दक्षिण पूर्व में इटली और दक्षिण-पश्चिम में स्पेन यद्यपि फ्रांस की विदेश नीति अपने पड़ोसियों के प्रति परिवर्तनशील रही है तथापि यह कहा जा सकता है कि घनिष्ठ मित्रता के बावजूद भी फ्रांस ब्रिटेन की ओर से सदा सशंकित रहा है। ब्रिटेन ने कभी भी फ्रांस को यूरोप का सर्वाधिक शक्तिशाली राज्य नहीं बनने दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांस ने जो कुछ भी शक्ति और ख्याति अर्जित की वह द्वितीय महायुद्ध में पूर्ण धूसरित हो गई। युद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांस की नई सरकार बनी तो उसकी अध्यक्षता जनरल डिगाल के हाथों में आ गई। परन्तु फ्रांस के संविधान से ऊब कर तथा मंत्रीमण्डलों की अस्थिरता से परेशान होकर डिगाल ने त्यागपत्र दे दिया और राजनीति से अलग हो गया। अब फ्रांस की अस्थिरता का वही पुराना चक्र फिर से प्रारम्भ हो गया। १९४६ से १९५८ तक २२ मंत्रिमण्डल बने। युद्ध और अस्थिर शासन ने फ्रांस को इतना नपुंसक बना दिया कि वह किसी प्रकार की प्रभावशाली विदेश नीति नहीं अपना सका। मार्च १९४७ में उसने ब्रिटेन के साथ डंकर्क की संधि की तत्पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मार्शल योजना में भागीदार बन कर उसने अमरीका से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। उसने पश्चिम यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की विभिन्न योजनाओं में सहयोग किया। वह ब्रुसेल्स पैक्ट और नाटो का सदस्य बना। अन्य ५ राष्ट्रों के साथ मिल कर फ्रांस ने यूरोपियन साझाबाजार की रचना की और उसमें ब्रिटेन के प्रवेश को रोक रखने का सफल प्रयास किया। आज भी साझाबाजार में ब्रिटिश प्रवेश मुख्यतः श्री डिगाल के विरोधी रुख के कारण ही रुका हुआ है।

फ्रांस अमेरिका और ब्रिटेन के विदेश मंत्रियों ने सितम्बर १९५० में जर्मनी के प्रश्न पर विचार करते हुए जर्मन लोगों की एकीकरण की भावना

का समर्थन किया। रूस के असहयोग के कारण जर्मनी का एकीकरण संभव न हो सका। अन्त में तीनों राष्ट्रों ने बर्लिन के संघीय गणराज्य (पश्चिमी जर्मनी) को ही जर्मन जनता का वास्तविक प्रतिनिधि मानने का निश्चय किया। एशिया के विवादों में फ्रांस ने अधिक भाग नहीं लिया क्योंकि हिन्द चीन की समस्या में फ्रांस को निरन्तर पीछे हटना पड़ा तथा जुलाई १९५४ के जेनेवा शिखर सम्मेलन में वियतनाम के विभाजन को मान्यता मिल गई। फ्रांस कोरिया युद्ध में भी कोई भाग इसीलिए नहीं ले सका था क्योंकि वह उस समय हिन्द चीन में साम्यवादियों से युद्ध में उलझा हुआ था। १९५६ में फ्रांस और ब्रिटेन ने इजरायल के साथ मिल कर मिस्र पर आक्रमण किया किन्तु उनके साम्राज्यवादी इरादे नाकामयाब हो गए। यहां तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका तक के कठोर विरोध का उन्हें सामना करना पड़ा।

१९५८ के मध्य तक फ्रांस अपनी राजनीतिक अस्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा सका किन्तु इसके बाद स्थिति में परिवर्तन आने लगा। मई १९५८ में फिमरे फ्लिमलिन की सरकार का पतन हो जाने के बाद दिगाल के प्रधानमंत्रित्व में फ्रांस के पांचवें गणतन्त्र का उदय हुआ। असेम्बली ने दिगाल को ६ मास के लिए संसदीय हस्तक्षेप से रहित समस्त अधिकार सौंप दिये। उन्होंने ३ जून १९५८ को एक संवैधानिक कानून बनाया जिसके अनुसार सुधारों को राष्ट्रीय असेम्बली में पेश न करके सीधे इलेक्टोरेट में पेश किया जा सकता था। ४ सितम्बर १९५८ को पांचवें गणतन्त्र का नवीन संविधान प्रकाशित हुआ जिसके अनुसार संसद की अनेक शक्तियां राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर दी गयी। दिसम्बर १९५८ के राष्ट्रपति के चुनाव में दिगाल पहले ही बहुमत से राष्ट्रपति चुन लिये गए थे।

फ्रांस के नवीन संविधान के अनुसार २ अक्टूबर, १९५८ को गिनी का राज्य स्वतन्त्र मान लिया गया। १२ नवम्बर को वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया। राष्ट्रपति दिगाल ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही अपना ध्यान अल्जीरिया की तरफ केन्द्रित किया। दिगाल के पूर्ववर्ती सभी फ्रेंच नेता यह कहते थे कि फ्रांस अल्जीरिया में अपने अधिकारों का कभी समर्पण नहीं करेगा। अपने साम्राज्यवादी अधिकारों की रक्षा के लिए फ्रांस अल्जीरिया के स्वाधीनता आन्दोलन को बुरी तरह कुचलता रहा किन्तु इससे अल्जीरिया वासियों के स्वातन्त्र्य संघर्ष में कोई कमी नहीं आई। राष्ट्रपति दिगाल ने विद्रोहियों को शान्त करने और अल्जीरियन युद्ध को रोकने के लिए समझौता करने का निश्चय किया। विद्रोहियों को शान्त करने में तो वह सफल हो गये किन्तु दूसरे उद्देश्य की प्राप्ति में उन्हें सफलता नहीं मिली। दिगाल ने अल्जीरिया वासियों को फ्रेंच नागरिकता का प्रलोभन दिया किन्तु वे तो अल्जीरिया की नागरिकता चाहते थे फ्रांस की नहीं। तब सितम्बर १९५९ में दिगाल ने घोषणा की कि यदि अल्जीरिया निवासी शान्ति का मार्ग स्वीकार कर लेंगे तो ४ वर्षों के अन्दर ही वहां इन सुझावों पर जनमत लिया जायगा—

(१) फ्रांस अल्जीरिया पर अपने समस्त अधिकारों को त्याग देगा।

(२) फ्रांस के साथ अल्जीरिया का एकीकरण कर दिया जायेगा और अल्जीरिया निवासियों को मेट्रोपोलिटन फ्रांस के नागरिकों को प्राप्त सभी सुविधायें प्रदान की जायेंगी।

(३) अल्जीरिया निवासी ही वहां का शासन करें किन्तु इसके पीछे फ्रांस का भी आर्थिक शैक्षिक सम्बन्धी तथा वैदेशिक सहयोग रहे।

परन्तु ये सुझाव उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। प्रथम तो ये सुझाव शान्ति स्थापना के बाद ही काम में लाये जा सकते थे और शान्ति की स्थापना तभी हो सकती थी जब कि अल्जीरिया को स्वाधीनता प्राप्त हो जाये। दूसरे सुझाव के परिणामों को फ्रेंच सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होनी थी जो वहां के लोगों की राष्ट्रीय भावना के लिए एक अपमानजनक बात थी। अल्जीरियन गणतंत्र की अन्तःकालीन सरकार ने इस विषय पर फ्रेंच सरकार से वार्तालाप करना स्वीकार किया परन्तु डिगाल ने उसे अल्जीरिया के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। जनवरी १९६० में अल्जीरिया में डिगाल विरोधियों ने एक प्रबल विद्रोह कर दिया जिससे समस्या का समाधान और भी दुष्कर हो गया। फरवरी १९६० में फ्रेंच-संसद द्वारा राष्ट्रपति डिगाल को अल्जीरिया विवाद के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये गये। उन्होंने अल्जीरिया तथा फ्रांस में जनमत संग्रह करने का प्रस्ताव किया। यद्यपि यह जनमत संग्रह 'अल्जीरिया अल्जीरिया वालों के लिए' विषय पर होना था किन्तु अल्जीरिया की अन्तःकालीन सरकार (स्वातन्त्र्य आंदोलन की संचालक) के अध्यक्ष अब्बास ने इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया और अपने अनुयायियों को वोट न देने का आदेश दिया। फिर भी जनवरी १९६१ में जनमत संग्रह हुआ जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने अल्जीरिया में स्वायत्त शासन स्थापित होने के पक्ष में और ५० लाख लोगों ने इसके विपक्ष में मत दिया। परन्तु समस्या यह थी कि स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता था क्योंकि किसी न किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता। फिर भी पारस्परिक वार्तालाप द्वारा कोई समाधान निकल आने की संभावना अवश्य बढ़ गई। किन्तु अप्रैल १९६१ में डिगाल विरोधी कुछ अवकाश प्राप्त फ्रेंच सैनिक अधिकारियों ने सहसा आक्रमण करके अल्जीरिया पर आधिपत्य कायम कर लिया। डिगाल ने इस सैनिक विद्रोह को दबा दिया और अल्जीरियन राष्ट्रवादियों के साथ वार्ता शुरू कर दी। अन्त में १ जुलाई १९६२ को अल्जीरिया को स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई और इस प्रकार राष्ट्रपति डिगाल ने अल्जीरिया प्रॉब्लम होबर्ट का अन्त कर दिया।

राष्ट्रपति दगाल की प्रमुख चिंता सदैव यही रही कि फ्रांस किसी न किसी तरह अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को फिर से प्राप्त करे। इसीलिए धीरे-धीरे वह अपने राष्ट्र को अमेरिकन प्रभाव से मुक्त करने लगे और दूसरी ओर ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रोकने की चेष्टा में लगे रहे। इसीलिए साम्यवादी देशों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किये। साम्यवादी

चीन के साथ फ्रांस के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में विकास हुआ। मास्को की अणु परीक्षण निरोध संधि पर हस्ताक्षर न करने वाले केवल दो ही बड़े देश रहे चीन और फ्रांस और दोनों ही ने यह तर्क दिया कि इस संधि का ध्येय यह है कि सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन अणु अस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते हैं एवं उनका प्रयोजन यह है कि अन्य देश इस शक्ति का विकास न करने पावें।

फ्रांस ने वियतनाम में संयुक्त राज्य अमेरिका की कार्यवाही की निन्दा जिन शब्दों में की है उनमें तीखी आलोचना की गंध आती है। यूरोपियन साझाबाजार में ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की दिगाल की नीति पश्चिमी देशों में फूट का संकेत देती है। संयुक्त राज्य अमरिका बहुत चाहता है कि ब्रिटेन को यूरोपियन साझाबाजार की सदस्यता मिल जावे। इसके लिये उसने फ्रांस पर दबाव भी डाला किन्तु दिगाल अपने हठ पर अभी दृढ़ प्रतीत होता है। इतना ही नहीं कुछ और बातों को लेकर भी फ्रांस तथा ब्रिटेन और अमेरिका के मध्य गहरे मतभेद पैदा हो गए। निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर इनमें मतैक्य नहीं है। जब फ्रांस को संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बनाया गया तो उसने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। इससे भी बढ़कर घटना नाटो को पोलरिस अस्त्रों से युक्त करने के प्रस्ताव को लेकर घटी। १९६२ में अमेरिका और ब्रिटेन में एक समझौते द्वारा यह तय हुआ कि नाटो राज्यों की सेनाओं को पोलरिस प्रक्षेपणास्त्रों से लैस किया जाय। परन्तु फ्रांस ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया और निर्णय लिया कि वह इस कार्य में भाग नहीं लेगा। १९६४ में फ्रेंच सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देना और दोनों राष्ट्रों के बीच राजदूतों का आदान प्रदान हो जाना की घटना से यह और भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति दिगाल का अपना अलग ही रास्ता है जो बाकी राज्यों से भिन्न है।

चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करने के अतिरिक्त राष्ट्रपति दिगाल ने संसार के समक्ष एक और सुझाव रखा। उन्होंने कहा कि दक्षिण पूर्वी एशिया की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डांवाडोल है अतः इस क्षेत्र का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके तटस्थीकरण (Neutralisation of S E. Asian Region) कर दिया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी राज्यों ने दिगाल के सुझाव का कटु विरोध किया। वास्तव में फ्रांस की ये सभी कार्यवाहियां अटलांटिक समुदाय की एकता को भंग करने वाली हैं। इस एकता को कठोरतम आघात तो १२ मार्च १९६६ की दिगाल की इस घोषणा से पहुंचा है कि फ्रांस नाटो संगठन से ही अलग होना चाहता है। फ्रांस द्वारा यह निश्चय व्यक्त किया गया है कि तीन वर्ष के अन्दर वह अपने सभी अफसरों को नाटो की सेना से वापिस बुला लेगा और उसके साथ ही नाटो के साथ अपने सारे सम्बन्धों को समाप्त कर लेगा। फ्रांस की मांग पर ही संयुक्त राज्य अमेरिका को फ्रेंच भूमि पर स्थित नाटो अड्डों को खाली कर देना पड़ा। वास्तव में फ्रांस के नाटो के परित्याग के निर्णय से पश्चिमी गुट पर एक महान संकट आ गया है और इसके भयंकर परिणाम हो सकते

है। नाटो में पश्चिमी जर्मनी को इस शर्त पर १९५५ में शामिल किया गया था कि वह स्वतन्त्र रूप से अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि नहीं करेगा। इस शर्त के लिए स्वयं फ्रांस बहुत बढ़ था। परन्तु जब फ्रांस ही नाटो से निकल जायगा तो पश्चिमी जर्मनी भी इस शर्त से मुक्त हो जायगा और तब वहां सैन्यशक्ति में वृद्धि करने का कार्यक्रम जोर-शोर से चल सकता है। पश्चिमी जर्मनी द्वारा सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों में होगी और इस तरह हथियार बन्दी की होड़ का कुचक्र फिर जोरों से चलना शुरू होगा। राष्ट्रपति दिगाल का यह निर्णय कई भयंकर परिणामों से युक्त है। इसके कारण यूरोप की कूटनीतिक स्थिति खराब हो सकती है और पश्चिमी जर्मनी को लेकर युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती है।

वस्तुतः जनरल दिगाल कई वर्षों से ऊपर से विचित्र दीखने वाले अपने व्यवहार से राजनीतिक जगत को चौंकाते रहे हैं। कुछ लोग इसे 'वृद्धावस्था की सनक' नाम देते हैं। मगर जो लोग इन कार्यवाहियों के पीछे उद्देश्य खोजने के पक्ष में हैं उनके अनुसार यूरोप और सम्पूर्ण विश्व के प्रति जनरल दिगाल का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। हाल ही में उन्होंने कहा है अमेरिका विश्व में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है और स्वाभाविक रूप से वह अपनी शक्ति को बढ़ाने पर तुला हुआ है। इस शक्ति विस्तार से बचने के लिए जनरल के अनुसार दो ही रास्ते हैं। पहला मार्ग यह है कि किसी गुट का एक सदस्य बन जाइये जहां अमेरिकन शक्ति सर्वोपरि है और यह रास्ता आसान है। दूसरा रास्ता है अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा। इसके लिए यह जरूरी है कि फ्रांस और जर्मनी एक-दूसरे के निकट आवें अन्यथा अमेरिकन प्रभाव से नहीं बचा जा सकता। इसीलिए फ्रांस और जर्मनी में राजनीतिक घनिष्ठता के प्रति सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं। जनरल दिगाल का विश्वास है कि फ्रांस ने जिस आर्थिक ढांचे को पिछले ६ वर्षों में खड़ा किया है उसे नष्ट न होने दें ताकि उसे अमेरिकन पद्धति द्वारा आत्मसात न किया जा सके। अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए ही उनकी तीसरी शर्त यह है कि विश्व में इस वहम को समाप्त कर दिया जाय कि शक्ति के कुल दो ही गुट हैं उसके बाहर कुछ नहीं है। तीसरे गुट की रचना के लिए फ्रांस पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट आना चाहता है ताकि विश्व राजनीति में दो गुटों की पद्धति के अतिरिक्त भी कुछ हो। इसी नीति को अपनाकर वह ब्रिटेन के यूरोपीय साझा बाजार में सम्मिलित होने का विरोध करते हैं। कुछ राजनीतिक विशेषज्ञों का मत है कि विश्व की राजनीति को अपने विचारों के अनुकूल परिवर्तित करना और अपनी इच्छानुसार गुटों का निर्माण और विनाश करना फ्रांस के बूते की बात नहीं। फ्रांस या दिगाल विश्व की राजनीतिक घटनाओं को नियन्त्रित करने की शक्ति नहीं रखते। इसलिए जनरल की कभी राजनीतिक उड़ानें संभवतया कोई फल नहीं देंगी। जब तक विश्व की जनता यह महसूस नहीं करती कि अमेरिकन और रूसी गुटों के अतिरिक्त भी कोई और शक्ति का स्रोत है तब तक उनकी भर्त्सना करके अपने परम्परागत मित्रों को नाराज करना एक खतरनाक बात है। मगर जनरल दिगाल इसी प्रकार की संदिग्ध और विवादास्प-

परिस्थितियों में विकसित हुए हैं। १९६२ में अल्जीरियाई स्वतन्त्रता के समय उन्होंने अपने मंत्रीमण्डल से कहा था मित्रों फ्रांस का जहाज बहुत ही तूफानी यात्रा पर चल पड़ा है जिन्हें यात्रा की थकान महसूस होती है वे जहाज से उतर जायें और दूसरों को लहरों के भरोसे जाने दें।

EXERCISES

1. Critically examine the foreign policy of the U.S.A. since the termination of Second World War

   Or

   Give a critical sketch of post-war American foreign policy

   द्वितीय महायुद्ध की उत्तरकालीन अमेरिकन विदेश नीति का आलोचनात्मक विवरण दीजिये।

2. Sketch briefly the part played by the U.S.A. in International affairs since 1939 What are the international aims of the U S A. at present time ?

   १९३९ के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जो भूमिका अदा की उसका संक्षेप में विवरण कीजिए। वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य क्या हैं ?

3. Estimate the strength and influence of the imperialist motive in the policy of the United States today

   संयुक्त राज्य अमरिका की नीति में साम्राज्यवादी उद्देश्य के प्रभाव और शक्ति का मूल्यांकन कीजिये।

4. What was the Truman Doctrine ? When and under what circumstances was it enunciated ? Would you agree with the view that the Truman Doctrine is the modern version of the Monroe Doctrine ?

   ट्रूमैन सिद्धान्त क्या था ? कब और किन परिस्थितियों में इसे कार्यान्वित किया गया था ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का आधुनिक रूप है ?

5. "The Truman Doctrine marks a revolutionary departure in the American tradition policy and political thinking." Elucidate

   "ट्रूमैन सिद्धान्त अमेरिकन परम्परा नीति और राजनीतिक चिन्तन में एक क्रान्तिकारी विचार का संकेत है।" विवेचना कीजिए।

6. "... ...The Truman Doctrine was indeeda Monroe Doctrine for the entire free world The Truman Doctrine made the necessary adjustment of the old Doctrine to new conditions, the necessary extension of the borders of the Western Hemisphere to the borders of the free World." (Michael Donelan) Discuss

   "ट्रूमैन सिद्धान्त निश्चय ही सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो

ो जन्म दिया। ब्रिटेन ने १९४७ में प्रतिपादित आइजनहावर सिद्धान्त के योग में पूर्ण निष्ठा प्रदर्शित की और जोर्डन में तो इस सिद्धान्त के प्रयोग ी दिशा में उसका व्यावहारिक व सक्रिय सहयोग रहा। जर्मनी के प्रश्न पर ी ब्रिटेन का अन्य सम्बन्धित पश्चिमी शक्तियों के साथ पूर्ण सहयोगी रुख है। ९६३ में अमरीका रूस और ब्रिटेन द्वारा मास्को में अणु परीक्षण प्रतिबन्ध ंधि पर हस्ताक्षर किये गये और फिर १९६७ में परमाणु अस्त्रों के प्रसार र रोक लगाने के सम्बन्ध में जो संधि सितम्बर-अक्टूबर में सम्पन्न हुई उस र भी ब्रिटेन प्रमुख हस्ताक्षर कर्ता राष्ट्र था।

उपरोक्त विवरण से यही ध्वनित होता है कि युद्धोत्तर काल में ंयुक्त राष्ट्र संघ और ब्रिटेन के सम्बन्ध निरन्तर घनिष्ठतम रहे हैं और उनमें विरोध की कोई बात पैदा नहीं हुई। परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। दोनों देशों के बीच इतना घनिष्ठ सम्बन्ध रहने पर भी दोनो कुछ प्रश्नों पर एक दूसरे की आलोचना करते हैं और अपने तीव्र मतभेदों को व्यक्त करते हैं यद्यपि यह आलोचना और मतभेद-अभिव्यक्ति तथ्यों पर आधारित होती है न कि विरोध की भावना पर। विरोध करते समय दोनों यह मान कर चलते हैं कि एक व्यक्ति को अपने मित्र की आलोचना करने का अधिकार है। अब तक का इतिहास बताता है कि ऐसे कुछ प्रमुख मुद्दे रहे हैं और हैं जिन पर दोनों राष्ट्रों में मतभेद पाये जाते हैं। अगस्त १९४५ में ब्रिटेन को तब नाराजगी हुई जब अमरीका द्वारा एकदम लैण्ड-लीज (Land Lease) का अन्त कर दिये जाने से ब्रिटिश अर्थ-नीति पर विपरीत प्रभाव पड़ा। युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन में जो समाजवादी आन्दोलन चलने लगा और श्रमिक सरकार द्वारा जो नीतियां अपनाई गईं उनके प्रति अमरीका में सदिग्धपूर्ण वातावरण बना। साम्यवादी रूस के प्रति अमरीका की कठोर नीति को ब्रिटेन ने विशेष नहीं सराहा। कतिपय मामलों में अमरीका के कठोर रुख का समर्थन करते हुए भी सामान्यतः ब्रिटेन की यही धारणा रही कि रूस एवं अन्य साम्यवादी देशों के साथ अधिकाधिक व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने चाहिए और रूस तथा चीन को समझौतेपूर्ण रवैये द्वारा अपने निकट लाने का प्रयत्न करना चाहिये। ब्रिटेन ने अमरीका की नाराजगी की परवाह न करते हुए जनवरी १९५० में ही चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने के विचार की घोषणा कर दी। उपनिवेशवाद के सम्बन्ध में भी अमरीकन रुख के प्रति ब्रिटेन में असंतोष रहा। उसका यही मत है कि हिन्द चीन उत्तरी अफ्रीका पश्चिमी एशिया आदि प्रदेशों में ब्रिटिश स्वार्थों और हितों के प्रति अमरीका का रुख विशेष सहानुभूतिपूर्ण नहीं रहा है। स्वेज का १९५६ में नासिर द्वारा राष्ट्रीयकरण किये जाने पर ब्रिटेन और फ्रांस द्वारा जो आक्रामक नीति अपनाई गई उसका अमरीका ने समर्थन नहीं किया। अमरीका ने मिस्र की भूमि में ब्रिटिश व फ्रेंच सेनाओं के प्रवेश का घोर विरोध किया। अमरीका का यह रुख ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के लिये बड़ा असंतोषजनक था। अरब-इजरायल के १९६७ के वर्तमान संघर्ष में भी ब्रिटिश और अमरीकन नीतियों में विशेष सामीप्य नहीं है। परन्तु विभिन्न मतभेदों के बावजूद भी दोनों देशों के मौलिक हित परस्पर घनिष्ट रूप से

कि—"हमारे अस्तित्व की सम्पूर्ण नींव संयुक्त राज्य अमरिका साथ संधि मित्रता तथा बढ़ती हुई भाई चारे की भावना पर आधारित है।"[1]

ब्रिटेन एवं विश्व के अन्य देश

अमरीका के गुट में रहते हुए और विभिन्न अवसरों पर साम्यवादी देशों की कटु आलोचना करने पर भी ब्रिटेन का यह सामान्यतः यही रहा है कि साम्यवादी देशों विशेष कर रूस एवं अमरीका के प्रति पश्चिमी देशों को खास कर अमरीका को नरम एवं सहयोगी रुख अपनाना चाहिये। ब्रिटेन के अनुदार दल और श्रमिक दल दोनों ही इस विषय में एकमत हैं। अपनी इसी नीति के कारण युद्धोत्तर काल में ब्रिटेन ने साम्यवादी गुट के देशों के साथ राजनीतिक सम्बन्धों के अतिरिक्त व्यापारिक सम्बन्ध भी स्थापित किये। वास्तव में साम्यवादी देशों–प्रमुखतः रूस और चीन के प्रति ब्रिटेन ने द्विमुखी नीति का अनुसरण किया। एक ओर तो यूरोप में बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को तथा विश्व के अन्य भागों में साम्यवादी प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए वह 'शीत युद्ध' में सम्मिलित हो गया और प्रादेशिक संगठनों द्वारा साम्यवादी प्रभाव का विस्तार रोकने में तत्पर होने लगा और दूसरी ओर उसने साम्यवादी देशों के साथ अपने व्यावसायिक सम्बन्ध बढ़ाने की चेष्टा की। संयुक्त राज्य अमरीका के पथ पर चलते हुए भी ब्रिटेन ने चीन से विरोध नहीं किया क्योंकि चीन में उसकी अपार सम्पत्ति है और वृहद व्यवसाय। उसने चीन को अमरीकन विरोध के बावजूद कूटनीतिक मान्यता भी प्रदान की। चीन के व्यापारिक प्रतिनिधि मण्डलों ने कई बार ब्रिटेन का भ्रमण किया और ब्रिटेन द्वारा चीन से विभिन्न क्षेत्रों में व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। ब्रिटेन द्वारा चीन को वायुयान भी भेजे गये। सोवियत रूस के प्रति भी ब्रिटिश रुख सराहनीय रहा। दोनों देशों के प्रधान मन्त्रियों ने एक दूसरे के देशों की यात्रायें कीं। दोनों के मध्य समय–समय पर प्रतिनिधि मण्डलों के आने–जाने का क्रम अब भी जारी है।

संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटेन पश्चिमी गुट का उपनेता है और अधिकतर उसने संयुक्त राज्य अमरीका के साथ मिल कर कार्य किया है। संघ में ब्रिटेन को अधिकांशतः एशिया और अफ्रीका के राज्यों का विरोध सहना पड़ा है। इस विरोध का प्रमुख कारण एशियाई और अफ्रीकन राज्यों के प्रति उपनिवेशवादी जाने वाली उसकी विरोधी नीति रही है। भारत के साथ काश्मीर के मामले में और मिस्र अथवा संयुक्त अरब गणराज्य के साथ स्वेज एवं इजरायल के मसले पर ब्रिटेन ने न्याय का पक्ष छोड़ने की कोशिश की। १९५६ में स्वेज विवाद पर ब्रिटेन और फ्रांस ने मिस्र के विरुद्ध जो आक्रामक कार्यवाही की उससे मिस्र और ब्रिटेन के सम्बन्ध अब तक तनावपूर्ण

---

1 The whole foundation of our existance stands on the alliance and friendship and, if I may say so an increasing sense of brotherhood with the United States."

—*Churchill Sir Winston*

बने हुए हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ में दक्षिण अफ्रीका की रंग भेद नीति के प्रति ब्रिटेन ने कोरा प्रदर्शनात्मक विरोध ही किया है और इस बारे में सक्रिय कार्यवाही का वह विरोधी रहा है। अफ्रीका में रोडेशिया की गोरी सरकार की नीतियों को भी वह नहीं रोक पाया है। कतिपय क्षेत्रों में सन्देह यहां व्याप्त है कि रोडेशिया की अल्प संख्यक स्मिथ सरकार को ब्रिटेन की गुप्त एवं अप्रत्यक्ष सहायता प्राप्त है। दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार की एक तरफा स्वतन्त्रता की घोषणा से और ब्रिटेन की व्यावहारिक रूप से निष्क्रियता से अफ्रीका महाद्वीप के विभिन्न राज्य बड़े क्षुब्ध और सशंकित हैं। ईरान ईराक इण्डोनेशिया बर्मा मलेशिया साइप्रस सूडान जोर्डन आदि विभिन्न राज्यों से ब्रिटेन के जो सम्बन्ध रहे हैं उन पर पूर्ववर्ती अध्यायों में यथा स्थान पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के साथ ब्रिटिश सम्बन्धों का काफी परिचय एशिया और अफ्रीका सम्बन्धी अध्यायों में दिया गया है।

फ्रांस की विदेश नीति

यूरोप महाद्वीप के पश्चिम में स्थित यह देश उत्तर पश्चिम और दक्षिण में क्रमशः उत्तरी सागर व इंगलिश चैनल अटलांटिक महासागर तथा भूमध्यसागर से घिरा हुआ है। इसके पूर्व में जर्मनी है पूर्वोत्तर में हालैण्ड-बेल्जियम, दक्षिण-पूर्व में इटली और दक्षिण-पश्चिम में स्पेन यद्यपि फ्रांस की विदेश नीति अपने पड़ोसियों के प्रति परिवर्तनशील रही है तथापि यह कहा जा सकता है कि घनिष्ठ मित्रता के बावजूद भी फ्रांस ब्रिटेन की ओर से सदा सशंकित रहा है। ब्रिटेन ने कभी भी फ्रांस को यूरोप का सर्वाधिक शक्ति शाली राज्य नहीं बनने दिया। प्रथम महायुद्ध के बाद फ्रांस ने जो कुछ भी शक्ति और ख्याति अर्जित की वह द्वितीय महायुद्ध में धूलि धूसरित हो गई। युद्ध की समाप्ति के बाद फ्रांस की नई सरकार बनी तो उसकी अध्यक्षता जनरल डिगाल के हाथों में आ गई। परन्तु फ्रांस के संविधान से ऊब कर तथा मंत्रीमण्डलों की अस्थिरता से परेशान होकर डिगाल ने त्यागपत्र दे दिया और राजनीति से अलग हो गया। अब फ्रांस की अस्थिरता का वही पुराना चक्र फिर से प्रारम्भ हो गया। १९४५ से १९५८ तक २२ मंत्रिमण्डल बने। युद्ध और अस्थिर शासन ने फ्रांस को इतना नपुंसक बना दिया कि वह किसी प्रकार की प्रभावशाली विदेश नीति नहीं अपना सका। मार्च १९४७ में उसने ब्रिटेन के साथ डनकर्क की संधि की तत्पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मार्शल योजना में साझीदार बन कर उसने अमरिका से पर्याप्त सहायता प्राप्त की। उसने पश्चिम यूरोप के राजनीतिक एकीकरण की विभिन्न योजनाओं में सहयोग किया। वह ब्रुसेल्स पैक्ट और नाटो का सदस्य बना। अन्य ५ राष्ट्रों के साथ मिल कर फ्रांस ने यूरोपियन साझाबाजार की रचना की और इसमें ब्रिटेन के प्रवेश को रोक रखने का सफल प्रयास किया। आज भी साझाबाजार में ब्रिटिश प्रवेश मुख्यतः श्री डिगाल के विरोधी रुख के कारण ही रुका हुआ है।

फ्रांस अमेरिका और ब्रिटेन के विदेश मंत्रियों ने सितम्बर १९५० में जर्मनी के प्रश्न पर विचार करते हुए जर्मन लोगों की एकीकरण की भावना

का समर्थन किया। रूस के असहयोग के कारण जर्मनी का एकीकरण संभव न हो सका। अन्त में तीनों राष्ट्रों ने जर्मन के संघीय गणराज्य (पश्चिमी जर्मनी) को ही जर्मन जनता का वास्तविक प्रतिनिधि मानने का निश्चय किया। एशियाई विवादों में फ्रांस ने अधिक भाग नहीं लिया क्योंकि हिन्द चीन की समस्या में फ्रांस को निरन्तर पीछे हटना पड़ा तथा जुलाई १९५४ के जेनेवा शिखर सम्मेलन में वियतनाम के विभाजन को मान्यता मिल गई। फ्रांस कोरिया युद्ध में भी कोई भाग इसीलिए नहीं ले सका था क्योंकि वह उस समय हिन्द चीन में साम्यवादियों से युद्ध में उलझा हुआ था। १९५६ में फ्रांस और ब्रिटेन ने इजरायल के साथ मिल कर मिस्र पर आक्रमण किया किन्तु उनके साम्राज्यवादी इरादे नाकामयाब हो गए। यहाँ तक कि संयुक्त राज्य अमेरिका तक के कठोर विरोध का उन्हें सामना करना पड़ा।

१९५८ के मध्य तक फ्रांस अपनी राजनीतिक अस्थिरता के कारण अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कोई प्रभावशाली कदम नहीं उठा सका किन्तु इसके बाद स्थिति में परिवर्तन आ गया। मई, १९५८ में पियरे फ्लिमलिन की सरकार का पतन हो जाने के बाद दिगाल के प्रधानमंत्रित्व में फ्रांस के पांचवें गणतंत्र का उदय हुआ। असेम्बली ने दिगाल को ६ मास के लिए संसदीय हस्तक्षेप से रहित समस्त अधिकार सौंप दिये। उन्होंने ४ जून १९५८ को एक संवैधानिक कानून बनाया जिसके सम्बन्धीय सुधारों को राष्ट्रीय असेम्बली में पेश न करके सीधे इलेक्टोरेट में पेश किया जा सकता था। ४ सितम्बर १९५८ को पांचवें गणतंत्र का नवीन संविधान प्रकाशित हुआ जिसके अनुसार संसद की अनेक शक्तियां राष्ट्रपति को हस्तान्तरित कर दी गयीं। दिसम्बर, १९५८ को राष्ट्रपति के चुनाव में दिगाल पहले ही बहुमत से राष्ट्रपति चुन लिये गये।

फ्रांस के नवीन संविधान के अनुसार २ अक्टूबर १९५८ को गिनी का राज्य स्वतन्त्र मान लिया गया। १२ नवम्बर को वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य भी बन गया। राष्ट्रपति दिगाल ने शासन की बागडोर हाथ में लेते ही अपना ध्यान अल्जीरिया की तरफ केन्द्रित किया। दिगाल के पूर्ववर्ती सभी फ्रेंच नेता यह कह चुके थे कि फ्रांस अल्जीरिया में अपने अधिकारों को कभी समाप्त नहीं करेगा। अपने साम्राज्यवादी अधिकारों की रक्षा के लिए फ्रांस अल्जीरिया के स्वाधीनता आन्दोलन को बुरी तरह कुचलता रहा किन्तु इससे अल्जीरिया वासियों के स्वातन्त्र्य संघर्ष में कोई कमी नहीं आई। राष्ट्रपति दिगाल ने विद्रोहियों को शान्त करने और अल्जीरियन युद्ध को रोकने के लिए समझौता करने का निश्चय किया। विद्रोहियों को शान्त करने में तो वह सफल हो गये किन्तु दूसरे उद्देश्य की प्राप्ति में उन्हें सफलता नहीं मिली। दिगाल ने अल्जीरिया वासियों को फ्रेंच नागरिकता का प्रलोभन दिया किन्तु वे तो अल्जीरिया की नागरिकता चाहते थे फ्रांस की नहीं। तब सितम्बर १९५९ में दिगाल ने घोषणा की कि यदि अल्जीरिया निवासी शान्ति का मार्ग स्वीकार कर लेंगे तो ४ वर्ष के अन्दर ही वहाँ इन मुद्दों पर जनमत लिया जायगा—

(१) फ्रांस अल्जीरिया पर अपने समस्त अधिकारों को त्याग देगा।

(२) फ्रांस के साथ अल्जीरिया का एकीकरण कर दिया जायगा और अल्जीरिया निवासियों को मैट्रोपोलिटन फ्रांस के नागरिकों को प्राप्त सभी सुविधायें प्रदान की जायेंगी।

(३) अल्जीरिया निवासी ही वहां का शासन करें किन्तु इसके पीछे फ्रांस का भी आर्थिक शैक्षिक सम्बन्धी तथा वैदेशिक सहयोग रहे।

परन्तु ये सुझाव उपयोगी सिद्ध नहीं हुए। प्रथम तो ये सुझाव शान्ति स्थापना के बाद ही काम में लाए जा सकते थे और शान्ति की स्थापना तभी हो सकती थी जब कि अल्जीरिया को स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाये। दूसरे चुनाव के परिणामों को फ्रेंच सरकार द्वारा मान्यता प्राप्त होनी थी जो वहां के लोगों की राष्ट्रीय भावना के लिए एक अपमानजनक बात थी। अल्जीरियन गणतंत्र की अन्तःकालीन सरकार ने इस विषय पर फ्रेंच सरकार से वार्तालाप करना स्वीकार किया परन्तु डिगाल ने उसे अल्जीरिया के प्रतिनिधि के रूप में स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। जनवरी १९६० में अल्जीरिया में डिगाल विरोधियों ने एक प्रबल विद्रोह कर दिया जिससे समस्या का समाधान और भी दुष्कर हो गया। फरवरी १९६० में फ्रेंच-संसद द्वारा राष्ट्रपति डिगाल को अल्जीरिया विषय के सम्बन्ध में पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये गये। उन्होंने अल्जीरिया तथा फ्रांस में जनमत संग्रह करने का प्रस्ताव किया। यद्यपि यह जनमत संग्रह 'अल्जीरिया अल्जीरिया वासों के लिए' विषय पर होना था किन्तु अल्जीरिया की अन्तःकालीन सरकार (स्वातन्त्र्य आंदोलन की संचालक) के अध्यक्ष अब्बास ने इस प्रस्ताव का स्वागत नहीं किया और अपने अनुयायियों को वोट न देने का आदेश दिया। फिर भी जनवरी १९६१ में जनमत संग्रह हुआ जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने अल्जीरिया में स्वायत्त शासन स्थापित होने के पक्ष में और ५० लाख लोगों ने इसके विपक्ष में मत दिया। परन्तु समस्या यह थी कि स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतंत्र नहीं होता था क्योंकि किसी न किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता। फिर भी पारस्परिक वार्तालाप द्वारा कोई समाधान निकल आने की संभावना अवश्य बन गई। किन्तु अप्रैल १९६१ में डिगाल विरोधी कुछ अवकाश प्राप्त फ्रेंच सैनिक अधिकारियों ने सहसा आक्रमण करके अल्जीरिया पर आधिपत्य कायम कर लिया। डिगाल ने इस सैनिक विद्रोह को दबा दिया और अल्जीरियन राष्ट्रवादियों के साथ वार्ता शुरू कर दी। अन्त में १ जुलाई, १९६२ को अल्जीरिया को स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई और इस प्रकार राष्ट्रपति डिगाल ने अल्जीरिया योग संघर्ष का अन्त कर दिया।

राष्ट्रपति दगाल की प्रमुख चिन्ता सदव यही रही कि फ्रांस किसी न किसी तरह अपने विलुप्त अन्तर्राष्ट्रीय सम्मान को फिर से प्राप्त करे। इसीलिए शनैः शनैः वह अपने राष्ट्र को अमेरिकन प्रभाव से मुक्त करने लगे और दूसरी ओर ब्रिटेन के बढ़ते हुए प्रभाव को भी रोकने की चेष्टा में लगे रहे। इसी लिए साम्यवादी देशों के साथ उन्होंने मधुर सम्बन्ध स्थापित किये। साम्यवादी

चीन के साथ फ्रांस के मित्रतापूर्ण सम्बन्धों में विकास हुआ। मास्को की अणु परीक्षण निरोध संधि पर हस्ताक्षर न करने वाले केवल दो ही बड़े देश थे—चीन और फ्रांस और दोनों ही ने यह तर्क दिया कि इस संधि का ध्येय यह है कि सोवियत संघ संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन अणु शस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार स्थापित करना चाहते हैं एवं उनका प्रयोजन यह है कि, अन्य देश इस शक्ति का विकास न करने पायें।

फ्रांस ने वियतनाम में संयुक्त राज्य अमेरिका की कार्यवाही की निन्दा जिन शब्दों में की है उसमें चीनी आलोचना की गंध आती है। यूरोपियन साझाबाजार में ब्रिटेन के प्रवेश को रोकने की दिगाल की नीति पश्चिमी खेमे में फूट का संकेत देती है। संयुक्त राज्य अमेरिका बहुत चाहता है कि ब्रिटेन को यूरोपियन साझाबाजार की सदस्यता मिल जाये। इसके लिये उसने फ्रांस पर दबाव भी डाला किन्तु दिगाल अपने हठ पर अभी दृढ़ प्रतीत होता है। इतना ही नहीं कुछ और बातों को लेकर भी फ्रांस तथा ब्रिटेन और अमेरिका के मध्य गहरे मतभेद पैदा हो गए। निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर इनमें मतैक्य नहीं है। जब फ्रांस को संयुक्त राष्ट्र निःशस्त्रीकरण आयोग का सदस्य बनाया गया तो उसने इसमें भाग लेने से इन्कार कर दिया। इससे भी बढ़कर घटना नाटो को पोलरिस अस्त्रों से युक्त करने के प्रस्ताव को लेकर घटी। १९६२ में अमेरिका और ब्रिटेन में एक समझौते द्वारा यह तय हुआ कि नाटो राज्यों की सेनाओं को पोलरिस प्रक्षेपणास्त्रों से लैस किया जाय। परन्तु फ्रांस ने इसमें शामिल होने से इन्कार कर दिया और निर्णय लिया कि वह इस कार्य में साथ नहीं देगा। १९६४ में फ्रेंच सरकार द्वारा चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान कर देना और दोनों राष्ट्रों के बीच राजदूतों का आदान प्रदान हो जाना की घटना से यह और भी स्पष्ट हो गया कि राष्ट्रपति दिगाल का अपना अलग ही रास्ता है जो नाटो राज्यों से भिन्न है।

चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करने के अतिरिक्त राष्ट्रपति दिगाल ने संसार के समक्ष एक और सुझाव रखा। उन्होंने कहा कि दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीतिक स्थिति अत्यन्त डांवाडोल है अतः इस क्षेत्र का अन्तर्राष्ट्रीय समझौता करके तटस्थीकरण (Neutralisation of S. E. Asian Region) कर दिया जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और उसके साथी राज्यों ने दिगाल के सुझाव का कटु विरोध किया। वास्तव में फ्रांस की ये सभी कार्यवाहियां अटलांटिक समुदाय की एकता को भंग करने वाली हैं। इस एकता को कठोरतम आघात तो १२ मार्च १९६६ की दिगाल की इस घोषणा से पहुंचा है कि फ्रांस नाटो संगठन से ही पृथक होना चाहता है। फ्रांस द्वारा यह निश्चय व्यक्त किया गया है कि तीन वर्ष के अन्दर वह अपने सभी अफसरों को नाटो की सेवा से वापिस बुला लेगा और उसके साथ ही नाटो के साथ अपने सारे सम्बन्धों को समाप्त कर लेगा। फ्रांस की मांग पर ही संयुक्त राज्य अमेरिका को फ्रेंच भूमि पर स्थित नाटो अड्डों को खाली कर देना पड़ा। वास्तव में फ्रांस के नाटो के परित्याग के निर्णय से पश्चिमी गुट पर एक महान संकट आ गया है और इसके भयंकर परिणाम हो सकते

है। नाटो में पश्चिमी जर्मनी को इस शर्त पर १९५५ में शामिल किया गया था कि वह स्वतन्त्र रूप से अपनी सैनिक शक्ति में वृद्धि नहीं करेगा। इस शर्त के लिए स्वयं फ्रांस बहुत सजग था। परन्तु अब फ्रांस ही नाटो से निकल जायगा तो पश्चिमी जर्मनी भी इस शर्त से मुक्त हो जायगा और तब वहां सैन्यशक्ति में वृद्धि करने का कार्यक्रम जोर शोर से चल सकता है। पश्चिमी जर्मनी द्वारा सैनिक शक्ति बढ़ाने के प्रयास की प्रतिक्रिया सोवियत गुट के देशों में होगी और इस तरह हथियार बन्दी की होड़ का दुष्चक्र फिर जोरों से चलना शुरू होगा। राष्ट्रपति दिगाल का यह निर्णय कई भयंकर परिणामों से युक्त है। इसके कारण यूरोप की राजनीतिक स्थिति खराब हो सकती है और पश्चिमी जर्मनी को लेकर युद्ध की सम्भावना बढ़ सकती है।

वस्तुतः जनरल दिगाल कई वर्षों से अक्खड़ व विचित्र दीखने वाले अपने व्यवहार से राजनीतिक जगत को चौंकाते रहे हैं। कुछ लोग इसे वृद्धावस्था की सनक नाम देते हैं। मगर जो लोग इन कार्यवाहियों के पीछे उद्देश्य खोजने के पक्ष में हैं उनके अनुसार यूरोप और सम्पूर्ण विश्व के प्रति जनरल दिगाल का अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। हाल ही में उन्होंने कहा है अमेरिका विश्व में सबसे शक्तिशाली राष्ट्र बन गया है और स्वाभाविक रूप से वह अपनी शक्ति को बढ़ाने पर तुला हुआ है। इस शक्ति विस्तार से बचने के लिए जनरल के अनुसार दो ही रास्ते हैं। पहला मार्ग यह है कि उसी गुट का एक सदस्य बन जाये जहां अमेरिकन शक्ति सर्वोपरि है और यह रास्ता आसान है। दूसरा रास्ता है अपने व्यक्तित्व की सुरक्षा। इसके लिए यह जरूरी है कि फ्रांस और जर्मनी एक-दूसरे के निकट आयें अन्यथा अमेरिकन प्रभाव से नहीं बचा जा सकता। इसीलिए फ्रांस और जर्मनी में राजनीतिक घनिष्ठता के प्रति सक्रिय कदम उठाये जा रहे हैं। जनरल दिगाल का विश्वास है कि फ्रांस ने जिस आर्थिक ढांचे का निर्माण वर्षों में खड़ा किया है उसे नष्ट न होने दें ताकि उसे अमेरिकन पद्धति द्वारा आत्मसात न किया जा सके। अपने व्यक्तित्व को बनाये रखने के लिए ही उनकी तीसरी शर्त यह है कि विश्व में इस भ्रम को समाप्त कर दिया जाये कि शक्ति के गुट दो ही गुट हैं उनके बाहर कुछ नहीं है। तीसरे गुट की रचना के लिए फ्रांस पूर्वी यूरोपीय देशों के निकट आना चाहता है ताकि विश्व राजनीति में दो गुटों की पद्धति के अतिरिक्त भी कुछ हो। इसी नीति को अपनाकर वह ब्रिटेन के यूरोपीय साझाबाजार में सम्मिलित होने का विरोध करते हैं। कुछ राजनीतिक विशेषज्ञों का मत है कि विश्व की राजनीति को अपने विचारों के अनुकूल परिवर्तित करना और अपनी इच्छानुसार गुटों का निर्माण और विनाश करना फ्रांस के बूते की बात नहीं। फ्रांस या दिगाल विश्व की राजनीतिक घटनाओं को नियन्त्रित करने की शक्ति नहीं रखते। इसलिए जनरल की ऊंची राजनीतिक उड़ानें सम्भवतया कोई फल नहीं देंगी। जब तक विश्व की जनता यह महसूस नहीं करती कि अमेरिकन और रूसी गुटों के अतिरिक्त भी कोई और शक्ति का केन्द्र है तब तक उनकी उपेक्षा करके अपने परम्परागत मित्रों को नाराज करना एक खतरनाक काम है। मगर जनरल दिगाल इसी प्रकार की विचित्र और विवादास्पद

परिस्थितियों में विकसित हुए हैं। १९५८ में अल्जीरियाई स्वतन्त्रता के समय उन्होंने अपने मंत्रीमण्डल से कहा था 'मित्रों फ्रांस का जहाज बहुत ही तूफानी यात्रा पर चल पड़ा है जिन्हें यात्रा की थकान महसूस होती है वे जहाज से उतर जायें और दूसरों को लहरों के थपेड़े खाने दें।'

EXERCISES

1. Critically examine the foreign policy of he U.S.A since the termination of Second World War

   Or

   Give a critical sketch of post-war American foreign policy

   द्वितीय महायुद्ध की उत्तरकालीन अमेरिकन विदेश नीति का आलोचनात्मक विवरण दीजिये।

2. Sketch briefly the part played by the U.S A. in International affairs since 939 What are the international aims of the U S.A at present time ?

   १९३९ के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में संयुक्त राज्य अमेरिका ने जो भूमिका अदा की उसका संक्षेप में विवरण दीजिए। वर्तमान समय में संयुक्त राज्य अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय उद्देश्य क्या हैं ?

3. Estimate the strength and influence of the imperialist motive in the policy of the United States today

   संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति में साम्राज्यवादी उद्देश्य के प्रभाव और शक्ति का मूल्यांकन कीजिये।

4. What was the Truman Doctrine ? When and under what circumstances was it enunciated ? Would you agree with the view that the Truman Doctrine is the modern version of the Monroe Doctrine ?

   ट्रूमैन सिद्धान्त क्या था ? कब और किन परिस्थितियों में इसे कार्यान्वित किया गया था ? क्या आप इस विचार से सहमत हैं कि ट्रूमैन सिद्धान्त मुनरो सिद्धान्त का आधुनिक रूप है ?

5. "The Truman Doctrine marks a revolutionary departure in the American tradition policy and political thinking." Elucidate

   "ट्रूमैन सिद्धान्त अमेरिकन परम्परा नीति और राजनीतिक चिन्तन में एक क्रान्तिकारी विचार का संकेत है।" विवेचना कीजिए।

6. "... The Truman Doctrine was indeeda Monroe Doctrine for the entire free world. The Truman Doctrine made the necessary adjustment of the old Doctrine to new conditions the necessary extension of the borders of the Western Hemisphere to the borders of the free World." (Michael Donelan) Discuss

   "ट्रूमैन सिद्धान्त निश्चय [illegible] सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व के लिए मुनरो

सिद्धान्त है। इसने पुराने सिद्धान्त को नवीन परिस्थितियों के साथ प्रावश्यक रूप से समायोजित कर दिया तथा पश्चिमी गोलार्द्ध की सीमाओं का स्वतन्त्र विश्व की सीमाओं तक विस्तार कर दिया।" विवेचना कीजिए।

7 What do you mean by the Eishenhower Doctrine? Discuss its working and the causes of its failure.
आइजनहोवर सिद्धान्त से आपका क्या अभिप्राय है? इसकी कार्य प्रणाली और असफलता के कारणों का विवेचन कीजिए।

8. "The act (for International Development, 1950) was a significant milestone in the evolution of American world policy (Richard P Stebbins) Discuss.
'यह कानून (अन्तर्राष्ट्रीय विकास कानून १६५०) अमेरिकन विश्व नीति के विकास में एक महत्वपूर्ण मील का पत्थर था।" विवेचना कीजिए।

9 "The post war Korean problem was inevitably cast in the mould of the United States—Soviet Relations." Discuss
'युद्धोत्तर कोरियन समस्या अनिवार्य रूप से संयुक्त राज्य—सोवियत सम्बन्धों के सांचे में ढली थी। विवेचना कीजिए।

10. Secretary Dulles s passion for 'pactomania led to innumerabl compacts, some of which had no opera tional utility and others of which alienated neutrals and aided enemies more than they strengthened ties with friends. (F L. Schuman)
Do you subscribe to this view? Cite illustrations in support of your answer
विदेश सचिव डलेस की 'पटबन्धन की मनोवृत्ति ने अनेक संगठनों या गठबन्धनों को जन्म दिया जिनमें से कुछ की कोई क्रियात्मक या व्यावहारिक उपयोगिता नहीं थी और शेष दूसरों ने मित्रों के साथ सम्बन्ध दृढ़ करने की अपेक्षा 'शत्रुओं' को सहायता पहुंचायी और 'तटस्थों' का मन फेर दिया। क्या आप इस विचार से सहमत हैं? अपने उत्तर के समर्थन में उदाहरण दीजिए।

11 Examine the trends of U.S. policy towards the Latin American States since 1945
१६४५ के बाद से लैटिन अमेरिकन राज्यों के प्रति संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति की समीक्षा कीजिए।

12 "It was evident before 1960 that America was faced with the inescapable necessity of an 'agonising reappraisal of the course in foreign affairs it had pursued during the preceding two decades."
Discuss in the light of this statement the main trends of the U S. foreign policy during the regimes of Roosevelt Truman and Eisenhower What changes

do you envisage in the Kennedy regime ?

"१९६० से पहले यह स्पष्ट हो गया कि संयुक्त राज्य अमेरिका के सामने अपनी वैदेशिक नीति के उस मार्ग पर 'खेदपूर्ण पुनर्संवेक्षण' अथवा पुनर्मूल्यांकन करने की अनिवार्य आवश्यकता था जड़ी हुई है जिसका विगत १ दशाब्दियों से अनुसरण कर रहा था।" उपरोक्त कथन के प्रकाश में रूजवेल्ट, ट्रूमैन और आइजनहोवर के प्रशासन काल के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति की मुख्य प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिए। केनेडी के शासन काल में आपको कौन से परिवर्तन स्पष्ट प्रतीत होते हैं ?

13. "The post war Wor d possessed a number of important characteristics but above all it was over shadowed by the rivalry of the united States and the Soviet Union "

(Cordon Council-Smith)

Discuss this rivalry and its effects on World Politics.

'महायुद्धोत्तर विश्व की अनेक महत्वपूर्ण विशेषताएं थी "किन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ की शत्रुता या प्रतिद्वन्दिता इन सबसे ऊपर सिद्ध हुई। प्रतिद्वन्दिता और विश्व राजनीति पर पड़ने वाले प्रभावों की विवेचना कीजिए।

14 Write short notes on the following—

(a) Marshall Plan.
(b) Point Four Programme.
(c) Eisenhower Doctrine.
(d) Containment Doctrine
e) Containment to Liberation and finally to Accommodation.
(f) Summit Conference of Geneva (1960).

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये —

(अ) मार्शल योजना
(ब) चतु सूत्री कार्यक्रम
(स) आइजनहोवर सिद्धान्त
(द) 'सीमितता' का सिद्धान्त
(य) 'सीमितता' से स्वतन्त्रता तथा अन्त में सुलह की नीति
(र) जिनेवा शिखर सम्मेलन (१९६०)

15. Discuss in brief the problem of the reunification of Germany

जर्मनी के एकीकरण की समस्या का संक्षेप में वर्णन कीजिए।

10

सोवियत संघ की विदेश नीति

[THE FOREIGN POLICY OF U S S R.]

१ सोवियत विदेश नीति के प्रमुख आधार

२ सोवियत विदेश नीति के लक्ष्य

३ सोवियत संघ की विदेश नीति (१९४५–१९६७)

(A) उग्रतावादी नीति का स्टालिन काल (१९४५–१९५३)

(B) शान्तिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर काल (१९५३
१९६७)

(i) मालेन्कोव-बुल्गानिन ख्रुश्चेव प्रशासन काल

(ii) ख्रुश्चेवोत्तर कोसीगिन-ब्रेझनेव काल एवं सोवियत नीति की नयी दिशायें

"रूस की नीति अपरिवर्तनीय है ......
उसके साधनों उसकी चालों तथा
कूटनीति में परिवर्तन हो सकता है,
परन्तु उसकी नीति का मार्ग दर्शक
वह-विश्व-प्रभुता एक
अविचल और ध्रुव
यह है।"

—कार्ल मार्क्स

"हम केवल एक राज्य में नहीं वरन् राज्यों की एक व्यवस्था के अन्तर्गत जी रहे हैं। एक दीर्घ-काल तक साम्राज्यवादी राज्यों के सम-संग सोवियत गणराज्य का अस्तित्व बना रहना असम्भव है। अन्तत दोनों में से एक की विजय निश्चित है, एवं उस अन्तिम अवस्था के अवतरण के पूर्व सोवियत-गणराज्य तथा पूंजीवादी राज्यों के मध्य संघर्ष होना अपरिहार्य है।"

—व्लादिमिर इलियानोवलेनिन

"यदि कोई यह सोचता है कि हम अपने ध्येयों को छोड़ दें और अविश्वास का भी अन्त कर दें कि मार्क्स एंजिल्स लेनिन और स्टालिन के सिद्धान्त ठीक हैं; तो वह बड़ी भूल करता है। जो लोग इसकी आशा करते हैं हम उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि उन्हें तब तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी जब तक कि ईस्टर (Easter) और ह्विटसन (Whitsun) एक ही दिन पड़ें।"

—निकिता ख्रुश्चेव

सोवियत संघ की विदेश नीति

(The Foreign Policy of U.S.S.R.)

सोवियत रूस एक साम्यवादी राष्ट्र है जहाँ मार्क्स के विचारों को सर्वप्रथम सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया गया था। साम्यवाद के सिद्धान्तों का रूस के राष्ट्रीय जीवन पर जितना प्रभाव है उतना ही उसके अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों पर भी है क्योंकि विदेश नीति प्रायः गृह नीति की ही अभिव्यक्ति होती है। रूस की वैदेशिक नीति के इस सैद्धान्तिक आधार का प्रभाव अनेक रूपों में देखने को मिलता है और इसकी मान्यताएं उन देशों से भिन्न हो जाती हैं जहाँ साम्यवादी व्यवस्था नहीं है। सोवियत रूस के द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति और उस स्थिर रहें क्यों किन्तु बदलती बातों को भली प्रकार तभी समझा जा सकता है जबकि हम संक्षेप में यह जान लें कि रूस की विदेश नीति के प्रमुख आधार क्या हैं ?

सोवियत विदेश नीति के आधार

ये प्रमुख आधार इस प्रकार वर्णित किये जा सकते हैं—

(१) अतीत की परम्पराएं

वर्तमान काल में सोवियत रूस की विदेश नीति की जो प्रकृति है वह अपने अतीत से बहुत अधिक प्रभावित है जैसे इस देश के राजनैतिक स्वरूप में बहुत परिवर्तन हो चुके हैं तो भी जारों के समय में यह जिन प्रक्रियाओं को अपनाता था उन्हें यह पूरी तरह से नहीं छोड़ पाया है। मार्क्स लेनिन तथा स्टालिन की विचारधारा ने रूस की विदेश नीति को दिशा का संकेत दिया है तथा लक्ष्य निर्धारित करने के लिए आधार प्रदान किया है फिर भी कुछ महत्वपूर्ण तत्व ऐसे हैं जो कि अब भी पूर्ववत् बने हुए हैं। पश्चिमी शक्तियों के साथ इसके सम्बन्ध विरोध एवं संघर्षपूर्ण हैं। कहा जाता है कि युद्ध के बाद यह आशा की गई थी कि रूस पश्चिम के साथ सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना कर लेगा। कुछ रूसी लेखक भी इसका समर्थन करते हैं। उनका कहना है कि युद्धोपरान्त पश्चिम के दृष्टिकोण को देखकर रूस अपरिहार्य संघर्षपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के लिए मजबूर हो गया। किन्तु टर्न (R. S. Tarn) की भाँति अनेक पश्चिमी विद्वानों का कहना है कि इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता कि रूस ने दोनों गुटों की मित्रता की सम्भावना एवं लाभों में कभी विश्वास किया था।[1] रूसी विदेश नीति के

---

1 'On the basis of the evidence however there can be no real probability the Moscow ever seriously believed

परम्परागत लक्ष्यों के बारे में यह कहा जाता है कि इवान का टे (Ivan the Terrible) का प्रमुख लक्ष्य था कि मंगोलों को वोल्गा से पढ़ भगा देना तथा पोलिश विस्तार के खतरे को मास्को के लिए कम देना। पीटर महान का लक्ष्य था स्वीडन की शक्ति को कम कर दे एलिजाबेथ तथा कैथेरिन महान पोलिश तथा लिथुआनियन राज्यों नष्ट कर देना चाहते थे। इनके उत्तराधिकारी भी इन दिशाओं में विस करते रहे। १९१४ में जारों की विस्तारवादी नीति कुछ धीमी हो किन्तु समाप्त नहीं हुई। इससे पूर्व एशिया एवं अफगानिस्तान भी इस विस के शिकार बन चुके थे। तुर्किस्तान में रूस का विस्तार उसे अफगानिस्त तथा भारत की सीमाओं के निकट ले आया। जैसे ही रूस ने साइबेरिया ओर बढ़ना शुरू किया त्यों ही चीन के विरुद्ध उसके हित टकराने लगे सुदूर पूर्व में अपनी कूटनीति को बढ़ाने के लिए जारशाही रूस ने मान्चू दरबार को घूस देने में भी संकोच न किया। १९१८ से १९२९ तक रूसी साम्यवादियों ने चीनी साम्यवादियों को सीधा समर्थन किया किन्तु च्यांगकाई शेक के शक्ति में आते ही उन्होंने अपना हाथ खींच लिया। इस प्रकार वर्तमान रूस की विदेश नीति ने जो कुछ भी अपनी परम्पराओं से अपनाया उसमें प्रथम तथा महत्वपूर्ण तत्व है 'विस्तारवादी नीति'।

जारशाही से प्राप्त रूसी विदेश नीति की दूसरी विशेषता रूस के लोगों का वह गहरा एवं रहस्यमयी विश्वास है जिसके आधार पर विश्व के इतिहास में महत्वपूर्ण कार्य करना वे अपना उत्तरदायित्व मानते हैं। रूस प्रारम्भ से ही स्लाव लोगों का नेता तथा प्रेरणा का प्रधान स्रोत रहा है। स्लावों का भ्रातृत्व (Pan-Slavism) आज भी रूसी विदेश नीति में महत्वपूर्ण भाग ले रहा है तथा पोलैण्ड चेकोस्लोवाकिया यूगोस्लाविया और बल्गेरिया राष्ट्रों को इसने प्रभावित किया है। मास्को विश्व साम्यवाद का आध्यात्मिक केन्द्र बना दिया गया है और विश्व के सभी साम्यवादी यहीं से प्रेरणा एवं मार्ग-दर्शन प्राप्त करते हैं। गैर साम्यवादी देश भी यह स्वीकार करते हैं कि किसी भी सैद्धान्तिक विचार एवं संदेह पर क्रेमलिन का निर्णय अन्तिम होगा। यह अवश्य है कि चीनी साम्यवाद के उदय से इस स्थिति में अब बहुत कुछ परिवर्तन आ गया है।

(२) सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि

किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न एवं परिस्थिति पर विचार करते समय रूस के कर्णधारों द्वारा जिस दिशा में मस्तिष्क की शक्तियाँ संचालित की जाती हैं वह है साम्यवाद की स्थापना तथा मार्क्स और लेनिन के मतों को आधार अभिव्यक्ति। इस दृष्टि से सोवियत नीति स्वेच्छाचारी अलौकिक

---

friendship between the two camps would be possible or even profitable from its points of view
—R. S. Tarn "Continuity in Russian Foreign Policy" – International Journal, Canadian Institute of International Affairs Autumn, 1950.

और युद्धोन्मुख बन जाती है। वैसे समय-समय व्यक्तियों के कथन इसकी दिशा का परिचय देते रहते हैं घटनाओं का सैद्धान्तिक विश्लेषण करने के कारण प्राय रूस की विदेश नीति गलत निर्णयों पर भी पहुंच जाती है। द्वन्द्वात्मक एवं ऐतिहासिक भौतिकवाद मार्क्स-लेनिन के सिद्धान्तों की मूलआत्मा है। स्टालिन तथा अन्य सोवियत नेताओं की नीतियों एवं सामान्य दृष्टिकोण में तथा इस सिद्धान्त में एक गहरा सम्बन्ध दिखायी देता है। वे पूंजीवादी शक्तियों को वर्तमान समाज की पतनोन्मुख तथा असंगठित शक्ति मानते हैं। स्टालिन का कहना था कि पूंजीवाद शान्ति का विरोधी है जिसके द्वारा पूंजीवाद स्वामित्व को समाजवादी स्वामित्व के रूप में बदल दिया जायगा। स्टालिन तथा लेनिन समाजवाद के विकासवादी क्रमिक एवं प्रजातन्त्रात्मक तरीकों की तीव्र आलोचना करते थे क्योंकि वे पूंजीवाद को स्थिरता प्रदान करते हैं। इस आधार पर सोवियत रूस ने पूंजीवादी देशों के साम्यवादी आन्दोलनों को बुरा भला कहा। सोवियत सिद्धान्त की दूसरी विशेषता ने भी सोवियत विचारों पर भारी प्रभाव डाला है।

लेनिन यह मानते थे कि साम्राज्यवाद पूंजीवाद की अन्तिम सीढ़ी है। पूंजीवाद के प्रसार से ... साम्यवादी युद्ध का जन्म होता है उपनिवेश बनते हैं तथा प्रतिक्रिया-स्वरूप इन उपनिवेशों में पूंजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का जन्म हुआ। फरवरी १९४६ में स्टालिन ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट करते हुए बताया कि उसके मतानुसार युद्धों का तब तक अस्तित्व रहेगा जब तक कि पूंजीवादी व्यवस्था रहेगी। इन सिद्धान्तों को कठोरता से लागू करने के कारण रूसी विदेश नीति ने कई बार बहुत असाधारण गलतियां की हैं। उदाहरण के लिए जर्मनी और पूर्वी यूरोप के देशों के श्रमिक वर्ग के बारे में हमने यह अनुमान लगा लिया कि या तो ये रूस समर्थक नहीं हैं अथवा इनके पास आशानुकूल शक्ति नहीं है। पूर्वी यूरोप में राष्ट्रवाद के उदय की संभावनाओं पर भी यह इसी कारण विचार नहीं कर सका था। साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित रहने के कारण ही सोवियत रूस की यह पक्की धारणा बनी कि पश्चिमी देशों के साथ उसके सम्बन्ध कभी भी मैत्रीपूर्ण नहीं हो सकते क्योंकि वहां का समाज, राज्य, धर्म, संस्कृति एवं अर्थव्यवस्था आदि सभी कुछ पूंजीवादी आधारों पर स्थित हैं। साम्यवादी एवं असाम्यवादी समुदायों के बीच संघर्ष का होना स्वाभाविक तथा अपरिहार्य है। प्रारम्भ में अमेरिका वर्गों के प्रति रूस का रुख बड़ा दुर्भावपूर्ण था। यह समझा जाता था कि जो रूस का मित्र नहीं है अथवा उसके गुट में नहीं है वह अवश्य ही शांति विरोधी तथा पूंजीवाद का समर्थक है। पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ मतभेद इतना मौलिक रहेगा कि वह हिंसात्मक एवं विध्वंसात्मक रूप भी धारण कर सकता है। स्टालिन का कहना था कि पूंजीवाद के ऊपर शांतिपूर्ण साधनों से विजय नहीं की जा सकती। वर्तमान परिस्थितियों में पूंजीवाद को केवल क्रांतिकारी साधनों से ही उखाड़ा जा सकता है। यह क्रांति हिंसात्मक रूप धारण कर युद्ध का भी कारण बन सकती है। १९२१ में इस मत के ठीक विपरीत उसने कहा था कि पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ हमारे वर्तमान सम्बन्धों के आधार ही दो विरोधी व्यवस्थाओं

का शांतिपूर्ण सहअस्तित्व । इस प्रकार सोवियत रूस पूंजीवादी राष्ट्रों पर कभी आक्रमण नहीं करेगा और आशा है कि पूंजीवादी राष्ट्र भी रूस पर आक्रमण नहीं करेंगे क्योंकि उसका परिणाम होगा विश्व से पूंजीवाद की पूरी तरह समाप्ति । जनवरी १९३४ में साम्यवादी दल की १७ वीं कांग्रेस में स्टालिन ने कहा था कि हमारी विदेश नीति स्पष्ट है । हम प्रत्येक के साथ शांति एवं मित्रतापूर्ण सम्बन्ध चाहते हैं । हम किसी पर आक्रमण करने की तो क्या आक्रमण की धमकी देने की भी नहीं सोचते । किन्तु हम धमकियों से नहीं घबराते और जो युद्ध छेड़ने का प्रयास करते हैं उनको घूंसे का बदला घूंसे से ही देने को तैयार हैं ।

इस प्रकार सोवियत विदेश नीति सिद्धान्तों से पूरी तरह प्रभावित है जहां व्यवहार को हमेशा सैद्धान्तिक रूप में ही समझा जाता है तथा किसी कार्य को न्यायोचित ठहराने के लिए विचारधारा का सहारा लिया जाता है । मार्क्स के सभी सिद्धान्तों को लेनिन ने अन्तर्राष्ट्रीय जगत में लागू किया तथा वर्तमान परिस्थितियों के अनुकूल बनाया । लेनिन ने एक बार कहा था कि हम केवल राज्य में नहीं वरन् राज्यों की व्यवस्था में रह रहे हैं और अधिक समय तक पूंजीवादी राष्ट्रों के साथ-साथ सोवियत गणराज्य का अस्तित्व विचार से परे की बात है । अन्त में एक को या दूसरे को समाप्त होना पड़ेगा और जब तक यह अन्त आये तब तक सोवियत गणराज्य एवं बुर्जुआ राज्यों के बीच संघर्षपूर्ण भिड़न्तों की एक शृंखला का आना अपरिहार्य है ।

वर्तमान समय में ख्रुश्चेव के प्रधानमन्त्रित्व में आकर रूस का दृष्टिकोण स्टालिनवादी तानाशाही प्रवृत्तियों से थोड़ा नरम हुआ । शक्ति एवं बाध्यता का सहारा छोड़ कर रूसी नेता यह मानने लगे कि एक देश की सामाजिक व्यवस्था में परिवर्तन उस देश के लोगों का आन्तरिक मामला है इसको उसमें हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये । ख्रुश्चेव ने कहा था कि "निश्चय ही केवल दो मार्ग शेष हैं या तो शांतिपूर्ण सहअस्तित्व और या इतिहास का सबसे भयानक व विध्वंसक युद्ध तीसरा रास्ता है ही नहीं ।"[1] कुछ लेखकों का मत है कि सोवियत रूस ने अपनी जारशाही की विस्तारवादी नीति को सैद्धान्तिक जामा पहना दिया है और यह आज भी पहले की तरह से विश्व साम्राज्य के स्वप्न देख रहा है ।

(१) आर्थिक नीतियां

सोवियत रूस की सबसे प्रमुख विशेषता जो उसे विश्व के प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों से पृथक करती है वह है वहां की समाजवादी अर्थव्यवस्था एवं

1 "......Indeed, there are only two ways either peaceful co-existance or the most destructive war in history There is no third way"
—N S Khrushchev in Report of the Central Committee of the CPSU to the 20th Party Cong. Feb. 1956

उत्पादन का साम्यवादी तरीका। कहने की आवश्यकता नहीं कि यहां की अर्थव्यवस्था में व्यक्तिगत स्वामित्व के स्थान पर सामाजिक स्वामित्व है व्यक्तिगत लाभ के लिए उत्पादन के स्थान पर सामाजिक आवश्यकता के आधार पर उत्पादन होता है अथवा हम दो शब्दों में कह सकते हैं कि यह अर्थव्यवस्था पूंजीवादी व्यवस्था के ठीक विपरीत है। सोवियत रूस की विदेश नीति का रूप निश्चित करते समय यह सदा ध्यान रखा जाता है कि इससे विश्व में समाजवादी अर्थव्यवस्था को प्रोत्साहन मिले और पूंजीवादी अर्थव्यवस्था नष्ट हो जाय। अपने उत्पादन के तरीकों एवं व्यवहारों में क्रान्तिकारी परिवर्तन करके रूस बहुत शीघ्र ही एक समर्थ राष्ट्र बन गया है तथा इसने अपने कृषि प्रधान रूप को औद्योगीकृत बना लिया है। विश्व के अर्धविकसित एवं अविकासशील राष्ट्रों के लिए यहां की अर्थव्यवस्था एक आदर्श है। इस आदर्श का प्रसार करने के लिए सोवियत रूस पूंजीपति राष्ट्रों के साथ गहरे आर्थिक सम्बन्धों की स्थापना करता है। साम्यवादी दल की १५ वीं कांग्रेस ने एक प्रस्ताव द्वारा दिसम्बर १९२७ को आर्थिक सहयोग की नीति के इस सिद्धान्त को स्पष्ट करते हुए कहा था कि हमें हमारी नीति को दूसरे देशों के साथ अधिक से अधिक आर्थिक सम्बन्धों का विकास करने के विचार पर आधारित करना चाहिए जहां तक कि ऐसे सम्बन्ध संघ की आर्थिक शक्ति को बढ़ाते हैं। हमें इसे पूंजीपति विश्व से अधिक स्वतन्त्र बनाना चाहिए तथा संघ के अग्रिम औद्योगिक विस्तार के लिए समाजवादी नींव को बढ़ाना चाहिए। अब्दुरहमान अवतोरखानोव के शब्दों में 'सोवियत विदेश नीति स्टालिन के राष्ट्रीय लक्ष्यों की पूर्ति के लिए बनायी गयी थी'। ये लक्ष्य थे—औद्योगीकरण, समष्टिकरण तथा एक राक्षसी तथा आतंकवादी यन्त्र का निर्माण।[1]

सोवियत विदेश नीति के लक्ष्य
(Goals of Soviet Foreign Policy)

साम्यवादी विचार धारा सोवियत विदेश नीति के लिए केवल आधार ही प्रदान नहीं करती वरन् यह उसके लक्ष्यों की ओर भी स्पष्ट रूप से संकेत करती है। रूस की विदेश नीति अन्य देशों की विदेश नीति की भांति उसके राष्ट्रीय हित की पूर्ति करती है उसे विश्व की महान शक्ति बनाने का प्रयत्न करती है उसके मित्रों की संख्या को बढ़ाने में सहायक बनती है। इसके अतिरिक्त यह साम्यवाद के प्रसार, साम्यवादी देशों के संगठन तथा उनके हितों में एकरूपता की स्थापना पूंजीवादी व्यवस्था का अन्त एशिया अफ्रीका आदि देशों में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना साम्राज्यवाद एवं

---

1 Soviet foreign policy was made to serve Stalin s domestic goals of industrialisation collectivisation and the creation of a gigantic terror machine."

—Abdurkhman Avtorkhanov Problems of Soviet Foreign Policy A Symposium edited by Oliver J Frederiksen Munich, 1959

उपनिवेशवाद की समाप्ति आदि लक्ष्यों की पूर्ति के लिए संचालित होती है। सोवियत विदेश नीति के मुख्य-मुख्य लक्ष्य निम्न प्रकार हैं—

विश्व में साम्यवाद की स्थापना

साम्यवादी घोषणा-पत्र में विश्व के मजदूरों को एक होने का आवाहन किया गया है तथा विश्व से पूंजीवाद के एकदम समाप्त होने की भविष्यवाणी की गयी है तथा इसका स्थान साम्यवादी समाज ले लेगा ऐसी आशा लगाई गई है। यही कारण है कि सोवियत रूस की विदेश नीति भी विश्व भर में साम्यवादी आन्दोलनों को प्रोत्साहन देने एवं क्रान्तियों को सफल बनाने में सक्रिय सहयोग प्रदान करती है। साम्यवादी लोग सोवियत रूस का उतना ही महत्वपूर्ण मानते हैं जितना कि धार्मिक विश्वास वालों के लिए तीर्थ स्थान महत्वपूर्ण होता है। इससे भी अधिक है विश्व व्यापी साम्यवादी व्यवस्था व अभिन्न राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मास्को से सैनिक एवं अन्य प्रकार की सहायता पाने की पूरी आशा रखते हैं। सोवियत संघ की विदेश नीति के प्रमुख एवं प्रथम निर्माता लेनिन का झुकाव अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर अधिक था इसके लिये वे राष्ट्रीय स्वार्थों का बलिदान करने को भी तैयार थे। उन्होंने रूस के राष्ट्रीय हितों को बिना किसी संकोच के अपने दल की विचारधारा से गौण बना दिया था। उनका मत था कि वर्तमान राष्ट्रीय युद्धों या गृह-युद्धों में बदल दिया जाए अर्थात् पूंजीपति राष्ट्र आपस में लड़ें इसके स्थान पर एक ही देश में सर्वहारा वर्ग पूंजीपति वर्ग के विरुद्ध युद्ध छेड़ दें और इस प्रकार सारे संसार में इन दोनों वर्गों के बीच युद्ध छिड़ जाय। राष्ट्रीयता के विचार का यहां कोई स्थान नहीं था वरन् वर्ग हित प्रधान था। लेनिन का कहना था कि विदेश नीति के प्रश्नों पर दो प्रकार से विचार किया जाता है। सर्वहारा के मत में समाजवादी क्रांति महत्वपूर्ण है तथा उसका प्रथम स्थान पर है जब कि पूंजीपति के मत में महाशक्तिवान राज्य की राष्ट्र की स्वतन्त्रता श्रेष्ठ है तथा इसे सब चीजों से अधिक प्राथमिकता दी जानी चाहिए। लेनिन के ही शब्दों में—हमने न तो महाशक्ति की ओर न ही राष्ट्रीय हितों की रक्षा की है। हम यह मानते हैं कि समाजवाद का विश्व समाजवाद के हित राष्ट्रीय हितों की तुलना में अधिक महत्वपूर्ण हैं राज्य के हितों से अधिक महत्वपूर्ण हैं। कामिन्टर्न के द्वारा साम्यवाद को विश्व व्यापी बनाने के लिए अनेक प्रकार के तरीके अपनाये जाते हैं। स्टालिन के समय में रूस की विदेश नीति में साम्यवाद के विश्व में प्रसार को गौण बना लिया था किन्तु भुलाया नहीं था।

(२) राष्ट्रीय हित की साधना

सोवियत रूस में साम्यवाद की स्थापना के बाद जिस विदेश नीति का विकास हुआ उसमें राष्ट्रीय हित को एक प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय हित के साथ एकाकार कर लिया। यह समझा जाने लगा कि विश्व में पूंजीवाद की समाप्ति एवं समाजवादी समाज की स्थापना ही सोवियत संघ का सबसे बड़ा हित है। एक बार लेनिन ने कहा कि हमें अपनी क्रियाओं को इस ढंग से करना सीखना चाहिए कि हम सर्वहारा की मान्यताओं ...

सम्बे समय तक बनाये रखने में समर्थ बन सकें। साम्यवादी व्याख्या के अनुसार यहाँ देश की विदेश नीति केवल दल के हाथों में रहती है। यहाँ शक्ति का केन्द्रीकरण पहले दल में उसके बाद नौकरशाही में तथा उसके बाद एक तानाशाह में हो जाता है। इस दृष्टि से यह कहना सच ही है कि सोवियत रूस की विदेश नीति एक राष्ट्रीय राज्य की नीति नहीं है वरन् यह सत्ताधारी वर्ग की सैद्धान्तिक एवं दलीय नीति है। दल का हित स्वाभाविक रूप से विश्व में अपना प्रचार करना ही है। विरोधी विचारधारा, अर्थ-व्यवस्था एवं मान्यताओं से पूर्ण पूंजीवादी प्रजातन्त्रों से घिरा हुआ सोवियत संघ निश्चय ही अपने किसी भी हित को प्राप्त नहीं कर सकता अतः यह उचित ही नहीं वरन् आवश्यक भी है कि सोवियत रूस साम्यवाद का प्रसार करे तथा पूंजीपति राष्ट्रों से अपने हितों की तथा स्वतन्त्रता तथा अखण्डता की रक्षा करने के लिए समाजवाद में विश्वास करने वाले राष्ट्रों का एक सशक्त गुट बना ले।

(३) एक नवीन साम्राज्य की स्थापना

पश्चिमी आलोचकों द्वारा सोवियत रूस की साम्यवाद के प्रसार की नीतियों को प्रायः उसको साम्राज्यवाद की पुरानी परम्परा को कायम रखने का एक दूसरा तरीका बताया जाता है। अब्दुर्रहमान अवतोरखानोव (Abdurakhman Avtorakhanov) का कहना है कि जारशाही रूस का लक्ष्य था देशीय प्रसार का जो केवल यूरेशियन देशों की ओर ही निर्देशित था वा यह स्थानीय प्रकृति का था। किन्तु सोवियत रूस का लक्ष्य सैद्धान्तिक है और इसलिए यह विश्वव्यापी है। विश्व समाजवादी क्रान्ति के नाम पर सोवियत रूस एक नवीन प्रकार के साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का विकास कर रहा है। यह पुराने तरीके के साम्राज्यवाद की पुनरावृत्ति नहीं है। यह राष्ट्रवाद से ऊपर है और इस प्रकार एक क्रान्तिकारी विकास है। यह आर्थिक साम्राज्यवाद नहीं है वरन् विचारों का साम्राज्यवाद है। प्रारम्भ में यह कच्चे माल बाजारों मुख्य के धन या पूंजी लगाने के स्थानों में रुचि नहीं लेता ताकि इन देशों पर यह एक निश्चित राजनैतिक तथा सैद्धान्तिक शासन जमा सके। पूंजीवादी साम्राज्यवाद अपने उपनिवेशों तथा पराधीन लोगों पर उनकी अपनी व्यवस्था विचारधारा को नहीं थोपता किन्तु साम्यवादी साम्राज्यवाद मुख्यतः इन्हीं लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है अन्य बातें तो स्वाभाविक हो सकती हैं। इस प्रकार अवतोरखानोव के शब्दों में यह कहा जा सकता है कि "सोवियत साम्राज्यवाद साम्राज्यवाद का एक नया प्रकार है यह अधिक गतिशील तथा अधिक सफल है। यह एक अजातीय साम्राज्यवाद है जो कि एक ऐसे शासकीय वर्ग की स्थापना कर देता है जो उस उपनिवेश की जनता का सोवियत नागरिकों के लिए समर्थन पा सके और स्वयं उसका निरीक्षण का भाग सम्हाल लेता है।"[1]

---

1 "Thus Soviet imperialism is a new typical Imperialism -more insidious, more dynami. and ultimately more successful. It is a non-racial Imperialism, which is oriented towards the creation of new

रूसी साम्राज्यवाद को भली प्रकार से समझने के लिए आवश्यक है कि हम अपने आपको रूस वालों की स्थिति में रख कर उन्हीं की आँखों से विश्व की ओर देखें। सोवियत साम्राज्यवाद स्टालिन के समय में ही संसार के लिए एक चुनौती बन गया था। ख्रुश्चेव के आने पर स्टालिनवाद की बुरी तरह आलोचना की गई किन्तु उसे साम्राज्यवादी नहीं बताया गया था क्योंकि ये नीतियाँ स्वयं ख्रुश्चेव को भी अपनानी थीं। क्रेन्कशा (Edward Crankshaw) का तो यहाँ तक कहना है कि "सोवियत रूस एक देश नहीं है वरन् यह तो एक साम्राज्य है।"[1] रूस की विदेश नीति जिस साम्राज्य की स्थापना का एक स्वप्न देखती है उसका उदाहरण विश्व के इतिहास में प्राप्त नहीं है। यह अपने प्रकार का अनूठा ही है। विश्व भर में मजदूर वर्ग का प्रभुत्व हो जाये तथा सारा संसार मास्को के नेतृत्व के आधीन रहे यह रूसी साम्राज्यवाद का अन्तिम लक्ष्य है।

(४) साम्राज्यवादी युद्धों को रोकना

वर्तमान विश्व के अधिकांश अन्तर्राष्ट्रीय विवाद एवं झगड़े चाहे वे बातचीत तक सीमित हों अथवा शस्त्रों का सहारा ले रहे हों मुख्य रूप से पूँजीपतियों द्वारा ही पैदा किये जाते हैं। ये अन्तर्राष्ट्रीय झगड़े तब पैदा होते हैं जबकि दो पूँजीपति देशों के हित परस्पर टकराते हैं। इन युद्धों के मुख्य हिस्सेदार भी पूँजीपति ही होते हैं। साम्यवाद का समर्थक होने के नाते सोवियत रूस का यह विचार है कि इन झगड़ों से विश्व की सर्वहारा वर्ग के लिए उतनी ही अनुपयोगी एवं हानिकारक है जितनी कि उसके लिए हार हानिकारक हो सकती है। इसलिए किसी भी कीमत पर मजदूर को इन युद्धों में सहयोग नहीं देना चाहिए। सोवियत रूस की विदेश नीति यह प्रयास करती है कि इस प्रकार के युद्धों के स्थान पर वर्ग युद्ध आ जाय ताकि पूँजीवाद को समाप्त करके सर्वहारा वर्ग शासन को अपने हाथ में ले सके।

(५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व

स्टालिन के समय में रूस की विदेश नीति पश्चिमी युद्ध का पूरी तरह से विरोध करती थी तथा यह माना जाता था कि पूँजीवादी तथा साम्यवादी देशों के बीच संघर्ष तथा युद्ध का होना अनिवार्य है। युद्ध के बिना कोई भी पूँजीवादी देश अपनी शक्ति का त्याग नहीं करेगा। स्टालिन का विचार था कि जो लोग आगामी विश्व युद्ध के खतरे को टालने की दृष्टि से

---

governing classes to support its policy among the colonial peoples while retaining for its satraps an overall supervisory role."

—Abdurkhman Avtorkhanov, op. cit. p 2-3

1 "The Soviet Union is an empire not a country."

—Edward Crankshaw "Russia's Imperial design" in the Atlantic Monthly, November, 1957.

लेनिन के इस विचार को कि 'साम्राज्यवाद' युद्ध को जन्म देता है गलत बताते हैं वे स्वयं ही असत्य हैं। शान्ति की स्थापना के लिए चाहे कितने ही प्रयत्न किये जाय वे सभी युद्ध को तब तक नहीं रोक सकते जब तक कि पूंजीवाद दुनिया में कायम है।

ख्रुश्चेव ने स्टालिन द्वारा अपनायी गयी कठोर द्वेषपूर्ण विरोधी नीति को थोड़ा नरम बनाया। साम्यवादी दल की २०वीं कांग्रेस में बोलते हुए उन्होंने कहा था कि १९वीं कांग्रेस से आज तक का जो समय गुजरा है उसमें अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये हैं। जैसे शीत युद्ध का छिड़ना, कोरिया तथा इण्डोचाइना में हिंसात्मक कार्रवाई, दोनों गुटों में तीव्र मतभेद के कारण सैनिक संगठनों का सूत्रपात जैसे नाटो सीटो बगदाद संधि आदि। ये सन्धियां विश्व में पूंजीवादी प्रभुत्व को बनाये रखने के लिए की गयी हैं। इस समय विश्व स्पष्ट रूप से दो भागों में विभाजित हो गया था तथा दोनों ही गुटों के बीच एक अपूर्व संतुलन सी था। ख्रुश्चेव के मतानुसार इस संतुलन के रहते हुए विश्व युद्ध असंभव बन गया है। एक गुट दूसरे गुट की शक्ति की मात्रा तथा प्रतिक्रिया की संभावनाओं को देख कर उस पर आक्रमण करने का दुस्साहस कदापि न करेगा। शान्ति की शक्तियां अपनी पूरी गति पर हैं। इन परिवर्तनों के अतिरिक्त एक दूसरा मुख्य विकास यह हुआ है कि पूंजीवादियों के साम्राज्य एवं उपनिवेश अब तक एक-एक करके स्वतन्त्र राष्ट्र बनते जा रहे हैं। इस नवीन समय में लेनिन की यह भविष्यवाणी सच हो गयी है कि विश्व के भाग्य का निर्णय करने में पूर्व के लोग महत्वपूर्ण एवं सक्रिय भाग ले रहे हैं। एशिया और अफ्रीका के अविकसित एवं अर्द्ध विकसित देशों का जीवन स्तर ऊंचा उठाने के लिए बड़ी शक्तियों द्वारा सहायता योजनायें प्रारम्भ की जा रही हैं। यह विदेशी सहायता किसी शर्त पर दी जाती है। ख्रुश्चेव के मतानुसार यह शर्त है कि ये देश उस गुट के सैनिक संगठन में बंध जायें तथा अमरीका की विश्व विजय से पूर्ण विदेश नीति का समर्थन करें। गुटों से अलग रहने को पूर्वी देशों की नीति उनकी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता को बनाये रखने का प्रयास है। एक तीसरा मुख्य परिवर्तन यह है कि अर्द्ध विकसित देशों तथा साम्यवादी देशों के बीच मैत्री सम्बन्ध दिन पर दिन बढ़ता ही जा रहा है। इन सब परिवर्तनों के कारण विश्व में जिस प्रकार की स्थिति पैदा हो गयी है उसमें सोवियत संघ द्वारा यह सोचा गया कि विदेश नीति को शक्ति एवं हिंसा पर आधारित न रख कर पश्चिमी देशों के साथ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति अपनायी जाय। हाइड्रोजन बम के कारण 'विश्व युद्ध' विश्व विनाश का प्रतीक बन चुका है। पूंजीवाद को समाप्त करने तथा साम्यवाद का प्रसार करने के लिए अब शांतिपूर्ण साधनों का सहारा लिया जाना चाहिए। ख्रुश्चेव के शब्दों में—'लेनिन का विभिन्न समाज व्यवस्थाओं के साथ शांतिपूर्ण-सहअस्तित्व का सिद्धान्त हमेशा ही हमारी विदेश नीति का भाग रहा है। यह कोई चालबाजी नहीं है वरन् सोवियत विदेश नीति का मौलिक सिद्धान्त है।'[1] रूस की

1 "The Leninist principle of peaceful co-existance of states

विदेश नीति का यह विश्वास है कि शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की प्रतियोगिता निश्चित रूप से समाजवाद को विजयी बना देगी।

(१) अमरीका को नीचा दिखाना

विश्व की एक महान् शक्ति होने के नाते सोवियत रूस के हित अन्य कुछ देशों के साथ भी टकरा सकते हैं किन्तु उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वि वो नहीं हो सकता है जो उसे विश्व की एक मात्र महान् शक्ति होने के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर सके। इस दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका उसका सबसे बड़ा प्रतिद्वन्द्वि है। अतः आर्थिक राजनैतिक सैनिक तथा अन्य सभी क्षेत्रों में उसे नीचे दिखाना सोवियत संघ की विदेश नीति का प्रमुख लक्ष्य बन गया है। समाजवाद के समर्थकों को यह दिखाने के लिए कि अल्पतम वर्षों में अपना नवीन समाज बनाने की पूरी योजना है और निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत लाभ तथा शक्तियों के अबाधित लाभों से वंचित रहते हुए भी वे अपने देश का उत्पादन बहुत कम समय में आशातीत स्तर पर ला सकते हैं, सोवियत रूस हर सम्भव प्रयास करता है। इसका कारण यह है कि अपनी उन्नत एवं सफल अर्थ व्यवस्था के प्रति एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों को वह अमेरिका के प्रभाव से खींचकर साम्यवादी छत्र छाया में ला सकता है। सोवियत रूस द्वारा स्टील का उत्पादन तथा उपयोग संयुक्त राज्य अमेरिका से तुलना किया जाता है तथा कृषि एवं उद्योग आदि क्षेत्रों में भी वह तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है। उद्योग विज्ञान तकनीकी ज्ञान आदि क्षेत्रों में प्राप्त की गयी सारी सफलतायें पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध समाजवादी व्यवस्था की श्रेष्ठता की प्रभावशील प्रमाण हैं। सोवियत रूस ने विज्ञान में जो प्रगति की है वह भी दर्शनीय है। ल्यूना-२ का चन्द्रमा पर बिना झटके उतर जाना तथा उसी जगह का धरती से छूट शुक्र ग्रह पर उतर जाना यहां के विज्ञान व उत्कृष्ट विकास के प्रति संसार के ध्यान को बरबस ही आकृष्ट कर लेते हैं। सन् १९५७ में खुश्चेव ने कहा था कि हमारे देश की सारी सफलतायें सोवियत संघ के साम्यवादी दल की लेनिन की नीतियों को क्रियान्वित करने का परिणाम हैं। इस प्रकार अपने अभूतपूर्व विकास के परिणामों तथा प्रगति की सम्भावनाओं को दिखा कर सोवियत रूस पूंजीवादी व्यवस्था की सारहीनता तथा समाजवादी समाज की उत्कृष्टता का विश्वास कराना चाहता है। इसी प्रकार प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर सोवियत विदेश नीति इस बारे में सदैव जागरूक रहती है कि किसी देश विशेष अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव बढ़ने नहीं पाये।

पृष्ठ भूमि के रूप में सोवियत संघ की विदेश नीति के आधारों और

---

with different social systems has always been and remains the general line of our country's foreign policy—it is not a tactical move but a fundamental principle of Soviet foreign policy."

—N. S. Khruschev, 20th Party Congress

सन्धयों की सामान्य विवेचना करने के उपरान्त अब हम मूल विषय पर अर्थात् सोवियत रूस की द्वितीय महायुद्धोत्तर विदेश नीति पर आते हैं।

सोवियत संघ की विदेश नीति (१९४५–१९६७)
(The Foreign Policy of Soviet Russia 1945–1967)

द्वितीय महायुद्ध के बाद की सोवियत रूस की विदेश नीति के इतिहास को मुख्यतः दो कालों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) उग्रतावादी नीति का स्टालिन काल (१९४५ १९५३) एवं
(२) शांति पूर्ण सहअस्तित्व का स्टालिनोत्तर काल (१९५३ १९६७)

चूँकि सोवियत संघ की वर्तमान नीति प्रमुखतः अमेरिकन विदेश नीति के साथ घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है और उसकी अधिकांश घटनाओं का विस्तृत वर्णन पिछले अध्याय में हो चुका है अतः यहाँ उपरोक्त दोनों कालों में रूस की नीति के प्रमुख उद्देश्यों और विशेषताओं पर संक्षेप में ही प्रकाश डाला जायगा।

उग्रतावादी नीति का काल (१९४५–१९५३)

सोवियत रूस के इस काल में सोवियत नीति का नियामक मार्शल स्टालिन था। यद्यपि द्वितीय महायुद्ध के समय स्टालिन ने मित्र राष्ट्रों को पूर्ण सहयोग दिया था और पोट्सडम याल्टा तथा फ्रांसिस्को आदि सम्मेलनों में भाग लेकर सहयोग एवं सद्भावना का परिचय दिया था पर युद्ध की समाप्ति के पश्चात् उसकी नीति उग्रवादी कठोर एवं कराल हो गई। युद्धोत्तर उसकी नीति ने उसके इस विश्वास को प्रकट कर दिया कि पूंजीवादी पश्चिमी जगत सोवियत रूस के विनाश का षड्यंत्र रच रहा है और उसके साथ मैत्री असम्भव है। पूर्वी यूरोप में स्टालिन की सैनिक एवं राजनीतिक साम्राज्यवादी नीतियाँ और देश-विदेश में मार्क्स-लेनिन के सिद्धान्तों के पूर्ण पालन पर जोर देना तथा कभी समझौता न होने योग्य मत मुद्दों को बनाये रखना आदि स्टालिन के काल शीत-युद्ध को मस्थापित रूप देने के कारण बन गये।

परन्तु इस प्रकार के वातावरण एवं शीत युद्ध के विकास के लिए अकेला रूस ही जिम्मेदार था यह कहना अनुपयुक्त होगा। यह सच है कि सोवियत रूस के हृदय में १९१७ की क्रांति के बाद से ही पश्चिम के प्रति अनेक कारणों से अविश्वास बढ़ता गया था और यह भी सच है कि द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों को सहयोग देते हुए भी सोवियत रूस पश्चिम के प्रति अपने सन्देह और अविश्वास को मिटा नहीं सका था किन्तु यह भी सही है कि महायुद्ध के बाद सोवियत संघ शांति चाहता था ताकि वह अपनी आर्थिक स्थिति सुधार सके और जनता को सुख-चैन मिल सके। पश्चिम में ही अविश्वास-ग्रस्त स्टालिन जब पूरी तरह महाशक्ति बनने ... पश्चिम के युद्धोत्तर नीति का प्रतिफल माना जाने की कोशिश की। रूस के पश्चिम के प्रति इस प्रकार आशंकित होने के पीछे अमेरिका तथा उसके साम्राज्यवादी

कारण था जैसा कि डीमटर पेपर द्वारा अमेरिकन डीमेटर्स में दिये गये भाषण के इस उद्धरण से स्पष्ट है—

'युद्ध की भयंकरता को रूसी अच्छी तरह जानते हैं इसलिये उनकी आशंकायें काल्पनिक नहीं हैं। उन दारुण दुखों और विपदाओं की याद इन आशंकाओं को जगाती है। उसके वीभत्सकारी नगरों के राख ढेर उसकी आशंकाओं को और भी तीव्र कर देते हैं। युद्ध में उसने १५ ००० ००० स्त्रियों, पुरुषों और बच्चों की बलि दी है। यह हमारी क्षति से ५० गुना अधिक है। २५० ०० ००० रूसी बेघरबार और तबाह हो गये। उनको भूख फटे हाल और गरीबी का सामना करना पड़ा। यह सब उन्होंने दुश्मन को परास्त करने के लिये सहा था।" उन्होंने आगे कहा—

"पिछले महायुद्ध की स्मृतियां भी उनकी आशंकाओं की पुष्टि करती हैं। रूस का सन् १९१९ के ग्रीष्म की याद अभी तक ताजा है। उसे याद है १४ राष्ट्रों ने जिनमें ब्रिटेन फ्रांस जर्मनी चीन अमेरिका तथा जापान भी शामिल थे नवनिर्मित सोवियत संघ पर आक्रमण किया था।

पश्चिमी राष्ट्रों ने द्वितीय महायुद्ध के दौरान भी प्रच्छन्न प्रच्छन्न रूप से और द्वितीय महायुद्ध के बाद यथासाध्य रूप से 'साम्यवाद का हौआ' खड़ा करना आरम्भ कर दिया। उनके इस व्यवहार ने सोवियत रूस के हृदय में प्रस्फुटित हुई सद्भाव और सौहार्द की कलियों को खिलने के पहले ही नष्ट कर दिया। डीमेटर पेपर द्वारा कही गई निम्नलिखित बातों में इसी भावना का दिग्दर्शन मिलता है कि आखिर रूस पश्चिम के प्रति आश्वस्त क्यों नहीं हो सका—

"रूस को यह भी याद है कि उसके विरुद्ध साम्यवाद के हौए के नाम पर एक व्यापक और कूटनीतिक षड्यन्त्र इन पाश्चात्य साम्राज्यवादी ताकतों द्वारा खड़ा किया गया। रूस से हमेशा सभी राष्ट्रों को बहुत बड़ा डर दिखाया गया। —यहां तक कि सोवियत सरकार को किसी ने मान्यता तक नहीं दी। उनको हिटलर का इतिहास भी याद है जिसे हमेशा सोवियत रूस के विरुद्ध बढ़ावा दिया गया। म्यूनिख सम्मेलन में उसे बुलाया तक नहीं गया और इस सम्मेलन में यह प्रायः तय माना गया था कि हिटलर रूस पर हमला करेगा।

तो रूस के प्रति पश्चिम की मैत्री में कोई आस्था न रखते हुए स्टालिन ने महायुद्ध के उपरान्त एक उग्रतावादी और हठधर्मी रुख अपनाया जिसने शीतयुद्ध को उसकी मृत्यु तक चरम सीमा पर पहुंचा दिया। पामर और पर्किन्स (Palmer and Perkins) के शब्दों में—

"युद्धोत्तर सोवियत विदेश नीति कम से कम ८ वर्ष—१९५३ तक पश्चिम के प्रति बढ़ती हुई कटुता असहयोग और अलगाव की ओर बढ़ती हुई

प्रवृत्तियों सोवियत प्रभाव क्षेत्र के सुदृढ़ीकरण तथा सामान्य हठधर्मिता की विशेषताओं से युक्त रही है।[1]

स्टालिन द्वारा पश्चिम के प्रति मैत्रीपूर्ण रुख की उपेक्षा करके दुराग्रही मनोवृत्ति एवं व्यवहार पर आगे बढ़ते जाने का एक प्रधान कारण यह था कि युद्ध समाप्त होने पर सोवियत संघ की स्थिति कई दृष्टियों से पूर्वापेक्षा अधिक अच्छी थी। पश्चिम में उसकी लाल सेनाएं मध्य यूरोप तक के प्रदेश पर अधिकार जमाए बैठी थी। पश्चिम और पूर्व में उसके दो बड़े शत्रु जर्मनी और जापान पूर्णतः धराशायी हो चुके थे। पश्चिमी यूरोप की भीषण आर्थिक दुर्दशा से ग्रस्त जनता साम्यवाद को आमन्त्रण दे रही थी। वहां सरकारें अस्थिर थी और साम्यवाद के प्रसार की बड़ी सम्भावनाएं विद्यमान थी। एशिया और अफ्रीका में यूरोपियन साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रबल विद्रोह और असन्तोष का सागर लहरा रहा था। ब्रिटिश, फ्रेंच और डच साम्राज्य अपने विनाश की अन्तिम कहानी सुनाने को थे। जहां साम्यवाद के घोर शत्रु पाश्चात्य पूंजीपति राष्ट्र युद्ध से विध्वस्त और आर्थिक दृष्टि से अस्त-व्यस्त अवस्था में थे और भी नाना प्रकार की घरेलू समस्याएं उन्हें निर्बल एवं क्षीण बनाये हुई थी। इस तरह द्वितीय महायुद्धोत्तर स्थिति समग्र रूप से इस प्रकार की थी कि जहां साम्यवाद अपने पैर दोरमे में हर दिशा में न्यूनाधिक रूप से सक्षम हो गये। विश्व का यह वातावरण साम्यवाद के प्रसार के अनुकूल था और रूस के लिये अपना प्रभाव बढ़ाने का यह स्वर्ण अवसर था। स्टालिन जैसा चतुर राजनीतिज्ञ इस अवसर का पूरा-पूरा लाभ प्रत्येक तरीके से उठाना चाहता था और इसके लिये सबसे उपयुक्त मार्ग यही था कि पश्चिम की प्राचीन की कहानी को कुरेदा जाय, आरोप-प्रत्यारोपों की गर्मा-गर्मी में शीत-युद्ध को बढ़ावा दिया जाय और पश्चिम के प्रत्येक प्रस्ताव के प्रति अड़ंगेबाजी की नीति अपनाई जाय। चारों ओर के साम्यवाद के लिये अनुकूल वातावरण से लाभ उठाने का लोभ संवरण कर पाना स्टालिन के लिये मुश्किल था और स्थिति ऐसी थी कि यदि पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति खिंचाव के कुछ कारण वास्तव में न हो तो भी सोवियत रूस द्वारा उन्हें पैदा किया जाता। मोलोटोव ने ६ नवम्बर १९४७ को रूस की उपरोक्त भावना को व्यक्त करते हुए ही ये शब्द कहे थे—"हम एक युग में रह रहे हैं जिसमें सब सड़कें साम्यवाद की ओर ले जाने वाली हैं।"

स्टालिन का विश्वास था कि इस समय पश्चिमी देशों पर डाला गया प्रबल दबाव साम्यवाद के प्रसार में सहायक होगा और इसीलिए उसने सर्वत्र

---

1 For at least eight years—Until 1953—post war Soviet foreign policy was characterized by growing hostility to the West by increasing tendencies toward noncooperation and isolation, by consolidation of the Soviet orbit and by general intransigence."

—*Palmer and Perkins* International Relations p 659

उग्र आक्रमणात्मक एवं अग्रगामी नीति का अनुसरण किया। उसके शासन काल में मध्यपूर्व में टर्की और ईरान पर दबाव डालने की घटनायें हुईं, यूनान के गृहयुद्ध में भाग लेने, कामिनफोर्म बनाने, बर्लिन का घेरा डालने, संयुक्त राष्ट्र संघ में अमेरिका के साथ संघर्ष करने, साम्यवादी चीन से समझौता करने और कोरिया के युद्ध में उलझने आदि की दूसरी महत्वपूर्ण बातें हुईं जिन सब पर पहले यथास्थान प्रकाश डाला जा चुका है। स्टालिन काल में रूस की विदेश नीति की जो प्रवृत्ति रही उसे निम्नानुसार प्रकट करना सुविधाजनक होगा—

(१) पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुता का विस्तार

पूर्वी यूरोप पर रूसी प्रभुता की स्थापना पीटर महान के काल से ही रूसी विदेश नीति का एक प्रधान लक्ष्य रहा है। द्वितीय महायुद्ध ने सोवियत संघ को अपने इस प्राचीन स्वप्न को पूरा करने का एक स्वर्ण अवसर प्रदान कर दिया। युद्ध के अनुभव से लाभान्वित होकर रूस ने यह दृढ़ निश्चय कर लिया कि उसकी विदेश नीति का संचालन इस प्रकार होना चाहिये जिससे कि उसके पश्चिम में स्थित पड़ोसी राज्य उसके साथ हमेशा मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रखें। चूंकि सौभाग्यवश पूर्वी यूरोप के सभी देशों को जर्मनी की दासता से लाल सेना ने ही मुक्ति दिलाई थी अतः इन देशों में सोवियत संघ के प्रति अपार सहानुभूति थी। रूसी प्रभाव इन देशों में पहले ही से स्थापित भी था क्योंकि युद्धकाल में इन देशों की साम्यवादी पार्टियों ने ही जर्मनी के विरुद्ध लड़े जाने वाले छापामार संघर्षों का नेतृत्व किया था। इन परिस्थितियों में युद्धोपरान्त इन देशों की साम्यवादियों के हाथ में ही राजनीतिक सत्ता आयी। इस सत्ता स्थापना में रूसियों की भारी सेना से बड़ी सहायता मिली जिसने अस्थाई रूप से युद्धकाल में ही मध्य और पूर्वी यूरोप के बड़े भाग पर अधिकार कर रखा था। १९४९ से सोवियत रूस ने अपने क्षेत्रफल में २७ करोड़ ४० लाख वर्गमील की वृद्धि कर ली थी और अब चैकोस्लोवाकिया, हंगरी, अलबानिया, बल्गेरिया तथा यूगोस्लाविया के लगभग ११ करोड़ वर्गमील के क्षेत्र के ७ राज्य मास्को के पृष्ठपोषक बन गये यद्यपि यूगोस्लाविया कुछ समय तक सोवियत गुट में रहने के बाद [illegible] प्रभाव से बाहर हो हट गया। इन देशों के अतिरिक्त अधिकृत पूर्वी जर्मनी भी रूसी संरक्षण में ही था और यहाँ जिस शासन प्रणाली को कायम किया गया वह समाजवाद के सिद्धान्तों के ऊपर आधारित थी।

रूस की वास्तव में यह एक आश्चर्यजनक सफलता थी कि उसने युद्धोपरान्त १९४८ तक की तीन वर्ष की अल्पावधि में पूर्वी यूरोप के सात देशों को पूरी तरह साम्यवादी बना लिया था। स्वाभावतः पश्चिमी देश सोवियत संघ के प्रभाव को इस तरह बढ़ता हुआ नहीं देख सकते थे। फरवरी १९४५ के याल्टा सम्मेलन में पश्चिमी शक्तियों ने पूर्वी यूरोप में सोवियत प्रभुत्व के विस्तार को रोकने का जो प्रयास किया था उसकी यह पूर्ण हत्या थी। इस सम्मेलन में रूजवेल्ट स्टालिन और चर्चिल ने "मुक्त यूरोप सम्बन्धी घोषणा" (Declaration on Liberated Europe) पर हस्ताक्षर किये थे जिसमें पूर्वी

यूरोप के देशों के लिए यह वचन दिया गया था कि उनमें से प्रत्येक में जनता के लोकतांत्रिक तत्वों का विस्तृत रूप से प्रतिनिधित्व करने वाली एक ऐसी अन्तरिम सरकार स्थापित की जायगी जो यथाशीघ्र स्वतन्त्र चुनावों के जरिये जनता की इच्छा के अनुकूल एक नयी सरकार स्थापित करने के लिए कटिबद्ध हो।' परन्तु पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करने सम्बन्धी कार्य 'याल्टा भावना' का परित्याग था। स्टालिन द्वारा अपने वचन का पूरा नहीं किया गया था और यह स्थिति पश्चिमी देशों को क्रुद्ध करने वाली थी।

स्टालिन फिनलैण्ड को भी अपने वशीभूत करने से नहीं चूका। फरवरी १९४७ में फिनलैंड के साथ उसने शांति सन्धि की और अप्रैल १९४८ में मैत्री की सन्धि। इस सन्धि द्वारा स्टालिन ने फिनलैंड की स्वतंत्रता को बना रहने दिया परन्तु फिनलैण्ड से यह वचन भी ले लिया कि वह रूस विरोधी विदेश नीति नहीं अपनायेगा।

सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना करके अपनी राष्ट्रीय सुरक्षा को सुदृढ़ बनाने के लक्ष्य में निश्चित रूप से उत्साहप्रद सफलता प्राप्त की। सोवियत संघ ने इन देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करने हेतु बहुत से समझौते किए। इनके अन्तर्गत उसने इन्हें निश्चित अवधि के लिए विभिन्न प्रकार की सामग्री देना स्वीकार किया। १९४७ की मोलोटोव योजना ने इन देशों के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए इनके औद्योगीकरण पर बल दिया। लोक गणतन्त्रों की स्थापना अथवा दूसरे शब्दों में साम्यवादी शासन सत्ता की स्थापना के बाद इन देशों का पश्चिम के साथ व्यापार परिणामस्वरूप बहुत कम हो गया। जहाँ १९४८ में पश्चिमी देश पूर्वी यूरोप को ३४ करोड़ डालर का सामान भेजते थे वहाँ १९५० में यह राशि गिरकर केवल १४ करोड़ डालर पर आ गयी। इसके विपरीत जहाँ १९३८ में सोवियत संघ का इन देशों के साथ व्यापार कुल २ प्रतिशत था वहाँ १९५२ में यह बढ़कर ८०% हो गया।

६ मार्च १९४१ को सोवियत संघ और पोलैण्ड के मध्य हुए एक समझौते के अन्तर्गत रूस ने पोलैण्ड को १,७८,७२,००० डालर विदेशों से खाद्यान्न मशीनरी और कच्चा माल खरीदने के लिए उधार दिये। १२ जुलाई १९४७ को चैकोस्लोवाकिया के साथ एक व्यापारिक संधि की गयी जिसके अनुसार सोवियत संघ ने चैक मशीनरी एवं मशीनों द्वारा उत्पादित सामग्री के बदले में चैकोस्लोवाकिया को खाद्यान्न कई खाद और धातुएं देना स्वीकार किया। चैकोस्लोवाकिया के साथ ही १९४८ में एक अन्य समझौता हुआ जिसके द्वारा रूस ने उस ऋण के रूप में एक बड़ी राशि देना मंजूर किया। १९४८ में हंगरी के साथ भी दो व्यापारिक सन्धियां की गयीं जिनके अनुसार रूस ने तेल और बाक्साइट के बदले में रूस ने मशीनें तथा माल देना स्वीकार किया। इस क्षेत्र में अन्य देशों के साथ भी स्टालिन युग में सोवियत संघ द्वारा इसी प्रकार की संधियां सम्पन्न की गयीं।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों में आर्थिक क्षेत्र में सहयोग को और भी घनिष्ठ बनाने के लिए १९४९ में 'आर्थिक क्षेत्र में पारस्परिक सहायता के लिए कौंसिल" (Council for Economic Mutual Assistance Com. Con.) की स्थापना की गयी। इस 'कोम कोन' को पश्चिम द्वारा स्थापित 'यूरोपियन पुनर्निर्माण कार्यक्रम' (European Recovery Programme E R. P) का प्रत्युत्तर कहा जा सकता है।

राजनीतिक क्षेत्र में पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभाव स्थापित होने का आघात तो पश्चिमी शक्तियों को लगा ही था आर्थिक क्षेत्र में भी रूस के व्यापक प्रभुत्व से पश्चिमी देशों और रूस के तनावों में अभिवृद्धि हुई। पूर्वी यूरोप परम्परा से पश्चिमी देशों को खाद्यान्न एवं कच्चे माल का निर्यात करता था। पश्चिम के कुछ देश तो अपनी अत्यन्त आवश्यक वस्तुओं के लिए पूर्वी यूरोप पर आश्रित थे उदाहरणार्थ इमारती लकड़ी और निकिल (Nickel) पश्चिम को अधिकांश पूर्वी यूरोपियन देशों से ही प्राप्त होती थी। ये देश के सोवियत प्रभाव क्षेत्र में चले जाने से पश्चिम के लिए 'निर्यातक' देश नहीं रहे जिससे पश्चिम के कुछ देशों की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ा। साथ ही पूर्वी यूरोप में बैंकों, कारखानों और उद्योग धन्धों के राष्ट्रीयकरण हो जाने से पश्चिमी देशों की जो पूंजी इन देशों में लगी हुई थी उससे भी इन्हें हाथ धोना पड़ा। इन सब बातों का परिणाम यही निकला कि पश्चिमी देशों में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासन तन्त्रों के प्रति पूर्ण शत्रुता पैदा हो गयी। स्टालिन की नीति ने शीत युद्ध को तेज किया।

सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के देशों के बीच मैत्री और पारस्परिक सहायता की अनेक सैनिक सन्धियां भी हुईं। पोलैण्ड चैकोस्लोवाकिया तथा युगोस्लाविया के साथ तो सैनिक सन्धियां युद्धकाल में ही की जा चुकी थीं। इसके बाद १८ मार्च १९४८ से १६ अप्रेल १९४९ तक १७ द्विपक्षीय संधियां (Bilateral Treaties) की गयीं। इन सन्धियों को किन्हीं भी सम्भावित जर्मन आक्रमणों को रोकने के लिए किया गया। बाद में १४ मई १९५५ को इन देशों ने वारसा पैक्ट पर हस्ताक्षर करके सोवियत संघ के साथ अपने को और भी घनिष्ठ सम्बन्धों में आबद्ध कर लिया।

स्टालिन काल में सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के पारस्परिक सम्बन्धों में जहां हर प्रकार से सफलता का पलड़ा रूस के पक्ष में भारी रहा वहां रूस को इस क्षेत्र में कुछ असफलताओं का सामना भी निश्चित रूप से करना पड़ा। यूनान में एक साम्यवादी शासन की स्थापना के रूसी प्रयास असफल रहे। ट्रूमैन सिद्धान्त के कारण रूस काले सागर में टर्की से मनोवांछित रियायतें और अधिकार पाने में सफल नहीं हो सका। परन्तु इन सबसे अधिक मार्मिक असफलता रूस को युगोस्लाविया के मामले में हाथ लगी क्योंकि युद्ध समय तक रूसी गुट में बने रहने के बाद युगोस्लावियन राष्ट्रपति टीटो ने रूस के प्रभुत्व को स्वीकार करने से मना कर दिया और जून

१९४८ में युगोस्लाविया रूसी गुट से पृथक हो गया। मार्शल टीटो ने जो कि स्वतन्त्र विचारों वाले एक कट्टर राष्ट्रवादी हैं, स्टालिन की इस नीति को पसन्द नहीं किया कि सोवियत रूस पूर्वी यूरोप के साम्यवादी शासन तन्त्रों पर या युगोस्लाविया पर अपनी कठोर निगरानी रखे और उन्हें लौह आवरण (Iron Curtain) के भीतर छिपाये रखे। मार्शल टीटो ने जर्मन दासता से अपने राष्ट्र को मुक्त करने के लिए घोर छापामार संघर्ष किया था रूसी सहायता तो उन्हें बहुत बाद में जाकर मिल पायी। अतः टीटो की लोकप्रियता युगोस्लाविया में आकाश छूती थी और वह इस बात को पसन्द नहीं करते थे कि उन्हें 'स्टालिन का अनुचर' माना जाय अथवा उनके राष्ट्र को 'सोवियत रूस का पिछलग्गू' कहा जाय। अतः युद्ध समाप्त होने के उपरान्त जब धीरे धीरे मार्शल टीटो ने स्टालिन के शिकंजे से बचने का प्रयास किया और मास्को के नियन्त्रण में रहने के प्रति अनिच्छा जाहिर की तो रूस की साम्यवादी पार्टी ने मार्शल टीटो की इस विरोधी एवं रूस-विरोधी नीतियों को मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद के विरुद्ध बताया और कहा कि यह राष्ट्रवाद से प्रभावित एवं पूंजीवाद की ओर झुका हुआ रुख है जिससे विश्व के मजदूर आन्दोलन पर गहरा एवं विपरीत प्रभाव पड़ता। मार्शल टीटो पर स्टालिन ने हर प्रकार के दबाव डालने की चेष्टा की किन्तु वह टीटो को अपने कब्जे में नहीं ला सका। टीटो को यह कतई सहन न था कि युगोस्लाविया स्थित लाल सेना युगोस्लाविया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करे, अतः उसने सोवियत नागरिक और सैनिक अफसरों पर कड़ी निगरानी रखते हुए स्टालिन से स्पष्ट शब्दों में मांग की कि रूसी फौजें युगोस्लावियन क्षेत्र से हटा ली जाय।

स्टालिन और टीटो के मतभेद बढ़ते गये। फलस्वरूप २८ जून १९४८ को कोमिनफोर्म (Communist Information Bureau, Cominform) ने युगोस्लाव साम्यवादी पार्टी पर यह आरोप लगाकर उसे अपनी सदस्यता से निष्कासित कर दिया कि उसकी नीतियां मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद के सिद्धान्तों के प्रतिकूल हैं। प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि युगोस्लाविया की सरकार सोवियत संघ के प्रति शत्रुता की नीति का अनुसरण कर रही है और कृषकों के प्रति अपनी नीति को निर्धारित करते समय वह वर्ग विभेदों की अवहेलना करके मार्क्सवाद के सुस्थापित मार्ग से हट गयी है। प्रस्ताव में यह आरोप भी लगाया गया कि युगोस्लाविया की साम्यवादी पार्टी ने उसके विरुद्ध की गयी आलोचनाओं को आत्मआलोचना की कसौटी पर नहीं कसा है और इस प्रकार साम्यवादी पार्टी के संगठनात्मक सिद्धांतों के विपरीत आचरण करने की वह दोषी है। २९ जून को युगोस्लाव नेताओं ने कोमिनफोर्म द्वारा लगाये गये आरोपों को अस्वीकार कर दिया। इसके बाद सोवियत संघ और युगोस्लाविया के बीच शीतयुद्ध की स्थिति पैदा हो गयी जो स्टालिन की मृत्यु पर्यन्त (मार्च १९५३) चलती रही। वास्तव में स्टालिन ने टीटो को अपने समकक्ष मानने से इन्कार कर दिया और उसके प्रति पूर्ण विरोध की नीति पर आचरण किया। रोबिन्सटीन (Alvin Y Rubinstein) के शब्दों में "टीटोवाद" सोवियत प्रसार की प्रतिक्रिया में

कुछ परिचित था। इसमें राष्ट्रवाद तथा साम्यवाद का एक ऐसी विचारधारा व आन्दोलन में मिला दिया गया जिसके विभिन्न रूप थे स्वतन्त्रता की थी जो मास्को को स्वीकार नहीं थी।[1]

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी आन्दोलन के 'भाईचारे' के विरुद्ध किये गये टीटो के इस विद्रोह का पश्चिमी देशों में स्वभावतः मुक्त कंठ से स्वागत किया। इस विद्रोह को 'सोवियत साम्राज्यवाद' के विरुद्ध पूर्वी यूरोप के विद्रोह का सूचक बताया गया। जुलाई १९४८ में संयुक्त राज्य अमेरिका ने युगोस्लाविया की ६ करोड़ डालर की सम्पत्ति उसे लौटा दी। युगोस्लाविया ने भी अमेरिका को १ करोड़ ७० लाख डालर का भुगतान किया। अन्य पश्चिमी देशों के साथ भी इसी तरह के सद्भावनापूर्ण ... की भावना के समझौते किये गये। मार्शल टीटो ने सोवियत संघ से कुछ लेकर, पूर्वी यूरोप के देशों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की अपेक्षा पश्चिमी देशों के साथ मैत्री सम्बन्ध कायम करना शुरू कर दिया किन्तु यह सदैव ध्यान रखा कि उसका राष्ट्र पूर्णतः एक स्वतन्त्र राष्ट्र रहे जो सोवियत या पश्चिमी प्रभाव से उन्मुक्त व्यवस्था का आत्मनिर्भरण करे।

(२) विश्व में साम्यवादी क्रान्ति का प्रसार

साम्यवाद का एक मौलिक सिद्धान्त सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रसार व पूंजीवाद का उन्मूलन है। द्वितीय महायुद्ध के बाद विश्व की परिस्थितियाँ को सोवियत संघ के अनुकूल पाकर मास्को ने साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार की नीति पर चलना शुरू किया। यह उल्लेखनीय है कि विश्व क्रान्ति के विचार का स्टालिन ने प्रथम महायुद्ध के बाद ट्राटस्की के विरुद्ध विरोध किया था वही स्टालिन द्वितीय महायुद्ध के बाद साम्यवादी क्रान्ति की नीति के प्रबल पोषक बन गया। साम्यवादी क्रान्ति के फैलाव के लिए स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ द्वारा दूसरे देशों में सभी प्रकार के उपायों का अवलम्बन किया गया। यूनान में गृहयुद्ध में यूनानी साम्यवादियों को पड़ोसी साम्यवादी देशों अल्बानिया, बल्गेरिया और युगोस्लाविया द्वारा सहायता पहुंचाई गई। तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय (Third International) के विश्वव्यापी क्रान्ति के कार्यों को करने के लिए १९४७ में वारसा में एकत्रित यूगोस्लाविया, अल्बानिया, रूमानिया, हंगरी, पोलैण्ड, रूस, फ्रांस, चेकोस्लोवाकिया और इटली की साम्यवादी पार्टियों के नेताओं ने कैसा ... मे साम्यवादी सूचना संस्थान या कोमिनफार्म

---

1 "Titoism signifies more than a reaction against Soviet domination. It represents a fusion of nationalism and communism into an ideology and a movement having a variety of forms and connoting a measure of independence not acceptable to Moscow."
—Alvin Z. Rubinstein, The Foreign Policy of the Soviet Union, P. 245

(Communist Information Bureau Cominform) की स्थापना की। इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में विभिन्न देशों की केन्द्रीय साम्यवादी दलों की केन्द्रीय समिति के दो प्रतिनिधि होते थे। कोमिनफोर्म का कार्य पारस्परिक सहमति के आधार पर साम्यवादी दलों के कार्य में समन्वय स्थापित करना था। इस संस्थान की स्थापना के घोषणा-पत्र में कहा गया था कि संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा छिड़ा युद्ध 'विश्व की शक्तियों में प्रतियोगिता की समाप्ति के लिए लड़ा गया था।" लेकिन रूस ने यह युद्ध यूरोप में साम्यवाद के पुनर्निर्माण और उसे सुदृढ़ बनाने के लिए लड़ा था। कोमिनफोर्म का उद्देश्य विश्वव्यापी साम्यवादी आन्दोलन का नेतृत्व करना था। संसार भर के दलों के साम्यवादी दल कोमिनफार्म का दम भरते थे और इसके द्वारा प्रशस्त की गई कार्यविधि का अनुसरण करते थे। प्रत्येक साम्यवादी दल का उद्देश्य पूँजीवाद का उन्मूलन करना था और इसे प्राप्त करने के लिए साम्यवादी हिंसा, तोड़फोड़, ध्वंस आदि सभी साधनों का प्रयोग में लाते थे। लोकतन्त्रात्मक संस्थाओं और पद्धतियों में उनका कोई विश्वास न था। साम्यवादी दल का अनुशासन बहुत कुछ एक सैनिक संगठन के समान होता है।

विश्व में साम्यवादी शक्ति व प्रसार के मौलिक सिद्धान्त की पूर्ति के हेतु द्वितीय महायुद्ध के बाद रूस ने ऐसी नीति का अनुसरण किया कि जिसमें पूर्व और पश्चिम में रूसी साम्राज्य का विस्तार हो, रूसी सीमाओं पर रूस समर्थक राज्यों की सरकारें स्थापित हों, पुराने पूँजीवादी साम्राज्यों का विध्वंस हो और इस सम्पूर्ण स्थान सोवियत साम्राज्य का साम्यवादी विचारधारा के आधार पर निर्माण हो। अपने इन्हीं उद्देश्यों को पाने के लिए स्टालिन ने युद्धोत्तर विश्व समस्याओं का समाधान करने में शीघ्रता प्रदर्शित नहीं की। वह अड़ंगेबाजी करके शांति व्यवस्था में विलम्ब करना चाहता था ताकि संसार की स्थिति सोवियत संघ के लिए और भी अनुकूल हो जाय। मास्को के विदेश मंत्री सम्मेलन में अमेरिकन विदेश मंत्री मार्शल जब सोवियत नीति से व्याकुल हो गया था, स्टालिन ने उससे कहा, "जल्दी की कोई बात नहीं है। समय हमारे पक्ष में है, वह स्वयं समझौता करा देगा।"

(१) पश्चिम का विरोध और शीत युद्ध की उग्रता

संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के संदर्भ में और पिछले पृष्ठों में अन्य राष्ट्रों के संदर्भ में दिये गये विवरण से यह स्पष्ट है कि सोवियत रूस की पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवादी शासनों की स्थापना के प्रयत्नों और पश्चिमी शक्तियों द्वारा रूसी प्रभाव के प्रसार को रोकने की चेष्टाओं के कारण सोवियत संघ और पश्चिम की 'युद्धकालीन मैत्री' का अन्त हो गया तथा युद्ध समाप्त होने के तीन वर्ष के अन्दर ही दोनों गुटों में सम्भवतः शीत युद्ध प्रारम्भ हो गया। जर्मनी, आस्ट्रिया, इटली आदि शत्रु राज्यों के साथ सन्धियों की शर्तें, इटली के उपनिवेशों का तथा राष्ट्र संघ के मेण्डेट वाले प्रदेशों का विभाजन, जर्मनी के निःशस्त्रीकरण और एकीकरण की समस्या, पश्चिमी देशों तथा रूस के स्वातन्त्र्य और लोकतंत्र सम्बन्धी विचारों का मौलिक अन्तर, दक्षिणी

मध्यपूर्व में प्रभुत्व पाने के लिये तीव्र प्रतियोगिता आदि ऐसी घटनाएं या बातें उपस्थित हुई कि जिन पर दोनों पक्षों में उग्र मतभेद प्रकट हुए और फलस्वरूप शीत युद्ध की उग्रता बढ़ी। जहां पश्चिमी राष्ट्र कामिनफोर्म की गतिविधियों और रूसी प्रभाव व प्रयासों व स्टालिन की अद्भुत कूटनीतिक चालों व हठधर्मी आदि से आशंकित और त्रस्त हो गये वहां सोवियत संघ को इस विश्वास को समर्थन मिला कि पश्चिमी राष्ट्र उसके उन्मूलन का षड्यंत्र करने में लगे हुए हैं। रूस की दृष्टि में ट्रूमैन सिद्धान्त, मार्शल-योजना, बर्लिन के घेरे के समय दी गई हवाई सहायता, जापान एवं जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण, ट्रूमैन एवं प्लेवन योजनाएं, कोरिया युद्ध आदि पश्चिमी राष्ट्रों के ऐसे कार्य थे जो रूस के प्रति पश्चिम के विशेष कर अमेरिका के घोर विरोध और उनकी उग्र शत्रुता के प्रमाण कहे जा सकते थे। आणविक शक्ति से सम्पन्न संयुक्त राज्य अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिमी गुट की इन कार्यवाहियों से स्टालिन की आशंकाएं उत्तरोत्तर बढ़ती गई और वह पश्चिम की प्रत्येक कार्यवाही तथा गतिविधि का विरोध करने लगा।

यद्यपि स्टालिन पश्चिम के प्रति अपनी नीति को 'शांतिपूर्ण सहअस्तित्व' (Peaceful Coexistence) का जामा पहनाता था, परन्तु उसके कार्य कलापों से यह स्पष्ट हो गया कि 'शांतिपूर्ण सहअस्तित्व' की इस नीति से उसका अभिप्राय केवल इतना था कि दोनों पक्षों में सशस्त्र युद्ध नहीं होना चाहिए। एक प्रचारात्मक वाक् युद्ध और कोरिया जैसे स्थानीय युद्धों को वह इस नीति के विरुद्ध नहीं समझता था। स्टालिन की इसी नीति का एक अनिवार्य परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे पश्चिम और साम्यवादी शक्तियों का शीत युद्ध उग्रतर होता चला गया। स्टालिन ने अपने समय में जो कार्य किये और उनके फलस्वरूप पश्चिमी राष्ट्रों की जो प्रतिक्रियाएं हुई तथा उन प्रतिक्रियाओं के कारण रूस में जो अन्य प्रतिक्रियाएं हुई और इस प्रकार क्रियाओं प्रतिक्रियाओं का जो चक्कर चला उसके फलस्वरूप जर्मनी से अब तक और आस्ट्रिया से १९५५ तक शांति संधि नहीं हो सकी। रूस और उसके साथी देशों ने जापानी शांति संधि पर हस्ताक्षर करने से भी इन्कार कर दिया। वस्तुतः स्टालिन युग में जो भी कार्य किये गये उन सभी से न्यूनाधिक रूप में शीत युद्ध की अभिवृद्धि ही हुई।

(४) लौह आवरण की नीति

द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त सोवियत संघ ने एक ओर तो विश्व में साम्यवादी क्रान्ति के प्रसार के उद्देश्य से एक उग्र गतिशील नीति को अपनाया तथा १९४७ में कामिनफोर्म की स्थापना की। तथा दूसरी ओर पूर्वी यूरोप में स्थापित साम्यवादी व्यवस्थाओं और स्वयं सोवियत रूस को सभी प्रकार के पश्चिमी प्रभावों से अछूता रखने के उद्देश्य से लौह आवरण (Iron Curtain) की नीति का आश्रय लिया। महायुद्ध के तुरन्त बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्र साम्यवादी प्रसार को सीमित करने की नीति (Policy & Containment of Communism) की नीति का अनुसरण करने लगे जिसके अन्तर्गत साम्यवादी देशों की जनता को साम्यवादी व्यवस्था

के विरुद्ध भड़का कर विद्रोह करने का कार्यक्रम भी रखा गया। साम्यवादी देशों के इर्द-गिर्द प्रभात रेडियो स्टेशन स्थापित किये गये जिनका नाम 'आजाद' हंगरी रेडियो 'आजाद पोलैण्ड रेडियो' आदि रखा गया और इसके माध्यम से साम्यवाद के विरुद्ध धुआंधार जहरीला प्रचार कार्य शुरू हो गया। स्टालिन को यह समझते देर न लगी कि पश्चिमी राज्य साम्यवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंकने का प्रयत्न जोर-शोर से शुरू कर चुके हैं। उसे भय लगा कि कहीं पश्चिमी शक्तियाँ रूस या पूर्वी यूरोप में साम्यवादी शासन को दुर्बल न बना दें। इस भय से बहुत कुछ मुक्ति का अथवा पश्चिमी शक्तियों के उद्देश्य को विफल बनाने का एक ही उपाय था कि साम्यवादी जगत के चारों ओर एसी दीवार खड़ी कर दी जाय कि उसके भीतर अमेरिका एवं अन्य पश्चिमी राष्ट्रों का प्रचार प्रबल न कर सके। स्टालिन ने इसी उपाय को अपनाते हुए यह निर्णय कर लिया कि वह रूस एवं पूर्वी यूरोप के साम्यवादी जनता को गैर साम्यवादी देशों के सम्पर्क से पृथक रखेगा ताकि यह जन पश्चिमी प्रभावों से अछूता रह सके। स्टालिन इस बात को समझता था कि रूसियों तथा विदेशियों के पारस्परिक सम्पर्क साम्यवादी व्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले सिद्ध हो सकते हैं।

पश्चिम के प्रचार को निरस्त करने और साम्यवाद को उसके दूषित प्रभाव से बचाने के लिए १९४५ से ही ऐसे कानून बनाये जाने लगे कि जिससे बाह्य जगत के साथ रूसियों का सम्पर्क रुक जाय। ऐसे ही एक कानून के द्वारा यह व्यवस्था की गई कि युद्ध के समय रूस में आये हुए विदेशी सैनिकों के साथ जिन रूसी स्त्रियों ने विवाह किया था वे अपने पतियों के पास विदेश नहीं जा सकेंगी। मोलोटोव ने इसका कारण स्पष्ट करते हुए कहा कि स्त्रियाँ बहुत अधिक बात करती हैं और रूसी स्त्रियों का बाहर जाना सोवियत सरकार के लिए सन्त्रास उत्पन्न करना है न कि विदेशी सरकारों के लिए। एक अन्य कानून के द्वारा विदेशियों के साथ सोवियत नागरिकों के विवाहों को निषिद्ध बना दिया गया। इतना ही नहीं विदेशी राजदूतों तथा पत्र-प्रतिनिधियों के साथ भी बड़ी कड़ाई का व्यवहार किया गया। मास्को स्थित विदेशी राजदूतों के सोवियत संघ में स्वतन्त्र भ्रमण पर कठोर प्रतिबन्ध लगा दिये गये। वे निश्चित स्थानों पर निश्चित अधिकारियों के साथ ही वार्तालाप कर सकते थे। अन्य साम्यवादी देशों में विदेशी राजदूतों के साथ ऐसा ही व्यवहार करते थे। विदेशी पत्र प्रतिनिधियों पर तो और भी कड़ा प्रतिबन्ध था। प्रथम तो उन्हें सोवियत संघ में प्रवेश ही नहीं मिलता था और यदि किसी तरह प्रवेश पत्र मिल भी जाता था तो उन्हें निश्चित स्थानों पर ही रहना पड़ता था। १९५१ में चेकोस्लोवाकिया में अमेरिकी संवाददाता विलियम ओटिस और १९५० में हंगरी में अमेरिकन व्यापारी राबर्ट वोगलर की गिरफ्तारी ने इस बात को भली भाँति स्पष्ट कर दिया कि स्टालिन और उसके साथी साम्यवादी और गैर साम्यवादी जगत के बीच एक ऐसा लौह आवरण बनाये रखना चाहते हैं जिसे पार कर कुछ राष्ट्रों के सामान्य कोई व्यक्ति सोवियत संघ में प्रविष्ट न हो सके।

विदेशों में स्थित सोवियत राजदूतों पर भी कठोर अनुशासनात्मक

प्रतिबंध थे। जो सोवियत राजदूत पर्याप्त समय तक दूसरे देशों में रहते हुए विदेशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बना लेता था उसे वापिस बुलाकर अन्य किसी कार्य में लगा दिया जाता था और विदेशियों से घनिष्ठता बढ़ाने के अपराध में उसकी भर्त्सना की जाती थी। स्टालिन स्वयं किसी से न मिलता जुलता था और न अधिक बातें करता था। युद्ध के बाद वह अपनी मृत्यु पर्यन्त भारतीय राजदूत डा॰ राधाकृष्णन के अतिरिक्त शायद किसी अन्य गैर साम्यवादी देशों के राजदूत से नहीं मिला था। रूसी प्रेस पर भी कठोर नियन्त्रण लगा दिया गया था। बर्लिन को विभाजित करने वाली प्रसिद्ध दीवार सोवियत रूस के लौह आवरण का एक प्रभावपूर्ण प्रतीक है।

अफ्रीका तथा एशिया के प्रति सोवियत नीति एवं शान्तिवादी आन्दोलन

अफ्रीका एवं एशिया के प्रति स्टालिन की नीति कौशलपूर्ण किन्तु अनुदार थी। उसने मध्यपूर्व में साम्यवादी प्रभाव को बढ़ाने की चेष्टा की और दक्षिण कोरिया को साम्यवादी बनाने के लिए कोरिया-युद्ध की प्रेरणा दी। यद्यपि इन दोनों ही प्रयासों में उसे सफलता प्राप्त नहीं हुई तथापि कोरिया युद्ध ने चीन की सोवियत संघ पर निर्भरता को स्पष्ट कर इस बात का संकेत दिया कि तत्कालीन समय में सम्पूर्ण साम्यवादी जगत पर सोवियत नियन्त्रण सभी प्रकार स्थापित करने में स्टालिन को पर्याप्त सफलता मिली है।

इसके अतिरिक्त आणविक आयुधों एवं अणुबमों के आतंक से पीड़ित मानवता के परित्राण के लिए सोवियत संघ ने "शान्ति-आन्दोलन" (Peace-Offensive) प्रारम्भ किया और पूंजीवादी पश्चिम को युद्ध-लोलुप (War-monger) कहकर बदनाम करने की प्रत्येक चेष्टा की। स्टालिन का "शान्तिवादी आन्दोलन" एक अत्यन्त चातुर्य पूर्ण और सफल चाल सिद्ध हुई। इस आन्दोलन की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना मार्च १९५० तक स्टाकहाल्म में हुई विश्वशान्ति समिति की आणविक आयुधों पर बिना शर्त प्रतिबन्ध लगाने की अपील थी। इस अपील में कहा गया था कि- 'हम इस बात की मांग करते हैं कि मानव जाति के सामूहिक उन्मूलन और आतंक के अस्त्र के रूप में आणविक आयुधों पर बिना किसी शर्त के प्रतिबंध लगना चाहिए। हम इसकी मांग करते हैं कि इस पर कठोर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित किया जाए। हम उस सरकार को युद्ध अपराधी समझेंगे जो किसी देश के विरुद्ध पहली बार इस शस्त्र का प्रयोग करेगी।" इस अपील पर कुछ समय ही में लगभग ५ करोड़ व्यक्तियों के हस्ताक्षर प्राप्त किये गये। इस शान्ति-आन्दोलन ने एशिया और अफ्रीका की विशाल जनसंख्या को बड़ा प्रभावित किया। वे साम्यवाद की ओर आकर्षित हुए तथा सोवियत रूस को पश्चिम की अपेक्षा अधिक शान्तिप्रिय और उपनिवेशवाद विरोधी मानने लगे। साम्यवादियों ने इस आन्दोलन में सब देशों के मजदूरों, स्त्रियों और बच्चों से सहयोग मांगा। इन्होंने जहाज से सामान उतारने वाले श्रमिकों में

यह प्रचार किया कि अमेरिका से शस्त्रास्त्रों को लाने वाले जहाजों से माल न उतारा जाए और हड़ताल कर दी जाए।

प्रचार की दृष्टि से शांतिवादी आन्दोलन को प्रारम्भ में बड़ी सफलता मिली और न केवल एशिया तथा अफ्रीका बल्कि पश्चिमी राष्ट्रों की सामान्य जनता ने भी इसका स्वागत किया। परन्तु स्टालिन के अनुदार दृष्टिकोण के कारण रूस इस आंदोलन से प्राप्त लोकप्रियता का पूरा लाभ नहीं उठा सका। वह तटस्थ राष्ट्रों की भावनाओं को ठीक प्रकार से न समझकर उन्हें अपना शत्रु मानता रहा। उदाहरणार्थ १९५२ में विशिस्की ने श्री कृष्ण मेनन से कहा था कि "अच्छे से अच्छे रूप में तुम स्वप्नदर्शी और भावुकतावादी हो। बुरे से बुरे रूप में तुम अपनी स्थिति नहीं जानते और भयंकर अमेरिकन नीति के प्रच्छन्न समर्थक हो।" पश्चिमी राष्ट्रों ने रूस के इस शांतिवादी आंदोलन को एक 'निरे ढोंग' की संज्ञा दी और कहा कि यह तटस्थ एवं गैर साम्यवादी देशों को अपनी ओर आकृष्ट करने तथा अपना समर्थक बनाने का चालाकी भरा कूटनीतिक चाल है। रूस केवल अपने वचनों से मौखिक रूप से शांतिवाद का हामी है क्रियात्मक रूप से इसके लिए वह कुछ नहीं करता। स्टालिन की मृत्यु पर्यन्त रूसी इरादों की यह आलोचना अवश्य ही उपयुक्त थी परन्तु स्टालिनोत्तर युग में रूसी नेताओं ने जिस शांतिवादी नीति पर चलना शुरू किया वह निश्चित रूप से शांति के प्रति रूस की सच्ची निष्ठा की परिचायक है।

(९) संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति सोवियत नीति

स्टालिन के नेतृत्व में सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण में सक्रिय भाग लिया। वस्तुतः संयुक्त राष्ट्र इसी विश्वास पर आधारित था (और है) कि महाशक्तियाँ विशेषतः सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका सहयोगपूर्वक कार्य करते हुए संघ के उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायक बनेंगी। परन्तु दुर्भाग्यवश यह आशा पूरी न हो सकी और अपने जन्म काल के कुछ ही समय उपरान्त संघ शीतयुद्ध का प्रधान अखाड़ा बन गया। लगभग प्रत्येक समस्या पर दोनों राष्ट्र अथवा दोनों गुट दो विरोधी दृष्टिकोण लेकर संघ के मंच पर उपस्थित हुए। चूंकि संघ में पश्चिमी शक्तियों और उनके समर्थकों का स्पष्ट बहुमत था अतः सोवियत रूस ने अपने को एक स्थाई एवं निरन्तर अल्पमत में पाया। ऐसी स्थिति में अपनी इच्छा के प्रतिकूल होने वाले निर्णयों को रोकने के लिए उसके पास इसके अतिरिक्त कोई उपाय न था कि वह सुरक्षा परिषद में खुल कर अपने निषेधाधिकार का प्रयोग करे जिससे संयुक्त राष्ट्र संघ पश्चिमी शक्तियों के इशारों पर नाचता हुआ उनके पक्ष में कोई प्रभावशाली कार्य न कर सके। कोरिया-युद्ध के समय अल्पकाल के लिए रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ की बैठकों का बहिष्कार कर दिया। किन्तु यह बहिष्कार उसके लिए घाटे का सौदा सिद्ध हुआ क्योंकि इस बहिष्कार के कारण ही संयुक्त राष्ट्रीय सेनायें दक्षिणी कोरिया की सहायता के लिए भेजी जा सकीं। इस घटना से रूस ने यह समझ लिया कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाहियों में भाग लेकर, परिषद की बैठकों में उपस्थित होकर पश्चिमी

राष्ट्रों के इरादों को अधिक अच्छी तरह रोक सकता है बनिस्बत इसके कि वह संघ से बाहर रहे और ऐसी चेष्टा करे। इस अनुभूति के बाद से ही फिर कभी रूस ने संघ की बैठकों का बहिष्कार नहीं किया। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि सोवियत संघ ने सुरक्षा परिषद में अपने निषेधाधिकार के प्रयोग से पश्चिम के अनेक अन्यायपूर्ण प्रस्तावों को जिनमें काश्मीर प्रस्ताव भी शामिल है धराशायी किया फिर भी यह एक तथ्य है कि महाशक्तियों द्वारा संघ के उद्देश्यों के प्रति यदि वास्तविक निष्ठा न रखी गई तो संघ का भविष्य उज्ज्वल नहीं रह सकेगा। पश्चिमी आलोचकों का बहुधा है कि रूस संयुक्त राष्ट्र को अपनी विदेश नीति के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक प्रभावशाली अस्त्र मानता है। ई पी चेज (E.P Chas) का मत है कि संयुक्त राष्ट्र की अनेक गतिविधियों के प्रति सोवियत संघ का नकारात्मक दृष्टिकोण संयुक्त राष्ट्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्न है। परन्तु पश्चिमी आलोचक यह भूल जाते हैं कि वे भी अपने विशाल बहुमत के बल पर संयुक्त राष्ट्र संघ को अपने मंसूबे पूरे करने के लिए प्रयोग में लाने के किसी भी अवसर को हाथ से नहीं जाने देते।

स्टालिन की विदेश नीति का मूल्यांकन

यद्यपि स्टालिन ने १९४५ से १९४८ के बीच पूर्वी यूरोप पर सोवियत प्रभुत्व स्थापित करके एक बड़ी सीमा तक पीटर महान् के काल से चली आ रही रूसी महत्त्वाकांक्षाओं को पूरा कर लिया परन्तु उसके बाद स्टालिन के गर्व अहंकार और हठधर्मिता से भरी हुई उग्र नीति सोवियत संघ के लिए घातककारी ही सिद्ध हुई। दरअसल में स्टालिन ने मृत्यु पर्यन्त एक आक्रमणकारी गतिशील धमकेबाजी की नीति आचरण की तथा समझौता विरोधी नीति का अनुसरण किया। पूर्वी यूरोप में अपने वचनों को भुला कर सोवियत प्रभुत्व का विस्तार किया गया यूनान के गृह युद्ध में साम्यवादियों की सहायता की गई, टर्की पर दबाव डाला गया दर्रे दानियाल के जलडमरू मध्यों के सम्बन्ध में माण्ट्रू (Montreaux) के समझौते को बदलने के लिए दबाव डाला गया मार्शल योजना की सहायता लेना अस्वीकार कर दिया गया ईरान से सोवियत सेनाओं के हटाने में देर लगाई गई टीटो को मास्को के गुट से निष्कासित किया गया कोरिया व हिन्द चीन में युद्ध हुए। स्टालिन की इस आक्रमक नीति से पश्चिमी शक्तियां सतर्क हो गई और उन्होंने बढ़ते हुए सोवियत प्रभाव को रोकने तथा साम्यवाद के प्रसार के विरोध के लिए अनेक उपाय किए। ट्रूमैन सिद्धान्त मार्शल योजना डनकर्क ब्रुसेल्स संधियां नाटो पश्चिम यूरोप की जनता के लिये बनाए गए विनिमय संगठन स्टालिन कि कठोर नीति के प्रभावशाली प्रत्युत्तर थे। १९४५–४७ तक यूरोप की स्थिति स्टालिन के लिए बड़ी अनुकूल थी लेकिन १९५१ तक यह स्थिति ऐसी नहीं रही। १९४९ में चीन में साम्यवादी विजय तथा १९५० में कोरिया युद्ध के प्रारम्भ ने पश्चिमी शक्तियों को कोरिया, जापान फारमोसा और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में साम्यवादी प्रसार को रोकने के लिए कटिबद्ध कर दिया। सम्पूर्ण में टर्की और यूनान में हस्तक्षेप के कारण सोवियत सम

को वैसी ही बदनामी मिली जैसी बाद में भाइजन होवर सिद्धान्त के प्रयोग से अमेरिका को मिली। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के प्रति भी स्टालिन की नीति अनुदार रही। अपनी हठ धर्मिता के कारण वह इन राष्ट्रों की स्वय को दोनों शक्ति-गुटों के प्रभाव से बचाने की "तटस्थ और नीति को नही समझ सका उन्हे साम्यवाद का शत्रु मानने लगा। इससे उसने एक बड़ी सीमा तक इन राष्ट्रों का समर्थन खो दिया। तटस्थ देशों के प्रति स्टालिन ने विरोध नीति का अनुसरण किया। उदाहरणार्थ भारत को उसकी तटस्थता के कारण ही स्टालिन रूस विरोधी समझता रहा था। इसीलिए स्टालिन काल के रूसी विश्वकोष में भारत के स्वतन्त्रता संग्राम को और महात्मा गांधी को पाखण्डीवाद का समर्थक बताया गया था।

स्टालिन की उपरोक्त कठोर नीति ने स्वयं साम्यवादी गुट में काफी क्षोभ उत्पन्न कर दिया। जब युगोस्लाविया ने मार्शल टीटो ने सोवियत संघ का अन्धानुकरण करने से इन्कार कर दिया तो स्टालिन के शिकंजे से निकल पड़ने के लिए अन्य साम्यवादी देशों में भी राष्ट्रवादी साम्यवाद की प्रवृत्तियों को अधिक समर्थन मिलने लगा। इसकी अभिव्यक्ति बाद में १९५६ ५७ में पोलैण्ड तथा हंगरी के उपद्रवों में हुई। स्टालिन की 'लौह आवरण' की नीति से अन्य देशों में रूस के प्रति सन्देह और अविश्वास की धारणाओं को बल मिला। जार्ज एफ० केनन (George F Kennen) का मत है कि १९५२ तक सोवियत नीति "अनुर्वर हो गई थी" और १९५३ में स्टालिन के उत्तराधिकारियों के लिए उसमें परिवर्तन करना अनिवार्य हो गया।

कुछ लोग स्टालिन की विदेश नीति में रूढ़िवाद (Conservatism) की झलक पाते हैं। उनके अनुसार वह पश्चिम पर शक्ति के बल पर हावी नही होना चाहता। उसने पश्चिमी शक्ति एवं सम्मान को नीचे गिराने तथा अपने साम्राज्य को शक्ति एवं स्थायित्व देने के प्रयास किये। अधिराज्यों में व्याप्त असंतोष के प्रति वह सजग था तो भी सोवियत शक्ति के विस्तार के प्रत्येक अवसर का उसने लाभ उठाया। रूस १९५३ को पश्चिमी विचारकों द्वारा सौभाग्यशील माना जाता है जबकि स्टालिन अपने नाम को दाग कर इस विश्व से सिधार गये। कहा जाता है कि स्टालिन ने रूस जैसे पिछड़े व अविकसित देश को दुनियाँ की महान औद्योगिक एवं सैनिक शक्ति बना दिया तथा चंगेजखान और तैमूरलंग जैसा साम्राज्य स्थापित कर दिया। विदेश नीति के लक्ष्य साधन एवं दशायें निर्धारित करने में स्टालिन अद्वितीय था। केन्द्रीय समिति के कार्य पर दल को १८ वीं कांग्रेस की रिपोर्ट में १० मार्च १९३९ को स्टालिन ने सोवियत विदेश नीति की विशेषता उसके साधन तथा तत्सम्बन्धी दल के कार्यों का उल्लेख किया था।

(क) लक्ष्य—स्टालिन ने सोवियत विदेश नीति के निम्न लक्ष्य तथा विशेषताओं का वर्णन किया था—

(i) हम स्वतन्त्रता चाहते हैं तथा सभी देशों से साथ व्यापारिक सम्बन्ध बढ़ाना चाहते हैं। यह हमारी स्थिति है और इसपर हम तब तक

पालन करेंगे जब तक दूसरे देश ऐसा करेंगे और जब तक वे सोवियत हित को आँच न पहुँचायेंगे।

(ii) हम सभी पड़ौसी देशों के साथ जो सोवियत संघ के साथ समान सीमायें रखते हैं शांतिपूर्ण घनिष्ठ तथा मित्रतापूर्ण सम्बन्ध बनाना चाहते हैं। हम इस स्थिति को तब तक बनाये रखेंगे जब तक कि पड़ौसी देश प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सोवियत संघ की सीमाओं की एकता एवं स्वतन्त्रता को चुनौती नहीं दे देते।

(iii) हम उन देशों का समर्थन करेंगे जो कि आक्रमण का शिकार बने हैं अथवा जो अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं।

(iv) हम आक्रमणकारियों की धमकी से नहीं डरते तथा युद्ध छेड़ने वाले के प्रत्येक मुक्के का जवाब दो मुक्कों से देने को तैयार रहते हैं।

ऐसी सोवियत संघ की विदेश नीति है।

(ख) आधार—स्टालिन का कहना था कि सोवियत संघ अपनी विदेश नीति के संचालन के लिए निम्न आधारों पर भरोसा करता है—

(i) इसकी बढ़ती हुई आर्थिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक शक्ति।

(ii) हमारे सोवियत समाज की नैतिक एवं राजनीतिक एकता।

(iii) हमारे देश के राष्ट्रों की आपसी मित्रता।

(iv) इसकी लाल सेना और लाल जहाजरानी।

(v) इसकी शांति की नीति।

(vi) सभी देशों के मजदूर लोगों का नैतिक समर्थन जो कि शांति की सुरक्षा के लिए मुख्यतः उत्कण्ठित है।

(vii) उन देशों की बुद्धिमत्ता जो किसी भी कारण से शांति का उल्लंघन करने में कोई रुचि नहीं लेते।

(ग) दल के कार्य—विदेश नीति के क्षेत्र में दल के कार्य निम्न लिखित बतलाये गये —

(i) शांति की नीति को जारी रखना तथा सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्धों को मजबूत बनाना।

(ii) सदैव जागरूक रहना तथा अपने देश को युद्ध प्रेमियों (War mongers) के प्रयासों से संघर्ष में पड़ने से रोकना।

(iii) लाल सेना एवं लाल जहाजरानी की शक्ति को सदा के उच्च शिखर तक पहुँचा देना।

(iv) सभी देशों के मजदूर लोगों के मित्रता के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को दृढ़ करना जो शांति में तथा राष्ट्रों की मित्रता में रुचि लेते हैं।

स्टालिन की इन नीतियों को देख कर ही क्रिमलीन ने लिखा है कि "उसने पीटर महान् की स्वेच्छाचारी परम्पराओं से शासन किया और सोवियत संघ की व्यवस्था का पाश्चात्यीकरण कर दिया। विदेश नीति के क्षेत्र में उसने मुख्यतः विस्तारवादी ज़ारों के पद-चिह्नों का अनुसरण

किया। उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी परम्परा को निभाना पड़ गा।[1] ५ मार्च १९५३ को स्टालिन की मृत्यु के साथ एक युग समाप्त हो गया।

शांतिपूर्ण प्रतियोगिता का स्टालिनोत्तर काल (१९५३-१९६७)

स्टालिन की मृत्यु तक सोवियत विदेश नीति में गतिरोध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी किन्तु बाद में उसकी नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ और वह फिर से विकासोन्मुखी बनी। स्टालिन के बाद तीन मुख्य विकासों ने सोवियत संघ की शक्ति को बढ़ा दिया। पहला विकास यह था कि पूर्वी यूरोप में सोवियत साम्राज्य म स्थायित्व आ गया। दूसरे, सोवियत संघ की आर्थिक तथा सैनिक शक्ति तेजी के साथ बढ़ने लगी। तीसरे कम के दक्षिणी क्षेत्र में उसका प्रभाव बढ़न लगा। मध्यपूर्व दक्षिणी एशिया और अफ्रीका के विकासशील देश उसके प्रभाव के क्षेत्र बन गये। विश्व का संतुलन एक प्रकार से साम्यवाद की ओर झुक गया। स्टालिन के बाद यद्यपि सोवियत साम्राज्य नहीं बढ़ा किन्तु सोवियत संघ की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति इतनी बढ़ गयी जितनी कि यह पहले कभी नहीं थी। स्टालिन के उत्तराधिकारियों को जिन चुनौतियों का सामना करना था व थी—सोवियत साम्राज्य की रक्षा करना पूर्वी यूरोप में सोवियत शासन के स्थायित्व पर पाश्चात्य स्वीकृति प्राप्त करना तथा जहां सम्भव हो सके वहां बिना सोवियत सुरक्षा को खतरे में डाले देश की शक्ति का विस्तार करना। साम्राज्य की रक्षा करना। उसे प्राप्त करने से अधिक कठिन होता है इसलिए उन्होंने इसको स्थानीय स्वायत्तता प्रदान की आर्थिक सम्बन्धों को कम शोषणयुक्त बनाया तथा जीवन स्तर के आधुनिक विकास को प्रोत्साहन दिया। स्टालिन के बाद सोवियत रूस को भंयिन समस्या का सामना करना पड़ा, साम्यवादी चीन के स ब इसका सैद्धान्तिक विवाद बढ़ा मार्शल टीटो के साथ मतभेदों का उतार-चढ़ाव आया पोलैण्ड और हंगरी में क्रांतियां हुई तथा एशिया एवं अफ्रीका महाद्वीपों में बड़े क्रांतिकारी परिवर्तन एवं संघर्ष हुए और इन सब कारण सोवियत संघ की विदेश नीति के चक्र की गति काफी तेज हो गई।

स्टालिन की उग्रतावादी कठोर बदेशिक नीति के जो परिणाम निकले और पाश्चात्य देशों एवं तटस्थ देशों में उसकी जो प्रतिक्रियायें हुई उनके फलस्वरूप अब सोवियत नीति का एक नवीन दिशा में उन्मुख होना स्वाभाविक तथा अनिवार्य था। इसीलिए स्टालिन के अविलम्ब उत्तराधिकारी मालेन्कोव ने दिवंगत नेता के अन्त्येष्टि-संस्कार में ही घोषणा की कि—

---

1 He ruled in the autocratic tradition of Peter the Great and westernized the economy of the Soviet Union; in the realm of Foreign Policy he followed in the foot steps of the most expansionist of czars. His successors have sought to maintain his tradition."

—Alvin Z. Rubinstein The Foreign Policy of Soviet Union, p. 253

लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूँजीवादी देशों में शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए प्रथम प्रयत्न किया जायेगा।" मालेन्कोव का यह आश्वासन स्पष्टतः इस बात का संकेत था कि स्टालिन के उत्तराधिकारी पश्चिमी एवं गैर साम्यवादी देशों के प्रति स्टालिन कालीन विरोध की उग्रता और कठोरता में कमी लाना चाहते थे। इसके तुरन्त बाद ही १५ मार्च १९५३ को सुप्रीम सोवियत में अपने देश की वैदेशिक नीति का उल्लेख करते हुए सोवियत प्रधानमन्त्री ने जोरदार शब्दों में कहा—"अब सोवियत विदेश नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शान्ति को सुदृढ़ बनाने की दृष्टि से किया जायेगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसे शांतिपूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" सोवियत रूस की नीति में परिवर्तन का संकेत करने वाली इन विभिन्न घोषणाओं के कारण अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के विरुद्ध प्रचार में कमी आयी। इसी के परिणामस्वरूप अब तक पश्चिम के विरुद्ध आग बरसाने वाले रूसी विदेश मन्त्री विशिन्स्की ने संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा की एक बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम को निमन्त्रण दिया कि "आप मित्रता की सुरत में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर हमसे मिलें।" इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किये जाने वाले विरोधी प्रचार की उग्रता में भी कमी आ गई।

रूस की इस नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही निकलने प्रारम्भ हो गए। अक्टूबर १९५१ से चल रहे वाले कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और १० अप्रैल १९५३ को पानमुनजोम में रूस एवं चीन युद्ध बंदियों का समझौता होने पर युद्ध भी समाप्त हो गया। रूस द्वारा टर्की और जर्मनी के प्रति मृदु नीति अपनाई गई। १५ मई, १९५५ को आस्ट्रिया के सम्बन्ध में शान्ति सन्धि हो गई। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत शक्तियों द्वारा खाली कर दिये गये। सोवियत सेना में १ लाख ८० हजार सैनिकों की कमी की गई। १९५४ में जेनेवा सम्मेलन द्वारा हिन्दचीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत संघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। यूगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर करके उसे पुनः साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्टा की गई। २६ अप्रैल १९५५ को मोलोटोव ने यूगोस्लाव प्रतिनिधि से कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनः स्थापना के सम्बन्ध में बातचीत की और मई, १९५५ में दोनों देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध फिर से कायम हो गए। इसके उपरान्त सोवियत नेताओं ने यूगोस्लाव साम्यवादी पार्टी के साथ भी अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को दूर करने के प्रयत्न किए।

मालेन्कोव के नेतृत्व में सोवियत रूस की लौह आवरण की नीति में भी शिथिलता का अनुभव किया जाने लगा। बाह्य दुनिया से निकट सम्पर्क कायम करने का प्रयत्न किया गया ताकि सोवियत संघ लौह की दीवार में बन्द नहीं समझे जायें। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित

मानता था लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति-संतुलन की क्रिया माना गया और इसको अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सहानुभूति प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

ख्रुश्चेव युग

इस समय सोवियत संघ के भीतर ही भीतर नेतृत्व के लिए संघर्ष चल रहा था। श्री मालेन्कोव इस संघर्ष में पराजित हुए, फलतः ८ फरवरी १९५५ को उन्हें प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। अब मार्शल बुल्गानिन नये सोवियत प्रधानमन्त्री बने तथा श्री ख्रुश्चेव पार्टी के महा सचिव नियुक्त हुए।

१९५५ से १९६३ तक का सोवियत विदेश नीति का युग ख्रुश्चेव युग है क्योंकि फरवरी ५५ से मार्च १९५८ तक के बुल्गानिन के प्रधानमन्त्रीत्व काल में भी वास्तविक प्रभाव एक प्रकार से श्री ख्रुश्चेव का ही था। इस युग में सोवियत विदेश नीति में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए और उसका जिस प्रकार संचालन हुआ इन सबका अध्ययन पृथक-पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत निम्न रूप से किया जा सकता है—

(१) लौह आवरण में शिथिलता यात्राओं की कूटनीति

इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति में पर्याप्त शिथिलता आई और 'यात्रा-कूटनीति' का महत्व बढ़ा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक संसदीय शिष्ट मण्डल विदेशों में जाने लगे और विदेशों के ऐसे ही शिष्ट मण्डल साम्यवादी जगत में आमन्त्रित किए जाने लगे। स्टालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का घोर विरोधी था और सम्भवतः केवल एक बार तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था अथवा युद्ध सम्मेलनों में ही चर्चिल और रूजवेल्ट से उसकी मुलाकात हुई। लेकिन अब श्री ख्रुश्चेव बुल्गानिन आदि उच्चतम स्तर के सोवियत नेता दूसरे देशों का सद्भाव पाने और उनकी मैत्री अर्जित करने के लिए विभिन्न देशों की यात्रायें करने लगे और उन देशों के नेताओं को अपने यहां निमन्त्रित करने लगे।

जून १९५५ में भारतीय प्रधानमन्त्री श्री नेहरू सोवियत संघ द्वारा आमंत्रित किए गए और नवम्बर १९५५ में श्री ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत यात्रा की। इससे दोनों देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओं को भारत की तटस्थता की नीति के प्रति स्टालिनकाल से जो सन्देह बना हुआ था वह दूर हो गया। अप्रैल १९५६ में दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। १९५९ के प्रारम्भ में ही प्रथम सोवियत उपप्रधानमन्त्री श्री मिकोयान ने १५ दिन तक अपने प्रबल विरोधी समझे जाने वाले अमेरिका की यात्रा की और १७ जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा अमेरिका में १९४५ के महायुद्ध के बाद पहली बार ह्वाइट हाउस में किसी रूसी राजनीतिज्ञ का स्वागत किया। सोवियत उपप्रधानमन्त्री ने दोनों देशों में व्यापार की वृद्धि को आवश्यक बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीत-युद्ध' (Cold war) का स्थान

लेनिन और स्टालिन की शिक्षाओं के अनुसार साम्यवादी तथा पूँजीवादी देशों में शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व स्थापित करने के लिए प्रबल प्रयत्न किया जायेगा।" मालेन्कोव का यह आश्वासन स्पष्टतः इस बात का संकेत था कि स्टालिन के उत्तराधिकारी पश्चिमी एवं गैर साम्यवादी देशों के प्रति स्टालिन कालीन विरोध की उग्रता और कठोरता में कमी लाना चाहते थे। इसके तुरन्त बाद ही १५ मार्च १९५३ को सुप्रीम सोवियत में अपने देश की वैदेशिक नीति का उल्लेख करते हुए सोवियत प्रधानमन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा— "अब सोवियत विदेश नीति का संचालन व्यापार की वृद्धि और शांति को सुदृढ़ बनाने कि दृष्टि से किया जायेगा। कोई ऐसा विवाद नहीं है जिसे शांति पूर्वक हल न किया जा सकता हो। यह सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका सहित विश्व के सब देशों के सम्बन्ध में समान रूप से लागू होता है।" सोवियत रूस की नीति में परिवर्तन को लक्षित करने वाली इन विभिन्न घोषणाओं के कारण अमेरिका और पश्चिमी राष्ट्रों में रूस के विरुद्ध प्रचार में कमी आयी। इसी के परिणामस्वरूप अब तक पश्चिम के विरुद्ध आग बरसाने वाले रूसी विदेश मन्त्री विशिंस्की ने संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा की एक बैठक में भाषण देते हुए पश्चिम को निमन्त्रण दिया कि "आप मित्रता की सुरंग में आधे रास्ते तक आगे बढ़कर हमसे मिलें।" इसके साथ ही पश्चिमी देशों के विरुद्ध रूस द्वारा किये जाने वाले विरोधी प्रचार की उग्रता में भी कमी आ गई।

रूस की इस नई विदेश नीति के सुखद परिणाम भी शीघ्र ही निकलने प्रारम्भ हो गए। अक्टूबर १९५२ से चल रहे वाले कोरियाई युद्ध का गतिरोध खत्म हो गया और १० अप्रैल १९५३ को पानमुनजोम में रुग्ण एवं घायल युद्ध बन्दियों का समझौता होने पर युद्ध भी समाप्त हो गया। रूस द्वारा टर्की और जर्मनी के प्रति मृदु नीति अपनाई गई। १५ मई, १९५५ को आस्ट्रिया के सम्बन्ध में शांति संधि हो गई। फिनलैण्ड के सैनिक अड्डे सोवियत सैनिकों द्वारा खाली कर दिये गये। सोवियत सेना में ६ लाख ४० हजार सैनिकों की कमी की गई। १९५४ में जेनेवा सम्मेलन द्वारा हिन्दचीन की समस्या का शान्तिपूर्ण हल निकाला गया। सोवियत संघ ने यूनान और इजरायल के साथ पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये। युगोस्लाविया के साथ मतभेदों को दूर करके उसे पुनः साम्यवादी परिवार में लाने की चेष्टा की गई। २६ अप्रैल १९५५ को मोलोटोव ने जापान के प्रतिनिधि से कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनः स्थापना के सम्बन्ध में बातचीत की और मई, १९५६ में दोनों देशों के बीच कूटनीतिक सम्बन्ध फिर से कायम हो गए। इसके उपरान्त सोवियत नेताओं ने युगोस्लाव साम्यवादी पार्टी के साथ भी अपने सैद्धान्तिक मतभेदों को दूर करने के प्रयत्न किए।

मालेन्कोव के नेतृत्व में सोवियत रूस की लौह आवरण की नीति में भी शिथिलता का प्रदर्शन किया जाने लगा। बाह्य दुनिया से निकट सम्पर्क कायम करने का प्रयास किया गया ताकि सोवियत संघ लोहे की दीवार में बन्द नहीं समझे जायें। स्टालिन विश्व को दो विरोधी गुटों में विभाजित

मानता था लेकिन नई नीति के अनुसार इसको शक्ति-संतुलन का प्रभिन्न माना गया और इसको अपने पक्ष में करने के लिए तटस्थ राष्ट्रों की सदिच्छा प्राप्त करने की चेष्टा की गई।

ख्रुश्चेव युग

इस समय सोवियत संघ के भीतर ही भीतर नेतृत्व के लिए संघर्ष चल रहा था। श्री मालेन्कोव इस संघर्ष में पराजित हुए, फलतः ८ फरवरी १९५५ को उन्हें प्रधानमन्त्री पद से त्यागपत्र देना पड़ा। अब मार्शल बुल्गानिन नये सोवियत प्रधानमन्त्री बने तथा श्री ख्रुश्चेव पार्टी के महा सचिव नियुक्त हुए।

१९५५ से १९६४ तक का सोवियत विदेश नीति का युग ख्रुश्चेव युग है क्योंकि फरवरी ५५ से मार्च १९५८ तक के बुल्गानिन के प्रधानमन्त्रीत्व काल में भी वास्तविक प्रभाव एक प्रकार से श्री ख्रुश्चेव का ही था। इस युग में सोवियत विदेश नीति में जो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन हुए और उसका जिस प्रकार संचालन हुआ उन सबका अध्ययन पृथक-पृथक शीर्षकों के अन्तर्गत निम्न रूप से किया जा सकता है—

(१) लौह आवरण में शिथिलता यात्राओं की कूटनीति

इस युग में सोवियत लौह आवरण की नीति में पर्याप्त शिथिलता आई और यात्रा-कूटनीति का महत्त्व बढ़ा। सोवियत संघ के विभिन्न सांस्कृतिक संसदीय शिष्ट मण्डल विदेशों में जाने लगे तथा विदेशों से ऐसे ही शिष्ट मण्डल साम्यवादी जगत में आमन्त्रित किए जाने लगे। स्तालिन बाह्य देशों के साथ सम्पर्क का घोर विरोधी था और सम्भवतः केवल एक बार तेहरान सम्मेलन के समय अपने देश से बाहर गया था अथवा युद्ध सम्मेलनों में ही चर्चिल और रूजवेल्ट से उसकी मुलाकात हुई। किन्तु अब श्री ख्रुश्चेव बुल्गानिन आदि उच्चतम स्तर के सोवियत नेता दूसरे देशों का सद्भाव पाने और उनकी मैत्री अर्जित करने के लिए विभिन्न देशों की यात्रायें करने लगे और उन देशों के नेताओं को अपने यहाँ निमन्त्रित करने लगे।

जून १९५५ में भारतीय प्रधानमन्त्री श्री नेहरू सोवियत रूस द्वारा आमन्त्रित किए गए और नवम्बर १९५५ में श्री ख्रुश्चेव तथा बुल्गानिन ने भारत यात्रा की। इससे दोनों देशों में सद्भाव और मैत्री की वृद्धि हुई तथा सोवियत नेताओं को भारत की असंलग्नता की नीति के प्रति स्तालिनकाल का जो सन्देह बना हुआ था वह दूर हो गया। अप्रैल १९५६ में दोनों नेता ग्रेट ब्रिटेन गए। १९५९ के प्रारम्भ में ही प्रथम सोवियत उपप्रधानमन्त्री श्री मिकोयान ने १४ दिन तक अपने प्रबल विरोधी समझ जाने वाले अमेरिका की यात्रा की और १७ जनवरी को राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा अमेरिका में १९४५ में मास्को के बाद पहली बार ह्वाइट हाउस में किसी रूसी राज नेता का स्वागत किया। सोवियत उपप्रधानमन्त्री ने दोनों देशों में व्यापार की वृद्धि को महत्त्वपूर्ण बताया और इस बात पर बल दिया कि 'शीत-युद्ध' (Cold war) का स्थान

शान्तिपूर्ण-प्रतियोगिता (Peaceful competition) की नीति चाहिए। स्वदेश वापस लौटने पर श्री मिकोयान ने ३१ जनवरी १९५९ को सोवियत साम्यवादी पार्टी के २१ वें अधिवेशन में मास्को में कहा कि उन्होंने अमेरिकन राजनीतिज्ञों और नेताओं के साथ जो भी वार्तालाप किया उसमें उन्हें कहीं सोवियत साम्यवाद के 'निरोध' (Containment) 'पीछे धकेलने' (Roll back) तथा 'साम्यवाद की दासता से मुक्ति' (Liberation) की कोई चर्चा नहीं सुनाई दी। मिकोयान द्वारा अमेरिका की अपनी यात्रा से उपयुक्त वातावरण तैयार कर दिए जाने के उपरान्त सितम्बर १९५९ में सोवियत प्रधानमन्त्री श्री ख्रुश्चेव ने अमरिका की यात्रा की। २८ सितम्बर को उन्होंने कहा "राष्ट्रपति आइजनहोवर से मेरी बड़ी मधुर वार्ता हुई है। हमने जिन जिन प्रश्नों पर विचार किया है उन सब के बारे में यह पाया है कि दोनों पक्षों के दृष्टिकोण और विचार एक से हैं। हम दोनों इस बात पर सहमत हो गए हैं कि सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों का निपटारा शान्तिपूर्ण साधनों द्वारा वार्तालाप और चर्चा के माध्यम से किया जाना चाहिए।" फरवरी-मार्च १९६० में श्री ख्रुश्चेव ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के विभिन्न देशों—भारत बर्मा इण्डोनेशिया अफगानिस्तान आदि की यात्रा की।

सोवियत नेताओं द्वारा लौह आवरण से निकलकर विश्व के विभिन्न देशों की यात्रा करने से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव में निश्चित कमी हुई और दोनों विरोधी पक्ष एक दूसरे के प्रति उतने जबरदस्त सन्देहशील न रहे जितने स्टालिन काल में थे। सोवियत नेताओं द्वारा इस प्रकार की विदेशी यात्राओं की सराहना करते हुए एक ब्रिटिश समाचार पत्र में इस प्रकार का लेख छपा था—

"इन दोनों देशों के राजनेताओं की यात्राओं के आदान-प्रदान के फलस्वरूप वह दिन अब दूर नहीं कि जब अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के इतिहास में एक नया युग प्रारम्भ हो जायेगा। इस युग में न केवल संसार की जटिल समस्याओं—निःशस्त्रीकरण परमाणु-परीक्षण शीत-युद्ध इत्यादि का ही समाधान होगा बल्कि दोनों देशों के बीच एक अनाक्रमण संधि हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी। वह दिन दूर नहीं जब ख्रुश्चेव पुनः अमरिका की यात्रा और अमेरिकन राष्ट्रपति रूस की यात्रा करेंगे और फिर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में एक नये युग का श्रीगणेश होगा।"

अभी इन यात्राओं में रूसी नेताओं ने शासनाध्यक्षों के शिखर सम्मेलन बुलाने पर बारम्बार बल दिया। ऐसा एक सम्मेलन जुलाई १९५५ में जेनेवा में हुआ जिसने हिन्द-चीन की समस्या को हल किया। दूसरा सम्मेलन मई १९६० में हुआ जो दुर्भाग्यवश यू-२ विमानकाण्ड से उत्पन्न वातावरण का शिकार बनकर असफल हो गया।

(२) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की ओर विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारा करने की नीति

स्टालिन की मृत्यु के बाद शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का सूत्रारंभ

मालेन्कोव के प्रधानमन्त्रित्व-काल में ही हो चुका था किन्तु इसे निखार ख्रुश्चेव युग और बाद में वर्तमान कोसीगन युग में मिला। फरवरी १९५६ में रूसी साम्यवादी दल की जो २० वीं कांग्रेस हुई उसमें स्टालिन तथा उसकी नीतियों की कटु आलोचना की गई और साम्राज्यवादी देशों से युद्ध की अनिवार्यता के लेनिन सिद्धान्त को संशोधित कर शांतिपूर्ण-सहअस्तित्व को सोवियत विदेश नीति का आधार बना दिया। कांग्रेस की विशेष रिपोर्ट में श्री ख्रुश्चेव ने स्टालिन युग में किए गए अपराधों का उल्लेख किया। उन्होंने बताया कि स्टालिन इस प्रकार से व्यवहार करता था मानो वह सब कुछ जानता है सब कुछ देखता है सब के लिये सोचता है सब कुछ कर सकता है और गलती कभी भी नहीं करता है। वह अपने आपको ईश्वर मान कर चलता था। उसका व्यवहार अमानवीय एवं हिंसात्मक था। श्री ख्रुश्चेव ने कहा कि यदि उन्हें और बुल्गानिन को कभी स्टालिन बुलाता था तो उन्हें यह विश्वास नहीं होता था कि वे सकुशल अपने घर लौट सकेंगे। "स्टालिन कभी भी समझा-बुझाकर काम नहीं लेता था किन्तु वह अपनी मान्यताओं को लादता था तथा अपने मतों पर पूर्ण समर्पण की माँग करता था। स्टालिन ने एक बार ख्रुश्चेव से मार्शल टीटो के प्रति रोष प्रकट करते हुए कहा था कि— मैं अपनी छोटी अंगुली उठा दूंगा और टीटो नहीं रहेगा वह गिर जायेगा।[1]

श्री ख्रुश्चेव की प्रेरणा से उनके समय जो विदेश नीति स्वीकृत की गई उसकी ५ प्रमुख विशेषतायें थीं—

प्रथम जहां स्टालिन के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का अर्थ केवल युद्ध का न होना मात्र था वहां श्री ख्रुश्चेव ने इसका अर्थ यह माना कि सभी गैर साम्यवादी राष्ट्र (विशेषतः एशिया और अफ्रीका के तटस्थ राष्ट्र) सोवियत संघ के शत्रु नहीं हैं।

दूसरे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान पर बल दिया गया।

तीसरे, यात्राओं की कूटनीति स्वीकार की गई और यह माना गया कि दूसरे देशों से अच्छे सम्बन्धों की स्थापना करने के लिए सोवियत नेताओं को अन्य देशों की यात्रायें करनी चाहिए तथा लौह आवरण को शिथिल कर साम्यवादी एवं गैर-साम्यवादी देशों के मध्य सम्पर्क की स्थापना को प्रोत्साहन देना चाहिए।

चौथे सोवियत संघ द्वारा विश्व के अल्पविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की आवश्यकता अनुभव की गई।

पांचवें पश्चिमी शक्तियों को साम्राज्यवादी तथा उपनिवेशवादी बता कर उनकी निन्दा करते हुए भी उनके साथ गुप्त संघर्ष की नीति का

1 "I will shake my little finger and there will be no more Tito He will fall"

—Stalin

में आकर रहेगा। इसीलिए कुछ विचारकों द्वारा यह संदेह किया जाता है कि जब सोवियत संघ साम्यवाद के लिये लड़ रहा है तो उसके साथ शांतिपूर्वक कैसे रहा जा सकता है। परन्तु इस प्रकार की आलोचना का सच्चे साम्यवादियों की दृष्टि में केवल कुछ ही प्रभाव है। वे इस तथ्य को मानते हुए भी भुला देते हैं कि यह लड़ाई वस्तुओं व शस्त्रों की नहीं वरन् सिद्धान्तों की है। ऐसा वे इसलिए करते हैं ताकि सोवियत संघ को आक्रामक देश घोषित कर सकें। समाजवाद की विजय का अर्थ तो यह है कि उत्पादन का समाजवादी तरीका पूंजीवादी उत्पादन के तरीके से अधिक लाभदायक है यह सिद्ध हो जाये। जब विश्व के मजदूरों को साम्यवाद के गुणों का परिचय प्राप्त हो जायगा तब निश्चय ही वे समाजवादी समाज की स्थापना कर लेंगे। शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व का अर्थ यही है कि पूंजीवादी तथा साम्यवादी दोनों व्यवस्थायें साथ-साथ रहें तथा अपने गुणों से प्रभावित करके साम्यवादी व्यवस्था विश्व भर में व्याप्त हो जाय। वे शक्ति एवं युद्ध का सहारा लिए बिना ही यह मानते हैं कि एक देश में समाजवाद की स्थापना उसका अपना आन्तरिक विषय है जिसके बारे में अन्य कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहता। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व का अर्थ दो भिन्न समाज व्यवस्थाओं के साथ-साथ रहने से कुछ अधिक है। आगे बढ़ने के लिए तथा सम्बन्धों को अच्छा बनाने के लिए यह आवश्यक है कि देशों के बीच विश्वास को मजबूत किया जाय और उनके बीच सहयोग की स्थापना की जाय। अणु अस्त्रों के विकास ने युद्ध को एक असम्भव साधन बना दिया है। अणुबम सारी मानव जाति के लिए ही एक चुनौती बन गये हैं। पूर्व और पश्चिम के इस विरोध का एक मात्र सुझाव है शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व। किन्तु इस धारणा का अर्थ यह कदापि नहीं समझ लेना चाहिये कि अब साम्यवादी देश पश्चिम के साथ मिलना शुरू कर देंगे। समय व शांति को भी साम्यवादी एक संघर्ष मानते हैं। युद्ध और शान्ति में केवल साधनों का अन्तर है दोनों का साध्य तो एक ही है। दूसरे शब्दों में शांति का अर्थ केवल सैनिक संघर्ष का अभाव है। ऐसे मानते समय साम्यवादी लोग विश्व शांति के विचार को छोड़ नहीं देते वरन् कुछ समय के लिए टाल देते हैं तो भी समान लक्ष्यों के लिए सैद्धान्तिक झगड़ा चलता ही रहेगा।

वस्तुतः में रूस के शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व को पूरी तरह से समझने के लिए शेपिलोव (Shepilov) के शब्दों को उद्धृत किया जा सकता है। वे कहते हैं—"शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व संघर्ष विहीन जीवन नहीं है। जब तक विभिन्न प्रकार की राजनैतिक व्यवस्थायें कायम रहेंगी उनके बीच मतभेद होना अपरिहार्य है। शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व एक राजनैतिक आर्थिक एवं सैद्धान्तिक संघर्ष है। सह-अस्तित्व का अर्थ एक दूसरे के साथ लड़ना नहीं है अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को हथियारों से सुलझाने का प्रयत्न नहीं करना है किन्तु यह शान्तिपूर्ण कार्यों तथा आर्थिक और सांस्कृतिक प्रक्रियाओं द्वारा प्रतियोगिता करना है। हम यदि जीवन के मूलभूत नियमों या वर्ग संघर्ष के नियमों को भुला देंगे तो हम मार्क्सवादी व लेनिनवादी नहीं रह जायेंगे।"[1]

---

1 "Peaceful Co-existance is not a conflictless life. As long

यह उल्लेखनीय है कि शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति ने सोवियत संघ मे किसी प्रकार का बुनियादी परिवर्तन नहीं किया है। हां इस सिद्धान्त ने साधीन रूसी विदेश नीति में एक निश्चित लचीलापन (Flexibility) अवश्य प्रविष्ट कर सकी है। इण्टरनेशनल न्यूज सर्विस एजेन्सी के मुख्य सम्पादक डब्ल्यू आर हर्स्ट (W R Hearst) को एक इण्टरव्यू में श्री ख़ुश्चेव ने स्पष्ट किया था कि यदि संयुक्त राज्य अमरीका का शासक वर्ग इस असंदिग्ध तथ्य को स्वीकार कर ले कि विश्व मे एक समाजवाद की दुनियां कायम है जो अपने आदर्शों के अनुरूप उन्नति के मार्ग पर अग्रसर है एवं इस समाजवादी दुनिया के अतिरिक्त एक पूंजीवाद का संसार भी है तो वह (सोवियत रूस) इन दो विभिन्न सामाजिक व्यवस्थाओं के बीच सह-अस्तित्व की सम्भावनाओं को स्वीकार कर ले। अपने इसी इण्टरव्यू मे श्री ख़ुश्चेव ने दृढ शब्दों मे यह स्पष्ट कर दिया कि हम इस बात को किसी सूरत में स्वीकार नहीं कर सकता कि संसार के प्रत्येक देश पर संयुक्त राज्य अमरीका हावी होने की चेष्टा करे। यदि अमरीका पूंजीवादी दृष्टिकोण से विश्व का सर्वाधिक विकसित और शक्तिशाली देश है तो सोवियत संघ भी सबसे अधिक शक्तिशाली समाजवादी देश है। अतः उचित यही है कि दोनों देश अपने विवादों का हल शस्त्रीकरण की दौड़ में भाग लेकर के और युद्ध सामग्री एकत्रित करके नहीं करें बल्कि इन्हें हल करने के लिये अपने देश की आर्थिक व्यवस्था को समुन्नत बनाने और अपनी जनता के सांस्कृतिक विकास व कल्याण को आगे बढ़ाने का प्रयास करें। श्री ख़ुश्चेव ने तथ्यपूर्ण शब्दों में बताया कि कौनसी व्यवस्था अच्छी है—इसका निर्णय हथियारों द्वारा नहीं किया जा सकता इसके लिए तो विवेक की आवश्यकता है। ख़ुश्चेव के ही शब्दों में—

"हम कहते हैं कि समाज का विकास उसके नियमों के अनुसार होता है और आज वह युग आ गया है जबकि पूंजीवाद का अपने से अधिक विकसित सामाजिक प्रणाली-समाजवाद के लिए मार्ग करना पड़ेगा। यह बात मुझ कम्यूनिस्ट पर आश्रित नहीं है और न तुम—एक पूंजीवादी पर आश्रित है। यही यह एक वस्तुनिष्ठ ऐतिहासिक प्रक्रिया है। इस बात को मार्क्स और एंजिल्स ने अच्छी प्रकार से प्रमाणित कर दिया है और इसे लेनिन ने भली भांति विकसित किया है। मिस्टर हर्स्ट मैं आपसे कहना चाहता हूँ कि सोवियत संघ शांति तथा शांतिपूर्ण सह अस्तित्व चाहता है। यदि हमारे देश

as different Social-Political Systems continue to exist, the antagonisms between them are unavoidable. Peaceful coexistence is a struggle political economic and ideological Co-existance means that one does not fight the other does not attempt to solve international disputes by arms, but that one competes through peaceful work and economic and cultural activities. But we would cease to be Marxist Leninist if we forget the elementary laws of social life the laws of class struggle."

—Shepilov Pravda 13th February 1957

पर आक्रमण नहीं किया गया तो हमारा देश कभी युद्ध नहीं करेगा। हम न तो संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध युद्ध करने की बात सोचते हैं और न किसी दूसरे देश के खिलाफ हमारा ऐसा इरादा है—चाहे वह देश सोवियत संघ के निकट हो अथवा दूर क्योंकि ऐसा करना हमारे सिद्धान्त का उल्लंघन करना है। हम शांतिपूर्ण निर्माण और रचनात्मक कार्य में प्रतियोगिता करना चाहते हैं।[1]

स्टालिन की मृत्यु के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण ढंग से हल करने और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त को मानने के निश्चित प्रमाण भी सोवियत रूस ने प्रस्तुत किये। उदाहरणार्थ जुलाई १९५३ को कोरिया युद्ध की समाप्ति में रूसी सहयोग मिला। जनवरी–फरवरी १९५४ में चार बड़ों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन हुआ जिसमें किये गये निश्चय के अनुसार अप्रैल में जो जेनेवा सम्मेलन हुआ उसमें वियतनाम की समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाया गया। १५ मई १९५५ को आस्ट्रिया के साथ शांति सन्धि हुई। जुलाई १९५५ में चार बड़ों का शिखर सम्मेलन हुआ जो १९४५ के पोट्सडम सम्मेलन के बाद चार बड़ों की पहली बैठक थी। इसमें हिन्दचीन के प्रश्न का शांतिपूर्ण निपटारा हुआ। इसी समय जून १९५५ को सोवियत संघ ने कामेन्गलरीय प्रदेश में टर्की के विरुद्ध अपनी प्रादेशिक माँगों का परित्याग करने की घोषणा की।

सोवियत संघ ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव की नियुक्ति पर अपने पहले के दुराग्रही रुख को छोड़ कर डी हाग हैमरशोल्ड को महासचिव के रूप में स्वीकार कर लिया। जुलाई १९५५ में भारत के प्रयास और रूस के समर्थन से साम्यवादी चीन ने ११ बन्दी अमेरिकन विमान चालकों को रिहा कर दिया। रूस द्वारा अपनायी गयी इस सहयोगपूर्ण और उदार नीति का संयुक्त राष्ट्र संघ पर भी अनुकूल प्रभाव पड़ा। रूसी सहयोग पाकर अब बात

1 "We say Society develops in accordance with its laws, and so the era has come when capitalism has to make way for Socialism, as a higher social system than Capitalism. This does not depend upon me a Communist, neither does it depend upon you a capitalist. No it is an objective historical process This has been proved very well by Marx and Engels, developed and continued by Lenin I should like to tell you, Mr Hearst, and through you the people of the United States of America that the Soviet Union stands for peace and peaceful co-existance Our country will never begin war if it is not attacked We are not thinking of war either against the United States of America, or against any other country irrespective of whether that country is near to the Soviet Union or far from it, for that is contrary to the spirit of our ideology We want to compete in peaceful construction in constructive work."

—Kruschev

अधिक प्रभावशाली रूप में कार्य करने लगा। नवम्बर–दिसम्बर १९५५ में एक तरफ सोवियत रूस ने और दूसरी तरफ फ्रांस ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका ने यह निश्चय किया कि वे एक दूसरे के द्वारा प्रस्तावित राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने के प्रस्तावों का विरोध नहीं करेंगे। इस निश्चय के परिणामस्वरूप ८ दिसम्बर १९५५ को १८ राज्यों को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्रदान की गई। सोवियत नेताओं ने दूसरे देशों की सद्भावना प्राप्त करना शुरू किया। १८ अप्रैल १९५६ को कामिनफार्म को भंग कर दिया गया। जुलाई–अगस्त १९६३ में अणु परीक्षण प्रतिबन्ध संधि सम्पन्न की गई जिसे १९२२ की वाशिंगटन संधियों के पश्चात् निःशस्त्रीकरण के प्रयत्नों की प्रथम सफलता कहा जा सकता है। अगस्त में ही मास्को और वाशिंगटन के मध्य सीधा टेलीफोन तथा रेडियो सम्पर्क स्थापित करने का समझौता (U. S. Soviet Hot Line Agreement) किया गया। जिसका उद्देश्य यह था कि किसी भी संकटकालीन स्थिति में दोनों राष्ट्रों के मध्यस्थ एक-दूसरे से सीधी बातों के द्वारा विश्व को आणविक शिकार होने से बचा सकें।

ख्रुश्चेव काल में 'पूर्व' और 'पश्चिम' के सम्बन्धों में निश्चित रूप से सुधार हुआ किन्तु इसका यह आशय नहीं है कि शीत युद्ध समाप्त हो गया अथवा रूस और पश्चिमी शक्तियाँ परस्पर मित्र बन गये। इसके विपरीत राजनीतिक शत्रु के रूप में दोनों की स्थिति यथा पूर्व रही और कूटनीतिक दाँव पेचों के जरिये अपना-अपना प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने में दोनों ही पक्ष अग्रसर रहे। मूल अन्तर केवल यही हुआ कि स्टालिनशाही उग्रवादी नीति का स्थान चातुर्यपूर्ण और महान कूटनीतिक प्रचार नीति ने ले लिया जिसमें प्रत्येक अनुकूल अवसर से प्रत्येक लाभ उठाने की चेष्टा जारी रही। मौके-बमौके ऐसे अवसर उपस्थित होते रहे और ऐसी घटनायें घटीं जिनसे समय-समय पर शीत युद्ध को तीव्रता मिली और दोनों पक्षों में कटुता का व्यापक प्रसार हुआ। उदाहरणार्थ १९५६ में स्वेज नहर और हंगरी के प्रश्न को लेकर दोनों देशों में अत्यधिक कटुता उत्पन्न हो गई, मई १९६० में यू–२ विमान की घटना ने दोनों पक्षों में शीत युद्ध का ज्वार ला दिया और १९६२ में क्यूबा के संकट ने दोनों महाशक्तियों का संघर्ष के इतना निकट ला दिया कि तृतीय महायुद्ध के विस्फोट की सम्भावना से विश्व की सम्पूर्ण शान्तिप्रिय जनता त्रस्त हो उठी। फिर भी इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि संकट के प्रत्येक अवसर को टालने में न्यूनाधिक रूप से दोनों ही पक्षों ने विवेक और धैर्य का सहारा लिया तथा रस्सी को इतना नहीं खिंचने दिया कि वह टूट जाय। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ–इन दोनों ही महाशक्तियों में इस अनुभूति को बल मिला कि सैनिक शक्ति अथवा युद्ध के द्वारा एक-दूसरे को समाप्त करने की नीति न केवल अव्यावहारिक वरन् आत्मघाती होगी और यदि सहअस्तित्व को नहीं अपनाया जायगा तो उसका एक मात्र विकल्प सह विनाश होगा।

(३) अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहयोग

जैसा कि कहा जा चुका है मालेन्कोव और ख्रुश्चेव के युग में सोवियत

संघ ने भी अल्पविकसित देशों को आर्थिक, प्राविधिक और सैनिक सहायता देने की नीति अपनायी जो आज तक सोवियत विदेश नीति का एक प्रमुख अंग बनी हुई है। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा १९४८ में ही ट्रूमैन सिद्धान्त और मार्शल योजना के अन्तर्गत अल्पविकसित देशों के लिये आर्थिक सहायता का कार्यक्रम अपनाया गया था ताकि उन देशों में बढ़ते हुए साम्यवादी प्रभाव को रोका जा सके। इसके प्रत्युत्तर में स्टालिन युग में सोवियत रूस ने अल्पविकसित देशों का विकसित करने की अपेक्षा उनमें साम्यवाद के प्रचार और तोड़ फोड़ के सिद्धान्त को अपनाया। परन्तु स्टालिनोत्तर युग में नवीन नीति का समारम्भ हुआ जिसके अनुसार रूस द्वारा अल्पविकसित देशों के आर्थिक विकास पर बल दिया जाने लगा। इसके परिणामस्वरूप जनवरी १९५४ से जनवरी १९६१ तक दोनों ही देशों द्वारा अल्पविकसित एवं अविकसित राष्ट्रों को आर्थिक सहायता देने की एक प्रतियोगिता सी प्रारम्भ हो गई जिसका तुलनात्मक अध्ययन दोनों देशों द्वारा दी गई आर्थिक सहायता के निम्नलिखित आंकड़ों से किया जा सकता है—

सोवियत रूस तथा साम्यवादी देशों द्वारा दी गई सहायता			सहायता प्राप्त करने वाले देशों का नाम	संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा दी गई सहायता		
५११०	लाख	डालर	अफगानिस्तान	१७८०	लाख	डालर
१०४०			अर्जेन्टाइना	४११०	,,	
७४०		,,	ब्राजील	११०२०		
६६०	,,	,,	कम्बोडिया	९६२०	,,	
६६०	,,	,,	श्री लंका	७६०		,,
४०००	,,		क्यूबा	२६०		,,
११४०	,,	,,	इथियोपिया	११६०		,,
२०००	,,	,,	घाना	१२७०		,,
१२८०			गिनी	११०	,,	
५०		,,	आइसलैंड	६६०		
६८३०	,,		भारत	१२७६०		
६४००	,,	,,	इंडोनेशिया	९६६०	,,	
२१८०			ईराक	१८०		
१०००	,,	,,	माली	६०	,,	,,
५५०	,,		नेपाल	४६०	,,	
११०			पाकिस्तान	१३४१		,,
६१०	,,	,,	सोमालिया	९६०	,,	
२१०		,,	सूडान	६६०		
११६०	,,	,,	सीरिया	६६०	,,	,,
४६०	,,	,,	ट्यूनिशिया	२६६०	,,	,,
६७०	,,	,,	टर्की	११११०	,,	,,
७१६०	,,	,,	मिस्र	६१७०	,,	,,
४४०	,,	,,	यमन	९६०	,,	

तालिका से स्पष्ट है कि सोवियत रूस ने आर्थिक सहायता की दृष्टि से संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ उल्लेखनीय प्रतिस्पर्धा की यद्यपि कुलराशि की दृष्टि से वह अमेरिका से कम रही। परन्तु इस सम्बन्ध में यह तथ्य स्मरणीय है कि सोवियत रूस द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता अमेरिका से कम होते हुए भी अधिक स्थूल प्रभावी और स्थायी रूप से अधिक प्रभावित हुई। उदाहरणार्थ जहाँ भारत को अमेरिका का ऋण मुख्य रूप से भारत की सामुदायिक विकास योजनाओं और खाद्यान्नों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये मिला वहाँ रूस का ऋण स्थूल रूप में तथा स्थायी रूप से दिखाई देने वाले भिलाई के कारखाने भारी मशीनों के कारखानों और दवाईयाँ बनाने के कारखानों के लिये दिया गया। स्पष्ट है कि सोवियत सहायता अमेरिकन सहायता की अपेक्षा न्यून होते हुए भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अधिक महत्वपूर्ण और प्रचारात्मक सिद्ध हुई। इसी तरह पश्चिम के इन्कार करने पर रूस द्वारा मिस्र को आस्वान बांध हेतु बड़ी मात्रा में आर्थिक सहायता प्रदान की गई।

सोवियत संघ द्वारा अविकसित तथा अल्पविकसित राष्ट्रों का आर्थिक सहयोग प्राप्त करने की संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति का प्रभावशाली रूप में अनुकरण करने से ही वॉल्टरलिपमैन (Walter Lippmann) को यह लिखने पर विवश कर दिया कि "पहले रूस ने आणविक आयुधों पर पश्चिम के एकाधिपत्य को भंग किया और अब वह अल्पविकसित देशों का आर्थिक नेतृत्व ग्रहण करने में पश्चिम के आर्थिक एकाधिकार को तोड़ने लगा है।"

अविकसित देशों को आर्थिक सहायता देने की नीति का अवलम्बन करने के साथ सोवियत रूस ने उत्पादन और सैनिक शक्ति में प्रधान का पश्चिमी देशों से श्रेष्ठतर सिद्ध करने का पूरा प्रयास किया। श्री ख्रुश्चेव का स्पष्ट मत था कि "अब सबसे महत्वपूर्ण समस्या क्या है ? यह है पूंजीवाद को पराजित करना। जो बड़े पैमाने पर उत्पादन के द्वारा अधिक पैदा करेगा वह विजयी होगा।" इस नीति के फलस्वरूप रूस के उत्पादन में भारी वृद्धि हुई। सैनिक शक्ति में भी सोवियत संघ तेजी से आगे बढ़ा। १९५७ में स्पूतनिक और १९६१ में ५० मेगाटन बम का निर्माण करके वह राकेट तथा आणविक शस्त्रों की दौड़ में संयुक्त राज्य से भी आगे निकल गया।

(४) उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का विरोध

श्री ख्रुश्चेव ने एशिया और अफ्रीका के देशों तथा असंलग्न विश्व (Uncommitted World) की सहानुभूति प्राप्त करने के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद विरोधी प्रचार को और भी तीव्र कर दिया। संयुक्तराष्ट्र संघ में और अन्यत्र वह साम्राज्यवादी शक्तियों की घोर निन्दा करने लगा और उपनिवेशों तथा गुलाम राष्ट्रों को स्वतंत्र कराने के सभी प्रस्तावों और आन्दोलनों को प्रबल समर्थन देने लगा। रूसी नेताओं की मान्यता थी कि इस नीति से उन्हें दोहरा लाभ मिलता है। पहला तो यह कि एशिया और अफ्रीका

की साम्राज्यवाद से पीड़ित जनता की सहानुभूति उसे प्राप्त होती है और दूसरे साम्राज्यवाद के विघटन से रूस के प्रबल एवं कट्टर शत्रु पूंजीवादी पश्चिम की प्रभुता क्षीण होती है।

वास्तव में स्टालिन की मृत्यु के बाद से ही विशेषकर भी ख्रुश्चेव के प्रभाव में आने के उपरान्त से एशिया और अफ्रीका के अल्पविकसित या अविकसित देशों और उपनिवेशों के प्रति सोवियत नीति के निम्नलिखित प्रमुख लक्ष्य रहे—

(i) भूतपूर्व उपनिवेशी अथवा अर्ध-उपनिवेशी देशों के सन्देह एवं राष्ट्रीय सम्मान का अच्छी प्रकार ध्यान रखते हुए इनके प्रति पूरी तरह मित्रता एवं सौहार्द दिखाना

(ii) इन देशों के पश्चिम के साथ अतीत के कटु सम्बन्धों का फायदा उठाते हुए इन्हें पश्चिम से और भी विमुख बना देना

(iii) न केवल उपनिवेशवाद विरोधी वरन् जातिवाद विरोधी प्रवृत्तियों को भी उभारना

(iv) राजनीतिक तटस्थता की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना

(v) औद्योगीकरण के द्वारा उनकी अपनी अर्थ व्यवस्था को विकसित करने की महत्वाकांक्षा को सहारा देना और साथ ही सोवियत सहायता एवं पारस्परिक व्यापारों के सम्बन्धों की ओर उनको झुकाना

(vi) प्रत्येक अवसर को जतलाना जो कि वे पश्चिम के साथ रख सकते हैं।

(vii) विदेशी पूंजी या सहायता को उनकी स्वतंत्रता एवं सम्मान के विरुद्ध बता कर सन्देह की भावना फैलाना

(viii) उनकी आँखों के सामने सोवियत रूस के तीव्र औद्योगीकरण को आदर्श के रूप में प्रस्तुत करना ताकि स्थानीय लोग यह समझ सकें कि केवल साम्यवाद ही बहुत कम समय में ऐसी उपलब्धियों को साकार कर सकता है।

सोवियत संघ के शक्ति एवं प्रभाव के विस्तार के मुख्य आकर्षण केन्द्र तीन हैं अफ्रीका, एशिया एवं लेटिन अमेरिका। शेपिलोव (Shepilov) ने पूर्व के सम्बन्ध में कहा था कि सोवियत जनता पूर्वी राष्ट्रों के स्वतन्त्र होते हुए उपनिवेशवाद एवं साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वार्थहीन संघर्ष को प्रेम तथा सहानुभूति से सम्मान प्रदान करती है। उन्होंने एक बार कहा था कि हमारा विश्वास है कि प्रत्येक जनता (People) को उसकी राष्ट्रीय स्वाधीनता स्वतंत्रता तथा आत्म निर्णय का कभी न छीना जाने वाला अधिकार है।

ख्रुश्चेव का पतन उसकी नीति का मूल्यांकन

ख्रुश्चेव के समय सोवियत नीति में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में वह जिन नई दिशाओं की ओर उन्मुख हुई उसका समीक्षात्मक वर्णन हम कर चुके हैं। हम यह भी बता चुके हैं

कि स्टालिनोत्तर काल में सोवियत रूस द्वारा 'शांतिपूर्ण सह अस्तित्व' का जो नारा बुलन्द किया गया उसके बारे में दोनों पक्षों के अपने क्या मत हैं।

ख्रुश्चेव की नीति का मूल्यांकन करते समय प्रमुख प्रश्न यह उठता है कि क्या उसके समय की विदेश नीति की नई विशेषतायें मौलिक परिवर्तनों की सूचक हैं? स्टालिन द्वारा प्रतिपादित नीतियों का विरोध और निस्टालिनीकरण (De-Stalinization) स्थाई है अथवा अस्थाई। और क्या यह एक स्थाई तथ्य है कि रूस में विश्व क्रान्ति का उत्साह वास्तव में शिथिल हो गया है तथा उसमें उदारवाद की प्रवृत्तियां स्थाई रूप से प्रबल हो गई हैं। इन सब प्रश्नों का यथार्थ उत्तर तो भविष्य ही देगा। यद्यपि श्री ख्रुश्चेव के बाद से (अक्टूबर १९६४ के बाद से अभी तक (अगस्त १९६७ तक) सोवियत नेताओं की नीति ख्रुश्चेव वाली ही रही है और सोवियत प्रधानमंत्री श्री कोसीगिन एवं राष्ट्रपति ब्रेजनेव रूस की सह-अस्तित्व एवं शान्तिवादी नीति को जारी रखने के लिए कटिबद्ध प्रतीत होते हैं तथापि इतने अल्पकाल में एक राष्ट्र की परिवर्तित विदेश नीति का सही मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। हाँ कुछ वर्षों के इतिहास से इसी बात की आशा बनती है कि सोवियत रूस अपनी उदार नीति पर चलता रहेगा।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि कुछ विद्वानों ने सोवियत विदेश नीति के बारे में अनेक मनोरंजक कल्पनायें की हैं। सुप्रसिद्ध इतिहासकार टायनबी ने रूसी सह-अस्तित्व एवं उदारवाद की नीति की व्याख्या के लिए साम्यवाद की इस्लाम के साथ तुलना की है। उनका कहना है कि साम्यवाद इस्लाम की भांति उग्र प्रचारक सैनिकवादी आंदोलन है। जिस तरह दूसरे देशों को जीतने और वहां की जनताओं को मुसलमान बनाने के बाद इस्लाम का उत्साह शिथिल हो गया था और उसने अन्य धर्मों के साथ समझौता कर लिया था उसी प्रकार साम्यवादियों का जोश मन्द पड़ रहा है और उन्होंने भी अन्य देशों के साथ मित्रता पूर्वक रहने के लिए शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति ग्रहण की है।

प्रोफेसर श्री रोबर्ट स्ट्रोज-हुपे (Robert Strausz-Hupe) ने टायनबी के मत का खंडन किया है। उनका कहना है कि "इस्लाम के उत्साह में कमी या कमी कई शताब्दियों बाद लाखों व्यक्तियों को मुसलमान बनाने और मारने के बाद विरोधी शक्तियों के प्रबल होने से आई थी। साम्यवाद में अभी ऐसी कोई अवस्था दृष्टिगोचर नहीं होती। श्री हूपे और उन्हीं के समान कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि उदारवाद रूस की अल्पकालिक नीति है अन्यथा उसकी मूल नीति में कोई परिवर्तन नहीं आया है। स्टालिन के समय शुद्धि आंदोलनों में अनेक बड़े नेताओं की पदावनति होती थी वह आज भी ज्यों की त्यों है। उदाहरण के लिए स्टालिन के बाद उसके विश्वस्त पात्र बेरिया को मौत की सजा मिली। स्टालिन के उत्तराधिकारी प्रधानमंत्री मालेनकोव कजाकिस्तान में एक बिजली घर के संचालक बनाकर राजनीति से दूर पटक दिये गये प्रधानमंत्री बुल्गानिन को स्तावरोपोल प्रदेश की आर्थिक परिषद का

अपमानित बना कर निकाल फेंका गया और उसके बाद स्टालिन ही की तरह उच्च पद पर आ जाने वाले श्री ख्रुश्चेव तक को अक्टूबर १९६४ में अपदस्थ कर दिया गया और १५ अक्टूबर १९६४ को तास एजेन्सी ने घोषणा की कि 'अधिक आयु तथा स्वास्थ्य खराब होने के कारण श्री ख्रुश्चेव को साम्यवादी पार्टी के मंत्री तथा प्रधानमन्त्री के पद से मुक्त किया गया है। केन्द्रीय समिति ने १४ तारीख को इन दोनों पदों से ख्रुश्चेव का त्यागपत्र स्वीकार कर लिया है तथा कोसीगिन को प्रधानमन्त्री और ब्रजनेव को साम्यवादी पार्टी का सचिव बनाया गया है। रूस के मामलों में विशेष रूप से सिद्धहस्त पाश्चात्य कूटनीतिज्ञों की मान्यता है कि रूसी विदेश नीति का प्रमुख ध्येय पूंजीवादी समाज और वातावरण का उन्मूलन है इसमें कोई परिवर्तन आने की सम्भावना नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में यह जानना रोचक होगा कि १० अक्टूबर १९६४ को पश्चिमी देशों के सम्वाददाताओं को यह पता चला कि श्री ख्रुश्चेव पर पार्टी की ओर से गृह और विदेश नीति तथा व्यक्तिगत भूलों के लगभग २० आरोप लगाये गये थे।

विदेश नीति-सम्बन्धी मुख्य आरोप ये थे—

(i) उसकी नीति से सोवियत संघ का साम्यवादी चीन के साथ सैद्धान्तिक मतभेद पैदा हो गया है जो साम्यवादी राष्ट्रों की एकता के लिए घातक है तथा इससे संयुक्त राज्य अमेरिका व उसके सहयोगियों को बल मिला है। चीन की वैज्ञानिक उन्नति का भी कम अन्दाज किया गया है।

(ii) उसने क्यूबा के प्रति जिस नीति को अपनाया वह भयंकर रूप से त्रुटिपूर्ण है। क्यूबा में प्रक्षेपणास्त्र भेज कर बाद में उन्हें वापिस मंगाने की नीति पूर्ण गलत थी।

(iii) उसने विदेश मन्त्रालय से स्वयमेव निर्णय कर के रूस के कार्य को बिगाड़ा है।

(iv) उसने अपने दामाद को साथियों से बिना पूछे जुलाई, १९६४ में पश्चिमी जर्मनी में गोपनीय कार्य के लिए भेजा है।

(v) उसने आर्थिक सहयोग के पूर्वी यूरोपियन संगठन (COMECOM) के काम को बिगाड़ा है।

(vi) अपने साथियों से बिना परामर्श किए १९६४ में संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति कर्नल नासिर को रूस में सम्मान की सर्वोच्च सोवियत उपाधि "सोवियत यूनियन का वीर" प्रदान करना और संयुक्त अरब गणराज्य को १० करोड़ पौंड का ऋण देने का वचन देना उसकी गम्भीर गलती है।

गृह नीति के विषय में श्री ख्रुश्चेव पर निम्न लिखित दोष लगाए गए—

(i) विशेषज्ञों के परामर्श की अवहेलना करते हुए ख्रुश्चेव ने नवीन भूमियों को उपजाऊ बनाने की नीति पर बल देकर सोवियत कृषि में संकट उत्पन्न किया।

(ii) अर्थ-व्यवस्था में आयोजन के क्षेत्र में पहले केन्द्रीकरण से विकेन्द्रीकरण करके तथा पुनः विकेन्द्रीकरण से केन्द्रीकरण करके गड़बड़ी उत्पन्न की।

(iii) भारी उद्योगों की उपेक्षा करते हुए–हल्के तथा उपभोग्य वस्तुओं के उद्योगों पर बल दिया।

(iv) पार्टी के तथा सरकार के अधिकारियों को मनमाने ढंग से पदच्युत किया।

श्री खुश्चेव पर व्यक्तिगत दोष इस प्रकार लगाये गए—

(i) उसने पार्टी के सामूहिक नेतृत्व को गौण किया और स्वयं का महत्व देने वाली 'व्यक्ति पूजा' को प्रोत्साहित किया। उसने साथियों से परामर्श किये बिना जल्दबाजी में निर्णय किये और मनमाने भाषण दिए।

(ii) भ्रष्टाचार तथा भाई भतीजावाद को प्रोत्साहन देते हुए उसके द्वारा परिवार के सदस्यों को उच्च पद दिये गए। उसने अपनी पत्नि नीना को सोवियत महिला समाज का अध्यक्ष चुनवाया अपने पुत्र को अयोग्य होने पर भी इन्जीनियर का पद दिलवाया अपनी पुत्री रैडा को विज्ञान की एक पत्रिका का सहायक सम्पादक बनवाया तथा अपने दामाद को दौत्य कार्य पर पश्चिमी जर्मनी भेजा।

(iii) उसने शीघ्रतापूर्वक बिना सोचे समझे ऐसे भाषण दिए जो बाद में वापस लेने पड़े और जिनसे रूस को बड़ी परेशानी उठानी पड़ी।

खुश्चेव के पतन के बाद सोवियत विदेश नीति

खुश्चेव के पतन के बाद अक्टूबर १९६४ में सोवियत संघ का नेतृत्व दो नये व्यक्तियों—कोसीगिन और ब्रेजनेव के हाथों में आया। इस समय बहुत से क्षेत्रों में यह आशंका हुई कि नया नेतृत्व स्टालिनवादी होगा और इसलिए सोवियत संघ की विदेश नीति में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन आयेगा। लेकिन शीघ्र ही यह आशंका जाती रही क्योंकि सोवियत संघ के नये नेताओं ने घोषणा की कि वे भूतपूर्व प्रधान मन्त्री खुश्चेव की विदेश नीति में कोई मौलिक परिवर्तन नहीं करेंगे। नये नेतृत्व की ओर से कहा गया कि सोवियत संघ शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त में विश्वास करता रहेगा परमाणुविक परीक्षण को बंद कराने तथा निःशस्त्रीकरण के लिये प्रयास करेगा शीत युद्ध में तीव्रता नहीं आने देगा और संसार के अविकसित राज्यों की विकास-योजनाओं को सफल बनाने के लिये सहायता देता रहेगा।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि पिछले दो वर्षों में सोवियत विदेश नीति में खुश्चेववादी परम्परा का ही अवलम्बन किया है और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की सम्भावनाओं को पूर्वापेक्षा अधिक सबल बनाया है। संयुक्त राज्य अमरीका के बारे में रूस के नये भाग्यविधाताओं का विश्वास है कि उससे उन्हें कोई तात्कालिक सैनिक या राजनैतिक खतरा नहीं है। पश्चिमी यूरोप में यद्यपि डिगाल की स्वतन्त्र नीति वाशिंगटन को प्रमुता के विरोधी

और नाटो संधि-संगठन में दरार डालने वाली है परन्तु सोवियत संघ को आशंका है कि यह उसके लिये महान् संकट बनने वाले जर्मनों के पुनः शस्त्रीकरण को प्रोत्साहित करने वाली होगी।[1]

ख्रुश्चेव के बाद की सोवियत विदेश नीति में पश्चिम के प्रति किसी विशेष परिवर्तन का संकेत नहीं मिला है। ख्रुश्चेव कालीन मान्यताओं की कूटनीति जारी है। अक्टूबर १९६६ में सोवियत विदेश मंत्री ग्रोमिको ने अमरीकन राष्ट्रपति से मुलाकात कर निःशस्त्रीकरण और वियतनाम के प्रश्न पर बातचीत की यद्यपि उसमें किसी प्रकार का मतैक्य प्रकट नहीं हो पाया। अमरीकन राष्ट्रपति जॉनसन द्वारा सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन को अपने देश आने का निमन्त्रण दिया गया और यह भी संकेत किया गया कि बदले में वह रूस की यात्रा के निमन्त्रण का स्वागत करेंगे। सौभाग्यवश विश्व के दो महा शक्तिशाली राष्ट्रों के सर्वोच्च नेताओं का शिखर सम्मेलन जून १९६७ में सम्भव हो सका। जून १९६७ में हुए अरब-इजरायल संघर्ष के फलस्वरूप उत्पन्न हुए पश्चिमी एशियायी संकट पर संयुक्त राष्ट्र महासभा का जो अधिवेशन जून १९६७ में हुआ उसमें भाग लेने के लिये सोवियत प्रधानमन्त्री कोसीगिन स्वयं उपस्थित हुए। प्रारम्भ में ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो किसी व्याहित होने के बावजूद जॉनसन तथा कोसीगिन में से कोई भी शिखर वार्ता के लिये उत्सुकता नहीं दिखाना चाहता था। किन्तु बाद में अचानक ही ग्लासबरो में दोनों नेताओं ने घण्टों एकान्त में वार्ता की और फिर अपने परामर्शदाताओं के साथ उपयोगी बातचीत अगले दिन (रविवार २५ जून १९६७) भी चालू रखी। वियतनाम और पश्चिमी एशिया पर मुख्य रूप से वैचारिक आदान-प्रदान हुआ तथा निःशस्त्रीकरण और परमाणु शक्ति के विस्तार के सवाल भी अछूते नहीं रहे। मुलाकात के बाद परमाणु अस्त्रों के विस्तार पर रोक लगाने के बारे में दोनों पक्षों की ओर से अनुकूल वातावरण बन सकने की बात कही गई।

सोवियत कूटनीति की नवीन दिशायें

दोनों नेताओं की पारस्परिक वार्ता और दोनों राष्ट्रों की एक दूसरे के प्रति नरम बरतने की कूटनीति से जाहिरा तौर पर लगता यही है कि आधुनिक विश्व की राजनीति में सोवियत रूस और साम्यवादी चीन की अपेक्षा सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमरीका एक दूसरे के अधिक नजदीक आने लगे हैं तथा विचार-विनिमय द्वारा समस्याओं के हल का प्रयास करने लगे हैं। किन्तु यह स्थिति आगे कब तक बनी रहेगी यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि क्रेमलिन में यूरोप के साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों की जून १९६७ में हुई बैठक में सोवियत नेताओं की इस बात के लिए कटु आलोचना की गई थी कि वे अमरीका और अनेक पश्चिमी राष्ट्रों

---

1 Current History October 1965, Page 212.

के प्रति उदार नीति अपना रहे हैं। इस सम्बन्ध में २ जुलाई, १९६७ के साप्ताहिक दिनमान में उल्लिखित शब्द इस प्रकार हैं—

"अमरीका से चुप-चुप बात करने की आपकी नीति ने तटस्थता की कल्पना को ही संसार से मिटा दिया है यह आपकी नीति का ही नतीजा है कि एन्क्रूमा सुकार्णो और अब नासिर जैसे तीसरी दुनियां के नेताओं का प्रभाव खत्म हो गया। भारत पर अमरीकी शिकंजा कसा गया और आज या कल भारत निश्चय ही अमरीका गुट में चला जायेगा। आप ही की वजह से तीसरी दुनियां के नेता अमरीकी आर्थिक और राजनैतिक दबाव को रोकने में असमर्थ रहे हैं—इन शब्दों में युगोस्लाविया के मार्शल टीटो के मास्को में सोवियत नेताओं को फटकार रहे थे सोवियत नेताओं को अवाक् हो कर मैं यह डाट पड़ रही थी। यह सब क्रेमलिन में यूरोप के कम्युनिस्ट देशों के प्रतिनिधियों की एक बैठक में हुआ जिसमें अल्बानिया को छोड़ यूरोप की कम्युनिस्ट बिरादरी के सारे लोग मौजूद थे और टीटो ब्लादीमीर पोपोविच को साथ लेकर यह फटकार देने के लिये ही शायद क्रेमलिन आये थे। बैठक के अन्त में एक प्रस्ताव सामने आया जिस पर रूमानिया ने दस्तखत नहीं किये। इस प्रस्ताव में स्पष्ट यह आग्रह था कि अमरीका के खिलाफ सख्त से सख्त रवैया अपना कर ही पूर्वी यूरोप के कम्युनिस्ट गुट को सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

स्पष्ट है कि सोवियत रूस पर साम्यवादी जगत का यह दबाव बढ़ता जा रहा है कि वह संयुक्त राज्य अमरीका के प्रति पुनः कठोर नीति अङ्गीकार करे। साम्यवादी चीन तो इस बात को लेकर रूस के प्रति पहले से ही आग उगल रहा है परन्तु शेष साम्यवादी राष्ट्र भी सोवियत कूटनीति की नई दिशाओं के लिये इच्छुक हैं।

अमरीका के साथ और भारत पाकिस्तान ईरान पश्चिमी जर्मनी वियतनाम आदि के साथ खुश्चेव के बाद से लेकर अब तक सोवियत रूस के सम्बन्धों पर यदि कुल मिला कर दृष्टि डाली जाय तो जहां एक ओर अभी तक खुश्चेव वाली नीति का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है वहां दूसरी ओर इस बात के भी सशक्त संकेत हैं कि कतिपय मामलों में सोवियत कूटनीति ने नई दिशायें अङ्गीकार की हैं। जर्मनी के प्रश्न पर यद्यपि रूस और अमरीका में मतभेद यथापूर्व कायम हैं किन्तु क्रेमलिन में साम्यवादी देशों के प्रतिनिधियों की जून १९६७ में हुई बैठक के बाद जारी की गई संयुक्त विज्ञप्ति से इस बात की पुष्टि होती है कि सोवियत संघ पश्चिमी जर्मनी से अपने सम्बन्ध सुधारना चाहता है। पर इसके लिये शर्तें वही दोहरायी गई हैं जिनकी रट सोवियत संघ शुरू से ही लगाये हुए है। इनमें दो प्रमुख शर्तें ये हैं कि पश्चिमी जर्मनी समूचे जर्मनी का प्रतिनिधित्व करने का अपना दावा छोड़ दे और पूर्वी जर्मनी को अपनी मान्यता प्रदान करे। सोवियत रूस का कुछ इस प्रकार का विश्वास हो चला है कि पश्चिमी जर्मनी में ऐसे तत्वों का विकास हो रहा है जो उसकी नीति में बुनियादी परिवर्तन ला सकते हैं

और सोवियत रूस को इन तत्वों के विकसित होने में सहायक बनना चाहिये ।

ख्रुश्चेव के पतन के बाद यद्यपि भारत के प्रति सोवियत रुख पहले ही के समान मैत्रीपूर्ण रहा है और उसने भारत की चौथी योजना में तृतीय योजना की अपेक्षा दुगुनी आर्थिक सहायता का आश्वासन दिया है और भिलाई जैसा ही दूसरा इस्पात कारखाना बोकारो में खोलने का भी वचन दिया है तथापि कतिपय राजनीतिक क्षेत्रों में यह अनुभव किया जाने लगा है कि काश्मीर के प्रश्न पर सोवियत रुख में अवश्य ही पाकिस्तान के पक्ष में कुछ नर्मी आई है। १९६५ में भारत पर पाकिस्तान के आक्रमण के समय संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर सोवियत रूस ने भारत तथा पाकिस्तान को समान स्तर पर माना और दोनों ही को युद्ध बन्दी व वार्ता द्वारा समझौता करने को कहा है। इसके उपरान्त उसने अपनी भूमि पर दोनों देशों के नेताओं—श्री शास्त्री और अयूब—को आमन्त्रित कर बराबरी के स्तर पर ताशकन्द समझौता करवाया। कुछ राजनीतिक क्षेत्रों का मत है कि रूस के प्रधानमन्त्री कोसीगिन ने भारत को वह समर्थन देने से इन्कार कर दिया जिसका आश्वासन ख्रुश्चेव ने अपनी भारत-यात्रा के दौरान काश्मीर की भूमि पर खड़े होकर इन शब्दों में दिया था— "आप हमें यहां पहाड़ों पर खड़े होकर आवाज दीजिए हम आपकी मदद को दौड़े आयेंगे।" सोवियत नेताओं का मन और मस्तिष्क भारत राष्ट्र के प्रति कितना निष्कपट, उदार और पहले ही के समान मैत्रीपूर्ण है इसे तो भविष्य ही सिद्ध करेगा लेकिन यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ताशकन्द समझौता सोवियत कूटनीति की एक महान् विजय थी। अभी तक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान में सोवियत संघ ने मध्यस्थता के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया था। लेकिन दो राष्ट्रों के बीच मध्यस्थ बन कर उनके आपसी झगड़ों को सुलझाने का प्रयास सोवियत संघ का एक नया क्रान्तिकारी कदम था। कुछ उदार राजनीतिक क्षेत्रों का कहना है कि भारत-पाक संघर्ष पर ताशकन्द में सोवियत कूटनीति ईमानदारी और निष्पक्षता की थी तथा उससे भारत को चिन्तित नहीं होना चाहिए। सोवियत नेताओं की दिली इच्छा ही चिर शत्रुओं को निकट लाने की थी। सोवियत न्यूज एजेन्सी 'तास' ने कहा भी था—"यह बात सभी भली भांति जानते हैं कि भारत और पाकिस्तान में शत्रुता का बीज उपनिवेशवादियों द्वारा बोया गया है, जो दोनों देशों की जनता को शांति और मैत्रीपूर्ण वातावरण में रहने देने के इच्छुक नहीं हैं।" यदि रूस पाकिस्तान के प्रति पहले ही के समान रूखा रहता तो वह दोनों राज्यों को समझौते के लिए सहमत नहीं कर पाता। यदि ताशकन्द समझौते में यह बात दिखाई पड़ती है कि सोवियत नीति का उद्देश्य पाकिस्तान के प्रति मित्रता को बढ़ाना है तो भारत के लिए तो यह एक शुभ बात ही सकती है क्योंकि तब रूस इस बात में समर्थ हो सकेगा कि वह पाक नेताओं के हृदय से भारत के प्रति वैमनस्य की बातों को निकाल दें।

उपरोक्त प्रकार की आशा अवश्य ही सुखकारी व उत्साहप्रद हो सक

है लेकिन हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि राजनीतिक क्षेत्र में बहुधा स्थाई मैत्री को कोई स्थान नहीं मिलता । पाकिस्तान की तरफ सोवियत नीति में मैत्रीपूर्ण रुख अपनाये जाने के मूल में यह उद्देश्य निहित प्रतीत होता है कि पाकिस्तान को अपना मित्र बना कर वह उस पर चीन और अमरीका के निरन्तर बढ़ते हुए प्रभाव पर प्रभावशाली रूप से अंकुश लगा सकेगा । परन्तु रूस की यह नीति भारत के लिए हितकारी सिद्ध होगी और पाकिस्तान को भारत के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार के लिये बाध्य कर सकेगी, इसमें संदेह है ।

ताशकंद समझौते के बाद से ही पाकिस्तान और रूस का सहयोग जिस ढंग से बढ़ा है वह भारत के लिए चिन्ताजनक है । सोवियत कूटनीति की यह नई दिशा भारत के हितों पर विपरीत प्रभाव डाल सकती है । ऐसे स्पष्ट संकेत मिले हैं कि सोवियत संघ न केवल पाकिस्तान को आर्थिक सहायता देने का इच्छुक है बल्कि अब वह उसे सैनिक सहायता देने को भी कुछ-कुछ सहमत हो गया है । पाकिस्तान के विदेश मंत्री पीरजादा ने जून १९६७ में जो ९ दिन की सोवियत यात्रा की थी उस समय सम्भवतः सोवियत नेताओं द्वारा सैनिक सहायता का आश्वासन पाकिस्तान को दिया गया । इस विषय में २ जुलाई १९६७ के साप्ताहिक दिनमान में प्रकाशित समाचार इस प्रकार है—

"वैसे पीरजादा ने सोवियत संघ से हथियार आदि लेने के बारे में संवाददाताओं के प्रश्नों को टाल दिया पर यह स्पष्ट संकेत मिल चुका है कि सोवियत संघ पाकिस्तान के हाथ कुछ खास किस्म के ऐसे हथियार उसी आधार पर बेचने को तैयार है जिस आधार पर भारत को बेचे गये हैं । पाकिस्तान का एक सैनिक मिशन भी वायु सेनाध्यक्ष एयर मार्शल नूर खां के नेतृत्व में मास्को गया था और उसके लौटने के बाद यह संकेत मिला था कि पाकिस्तान रूस से हथियार खरीद रहा है । इन सब घटनाओं से स्पष्ट है कि सोवियत कूटनीति नई दिशायें ले रही है ।"

ईरान के प्रति सोवियत नीति

जिस प्रकार सोवियत संघ द्वारा अमेरिका से सैनिक संधियों के गुट में बंधे पाकिस्तान को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए अप्रैल १९६५ में आर्थिक सहायता कार्यक्रम आरम्भ किया उसी प्रकार अगस्त-सितम्बर १९६६ में पाकिस्तान की मारफत सेन्टो पैक्ट के एक अन्य सदस्य ईरान को भी अपनी ओर आकर्षित करने के लिए आर्थिक सहायता कार्यक्रम शुरू किया जिसके अन्तर्गत सोवियत संघ ने ईरान को २।। करोड़ डालर का कर्ज २।। प्रतिशत ब्याज पर १२ वर्षों के लिए दिया जो वहां एक इस्पात कारखाना की स्थापना में सहायक होगा । रूस द्वारा ईरान को यह सुविधा भी प्रदान की गई है कि वह रूस के बन्दरगाहों के मारफत यूरोप को माल निर्यात कर सकेगा । ईरान ने इसके बदले में अपने देश से सोवियत संघ को एक गैस लाइन देना स्वीकार किया है ।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह बात कही जा सकती है कि

यद्यपि सोवियत संघ की वर्तमान विदेश नीति ख्रुश्चेव के शासन काल की शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति में विश्वास रखती है तथापि उसका प्रयत्न पश्चिम के समर्थक राज्यों को अपनी ओर मिलाने का है जिसके दो उदाहरण पाकिस्तान और ईरान के स्पष्ट ही हैं। सोवियत संघ ने ऐसा ही एक सफल प्रयास फ्रान्स के सम्बन्ध में किया था। फ्रान्स ने उत्तरी एटलांटिक संधि (नाटो) से अपने को अलग करने की घोषणा करके पश्चिमी गुट में एक भयंकर दरार डाल दी है और उसकी यह नीति सोवियत संघ के हित के अनुकूल है।

वियतनाम के सम्बन्ध में पहले सोवियत नीति प्रायः तटस्थता की थी क्योंकि १९६२ के बाद से ही ख्रुश्चेव ने वियतनाम के प्रश्न पर दिलचस्पी लेना बन्द कर दिया था हालांकि वह वियतकांग का समर्थक और अमेरिकन हस्तक्षेप का विरोधी था। परन्तु १९६४ से अमेरिका द्वारा वियतनाम में खुले सैनिक हस्तक्षेप के बढ़ जाने से सोवियत रूस वियतनाम के प्रति अपनी नीति में पूरी तरह सक्रिय हो उठा। जनवरी १९६५ में सोवियत प्रधान मंत्री श्री कोसीगिन स्वयं हनोई गया। चूंकि इन्हीं दिनों संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा उत्तरी वियतनाम के सैनिक अड्डों पर बम वर्षा करने की घोषणा की गई अतः सोवियत प्रधान मंत्री ने भी उत्तरी वियतनाम को आवश्यक सहायता देने की घोषणा की और साथ ही रूसी जेट विमान तथा भूमि से आकाश में फेंके जाने वाले प्रक्षेपणास्त्र वियतनाम पहुंचने लगे। अभी हाल ही में उत्तरी वियतनाम को सहायता देने के बारे में ११ अप्रैल १९६७ को एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए हैं। यह स्पष्ट हो चुका है कि यदि वियतनाम में अमेरिकन सैनिक कार्यवाही बढ़ती रही और अमेरिका द्वारा बम वर्षा बन्द न की गई तो रूसी सेनाओं के लिए यह असंभव हो जायगा कि वे वियतनाम में एक अत्यन्त कठोर रवैया न अपनायें। अमेरिका के खुफिया विभाग को इस बात की खबर लग चुकी है कि रूस की सहायता से उत्तरी वियतनाम में दूरस्थ लक्ष्यों को भेदने वाले 'भूमि-से भूमि प्रक्षेपणास्त्र' छोड़ने के केन्द्र बनाए जा रहे हैं। अब यह लगभग स्पष्ट हो चुका है कि रूस उत्तरी वियतनाम को विशाल सैनिक सहायता देकर उस पर से चीन के प्रभाव को मिटाकर या कम करके स्वयं के प्रभाव को बढ़ाने का इच्छुक है।

अन्त में सोवियत विदेश नीति के भविष्य के संदर्भ में यही कहा जा सकता है कि उसके बारे में न तो कोई भविष्यवाणी ही की जा सकती है और न कोई निश्चित अनुमान ही लगाया जा सकता है। सोवियत विदेश नीति के कुछ सीमित हित हैं जो संभवतः किसी समय से बंधे हुए नहीं हैं। सोवियत चालबाजी एवं इसके हथियार भी बदलते रहते हैं। इस प्रकार यहाँ की विदेश नीति में एक प्रकार का सर्वाधिकारवाद रहता है और इसके व्यवहार पर कोई एकमात्र कठोर व्याख्या नहीं दी जा सकती। जान रेशेटर (John Reshetar) के शब्दों में जबकि हम उस सामान्य रूपरेखा को जानते हैं जिसमें कि सोवियत नेता व्यवहार करते हैं साथ ही उनके सामान्य दृष्टिकोण एवं मूल्यों को भी जानते हैं तो भी हम निश्चित भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि एक विशेष

परिस्थिति में वे क्या करेंगे। हम केवल यह कह सकते हैं कि वे अपने लाभ को अधिक से अधिक बनाना चाहेंगे तथा उसके लिए वे कम से कम जोखिम (Risk) उठाना पसन्द करेंगे।[1] एलेक्स इन्केलेस (Alex Inkeles) का मत है कि सोवियत विदेश नीति में यदि कोई परिवर्तन आया तो वह तीन मुख्य स्रोतों से आ सकता है। पहली संभावना तो यह है कि सोवियत संघ में उत्तराधिकारी के संकट की समस्या कभी भी नहीं सुलझायी जा सकती। जब भी कभी शीर्ष पर शक्ति के लिए खुले रूप में संघर्ष होता है तो बाद में यह स्वाभाविक है कि नये शासक द्वारा पुरानी व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाय। इस संघर्ष के परिणाम से आशा की जाती है कि वह रूस को कुछ प्रजातन्त्र की दिशा में बढ़ाय। दूसरी संभावना यह है कि सोवियत अधिराज्यों का साम्राज्य उखड़ जायगा। हंगरी में क्रान्ति हो गयी युगोस्लाविया निकल गया है इस दृष्टि से यह आशा की जाती है कि सोवियत संघ प्रजातन्त्र की दिशा में जाने की अपेक्षा अधिकाधिक सम्पूर्णतावाद की ओर अग्रसर होगा। तीसरी संभावना यह है कि सोवियत रूस अब औद्योगिक दृष्टि से परिपक्व हो गया है अब वहां का सामाजिक ढांचा तानाशाही में नहीं रह सकेगा। सामाजिक जीवन में परिवर्तन होंगे जो सोवियत समाज के प्रजातंत्रीकरण एवं सोवियत विदेश नीति में परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त करेंगे। यह कहा जाता है कि महत्त्वपूर्ण सामाजिक परिवर्तन हो जाने पर भी रूस में तानाशाही बनी हुई है इसका कारण यह है कि वहां के नेता वर्तमान परिस्थितियों से पुराने तरीकों का सामंजस्य कर लेते हैं। तो भी एक स्थिति ऐसी आ जायगी जबकि इस प्रकार का सामंजस्य पूरी तरह से असंभव बन जायगा। सोवियत संघ में एक ऐसा वर्ग भी है जो कि पश्चिमी प्रजातन्त्र का समर्थक है किन्तु वह बहुत अल्प संख्या में है। इन तीनों ही तत्त्वों एवं संभावनाओं पर ही सोवियत संघ की विदेश नीति का भावी रूप अवलम्बित है।

---

1 "While we know the general framework within which the Soviet leaders operate as well as their general attitudes and values, we can not predict with very much accuracy what they may do in a given situation except to say that they will attempt to maximise their gains with a minimum of risk."

—John S Rishetar In the Foreign Policy of the Soviet Union by Rubinstein page 411

EXERCISES

1. Give a critical lcketch of the foreign policy of Russia since 1945

   १९४५ से रूस की विदेश नीति का आलोचनात्मक विवरण दीजिए।

2. In what respects has the foreign policy of the U.S.S.R. modified in recent years ? Give concrete instances to illustrate your answer

   आधुनिक वर्षों में सोवियत रूस की विदेश नीति किन रूपों में परिवर्तित हुई या सुधरी है ? उत्तर की पुष्टि में ठोस उदाहरण दीजिये।

3. Every manifestation of the Soviet policy during the post war period has made it clear that the Soviet Government of Stalin is pursuing precisely the same aims that were envisaged by Nicholas I and Alexander II." Do you agree ? Give reasons in support of your answer

   "युद्धोत्तर काल में सोवियत नीति की प्रत्येक घोषणा या उसके प्रत्येक प्रकाशन से यह स्पष्ट हो गया है कि स्टालिन की सोवियत सरकार उन्हीं उद्देश्यों का अनुसरण कर रही है जो निकोलस प्रथम और अलेक्जेंडर द्वितीय द्वारा अपनाये गये थे।" क्या आप सहमत हैं ? अपने पक्ष के समर्थन में कारण दीजिए।

4. "Thus Soviet imperialism is a new typical imperialism—more insidious, more dynamic, and ultimately more successful It is a non racial imperialism, which is oriented towards the creation of new governing classes to support its policy among the colonial peoples while retaining for its satraps an overall supervisory role" (Abdurakhman Avtorkhanov) Discuss.

   "सोवियत साम्राज्यवाद साम्राज्यवाद का एक नया प्रकार है यह अधिक गतिशील तथा अधिक सफल है। यह एक अजातीय साम्राज्यवाद है जो कि एक ऐसे शासकीय वर्ग की स्थापना कर देता है जो उस उपनिवेश की जनता का सोवियत नीतियों के लिए समर्थन पा सके और स्वयं उसका निरीक्षण का कार्य संभाल लेता है।"

   (अवतोर्खानोव)

   विवेचना कीजिए।

5 "He (Stalin) ruled in the autocratic tradition of Peter the Great and westernized the economy of the Soviet Union—in the realm of Foreign Policy he followed in the foot steps of the most expansionist of czars. His successors have sought to maintain his tradition" (Alvin Z. Rubinstein) Discuss.

"उसने (स्टालिन ने) पीटर महान् की स्वेच्छाचारी परम्पराओं में शासन किया और सोवियत संघ की अर्थ-व्यवस्था का पाश्चात्यी करण कर दिया। विदेश नीति के क्षेत्र में उसने मुख्यत: विस्तारवादी ज़ारों के पद-चिन्हों का अनुसरण किया। उसके उत्तराधिकारियों द्वारा उसकी परम्परा को निभाना पड़ेगा।" (आल्विन रुबिन्स्टीन) विवेचना कीजिये।

6. Give a brief account of the achievements and failures of post Stalin diplomacy of the Soviet Union.

सोवियत संघ की स्टालिनोत्तर कूटनीति की सफलताओं एवं असफलताओं का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

7 Discuss in brief Soviet Union s relations with other Communist countries of the World.

संसार के अन्य साम्यवादी देशों के साथ सोवियत संघ के सम्बन्धों की संक्षिप्त विवेचना कीजिए।

8. Do you think that foreign policy of Soviet Union under Khrutschev was fundamentally different from that of his predecessor ?

क्या आप इस बात से सहमत हैं कि सोवियत संघ की ख्रुश्चेव के समय की विदेश नीति उसके पूर्ववर्ती नेता (स्टालिन) से मौलिक या आधार भूत रूप से भिन्न थी ?

9 What do you mean by the term "peaceful co-existence"? Discuss it in the context of the U S. S R. diplomacy

"शांतिपूर्ण सह अस्तित्व" से आपका क्या आशय है ? सोवियत कूटनीति के संदर्भ में इसकी विवेचना कीजिए।

10 "The conflict between the two monolithic giants of the

modern world is the dominant reality of the contemporary world politics." Discuss the main causes of the friction between United States of America and Union of Soviet Socialist Republics in the light of the above statement. How can this friction be made up ?

"आधुनिक काल की दो भीमाकार शक्तियों के मध्य संघर्ष ही आधुनिक विश्व राजनीति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य है।" इस कथन के प्रकाश में संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ के मध्य पारस्परिक तनाव के कारणों की विवेचना करिये। इस तनाव को कैसे कम किया जा सकता है ?



भारत की विदेश नीति

(THE FOREIGN POLICY OF INDIA)

१ भारत में स्वतन्त्रता का सूर्योदय

२ स्वतन्त्रता से पूर्व तक के भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास की कहानी

३ स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति

(i) स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति के आधार

(ii) भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्व या स्रोत

(iii) भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषतायें

(असंलग्नता की नीति शांतिवाद की नीति मैत्री की नीति सेतुबन्ध की नीति साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद विरोधी नीति जाति एवं वर्ण भेद विरोधी नीति सहअस्तित्व में विश्वास पंचशील के सिद्धान्त पंचशील का मूल्यांकन)

४ विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और संयुक्त राष्ट्र संघ में भारत का योगदान

५. भारत–पाक सम्बन्ध

६ भारत–चीन सीमा विवाद और भारतीय विदेश नीति

७ भारत और संयुक्त राज्य अमरीका

८. भारत और सोवियत संघ

९ भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन

१० भारतीय विदेश नीति और अणु-आयुधों के निर्माण का प्रश्न

'माओ के तिब्बत अधिग्रहण का मौलिक महत्व चीन की सीमाओं को सीधे भारत तक बढ़ाने और वहाँ तक ठीक समय पर ठीक एक विधि के द्वारा प्रहार करने के लिए समर्थ सकें रहने में निहित है जब तक कि भारत प्रसन्नता से अपने को साम्यवादी गुट का साथी घोषित न कर दे। परन्तु माओ और स्टालिन के क्रोध से बचने के लिए उनके चरणों पर झुक जाना किसी भी प्रकार से एक व्यावृत्ति इंगित (a saving gesture) नहीं है। यह एक ऐसा इंगित है जिसका अर्थ है हमारे संपूर्ण आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं का विनाश। जो इंगित हमें बचा सकता है वह है—चीन के प्रति एक दृढ़ नीति का अनुसरण उसके दुष्ट इरादों का प्रत्याख्यान करना (denounce) बिना किसी आरक्षण के (Without reservation) संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ खड़े होना और अपने आत्म सम्मान की रक्षा करते हुए प्रत्येक ऐसा प्रबन्ध करना जिससे हमारी ओर से अमेरिकन हस्तक्षेप और भारत पर चीन की कुदृष्टि से अमेरिकन प्रतिरोध का मार्ग प्रशस्त हो सके। सैनिक रूप से चीन [illegible] से लगभग दस गुना शक्तिशाली है परन्तु प्रजातन्त्र की अमेरिकन रक्षा व्यवस्था के शूलाग्र (Spear-head) के रूप में भारत सरलता से माओ की अग्रसरित्व वाली वृत्तियों को रोक सकता है।"

—श्री अरविन्द घोष

"यदि भारत में लोकतंत्रीय शासन असफल होता है तो सम्पूर्ण एशिया में समूचा स्वातन्त्र्य जगत भी भीषण खतरा लगेगा। मेरी सम्मति में साम्यवादियों द्वारा चीन जीते जाने से लगने वाले धक्के की अपेक्षा यह अधिक भयंकर होगा।"

—चेस्टर बोल्स

भारत के स्वाधीनता आन्दोलन में तब एक क्रान्तिकारी ऐतिहासिक मोड़ आया जब २६ जनवरी, १६३० को कांग्रेस ने यह घोषणा कर दी कि—

"... हमारा दृढ़ विश्वास है कि स्वतन्त्रता हम भारतवासियों का अनुपहरणीय अधिकार है ... यदि कोई सरकार किसी देश की जनता को इन अधिकारों से वंचित करती है अथवा उस पर अत्याचार करती है तो जनता को अधिकार है कि उसे बदल दे या पदच्युत कर दे ... ।

इसके बाद जो एक तरफ तो भारत का स्वाधीनता संघर्ष निरन्तर उग्रतर होता गया और दूसरी ओर विदेशी शक्ति भी अपने सीमित क्षेत्रों में भारत की स्वतन्त्रता के प्रति सराहनीय प्रयास करने लगी। द्वितीय महायुद्ध में अमेरिका के प्रविष्ट होने पर वहाँ के तत्कालीन राष्ट्रपति फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने भारत की स्वतन्त्रता का पूरा समर्थन किया और ब्रिटिश प्रधानमन्त्री श्री चर्चिल से अनेक बार इस बात का आग्रह किया कि ब्रिटिश शासन भारत समस्या का शीघ्रातिशीघ्र समाधान करे। २५ जुलाई, १६४२ को राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने अपने एक सन्देश में चीन के जनरल च्यांगकाई शेक से यह अनुरोध किया कि भारत में स्वतन्त्रता आन्दोलन के लिए हस्तक्षेप करें। १ अगस्त १६४२ को श्री रूजवेल्ट ने च्यांगकाई शेक को भेजे गये अपने उत्तर में लिखा—

"यह उलझनपूर्ण समस्या सभी के लिए एक दुर्भाग्यपूर्ण बात है ... मेरा और आपका कार्य ब्रिटिश सरकार श्री गांधी और उनके अनुयायियों को यह स्पष्ट कर देना है कि हमें ब्रिटिश सरकार अथवा कांग्रेस को निर्णय के लिए बाध्य करने का नैतिक अधिकार नहीं है लेकिन इसके साथ ही हमें दोनों पक्षों को यह भी स्पष्ट कर देना चाहिए कि हम उनके मित्र हैं और यदि हमारी सहायता की अपेक्षा हुई तो हम सहर्ष उसके लिए प्रस्तुत हैं ...।"

भारत की स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में अमेरिकन शासन ने जो गहरी रुचि ली उसका विस्तृत वर्णन हम उन कागज पत्रों को पढ़ने से भली प्रकार मिलता है जो अमेरिकन विदेश-विभाग द्वारा १६६० में 'Foreign Relations Series for the year 1942' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित की गई है। अन्ततोगत्वा युद्ध समाप्त होने के उपरान्त गोरी फिरङ्गी सरकार को तत्कालीन अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों और देश की राजनीतिक स्थिति के दबाव से सात समुन्दर पार अपने देश लौट जाना पड़ा यद्यपि चलते-चलते उसने अखण्ड भारत को दो खण्डों (भारत और पाकिस्तान) में बाँट दिया। परिस्थितियों-वश भारतीय नेताओं ने भी इस विभाजन को स्वीकार कर लिया।

भारत को दो नये राष्ट्रों (भारत और पाकिस्तान) में विभाजित कर अंग्रेज १५ अगस्त १६४७ को भारत से भिन्न हो गये और इस प्रकार

अन्तर्राष्ट्रीय समाज में दो नये स्वतन्त्र राष्ट्रों का उदय हुआ। पाकिस्तान का भाग मुस्लिम लीग के नेता श्री मुहम्मदअली जिन्ना ने और शेष भारत का भाग पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने सम्भाला। देश के विभाजन की योजना के समर्थन में सरदार पटेल ने कहा कि यदि हम ऐसा न करते तो सम्पूर्ण भारत पाकिस्तान के मार्ग पर चला जाता। हमने देश की स्वतन्त्रता के लिए कार्य किया है और हम चाहते हैं कि देश का जितना अधिक भाग स्वतन्त्र एवं सुदृढ़ हो सके उतना ही अच्छा है अन्यथा न अखण्ड हिन्दुस्तान होगा और न पाकिस्तान।"

स्वतन्त्रता से पूर्व तक के भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास की कहानी

यह सत्य है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ही भारत अपनी इच्छानुसार अपनी विदेश नीति का निर्धारण करने लगा लेकिन इससे यह समझ लेना कि ब्रिटिश काल में भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का कोई अस्तित्व ही नहीं रहा एक गलत एवम् भ्रामक दृष्टिकोण होगा। हां यह अवश्य है कि उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का यह विकास भारत में ब्रिटिश शासन के लगभग अन्तिम तीन दशकों में ही हो पाया।

वैसे तो प्राचीनकाल से ही भारत का सम्बन्ध अनेक विदेशी राष्ट्रों से रहा है किन्तु ब्रिटिश राज्य की स्थापना के फलस्वरूप भारत का स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त हो गया और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अन्तर्गत वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक अङ्ग माना जाने लगा। इसका परिणाम यह निकला कि न तो स्वतन्त्र रूप से भारत किसी देश के साथ कोई सन्धि ही कर सकता था और न किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन या सङ्गठन में कोई भाग लेना ही उसके लिए सम्भव था। ऐसे अवसरों पर अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत का प्रतिनिधित्व ब्रिटेन में बैठी हुई ब्रिटिश सरकार ही किया करती थी। दूसरे शब्दों में भारत का अपना कोई स्वतन्त्र अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व नहीं था भारत गुलाम था और एक गुलाम का वैदेशिक सम्बन्धों से किसी प्रकार का वास्ता नहीं हो सकता था—यह ब्रिटिश शासन का निर्णय था।

ब्रिटिश साम्राज्य के अन्तर्गत कनाडा आस्ट्रेलिया दक्षिणी अफ्रीका आदि कुछ स्वशासित डोमीनियन भी थे जिनकी अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति १९वीं शताब्दी तक भारत के समान ही थी। चूंकि ये स्वशासित उपनिवेश थे अतः नीति निर्धारण के विषय में ब्रिटिश सरकार ने उनसे विचार-विमर्श करने का निर्णय लिया और इसके लिए लन्दन में सन् १८८७ में पहले औपनिवेशिक सम्मेलन (Colonial Conference) का आयोजन हुआ। भारत को इस सम्मेलन में भाग लेने के अधिकार से वंचित रखा गया। १८८७ के बाद १८९७ १९ २ १९०५ १९०७ में अनेक औपनिवेशिक सम्मेलन हुए लेकिन भारत इनमें से किसी में भी भाग न ले सका।

इसी मध्य अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति तेजी से बिगड़ती गई और विश्व प्रथम

महायुद्ध के विस्फोट से कम्पित हो गया। भारत ने महायुद्ध में तन-मन से ब्रिटेन की पूरी सहायता की और इसी तरह की सहायता ब्रिटेन को अन्य स्व-शासित उपनिवेशों से भी मिली। युद्ध के बाद भारत एवं अन्य सभी उपनिवेश यह मांग करने लगे कि ब्रिटिश विदेश-नीति के निर्धारण में भाग लेने का उन्हें अधिकार मिलना चाहिए। इस मांग पर विचार करने के लिए सन् १९१७ में पुनः एक औपनिवेशिक सम्मेलन का आयोजन हुआ। भारत ने स्पष्ट शब्दों में यह मांग प्रस्तुत की कि युद्ध काल में ब्रिटिश शासन के लिये किए गये उसके बलिदानों को देखते हुए भारत के विचारों को उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए और सम्मेलन में भाग लेने का उसे अधिकार मिलना चाहिए। फलतः १९१७ के इस औपनिवेशिक सम्मेलन में भारत के शामिल होने की बात मान ली गई। इस तरह १९१७ में सर्वप्रथम भारत एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का सदस्य बना। औपनिवेशिक सम्मेलन का नाम बदल कर Imperial Conference रख दिया गया जो बाद में चलकर 'British Commonwealth' कहलाया।

१९१७ के "इम्पीरियल सम्मेलन" ने यह निश्चय किया कि युद्धोत्तर शांति सम्मेलन में भाग लेने के लिये इम्पीरियल सम्मेलन के सभी सदस्य राज्यों को प्रवेश दिया जाना चाहिये। अमेरिका और फ्रांस ने इस निश्चय का विरोध किया और यह तर्क प्रस्तुत किया कि किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में शामिल होने के लिये एक राज्य को पूर्ण स्वतन्त्र होना चाहिये। किन्तु कनाडा का आग्रह था कि यदि कम युद्ध प्रयास करने वाले बेल्जियम और सर्बिया आदि देश शांति सम्मेलन में प्रतिनिधित्व कर सकते हैं तो उनसे अनेक गुणा अधिक युद्ध प्रयास करने वाले कनाडा, आस्ट्रेलिया, भारत आदि देशों को प्रतिनिधित्व न्याय संगत होगा। ब्रिटिश सरकार ने कनाडा के प्रस्ताव का समर्थन किया और तब १९१९ के पैरिस शांति सम्मेलन में अन्य स्व-शासित ब्रिटिश उपनिवेशों के साथ भारत को भी भाग लेने का अधिकार मिल गया। भारत के लिये यह पहला मौका था कि वह एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में स्वतन्त्र रूप से शामिल हुआ। यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण न होगा कि पैरिस का शांति सम्मेलन भारत के अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकास में एक महत्वपूर्ण मील-स्तम्भ था।[1]

पैरिस के शांति सम्मेलन में भारत के प्रतिनिधि न केवल शामिल हुए बल्कि उनके द्वारा स्वतन्त्र रूप से वरसाय की संधि एवम् अन्य शांति संधियों पर हस्ताक्षर भी किये गये। चूंकि राष्ट्र संघ का विधान (Covenant of the League of Nations) वरसाय संधि एवम् अन्य शांति संधियों का अभिन्न अंग था, अतः यह स्वाभाविक परिणाम निकला कि इन संधियों के

1 International Status of India Memorandum presented to the Indian Statutory Commission by the Indian office Report of the Indian Statutory Commission (1930) Vol V p. 1632 36.

हस्ताक्षरकर्ता होने के नाते भारत स्वतः ही राष्ट्र संघ का मौलिक सदस्य हो गया।[1] यह अपने आप में उल्लेखनीय घटना थी कि राष्ट्र संघ के सभी सदस्य राज्यों में केवल मात्र भारत ही एक ऐसा देश था जो पूर्ण स्वतन्त्र राज्य नहीं था। जो भी हो राष्ट्र संघ की सदस्यता के कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय विधि के अन्तर्गत एक 'अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति" बन गया।

युद्धोत्तर काल के प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में भारत को भाग लेने का अवसर मिला और स्वतन्त्र रूप से उसने अनेक संधि समझौतों पर हस्ताक्षर भी किये। सीमित अर्थ में विदेशों में भारत का कूटनीतिक प्रतिनिधित्व होने लगा।[2]

स्पष्ट है कि पराधीन होते हुए भी ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत ने अपने एक अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व का विकास कर लिया और इसीलिए जब १९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई तो स्वतन्त्रता प्राप्त करने से दो वर्ष पूर्व ही भारत ने सान फ्रांसिस्को सम्मेलन में भाग लेकर संघ के चार्टर पर स्वतन्त्र रूप से हस्ताक्षर किये और स्वयं को संघ का एक प्रारम्भिक सदस्य बना लिया।

स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक नीति आदर्श
(Foreign Policy of Free India Ideals)

भारत के स्वतन्त्र होने और उसके अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्तित्व के विकसित होने की उपरोक्त पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक-नीति पर विस्तार से चर्चा करेंगे। वास्तव में भारत के नागरिक होने के नाते हमारा यह महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है कि हम अपने देश की वैदेशिक-नीति को भली प्रकार समझें और देखें कि अन्तर्राष्ट्रीय जगत में हमारे देश का क्या स्थान है और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में उसने क्या महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है, क्या भूमिका वह वर्तमान में अदा कर रहा है और उसकी वैदेशिक नीति भविष्य में शान्ति और युद्ध के भय से त्रस्त मानवता को सहारा देने में कहाँ तक सहायक होगी।

भारत की वैदेशिक नीति का समुचित और स्पष्ट अध्ययन करने के लिये प्रस्तुत अध्याय में हमारा क्रम यह होगा कि सर्वप्रथम हम भारत की वैदेशिक नीति के आदर्शों की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत करेंगे। तत्पश्चात् भारत की वैदेशिक नीति के निर्माणक तत्त्वों पर विचार किया जाएगा और फिर उसकी विशेषताओं एवं साधनों विभिन्न देशों से उसके सम्बन्धों आदि पर प्रकाश डाला जाएगा।

---

1. D.H Miller | The drafting of the covenant: Vol. I, page 164
2. J C. Coyajee India and the League of Nations, p.p 23-26.

स्वतन्त्र भारत की विदेश-नीति के आदर्श

यद्यपि स्वतन्त्र भारत की विदेश नीति का आरम्भ तो १५ अगस्त १९४७ से ही माना जा सकता है किन्तु इसकी आधारशिला देश के स्वाधीन होने के बहुत पूर्व ही देश के कर्णधारों–विशेषतया श्री नेहरू द्वारा रखी जा चुकी थी और इस नीति निर्धारण पर तत्कालीन राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ा था। उदाहरणार्थ अणु-शक्ति का आविष्कार हो चुका था। शीत-युद्ध का प्रभाव उत्तरोत्तर बढ़ता हो जा रहा था तथा विश्व की शांति एवम् सुरक्षा के साथ साथ उसका अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया था। भावी युद्ध को टालने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ का जन्म हो गया था। पश्चिमी और साम्यवादी दोनों ही गुटों की प्रतिद्वंद्विता बड़ी तीव्रता से रूप बदल रही थी। एशिया और अफ्रीका महाद्वीप करवट बदल रहा था। यहां सदियों से स्थित दासता की जंजीरें एक के बाद एक टूटना प्रारम्भ हो चुकी थीं। अनेक कारणों से विश्व राजनीति में एशिया महाद्वीप का महत्व बढ़ गया था। इन सभी अन्तर्राष्ट्रीय विकासों के साथ-साथ देश के आन्तरिक रूप में महत्वपूर्ण परिवर्तन किये जा रहे थे। अनेक संवैधानिक एवम् राजनीतिक विकासों के साथ-साथ देश की अर्थ व्यवस्था तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन में भी उल्लेखनीय क्रान्तिकारी विकास हो रहे थे। इन्हीं आन्तरिक एवम् बाह्य परिस्थितियों के ढांचे में भारतीय राजनीतिज्ञ और नेताओं ने देश की वैदेशिक-नीति के रूप को ढाला। उन्होंने समझ लिया कि पूंजीवादी अथवा साम्यवादी किसी भी गुट को अपनाने से भारत अपनी स्वतन्त्रता को शैशवावस्था में ही सैनिक शिविर में परिणत हो जाएगा और नव प्राप्त स्वाधीनता की रक्षा करने तथा भारत की करोड़ों जनता को आर्थिक गुलामी से मुक्ति दिलाने के भागीरथ प्रयासों को सफल बनाने के महती उद्देश्यों से वंचित हो जाने का खतरा पैदा हो जाएगा। सम्भवतः यही सब कुछ सोच कर भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के महान् सेनानी और भारत के नीति निर्माता स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू ने सितम्बर १९४६ में नई दिल्ली में आयोजित एक प्रेस सम्मेलन में स्वाधीन भारत की भावी वैदेशिक-नीति की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए यह स्पष्ट कर दिया था कि—

"वैदेशिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करेगा और गुटों की खींचतान से दूर रहते हुए संसार के समस्त पराधीन देशों को आत्मनिर्णय का अधिकार प्रदान कराने तथा जातीय भेदभाव की नीति का दृढ़तापूर्वक उन्मूलन करेगा। साथ ही वह संसार के अन्य स्वतन्त्रता प्रेमी और शान्तिप्रिय राष्ट्रों के साथ मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग और सद्भावना के प्रसार के लिए भी निरन्तर प्रयत्नशील रहेगा।"

श्री नेहरू ने भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ से पूर्ण सहयोग करने का आश्वासन दिया और अपनी स्थिति तथा हैसियत के अनुसार विश्व शांति के लिए सक्रिय रूप से कार्य करने हेतु भारत की सेवायें अर्पित की। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में यह बता दिया कि संयुक्त राष्ट्र संघ में स्वाधीन भारत के प्रतिनिधि की सदैव यह नीति रहेगी कि सभी औपनिवेशिक तथा पराधीन

लोगों को स्वतन्त्रता प्राप्त हो और अपने भविष्य का स्वयं निर्धारण करने का उन्हें पूरा २ अधिकार मिले।

स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक-नीति की उपरोक्त रूपरेखा वस्तुतः एक संक्षिप्ततम और स्पष्टतम व्याख्या थी और आज भी भारत की आधारभूत वैदेशिक-नीति के यही मूल स्तम्भ हैं।

भारतीय राजनीतिज्ञ जातीय भेदभाव, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद आदि के उन्मूलन के पूर्ण पक्षपाती थे तथा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करने में विश्वास रखते थे। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता द्वारा निपटाये जाने की नीति को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिए और राज्यों व राष्ट्रों में परस्पर सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने चाहिये। इन सभी बातों को भारत के कांग्रेस दल द्वारा सन् १९४८ के अपने जयपुर अधिवेशन के प्रस्तावों में स्पष्ट कर दिया गया था। इसमें कहा गया था कि—"ये सिद्धान्त विश्व शान्ति की वृद्धि राष्ट्रों की स्वतन्त्रता जातीय समानता और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद की समाप्ति के लिए हैं। कांग्रेस कई पीढ़ियों से उपनिवेशवाद के विभिन्न रूपों से पीड़ित होने वाले एशिया और अफ्रीका के देशों की स्वतन्त्रता के लिये विशेष रूप से उत्सुक है। विश्व शान्ति और सहयोग के कार्य को बढ़ाने के उद्देश्य से भारत संयुक्त राष्ट्र संघ में सम्मिलित हुआ है। भारत की वैदेशिक नीति का यह लक्ष्य होना चाहिये कि वह सभी देशों से मित्रतापूर्ण और सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करे तथा विश्व शान्ति को संकट में डालने वाले, संसार को प्रतिद्वन्द्वी गुटों में विभक्त करने वाले दलों के साथ सैनिक या इसी प्रकार के अन्य समझौते करने से बचा रहे।"

जब भारत स्वतन्त्र हुआ तो उसकी वैदेशिक नीति की इन आधारभूत बातों को संविधान की धारा ५१ में समाविष्ट कर दिया गया। संविधान की इस धारा में भारत की वैदेशिक नीति को इस प्रकार बताया गया है—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के लिये प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करना।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को मध्यस्थता (Arbitration) द्वारा निपटाये जाने की नीति को प्रत्येक सम्भव तरीके से प्रोत्साहन देना।

(३) सभी राज्यों और राष्ट्रों के मध्य परस्पर सम्मानपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखना।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय कानून के प्रति और विभिन्न राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों में सन्धियों के पालन के प्रति आस्था बनाये रखना।

भारत की विदेश नीति के बारे में यह कहा जाए कि यह बहुत सीमा तक १८वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में स्थापित संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रारम्भिक नीति से मेल खाती है तो गलत न होगा। अमेरिका की प्रारम्भिक

नीति को स्पष्ट करते हुए १७ सितम्बर १७९६ को जार्ज वाशिंगटन ने कहा था कि—

"विदेशी राष्ट्रों के सम्बन्ध में हमारे लिये आचरण का महान नियम यह है कि अपने व्यापारिक सम्बन्धों को बढ़ाते हुए हम उनसे जहाँ तक सम्भव हो कम से कम राजनीतिक सम्बन्ध रखें। हमारी सच्ची नीति यह है कि विदेशी विश्व के किसी भी भाग से स्थायी मैत्री सन्धियों से बचे रहें।"[1]

अमेरिका की उपरोक्त प्रारम्भिक नीति के समान ही नवोदित स्वतन्त्र भारत भी असंलग्नता (Non alignment) की नीति पर आचरण कर रहा है। इस बात के समर्थन में १५ मार्च १९५० को लोकसभा में कहे गये भारतीय प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के ये शब्द उल्लेखनीय हैं—

"१५० वर्ष पहिले पश्चिमी जगत सब प्रकार के साम्राज्यवादी और क्रान्तिकारी युद्धों के कारण विघटित हो रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य से पृथक होकर स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद संयुक्त राज्य अमेरिका स्वाभाविक रूप से इन परिवर्तनों से प्रभावित हुआ। फिर भी विदेशी देशों के साथ सहानुभूति होने पर भी इसने यूरोप की तत्कालीन परिस्थिति में लिप्त होने से अपने को बचाये रखा क्योंकि उस अवस्था में उसके लिए यह स्वाभाविक था। यह उदाहरण यद्यपि आजकल की परिस्थितियों में सर्वथा उपयुक्त नहीं है किन्तु फिर भी इसका बड़ा महत्व है। नवीन स्वतन्त्रता और स्वाधीनता प्राप्त देश के लिये अनुसरण की जाने वाली यही स्वाभाविक नीति है।"

भारत की वैदेशिक नीति के आदर्शों के उपरोक्त व्याख्यात्मक वर्णन के बाद यदि निष्कर्ष रूप में हम इन्हें प्रकट करना चाहें तो कह सकते हैं कि भारतीय वैदेशिक नीति के प्रमुख आदर्श निम्नलिखित हैं—

१ अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों के प्रति आस्था।

२ अन्तर्राष्ट्रीय शांति में विश्वास और उसको हर सम्भव उपायों से बनाये रखना।

३ सभी राष्ट्रों से पारस्परिक मैत्री सम्बन्धों की स्थापना करना।

४ सैनिक गुटबंदियों और सैनिक समझौतों से अपने आपको पृथक रखना।

५ सैनिक गुटबन्दियों और सैनिक संगठनों या गठबंधनों को निरुत्साहित करना।

६ उपनिवेशवाद का चाहे वह कहीं भी किसी भी रूप में हो उसका विरोध करना।

७ प्रत्येक प्रकार की साम्राज्यवादी भावना को निरुत्साहित करना।

८ उन देशों की जनता की सक्रिय सहायता करना जो उपनिवेशवाद जातिवाद और साम्राज्यवाद से पीड़ित हों।

---

1 Schuman International Politics, page 641

भारत की विदेश नीति के निर्धारक तत्व या स्रोत
(Determining Factors of Indian Foreign Policy)

साधारणतया किसी भी देश की विदेश नीति एक नहीं अपितु विभिन्न तत्वों के आधार पर विकसित होती है। ये तत्व प्रधान रूप से भौगोलिक ऐतिहासिक एवं आर्थिक होते हैं। भारत की वैदेशिक नीति भी इस सिद्धान्त से अपवाद नहीं है और इसके अनेक निर्धारक तत्व अथवा स्रोत रहे हैं और इन तत्वों ने इसके रूप को ढाला है। इसके पहिले कि हम भारत की विदेश नीति पर चर्चा करें उचित यही होगा कि पहिले इसके निर्धारक तत्वों पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाए।

भारत की विदेश नीति के निर्माण में जिन तत्वों का महत्व रहा है वे निम्नलिखित हैं—

(१) भौगोलिक परिस्थितियाँ
Geographical Factors)

एक देश की वैदेशिक नीति के निर्धारण में उसकी भौगोलिक परिस्थितियों का विशेष हाथ होता है। श्री के. एम. पणिक्कर ने लिखा है—किसी देश की नीति उसकी भौगोलिक परिस्थितियों से निश्चित होती है। जब नीतियों का लक्ष्य प्रादेशिक सुरक्षा होता है तो उसका निर्धारण मुख्य रूप से भौगोलिक तत्वों से हुआ करता है। भारत एशिया महाद्वीप के दक्षिण में स्थित है यह तीन ओर से समुद्र से घिरा हुआ है और उत्तर में उसकी सीमाओं का निर्धारण पर्वतराज हिमालय के द्वारा होता है। इसकी ३५०० मील लम्बी समुद्री सीमा और ८२०० मील लम्बी स्थलीय सीमा है। भारत की ये भौगोलिक परिस्थितियाँ उसकी विदेश नीति के निर्धारण में भूतकाल में प्रभावी भूमिका अदा करती रही हैं वर्तमान में कर रही हैं और भविष्य में भी निश्चित रूप से करती रहेंगी।

सामुद्रिक सीमा—वैदेशिक नीति के दृष्टिकोण से भारत की ३५०० मील लम्बी समुद्री सीमा उसकी ८२०० मील लम्बी स्थलीय सीमा की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। भारत तीन दिशाओं में समुद्र से घिरा हुआ है जिसकी अवहेलना के परिणाम अत्यन्त ही दूरगामी हो सकते हैं। वैदेशिक नीति की दृष्टि से भारत की सामुद्रिक सीमा तीन दृष्टियों से अत्यधिक महत्वपूर्ण है—

(i) शताब्दियों का ऐतिहासिक अनुभव यह बताता है कि हिन्द महासागर पर अधिकार रखने वाली शक्तियाँ सरलता से भारत पर अपना अधिकार जमा सकती हैं। यह सर्वविदित है कि पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, ब्रिटिश और डच आदि शासकों ने सामुद्रिक रास्तों से ही भारत में प्रवेश किया। मुगल काल में औरंगजेब के समय मक्का आने-जाने वाली शाही खानदान की बेगमों की इज्जत और सम्मान इसीलिए असुरक्षित थी कि भारत की सारी समुद्री मार्ग यूरोपियन शक्तियों के हाथों में थी।

(ii) भारत का अधिकांश विदेशी व्यापार हिन्द महासागर के ही द्वारा होता है। यदि इस समुद्र पर भारत के किसी विरोधी राज्य का नियंत्रण स्थापित हो जाए तो वह इस व्यापारिक मार्ग को बन्द करके भारत की सम्पूर्ण आर्थिक व्यवस्था को तहस नहस कर सकता है। अतः भारत की विदेश नीति के लिए यह परमावश्यक है कि हिन्द महासागर पर प्रभुत्व रखने वाली शक्ति के साथ उसके सम्बन्ध मित्रतापूर्ण हों। सदा की भांति आज भी ग्रेट ब्रिटेन की नौ-शक्ति का ही साम्राज्य हिन्द महासागर पर कायम है। अतः चाहे ब्रिटिश युग में अंग्रेजों के साथ हमारा कितना ही संघर्ष और विरोध चला हो लेकिन भारत के हित में यही उचित है कि वह तब तक ब्रिटेन से अपने सम्बन्धों में बिगाड़ न आने के प्रति सावधान रहे जब तक कि उसकी नौ शक्ति ब्रिटिश नौ-शक्ति के समकक्ष नहीं हो जाती। भारत के ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल में बने रहने का यही एक मुख्य कारण है।

(iii) हिन्द महासागर का तीसरा महत्त्व रक्षात्मक है। इस विशाल समुद्र तट की रक्षा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि भारत प्रबल नौ शक्ति का विकास करे। भारत के लिए यह एक मूर्खतापूर्ण नीति होगी कि वह नौ शक्ति की उपेक्षा करते हुए पूरी तरह शक्तिशाली स्थल सेना पर निर्भर रहे।

स्थलीय सीमा—भारत का ८२०० मील लम्बा स्थलीय सीमान्त उत्तर में पाकिस्तान, चीन, नेपाल, अफगानिस्तान और बर्मा के साथ मिला हुआ है। उत्तरी काश्मीर अफगानिस्तान से जुड़ा हुआ है और सोवियत संघ की सीमाओं से यह कुछ ही मील दूर है। भारत के उत्तर में संसार की सर्वोच्च और अत्यन्त दुर्गम हिमालय की पर्वत शृंखलायें हैं जो १५०० मील लम्बी हैं। यद्यपि यह दूरगामी पर्वतमाला अतीत में भारत की सुरक्षा के लिए सजग अजेय प्रहरी का काम करती रही है किन्तु वायुयानों और प्रक्षेपणास्त्रों आदि के इस युग में यह सोचना कि हिमालय हमें उत्तर की दिशा से होने वाले आक्रमणों से सुरक्षा प्रदान कर सकेगा सर्वथा भ्रान्तिमूलक है। चीन का आक्रमण इस दिशा में भारत की आंखें खोल देने के लिए पर्याप्त है। इन परिस्थितियों में वैदेशिक नीति की दृष्टि से भारत के लिए यह सर्वथा उचित है कि वह दक्षिण में समुद्री सीमा सुरक्षित बनाये रखने के लिए ब्रिटेन से मैत्री सम्बन्ध बनाये रखे और उत्तर में अपनी स्थिति सुरक्षित करने के लिए साम्यवादी देशों से अनुकूल सम्बन्ध रखने की चेष्टा करे। यही कारण है कि भारत की विदेश नीति का यह एक प्रमुख लक्ष्य है कि वह पूर्व और पश्चिम के गुटों में दोनों ही पक्षों से मेल बनाये रखना अच्छा समझता है। भारत की विदेश नीति-निर्माता यह बात भली प्रकार समझ चुके थे कि किसी एक पक्ष के साथ सैनिक सन्धियों में सम्मिलित होना दूसरे पक्ष को रुष्ट करना और फलस्वरूप उस ओर की सीमा को असुरक्षित बनाना होगा। बर्मा, नेपाल, चीन, अफगानिस्तान, सोवियत संघ और पाकिस्तान आदि के प्रति भारतीय दृष्टिकोण को हमें इसी आधार पर समझना चाहिए।

भारत की वैदेशिक नीति में भौगोलिक परिस्थितियों की कितनी

महत्वपूर्ण भूमिका है—इसका एक स्पष्ट आभास हमें १८ मार्च १९५० को भारतीय संसद में कहे गये प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के इन शब्दों से होता है 'हम एशिया के सामरिक दृष्टिकोण से महत्वपूर्ण भाग हिन्द महासागर के मध्य हैं। अतीत एवं वर्तमान कालों में हमारा सम्बन्ध पश्चिमी एशिया दक्षिण-पूर्वी एशिया तथा सुदूरपूर्वी एशिया के साथ रहे हैं। यदि हम चाहें तो भी इस तथ्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।'[1]

डा० जे० सी० कुन्द्रा (Dr J C. Kundra) ने लिखा है—

'भारत की भौगोलिक स्थिति से जो महत्वपूर्ण तथ्य निकलता है वह यह है कि पश्चिमी गुट के मुख्य साझेदारों की अपेक्षा वह साम्यवादी संसार अथवा उसके मुख्य साझेदारों (रूस और चीन) के अधिक निकट है। परिणाम स्वरूप अपने पड़ोसियों के साथ रहने के ठीक तरीके की खोज करना उसके लिए उनकी अपेक्षा अधिक आवश्यक है जो उससे दूरी पर स्थित हैं। यह बात अवश्य दूसरी है कि उसे यह विश्वास हो जाए कि उसके पड़ोसी उस पर आक्रमण करने की इच्छा रखते हैं। दूसरी तरफ भारत इस तथ्य की भी अवहेलना नहीं कर सकता कि पश्चिमी गुट की नौ-सेना हिन्द महासागर एवं संसार के अधिकांश समुद्रों पर हावी है। यदि भारत दोनों गुटों के बीच तटस्थता की नीति का अनुसरण करना चाहता है तो ऐसा करने में उसकी इच्छा सम्भवतः यह है कि विस्फोटकारी सम्भावना के केन्द्रों को यथा-सम्भव अपनी सीमाओं से दूर रखा जाए। स्पष्टतः ऐसी नीति उसके राष्ट्रीय हितों स्वाधीनता और सम्प्रभुता से तब ही मेल खा सकती है जब उसे यह विश्वास हो कि दोनों गुटों में से उसे किसी से भी खतरा नहीं है।'[2]

---

1 "We are in a strategic part of Asia set in the centre of the Indian Ocean with intimate past and present connections with Western Asia South East Asia and Far Eastern Asia Even if we could, we could not want to ignore this fact.

—Jawahar Lal Nehru.

2. "The important fact that emerges from the geographical position of India is that sh^ is much more close to th^ communist world or to put it more precisely to the principal partners in the communist block [China and Russia] than she is the corresponding principels in the Western block. The necessity of India therefore to find a modus vivendi with her neighbours is gr ater than those who are at a distance unless, of course she is convinced that the neighbours have aggressive intentions against her .. .. On th oth^r hand India cannot ignore the fact that the nstives of the Western block dominate the Indian Ocean and most of the water surface of the world. In India chooses to pursue a policy of neutrality between the two blocks her desire would, probably be to keep the c.ntres of

गाई विन्ट (Guy Wint) ने सन् १९४७ में यह लिख दिया था कि ब्रिटिश सत्ता के समाप्त होने पर भी भौगोलिक परिस्थितियों के कारण भारत की विदेश नीति में कोई अन्तर नहीं आयगा किन्तु भौगोलिक परिस्थितियाँ के सुनिश्चित एवं यथा-पूर्व बने रहने के कारण इसके वास्तविक हित (Essential interests) वैसे ही बने रहेंगे। ये हित मुख्यतः हैं—(i) भारत पर जिन सीमावर्ती एवं अन्य देशों से आक्रमण हो सकता है उन सबों साथ तटस्थता या मित्रता। ये देश ईरान ईराक अफगानिस्तान चीन लङ्का मलाया हिन्द चीन स्याम इस ईस्ट इण्डीज आदि हैं (ii) मध्य पूर्व बर्मा तथा ईस्ट इण्डीज से तेल की प्राप्ति (iii) भारत के सीमावर्ती राज्यों में बसने वाले भारतीयों का कल्याण और भारतीय व्यापार की वृद्धि (iv) हिन्द महासागर में भारत की सुरक्षा और व्यापार के आधारभूत समुद्री तथा हवाई मार्गों की सुरक्षा एवं (v) बाह्य जगत में और सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के मामले में अपने अतीत के इतिहास और संस्कृति के अनुरूप महत्वपूर्ण भाग लेने की आकांक्षा।"

(२) आर्थिक और सैनिक तत्त्व
(Economic and Military factors)

विदेश नीति के निर्माण में आर्थिक तत्त्वों का भी हाथ होता है। भारत की विदेश नीति के निर्माण में आर्थिक तत्त्वों का विशेष रूप से स्थान है जो इन तथ्यों से प्रकट होता है—

(i) आर्थिक दृष्टि से भारत का अधिकांश व्यापार पाश्चात्य देशों के साथ हो जाने में संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन तथा राष्ट्र मण्डल के अन्य देश प्रमुख हैं। दुर्भाग्यवश भारत आर्थिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश है। अतः उसे अपनी उन्नति के लिए अधिकांशतः पाश्चात्य पूँजीवादी देशों की आर्थिक सहायता पर निर्भर रहना पड़ता है। खाद्यान्न के मामले में भारत की दशा और भी बुरी है। खाद्यान्नों की प्राप्ति हेतु यह विदेशों पर मुख्यतः संयुक्त राज्य अमेरिका पर निर्भर है। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक है कि हमारी विदेश नीति में पश्चिमी देशों के प्रति अप्रत्यक्ष और प्रत्यक्ष सहानुभूति हो। परन्तु इस सहानुभूति के होते हुए भी भारत ने पश्चिमी देशों का पूर्णतः पिछलग्गू होने की नीति नहीं अपनाई और न ही पश्चिम की पूँजीवादी व्यवस्था को पूर्णतः स्वीकार किया है। भारत ने सोवियत ढंग द्वारा प्रतिस्थापित नियोजित आर्थिक विकास (Planned Economic development) के कार्यक्रम को लागू किया है और समाजवादी ढाँचे का समाज स्थापित करने

---

explosive possibilities as distant from her frontiers as possible. Evidently such a policy could be consistent with her national interests, independence and sovereignty only if she believed that she was not threatened by one or the other blocks."

—Dr T C. Kundra Indian Foreign Policy 1947-54 p. 11-12.

की प्रतिज्ञा की है। फलस्वरूप समाजवादी खेमे के साथ भी हमारे सम्बन्धों का अच्छा होना तर्कसङ्गत प्रतीत होता है। वास्तव में यह भी सत्य है कि भारत के औद्योगिक विकास के लिए दोनों ही गुटों से आर्थिक एवं तकनीकी सहायता मिल रही है। कोई भी गुट यह नहीं चाहता कि भारत दूसरे गुट के प्रभाव क्षेत्र में आ जाए। अतः हमारे देश के लिए यह एक स्वाभाविक और कल्याणकारी नीति है कि वह गुटबन्दी से अलग रह कर अपनी सक्रिय तटस्थता की नीति के आधार पर दोनों ही गुटों का मित्र बना रहना चाहता है।

(ii) भारत औद्योगिक दृष्टि से एक पिछड़ा हुआ देश है और इसी लिए अपने विकास हेतु शांति को आवश्यक समझता है। १९५६ के स्वेज संकट के छोटे से युद्ध ने हमारे व्यापार को बहुत बड़ी हानि पहुंचाई और बाद में साम्यवादी चीन व पाकिस्तान के आक्रमणों ने तो हमारी संपूर्ण अर्थ-व्यवस्था को ही झकझोर दिया। इन बातों को ध्यान में रखते हुए भारत के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह शांतिपूर्ण वैदेशिक नीति अपनाये। श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने एक बार यह ठीक ही कहा था कि भारत के लिये युद्ध साम्यवाद से भी अधिक बड़ा संकट है।

इस तरह स्पष्ट है कि भारत आज जो तटस्थता अथवा असंलग्नता और शांति प्रियता की वैदेशिक नीति अपनाये हुए है उसके मूल में आर्थिक तत्वों ने एक विशेष भूमिका अदा की है।

सैनिक दृष्टि से भारत विशेष महत्वपूर्ण राष्ट्र नहीं है क्योंकि वह अपनी रक्षा के लिए अनेक दृष्टियों से विदेशों पर निर्भर है। अभी तक हमारे अपने देश में विभिन्न युद्ध सामग्री और वायुयानों आदि का निर्माण करने में आत्म निर्भरता नहीं आ पाई है। और इसीलिए इनकी प्राप्ति हेतु हमें पश्चिमी देशों और साम्यवादी राष्ट्रों का मुंह ताकना पड़ता है। आणविक शस्त्रों के खतरे का सामना करने में तो हम बिल्कुल ही असमर्थ हैं और इसीलिए विदेशों द्वारा आणविक आयुधों की प्राप्ति की इच्छा रखते हैं। हमारी क्षीण और दुर्बल सैनिक स्थिति हमें इस बात के लिए बाध्य करती है कि विश्व की सभी महत्वपूर्ण शक्तियों के साथ हर कीमत पर मित्रतापूर्ण वातावरण बनाये रखें।

(४) ऐतिहासिक परम्परायें (Historical Traditions)

विदेश नीति के निर्धारण में ऐतिहासिक परम्पराओं का भी अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उदाहरणार्थ भारत के प्राचीन कालीन इतिहास का अध्ययन करने से इस बात का भली प्रकार पता लग जाता है कि भारत ने किसी भी देश को पराजित करने और उस पर अपना राजनीतिक प्रभुत्व लादने के रूप से कभी आक्रमण नहीं किया। विदेशों में जहां भी उसने विजय

पाई वह मुख्यतः सांस्कृतिक क्षेत्र में थी और उसकी प्राप्ति का साधन पशु-बल नहीं अध्यात्म-बल था। सम्राट अशोक ने तो पशु-बल और शस्त्र-बल को तिलांजलि देकर भगवान बुद्ध के उपदेश और शांतिपूर्ण सिद्धान्त का प्रचार विश्व भर में करवाया। भारत की संस्कृति व परम्परा सदैव ही शांति की समर्थक रही है और आज के भारत की विदेश नीति अपनी इसी परम्परा को कायम रखे हुए है। ब्रिटिश शासन काल में भारत की वैदेशिक नीति का निर्धारण ब्रिटेन की गोरी सरकार के हाथ में रहा तथापि भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम के सैनानियों ने अपने देश की ऐतिहासिक परम्पराओं का परित्याग नहीं किया अपितु समस्त देशों के साथ और विशेष कर अपने पड़ौसियों के साथ सहयोग करने की औपनिवेशिक एवम् पीड़ित जन गण के स्वाधीनता संघर्षों का समर्थन करने की जातीय पक्षपात की नीति का विरोध करने की विदेशों के कूटनीतिक प्रपंचों से अपने को दूर रखने का प्रयास करने की और साम्राज्यवाद के प्रत्यक्ष स्वरूप का विरोध करते हुए शांति को बल पहुंचाने की नीति का समर्थन करने के अपने ऐतिहासिक गौरव को बनाये रखा। इन्हीं सिद्धान्तों के अनुरूप राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने विभिन्न प्रस्तावों में आक्रमणकारियों की सदैव तीव्र आलोचना की। जब जापान ने चीन पर हमला किया तो उसने न केवल इस आक्रमण का मौखिक विरोध किया अपितु चीन के प्रति अपनी सहानुभूति और सद्भावना अभिव्यक्त करने के लिए एक डाक्टरी मिशन भी चीन भेजा। जब स्पेन के फासिस्ट और नाजी शक्तियों की सहायता से जनरल फ्रान्को की प्रजातांत्रिक सरकार के विरुद्ध संघर्ष प्रारम्भ कर दिया तो कांग्रेस ने स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा की कि भारतीय जनमत की सहानुभूति स्पेनिश गणतन्त्र के साथ है। इसी तरह जब म्यूनिख में पाश्चात्य शक्तियों ने हिटलर की दानवी भूख को शान्त करने के लिए चैकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता की बलि दे दी तो राष्ट्रीय कांग्रेस ने अक्टूबर १९१८ के अपने एक प्रस्ताव में चैक जनता के प्रति इन सहानुभूति पूर्ण शब्दों को व्यक्त किया—"कार्यकारिणी चैकोस्लोवाकिया की बहादुर जनता के अपनी स्वतन्त्रता को कायम रखने के संघर्ष के साथ अपनी सहानुभूति प्रकट करती है। भारत स्वयं संसार की एक महानतम साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध युद्ध रत है। यह युद्ध अहिंसात्मक होते हुए भी जनाभाव है। इसलिए चैकोस्लोवाकिया की स्वतन्त्रता की रक्षा में भारत की दिलचस्पी होना अत्यन्त स्वाभाविक है।" वस्तुतः भारतीय नेताओं ने साम्राज्यवाद फासिस्टवाद और सैनिकवाद के प्रति कभी अपना प्रेम व समर्थन प्रदर्शित नहीं किया। भारत की वर्तमान नीति-सम्बन्धी पृष्ठभूमि सर्वदा साम्राज्यवाद और सैनिकवाद-विरोधी रही है। अतीत में भी भारत ने हमेशा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सहयोग बनाये रखने पर बल दिया और वर्तमान में भी यही उसकी वैदेशिक नीति का मूल मन्त्र है। स्पष्ट है कि भारत की ऐतिहासिक परम्परा उसकी विदेश-नीति का एक प्रमुख निर्धारक तत्त्व रही है।

हमारी विदेश नीति के निर्धारण में इतिहास का महत्त्व कितना अधिक है इसका उदाहरण ब्रिटेन और भारत के घनिष्ठ सम्बन्धों से भली प्रकार स्पष्ट होता है। अतीत में ब्रिटेन के साथ हमारा दीर्घकाल पर्यन्त वर्षों का प्रगाढ़

सम्बन्ध रहा अतः यह स्वाभाविक है कि उसका विच्छेद सरलता से न हो सका। यही कारण है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी हमारी प्रशासनि वैधानिक आर्थिक शैक्षणिक विभिन्नता सम्बन्धी नैतिक एवं राजनीति संस्थायें अभी यथावत ब्रिटिश पद्धति पर विद्यमान हैं। ब्रिटेन के साथ हमारे ऐतिहासिक सम्बन्धों का ही यह परिणाम है कि स्वतन्त्रता के बाद हमने राष्ट्र मंडल में रहना स्वीकार करके ब्रिटेन के प्रति अपनी मैत्री प्रदर्शि की है। अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं व अतीत के सम्बन्धों से प्रभावि हो कर ही भारत ने साम्यवादी चीन के साथ भी अपनी ओर से अच्छ सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास किया था क्योंकि चीन में साम्यवाद स्थापना के समय हमारे तत्कालीन सरदार पाणिक्कर का यह मत था कि भारत और चीन का हजारों वर्षों का सम्पर्क एशिया के इतिहास के प्रमु तत्त्वों में से एक है। और इस्लाम एशिया की आध्यात्मिक एवं सांस्कृति एकता भारत तथा चीन के इसी पुराने सम्पर्क द्वारा प्राप्त हुई थी। लगभ एक हजार वर्ष तक किसी भी प्रकार के सम्बन्धों के न होने के बावजूद भ यह एशिया के इतिहास का एक मुख्य तत्त्व है। यह एक दुर्भाग्य की ही बा है कि चीन ने अपनी परम्परा को सर्वथा तिलांजलि देते हुए विश्वासघा और हिंसा का मार्ग अपनाया है और इस तरह भारत को इस बात के लि बाध्य कर दिया है कि वह चीन के प्रति "ईंट का जवाब ईंट और पत्थर क जवाब पत्थर" से देने की नीति अपनाये। फिर भी भारत शान्ति का हामी है और चीन के साथ कोई भी सम्मानजनक समझौता करने को उद्यत है।

बर्मा, लंका, इण्डोनेशिया, नेपाल आदि के साथ भी अतीत काल से ह हमारे आध्यात्मिक और सांस्कृतिक सम्बन्ध रहे हैं और इसीलिए उनके प्रति भारत के हृदय में आज भी पर्याप्त सहानुभूति एवं मैत्री-भाव है। पाकिस्तान द्वारा शान्तिप्रिय भारत के प्रति निरन्तर शत्रुतापूर्ण रुख अपनाये जाने क कारण भी वे ऐतिहासिक घटनायें हैं जिनमें पाकिस्तान का जन्म हुआ है फिर भी भारत ने अपनी ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुकूल पाकिस्तान के प्रति सदैव एक अच्छे पड़ोसी की नीति पर चलने की ईमानदारी से चेष्टा की है

मुगल इतिहास ने भारत को शक्तियों की परतन्त्रता का अनुभव कराया है। इसीलिए स्वतन्त्र भारत की वैदेशिक नीति भी साम्राज्यवाद एवं उपनिवेशवाद विरोधी है। अपने ऐतिहासिक अनुभव के कारण भारत पराधीन देशों की स्वतन्त्रता का और उनकी आवश्यक सहायता का समर्थ हामी है।

(४) वैचारिक तत्त्व
(Ideological factors)

विचारक एवं दार्शनिक आधार भी किसी देश की विदेश नीति के निर्धारण में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं। भारतीय विदेश नीति का एक बड़ा आधार प्राचीन काल से अर्वाचीन काल तक की विभिन्न विचारधाराएं एवम् दार्शनिक चिन्तन है।

(क) प्रायः कहा जाता है कि भारतीय वैदेशिक नीति के निर्धारण में भारत के परम्परागत दर्शन का प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए भारतीय दर्शन में सहिष्णुता, उदारता और अहिंसा पर सदैव बल दिया गया है और यही विचारधारा भारत की असंलग्नता तथा नाभिकीय द की नीति का मूल आधार है। महात्मा बुद्ध से लेकर महात्मा गांधी तक लगभग प्रत्येक भारतीय दार्शनिक ने यही शिक्षा दी है कि हमें अतियों (Extremes) से बच कर मध्यम प्रतिपदा (Middleway) का अनुसरण करना चाहिये। समन्वयवाद भारतीय दर्शन का सदियों से मूल तत्व रहा है। भारतीय संस्कृति की तो यह आधारशिला है। अतः यदि आधुनिक भारत की परराष्ट्र नीति का प्रमुख सिद्धान्त यह है कि वह साम्यवादी और गैर साम्यवादी देशों के साथ मैत्री बनाये रखे और संसार के ये दोनों ही विरोधी गुट एक दूसरे के प्रति मेलजोल रखें तो इस नीति को भारत की दार्शनिक परम्पराओं के अनुकूल ही कहा जाएगा।

(ख) यह कहा जाता है कि बुद्ध और महावीर की अहिंसा के बाद गांधीवाद की अहिंसा का भारत की शान्तिवादी नीति पर सर्वाधिक प्रभाव पड़ा है। प्रो० जी० एफ० हडसन (Prof G F Hudson) ने लिखा है 'गांधी के शांतिवाद ने नेहरू को यह विश्वास दिलाया है कि विश्व में शांति समझौतों द्वारा ही स्थापित हो सकती है न कि रक्षात्मक संगठन बनाने से। अतएव भारत का यह कर्तव्य है कि वह दो विरोधी दलों से पृथक रहे और इनमें मध्यस्थता का काम करे। परन्तु यदि गहराई से देखा जाय तो स्पष्ट विदित होता है कि भारत की वैदेशिक नीति के संदर्भ में गांधीवादी प्रभाव को बहुत बढ़ा चढ़ा कर बताया जाता है। और तो और गांधीवादी दर्शन के प्रति भारतीय विदेश नीति के प्रमुख निर्माता स्वर्गीय पंडित जवाहरलाल नेहरू तक का कोई सैद्धान्तिक लगाव नहीं रहा था। इस सम्बन्ध में करुणाकर गुप्त (Karunakar Gupta) ने लिखा है कि—

यह बात संदेहास्पद है कि सत्य और अहिंसा के गांधीवादी सिद्धान्तों का भारत की गृह अथवा विदेश नीति पर किसी बड़ी सीमा तक प्रभाव पड़ा है। गांधीजी की मृत्यु के तुरन्त बाद नवीन भारत ने साम्यवादी और सम्प्रदायवादी विरोध का दमन करने के लिये सर्वाधिकारवादी उपायों का प्रयोग किया। काश्मीर और हैदराबाद में सशस्त्र हिंसा का प्रयुक्त किया गया तो नेपाल के आन्तरिक संघर्ष में भी हिंसा की नीति का अनुसरण हुआ। बजट का यह स्वरूप जिसमें कि सैनिक व्यय के लिए ५ प्रतिशत से अधिक की व्यवस्था की गई है यह प्रकट करता है कि भारत की प्रशासकीय नीति में पुलिस उपायों पर बल दिया जाता है। इन परिस्थितियों में यह बात विश्वासनीय नहीं है कि भारतीय वदेशिक नीति पर गांधीवादी अहिंसा के सिद्धान्त का कोई निर्णायक प्रभाव पड़ा है।"[1]

---

1 It is doubtful how far Gandhian principles of Truth and Non-Violence have influenced the policy of the Indian Govt. either in internal or external affairs .. ..Soon

(ग) यदि गम्भीरता से देखा जाय तो विचारधाराओं के दृष्टिकोण से गांधीवाद की अपेक्षा भारत की परराष्ट्र नीति पर मार्क्सवाद का प्रभाव अधिक परिलक्षित होता है। आधुनिक शीत युद्ध में समाजवादी खेमे के प्रति हमारा जो कुछ भी सहानुभूति है वह मार्क्सवादी प्रभाव का ही परिणाम है। पश्चिम की हम प्रायः स्पष्ट शब्दों में आलोचना एवं निन्दा करते हैं लेकिन साम्यवादी सोवियत रूस और चीन के प्रति सन्देह का लाभ देने की प्रवृत्ति हममें पाई जाती है।

(घ) पश्चिम के उदारवाद का भी भारत की विदेश नीति पर निर्णायक प्रभाव पड़ा है। भारतीय विदेश नीति के प्रमुख सूत्रधार पंडित नेहरू का सम्पूर्ण विकास पश्चिम की लोकतंत्रीय परम्पराओं में ही हुआ था हालांकि उन पर सोवियत रूस का भी गहरा असर था। वे पाश्चात्य लोकतंत्रवाद तथा साम्यवाद दोनों की कुछ अच्छाइयों को पसन्द करते थे और उनकी बुराइयों से बचना चाहते थे। इसीलिये वे अपने को पूरी तरह से किसी पक्ष से सम्बद्ध नहीं कर पाये। उन्होंने एक बार शायद कहा था हम यह देखते हैं कि लोकतन्त्र उपनिवेशवाद और जातीय पक्षपात के प्रश्न पर इनसे समझौता कर लेता है। यदि हम पश्चिम से समझौता कर लेंगे तो हमें इन बुराइयों को भी स्वीकार करना पड़ेगा। इनके विपरीत रूस में सामाजिक न्याय और समानता पर बहुत बल दिया जाता है किन्तु वहां इस समय बहुत बड़ी मात्रा में विचारों की स्वतंत्रता का अभाव (Regimentation) तथा राजनीति में आतंक (Terror) के उपायों का अवलम्बन है। भारत को यह दोनों बातें पसन्द नहीं हैं अतः विचारधारा के भेद के कारण उसकी नीति दोनों पक्षों से अलग अलग रहने की है।[1]

ऐसा कहा जाता है कि पंडित नेहरू पर हैरोल्ड लास्की का प्रभाव बड़ी सीमा तक पड़ा था और चूंकि लास्की की विचारधारा उदारवाद तथा मार्क्सवाद के समन्वयवाद पर आधारित है अतः इसी का एक सीमा तक यह परिणाम है कि भारत की राष्ट्रीय एवं वैदेशिक नीति में भी हमें विरोधाभास के दर्शन होते हैं। इसका तर्कसंगत परिणाम हमारी तटस्थता अथवा असंलग्नता की नीति है।

---

after his death, new India took totalitarian measures to fight Communist and Communal opposition In dealing with Kashmir and Hedrabad armed violence was resorted to as also recently in the internecine conflict in Nepal The character of the budget which provides more than 50% in military expenditure reveals the stress on police measures in State policy in India today Under these circumstances, any talk about the Gandhian principle of non violence exercising a decisive influence on the Foreign Policy of India, can not be accepted at its face value"

—Karunakar Gupta Indian Foreign Policy p. p. 13 14

1 Karunakar op. cit page 13-14

श्री नेहरू पर पाश्चात्य लोकतन्त्रवाद अथवा समाजवाद या अन्य किसी भी विचारधारा का चाहे कुछ भी प्रभाव रहा हो किन्तु निष्कर्ष रूप में यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारत की विदेश नीति की आधारशिला रखने में और उसे पुष्पित तथा पल्लवित करने में उनका सम्भवतः अन्य किसी भी विचारक अथवा विचारकों के समूह से अधिक निर्णायक हाथ रहा था। वे न केवल स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री और १७ वर्ष तक विदेश मंत्री रहे बल्कि उससे पूर्व भी लगभग २५ वर्षों तक अखिल भारतीय कांग्रेस के विदेशी मामलों में प्रमुख प्रवक्ता की भूमिका भी निभाते रहे थे। प्रथम वे *अन्तर्राष्ट्रीयता और अखिल एशियावाद के समर्थक थे। दूसरे वे साम्राज्यवाद* उपनिवेशवाद और फासिस्टवाद के विरोधी थे। तीसरे सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण उपायों से सुलझाने के वे हामी थे किन्तु साथ ही साम्राज्यवादी और फासीवादी आक्रमण को रोकने के लिए शक्ति के प्रयोग को भी अनुचित नहीं समझते थे। चौथे रूस और चीन के प्रति उनकी विशेष सहानुभूति इसीलिये थी क्योंकि उनका विश्वास था कि ये देश साम्राज्यवाद के शत्रु हैं। पांचवें वे महा शक्तियों के संघर्ष में भारत के लिए असंलग्नता एवं तटस्थता की नीति को सर्वोत्तम समझते थे। अपने इन्हीं विचारों के अनुरूप उन्होंने भारत की विदेश नीति को ढाला और आज भारत की नीति का जो कुछ भी रूप है वह श्री नेहरू के उपरोक्त विचारों का ही प्रतिरूप है।

(५) राष्ट्रीय संघर्ष
(National Movement)

भारत की विदेश नीति को निर्धारित करने वाले तत्वों में एक महत्वपूर्ण तत्व हमारा राष्ट्रीय संघर्ष भी रहा है क्योंकि प्रथम तो इसने भारत को महा शक्तियों के संघर्ष का मोहरा बनाने से बचाने का दृढ़ संकल्प उत्पन्न किया और दूसरे विश्व की राजनीति में एक निर्णयात्मक भाग प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा का विकास किया। पहली प्रवृत्ति से असंलग्नता और दूसरी से सक्रियता की नीति का विकास हुआ। इसके अतिरिक्त राष्ट्रीय संघर्ष के फलस्वरूप भारत में विश्व के अनेक भागों में विशेषकर अफ्रीका और एशिया में होने वाले उपनिवेशवाद विरोधी स्वातन्त्र्य आन्दोलनों के प्रति सहानुभूति जागृत हुई। राष्ट्रीय संघर्ष ने भारतीयों के हृदय में पाश्चात्य शक्तियों के प्रति अविश्वास की जड़ें जमा दीं जबकि रूस एवं चीन के प्रति मैत्रीपूर्ण व्यवहार को विकसित किया क्योंकि उन्हें लगा कि ये देश उपनिवेशवाद के समर्थक नहीं थे। राष्ट्रीय संघर्ष के द्वारा ही भारत की विदेश नीति में अहिंसात्मक नैतिक और आध्यात्मिक सम्भावना के तत्वों को अधिक सहारा मिला। इस संघर्ष ने यह विश्वास पैदा किया कि संसार में शान्ति और मैत्री की स्थापना का विशेष कार्य भारत को करना है और उसे विश्व राजनीति में शान्ति का मसीहा बनना है।

(६) व्यक्तिगत और राजनीतिक तत्व
(Personal and Political Factors)

भारत की विदेश नीति के उपरोक्त तत्वों का, विशेषकर श्री नेहरू का

जितना प्रभाव रहा है इसका अनुमान कुछ आभास हमें पूर्ववर्ती वर्णन से मिल जाता है। पर इसे पुनः न दुहराते हुए हमें यह जोड़ना है कि भारत की विदेश नीति के निर्माण व संचालन पर भी कुछ विशिष्ट व्यक्तियों और कुछ विशेष परिस्थितियों का प्रभाव पड़ा था। इन विशेष व्यक्तियों में डा० राधाकृष्णन, श्री कृष्णामेनन व श्री पणिक्कर के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। डा० राधाकृष्णन को इस बात का श्रेय है कि सोवियत रूस में भारत के राजदूत के रूप में उन्होंने स्टालिन को प्रभावित कर रूस और भारत के सम्बन्धों को मधुर बनाया है। श्री कृष्णा मेनन पंडित नेहरू के उन पुराने विश्वसनीय मित्रों में से थे जिन्होंने कोरिया, स्वेज आदि के उलझे हुए प्रश्नों पर भारत सरकार की विदेश नीति के निर्धारण को अतिशय प्रभावित किया। कृष्ण मेनन ने संयुक्त राष्ट्र संघ में और विश्व के प्रमुख देशों में भारत की विदेश नीति का एक प्रभावशाली राजदूत के रूप में धाराप्रवाह प्रचार किया। श्री पणिक्कर ने साम्यवादी चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति को अत्यन्त प्रभावित किया। चीन के प्रति भारत की प्रारम्भिक नीति की अच्छाई और बुराई का उत्तरदायित्व बहुत कुछ श्री पणिक्कर पर ही पड़ता है क्योंकि तब चीन में वे भारतीय राजदूत थे और चीन के प्रति भारत की विदेश नीति का निर्धारण उन्हीं के द्वारा भेजी हुई रिपोर्टों के आधार पर किया जाता था। अनेक राजनीतिक प्रेक्षकों का मत है कि पणिक्कर चीन में राजदूत होने के नाते चीन की नीति व मौलिक तथ्यों को यथार्थ रूप में न समझ सके और परिणामतः भारत सरकार को चीन के बारे में भ्रान्तिपूर्ण सूचना मिलती रही। पणिक्कर के कारण ही तिब्बत और चीन के सम्बन्ध में भारत की विदेश नीति मार्ग भ्रष्ट हो गई। जोर्ज पेटरसन का कथन है कि इसमें कोई सन्देह नहीं कि पणिक्कर वैयक्तिक रूप से चीन भूमि के प्रति व्यक्तिगत सहानुभूति रखता था। किन्तु वह भारत के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाला राजदूत था और इसलिये उसका यह अक्षम्य अपराध था कि पेकिंग के शासन द्वारा कही जाने वाली बातों को आंखें मूंद कर स्वीकार करता चला गया। इस बात से भारत को न केवल उस समय बल्कि उसके बाद भी अत्यधिक हानि पहुंची।

किसी भी देश की विदेश नीति को निश्चित करने में विदेश मंत्रालय की भी महत्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके वरिष्ठ अधिकारी सामान्यतः नीति का संचालन करते हैं। भारत की विदेश नीति के निर्माण में भी मंत्रिमंडल के प्रभावशाली सदस्यों का हाथ रहा है। भारत की वैदेशिक नीति के निर्धारण में संसद की भूमिका बहुत अधिक स्पष्ट नहीं रही है क्योंकि उसमें कांग्रेस पार्टी सर्वदा विशाल बहुमत में रहती चली आई है और शासन के सूत्रधार कांग्रेस पार्टी के सदस्य ही रहे हैं। फिर भी लोकसभा में वैदेशिक विषयों की परामर्श समिति ने जिसमें सब दलों के प्रतिनिधि होते हैं उल्लेखनीय भाग अदा किया है। वैदेशिक मामलों पर लोकसभा में हुई बहसें भी बहुत महत्वपूर्ण रही हैं जैसा १९५६ में हंगरी के सम्बन्ध में तथा सितम्बर १९५८ में फार्मोसा की समस्या के सम्बन्ध में और मई १९५९ में तिब्बत के प्रति चीन की नीति के सम्बन्ध में हुई बहसें। कई बार लोकसभा

व सदस्य अपनी अपीलों के द्वारा भी विदेश नीति पर प्रभाव डालने का प्रयत्न करते हैं। उदाहरणार्थ १९५०–५१ में लोकसभा के ८० सदस्यों ने संयुक्त राज्य अमेरिका से खाद्यान्न मंगाने की और जुलाई १९५६ में अनेक सम्मेलन को सफल बनाने के लिये विदेश मंत्रिया से अपील की गई थी।

यद्यपि भारतीय विदेश नीति के निर्माण में भारतीय जनता का भाग बहुत अधिक महत्वपूर्ण नहीं रहा है तथापि हमारे यहाँ के प्रेस तथा समाचार पत्रों ने विदेश नीति पर यदि प्रत्यक्ष रूप से नहीं तो कम से कम परोक्ष रूप से अवश्य प्रभाव डाला है। यहाँ यह स्मरण रखना होगा कि भारतीय समाचार पत्रों निष्पक्ष रूप अपनाने में असफल ही रहे हैं। इन पर प्रमुखतः देश के बड़े बड़े पूंजीपतियों का नियंत्रण है अतः स्वाभाविक रूप से वे पश्चिम के समर्थक और साम्यवाद या साम्यवादी देशों के विरोधी हैं। ऐसी दशा में परिणाम अधिकांशतः यही निकलता है कि इस प्रकार पत्रों में साम्यवादी देशों के बारे में या तो कल्पित समाचार प्रकाशित किये जाते रहे हैं या उन्हें तोड़ मरोड़ कर छापा जाता रहा है। यह हर्ष का विषय है कि अब इस प्रकार की स्थिति में सुधार होने लगा है और अनेक भारतीय समाचार पत्र स्वतंत्र रूप से सुसंगत होने लगे हैं।

७ राष्ट्रीय हित
(National Interests)

विदेश नीति के निर्धारक सभी तत्वों में सर्वोपरि स्थान राष्ट्रीय हित का है। राष्ट्रीय हित ही विदेश नीति की सच्ची आधारशिला है। विदेश नीति का निर्धारण सिद्धान्तों के आधार पर होना इतना आवश्यक नहीं है जितना कि राष्ट्रीय हितों के आधार पर। अनेक बार यह देखा जाता है कि राष्ट्रीय हितों के सामने छोटे-बड़े सिद्धान्तों को तिलांजलि दे दी जाती है। अमरीका के विदेश मंत्री चार्ल्स इवान्स ह्यूज (C. E. Hughes) के ये शब्द स्मरणीय हैं कि "विदेश नीतियों का निर्माण सूक्ष्म सिद्धान्तों के आधार पर नहीं होता किन्तु वे राष्ट्रीय हितों के क्रियात्मक विचारों का परिणाम होती हैं।" १९४७ में भारत की संविधान सभा में पंडित नेहरू ने स्वयं कहा था कि "किसी भी देश की विदेश नीति की आधारशिला उसके राष्ट्रीय हित की सुरक्षा होती है और भारत की विदेश नीति का ध्येय भी यही है।"

परन्तु यह स्मरणीय है कि किसी भी देश के राष्ट्रीय हित का स्वरूप बड़ा विस्तृत और जटिल होता है। इस राष्ट्रीय हित का निर्धारण अनेक विरोधी एवम् विभिन्न प्रकार की शक्तियों के संघर्ष से होता है। राष्ट्रीय हित का स्वरूप एक समान रह कर परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तित होता रहता है। इसीलिए एक देश की विदेश नीति में कभी कभी परस्पर विरोधी बातें दिखाई देती हैं। भारत की विदेश नीति भी इसी स्थिति में है। उदाहरण के लिए यह सामान्य रूप से उपनिवेशवाद विरोधी है लेकिन मलाया में वहाँ की जनता के स्वातन्त्र्य आन्दोलन को कुचलने के लिये जब ब्रिटिश सरकार ने नेपाल से फौज मंगाई तो भारत ने उन फौजों को जाने

दल से मुकाबला किया। यह वस्तुतः भारत की उपनिवेशवाद विरोधी नीति में एक स्पष्ट विरोधाभास था। साम्यवादियों ने इस पर आरोप लगाते हुए कहा कि भारत ब्रिटिश राष्ट्र मंडल के प्रति अवांछनीय भक्ति रखता है। किन्तु वस्तुस्थिति यही थी कि भारत ने किसी महा शक्ति के दबाव से नहीं प्रत्युत 'राष्ट्रीय हित' की दृष्टि से प्रेरित होकर ही ऐसा किया और साम्राज्यवाद के विरोध के खोखले आदर्श पर डटे रहने की अपेक्षा वास्तविक राजनीति की ठोस परिस्थितियों को समझते हुए ब्रिटिश फौजों को अपने देश से गुजरने दिया। नेपाल भारत की उत्तरी सीमा से लगा हुआ एक सीमान्त राज्य है जिसकी अर्थ-व्यवस्था का एक मुख्य आधार इसकी जनता का सेना में भर्ती होना है। इसमें बाधा डालने का अर्थ नेपाल की सम्पूर्ण अर्थ व्यवस्था को छिन्न भिन्न करना और नेपाली जनता में व्यापक असंतोष तथा क्रान्ति पैदा करना है। इससे भारत की सुरक्षा संकट में पड़ सकती है। इसी पृष्ठ भूमि में भारत ने उपरोक्त कदम उठाया। पुन १९५६ में स्वेज के मामलों में पंडित नेहरू ने ब्रिटिश फ्रांस आक्रमण की तीव्र निन्दा करते हुए भी राष्ट्रपति नासिर को मृदु और शान्तिपूर्ण नीति अपना न की सलाह दी क्योंकि भारत का राष्ट्रीय हित इसी में था कि स्वेज नहर खुली रहे। अभी हाल ही में जून १९६७ में हुए अरब इजराइल संघर्ष में भी भारत ने अरबों को इसीलिये समर्थन किया ताकि स्वेज नहर का प्रयोग करने में भविष्य में भारत के सामने किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो सके।

स्वेज नहर के कुछ माह तक बन्द रहने मात्र से ही भारत का करोड़ों रुपयों की आर्थिक हानि सह न चुकी है।

भारत का "राष्ट्रीयहित" क्या है, यह निर्धारण करना कोई सरल कार्य नहीं है तथापि विश्लेषण करने पर यह कहा जा सकता है कि निम्नलिखित तत्त्वों का ध्यान म रखकर ही भारत की वैदेशिक नीति का निर्धारण होना चाहिये—भारत की भौगोलिक स्थिति उसकी स्थलीय सीमा विशाल समुद्र तट एवम् सामुद्रिक व्यापार, आर्थिक विकास के लिये विदेशी सहायता की अनिवार्यता देश में खाद्यान्न की कमी विदेशी पूंजी की आवश्यकता सैनिक निर्बलता शान्ति की आवश्यकता ब्रिटेन और अमेरिका के साथ सुदृढ़ आर्थिक सम्बन्ध और उन पर युद्ध सामग्री प्राप्ति की दृष्टि से निर्भरता एशिया के गैरसाम्यवादी दलों में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने की अभिलाषा आदि।

भारत की विदेश नीति के उपरोक्त निर्धारक तत्त्वों पर विचार करने के उपरान्त निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि इस नीति को निश्चित करने में जहाँ स्वर्गीय श्री नेहरू की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही है वहाँ भूगोल इतिहास और आर्थिक परिस्थितियों अतिरिक्त सबसे ऊपर 'राष्ट्रीय-हित' न इस नीति को एक निश्चित दिशा प्रदान की है। भारत की विदेश नीति के सम्बन्ध में पंडित नेहरू का यह कथन एकदम उपयुक्त एवम् बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि "भारत की विदेश नीति को नेहरू व्यक्तिगत नीति कहना सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। यह इसलिए सम्भव है कि मैंने केवल उस नीति का शब्दों में प्रतिपादन

किया है, आविष्कार नहीं किया है। यह नीति मुख्यतः हमारी परिस्थितियों की उपज है। व्यक्तिगतरूप से मेरा विश्वास है कि भारत के वैदेशिक मामलों की बागडोर यदि किसी अन्य व्यक्ति या दल के हाथ में होती तो भी हमारी विदेश नीति वर्तमान नीति से अधिक भिन्न नहीं होती।"

भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषतायें
(Chief Features or Characteristics of Indian Foreign Policy)

भारत की विदेश नीति की प्रमुख विशेषताओं का उल्लेख स्वर्गीय प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू ने ७ सितम्बर १९४६ को प्रसारित अपने भाषण में ही कर दिया था जिसमें उन्होंने यह आशा प्रकट की थी कि अन्य राष्ट्रों के साथ भारत के घनिष्ठ और सीधे सम्बन्धों का विकास होगा तथा यह देश अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं स्वतन्त्रता की स्थापना में उनके साथ सहयोग करेगा।

भारत का यह विश्वास है कि सत्य का अधिकतम रूप दो अतियों (Extremities) के बीच में ही पाया जाता है। विश्व राजनीति-पटल पर स्थित दोनों ही महा शक्तियों द्वारा स्वयं की नीति का न्याय एवं दूसरे के विश्वासों तथा व्यवहारों की निरर्थकता को सिद्ध करने के प्रयास एकांगी और सत्य के आंशिक रूप हैं। भारत उन लोगों के प्रति भी सहानुभूति एवं सद्भावना रखता है जो उसकी नीतियों में विश्वास नहीं करते या उससे भिन्न नीति को अपनाते हैं। भारत उपनिवेशवाद जातिवाद साम्राज्यवाद आदि विश्व के अभिशापों का निन्दक है किन्तु फिर भी इनको मिटाने के लिये वह हिंसात्मक साधनों का पक्षपाती नहीं है। उसका विश्वास है कि बुरे साधनों के द्वारा अच्छे लक्ष्यों को प्राप्त नहीं किया जा सकता। हंगरी के स्वतन्त्रता आन्दोलन के प्रति सहानुभूति रखते हुए वहां की हिंसात्मक नीतियों का भारतीय नेताओं ने विरोध किया था। गोआ में फ्रांसीसी एवं पुर्तगाली साम्राज्यवादी अवशेष भारत के सम्मान एवं स्वतन्त्रता के चेहरे पर एक कालिमा थे किन्तु फिर भी इनका विरोध करने के लिये हिंसक मार्ग का अनुसरण करने में भारत सदैव हिचकिचाता रहा। भारत की सदैव से यह नीति रही है कि वह न तो किसी शक्तिशाली देश को अपने पर हावी होने देना चाहता है और न ही वह स्वयं किसी कमजोर देश पर अपना अनुचित प्रभाव डालने का आकांक्षी है। हमारे महान नेता पं० नेहरू का विचार था कि हम दूसरे देशों के साथी और भाई बनना चाहते हैं, किसी के नेता नहीं। वे कहा करते थे कि भारत न तो किसी गुट का अनुयायी ही बनेगा और न किसी का स्वयं का अनुयायी ही बनायेगा। उसकी नीति दो राष्ट्रों के मध्य एक पुल अथवा सेतु का कार्य करने की रहेगी।

भारत राष्ट्र मंडल का आज सक्रिय सदस्य है। उसकी नीति साम्यवादी एवं साम्यवाद-विरोधी राष्ट्रों के दोनों ही गुटों से पृथक रहते हुए,

असंलग्नता की है। परन्तु यह सब होने पर भी अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भारत को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राष्ट्र बना दिया है और एशिया के प्रवक्ताओं में सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त करने का इसे गौरव मिला है। भारत के प्रथम और अन्तिम गवर्नर जनरल चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने एक बार कहा था कि हमारी शक्ति कम है लेकिन हमारा महत्त्व बहुत अधिक है। भारत किसी दूसरे राष्ट्र को नैतिक बनाने का दम नहीं भरता क्योंकि वह स्वयं की असफलताओं और स्वयं के अभावों से परिचित है तथा उनके प्रति जागरूक है। भारत का विश्वास है कि दूसरे के दोषों का बताना बहुत आसान काम है परन्तु इससे प्रायः कोई लाभ नहीं होता। पंडित नेहरू यह नहीं चाहते थे कि दूसरे सोचें कि भारत अन्य राष्ट्रों से अधिक नैतिक है। उनका सदैव यही प्रयास रहता था कि भारत अन्य देशों की अच्छाइयों को ग्रहण करके एक समर्थ और सशक्त राष्ट्र बने। परन्तु वे इस बात को कभी विस्मृत न कर पाये थे कि यह ग्रहण कोरा अन्धानुकरण न होकर देश की आवश्यकताओं और परिस्थितियों की उपयुक्तता का ध्यान में रख कर किया जाना चाहिये। कुछ विचारक और राजनीतिज्ञ प्रायः भारत की वैदेशिक नीति पर दोमुंही होने का आरोप लगाते हैं। उनका आरोप है कि संकटों में बिना हिचके शान्तिपूर्ण ढंग से निपटारे का विचार पोषण करने वाला भारत काश्मीर-प्रश्न पर पाकिस्तान के साथ इस नीति को क्यों नहीं अपनाता? परन्तु यह आरोप समस्या के तथ्य और स्थिति पर पूरी तरह विचार किये बिना लगाया गया है तथा असत्य है। भारत दोहरी स्तर (Do l Policy) को न केवल विदेश नीति में वरन् विदेश नीति और गृह नीति के बीच में भी पृथक रखना चाहता है। नेहरू ने कहा था कि हमारी नीतियां चाहे राष्ट्रीय हों या अन्तर्राष्ट्रीय एक ही भाव से निकलती हैं तथा उनका एक ही लक्ष्य है। मूलतः वे दोनों ही शान्तिपूर्ण भावना का लक्ष्य रखती हैं। वे स्थिर नहीं हैं वरन् राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर परिवर्तन चाहती हैं।

भारत अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में इतना अधिक सक्रिय है तथा अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों के निपटारे के लिये इतना अधिक प्रयास करता है कि यह नीति अनेक राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय विचारकों की आलोचना का विषय बनती रही है। यह कहा जाता है कि भारत इतना शक्तिशाली देश नहीं है और साथ ही उसकी घरेलू समस्यायें इतनी अधिक हैं कि उसे राष्ट्रीय निर्माण पर अधिक ध्यान देना चाहिये। इस प्रश्न का उत्तर देते हुए भी नेहरू ने कहा था कि हम अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर इतना अधिक ध्यान देते हैं—इसका कारण यह नहीं है कि हम इसमें रुचि लेते हैं और न ही यह कि हम विश्व रंगमंच में कोई महत्त्वपूर्ण स्थान बनाना चाहते हैं, प्रत्युत इसका कारण यह है कि विश्व की यह घटनायें हमारे कार्यों में हस्तक्षेप करती हैं या कर सकती हैं। भारत की विदेश नीति उसकी घरेलू नीति का अन्य अंगों में प्रतिबिम्ब है। भारत के सामने आर्थिक विकास का एक लम्बा मार्ग है। नए कारखाने नए बांध नये बिजली घर और विश्व-विद्यालय स्थापित कर देश के निवासियों की सम्पन्नता में वृद्धि करना इसके व्यवहार की प्रेरणा है।

भारत अपने विकास कार्यक्रमों के संचालन में किसी भी राजनीतिक एवं आर्थिक व्यवस्था का दोषी नहीं है। समाज के समाजवादी ढांचे का उसका लक्ष्य एक प्रकार से समाजवाद और पूंजीवाद के बीच का समन्वयात्मक मार्ग है। ठीक उसी प्रकार जैसा कि उसकी विदेशनीति दोनों गुटों मतभेदों एवं शीत युद्ध की तीव्रता को घटाने का प्रयास करती है। भारत की आर्थिक विकास की योजनाओं की सफलताओं की पहली शर्त है विश्व में शांति एवं सहयोगपूर्ण वातावरण। अतः भारत की विदेश नीति का मूल मंत्र स्वभावतः विश्व शांति है। यह स्वतन्त्रता की नीति है। भारत की विदेश नीति के प्रमुख निर्माता श्री नेहरू जी के शब्दों में "हम स्वतंत्र हैं क्योंकि हम बिना किसी दबाव या लालच के स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय ले सकते हैं।" विश्व के देशों का बहुमत शीत युद्ध के किसी भी गुट के प्रभाव के नीचे था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति भारत का दृष्टिकोण आशापूर्ण है। इसका मत है कि संघ का सदस्य बन कर एक देश अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं संगठन के लिये राष्ट्रीय सम्प्रभुता को कुछ सीमित करता है। भारत की विदेश नीति का प्रायः आदर्शवादी कह कर राष्ट्रीय हित के प्रति उदासीन सिद्ध किया जाता है। परन्तु असल में यह अन्य देशों की भांति अपने राष्ट्रीय हित पर आधारित है तथा दूसरे देशों के हितों से और विश्व शांति के लक्ष्य से अपने साथ सामञ्जस्य करके चलती है। श्री नेहरू ने एक बार कहा था कि एक देश की नीति का अपनी परम्परागत आधारभूमि तथा देश के स्वभाव का सदैव ध्यान रखना चाहिये। यह आदर्शवादी होनी चाहिये कुछ लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील रहनी चाहिये किन्तु इसके साथ ही साथ यह यथार्थ भी होनी चाहिये। यदि यह आदर्शवादी नहीं है तो एक निम्नतर अवसरवादी बन जाएगी और यदि यह यथार्थवादी नहीं है तो एक दुस्साहस पूर्ण तथा प्रभावहीन नीति रह जाएगी। भारत की विदेश नीति की अब तक की प्राप्तियों का श्रेय आदर्श और यथार्थ के उचित एवं संतुलित समन्वय को ही दिया जा सकता है। जब जब भी आदर्श और यथार्थ के इस संतुलित समन्वय में कमी आई है तब ही भारत को किसी न किसी रूप में अनेक अवांछनीय कठिनाइयों और कभी कभी भीषण समस्याओं का सामना करना पड़ा है।

भारत की वैदेशिक नीति के इस संक्षिप्त समीक्षात्मक विवेचन के उपरान्त विस्तार की दृष्टि से यदि देखा जाए तो हम भारत की विदेश नीति को निम्नलिखित पृथक पृथक उप-शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित कर सकते हैं :—

(१) असंलग्नता की नीति
(२) जातिवाद की नीति
(३) समस्त राष्ट्रों से मित्रता की नीति
(४) परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच सेतुबन्ध का कार्य करने की नीति।

(५) साम्राज्यवाद उपनिवेशवाद आदि का उग्र विरोध
(६) जातीय एवं वर्ण भेद की नीति का विरोध
(७) संयुक्त राष्ट्र संघ में दृढ़ विश्वास
(८) सह-अस्तित्व में विश्वास
(९) पंचशील के सिद्धान्त का अनुसरण प्रवर्तन व प्रसार।

अब हम इन सभी विशेषताओं की एक-एक करके विस्तार से चर्चा करेंगे और आवश्यकतानुसार यह देखने का भी प्रयास करेंगे कि प्रयोग की कसौटी पर ये विशेषतायें कहां तक खरी उतरी हैं।

(१) असंलग्नता की नीति

[Policy of Non-alignment]

असंलग्नता का अभिप्राय यह है कि भारत वर्तमान विश्व राजनीति के दोनों गुटों में से किसी एक में भी सम्मिलित होने को तैयार नहीं है अपितु उनसे पृथक रहते हुए भी उनसे मैत्री सम्बन्ध कायम रखने और उनकी सहायता से अपनी उन्नति करने का इच्छुक है। भारत का विश्वास है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति की सुरक्षा में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान तब ही हो सकता है जबकि वह अपने विवेक की स्वतन्त्रता को न खो बैठे। किन्तु यदि वह किसी गुट विशेष के साथ बंध जाएगा अथवा अपने स्थायी सम्बन्ध स्थापित कर लेगा तो वह ऐसा नहीं कर सकता। भारत की इसी नीति को सामान्य भाषा में तटस्थतावादी (Neutral) कहा जाता है और सही रूप में इसे असंलग्नता (Non-alignment) की नीति कहा जाना चाहिए।

यदि भारतीय वैदेशिक नीति की इस प्रमुख विशेषता को भली प्रकार समझना है तो हमें सर्वप्रथम "तटस्थता" शब्द के अर्थ को समझने का प्रयत्न करना चाहिये। "आक्सफोर्ड शब्द-कोष के अनुसार ऐसा व्यक्ति तटस्थ होता है जो दो विरोधियों में से किसी की भी सहायता न करे, विशेष रूप से युद्ध विरोधियों में से [illegible] युद्ध की स्थिति में किसी भी पक्ष की ओर सहयोग का हाथ न बढ़ाये। इस प्रकार तटस्थता का अर्थ विवाद के बीच किसी भी पक्ष के प्रति लगाव न प्रकट करने की स्थिति से है।" अन्तर्राष्ट्रीय कानून के विद्वान् लेखक फेनविक (Fenwick) ने लिखा है कि "तटस्थता राज्य की ऐसी कानूनी स्थिति है जिसका उद्देश्य दो अन्य राज्यों या राज्य समूहों के मध्य होने वाले युद्ध में युद्धकर्त्ताओं के प्रति कतिपय अधिकार को रखते हुए तथा अधिनियम कानून द्वारा विहित कतिपय कर्त्तव्यों का पालन करते हुए अपने आपको अलग रखना है।"

उपरोक्त परिभाषा इसी तथ्य को प्रकट करती है कि तटस्थतावादी नीति का सम्बन्ध प्रधानतः युद्ध के संदर्भ में है। लेकिन वर्तमान काल की परिवर्तित परिस्थितियों में सशस्त्र युद्धों का स्थान सदैव चलते रहने वाले शीत युद्ध ने ले लिया और इसके कारण परस्पर विरोधी विचारधाराओं के पक्षपाती राष्ट्र दो गुटों में बंट गये हैं। अब इन दोनों गुटों में से किसी

भी गुट से स्वयं को सम्बद्ध न करना ही तटस्थतावादी नीति कही जाती है। प्रो० पोटर (Potter) के शब्दों में "शीत युद्ध में प्रथवा अमरीका तथा सोवियत संघ द्वारा प्रेरित शक्तियों के दो समूहों के मध्य चल रही राजनीतिक या कूटनीतिक प्रतिद्वंद्विता में किसी भी पक्ष का समर्थन करने से इन्कार का विचार ही तटस्थता है।

चूंकि तटस्थता शब्द कानूनी अथवा वैधानिक दृष्टि से प्रायः युद्ध की स्थिति से सम्बन्धित है अतः भारतीय नीति निर्माताओं तथा अनेक विद्वानों का यह मत है कि भारत की वैदेशिक नीति को तटस्थता की नीति की अपेक्षा "असंलग्नता की नीति" कहना अधिक श्रेयस्कर है। असंलग्नता 'शब्द का भी यही अभिप्राय है कि बिना किसी के साथ पूरी तरह बंधे हुए अपनी स्वतन्त्र नीति का पालन किया जाए। भारत की विदेश नीति के कर्णधार श्री नेहरू ने स्वयं तटस्थ शब्द को कभी पसन्द नहीं किया था। एक बार उन्होंने कहा भी था—मैं तटस्थ शब्द प्रयोग नहीं करता क्योंकि इसका प्रयोग सामान्यतः युद्ध काल में होता है। "शान्ति काल में भी इससे एक प्रकार की युद्ध की मनोवृत्ति प्रकट होती है।"

भारत की विदेश नीति के लिये तटस्थ शब्द इसलिए भी उपयुक्त है कि तटस्थता एक निषेधात्मक विचारधारा (Negative conception) है। तटस्थता का अभिप्राय है किसी पक्ष में शामिल न होना और पूर्ण रूप से पृथक्तावादी नीति पर चलना। लेकिन भारत की नीति ऐसी नहीं है। वह सकारात्मक और गतिशील (Positive and Dynamic) है। इस दृष्टि से यदि इसे गतिशील तटस्थता की नीति (Dynamic Policy of Non-alignment) कहा जाए तो फिर भी ठीक है। भारत की विदेश नीति 'तटस्थता' की भांति निष्क्रिय न हो कर पूर्णतः सक्रिय है। भारत ने विश्व संस्था में जो सक्रिय रूप से काम किया है तथा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को सुलझाने में जिस उत्साह से अपना सहयोग दिया है उसे देख कर यह नहीं कहा जा सकता कि यह राष्ट्र विश्व राजनीति से पृथक रहने की नीति पर चल रहा है। इसकी चुप लगा कर एक ओर बैठ जाने की नीति नहीं है जैसा कि अनेक पश्चिमी आलोचक इसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं। सत्य तो यह है कि यह (असंलग्नता) एक विधेयात्मक सक्रिय एवं रचनात्मक नीति है जो सामूहिक सुरक्षा की ओर अग्रसर होती है तथा एक मात्र इस पर ही सामूहिक सुरक्षा स्थित रह सकती है।

भारत की नीति को तटस्थ वहीं तक कहा जा सकता है जहां तक कि वह पहिले से ही किसी पक्ष के साथ अपने को बांधना नहीं चाहती अन्यथा वास्तविकता यही है कि आवश्यकता पड़ने पर भारत की नीति चुपचाप बैठ कर तमाशा देखने वाली नहीं है। भारत कभी भी और किसी भी ऐसे पक्ष का समर्थन करने को तैयार रहता है जिसकी नीति को वह विश्व शांति और सुरक्षा के लिये उपयोगी समझता है। इसी तरह वह सर्दैव ऐसे पक्ष का विरोध करता रहता है जिसकी नीति को वह शांति और सुरक्षा के लिए अहितकारी

मानता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की अपनी यात्रा के दौरान अपने एक
भाषण में भारत की 'तटस्थता' की नीति का विश्लेषण करते हुए पं० नेहरू ने
कहा था—

'जहां स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो न्याय को धमकी दी
जाती हो अथवा जहां आक्रमण होता हो वहां न तो हम तटस्थ रह सकते हैं
और न ही तटस्थ रहेंगे।

भारत की विदेश नीति को विविध नामों से पुकारा जाता रहा है
जैसे तटस्थ विदेश नीति स्वतन्त्र विदेश नीति गुट बन्दियों से अलग रहने
की नीति शांति की नीति असंलग्नता की नीति आदि इसीलिए इसके
सम्बन्ध में गलत फहमियां रही हैं और आज भी हैं जबकि वस्तुस्थिति यही
है कि इस नीति में गलत फहमियों की कोई गुंजाइश नहीं है।

यह उल्लेखनीय है कि असंलग्नता की नीति अपना कर तथा दूसरे
राष्ट्रों को इसकी ओर प्रेरित कर भारत यह कदापि नहीं चाहता कि एक
तीसरे गुट का अपना देश नेतृत्व करे। भारत की ऐसी कोई आकांक्षा नहीं है
कि विश्व में वह एक तीसरी शक्ति के रूप में उदित हो। इसका प्रमुख लक्ष्य
है दो विरोधी गुटों—विश्व राजनीति के सागर के दो कूलों के बीच में एक पुल
का निर्माण करना—ऐसा पुल जिसके द्वारा दोनों गुटों की दूरी एवं मतभेदों
को दूर करके उन्हें मिलाया जा सके। असंलग्नता की नीति सैनिक गुटों से
अपने आप को दूर रखती है किन्तु यह पड़ोसी तथा अन्य राष्ट्रों के बीच अन्य
सब प्रकार के सहयोग को बढ़ावा देती है। भारत ने इस नीति का अवलम्बन
करते हुए भी दूसरे देशों के साथ अनेक प्रकार की संधियां की हैं। इन संधियों
का स्वरूप सैनिक न हो कर आर्थिक सामाजिक राजनीतिक एवं सांस्कृतिक
है। असंलग्नता की नीति के कारण ही यह सम्भव हो सका है कि भारत
ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार और अपना मत
प्रकट किया है। २२ नवम्बर १९६० को लोक सभा में बोलते हुए स्वर्गीय
प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि हम सैनिक गुटों में शामिल नहीं
हैं परन्तु महत्वपूर्ण प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न नीतियों प्रेरणाओं भावनाओं और
सिद्धान्तों के अनुसार अमल करते हैं।

पुनश्च यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भारत की असंलग्नता
का अभिप्राय कोरा शान्तिवाद नहीं है। यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक
देश को युद्ध की सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर काम करना पड़ता है।
यदि कोई देश भारत पर आक्रमण करता है तब तो निश्चय ही हथियारों का
जवाब हथियारों से देना पड़ेगा हालांकि अतीत में हमारा विश्वास रहा है कि
भारत पर सम्भवतः कोई राज्य आक्रमण नहीं करेगा। इस सम्बन्ध में नेहरू
ने टीटर जैसे को एक इंटरव्यू में कहा था—"हम किसी भी गुट के
दायरे में नहीं आते। यह एक भूगोल का प्रश्न है। उनमें से किसी एक के
लिये शक्तिशाली प्रेरणा नहीं
लिये भी भारत पर आक्रमण करने के लिये यदि वे भारत पर आक्रमण करते हैं तो उन्हें यहां तक बहुत भरम
है। परन्तु यदि वे भारत पर आक्रमण करते हैं

स्वागत किया जाएगा। ऐसा करने से स्वयं उसकी कठिनाइयों में कुछ और वृद्धि होगी। जो भी ऐसा करेगा उसके लिए हम स्थिति को बहुत गरम बना सकते हैं। इसलिये भारत सुरक्षित है। जहाँ तक पार्थक्य का सम्बन्ध है भारत के कूटनीतिक सम्बन्ध संसार के सभी स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ कायम हैं। इसकी संयुक्त राष्ट्र संघ के सक्रिय सदस्यों में गणना होती है। इसके अति रिक्त यह राष्ट्र-मंडल का भी सदस्य है। अफ्रीका और एशिया के संगठनों में भी यह अपनी भूमिका अदा करता है।"

भारत ने 'असंलग्नता' की यह नीति यों ही नहीं बल्कि कुछ अत्यन्त समस्त कारणों के आधार पर अपनाई है जो संक्षेप में इस प्रकार स्मरणीय हैं —

(१) भारत किसी भी देश पर शासन करना नहीं चाहता अपितु विश्व में शान्ति बनाये रखने का इच्छुक है। इस दृष्टि से उसके लिये किसी भी गुट में शामिल हो कर अकारण ही विश्व में तनाव की स्थिति पैदा करना उपयुक्त नहीं है।

(२) भारत युद्ध को दूर रखने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग करना चाहता है किन्तु यदि किसी गुट विशेष में सम्मिलित होने की उसने चेष्टा की तो उसका यह प्रभाव निश्चित रूप से क्षीण हो जायगा।

(३) भारत अपनी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता को बनाये रखना चाहता है। यदि उसने किसी गुट विशेष को अपना लिया तो उसे अनिवार्य रूप से विश्व की समस्याओं पर वही रुख अपनाना पड़ेगा जो उसका गुट अपना रहा है। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पं० नेहरू का स्पष्ट मत था कि किसी भी गुट में शामिल हो जाना अपनी राय को बलिदान करने के समान है। किसी गुट में शामिल होने की नीति दो कारणों से अव्यावहारिक है— प्रथम तो ऐसा करने पर भारत अपने भूतकाल से प्राप्त उन आदर्शों पर नहीं चल सकेगा जो उसकी विदेश नीति के आधार हैं एवं दूसरे उसका यह व्यव हार विश्व की वर्तमान परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं से भी भिन्न होगा। इसके अतिरिक्त ऐसी सम्भावना भी कम दिखाई देती है कि भारत गुटबन्दी से उत्पन्न नीति के रूप का सफलतापूर्वक संचालन कर ही लेगा।

(४) असंलग्नता की विदेश नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुरूप है। बहुत से विचारक जो अवसरवादिता को विदेश नीति का ध्येय मानते हैं भी इस प्रकार की नीति से संतुष्ट होंगे। स्वतन्त्र वैदेशिक नीति भारत के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्ध होती है। भारत अपने आर्थिक विकास के कार्यक्रमों को और अपनी योजनाओं की सिद्धि के लिए विदेशी सहयोग एवं सहायता पर बहुत कुछ निर्भर है। असंलग्नता की नीति उसके इस लक्ष्य को भली प्रकार सम्भव बना रही है। किसी गुट में शामिल न होने के परिणाम स्वरूप ही यह सम्भव हुआ है कि भारत के सम्बन्ध विश्व के दोनों शक्तिशाली देशों के साथ अच्छे हैं और सोवियत रूस तथा अमेरिका दोनों से एक ही साथ उसे सहायता मिल पा रही है। पं० नेहरू के शब्दों में— आर्थिक राजनीतिक अथवा दूसरे प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिए यह बुद्धि

मानता है। संयुक्त राज्य अमेरिका की अपनी यात्रा के दौरान अपने एक भाषण में भारत की 'तटस्थता' की नीति का विश्लेषण करते हुए पं० नेहरू ने कहा था—

'जहाँ स्वतन्त्रता के लिए खतरा उपस्थित हो, न्याय को धमकी दी जाती हो अथवा जहाँ आक्रमण होता हो, वहाँ न तो हम तटस्थ रह सकते हैं और न ही तटस्थ रहेंगे।'

भारत की विदेश नीति को विविध नामों से पुकारा जाता रहा है जैसे तटस्थ विदेश नीति, स्वतन्त्र विदेश नीति, गुट बन्दियों से अलग रहने की नीति, शान्ति की नीति, असंलग्नता की नीति आदि। इसीलिए इसके सम्बन्ध में गलत फहमियाँ रही हैं और आज भी हैं जबकि वस्तुस्थिति यही है कि इस नीति में गलत फहमियों की कोई गुंजाइश नहीं है।

यह उल्लेखनीय है कि असंलग्नता की नीति अपना कर तथा दूसरे राष्ट्रों को इसकी ओर प्रेरित कर भारत यह कदापि नहीं चाहता कि एक तीसरे गुट का अपना ऐसा नेतृत्व करे। भारत की ऐसी कोई आकांक्षा नहीं है कि विश्व में वह एक तीसरी शक्ति के रूप में उदित हो। इसका प्रमुख लक्ष्य है दो विरोधी गुटों—विश्व राजनीति के सागर के दो कूलों के बीच में एक पुल का निर्माण करना—ऐसा पुल जिसके द्वारा दोनों गुटों की दूरी एवं मतभेदों को दूर करके उन्हें मिलाया जा सके। असंलग्नता की नीति सैनिक गुटों से अपने आप को दूर रखती है किन्तु यह पड़ोसी तथा अन्य राष्ट्रों के बीच अन्य सब प्रकार के सहयोग को बढ़ावा देती है। भारत ने इस नीति का अवलम्बन करते हुए भी दूसरे देशों के साथ अनेक प्रकार की संधियाँ की हैं। इन संधियों का स्वरूप सैनिक न होकर आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक एवं सांस्कृतिक है। असंलग्नता की नीति के कारण ही यह सम्भव हो सका है कि भारत ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार और अपना मत प्रकट किया है। २२ नवम्बर १९६० को लोक सभा में बोलते हुए स्वर्गीय प्रधान मन्त्री नेहरू ने स्पष्ट कहा था कि हम सैनिक गुटों में शामिल नहीं हैं परन्तु महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर भिन्न-भिन्न नीतियों, प्रेरणाओं, मान्यताओं और सिद्धान्तों के अनुसार अमल करते हैं।

पुनश्च यह भी स्पष्ट हो जाना चाहिये कि भारत की असंलग्नता का अभिप्रायः कोरा 'शान्तिवाद' नहीं है। यह नहीं भूलना चाहिये कि प्रत्येक देश को युद्ध की सम्भावनाओं को ध्यान में रख कर काम करना पड़ता है। यदि कोई देश भारत पर आक्रमण करता है तब तो निश्चय ही हथियारों का जवाब हथियारों से देना पड़ेगा हालांकि अतीत में हमारा विश्वास रहा है कि भारत पर सम्भवतः कोई राज्य आक्रमण नहीं करेगा। इस सम्बन्ध में नेहरू ने टिम्बर मैरे को एक इन्टरव्यू में कहा था—"हम किसी भी गुट के साथ में नहीं आते। यह एक चुनाव का प्रश्न है। उनमें से किसी एक के लिये भी भारत पर आक्रमण करने के लिये विशेष [illegible] प्रेरणा नहीं है। परन्तु यदि वे भारत पर आक्रमण करते हैं तो उन्हें यहाँ एक बहुत गरम

ामत किया जाएगा। ऐसा करने से स्वयं उसकी कठिनाइयों में कुछ और
ृद्धि होगी। जो भी ऐसा करेगा उसके लिए हम स्थिति को बहुत गरम बना
सकते हैं। इसलिये भारत सुरक्षित है। जहाँ तक पार्थक्य का सम्बन्ध है
भारत के कूटनीतिक सम्बन्ध संसार के सभी स्वतन्त्र देशों के साथ कायम हैं।
सकी संयुक्त राष्ट्र संघ के सक्रिय सदस्यों में गणना होती है। इसके अति
रिक्त वह राष्ट्र-मंडल का भी सदस्य है। अफ्रीका और एशिया के संगठनों में
भी वह अपनी भूमिका अदा करता है।

भारत ने धर्मनिरपेक्षता की यह नीति यों ही नहीं बल्कि कुछ अत्यन्त
समुचित कारणों के आधार पर अपनाई है जो संक्षेप में इस प्रकार उल्लेख
नीय हैं —

(१) भारत किसी भी देश पर शासन करना नहीं चाहता अपितु
विश्व में शान्ति बनाये रखने का इच्छुक है। इस दृष्टि से उसके लिये किसी
भी गुट में शामिल हो कर अकारण ही विश्व में तनाव की स्थिति पैदा करना
उपयुक्त नहीं है।

(२) भारत युद्ध को दूर रखने के लिए अपने प्रभाव का उपयोग
करना चाहता है किन्तु यदि किसी गुट विशेष में सम्मिलित होने की उसने
चेष्टा की तो उसका यह प्रभाव निश्चित रूप से क्षीण हो जायगा।

(३) भारत अपनी विचार प्रकट करने की स्वतन्त्रता को बनाये
रखना चाहता है। यदि उसने किसी गुट विशेष को अपना लिया तो उसे
अनिवार्य रूप से विश्व की समस्याओं पर वही रुख अपनाना पड़ेगा जो उसका
गुट अपना रहा है। स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पं० नेहरू का स्पष्ट मत था कि
किसी भी गुट में शामिल हो जाना अपनी राय का बलिदान करने के समान
है। किसी गुट में शामिल होने की नीति दो कारणों से अव्यावहारिक है—
प्रथम तो ऐसा करने पर भारत अपने मूलकाल से प्राप्त उन आदर्शों पर नहीं
चल सकेगा जो उसकी विदेश नीति के आधार हैं एवं दूसरे उसका यह व्यव
हार विश्व की वर्तमान परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं से भी भिन्न होगा।
इसके अतिरिक्त ऐसी सम्भावना भी कम दिखाई देती है कि भारत गुटबन्दी ग
रहित नीति के रूप का सफलतापूर्वक संचालन कर ही लेगा।

(४) धर्मनिरपेक्षता की विदेश नीति भारत के राष्ट्रीय हितों के अनुरूप
है। बहुत से विचारक जो अलगाववादिता की विदेश नीति को पसन्द मानते
हैं वे भी इस प्रकार की नीति से संतुष्ट होंगे। स्वतन्त्र वैदेशिक नीति व्यापा
र में अत्यन्त महत्वपूर्ण सिद्ध होती है। भारत अपने आर्थिक विकास के
कार्यक्रमों को और अपनी योजनाओं की सिद्धि के लिए विदेशी सहयोग तथा
सहायता पर बहुत कुछ निर्भर है। धर्मनिरपेक्षता की नीति उसके इस लक्ष्य को
भली प्रकार सम्भव बना रही है। किसी गुट में शामिल न होने के परिणाम
स्वरूप ही यह सम्भव हुआ है कि भारत के सम्बन्ध विश्व के दोनों शक्तिशाली
देशों के साथ मधुर हैं और सोवियत रूस तथा अमरिका दोनों से एक ही
साथ उसे सहायता मिल रही है। पं० नेहरू के शब्दों में—"आर्थिक
राजनीतिक अथवा दूसरे प्रकार की सहायता प्राप्त करने के लिए यह बुद्धि

मता पूर्ण नीति नहीं है कि तुम अपने सभी अण्डों को एक ही टोकरे में रख दो।" दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि हम प्रत्येक प्रकार की सहायता के लिए किसी देश विशेष अथवा देशों के गुट विशेष पर आश्रित नहीं रह सकते। किसी एक गुट विशेष पर निर्भरता की यह नीति न केवल अपर्याप्त है अपितु भारत जैसे राष्ट्र के आत्मसम्मान के भी विपरीत है।

(५) भारत की भौगोलिक स्थिति भी उसे असंलग्नता की नीति अपनाने को बाध्य करती है और यह सम्भव बनाती है कि वह स्वयं को गुटों से अलग रख सके। हम पश्चिमी गुट के साथ सैनिक गुटबन्दी नहीं कर सकते क्योंकि विश्व के पश्चिम विरोधी दो प्रमुख और अत्यन्त शक्तिशाली साम्यवादी देशों की सीमायें भारत की सीमाओं के सन्निकट हैं। एक ओर साम्यवादी चीन की सीमा भारत की धरती को छूती है और दूसरी ओर सोवियत रूस की सीमा भी केवल २० मील दूरी पर ही स्थित है। दुर्भाग्य वश साम्यवादी चीन से हम संघर्ष की स्थिति में हैं और यदि पश्चिमी सैनिक खेमे में शामिल हो कर हमने रूस की सहानुभूति भी खो दी तो यह हमारे लिये निश्चित रूप से अहितकर होगी। भारत के निकटवर्ती साम्यवादी एवं अन्य देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना इसलिए भी आवश्यक है कि उनके आक्रमण की सूरत में पाश्चात्य शक्तियों की सहायता उपयुक्त समय एवं प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि हम साम्यवादी देशों के खेमे में सम्मिलित होते हैं तो इसका स्पष्ट परिणाम अमेरिका एवं दूसरे पाश्चात्य राष्ट्रों को अप्रसन्न करना होगा जिससे उनके द्वारा दी जाने वाली सतत् विशाल आर्थिक सहायता अवरुद्ध हो जाएगी और भारत का आर्थिक ढांचा बुरी तरह लड़खड़ा जाएगा। इसके अतिरिक्त साम्यवादी खेमे से हमारी दांत-कटी दोस्ती इसलिए भी नहीं हो सकती कि अपनी अतीत की परम्पराओं के कारण हम साम्यवादी सिद्धान्त को अच्छा नहीं मानते और हिंसात्मक एवम् दमनकारी नीतियों तथा व्यवहारों को बुरी निगाह से देखते हैं।

(६) असंलग्नता की नीति भारत की परिस्थितियों और उसकी परम्पराओं से मेल खाती है। ९ दिसम्बर १९५८ को तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि गुटबन्दी में शामिल न होने की नीति को उन्होंने केवल वाणी दी है उसका उत्पादन नहीं किया है। यह एक ऐसी नीति है जो भारत की परिस्थितियों में भारत की प्राचीन विचारधाराओं में और विश्व की वर्तमान आवश्यकताओं में स्वाभाविक है। इस विचारधारा का सार भारत के लोगों के मस्तिष्क में सहिष्णुता की विचारधारा का पाया जाना है। भारतीयों ने इस परम्परा को अपने धर्मग्रन्थों और इतिहास से उत्तराधिकार में पाया है। सहिष्णुता का विचार केवल पुस्तकों में ही सीमित नहीं रहा है वरन् यहाँ की सामाजिक परम्पराओं में उसके वास्तविक रूप का दर्शन होता है।

(७) भारत की विचारधारा धार्मिक राजनीतिक, धार्मिक एवं

सामाजिक क्षेत्र में पश्चिमी तथा साम्यवादी गुटों के बीच भी है और इसलिए यह आवश्यक एवं स्वाभाविक बन जाता है कि उसकी विदेश नीति में ऐसे दोनों के बीच के मार्ग का ही अवलम्बन किया जाए। भारत साम्यवाद की समानता वर्ग भेद की समाप्ति सामाजिक सुरक्षा शोषण का अन्त आदि विचारों से सहमत है परन्तु उसमें पाई जाने वाली असहिष्णुता हिंसा स्वतन्त्रता का अभाव एवं दमन आदि दोषों को घृणित दृष्टि से देखता है। इस प्रकार भारत पश्चिमी देशों की इस परम्परा से प्रभावित है कि व्यक्ति के ज्ञान एवं स्वतन्त्रता का सही मूल्यांकन किया जाना चाहिए। किन्तु साम्यवाद के कथित इन दोषों में साम्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप जो घृणा एवं कटुता का वातावरण बनता है वह भारत के लिए एक उलझनपूर्ण पहेली है जिसे वह असहिष्णुता का प्रतीक मानता है।

पंडित नेहरू ने यह ठीक ही कहा था कि "किसी गुट के साथ सैनिक सन्धियों में बंध जाने के कारण सदा उसके इशारे पर नाचना पड़ता है और साथ ही अपनी स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। अतः चाहे कुछ भी हो जाए हम किसी देश के साथ सैनिक सन्धि नहीं करते। जब हम असंलग्नता (Non alignment) का विचार छोड़ते हैं तो हम अपना लंगर छोड़ कर बहने लगते हैं। किसी देश से बंधना आत्म सम्मान खोना है या बहुमूल्य निधि का विनाश है।

भारत की असंलग्नता की नीति एक कसौटी पर

असंलग्नता की भारतीय नीति की व्याख्या करने के उपरान्त अब हम यह संक्षेप में देखना चाहिए कि भारत ने इस नीति का अब तक कैसे प्रयोग किया है। इस नीति के इतिहास को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता है—१६४७ से कोरिया के युद्ध (१६५०) तक कोरिया युद्ध से द्वितीय राष्ट्रीय आम निर्वाचन (१६५७) तक एवं १६५७ के बाद से अब तक।

१६४७ से १६५० के मध्य भारत की असंलग्नता की नीति बहुत नपुंसकी रही है और उसकी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पश्चिमी गुट एक हद तक पक्ष-पोषक रही। पश्चिमी गुट की तरफ इस प्रारम्भिक झुकाव के कुछ विशेष कारण थे—उदाहरणार्थ सुरक्षा के मामले में भारत उस समय तक पूर्णतः पश्चिमी गुट पर आधारित था भारत के शिक्षित वर्ग पर पाश्चात्य देशों का पर्याप्त प्रभाव छाया हुआ था और सर्वोपरि आर्थिक दृष्टि से हमारा देश पश्चिमी गुट पर बहुत अधिक आश्रित था। स्वतन्त्रता के तुरन्त बाद कुछ काल तक भारत का व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी राष्ट्रों से था और देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सहायता मुख्यतः ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी। अतः स्वाभाविक था कि इन परिस्थितियों में भारत असंलग्नता की नीति के सही रास्ते पर चलते हुए भी एकदम निष्पक्ष नहीं रह सका। उदाहरणों द्वारा इस बात को भली प्रकार समझा जा सकता है। सर्वप्रथम पूर्वी जर्मनी के प्रति भारत की नीति एकदम निष्पक्ष नहीं रही। विभाजित जर्मनी में एक भाग (पश्चिमी

मता पूर्ण नीति नहीं है कि हम अपने सभी अण्डों को एक ही टोकरे में रख दो।" दूसरे शब्दों में यह कहना चाहिए कि हम प्रत्येक प्रकार की सहायता के लिए किसी देश विशेष अथवा देशों के गुट विशेष पर आश्रित नहीं रह सकते। किसी एक गुट विशेष पर निर्भरता की यह नीति न केवल अपर्याप्त है अपितु भारत जैसे राष्ट्र के आत्मसम्मान के भी विपरीत है।

(४) भारत की भौगोलिक स्थिति भी उसे असंलग्नता की नीति अपनाने को बाध्य करती है और यह सम्भव बनाती है कि वह स्वयं को गुटों से अलग रख सके। हम पश्चिमी गुट के साथ सैनिक गुटबन्दी नहीं कर सकते क्योंकि विश्व के पश्चिम विरोधी दो प्रमुख और अत्यन्त शक्तिशाली साम्यवादी देशों की सीमायें भारत की सीमाओं से सम्बद्ध हैं। एक ओर साम्यवादी चीन की सीमा भारत की धरती को छूती है और दूसरी ओर सोवियत रूस की सीमा भी केवल २० मील दूरी पर ही स्थित है। दुर्भाग्य वश साम्यवादी चीन से हम संघर्ष की स्थिति में हैं और यदि पश्चिमी सैनिक खेमे में शामिल हो कर हमने रूस की सहानुभूति भी खो दी तो वह हमारे लिये निश्चित रूप से अहितकर होगी। भारत के निकटवर्ती साम्यवादी एवं अन्य देशों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का होना इसलिए भी आवश्यक है कि उनके आक्रमण की सूरत में पाश्चात्य शक्तियों की सहायता उपयुक्त समय पर प्रचुर मात्रा में प्राप्त नहीं की जा सकती। दूसरी ओर यदि हम साम्यवादी दलों के खेमे में सम्मिलित होते हैं तो इसका स्पष्ट परिणाम अमेरिका एवं दूसरे पाश्चात्य राष्ट्रों का अप्रसन्न करना होगा जिससे उनके द्वारा दी जाने वाली सतत् विकास आर्थिक सहायता अवरुद्ध हो जाएगी और भारत का आर्थिक ढांचा बुरी तरह लड़खड़ा जाएगा। इसके अतिरिक्त साम्यवादी खेमे से हमारी घनिष्ठ दोस्ती इसलिए भी नहीं हो सकती कि अपनी अतीत की परम्पराओं के कारण हम साम्यवादी सिद्धान्त को अच्छा नहीं मानते और हिंसात्मक एवम् दमनकारी नीतियों तथा व्यवहारों को बुरी निगाह से देखते हैं।

(५) असंलग्नता की नीति भारत की परिस्थितियों और उसकी परम्पराओं से मेल खाती है। ६ दिसम्बर, १९५८ को तत्कालीन प्रधानमन्त्री पं० नेहरू ने लोकसभा में कहा था कि गुटबन्दी में शामिल न होने की नीति को उन्होंने केवल चालू की है उसका उत्पादन नहीं किया है। यह एक ऐसी नीति है जो भारत की परिस्थितियों में भारत की प्राचीन विचारधाराओं में और विश्व की वर्तमान आवश्यकताओं से स्वाभाविक है। इस विचारधारा का सार भारत के लोगों के मस्तिष्क में सहिष्णुता की विचारधारा का जमा जाना है। भारतीयों ने इस परम्परा को अपने धर्मग्रन्थों और इतिहास से उत्तराधिकार में पाया है। सहिष्णुता का विचार केवल पुस्तकों में ही सीमित नहीं रहा है वरन् यहां की सामाजिक परम्पराओं में उसके वास्तविक रूप का दर्शन होता है।

(६) भारत की विचारधारा धार्मिक राजनीतिक, धार्मिक एवं

ामाजिक क्षेत्र में पश्चिमी तथा साम्यवादी गुटों के बीच भी है और इसलिए
ह आवश्यक एवं स्वाभाविक बन जाता है कि उसकी विदेश नीति में ऐसे
ोनों के बीच के मार्ग का ही अवलम्बन किया जाए। भारत साम्यवाद की
समानता वर्ग भेद की समाप्ति सामाजिक सुरक्षा शोषण का अन्त आदि
विचारों से सहमत है परन्तु उसमें पाई जाने वाली असहिष्णुता हिंसा
स्वतन्त्रता का अभाव एवं दमन आदि दोषों को घृणित दृष्टि से देखता है।
इस प्रकार भारत पश्चिमी देशों की इस परम्परा से प्रभावित है कि व्यक्ति
के मान एवं स्वतन्त्रता का सही मूल्यांकन किया जाना चाहिए। किन्तु
साम्यवाद के कथित इन दोषों में साम्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप जो घृणा
एवं कटुता का वातावरण बनता है वह भारत के लिए एक असमंजसपूर्ण पहेली
है जिसे वह असहिष्णुता का प्रतीक मानता है।

पंडित नेहरू ने यह ठीक ही कहा था कि "किसी गुट के साथ सैनिक
सन्धियों में बंध जाने के कारण सदा उसके इशारे पर नाचना पड़ता है और
साथ ही अपनी स्वतन्त्रता बिल्कुल नष्ट हो जाती है। अतः चाहे कुछ भी
हो जाए हम किसी देश के साथ सैनिक सन्धि नहीं करेंगे। जब हम असं-
लग्नता (Non alignment) का विचार छोड़ते हैं तो हम अपना लंगर
छोड़ कर बहने लगते हैं। किसी देश से बंधना आत्म सम्मान खोना है और
बहुमूल्य निधि का विनाश है।

भारत की असंलग्नता की नीति एक कसौटी पर

असंलग्नता की भारतीय नीति की व्याख्या करने के उपरान्त अब हमें
यह संक्षेप में देखना चाहिए कि भारत ने इस नीति का अब तक कैसे प्रयोग
किया है। इस नीति के इतिहास को मुख्यतः तीन भागों में बांटा जा सकता
है—१९४७ से कोरिया के युद्ध (१९५०) तक कोरिया युद्ध से द्वितीय
भारतीय आम निर्वाचन (१९५७) तक एवं १९५७ के बाद से अब तक।

१९४७ से १९५० के मध्य भारत की असंलग्नता की नीति बहुत
अस्पष्ट सी रही है और इसकी प्रवृत्ति अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में पश्चिमी गुट
की एक हद तक पक्ष-पोषक रही। पश्चिमी गुट की तरफ इस प्रारम्भिक
झुकाव के कुछ विशेष कारण थे—उदाहरणार्थ सुरक्षा के मामले में भारत
उस समय तक पूर्णतः पश्चिमी गुट पर आधारित था भारत के शिक्षित वर्ग
पर पाश्चात्य देशों का पर्याप्त प्रभाव छाया हुआ था और सर्वोपरि आर्थिक
दृष्टि से हमारा देश पश्चिमी गुट पर बहुत अधिक आश्रित था। स्वतन्त्रता
के तुरन्त बाद कुछ काल तक भारत का व्यापारिक सम्बन्ध केवल पश्चिमी
राष्ट्रों से था और देश के आर्थिक पुनर्निर्माण के लिए सहायता मुख्यतः
ब्रिटेन एवं संयुक्त राज्य अमेरिका से ही प्राप्त हो सकती थी। अतः स्वाभाविक
था कि इन परिस्थितियों में भारत असंलग्नता की नीति के सही रास्ते पर
चलते हुए भी एकदम निष्पक्ष नहीं रह सका। उदाहरणों द्वारा इस बात को
भली प्रकार समझा जा सकता है। सर्वप्रथम पूर्वी जर्मनी के प्रति भारत की
नीति एकदम निष्पक्ष नहीं रही। विभाजित जर्मनी में एक को (पश्चिमी

जर्मनी का) को पश्चिमी गुट से सम्बद्ध था कूटनीतिक मान्यता प्रदान की गई जबकि दूसरे (पूर्व जर्मनी) को यह मान्यता नहीं दी गई। भारत का यह तर्क कोई विशेष प्रबल नहीं था कि उसने पूर्वी जर्मनी को इसलिए मान्यता नहीं दी है कि ऐसा करना जर्मनी के विभाजन को मान लेना होगा। इसी तरह का थोड़ा बहुत पक्षपातपूर्ण रुख कोरिया युद्ध के प्रारम्भ में रहा। संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की तरह भारत ने भी एकदम बे-झिझक उत्तरी कोरिया को आक्रमक घोषित कर दिया जबकि वस्तु स्थिति यह है कि पश्चिमी देश आज तक भी अपने कथन के समर्थन में पूर्णतया विश्वसनीय प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर सके हैं। यह सम्भावना आज भी वर्तमान है कि स्वयं दक्षिणी कोरिया ने ही उत्तरी कोरिया पर आक्रमण किया हो। इस विषय में श्री करुणाकर गुप्त का लिखना है—भारत का निर्णय श्री कोण्डापी (Kondapi) की रिपोर्ट पर आधारित था और यह रिपोर्ट उसके व्यक्तिगत विचारों से अत्यधिक प्रभावित थी।[1]

१९५० से १९६० के काल में सोवियत संघ के प्रति भारत के रुख में कुछ परिवर्तन हुआ। इसके कुछ विशेष कारण थे। प्रथम, तो १९५३ में स्टालिन की मृत्यु के बाद सोवियत व्यवस्था में कुछ उदार तत्वों का समावेश हुआ। दूसरे, सामरिक दृष्टिकोण से भी सोवियत संघ अधिक शक्तिशाली बना और उसने अणु राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त कर लिया। तीसरे अमेरिका के साथ भारत के सम्बन्धों में कुछ कटुता आने लगी क्योंकि १९५४ में अमेरिका और पाकिस्तान के मध्य एक सैनिक सन्धि हुई जिसके अन्तर्गत भारत के तीव्र विरोध के बावजूद अमरिका ने पाकिस्तान को विशाल पैमाने पर शस्त्रास्त्र देने का निर्णय किया। फिर गोवा की समस्या के प्रति अमेरिकन रुख ने भी भारतीय जनमत को अमेरिका के विरुद्ध विक्षुब्ध कर दिया। अमेरिका के विदेश सचिव जान फोस्टर डलेस ने सार्वजनिक तौर पर गोवा में पुर्तगाल का समर्थन किया। इन परिस्थितियों में यह भारतीय विदेश नीति स्वभावतः सोवियत संघ के प्रति जिसने भारतीय पक्ष का हमेशा समर्थन किया कुछ उदार एवं मैत्रीपूर्ण बनी। इन दोनों देशों के बीच इस बढ़ती हुई मित्रता को पण्डित नेहरू और श्री ख्रुश्चेव के भ्रमणों ने भी अधिक मजबूत कर दिया। सोवियत संघ के साथ केवल राजनीतिक सम्बन्ध ही प्रगाढ़ नहीं हुए बल्कि व्यापारिक सम्बन्ध में भी काफी वृद्धि हुई और भारत

1 " The Indian Cabinet decision on the matter was made after the receipt of a report from Mr Kondapi The Indian delegate to the United Nations Commission of Korla ... The conduct of the Indian members in the U N Commission on Korla should be a matter of public scrutiny as there is ample evidence to indicate that they were guided more by personal prejudice than facts in a oding advices about the origin of the Korlan War on June 25 1950 "

—Karunakar Gupta : Indian Foreign Policy Page 11.

को उससे पर्याप्त आर्थिक सहायता मिलने लगी। इस काल में ही दो महत्व पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटनाएं घटीं—स्वेज पर ब्रिटेन और फ्रांस का आक्रमण तथा हंगरी में सोवियत संघ का हस्तक्षेप। स्वेज पर ■ पश्चिमी राष्ट्रों के आक्रमण को दूर करने और मिस्र से आक्रान्ता फौजों को हटाने के मामले में भारत ने सोवियत संघ के साथ पूर्ण सहयोग किया। हंगरी की समस्या पर भी भारत की नीति प्रारम्भ में सोवियत संघ का समर्थन करती रही।

१९५७ में द्वितीय आम निर्वाचन हुए और इसके बाद से ही भारत की नीति पुन पश्चिमी गुटों की ओर कुछ अधिक मुड़ गई। इसके भी कुछ कारण थे। प्रथम तो निर्वाचनों ने यह प्रकट कर दिया कि भारत में साम्यवादियों का प्रभाव बढ़ रहा है। दूसरे १९५८ के गम्भीर आर्थिक संकट ने देश में खाद्यान्न और विदेशी मुद्रा की कमी ने तथा द्वितीय पंच वर्षीय योजना की भावी असफलता ने भारत को इस बात के लिए बाध्य कर दिया कि वह असंलग्नता की नीति पर चलते हुए भी यथासम्भव पश्चिमी गुट के साथ अपना मेलजोल बढ़ाये। स्वयं कांग्रेस पार्टी के अन्दर दक्षिण पन्थियों का प्रभाव बढ़ा और नेहरू मन्त्रिमण्डल में कुछ ऐसे लोगों का प्रवेश हुआ जिनकी सहानुभूति अमेरिकन गुट के प्रति अधिक थी। भारत की इस नीति में इस परिवर्तन का पहिले स्पष्ट संकेत हंगरी की समस्या में भारतीय रुख के बदलने से मिला. जहां शुरू में इस बारे में भारत ने सोवियत संघ का समर्थन किया था वहां बाद में वह अपनी पूर्व स्थिति से हट कर सोवियत संघ का विरोध करने लगा। अब पश्चिमी एशिया और पूर्वी एशिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद का विरोध भी भारत बहुत बन्द जबान से करने लगा। वियतनाम संकट में भारत की अस्पष्ट ढुलमुल नीति भी परिस्थितियों का परिणाम कही जा सकती है।[1]

---

1 (a) "Nehru projected the policy of Non-alignment not merely because he believe that international peace could best be preserved by keeping India out of any military entanglement with either bloc because he was drawn both to the political principles of western democracy and to the economic principles of Soviet Socialism but also because he wanted a free hand in furthering the escape of captive please from the custody of any great power .. Gradually however as India became more absorbed by her own vast economic problems and with mounting anxiety sought substentially aid from the We t the Nehru Government grew less concerned abo t colonial liberation and not without a measure of self importance concentrated its efforts upon securing international peace by appointmenting to m-diate in the quarrels of the great powers.

—Ronald Segal, Crises of India, Page 267

नवम्बर १९६२ में चीन द्वारा भारत पर विशाल पैमाने पर आक्रमण किये जाने पर असंलग्नता की नीति की कठिन परीक्षा हुई। अधिकांश लोगों ने यह मांग की आरंभ की कि असंलग्नता की नीति पूर्णतः असफल हो चुकी है, अतः देश के हित में इसका जल्दी से जल्दी परित्याग होना चाहिये, लेकिन राष्ट्र के नाम अपने रेडियो ब्रॉडकास्ट में श्री नेहरू ने स्पष्ट घोषणा की कि भारत अपनी असंलग्नता की नीति का अनुसरण करता रहेगा। चीन के आकस्मिक और विस्तारवादी आक्रमण के कारण भारत को कुछ गम्भीर सैनिक पराजयों का सामना करना पड़ा और भारत सरकार की अपील पर अमरीका व ब्रिटेन से सहायतार्थ बहुत बड़ी मात्रा में शस्त्रास्त्र भारत पहुँचे। इस अवसर पर विरोधियों को असंलग्नता की नीति की आलोचना करने का और उस पर प्रहार करने का एक और अवसर मिला। यह कहा जाने लगा कि जब सम्पूर्ण विश्व ही दो विरोधी गुटों में विभक्त है तो भारत द्वारा असंलग्नता की नीति का अवलम्बन करना पूर्णतः अव्यावहारिक है। इन दो गुटों में से साम्यवादी गुट के प्रमुख सदस्य चीन के साथ संघर्ष है और उसका सामना करने के लिये अमेरिकन गुट द्वारा सैनिक सहायता ले रहा है। अतः इन परिस्थितियों में असंलग्नता की नीति की कोई जरूरत नहीं रही है और समय आ गया है कि भारत को अब अपनी स्थिति का पुनर्निर्धारण स्पष्ट शब्दों में कर लेना चाहिये। यद्यपि स्वयं पण्डित नेहरू को चीनी आक्रमण से गहरा आघात पहुँचा था किन्तु फिर भी वे विरोधियों और आलोचकों के तर्कों के सामने पराजित नहीं हुए और उन्होंने यह मानने से इन्कार कर दिया कि असंलग्नता की नीति खोखली है अथवा देश के लिये अहितकारी है। उन्होंने यही कहा कि भारत के हक में यह नीति सर्वोत्तम है तथा वे इसका अनुसरण करते रहेंगे। श्री नेहरू का प्रधान तर्क यह था कि आक्रमणकारी का मुकाबला करने के लिए भारत ने जो भी शस्त्रास्त्र की सहायता ली है उसके साथ किसी प्रकार की राजनीतिक या अन्य शर्त नहीं लगी है। किसी भी प्रकार सहायता का लेने का अभिप्राय असंलग्नता की नीति से दूर हटना नहीं कहा जा सकता। असंलग्नता की नीति के समर्थकों ने इस नीति के आलोचकों को यह करारा उत्तर दिया कि यदि इस नीति का परित्याग कर दिया गया तो भारत चीन-सीमा संघर्ष शक्ति युद्ध का एक अंग बन जायगा और तब भारत चीन विवाद १०० वर्षों में भी हल नहीं हो सकेगा। इसके अतिरिक्त इतिहास बताता है कि गुटों की नीति कभी भी सही रूप में सफल नहीं हो पाती है। अमेरिका के समर्थन के बावजूद न तो कोरिया और जर्मनी का एकीकरण हो सका है और न पाकिस्तान को काश्मीर मिल सका है। इसलिये यह आशा करना निरी मूर्खता होगी कि यदि

(b) Since 1957 India has tended to be content with a rather .. – rule internationally than hitherto by contrast with either Egypt or Yugoslavia to be more moderate less stridently radical and revisonalist even on anti-colonical issues

—Peter Lyons: Neutralism page 127

भारत पाश्चात्य राष्ट्रों के गुट में या साम्यवादी गुट में मिल गया तो इससे उसके साथ हुए प्राप्त मुफ्त मित्र जायेंगे।

भारत सरकार की ओर से यह एकदम स्पष्ट कर दिया गया कि देश अपनी रक्षा के लिये सभी मित्र राज्यों से सहायता लेगा परन्तु असंलग्नता की नीति का परित्याग नहीं करेगा। भारत चीन संघर्ष के बाद सितम्बर १९६५ में भारत और पाकिस्तान के युद्ध में असंलग्नता की नीति की शक्ति को एक बार फिर सही सिद्ध कर दिखाया गया। पाकिस्तान सीटो और सेंटो जैसे शक्तिशाली सैनिक गुटों का सदस्य होने पर भी किसी से कोई प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त नहीं कर सका। टर्की और ईरान ने उसे हथियार की सहायता देने का आश्वासन दिया भी तो अन्य राज्यों के विरोध विशेषकर पश्चिमी राज्यों की सम्मिलित मत के कारण पाकिस्तान की मदद पर आए नहीं। इस युद्ध में स्पष्ट दृष्टिगोचर हो यह सिद्ध हो गया कि राष्ट्रीय सुरक्षा के लिए गुटों में सम्मिलित होने की नीति गलत है। बात यहीं तक सीमित नहीं रही। पाकिस्तान के बहुत बड़े समर्थक संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत और पाकिस्तान दोनों पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिये और यह घोषणा की कि जब तक दोनों पक्ष युद्ध बन्द नहीं कर देंगे तब तक उन्हें किसी भी प्रकार की सैनिक सहायता नहीं दी जाएगी। स्पष्ट है अमेरिका ने अपनी इस घोषणा द्वारा एक साथी राज्य और असंलग्न राज्य को एक ही कोटि में रखा। जब गुटों में सम्मिलित होने से पाकिस्तान को भी लाभ नहीं पहुंच सका तो फिर भारत को लाभ पहुंचने की क्या आशा की जा सकती थी। वास्तव में देखा जाए तो यह असंलग्नता की नीति का ही परिणाम था कि संकट की अवस्था में भारत को प्रत्येक देश से पूरा समर्थन मिला और युद्ध के समय इसकी कूटनीतिक स्थिति किसी तरह कमजोर नहीं हुई। सुरक्षा परिषद में युद्ध पर बहस के दौरान भी सोवियत संघ द्वारा उसे पर्याप्त समर्थन दिया गया। भारत पाक युद्ध ने असंलग्नता की नीति की श्रेष्ठता को अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिया।

असंलग्नता की नीति को नेहरू युग में आशा से अधिक सफलता प्राप्त हुई और साम्यवादी जगत व पश्चिमी संसार दोनों ही भारत के विचारों की कद्र निरन्तर असंलग्नता की नीति की कद्र करते रहे। श्री नेहरू ने कठोरतम आलोचनाओं के बावजूद भी अपनी नीति की दृढ़तापूर्वक रक्षा की। मई १९६४ में उनकी मृत्यु के उपरान्त यह धारणा व्यक्त की जाने लगी कि भारत अब असंलग्नता की नीति का अवलम्बन सम्भवतः नहीं कर पायेगा। लेकिन अनिश्चितता के बादल तुरन्त ही छिट गये और पद ग्रहण करते ही स्वर्गीय भारत प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने साफ शब्दों में यह घोषणा कर दी कि भारत के हक में असंलग्नता की नीति सर्वोत्तम है तथा वह इसका किसी भी रूप में परित्याग नहीं करेगा और जब जनवरी १९६६ में श्री शास्त्री का असामयिक निधन हो गया तो उनकी उत्तराधिकारिणी श्रीमती इंदिरा गांधी ने भी इसी नीति पर अडिग रहने का राष्ट्र व विश्व को संदेश दिया। आज भारत कठिन आर्थिक और खाद्य संकट की स्थिति से पीड़ित है। वह विश्व के दोनों खेमों से

आर्थिक और खाद्य सहायता का आकांक्षी है। खाद्य के मामले में उसे अधिकाधिक अमेरिकन सहायता पर निर्भर रहना पड़ रहा है किन्तु फिर भी असंलग्नता की नीति पर चलते रहने का भारत सरकार का दृढ़ निश्चय है। अमेरिका की नाराजगी के बावजूद वियतनाम के मामले में भारत ने अपनी पूर्व नीति जारी रखी है और यह मांग की है कि अमेरिका को वियतनाम पर बमबारी बन्द कर देना चाहिए। कुछ लोगों का यह कहना है कि जून १९६६ में भारतीय रुपये का जो अवमूल्यन किया गया वह अमेरिकन दबाव का ही परिणाम है और भारत सरकार पर अमेरिका का प्रभाव पड़ने लगा है। इस विषय में भी यही कहना उचित है कि असंलग्नता की नीति के परित्याग के ठोस व स्पष्ट लक्षण पर्याप्त सशक्त नहीं हैं। आज भी असंलग्नता की नीति ही भारत की विदेश नीति का मूल आधार है।

( ) शांतिवाद की नीति
[Policy of Peace]

भारत की विदेश नीति सदैव विश्व शांति एवं सुरक्षा की ओर अग्रसर होती रही है। शांति भारत के लिये न केवल अपेक्षित मात्रा है वरन् गम्भीर आवश्यकता भी। श्री पणिक्कर ने २१ अगस्त १९५४ को कहा था "यदि समय मिल तो भारत के लिये स्वयमेव अपने रूप से विश्व शक्ति बनने का पूरा मौका है भारत को इस बात की बहुत चिन्ता है कि उसकी प्रगति को तथा सामान्य रूप से मानव जाति की उन्नति को संकट में डालने वाला कोई युद्ध न हो।"

युद्ध और संघर्ष सर्वोदित भारत के आर्थिक विकास को अवरुद्ध करने वाला है फिर चाहे वह युद्ध देश में हुआ हो अथवा अन्यत्र। १९५६ के स्वेज नहर के युद्धकालीन संकट ने भारत की दो पंचवर्षीय योजनाओं को अधिक व्यय-साध्य तथा विलम्बित बना दिया था। १९६२ के भारत चीन और १९६५ के भारत-पाक संघर्षों ने भारतीय आर्थिक व्यवस्था को कमजोर किया था और १९६७ के अरब-इजराइल युद्ध के कारण स्वेज मार्ग का अवरुद्ध होना एक बार फिर भारतीय आर्थिक व्यवस्था पर बड़ा प्रतिकूल प्रभाव डाल रहा है। इन्हीं सब बातों को अपनी पैनी दृष्टि से देखते हुए भारत के भविष्य द्रष्टा स्वर्गीय श्री नेहरू ने १२ जून १९४६ को इन शब्दों में भारत की शांतिवादी नीति की घोषणा कर दी थी—

'हमारी पहली नीति तो यह होनी चाहिये कि हम ऐसी भीषण आपत्ति (तृतीय महायुद्ध जैसी) को घटित होने से रोकें दूसरी नीति इसमें बचने की होनी चाहिये और तीसरी नीति ऐसी स्थिति बनाने की होनी चाहिये कि यदि युद्ध छिड़ जाए तो हम इसे रोकने में समर्थ हो सकें। मैं यह चाहता हूं कि दुनिया में ऐसे देशों का क्षेत्र अधिक विस्तृत हो जो यह निश्चय करें कि चाहे कुछ भी हो जाए, वे युद्ध में सम्मिलित नहीं होंगे। ... मैं चाहता हूं कि वे इस युद्ध की घटना होने पर शांति रहें रण क्षेत्र में प्रवेश न करें

अन्य प्रदेशों में होने वाले युद्ध के क्षेत्र को सीमित करें अपने प्रदेश की रक्षा करें और दूसरों के प्रदेश को सुरक्षित बनाने का भी यत्न करें।

इतिहास यह प्रमाणित करता है कि भारत ने कभी किसी देश पर आक्रमण नहीं किया और आज भी वह ऐसा नहीं करना चाहता। भारत विश्व में सदैव एक शांतिप्रिय राष्ट्र रहा है और उसकी दृढ़ आस्था इसी बात में है कि सभी राष्ट्रों को अपने सभी मतभेदों का निपटारा शांतिपूर्ण उपायों का अवलम्बन करके करना चाहिये। भारत ने अपने कार्यों द्वारा अपनी नीति की पुष्टि की है। अपनी भूमि पर आक्रमण करने वाले पाकिस्तान और साम्यवादी चीन के प्रति भारत ने इसी नीति का अनुसरण किया है। १९४७-४८ में पाकिस्तान ने आक्रमण किया भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में शिकायत की और संघ के आदेश के अनुपालन में युद्ध विराम को स्वीकार किया। १९६२ में चीन ने भारत पर हमला बोला और युद्ध विराम के पश्चात् से अब तक भारत शांतिपूर्ण ढंग से उसके साथ विवादों का हल करने का प्रयत्नशील है यदि कोई हठ या जिद है तो वह चीन ही की तरफ से है भारत की तरफ से नहीं। १९६५ में पाकिस्तान ने पहिले कच्छ और फिर काश्मीर पर आक्रमण किया। भारत पाक संघर्ष हुआ और पूरी तरह विजेता होते हुए भी संयुक्त राष्ट्र संघ के आदेश पर भारत ने युद्ध विराम को स्वीकार करके तथा बाद में ताशकन्द समझौते को मान कर शांतिवाद की अपनी नीति का जो परिचय दिया वह निश्चित रूप से विश्व के अन्य राष्ट्रों के लिये अनुकरणीय उदाहरण है।

(१) समस्त देशों से मैत्री की नीति
[Policy of Friendship]

भारत की विदेश नीति की एक प्रमुख विशेषता यह है कि वह एशिया के देशों से और अन्य पड़ोसियों से तथा विश्व के प्रत्येक राष्ट्र से मित्रता का हर सम्भव प्रयास करता है हालांकि कभी-कभी मैत्री के इस आह्वान को कड़ा करार अनुभव प्राप्त होता है। भारत ने अधिक से अधिक देशों के साथ मैत्री-संधियां और व्यापारिक-समझौते किये हैं। इनमें से उदाहरण स्वरूप कुछ उल्लेखनीय समझौते अथवा संधियां ये हैं—भारत स्विट्जरलैंड मैत्री संधि (१४ अगस्त १९४८) भारत-अफगानिस्तान शांति संधि (४ जनवरी १९५०) भारत-नेपाल मैत्री संधि (३१ जुलाई १९५०) भारत सिक्किम शांति संधि (५ दिसम्बर, १९५०) भारत बर्मा मैत्री संधि (१४ दिसम्बर १९५१) भारत-सीरिया मैत्री संधि (२९ फरवरी, १९५२), भारत जापान शांति संधि (९ जून १९५२) भारत-फिलिपाइन्स मैत्री संधि (११ जुलाई १९५२) भारत ईराकी मैत्री संधि (१० नवम्बर १९५२) भारत मिस्र मैत्री संधि (६ अप्रैल १९५५) आदि।

व्यावहारिक रूप से देखा जाय तो पाकिस्तान साम्यवादी चीन पुर्तगाल और दक्षिणी अफ्रिका के ४ देशों को अपवाद रूप में छोड़ कर विश्व

द प्राय अन्य सभी देशों के साथ भारत के सम्बन्ध मित्रतापूर्ण है । जहाँ तक इन दमो का भी प्रश्न है भारत की ओर से सदैव इनके साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयत्न किया गया है किन्तु अपने स्वार्थ और अपनी हठधर्मी के कारण ये राष्ट्र स्वयं भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण व्यवहार रखते हैं तब इसमें भारत का क्या दोष है ?

भारत का मत है कि भौगोलिक-क्षेत्र एवं जन-संख्या की दृष्टि से एशिया और अफ्रीका का पर्याप्त महत्व होना चाहिए और उनकी आवाज को प्रभावपूर्ण माना जाना चाहिये । भारत ने इन महाद्वीपों के देशों की मैत्री अर्जित करने के लिये इनके आर्थिक विकास में यथासम्भव सहयोग दिया है और उनके हित एवं प्रभाव को बढ़ाने के प्रत्येक अवसर का लाभ उठाया है । जब कभी भी एशिया के लोगों के हित को ठेस पहुँचाई जाती है अथवा उनकी आवाज को दबाया जाता है तो भारत द्वारा उसका पूरी शक्ति से विरोध किया जाता है । यह भारत के लिये स्वाभाविक है क्योंकि भारत एशिया में है और यहाँ के निवासी दूसरों की अपेक्षा पूर्वी एशिया की कौमों है । अतीत काल में भी भारतीय संस्कृति ने इन देशों को प्रभावित किया था और स्वयं भी कई क्षेत्रों में इनसे प्रभावित हुआ था ।

भारत एशिया महाद्वीप के देशों का उनका यथोचित सम्मान एवं महत्व दिलाने में सदैव प्रयत्नशील रहा है लेकिन उसने कभी भी इस महाद्वीप को अन्य महाद्वीप के लोगों से पूरी तरह अलग रखना न चाहा है और न दूसरों की तुलना में समानता सर्वोच्च स्थान प्रदान करने का पक्ष-पोषण किया है । भारत तो एशिया के लोगों को दूसरे महाद्वीपों के लोगों के समान वह महत्व एवं गौरव दिलाना चाहता है जिससे कि अन्यायपूर्ण तरीके से वे एक लम्बे समय से वंचित रखे जा रहे हैं ।

विश्व के सभी देशों से मैत्री सम्बन्धी भारतीय नीति के विषय में यह उल्लेखनीय है कि भारत पर हाल ही में किये गये पाकिस्तानी आक्रमण ने यहाँ के नेताओं तथा विदेश नीति के सूत्रधारों को यह प्रेरणा दी है कि वे स्पष्ट रूप से यह जान लें कि कौन वास्तव में उनके मित्र है और कौन उनके मित्र नहीं है । भारतीय नेताओं का प्रयास है कि जो देश मित्र है उनसे प्राप्त भी घनिष्ठता बढ़ाई जाए और जो मित्र नहीं है उनको मित्र बनाने का प्रयास किया जाए । मित्रों की खोज के इस विचार को क्रियान्वित करने के लिये भारत के प्रमुख नेताओं ने एक के बाद अनेक विदेश यात्रायें की हैं । यह कहना उचित ही होगा कि अब इस क्षेत्र में भारत की विदेश-नीति पूरी तरह आदर्शवादी न होकर कुछ कुछ यथार्थवादी हो गयी है । वह दिन निश्चित रूप से अत्यन्त सौभाग्यशाली होगा जब भारत की विदेश नीति यथार्थवाद की तरफ भी अपना ध्यान देने लगेगी जितना अब तक वह आदर्शवाद की तरफ देती रही है । आदर्श और यथार्थ का सुन्दर समन्वय ही भारत की विदेश नीति को सफलता की सीढ़ियों पर चढ़ा सकता है ।

(४) परस्पर विरोधी शक्तियों के बीच सेतुबन्ध का कार्य करना
(Maintenance of Balance between the Power Blocs)

भारत की विदेश नीति ने विश्व में परस्पर विरोधी गुटों के मध्य सेतुबन्ध का कार्य किया है। असंलग्नता की नीति के कारण और शान्तिपूर्ण व मैत्री का लक्ष्य होने के कारण भारत को इस कार्य के लिए सर्वाधिक उपयुक्त देश माना जाता रहा है। यद्यपि भारत सैनिक और आर्थिक दृष्टि से विश्व का एक कमजोर राष्ट्र है तथापि वर्तमान विश्व की परिस्थितियों में दोनों गुटों की शक्ति का लगभग सन्तुलन होने के कारण विविध अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में मध्यस्थता का कार्य करने की दृष्टि से भारत की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण रही है। कोरिया, हिन्द चीन आदि की समस्याओं को सुलझाने में भारत ने शान्ति दूत का कार्य जिस सफलता के साथ किया उसकी प्रशंसा दोनों ही गुटों द्वारा की गई है। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर सदैव अपनी विवेक बुद्धि के आधार पर एक स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया है। इसीलिये जहाँ भारत ने पाश्चात्य राष्ट्रों की नीतियों को उचित होने पर समर्थन प्रदान किया है वहाँ अनुचित होने पर उनका विरोध भी किया है। उसका यही दृष्टिकोण साम्यवादी राष्ट्रों के प्रति भी रहा है। जहाँ स्वेज पर ब्रिटेन, फ्रांस और इजराइल का आक्रमण भारत की निन्दा का विषय रहा है वहाँ हंगरी में सोवियत रूस के हस्तक्षेप को भी भारत ने अनुचित बताया है। कोरिया में आक्रमण की स्थिति पैदा होने पर भारत ने उसकी निन्दा की थी लेकिन साथ ही यह भी चेतावनी दी थी कि दक्षिणी कोरिया की सहायता करने वाली संयुक्त राष्ट्र संघीय फौजों को ३८° अक्षांश रेखा के उत्तर में नहीं बढ़ना चाहिए। कोरिया के मामले में भारत की स्वतन्त्र नीति ने [illegible] मंत्रि-मण्डल के सदस्यों को भी चक्कर में डाल दिया था क्योंकि इसमें भारत ने पहिले उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कार्यवाही में संयुक्त राज्य अमरिका का साथ दिया बाद में चीन को आक्रमणकारी घोषित करने के प्रस्ताव पर अमरिका का समर्थन नहीं किया और मई १९५१ में चीन को सामरिक सामग्री भेजने पर प्रतिबन्ध लगाने वाले प्रस्ताव पर भारत तटस्थ रहा।

(५) साम्राज्यवाद व उपनिवेशवाद आदि का विरोध
(Bitter opposition of Imperialism and Colonialism)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है भारत ने शुरू से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध करने की नीति अपनाई है क्योंकि भारत स्वयं इतने लम्बे अरसे तक परतन्त्रता का अनुभव कर चुका था। भारत की वैदेशिक नीति का यह एक प्रमुख सिद्धान्त रहा है कि वह पराधीन देशों की स्वाधीनता का सदैव समर्थन करे और उनके स्वतन्त्रता प्राप्ति के प्रयासों में यथासम्भव शान्तिपूर्ण ढंग से सहायक बने। इतिहास साक्षी है कि भारत ने १९४९ में इण्डोनेशिया को स्वतन्त्रता प्रदान करवाने हेतु दिल्ली में एशियाई राष्ट्रों का एक विशाल सम्मेलन आयोजित किया था। तब से ही एशिया और अफ्रीका के विभिन्न राष्ट्रों की स्वतन्त्रता में भारत का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष योगदान रहा है। उदाहरणार्थ अफ्रीकन राष्ट्र लीबिया की स्वतन्त्रता में भारत का

बहुत बड़ा हाथ रहा है तथा ट्यूनिशिया और अल्जीरिया की स्वतन्त्रता को भी भारत का पूर्ण समर्थन मिला है। भारत द्वारा परतन्त्र राष्ट्रों की स्वतंत्रता हेतु प्रदान की गई सहायता का उल्लेख करते हुए संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने कहा था पैलेस्टाइन सीरिया ट्यूनीशिया और मोरक्को की घटनाओं का वर्णन इस बात का साक्षी है कि भारत द्वारा स्वतंत्रता के कार्य में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया है।

(६) जातीय एवं वर्ण-भेद की नीति का विरोध (Opposition to Racial Discrimination)

भारत सभी जातियों को विकास के समान अवसर प्रदान करने का पक्षपाती है। इसका विश्वास है कि विश्व के सभी देशों के निवासियों में एकसी मनुष्यता होती है उनके बीच जाति रंग अथवा वर्ग के आधार पर ऊँच-नीच के सम्बन्धों की स्थापना करना अन्यायपूर्ण है। जातिवाद का विरोध भारत के इतिहास का एक स्वाभाविक परिणाम है। जातीय भेदभाव दो कारणों से अनुचित है—प्रथम तो यह मानवता के विरुद्ध है और दूसरे विश्व में संघर्षों की स्थापना करके शांति और सुरक्षा को खतरे में डालता है। दक्षिणी अफ्रीका में अपनाये गये वर्ण भेद (Apartheid) की नीति द्वारा प्रवासी भारतीयों के प्रति और अश्वेतों के प्रति होने वाला अन्याय असहनीय है परन्तु भारत इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से शांतिपूर्ण ढंग से दूर करना चाहता है। वह कोई हिंसात्मक साधन अपनाये जाने के पक्ष में नहीं है। भारत मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र का प्रबल समर्थक है और सम्पूर्ण विश्व में मौलिक स्वतन्त्रताओं की स्थापना का समर्थन करता है।

(७) संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन (Support to U N O)

भारत विश्व शान्ति एवं सहयोग का समर्थक होने के नाते प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का समर्थन करता है और उसके लक्ष्यों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने में अपना पूरा पूरा सहयोग प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा संसार के राष्ट्रों ने प्रायः उन सभी लक्ष्यों को पाने का संकल्प किया है जो भारत की विदेश नीति के लक्ष्य हैं। संसार में शान्ति की स्थापना कर के सभी देशों के बीच सद्भाव एवं सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की रचना करना संघ का प्रमुख उद्देश्य है। यह साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध कर मानव के मूल अधिकारों तथा स्वतन्त्रता में विश्वास प्रकट करता है। साथ ही यह सभी प्रकार के झगड़ों या विवादों को बातचीत एवं अन्य शांतिपूर्ण साधनों द्वारा सुलझाने का पक्षपाती है। स्पष्ट है कि संघ के इन सभी लक्ष्यों के साथ भारतीय विदेश नीति का पूरी तरह से समायोजन हो जाता है। संघ भारत के लिए एक सहारा है और उसके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का एक प्रमुख प्रभावशाली एवं न्यायोचित मार्ग है। यह बात दूसरी है कि कोई-कोई शक्तिशाली पश्चिमी राष्ट्रों की पक्षपात की नीति संघ में भारतीय हितों को हानि पहुँचाने की चेष्टा करती रही है।

भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों और विशेष अभिकरणों में सक्रिय रूप से भाग लेकर अनेक महत्वपूर्ण कार्य किया है। वह अफ्रो-एशियाई गुट का एक प्रमुख सदस्य है जिसने संघ के मंच पर अनेक वैध एवं न्यायपूर्ण विषयों पर अपना पुरजोर समर्थन किया है। भारत ने आज तक कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं किया। भारत पाक संघर्ष के दौरान पाकिस्तान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने के अनेकों उदाहरण होते हुए भी भारत द्वारा उसका एक भी उल्लंघन नहीं किया जाना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इसी तरह अपनी भूमि पर पाकिस्तान के नग्न आक्रमण के समय और युद्ध में प्रशंसनीय रूप से विजेता के रूप में प्रकट होने पर भी भारत ने संघ के आदेशों का पालन करने में जो तत्परता दिखाई है उससे इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रति भारत की आस्था भली प्रकार प्रकट हो जाती है।

(८) सहअस्तित्व में विश्वा
(Faith in Coexistence)

भारतीय विदेश नीति की अपनी एक मौलिकता यह है कि असलग्नता की नीति पर चलते हुए भारत ने सदैव इस बात का पक्ष लिया है कि विश्व में परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सहअस्तित्व की भावना पैदा होनी चाहिये न कि एक दूसरे को कुचलने की। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब विश्व के दोनों शक्तिशाली गुट एक दूसरे को कुचलने अथवा दबाव की नीति अपनाने लग गये तब भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री स्वर्गीय पं० नेहरू ने अपने पंचशील के सिद्धान्तों के अन्तर्गत जिसका उल्लेख आगे किया जायगा सहअस्तित्व के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जो अब विश्व की महाशक्तियों द्वारा भी प्राय व्यवहार में माने जाने लगा है यद्यपि दुराग्रही साम्यवादी चीन पर यह बात लागू नहीं होती। पं० नेहरू का यह कथन आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि आधुनिक विश्व में सहअस्तित्व का अस्वीकार करने का दूसरा विकल्प सह-विनाश है।

(९) साधनों की पवित्रता का सिद्धान्त)

भारत को राष्ट्र पिता महात्मा गांधी से विरासत के रूप में यह सिद्धान्त मिला कि यदि व्यक्ति कोई बड़ा या छोटा कार्य करना चाहता है तो उसके लिए साधन भी नैतिक और श्रेष्ठ ही अपनाने पड़ेंगे। नैतिक तथा अनुचित साधनों के अपनाने पर प्राप्त होने वाला फल वैसा नहीं होगा जैसा कि माना गया है। दूसरे शब्दों में भारतीय वैदेशिक नीति में और भारतीय परम्परा तथा संस्कृति में साधनों को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना कि साध्यों को। अवसरवादिता और अच्छे या बुरे किसी भी साधन से अपने साध्यों को प्राप्त करने की नीति भारतीय वैदेशिक नीति और संस्कृति से मेल नहीं खाती। साधन और साध्यों का नैतिक कानून के अनुरूप होने का विचार आधुनिक युग में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से महात्मा गांधी द्वारा व्यक्त किया गया था जैसे हमारे प्राचीन धर्म शास्त्रों ने इस विषय पर अनेक

बहुत बड़ा हाथ रहा है तथा ट्यूनिसिया और अल्जीरिया की स्वतन्त्रता को भी भारत का पूर्ण समर्थन मिला है। भारत द्वारा परतन्त्र राष्ट्रों की स्वतन्त्रता हेतु प्रदान की गई सहायता का उल्लेख करते हुए संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर ने कहा था पैलेस्टाइन, लीबिया, ट्यूनीशिया और मोरक्को की घटनाओं का वर्णन इस बात का साक्षी है कि भारत द्वारा स्वतन्त्रता के कार्य में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया गया है।

(६) जातीय एवं वर्ण-भेद की नीति का विरोध (Opposition to Racial Discrimination)

भारत सभी जातियों को विकास के समान अवसर प्रदान करने का पक्षपाती है। इसका विश्वास है कि विश्व के सभी देशों के निवासियों में एक-सी मनुष्यता होती है, उनके बीच जाति, रंग अथवा वर्ण के आधार पर ऊँच-नीच के सम्बन्धों की स्थापना करना अन्यायपूर्ण है। जातिवाद का विरोध भारत के इतिहास का एक स्वाभाविक परिणाम है। जातीय भेदभाव दो कारणों से अनुचित है—प्रथम तो यह मानवता के विरुद्ध है और दूसरे, विश्व में तनावों की स्थापना करके शान्ति और सुरक्षा को खतरे में डालता है। दक्षिणी अफ्रीका में अपनाये गये वर्ण भेद (Apartheid) की नीति द्वारा प्रवासी भारतीयों के प्रति और अश्वेतों के प्रति होने वाला अन्याय असहनीय है परन्तु भारत इसे संयुक्त राष्ट्र संघ के माध्यम से शांतिपूर्ण ढंग से दूर करना चाहता है। वह कोई हिंसात्मक साधन अपनाये जाने के पक्ष में नहीं है। भारत मानव अधिकारों के घोषणा-पत्र का प्रबल समर्थक है और सम्पूर्ण विश्व में मौलिक स्वतन्त्रताओं की स्थापना का समर्थन करता है।

(७) संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन (Support to U N O)

भारत विश्व शांति एवं सहयोग का समर्थक होने के नाते प्रत्येक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का समर्थन करता है और उसके लक्ष्यों को सफलतापूर्वक क्रियान्वित करने में अपना पूरा पूरा सहयोग प्रदान करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा साधन है जिसके द्वारा संसार के राष्ट्रों ने प्रायः उन सभी लक्ष्यों को पाने का संकल्प किया है जो भारत की विदेश नीति के लक्ष्य हैं। संघ का प्रमुख उद्देश्य है संसार में शांति की स्थापना कर के सभी देशों के बीच सहयोग एवं प्रेमपूर्ण सम्बन्धों की रचना करना। यह साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का विरोध कर मानव के मूल अधिकारों तथा स्वतन्त्रता में विश्वास प्रकट करता है। साथ ही यह सभी प्रकार के झगड़ों या विवादों को बातचीत एवं अन्य शांतिपूर्ण साधनों द्वारा सुलझाने का पक्षपाती है। स्पष्ट है कि संघ के इन सभी लक्ष्यों के साथ भारतीय विदेश नीति का पूरी तरह से समायोजन हो जाता है। संघ भारत के लिए एक सहारा है और उसके राष्ट्रीय हितों की पूर्ति का एक प्रमुख प्रभावशाली एवं न्यायोचित मार्ग है, यह बात दूसरी है कि कोई-कोई शक्तिशाली पश्चिमी राष्ट्रों की यह भेदभावी की नीति संघ में भारतीय हितों को हानि पहुंचाने की चेष्टा करती रही है।

भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों और विशेष अभिकरणों में सक्रिय रूप से भाग लेकर अनेक महत्वपूर्ण कार्य किया है। वह संघ के अफ्रो-एशियाई गुट का एक प्रमुख सदस्य है जिसने संघ के मंच पर अनेक न्याय एवं न्यायपूर्ण विषयों पर अपना पुरजोर समर्थन दिया है। भारत ने आज तक कभी अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन नहीं किया। भारत-पाक संघर्ष के दौरान पाकिस्तान द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने के अनेक उदाहरण होते हुए भी भारत द्वारा उसका एक भी उल्लंघन नहीं किया जाना एक महत्वपूर्ण तथ्य है। इसी तरह अपनी भूमि पर पाकिस्तान के नग्न आक्रमण के समय और युद्ध में प्रशंसनीय रूप से विजेता के रूप में प्रकट होने पर भी भारत ने संघ के आदेशों का पालन करने में जो तत्परता दिखलाई है उससे इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के प्रति भारत की आस्था भली प्रकार प्रकट हो जाती है।

(८) सहअस्तित्व में विश्वास
(Faith in Coexistence)

भारतीय विदेश नीति की अपनी एक मौलिकता यह है कि असंलग्नता की नीति पर चलते हुए भारत ने सदैव इस बात का पक्ष लिया है कि विश्व में परस्पर विरोधी विचारधाराओं में सहअस्तित्व की भावना पनपनी चाहिये न कि एक दूसरे को कुचलने की। द्वितीय महायुद्ध के बाद जब विश्व के दोनों शक्तिशाली गुट एक दूसरे को कुचलने अथवा दबाव की नीति अपनाने लग गये तब भारत के तत्कालीन प्रधान मंत्री स्वर्गीय पं० नेहरू ने अपने पंचशील के सिद्धान्तों के अन्तर्गत जिनका उल्लेख आगे किया जायगा सहअस्तित्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो अब विश्व की महाशक्तियों द्वारा भी प्राय: व्यवहार में माने जाने लगा है यद्यपि दुराग्रही साम्यवादी चीन पर यह बात लागू नहीं होती। पं० नेहरू का यह कथन आज भी उतना ही महत्वपूर्ण है कि आधुनिक विश्व में सहअस्तित्व को अस्वीकार करने का दूसरा विकल्प सह-विनाश है।

(९) साधनों की पवित्रता का सिद्धान्त

भारत को राष्ट्र पिता महात्मा गांधी से विरासत के रूप में यह सिद्धान्त मिला कि यदि व्यक्ति कोई बड़ा या छोटा कार्य करना चाहता है तो उसके लिए साधन भी नैतिक और श्रेष्ठ ही अपनाने पड़ेंगे। नैतिक तथा अनुचित साधनों के अपनाने पर प्राप्त होने वाला फल वैसा नहीं होगा जैसा कि माना गया है। दूसरे शब्दों में भारतीय वैदेशिक नीति में और भारतीय परम्परा तथा संस्कृति में साधनों को भी उतना ही महत्वपूर्ण माना गया है जितना कि साध्यों को। अवसरवादिता और अच्छे या बुरे किसी भी साधन से अपने साध्यों को प्राप्त करने की नीति भारतीय वैदेशिक नीति और संस्कृति से मेल नहीं खाती। साधन और साध्यों का नैतिक कानून के अनुरूप होने का विचार आधुनिक युग में सर्वाधिक स्पष्ट रूप से महात्मा गांधी द्वारा व्यक्त किया गया था जैसे हमारे प्राचीन धर्म शास्त्रों में इस विषय पर अनेक

शक्तियाँ पहिले से ही उपलब्ध हैं। स्वयं भारतीय संविधान में कहा गया है कि राज्य—

(क) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का;

(ख) राष्ट्रों के बीच न्यायपूर्ण एवं सम्मानपूर्ण सम्बन्धों को बनाये रखने का

(ग) संगठित लोगों के एक दूसरे से व्यवहारों में अन्तर्राष्ट्रीय विधि और संधि बन्धनों के प्रति आदर बढ़ाने का

(घ) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का मध्यस्थता द्वारा निपटारे के लिए प्रोत्साहन देना;

इत्यादि का प्रयत्न करेगा।

अपनी इस आदर्शवादिता से प्रेरित होकर ही भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति सक्रिय सहयोग की नीति अपनाई है। २० नवम्बर १९५५ को बुल्गानिन और ख्रुश्चेव की दावत के समय बोलते हुए स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने कहा था कि हम इस बात में विश्वास करते हैं कि जो लक्ष्य प्राप्त किये जाएं वे अच्छे होने चाहिये साथ ही हम इस बात में भी विश्वास करते हैं कि साधन भी अच्छे ही अपनाये जाने चाहियें। ऐसा न किये जाने पर नई-नई समस्यायें उठ खड़ी होती हैं तथा स्वयं लक्ष्य भी बदल जाता है। एक अन्य अवसर पर उन्होंने कहा था कि हमें बुराइयों का विरोध करना चाहिये किन्तु किसी बड़ी बुराई द्वारा नहीं। हिंसा और घृणा का अधिक हिंसा अथवा घृणा द्वारा दमन नहीं किया जा सकता। अपने इसी दृष्टिकोण के आधार पर भारत ने अपनी विदेश नीति के अन्यान्य आदर्शों को अपनाया है। जैसे अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को दूर करने में बातचीत करना, पंच फैसले एवं मध्यस्थता का प्रयोग करना, शक्ति के प्रयोग अथवा प्रयोग की धमकी को भी दूर रखना, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को मानना और युद्ध का विरोध करना तथा साम्यवादी और गैर साम्यवादी गुटों के बीच तटस्थता एवं अलग रहने की नीति को अपनाना आदि।

(१०) पंचशील के सिद्धान्त
(Principles of Panch Sheel)

भारतीय विदेश नीति का प्रधानतम सिद्धान्त "पंचशील" के नाम से विख्यात है। यह विदेश नीति की आधारशिला है जिसे सहअस्तित्व का सिद्धान्त भी कहा जा सकता है। श्री नेहरू के शब्दों में दो व्यवस्थायें एक लोकतान्त्रिक तथा दूसरी एकतन्त्रवादी—सर्वांग शस्त्र सुसज्जित शक्ति से एक दूसरे के सामने खड़ी हैं। युद्ध की इतनी अधिक तैयारी की जा चुकी है कि कोई युद्ध सम्भव नहीं है। प्रत्येक गुट को अपने को बचाना है और शांति के लिये शस्त्रों का ढेर लगाया जाता है इस पूर्णतः विसंगतिपूर्ण स्थिति में भारत का एक सकारात्मक अनुदान है—पंचशील।

'पंचशील' स्वयं में कोई नया शब्द नहीं है। अब से लगभग ढाई हजार

वर्ष पूर्व महात्मा बुद्ध ने इस शब्दों का प्रयोग करते हुए अपने अनुयायियों को पांच व्रतों—अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सत्य भाषण और मद्य-पान निषेध का पालन करने का उपदेश दिया था। आधुनिक युग में इण्डोनेशिया के भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० सुकार्णो ने १ जून १९४५ को अपनी वैदेशिक नीति के आधार के रूप में पांचशिला (Panjashila) अथवा ५ सिद्धान्तों की घोषणा की जो इस प्रकार हैं—अपने लोगों में विश्वास या राष्ट्रवाद, मानवता में विश्वास, स्वाधीनता में विश्वास, सामाजिक न्याय में विश्वास एवं ईश्वर में विश्वास।

परन्तु इन सब से ऊपर भारतीय पंचशील ने एक विशेष महत्त्व ग्रहण किया। जहाँ बौद्ध पंचशील व्यक्तिगत आचरण के नियमों की संहिता था जहाँ इण्डोनेशिया की 'पांचशिला' उस देश के स्वातन्त्र्य संग्राम के समाप्ति की स्वदेश की नीति सम्बन्धी घोषणा था वहाँ भारतीय पंचशील अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सर्व प्रभुत्व सम्पन्न देशों के आचरण से सम्बन्धित नियम की संहिता बनी। भारत के इस पंचशील को जिन पांच सिद्धान्तों में निहित किया गया है इस प्रकार हैं—

(१) एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता के लिए पारस्परिक सम्मान की भावना

(२) अनाक्रमण

(३) एक दूसरे के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करना

(४) समानता एवं पारस्परिक लाभ एवं

(५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व।

इन पांचों सिद्धान्तों का प्रतिपादन [illegible] अप्रैल १९५४ को तिब्बत के विषय में भारत और चीन के मध्य हुए एक समझौते में किया गया। तत्पश्चात् जब जून १९५४ में साम्यवादी चीन के प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई जेनेवा से लौटते समय दिल्ली आये तो दोनों प्रधान मन्त्रियों ने २८ जून १९५४ को अपने एक संयुक्त वक्तव्य में पंचशील के सिद्धान्तों के प्रति अपने विश्वास को दुहराया। इस वक्तव्य में घोषित किया गया कि—

'चीन और भारत न केवल दोनों देशों के संबंधों के संचालन के लिए इन पांच सिद्धान्तों के पालन का निश्चय किया है। वे एशिया और विश्व के अन्य देशों के साथ अपने सम्बन्धों में भी इनका अनुसरण करेंगे। यदि इनका प्रयोग न केवल विभिन्न देशों में अपितु सामान्य रूप से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी किया जाए तो इससे शान्ति एवं सुरक्षा के लिए एक सुदृढ़ आधार का निर्माण होगा और वर्तमान सन्देहों तथा आशंकाओं के स्थान पर विश्वास पैदा होगा। इस समय एशिया में तथा संसार के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार की सामाजिक और राजनीतिक पद्धतियाँ विद्यमान हैं। यदि उपरोक्त सिद्धान्तों को स्वीकार किया जाए तथा उनका पालन किया जाए व दूसरे के द्वारा कोई हस्तक्षेप न हो तो ये विभिन्नतायें शांति भंग करके संघर्ष उत्पन्न नहीं करेंगी। प्रत्येक देश की प्रादेशिक अखण्डता, सर्वोच्च सत्ता तथा अनाक्रमण का

आश्वासन मिल जाने पर विभिन्न देशों में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व रहेगा और मैत्री सम्बन्ध बढ़ेंगे। इससे विश्व में विद्यमान वर्तमान तनाव कम होगा और शांति का वातावरण उत्पन्न होने में सहायता मिलेगी।

२१ सितम्बर १९५४ को प्रधानमन्त्री अली सास्त्रोअमिजोजो के सम्मान में आयोजित एक राजकीय भोज में पण्डित नेहरू ने उपरोक्त पाँचों सिद्धान्तों को 'पंचशील' का नाम दिया। उन्होंने विश्व के अन्य देशों को भी पंचशील को स्वीकार करने के लिए आह्वान किया। इस आह्वान के उत्तर में २ अप्रैल १९५५ तक बर्मा, लाओस, नेपाल, वियतनाम, यूगोस्लाविया और कम्बोडिया ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया।

१० अप्रैल १९५५ को नई दिल्ली में एशिया और अफ्रीका के १४ राष्ट्रों से आये हुए २०० प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में यह मान लिया गया कि संसार के राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित होने चाहियें। अप्रैल १९५५ को बाण्डुंग में एशिया और अफ्रीका के २९ राष्ट्रों के सम्मेलन में पंचशील के पाँच सिद्धान्तों को विस्तृत रूप प्रदान किया गया और उसमें पाँच सिद्धान्तों के स्थान पर १० सिद्धान्तों की स्थापना की गई। दूसरे शब्दों में पंचशील को दशशील का रूप दिया गया। ये १० सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(१-२) मौलिक मानवीय अधिकारों और संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सन्निहित सिद्धान्तों के प्रति सम्मान की भावना

(३) सब नस्लों और छोटे बड़े राष्ट्रों की समानता

(४) दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप न करना

(५) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश को आत्मरक्षा करने का अधिकार।

(६) किन्हीं महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्यों को पूरा करने के प्रयोजन से बनाई गई व्यवस्थाओं से पृथक रहना और दूसरे देशों पर दबाव न डालने से बचना

(७) आक्रमण के कार्यों को नहीं करना, दूसरों को धमकियां न देना,

(८) सब अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण उपायों से निपटारा करना

(९) पारस्परिक हितों की वृद्धि एवं

(१०) न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान।

बाण्डुंग सम्मेलन के बाद पंचशील को आस्ट्रिया (४ जून १९५५) रूस (२२ जून १९५५) पोलैण्ड (२७ जून १९५५) संयुक्त राज्य अमेरिका (२७ अक्टूबर, १९५५) आस्ट्रेलिया (१ अक्टूबर १९५८) ने स्वीकार किया। १४ दिसम्बर, १९५७ को ८२ राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में भारत द्वारा उपस्थित किये जाने वाले 'पंचशील' के प्रस्ताव को

स्वीकार कर लिया गया और इस प्रकार पंचशील के सिद्धान्तों को विश्व के अधिकांश राज्यों द्वारा (अपवाद स्वरूप कुछ राष्ट्रों को छोड़कर) मान लिया गया।

जब हम पंचशील के सिद्धान्तों की व्याख्या या विवेचना पर जाते हैं तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि सिद्धान्त की दृष्टि से पंचशील के सिद्धान्त बड़े उत्तम आदर्श हैं और उन पर चलने से विश्व में स्थायी शांति बनी रह सकती है। पंचशील का प्रथम सिद्धान्त अत्यधिक महत्वपूर्ण है जो यह घोषित करता है कि संसार के सभी राष्ट्रों को एक दूसरे की प्रादेशिक अखण्डता और सर्वोच्च सत्ता का सम्मान करना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि किसी भी राज्य को अपने से कम शक्तिशाली राज्य पर राजनीतिक एवम् सैनिक शर्तें नहीं लादनी चाहिए। इस प्रकार इस सिद्धान्त का यह अर्थ भी निकलता है कि प्रत्येक राष्ट्र को प्रादेशिक अथवा आर्थिक साम्राज्यवाद के सिद्धान्तों का परित्याग कर देना चाहिये। पुनश्च इसी सिद्धान्त के आधार पर यह भी कहा जा सकता है कि अन्य देशों में बल पूर्वक आर्थिक सुविधायें प्राप्त करने अथवा दुर्बल कठपुतली सरकार को स्थापित करने या दूसरे देशों में विद्रोही कार्यवाहियों को प्रोत्साहन देने या किसी भी राज्य में किसी दल विशेष को आर्थिक दृष्टि से सबल बनाने के प्रयास करने आदि समस्त कार्य जिनमें राज्य की सर्वोच्च सत्ता एवं अहस्तक्षेप के सिद्धान्तों का उल्लंघन हो नहीं करने चाहिये। पंचशील का यह प्रथम सिद्धान्त इस बात को प्रस्थापित करता है कि अहस्तक्षेप के द्वारा युद्ध की सम्भावनाओं को निश्चित रूप से कम और शांति की सम्भावनाओं को निश्चित रूप से अधिक बढ़ाया जा सकता है।

पंचशील में समानता और पारस्परिक लाभ पर बल दिया गया है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि प्रत्येक राष्ट्र को अपने से छोटे और बड़े सभी राज्यों के साथ समानता का व्यवहार करना चाहिये तथा पारस्परिक हितों को आगे बढ़ाने में सहायक होना चाहिये। वस्तुतः आधुनिक जगत में प्रत्येक राष्ट्र एक दूसरे के अनुभवों से बड़ी सीमा तक लाभान्वित हो सकता है और एक दूसरे की सहायता से अपनी समस्याओं का सफलतापूर्वक निराकरण कर सकता है।

पंचशील के सिद्धान्तों में सहअस्तित्व का अन्तिम सिद्धान्त आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय जगत के वर्तमान वातावरण में सम्भवतः सर्वाधिक महत्व का सिद्धान्त है क्योंकि आज विश्व में विभिन्न प्रकार की सामाजिक एवं राजनीतिक प्रणालियाँ कायम हैं। प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार है कि वह अपनी पद्धति की श्रेष्ठता में विश्वास रखे किन्तु स्पष्ट ही इस विश्वास का यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि वह दूसरी पद्धति में विश्वास रखने वाले राष्ट्रों के विरुद्ध उन्मूलन का प्रयत्न करे। विभिन्न पद्धतियों वाले राष्ट्रों में विनाशक स्पर्द्धा के स्थान पर शांतिपूर्ण और रचनात्मक प्रतियोगिता चल सकती है और होना भी यही चाहिये कि वे राष्ट्र अपनी अपनी पद्धति की श्रेष्ठता को प्रमाणित करने के लिये स्वस्थ प्रतियोगिता की ओर उन्मुख

हों। यह एक हीन और अनुचित बात है कि विभिन्न राष्ट्र एक दूसरे के प्रति वैमनस्य की भावना रखते हुए एक दूसरे को हानि पहुँचायें अथवा नीचा दिखाने का प्रयत्न करें। विश्व में विरोधी पक्षों द्वारा एक दूसरे का बलपूर्वक सफाया करने का प्रयास अनिवार्यतः मानव जाति का विनाश के मार्ग की ओर धकेल देगा और यह एक तथ्य है कि यदि कोई तृतीय महायुद्ध छिड़ा तो आणविक प्रहार के परिणामों को देखने के लिये शायद विश्व का अधिकांश भाग बचेगा ही नहीं। आज के आणविक युग में इस बात की नितान्त आवश्यकता है कि समस्त राष्ट्र शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त का पालन करें क्योंकि केवल इसी मार्ग का अनुसरण करने से विश्व में अन्तर्राष्ट्रीय तनावों और संघर्षों की स्थिति का समुचित रूप में अन्त हो सकता है और विश्व शांति के वातावरण में मानव अपनी अधिकाधिक उन्नति कर सकता है।

पंचशील के सिद्धान्तों की आलोचना और मूल्यांकन

यद्यपि पंचशील के सिद्धान्तों ने कुछ समय के लिये शीत युद्ध के कोहरे को हटा दिया और विश्व की जनता ने थोड़ी शांति की सुवास ली तथापि इतिहास का निर्णय इस बारे में कुछ दूसरा ही रहा और यह कहना असंगत न होगा कि अन्ततः यह सिद्धान्त अव्यावहारिक और कतिपय मामलों में भारतीय कूटनीति की हार सिद्ध हुआ। वास्तव में पंचशील के सिद्धान्तों की व्यावहारिकता के प्रति आरम्भ से ही आलोचकों द्वारा विभिन्न आपत्तियाँ उठाई जाती रहीं और आज भी उठाई जाती हैं। आलोचकों का कहना है कि पंचशील और सहअस्तित्व के सिद्धान्तों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार के सिद्धान्तों के रूप में प्रयोग करने की बात व्यापक तौर पर बाण्डुंग सम्मेलन की पुष्टि और स्वीकृति के उपरान्त मान्य हुई विशेष रूप से इसलिए क्योंकि साम्यवादी जगत—साम्यवादी चीन और रूस ने भी खुले तौर पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्माण करने और इनके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का निर्धारण करने के कार्य में पूर्ण सहयोग देने का आश्वासन दिया। किन्तु भारत पर चीन के नृशंसतापूर्ण और अकारण आक्रमण ने सिद्ध कर दिया कि चीन ने एशिया को छलने और धोखा देने के लिये ही पंचशील में अपनी आस्था प्रकट की थी। अवसर पाते ही अपनी नकाब उतार कर वह आक्रमणकारी के रूप में विश्व के सामने आया और उसके आचरण से पंचशील के सिद्धान्त खण्ड-खण्ड होकर बिखर गये।

उपरोक्त आलोचना के अतिरिक्त और भी अनेक आलोचनायें इन पंचसूत्रीय सिद्धान्तों के प्रति समय-समय पर निम्नलिखित रूप में उठाई जाती रही हैं—

(1) प्रायः यह कहा जाता है कि पंचशील केवल मात्र उदात्त भावनाओं की कोरी घोषणा मात्र है जिससे किसी भी समस्या का व्यावहारिक हल नहीं होता। यह सिद्धान्त केवल सीधे-सादे व्यक्ति को भ्रम में डाल कर भांति विरोधी तत्वों को अपने घृणित कार्यों से पर्दा डालने का अवसर प्रदान करता है। केवल शब्दों के जादू से ही अन्तर्राष्ट्रीय शांति की स्थापना

करने की कामना करना एक स्वप्निल अवस्था ही के समान है। इन सिद्धान्तों का पालन करने के लिये इनमें कोई उपयुक्त व्यवस्था नहीं की गई है अतः इनकी उपयोगिता स्वतः ही संदेहास्पद है।

प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने आलोचकों की उपर्युक्त आपत्ति को पूर्णतः निराधार ठहराया और २९ दिसम्बर १९५४ को लोकसभा में कहा कि—

लोगों ने इन सिद्धान्तों की आलोचनायें की हैं। किस आधार पर ? वे कहते हैं कि आप यह कैसे विश्वास करते हैं कि इनका क्रियान्वयन होगा। निःसन्देह यदि आप किसी बात पर विश्वास नहीं करते तो इसकी चर्चा करना और इसके बारे में चिन्तन का कोई लाभ नहीं है और फिर आपके लिये कोई दूसरी बात शेष नहीं रह जाती सिवाय इसके कि आप सतर्क रहें और लड़ कर दूसरे पक्ष को परास्त करें—इसके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है। यह दूसरे पक्ष के वचन का विश्वास करने का प्रश्न नहीं है किन्तु ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न करने का प्रश्न है जिसमें दूसरा पक्ष अपने वचन को भंग नहीं कर सकेगा यह सम्भव है कि दूसरा पक्ष अपने वचन का भंग करे और यह भी सम्भव है कि वह अपने को अधिक विषम परिस्थिति में पाये। यदि विश्व के विभिन्न देश पारस्परिक सम्बन्धों के लिये इन पांच सिद्धान्तों को बार बार दोहराते हैं तो वे इनके लिये एक वातावरण उपस्थित करते हैं।"

(ii) पंचशील के सम्बन्ध में एक दूसरी आपत्ति यह उठाई जाती है कि इन सिद्धान्तों की प्रेरणा साम्यवादियों के द्वारा हुई है। पर यह आपत्ति सहज ही में गलत है क्योंकि कोई भी सिद्धान्त केवल इसलिये अनुचित या गलत नहीं हो जाता क्योंकि उसे किसी दल विशेष का समर्थन प्राप्त हो। यदि यह सिद्धान्त अच्छा है तो इससे केवल उस दल की समझदारी का परिचय प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त यह धारणा इसलिये भी गलत है कि पंचशील की रचना साम्यवादियों की प्रेरणा से नहीं अपितु श्री नेहरू की प्रेरणा से हुई थी।

(iii) तीसरी आपत्ति इन सिद्धान्तों के बारे में यह की गई है कि ये अत्यन्त अस्पष्ट हैं। 'प्रादेशिक अखण्डता सर्वोच्च सत्ता' 'अनाक्रमण' 'अहस्तक्षेप' 'सहअस्तित्व' आदि सभी ऐसे शब्द हैं जिनके अर्थ के सम्बन्ध में प्रायः एक मत होना कदापि सम्भव नहीं है। उदाहरण के लिये कुछ विचारकों के अनुसार सहअस्तित्व का अर्थ यह है कि सरकारों के सम्बन्ध में पूर्ण रूप से (Status quo) कायम रहनी चाहिये तथा किसी प्रकार के परिवर्तन का ध्यान नहीं किया जाना चाहिये। लेकिन सहअस्तित्व की यह धारणा अत्यन्त अस्पष्ट एवं अव्यावहारिक है।

(iv) पंचशील पर चौथा आक्रमण यह किया जाता है कि ये सिद्धान्त जनता को भ्रम एवं धोखे में डालने वाले हैं। आलोचकों का कहना है कि मार्क्सवाद-लेनिनवाद के दर्शन में पूंजीवाद तथा साम्यवाद के बीच

सहअस्तित्व की बात कभी स्वीकार नहीं की गई है जैसा कि १९१९ की आठवीं कांग्रेस में दिये गये लेनिन के भाषण के इस उद्धरण से स्पष्ट है- हम केवल एक राज्य में नहीं रह रहे हैं अपितु राज्यों की एक प्रणाली में रह रहे हैं और सोवियत गणराज्य के साथ साम्राज्यवादी राज्यों की बहुत सीमा तक के लिये अस्तित्व की कल्पना नहीं की जा सकती। अन्त में किसी एक की विजय होना अनिवार्य है। इसके पहिले कि अन्त आये सोवियत गणराज्य और पूंजीवादी राज्यों के बीच बहुत से संघर्षों का होना अवश्यम्भावी है।[1]

उपरोक्त तर्क के सम्बन्ध में हमें यह भी याद रखना चाहिये कि स्टालिन का मत लेनिन के मत से भिन्न था जैसा कि १९५२ में उसके इस कथन से स्पष्ट होता है—मैं अब भी यह विश्वास करता हूं कि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के बीच युद्ध अवश्यम्भावी नहीं माना जा सकता और वे दोनों देश भविष्य में एक दूसरे के साथ शांतिपूर्वक रह सकते हैं।[2]

हमें यह बात स्वीकार करनी पड़ेगी कि साम्यवादी दर्शन में युद्ध की अनिवार्यता पर अधिक बल नहीं दिया जाता है और सहअस्तित्व को कोई असम्भव बात नहीं बताई जाती है। साम्यवादी नीति इस बात से परिचित है कि यदि आणविक युद्ध हुआ तो उसमें न पूंजीवादी जगत ही बचेगा और न साम्यवादी ही अतः जीवन का एक ही मार्ग अंतिम रूप से अवशिष्ट है और वह है सहअस्तित्व का। हां यह कहा जा सकता है कि साम्यवादी चीन जैसा राष्ट्र यदि उसके नेता माओ ही की भांति असभ्य और युद्ध पिपासु रहे तो सम्भवतः निकट भविष्य में सहअस्तित्व की धारणा में विश्वास न करते हुए वे युद्ध की अनिवार्यता के गीत गाते रहें।

(४) पंचशील के सम्बन्ध में पांचवीं आपत्ति यह उठाई गई है कि इसके सिद्धान्त जब संयुक्त राष्ट्र संघ में अभिहित हैं तो उनकी पृथक रूप से पुनरावृत्ति निरर्थक है। उदाहरणार्थ पंचशील का प्रथम सिद्धान्त चार्टर की धारा २ (१) और २ (४) से मेल खाता है। धारा २ (१) में लिखित है

---

1. 'We are living not only in a state, but in a system of States and the existance of the Soviet Republic side by side with the Imperialistic States for a long time is unthinkable One or the other must triumph in the end. And before the end comes, a series of brightful collisons between the Soviet Republic and the Bourgeois states will be inevitable."

—Lenin.

2. "I still believe that war between U S A.and USSR cannot be regarded as inevitable and the two countries can live in peace with each other

—Stalin

कि– 'यह संगठन अपने समस्त सदस्यों की सम्प्रभु समानता के सिद्धान्त पर आधारित है।" धारा २ (४) में उल्लिखित है कि– 'समस्त सदस्य अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में किसी राज्य की प्रादेशिक अखण्डता, अथवा राजनीतिक स्वतंत्रता के विरुद्ध धमकी या शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे और न ही कोई ऐसा काम करेंगे जो संयुक्त राष्ट्रों के उद्देश्यों के प्रतिकूल हो। स्पष्ट है कि पंचशील के सिद्धान्तों और चार्टर की व्यवस्थाओं में सादृश्यता है।

लेकिन पंचशील पर की गई ये आपत्तियां भी अधिक वजन नहीं रखती क्योंकि किसी भी सिद्धान्त को इसलिए निरर्थक नहीं बताया जा सकता क्योंकि उसका उल्लेख पहिले कहीं हो चुका है। भारत यह अपने आप में एक महत्वपूर्ण और सत्य बात रखता है कि आज के शीत-युद्ध में आदर्श सिद्धान्तों को बार-बार दोहराने से शांति के वातावरण का सृजन किया जा सकता है। पं० नेहरू के ये शब्द उपयुक्त थे कि– शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के विचार में कोई नवीनता नहीं है फिर भी वह एक पुराने विचार की एक विशिष्ट पृष्ठभूमि में नवीन क्रियान्वित अवश्य है।"

पंचशील के आलोचकों की एक प्रमुख आपत्ति यह भी है कि इन सिद्धान्तों का जन्म हो अच्छे वातावरण में नहीं हुआ है। आलोचकों द्वारा इन्हें 'अपवित्र माता की पावन सन्तान' (Holy daughter of Unholy mother) का नाम दिया गया है क्योंकि इनका जन्म २९ अप्रेल १९५४ को भारत और साम्यवादी चीन के प्रधानमन्त्रियों द्वारा तिब्बत के सम्बन्ध में उस समझौते में हुआ था जिसमें भारत ने तिब्बत पर साम्यवादी चीन की सर्वोच्च सत्ता मानकर प्रत्यक्ष रूप से तिब्बत की स्वाधीनता के अपहरण में साम्यवादी चीन को समर्थन प्रदान किया था। भारत के प्रमुख राजनीतिज्ञ और जाने माने नेता आचार्य कृपलानी ने पंचशील के जन्म के समय ही कहा था—

"ये महान सिद्धान्त पापपूर्ण परिस्थितियों की उपज हैं क्योंकि ये आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से हमारे साथ सम्बद्ध एक प्राचीन राष्ट्र (तिब्बत) के विनाश पर हमारी (भारत की) स्वीकृति पाने के लिये प्रतिपादित किये गये थे।" इस प्रकार की आपत्ति करने वालों का मत है कि मार्च १९५९ और उसके बाद तिब्बत में जो घटनायें घटित हुई जिनके परिणामस्वरूप दलाई लामा को अपना देश छोड़कर भारत में शरणार्थी रूप में आना पड़ा उनसे यह स्पष्ट है कि साम्यवादी चीन इन सिद्धान्तों के प्रति कभी ईमानदार नहीं था। भारतीय नेताओं ने उसके साथ इस प्रकार का समझौता करके एक भयंकर भूल की थी जिसका खामियाजा सम्पूर्ण राष्ट्र को आज उठाना पड़ रहा है। भारत द्वारा चीन के प्रति इस प्रकार का रुख अपनाना एक संतुष्टीकरण की नीति थी जिसकी असफलता स्वाभाविक थी।

इस आपत्ति के प्रत्युत्तर में २७ अप्रेल १९५९ को लोकसभा में भाषण करते हुए पं० नेहरू ने कहा था– 'कुछ लोग यह पूछते हैं कि इन (तिब्बत की) घटनाओं के बाद भी क्या आप अब पंचशील का पालन करेंगे?

यह विचित्र प्रश्न है। यदि ये सिद्धान्त ठीक हैं और हम ऐसा मानते हैं तो हम इनका पालन करेंगे भले ही दुनिया में हमें कोई वांछनीय न समझे। चाहे कोई दूसरा इन सिद्धान्तों पर आचरण न करे, हमें तो इनका पालन करना ही चाहिये।"

उपरोक्त आलोचनाओं एवम् उनके सम्बन्ध में दिये गये निराकरणों या स्पष्टीकरणों के आधार पर निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि पंचशील के ऊपर जितनी भी आपत्ति की गई हैं अथवा की जाती हैं वे व्यावहारिक दृष्टि से मत रखते हुए भी अतिरंजित हैं। पंचशील के सिद्धान्तों ने आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। १७ सितम्बर १९५५ को पं० नेहरू ने अपने आठ महीने पूर्व के भाषण का हवाला देकर स्पष्ट बताया था कि—

"उस समय विश्व युद्ध का खतरा था। बन्दूकें भरी हुई थीं और उंगलियाँ घोड़ों पर थीं किन्तु गत आठ महीनों में स्थिति में बहुत अधिक सुधार हुआ है। बन्दूकें अब भी भरी हुई हैं किन्तु उंगलियाँ अब घोड़ों पर नहीं हैं अब भी अनेक तनावपूर्ण स्थल और खतरे के क्षेत्र मौजूद हैं। फिर भी वातावरण में हर तरफ सुधार हुआ है और पहिली बार संसार के लोगों ने यह अनुभव किया है कि युद्ध अवश्यम्भावी नहीं है। वास्तव में उसे टाला जा सकता है। "यह कहना अतिशयोक्तिपूर्ण होगा कि भारत ने विश्व राजनीति में कोई बड़ा अन्तर पैदा किया है। हमें अपनी भूमिका को अतिरंजित करके नहीं देखना चाहिये किन्तु सत्य यह है कि महत्वपूर्ण अवसरों पर भारत ने अन्तर पैदा किया है। इस परिस्थिति को लाने के योगदान को एक या दो शब्दों में 'पंचशील' के द्वारा व्यक्त किया जा सकता है। यदि निष्पक्ष दृष्टि से देखा जाए तो पंचशील के सिद्धान्तों में किसी प्रकार की खराबी नहीं है। आधुनिक विश्व में इस प्रकार के सिद्धान्तों की मान्यता में विश्वास प्रकट करना नितान्त आवश्यक है परन्तु साथ ही इस बात की आवश्यकता भी है कि विश्व के राष्ट्र अपनी वास्तविक इच्छा से इन सिद्धान्तों को कार्य रूप में परिणत करने में योगदान करें। यदि आदर्शों के प्रति निष्ठावान होकर एक दूसरे के प्रति मैत्रीपूर्ण और सहयोगपूर्ण वातावरण बनाया जाए तथा सहअस्तित्व की भावना से कार्य किया जाए तो इसमें संदेह करने की कोई गुंजाइश नहीं रहती कि विश्व में शांति की स्थायी रूप से स्थापना हो सकती है। यदि साम्यवादी चीन द्वारा या किसी अन्य राष्ट्र द्वारा इन सिद्धान्तों का उल्लंघन किया जाता है तो इसमें दोष सिद्धान्तों का नहीं है और इस कारण सिद्धान्तों को पूरा नहीं किया जा सकता। सत्य-भाषण एक आदर्श सिद्धान्त है किन्तु यदि कोई सदैव झूठ ही बोलने का आदि हो तो इससे सत्य के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। इसी तरह शांति एक अच्छी चीज है इससे कोई इनकार नहीं कर सकता लेकिन किसी राष्ट्र की पूरी तरह हिटलरवादी प्रवृत्ति ही हो अथवा किसी राष्ट्र के नेता पागलों की तरह केवल युद्ध के मतवाले ही हों तो केवल इसी आधार पर शांति को एक बुरी चीज नहीं बताया जा सकता। भारत ने भी साम्यवादी चीन के साथ दोस्ती के सम्बन्ध निभाये किन्तु दोस्ती की आड़

में यदि चीन ने शत्रु बसाया तो इसमें भारत का क्या दोष ? भारत का दोष है तो केवल यही कि उसने एक दोस्त की तरफ से सचेत रहने की सावधानी नहीं बरती। इसी प्रकार यदि पंचशील के सिद्धान्तों को एक दोस्त ने ठुकराया तो यह सिद्धान्त यह कभी नहीं कहते कि आक्रमणकारी का मुकाबला मत करो, देश पर हमला करने वाले से लड़ो मत।

अन्त में इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'एक ऐसे युग में, जब अस्त्रशस्त्रों में मानव सभ्यता का विनाश करने की अदम्य शक्ति आ गई है शांतिपूर्ण सहअस्तित्व ही एक मात्र ऐसा उपयोगी विकल्प है, जिससे मानव सभ्यता की रक्षा हो सकती है किन्तु वर्तमान परिस्थितियों में सैनिक उपायों अथवा युद्ध द्वारा पारस्परिक विवादों क्षोभ वैमनस्य कलह और संघर्षों को नियंत्रित नहीं किया जा सकता। वस्तुत यह (पंचशील) कोई जादू की छड़ी नहीं जिसके उल्लेख मात्र से अन्तर्राष्ट्रीय तनाव का नाश हो जायगा परंतु, यदि इस पर अमल किया जाए तो अन्तर्राष्ट्रीय तनावों में निश्चित रूप से कमी होगी और संघर्ष के कारणों का उन्मूलन भी किया जा सकेगा। यह (पंचशील अथवा सहअस्तित्व) वस्तुत एक उपाय नहीं बल्कि एक नई विचारधारा तथा शांतिपूर्ण रचनात्मक और प्रगतिमूलक अन्तर्राष्ट्रीय दर्शन है। परन्तु पंचशील का उपयोग अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तब ही किया जा सकता है जब संबंधित पक्षों का दृष्टिकोण बदल जाए उनका हृदय परिवर्तित हो जाए।

इस संदर्भ में यह भी स्मरणीय है कि आधुनिक युग में विज्ञान और टैक्नालोजी आज विस्मयजनक प्रगति पर है उससे भारत युद्ध द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान करने का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता और इस बात को दोनों विरोधी पक्ष भी स्वीकार करते हैं। अत जब अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में युद्ध द्वारा समस्याओं का समाधान ही सम्भव नहीं रहा तो स्पष्ट ही यह आवश्यक है कि राष्ट्र एक दूसरे को ऐसी उत्तेजित धमकियां और चुनौतियां न दें जिनका इशारा युद्ध की तरफ हो। इसके स्थान पर उन्हें एक दूसरे के दृष्टिकोणों और विचारों को समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

ऐसा कोई कारण नहीं दिखाई देता कि आधुनिक युग में संसार में प्रचलित और व्याप्त विभिन्न विचारधाराओं तथा आदर्शों 'जीओ और जीने दो' के सिद्धान्त पर आचरण करते हुए अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकती। आवश्यकता इस बात की है कि युद्ध को गैर कानूनी घोषित कर दिया जाना चाहिये और सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण ढंग से समाधान होना चाहिये विरोधी विचारधारा वाले पक्षों के मध्य सद्भावनाओं के सेतुओं का निर्माण किया जाए और शांति का क्षेत्र अधिकाधिक विस्तृत हो।"

विश्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति और संयुक्तराष्ट्र संघ में भारत का योगदान

सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से क्षीण होने पर भी अपनी असंलग्नता

की सक्रिय एवं प्रभावशाली विदेश नीति के कारण भारत प्रारम्भ से ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में और संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में प्रशंसनीय भूमिका का निर्वाह करता रहा है। भारत की विदेश नीति के कार्यों में इस बात की सार्थकता को प्रमाणित किया है कि दो प्रबल शक्तिशाली गुटों में विभाजित आधुनिक संसार की स्थिति में एक स्वतन्त्र किन्तु रचनात्मक गुटनिरपेक्षता की नीति विशेष महत्वपूर्ण एवं प्रभावकारी सिद्ध हो सकती है। स्वतंत्रता के प्रभ्युदय के बाद का भारत की विदेश नीति का इतिहास बताता है कि अनेक संकटपूर्ण अवसरों पर भारत ने पूर्व और पश्चिम के मतभेदों की चौड़ी खाई को कम करने का उल्लेखनीय प्रयास किया है। दो-तीन अवसरों पर तो उसने अपनी रचनात्मक भूमिका द्वारा तृतीय महायुद्ध के दावानल को प्रज्वलित होने से भी रोका है। संसार राजनीति और संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों में भारत ने जो विशेष भूमिका अदा की है वह प्रधानतया निम्नलिखित क्रम में प्रकट की जा सकती है—

(१) कोरिया समस्या के समाधान में भारत का योग

विश्व राजनीति एवं संयुक्त राष्ट्र संघ में कोरिया की समस्या के समाधान में भारत का सब प्रथम ऐसा सक्रिय योगदान था जिसने संसार को एक नये युद्ध से बचाने के साथ-साथ भारत की अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिष्ठा भी बढ़ायी। कोरिया के युद्ध में जिसका विस्तार से वर्णन संयुक्त राष्ट्र संघ के एक पूर्ववर्ती अध्याय में किया जा चुका है भारत की निम्नलिखित निष्पक्ष किन्तु रचनात्मक भूमिका रही है—प्रथम उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने के बाद भी भारत ने सैनिक कार्यवाही में भाग नहीं लिया। द्वितीय भारत ने युद्ध में तटस्थता की नीति का अनुसरण करते हुए शांति स्थापित करवाने हेतु मध्यस्थता के लिए प्रयास किया। तृतीय उसने संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं द्वारा ३८ वीं समानान्तर रेखा को पार किये जाने का विरोध किया। चतुर्थ भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में अमेरिका के उस प्रस्ताव का विरोध किया जिसमें चीन को आक्रान्ता घोषित किया गया था। पंचम कोरिया की समस्या को सुलझाने में उसने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रस्ताव रखा। षष्ठम कोरिया में शांति स्थापित करने के लिए भारत ने दोनों ही पक्षों को अपने अथक प्रयासों से सहमत किया। जब युद्ध-विराम संधि के मार्ग में युद्ध बंदियों के अदलाबदली की विकट बाधा उपस्थित हुई तो इस प्रश्न को हल करने में भारत ने बड़ा भाग लिया और मुख्यतः उसी के फलस्वरूप २७ जुलाई १९५३ को पानमुन जोम (Pan Mun Jono) में कोरिया युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर हुए। युद्ध बंदियों की समस्या के हल के लिए ५ तटस्थ राष्ट्रों का एक आयोग (Neutral Nations Repatriation Commission) नियुक्त किया गया जिसका अध्यक्ष भारत को बनाया गया और जनरल थिमैया ने यह कठिन कार्य बड़ी योग्यतापूर्वक सम्पन्न किया। कोरियाई युद्ध में भारतीय विदेश नीति की प्रशंसा करते हुए भारत में संयुक्त राज्य अमेरिका के एक भूतपूर्व राजदूत श्री चैस्टर बोल्स ने लिखा कि "नई दिल्ली ने ३८ अक्षांस रेखा पर युद्ध बन्द करने के लिए बल दिया। इस चेतावनी की परवाह नहीं करते हुए

हम उत्तर में बढ़े। तब साम्यवादी चीन की लाल सेनाओं ने फौरन यालू नदी (कोरिया की उत्तरी सीमा) पार की। तीन वर्ष बाद अन्त में हमने विराम सन्धि को उसी ३८° अक्षांश रेखा पर करना स्वीकार किया। इस बीच ३३,००० अमेरिकन और पता नहीं कितने चीनी और कोरियन मारे गये तथा घायल हुए।"[1]

(२) हिन्दचीन की समस्या में भारत का योगदान

द्वितीय महायुद्ध से पहले हिन्द चीन पर फ्रान्स का अधिकार था, युद्ध में इसे जापान ने जीत लिया। जब जापान द्वारा आत्मसमर्पण किया गया तो इसके उत्तरी भाग पर राष्ट्रवादी चीन ने और दक्षिणी भाग पर ब्रिटेन ने अधिकार कर लिया। तत्पश्चात् फ्रान्स ने दक्षिणी भाग ब्रिटेन से प्राप्त कर लिया और उत्तरी प्रदेश की प्राप्ति हेतु राष्ट्रवादी चीन से संधि की। इस समय वियतनाम (अनाम) में स्वाधीनता प्राप्ति के लिए वीतमिन्ह (Viet-minh) नामक संस्था की स्थापना हुई जिसने फ्रेन्च प्रभुता से मुक्ति पाने के लिए स्वातन्त्र्य संघर्ष छेड़ दिया। चीन में साम्यवादी शासन हो जाने पर १९४९ में वीतमिन्ह फौजों ने साम्यवादी सहायता के बल पर फ्रेन्च सेनाओं पर भीषण आक्रमण कर दिया। दूसरी ओर साम्यवादी प्रसार को रोकने के उद्देश्य से अमेरिका ने फ्रान्स को सहायता देना आरम्भ किया। युद्ध १९४९ से १९५३ तक लगभग ५ वर्ष चलता रहा जिसमें फ्रान्स की पराजय के स्पष्ट लक्षण प्रकट हो गये। २० मार्च १९५४ को फ्रान्स ने संयुक्त राज्य अमेरिका को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि यदि विपुल मात्रा में अमेरिकन सैनिक सहायता न दी गयी तो फ्रान्स को बाध्य होकर साम्यवादियों से संधि करनी पड़ेगी। ५ अप्रैल १९५४ को अमेरिकन सीनेट में विदेश सचिव ने "विदेशी मामलों की समिति" को बताया कि अमेरिका हिन्द चीन को साम्यवादियों के हाथ में नहीं जाने देगा। अमेरिकन सरकार का यह निश्चय बड़े संकट का आमंत्रण देने वाला था क्योंकि अमेरिका के युद्ध में कूदने से तृतीय महायुद्ध के भीगणेश की सम्भावना थी।

ऐसे संकटपूर्ण समय में भारत की ओर से युद्ध रोकने तथा दोनों पक्षों में समझौता कराने के अनेक प्रयास किये गये। २४ अप्रैल को लोक सभा में श्री नेहरू ने हिन्दचीन की समस्या के शांतिपूर्ण समाधान के लिए जेनेवा सम्मेलन के विचारार्थ निम्नलिखित ६ प्रस्ताव रखे—

(i) समस्त देशों को चाहिए कि वे शांति और संधि का वातावरण पैदा करें।

(ii) युद्ध-विराम के प्रश्न पर सबसे पहले ध्यान दिया जाय।

(iii) फ्रान्स द्वारा हिन्द चीन की पूर्ण स्वतन्त्रता स्वीकार की जाय।

(iv) फ्रान्स और हिन्द-चीन स्वयं आपस में सीधी वार्ता करें।

---

1 Chester Bowles The New Dimensions of Peace, page 162

(v) संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत संघ ब्रिटेन और चीन एक ऐसा समझौता करें कि जिसके अनुसार युद्धरत पक्षों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में किसी भी प्रकार की सहायता नहीं मिले ।

(vi) जनेवा सम्मेलन की प्रगति की रिपोर्ट संयुक्त राष्ट्र संघ को दी जाय और समझौता करने के लिए उसकी सहायता भी आमन्त्रित की जाय ।

हिन्द-चीन में युद्ध-विराम के लिए की गयी पंडित नेहरू की उपरोक्त अपील का विदेशों में अच्छा स्वागत किया गया । यद्यपि भारत को १९५४ के इस जेनेवा सम्मेलन में सदस्य के रूप में आमंत्रित तो नहीं किया गया लेकिन भारत की ओर से श्री कृष्णमेनन उन दिनों जेनेवा में उपस्थित रहे और उसकी सफलता में योगदान करते रहे । तत्कालीन ब्रिटिश प्रधान मन्त्री श्री एन्थोनी ईडन ने पंडित नेहरू को लिखे गये अपन पत्र में श्री मेनन के शांति कार्यों की बड़ी प्रशंसा की । जेनेवा सम्मेलन में साम्यवादी चीन की उपस्थिति में हिन्द चीन में युद्ध-विराम समझौते पर २१ जुलाई १९५४ को हस्ताक्षर हुए । तत्पश्चात् हिन्द-चीन की राजनीतिक समस्याओं का समाधान करने के लिए तीन सदस्यों का एक शांति आयोग (Peace Commission) नियुक्त किया गया जिसका अध्यक्ष भारत बना । शेष दो सदस्य कनाडा और पोलैंड थे । भारत को शान्ति आयोग का अध्यक्ष बनाना भारत के शान्ति स्थापना के कार्यों के महत्व को स्वीकार करना था ।

हिन्द चीन के सम्बन्ध में भारत द्वारा जो निःस्वार्थ प्रयत्न किये गये उनका मूल्यांकन करते हुए अमेरिकन राजदूत श्री चेस्टर बोल्स ने लिखा है –
"भारत ने हिन्द-चीन में फ्रान्स के औपनिवेशिक साम्राज्य का समर्थन करने की निष्फलता के सम्बन्ध में हमें बार-बार चेतावनी दी थी जनवरी १९५४ में जब श्री नेहरू ने विराम-संधि करने पर बल दिया तो उत्तरदायी अमेरिकनों ने उन पर 'साम्यवादियों के साथ सहानुभूति' का दोषारोपण करते हुए कहा था कि वह होची मिन्ह को उसकी निकट भविष्य में होने वाली हार से बचाना चाहते हैं । तीन महीने बाद दिन-बिन फू का पतन हुआ"[1] और फ्रान्स सेना को लाल नदी के डेल्टा में भीषण सैनिक पराजय का सामना करना पड़ा ।

(३) अन्य कार्यों में योगदान

कोरिया और हिन्द-चीन के अतिरिक्त भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक क्षेत्र के और भी अनेक कार्यों में योग दिया । अप्रैल १९५५ में जब क्विमोय और मात्सु टापुओं के बारे में साम्यवादी चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़ा तनाव और संघर्ष उत्पन्न हो गया तो भारत ने इसे कम करने में बड़ी सहायता की । भारत द्वारा अमेरिका से प्रभावशाली रूप में आग्रह किया गया कि वह मृदुता की नीति अपनाये । फलस्वरूप श्री आइजन-

---

1 Chester Bowles New Dimensions of Peace, page 163.

होकर के वैयक्तिक निर्णय से एक बड़ा संघर्ष और अन्तर्राष्ट्रीय संकट दूर हो गया। संयुक्त राष्ट्र संघ में निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भारत ने समय समय पर महत्वपूर्ण सुझाव रखे। १९५८ में महासभा के १३वें अधिवेशन में भारत ने दो प्रस्तावों पर बल दिया—(१) समझौता होने की अवधि तक आणविक आयुधों के परीक्षण तुरन्त बन्द किये जाय और (२) आकस्मिक आक्रमणों को बन्द करने की सम्भावना के प्रश्न पर विचार किया जाय। भारत के निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में समझौता होने तक आणविक विस्फोट बन्द रखने का सुझाव महासभा द्वारा भारी बहुमत से स्वीकार किया गया और अमेरिका रूस एवं ब्रिटेन आदि ने काफी समय तक इसका पालन भी किया। महासभा के इसी अधिवेशन में भारत ने यह प्रस्ताव रखा कि निःशस्त्रीकरण आयोग में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों को सम्मिलित कर लिया जाय ताकि इसमें गत वर्ष आये हुये गतिरोध को दूर किया जा सके।

भारत ने राष्ट्रसंघ के आह्वान पर कांगो में शांति-स्थापना हेतु अपनी सेनायें भेजी जिन्होंने उस देश की एकता और अखण्डता को सुरक्षित किया तथा शांति स्थापना करके उसे विघटित होने से बचाया। कांगो के प्रधान मन्त्री श्री अदोला ने भारतीय सेनाओं की वापसी के समय भारतीय राष्ट्रपति के नाम २२ अक्टूबर सन् १९६३ के अपने पत्र में इस कार्य के लिए आभार प्रकट करते हुए लिखा था कि "दिसम्बर मास में कटंगा में भारतीय सेनाओं का कार्य उनकी नम्रता और साहस प्रशंसनीय था। मुझे जनरल प्रेमचंद तथा ब्रिगेडियर नोरोन्हा के नेतृत्व में लड़ने वाले भारतीय जवानों को श्रद्धांजलि देते हुए बड़ी प्रसन्नता है।" जोदाविले तथा कोलवेजी में उनके प्रवेश ने वास्तव में हमारे देश की प्रादेशिक अखण्डता को पुनः स्थापित किया। आपके दल की सहायता इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है कि वह ऐसे समय में दी गई जब आपके देश में (चीनी आक्रमण के कारण) आपात्कालीन हो रही थी।"

साम्राज्यवादी परतन्त्रता का स्वयं भुक्त भोगी होने के कारण भारत ने इण्डोनेशिया मलाया, सीरिया ट्यूनिशिया गोल्डकोस्ट साइप्रस अल्जीरिया आदि की स्वतन्त्रता का पूरा समर्थन किया। भारत ने पैलेस्टाइन और साइप्रस के विभाजन का भी विरोध किया। न्यास प्रदेशों के (Trust Territories) के प्रशासन के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्ण नियंत्रण और निरीक्षण का समर्थन करते हुए भारत ने सदैव इस बात पर बल दिया कि स्वशासन न करने वाले प्रदेशों का शासन चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार किया जाना चाहिये, इन पर शासनकर्ता साम्राज्यवादी शक्तियों को संघ के प्रति उसी प्रकार उत्तरदायी होना चाहिए, जैसे न्यास प्रदेशों वाली शक्तियां अपने न्यास प्रदेशों के लिये हैं। यह उल्लेखनीय है कि भारत को "गैर स्वशासी प्रदेशों विषयक सूचना प्राप्त करने वाली संयुक्त राष्ट्र संघीय समिति" (U N Committee on Information from Non-Governing Territories) का १९५८ से १९६१ तक के लिये सदस्य भी चुना गया। १९५८ में पश्चिमी समोआ को जो निरीक्षक मण्डल भेजा गया उसका प्रधान

भारत को बनाया गया और पश्चिमी अफ्रीका जाने वाले निरीक्षक-मण्डल का भी यह एक महत्वपूर्ण सदस्य रहा।

भारत ने १९५५ में संयुक्त राष्ट्र संघ में नये सदस्यों के प्रवेश के सम्बन्ध में १९५० से चले आ रहे गतिरोध का अन्त करने में महत्वपूर्ण भाग लिया। इस सम्बन्ध में वाशिंगटन और मास्को कोरियाई युद्ध के समय से ही असहयोगी रुख अपनाये हुए थे। वे दोनों ही राष्ट्र संघ में अपना प्रभुत्व बनाये रखने के लिए अपने विरोधी राष्ट्रों को इसका सदस्य बनाने को तैयार न थे। नवम्बर–दिसम्बर १९५५ में जब सोवियत नेता श्री ख्रुश्चेव और बुल्गानिन ने भारत की यात्रा की तो श्री नेहरू ने अमेरिका और सोवियत संघ के मध्य एक समझौता करवाया। यह तय हुआ कि संयुक्त राज्य अमेरिका सोवियत रूस समर्थित देशों के संघ में प्रवेश को वीटो न करे और इसी प्रकार सोवियत संघ भी पश्चिम द्वारा समर्थित देशों का विरोध न करे। दोनों राष्ट्रों के इस पारस्परिक सहयोग के परिणामस्वरूप दिसम्बर १९५५ में १६ नये राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बने। इस घटना को संयुक्त राष्ट्र संघ का Package Deal कहा गया।

भारत ने एशिया अफ्रीका का नेतृत्व कर अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान हेतु विशेष प्रयास किया। भारत के नेतृत्व में अफ्रो-एशियाई राज्यों का एक निष्पक्ष दल विश्व-समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान में बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का प्रभावशाली विरोध कर सकने इण्डोनेशिया कम्बोडिया वियतनाम आदि देशों की स्वतन्त्रता में महत्वपूर्ण योगदान देने आदि के कारण भारत को एशियाई और अफ्रीकन राष्ट्रों का प्रवक्ता समझा जाने लगा तथा रूस और अमेरिका भारत की भौगोलिक स्थिति और उसकी विशाल जन संख्या के महत्व को समझकर उसकी मैत्री की उपेक्षा न कर सके। इस सम्बन्ध में श्री चैस्टर बोल्स के ये शब्द निश्चय ही महत्वपूर्ण हैं कि "यदि भारत में लोकतन्त्र असफल होता है तो सम्पूर्ण एशिया में समूचे जगत को भीषण धक्का लगेगा और मेरी सम्मति में यह धक्का साम्यवादियों द्वारा चीन के जीते जाने से भी अधिक भयंकर होगा।" यह भारत की प्रभावशाली असंलग्नता की नीति का ही परिणाम निकला कि भारत को संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ दोनों के द्वारा ही विशाल पैमाने पर आर्थिक सहायता देने का कार्यक्रम अपनाया गया।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में भारत द्वारा अत्यन्त महत्वपूर्ण और कुछ मामलों में तो निर्णायक भूमिका अदा की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष हंगरी की समस्या, मिस्र और इसराइल का विवाद, अल्जीरिया की समस्या, सीरिया और टर्की विवाद इण्डो चीन की समस्या निःशस्त्रीकरण समस्या अणुशक्ति का विकास पराधीन देशों की समस्या आदि जो अनेक राजनैतिक प्रश्न उपस्थित हुए उनके समाधान में भारत ने भरसक योग प्रदान किया और उस उत्तरदायित्व को

पूरी तरह निभाया जो संयुक्त राष्ट्र संघ ने उसके कन्धों पर डाला। इन सभी समस्याओं पर सविस्तार प्रकाश संयुक्त राष्ट्र संघ वाले अध्याय में डाला जा चुका है।

भारत की विदेश नीति की अब तक की व्याख्यात्मक चर्चा के उपरान्त अब हम विभिन्न प्रमुख देशों के साथ भारत के वैदेशिक सम्बन्धों का उल्लेख करेंगे।

भारत-पाक सम्बन्ध
(Indo-Pakistan Relations)

१५ अगस्त १९४७ को जब भारत और पाकिस्तान अलग अलग अस्तित्व में आये भारत के स्वाधीनता संग्राम के सेनानी और स्वतन्त्र भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री नेहरू ने राष्ट्र के नाम एक प्रसारण में कहा

'हम सब ही चाहे हम किसी भी धर्म को मानने वाले हों समान रूप से भारत की सन्तान हैं। हम साम्प्रदायिकता तथा संकीर्ण विचारों का प्रोत्साहन नहीं दे सकते क्योंकि कोई भी राष्ट्र बड़ा नहीं हो सकता यदि उसके लोग संकीर्ण विचारों और कार्यों वाले हों।'

कुछ ही महीनों बाद श्री नेहरू ने फिर कहा—

"जहां तक भारत का सवाल है हमने सरकार के रूप में तथा अन्यथा स्पष्ट रूप से कहा है कि हम ऐसे किसी राज्य के बारे में सोच भी नहीं सकते जो साम्प्रदायिक या धार्मिक राज्य कहा जाए। हम केवल धर्म निरपेक्ष असाम्प्रदायिक जनतान्त्रिक राज्य के बारे में सोचते हैं जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो समान अधिकार और अवसर प्राप्त होंगे ६२ वर्ष पूर्व प्रथम जन्म के समय से ही भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का यह लक्ष्य रहा है और हम पूरी तरह से इस पर चलते रहे हैं।"

वस्तुतः भारत के शान्तिवादी नेताओं को इस बात की पूरी आशा थी कि देश के विभाजन से शान्ति और पारस्परिक मेलजोल को प्रोत्साहन मिलेगा तथा भारत और पाकिस्तान दोनों शान्ति, सद्भावना और सहयोग के वातावरण में आर्थिक विकास के लम्बे एवं कठिन कार्य में जुट पड़ेंगे। इसी लक्ष्य को ध्यान में रख कर भारत सरकार ने पूर्ण दृढ़ता के साथ साम्प्रदायिक दंगों को समाप्त कर दिया। किन्तु पाकिस्तान का तो जन्म ही साम्प्रदायिक आधार पर हुआ था और उसके नेता भारत के प्रति कटुता और वैमनस्य के बीज आमने बिच-बुझ थे। अतः उन्होंने प्रारम्भ से ही विरोध आक्रमण तथा भारतीय भू भाग को हड़पने और भारत को हर सम्भव प्रकार से क्षति पहुंचाने की विदेश नीति का आश्रय लिया। यद्यपि पाकिस्तान नेताओं का मन साम्प्रदायिक भावनाओं से उद्दीप्त होने के कारण पहिले से ही भारतियों के प्रति घृणा और असहयोग से परिपूरित था तथापि माइकेल ब्रेचर (Michael Brecher) का विचार है कि दोनों देशों के बीच संघर्ष के मूल कारण दो रहे हैं—(१) वह पद्धति जिस समय बटवारा किया गया था

एवं (२) रियासतों के बटवारे से भिन्न २ अर्थ जो दोनों देशों द्वारा लगाये गये। इन दोनों ही मूल कारणों से इन देशों के बीच अनेक समस्याएँ उत्पन्न हुई तथा वहाँ के निवासियों में मनोवैज्ञानिक सङ्घर्ष बढ़ा और काश्मीर को दोनों देशों के सङ्घर्ष का केन्द्र बिन्दु बना लिया गया। परन्तु यदि स्थिति का सही मूल्यांकन किया जाए तो काश्मीर को सङ्घर्ष का केन्द्र बिन्दु नहीं माना जा सकता। भारत के प्रति वैमनस्य के बीज तो पाकिस्तान के द्विराष्ट्र सिद्धान्त और धार्मिक जिहाद की भावना में निहित हैं जिसकी भी नेहरू के १७ दिसम्बर १९५७ को भारतीय संसद में दिये गये वक्तव्य के निम्नलिखित अंश से स्पष्ट है—

'व्यक्तियों, विशेष रूप से विदेशियों की यह भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि काश्मीर विवाद दोनों ही देशों (भारत और पाक) के सङ्घर्ष का कारण है। हमारी मूलभूत विचारधारा ही भिन्न है। हम धर्म निरपेक्षवाद में विश्वास करते हैं किन्तु पाकिस्तान इस्लामवाद और द्विराष्ट्र सिद्धान्त में विश्वास करता है। इस सिद्धान्त के अनुसार काश्मीर में मुसलमानों का बहुमत पाकिस्तान के लिए एक असहनीय तथ्य है। भारत के प्रति शत्रुता का विचार पाकिस्तान की धार्मिक राजनीतिक नीति का एक अनिवार्य अङ्ग बन गया है।'[1]

भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों का इतिहास बहुत काला रहा है जिसमें अनेकों बार पाकिस्तान ने सीमाओं का उल्लंघन किया है गोलाबारी की है घुसपैठ भेजे हैं कूटनीतिक विशेषाधिकारों का तोड़ कर भारतीय अफसरों का अपमान किया है और भारत के विरुद्ध आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ की हैं। लेकिन भारत ने इन सभी कार्यवाहियों के प्रति उदार दृष्टिकोण रखा है यहाँ तक कि १९६५ के भयानक भारत पाक सङ्घर्ष के बाद भी पाकिस्तान के प्रति उसकी उदारवादी नीति में विशेष परिवर्तन नहीं हो सका है। भारत के पाकिस्तान के सम्बन्धों और दोनों पक्षों के एक दूसरे के प्रति वास्तविक व्यवहार के औचित्य का इतिहास निम्नलिखित प्रमुख घटनाओं से जाना जा सकता है—

(1) जूनागढ़ का भारत में विलय

२१ जुलाई, १९४७ को देशी रियासतों के सम्बन्ध में भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम" की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा गया था कि भारतीय

1 "People especially foreigners are wrong in thinking that Kashmir dispute is the cause of trouble between the two countries Our basic thinkings are different We believe in Secularism but Pakistan believes in Islamism and Two Nation Theory The Majority of Muslims in Kashmir is an Eye sore to Pakistan according to this theory Hostality towards India is part and parsel of Pakistan s religious-political ethics.

—Pandit Nehru in Indian Parliament on 17-12-1957

रियासतें स्वतन्त्र हैं और उन्हें अधिकार है कि चाहे वे भारत के साथ मिलें अथवा पाकिस्तान के साथ अथवा अपनी स्वतन्त्र स्थिति बनाये रखें। परन्तु उन्हें भौगोलिक स्थिति ध्यान में रख कर अपना निर्णय करना चाहिये। जूनागढ़ की रियासत भारत के क्षेत्र में थी परन्तु वहां के नवाब ने अपनी रियासत को मिलाने का निर्णय पाकिस्तान के पक्ष में किया। नवाब का यह निर्णय जूनागढ़ की जनता की इच्छा के विरुद्ध था अतः वहां की जनता ने विद्रोह कर दिया और नवाब को रियासत छोड़ कर पाकिस्तान भागना पड़ा। रियासत के दीवान और वहां की पुलिस ने जिनके हाथों में प्रशासन था राजकोट के भारतीय क्षेत्रीय कमिश्नर (Indian Regional Commissioner) से कहा कि जूनागढ़ के प्रशासन को भारत अपने हाथ में ले ले। तदनुसार प्रार्थना स्वीकार करते हुए, ६ नवम्बर, १९४७ को भारत सरकार ने रियासत का प्रशासन अपने हाथों में ले लिया और फरवरी १९४८ में वहां पर विधिवत जनमत संग्रह (Plebiscite) कराया गया। भारत के पक्ष में १,९०,७७९ मत पाये जब कि विपक्ष में कुल ९१। इस तरह लोक निर्णय के अनुसार भी जूनागढ़ भारतीय प्रशासन में आ गया। पाकिस्तान ने, भारत के प्रति अपने विद्वेष का परिचय देते हुए और रियासत की जनता की इच्छा का पूरा अनादर करते हुए, इस प्रश्न को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में उठाया। परन्तु पाकिस्तानी चाल सफल नहीं हुई और रियासत के सम्बन्ध में अन्त में जो स्थिति बन गई थी उसको स्वीकार कर लिया गया।

(ii) हैदराबाद का भारत में विलय

हैदराबाद राज्य का शासक निजाम था। इस रियासत की कुल जनसंख्या १६१ लाख थी जिसमें केवल १२ प्रतिशत मुसलमान थे। निजाम अपनी रियासत का पृथक अस्तित्व बनाये रखने के पक्ष में था। नवम्बर १९४७ को उसने भारत सरकार के साथ एक 'यथापूर्व स्थिति' समझौता किया जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि नया समझौता सम्पन्न होने तक भारत सरकार और हैदराबाद रियासत के बीच वे ही सम्बन्ध बने रहेंगे जो १५ अगस्त १९४७ से पहिले ब्रिटिश सरकार तथा हैदराबाद रियासत के बीच थे। हैदराबाद के प्रशासन में उस समय एक मुस्लिम साम्प्रदायिक संगठन था जिसका नाम मजलिस-ए इत्तहादुल था। इस संगठन के सैनिक योद्धे-टोपधारी रजाकार कहलाते थे। शासन की समस्त वास्तविक शक्ति इन्हीं रजाकारों के हाथ में थी। भारत और पाकिस्तान के दो राष्ट्रों के उदय के तुरन्त बाद इन रजाकारों ने हैदराबाद रियासत में आतंक उत्पन्न कर दिया और स्थिति यह हो गई कि किसी भी नगर नागरिक का जीवन और सम्पत्ति सुरक्षित न थी। जब वहां की जनता इन अन्यायी शासकों से भयभीत और दुखी हो गई तो सितम्बर १९४८ में भारत सरकार ने पुलिस कार्यवाही की ताकि वहां की जनता का जीवन और उनकी सम्पत्ति सुरक्षित हो सके तथा निजाम रजाकारों के चंगुल से निकल सके। १७ सितम्बर को हैदराबाद के अत्याचारी रजाकारों ने अथवा रजाकार सरकार ने भारत के

आगे आत्मसमर्पण कर दिया। किन्तु हैदराबाद सरकार, भारत की इस पुलिस कार्यवाही से पहिले ही, हैदराबाद समस्या को संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत कर चुकी थी। अतः इस प्रश्न का अन्त उस समय हुआ जब १३ दिसम्बर, १९४८ को भारतीय प्रतिनिधि ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा कर दी कि यह प्रश्न के बाद विवाद में कोई नाम न बचा। पाकिस्तान ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद में बनाये रखने का भरसक चेष्टा की और भारत के प्रति जबरदस्त वाक्युद्ध छेड़ा किन्तु उसे कोई सफलता हासिल न हो सकी उल्टे विश्व की जनता को यही पता चला कि पाकिस्तान के हृदय में भारत के प्रति कितना वैमनस्य और विद्वेष भरा हुआ है।

(iii) ऋण अदायगी का प्रश्न

स्वतन्त्र भारत ने पुरानी सरकार के पूरे कर्ज का भार सम्हाला जिसके अनुसार उसे ३०० करोड़ रुपया ५ वर्ष में पाकिस्तान से लेना था लेकिन पाकिस्तान तो जन्म से ही बदनियती पर उतारू था अतः उसने ऐसा रवैय्या अपनाया कि इस कर्ज को चुकाने का नाम ही नहीं लिया और सैनिक संगठनों में होकर अपनी शक्ति को इस तरह बढ़ाने में लग गया कि वह अपने दायित्वों से मुक्त हो सके। भारत ने अपनी उदार वृत्ति के कारण पाकिस्तान के इस रवैय्ये को सहन किया। इतना ही नहीं उसने पाकिस्तान को अपनी ओर से दिये जाने वाले रुपयों की अदायगी को नहीं रोका। जब काश्मीर पर पाक का आक्रमण और पाक के साम्प्रदायिक दमनचक्र से दोनों देशों के सम्बन्ध पूरी तरह से बिगड़ गये थे तब भी (१९४८ में) भारत ने उसके प्रति धैर्य और सद्भावना ही प्रदर्शित की। भारत ने अविभाजित भारत के नकद बकाया का ५५ करोड़ रुपये का पाकिस्तान का हिस्सा उसे दे देने का निश्चय किया। अपने इस निश्चय पर टिप्पणी करते हुए श्री नेहरू ने कहा—'हम इस आशा में इस निश्चय पर पहुंचे हैं कि हमारे इस उदार रवैय्ये से जो भारत के उच्च आदर्शों और गांधीजी के पुनीत मानदण्डों के अनुरूप है विश्व को विश्वास हो जायेगा कि हम पूरे तौर से शांति और सद्भावना के इच्छुक हैं परन्तु दुर्भाग्यवश श्री नेहरू जी और भारत की यह आशा दुराशा में ही परिणत हुई। पाकिस्तान ने अपनी सर्प वृत्ति को छोड़ा नहीं और ज्यों-ज्यों उसे दूध पिलाने की चेष्टा की गई त्यों-त्यों वह काटने की ओर ही दौड़ता रहा।

(iv) विस्थापित सम्पत्ति तथा अल्पसंख्यकों की रक्षा का प्रश्न

१९४७ से १९५७ तक लगभग ७ मिलियन मुसलमान भारत से पाकिस्तान गये और साढ़े छः मिलियन गैर मुस्लिम पाकिस्तान से भारत आये। दोनों ही क्षेत्रों के ये लोग अपने पीछे विशाल मात्रा में अपनी चल और अचल सम्पत्ति छोड़ आये। अनुमानतः भारतीयों ने पाकिस्तान में १ हजार करोड़ रुपये की और मुसलमानों ने भारत में ३०० करोड़ रुपये की सम्पत्ति खोदी। विस्थापित सम्पत्ति के इस प्रश्न को हल करने के बारे में भारत सरकार की ओर से सुझाव दिया गया कि दोनों देशों की सरकारें मिल कर

सरकारी स्तर पर इस प्रश्न का समाधान करें और पाकिस्तान सरकार भारतीयों की बकाया सम्पत्ति का भारत सरकार को भुगतान करे किन्तु पाकिस्तान की नियत तो २७०० करोड़ रुपये की प्रचुर सम्पत्ति को डकार जाने की थी अतः इस सम्बन्ध में कोई समझौता न हो सका।

दोनों राष्ट्रों के समक्ष अल्पसंख्यकों की रक्षा की समस्या भी विद्यमान थी। पूर्वी और पश्चिमी पाकिस्तान में समय-समय पर साम्प्रदायिक तनावों की ऐसी गम्भीर घटनायें होती ही रहती हैं जिनके कारण गैर-मुस्लिम लोगों को बहुत बड़ी संख्या में भारत में आकर शरण लेनी पड़ती है। इसकी तुलना में भारत से विभिन्न कारणोंवश बहुत ही कम अल्पसंख्यक पाकिस्तान जाते हैं जिनमें से अधिकांश तो केवल इसीलिए कि वे अपने सगे सम्बन्धियों के कारण पाकिस्तान में ही रहने की इच्छा करते हैं। विभाजन के तुरन्त बाद अल्पसंख्यकों की रक्षा का प्रश्न गम्भीर रूप से उपस्थित हुआ। अतः २ अप्रैल १९५० को साम्प्रदायिक उपद्रवों को रोकने व अल्पसंख्यकों में रक्षा की भावना उत्पन्न करने के लिए भारत-पाक प्रधान मन्त्रियों के बीच "नेहरू-लियाकत समझौता" हुआ। परन्तु पाकिस्तान ने इस समझौते का कभी पालन नहीं किया और विशाल संख्या में हिन्दू शरणार्थियों का भारत आने का तांता लगा रहा। आज भी न्यूनाधिक रूप में यह स्थिति विद्यमान है जबकि दूसरी ओर भारत में मुस्लिम अल्पसंख्यकों को प्रत्येक प्रकार की सुविधा, सुरक्षा और नागरिक अधिकार प्राप्त हैं।

(v) नहरी विवाद

भारत और पाकिस्तान के मध्य एक अन्य समस्या नदियों के पानी के हिस्से को लेकर थी। पंजाब के विभाजन के कारण सिंचाई वाली नहरों के पानी को लेकर जिस पर एक विभाजित पंजाब की कृषि समृद्धि निर्भर थी कठिन परिस्थिति पैदा हो गई। सतलज, व्यास और रावी नदियों के हेड वर्क्स भारत में पड़ गये। लेकिन नहरों की दृष्टि से २१ में से क्रमश: २० नहरें भारत में आई और एक नहर दोनों देशों में पड़ी। भारत के हिस्से में पंजाब का जो भी भाग आया उसकी कृषि भूमि पैदावार की दृष्टि से अच्छी नहीं थी क्योंकि वहां सिंचाई की व्यवस्था नहीं थी जबकि पाकिस्तान के हिस्से में पड़ने वाले पंजाब के भाग में सिंचाई की भरपूर व्यवस्था थी।

भारत पाकिस्तान से समझौता वार्ता करने को तैयार हो गया ताकि नदियों के पानी की वजह से पाकिस्तान की कृषि पैदावार पर कोई प्रतिकूल प्रभाव न पड़े। दोनों राष्ट्रों की सहमति से यह विवाद मध्यस्थता के लिए विश्व बैंक को सौंप दिया गया जिसके प्रयत्नों से १९ सितम्बर १९६० को भारत पाक में सिंधु बेसिन के पानी के दोनों राष्ट्रों में समान बंटवारे के बारे में 'नहरी पानी समझौता (Indo-Pak Canal Water Treaties) हुआ। इस समझौते के अनुसार जो कि नदियों के विभाजन पर आधारित है यह निश्चय किया गया कि १० वर्ष की अंतरिम अवधि के बाद जो पाकिस्तान की प्रार्थना पर ३ वर्ष के लिए बढ़ाई जा सकेगी तीनों पूर्वी

नदियों का पानी भारत के अधिकार में रहेगा जबकि तीनों पश्चिमी नदियों का पानी पाकिस्तान के अधिकार में केवल इनका सीमित पानी उत्तर की ओर के जम्मू और काश्मीर प्रान्त में प्रयोग किया जायगा। यह तय हुआ कि १० वर्ष तक भारत पूर्वी नदियों (सतलज रावी और व्यास) से पाकिस्तान को प्रत्येक वर्ष घटती हुई मात्रा में पानी देगा और नई जोड़ने वाली नहरों के निर्माण के लिए पाकिस्तान को आवश्यक मात्र में धन भी देगा। यदि पाकिस्तान भारत से पानी लेने वाली अवधि में ३ वर्ष के लिए प्रार्थना करेगा तो प्रार्थना स्वीकृत होने पर उसी अनुपात से भारत द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली धन राशि में कटौती कर दी जाएगी।

भारत पाक सम्बन्धों की दिशा में नहरी पानी समझौता भारत की ओर से एक अत्यन्त आशापूर्ण कदम था। पंडित नेहरू के शब्दों में "यह वास्तव में एक अपूर्व अवसर और कई रूपों में एक स्मरणीय दिवस है। स्मरणीय इस रूप में कि इसके द्वारा कई वर्षों से भारत पाकिस्तान के सम्मुख प्रस्तुत एक अत्यन्त कठिन और जटिल समस्या को अत्यन्त संतोषजनक रूप से सुलझा लिया गया है। स्मरणीय इस रूप में भी कि यह हमारे दोनों देशों और विश्व बैंक के सामूहिक प्रयत्नों का एक अनुपम उदाहरण है।" यह संधि पाकिस्तान के लिये विशेष फायदेमन्द थी और निष्पक्ष पर्यवेक्षकों को भी भारत के इस उदार दृष्टिकोण से ताज्जुब हुआ क्योंकि स्वयं उसको अपनी कृषि पैदावार बढ़ाने के लिये सिंधु-जल की काफी आवश्यकता थी। इस संधि की शर्तों के अधीन भारत केवल पाकिस्तान को सारी की सारी पश्चिमी नदियां को आवंटित करने के लिये सहमत नहीं हुआ बल्कि अपनी तीनों पूर्वी नदियां से भी उसने उस समय तक पानी देते रहने की सहमति दी जब तक कि पाकिस्तान अपनी सिंचाई व्यवस्था करने में समर्थ न हो जाए। इससे अधिक उदार दूरदर्शिता की भारत से और क्या आशा की जा सकती थी? लेकिन पाकिस्तान ने भारत की इस उदारता का कोई आदर नहीं किया और उसके बाद के आक्रमक इतिहास ने भी नेहरू की इस आशा को झुठला दिया कि इस समझौते के बाद से भारत पाक सम्बन्धों का एक नया और सुखपूर्ण अध्याय आरम्भ होगा।

भारत के युद्ध वर्जन के प्रस्ताव का पाकिस्तान द्वारा बार २ ठुकराया जाना

काश्मीर पर १९४७ में पाकिस्तान के आक्रमण की घटना के बाद से ही भारत ने निरन्तर इस बात का प्रयत्न किया कि भविष्य में दोनों राष्ट्रों में किसी प्रकार का युद्ध न करने सम्बन्धी एक स्थायी समझौता हो जाए ताकि प्रत्येक वर्तमान अथवा भावी समस्या का समाधान शांतिपूर्ण वार्ता के द्वारा ही किया जाता रहे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये १९४९ से ही भारत ने अब तक बारम्बार पाकिस्तान से युद्ध वर्जन समझौता करने का प्रस्ताव किया है। इस तरह का पहिला अवसर यह था जब २२ दिसम्बर, १९४९ को भारत ने पाकिस्तानी उच्चायुक्त को एक प्रस्तावित संयुक्त घोषणा का मसविदा

सुझाया और इसके कुछ दिनों बाद ही श्री नेहरू ने पाक प्रधानमंत्री को अपने पत्र में लिखा—

"भौगोलिक और बहुत से अन्य कारणों से यह अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों देशों के बीच जो अनेक मसले उठ खड़े हुए हैं उनका निपटारा हो। इस आशय की एक दृढ़ घोषणा करने पर हम किसी भी हालत में शांतिपूर्ण तरीकों से उन्हें तय करेंगे अपने दोनों देशों के साथ साथ हम तमाम दुनियाँ की बहुत बड़ी सेवा करेंगे क्योंकि इससे हम लोगों के दिमाग से युद्ध का भय जाता रहेगा।

श्री नेहरू बारबार आशावान रहे, लेकिन पाकिस्तान ने वर्षों तक सद्भावना का पाठ सीखा ही नहीं। इस पर १९५९ में श्री नेहरू ने पुनः निम्नलिखित शब्दों में पाकिस्तान से युद्ध वर्जन समझौते की अपील की—

मैं समझता हूँ कि अगर पाकिस्तान और भारत दोनों इस बात के लिये सहमत हो जाएं कि किसी भी कारणवश हम लोग परस्पर युद्ध नहीं करेंगे और शांतिपूर्वक अपनी समस्याओं को हल कर लेंगे तो हो सकता है कि वे कुछ समय के लिये हल न भी हों लेकिन उनके लिए लड़ाई करने की बजाय उन समस्याओं को विचाराधीन बनाये रखना अधिक अच्छा होगा। इसलिये युद्ध वर्जन घोषणा अत्यन्त वांछनीय है इससे हमें सहायता मिलेगी।"

पाकिस्तान द्वारा ऐसे समझौते के प्रति उपेक्षापूर्ण रुख अपनाने पर भी श्री नेहरू ने अपनी उदार विचारधारा हार न मानी। उन्हें आशा थी कि देर सबेर पाकिस्तान के मुस्लोग्माधी नेता सही लकीर पर आ जायेंगे। नवम्बर १९६२ में पुनः एक पत्र उन्होंने राष्ट्रपति अय्यूब को लिखा जिसमें कहा गया कि—

"हमारे दोनों देश विकास और आधुनिकीकरण के बड़े २ कामों में लगे हुए हैं ताकि हमारे लोगों के रहन सहन का दर्जा ऊंचा हो सके। इसके लिये हम दृढ़ संकल्प हैं इसलिए प्रेसीडेंट अय्यूब आप निश्चिन्त रहें पाकिस्तान के साथ कायम अपने सम्बन्धों में हो खास तौर से हम इस नीति का पालन करेंगे। पाकिस्तान के साथ किसी संघर्ष या झगड़े का विचार एक ऐसी चीज है जो स्वयं हमारे विरुद्ध है हम अपनी ओर से इस कभी नहीं शुरू करेंगे। मुझे यकीन है कि भारत और पाकिस्तान का भविष्य दोनों देशों के साथ उनकी दोस्ती तथा सहयोग में ही निहित है।

वास्तव में श्री नेहरू का आशावाद असीम था। उन्होंने एक बार यह कहा भी था कि पाकिस्तान के लोगों के साथ उनका भावात्मक झुकाव है और पाकिस्तान द्वारा कुछ भारत विरोधी कार्यवाही करने पर भी वे यह प्रयत्न करेंगे कि दोनों देशों के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण बने रहें। कुछ विचारकों का मत है कि यद्यपि पाकिस्तान और भारत के बीच नेहरू काल में शीत युद्ध की स्थिति बनी रही लेकिन फिर भी नेहरू ने पाकिस्तान के प्रति तोषेपन खुशामद कमजोरी और अस्थिरता की नीति का ही प्रदर्शन किया।

२७ मई, १९६४ को शांतिवादी नेहरू की मृत्यु हो गई। भारत के नये प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री बने। पाकिस्तान की नीति और उसके इरादों को भली प्रकार समझते हुए और उसके आक्रमक कार्यों का मुँहतोड़ जवाब देने की दृढ़ता लिए हुए भी श्री शास्त्री की आन्तरिक मनोकामना यही थी कि दोनों राष्ट्रों के सम्बन्ध स्वस्थ और मैत्रीपूर्ण बनें। पद अपना कार्य भार ग्रहण करने के तुरन्त बाद दिये गये एक भाषण में उन्होंने कहा—

"लम्बे अरसे से भारत और पाकिस्तान में परस्पर संघर्ष की अनबन रही है। दोनों देशों के बीच कायम दुर्भाग्यपूर्ण सम्बन्धों की प्रतिक्रिया दोनों बड़े देशों के समुदाय के बीच कायम सम्बन्धों पर होती रही है जिससे भयंकर समस्यायें पैदा हुई हैं। इसके समाधान के लिए भारत पाकिस्तान की सरकारों और जनता को परस्पर व्यवहार में अपनी ओर से निश्चयपूर्वक सद्भाव से काम लेना होगा। १५ जून १९६५ को अपने एक पत्र में श्री शास्त्री ने प्रेसिडेंट अय्यूब से पुनः अनुरोध किया—'अपने मतभेदों का ओर दूर करने के लिए हम सहिष्णुता एवं धैर्य से काम लेना चाहिए।" १५ अगस्त, १९६४ को स्वाधीनता दिवस पर पाकिस्तान के साथ 'युद्ध वर्जन समझौता' करने का एक बार फिर प्रस्ताव रखते हुए श्री शास्त्री ने घोषणा की—

'हम चाहते हैं कि दोनों देशों में मैत्री और सद्भावना हो। सीमा पर होने वाली वारदात भारत या पाकिस्तान—किसी भी देश के लिए अच्छी नहीं है। साथ ही यह बात भी हमारे लिए गौरव की नहीं है कि हम सीमापार के लोगों का प्रवजन रोकने में असमर्थ हुए हैं। इसलिए हम एक ऐसा रास्ता ढूंढ निकालना चाहते हैं जिसमें हमारा सम्मान बना रहे।'

परन्तु कटुता वैमनस्य और ईर्ष्या द्वेष से परिपूरित पाकिस्तान के नेताओं के मस्तिष्कों में भारत के शांति प्रस्तावों और भारत की अपील का कोई असर नहीं हुआ। कच्छ पर और बाद में काश्मीर तथा भारत में होने वाले पाकिस्तान के आक्रमणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि पाकिस्तान के नेता केवल एक ही बात के कायल हैं कि उनकी ईंट का जवाब पत्थर से दिया जाए और यदि वे हमारे देश पर अपना अधिकार जमाने को उद्यत हों तो हम उन्हें करारा धोखा लगाने को तैयार रहें। ऐसी यथार्थवादी नीति अपनाने पर ही हम पाकिस्तान का भला कर सकेंगे क्योंकि तब ही पाक नेताओं को शांति की कीमत का यह अहसास होगा और वे सही रास्ते पर चल सकेंगे।

(vii) कच्छ के भारतीय प्रदेश पर पाकिस्तान का आक्रमण

१९४७ के बाद १९६५ में पुनः पाकिस्तान ने भारत पर दो प्रधान सैनिक आक्रमण किये। इनमें पहला आक्रमण मार्च–अप्रैल १९६५ को कच्छ पर हुआ और दूसरा अगस्त–सितम्बर १९६५ में काश्मीर पर। कच्छ की खाड़ी (The Rann of Kutch) का क्षेत्रफल ८ हजार वर्गमील है। यह एक दलदलीय क्षेत्र है जिसमें वर्ष के अधिकांश भाग में पानी भरा रहता है। जब पाकिस्तान ने इस प्रदेश के उत्तरी हिस्से के भीतर

बना ली और बाद में भारतीय सीमा में कंजर कोट डींग एवं विगोकाट नामक स्थानों पर अपनी स्थायी चौकियाँ स्थापित करलीं तो भारत सरकार ने पाकिस्तान को अतिक्रमण के विरुद्ध कड़ा विरोध-पत्र भेजा। पाकिस्तान द्वारा इन विरोध पत्रों की न केवल पूर्णतः उपेक्षा कर दी गई बल्कि गुजरात के बड़े क्षेत्र पर उसने अधिकार का दावा किया। पाकिस्तान का यह दावा ऐतिहासिक और वैधानिक रूप से अवैध था क्योंकि इस क्षेत्र में भारत और पाकिस्तान के बीच अन्तर्राष्ट्रीय सीमा पहिले से ही निर्धारित हो चुकी थी। किन्तु पाकिस्तान ने इस खाड़ी को समुद्र मान कर उसके मध्य भाग को अन्तर्राष्ट्रीय सीमा माने जाने का दावा किया जो न केवल अपने आपमें अनैतिक था बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय नियमों के विरुद्ध भी था। अपने इस दावे के पक्ष में पाकिस्तान द्वारा तीन तर्क प्रस्तुत किये गये—

१ पाकिस्तान ने दावा किया कि कच्छ की खाड़ी पर २८ मई १७६२ में सिंध के राजा ने आक्रमण किया था।

२ १८७५ में सिंध के अधिकारियों ने यह रिपोर्ट प्रस्तुत की कि कच्छ–सिंध सीमा अक्षांशों पर स्थित थी जो कि कच्छ रन के मध्य में है।

३ कच्छ का रन या तो जल से घिरा हुआ समुद्र है अथवा सीमा की झील है और अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सीमा इसके मध्य में होनी चाहिये।

पाकिस्तान के इन तर्कों अथवा दावों के प्रत्युत्तर में भारत ने निम्नलिखित तथ्यपूर्ण उत्तर प्रस्तुत किये—

१ इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि सिंध के राजा का कच्छ के रन पर अधिकार रहा हो। सिंध के राजा ने इस क्षेत्र में जो भी थोड़ी सी सेना नियुक्त की थी उसे भी उसके मालिक ने फौरन ही वापस बुला लिया था। ब्रिटिश सर्वोच्च शक्ति का सदैव सम्पूर्ण कच्छ के रन को कच्छ के अधिकार क्षेत्र में माना है।

२ १९०६ में भारत सरकार के विदेश विभाग द्वारा अन्तिम रूप से निर्णय किया गया था कि कच्छ का रन जल से घिरा हुआ समुद्र अथवा झील नहीं है, बल्कि दलदल (Marsh) है इसलिये कच्छ के रन पर तथाकथित अन्तर्राष्ट्रीय कानून लागू नहीं हुआ।

स्पष्ट है कि कच्छ विवाद पाकिस्तान द्वारा मनमाने ढंग पर बिना किसी आधार के खड़ा किया गया था। वस्तु स्थिति यही थी कि भारत के विभाजन से पहिले कच्छ के रन का उत्तरी भाग सिंध–प्रशासन क्षेत्र में न होकर कच्छ राज्य के नरेश के अधिकार क्षेत्र में था। कच्छ सिंध का किनारा ब्रिटिश प्रान्त सिंध तथा देसी रियासत कच्छ के बीच की सीमा निर्धारित करता था। अन्तर्राष्ट्रीय सीमा न होने के कारण इसका विभाजन अन्तर्राष्ट्रीय सीमा की तरह नहीं हुआ था लेकिन १८७२ से १९४३ तक के सभी नक्शों में दोनों के बीच की सीमा को स्पष्ट रूप से निश्चित कर दिया गया था।

१५ अगस्त १९४७ में पूर्व के नक्शों में जो सीमा रेखा दिखाई गई, वह निःसंदिग्ध और विवाद से परे थी।

भारत और पाकिस्तान के मध्य इस प्रकार वार्ता चल ही रही थी कि ६ अप्रेल १९६५ को पाकिस्तान सेना की एक टुकड़ी ने अपने टैंक व तोपखानों से सुसज्जित होकर सरदार नामक भारतीय चौकी पर हमला बोल दिया। २४ अप्रेल १९६५ का पाकिस्तान की पूरी एक डिवीज़न (३२०० सैनिक) ने अमेरिकन टैंकों के साथ कच्छ पर भीषण आक्रमण किया जिसका मुकाबला केवल ३२५ भारतीय सैनिकों द्वारा ऐतिहासिक वीरता के साथ किया गया। बाद मे भारत की ओर से तुरन्त ही प्रभावकारी सैनिक कुमुक भेजी गयी।

कच्छ सीमा पर भारत पाक संघर्ष को रोकने के लिए ब्रिटेन ने युद्ध विराम (Cease fire) का प्रस्ताव रखा जिसे भारत ने मान लिया लेकिन पाकिस्तान ने अस्वीकार कर दिया। पाकिस्तान का प्रस्ताव था कि दोनों देश "संघर्ष क्षेत्र से अपनी फौज हटा लें जबकि भारत का आग्रह था कि युद्ध विराम और दोनों देशों के बीच शांतिवार्ता होने के पहिले युद्ध पूर्व की स्थिति स्थापित हो क्योंकि ऐसा न होने पर आक्रमक शक्ति को अनिश्चित लाभ पहुँचेगा और भारत को हानि।

अन्त में लन्दन में होने वाले राष्ट्रमंडलीय प्रधान मंत्रियों के सम्मेलन के अवसर पर ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन के प्रयत्नों से भारत और पाकिस्तान के बीच कच्छ के प्रश्न पर ३ जून १९६५ को एक समझौता हुआ जिसमें निम्नलिखित बातें उल्लिखित की गयीं—

१ १ जुलाई, १९६५ से युद्ध बन्द कर दिया जाए।

२ दोनों देशों की सेनायें ७ दिन के भीतर पीछे हटा ली जायें और १ जनवरी १९६५ की अपनी अपनी स्थिति पर लौट जायें।

३ सीमा विवाद के प्रश्न पर समाधान पहिले मंत्रियों की वार्ता द्वारा किया जाए और इस प्रकार की वार्ता सफल न होने पर यह प्रश्न एक निष्पक्ष न्यायाधिकरण (Tribunal) को सौंपा जाए। न्यायाधिकरण के तीन सदस्य हों जिसमें एक एक सदस्य भारत तथा पाकिस्तान द्वारा नियुक्त किये जायें और अध्यक्ष के नाम पर यदि दोनों देशों में सहमति न हो सके तो संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव उसका नाम प्रस्तावित करें।

इस समझौते अथवा संधि के अनुसार पाकिस्तान अपनी सम्पूर्ण सेना अन्तर्राष्ट्रीय सीमा के उत्तर में ले गया। परन्तु डिंग-सुरई-कंजरकोट मार्ग पर दोनो देशों को ही अपने पुलिस दल रखने का अधिकार मिल गया। इस का अर्थ यह हुआ कि पाकिस्तान ने अपनी सेनायें बियारबेट पोइण्ट ८४ तथा कंजरकोट से हटा ली और भारत को सरदार तथा विघाकोट की चौकियां खाली करनी पड़ी। समझौते में यह व्यवस्था की गई कि "संघर्षपूर्ण क्षेत्र"

में पुलिस की कोई चौकी नहीं होगी परन्तु पाकिस्तानी पुलिस के गश्ती दल को कंजरकोट तक जाने आने का अधिकार होगा। छारबेट तथा करीमशाही चौकियों पर भारत का अधिकार होगा और भारतीय पुलिस अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक गश्त कर सकेगी। छारबेट की चौकी पर भारत की पुलिस शक्ति उसकी ३१ दिसम्बर १९६४ वाली पुलिस शक्ति से अधिक न होगी। पाकिस्तानी दल सुरई—कंजरकोट मार्ग का पहरा देगा तथा भारतीय गश्ती दल अन्तर्राष्ट्रीय सीमा तक जाएगा लेकिन गश्त करने वालो की संख्या १ जनवरी की निर्धारित संख्या से अधिक न होगी। यह भी तय हुआ कि दोनों गश्ती दलों का कभी आमना सामना हो जाए तो वे एक दूसरे के कार्य में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।

उपयुक्त समझौता होने के बाद कच्छ सीमा पर भारत और पाकिस्तान दोनों देशों ने अपनी अपनी सेनायें १ जनवरी १९६५ वाली स्थिति में हटा लीं पाकिस्तान द्वारा उठाए गए सीमा निर्धारण के प्रश्न पर विचार हेतु एक न्यायाधिकरण की नियुक्ति कर दी गई जिसमें भारत द्वारा यगोस्लाविया के न्यायाधीश को प्रस्तावित किया गया और पाकिस्तान द्वारा ईरान क। दोनों ही देशों में मतभेद क कारण अध्यक्ष की नियुक्ति संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव द्वारा की गई। न्यायाधिकरण द्वारा दोनों देशों को आदेश दिये गये कि वे कच्छ के सम्बन्ध में अपने अपने दावे प्रस्तुत करें ताकि उन पर विचार किया जाकर न्यायाधिकरण अपना निर्णय दे सके। न्यायाधिकरण का निर्णय होना अभी शेष है।

कश्मीर पर भारत-पाक संघर्ष

भारत और पाकिस्तान १५ अगस्त, १९४७ को दो पृथक स्वतन्त्र राष्ट्रों के रूप में अस्तित्व में आये और इसके लगभग दो माह बाद ही २२ अक्टूबर, १९४७ को पाकिस्तान द्वारा कश्मीर पर आक्रमण कर दिया गया। आक्रमणकारी पांच दिन में ही कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के पास पहुँच गये। इस पर कश्मीर के महाराजा ने भारत सरकार से सहायता मांगी किन्तु भारत ने राजनीतिक समझौते के अभाव म सहायता देने से इन्कार कर दिया। तत्पश्चात कश्मीर महाराजा ने अपनी रियासत को भारत में विलय करने का समझौता किया और तब भारत ने अपनी सेनायें कश्मीर में आक्रमणकारी को मार भगाने के लिए भेजी। साथ ही दोनों देशों के बीच पूरी लड़ाई न छिड़ जाए, इस स्थिति से बचने के लिए १ जनवरी १९४८ को भारतीय सरकार ने पाकिस्तान के विरुद्ध संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की ३५वीं धारा के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद में यह शिकायत भी कर दी कि पाकिस्तान की सहायता से कबाइलियों ने भारत भूमि पर आक्रमण किया है अतः उन्हें रोका जाए। सुरक्षा परिषद ने २० जनवरी १९४८ को एक प्रस्ताव द्वारा जांच कमीशन की नियुक्ति की जिसमें दोनों देशों से परामर्श से १३ अगस्त १९४८ को सुझाव दिया कि दोनों देशों के बीच चल रहे युद्ध को रोका जाए और कश्मीर के भविष्य का निर्णय वहां की जनता की राय

से हा। इसके फलस्वरूप १ जनवरी १९४९ को युद्ध बन्द हो गया और तत्पश्चात् भारत और पाकिस्तान के मध्य संयुक्त राष्ट्र संघीय मध्यस्थता के माध्यम से तथा सीधे रूप से भी बातचीत होती रही। सुरक्षा परिषद में काश्मीर समस्या ने क्या नय नये गुल खिलाये और इस सम्बन्ध में भारत और पाकिस्तान के बीच कितना विवाद चलता रहा आदि सब बातों का पूरी तरह विस्तार के साथ वर्णन संयुक्त राष्ट्र संघ के पूर्ववर्ती अध्याय में 'काश्मीर समस्या' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है अतः यहाँ उसकी पुनरावृत्ति करना अनावश्यक होगा। प्रस्तुत संदर्भ में केवल यह देखना उपयोगी होगा कि काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान और भारत ने अपने अपने पक्ष में अब तक किन तर्कों को प्रस्तुत किया है और अगस्त–सितम्बर १९६५ में काश्मीर में पाकिस्तानी घुसपैठ तथा काश्मीर को लेकर भीषण भारत पाक युद्ध के उपरान्त काश्मीर की स्थिति और भारत पाक सम्बन्धों की स्थिति क्या है?

काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान के तर्क

यद्यपि काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान का पक्ष एकदम निर्बल है और उसकी स्थिति पूरी तरह एक अपराधी की है किन्तु एंग्लो अमेरिकन कूटनीति से प्रोत्साहित होकर पाकिस्तान अब तक अपने पक्ष में निम्नलिखित प्रमुख तर्क उपस्थित करता रहा है—

(१) काश्मीर का भारत में विलय भारत द्वारा प्रयोग की गई शक्ति एवं बल प्रदर्शन का परिणाम था अतः उसको स्वीकार नहीं किया जाना चाहिये क्योंकि काश्मीर के शासक द्वारा अपनी स्वतन्त्र इच्छा का प्रयोग नहीं किया गया है।

(२) काश्मीर का भारतीय संघ में विलय जनमत संग्रह की शर्त पर आधारित था। अतः इस शर्त को पूरी किये बिना काश्मीर को स्थायी रूप से भारतीय संघ में मिला हुआ नहीं माना जा सकता।

(३) काश्मीर एक मुस्लिम बहुल प्रदेश है। जब पाकिस्तान का निर्माण ही मुस्लिम बहुल प्रदेशों से मिलकर हुआ है तो फिर काश्मीर का विलय भी तर्कपूर्ण दृष्टि से पाकिस्तान में ही होना चाहिये।

(४) काश्मीर के जनमत संग्रह कर जाने के प्रश्न पर पाकिस्तान का समानता का अधिकार है। भारत का विभाजन करते समय भी सभी प्रकार के विचार विमर्श और निर्णय कांग्रेस व मुस्लिम लीग की रजामन्दी से हुए थे अतः काश्मीर के मामले में भी कोई निश्चय करने में भारत और पाकिस्तान को बराबरी का हक मिलना चाहिये।

(५) पाकिस्तान का यह भी तर्क है कि काश्मीर के राजा ने काश्मीर की जनता की इच्छा के विरुद्ध भारत में सम्मिलित होना स्वीकार किया था अतः यह अवैधानिक है।

यदि वास्तविकता की कसौटी पर कसा जाए तो पाकिस्तान द्वारा प्रस्तुत किये जाने वाले तर्क नितान्त उपहासास्पद और बेतुके सिद्ध होते हैं।

पाकिस्तान एक बहु राष्ट्र है जो इस २० वीं शताब्दी में भी जातीयता तथा धर्म के आधार पर काश्मीर में द्वि राष्ट्र सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है। इस सदी में जाति और धर्म की दुहाई करना एक असंगत बात है और भारत राज्य की धर्म निरपेक्षता की पृष्ठभूमि में तो पाकिस्तान का यह तर्क नितान्त बेहूदा लगता है। भारत स्वयं संसार के सबसे बड़े मुस्लिम आबादी वाले राष्ट्रों में तीसरा स्थान रखता है और यहां के मुसलमान अपनी स्थिति में पूर्णतया संतुष्ट हैं कुछ मामलों में तो पाकिस्तान के स्वयं के मुसलमानों से भी बढ़कर। पाकिस्तान यह तर्क पेश करते समय की काश्मीर के राजा ने भारत में सम्मिलित होने के लिए जनता की इच्छा को नहीं जाना यह भूल जाता है कि अन्य ६०० से अधिक देशी रियासतों के विलय में मतदान के द्वारा जनता की इच्छा नहीं जानी गई थी। वैधानिक स्थिति यही थी कि राज्य के प्रमुख के हस्ताक्षर हो जाने पर ही उस राज्य को सम्मिलित कर लिया जाता था। स्वयं पाकिस्तान सरकार ने कलात के राज्य को वहां के शासक खान को गिरफ्तार करके बिना लोक मत जाने अपने राज्य में मिलाया था। इसी तरह पाकिस्तान के इस तर्क में भी कोई बल नहीं है कि काश्मीर का भारत में विलय भय का परिणाम था। पाकिस्तान यह भूल जाता है कि काश्मीर पर उसका आक्रमण कोई जन आन्दोलन नहीं था। इसके अतिरिक्त यदि आंतरिक आन्दोलनों में भी अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार यदि किसी हिन्न पर आन्दोलनकारियों का अधिकार हो जाता है तो उस राज्य के शासक को इस बात का पूरा अधिकार होता है कि वह दूसरे राज्यों के साथ अपने पूरे राज्य के लिए समझौता कर ले। काश्मीर के शासक ने भारत में विलय का प्रस्ताव तब ही किया जब कि उसने यह देख लिया कि पाकिस्तानी डकत उसकी रियासत को हड़प जायेंगे और बिना भारत की सहायता के उसकी रियासत का बचाव नहीं हो सकता। भारत ने पाकिस्तान का आक्रमण होने पर भी तब तक किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं किया जब तक कि काश्मीर के वैधानिक शासक ने अपनी रियासत को भारत में विलय करते हुए सहायता की प्रार्थना नहीं की। दरअसल में पाकिस्तान की स्थिति उस अपराधी जैसी है जो अपना दोष दूसरों पर मढ़ना चाहता हो। पाकिस्तान ने स्वयं ने एक ओर तो काश्मीर के साथ यथास्थिति समझौता (Status quo Agreement) किया और दूसरी ओर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुए काश्मीर पर हमला कर दिया। पाकिस्तान का यह कार्य सरासर धोखेबाजी का था। वह एक लुटेरे और डकत के रूप में अपने से निर्बल छोटी सी रियासत में घुसा और उस रियासत की प्रार्थना पर भारत ने लुटेरे से रियासत को बचाया तथा रियासत का भारत में विलय भी पूरी तरह वैधानिक ढंग से हुआ जिसमें किसी प्रकार की शक्ति प्रयोग अथवा जोर जबरदस्ती की बू भी न थी।

भारत द्वारा काश्मीर के प्रश्न पर अपने पक्ष में प्रस्तुत किये गये तर्क

भारत का प्रारम्भ से यह निश्चित और अकाट्य मत रहा है कि काश्मीर का भारत में प्रवेश पूर्णतः वैधानिक है। इस सम्बन्ध में हमारे राष्ट्र

नेताओं द्वारा निम्नलिखित तथ्य प्रस्तुत किये जाते रहे हैं—

(१) १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम में यह व्यवस्था थी की देशी रियासत के शासक अपनी रियासतों के भाग्य का निर्णय करने के लिये स्वतन्त्र हैं। इस अधिनियम में उल्लिखित शब्दावली और व्यवस्था का प्रयोग ही भारत सरकार द्वारा किया गया। भारत का तर्क है कि जो प्रवेश पत्रिका दूसरे राज्यों के साथ वैधानिक हो जाती है वही केवल काश्मीर के सम्बन्ध में अवैधानिक कैसे हो सकती है? स्वर्गीय श्री नेहरू के शब्दों में— काश्मीर का भारत में प्रवेश पूर्ण रूप से भारतीय स्वतन्त्रता कानून के अनुरूप है। यह भारत संघ में प्रवेश करने वाली अन्य देशी रियासतों के साथ की गई कार्यवाही के भी पूर्ण अनुरूप है। काश्मीर का भारत में प्रवेश उस समय हुआ था जब कि वह राष्ट्र मण्डल का एक उपनिवेश ही था और काश्मीर के भारत में प्रवेश को मुकुट की ओर से तत्कालीन गवर्नर जनरल द्वारा ही स्वीकार किया गया था। सम्राट की सरकार (ब्रिटिश सरकार) का यह तर्क विस्मयकारी है कि एक उपनिवेश ने असंवैधानिक कार्य किया। वास्तव में वे स्वयं को ही दोष दे रहे हैं।[1]

भारत के द्वारा प्रस्तुत उपरोक्त तथ्य से यह स्पष्ट है कि काश्मीर के शासक ने भारतीय संघ में अपने राज्य का विलय बिना किसी शर्त के उसी प्रकार किया है जिस प्रकार कि जोधपुर जयपुर मैसूर अथवा अन्य किसी राज्य के राजा द्वारा अपनी सार्वभौमिक शक्ति का उपयोग करते हुए किया गया।

(२) भारत का दूसरा सर्वथा न्यायोचित एवं प्रबल तर्क यह है कि काश्मीर की जनता द्वारा भी अपनी स्वतंत्र रूप से निर्वाचित संविधान सभा के माध्यम से काश्मीर को भारतीय संघ का अभिन्न अंग घोषित किया गया है और इस दृष्टि से काश्मीर में जनमत संग्रह की बात भी प्रायः पूर्ण हो जाती है। काश्मीर की जनता द्वारा निर्वाचित संविधान सभा ने अपने राज्य के संविधान की प्रथम धारा में ही इस तथ्य का स्पष्ट उल्लेख किया है कि काश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है। पुनश्च यह एक सर्वविदित तथ्य है कि संविधान निर्माण के पश्चात काश्मीर में अब तक चार बार स्वतंत्र चुनाव हो चुका है और यहां की जनता की निर्वाचित सरकार ही शासन का

---

1 "The accession of Kashmir to India is entirely in conformity with the Indian Independance Act, it is also in fully occured with all that has happened in the case of the other princely states, which acceded to India Kashmir accessed to India when she was still a dominion of the Commonwealth and the accession was accepted on behalf of the Crown by the then Governor General. It is strange that the His Magesty's Government should not argue that a dominion had acted un-constitutionally they are really blooming themselves."

—Nehru's Speech in Parliament on March 28, 1951

संचालन करती है। १९६७ के आम निर्वाचन में काश्मीर की जनता द्वारा भारत की लोक सभा में भी अपने सदस्यों का स्वतंत्र निर्वाचन किया गया है। इस प्रकार अब पाकिस्तान द्वारा जनमत संग्रह की मांग केवल मात्र एक बेकार और खोखली दलील है।

इसके अतिरिक्त भारत द्वारा आत्मनिर्णय अथवा जनमत संग्रह की बात को स्वीकार किये हुए १८ वर्ष हो गये हैं और इन १८ वर्षों में काश्मीर की परिस्थिति में राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से बहुत बड़ा अन्तर आ गया है। पाकिस्तान द्वारा बड़े पैमाने पर सैनिक सहायता प्राप्त करके सैनिक संगठनों की सदस्यता स्वीकार कर लेने और काश्मीर की निर्दोष जनता पर दो बार भीषण आक्रमण करने के कारण स्थिति पूरी तरह बदल चुकी है। स्थिति के बदल जाने की बात तो १९५७ में भी जारिंग की रिपोर्ट में भी स्वीकार की गई थी। अब स्थिति यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय कानून के Rebus Sic Stantibus के नियम के अनुसार भी भारत को १८ वर्ष पुराने उत्तरदायित्व को स्वीकार करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता।

(३) आत्म निर्णय का प्रश्न एक लोक संघीय प्रश्न है लेकिन इसका प्रयोग राज्यों को टुकड़ों में विभाजित करने के लिये नहीं किया जाता। उदाहरणार्थ क्या सम्भव को यह स्वीकार होगा कि वैल्स के निवासियों को आत्म निर्णय का अधिकार मिले? श्री वी० एस० चक्रवर्ती ने इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद में प्रस्तुत करते हुए पूछा था कि क्या फ्रांस अपने फ्रिटेनी क्षेत्र में कनाडा फ्रेंच जातियों के क्षेत्र में बैल्जियम बेलन्स में और पाकिस्तान प पख्तूनों को आत्मनिर्णय का अधिकार देने के लिये तैयार है? यदि नहीं तो फिर उन्हें यह कहने का क्या अधिकार है कि भारत काश्मीर में आत्मनिर्णय की मांग स्वीकार करे। पाकिस्तान ने जिन राज्यों का विलय किया क्या उसने स्वयं ने उनमें आत्मनिर्णय का अधिकार दिया था?

(४) पाकिस्तान को जन्म लिये लगभग २० वर्ष हो चुके हैं। जब इन २० वर्षों में वह अपने ही राज्य की जनता को लोकतंत्रात्मक अधिकार नहीं दे पाया है तो काश्मीर के लोगों के लिये आत्मनिर्णय का नारा लगाना उसके लिये एकदम बेहूदा बात है।

(५) काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान द्वारा आत्मनिर्णय अथवा जनमत संग्रह की मांग रखना इस दृष्टि से भी सर्वथा अनुचित है कि पाकिस्तान स्वयं उस राज्य की भूमि पर आक्रमण करता है जिसका विलय वह अपने में चाहता है। पाकिस्तान के हाथ खून से रंगे हुए हैं क्योंकि उसने दो बार काश्मीर की भूमि पर नग्न आक्रमण किया है। इतना ही नहीं उसने आक्रमण द्वारा प्राप्त काश्मीर की भूमि पर भी अपना अधिकार बनाये रखा है और कुछ भूमि को अपने अवसरवादी मित्र साम्यवादी चीन को भेंट कर दी है। फिर यह बात भी ध्यान रखने योग्य है कि भारत सरकार द्वारा काश्मीर में

जनमत संग्रह करवाने की इच्छा मात्र की गई थी यह किसी प्रकार के विलय की पूर्व शर्त न थी और इस प्रकार का आश्वासन भी काश्मीर के शासक को दिया गया था न कि पाकिस्तान को। अतः स्पष्ट है कि इस प्रश्न पर पाकिस्तान वास्तव में एक तृतीय पक्ष है अतः वह किसी प्रकार का दावा प्रस्तुत नहीं कर सकता अथवा कोई मांग नहीं रख सकता।

(६) काश्मीर में जनमत संग्रह करवाने की बात पाकिस्तान द्वारा अपनी सेनाओं के हटाने के बाद पूरा करने की कही गई थी जिसका स्पष्ट उल्लेख भारत सरकार के पत्र में व संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव में भी मौजूद है। पाकिस्तान द्वारा अपनी सेनाओं को न हटाया जाना स्वयं जनमत संग्रह के मार्ग में एक रोड़ा कहा जा सकता है। श्री नेहरू ने १९६१ में काश्मीर में दिये गये भाषण में स्पष्ट रूप से कहा था—जनमत संग्रह। कौन-सा जनमत संग्रह चाहते हो ? मैं आपको कह चुका हूं कि उनकी सेना वहां (काश्मीर में) १० वर्ष से ठहरी हुई है और अभी तक उन्होंने उस भू-भाग को खाली नहीं किया है यद्यपि उन्होंने ऐसा करने का वादा किया था। क्या हम १०० वर्ष तक उनकी प्रतीक्षा करते रहेंगे ?

(७) पाकिस्तान द्वारा काश्मीर में मुस्लिम बहुमत के आधार पर जनमत की मांग प्रस्तुत करना भी किसी तरह न्यायोचित नहीं है। भारत द्वारा मिस्टर जिन्ना के द्विराष्ट्र सिद्धान्त को कभी स्वीकार नहीं किया गया है। आज भी भारत में पाकिस्तान से अधिक संख्या में मुसलमानों का निवास है और उन्हें समानता के आधार पर सभी प्रकार के नागरिक व राजनीतिक अधिकार प्राप्त हैं। अतः धर्म के बहुमत के आधार पर काश्मीर के पाकिस्तान में विलय की मांग करना अथवा जनमत संग्रह का नारा लगाना बेतुकी बात है। काश्मीर को भारत अथवा पाकिस्तान में विलय करने का सम्पूर्ण अधिकार वैधानिक रूप से काश्मीर के महाराजा को प्राप्त था अतः उसके द्वारा किया गया निर्णय एक अंतिम और अपरिवर्तनीय तथ्य है।

(८) यदि २० वर्ष पीछे लौटकर भारत आत्मनिर्णय की पाकिस्तानी मांग को मानने का दुःसाहस करता है तो सम्पूर्ण देश में शांति भंग हो जाएगी और स्वयं काश्मीर में भी गम्भीर स्थिति पैदा हो जाएगी क्योंकि भारत और काश्मीर की जनता यह कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि उनके द्वारा किये गये पहिले के किसी भी निर्णय को फिर से चुनौती का प्रश्न बना कर उनका अपमान किया जाए।

काश्मीर के भारत में विलय के प्रश्न पर भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री गजेन्द्र गडकर ने जो विचार व्यक्त किये थे वे काश्मीर पर भारत की स्थिति को एकदम स्पष्ट कर देते हैं। श्री गडकर के शब्दों में "समय समय पर काश्मीर सरकार एवं भारत सरकार के बीच किये गये समझौतों एवं दोनों राज्यों में विकसित संवैधानिक कानून के आधार पर मात्र

स्थिति यह है कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारतीय संघ का भाग है जिसका भारतीय संघ से पृथक्करण जम्मू-काश्मीर तथा भारत के संविधान के संशोधन बिना सम्भव नहीं है। काश्मीर पर पाकिस्तान के आक्रमण तथा उसके बाद की घटनाओं का जिक्र करते हुए श्री गजेन्द्र गडकर ने कहा कि 'सुरक्षा परिषद के प्रस्तावों का पालन नहीं करने के लिये भारत को कदापि दोष नहीं दिया जा सकता है क्योंकि भारत द्वारा अपने उत्तरदायित्व का पालन करने की बात पाकिस्तान द्वारा अपने उत्तरदायित्व के पालन के पश्चात् ही पैदा होती है। अत यदि काश्मीर में जनमत संग्रह सम्भव नहीं हुआ है तो उसका सम्पूर्ण दोष पाकिस्तान का है क्योंकि उसने सेनाओं को हटाने सम्बन्धी अपने उत्तर दायित्व का पालन नहीं किया है।' [1]

भारत–पाक संघर्ष १९६५

भारत के प्रति पाकिस्तान के जन्मजात वैमनस्य एवं शत्रु भाव का सबसे अधिक नग्न प्रदर्शन अगस्त सितम्बर १९६५ में देखने को मिला। अप्रैल १९६५ में कच्छ के भारतीय प्रदेश पर आक्रमण के उपरान्त १० दुम को हीन बाले कच्छ समझौते की स्याही सूखन भी नहीं पाई थी कि अगस्त में पाकिस्तान ने काश्मीर म सादा वस्त्रधारी सशस्त्र घुसपैठिये (Intruders भेजे। ५ अगस्त १९६५ से लेकर खासतौर से फौजी ट्रेनिंग देकर भेज गये तीन हजार से पांच हजार पाकिस्तानी हमलावरों ने भारत के उत्तरी राज्य में घुसपैठ शुरू की।

---

1 "As a result of agreements between the Government of Kashmir and the Govt. of India from time to time and the development of constitutional law both in Kashmir and in India, the position today was that Jammu and Kashmir formed part of the territory of the Union of India. It could not go out or be taken out of the territory of the Union of India without an amendment of the Constitution of India as well as the Constitution of Jammu and Kashmir Referring to the first Pakistani aggression and subsequent event including the Security Council resolutions Mr Gajendragadkar said "India could not be blamed for not discharging its obligations under the resolution. Its obligations arose only after Pakistan discharged its in first instance. If no plebiscite could be held, it was entirely because Pakistan refused to carry out its obligations."—former C.J of India Mr P B Gajendragadkar (Patriot, dated 29-12 1966).

If any party to a case fails to perform the obligations incombent upon it under a Judgement rendered by the Court, the other party may have recourse to the Security Council which may if it deems necessary make recommendations or decide upon measures to be taken to give effect to the Judgement."

—U N Charter Article 94 (2.)

१४ अगस्त १९६५ को 'वाशिंगटन पोस्ट' ने खबर छापी—"पाकिस्तानी अफसरों के अधीन कम से कम १५ सौ छापामार ५ अगस्त से युद्धविराम-रेखा को पार कर काश्मीर में घुस गए हैं।"

जब पाकिस्तानी छापामारों की कोशिश नाकाम हो गई और उनमें से एक हजार से ज्यादा मारे गए और बहुत से पकड़ लिये गए और दुनिया को यकीन हो गया कि ये हमलावर पाकिस्तान द्वारा ही ट्रेनिंग देकर भेजे गये थे तब पाकिस्तानी सेना ने खुल्लमखुल्ला हमला कर दिया।

लन्दन 'टाइम्स' के रावलपिण्डी स्थित सम्वाददाता द्वारा भेजे गए ११ अगस्त १९६५ को प्रकाशित समाचार में कहा गया कि— "इसमें कोई शक नहीं कि काश्मीर में पाकिस्तान की ओर से आए लोगों ने गुरिल्ला कार्यवाही की है और इन सरगर्मियों की योजना पाकिस्तान सरकार के निर्देशन से की गई है। पत्र में आगे कहा गया कि— पाकिस्तान ने काश्मीर *में अपना आखिरी दांव लगा दिया है और ऐसा समझा है कि यह अन्तिम* हद तक के लिये कटिबद्ध है, यहां तक कि महायुद्ध के लिये भी चाहे इसका नतीजा दोनों देशों के करोड़ों लोगों के लिये कितना भी नुकसानदेह क्यों न हो।

पाकिस्तान ने इस बात से इन्कार करने का यत्न किया कि हमलावरों की लूट-खसोट के पीछे उसका हाथ है। पाकिस्तान के विदेश मन्त्री श्री जेड ए भुट्टो ने १० अगस्त को रावलपिण्डी में कहा कि काश्मीर में जो कुछ हो रहा है उसकी जिम्मेदारी किसी भी तरह पाकिस्तान पर नहीं थोपी जा सकती।

पर तथ्य श्री भुट्टो के बयानों के विरुद्ध सिद्ध हुए। इसके बहुत अधिक *प्रमाण मिले कि अमस्यतौर पर किया गया भारत पर* सैनिक हमला सीधे पाकिस्तान द्वारा संगठित किया गया था और इसको पाकिस्तान के सर्वोच्च लोगों का समर्थन और आशीर्वाद प्राप्त था। अन्य बातों के अलावा पाकिस्तानी हमलावरों से जिस नमूने और टाइप के हथियार बरामद हुए और उन पर जो निशान पाये गए उनसे तथा पकड़े गए पाकिस्तानी अफसरों और अन्य लोगों के बयानों से इसका प्रमाण मिला। जैसे-जैसे ज्यादा से ज्यादा हथियार बरामद होते गये और घुसपैठी पकड़े गए, वैसे-वैसे प्रमाणों की संख्या भी बढ़ती गई। इस समूचे प्रमाण से यह तथ्य विवादहीन रूप से स्पष्ट हो गया कि घुसपैठियों की सरगर्मियों के पीछे पाकिस्तानियों का पूरा हाथ था। उन्होंने ही अपनी हथियारबन्द फौजों को घुसपैठियों के रूप में टुकड़ियों में बांटा था। पाकिस्तान ने ही मरी में उन्हें छापामार हमले की ट्रेनिंग दी उन्हें टुकड़ियों में पुनर्गठित किया और उन्हें कपड़े और सैनिक साज-सामान देकर जानमाल की बरबादी करने के इरादे से काश्मीर में भेजा।

छापामार सेना के मुख्यालय या जिब्राल्टर सेना के मुख्यालय में इन

घुसपैठियों को भरपूर ट्रेनिंग दी गई। ये घुसपैठी पाकिस्तानी सेना के तथा कथित आजाद काश्मीर की बटालियनों के सैनिक थे। उन्हें लम्बी मार्च करने कई तरह के हथियारों का इस्तेमाल करने फील्ड इन्जीनियरी और घात लगाकर हमला करने संचार व्यवस्था को भंग करने आदि गुरिल्ला दावपेचों की ट्रेनिंग दी गई थी। इस उद्देश्य के लिये चार केन्द्र खोले गए थे जिनमें से एक पश्चिमी पाकिस्तान में सियालकोट में था।

घुसपैठियों को आठ दस्तों में बांटा गया और हर दस्ते में छः कम्पनियां थीं और एक कम्पनी में ११० फौजी थे। ज्यादातर इन दस्तों की कमान्ड पाकिस्तानी फौज के अफसर कर रहे थे जिनका पद मेजर के बराबर था।

घुसपैठियों ने छोटी-छोटी टुकड़ियों में चोरी-छिपे युद्धविराम-रेखा पार की और नियत स्थानों पर जाकर बड़े दल का रूप धारण कर लिया। इनके पास विभिन्न प्रकार के हथियार पका हुआ खाना सूखा राशन दवाइयां ट्रांजिस्टर रेडियो और बहुत बड़ी संख्या में भारत के करेंसी नोट थे।

घुसपैठियों को जो काम दिये गये थे उनमें से कुछ इस प्रकार थे--

पुलों को नष्ट करना संचार-व्यवस्था को भंग करना भारतीय सेना के लिये रसद लाने वाले दस्तों उनके मुख्यालयों रसद भण्डारों पुलिस चौकियों और प्रमुख उद्योग-केन्द्रों को बर्बाद करना सैनिकों असैनिक अधिकारियों और गणमान्य व्यक्तियों को जान से मार डालना था।

घुसपैठियों को इस बात का पूरा आश्वासन दिया गया था कि उन्हें स्थानीय लोगों से पूरी सहायता मिलेगी। साथ ही उनको यह आदेश था कि अगर काश्मीर के लोग उनका साथ न दें तो वे इन्हें डराने के लिये मकानों और साज-सामान में आग लगा दें। परन्तु पाकिस्तानी आशाओं पर पानी फिर गया। तत्कालीन प्रधानमन्त्री स्वर्गीय श्री लालबहादुर शास्त्री के शब्दों में—

"पाकिस्तानी हथियारबन्द आदमियों का काम तोड़-फोड़ की कार्यवाही करना आग लगाना और हमारे हवाई अड्डों को क्षति पहुंचाना था। पाकिस्तान का ख्याल था कि उसके इशारे पर काश्मीर में बगावत होगी। उसका अनुमान था कि सारा काश्मीर पाकिस्तान के साथ आने के लिये तैयार बैठा है। दूसरी ओर काश्मीर के लोग न तो उन हथियारबन्द लोगों को पनाह देते थे और न खाना। इस तरह काश्मीर के बहादुर लोगों ने साबित कर दिखाया कि काश्मीर भारत का अंग है और पाकिस्तान से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। जब पाकिस्तान ने यह देखा कि हथियारबन्द आदमियों को भेजने के बाद भी काश्मीर में न तो अशान्ति हुई और न वहां की जनता ने साथ दिया तो उसने दूसरा तरीका हमले का अख्तियार किया।

छम्ब पर सैनिक आक्रमण

भारतीय प्रदेश काश्मीर को हथियाने के अपने इस प्रयास में असफल होकर एक हारे हुए जुआरी की तरह बौखला कर तथा अमेरिकन पैटन टैंक व सेबर जेटों के बल पर भारत को रौंद देने का मन्सूबा करके पहली सितम्बर, १९६५ को पाकिस्तान की एक पैदल ब्रिगेड और ७० टैंकों ने काश्मीर पर भीषण हमला कर दिया। यह हमला छम्ब क्षेत्र में हुआ। पाकिस्तान ने इस क्षेत्र को हमले के लिये कई कारणों से चुना था—पहला कारण इस प्रदेश का सपाट मैदान टैंक युद्ध के लिये तथा अमेरिकन शस्त्रों के प्रयोग के लिये बड़ा उपयुक्त था। दूसरा कारण यह क्षेत्र पाकिस्तान की प्रधान सैनिक छावनियों के अत्यन्त निकट था। इस क्षेत्र में युद्धविराम रेखा से १० मील दूर स्यालकोट १५ मील दूर खारियां और समीप ही गुजरात की छावनी से आक्रमणकारी फौजों को पूरी सहायता मिल सकती थी। इसकी तुलना में यह स्थान भारत के सैनिक अड्डों से बहुत दूर थे।

काश्मीर पर हमला करने से पहले ही पाकिस्तान एक विशाल सैनिक योजना बना चुका था। इसके अनुसार छम्ब पर हमले का प्रधान लक्ष्य अखनूर पर अधिकार करना था जो कि जम्मू के निकट चिनाब नदी पर एक अत्यन्त सामरिक महत्व का सैनिक अड्डा था। अखनूर पर अधिकार हो जाने से पाकिस्तान जम्मू को जीतता हुआ जम्मू-काश्मीर की भारतीय सेनाओं को शेष भारत से विच्छिन्न कर सकता था। पाकिस्तान के सैनिक और राजनीतिक नेताओं की कल्पना थी कि इस सैनिक पराजय से भारत को इतना जबरदस्त राजनीतिक आघात पहुंचेगा कि उसमें पाकिस्तान का प्रतिरोध करने की भावना नष्ट हो जायेगी और काश्मीर पर पाकिस्तान सरलता से कब्जा कर लेगा। अखनूर और जम्मू पर अधिकार करने के बाद पाकिस्तान की असली योजना सैनिक शक्ति के बल पर भारत के दो अन्य प्रदेशों को जीतकर काश्मीर पर अधिकार को सुदृढ़ करना था —(१) सक्कर गारेवाल से डेराबाबानानक के पुल से रावी नदी पार कर गुरुदासपुर पर तथा पठानकोट के रेल तथा सड़क के महत्वपूर्ण अड्डे पर अधिकार स्थापित करना। (२) कसूर-खेमकरण के मार्ग पर हरिके तरनतारन और व्यास के पुल की तीन दिशाओं से बढ़ते हुए हमला करना इस प्रकार अमृतसर को चारों ओर से घेर लेना तथा दिल्ली की ओर जाने वाले महामार्ग (Grand Trunk Road) पर कब्जा करके दिल्ली की ओर बढ़ना। वास्तव में पाकिस्तान की यह महत्वाकांक्षी सैनिक योजना यदि सफल हो जाती तो भारत के लिए यह एक प्रबल सैनिक आघात होता और १९६२ के चीनी आक्रमण के बाद से बची-खुची भारत की प्रतिष्ठा भी धूल में मिल जाती।

भारतीय प्रत्याक्रमण और युद्ध विराम

छम्ब क्षेत्र में पाकिस्तानी सैनिकों के प्रथम तीन हमलों को भारतीय सैनिकों ने विफल बना दिया लेकिन जब चौथा हमला ७० टैंकों और स्थल सेना की एक ब्रिगेड के साथ किया गया तो भारतीय फौजों को पीछे हटना

ा और शत्रु की बढ़ती हुई टैंक-वाहिनी को विनष्ट करने के लिए वायु
क्ति का प्रयोग करना पड़ा। युद्ध के प्रथम तीन दिनों में शत्रु के अनेक
ड नष्ट कर दिये गए, पाकिस्तानी वायु शक्ति को भय पैदा कर दिया गया
र दुश्मन को आगे बढ़ने से रोक दिया गया। पर चूंकि पाकिस्तान छम्ब
न में अपने पूरे सैन्य बल के साथ टूट पड़ा था अतः भारत के पास
म्ब की रक्षा का एक मात्र उपाय यही बचा कि वह युद्ध के दूसरे मोर्चे
से ताकि छम्ब में पाकिस्तानी सैनिक दबाव कम हो जाय। इसी रणनीति
समझते हुए भारत ने ६ सितम्बर को लाहौर का ७ सितम्बर को
ालकोट को और ८ सितम्बर को राजस्थान-सिंध सीमा पर गदरा रोड
मोर्चा खोला। यदि इन तीन मार्गों को खोल कर पाकिस्तान की सैन्य
क्ति को विभाजित नहीं किया जाता और अखनूर और जम्मू की ओर
किस्तानी सेनायें बढ़ती रहतीं तो काश्मीर स्थित भारतीय फौजें पूरी तरह
र जातीं। पाकिस्तान के प्रचामक पूरी तैयारी के साथ किए गये योजना
द्ध आक्रमण को अस्त-व्यस्त करने के लिए भी इन मोर्चों का खोला जाना
वश्यक था।

भारत की यह युद्ध-योजना पूरी तरह सफल हुई। पाकिस्तान को
म्ब से अपनी फौजें लाहौर तथा स्यालकोट के बुरी तरह पिटते हुए मोर्चों
र भेजनी पड़ी। राजस्थान का गदरा रोड मोर्चा खोलने से कच्छ के युद्ध
भाग लेने वाली पाकिस्तानी सेनायें वहीं फंसी रह गईं और पंजाब के मोर्चे
सेनाओं को सहायता देने के लिए नहीं आ सकीं।

पाकिस्तान को अपने आक्रमण का भरपूर जवाब मिला। ११ सितम्बर
क पाकिस्तानी वायुशक्ति की पूरी तरह कमर तोड़ दी गई और उसके
मरीकन पेटन टैंकों का असल उत्तर' तथा 'फिलोरा में कब्रिस्तान
ना दिया गया। असल उत्तर' नामक गांव के निकट १०-११ सितम्बर
ो भीषण और निर्णायक युद्ध हुआ जिसमें पाकिस्तानी सेना के २२५ टैंकों
भाग लिया। यहां अपने रण-कौशल और शौर्य से पाकिस्तान के सर्वोत्कृष्ट
आरमर्ड डिवीजन को बुरी तरह क्षति-ग्रस्त कर दिया गया। उसके ९७
क नष्ट हुए, अनेक उच्च सैन्याधिकारी पकड़े गये। फिलोरा नामक
ोटे गांव के पास युद्ध में लगभग ६०० पाकिस्तानी टैंकों ने भाग लिया।
ां १२ दिन तक युद्ध चलता रहा जिसमें पाकिस्तान के २४१ टैंक नष्ट कर
ये गये। अपने छोटे भाई' और 'अजीज दोस्त' को पिटते हुए बराबर
ड़े भाई चीन से न रहा गया। पाकिस्तान के प्रति अपनी सहानुभूति
ौर उसकी रक्षा करने की भावना का झूठा प्रदर्शन करते हुए १६ सितम्बर
ो चीन ने भारत सरकार को ३ दिन का अल्टीमेटम भेजा और आरोप
गाया कि भारत ने सिक्किम-तिब्बत सीमा पर चीनी प्रदेश में अपने सैनिक
ड्डे स्थापित किये हैं तथा ५६ याक और ८०० भेड़ें चुरायी हैं। अतः
ारत ३ दिन के भीतर इन अड्डों को नष्ट कर दे और पशुओं को वापिस
र दे अन्यथा उसे गम्भीर परिणाम भुगतना पड़ेगा। भारत ने इन अड्डों
निरीक्षण के लिए कई प्रस्ताव रखे परन्तु चीन ने उन्हें ठुकरा दिया।

ठुकराता भी क्यों नहीं ? आखिर कोई अड्डे होते तभी तो उनका निरीक्षण किया जाता। चीन के इस अल्टीमेटम का उद्देश्य तो सम्भवत यही था कि वह पाकिस्तान को अपने समर्थन की आशा दिखाकर भारत के साथ निरन्तर लड़ते रहने की और युद्ध न बन्द करने की प्रेरणा दे। कुछ प्रेक्षकों का मत है कि युद्ध मे पाकिस्तान इतनी गहरी और करारी हार पराजय पा चुका था कि वह किसी तरह युद्ध विराम चाहता था। चीन ने ऐसे समय अल्टीमेटम यह सोच कर दिया कि पश्चिमी देश चिन्तित होकर सुरक्षा परिषद मे तुरन्त युद्ध-विराम के लिए उग्र प्रयत्न करेंगे और इसका लाभ उठाते हुए पाकिस्तान युद्ध-विराम द्वारा पूर्ण पराजय के अपमान से बच सकेगा। चीनी अल्टीमेटम का वास्तविक उद्देश्य कुछ भी रहा हो किन्तु १९ सितम्बर को इसकी अवधि समाप्त होने पर चीन ने अल्टीमेटम की अवधि तीन दिन और बढ़ा दी तथा इस बढ़ी हुई अवधि की समाप्ति पर एक तरफ तो सुरक्षा परिषद का युद्ध-विराम का निर्णय हुआ और दूसरी तरफ चीन ने यह अद्भुत घोषणा की कि भारत ने चीन की सीमा में बने हुए सैनिक अड्डे स्वयमेव तोड़ दिये हैं अतः अल्टीमेटम के अनुसार अगली कार्यवाही करने की आवश्यकता नहीं रही है।

चीन द्वारा अपना अल्टीमेटम वापिस लेने के अनेक परिणाम निकले—

प्रथम सारा विश्व यह समझ गया कि चीन वस्तुतः जितने पानी में है। वह अमेरिका को 'कागजी शेर' कहा करता था और निकला खुद कागजी शेर'। चीन का यह अल्टीमेटम पाकिस्तान को खुश करने को था क्रियान्वित करने का साहस उसमे नहीं था।

दूसरे, चीन की चुनौती ने इस बात को प्रमाणित कर दिया कि अब १९६२ का भारत नहीं था। पिछले तीन वर्षों की अवधि में उसने रक्षा-व्यवस्था इतनी सुदृढ़ कर ली थी और नव-संगठित पर्वतीय सैनिकों को नवीनतम अस्त्रशस्त्रों से सुसज्जित करके इतना शक्तिशाली बना लिया था कि यदि चीन १९६२ जैसा दुस्साहस करता तो उसकी प्रतिष्ठा को भारी आघात सहना पड़ता जो भारत को सहना पड़ा था। चीन ने चुनौती दी भारत ने उसे स्वीकार किया परन्तु चुनौती कार्यान्वित नहीं हुई और परिणामतः एशिया में भारत के सैन्यबल को पुनः प्रतिष्ठा मिली और भारतीयों में यह आत्म-विश्वास जमा कि अवसर आने पर उनके चीन और पाकिस्तान दोनों से लड़ सकने की सामर्थ्य है।

तीसरे, चीन के अल्टीमेटम ने इस बात का पुष्ट प्रमाण प्रस्तुत किया कि पाकिस्तान और चीन परस्पर मैत्रीबद्ध हैं ठीक वैसे ही जैसे चोर-चोर मौसेरे भाई होते हैं।

भारत और पाकिस्तान का यह 'महायुद्ध' २१ सितम्बर, १९६५ तक चला। अन्त में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हस्तक्षेप से २२ सितम्बर को युद्ध-विराम हो गया। भारत-पाक ...

राष्ट्रसंघ में क्या-क्या गुल खिले कौन-कौन से प्रस्ताव पारित या रद्द हुए और उनके प्रति भारत और पाकिस्तान का क्या रवैय्या रहा आदि बातों का विस्तार से वर्णन 'संयुक्त राष्ट्रसंघ' नामक पिछले अध्याय में 'काश्मीर समस्या' के अन्तर्गत किया जा चुका है, अतः इनकी पुनरावृत्ति करना अनावश्यक होगा।

भारत और पाकिस्तान के इस युद्ध में पाकिस्तान को पूरी आशा थी कि चीन उसकी सहायता करेगा परन्तु उसे निराश होना पड़ा। उसने 'सीटो' और 'सेण्टो' सैनिक संगठनों से सहायता की याचना की किन्तु वहां से भी निराशा ही उसके पल्ले पड़ी। भारतीय सेना ने पाकिस्तान के एक बहुत बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। युद्ध समाप्ति पर ७४० वर्गमील का पाकिस्तानी क्षेत्र भारत के कब्जे में था जबकि आकस्मिक आक्रमण का लाभ उठा लेने के कारण २४० वर्गमील के लगभग भारतीय क्षेत्र पाकिस्तान के अधिकार में था। इस युद्ध में पाकिस्तान की वायु और टैंक शक्ति को तहस-नहस कर दिया गया जबकि भारत की क्षति अपेक्षाकृत बहुत कम हुई।

युद्ध विराम के कारण

यहां उन कारणों को भी संक्षेप में जान लेना उचित होगा कि जिनकी वजह से भारत ने युद्ध विराम स्वीकार किया। भारत ने युद्ध विराम इसलिए माना कि जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उसे विवश होकर संघर्ष करना पड़ा था वे उद्देश्य पूर्ण हो चुके थे। ये उद्देश्य इस प्रकार थे—

पहला उद्देश्य बल प्रयोग द्वारा काश्मीर लेने के पाकिस्तानी प्रयास को विफल बनाना था।

दूसरा उद्देश्य पाकिस्तान को और सम्पूर्ण विश्व को यह बता देना था कि काश्मीर पाकिस्तान का नहीं बल्कि भारत का है और उसका अविभाज्य अङ्ग है जिसकी तरफ उठने वाले वाला कोई भी आक्रमणकारी कदम कुचल दिया जाएगा।

तीसरा उद्देश्य इस बात को सिद्ध कर देना था कि भारत एक शांतिप्रिय राष्ट्र है लेकिन आवश्यकता पड़ने पर युद्ध रत हो कर शत्रु पर वज्र प्रहार भी कर सकता है।

चौथा उद्देश्य संयुक्त राज्य अमरिका को यह बात भलीभांति स्पष्ट कर देना था कि उसने साम्यवाद के प्रतिरोध के नाम पर पाकिस्तान को जो विशाल सैन्य सहायता दी उसका पाकिस्तान द्वारा एक प्रजातन्त्र राष्ट्र के विरुद्ध कितना दुरुपयोग किया गया है। भारत ने अमेरिकन सरकार को स्पष्ट शब्दों में बताया कि पाकिस्तान को दी जाने वाली अमेरिकन सहायता भारतीय महाद्वीप में शांति के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है।

पांचवा उद्देश्य पाकिस्तान द्वारा प्रचारित इस धारणा को मिथ्या

सिद्ध करना था कि भारतीय महाद्वीप में भारत और पाकिस्तान में शक्ति-संतुलन बनाये रखने का अमेरिका व ब्रिटेन पर विशेष उत्तरदायित्व है।

छठा और सर्वोपरि उद्देश्य भारत के लिए भयानक संकट बनी हुई पाक सैनिक शक्ति को गंभीर क्षति पहुंचा देना था। तत्कालीन रक्षा मन्त्री श्री चव्हाण ने लोकसभा में बारम्बार इस बात की घोषणा भी की थी कि भारत का उद्देश्य पाकिस्तान की सैन्यशक्ति को क्षीण करना है।

चूंकि संघर्ष की समाप्ति तक भारत अपने उद्देश्यों को बहुत बड़ी मात्रा में प्राप्त कर चुका था अतः भारत ने युद्ध विराम स्वीकार कर लेने में कोई अनुचित बात न देखी लेकिन उद्देश्यों को प्राप्त करना ही युद्ध विराम का कारण न था। भारत तो एक शांति प्रेमी राष्ट्र होने के नाते युद्ध के प्रथम दिन से ही युद्ध विराम के लिए तैयार था परन्तु अपनी सैन्य शक्ति की महानता के बल पर दिल्ली को जीतने का स्वप्न देखने वाले पाकिस्तान ने युद्ध-विराम के प्रत्येक प्रयास को ठुकरा दिया। ऐसी स्थिति में भारत के पास सिवाय इस बात के और कोई चारा न था कि वह पाकिस्तान का ईंट का जवाब पत्थर से दे और संघर्ष में विजयी होकर स्वयं अपने उद्देश्यों को पूरा करे।

पाकिस्तान ने युद्ध-विराम के प्रारम्भिक प्रयासों को ठुकरा कर अन्त में बिना काश्मीर प्राप्त किये ही युद्ध-विराम स्वीकार कर लिया-इसके भी कुछ निश्चित कारण थे-पहला कारण उसकी सैनिक शक्ति का प्रबल विध्वंस और भारत के हाथों करारी पराजय से उत्पन्न नैराश्य था। पाकिस्तान की सर्वोत्कृष्ट सेना और युद्ध-सामग्री आधी से अधिक बुरी तरह बरबाद हो गई थी। दूसरी ओर युद्ध छिड़ते ही अमेरिका ने दोनों ही देशों को सैनिक सहायता देना बंद कर दिया था। इससे भी भारत की अपेक्षा पाकिस्तान को ही अधिक हानि हुई क्योंकि भारत तो अपनी अधिकांश युद्ध सामग्री स्वयं तैयार करता था जबकि पाकिस्तान इसके लिए पूरी तरह से अमेरिका और ब्रिटेन पर ही अवलम्बित था। इन दोनों देशों द्वारा दी जाने वाली सैनिक सहायता के अभाव में पाकिस्तान अपनी विनष्ट युद्ध सामग्री की पूर्ति नहीं कर सका और उसके लिए युद्ध चलाना असम्भव हो गया। टर्की, ईरान इण्डोनेशिया और चीन ने पाकिस्तान को खुला समर्थन दिया। लेकिन इनसे आवश्यक सैन्य सामग्री न मिलने के कारण पाकिस्तानी नेता अपने भाग्य को कोसते हुए युद्ध विराम के लिए सहमत हो गए। दूसरा कारण विश्व के लोक मत का पाकिस्तान के प्रतिकूल होना था। सभी प्रमुख देशों ने काश्मीर पर पाकिस्तान के सैनिक आक्रमण को बेहूदा समझा और सुरक्षा परिषद ने भी अपने प्रस्ताव में भारत तथा पाकिस्तान को ५ अगस्त से पहले की स्थिति में वापिस लौटने का निर्देश देते हुए परोक्ष रूप से पाकिस्तान की निन्दा की। संयुक्त राज्य अमेरिका भी पाकिस्तान के इस कार्य से प्रसन्न न हुआ क्योंकि साम्यवादी आक्रमण से रक्षा के नाम पर दी गई सैन्य सहायता का पाकिस्तान ने एक

इस समय अकेला चीन ही एक ऐसा देश था जो चाहता था कि पाकिस्तान अपने अन्तिम सिपाही तक भारत से संघर्ष में जूझता रहे ताकि जब इस मरणान्तक संघर्ष से दोनों राष्ट्र निर्बल और मृतप्राय हो जायें तो उसे दक्षिण पूर्वी एशिया में निर्बाध रूप से अपना प्रभाव स्थापित करने का स्वर्णावसर मिल जावे। चीन को इस युद्ध से और भी विशेष लाभ हुए। एक तरफ तो भारत अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को साम्यवाद का प्रसार रोकने के लिए दी गई विशाल युद्ध सामग्री नष्ट कर रहा था जो साम्यवादी चीन के लिए लाभदायक बात थी और दूसरी तरफ युद्ध के कारण चीन के शत्रु भारत की सैन्य शक्ति भी क्षतिग्रस्त हो रही थी। तीसरा कारण चीन व अन्य मित्रों से कोई सहायता न मिलना थी पाकिस्तानी निराशा थी। पाकिस्तान को आशा के प्रतिकूल चीन ने भारत के विरुद्ध लद्दाख या उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेश पर कोई दूसरा मोर्चा नहीं खोला। फिर जब १६ सितम्बर को चीन ने भारत को अल्टीमेटम दिया और उसे पूरा नहीं किया तो भी पाकिस्तान की थोड़ी-बहुत बची आशाओं को मरणान्तक आघात लगा। वाशिंगटन और लन्दन से भी पाकिस्तान को निरुत्साहित होना पड़ा। उसे आशा थी कि लन्दन व वाशिंगटन उसकी सहायता को दौड़े आएंगे परन्तु हुआ यह कि पहले जो आर्थिक व सैनिक सहायता मिल रही थी वह भी बन्द हो गई। वास्तव में इस सैनिक सहायता को जारी रख के ब्रिटेन और अमेरिका संसार के सामने अनादर का पात्र नहीं बनना चाहते थे। यदि विश्व लोकमत का भय न होता और भारत की मित्रता खो बैठने की आशंका न होती तो सम्भवतः ये राष्ट्र पाकिस्तान को इतना निराश न करते। चौथा कारण यह था कि युद्ध-विराम स्वीकार करके पाकिस्तान भारत पर पुनः आक्रमण करने की तैयारी का अवसर प्राप्त करना चाहता था। उसकी विफलता और पराजय निश्चित हो चुकी थी और यदि युद्ध लम्बा खिंचता तो उसकी यह सम्पूर्ण बरबादी होती वह उसके लिए और भी आत्मघाती होती। इन्हीं सब कारणों से पाकिस्तान के युद्धोन्मादी शासकों ने युद्ध विराम स्वीकार कर लिया ताकि फिर से शक्ति संचय करके भविष्य में काश्मीर को लेने का प्रयत्न किया जा सके।

भारत-पाक युद्ध के परिणाम और प्रभाव

भारत और पाकिस्तान के कटु सम्बन्धों के इतिहास में सितम्बर १९६५ का युद्ध पाकिस्तानी मनमुटाव और द्वेष भावना का चरम विकास था जिसे धर्मान्ध पाकिस्तानी अधिकारी १९४७ से पालते आ रहे थे। पाकिस्तान के लिए एक 'धार्मिक सीमा' स्थापित करने तथा भारत को नीचा दिखाना था यह एक प्रबल प्रयास था। परन्तु युद्ध में पाकिस्तान की शोचनीय पराजय ने नाजी जर्मनी के पराभाव के समान ही इस बात को एक बार फिर से प्रस्थापित कर दिया कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का समाधान शक्ति द्वारा करने का प्रयास अपनी अन्तिम अवस्था में व्यर्थ सिद्ध होता है और "जो लोग पहले तलवार उठाते हैं वे तलवार से ही नष्ट हो जाते हैं।" भारत की पाकिस्तान पर यह विजय धर्म-निरपेक्षता समाजवाद और स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों की विजय थी जिसने इस बात को भली प्रकार स्पष्ट कर दिया कि

भारत अपनी प्रादेशिक अखण्डता बनाये रखने के लिए कटिबद्ध है और संसार की कोई भी शक्ति उसके अभिन्न अङ्ग काश्मीर को उससे विलग नहीं कर सकती।

भारत और पाकिस्तान का युद्ध १९६२ के चीनी आक्रमण की भांति अनेक दृष्टियों से भारत के लिए वरदान सिद्ध हुआ और इसके कई महत्व-पूर्ण परिणाम निकले।

(१) इस युद्ध ने यह प्रस्थापित कर दिया कि भारत की धर्म-निरपेक्षता का आधार अत्यन्त ठोस है। पाकिस्तान के शासकों का विश्वास था कि भारत के साथ संघर्ष की स्थिति में काश्मीर की मुस्लिम जनता उसका साथ देगी और भारत के खिलाफ विद्रोह कर देगी। उन्हें यह भी यकीन था कि धर्म के नाम पर इस्लाम के बन्दे भारत के मुस्लिम नागरिक पाकिस्तान के समर्थन में पांचवें दस्ते (Fifth Column) का काम करें। परन्तु पाकिस्तान की आशाएं निराशाओं में बदल गई। भारत के या काश्मीर के मुस्लिम नागरिक पाकिस्तान द्वारा इस्लाम नाम पर उत्पन्न किये गये धर्मोन्माद के प्रबल झंझावात में अडिग रहे। सम्पूर्ण युद्ध-काल में उन्होंने भारत के प्रति जिस देश भक्ति का परिचय दिया उसने पाकिस्तान की सारी उम्मीदों को चकनाचूर कर दिया...

(२) भारत-पाक संघर्ष से भारत की एकता सुदृढ़ व सम्पुष्ट हुई। युद्ध छिड़ने से पहिले तो भारत के विभिन्न स्थानों में साम्प्रदायिक उपद्रव होते रहते थे लेकिन मातृभूमि पर जब विदेशी आक्रमण का सङ्कट पैदा हुआ तो भारतवासी अपने धार्मिक भाषा-सम्बन्धी और अन्य मत भेद भुला कर देश की रक्षा के लिए एक हो गये। भारत के लिए यह अवसर १९६२ के चीनी आक्रमण से भी अधिक नाजुक था क्योंकि इस समय एक इस्लामी राष्ट्र ने भारत पर हमला बोला था और भारत में करोड़ों निवासी इस्लामी मत के ही अनुयायी थे। परन्तु युद्ध ने संसार को बता दिया कि शान्तिकाल में भारत के ईसाइयों पारसियों हिन्दुओं मुसलमानों आदि में मतभेद हो सकते हैं, लेकिन सङ्कट के समय वे अपने मतभेदों को दफना कर राष्ट्र की रक्षा के लिए और शत्रु के पराभव के लिए एक होने की क्षमता रखते हैं। वस्तुतः यह एक तथ्य है कि भारत-पाक सङ्घर्ष में देश की एकता को एक नया रूप एक निखार दिया।

(३) इस युद्ध ने भारत में एक अपूर्व स्वाभिमान पैदा किया और देश को आत्मनिर्भर बनाने की भावना बलवती की। पाकिस्तान ने युद्ध में अमेरिका द्वारा मुफ्त में दिये गये अस्त्रास्त्रों टैंकों और बमवर्षकों का प्रयोग किया जबकि भारत के अधिकांश हथियार स्वदेशी थे परन्तु स्वदेशी तोपों ने विशालकाय पैटन टैंकों को खिलौनों की तरह भून डाला और स्वदेशी नैट विमानों ने सैबर जैटों की हालत पतली कर दी। इससे भारतीयों के हृदय में अपनी सैनिक क्षमता और अपने ही राष्ट्र द्वारा निर्मित सैन्य-सामग्री

न प्रति महान आत्मविश्वास पैदा हुआ। इसके अतिरिक्त भारत में यह तीव्र अनुभूति भी हुई कि पर-निर्भरता कितनी भयावह होती है। भारतीयों ने देखा कि पाकिस्तान की पराजय का एक प्रमुख कारण अस्त्रास्त्रों के मामले में पूरी तरह सन्दन और वाशिंगटन पर निर्भर रहना था जबकि भारत युद्ध काल में भी अस्त्रास्त्रों के लिए मोहताज नहीं बना क्योंकि उसके कारखाने विशाल मात्रा में सैनिक-सामग्री उत्पादित कर रहे थे। चीनी आक्रमण ने भारत को पहला आघात देकर युद्ध समझने को विवश किया तो पाकिस्तान के आक्रमण ने भारत को इस अनुभूति से झकझोर दिया कि उसे शीघ्रातिशीघ्र शस्त्रास्त्र और शस्त्रास्त्र निर्माण की दृष्टि से स्वावलम्बी होना चाहिए।

(४) इस संघर्ष का चौथा परिणाम यह हुआ कि विदेशों में भारत की प्रतिष्ठा बढ़ी और अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ दूर हुईं। भारत के तत्कालीन शिक्षा मन्त्री श्री छागला ने २४ सितम्बर को लोकसभा में भाषण देते हुए कहा—"सुरक्षा परिषद की बैठक में भाग लेने के लिए न्यूयार्क जाने पर मैंने अमेरिकन लोगों से कहा कि यद्यपि आपने पाकिस्तान को पैटन टैंक तथा सभी प्रकार के आधुनिक अस्त्रास्त्र दिए हैं फिर भी हमारे शूरवीर जवानों ने पाकिस्तान को अच्छा पाठ पढ़ाया है। सुरक्षा परिषद् की बैठक में भाग लेने के समय मैं इस बात के कारण अपना सिर ऊँचा उठा कर रख सका और गर्व कर सका कि मैं भारतीय हूं क्योंकि पाकिस्तान के साथ लड़ाई में हमारे जवानों ने अद्वितीय शौर्य प्रदर्शित किया था।" भारत के सैनिकों ने अपने शौर्य से १९६२ के चीनी आक्रमण की कलङ्क कालिमा को धो डाला। इस युद्ध से पहले पाकिस्तान राजधानी राष्ट्रों में इस बात का धुन कर प्रचार कर रहा था कि भारत एक निर्बल राष्ट्र है कागजी शेर है थोथा पहलवान है तथा पाकिस्तान का एक सिपाही भारत के तीन सिपाहियों के बराबर है लेकिन २२ दिन के इस संग्राम ने इस सचाई को सामने लाकर पटक दिया। संसार को पता चल गया कि पाकिस्तान के तीन सिपाही मिलकर भी भारत के एक जवान का मुकाबला नहीं कर सकते और सैन्य-कौशल व अस्त्र प्रयोग में भी भारत के सैनिक इतने कुशल हैं कि अपने परम्परागत और पुराने ढर्रों के हथियारों से आधुनिकतम शस्त्र-सज्जित सैन्यवाहिनी को पराजित कर सकते हैं।

(५) सैनिक विशेषज्ञों का कहना है कि इस युद्ध ने टैंक युद्ध के तरीकों को भी प्रभावित किया। पाकिस्तान ने विश्वविख्यात अमेरिकन पैटन टैंकों का प्रयोग किया था किन्तु जिस तरीके से भारतीयों ने इनका सफाया किया उससे पैटन टैंकों की शक्ति में युद्ध विशेषज्ञों का विश्वास घट गया।

(६) भारत-पाक युद्ध ने भारत को एक शक्तिशाली राजनीतिक नेतृत्व प्रदान किया। श्री नेहरू की मृत्यु के उपरान्त बने नए प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री में भारतीय जनता का विश्वास जम गया। श्री शास्त्री की दृढ़

नीति ने न केवल भारतीयों को प्रत्युत सम्पूर्ण विश्व को विश्वास करा दिया कि भारत के शासन की बागडोर भी नेहरू के योग्य उत्तराधिकारी और सम्भवतः उनसे भी सबल हाथों में है।

(७) पाकिस्तान के लिए यह युद्ध बड़ा घातक सिद्ध हुआ। इसने पाकिस्तान के सभी विश्वासों और उसकी सभी मान्यताओं को चकनाचूर कर दिया तथा पाकिस्तानी सैनिक तानाशाही का खोखलापन प्रकट कर दिया। पाकिस्तान दिन में इस बात को समझ गया कि भले ही भारत की तीन चौथाई सेनायें चीन के संभावित आक्रमण को रोकने के लिए दूसरे मोर्चों पर पड़ी हों परन्तु भारत अपनी एक चौथाई सेनाओं से ही पाकिस्तान के नवीनतम अमेरिकन शस्त्रों से सुसज्जित सेनाओं को पछाड़ने की क्षमता रखता है। 'असल उत्तर' और 'सियालकोट' में लड़े गये टैंक युद्ध ने पाकिस्तानी सैनिक अहंमान्यताओं को नष्ट कर दिया। उसे अपनी सेना की वास्तविक शक्ति का यथार्थ ज्ञान हो गया और इस बात का भी अहसास हो गया कि भविष्य में भारत के किसी भी भू भाग पर आक्रमण करने का अर्थ उसके लिए कितना भयावह हो सकता है।

(८) इस युद्ध से भारत को अपने मित्र और शत्रु देशों का अच्छी तरह पता चल गया। मलाया को छोड़ कर अन्य किसी राष्ट्र ने भारत पर पाकिस्तान के आक्रमण की स्पष्ट रूप से निन्दा नहीं की। ब्रिटेन ने तो स्पष्ट शब्दों में भारत की आलोचना करके पुनः यह प्रकट कर दिया कि पाकिस्तान के साथ होने वाले प्रत्येक संघर्ष में उसका समर्थन पाक को ही मिलेगा। इण्डोनेशिया टर्की ईरान आदि राष्ट्रों ने भी भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रवैया अख्तियार किया।

(९) इस युद्ध ने आधुनिक विश्व राजनीति में संयुक्त राष्ट्र संघ की उपयोगिता को सिद्ध कर दिया। सुरक्षा परिषद ने बड़ी दृढ़तापूर्वक हस्तक्षेप करके इस युद्ध का पटाक्षेप किया। यद्यपि कुछ दृष्टियों से संघ का रवैया पक्षपातपूर्ण रहा फिर भी यह अवश्य सिद्ध हो गया कि यदि अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर महाशक्तियां सहयोग से काम करें तो संघ को पूरी सफलता मिल सकती है। भारत पाक युद्ध को बन्द कराने में सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका ने सहयोग का रुख अपनाया और इसी कारण सुरक्षा परिषद को शांति स्थापना के कार्य में सफलता मिली।

(१०) भारत-पाक संघर्ष ने सोवियत कूटनीति को एक नया मोड़ लेने का अवसर प्रदान किया। दो राष्ट्रों के झगड़ों को सुलझाने में अभी तक सोवियत संघ ने मध्यस्थ के रूप में अपनी सेवायें कभी अर्पित नहीं की थीं परन्तु इस दिशा में पहली बार सोवियत रूस आगे बढ़ा और उसने ताशकन्द सम्मेलन का आयोजन किया। सोवियत कूटनीति के जादू ने असफल प्रतीत होने वाले इस सम्मेलन को सफलता में बदल दिया। ताशकन्द समझौता पाकिस्तान या भारत की कूटनीति की नहीं बल्कि सोवियत कूटनीति की

विजय थी जिसने यह सिद्ध कर दिया कि एशिया में सोवियत रूस का प्रभाव बढ़ रहा है और साम्यवादी चीन के प्रभाव में कमी आ रही है।

युद्ध विराम का उल्लंघन और ताशकन्द सम्मेलन का आयोजन

संयुक्त राष्ट्र संघ के हस्तक्षेप से २३ सितम्बर १९६५ को युद्ध विराम अवश्य हो गया लेकिन युद्ध के क्षेत्रों में पूर्ण शांति नहीं आयी। दोनों ओर से युद्ध विराम का उल्लंघन होता रहा। संयुक्त राष्ट्र संघ के पर्यवेक्षकों के लिए इन उल्लंघनों को रोकना सम्भव नहीं था क्योंकि दोनों ही देशों की कुछ सेनायें आमने-सामने खड़ी थी और मामूली सी झड़प पर दोनों ओर से गोलियां चल जाना सामान्य बात थी। संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव द्वारा इन उल्लंघनों को बन्द करने के लिए कुछ सुझाव दिये गये परन्तु उनका कोई परिणाम नहीं निकला और युद्ध विराम उल्लंघन की घटनायें यथापूर्व जारी रही। इस बात की आशंका बनी रही कि कहीं दोनों पक्षों में युद्ध फिर न भड़क उठे।

इस भयानक स्थिति को समाप्त करने के लिए यद्यपि अमेरिका सहित पश्चिमी राष्ट्र और संघ के महासचिव सक्रिय थे तथापि सोवियत कूटनीति विशेष रूप से सक्रिय थी। सोवियत प्रधान मंत्री का विचार था कि इन सारे झंझटों का अन्त दोनों देशों के शीर्षस्थ नेता प्रत्यक्ष वार्ता करके कर सकते हैं। अतएव सोवियत संघ ने विशेष दिलचस्पी लेकर ताशकन्द सम्मेलन की व्यवस्था की जहाँ राष्ट्रपति अय्यूब खां और प्रधान मंत्री श्री लालबहादुर शास्त्री मिल कर प्रत्यक्ष वार्ता कर सकें। ताशकन्द वार्ता का आयोजन ४ जनवरी १९६६ से हुआ। इसके पहले कि हम ताशकन्द वार्ता व ताशकंद समझौते का वर्णन आरम्भ करें यह उचित होगा कि उन कारणों को दर्शा दिया जाय जिनकी वजह से भारत और पाकिस्तान ताशकंदवार्ता के लिए सहमत हुए।

भारत द्वारा ताशकंद-वार्ता के प्रस्ताव को स्वीकार करने के कारण

भारत ने ताशकंद में हाजीपीर कारगिल और टिथवाल दर्रों से अपनी सेना हटाने वाला शांति प्रस्ताव क्यों स्वीकार किया इसके अनेक कारण थे। यद्यपि इस समझौते पर अधिकृत रूप से पूर्ण प्रामाणिक प्रकाश डालने वाले श्री शास्त्री इस संसार से ताशकंद समझौते पर हस्ताक्षर करने के कुछ ही घन्टों बाद विदा हो गये फिर भी उनके साथ ताशकंद जाने वाले विदेश मंत्री सरदार स्वर्ण सिंह और रक्षा मन्त्री श्री चौहाण ने इस वार्ता की पृष्ठभूमि पर बहुत कुछ प्रकाश डाला था। श्री चौहाण ने ११ जनवरी १९६६ को पटना में एक सार्वजनिक सभा में कहा था—

"ताशकंद को रवाना होने से पहले शास्त्री जी के दिमाग में तीन बातें थीं—१ पाकिस्तान के साथ हमारे जो भी झगड़े हैं उनको हम निबटाने के लिए बल का प्रयोग नहीं होना चाहिए, २ युद्ध विराम की शर्तों का

शासन ईमानदारी से किया जाना चाहिए, एवं ३ एक दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप नहीं होना चाहिए। वे ताशकंद में शांति के लिए उतनी ही दृढ़ता से अड़े जितनी दृढ़ता उन्होंने पाकिस्तान के युद्ध में दिखायी थी और उनकी तीनों बातें पाकिस्तान ने अन्त में स्वीकार कर ली।

भारत सरकार के मंत्रियों और अधिकारियों द्वारा समय-समय पर दिये गये वक्तव्यों व स्पष्टीकरण आदि से पता चलता है कि श्री शास्त्री द्वारा ताशकन्द वार्ता के प्रस्ताव को स्वीकार करने और शांति पर बल दिये जाने के कई कारण थे—

पहला कारण दो मोर्चों पर लड़ाई करने से बचना था। घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया था कि भारत-पाक युद्ध में चीन और पाकिस्तान की मिली-जुली साजिश थी और यदि लड़ाई लम्बी खिंचती तो दो देशों के साथ हजारों मील लम्बी सीमाओं पर एक साथ लड़ने की सम्भावना हो सकती थी। ऐसी लड़ाई की संभावना को टालना ही श्रेयस्कर था। द्वितीय महायुद्ध में जर्मनी जैसे प्रबल और शक्तिशाली राष्ट्र ने भी दो मोर्चों की लड़ाई से बचने के लिए रूस के साथ १९३९ में अनाक्रमण समझौता किया था और १९४१ में जब उसने दोनों मोर्चों पर लड़ाई शुरू कर दी तो यह उसके लिए विनाशकारी साबित हुआ। चीन द्वारा अपना अल्टीमेटम क्रियान्वित न करने से भारत के लिए सितम्बर १९६५ में दो मोर्चों पर लड़ने का तात्कालिक संकट तो टल गया था लेकिन पाकिस्तान और चीन की साँठ-गाँठ के कारण यह खतरा मिटा नहीं था। ताशकंद में इस खतरे को दूर करने का जो स्वर्ण अवसर मिला था उससे शास्त्री जी वंचित नहीं होना चाहते थे। उन्होंने रूस को साक्षी बनाते हुए पाकिस्तान को शक्ति का प्रयोग छोड़ने के लिए सहमत किया। यह भारत की एक बड़ी कूटनीतिक विजय थी जिससे भारत को ठोस सैनिक लाभ मिला और चीन तथा पाकिस्तान के संयुक्त मोर्चा बनाने का खतरा दूर हो गया।

दूसरा कारण भारत की शांति-भावना और युद्ध के भीषण दुष्परिणामों से बचने की प्रबल आकांक्षा थी। पिछले १८ वर्ष से पाकिस्तान भारत के युद्धवर्जन प्रस्ताव को ठुकराता आ रहा था। शास्त्री का विश्वास था कि दोनों देशों की सेनायें सदैव आमने सामने नहीं खड़ी रह सकतीं। २२ दिन के युद्ध में भारत का ५०० करोड़ रुपये स्वाहा हो गया था उसकी विकास योजनाओं को गंभीर आघात पहुँचा तथा उन्नति के सब कार्य रुक से गये थे। युद्ध के विनाश की तीव्रता को अनुभव करते हुए ही श्री शास्त्री ने ४ जनवरी को ताशकन्द सम्मेलन के प्रारम्भिक अधिवेशन में कहा था—'लड़ाई से समस्यायें सुलझती नहीं हैं पैदा होती हैं। ... एक दूसरे से लड़ने के बजाय आइए हम गरीबी बेकारी और अभाव से लड़ें। भारत और पाकिस्तान की साधारण जनता युद्ध नहीं शांति चाहती है। उनकी जरूरत गोला-बारूद और अस्त्र शस्त्र की नहीं खाने कपड़े और मकान की है।" यद्यपि हाजीपीर आदि सामरिक महत्व के क्षेत्रों से फौजें हटा लेने की बात मान लेना एक अलोकप्रिय कार्य था लेकिन राष्ट्र के व्यापक हित की

इस मार्ग को अपनाने में कोई आपत्ति नहीं समझी क्योंकि पाकिस्तान ने रूस जैसे शक्तिसम्पन्न राष्ट्र को साक्षी मान शक्ति का प्रयोग न करने का आश्वासन दिया था। फिर एक बात और भी थी। भारत ने हाजीपीर, कारगिल और टिथवाल के दर्रों में युद्ध-विराम रेखा पार करके अपना फौजें इसलिए भेजी थीं कि पाकिस्तान इन दर्रों से सशस्त्र घुसपैठिये भेज कर कश्मीर के शांत वातावरण को अशांत कर रहा था। परन्तु जब पाकिस्तान इस बात पर सहमत हो गया कि वह ५ अगस्त से पहले की युद्ध विराम रेखा का आदर करेगा और शक्ति के प्रयोग से दूर रहेगा तो भारत के लिए इन दर्रों से अपनी सेना हटा लेने में आपत्ति करना उचित नहीं था। रूस जैसे राष्ट्र की गवाही होते हुए, जिसके साथ भारत की घनिष्ठ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं और जिसने काश्मीर पर भारत के विरुद्ध की गयी पाकिस्तानी तथा पश्चिमी राष्ट्रों की प्रत्येक चाल को अतीत में विफल बनाया था भारत के लिए यह वाजिब था कि वह उपरोक्त परिस्थितियों में समझौते के लिए उद्यत हो जाता।

तीसरा कारण सुरक्षा परिषद का प्रस्ताव और रूस का प्रबल अनुरोध था। सुरक्षा परिषद की २० सितम्बर के प्रस्ताव के अनुसार भारत और पाकिस्तान दोनों यह बात मान चुके थे कि वे अपनी सेनायें ५ अगस्त से पूर्व की स्थिति में लौटा लेंगे। श्री शास्त्री हाजीपीर, टिथवाल और कारगिल से भारतीय सेनायें हटाने की पूर्व शर्त के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को लिख चुके थे कि जब तक घुसपैठियों के पुनः प्रवेश से सुरक्षा का भारत को आश्वासन नहीं मिलता तब तक इन दर्रों से हटना भारत के लिए सम्भव न होगा। अब जब कि पाकिस्तान द्वारा इस प्रकार का आश्वासन दे दिया गया तो इन दर्रों से लौटने वाले सुरक्षा परिषद के प्रस्ताव को न मानना परिषद में भारत के पक्ष को बिगाड़ देना होता। इसके अतिरिक्त रूस के अनुरोध को ठुकराना उसकी मैत्री को खोना हो सकता था। रूस का अनुरोध भारत के पक्ष में कोई अहितकारी न था कि जिसे न मान कर रूस से मिलने वाला विभिन्न प्रकार की आर्थिक सैनिक और राजनीतिक सहायता से वंचित होने का खतरा उठाया जाता। श्री शास्त्री का विचार था कि यदि ताशकंद में सोवियत प्रधान मन्त्री कोसीगिन के सामने पाकिस्तान यह मान लेता है कि वह युद्ध नहीं करेगा तो यह एक बहुत बड़ी बात होगी क्योंकि भविष्य में पाकिस्तान द्वारा वचन भंग करने की स्थिति में भारत को हमेशा रूस की सहायता मिलती रहेगी।

इन्हीं सब कारणों से श्री शास्त्री के नेतृत्व में भारत ताशकंद वार्ता के लिए सहमत हुआ और उसने ताशकंद घोषणा पर हस्ताक्षर किये।

पाकिस्तान द्वारा ताशकन्द वार्ता का प्रस्ताव स्वीकार करने के कारण

यद्यपि पाकिस्तानी विदेश मन्त्री भुट्टो ने सितम्बर १९६५ में गर्जना की थी कि पाकिस्तान कश्मीर के लिए एक हजार वर्ष तक भी संघर्ष

रहेगा और दिसम्बर १९६५ में सदर अय्यूब ने संयुक्त राष्ट्र संघ में घोषणा की थी कि काश्मीर को पा लेने के बाद ही पाकिस्तान भारत के साथ 'युद्ध वर्जन संधि' (No War Pact) कर सकता है, परन्तु फिर भी जनवरी १९६६ से ही राष्ट्रपति अय्यूब ने ताशकन्द घोषणा पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। पाकिस्तान के इस निर्णय के मूल में भी अवश्य ही अनेक कारण थे—

पहला कारण यह था कि भारत के साथ कोई समझौता पूर्ण स्थिति न होने तक पाकिस्तान को पुनः अमेरिकन शस्त्र सहायता मिलने की आशा नहीं रही थी। अमेरिका अपने शस्त्रास्त्रों के दुरुपयोग के कारण ही पाकिस्तान से रूठा न था बल्कि इसलिए भी नाराज था कि वह अमेरिका के महान् शत्रु चीन से सांठगांठ बढ़ा रहा था। पिण्डी पेकिंग की यह दोस्ती वाशिंगटन को कतई पसन्द न थी। १२ दिसम्बर, १९६५ को राष्ट्रपति जॉनसन ने सदर अय्यूब को वाशिंगटन में यह भली भाँति स्पष्ट कर दिया था कि पाकिस्तान को अमेरिकन सैनिक सहायता इसलिये दी जा रही थी कि साम्यवाद का प्रसार रोकने का दोनों देशों का सामान्य प्रयोजन सिद्ध हो सके। परन्तु अब जब कि भारत के साथ युद्ध में सैन्य सहायता के मूल उद्देश्य की उपेक्षा कर दी गयी है तो पाकिस्तान को किसी सैनिक सहायता की आशा नहीं रखनी चाहिए। पाकिस्तान की शक्ति का प्रधान स्रोत ही अमेरिकन हथियार और विमान थे जिन्हें पाये बिना उसकी रही-सही सैन्य शक्ति को भी बड़ी क्षति पहुंच सकती थी। उदाहरणार्थ अमेरिकन कल-पुर्जों के अभाव में अमेरिकन शस्त्रास्त्रों के बिगड़ जाने पर उनका उपयोग नहीं किया जा सकता था। अयूब को आशा थी कि यदि भारत से कोई सम्मान जनक समझौता कर लिया जाय (दिल से नहीं केवल ऊपर से) तो भविष्य में इस बात की आशा की जा सकेगी कि अमेरिका से पुनः सैनिक सहायता पा ली जाय।

दूसरा कारण युद्ध के समय चीन की ओर से अविश्वास और निराशा का हाथ लगना था। जब युद्धकाल में चीन ने दूसरा मोर्चा खोलकर या अन्य किसी प्रकार से पाकिस्तान को कोई ठोस सहायता नहीं दी तो पाकिस्तान अपने मन में चीन की असलियत को समझ गया। सोवियत प्रधान मंत्री श्री कोसीगिन ने भी अयूब को और विदेशमंत्री ग्रोमिको ने भुट्टो को ताशकन्द में यह बात अच्छी तरह समझा दी कि चीन पर भरोसा रखने में और उसके साथ मित्रता बढ़ाने पर पाकिस्तान की वही दुर्गति होगी जो इण्डोनेशिया की हुई है।

तीसरा कारण जिसकी वजह से अयूब शांति-संधि के लिए तैयार हो गये यह था कि भारत के साथ २२ दिन के युद्ध ने उनके शासन को जड़ से हिला दिया था और उनकी सैनिक प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया था। यदि इन परिस्थितियों में भारत के साथ कोई भी नया युद्ध छिड़ जाता या सम्मान जनक समझौता करने की स्थिति पैदा नहीं की जाती तो अयूब सरकार का पतन हो सकता था। २६ जनवरी १९६६ को "स्टेट्समैन" में प्रकाशित समाचार के अनुसार यदि अयूब को भारत द्वारा व्यापक रूप से किये जाने

खास अखाड़ी हमले की तनिक भी संभावना होती तो वह छम्ब क्षेत्र पर आक्रमण करने की अनुमति अपने सेना अधिकारियों को न देता। अयूब ने छम्ब क्षेत्र पर हमले की योजना को स्वीकृति तभी प्रदान की जब उनके सेनापतियों ने उन्हें यह पूरा विश्वास दिला दिया कि भारत केवल स्थानीय और सीमित युद्ध ही करेगा।

चौथा कारण लाहौर और स्यालकोट के निकट भारतीय सेनाओं की उपस्थिति से उत्पन्न विकट परिस्थिति थी। लाहौर और स्यालकोट जैसे क्षेत्रों का भारतीय तोपों की मार में होना पाकिस्तान के सेनानी राष्ट्रपति के लिए घोर कलंक और अपमान का कारण था। यद्यपि पाक सेनाएं भी भारत के छम्ब क्षेत्र में थीं परन्तु यह प्रदेश लाहौर और स्यालकोट जैसा महत्वपूर्ण नहीं था। राष्ट्रपति अयूब के सामने केवल दो ही विकल्प थे या ना समझौता करके शांति स्थापित की जाय और भारतीय सेनाओं से पाकिस्तानी क्षेत्र को मुक्त किया जाय या पुनः संघर्ष करके स्थिति को अपने पक्ष में लौटाया जाय। चूंकि पुनः संघर्ष करना पाकिस्तान के लिए आत्मघाती होता अतः श्री अयूब ने शांति के मार्ग को ही वरण करना उचित समझा।

पांचवां कारण यह था कि ताशकंद में पाकिस्तान को यह अनुभव हुआ कि तत्कालीन परिस्थितियों में और भविष्य की दृष्टि से शांति का मार्ग अपनाते हुए रूस की बात मान लेने से उसे कुछ ठोस लाभ मिल सकेंगे। उसको पहली आशा यह थी कि रूस को प्रसन्न करके वह सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के मामले पर रूसी वीटो के प्रयोग को रोक सकेगा। पाकिस्तान का यह एक बहुत बड़ा लालच था कि अमेरिका और ब्रिटेन के समान यदि वह रूस का सहयोग भी अर्जित कर सका तो भविष्य में काश्मीर प्राप्त कर सकेगा। ताशकंद वार्ता के दौरान पाकिस्तानी पत्रों ने इस आशय का झूठा प्रचार भी किया था कि सोवियत प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति अयूब को यह आश्वासन दे दिया है कि सुरक्षा परिषद में यदि काश्मीर का मामला प्रस्तुत हुआ तो रूस भारत के पक्ष में अपनी वीटो का प्रयोग न करेगा। हालांकि रूसी नेताओं ने ताशकंद वार्ता के पहले और बाद में बारम्बार इस भ्रांति को दूर करने का प्रयत्न किया कि काश्मीर के मामले में सोवियत नीति में कोई परिवर्तन आया है फिर भी श्री अयूब को यह विश्वास है कि पाकिस्तान को रूस का समर्थन मिल सकेगा। यह बात उनके (अयूब के) १ फरवरी १९६६ के उस राष्ट्रीय प्रसारण से स्पष्ट हो गयी जिसमें उन्होंने कहा था कि ताशकंद समझौते के अनुसार २५ फरवरी तक दोनों देशों की सेनाओं को सामान्य प्रदेश में लौट जाने के बाद सुरक्षा परिषद को दोनों राष्ट्रों की मौलिक राजनीतिक समस्या (काश्मीर) के समाधान की ओर ध्यान देना चाहिए।

पाकिस्तान ने रूस के शांति प्रस्ताव के प्रति इसलिए भी सहमति प्रगट की कि इससे उसे अमेरिका व अन्य राष्ट्रों की सैनिक आर्थिक सहायता प्राप्त हो सकती थी। यह स्थिति उसके लिए अपने राष्ट्रीय हित एवं शक्ति की वृद्धि की दृष्टि से बड़ी लाभप्रद होगी।

रहेगा और दिसम्बर १९६५ में सदर अय्यूब ने संयुक्त राष्ट्र संघ में घोषणा की थी कि काश्मीर को पा लेने के बाद ही पाकिस्तान भारत के साथ 'युद्ध वर्जन' संधि' (No War Pact) कर सकता है, परन्तु फिर भी जनवरी १९६६ से ही राष्ट्रपति अय्यूब ने ताशकन्द घोषणा पर हस्ताक्षर करना स्वीकार कर लिया। पाकिस्तान के इस निश्चय के मूल में भी अवश्य ही अनेक कारण थे—

पहला कारण यह था कि भारत के साथ कोई समझौता पूर्ण स्थिति न होने तक पाकिस्तान को पुनः अमेरिकन शस्त्र सहायता मिलने की आशा नहीं रही थी। अमेरिका अपने शस्त्रास्त्रों के दुरुपयोग के कारण ही पाकिस्तान से रूठा न था बल्कि इसलिए भी नाराज था कि वह अमेरिका के महान् शत्रु चीन से सांठगांठ बढ़ा रहा था। पिण्डी पेकिंग की यह दोस्ती वाशिंगटन को कतई पसन्द न थी। १५ दिसम्बर, १९६५ को राष्ट्रपति जॉनसन ने सदर अय्यूब को वाशिंगटन में यह भली भांति स्पष्ट कर दिया था कि पाकिस्तान को अमेरिकन सैनिक सहायता इसलिये दी जा रही थी कि साम्यवाद का प्रसार रोकने का दोनों देशों का सामान्य प्रयोजन सिद्ध हो सके। परन्तु अब जब कि भारत के साथ युद्ध में सैन्य सहायता के मूल उद्देश्य की उपेक्षा कर दी गयी है तो पाकिस्तान को किसी सैनिक सहायता की आशा नहीं रखनी चाहिए। पाकिस्तान की शक्ति का प्रधान स्रोत ही अमेरिकन हथियार और विमान थे जिन्हें पाये बिना उसकी रही-सही सैन्य शक्ति को भी बड़ी क्षति पहुँच सकती थी। उदाहरणार्थ अमेरिकन कल-पुर्जों के अभाव में अमेरिकन शस्त्रास्त्रों के बिगड़ जाने पर उनका उपयोग नहीं किया जा सकता था। अय्यूब को आशा थी कि यदि भारत से कोई सम्मान जनक समझौता कर लिया जाय (जिस से नहीं केवल ऊपर से) तो भविष्य में इस बात की आशा की जा सकेगी कि अमेरिका से पुनः सैनिक सहायता पा ली जाय।

दूसरा कारण युद्ध के समय चीन की ओर से अविश्वास और निराशा का हाथ लगना था। जब युद्धकाल में चीन ने दूसरा मोर्चा खोलकर या अन्य किसी प्रकार से पाकिस्तान को कोई ठोस सहायता नहीं दी तो पाकिस्तान अपने मन में चीन की असलियत को समझ गया। सोवियत प्रधान मंत्री श्री कोसीगिन ने भी अय्यूब को और विदेशमंत्री प्रोमिको ने भुट्टो को ताशकन्द में यह बात अच्छी तरह समझा दी कि चीन पर भरोसा रखने में और उसके साथ मित्रता बढ़ाने पर पाकिस्तान की वही दुर्गति होगी जो इण्डोनेशिया की हुई है।

तीसरा कारण जिसकी वजह से अय्यूब शांति-संधि के लिए तैयार हो गये यह था कि भारत के साथ २१ दिन के युद्ध ने उनके शासन को जड़ से हिला दिया था और उनकी सैनिक प्रतिष्ठा को धूल में मिला दिया था। यदि उन परिस्थितियों में भारत के साथ कोई भी नया युद्ध छेड़ा जाता या सम्मान जनक समझौता करने की स्थिति पैदा नहीं की जाती तो अय्यूब सरकार का पतन हो सकता था। २८ जनवरी १९६६ को "स्टेट्समैन" में प्रकाशित समाचार के अनुसार यदि अय्यूब को भारत द्वारा व्यापक रूप से किये जाने

इससे भावी हमले की तनिक भी संभावना होती तो वह छम्ब क्षेत्र पर आक्रमण करने की अनुमति अपने सेना अधिकारियों को न देता। अयूब ने छम्ब क्षेत्र पर हमले की भावना को स्वीकृति तभी प्रदान की जब उनके सेनापतियों ने उन्हें यह पूरा विश्वास दिला दिया कि भारत केवल स्थानीय और सीमित युद्ध ही करेगा।

चौथा कारण लाहौर और स्यालकोट के निकट भारतीय सेनाओं की उपस्थिति से उत्पन्न विकट परिस्थिति थी। लाहौर और स्यालकोट जैसे शहरों का भारतीय तोपों की मार में होना पाकिस्तान के सेनानी राष्ट्रपति के लिए घोर कलंक और अपमान का कारण था। यद्यपि पाक सेनाएं भी भारत के छम्ब क्षेत्र में थीं परन्तु यह प्रदेश लाहौर और स्यालकोट जैसा महत्वपूर्ण नहीं था। राष्ट्रपति अयूब के सामने केवल दो ही विकल्प थे या तो समझौता करके शांति स्थापित की जाय और भारतीय सेनाओं से पाकिस्तानी क्षेत्र को मुक्त किया जाय या पुनः संघर्ष करके स्थिति को अपने पक्ष में लौटाया जाय। चूंकि पुनः संघर्ष करना पाकिस्तान के लिए आत्मघाती होता अतः श्री अयूब ने शांति के मार्ग को ही वरण करना उचित समझा।

पांचवां कारण यह था कि ताशकंद में पाकिस्तान को यह अनुभव हुआ कि तत्कालीन परिस्थितियों में और भविष्य की दृष्टि से शांति का मार्ग अपनाते हुए रूस की बात मान लेने से उसे कुछ ठोस लाभ मिल सकेंगे। उसकी पहली आशा यह थी कि रूस को प्रसन्न करके वह सुरक्षा परिषद् में काश्मीर के मामले पर रूसी वीटो के प्रयोग को रोक सकेगा। पाकिस्तान का यह एक बहुत बड़ा लालच था कि अमेरिका और ब्रिटेन के समान यदि वह रूस का सहयोग भी प्राप्त कर सका तो भविष्य में काश्मीर प्राप्त कर सकेगा। ताशकंद वार्ता के दौरान पाकिस्तानी पत्रों में इस आशय का झूठा प्रचार भी किया था कि सोवियत प्रधानमंत्री ने राष्ट्रपति अयूब को यह आश्वासन दे दिया है कि सुरक्षा परिषद में यदि काश्मीर का मामला प्रस्तुत हुआ तो रूस भारत के पक्ष में अपनी वीटो का प्रयोग न करेगा। हालांकि रूसी सूत्रों ने ताशकंद वार्ता के पहले और बाद में बारम्बार इस भ्रांति को दूर करने का प्रयत्न किया कि काश्मीर के मामले में सोवियत नीति में कोई परिवर्तन आया है फिर भी श्री अयूब को यह विश्वास है कि पाकिस्तान को रूस का समर्थन मिल सकेगा। यह बात उनके (अयूब के) १ फरवरी १९६६ के उस राष्ट्रीय प्रसारण से स्पष्ट हो गयी जिसमें उन्होंने कहा था कि ताशकंद समझौते के अनुसार २५ फरवरी तक दोनों देशों की सेनाओं को सीमान्त प्रदेश से लौट जाने के बाद सुरक्षा परिषद को दोनों राष्ट्रों की मौलिक राजनीतिक समस्या (काश्मीर) के समाधान की ओर ध्यान देना चाहिए।

पाकिस्तान ने रूस के शांति प्रस्ताव के प्रति इसलिए भी सहमति प्रगट की कि इससे उसे अमेरिका व रूस दोनों की सैनिक आर्थिक सहायता प्राप्त हो सकती थी। यह स्थिति उसके लिए अपने राष्ट्रीय हित एवं शक्ति की वृद्धि की दृष्टि से बड़ी लाभप्रद होती।

उपरोक्त सभी कारणों वश पाकिस्तान द्वारा ताशकंद वार्ता का प्रस्ताव स्वीकार किया गया।

ताशकंद वार्ता के उतार-चढ़ाव व सोवियत कूटनीति

रूस के निमंत्रण पर जब भारत और पाकिस्तान ताशकंद वार्ता के लिए सहमत हो गये तो भी अयूब और शास्त्री का ताशकंद सम्मेलन ४ जनवरी से १० जनवरी १९६६ तक चलता रहा। सम्मेलन का औपचारिक उद्घाटन होने के समय पहले तो यही बाधा पहले हुई कि सम्मेलन की विचारणीय विषय सूची क्या हो। भारत सोवियत नेताओं के इसी आश्वासन पर सम्मेलन में उपस्थित हुआ था कि यहां काश्मीर के प्रश्न को नहीं उठाया जायगा। इस विपरीत पाकिस्तान का आग्रह विषय सूची में काश्मीर को सर्वोपरि स्थान देने का रहा। चूंकि रूस भारत के इस दृष्टिकोण से सहमत था कि शिखर सम्मेलनों में शांति स्थापना के मौलिक सिद्धान्तों पर जैसे प्रश्नों पर ही विचार किया जाना चाहिए, अतः पाकिस्तान को अनिच्छापूर्वक मौलिक सिद्धान्तों पर वार्ता के लिए सहमति देनी पड़ी और युद्ध वर्जन पर दोनों राष्ट्रों के मध्य विचार करने लगे। श्री शास्त्री ने दोनों देशों द्वारा युद्ध-मार्ग के परित्याग" की घोषणा करने वाला एक संधि प्रस्ताव पाकिस्तानी प्रतिनिधि मंडल को भेजा जिसे १५ मिनट के भीतर ही कागज का टुकड़ा कह कर अस्वीकार कर दिया गया। भारत के बारम्बार आग्रह करने पर पाकिस्तान ने अपनी तरफ से एक संधि का मसविदा भेजा जिसमें वही पुरानी रट लगायी गयी कि काश्मीर समस्या के समाधान के बिना युद्ध वर्जन का कोई समझौता नहीं हो सकता। इसी समय सम्भवतः ताशकंद वार्ता को असफल बनाने के लिए चीन ने भारत सरकार को कड़ा विरोधपत्र भेज कर पाकिस्तान को अपने समर्थन का विश्वास दिलाते हुए उसे समझौता न करने की प्रेरणा दी। ८ जनवरी की शाम तक स्थिति विकट हो गयी। जब पाकिस्तानी प्रवक्ता से पूछा गया कि क्या ताशकंद सम्मेलन की समाप्ति से पूर्व दोनों देशों के शासनाध्यक्ष किसी संयुक्त घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर करेंगे तो इसका उत्तर इन रोष भरे शब्दों में दिया गया संयुक्त घोषणा स्वदेश वापिस लौटने के लिए कोई टिकट नहीं है। हम इसके बिना भी पाकिस्तान जा सकते हैं।"

ताशकंद सम्मेलन की असफलता की संभावना से रूस अपनी प्रतिष्ठा को बचाने के लिए प्राणपण से सक्रिय हो उठा। इस समय सोवियत कूटनीति अपने सर्वोत्कृष्ट रूप में दिखायी दी। ९ जनवरी को सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन ने वार्ता में गतिरोध की स्थिति को तोड़ने के लिए ११ घंटे की अथक दौड़धूप की। भारत और पाकिस्तान के अध्यक्षों को इस बात का पूरा आग्रह किया गया कि वे दोनों पक्षों के लिए सम्माननीय किसी समझौते पर पहुंचे लेकिन पाकिस्तान की हठधर्मिता समझौते के मार्ग में बाधा बनी रही। अन्त में १० जनवरी की शाम को ४ बजे संध्या को यह संकेत मिलने लगा कि भारत और पाकिस्तान में किसी तरह का समझौता हो जायगा और तब ९ बजे रात को तालियों की गड़गड़ाहट के बीच राष्ट्रपति अयूब खां और प्रधानमंत्री लालबहादुर शास्त्री ने सोवियत प्रधान मंत्री कोसीगिन की

उपस्थिति में एक समझौते पर हस्ताक्षर कर दिये जो 'ताशकंद घोषणा' के नाम से विख्यात हुई।

ताशकंद घोषणा
(Tashkent Declaration)

१० जनवरी १९६६ को हुए और अय्यूब के बीच जिस ऐतिहासिक 'ताशकंद घोषणा' पर हस्ताक्षर हुए, वह निम्नलिखित रूप से थी—

"भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति ताशकंद में मिलने और भारत तथा पाकिस्तान के वर्तमान सम्बन्धों पर विचार करने के बाद अपने इस दृढ़ संकल्प की घोषणा करते हैं कि वे दोनों देशों के बीच फिर से सामान्य और शांतिपूर्ण सम्बन्ध कायम करेंगे और दोनों देशों के लोगों में एक-दूसरे के प्रति सद्भाव और मित्रता पैदा करेंगे। वे इस उद्देश्य की पूर्ति को भारत और पाकिस्तान के ६० करोड़ लोगों के हित में अत्यन्त महत्वपूर्ण समझते हैं।

१

भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस पर सहमत हुए कि दोनों ओर से भारत और पाकिस्तान के बीच अच्छे पड़ौसियों का संबंध कायम करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र (चार्टर) के अनुसार पूरे प्रयत्न किये जाएंगे। इस घोषणा-पत्र के अन्तर्गत वे अपनी इस जिम्मेदारी को फिर से स्वीकार करते हैं कि वे ताकत से काम नहीं लेंगे और अपने विवादों को शांतिपूर्ण तरीकों से सुलझाएंगे। वे दोनों इसे समझते हैं कि दोनों देशों के बीच तनाव जारी रहना विशेषकर भारत-पाकिस्तान भूखण्ड की शांति और वस्तुतः भारत और पाकिस्तान के लोगों के हित में बाधक है। इस पृष्ठभूमि में जम्मू-काश्मीर के बारे में विचार हुआ और दोनों पक्षों ने अपनी-अपनी स्थिति को स्पष्ट किया।

२

भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस पर राजी हुए हैं कि दोनों देशों के सब सशस्त्र आदमी २५ फरवरी १९६६ तक उन ठिकानों पर वापस लौट जाएंगे जहां वे ५ अगस्त १९६५ के पहले थे और दोनों पक्ष युद्ध विराम रेखा पर युद्ध विराम की शर्तों का पालन करेंगे।

३

भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस पर सहमत हैं कि भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों का आधार इस सिद्धान्त पर होगा कि एक दूसरे के भीतरी मामलों में दखल नहीं दिया जाएगा।

४

भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति इस पर सहमत हुए हैं कि दोनों देशों में एक-दूसरे के विरुद्ध प्रचार को रोका जाएगा और

ऐसे प्रचार को बढ़ावा दिया जायगा जिससे दोनों देशों में मित्रता का सम्बन्ध बढ़े।

५

भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि पाकिस्तान में भारत के उच्चायुक्त और भारत में पाकिस्तान के उच्चायुक्त अपनी-अपनी जगह लौट जाएंगे और दोनों देशों में सामान्य राजनयिक संबंध फिर से कायम किये जायेंगे। दोनों सरकारें अपने राजनयिक व्यवहार में १९६१ के वियना समझौते का पालन करेंगी।

६

भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि वे भारत और पाकिस्तान के बीच आर्थिक सम्बन्ध व्यापार संचार और सांस्कृतिक सम्पर्क को फिर से कायम करने की कार्यवाही पर विचार करेंगे और भारत तथा पाकिस्तान के वर्तमान समझौतों को अमल में लाएंगे।

७

भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि वे अपने अधिकारियों को युद्धबन्दियों की वापसी का आदेश देंगे।

८

भारत के प्रधानमंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि दोनों पक्ष शरणार्थियों और निष्कासितों और गैरकानूनी बसनेवालों की समस्याओं से सम्बन्धित प्रश्नों पर बात-चीत जारी रखेंगे। वे इस बात पर भी सहमत हुए कि दोनों पक्ष ऐसे हालात पैदा करेंगे जिससे लोगों का देश से भागना बन्द हो। वे इस बात पर भी सहमत हुए कि संघर्ष के दौरान दोनों पक्षों ने जिस माल व सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया है उनके लौटाने के बारे में बातचीत की जाएगी।

९

भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सहमत हुए कि जिन मामलों का दोनों देशों से सीधा सम्बन्ध है उन पर विचार के लिये दोनों पक्षों की सर्वोच्च और अन्य स्तरों पर बैठकें होती रहेंगी। दोनों पक्ष इस पर तैयार हैं कि "भारत-पाकिस्तान संयुक्त समितियाँ" नियुक्त की जाए जो अपनी-अपनी सरकारों को बताए कि आगे और क्या कदम उठाए जाए।

— —

भारत के प्रधान मंत्री और पाकिस्तान के राष्ट्रपति सोवियत संघ के नेताओं व सोवियत सरकार के और व्यक्तिगत रूप से सोवियत संघ की मंत्रिपरिषद के अध्यक्ष के बहुत कृतज्ञ हैं जिनके रचनात्मक मित्रतापूर्ण और महान सहयोग से यह बैठक हो सकी जिससे दोनों पक्षों के लिए सन्तोषप्रद परिणाम निकले। वे उजबेकिस्तान की सरकार और वहां के लोगों को भी

हम मैं धन्यवाद देते हैं जिन्होंने उनका इतना हार्दिक स्वागत और खातिर दारी की।

वे सोवियत रूस की मंत्रीपरिषद के अध्यक्ष को इस घोषणा के साक्षी होने को आमंत्रित करते हैं।

१० जनवरी १९६६

भारत के प्रधानमंत्री	पाकिस्तान के राष्ट्रपति
लालबहादुर शास्त्री	मोहम्मद अयूबखां

'ताशकंद घोषणा' पर भारत सरकार के सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय ने ताशकंद घोषणा प्रश्नो के उत्तर नामक प्रश्नोत्तरी में कुछ प्रश्नोत्तर प्रकाशित किये हैं जो इस घोषणा के महत्व उद्देश्यों आदि के बारे में विस्तृत प्रकाश डालते हैं। ये प्रश्नोत्तर निम्न प्रकार से हैं—

ताशकन्द घोषणा का महत्व क्या है ?

ताशकन्द घोषणा का निष्कर्ष यह है कि भारत और पाकिस्तान अपने आपसी झगड़ों और विवादों को हल करने में ताकत के प्रयोग का त्याग दें। दोनों देशों ने यह मान लिया है कि वे भविष्य में किसी भी झगड़े को हल करने के लिये हथियार नहीं उठायेंगे। दोनों देशों के बीच सामान्य शांतिपूर्ण और आपसी सहयोग के सम्बन्धों से जो वातावरण बनेगा उसके द्वारा ही दोनों देश विभिन्न समस्याओं को हल करने की कोशिश करेंगे।

भारत और पाकिस्तान का पिछले १८ वर्षों का इतिहास दुर्भाग्यपूर्ण सम्बन्धों का इतिहास रहा है। उसे देखते हुए इस घोषणा का महत्व और भी ज्यादा हो जाता है। इस घोषणा से दोनों देशों के पिछले रवैये खत्म हो जाते हैं और उनके बीच शान्तिपूर्ण और अच्छे पड़ोसी सम्बन्धों के द्वार खुल जाते हैं।

ताशकन्द घोषणा में दोनों देशों के बीच की किन्हीं खास समस्याओं झगड़ों या मतभेदों को हल करने की कोशिश नहीं की गई है। न ही इस में दोनों में से किसी देश द्वारा उसके किसी इलाके या उसकी विचारधारा का परित्याग कराने की कोई कोशिश की गई है। फिर भी यह घोषणा पाकिस्तान के साथ शान्तिपूर्ण और अच्छे पड़ोसी-सम्बन्धों के युग की शुरुआत करती है और इस महाद्वीप तथा एशिया व विश्व में शान्ति के प्रयासों में एक महत्वपूर्ण योग देती है। इस प्रकार, यह घोषणा उन प्रमुख सिद्धान्तों को पूरा करती है जिन पर भारत अनेक वर्षों से अडिग रहा है। ये सिद्धान्त हैं पाकिस्तान से हमारे शान्तिपूर्ण सम्बन्ध रहें और मित्रता व सन्देह से मुक्त वातावरण में दोनों देश अपनी मित्रता के सम्बन्धों का एक नया आधार प्रस्तुत करें।

ताशकंद घोषणा क्या इस बात की कोई व्यवस्था करती है कि भविष्य में भारतीय इलाकों में घुसपैठ बन्द हो जायेगी ?

ताशकंद घोषणा में ताकत को इस्तेमाल न करने का एक सिद्धान्त माना गया है। इस सिद्धान्त में दोनों देशों की ओर से पुनः यह स्पष्ट घोषणा

की गई है कि दोनों देश एक दूसरे के आन्तरिक मामलों और देखरेख में कोई दखल नहीं देंगे और सेनाओं को हट ने के बाद लड़ाई बन्दी की रेखा पर लड़ाई बन्दी की शर्तों में भी कोई दखलन्दाजी नहीं करेंगे। दोनो देशो ने यह मान लिया कि वे किसी भी रूप मे हथियार-बन्द सैनिक जिनमें हथियारबन्द असैनिक भी शामिल हैं लड़ाई बन्दी रेखा के उस पार नहीं भेजेंगे। हथियार बन्द घुसपैठियों द्वारा लड़ाई बन्दी रेखा को किसी भी दिशा में पार करना लड़ाई बन्दी की उपेक्षा मानी जाएगी जिसका नतीजा दोनों देशों द्वारा एक दूसरे के घरेलू मामलों में दखलन्दाजी और शक्ति के प्रयोग के रूप मे हो सकता है। और यह सब ताशकन्द-घोषणा के प्रयोजन व उसकी आत्मा के प्रतिकूल होगा।

भारत ने अपनी घोषणाओं के विपरीत अपनी सेनाओं को हाजीपीर और अन्य इलाकों से हटा कर ५ अगस्त वाली स्थिति पर वापस आना क्यों कबूल किया ?

हाजीपीर और लड़ाई बन्दी रेखा के पार अन्य इलाको से सेनाओं को हटाने का जहां तक सवाल है इस सम्बन्ध में भारत सरकार का रुख वही है जो हमारे प्रधानमंत्री ने संयुक्त राष्ट्र महासचिव को १४ सितम्बर, ६५ को लिखे अपने पत्र मे स्पष्ट किया था। इसी पत्र को प्रधानमंत्री ने संसद में भी दुहराया था। इस पत्र में उन्होंने लिखा था

"महासचिव महोदय मैं आपको स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि जब लड़ाई बन्दी पर पूरी तरह अमल शुरू हो जायेगा और जब सब बातों पर खुलासा से सोच विचार किया जायेगा तब हम किसी ऐसी स्थिति को मानने को तैयार नहीं होंगे जिससे भविष्य में भी हमारे इलाकों में घुसपैठ करने वालों के लिए दरवाजा खुला रहे या जिससे हमारे इलाकों में घुसे घुसपैठियों के खिलाफ हम कार्रवाई न कर पायें।"

भारत ने हाजीपीर दर्रे और लड़ाई बन्दी रेखा के पार अन्य इलाकों पर जो कब्जा किया वह पाकिस्तान अधिकृत काश्मीर के घुसपैठियों को जम्मू काश्मीर में घुसने पर रोक लगाने के लिये सैनिक दृष्टि से जरूरी हो गया था।

ताशकंद घोषणा में भविष्य में किसी प्रकार की घुसपैठ न किये जाने और सभी हथियारबन्द सैनिकों जिसमें हथियारबन्द घुसपैठिये भी शामिल हैं, को वापस बुलाने की गारन्टी दी गई है। यदि ताशकंद घोषणा पर ईमानदारी से अमल किया गया जैसा कि हम सोचते हैं कि होगा तो हमें इसमें संदेह नहीं है कि भविष्य में हमारे इलाकों में घुसपैठ नहीं होगी। इस प्रकार, हाजीपीर से सेना हटाने का जो शर्त हमारे प्रधानमंत्री ने संयुक्त राष्ट्र सभा के महासचिव को १४ सितम्बर १९६५ के पत्र में लिखी थी वह अब पूरी हो जाती है। खासतौर पर इन्हीं शर्तों पर और इस घोषणा के अनुच्छेद "२" से होने वाले लाभों को दृष्टिगत रखते हुए ताशकंद घोषणा को हमने स्वीकार किया।

भारत और पाकिस्तान—दोनों ही देशों में ताशकंद घोषणा की आलोचना की गई है। घोषणा में ऐसी कौन-सी बातें हैं जिनसे घोषणा के सफल होने का विश्वास होता है ?

ताशकंद समझौते पर कुछ आलोचनायें भारत और पाकिस्तान—दोनों ही देशों में अन अपेक्षित नहीं थीं। ऐसे अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों से खासतौर पर जिनकी पृष्ठभूमि भारत और पाकिस्तान के पिछले सम्बन्धों जैसी रही हो दोनों पक्षों की सभी आशायें पूरी नहीं हो सकतीं। दोनों ही देश अब तक एक दूसरे के विपरीत मार्गों पर थे। उनके सामने एक तरफ तो भौगोलिक एकता और दोनों देशों के समान ऐतिहासिक सम्बन्धों की बदौलत शान्ति अच्छे पड़ोसियों व आपसी सहयोग का रास्ता है। दूसरी तरफ एक दूसरा रास्ता आपसी मनमुटाव झगड़े-फसाद और करोड़ों लोगों की परेशानियों का है। ताशकन्द घोषणा में भारत और पाकिस्तान ने अपने आपसी मनमुटाव को छोड़ कर शान्ति दोस्ती और अच्छे पड़ोसियों के सम्बन्ध कायम करने का फैसला किया है। इससे दोनों देशों के बीच खतरनाक तनाव खत्म हो जायेंगे और शांति की स्थापना होगी। दोनों ही देश शान्तिपूर्वक अपने देश को आर्थिक रूप से बलवान बना सकेंगे। इस घोषणा की शांति स्थापना के आश्वासन से दोनों ही देशों की सुरक्षा में और मजबूती आयेगी।

यही कुछ पहलू इस घोषणा के उज्ज्वल पहलू हैं। लेकिन इन सब से ज्यादा आवश्यक ताशकंद घोषणा की भावना है, जो दोनों देशों की सरकारों और लोगों के लिये उनके हितों के काम कराने की दिशा में प्रेरक होनी चाहिए।

ताशकंद घोषणा में इस बात की भी व्यवस्था है कि दोनों सरकारों के बीच विभिन्न विवादों पर जो दोनों देशों से सीधे ताल्लुक रखते हों उच्चतर और अन्य स्तरों पर बैठकें आयोजित की जाएं। मंत्री-स्तर और अधिकारियों के स्तर पर भारत-पाक की संयुक्त बैठकें आयोजित करने की भी व्यवस्था की गई है। ये बैठकें अनेक समस्याओं पर विचार विमर्श कर के अपनी अपनी सरकारों को रिपोर्ट देंगी। इस प्रकार इस घोषणा से दोनों देशों के बीच एक ऐसा शान्तिपूर्ण वातावरण बनाने का प्रयास किया गया है जिसमें समझौतों की गुंजाइश रह सके। घोषणा में विश्वास दिलाया गया है कि हमारी सीमाओं पर—पूर्वी और पश्चिम—और साथ ही जम्मू-कश्मीर की लड़ाई बन्दी रेखा पर शांति कायम रखी जायगी।

ताशकंद घोषणा से काश्मीर के बारे में हमारी स्थिति पर क्या कोई असर पड़ता है ?

जैसा कि घोषणा के अनुच्छेद १ में स्पष्ट है दोनों ही पक्ष अपनी अपनी स्थिति पर कायम हैं। पर कश्मीर के बारे में हमारी स्थिति यह है—कि कश्मीर भारत का एक अविभाज्य अंग है और यह कि जम्मू व कश्मीर पर भारत की प्रभुसत्ता के बारे में कोई बातचीत नहीं की जा सकती।

ताशकन्द घोषणा से संसार के प्रमुख देशों में क्या प्रतिक्रिया हुई है ?

इस घोषणा का चीन को छोड़ कर दुनिया के सभी देशों ने स्वागत किया है और इसे एक महान राजनीतिक सफलता तथा शान्ति की दिशा में एक बड़ा कदम बताया है। दुनिया के सभी देशों में प्रधानमन्त्री श्री लाल बहादुर शास्त्री की बुद्धिमत्ता और शान्ति की उनकी अभिलाषा की प्रशंसा की गई है।

क्या ताशकन्द-घोषणा भारत की बुनियादी नीतियों के अनुरूप है ?

ताशकंद घोषणा न केवल भारत के पड़ोसी देश से अच्छे सम्बन्धों और दूसरे देशों के प्रति शान्ति और शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की बुनियादी नीतियों के अनुरूप है बल्कि वह उन्हें और पुष्ट करती है। इन्हीं नीतियों के अनुसरण में भारत १९४९ के बाद से पाकिस्तान से अनाक्रमण सन्धि करने के लिये बराबर बार देता आ रहा है। भारत सरकार और भारतीय जनता सद्भावना से पाकिस्तानी जनता के साथ मैत्री और भाईचारे से रहना चाहती आई है। ताशकंद घोषणा ने भारत के उद्देश्यों और नीतियों को पूरा करने की दिशा में एक आधार प्रदान किया है।

ताशकन्द घोषणा की सबसे बड़ी उपलब्धि यही मानी गई कि १९४७ के विभाजन के बाद भारत और पाकिस्तान के मध्य चले आने वाले तनाव को इसने समाप्त किया और सितम्बर १९६५ के युद्ध से उत्पन्न असाधारण स्थिति को सामान्य बनाया। इस विषय में ताशकन्द घोषणा पर हस्ताक्षर होने के बाद रूसी प्रधान मंत्री श्री कोसीगिन ने कहा था—

'यह घोषणा भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों में एक नवयुग को सूचित करती है सैनिक संघर्ष को समाप्त करती है। दो बड़ी एशियायी शक्तियों के सामान्य सम्बन्धों में बाधायें डालने वाली कठिनाईयों पर विजय पाने के मार्ग का निर्देश करती है और हमारी सम्मति में एशिया के इस महत्वपूर्ण क्षेत्र में शांतिपूर्ण परिस्थितियों को बनाये रखने की वास्तविक आधार शिला प्रस्तुत करती है।

'ताशकंद घोषणा' के महत्व को बताते हुए जनवरी १९६७ में रूस में भारतीय राजदूत श्री टी एन कौल ने 'सोवियत भूमि' में प्रकाशित अपने एक लेख में लिखा था—

"सोवियत संघ ताशकन्द में भारत और पाकिस्तान की बैठक आयोजित कर सका जब कि उनके बीच तत्काल एक खूनी जंग हो चुका था यही बात अपने-आप में बहुत महत्वपूर्ण है। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण यह है कि दोनों देशों की सरकारें एक नतीजे पर पहुंच सकीं और प्रत्यक्ष वार्ता द्वारा अपने मतभेदों को दूर करने के लिये कुछ सिद्धान्तों की स्थापना कर सकीं। भारत और पाकिस्तान दोनों देशों की सरकारों तथा जनगण ने यह महसूस किया कि उनके आपसी संघर्ष और तनाव से दोनों को कोई लाभ नहीं है, बल्कि इससे सिर्फ उन तीसरे पक्षों को लाभ होता है जो दोनों देशों को कमजोर करना चाहते हैं तथा दोनों का शोषण करना चाहते हैं। उन्होंने इस बात को भी महसूस किया कि दोनों की विभिन्न राजनीतिक व्यवस्थाओं के

बावजूद, दोनों के लिए शान्तिपूर्ण सहजीवन ही एक मात्र मौजूद रास्ता है ताकि वे एक साथ रह सकें। भारत और पाकिस्तान सदा सर्वदा पड़ोसी बने रहेंगे। भारत और पाकिस्तान की जनता के बीच अनेक चीजें समान हैं और दोनों के आपसी हितों में कोई जन्मजात झगड़ा नहीं है। दोनों देशों की जनता एक ही नस्ल की है दोनों की मुख्य बोलियां एक हैं। उर्दू, पंजाबी, बंगला आदि। उनमें धार्मिक और सांस्कृतिक साम्य मौजूद है। उनकी अर्थव्यवस्थाएं एक-दूसरे की पूरक हैं और उनके सामरिक हितों में भी कोई झगड़ा नहीं है। ये दोनों देश आपस में मिल कर पारस्परिक फायदे के लिए काम कर सकते हैं तथा इस उपमहाद्वीप में शांति को मजबूत बना सकते हैं। ताशकन्द की ऐतिहासिक घोषणा इतिहास और भूगोल के इन तथ्यों की स्वीकृति थी। ताशकन्द घोषणा का यह महत्व है कि दोनों देशों ने बल प्रयोग के परित्याग का तथा अपने मतभेदों को हल करने के लिये शान्तिपूर्ण वार्ता का प्रत्यक्ष तरीका अपनाने का संकल्प किया। इससे भी आगे बढ़ कर सांस्कृतिक आर्थिक और अन्य क्षेत्रों में पारस्परिक सहयोग का एक रास्ता तय किया गया। घोषणा के मातहत दोनों देशों की आमने-सामने खड़ी सेनायें जिससे फिर संघर्ष हो सकता था पीछे हटाई गईं।

हमें यही आशा रखना है—भारत और पाकिस्तान की जनता को यही मौका देना है कि ताशकन्द में बोया गया मैत्री और सद्भावना का बीज हमारे जनमन के दिलो-दिमाग में गहरी जड़ जमा ले तथा हमारे दोनों देशों और जनगण के बीच सच्ची मैत्री के मनोहर फूल खिल उठें।

ताशकन्द घोषणा शान्तिपूर्ण सहजीवन की भावना का जीता-जागता उदाहरण है। इससे पता चलता है कि कोई भी देश अपने पड़ोसी के साथ शान्तिपूर्वक और मित्रतापूर्वक रह सकता है। ताशकन्द घोषणा की भावना का महत्व भारत और पाकिस्तान के बीच सम्बन्धों के क्षेत्र से भी आगे है। यदि ये दोनों देश इस भावना का सफल कार्यान्वयन कर सकें तो वे दुनिया के दूसरे देशों के समक्ष तनाव के दूसरे क्षेत्रों में—अपने संघर्षों के शान्तिपूर्ण समाधान के लिये एक उदाहरण प्रस्तुत करेंगे। इससे भी अधिक यह है कि ताशकन्द घोषणा पड़ोसी देशों के समक्ष अपने क्रियाकलाप के विभिन्न क्षेत्रों में पारस्परिक लाभप्रद उद्देश्यमूलक और शांतिपूर्ण सहयोग का रास्ता दिखाती है। इससे यह भी सिद्ध होता है कि सोवियत संघ के साथ भारत की मैत्री तथा भारत के साथ सोवियत संघ की मैत्री किसी अन्य देश के खिलाफ नहीं है और यह दोनों को किसी तीसरे देश से अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास करने में बाधा नहीं डालती। इसके विपरीत यह सारी दुनिया में मैत्री और सहयोग की वृहत्तर भावना का सिर्फ एक अंग है।

ताशकन्द घोषणा की आलोचना

ताशकन्द घोषणा को जहां एक ओर अपने आप में एक महत्वपूर्ण दस्तावेज बताया गया है, वहां दूसरी ओर दोनों ही देशों में इसकी कटु

आलोचना भी हुई है। पाकिस्तान में इसकी आलोचना का प्रमुख आधार यह बात है कि इससे पाकिस्तान को अपने मुख्य लक्ष्य काश्मीर को पाने में किसी प्रकार की सफलता नहीं मिली है यद्यपि राष्ट्रपति अयूब ने इस आलोचना के उत्तर में यह दावा किया है कि ताशकन्द घोषणा से काश्मीर की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो गया है क्योंकि शान्ति स्थापना के बाद अब इस प्रश्न को सुरक्षा परिषद में उठाया जा सकेगा।

भारत में इस घोषणा की आलोचना प्रमुखतः निम्नलिखित आधारों पर की गई है—

प्रथम आलोचना यह की जाती है कि भारत द्वारा हाजीपीर कारगिल और टिथवाल के दर्रों से अपनी सेनाओं को हटाने की शर्त स्वीकार कर लेना एक तरफ तो सैनिकों के पराक्रम और बलिदान के साथ विश्वासघात है तथा दूसरी तरफ यह भविष्य के लिए आक्रमण के खतरे को बनाये रखना है। पाकिस्तान द्वारा इन्हीं दर्रों में से होकर अधिकांश घुसपैठियों को काश्मीर में भेजा गया था। भविष्य में पाकिस्तान फिर से ऐसी कार्यवाही नहीं करेगा—इसका क्या निश्चय है? पाकिस्तान के आश्वासनों का मूल्य क्या है? इस बात की क्या गारन्टी है कि भविष्य में कभी वह सामरिक महत्व के इन दर्रों से काश्मीर पर धावा नहीं बरसायेगा? पाकिस्तान ने १९४७ में भी भारत पर अकारण ही हमला किया था और बाद में कारगिल पर भारतीय सैनिकों द्वारा किये गये कब्जे को इसी शर्त पर हटाया गया था कि पाकिस्तान पुनः कभी उस ओर से आक्रमण नहीं करेगा। परन्तु पाकिस्तान ने अपने आश्वासन को निर्मूल्य करते हुए न केवल युद्धविराम-रेखा का सैकड़ों बार उल्लंघन किया बल्कि १९६५ में भारत पर उग्र आक्रमण भी कर दिया। ताशकन्द समझौते के सम्पन्न होने के बाद भी भारत के प्रति पाकिस्तान के विद्वेष और दुर्व्यवहार में कोई कमी नहीं आई है। पाकिस्तान ताशकन्द-भावना को ठुकरा कर भारत से प्रतिशोध के लिए बेताब हो रहा है और विश्व के प्रत्येक राष्ट्र से प्रत्येक सम्भव उपाय द्वारा अस्त्रशस्त्र जुटाने में लगा हुआ है। अब तो उसने काश्मीर में छेड़खानी भी शुरू कर दी है। अक्टूबर १९६७ में पाकिस्तानी सैनिकों द्वारा गोलीबारी किये जाने की छुटपुट वारदातें भी हुई हैं। पाकिस्तान की इस प्रकार की कार्यवाहियाँ ताशकन्द घोषणा का स्पष्ट उल्लंघन हैं।

इस आलोचना के प्रत्युत्तर में पहले बताया जा चुका है कि भारत ने पाकिस्तान की ओर से आने वाले घुसपैठियों की रोक-थाम के लिए युद्ध विराम रेखा को पार करके उपरोक्त दर्रों पर अधिकार किया था। जब ताशकन्द समझौते के द्वारा एक मध्यस्थ के सम्मुख पाकिस्तान ने युद्ध विराम रेखा और युद्ध-विराम की शर्तों को पालन करने का युद्ध के उपायों के परित्याग का और एक-दूसरे के मामलों में हस्तक्षेप न करने का आश्वासन दिया था तो भारत के सामने इन दर्रों पर अपनी फौजें बनाये रखने का कोई तर्क संगत आधार न था। भारत शुरू से ही यह कहता आ रहा था कि

१ अगस्त १९६२ की पूर्वस्थिति आनी चाहिये। पाकिस्तान द्वारा इस मान लिए जाने पर भी यदि भारत अपने वचन से मुकरता तो न केवल सुरक्षा परिषद में बल्कि सोवियत रूस और मिस्र के अन्य मित्र राष्ट्रों के समक्ष भारत पक्ष को बिगाड़ना होता। अब तो यही है कि दोनों राष्ट्रों को इस घोषणा के प्रति सम्मान प्रदर्शित करना चाहिए। भारत अब तक यही करता आ रहा है और आगे भी करने को दृढ़ संकल्प है। लेकिन केवल एकपक्षीय सम्मान से काम नहीं चल सकता। यदि पाकिस्तान भारत के साथ तलवार भड़ाने पर ही आमादा होगा तो इस बार उसे १९६५ की तरह क्षमा कर देने की उदारता सम्भवतः भारत सरकार नहीं दिखायेगी। भारत की उत्तरदायी सरकार के लिए भी यह सम्भव न हो सकेगा कि वह भारतीय जनता की भावनाओं से खिलवाड़ करे और साँप को दूध पिलाने की प्रवृत्ति से बाज न आये।

आलोचकों द्वारा दूसरा महत्वपूर्ण तर्क यह प्रस्तुत किया जाता है कि पाकिस्तान द्वारा चीन के साथ जिस प्रकार का गठबन्धन किया गया है उससे यह बात अब स्पष्ट है कि उसकी नीति भारत के साथ निरन्तर घृणा और शत्रुता बनाये रखने की है। उनका कहना है कि यह बात कदापि आश्चर्य जनक न होगी कि भारत पर सम्मिलित आक्रमण करके उसे पराजित करने की योजनायें बनाई जायें। ऐसी स्थिति में ताशकन्द समझौते में पाकिस्तान का किया गया विश्वास भविष्य के लिए विश्वासघात बन सकता है। इसका उत्तर यही है कि हमें अपनी शक्ति पर भरोसा रखना चाहिए। पाकिस्तान १९४७ से भारत के प्रति आक्रान्ता रहा है और चीन १९६२ से भारत का घोर शत्रु बना हुआ है। इन दो शत्रु राष्ट्रों के बीच रहते हुए भारत को निरन्तर इतना शक्तिशाली बना रहना होगा कि वह दोनों मोर्चों पर शत्रु को मात दे सके और यह भी सच है कि भविष्य में यदि युद्ध हुआ तो भारत शत्रुओं को ऐसी रियायतें नहीं देना चाहेगा कि जिससे उनके विषैले दाँत बने रहें।

तीसरी महत्वपूर्ण आलोचना यह की जाती है कि स्वर्गीय श्री शास्त्री ने सोवियत रूस के दबाव में आकर इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किये थे। घोषणा पर हस्ताक्षर के कुछ ही घण्टे बाद रात्रि में उनकी मृत्यु हो जाना भी आलोचकों के मतानुसार एक रहस्यमय बात मानी जाती है। इस बात की भी आशंका व्यक्त की जाती है कि भविष्य में रूस पाकिस्तान की मित्रता बनाये रखने के लिए काश्मीर के मामलों में पहले की तरह भारत का समर्थन नहीं करेगा। परन्तु इन दोनों ही संदेहों के कोई दृढ़ आधार नजर नहीं आते।

भारत चीन सीमा विवाद और भारतीय विदेश नीति
[Sino Indian Border dispute and Indian Foreign Policy]

शताब्दियों से भारत और चीन के सम्बन्ध अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहे हैं। इतिहास इस बात का साक्षी है कि इन दोनों महान् राष्ट्रों ने एक-दूसरे पर कभी आक्रमण करने की चेष्टा नहीं की और भूतकाल में दोनों के प्रगाढ़

सांस्कृतिक सम्बन्ध कायम रहे। पश्चिमी साम्राज्यवाद की स्थापना हो जाने के उपरान्त दोनों देशों के प्राचीन सम्बन्धों का विच्छेद हो गया। लेकिन औपनिवेशिक अनुभव ने उन्हें एक-दूसरे के सन्निकट ला कर खड़ा कर दिया। १९२७ ई० जब ब्रुसेल्स में साम्राज्यवाद विरोधी संघ का सम्मेलन हुआ तो भारत और चीन के प्रतिनिधियों ने एक संयुक्त वक्तव्य में चीन में ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीय सेनाओं के प्रयोग की निन्दा की। १९३१ में जब जापान द्वारा मन्चूरिया पर आक्रमण किया गया तो चीन के प्रति सहानुभूति प्रदर्शन करने हेतु भारतीय जनता ने जापानी वस्तुओं का बहिष्कार किया। पुनश्च १९३७ में चीन जापान युद्ध प्रारम्भ होने पर भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने चीन के प्रति मित्र भाव के प्रदर्शन [illegible] एक डाक्टरी जत्था भेजा। इस पृष्ठभूमि में यह स्वाभाविक था कि स्वतन्त्रता प्राप्त करने के पश्चात् स्वाधीन भारत अपने इस पड़ोसी राष्ट्र के साथ अच्छे सम्बन्ध रखने का प्रयास करता।

१९४८ ई० में राष्ट्रवादी सरकार के पतन के पश्चात चीन में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। भारत ने इस नव-स्थापित सरकार को तुरन्त मान्यता प्रदान करके अपने मैत्रीपूर्ण व्यवहार का परिचय दिया। राष्ट्रवादी सरकार के समय चीन में भारतीय राजदूत के पद पर सरदार के० एम पणिक्कर काम कर रहे थे अतः १९४९ में उन्हीं को दुबारा भारतीय राजदूत बना कर चीन भेजा गया। श्री पणिक्कर के प्रयत्नों से भारत और चीन के बीच उत्तम मैत्री सम्बन्धों की शुरूआत हुई। पणिक्कर ने जहां चीन की जनता को भारतीय दृष्टिकोण से परिचित कराया वहां भारतीय जनता को भी चीनी क्रांति के आधारभूत तत्वों से जानकारी करवाई। उन्होंने बताया कि चीनी क्रान्ति एशिया के नवजागरण का प्रतीक है और चीन की नव-स्थापित सरकार वहां के लगभग १० वर्ष पुराने विकास का अनिवार्य परिणाम है। सदियों की गुलामी के बाद स्वाधीनता प्राप्त करने वाले भारत का इस क्रांति से प्रारम्भ से ही सहानुभूतिपूर्ण रुख रहा और इसीलिये पणिक्कर के प्रयत्नों ने इस सहानुभूति में और भी वृद्धि की तथा स्वर्गीय श्री नेहरू के नेतृत्व में भारत ने इस बात का पूरा प्रयास किया कि चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में उचित स्थान दिया जाए।

परन्तु चीन ने भारत की मित्रता का जवाब भारत पर आक्रमण करके दिया और इस तरह महायोगी श्री अरविन्द की १७ वर्ष पूर्व की गई यह भविष्यवाणी हमारे देश के ऐतिहासिक प्रारब्ध में अक्षरशः सत्य बन कर आई—

माओ के तिब्बत अभियान का मौलिक महत्व चीन की सीमाओं को सीधे भारत तक बढ़ाने और वहां तब तक ठीक क्षण पर ठीक रण विधि के द्वारा प्रहार करने के लिये उद्यत खड़े रहने में निहित है जब तक कि भारत प्रसन्नता से अपने को साम्यवादी गुट का साथी घोषित न कर दे। परन्तु माओ और स्टालिन के कोप से बचने के लिये उनके चरणों पर झुक जाना किसी भी प्रकार से एक त्राणकृत-इंगित (A Saving Gesture) नहीं है। यह एक ऐसा इंगित

(Gesture) है जिसका अर्थ है हमारे सम्पूर्ण आदर्शों और महत्वाकांक्षाओं का विनाश। जो इंगित हमें बचा सकता है वह है-चीन के प्रति एक दृढ़ नीति का अनुसरण उसके दुष्ट इरादों का प्रत्याख्यान करना (denounce) बिना किसी आरक्षण के (without reservation) संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के साथ खड़े हुए और अपने आत्म-सम्मान की रक्षा करते हुए प्रत्येक ऐसे प्रबन्ध करना जिससे हमारी ओर से अमेरिकन हस्तक्षेप और जो इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है भारत पर चीन की कुदृष्टि से अमेरिकन प्रतिरोध का मार्ग प्रशस्त करना। सैनिक रूप से चीन हमसे लगभग १० गुना शक्तिशाली है परन्तु प्रजातन्त्र की अमेरिकन रक्षा व्यवस्था के भुजाग्र (Spear head) के रूप में भारत सरलता से माओ की यान्त्रिक-सुसज्जित अक्षौहिणियों को रोक सकता है।"

भारत पर चीन के आक्रमण ने न केवल हमें सामूहिक-क्षति पहुंचाई है बल्कि अपने मौलिक सिद्धान्तों राष्ट्रीय योजनाओं और राष्ट्रीय सुरक्षा के प्रश्नों पर नये सिरे से सोचने के लिए बाध्य कर दिया है। चीन का आक्रमण केवल भारत की अकेली समस्या नहीं है बल्कि यह सम्पूर्ण स्वतन्त्र विश्व की एक अन्तर्राष्ट्रीय समस्या है। इस समस्या ने हमको एक ऐसे स्थल पर लाकर खड़ा कर दिया है जहां से संसार की स्वाधीनता प्रेमी मानवता अपने अतीत के सम्पूर्ण विकास की सुरक्षा को हो संदेह की दृष्टि से देखने के लिये बाध्य हो गई है। युगों से व्यक्ति अपने वैयक्तिक और सामूहिक प्रयासों द्वारा स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करता रहा है और अनेक क्रान्तियों के बाद उसे वर्तमान लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था एक पारितोषिक के रूप में उपलब्ध हुई है। यदि चीनी बर्बरतावादी आक्रामक नीति इस युग में भी सफल हुई तो स्वयं दुनियां को हजारों वर्ष पुराने इतिहास को दुहराने के लिये फिर से वापिस होना पड़ेगा।[1]

---

1 "The basic significance of Mao's Tibetan adventure is to advance China's frontiers right down to India and stand poised there to strike at the right moment and with right strategy unless India precipitately declares herself on the side of the Russian block...... Really the gesture that can save India is to take a firm line with China, denounce openly her nefarious intentions, stand without reservation by the U.S.A. and make every possible arrangement consonant with our self respect to facilitate an American intervention in our favour ......Militarily China is almost ten times as strong as we are (In 1950) but India as the spear head of an American defence of Democracy can easily halt Maos mechanised millions ... We must bear it into our minds that the primary motive of Mao's attack on Tibet is to threaten India as soon as possible"
(Nov 11 1950)

—Sri Aurobindo

भारत चीन सीमा विवाद और चीन का आक्रमण कोई सामान्य सीमा-विवाद नहीं है बल्कि यह तो स्वतन्त्रता पर प्रभुता का वर्तमान पर भूत का और शांति पर बर्बरता का भीषण प्रहार है। यह एक ऐसी गम्भीरतम मानव समस्या है जिस पर विश्व के प्रबुद्ध जनमत को और स्वाधीनता प्रेमी लोकतन्त्रात्मक गणराज्यों को विचार करना चाहिये। यह एक तथ्य है कि भारत एशिया में स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के मध्य की एक निर्णायक कड़ी है और यदि चीन अपनी खूनी क्रांति और विस्तारवाद की नीति में सफल हो कर एक बार भारत में पैर जमा लेगा तो फिर एशिया और अफ्रीका की नवजात स्वतन्त्रता का समाप्त होने में देर न लगेगी। भारत चीनी प्रसारवाद के मार्ग में एक महानतम बाधा है और इसीलिये चीन ने भारत से टक्कर लेने का निर्णय किया है। सीमा-विवाद तो केवल एक बहाना है जिसका आश्रय प्रत्येक आक्रान्ता लेता है और जिसे वह अवसर पाकर अपने पड़ौसी पर जबरदस्ती लाद देता है।

विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारत की २६०० मील से भी अधिक लम्बी उत्तरी सीमा अतीत काल से भारत की प्राकृतिक सीमा रही है और हिमालय में हिम मुकुट इस देश का सुरक्षा प्रदान करते रहे हैं। काश्मीर में लद्दाख और उत्तरी पूर्वी सीमा में नेफा (NEFA) के पास यह मुकुट अनेक जगह टूटी-फूटी है इसलिये ये दोनों ही क्षेत्र प्राचीन काल से ही सीमा-विवाद के अवसर उत्पन्न करते रहे हैं। तिब्बत और लद्दाख के बीच तथा नेपाल भूटान सिक्किम और तिब्बत के बीच अनेक बार सीमा-विवाद पैदा हुआ है। जब भारत पर अंग्रेजी साम्राज्यवाद ने पैर रोप दिये तो अंग्रेजों ने इस प्रकार के सीमा विवाद का अन्त करने के लिये नेपाल भूटान और सिक्किम को अपने साम्राज्य के अन्तर्गत अर्द्ध-स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। सन् १९१२ में चीन में डॅनियातसेन का प्रजातन्त्र स्थापित हुआ। चूंकि कई सौ वर्षों बाद चीन में ऐसा सुगठित और शक्तिशाली राज्य कायम हुआ अतः अंग्रेजों ने यह उचित समझा कि ब्रिटिश भारत की सीमा को निर्धारित कर दिया जाए। फलस्वरूप लॉर्ड कर्जन ने तिब्बत चीन और भारत के बीच सीमा के सम्बन्ध में एक संधि करने के लिये कदम उठाया।

(क) शिमला-संधि और मैक-मैहोन लाइन

उत्तर पूर्व में भारत और तिब्बत तथा तिब्बत और चीन के मध्य सीमा निर्धारण के लिये तीनों देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन ९७ अप्रैल १९१४ को शिमला में हुआ। ब्रिटिश सरकार की ओर से भारत सचिव Arthur Henry Mc Mahon चीन की तरफ से Monsieur Ivanchen तथा तिब्बत की तरफ से Lonchen Ga-den Shatre Pal-Jor Dorgi ने इस सम्मेलन में भाग लिया। इसमें यह तय किया गया कि—

(१) तिब्बत पर चीन की Suzerainty रहेगी लेकिन बाह्य तिब्बत (Outer Tibet) को अपने कार्य में पूरी स्वतन्त्रता होगी।

(२) चीन उसके आन्तरिक मामलों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(३) चीन उसे अपने राज्य का सूबा भी कभी घोषित नहीं करेगा।

बाह्य तिब्बत और भारत के बीच की ऊंची पर्वत-श्रेणियों को सीमा मान कर एक नक्शे में लाल पैंसिल से निशान कर दिया जिसमें तीनों प्रतिनिधियों के हस्ताक्षर हुए। इसी सीमा को मैक मेहोन लाइन (Mc Mahon line) के नाम से पुकारा गया। शिमला सम्मेलन में आन्तरिक तिब्बत और बाह्य तिब्बत के बीच भी सीमाओं का निश्चय हुआ।

यद्यपि पैकिंग की सरकार ने बाद में इस आधार पर शिमला संधि का अनु-समर्थन (Ractification) करने से इन्कार कर दिया कि आंतरिक और बाह्य तिब्बत के बीच की सीमा उसे मान्य नहीं है पर चीन सरकार द्वारा भारत तथा बाह्य तिब्बत के बीच की सीमा पर कभी कोई आपत्ति नहीं उठाई गई और चीन की वर्तमान चुनौती तक मैक मेहोन रेखा को ही व्यावहारिक रूप से मान्यता दी जाती रही। जब कभी सीमा के बारे में कोई विवाद भी हुआ तो चीन द्वारा इसी रेखा का समर्थन किया गया। ऐसे अवसर १६३१ १६४४ और १६४६ में आये। साम्यवादी चीन का भारत अपने अनेक पत्रों में बारबार मैक मेहोन रेखा का ही सन्दर्भ देता रहा और १६५६ से पूर्व चीन ने इस बारे में कोई आपत्ति नहीं उठाई।

जहां तक लद्दाख की सीमा का प्रश्न है चीन और भारत के बीच किसी संधि का उल्लेख नहीं मिलता तथापि व्यावहारिक दृष्टि से जिस सीमा तक भारत और तिब्बत अपना कब्जा शताब्दियों से करते रहे हैं और जिसे भारत सदव अपने नक्शों में दिखाता रहा है वही परम्परागत सीमा-रेखा है। समय-समय पर भारत में आने वाले विभिन्न महत्वपूर्ण यात्रियों ने भी इसी सीमा का उल्लेख अपनी यात्राओं में किया है। काश्मीर की उत्तरी सीमा का वर्णन करते हुए ब्रिटिश अधिकारियों ने १८६६ में चीन को स्पष्ट लिखा था कि इसकी पूर्वी सीमा ८० अक्षांश पूर्वी देशान्तर है। इस लेख-पत्र से इस बात में संदेह की कोई गुञ्जाइश नहीं रहती है कि अक्साई चीन भारतीय सीमा के अन्तर्गत है और यह सीमा ऐतिहासिक तथा परम्परागत है। काश्मीर राज्य के माल विभाग के कागजातों से भी इस बात की पुष्टि होती है कि काश्मीर की सरकार ही अक्साई चीन के व्यापारिक मार्गों की रक्षा व मरम्मत कराती रही है।

(ख) १६४७ से १६५४ तक का भारत चीन सम्बन्ध और राजनीतिक घटना-चक्र

भारत चीन सीमा विवाद की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के क्रम में यह बात बड़ी महत्वपूर्ण है कि भारत ने स्वाधीनता प्राप्त करने के साथ-साथ उत्तराधिकार के रूप में ब्रिटिश सरकार द्वारा तिब्बत में कुछ बहिर्प्रदेशीय (Extra territorial) अधिकार प्राप्त किये थे जो निम्नलिखित हैं —

(i) "तिब्बत और ब्रिटिश भारतीय व्यापारियों के झगड़ों में बचाव पक्ष के देश की विधि लागू होती थी और उसी देश का न्यायाधीश मामले पर सुनवाई में अध्यक्षता करता था।

(ii) यदि तिब्बत में ब्रिटिश राज्य के लोगों के बीच विवाद हो तो वह विवाद ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा निर्णित होते थे।

(iii) ब्रिटिश एजेन्टों को स्वाधिकार रक्षा के लिये कुछ फौज रखने का अधिकार था।

(iv) यटुंग के मार्ग टुंप से ग्यान्टसी तक टेलीफोन और टेलीग्राफ स्थानों पर भी ब्रिटिश अधिकारियो का अधिकार था।

(v) तिब्बत में भारत सरकार के ११ विश्राम गृह थे।

७ अक्टूबर, १९५० को चीनी सेनाओं ने प्रथम बार तिब्बत में प्रवेश किया। इस पर भारत ने चीनी सरकार का ध्यान इस तरफ आकर्षित किया। वस्तुत भारत का यह कदम भारत-चीन विवाद को रोकने के लिये एक आवश्यक प्रथम कदम था लेकिन भारत की मित्रता और संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन को सदस्यता दिलाने के प्रयत्नों के प्रति पूर्ण उपेक्षा भाव दर्शाते हुए १० अक्टूबर को चीन ने अपने उत्तर में भारत के प्रति कठोर रुख अपनाया। चीन की आगामी विस्तारवादी नीति का यह एक स्पष्ट संकेत भारत की उदारवादी नीति ने सम्भवत इसे गम्भीरता से नहीं लिया। अपने पत्र में चीन ने लिखा था—"पश्चिम की साम्राज्यवादी नीति से प्रभावित भारत चीन के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का साहस न करे।"

चीन द्वारा इस प्रकार की धमकी का प्रयोग करने के उपरान्त भी भारत सरकार चीन के प्रति मैत्री व सहानुभूति पूर्ण रुख अपनाती रही। १ फरवरी १९५१ को भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के विरुद्ध पारित उस प्रस्ताव का पूरा विरोध किया जिसमें चीन को कोरिया में आक्रमणकारी घोषित किया गया था। ८ सितम्बर, १९५१ को सान फ्रांसिस्को में ४९ राष्ट्रों के साथ होने वाली जापानी संधि में भारत इसीलिये सम्मिलित नहीं हुआ कि उसमें चीन को शामिल नहीं किया गया था। तत्पश्चात १९ मई, १९५२ को कोरिया-युद्ध के समय भारत ने चीन की ओर से वकालत करते हुए युद्ध-बन्दियों के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष अपना प्रस्ताव प्रस्तुत किया जो बहुमत से पास हो गया। २९ अप्रैल १९५४ को दोनों राष्ट्रों के मध्य एक ८ वर्षीय व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत भारत द्वारा तिब्बत को प्राप्त अपने बहिर्देशीय अधिकारों (Extra territorial rights) को चीन को सौंप दिया किन्तु इस अधिकार-त्याग के बदले में उसको स्वयं को कुछ भी हासिल न हुआ। भारत ने तिब्बत में चीन की सम्प्रभुता को स्वीकार कर लिया और व्यापार की कुछ शर्तों में आपसी समझौता हुआ। दोनों राष्ट्रों के मध्य राजनीतिक सम्बन्ध मधुर व मैत्रीपूर्ण रहें—इसके लिये उनमें एक पंच सूत्रीय संधि हुई। तत्पश्चात् बांडुग नामक स्थान में अफ्रीका और एशिया के देशों का एक विशाल राजनीति सम्मेलन हुआ जिसमें इन देशों

के प्रधानमन्त्रियों अथवा शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। चीन के साथ अपने व्यवहार की सदाशयता का प्रदर्शन करते हुए भारत ने इस देश के साथ थान के सम्बन्ध को घनिष्ठ कराने में उसकी मदद की। इसके सहित दोनों राष्ट्रों के प्रधान मंत्रियों ने एक दूसरे के देशों की यात्रा करके अपने सम्बन्धों को अधिक निकटतापूर्ण बनाने का प्रयास किया था। २८ जून १९५४ को चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई ने भारत में हार्दिक सत्कार पाया और १८ अक्टूबर १९५४ को श्री नेहरू का चीन में स्वागत किया गया।

परन्तु चीन द्वारा इस प्रकार का स्वागत प्रदर्शन हार्दिक न था क्योंकि इस समय तक वह भारतीय सीमा में अपनी हरकतों की शुरूआत कर चुका था। चीन द्वारा जो नये नक्शे प्रकाशित किये गये थे उनमें भारत की ५० हजार वर्गमील सीमा चीन के अन्दर दिखाई गई थी। चीन प्रधानमन्त्री से मुला[कात] के समय जब श्री नेहरू ने इन नक्शों की बात छेड़ी तो श्री चाऊ-एन लाई ने उत्तर दिया कि ये नक्शे च्यांग-काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार के पुराने नक्शों की नकल हैं और चीन की नई सरकार को इतना समय नहीं मिला कि वह इनमें उपयुक्त संशोधन कर सके। श्री चाऊ-एन-लाई ने यह आश्वासन दिया कि भारत को इस बारे में चिन्तित होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि समय मिलने पर इन नक्शों को ठीक कर लिया जायगा। दरअसल में चीनी प्रधानमन्त्री अपनी मैत्री का स्वांग भरने में विशेष पटु थे।

सीमा विवाद का आरम्भ—१९५५ से १९६२ तक की घटनायें

अपने को ईश्वर तुल्य मानने वाले माओ का चीन भारत के प्रति कभी मैत्रीपूर्ण नहीं हो सकता था। माओ की विस्तारवादी नीति में छल कपट और हिंसा का सदैव से ही प्राधान्य रहा है और उसकी भारत के प्रति मैत्री की मंशा कभी नहीं रही थी। अमरिका जैसी महाशक्ति की प्रबल सहायता के बावजूद उसने चीन की राष्ट्रवादी सरकार का उखाड़ फेंका था। अतः यह कोई स्वाभाविक बात न थी कि माओ ने इस सफलता से प्रेरित होकर उत्तर और दक्षिण में चीनी राज्य के विस्तार की रूपरेखा तैयार की और कोरिया एवम् तिब्बत के भयंकर नर-संहार के रूप में इस नीति का कार्यान्वयन किया।

माओ की इस नीति अथवा दूसरे शब्दों में 'माओ-तन्त्र' और माओ-नीति' (Mao-archy & Mao-Policy) तथा माओ की साम्यवादी राज्य की कल्पना को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

(१) सम्पूर्ण विश्व में साम्यवादियों का राज्य कायम होकर रहेगा। इसके लिए उपयुक्त वातावरण पैदा हो चुका है।

२) राजनीतिक शक्ति और राज्य का आधार इच्छा नहीं बल्कि तलवार और बंदूक है। मानव-शक्ति संसार के आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से

भी अधिक शक्तिशाली है अर्थात् जिस देश की जितनी अधिक जनसंख्या है वह उतना ही ताकतवर है।

(३) सशस्त्र क्रान्ति के अभाव में विश्व में समाजवाद की स्थापना नहीं हो सकती। सहअस्तित्व की बात करना निरी मूर्खता है और मार्क्सवादी सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षा है।

(४) यदि तृतीय महायुद्ध हुआ तो चीनी साम्यवादियों की विजय पूर्व-निर्दिष्ट है। चीनी साम्यवादियों के सामने पश्चिम की पूंजीवादी शक्तियां निर्बल हैं।

(५) किसी देश पर कब्जा करने के लिये सबसे पहिले उसे आतंकित तथा भयाक्रान्त कर दिया जाना चाहिये। एक पग आगे बढ़ कर फिर एक पग पीछे लौट कर शांति की बातें करनी चाहियें और कथित शत्रु पर की गई इस रियायत के बल पर उससे समझौते की मनमानी शर्तें स्वीकार करवानी चाहिये।

(६) श्रमिकों और किसानों की क्रान्ति के नाम पर विस्तारवादी युद्ध मानव समाज के उद्धार के लिये "मुक्ति" का युद्ध हो।

(७) साम्यवाद के प्रसार के लिये यह एक श्रेष्ठतम नीति है कि पड़ौसी राज्य की समग्र भूमि को एक-एक करके पहिले अपने नक्शे में दिखाकर सीमा-विवाद पैदा किया जाए और इसके बाद शक्ति प्रयोग के लिये उपयुक्त वातावरण बनाया जाए।

(८) पड़ौसी राज्यों अथवा गैर-साम्यवादी राज्यों में क्रान्ति कार्य को छद्म् भेष मे भेज कर उनकी सेनाएं उद्योग केन्द्रों और उत्पादन-क्षेत्रों में उस देश के नागरिक के रूप मे भरती कर देनी चाहिये। तत्पश्चात् गुप्त रीति से क्रान्ति की तैयारी करनी चाहिये और अवसर पाते ही सेना की तोपों तथा उत्पादन को उल्टी दिशा में मोड़ देना चाहिये।

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि माओ ने भारत के प्रति इन सभी नीतियों का प्रयोग किया है। उसने "हिन्दी-चीनी भाई भाई" के आवरण के पीछे वर्षों आक्रमण की तैयारी की और तब भारत की पीठ में छुरा भोंक दिया।

भारत की सीमा में घुसपैठ

(Incurtions in the Indian territory)

पंचशील समझौते की स्याही सूखने भी नहीं पायी थी कि १७ जुलाई १९५४ को चीन ने एक विरोध पत्र भेजकर भारत पर यह आरोप लगाया कि उसकी सेनाओं ने वू जे नामक चीनी स्थान पर गैर कानूनी तरीके से अधिकार कर लिया है। जिस स्थान को चीन सरकार ने वू-जे नाम से सम्बोधित किया वह बड़ाहोती नामक चरागाह है जो उत्तर प्रदेश में बद्रीनाथ के निकट स्थित भारतीय प्रदेश है। भारत सरकार ने चीनी आरोप के प्रत्युत्तर

ने २७ अगस्त १९५४ को अपना स्पष्टीकरण दिया कि यह स्थान भारतीय प्रदेश में है और यहां भारतीय सीमा-सुरक्षा-सेना की एक चौकी है वास्तविकता यह है कि तिब्बती अधिकारी इस प्रदेश में अनाधिकृत रूप से घुसने का प्रयास करते रहे हैं जो अनाक्रमण और मैत्रीपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्त का स्पष्ट उल्लंघन है। अक्टूबर १९५४ को जब श्री नेहरू चीन गये तो उन्होंने इस विवाद को चीनी नेताओं के सामने रखना चाहा। उस समय चीन सरकार ने इसे एक सामान्य घटना कह कर टाल दिया और यह आश्वासन दिया कि भारत को इस विषय में चिन्ता करने जैसी कोई बात नहीं है।

किन्तु अप्रैल १९५५ के तुरन्त बाद चीन की हरकतें भारत के साथ भारतीय सीमा पर आरम्भ हो गईं। चीनियों ने बाड़ाहोती पर अधिकार कर लिया और अपनी एक सैन्य टुकड़ी भी वहां स्थायी रूप से कायम कर दी। अप्रैल १९५६ में चीनी सैन्य टुकड़ियों ने दमजान और उत्तर प्रदेश के निलांग प्रदेश में प्रवेश किया। १९५६ में शिपकी दर्रे (हिमाचल प्रदेश) तथा १९५७ में लाहुल क्षेत्र (नेफा) में चीनियों ने भारतीय सीमाओं का अतिक्रमण किया। जुलाई, १९५८ में उन्होंने लद्दाख के खुरनाक किले पर अपना कब्जा कर लिया। इसी वर्ष चीन ने एक भारतीय गश्ती दल को अक्साईचिन में उत्तर में बन्दी बना कर उसके साथ दुर्व्यवहार किया। इस बीच चीनियों ने अक्साईचिन के पठार में सड़क बना ली जिसका पता भारत सरकार को दो वर्ष बाद १९५८ में जाकर लगा। भारत ने जब चीन को इस बारे में विरोध पत्र दिया तब तक चीनी लद्दाख में अपनी कई सैनिक चौकियां स्थापित कर चुके थे।

इसी समय चीनियों द्वारा तिब्बत में बड़े पैमाने पर दमन चक्र चलने लगा जिससे असमान होकर ३१ मार्च, १९५९ को तिब्बत से पलायन करके वहां के दलाई लामा ने भारत में राजनीतिक शरण ली। भारत द्वारा दलाई लामा को शरण दिये जाते समय उन्हें इस बात का स्पष्ट निर्देश दे दिया गया कि वे देश में राजनीतिक कार्यवाहियों से अलग रहें। पर उन्हें शरण देने का परिणाम यह निकला कि चीन की सरकार भारत से और भी अधिक क्रुद्ध हो गई और पूर्ण चुनौती के रूप में उसने भारत सरकार को सूचित किया कि पंचशील की शर्तों का अब वह अपनी सुविधा के अनुसार निभायेगा। इसके बाद से ही तिब्बत में भारतीय व्यापारियों और तीर्थ यात्रियों के मार्ग में नाना प्रकार की बाधायें उत्पन्न की जाने लगीं और साथ ही पूर्वी तथा पश्चिमी दोनों सीमाओं पर चीन की हरकतें तेजी से शुरू हो गईं तथा उसने भारतीय सीमा के विभिन्न प्रदेशों में अपने सैनिक दस्ते भेजने और चौकियां स्थापित करने का कार्य आरम्भ कर दिया।

एक तरफ तो भारतीय सीमाओं में चीन की घुसपैठ जारी रही और दूसरी तरफ समस्याओं के समाधान के लिए दोनों देशों के प्रधानमन्त्रियों के बीच पत्र व्यवहार। पहला पत्र श्री नेहरू ने १४ दिसम्बर, १९५८ को श्री चाऊ-

एन-लाई को लिखा जिसमें उन्होंने चीनी प्रधान मंत्री को यह याद दिलाया कि जब १९५४ में वे भारत आए थे तो उनका ध्यान चीन में प्रकाशित ऐसे मान चित्रों की ओर आकर्षित किया गया था जिसमें भारत का बहुत सा प्रदेश चीन के अधिकार में दिखाया गया है। श्री नेहरू ने अपने पत्र में लिखा कि चीनी प्रधानमंत्री द्वारा यह आश्वासन दिया गया था कि ये मानचित्र राष्ट्रवादी सरकार के समय के हैं और चीन में साम्यवादी शासन को इनमें संशोधन का समय नहीं मिल सका है। श्री नेहरू ने स्मरण करवाया कि १९५६ में श्री चाऊ-एन-लाई का जब दोबारा भारत में आगमन हुआ तब उनसे जो बातचीत हुई उसका सारांश इस प्रकार था—

प्रधानमन्त्री चाऊ ने मैक-महोन रेखा के सम्बन्ध में यह कहा कि उनके विचार में ब्रिटिश साम्राज्यवादियों द्वारा स्थापित यह सीमान्त रेखा ठीक नहीं है फिर भी क्योंकि यह एक सिद्ध तथ्य (Accomplished fact) बन चुका है और चीन में तथा भारत तथा बर्मा में मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध हैं, अतः चीन सरकार की सम्मति है कि मैक-महोन रेखा को उसे स्वीकृति दे देनी चाहिए। परन्तु इस विषय में चीनियों ने अभी तक तिब्बती अधिकारियों से परामर्श नहीं किया है। उनका ऐसा करने का विचार है।"

अपने इसी पत्र में श्री नेहरू ने चाइना पिक्टोरियल में प्रकाशित एक मानचित्र का उल्लेख करते हुए बताया कि इसमें भारत व भूटान के कई प्रदेश चीन की सीमा के अन्तर्गत दिखाए गए हैं। चीनी सरकार ने इसके प्रत्युत्तर में लिखा कि "ये नक्शे पुराने नक्शों के आधार पर बने हैं और अभी चीन सरकार ने अपनी सीमा का सर्वेक्षण और सम्बद्ध देशों से परामर्श नहीं किया है और वह स्वयमेव इन सीमाओं में परिवर्तन नहीं करना चाहती।" श्री नेहरू के लिये चीनी सरकार का इस प्रकार का रवैया बहुत ही खेदजनक और आश्चर्यपूर्ण था। अतः उन्होंने लिखा कि चार वर्ष पूर्व राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य में संलग्न होने के कारण चीन को नक्शे संशोधित करने का अवकाश न मिलने की बात तो समझ में आ सकती थी परन्तु चीनी गणराज्य की स्थापना के ९ वर्ष बाद तक भ्रान्तिपूर्ण मानचित्रों का प्रकाशन बहुत परेशान करने वाला है। इन विशाल प्रदेशों से भारत का भू भाग होने में कोई सन्देह नहीं है और इस पर कोई विवाद नहीं है। मैं नहीं जानता कि इन सुप्रसिद्ध और सुनिश्चित सीमाओं को किसी प्रकार के सर्वेक्षण प्रभावित कर सकते हैं।

श्री नेहरू के उपरोक्त पत्र का प्रत्युत्तर देते हुए चीनी प्रधानमंत्री श्री चाऊ-एन-लाई ने लिखा कि 'हमारे देश में आज-कल प्रकाशित होने वाले मानचित्रों में चीनी सीमायें कई शताब्दियों से चीनी नक्शों में अंकित की जाने वाली सीमाओं के अनुसार छापी गई हैं। हमारा यह मत नहीं है कि सीमान्त-रेखा का प्रत्येक भाग पर्याप्त प्रमाणों के आधार पर खींचा गया है लेकिन सम्बद्ध देशों से परामर्श किये बिना इसमें परिवर्तन करना अनुचित होगा। इसके अतिरिक्त इससे जनता में व्यामोह अथवा भ्रम (Confusion

पैदा होगा जिससे हमारी सरकार बदनाम होगी। अपने इसी पत्र में मैक-महोन रेखा के बारे में श्री चाऊ ने यह मत प्रकट किया— 'मैक-महोन रेखा चीन के तिब्बती प्रदेश के विरुद्ध अंग्रेजों की आक्रमणकारी नीति का परिणाम था। कानूनी तौर से इसे वैध नहीं माना जा सकता। मैं आप से पहिले ही कह चुका हूँ कि चीन की केन्द्रीय सरकार ने इसे स्वीकार कभी नहीं किया।"

भारत के साथ कभी न टूटने वाली और निष्कपट दोस्ती का दम भरने वाले चाऊ-एन-लाई और चीनी प्रशासन का इस प्रकार का व्यवहार श्री नेहरू के लिए विशेष कष्टदायक और आघातिक था। २२ मार्च १९५९ को उन्होंने अपने एक पत्र में श्री चाऊ-एन-लाई के इस कथन पर आश्चर्य प्रकट किया कि चीन सरकार ने भारत व चीन की सीमान्त रेखा को कभी स्वीकार नहीं किया। श्री नेहरू ने निश्चित शब्दों में बताया कि— अधिकांश हिस्सों में इस तत्कालीन भारतीय और चीनी सरकारों के मध्य हुए समझौतों का समर्थन प्राप्त है। अपने दावे के समर्थन में श्री नेहरू ने उन विभिन्न संधियों का हवाला दिया जो ब्रिटेन और चीन के मध्य हुई थी। श्री नेहरू द्वारा चीन सरकार से यह आग्रह किया गया कि वह (चीन) पंचशील का एक प्रमुख प्रवर्तक होने के नाते सीमान्त विवाद का समाधान मैत्रीपूर्ण नीति से करे।

श्री नेहरू के मार्च १९५९ के पत्र का जवाब चाऊ-एन-लाई ने पांच महीने बाद दिया। इस बीच में तिब्बत से दलाईलामा और उनके साथी भाग कर भारत में शरण ले चुके थे। अपने ८ सितम्बर १९५९ के इस पत्र में श्री चाऊ-एन-लाई ने भारत पर आरोप लगाया कि 'वह तिब्बत में सशस्त्र विद्रोहियों को संरक्षण दे रहा है।" पत्र में चीनी प्रधानमन्त्री ने इस पुरानी लकीर को फिर से पीटा कि दोनों देशों की सीमाओं का विधि पूर्वक निर्धारण कभी हुआ ही नहीं था और चीन मैक-महोन रेखा को पूर्णतः अस्वीकार करता है। लद्दाख के सम्बन्ध में चाऊ-एन-लाई ने कहा था कि वह (चीनी सरकार) इस विवादास्पद प्रदेश में भारत के एक पक्षीय दावों को कभी स्वीकार नहीं कर सकती।" यह उल्लेखनीय है कि अपने इसी पत्र में चाऊ ने भारत के लगभग ९० हजार किलो मीटर के प्रदेश में दावा प्रस्तुत करते हुए यह निराधार आरोप लगाया कि भारतीय सेनायें इस प्रदेश में प्रविष्ट हो कर चीन की प्रादेशिक अखण्डता को चुनौती दे रही हैं।

श्री नेहरू ने चीनी दावे पर अत्यन्त आश्चर्य और दुख प्रकट करते हुए २६ सितम्बर, १९५९ को लिखा था कि—

"यह सही है कि चीन और भारत की सम्पूर्ण सीमा का विधि पूर्वक निर्धारण कभी नहीं हुआ परन्तु कुछ प्रदेश इतने दुर्गम हैं कि वहां का सीमांकन सम्भव नहीं है। लेकिन इस सम्पूर्ण प्रदेश का सीमा-निर्धारण या तो संधियों के द्वारा हुआ है या परम्पराओं के द्वारा और यह ... चीन सरकार

से ले लिया और कई दिन तक वे यह खेल खेलते रहे। इस समय तिब्बत में चीनी फौज के ११ डिवीजन भारत पर आक्रमण करने की तयारी में डटे हुए थे। सितम्बर, १९६२ में उत्तरी-पूर्वी सीमान्त में चीन की सैनिक कार्यवाही बढ़ने लगी। ८ सितम्बर को चीनी सैनिकों ने मैकमहोन रेखा को पार करके भारतीय प्रदेश का गम्भीर अतिक्रमण किया। २० सितम्बर को ढोला के निकट थागला पर्वत चोटी पर चीनियों ने भारतीय सैनिक चौकी को अपने आक्रमण का शिकार बनाया। जब भारत द्वारा चीन की इन कार्यवाहियों पर रोष व विरोध प्रकट किया गया तो चीनियों ने यह निर्लज्ज उत्तर दिया कि यह स्थान चीन की सीमा में है और चीनी सेनायें तो केवल आत्मरक्षा के लिए अपने प्रदेश में लड़ रही हैं।

चीनी आक्रमण और भारत में आपात्कालीन स्थिति की घोषणा

(Chinese Aggression and Declaration of Emergency)

अपनी पूर्ण सैनिक तैयारियों को करने के उपरान्त २० अक्टूबर, १९६२ को ठीक सुबह भारत की उत्तरी सीमा के दोनों मोर्चों पर चीन की सशस्त्र फौजों ने आकस्मिक रूप से भीषण आक्रमण कर दिया। यह आक्रमण तोपखाने हल्की तोपों और भारी मार्टरों के साथ किया गया। आक्रमण के स्थानों में भारतीय सेनाओं की संख्या अधिकतम पाँच हजार से अधिक नहीं थी जब कि चीन ने लगभग ३० हजार सैनिकों के साथ पहिले वार किया और इन सेनाओं के पीछे तिब्बत में और भी अधिक डिवीजन युद्ध में कदम को तैयार बैठे थे। एक प्रसिद्ध गुरिल्ला चीनी सेनापति जनरल चांग को हुप (Gen Chang-Kue-Hup) ने इस आक्रमण का निर्देशन किया। आक्रमण से पहिले लगभग एक महीने तक चीन भारत के विरुद्ध इतना अधिक झूठा प्रचार करता रहा कि मानो भारत ही चीन पर आक्रमण करता आ रहा है। इतना ही नहीं २० अक्टूबर को प्रातःकाल ४ बजे अपने आक्रमण से एक घंटे पहिले चीनी रेडियो ने यह घोषणा की कि भारतीय फौजें चीनी सीमा रक्षकों पर हमला कर रही हैं। लगातार एक सप्ताह तक इसी प्रकार का धुआंधार भ्रामक प्रचार होता रहा और दुनिया के लोगों को यह निश्चित रूप से पता नहीं लग पाया कि वास्तव में हमला किस ने किया है हालांकि प्रबुद्ध जनमत को इसमें कोई संशय नहीं था कि शान्तिवादी भारत आक्रमण की कभी पहल नहीं कर सकता।

आक्रमणों में जो कुछ हुआ उसे देख कर संसार के सभी लोगों का भ्रम दूर हो गया। भारतीय सेनाओं को इस आकस्मिक हमले का पूर्ण ज्ञान न था और न ही वे लड़ने के लिये तैयार थे। अतः मौके पर अल्प संख्या में जो कुछ भारतीय सैनिक टुकड़ियाँ मौजूद थीं उन्होंने ही दुश्मन का कड़ा मुकाबला किया। दूसरे व्यापकतर हमले में भारत की सेना तक को शत्रु ने आश्चर्य में डाल दिया जब यह उन रास्तों और पहाड़ियों की घाटियों में से होकर उस भारतीय प्रदेश में प्रविष्ट हुआ जिनकी ऊँचाई १४ हजार फीट से भी अधिक

है। सुनियोजित आक्रमण-योजना के अनुसार चलते हुए चीनी फौजों ने भारतीय सेना की एक बहुत बड़ी संख्या का बगल काट कर पूर्व भाग में लोहित से ८० मील दक्षिण भारत की सुरक्षा सेनाओं को खदेड़ दिया और सेला तथा बोमडिला आदि पर कब्जा करते हुए कुल मिलाकर लगभग साढ़े चौदह हजार वर्ग-मील क्षेत्र पर अपना अधिकार कर लिया। भारतीय फौजें पूरी तरह सम्भलें तब तक लद्दाख में ४० चौकियों को भारत से छीन लिया गया और चीनी सेना चुशूल की चौकी तक बढ़ गई।

देश में अकस्मात् ही उत्पन्न इस विकट परिस्थिति के कारण २६ अक्टूबर, १९६२ को भारतीय सरकार ने देश में आपत्कालीन स्थिति की घोषणा कर दी। इस घोषणा के बाद ही संसार यह भली प्रकार समझ सका कि भारत में अवश्य ही एक गम्भीर परिस्थिति उत्पन्न हो गई है। इसके पूर्व २२ अक्टूबर को प्रधानमंत्री श्री नेहरू ने राष्ट्र के नाम अपने संदेश में कहा— "आज देश एक भयानक संकट में फंस गया है। चीनियों ने हम पर आक्रमण कर हमें बहुत बड़ा धोखा दिया है। देश के हर नागरिक को इस संकट का सामना करने के लिये प्राणपण से योगदान करना होगा। ११ नवम्बर को अपने एक दूसरे संदेश में श्री नेहरू ने कहा— आज चीन से हमारा युद्ध जीवन मरण का संघर्ष है। मैं प्रतिज्ञा करता हूं कि अन्तिम विजय प्राप्त होने तक हम लड़ते रहेंगे और शत्रु-सेना को भारत की एक-एक इंच भूमि से खदेड़ कर ही दम लेंगे।"

इस युद्ध में चीनियों को जो निर्णायक विजय हुई उसके मुख्य कारण ये थे—

(१) भौगोलिक स्थिति चीन के पक्ष में थी। चीन तिब्बत के ऊंचे पठारों और पर्वतीय चोटियों से हमला कर रहे थे जबकि भारतीय सैनिकों को निचली घाटियों से हिमालय की ऊंची चोटियों पर चढ़ कर अपने मोर्चों की रक्षा का विकट कार्य करना पड़ा।

(२) चीनी सेना वर्षों से इस आक्रमण की तैयारी कर रही थी और पर्वतीय युद्ध का वह पर्याप्त प्रशिक्षण प्राप्त कर चुकी थी। इसके विपरीत भारतीय सैनिक किसी भी ऐसे आक्रमण की परिस्थिति से अनभिज्ञ थे और साथ ही मैदानी प्रदेशों से आने के कारण इतनी अधिक ऊंचाई पर लड़े जाने वाले पहाड़ी युद्ध ही के अभ्यस्त न थे।

(३) तिब्बत के समतल पठार में चीनी अपनी फौजों और युद्ध सामग्री को मैक महोन रेखा के पास तक ले गये थे। तिब्बत के सैनिक सड़कों से वहां तक उन्हें यातायात की बड़ी सुविधा थी परन्तु भारतीय फौजों का सीमान्त तक युद्ध-सामग्री और सैन्य सहायता पहुंचाने में २०० मील ऊंची दुर्गम हिमालय की पर्वत श्रेणियां पार करनी पड़ती थी। मार्ग इतना विकट था कि केवल हैलीकोप्टरों और विमानों से थोड़ा—सा सामान पहुंचाया जा सकता था।

(४) चीन के पास पहाड़ों पर लड़ने के लिये सुकृष्ट हल्के और स्वचालित शस्त्र थे। चीनी सैनिक गुरिल्ला युद्ध में भी निपुण थे जो हिमालय के दुगम क्षेत्र के लिये उपयुक्त युद्ध प्रणाली थी। इसके अतिरिक्त इन प्रदेशों में बसी मंगोल-वंशी बौद्ध-धर्मानुयायी और तिब्बतीयों से मिलती जुलती जातियों से भी उन्हें बड़ी सुविधा हुई।

चीन द्वारा एक पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा

२१ नवम्बर, १९६२ को चीन ने अकस्मात् यह घोषणा की कि अर्ध रात्रि से चीनी सेनायें गोलियाँ चलाना बन्द कर देंगी। इस समय चीनी सेनायें मैक महोन रेखा के पूर्व में सेलांग जीत कर उससे १०-१२ मील दक्षिण में दिरांग के तेल कूपों से केवल १०० मील दूरी पर थी और पश्चिमी सिरे में वे भारतीय सीमा में मैक-महोन रेखा के दक्षिण में १०० मील तक आकर आसाम के मैदान के निकट पहुँच चुकी थी तथा ब्रह्मपुत्र नदी से वे ४० मील उत्तर में थे।

चीन की युद्ध विराम की एक पक्षीय घोषणा (Unilateral Cease-fire Declaration) अत्यन्त विस्मयकारक थी तथापि इसके पीछे कुछ ठोस कारण निहित थे। प्रथम चीन द्वारा अब भारत पर आक्रमण किया गया था भारतीय सेना युद्ध के लिये कतई तैयार न थी किन्तु अब स्थिति बदल चुकी थी और चीन ने यह समझ लिया था कि भारतीय प्रदेश में आगे बढ़कर युद्ध करना घातक हो सकता है। दूसरे, भारत को अमेरिका ग्रेट ब्रिटेन और अन्य पश्चिम देशों से तेजी से भारी मात्रा में सैनिक सहायता उपलब्ध होने लगी थी। इन आधुनिकतम अस्त्रास्त्रों का मुकाबला करना चीन के लिये अवश्य ही महंगा पड़ता। तीसरे, आक्रमण करते समय चीन ने यह सोचा था कि भारतीय जनता विभक्त होकर भारतीय शासन के विरुद्ध विद्रोह कर देगी। भारत स्थित चीनी एजेन्टों ने अपनी सरकार को यह खबर दी थी कि चीन आक्रमण पर भारत में गृह युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाएगी। किन्तु इस संकट काल में भारतीय जनता ने जिस एकता का प्रदर्शन किया उससे चीनी शासकों ने समझ लिया कि आगे बढ़ने पर उन्हें भारतीय जनता का ऐसा कोई स्वागत नहीं मिल सकेगा जिसकी कि उन्हें कल्पना थी। चौथे भारत पर चीन आक्रमण से विश्व का जनमत तेजी से चीन-विरोधी होता जा रहा था और स्वयं उसका बिरादरी भाई रूस उससे नाराज था। इस बात के स्पष्ट प्रमाण हैं कि मास्को ने आक्रमण रोकने के लिये चीन पर प्रभावपूर्ण राजनीतिक दबाव डाला और विभिन्न कमजोरियों के कारण चीन के लिये यह मुश्किल था कि वह मास्को के दबाव की उपेक्षा कर देता। पांचवें अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की आधुनिक परिस्थितियों में चीन का उद्देश्य भारत पर विजय पाना तो हो ही नहीं सकता था उसका उद्देश्य तो एशिया में अपनी सैनिक शक्ति की धाक जमाना था और अपने आकस्मिक आक्रमण से भारतीय सेना को पराजित कर अपनी सैनिक श्रेष्ठता व नेतृत्व को सिद्ध करना था। उपरोक्त

चीन आकस्मिक और विशाल पैमाने पर आक्रमण के द्वारा

उद्देश्य को प्राप्त कर चुका तो उसे अब लड़ाई करने से कोई लाभ न था। और इसीलिये अपने एक-पक्षीय युद्ध विराम की घोषणा करके अपनी शांतिप्रियता का कपटपूर्ण खेल खेलना उचित समझा।

युद्ध विराम की अपनी एक-पक्षीय घोषणा के साथ शान्तिपूर्ण चर्चाओं का प्रदर्शन प्रारम्भ करने के लिये चीन ने अपनी ही ओर से एक त्रि-सूत्रीय योजना भी घोषित की—

(१) चीनी सेनायें ७ नवम्बर १९५९ की 'वास्तविक नियंत्रण रेखा" (Actual Line of Control) से २० किलो मीटर अपनी ओर हट जाएगी। सेना का हटना एक दिसम्बर से प्रारम्भ होगा।

(२) चीन सेनाओं के हटने से जो क्षेत्र खाली होगा उसमें चीनी सरकार अपनी असैनिक चौकियां कायम करेगी। इन चौकियों की स्थिति का पता भारत सरकार को उसके दूतावास द्वारा दिया जाएगा।

चीन की ओर से भारत सरकार को इन शर्तों को मान लेने के लिये कहा गया अर्थात दूसरे शब्दों में भारत को कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को भी ७ नवम्बर १९५९ की रेखा से २० किलो मीटर अपने ही क्षेत्र में और हटा ले।

भारत में युद्ध विराम की प्रतिक्रिया

भारत यद्यपि युद्ध तो नहीं चाहता था परन्तु चीन द्वारा घोषित योजना से उसके सामने एक कठिन समस्या उत्पन्न हो गई। युद्ध विराम की यह योजना चाउ की २४ अक्टूबर १९६२ की घोषणा की ही केवल एक प्रकार की पुनरावृत्ति थी। भारत के सामने समस्या यह थी कि यदि वह चीन की शर्तों को मान लेता है तो आक्रमक के सामने झुकना होगा और यदि नहीं मानता तो आगे होने वाली घटनाओं के लिये संसार भारत को ही उत्तरदायी समझेगा। अत: सबसे उपयुक्त मार्ग भारत को यही लगा कि उसने स्वीकारोक्ति के बिना ही व्यावहारिक रूप से केवल युद्ध विराम की घोषणा को मान लिया और उपयुक्त त्रि-सूत्रीय योजना को अपनी घोषणा द्वारा अस्वीकृत कर दिया। श्री नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में घोषित किया कि जब तक चीन सेनायें ८ सितम्बर, १९६२ की स्थिति तक नहीं लौट जातीं तब तक दोनों देशों के मध्य किसी प्रकार की वार्ता सम्भव नहीं है। ८ सितम्बर १९६२ की यह रेखा वह है जिसके उत्तर में चीनी आक्रमण की सेनायें आक्रमण से पहिले स्थित थीं।

इस सम्बन्ध में यह मार्के की बात है कि भारत और चीन दोनों सरकारों की घोषणाओं को एक साथ पढ़ने के बाद वास्तविक तथ्य से अनभिज्ञ प्रत्येक व्यक्ति इस उलझन में पड़ जाएगा कि चीन ने तो ३ वर्ष पहिले की स्थिति में जाना स्वीकार किया लेकिन भारत ने उसे इन्कार कर चीनी आक्रमण की केवल ढाई माह पूर्व की रेखा पर रहने की ही मांग की।

परन्तु इसमें चाला देने वाली बात यह है कि चीन द्वारा बताये गये ७ नवम्बर, १९५९ की वास्तविक नियन्त्रण रेखा तक आक्रमण के बाद भी चीनी सेनायें नहीं पहुंच पाई थीं और जिस स्थान से किलो मीटर वापसी का तात्पर्य था। उसकी सेनाओं को पश्चिमी क्षेत्र में जहां की तहां बनी रहना था [illegible] पूर्वी क्षेत्र में अवश्य उन्हें कुछ हटना था। श्री नेहरू ने चीन को लिखे पत्र १ दिसम्बर, १९६२ के अपने पत्र में इस स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा—

"जिसे आप ७ नवम्बर १९५९ की वास्तविक नियन्त्रण-रेखा कहते हैं वह अलग-अलग चौकियों का सिलसिला था। आप जानते ही हैं कि नवम्बर १९५९ में किजिल जिलगा, शिनजुंग, देहरा, समगुरुमिजा अथवा इन ठिकानों के पश्चिमी क्षेत्रों में किसी तरह की चीनी-चौकियां न थीं और न स्पांगुर के दक्षिण या पश्चिम में चीनियों की किसी तरह की चौकियां हैं। इसके बावजूद आपकी सरकार का दावा है कि लद्दाख में ७ नवम्बर १९५९ की वास्तविक-नियन्त्रण-रेखा उस नियन्त्रण-रेखा के साथ है जिसे आपकी सेनाओं ने २ अक्टूबर को जारी हमले के बाद कायम किया है। यह प्रारम्भिक युद्ध-विराम की आड़ में उस इलाके पर चीन का भौतिक अधिकार रखने का निश्चित प्रयत्न है, जिस पर चीन का दावा रहा है और जिसको प्राप्त करने के लिए आपकी सेनाओं ने २० अक्टूबर १९६२ में बड़े पैमाने पर हमला किया। हम इसे नहीं मान सकते।"

अपने इसी पत्र में श्री नेहरू ने मध्य और पूर्वीय क्षेत्रों का भी उल्लेख किया। श्री नेहरू ने लिखा कि वहां भी स्थिति ८ सितम्बर, १९६२ के बाद बदली है अतः अन्तिम वार्ता शुरू करने से पहिले चीन को ८ सितम्बर १९६२ की स्थिति वापिस ले आनी चाहिए।

भारत के संकट के समय विभिन्न राष्ट्रों का रुख

चीनी आक्रमण के सन्दर्भ में एक विहङ्गम दृष्टि उन व्यवहारों पर डाल लेना अप्रासङ्गिक न होगा जो विभिन्न राष्ट्रों ने भारत के प्रति उसके संकट काल में प्रदर्शित किए। पश्चिम से भारत के आधारभूत मतभेद स्वाधीनता के बाद से ही चले आ रहे थे लेकिन चीन के आक्रमण पर भारत सरकार की प्रार्थना के अनुसार में अमेरिका, ब्रिटेन और उसके तुरन्त बाद फ्रांस पश्चिमी जर्मनी, आस्ट्रेलिया और कनाडा ने द्रुत गति से भारत को प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी। इन देशों द्वारा भेजे गये अस्त्रास्त्र ठीक समय पर भारत पहुंचे और भारतीय सैनिकों को जो अब तक पुराने अस्त्रों [illegible] ही लड़ रहे थे तुरन्त नये अस्त्रों से सुसज्जित किया जा सका। इन्हीं दिनों अमेरिकन सेना के उच्च अधिकारी और ब्रिटेन के राष्ट्र मण्डलीय मन्त्री भी भारत पहुंचे। उन्होंने भारत का भ्रमण करके कई दिनों तक सैनिक दृष्टि से वस्तु-स्थिति की जांच की और भारतीय सैनिक आवश्यकताओं का अध्ययन किया। बाद में अमेरिका और राष्ट्र मण्डलीय देशों ने अपने सैनिक विशेषज्ञों को भेजकर भारत को हवाई व सैनिक सहायता देने के लिए एक विस्तृत प्रतिवेदन तैयार किया जिसके फलस्वरूप भारत को भारी मात्रा में सैनिक सामग्री मिलने लगी।

भारत के इस भयानक सङ्कट काल में पाकिस्तान ने भारत के प्रति जन्मजात वैमनस्य पूरी तरह निभाया। चीन के आक्रमण से पाकिस्तान को मुंह मांगी मुराद मिली परन्तु जब भारत को पश्चिमी मित्रों द्वारा तत्कालीन वृहद् सैन्य सहायता मिलने लगी तो उसकी पीठ में सांप लोट गया। पाकिस्तान ने अपने पड़ोसी देश पर आई हुई विपत्ति में उसके प्रति सहानुभूति दिखाने की अपेक्षा उल्टे इस बात का प्रचार करना शुरू किया कि चीन ने भारत पर किसी प्रकार का सैनिक आक्रमण नहीं किया है बल्कि यह तो एक सामान्य सीमा-सङ्घर्ष की घटना है जिसे लेकर भारत ने तिल का ताड़ बना दिया है। पाकिस्तान के समाचार-साधारण मन्त्री श्री चौधरी ने दिसम्बर २ को यह प्रलाप किया कि भारतीय सरकार चीन के साथ अपने सीमा-सङ्घर्ष को बढ़ा चढ़ा कर इसलिए प्रस्तुत कर रही है कि जिससे उसके पास अस्त्र शस्त्रों का जखीरा जमा हो सके। यह सङ्घर्ष वास्तव में एक सामान्य स्थानीय मामले के अतिरिक्त कुछ नहीं है। २१ नवम्बर १९६२ को पाकिस्तानी राष्ट्रपति अयूब ने अपने पश्चिमी मित्रों को चेतावनी दी कि यदि नाटो और सीटो का पाकिस्तान के लिए कोई महत्त्व सिद्ध नहीं हुआ तो वह उनसे अलग हट जाएगा। इसके बाद अयूब ने यह सुझाया कि यही समय है जब अमेरिका और ब्रिटेन काश्मीर के प्रश्न पर भारत को झुकने के लिए बाध्य कर सकते हैं। पाकिस्तान ने इस बात का भी प्रचार किया कि जो सङ्कटकालीन सैनिक सहायता भारत पश्चिम से ले रहा है उसका प्रयोग वह पाकिस्तान के विरुद्ध करना चाहता है। पाकिस्तानी अधिकारियों ने कहा कि चीन के साथ सीमा-विवाद तो एक बहाना है जिसके आधार पर भारत सैनिक सहायता प्राप्त करने का षड्यन्त्र रच रहा है।

चीनी आक्रमण पर रूस की प्रतिक्रिया प्रारम्भ में तो अवश्य निराशाजनक रही लेकिन बाद की घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि उसका रुख भारत के पक्ष में है। २५ अक्टूबर १९६२ के प्रावदा के सम्पादकीय लेख में खुले रूप से चीन की २४ अक्टूबर वाली शर्तों का समर्थन किया गया लेकिन वस्तु स्थिति को समझते ही ५ नवम्बर से ही वह अपनी तटस्थता की नीति पर आ गया हालांकि उसने पूर्व निश्चय के अनुसार भारत को दिये जाने वाले २२ मिग विमानों का निर्यात अवश्य स्थगित कर दिया। रूस ने चीन को अपना भाई और भारत को अपना मित्र कहा जिससे भी भारत में रूस के प्रति भ्रांति फैली। लेकिन श्री नेहरू को रूस के व्यवहार से कोई निराशा नहीं हुई क्योंकि उनको विश्वास था कि कुछ आवश्यक अड़चनों के कारण रूस के रुख में भारत के प्रति अनुदारवादी प्रवृत्ति चाहे भले ही आ गई हो पर अन्ततोगत्वा रूस भारत के विपक्ष में नहीं जाएगा और वास्तव में हुआ भी यही। भारत पर आक्रमण के प्रश्न को लेकर रूस और चीन के बीच सैद्धान्तिक प्रश्न की खाई अधिक चौड़ी हो गई और क्यूबा की समस्या का समाधान होते ही रूस ने चीन के प्रति कठोर रुख अपनाया। रूस ने निश्चित रूप से चीन पर यह दबाव डाला कि उसे भारत के साथ सङ्घर्ष में विमुख हो जाना चाहिए और इसमें कोई सन्देह नहीं कि चीन द्वारा एक पक्षीय युद्ध विराम-घोषणा करने के पीछे रूस की बढ़ती हुई नाराजगी का भय

निहित था। बाद में बर्लिन के कम्युनिस्ट सम्मेलन में तो चीन के विरुद्ध रूस का शाब्दिक ज्वालामुखी फूट पड़ा और पीकिंग के आक्रमण की तीव्र निन्दा की गई।

भारत पर हुए इस आक्रमण की तटस्थ राष्ट्रों पर जो प्रतिक्रिया हुई वह बहुत ही निराशाजनक रही। निश्चय ही भारत को तटस्थ देशों से वह समर्थन और सहयोग नहीं मिला जिसकी इस संकट काल में उनसे आशा की जाती थी। प्रथम कई हफ्तों तक तो तटस्थ राष्ट्र मौन ही रहे और मलाया तथा साइप्रस को छोड़कर किसी ने भी स्पष्ट रूप से चीनी आक्रमण की निन्दा नहीं की। घाना के राष्ट्रपति श्री नक्रूमा ने तो इसे एक सामान्य घटना बताया और भारत को शस्त्र सहायता देने के लिए ब्रिटेन से विरोध प्रकट किया। श्री टीटो और नासिर भी लगभग चुप ही रहे। तटस्थ नीति की वस्तुतः यह एक बड़ी विडम्बना थी कि एक स्वतन्त्र और तटस्थ राष्ट्र की आक्रमण से रक्षा करने के लिए अन्त में वे राष्ट्र सामने आये जिन पर विश्व को दो गुटों में बाँट देने का आरोप लगाया जाता है। एक विचित्र बात थी कि एक तटस्थ राष्ट्र पर जब खुला आक्रमण हुआ तो यह दूसरे तटस्थ राष्ट्र आक्रमणकारी की शक्ति से भय खाकर चुपचाप एक दूसरे का मुख देखते रहे।

बाद में कुछ तटस्थ राष्ट्रों ने दोनों देशों के बीच समझौते के लिए वार्ता का उपयुक्त आधार ढूँढने की चेष्टा की। इस प्रयत्न में श्री लंका, बर्मा, कम्बोडिया, इण्डोनेशिया, मिस्र और घाना—इन ६ राष्ट्रों ने संयुक्त रूप से भारत और चीन के बीच वार्ता कराने के लिए एक छः-सूत्रीय सुझाव रखा।

कोलम्बो-प्रस्ताव
(Colombo Proposals)

१० और ११ दिसम्बर १९६२ को उपर्युक्त ६ देशों के प्रतिनिधियों ने कोलम्बो में श्री लंका की प्रधानमन्त्री श्रीमती भण्डारनायके की अध्यक्षता में एक सम्मेलन किया ताकि भारत-चीन सीमा-विवाद का हल खोजा जा सके। इस कोलम्बो-सम्मेलन के प्रारम्भ होने से पूर्व चीन ने पुनः धमकी भरा भारत-विरोधी प्रचार किया ताकि सम्मेलन के समस्त राष्ट्रों को धमका कर वह उन्हें भारत की न्यायोचित माँग का समर्थन करने से रोक सके। अपने इस प्रयास में कुछ हद तक वह सफल सी रहा और तटस्थ राष्ट्रों का सम्मेलन बिना कोई निर्णय किये अनिश्चितता के वातावरण में समाप्त हो गया। सम्मेलन से एक दिन पहिले साम्यवादी चीन ने भारत को एक धमकी भरा पत्र भेजा जिसमें उससे निम्नलिखित बातों का 'हाँ' या 'ना' में उत्तर देने के लिए कहा गया—

१. भारत युद्ध विराम का प्रस्ताव स्वीकार करता है या नहीं।

२. भारत को चीन का यह प्रस्ताव स्वीकार है अथवा नहीं कि दोनों

देशों की सेनायें ७ नवंबर, १९५९ की नियन्त्रण रेखा से २० किलो मीटर पीछे हट जाए

३ भारत चीन की यह मांग स्वीकार करता है या नहीं कि दोनों देशों के अधिकारी परस्पर मिलकर सेनाओं की वापसी और विसैन्यीकृत क्षेत्र की स्थापना के बारे में विचार विमर्श करें।

चीन की इस प्रकार की धमकी देना व्यर्थ गया क्योंकि श्री नेहरू ने इस बात को स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि भारत ने एक पक्षीय युद्ध विराम स्वीकार नहीं किया है, तथा उसने अपनी ओर से उसे भङ्ग करने के बारे में कुछ नहीं किया है। श्री नेहरू ने यह भी कहा कि दूसरे प्रश्नों का उत्तर देने का सवाल तब तक नहीं उठता जब तक कि चीन ८ सितंबर १९६२ को किये गये अपने आक्रमण को समाप्त नहीं कर देता और इस समय से पहले की स्थिति पर नहीं लौट जाता।

कोलंबो में यह ६ राष्ट्रों का जो सम्मेलन हुआ उसने न तो स्पष्ट निर्णय ही लिया और न ही भारत पर आक्रमण करने के लिए चीन की कोई निन्दा ही की। हां यह अवश्य निश्चय किया गया कि कोलम्बो सम्मेलन के प्रतिनिधि भारत व चीन जाकर अपने प्रस्ताव पेश करें तथा सङ्घर्ष को समाप्त करने का प्रयत्न करें। सम्मेलन ने अपने प्रस्तावों को उस समय तक प्रकट न करने का निर्णय किया जब तक कि उस पर दोनों पक्षों की प्रतिक्रिया उन्हें मालूम न हो जाए।

सम्मेलन में किये गये निश्चय के अनुसार श्री लङ्का की प्रधानमंत्रिणी श्रीमती भण्डारनायके ने स्वयं चीन और फिर भारत का दौरा किया। तत्पश्चात १९ जनवरी १९६३ को कोलम्बो प्रस्ताव प्रकाशित कर दिये गये। यह उल्लेखनीय है कि सम्मेलन ने इस बात को स्पष्ट कर दिया था कि उसके प्रस्तावों के बारे में भारत और चीन की सरकारों से प्राप्त निश्चयात्मक उत्तरों से अन्तिम रूप से सीमा-निर्धारण के सम्बन्ध में दोनों देशों के दावों पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा। कोलम्बो सम्मेलन के जो प्रस्ताव प्रकाशित हुए वे संक्षेप में इस प्रकार थे—

१ "सम्मेलन इस बात को अनुभव करता है कि वर्तमान तथ्यतः युद्धविराम का समय भारत चीन विवाद को शान्तिपूर्ण ढङ्ग से हल करने के लिए सबसे उपयुक्त है

२ (क) भारत-चीन सीमा के पश्चिमी क्षेत्रों के सम्बन्ध में सम्मेलन ने चीन सरकार से अपील की है कि वह उस क्षेत्र में अपनी सैनिक चौकियों को २० किलोमीटर पीछे हटा ले जैसा कि चीन के प्रधानमन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई ने पत्र २१ और २८ नवम्बर को भारत के प्रधानमन्त्री श्री नेहरू के पास भेजे गए अपने पत्र में प्रस्ताव किया

२ (ख) सम्मेलन भारत सरकार से यह अपील करता है कि वह अपनी वर्तमान सैनिक स्थिति को कायम रखे

२ (ख) सीमा–विवाद का अन्तिम हल होने तक चीनी सैनिकों द्वारा खाली किया गया क्षेत्र असैनिक क्षेत्र हो और उसकी निगरानी असैनिक चौकियों द्वारा (दोनों पक्षों द्वारा नियुक्त) की जाएगी किन्तु इससे उस क्षेत्र में भारत और चीन दोनों का पहले की मौजूदगी का दावा खत्म नहीं होगा

३ पूर्वीय 'नेफा' क्षेत्र के सम्बन्ध में सम्मेलन का विचार है कि उस क्षेत्र में दोनों सरकारों द्वारा मान्य वास्तविक नियन्त्रण रेखा पर युद्धविराम रेखा का कार्य कर सकती है। उधर से शेष क्षेत्रों के बारे में दोनों देश अपनी भविष्य में होने वाली बातचीत में निर्णय कर सकते हैं।

४ मध्यवर्ती क्षेत्र की समस्याओं के बारे में सम्मेलन का सुझाव है कि उसका हल सैन्य बल का आश्रय लिए बिना ही शांतिपूर्ण तरीकों से हो जाएगा

५ सम्मेलन का विश्वास है कि इन प्रस्तावों के क्रियान्वित होने से दोनों देशों के प्रतिनिधियों के बीच युद्ध–विराम की स्थिति में समस्याओं को सुलझाने की दृष्टि से वार्ता के लिए मार्ग प्रशस्त होगा

६ सम्मेलन का यह भी विश्वास है कि ये प्रस्ताव युद्ध विराम की स्थिति को दृढ़ करने में भी सहायक होंगे

कोलम्बो प्रस्तावों के मूल में यह उद्देश्य निहित था कि भारत और चीन के मध्य स्थित पूर्ण गतिरोध की अवस्था को समाप्त करके ऐसा वातावरण प्रस्तुत कर दिया जाय जिससे दोनों राष्ट्र अपने सीमा-विवादों का समाधान करने के लिए वार्तालाप प्रारम्भ करने की दिशा में अग्रसर हों।

कोलम्बो-सम्मेलन में भाग लेने वाले प्रतिनिधियों ने कोलम्बो प्रस्तावों को पारित करने के उपरान्त श्रीमती भंडारनायके से अनुरोध किया कि वह इन प्रस्तावों को दोनों राष्ट्रों की सरकारों के सामने स्वयं उपस्थित करें ताकि आवश्यक स्पष्टीकरण मौके पर ही दिया जाकर दोनों सरकारों को इस बात के लिए सहमत किया जा सके कि वे पारस्परिक समस्याओं का शांतिपूर्ण समाधान करने के लिए प्रस्तावों को मानने हेतु उद्यत हैं।

उपरोक्त निश्चय के अनुसार श्रीमती भंडारनायके ने पहिले चीन का और फिर भारत का दौरा किया। [illegible] दिसम्बर, १९६२ से ८ जनवरी १९६३ तक चीन में रहने के पश्चात् उन्हें यह आश्वासन मिला कि चीन की सरकार कोलम्बो प्रस्तावों को सहर्ष स्वीकार कर लेगी। भारत को प्रस्तावों के प्रति पहले से ही कोई आपत्ति न थी। केवल कुछ स्पष्टीकरण अवश्य मांगे गये जिनसे यह स्पष्ट हो गया कि पूर्वी क्षेत्र में भारतीय सेना मैकमहोन लाइन तक जा सकेगी (केवल उन स्थानों को छोड़ कर जिनके बारे में मत-भेद है)। चीनी सेना भी अपने पूर्व स्थानों तक जा सकेगी किन्तु विवाद-ग्रस्त स्थलों से उसे भी दूर ही रहना होगा। इन स्पष्टीकरणों को

प्राप्त करने के बाद भारत सरकार द्वारा प्रस्तावों के प्रति विधिवत् सहमति प्रदान कर दी गई परन्तु चीन की तरफ से प्रस्तावों के साथ कुछ ऐसी शर्तें जोड़ दी गईं जिनसे यह प्रस्ताव व्यवहारतः महत्वहीन हो गये और चीन की अपरोक्ष अस्वीकृति स्पष्ट हो गई। चीन की शर्तों से यह पता चल गया कि वह कोलम्बो प्रस्तावों के चौथे और पाँचवें प्रस्ताव के प्रति पूर्णतः प्रतिकूल है और प्रस्ताव संख्या १, २ (अ ब स) व ३ के प्रति आंशिक रूप में अनुकूल है।

तटस्थ देशों ने चीन की सरकार से बारम्बार अनुरोध किया कि वह कोलम्बो प्रस्ताव स्वीकार करके भारत के साथ अपने विवादों को हल करने का प्रयास करे, लेकिन चीन द्वारा प्रस्तावों को अभी तक पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया गया है और इसीलिए दोनों राष्ट्रों के मध्य गतिरोध की अवस्था पूर्ववत् विद्यमान है।

चीन भारत के साथ शांतिपूर्ण ढंग से अपनी समस्याओं का समाधान करने के लिए तैयार नहीं है—इसका स्पष्ट आभास उसके द्वारा की जाने वाली उन कार्यवाहियों से मिलता है जो युद्ध-विराम के उपरान्त भी वह आज तक करता रहा है। १९६३ के अन्त और १९६४ के आरम्भ में चीनी प्रधान मन्त्री श्री चाऊ-एन-लाई ने अफ्रीकी और एशियाई देशों का दौरा किया। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्होंने अपने कूटनीतिक भाषणों से कुछ इस प्रकार का संकेत दिया कि मानो चीन भारत के साथ अपने सम्बन्ध सुधारने को उत्सुक है। लेकिन अपनी पाकिस्तान यात्रा के दौरान दिये गए भाषणों से चीनी प्रधान मन्त्री ने यह अर्द्ध-सत्य प्रमाणित कर दिया कि चीनी नेता भारत-विरोध के कारण अन्धे हो चुके हैं। पाक-राष्ट्रपति अय्यूब खाँ के साथ प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में चाऊ-एन लाई ने पाकिस्तान की इस माँग का समर्थन किया कि काश्मीर में जनमत संग्रह की व्यवस्था होना चाहिए। इतना ही नहीं ढाका के प्रेस-सम्मेलन में चीनी प्रधान मन्त्री ने पाकिस्तान की सेंटो और सीटो की सदस्यता का भी समर्थन किया और कहा कि चीन पाकिस्तान के इस कथन को सही मानता है कि उसने इन संगठनों की सदस्यता आत्मरक्षा के लिए स्वीकार की है। साम्राज्यवादी सैनिक संगठनों का इससे अधिक निलज्ज समर्थन सम्भवतः अन्यत्र नहीं मिल सकता।

पाकिस्तान की यात्रा के उपरान्त श्री चाऊ ने लंका की यात्रा की। वहां गिरगिट की तरह रंग बदलते हुए २६ फरवरी १९६४ को अपने एक सार्वजनिक भाषण में उन्होंने घोषणा की कि 'भारत और चीन की मैत्री-परम्परायें बहुत प्राचीन हैं और चीन इन परम्पराओं को पुनर्स्थापित करने के लिए फिर से प्रयास करेगा।' इसी दिन श्रीमती भण्डारनायके के साथ चाऊ ने एक संयुक्त-विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये जिसमें कहा गया कि चीन कोलम्बो प्रस्तावों के आधार पर भारत से बातचीत करने के लिए तैयार है। लेकिन चीनी नेता का यह लिखना और बोलना एक निरा ढोंग था

क्योंकि जहाँ वह लंका में भारत के साथ चीन की परम्परागत मैत्री की दुहाई दे रहे थे वहाँ उनके देशवासी लद्दाख में उनके (चीनियों के) द्वारा बनाई हुई नियन्त्रण की वास्तविक रेखा पर पत्थरों का ढेर लगा रहे थे। भारत सरकार ने २४ फरवरी १९६४ को एक विरोध पत्र में चीन की सरकार का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि चीन की यह कार्यवाही अवैध होने के साथ-साथ कोलम्बो प्रस्तावों के भी प्रतिकूल है।

चीन की भारत के प्रति शत्रुता का एक और निर्विवाद प्रमाण सितम्बर १९६५ में भारत पाक संघर्ष के दौरान मिला। इस समय पाकिस्तान को अपना समर्थन देने व भारत को धमका कर पाकिस्तान के प्रति युद्ध करने से उसे विमुख करने के उद्देश्य से चीन ने भारतीय सेना पर आक्रमण की चेतावनी दी। यद्यपि इस चेतावनी को कार्यरूप में परिणत करने का साहस चीन ने नहीं किया तथापि उसकी धमकी इस बात की परिचायक थी कि चीन भारत के साथ शांतिपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने को इच्छुक नहीं है और भारत के विरुद्ध अपने आक्रमक उद्देश्यों को पूरा करने के लिए केवल उचित अवसर की प्रतीक्षा में है। चीन के इस नापाक इरादे का जीता जागता प्रमाण सितम्बर-अक्टूबर १९६७ में पुनः मिला। ११ सितम्बर १९६७ को चीनी सैनिकों ने पहले तो भारतीय जवानों को अपने साथ बात चीत में उलझा लिया और तब ही अचानक ही उन पर आक्रमण कर दिया। यह घटना नाथू-ला (Natho-La) में हुई। यद्यपि आकस्मिक आक्रमण से प्रारम्भिक लाभ चीनियों को अवश्य हो गया लेकिन भारतीय सेना द्वारा की कारगर जवाबी कार्यवाही की गई उसमें चीनियों को अपेक्षाकृत अधिक नुकसान उठाना पड़ा और भारतीय सेनाओं द्वारा नियन्त्रित प्रदेश में आगे बढ़ने के उनके मन्सूबे मिट्टी में मिल गये। नाथू-ला कांड की स्मृति धूमिल हो भी न पाई थी कि १ अक्टूबर को चीनियों ने चोला (Chola) की भारतीय चौकी पर आकस्मिक हमला कर दिया। परन्तु यहाँ भी भारी क्षति उठाकर उन्हें अपने नापाक इरादों से हाथ धोना पड़ा।

नाथूला और चोला की इन नवीन घटनाओं ने इस बात को पूरी तरह स्पष्ट कर दिया है कि भारत को चीन की तरफ से प्रतिक्षण सजग रहना चाहिए। राजनीतिक पर्यवेक्षकों का कहना है कि ना-थूला और चो-ला के हमलों के पीछे चीन की सुनियोजित विशाल आक्रमण की मंशा चाहे न रही हो लेकिन इसमें उसके तीन उद्देश्य निश्चित रूप से निहित थे—प्रथम चीनी सेना का उद्देश्य दर्रे पर अधिकार करके भारतीय सेनाओं को अपेक्षाकृत निचली भूमि पर खदेड़ देना था ताकि सामरिक दृष्टि से चीनियों की स्थिति उस क्षेत्र में अधिक सुदृढ़ हो जाये। द्वितीय चीन सिक्किम और भूटान में यह भ्रांति पैदा करना चाहता था कि भारतीय सेनायें उनकी रक्षा करने में सक्षम नहीं हैं अतः उन्हें चीन के संरक्षण में चले जाना चाहिए। तृतीय चीन के नवीन शासक भारत के आसाम और बंगाल के सामरिक क्षेत्रों में रहने वाले 'चीन-भक्तों' और नागा मिजो-विद्रोहियों को इस बात के लिये प्रोत्साहित करना चाहते थे कि वन्हें भारत-विरोधी कार्यवाहियों में किसी प्रकार की ढील

नहीं आने देनी चाहिए। सौभाग्यवश चीन के प्रथम दो उद्देश्य पूर्णतः विफल हो गये और तृतीय उद्देश्य के पूरे होने की कोई आशा नहीं की जा सकती क्योंकि भारत की वर्तमान सरकार देशद्रोहियों को क्षमा करने की मनःस्थिति में नहीं है।

अन्त में वर्तमान परिस्थितियों में भारत के लिये यह सर्वथा वांछनीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति-निर्मित चीन-पाक-धुरी (China Pak Axis) के कारण वह अपनी-सीमाओं की रक्षा के लिये अनिवार्य जागरूक रहे और *इस वस्तु-सत्य को विस्मृत न होने दे कि शक्ति से ही शांति प्रतिष्ठित होती है।* पुनश्च स्वतन्त्र संसार के लिए सबसे अधिक महत्व इस बात का है कि चीन के विस्तारवाद को रोकने के लिए साम का काम करे। कम्युनिज्म अन्दर से भी और बाहर से भी भारत के लिए एक खतरा है पर कम्युनिस्ट यदि भारत पर आधिपत्य जमाने की कोशिश करेंगे तो यह वीएतनाम में सीमित लड़ाई जैसी घटना नहीं होगी। आकार और संसार में अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण भारत में इस तरह के प्रयत्न का अन्य देशों पर भी असर पड़ेगा और वे भी चकित हो उठेंगे।

भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका

(India and the United States of America)

१८ दिसम्बर १९५६ को वाशिंगटन में अपने एक टेलीविजन भाषण में स्वर्गीय श्री नेहरू ने कहा था—

"भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ भारत द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति करने के पूर्व से ही सहयोग और मित्रतापूर्ण सम्बन्ध विद्यमान रहे हैं। कोई भी भारतीय इस बात को नहीं भूल सकता कि हमें स्वतन्त्रता संघर्ष के दिनों में आपके देश से सहयोग और समर्थन प्राप्त हुआ था। हमारे दोनों गणतन्त्र (अमेरिका और भारत) प्रजातान्त्रिक संस्थाओं और प्रजातान्त्रिक जीवन पद्धति के प्रति समान विश्वास रखते हैं और शांति और स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए वचनबद्ध हैं। ऐसी स्थिति में इन दो देशों के बीच मित्रता और पारस्परिक सहयोग नितान्त स्वाभाविक है।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही अनेक मतभेदों के बावजूद भारत और अमेरिका में मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास होता रहा और यह क्रम आज भी जारी है। अपनी आजादी के विगत २० वर्षों के इतिहास में इन दोनों राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्ध तनाव और मित्रता की एक विचित्र कहानी रहे हैं। विश्व के अनेक महत्वपूर्ण मामलों में भारत ने अमेरिकन नीति की कटु आलोचना की है तो कतिपय मामलों में उसको अपना समर्थन भी दिया है। भारत की तटस्थता की नीति को समझने में भ्रांति का शिकार होने के कारण और सैनिक गठबन्धनों से हर कीमत पर साम्यवाद के विरोध की नीति पर चलने के कारण जहाँ एक ओर अमेरिका ने भारत के हितों को नुकसान पहुँचाया है वहाँ दूसरी ओर उसने विशाल आर्थिक सहायता

के द्वारा और चीनी आक्रमण के समय अविलम्ब बिना शर्त सैनिक सहायता देकर भारत के प्रति अपनी मैत्री और सहानुभूति का परिचय भी दिया है। दोनों महान् राष्ट्रों के मतभेदों और मैत्रीपूर्ण व्यवहारों का विगत २० वर्षीय इतिहास वस्तुतः बड़ा रोचक है।

अमेरिका और भारत के मतभेद

दोनों देशों में मैत्री की तीव्र इच्छा होते हुए भी दुर्भाग्यवश इनके पारस्परिक सम्बन्धों की शुरूआत संदेह के वातावरण में अग्रसर हुई। भारत का एक शक्तिशाली अधिकारी वर्ग प्रारम्भ से ही अमेरिकन विदेशक नीति को कुछ संशय और नफरत से देखता था। इस वर्ग की मान्यता थी कि अमेरिकन कूटनीति भारत के प्रति शत्रुता और वैमनस्य की है। दूसरी तरफ कुछ प्रमुख अमेरिकन नेताओं ने अमेरिका तथा सोवियत रूस के शीतयुद्ध में इस प्रकार का दृष्टिकोण अपना लिया था कि जो देश स्पष्ट रूप से अमेरिका के साथ नहीं हैं वे उसके विरोधी ही हैं। भारत की तटस्थतावादी नीति को एक व्यर्थ का ढकोसला मानते हुए कुछ प्रमुख अमेरिकन नेताओं ने इस आशय के वक्तव्य दिये कि प्रधानमन्त्री श्री नेहरू एक अर्द्ध साम्यवादी (Quasi Communist) हैं और भारत एक न एक दिन अवश्य ही साम्यवादी लौह आवरण के पीछे खिसक जाएगा।

यद्यपि समय बीतने के साथ-साथ भारत के प्रति अमेरिकन भ्रान्तियों का बहुत कुछ निवारण हो गया तो भी कतिपय मामलों में आधारभूत मतभेद बने रहे जो आज दोनों देशों के सम्बन्धों में तनाव और रूखापन पैदा करते रहते हैं। जिन मामलों में दोनों देशों के दृष्टिकोणों में विरोध है, वे संक्षेप में इस प्रकार गिनाये जा सकते हैं—

(१) काश्मीर पर मतभेद

काश्मीर के प्रश्न पर भारत का जनमत और भारतीय प्रशासन अमेरिका के पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण का १९४७ से लेकर अब तक कठोर आलोचक रहा है। १९४७ में काश्मीर पर पाकिस्तान ने हमला किया और न्याय की आशा से भारत ३१ दिसम्बर १९४७ को काश्मीर का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ में ले गया। अमेरिका जैसे महान् लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र से और संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रमुख संस्थापक से यही आशा की जाती थी कि वह पाकिस्तान को आक्रमणकारी घोषित करा के भारत के पक्ष में न्याय को प्रश्रय देता। लेकिन अमेरिका ने खुलेआम आक्रमणकारी को शह लगाया व आक्रान्त का विरोध किया। मुख्यतः अमेरिका की नीति के कारण ही काश्मीर के प्रश्न का संयुक्त राष्ट्र संघ में अथवा संघ के बाहर कोई संतोषजनक समाधान नहीं हो सका और आज भी अमेरिका समर्थक पाकिस्तान का रवैया इस मामले में भारत के लिए सिरदर्द बना हुआ है। काश्मीर की समस्या पर अपनाया गया अमेरिका का रुख आरम्भ से ही भारत के प्रति शत्रुतापूर्ण रहा है और इसने दोनों राष्ट्रों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में दरार डालने की भूमिका निभाई है।

(२) पाकिस्तान को सैनिक सहायता

अमेरिका और भारत के सम्बन्धों के बीच मनमुटाव और क्षोभ का एक प्रधान कारण यह है कि अमेरिका पाकिस्तान को विशाल सैनिक सहायता देकर इस उपमहाद्वीप के शक्ति सन्तुलन को बिगाड़ता रहा है। १९५४ की सैनिक सहायता संधि के अन्तर्गत अमेरिका ने पाकिस्तान को यह कह कर सैनिक सहायता देना शुरू किया कि इसका उपयोग साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिए किया जायगा। किन्तु साम्यवाद से लड़ने के नाम पर जो आधुनिकतम शस्त्रास्त्र पाकिस्तान को उपहार के रूप में दिये गये उनका प्रयोग पाकिस्तान ने भारत जैसे लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र के विरुद्ध किया। भारत ने अमेरिका को बारम्बार अपनी भावनापूर्ण चेतावनी दी कि पाकिस्तान अमेरिका द्वारा दी गयी सैनिक सामग्री का दुरुपयोग भारत के विरुद्ध करने का दृढ़ प्रतिज्ञ है परन्तु अमेरिकन नेताओं ने भारतीय शिकायतों की हर बार उपेक्षा कर दी। भारत के प्रति सद्भाव रखने वाला राष्ट्र जब मुक्त रूप से अमेरिकन सैन्य सहायता से प्रबल सैनिक राष्ट्र बनने लगा तो विवश होकर भारत को भी अपना रक्षा व्यय को बढ़ाना पड़ा जिससे आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने लगा। पाकिस्तान को सन्तुष्ट रखने की नीति पर चलते हुए अमेरिका ने इस तथ्य की सदैव अवहेलना की कि बन्दूक का प्रयोग आक्रमण के लिए उतनी ही सुविधा पूर्वक हो सकता है जितना किप्रतिरक्षा के लिए और एक दफा बन्दूक से गोली के निकल जाने के बाद इस प्रश्न का व्यावहारिक राजनीति में कोई महत्त्व नहीं रह जाता कि आक्रमण किसने किया था। पाकिस्तान में भारत-विरोधी भयंकर दुष्प्रचार की पृष्ठभूमि में अमेरिका के इस आश्वासन की निरर्थकता स्वयं अमेरिका को ज्ञात थी कि अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को दिये गये शस्त्रों का प्रयोग भारत के विरुद्ध नहीं किया जायगा। इस सैनिक सहायता के सम्बन्ध में अमेरिका में भारतीय राजदूत श्री एम० सी० छागला ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि—

"संयुक्त राज्य अमेरिका अपने हाथ से स्वयं अपने दूसरे हाथ से किये हुए काम को नष्ट कर रहा है। वह भारत को करोड़ों और अरबों डालर से इसलिए सहायता कर रहा है ताकि उसका औद्योगिक विकास हो सके। उसी समय वह हमारे विरोधी देशों को शस्त्रास्त्र देकर हमें इस बात के लिए बाध्य कर रहा है कि हम अपनी प्रतिरक्षा के लिए अधिक व्यय करें और इस प्रकार हमारे वे साधन जिनका हमारे देश की जनता के कल्याण के लिए उपयोग होना चाहिए था शस्त्रास्त्र के उत्पादन में व्यय हो रहे हैं।"[1]

---

1 "The U.S. is undoing with one hand to India what she is doing with the other. She is pouring millions and billions of dollors into India to help to organise herself industrially at the same time by giving arms to countries hostile to us she is compelling us to spend more and more on our defence and this diverts our resources from being

सितम्बर १९६५ में भारत-पाक संघर्ष के उपरान्त अमेरिका ने पाकिस्तान और भारत दोनों को आर्थिक एवं सैनिक सहायता देना बन्द करके आक्रमणकारी व आक्रान्त को एक ही स्तर पर रख के भारतीय जनता के मान में वृद्धि की और फिर पाकिस्तान का सैनिक कल पुर्जों की सप्लाई पुनः शुरू करने की घोषणा करके अपनी अदूरदर्शी नीति का परिचय दिया। पाकिस्तान को सैनिक सहायता का पुनः प्रारम्भ करना इस का द्योतक है कि अमेरिका भारत की मैत्री की सम्भवतः उतनी परवाह नहीं करता जितनी परवाह उसे पाकिस्तान की नाराजगी की है। भारत के लिए अमेरिका का यह रवैया भी अत्यन्त क्षुब्धकारी रहा है कि अमेरिका ने भारत को आधुनिकतम शस्त्रास्त्र देने से इन्कार कर दिया और यह कहा कि वे इन शस्त्रों का हमें तभी दे सकते हैं जबकि पाकिस्तान से काश्मीर के ऊपर हमारे विवाद का अन्त हो जाय। यह शर्त भी एक ऐसे समय रखी गयी जब देश १९६२ में चीनी आक्रमण से पीड़ित था।

(३) सैन्य संगठनों पर भारत-अमेरिका मतभेद

दोनों राष्ट्रों के मध्य मतभेदों का एक मौलिक कारण यह रहा है कि जहाँ स्वतन्त्रता के बाद से ही भारत की स्वाधीन सरकार ने हर प्रकार के सैनिक संगठनों का उग्र विरोध किया है वहाँ युद्धोत्तर विश्व में अमेरिका की नीति सैनिक संगठनों का जाल बिछाने की रही है। नाटो सीटो सेण्टो आदि की स्थापना इसी नीति का परिणाम है। भारत इस प्रकार के सैनिक संगठनों को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के मार्ग में बाधक समझता है और इनकी स्थापना को संयुक्त राष्ट्र संघ के मूल उद्देश्य के विपरीत मानता है। एशिया और अफ्रीका में अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार करने के लिए अमेरिका द्वारा प्रतिपादित ट्रूमैन सिद्धान्त और आइजनहोवर सिद्धान्त की भारत [illegible] जो कटु आलोचना की गयी उसने अमेरिकन प्रशासन के एक बड़े वर्ग को भारत का विरोधी बना दिया। इसी तरह दोनों देशों के सम्बन्धों में तब और भी बिगाड़ आया जब भारत ने लेबनान और जोर्डन में अमेरिकन हस्तक्षेप का विरोध किया। भारत के प्रति पाकिस्तानी [illegible] में कमी न आने का एक प्रमुख कारण भी यही है कि पाकिस्तान अमेरिका के साथ सैनिक गठबन्धन में बंधा हुआ है। अमेरिका इन सैन्य गुटों को साम्यवादी प्रसार पर अंकुश लगाने के लिए आवश्यक समझता है जबकि भारत का तर्क है कि साम्यवाद को सैनिक गुटों से नहीं रोका जा सकता बल्कि यदि इसका सामना करना ही है तो आर्थिक शोषण व गरीबी का अन्त किया जाना चाहिए।

(४) गोआ के मामले पर सम्बन्धों में बिगाड़

१९६१ तक गोआ की समस्या भारत की पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रश्न

---

used for the good of our people to building up arms and armaments."

—*M. C. Chhagala.*

था लेकिन अमेरिकन सरकार ने इस सम्बन्ध में प्रारम्भ से ही भारत विरोधी रुख अपना कर भारतीय जनता में अमेरिकनों के प्रति संदेह के वातावरण को अधिक घना बनाया। ७ नवम्बर १९५५ को अमेरिका के विदेश सचिव श्री जॉन फास्टर डलेस ने कहा — जहाँ तक मैं जानता हूँ सम्पूर्ण संसार गोआ को पुर्तगाल के एक प्रान्त के रूप में स्वीकार करता है। और जब दिसम्बर १९६१ में भारत ने गोआ को पुर्तगाली दासता से मुक्त किया तो सुरक्षा परिषद में श्री स्टीवेन्सन के इन शब्दों में अमेरिकन आक्रोश और औपनिवेशिक प्रवृत्ति का ज्वालामुखी फूटा — 'आज रात्रि को हम उस नाटक के प्रथम अङ्क को देख रहे हैं जिसका अन्त संयुक्त राष्ट्र संघ की मृत्यु के साथ हो सकता है।'[1] अपने इसी भाषण में उन्होंने लाइबेरिया और संयुक्त अरब गणराज्य की भारत का समर्थन करने के लिए आलोचना की तथा कहा कि यह समर्थन संयुक्त राष्ट्र संघ के भविष्य के लिए अत्यन्त अशुभ है। पुर्तगाली उपनिवेशवाद के इस निलज्ज समर्थन के उपरान्त भारत में अमेरिका विरोधी भावनायें पूर्वापेक्षा अधिक मजबूत हो गयी जिसमें कमी तभी आयी जब १९६२ में चीनी आक्रमण के समय अमेरिका द्वारा भारत को तेजी से सैनिक सहायता उपलब्ध की गयी।

(२) अमेरिका से मतभेद के अन्य आधार

और भी अनेक घटनाओं को लेकर भारत और अमेरिका में व्यापक मतभेद रहे। इन घटनाओं में चीन में साम्यवादी राज्य को मान्यता का प्रश्न, जापान के साथ संधि का प्रश्न, कोरिया का युद्ध, हिन्द-चीन का प्रश्न, वियतनाम समस्या आदि प्रमुख हैं। जब १९४९ में चीन में साम्यवादियों ने च्यांग काई शेक की सरकार को अपदस्थ करके उसे फारमोसा भाग जाने के लिये बाध्य कर दिया तो भारत ने न केवल चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान की अपितु उसने इस बात का भी प्रयास किया कि संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन की इस नवीन सरकार को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो। संयुक्त राज्य अमेरिका ने भारत के इस प्रयास को फलीभूत नहीं होने दिया। आज भी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अमरिका फारमोसा चीन का सबसे बड़ा समर्थक है। भारत ने चीन की विश्वासघाती और शत्रुतापूर्ण आक्रामक नीति को परखते हुए यद्यपि अब उसकी वकालत करना छोड़ दिया है तो भी इस तथ्य से वह इन्कार नहीं करता कि चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में सम्मिलित करके उस को शांतिवादी नीति अपनाने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए।

कोरियायी युद्ध में यद्यपि भारत ने अमेरिका के साथ मिल कर उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने का कार्य किया लेकिन बाद में घटनाओं ने जो रूप ग्रहण किया उससे भारत व अमेरिका के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये

1 "To night we are witnessing the first act of a drama that could end with its (United Nations) death."
—Stevenson.

और भारत की भूमिका अमेरिका को रुचिकर प्रतीत नहीं हुई। अमेरिका ने यह बात पसन्द नहीं की कि भारत द्वारा चीन को आक्रामक घोषित करने के अमेरिकन प्रस्ताव का विरोध किया जाय अथवा समस्या के समाधान के लिए चीन का संघ में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का प्रस्ताव रखा जाय। कोरिया युद्ध में भारत की तटस्थतावादी नीति और शान्ति प्रयासों की अमेरिका ने बड़ी आलोचना की और पश्चिमी प्रेस ने भी नेहरू का उपहास करते हुए उन्हें 'डॉन क्विक्जोट' (Don Quixote) तक कहा

४ सितम्बर १९५१ को सान-फ्रांसिस्को में जापान के साथ संधि करने के लिए एक सम्मेलन हुआ। किन्तु जिन शर्तों पर जापान के साथ संधि होने जा रही थी उनसे जापान पर अमेरिकन प्रभुत्व स्थापित होने की संभावना थी अतः भारत ने सम्मेलन में शामिल होने से इन्कार कर दिया। हिन्दचीन की समस्या पर भी दोनों देशों के दृष्टिकोण में मौलिक अन्तर रहा। भारत हिन्दचीन की समस्या को पारस्परिक वार्ता के आधार पर शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने का पक्षपाती था जबकि अमेरिका प्रशासन शक्ति के आश्रय में विश्वास करता था। भारतीय संसद में पंडित नेहरू ने हिन्दचीन की समस्या के समाधान के लिए जो ६ सूत्री प्रस्ताव रखे उनकी अमेरिका में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। भारत और चीन के बीच तिब्बत के ऊपर समझौते ने भी दोनों देशों के पारस्परिक मतभेदों को अधिक बढ़ा दिया।

१९६० के पूर्व तक अमेरिका में नीग्रो लोगों के साथ कानूनी रूप से जो भेदभाव किया जाता था उसका भी भारत द्वारा अनेकों बार विरोध किया गया। इसी प्रकार निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में भी भारतीय दृष्टिकोण अमेरिका की अपेक्षा सोवियत रूस के अधिक समीप रहा। १९६५ में पाकिस्तान के आक्रमण के समय अमेरिका द्वारा जो रुख अपनाया गया उससे भारतीय जनमत युद्ध के दौरान और बाद में भी कुछ समय तक अमेरिका के प्रति पर्याप्त विक्षुब्ध रहा। प्रथम तो आक्रमणकारी पाकिस्तान के साथ ही आक्रान्त भारत को दी जाने वाली सैनिक सहायता पर प्रतिबन्ध लगा कर दोनों को एक ही स्तर पर रखा गया और दूसरे इस संघर्ष के दौरान पूरी चुप्पी साध कर आक्रमणकारी को मूक प्रोत्साहन देने का संशय पैदा किया। फिर इस बात से भी भारतीय जनता के हृदय में अमेरिका-विरोधी भावनाओं को बल मिला कि अमेरिका ने खाद्यान्न क्षेत्र में भारत की जो सहायता की उसके पीछे अप्रत्यक्ष रूप से कुछ शर्तें मनवानी चाहीं। वैसे तो यह कहा जाता है कि अमेरिकी सरकार धन का उपयोग विदेशों में शांति एवं स्वतन्त्रता की जड़ें मजबूत करने के लिए कर रहा है किन्तु व्यवहार में कई बार पाया गया है कि ऐसी सहायता किसी राजनीतिक उद्देश्य का भी साधन बना दी जाती है। भारत के साथ भी जब इस प्रकार के व्यवहार का सूत्रपात किया गया तो भारत की सरकार व जनता एकमत होकर इसके विरुद्ध आवाज उठाने लगी। जनता ने यह संकल्प किया कि हम भूखों मर जायेंगे किन्तु अन्न के दानों के पीछे अपनी स्वतन्त्रता का बलिदान नहीं करेंगे।

पी० एल० ४८० के अधीन जिसमें शास्त्री जी यदि हमारे निर्णयों पर कोई बात हमारे संकल्प एवं इच्छा के विरुद्ध लादता है तो उसका यह देश पूरी शक्ति और बलिदान के साथ बहिष्कार करने को तैयार था। शास्त्रीजी ने इसी सम्बन्ध में देश को आत्मनिर्भर बनने का आन्दोलन चलाया। एक दाने की जगह दो दाने उगाने अन्न की बर्बादी कम करने तथा अन्न के स्थान पर अन्य चीजों का प्रयोग करने की बात कही गई। 'जय जवान जय किसान' का नया नारा देश को दिया गया। सारे देश में एक दिन का एक समय का भोजन छोड़ने का संकल्प किया तथा हर सम्भव प्रयत्न से अन्न का उत्पादन बढ़ाने तथा देश को आत्मनिर्भर बनाने के लिए सरकार तथा जनता बड़े उत्साह से दृढ़-संकल्प हो गई।

वियतनाम पर भी अमेरिका और भारत के दृष्टिकोणों में अन्तर है। भारत का आग्रह है कि अमेरिका को बम वर्षा बन्द करके शांति स्थापना की दिशा में रचनात्मक पग उठाना चाहिए।

भारत और अमेरिका में मैत्रीपूर्ण व सहयोगी सम्बन्ध

भारत और अमेरिका के मतभेदों का यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिए कि दोनों देश सदैव एक-दूसरे के विपरीत मार्गों पर ही चलते रहे अथवा इनमें किसी प्रकार की शत्रुता स्थापित हो गई। वास्तविकता यही रही कि महत्त्वपूर्ण मतभेदों के होते हुए भी दोनों को बांधने वाले मैत्री तथा सहयोग के सूत्र अधिक शक्तिशाली और स्थायी थे और आज भी हैं। दोनों ही राष्ट्रों के मध्य यह विचारधारा अपना प्रभाव अस्तित्व बनाए रही कि पारस्परिक समझ का अर्थ विचारों के पूर्ण साम्य से नहीं होता बल्कि इसका सही अर्थ है कुछ मूल मूल तत्वों पर सहमति। परिणामतः दोनों ही देशों के सम्बन्ध न्यूनाधिक रूप में तनावपूर्ण होते हुए भी मैत्री और सहयोग के सूत्र से आबद्ध रहे और आज भी हैं।

भारत और अमेरिका दोनों ही संसार के महानतम लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र हैं जिनका मूल उद्देश्य विश्व शांति सुरक्षा जनतन्त्र की प्रगति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और कानून प्रक्रियाओं का पालन है। दोनों ही देश संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र में निहित आदर्शों के प्रति आस्थावान हैं। इसके अतिरिक्त 'समाजवादी समाज के ढांचे' (Socialistic Pattern of Society) की भारतीय धारणा सामाजिक सुरक्षा और उदार जनतन्त्र (Social Security and Liberal Democracy) की अमरिकन धारणा से विशेष भिन्नता नहीं रखती है। फिर भारतीय नेताओं ने अमेरिकनों के सर्वाधिक प्रिय विचार व्यक्तिगत व्यवसाय के प्रति कभी कोई गम्भीर विरोध प्रदर्शित नहीं किया है। इसके विपरीत उन्होंने सदैव व्यक्तिगत व्यवसाय और सार्वजनिक व्यवसाय के पारस्परिक सहयोग द्वारा ही भारत के आर्थिक विकास के प्रयत्न किये हैं।

इन समान उद्देश्यों ने दोनों राष्ट्रों के मध्य सामिप्य को बनाये रखा

है। अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के विरुद्ध भारत की महत्वपूर्ण भौगोलिक स्थिति के कारण ही अमेरिका ने भारत की मैत्री की आवश्यकता को अनुभव किया है। दूसरी ओर भारत प्रारम्भ से ही सभी देशों के साथ विशेष रूप से अमेरिका जैसी शक्ति के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने को सचेष्ट रहा है। दिसम्बर १९४७ में श्री नेहरू ने कहा भी था—

'हम तब तक अन्य देशों के साथ घनिष्ठतम मैत्री बनाये रखने के इच्छुक हैं, जब तक वे स्वयं ही कोई कठिनाइयां पैदा नहीं कर देते। हम अमेरिका के मित्र बने रहेंगे। हम अमेरिका के साथ सहयोग करने का इरादा रखते हैं और हमारा निश्चय सोवियत संघ के साथ भी पूर्ण सहयोग करने का है।"

वस्तुतः भारत के नेता प्रारम्भ से ही इस बात को समझ गये थे कि अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों के आर्थिक सहयोग के बिना भारत का औद्योगिक विकास नहीं हो सकेगा अतः उन्होंने साम्यवादी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखते हुए भी अमेरिका और अन्य पश्चिमी राष्ट्रों के साथ निकट सहयोग रखा। २४ मई १९४९ को अमेरिका में भारत की तत्कालीन राजदूत श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने अमेरिकन 'चार सूत्री कार्यक्रम' (Four Point Programme) की प्रशंसा करते हुए कहा था कि यह आज के विश्व की समस्याओं के निराकरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम है।

१९४९–५० के दौरान भारतीय राजनीतिज्ञों ने पाश्चात्य जगत में असंलग्नता की भारतीय नीति के बारे में फैली विभिन्न भ्रांतियों के निराकरण का विशेष प्रयास किया जिनके फलस्वरूप अमेरिका में भारत की विदेश नीति व दृष्टिकोण को कुछ सीमा तक ठीक रूप में समझा जाने लगा। अक्टूबर १९४९ में श्री नेहरू ने अमेरिका की सद्भावना यात्रा (Good-Will Tour) की। परन्तु अमेरिकन मित्रता का आकांक्षी होने पर भी भारत अपनी स्वतन्त्र और असंलग्नता की नीति के प्रति दृढ़ प्रतिज्ञ था। अपनी अमेरिकन यात्रा के दौरान भी नेहरू ने इस बात को इन शब्दों में स्पष्ट भी कर दिया— "भारत अमेरिकन सहायता को परस्पर लाभदायक शर्तों पर ही स्वीकार करेगा तथा किसी भौतिक अथवा आर्थिक लाभ के बदले अपनी कठिनता से प्राप्त स्वतन्त्रता के अंश का भी बलिदान के लिए तैयार न होगा। श्री नेहरू ने साम्यवादी चीन को कूटनीतिक मान्यता देकर अमेरिकन नीति से अपनी पूर्ण स्वतन्त्रता का प्रमाण भी दे दिया।

चीन में साम्यवाद की स्थापना ने अमेरिका को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह एशिया के बारे में अपनी नीति पर पुनर्विचार करे। अब अमेरिका को इस तथ्य की स्पष्ट अनुभूति हो गई कि एशिया में साम्यवाद रूपी हाथी को अंकुश लगा कर वश में करने के लिए भारत रूपी महावत की मैत्री नितान्त आवश्यक है। अमेरिकन प्रतिनिधि सभा की

विदेशी मामलों की समिति" के सम्मुख सहायक राज्यसचिव श्री मैकघी (George C. Mcghee) ने स्वीकार किया कि—

"यदि कोई व्यक्ति इस क्षेत्र (दक्षिणी एशिया) में अलग अलग व्यक्तिगत राज्यों पर विचार करे तो भारत जनसंख्या व क्षेत्रफल दोनों की दृष्टि से सबसे बड़ा देश दिखायी देता है। भारत की जनसंख्या ३५ करोड़ है। यह स्वतन्त्र विश्व का सबसे बड़ा देश है——भारत की स्थिति पश्चिमी राष्ट्रों के लिये अत्यधिक महत्वपूर्ण है।"

इसी तरह मई १९५१ में अमेरिकन राज्य विभाग की एक रिपोर्ट में स्पष्ट शब्दों में बताया गया कि— अगर भारत में जनतन्त्र सफल होता है तो सारा दक्षिणी एशिया सुदृढ़ हो जायगा अगर असफल होता है तो एशिया की आशायें अन्धकारमय हो जायगी।[1]

भारत में प्रजातन्त्र की सफलता के महत्व को समझते हुए, अनेक समस्याओं पर भारत के दृष्टिकोण को नापसन्द करने के बावजूद भी अमेरिका ने आर्थिक क्षेत्र में भारत से सहयोग करने की नीति अपनाई और इसके विकास में गहरी रुचि ली। अमेरिकन प्रेरणा से विश्व बैंक विकास सहयोग तकनीकी सहयोग आयोग आदि संस्थाओं ने ऋण व उपहार के रूप में भारत को विशाल आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता प्रदान की। भारत और अमेरिका की बढ़ती हुई मैत्री केवल आर्थिक और शासकीय क्षेत्र तक ही सीमित नहीं रही वरन् सामाजिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों के क्षेत्र में भी इसका विस्तार हुआ। 'फुलब्राइट योजना' (Fulbright Scheme) के अन्तर्गत दोनों देशों ने एक बड़ी संख्या में विद्वानों का आदान-प्रदान किया। इन सांस्कृतिक प्रतिनिधियों के माध्यम से दोनों ही देशों में पारस्परिक सद्भावना व सहिष्णुता को प्रोत्साहन मिला।

१९५६ में स्वेजकाण्ड की महत्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय घटना ने दोनों देशों में घनिष्ठता को आगे बढ़ाया यद्यपि अमेरिका को राष्ट्रपति नासिर के स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण का कार्य रुचिकर नहीं था किन्तु फिर भी भारत के समान ही अमरिका इस पक्ष में भी न था कि समस्या के हल के लिये शक्ति का प्रयोग किया जाय। जब अक्टूबर १९५६ में ब्रिटेन व फ्रांस ने इजरायल के साथ मिल कर मिस्र पर अपनी सेनायें चढ़ा दीं तो भारत और अमेरिका ने समान रूप से इस आक्रमण का तीव्र विरोध किया। यह मुख्यतः अमेरिका का दबाव ही था कि ब्रिटेन और फ्रांस को अपना आक्रमण समाप्त करना पड़ा। स्वेज की इस घटना पर अमेरिका ने भारत के दृष्टिकोण को आदर दिया और दोनों राष्ट्रों के सम्बन्ध पूर्वापेक्षा अधिक मधुर बने। बाद में दिसम्बर

---

1 If democracy succeeds in India, all of South Asia is buttressed. If it fails the outlook in Asia will be very black indeed."

१९५६ में श्री नेहरू की अमेरिका-यात्रा से दोनों देश और भी निकट आये तथा अमेरिकन जनता के मस्तिष्क में भारत के प्रति फैली भ्रान्त धारणाओं का कुहरा बहुत कुछ साफ हुआ।

दिसम्बर १९५९ में अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहोवर ने भारत की यात्रा की। भारत की जनता द्वारा उनका हार्दिक स्वागत किया गया। न्यूयार्क में भारतीय 'कौंसल जनरल' [Consul General] श्री गोपाल मेनन ने कहा कि यह घटना भारत-अमेरिकन सम्बन्धों को एक नया मोड़ देने वाली है।" १४ दिसम्बर १९५९ को अपनी संयुक्त विज्ञप्ति में श्री नेहरू और श्री आइजनहोवर ने यह विश्वास व्यक्त किया कि 'उनके समान आदर्श और उद्देश्य तथा शान्ति के लिए उनके समान प्रयास दोनों देशों की मित्रता को और अधिक सुदृढ़ व स्थायी बनायें"। राष्ट्रपति की यात्रा के उपरान्त अमेरिका की भारत के विकास में और भी गहरी रुचि हुई। २२ मार्च १९६० को अमेरिकन उपराज्य सचिव श्री डगलस डिल्लों (Douglas Dillon) ने सीनेट की विदेश समिति के सम्मुख स्वीकार किया कि भारत का आर्थिक विकास अमेरिकन विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य बन गया है। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति आइजनहावर ने भारत को विशेष आदर देते हुए ४ मई १९६० को वाशिंगटन में भारत के खाद्य मन्त्री श्री एस० के० पाटिल के साथ स्वयं एक समझौते पर हस्ताक्षर किये। इस समझौते द्वारा फसल की कमी का सामना करने तथा अन्न को सुरक्षित रखने के लिए अमेरिका ने भारत को आगामी ४ वर्षों में चावल व गेहूं से भरे हुए १५०० जलयान भेजने का निश्चय किया। मई १९६० का यह समझौता ही 'सार्वजनिक कानून-४८०' (PL-480) के नाम से प्रसिद्ध है। ४ वर्ष की अवधि समाप्त हो जाने पर इस समझौते की अवधि बढ़ाते हुए भारत को अब भी बड़े पैमाने पर खाद्यान्न सहायता दी जा रही है।

अक्टूबर १९६२ में भारत पर चीन का विशाल और एकदम अप्रत्याशित आक्रमण शुरू होने पर भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्धों में एक नवीन अध्याय का भी श्रीगणेश हुआ। भारत ने अमेरिका से अनुरोध किया कि वह शीघ्रातिशीघ्र सैनिक मदद दे और स्वर्गीय राष्ट्रपति कनेडी ने भारत के अनुरोध को स्वीकार करते हुए अविलम्ब आवश्यक सहायता प्रदान की। संयुक्त राज्य अमेरिका की शक्तिशाली वायु सेना ने ६० घण्टे के भीतर १००० टन युद्ध-सामग्री भारत पहुंचाई। इस तरह इस महान् राष्ट्र ने न केवल संकट के समय तत्परता से भारत को युद्ध-सामग्री प्रदान की बल्कि साथ ही इस युद्ध सामग्री की ढुलाई भी की। अमेरिका की इस संकटकालीन सहायता ने भारतीयों के हृदय में छाये हुए समस्त पिछले आक्षेपों को धो डाला और यह सिद्ध कर दिया कि मतभेदों के बावजूद दोनों राष्ट्र मित्रता के स्थाई आधार स्तम्भ पर खड़े हैं। चीन आक्रमण के समय भी भारत ने अपनी असंलग्नता की नीति का जिस कुशलता से संचालन किया उसकी विशेष उचित ढंग रूस द्वारा प्रशंसा की गई। अमेरिका ने भारत को यह सहायता बिना किसी शर्त के प्रदान की और ९ नवम्बर १९६२ को भारत

में तत्कालीन अमेरिकन राजदूत श्री गैलब्रथ (Gailbraith) ने एक प्रेस सम्मेलन में कहा—

"फौजी सहायता देकर हम भारत को पश्चिमी देशों के सनिक गुट म शामिल नहीं करना चाहते और न हम भारत की तटस्थ नीति को बदलने के ही समर्थक हैं। अमेरिकन राष्ट्रपति कनेडी कई बार कह चुके हैं कि अमेरिका भारत की तटस्थ नीति का स्वागत करता है।"

वास्तव में राष्ट्रपति कनेडी ने भारत की तटस्थ नीति को अन्य अमेरिकन नेताओं की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह समझा और उसका यथोचित सम्मान किया। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारा का यह महान् नेता अत्यन्त आकस्मिक ढंग से हमारे बीच से उठ गया और उनकी मृत्यु से भारत ने अपना एक बहुत बड़ा शुभचिन्तक खो दिया। श्री केनेडी का स्थान श्री जानसन ने लिया। उन्होंने अपने प्रथम भाषण में ही भारत को यह आश्वासन देने का चेष्टा की कि अमेरिका का नवीन प्रशासन भी भारत के प्रति श्री कनेडी की उदार नीति का ही अनुसरण करेगा सौभाग्यवश श्री जानसन के शासनकाल में भी १९६५ में भारत पाक संघर्ष के पहले तक नियमित आर्थिक सहायता मिलती रही। ७ दिसम्बर ११ को दोनों राष्ट्रों के मध्य हुए एक समझौते के अनुसार अमेरिका ने भारत । तारापुर में आणविक शक्ति का संयन्त्र स्थापित करने के लिए ८ करोड़ डालर देना निश्चित किया। अमेरिका की सहायता से भारत की वायु सेना भी अधिक शक्तिशाली बनी तथा भारत के विभिन्न भागों में भारत अमेरिका ब्रिटेन और आस्ट्रेलिया के वायु सैनिकों ने सम्मिलित रूप से ऐतिहासिक सैनिक अभ्यास किये।

किन्तु अमेरिका और भारत के तेजी से सुधरते हुए सम्बन्धों का १९६५ में धक्का लगा। सितम्बर १९६५ में पाकिस्तान ने भारत के विरुद्ध जो सनिक संघर्ष किया उसमें अमेरिकन पैटन टैंकों सेबरजेट विमानों आदि अस्त्रास्त्रों का जमकर प्रयोग किया गया। अमेरिका ने पाकिस्तान को यह सैन्य सामग्री साम्यवाद का विरोध करने के लिए दी थी पर जब पाकिस्तान द्वारा उसका दुरुपयोग भारत के विरुद्ध किया गया तो अमेरिका को पाकिस्तान के इस कार्य का विरोध करना चाहिये था। परन्तु जानसन प्रशासन ने पाकिस्तान को सैन्य सामग्री के इस प्रयोग से रोकना तो दूर रहा इस विषय की भर्त्सना पाकिस्तान की निन्दा तो नहीं की। सुरक्षा परिषद् में भी अमेरिका द्वारा पाकिस्तान-पक्षपाती रुख ही अपनाया। इससे भी बढ़कर आश्चर्य की बात यह हुई कि जब १९६६ में पाकिस्तान ने चीन से घनिष्ठ मैत्री स्थापित कर ली और चीन से विशाल मात्रा में सैनिक सहायता भी प्राप्त की तो भी अमेरिकन प्रशासन के पाक समर्थक रुख में कोई परिवर्तन नहीं आया।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि विश्व के इन दो महान् प्रजातंत्रात्मक देशों के सम्बन्धों में अत्यधिक उतार चढ़ाव आता रहा है। वर्तमान में भारत के सम्मुख तीन प्रधान समस्यायें हैं (i) काश्मीर के प्रश्न

पर पाकिस्तान का संभावित आक्रमण (ii) चीन के विस्तारवाद से रक्षा एवं (iii) भारत के आर्थिक और औद्योगिक विकास के लिए प्रचुर मात्रा में अशर्त आर्थिक सहायता। अमेरिका द्वारा भारत के प्रति अब तक जो रुख अपनाया जाता रहा है उससे इस बात के कोई निश्चित संकेत नहीं होते कि अमेरिका का वर्तमान प्रशासन भारत की द्वितीय और तृतीय समस्या के प्रति उदासीन है। लेकिन जहां तक काश्मीर की समस्या और भारत पाक सम्बन्धों का प्रश्न है अमेरिका की नीति निश्चित रूप से पाक-पक्ष में है। फिर भी यह एक आशाजनक लक्षण है कि विवेकशील अमेरिकन नागरिकों और उत्तरदायी प्रेस के एक भाग ने काश्मीर समस्या पर संतुलित रूप से विचार करना प्रारम्भ कर दिया है।

इन दोनों महान राष्ट्रों के सम्बन्धों का अध्ययन करते समय हमें इस तथ्य को विस्मृत नहीं करना चाहिए कि भारत और अमेरिका दो स्वतन्त्र और सब प्रभुत्व सम्पन्न मित्र देश हैं तथा मित्रों में मतभेदों का होना न केवल स्वाभाविक है बल्कि स्वस्थ मित्रता का परिचायक भी है। भारत और अमेरिका अपने मतभेदों को रखते हुए भी स्वस्थ स्थाई और आधारभूत मैत्री सम्बन्धों से आबद्ध हैं। भारत की विदेश नीति में अब भावुकता के स्थान पर अधिक व्यावहारिक दृष्टिकोण के अंकुर प्रस्फुटित होने लगे हैं और यह आशा की जानी चाहिये कि भविष्य में दोनों देशों की मैत्री अधिक सुदृढ़ होगी।

भारत और सोवियत संघ
(India and the Soviet Union)

भारत-सोवियत सम्बन्धों पर अत्यन्त दूरदर्शी और गहन विचार व्यक्त करते हुए श्री नेहरू ने सोवियत प्रतिनिधि मंडल के नेता ए० ए० आन्द्रेयव [A. A. Andreyev] द्वारा दिये गये एक भोज में २६ फरवरी १९५१ को कहा था—

'हम इस बात से परिचित हैं कि हमारे द्वारा एक ही लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न मार्गों को अपनाया जा रहा है किन्तु मूलभूत बात एक-दूसरे के प्रति एक दूसरे के दृष्टिकोण और मित्रता के प्रति विश्वास और सम्मान की भावना है। मुझे विश्वास है कि ऊपरी मतभेदों के बावजूद भारत और सोवियत संघ के बीच यह भावना विद्यमान है। मेरे विचार से यह कहना सही है कि भारत और भारतीय जनता की सोवियत संघ और सोवियत जनता के साथ मित्रता की भावना क्षणिक आवेश या स्वार्थ भावना पर आधारित नहीं है वरन् इसकी जड़ें इतनी गहरी हैं कि समय पर उत्पन्न होने वाले विचारों के मतभेद में यह अपने आपको सुरक्षित रख सकती है। मैं सोचता हूं कि यह मित्रता निश्चित रूप से मेरे देश के लिए लाभकर है, मैं आशा करता हूं कि यह मित्रता आपके देश के लिए और शेष सम्पूर्ण विश्व के लिए हितकर है।"

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सोवियत संघ के साथ भी भारत के

सम्बन्ध कभी एक से नहीं रहे। १९४६–१९४७ में बहुत से अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर इन दोनों देशों का लगभग एकसा ही दृष्टिकोण था। उदाहरण के लिए, भारत ने जातिगत भेदभाव, उपनिवेशवाद, निःशस्त्रीकरण, अणुबम और निषेधाधिकार के प्रश्न पर सोवियत संघ का समर्थन किया। भारत और रूस के इन प्रश्नों पर मतैक्य को देख कर ही अमेरिका के विदेश सचिव जॉन फास्टर डलेस ने १८ जनवरी १९४७ को ये शब्द कहे थे— भारत में सोवियत साम्यवाद अन्तःकालीन हिन्दू सरकार के माध्यम से अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है। लेकिन यह स्थिति बहुत दिनों तक नहीं चली। कार्ल मार्क्स और लेनिन द्वारा प्रतिपादित साम्यवादी व्यवस्था का भारत के उदारवादी समाजतन्त्र से कतिपय मामलों में मतभेद होना स्वाभाविक था। १९४७ के बाद से ही भारत के साम्यवादी दल ने अपनी विध्वंसकारी गतिविधियाँ प्रारम्भ करके भारत सरकार को साम्यवादी खतरे के प्रति जागरूक कर दिया। थोड़े ही समय में यूनान और कोरिया के प्रश्नों पर इन दोनों देशों में मनमुटाव पैदा हो गया। इसी दौर में भारत ने कामनवेल्थ की सदस्यता स्वीकार कर ली जिससे दोनों के सम्बन्धों में और भी अधिक बिगाड़ आ गया। अप्रैल १९४९ में सोवियत प्रेस ने भारत सरकार पर यह आरोप लगाया कि वह ब्रिटिश और अमेरिकन साम्राज्यवाद के साथ साँठगाँठ कर रही है। वस्तुतः हुआ यह कि १९४९ के प्रारम्भ में ही दक्षिणी भारत में साम्यवादियों की गतिविधियों ने खुले विद्रोह का रूप धारण कर लिया। भारत सरकार ने इन गतिविधियों को अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के षड्यन्त्र से सम्बन्धित किया और यही समझा कि सोवियत रूस भारत की आन्तरिक व्यवस्था और राजनीति में हस्तक्षेप का प्रयत्न कर रहा है। भारत सरकार की दृष्टि में इन प्रयत्नों का विरोध करना आवश्यक हो गया। जून १९४९ में सोवियत रूस के सामयिक सूत्रों ने कहा कि नेहरू सरकार का जनविरोधी स्वरूप उसकी नीतियों से भलीभाँति स्पष्ट है। दूसरी ओर थी नेहरू की दृष्टि में विश्व साम्यवाद का विस्तारवादी स्वरूप एशियायी देशों की शांति और स्वाधीनता के लिए सबसे बड़ा खतरा था। उन्हीं के शब्दों में आज हम साम्यवादी नियंत्रण में विशाल तथा केन्द्रीकृत राज्यों को देखते हैं सम्भवतः वे कुछ देशों की एक समस्या—आर्थिक समस्या का हल भी प्रदान करते हैं लेकिन वे यह हल एक बहुत बड़ी कीमत पर प्रदान करते हैं। मुझे केन्द्रीकृत राज्य पसन्द नहीं। मैं शक्तिशाली राज्यों को पसन्द नहीं करता और चूँकि मेरा विचार है कि आर्थिक स्वतन्त्रता अनिवार्य है—उसके लिए समस्त राजनीतिक तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का बलिदान एक बहुत बड़ी कीमत है।

दरअसल में स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद अपनायी गयी भारत की तटस्थता की नीति को स्टालिन के द्वारा प्रारम्भ से ही ठीक नहीं समझा गया। स्टालिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में कठोर व्यवहार का अनुसरण करने वाला नेता था। उसने भारत की तटस्थता की नीति को निर्बल और अवसरवादी नीति का ही प्रतिरूप समझा। फिर क्योंकि भारत अपने राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से पाश्चात्य देशों—विशेष रूप से ब्रिटेन और अमेरिका के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक मानता था। परन्तु भारत के

पश्चिमी देशों के साथ अच्छे सम्बन्ध व सहयोग स्थापित करने के प्रयत्न साम्यवादी देश सोवियत रूस और भारत के साम्यवादी दल की आलोचना के विषय बन गये। सोवियत पक्षपाती वर्ग के प्रसिद्ध साम्यवादी नेता श्री रजनी पामदत्त ने अप्रैल १९५१ में श्री नेहरू को "एशिया का नया च्यांग काई शेक" कहा। इसके पहले मार्च १९४८ में ही साम्यवादी दल यह घोषित कर चुका था कि "भारत की तटस्थता तो एंग्लो-अमेरिकन साम्राज्यवादियों के साथ सहयोग को छुपाने का आवरण मात्र है।"

परन्तु १९५१ के अन्त तक आते-आते भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में फिर से सुधार होने लगा और कुछ मामूली बाधाओं के रहते हुए भी यह क्रम बराबर चलता रहा। श्री नेहरू ने असंलग्नता की रचनात्मक और सक्रिय नीति का निष्पक्ष ढंग से बड़ी ही कुशलतापूर्वक संचालन किया। ब्रिटेन और अमेरिका के साथ अपने मैत्री सम्बन्धों का निर्वाह करते हुए भी उन्होंने अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति का परित्याग नहीं किया और सोवियत संघ के साथ अपने सम्बन्धों को सुधारने की दिशा में भी अग्रसर होते रहे। इस काल में भारत ने चीन की नयी सरकार (साम्यवादी सरकार) को मान्यता दिलाने का प्रयत्न किया और इस विषय में पाश्चात्य देशों की नाराजगी की परवाह नहीं की। श्री नेहरू के इस रचनात्मक और निष्पक्ष कदम के फलस्वरूप भारत और रूस के बीच सम्बन्धों में सुधार हुआ। इसी काल में डा० राधाकृष्णन (भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति) मास्को में भारत के राजदूत नियुक्त हुए और उनके सद्प्रयासों से दोनों देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों का विकास होने लगा। फलस्वरूप भारत और सोवियत संघ ने आर्थिक सहयोग का प्रारम्भ किया। १९५१ में ही दोनों के बीच एक व्यापारिक समझौता हुआ जिसके अनुसार सोवियत संघ ने चाय और कच्चे जूट के बदले १ लाख २० हजार टन गेहूं और मक्का देना स्वीकार किया। १९४९–५० में दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध और भी अधिक दृढ़ हुए।

परन्तु इस बढ़ती हुई मैत्री को जून १९५० में कोरिया युद्ध छिड़ जाने पर एक जबरदस्त आघात लगा। श्री नेहरू की असंलग्नता की नीति इस अथवा उस राष्ट्र को प्रसन्न करने के लिए इधर या उधर मिल जाने की नहीं थी। वे तो स्वतंत्र नीति पर चलते हुए न्याय और निष्पक्षता तथा शान्ति के लिए जो उपयुक्त समझते वे वही करते थे। चूंकि श्री नेहरू को यह विश्वास हो गया कि उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण किया गया है अतः भारत ने पश्चिमी देशों के साथ मिल कर उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। भारत के इस कार्य से सोवियत संघ में रोष पैदा हो गया। परन्तु बाद की घटनाओं ने सोवियत संघ को इस बात के प्रति आश्वस्त करा दिया कि भारत का उपरोक्त कदम उसकी स्वतन्त्र नीति का परिणाम था न कि पाश्चात्य शक्तियों के दबाव का। जब कोरिया समस्या के बाद के चरणों में भारत द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनाओं से ३८वीं अक्षांश रेखा पार न करने और चीन को संघ द्वारा आक्रमणकारी घोषित न करने का आग्रह किया गया तो स्टालिन ने भारत के

शांति प्रयासों की प्रशंसा की। कोरियायी युद्ध की अवधि में भारत की नीति से वहां वाशिंगटन और दिल्ली के बीच मतभेद की स्थिति पैदा हुई वहां सोवियत संघ के साथ उसके सम्बन्धों में एक बड़ी सीमा तक मधुरता आ गयी। दोनों देश इसलिए भी एक दूसरे के निकट आये कि सितम्बर १९५१ में भारत ने जापानी शांति-संधि पर हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया क्योंकि यह संधि जापान को साम्राज्यवादी शिकंजे में जकड़ने की एक चाल थी। अप्रेल १९५२ में रूस के लौह-शासक स्टालिन ने भारतीय राजदूत डा० राधाकृष्णन से भेंट की। यह भेंट इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी कि दो वर्षों की अवधि में स्टालिन किसी भी राजदूत से नहीं मिला था। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इस भेंट को सोवियत संघ और भारत के सम्बन्धों में सुधार का प्रतीक माना गया। दिसम्बर १९५२ में कोरिया के युद्ध बन्दियों के प्रश्न पर सोवियत संघ और भारत के बीच पुनः मतभेद पैदा हो गया और विशिंस्की ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में आलोचना करते हुए कहा कि भारत की नीति से संघर्ष के बढ़ने की आशंका है परन्तु सोवियत भ्रम शीघ्र ही दूर हो गया और दोनों ही देश फिर मैत्री की ओर अग्रसर हुए।

मार्च १९५३ में स्टालिन का देहान्त हो गया। भारतीय नेताओं द्वारा सोवियत नेता के प्रति हार्दिक श्रद्धान्जलियां अर्पित की गयीं। इस काल में संयुक्त राज्य अमरिका ने भारत द्वारा कोरिया के राजनीतिक सम्मेलन में भाग लेने का विरोध किया जिससे भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में अधिक मधुरता आयी इसके अतिरिक्त सोवियत रूस ने पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक सहायता का विरोध करके और काश्मीर के प्रश्न पर भारत को अपना समर्थन देकर भारत की सद्भावना प्राप्त करने में सफलता हासिल की। १९५३ के मध्य में शेख अब्दुल्ला द्वारा स्वतन्त्र काश्मीर का नारा बुलन्द किया गया। उस समय भारत की जनता में यह आम धारणा थी कि शेख अब्दुल्ला के इस नारे को संयुक्त राज्य अमेरिका की सरकार से प्रेरणा मिली है। फलतः भारतीय प्रशासन और जनता में सोवियत संघ के प्रति अधिक हार्दिक सहानुभूति पैदा हुई।

१९५४ में नेहरू और चाउ-एन-लाई ने तिब्बत के ऊपर एक समझौते पर हस्ताक्षर किये जिसमें विख्यात 'पंचशील' का उल्लेख किया गया। सोवियत रूस ने भारत के पंचशील के प्रति अपनी आस्था प्रगट की। एक तरफ तो 'पंचशील' जैसे सिद्धान्तों के द्वारा सैन्य संगठनों का तिरस्कार करते हुए शांतिवादी सहअस्तित्व और मैत्री तथा सहयोग का बिगुल फूंका गया और दूसरी ओर अमरिका साम्यवाद के प्रसार को रोकने के नाम पर विभिन्न सैन्य संगठनों का जाल बिछाने की नीति पर चलता रहा। नाटो के बाद सीटो और बगदाद पैक्टों की रचना हुई जिन्होंने शीत युद्ध को एशिया के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया। भारत द्वारा इस प्रकार के सैन्य संगठनों की कठोर आलोचना की गयी। अमेरिका द्वारा स्थापित इन सैनिक संगठनों के विषय में भारत और सोवियत संघ का एक ही प्रकार का दृष्टिकोण होने से दोनों देशों में सम्बन्ध पूर्वापेक्षा अधिक मधुर हो गये।

जून १९५५ में श्री नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की और वहाँ के लोगों को अपनी महान् व्यक्तित्व की विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित किया। २२ जून को श्री नेहरू और सोवियत प्रधानमंत्री श्री बुल्गानिन ने इस आशय के एक संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध जो पहले से ही मैत्री तथा सहिष्णुता पर आधारित हैं भविष्य में भी पंचशील द्वारा निर्देशित होते रहेंगे।

श्री नेहरू की रूस यात्रा के बाद १९५५-५६ में श्री बुल्गानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के बाद शायद पहली बार कोई रूसी प्रधानमंत्री मैत्री और सद्भावना की यात्रा पर इस प्रकार अपने देश से बाहर निकला था। रूसी नेताओं की यह भारत यात्रा भारत की तटस्थता की नीति के लिए बड़े आदर व सम्मान की बात थी। भारत में रूसी नेताओं का ऐतिहासिक स्वागत किया गया। अपने महान् नागरिक सम्मान का उत्तर देते हुए श्री बुल्गानिन ने घोषणा की—"भारत सोवियत मैत्री की रचना पंचशील के विश्वसनीय तथा स्थायी आधार स्तम्भों पर की जा रही है। भारत तथा सोवियत संघ के मध्य सच्ची समानता तथा पारस्परिक लाभ के आधार पर आर्थिक एवं व्यापारिक सहयोग के विकास के लिए सभी आवश्यक स्थितियाँ पैदा कर दी गयी हैं।

भारतीय संसद के समक्ष बुल्गानिन ने कहा—"हम अपने आर्थिक तथा वैज्ञानिक अनुभव को आपके साथ बाँटने के लिए तैयार हैं।'

बंगाल में ख्रुश्चेव ने भाव विभोर होकर घोषणा की— हम अपनी रोटी का आखिर टुकड़ा भी आपके साथ बाँटकर खायेंगे।"

अपनी इसी भारत यात्रा के दौरान सोवियत नेताओं ने सार्वजनिक रूप से इस बात का समर्थन किया कि गोआ भारत का एक अभिन्न अंग है और पुर्तगाल को वहाँ रहने का कोई अधिकार नहीं है। काश्मीर और गोआ के प्रश्नों पर भारत का समर्थन करके सोवियत संघ ने प्रत्येक भारतवासी के हृदय में अपने लिए सद्भावना पैदा करने में सफलता प्राप्त की। दोनों देशों के नेताओं द्वारा एक दूसरे के देश की दी गयी सद्भावना यात्रायें मैत्री व सहयोग की प्रतीक बन गयी। १९५५ में ही उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में दोनों देशों द्वारा अपनाये गये समान दृष्टिकोण ने दोनों देशों की मित्रता को और गहरा रूप प्रदान किया। यद्यपि १९५६ में हंगरी की घटना को लेकर भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में कुछ तनाव उत्पन्न हो गया क्योंकि भारत द्वारा हंगरी में की गयी सोवियत सैनिक कार्यवाही का विरोध हुआ लेकिन यह तनाव अल्पकालिक ही रहा और इससे दोनों देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को कायम रखने की प्रक्रिया में कोई विघ्न उत्पन्न पैदा नहीं हुई।

१९५१ के बाद से ही भारत और रूस के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी

उत्तरोत्तर विकसित होते गये। १९५३ में जहाँ दोनों देशों का व्यापार कुल ८० लाख रकम पर सीमित था वहाँ १९५७ में यह राशी बढ़ कर ५ करोड़ रकम पर पहुंच गयी। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने भारत के टैक्नीकल विकास में भी मुख्यवान सहयोग दिया। इस सम्पूर्ण काल में काश्मीर के प्रश्न पर सोवियत संघ भारत को पूरा समर्थन देता रहा और सुरक्षा परिषद में उसने काश्मीर समस्या पर भारत की हर प्रकार से रक्षा की। शीतयुद्ध की विचित्र राजनीति के कारण सुरक्षा परिषद के पांच स्थायी राज्यों में से चार आक्रमणकारी पाकिस्तान का पक्ष ग्रहण करने लगे और कुछ ऐसे अवसर आये कि जब यदि सोवियत रूस पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्तावों पर निषेधाधिकार का प्रयोग न करता तो पश्चिमी राष्ट्र भारत की सम्प्रभुता की अवहेलना करने वाले प्रस्ताव पास कराने में सफल हो जाते।

निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी सोवियत संघ और भारत के दृष्टिकोणों में काफी समानता रही। १९५८ में सोवियत संघ ने अपने आणविक बमों का परीक्षण बन्द करने की घोषणा की। भारत द्वारा रूस के इस काम की दिल से प्रशंसा की गयी। इसके उपरान्त १९५९ और १९६० की महा सभा के अधिवेशनों में भी भारत द्वारा सोवियत संघ के निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों का समर्थन किया गया। १९६२ में दोनों देशों के सहयोग पूर्ण सम्बन्धों का इमारत में तब एक ईंट और रख दी गयी जब गोआ विजय के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद द्वारा भारतीय कार्यवाही की निन्दा का प्रयत्न सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग से विफल कर दिया गया। इसमें कोई संशय नहीं कि सुरक्षा परिषद में सोवियत रूस ने भारत के पक्ष में अपने निषेधाधिकार के सामयिक प्रयोगों से स्वयं को भारत का गहरा मित्र सिद्ध करने के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये। इनके कारण भारतीय जनता रूस के प्रति अधिकाधिक मत्री-भाव रखने लगी है।

अक्टूबर १९६२ में चीन का विश्वासघाती आक्रमण हुआ। एक साम्यवादी देश के आक्रमण से ऐसा लगने लगा कि सोवियत संघ और भारत के पारस्परिक सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा हो जायगा। सोवियत संघ के सामने भी विकट समस्या थी। एक तरफ तो उसका भाई चीन था और दूसरी तरफ उसका दोस्त भारत। समस्या यह पैदा हुई कि वह युद्ध में किसका पक्ष ले। आक्रमण के प्रारम्भिक समय में रूस की चुप्पी और प्रतिक्रियाओं से भारत को बड़ी निराशा और असमंजस हुई। भारत के जिम्मेदार व्यक्ति भारत सरकार से तटस्थता की नीति का परित्याग करने और पश्चिमी खेमे में शामिल हो जाने का आग्रह करने लगे। २५ अक्टूबर १९६२ के 'प्रावदा' के सम्पादकीय लेख को देखकर भारतीय जनता को प्रायः निश्चित हो गया था क्योंकि इस लेख में चुने कर है चीन की २४ अक्टूबर वाली शर्तों का समर्थन किया गया और एक प्रकार से बिना कारण की निन्दा किये चीन के पक्ष का समर्थन हुआ। इतना ही नहीं रूस द्वारा अपने पूर्व निर्णय के अनुसार भारत को दिये जाने वाले २२ मिग विमानों का निर्यात भी स्थगित कर दिया। इन सब बातों को लेकर भारत में रूस के विरुद्ध प्रतिकूल

जून १९५५ में श्री नेहरू ने सोवियत संघ की यात्रा की और वहाँ के लोगों को अपनी सहृदयता और विचारधारा से बहुत अधिक प्रभावित किया। २२ जून को श्री नेहरू और सोवियत प्रधानमंत्री श्री बुलगानिन ने इस आशय के एक संयुक्त वक्तव्य पर हस्ताक्षर किए कि दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध जो पहले से ही मैत्री तथा सहिष्णुता पर आधारित हैं भविष्य में भी पंचशील द्वारा निर्देशित होते रहेंगे।

श्री नेहरू की इस यात्रा के बाद १९५५-५६ में श्री बुलगानिन और ख्रुश्चेव ने भारत की यात्रा की। सन् १९१७ की बोल्शेविक क्रांति के बाद शायद पहली बार कोई रूसी प्रधानमंत्री मैत्री और सद्भावना की यात्रा पर इस प्रकार अपने देश से बाहर निकला था। रूसी नेताओं की यह भारत यात्रा भारत की असंलग्नता की नीति के लिए बड़े आदर व सम्मान की बात थी। भारत में रूसी नेताओं का ऐतिहासिक स्वागत किया गया। अपने महान् नागरिक सम्मान का उत्तर देते हुए श्री बुलगानिन ने घोषणा की—"भारत सोवियत मैत्री की रचना पंचशील के विश्वसनीय तथा स्थायी आधार स्तम्भों पर की जा रही है भारत तथा सोवियत संघ के मध्य सच्ची समानता तथा पारस्परिक लाभ के आधार पर व्यापार, एवं व आर्थिक सहयोग के विकास के लिए सभी आवश्यक स्थितियाँ पैदा कर ली गयी हैं।

भारतीय संसद के समक्ष बुलगानिन ने कहा—"हम अपने आर्थिक तथा वैज्ञानिक अनुभव को आपके साथ बांटने के लिए तैयार हैं।"

मंगल में ख्रुश्चेव ने भाव विभोर होकर घोषणा की—"हम अपनी रोटी का आखिर टुकड़ा भी आपके साथ बांटकर खायेंगे।"

अपनी इसी भारत यात्रा के दौरान सोवियत नेताओं ने सार्वजनिक रूप से इस बात का समर्थन किया कि गोआ भारत का एक अभिन्न अंग है और पुर्तगाल का वहां रहने का कोई अधिकार नहीं है। काश्मीर और गोआ के प्रश्नों पर भारत का समर्थन करके सोवियत संघ ने प्रत्येक भारतवासी के हृदय में अपने लिए सद्भावना पैदा करने में सफलता प्राप्त की। दोनों देशों के नेताओं द्वारा एक दूसरे के देश की यात्रायें मैत्री व सहयोग की प्रतीक बन गयीं। १९५५ में ही उपनिवेशवाद और जातीय भेदभाव से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों के सम्बन्ध में दोनों देशों द्वारा अपनाये गये समान दृष्टिकोण ने दोनों देशों की मित्रता को और गहरा रूप प्रदान किया। यद्यपि १९५६ में हंगरी की घटना को लेकर भारत और सोवियत संघ के सम्बन्धों में कुछ तनाव उत्पन्न हो गया क्योंकि भारत द्वारा हंगरी में की गयी सोवियत सैनिक कार्यवाही का विरोध हुआ, लेकिन यह तनाव अस्थायी ही रहा और इससे दोनों देशों के मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों को कायम रखने की प्रक्रिया में कोई विशेष उलझन पैदा नहीं हुई।

१९५१ के बाद से ही भारत और रूस के बीच आर्थिक सम्बन्ध भी

उत्तरोत्तर विकसित होते गये। १९५३ में जहाँ दोनों देशों का व्यापार कुल ८० लाख रूबल पर सीमित था वहाँ १९५७ में यह राशि बढ़ कर ९ करोड़ रूबल पर पहुँच गयी। इसके अतिरिक्त सोवियत संघ ने भारत के टैक्नीकल विकास में भी मूल्यवान सहयोग दिया। इस सम्पूर्ण काल में काश्मीर के प्रश्न पर सोवियत संघ भारत को पूरा समर्थन देता रहा और सुरक्षा परिषद् में उसने काश्मीर समस्या पर भारत की हर प्रकार से रक्षा की। शीतयुद्ध की विचित्र राजनीति के कारण सुरक्षा परिषद् के पाँच स्थायी राज्यों में ४ चार आक्रमणकारी पाकिस्तान का पक्ष ग्रहण करने लगे और कुछ ऐसे अवसर आये कि जब यदि सोवियत रूस पश्चिमी राष्ट्रों के प्रस्तावों पर निषेधाधिकार का प्रयोग न करता तो पश्चिमी राष्ट्र भारत की संप्रभुता की अवहेलना करने वाले प्रस्ताव पास कराने में सफल हो जाते।

निःशस्त्रीकरण के क्षेत्र में भी सोवियत संघ और भारत के दृष्टिकोणों में काफी समानता रही। १९५८ में सोवियत संघ ने अपने आणविक बमों का परीक्षण बन्द करने की घोषणा की। भारत द्वारा रूस के इस कार्य की हार्दिक प्रशंसा की गयी। इसके उपरान्त १९५९ और १९६० की महासभा के अधिवेशनों में भी भारत द्वारा सोवियत संघ के निःशस्त्रीकरण प्रस्तावों का समर्थन किया गया। १९६२ में दोनों देशों के सहयोग पूर्ण सम्बन्धों की इमारत में तब एक ईंट और रख दी गयी जब गोआ विजय के प्रश्न पर सुरक्षा परिषद् द्वारा भारतीय कार्यवाही की निन्दा का प्रयत्न सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग से विफल कर दिया गया। इसमें कोई संशय नहीं कि सुरक्षा परिषद् में सोवियत रूस ने भारत के पक्ष में अपने निषेधाधिकार के सामयिक प्रयोगों से स्वयं को भारत का गहरा मित्र सिद्ध करने के प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये। इनके कारण भारतीय जनता रूस के प्रति अधिकाधिक मैत्री भाव रखने लगी है।

अक्टूबर १९६२ में चीन का विश्वासघाती आक्रमण हुआ। एक साम्यवादी देश के आक्रमण से ऐसा लगने लगा कि सोवियत संघ और भारत के पारस्परिक सम्बन्धों में बिगाड़ पैदा हो जायगा। सोवियत संघ के सामने भी विकट समस्या थी। एक तरफ तो उसका भाई चीन था और दूसरी तरफ उसका दोस्त भारत। समस्या यह पैदा हुई कि वह युद्ध में किसका पक्ष ले। आक्रमण के प्रारम्भिक समय में रूस की चुप्पी और गतिविधियों से भारत को बड़ी निराशा और उलझन हुई। भारत के जिम्मेदार व्यक्ति भारत सरकार से तटस्थता की नीति का परित्याग करने और पश्चिमी गुट में शामिल हो जाने का आग्रह करने लगे। २५ अक्टूबर १९६२ के 'प्रावदा' के सम्पादकीय लेख को देखकर भारतीय जनता को आश्चर्य मिश्रित धक्का पहुँचा क्योंकि इस लेख में खुले रूप से चीन की २४ अक्टूबर वाली शर्तों का समर्थन किया गया और एक प्रकार से बिना भारत की निन्दा किये चीन के पक्ष का समर्थन हुआ। इतना ही नहीं रूस द्वारा प्रथम पूर्व निर्णय के अनुसार भारत को दिये जाने वाले २२ मिग विमानों का निर्णय भी स्थगित कर दिया। इन सब बातों को लेकर भारत में रूस के विरुद्ध प्रतिकूल

प्रतिक्रियाओं का ज्वार सा आ गया। लेकिन भारत सरकार रूसी रवैये के प्रति सचेत रहते हुए भी आशंकित नहीं हुई क्योंकि उसे विश्वास था कि वस्तुस्थिति का ज्ञान होने पर रूस चीन का पक्षपोषण नहीं करेगा और हुआ भी यही। धीरे-धीरे भारत पर चीन आक्रमण के सम्बन्ध में सोवियत रूस का दृष्टिकोण बदलने लगा और १ नवम्बर तक वह अपनी तटस्थ नीति पर आ गया। बाद की महत्वपूर्ण घटनाओं ने इस बात के निश्चित संकेत दे दिये कि रूस ने भारत का साथ नहीं छोड़ा है और उसका प्रभावपूर्ण राजनीतिक दबाव चीन द्वारा युद्ध-विराम की घोषणा करने का एक प्रमुख कारण रहा है। दिसम्बर १९६२ में तो सुप्रीम सोवियत के सामने भी ख्रुश्चेव ने भारत पर चीन के आक्रमण की खुली निन्दा तक की। सोवियत नीति में भारत के प्रति विरोधी रुख नहीं अपनाये जाने का सबसे प्रमुख कारण यही रहा कि अपने महान् संकट काल में घोर प्रतिक्रियाओं के बावजूद भी भारत ने असंलग्नता की नीति का परित्याग नहीं किया और पश्चिम के सैन्य संगठनों में शामिल होने से इन्कार कर दिया। जब १९६३ में चीन द्वारा कोलम्बो प्रस्ताव अमान्य ठहरा दिये गये तो भी सोवियत राजनीतिज्ञों ने चीन की कड़ी आलोचना की। इसके अतिरिक्त उनने अपने वायदे को निभाते हुए मिग विमान भी दिये और भारत में मिग विमान का कारखाना भी स्थापित किया। भारत-चीन विवाद में सोवियत रूस के इस प्रकार के न्यायपूर्ण व्यवहार के कारण ही चीन के प्रमुख पत्र Peoples daily ने लिखा कि—"पहले सोवियत रूस ने इस विवाद में तटस्थता का ढोंग किया और अब वह संयुक्त राज्य अमेरिका के साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारतीय प्रतिक्रियावादियों का खुल्लम-खुल्ला समर्थन कर रहा है।" स्पष्ट है कि भारत-सोवियत मैत्री भारत चीन संघर्ष की कसौटी पर खरी उतरी। जुलाई १९६३ में भारत सरकार की ओर से एक मिशन सोवियत संघ गया ताकि सोवियत रूस से प्राप्त होने वाली सैनिक सहायता की संभावनाओं पर विचार किया जा सके। भारतीय आशाओं का आदर करते हुए सोवियत नेताओं ने भारत को प्रभावशाली सैनिक सामग्री देने का आश्वासन दिया।

४ नवम्बर, १९६३ को रूस और भारत के बीच नयी दिल्ली में एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार भारत में तेल एवं गैस का पता लगाने तथा उन्हें विकसित करने के लिए रूस से टैक्नीशियनों को भेजने का निश्चय हुआ। रूस ने बोकारो कारखाना स्थापित करने का और एक शक्तिशाली रेडियो स्टेशन स्थापित करने में सहायता देने का वचन भी दिया। यह उल्लेखनीय है कि रूस प्रमुखतया भारत में भारी उद्योगों के ऐसे कारखाने स्थापित करने में सहयोग दे रहा है जिनके बारे में पश्चिमी देशों का सहयोग हमारे लिए लाभदायक शर्तों पर सुलभ नहीं है।

फरवरी १९६४ में जब पाकिस्तान ने सुरक्षा परिषद् में काश्मीर का प्रश्न पुनः प्रस्तुत किया तो सोवियत संघ ने भारत के पक्ष का स्पष्ट शब्दों में समर्थन करके एक बार फिर भारत के प्रति अपनी मैत्री और सद्भावना का परिचय दिया। इसके उपरान्त भारत-सोवियत मैत्री की परीक्षा का एक

स्वर्ण अवसर सितम्बर, १९६५ में भारत-पाक संघर्ष के समय उपस्थित हुआ। इस संघर्ष के दौरान सोवियत कूटनीति किसी न किसी प्रकार संघर्ष को शांत करने की रही और संभवतः इसीलिए रूस ने पाकिस्तान के कार्यों का पहले के समान विरोध नहीं किया। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उसकी नीति कुछ इसी प्रकार की रही। बाद में रूस ने जनवरी १९६६ में ताशकंद सम्मेलन का आयोजन किया और अपनी चमत्कारिक कूटनीति का प्रयोग करते हुए भारत और पाकिस्तान के मध्य ताशकंद समझौता करवा दिया।

इस समझौते के बाद से ही सोवियत नीति में पाकिस्तान के प्रति मैत्री और नरमी की नीति का व्यवहार किया जाने लगा और उसके साथ प्राविधिक सहायता के समझौते सम्पन्न हुए। पाकिस्तान के प्रति इस बदलती हुई सोवियत नीति से भारत के राजनीतिक क्षेत्रों में यह आशंका प्रकट होने लगी है कि संभवतः भविष्य में सोवियत नीति प्रत्येक प्रश्न पर विशेषकर काश्मीर के प्रश्न पर ऐसी रह सकती है कि न तो भारत को ही पूरी तरह नाराज होने का अवसर मिले और न पाकिस्तान ही यह समझे कि सोवियत रूस पाकिस्तान के पक्ष में पहले की ही समान कठोर है। एक चिन्ता का विषय यह भी है कि पाकिस्तान के नेता सोवियत रूस पर निरन्तर यह दबाव डाल रहे हैं कि पाकिस्तान को रूसी सैनिक सहायता दी जाय। यद्यपि सोवियत रूस ने अभी तक पाकिस्तान को सैनिक सहायता प्रारम्भ नहीं की है किन्तु इस बात के संकेत अवश्य मिलने लगे हैं कि सोवियत रुख में पूर्वापेक्षा कुछ नरमी आयी है। यदि रूस द्वारा वास्तव में पाकिस्तान को सैनिक सहायता दी गयी तो रूसी शस्त्रास्त्र भारत के लिए उतने ही घातक सिद्ध होंगे जितने अमरीकी शस्त्रास्त्र होते रहे हैं। साथ ही रूस द्वारा ऐसा कदम उठाये जाने से भारत के राजनीतिक और सामाजिक सभी क्षेत्रों में सोवियत रूस की भारत के प्रति सद्भावना में भी शंकाएँ उठ खड़ी होना अस्वाभाविक न होगा। सोवियत कूटनीति किस दिशा में बहेगी इसका निश्चय केवल भविष्य ही करेगा।

भारतीय विदेश नीति का मूल्यांकन
(Evaluation of India's Foreign Policy)

भारत की विदेशी नीति और विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के साथ भारत के सम्बन्ध पर विस्तार से समीक्षात्मक अध्ययन करने के उपरान्त भारतीय विदेश नीति आज भी अतिशयोक्ति पूर्ण प्रशंसा और अनुचित निन्दा दोनों ही का विषय है। प्रशंसकों का कहना है कि भारत ने शान्ति और सहअस्तित्व की नीति पर चलते हुए अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अभूतपूर्व प्रतिष्ठा और सम्मान प्राप्त किया है तथा पाकिस्तान से चीन के साथ सशस्त्र संघर्ष में भी इस नीति की उपादेयता कसौटी पर खरी उतरी है। इसके विपरीत आलोचकों का मत है कि भारत की विदेशी नीति अविवेकपूर्ण असफल और नासमझी रही है तथा इसके द्वारा अतीत में जो कुछ भी प्रतिष्ठा व सम्मान भारत को मिला वह एक कोरा दिखावा कहा जा सकता है। पाकिस्तान और चीन से संघर्ष की हमारी संकटकाल की घड़ियों ने यह प्रमाणित कर दिया

है कि असंलग्नता की नीति के कारण हम न कोई पक्का मित्र बना सके हैं और न अपनी प्रतिष्ठा और सम्मान को कायम रखने में ही सफल हो सके हैं। असंलग्नता की नीति विदेशों के लिये तो एक भ्रांति है ही, स्वयं अपने प्रति भी एक धोखा ही है। आलोचकों द्वारा भारत की विदेश नीति की बहुधा जो आलोचनायें की जाती हैं वे साररूप में इस प्रकार हैं—

प्रथम यह अत्यधिक आदर्शवादी और भावना प्रधान है। 'शांति दूत' की प्रतिष्ठा पाने के लिये हमने अपने राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा की है। उदाहरणार्थ तिब्बत सम्बन्धी नीति भारत की विदेश नीति की आदर्शवादिता और असफलता का ज्वलंत उदाहरण है।

दूसरे, भारतीय और विदेशी दोनों ही आलोचकों का मत है कि भारत की विदेश नीति को स्वतन्त्र कहना एक भ्रांति है। वस्तुतः यह निष्पक्ष और स्वतन्त्र रही ही नहीं। रोजिंगर ने १९६० में लिखा था—"नई दिल्ली ने अन्य निर्बल शक्तियों की अपेक्षा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विषयों पर अधिक स्वतन्त्रता पूर्वक निर्णय किया है। किन्तु ज्यों-ज्यों महाशक्तियों के मध्य से तनाव अधिक बढ़ता गया है भारत सरकार स्वतन्त्र विदेश नीति का दावा करते हुए भी ग्रेट ब्रिटेन और संयुक्तराज्य अमेरिका और झुकती गई है। बाद की घटनाओं ने रोजिंगर के १९६० में लिखे गये शब्दों को और भी सिद्ध कर दिखाया। ब्रिटेन का पक्षपाती होते हुए भारत ने साइप्रस के प्रश्न पर १९५४ और १९५५ में महासभा में वोट नहीं दिया मलाया में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के अत्याचारों का उतना प्रबल प्रतिवाद नहीं किया जितना हिन्द-चीन में फ्रेंच साम्राज्यवाद का किया। इसी तरह अरब-इजरायल सम्बन्धों के प्रति हमारी नीति निष्पक्षता और तटस्थता की नहीं रही है। इजरायल की तुलना में हमने सदैव अरबों का पक्षपात किया है। शांति-दूत भारत ने अरब राज्यों पर यह दबाव डालने की प्रभावशाली चेष्टा अतीत में कभी नहीं की कि उन्हें इजरायल के अस्तित्व को मान्यता दे देनी चाहिए। सन् १९६७ के हाल ही के अरब-इजरायल संघर्ष में भारत ने पूरी तरह अरबों का एकपक्षीय पक्ष लेकर अपनी असंलग्नता की नीति का खोखलापन सिद्ध कर दिया है। विरोधियों का आरोप है कि भारत का शांतिवाद कोरा ढोंग है दूसरों को अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समझौते की सीख देने वाला भारत अपने ही पड़ौसी पाकिस्तान के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका है।

तीसरे राजगोपालाचार्य जैसे राजनीतिज्ञों ने भारत की असंलग्नता की नीति को राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल मानते हुए कहा है कि इस नीति के कारण विश्व का एक भी राज्य हमारा पक्का मित्र नहीं रह गया है उल्टे हमारे दो शक्तिशाली शत्रु हैं—चीन और पाकिस्तान। भारत की विदेशी नीति पर राष्ट्रीय हितों की रक्षा करने में सर्वथा असमर्थता का आरोप लगाते हुए श्री ए. डी. गोरवाला ने १६ नवम्बर, १९६२ को 'Indian Council of

World affairs' की एक बैठक में दिल्ली में कहा— "विदेश नीति का लक्ष्य देश के हितों को सुरक्षित करना और बढ़ाना होता है। सबसे बड़ा हित राष्ट्र की अखण्डता (Integrity) है। इसमें हमारी नीति विफल सिद्ध हुई है। चीन ने हमारे विशाल प्रदेश पर अधिकार कर लिया है भारी सैनिक सहायता से ही उसे जीता जा सकता है किन्तु हमारे प्रधान मन्त्री समझौते की बातें करने के आदि हैं। भारतीय भ्रान्तियों के जगत् में रह रहे हैं वे सोवियत संघ पर बड़ा विश्वास कर रहे हैं कि वह उन्हें मिग-२१ विमान देगा। किन्तु वह भारत को जितने विमान देगा उससे तीन गुने विमान चीन को भी देगा।"

चौथे आलोचकों का कहना है कि भारत द्वारा पाश्चात्य देशों विशेष कर अमेरिका के साथ सैनिक गुटबन्दियों में सम्मिलित न होना एक भारी भूल है। श्री गोखले के शब्दों में "भारत को पश्चिम के साथ सैनिक सम्बन्ध सुदृढ़ करने में नहीं हिचकना चाहिये।" श्री राजगोपालाचारी जैसे माने माने कूटनीतिज्ञ का भी यही मत है कि भारत को पश्चिमी देशों के साथ अधिक घनिष्ठता से सम्बद्ध होना चाहिये। बहुधा यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि जो देश सैनिक सन्धियों के द्वारा पश्चिमी देशों के साथ सम्बद्ध हैं उन पर चीन अथवा कोई अन्य साम्यवादी राष्ट्र आक्रमण करने का साहस नहीं करता। उदाहरण के फारमोसा को साम्यवादी चीन अपना बताता है परन्तु अमेरिका का फारमोसा को पूरा सैनिक समर्थन होने से वह उधर झाँकने की भी हिम्मत नहीं करता। इसी तरह हांगकांग व मकाओ चीन के प्रदेश हैं लेकिन इनके स्वामी ग्रेट ब्रिटेन और पुर्तगाल नाटो सन्धि-संगठन के सदस्य हैं अतः चीन उन पर अधिकार करने का साहस नहीं करता। फिलिपाइन द्वीप समूह और दक्षिणी वियतनाम चीन के आक्रमण से इसलिए सुरक्षित हैं कि उन्हें अमेरिका का शक्तिशाली सैनिक संरक्षण प्राप्त है। यह तर्क दिया जाता है कि यदि भारत भी पश्चिमी देशों के सैनिक संगठन का सदस्य होता तो प्रथम तो चीन भारत पर हमला ही नहीं करता और दूसरे यदि करता भी तो भारतीय सेनायें पश्चिम के आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों से इतनी सुसज्जित होतीं कि उसे सेला, बोमडिला और वेलोंग जैसे भीषण और अपमानजनक पराजयों का सामना नहीं करना पड़ता। आचार्य कृपलानी का भी यही मत है कि "चीन के साथ हमारे बिगड़े हुए सम्बन्धों के कारण हमें सोवियत रूस का अधिक भरोसा नहीं करना चाहिये तथा पश्चिमी राष्ट्रों के साथ घनिष्ठता बढ़ानी चाहिये। उनके शब्दों में "चीन रूस का भाई है जबकि भारत उसका मित्र मात्र है। भारत-चीन संघर्ष में सोवियत रूस तटस्थ रहा क्योंकि वह यह समझता है कि भारत में साम्यवाद फैलाने के लिए चीन ही पर्याप्त है। यह तथ्य स्पष्ट है कि सोवियत रूस ने चीन के विरुद्ध हमारी सहायता नहीं की जबकि पश्चिमी देशों द्वारा हमारी सहायता करने में किसी प्रकार की देरी नहीं की गई।" पुनः श्री कृपलानी के अनुसार "रूस इस संघर्ष में तटस्थ और उदासीन है क्योंकि वह समझता है कि इस संघर्ष के लिए चीन ही पर्याप्त है। उसने चीन को आक्रान्ता नहीं समझा जबकि पश्चिमी देश उसे ऐसा समझ कर हमें पूरी सैनिक सहायता दे रहे हैं।"

पांचवें भारत की विदेश नीति प्रारम्भ से ही अवास्तविक और गलत आधारों पर आश्रित रही है। चीन और पाकिस्तान के प्रति हमारी तुष्टीकरण की नीति ने ही हमें इतना अधिक नुकसान पहुँचाया है। चीन से भारत के मतभेदों के आसार अक्टूबर १९५० से ही स्पष्ट होने लग गये थे। किन्तु तथ्यों की ओर से आँखें मूंदते हुए चेम्बरलेन की भांति हिटलर माओ को सन्तुष्ट रखने के लिए भारत ने १९५४ में तिब्बत का समझौता किया और वहाँ चीन की प्रभुता को स्वीकार कर लिया तथा अपने सभी बहिर्राष्ट्रीय अधिकारों को तिलांजलि दे दी। इतना ही नहीं पंचशील के सिद्धान्तों में चीन की आस्था को हम हमारी कूटनीति की महान विजय मान बैठे जबकि वास्तविकता यह थी कि मित्रता के नाते में अपनी शक्ति का भय दिखा कर चीन ने तिब्बत को पूरी तरह अपने अमानुषिक पंजे से दबोच लिया था और पंचशील की आड़ में अपनी भावी आक्रामक योजनाओं की तैयारी में लगा था। पंचशील तो एक आवरण था जिसे ओढ़ कर चीन ने आवश्यक समय तक अपनी शान्तिप्रियता का ढिंढोरा पीटना जरूरी समझा और ज्योंही उसकी सैनिक तैयारियाँ पूरी हो गईं उसने पंचशील की नकाब को उतार फेंका। भारत ने चाणक्य नीति के इस सिद्धान्त की उपेक्षा की कि—पड़ौसी को शत्रु समझो अत्यन्त विश्वस्त मित्र पर भी भरोसा न करो। हमने चीन पर अन्ध विश्वास करके हिन्दी चीनी भाई-भाई के नारे लगाए संसार में पंचशील और शान्ति का ढिंढोरा पीटा अपनी नीति का आधार शक्ति के स्थान पर शांति को इतना बनाया कि शांति की उपासना में हम अपने विशाल राष्ट्र की प्रतिरक्षा के लिए आवश्यक सैनिक तैयारियों की उपेक्षा कर बैठे। हमारी सैनिक निर्बलता का परिणाम यह निकला कि चीन के विश्वासघाती बर्बर आक्रमण के समय हमें अपमानजनक पराजय और क्षति उठानी पड़ी। भारत की विदेश नीति ने इस मौलिक सिद्धान्त को विस्मृत किया कि शांति शक्ति से आती है और हिटलर को मित्रराष्ट्रों ने अपनी उत्कृष्ट सैनिक शक्ति से ही पराजित किया था।

छठे भारत अपनी नीति को तटस्थता और असंलग्नता की नीति कहता है, परन्तु जब साम्यवादी गुट के एक बड़े सदस्य के साथ युद्धरत अवस्था में होते हुए दूसरे गुट के पश्चिमी देशों से प्रचुर परिमाण में आर्थिक और सैनिक सहायता ली जाये तो क्या हमारी नीति असंलग्नतावादी कही जाती है?

सातवें भारत की विदेश नीति अपने मित्र और शत्रु की परीक्षा करने में सदैव असफल रही है। देश पर चीनी आक्रमण के समय हमारी सहायता उन राष्ट्रों ने की जिनकी हम कटु आलोचना करते रहे हैं। संयुक्त अरब गणराज्य इण्डोनेशिया घाना आदि राष्ट्र जिनके लिए भारत ने बहुत कुछ किया हमारे सङ्कटकाल में मौनदर्शक की भांति चुपचाप बैठे रहे। मलाया ने जिसको भारत का सक्रिय समर्थन इण्डोनेशिया आदि राष्ट्रों की तुलना में नहीं के बराबर मिला हमारा पूर्ण समर्थन किया। इसी प्रकार इजरायल ने जिसकी मित्रता को भारत ने अरब राज्यों का ख्याल रखते

हुए इसका ठुकराया, १९५५ में सुरक्षा परिषद् के चुनाव में भारत का साथ दिया।

आठवें, भारत की विदेश नीति का यह एक मुख्य दोष रहा है कि एक ओर तो इसने सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं के अन्तर पर ध्यान दिये बिना ही सब देशों की मित्रता प्राप्त करने का प्रयास किया है और दूसरी ओर मित्रों का सा व्यवहार करना न सीखने के कारण इस नीति ने किसी भी राष्ट्र को सन्तोष नहीं दिया है। अनेक मित्रों के सम्बन्ध में हमारे मन में कई गलत धारणायें बनी हुई हैं ऐसी परिस्थिति में किसी प्रकार की मित्रता रहना असम्भव है। सभी देशों को मित्र बनाने की नीति अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों की रचना करती है उदाहरण के लिए प्रश्न उठ सकता है कि एक प्रजातन्त्रात्मक देश होते हुए भी क्या हम एक सम्पूर्णतावादी राज्य के साथ अपने मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाये रख सकते हैं अथवा समाजवादी समाज में विश्वास रखते हुए पूंजीवादी राष्ट्रों की मित्रता हम कितना उपयोगी रहेगी।

नवें भारतीय विदेश नीति के कर्णधारों ने समय-समय सहिष्णुता-पूर्ण व्यवहार की शिक्षा दी है किन्तु उनका स्वयं का व्यवहार कई बार असहिष्णुतापूर्ण रहा है। हम घटना या वस्तु स्थिति को जिस प्रकार देखते हैं चाहते हैं कि दूसरे भी इसी रूप से देखने लगें। जब हम दूसरे देशों की आलोचना करते हैं तब भी एक पक्षीय दृष्टिकोण अपनाते हैं तथा दोहरे स्तर के दोष से दूषित बन जाते हैं। हम अमरीका द्वारा की गई सैनिक संधियों की कटु आलोचनायें करते हैं। किन्तु सोवियत रूस द्वारा की गई संधियों की ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हमारे नीति-निर्माताओं ने कई बार कहा है कि वे तो सिद्धान्तों से नहीं भागेंगे किन्तु व्यवहार में उन्होंने अपने कथन का पालन कम किया है। हमारी नीति प्रायः केवल शब्दों तक ही सीमित रही है। पाकिस्तान व चीन के साथ भी मजबूर होकर हमें हथियार उठाना पड़ा था नहीं तो शान्ति व अहिंसा के समर्थक हम ने कभी भी शक्ति-प्रयोग की दिशा में सोचा न था। यह हमारी अवास्तविक नीति का एक प्रमाण है। हमने 'प्रचार' रूपी अस्त्र का इतना कम प्रयोग किया है कि विश्व के देश कई प्रश्नों पर सही रूप में हमारे दृष्टिकोण को अभी तक नहीं समझ पाये हैं। यह कहा जाता है कि भारत ने दोनों गुटों के बीच पुल का काम किया है। यह काम दूसरों की अपेक्षा हमारे द्वारा ही अधिक प्रशंसा का पात्र बना है। किन्तु यह काम यदि हमने संभाला भी है तो इसे अपने सिद्धान्तों का बलिदान किये बिना पूरा कर सकेंगे इसमें सन्देह है।

भारतीय विदेश नीति की जो विभिन्न आलोचनाएं की गयी हैं उन में अत्युक्ति, अतिरंजना और एक पक्षीयता का बाहुल्य है। ये आलोचनाएं अधिकांशतः ठोस तथ्यों पर आधारित न होकर भावावेश का परिणाम हैं। यह सत्य है कि स्वतन्त्रता के २० वर्ष के इतिहास में कुछ ऐसे जटिल अवसर

उपस्थित हुए हैं जब असमंजस में पड़ कर भारत की विदेश नीति निर्पेक्ष रहने से विचलित हो गयी किन्तु सन्देह और अस्पष्टता का कोहरा हटते ही वह पुनः असंलग्नता और निर्पेक्षता के मार्ग पर आ गयी। इस प्रकार के ऐतिहासिक मार्ग-निर्धारण के आधार पर यह कहना निश्चित रूप से अतिरंजनपूर्ण है कि भारतीय विदेश नीति असंलग्नता के चोले में पक्षपातपूर्ण है। प्रत्येक राष्ट्र की विदेश नीति का मूल लक्ष्य अपनी सुरक्षा समृद्धि और स्वतन्त्रता की रक्षा करते हुए देश के हितों की अभिवृद्धि करना होता है और इसीलिए कुछ अवसरों पर कूटनीति का आश्रय लेते हुए कतिपय ऐसे काम भी करने पड़ते हैं कि जिनसे लोगों में यह भ्रम पैदा हो सकता है कि विदेश नीति अपनी दिशा बदल रही है। भारत की विदेश नीति भी कतिपय अवसरों पर इसी प्रकार के भ्रम का शिकार बनी है और फिर भी राष्ट्र-हित की दृष्टि से यदि कोई सामयिक दिशा परिवर्तन हुआ भी हो तो उसके आधार पर विदेश नीति के सम्पूर्ण आधार को ही आद्योपान्त आलोचना का पात्र नहीं बनाया जा सकता। यदि आलोचक भारत की विदेश नीति पर ब्रिटेन या अमेरिका पक्षपाती होने का आरोप लगाते हैं तो उन्हें यह याद क्यों नहीं रहता कि अक्टूबर १९५६ में स्वेज-काण्ड पर भारत ने ही ब्रिटेन की कठोरतम भाषा में निन्दा की, जुलाई १९५८ में लेबनान और जोर्डन में अमेरिकन तथा ब्रिटिश फौजें उतारे जाने का उग्र विरोध किया, १९५८ में साइप्रस की राष्ट्रीय आकांक्षाओं का समर्थन करते हुए उसके विभाजन की कटु आलोचना की और सैनिक गठबन्धनों की पश्चिमी नीति की हमेशा उग्रतम छिछालेदारी की। आज भी वियतनाम युद्ध के प्रति अमेरिकन नीति का भारत एक कठोर आलोचक है।

यह कहना एक बचकानी बात है कि इस या उस राष्ट्र से आर्थिक व सैनिक सहायता लेने से हमारी असंलग्नता अथवा तटस्थता की नीति विचलित होती है। भारत की विदेश नीति का लक्ष्य राष्ट्रीय हित को बढ़ाना है, देश की अखण्डता, स्वतन्त्रता, प्रभुसत्ता और लोकतन्त्रात्मक पद्धति का संरक्षण देना है और इन सबके लिए आर्थिक प्रगति के प्रत्येक सम्भव न्यायोचित उपाय करना है। भारत जैसे नवोदित स्वतन्त्र राष्ट्र की आर्थिक उन्नति के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है—विकसित देशों से प्रचुर मात्रा में पूँजी की व मशीनों तथा तकनीकी व्यक्तियों की सहायता मिले, सहायता सभी देशों से मिले चाहे वे किसी भी गुट के हों, एवं विश्व में यथासम्भव हर कीमत पर शान्ति बनी रहे। यदि ध्यान से देखा जाय तो स्वाधीन भारत का २० वर्ष का इतिहास इन तीनों ही नीतियों पर चलने का इतिहास है। भारत सभी से शांति और मैत्री चाहता है और इसीलिए सभी से हर सम्भव सहायता लेने को तैयार रहता है। असंलग्नता की नीति को खतरा तो तब है जब प्राप्त की जाने वाली सहायता सशर्त हो। परन्तु भारत ने आज तक जो भी सहायता ली है उसके साथ किसी प्रकार की राजनीतिक शर्तों का अभाव है। अपनी सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता का पूर्णतः अक्षुण्ण रखते हुए ही भारत ने आर्थिक व सैनिक सहायता 'पश्चिम' और पूर्व से ली है। चीन के आक्रमण से उत्पन्न घोर संकटकाल में भी

भारत ने पश्चिमी देशों से जो सैनिक सहायता प्राप्त की वह बिना किसी शर्त के थी और विश्व की महाशक्तियों ने भारत के इस धैर्य और उसकी दृढ़ता की प्रशंसा की। इसीलिए अमेरिकन राजदूत गैलब्रेथ ने कहा—"फौजी सहायता देकर हम भारत को पश्चिमी देशों के सैनिक गुट में शामिल नहीं करना चाहते और न हम भारत की तटस्थ नीति को बदलने के ही समर्थक हैं। "अमेरिका भारत की तटस्थ नीति का स्वागत करता है।" फिर आलोचक यह भूल जाते हैं कि यदि भारत किसी एक गुट से बंध जाता तो उसे दूसरे गुट से सहायता नहीं मिल पाती और फिर यह भी निश्चित नहीं था कि जिस गुट से भारत बंधा है वह भी आवश्यकतानुसार भारत को सहायता देता ही। भारत-पाक संघर्ष और उसके बाद अमेरिका के द्वारा पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक और आर्थिक सहायता पर प्रतिबन्ध लगाया जाना इस सम्भावना को स्पष्ट करता है। एक गुट के साथ मिल जाने से भारत प्रत्येक दृष्टि से उसी गुट के हाथों पराधीन हो जाता और उसकी नीति का स्वतन्त्र निर्धारण नहीं हो पाता। उदाहरणार्थ भारत ने चीनी आक्रमण से पहले और बाद में पश्चिम से अतिस्वन (Supersonic) जेट विमान खरीदना चाहा और यह मांग रखी कि वे इन विमानों को तैयार करने के कारखाने भी भारत में स्थापित करने में सहयोग दें। परन्तु ब्रिटेन व अमेरिका विमान बेचने को तैयार हो गये लेकिन इनके निर्माण का कारखाना बनाने को तैयार नहीं हुए क्योंकि तब भारत भविष्य में इन विमानों के बारे में आत्म-निर्भर हो जाता। इस पर भारत ने सोवियत संघ से बात की और भारत की आवश्यकता पूरी करने के लिए वह तुरन्त इस बात के लिए तैयार हो गया कि वह न केवल मिग विमान बेचेगा बल्कि इनके निर्माण का कारखाना भी स्थापित करेगा। और रूस ने अपने इस वचन को निभाया भी। एक पक्ष के साथ बंध जाने पर भारत को इस तरह का लाभ नहीं मिलता। यह एक पक्ष में बंधने का ही परिणाम है कि पाकिस्तान शस्त्रास्त्रों के लिए पूरी तरह विदेशों का मोहताज है जबकि भारत अपनी लगभग ८० प्रतिशत सैन्य सामग्री का उत्पादन स्वयं कर रहा है।

भारतीय विदेश नीति के कुछ आलोचकों का कहना है कि यदि भारत पश्चिमी गुट के साथ सैनिक सन्धि में आबद्ध होता तो चीन उस पर आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं करता। लेकिन इस प्रकार की आलोचना करने वाले यह क्यों नहीं ध्यान रखते कि सैनिक गुटबन्दी से हमारी स्वाधीनता का ही विनाश हो सकता है। गुट विशेष के साथ सैनिक दृष्टि से सम्बद्ध हो जाने पर हमारी स्वतन्त्र निर्णय शक्ति काम नहीं देती और हम सैनिक सहायता देने वाली शक्तिशाली सत्ता की इच्छा के अनुसार चलना पड़ता है व अनेक बार अपनी इच्छा और भावना के प्रतिकूल काम करने पड़ते हैं। वियतनाम में अमेरिका का सैनिक हस्तक्षेप इस बात का प्रमाण है कि दक्षिण वियतनामी सरकार को काम वही करना पड़ता है जो अमेरिकन सरकार चाहती है। इसी तरह दक्षिणी कोरिया की सरकार पर अमेरिका का कितना प्रभाव व्याप्त था और है—यह सभी जानते हैं। विदेशी सैनिक हस्तक्षेप में हमारी प्रभुसत्ता निश्चित रूप से न्यूनाधिक मात्रा में विगलित होती है। इसके अतिरिक्त

राष्ट्र में आत्मरक्षा के लिए परावलम्बी होने की भावनाओं को प्रोत्साहन देता है। विदेशी सैनिकों के बल पर हम चीन को आगे बढ़ने से रोक सकते हैं लेकिन हम उनकी कृपा पर ही कब तक रहेंगे। समस्या का सच्चा समाधान तो इसी में है कि हम अपनी स्वयं की शक्ति का विकास करके शत्रु को पराजित करने की सामर्थ्य उत्पन्न करें। अपनी आत्म रक्षा के लिए दूसरे की शक्ति का भरोसा करना अपने राष्ट्र को नपुंसक मानना है और निश्चयत कोई भी स्वाधीनता प्रेमी स्वाभिमानी राष्ट्र इसे स्वीकार नहीं कर सकता श्री नेहरू के ये शब्द आज भी सत्य हैं और भविष्य में भी रहेंगे कि—"हम अपने देश की रक्षा का भार किसी को कैसे सौंप सकते हैं यदि हम अपने देश की आजादी की रक्षा स्वयं नहीं कर सकते तो हमें आजाद होने का क्या अधिकार है?" वास्तव में इस बात में किसी को शङ्का उठनी ही नहीं चाहिए कि सैनिक गुट में सम्मिलित होने की नीति किसी भी अवस्था में हमारे राष्ट्रीय हित और गौरव की दृष्टि से श्रेयस्कर नहीं हो सकती। भारत की असंलग्नता और तटस्थता की नीति विश्व में शान्ति स्थापित रखने में समय-समय पर सहायक बनी है। चीनी आक्रमण के बाद दिसम्बर १९६२ में जर्मनी के तत्कालीन प्रधानमन्त्री एडेनॉर ने बमन समय में कहा था—'यदि भारत सीटो या सेण्टो का सदस्य होता तो चीनी हमले के समय विश्व युद्ध छिड़ जाता। मेरा निश्चित मत है कि भारत की तटस्थ नीति का असर यह है कि प्रत्येक हमले को सीमित क्षेत्र में ही रख कर समाप्त कर दिया जाय। यह नीति पूरे विश्व के हित में है।"

भारत की विदेश नीति की सफलता का एक स्पष्ट प्रमाण यह है कि पूर्व और पश्चिम के दोनों गुटों ने इस नीति की सराहना की है। अमेरिका इस बात को समझता है कि भारत एशिया में लोकतन्त्र का प्रबल समर्थक है और उसकी सफलता एशिया के अन्य देशों को प्रजातन्त्र का अनुगामी बनाने में सहायक होगी। यदि भारत को चीनी आक्रमण के समय अमेरिका ने व अन्य पश्चिमी राष्ट्रों ने बिना शर्त सैनिक सहायता दी तो इसीलिए कि भारत की आजादी और लोकतन्त्र के महत्व को उन्होंने समझा। अमेरिका भारत की तटस्थ नीति को पहले भले ही प्रशंसा की दृष्टि से न देखता हो किन्तु अब उसके मत में निश्चित रूप से अनुकूल परिवर्तन हो गया है। वह यह समझने लगा है कि भारत के पश्चिमी सैनिक गुट के साथ आबद्ध होने का यह स्वाभाविक परिणाम होगा कि सोवियत रूस और चीन एक दूसरे के अधिक निकट आने की आवश्यकता महसूस करेंगे क्योंकि तब शक्ति-सन्तुलन उनके विपरीत हो जायेगा। चीन और रूस की संयुक्त वैज्ञानिक व सैनिक शक्ति संयुक्त राज्य अमेरिका के लिए एक भयावह स्थिति पैदा कर देगी। अत अमेरिका का हित इसी में है कि इन दोनों राष्ट्रों में मतभेद विद्यमान रहें और फूट बढ़ती रहे तथा भारत अपनी तटस्थता की नीति बनाये रखे। ब्रिटिश राजदूत सर डेविड आर्म्सबी गोर ने नवम्बर १९६२ में कैलीफोर्निया के राष्ट्रमण्डल-क्लब में भाषण देते हुए कहा था—'हमारी इच्छा यह नहीं है कि हम भारत को स्वयं इच्छापूर्वक वरण की हुई गुटों से अलग रहने की नीति छोड़ने की प्रेरणा दें। ऐसा करने से चीनी और रूसी साम्यवादियों को अपने पर्याप्त मतभेद

समाप्त करने की तथा भारत एवं ऐसे नव देशों के विरुद्ध एक हान की प्र रणा मिलगी जो इस समय भारत की सहायता कर रहे हैं। रूस और भारत में जिस सीमा तक सहयोग जारी रहना है वह रूस और चीन के मतभेदों को बढ़ाने वाला है और साम्यवाद के विरोधियों को सान्त्वना प्रदान करने वाला है। ठीक इसी प्रकार इंगलैण्ड के सुप्रसिद्ध पत्र 'मैंचेस्टर गार्जियन' ने भारत की नीति का पक्ष-पोषण करते हुए १७ नवम्बर १९६२ के सम्पादकीय में लिखा था— 'युद्ध में और युद्ध-समाप्ति के प्रयत्न में भारत सरकार का इसमें बड़ा लाभ होगा कि वह सोवियत संघ का समर्थन या कम से कम उसकी लाभदायक तटस्थता को प्राप्त कर। भारत के लिये यह उचित नहीं है कि वह पश्चिम का मायोप्स-तुल्य की भुजाओं में अकेला—जहाँ यह जाना नहीं चाहता—छोड़ दे। भारत की गुटों से अलग रहने की नीति तब तक अवश्य जारी रहनी चाहिए, जब तक सोवियत सरकार इस नीति को असम्भव ही न बना दे। श्री नेहरू इस बात को अच्छी तरह समझते हैं। सम्भवतः श्री कनेडी और श्री मैकमिलन भी ऐसा ही मानते हैं।"

चीनी आक्रमण के समय और उसके बाद न केवल पश्चिमी गुट ने बल्कि साम्यवादी गुट के अधिकांश देशों ने भी भारत की विदेश नीति की उपयुक्तता में पुन विश्वास प्रकट किया। दिसम्बर १९६२ में श्री ख्रुश्चेव ने कहा—"भारत की तटस्थ नीति ने विश्व के रंगमंच पर भारी राजनीतिक और नैतिक शक्ति प्राप्त कर ली है।" रूसी पत्र प्रावदा ने भी अनेक बार स्पष्ट लिखा कि चीन ने भारत पर हमला करके न केवल उसे अमेरिकन गुट में धकेलने का प्रयत्न किया है बल्कि विश्व शांति के लिए भारी खतरा पैदा किया है।

स्पष्ट है कि चीन के आक्रमण ने भारतीय विदेश नीति के खोखलेपन को नहीं बल्कि उसकी उपयुक्तता को सिद्ध किया। संकट काल में भारत को दोनों पक्षों की ओर से समर्थन मिला और रूस तथा चीन के सैद्धान्तिक मतभेद की खाई भारत को लेकर और अधिक चौड़ी हो गई। आज स्थिति यह है कि भारत पर हमला करने वाला चीन विश्व राजनीति में अकेला पड़ गया है और केवल इने-गिने राष्ट्रों के अतिरिक्त शेष विश्व का उसे कोई समर्थन नहीं है। चीनी आक्रमण ने भारत की विदेश नीति की असफलता प्रमाणित नहीं की हाँ उसकी कुछ कमियों को अवश्य स्पष्ट किया और भारत यह समझ गया कि उसे अपनी सैनिक निर्बलता को दूर करना होगा। इस अनुभूति के फलस्वरूप भारत की विदेश नीति में अधिक यथार्थवादिता का समावेश हुआ जो भारत-पाक युद्ध के दौरान पूर्णत स्पष्ट हो गई।

सितम्बर १९६५ में पाकिस्तानी आक्रमण होने के बाद भारतीय विदेश नीति एक बार फिर बहुमुख आलोचना का शिकार बनी। आलोचकों ने यह सिद्ध करने का असफल प्रयास किया कि भारतीय विदेश नीति पूर्णतः असफल रही है और इसमें कोई दम नहीं है। असंलग्नता की नीति पर

कठोर प्रहार करते हुए नवम्बर, १९६५ में श्री कृपलानी ने कहा—"यह सिद्धान्त कोरी बकवास मात्र (Unmitigated nonsense) है यह कुछ समय के लिए नीति हो सकती है किन्तु सदा के लिये इसे विदेश नीति नहीं बनाया जा सकता। विदेश नीति के मौलिक सिद्धान्त हैं—आत्म संरक्षण और देश के न्यायोचित स्वार्थों की रक्षा। इसके अतिरिक्त कोई अन्य सिद्धान्त निरर्थक व बेहूदा बात है। गुटों से अलग रहने की नीति को अब इसलिए बदला जाना चाहिए कि अब विश्व को दो भागों में विभक्त करने वाले कोई गुट नहीं रहे हैं। भारत विश्व में शान्ति बनाये रखने का उपदेश देता है यह 'छोटे मुंह बड़ी बात' है। विश्व की वर्तमान स्थिति में हिंसा का अभी तक कोई विकल्प नहीं ढूंढा जा सकता। भारत की विदेश नीति को परम्परागत हिंसा के साधनों के अतिरिक्त किसी अन्य साधन से क्रियान्वित नहीं किया जा सकता। आज देश में हमारी विदेश नीति की सफलता का ढोल पीटा जा रहा है किन्तु यह विदेश नीति की सफलता नहीं किन्तु भारतीय सेना की सफलता है। विदेश नीति की सफलता सब परिस्थितियों को सही रूप में समझने पर अवलम्बित होती है। क्या भारत ने सिक्यांग चीन पाकिस्तान को भलीभांति समझा है? भारत ने अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को अहिंसा द्वारा हल करने का प्रयत्न किया है। किन्तु यदि भारत ने माओत्सेतुंग का मत भांति समझा होता तो चीन के हाथों परास्त न होते।"

श्री कृपलानी की यह आलोचना आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी धर्मनिरपेक्षता की नीति के बारे में सही नहीं थी। भारत पाक युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया था पश्चिमी राष्ट्र काश्मीर के मामले में पहले ही की तरह पाकिस्तान के साथ सहानुभूति रखते हैं। यदि इस समय अपनी तटस्थ विदेश नीति के कारण भारत को रूस का समर्थन न मिलता तो सुरक्षा परिषद सम्भवतः ऐसा प्रस्ताव कभी पास नहीं करती कि पाकिस्तान और भारत के सभी सशस्त्र व्यक्ति ५ अगस्त १९६५ की पूर्व स्थिति पर लौट जांय। इस संदर्भ में ब्रिटेन और अमेरिका के पक्षपातपूर्ण रवैये को देखकर भारत में पश्चिमी देशों के साथ सैन्य समझौतों और गठबन्धनों पर बल देने वाले स्वतन्त्र दल तक को गहरी निराशा हुई। इस निराशा की अभिव्यक्ति श्री मसानी के उस वक्तव्य में हुई जिसमें उन्होंने रूस के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध सुदृढ़ करने पर बल दिया। इस अवसर पर श्री शास्त्री ने कहा— मैंने पहली बार स्वतन्त्र दल के नेता श्री मसानी को यह कहते हुए सुना है कि हम सोवियत संघ से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बढ़ाने चाहिए। इससे पहले मैंने कभी उनसे ऐसी बात नहीं सुनी थी। चूंकि श्री मसानी ने ऐसा कहा है अतः गुट निरपेक्षता या धर्मनिरपेक्षता की नीति का समर्थन करने के लिए कोई दूसरा तर्क देने की आवश्यकता नहीं है। श्री शास्त्री ने आगे कहा कि भारत की धर्मनिरपेक्षता की नीति का सबसे बड़ा प्रमाण यही है कि संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सैनिक सन्धियों में बंधने वाला पाकिस्तान अब उसके कट्टर शत्रु चीन से अपने सम्बन्धों को घनिष्ठ बना रहा है और रूस से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर रहा है।

उपरोक्त सम्पूर्ण विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत विभिन्न संकटों के बावजूद अपनी विदेश नीति के मौलिक आधारों पर दृढ़ है और भारत की विदेश नीति 'गुट-निरपेक्षता' पर चलती हुई राष्ट्रीय हितों की कुशल संरक्षक सिद्ध हुई है। यद्यपि उसे झटके लगे हैं लेकिन झटकों को सह कर पाये बढ़ने की उसकी गति अवरुद्ध नहीं हो पाई है। इस सम्बन्ध में भारत की वर्तमान स्थिति पर जापानी पत्र 'जापान टाइम्स' ने हाल ही में जो संक्षिप्त टिप्पणी की है वह इस प्रकार है।

'कम्युनिस्ट चीन को छोड़कर भारत एशिया का सबसे अधिक जन संख्या वाला देश है। कुछ वर्ष पहले की जनगणना में इस गणराज्य की जनसंख्या ५० करोड़ ७० लाख थी और तब से उसमें लगातार वृद्धि हो रही है।

'इस विशाल जन-समूह के कल्याण और प्रगति से दूसरे देशों का स्पष्टतः सम्बन्ध है और इसी से रूस अपनी समस्याओं में डूबे रहने भारतीय जनता की मदद के लिए उदार सहायता इच्छा जाहिर की है। दुर्भाग्यवश भारत अपने दो पड़ोसी देशों कम्युनिस्ट चीन और पाकिस्तान से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित नहीं कर सका है।

"जुलाई के प्रारम्भ में भारत के विदेश-मंत्रालय ने दूसरे देशों के साथ भारत के सम्बन्धों का ब्यौरा संसद में प्रस्तुत किया था। उसमें कहा गया कि जनवरी १९६६ में हुई ताशकंद घोषणा से यह उम्मीद बंधी थी कि दूसरे देशों के साथ मित्रतापूर्ण और सहयोगपूर्ण सम्बन्धों का नया अध्याय शुरू होगा लेकिन पाकिस्तान के रवैये के कारण यह सम्भव न हो सका। ब्यौरे में कहा गया है कि १९६५ के संघर्ष से उत्पन्न विवादों को हल करने के लिए भारत ने जितने सुझाव रखे पाकिस्तान ने उन सबको ठुकरा दिया। उसमें खास शिकायत की गई है कि मार्च, १९६६ में मंत्रि स्तर की जो पहली बैठक हुई थी उसमें पाकिस्तान इस जिद पर अड़ा रहा कि जब तक काश्मीर का प्रश्न हल नहीं हो जाता तब तक दूसरे मसलों पर बातचीत नहीं हो सकती। भारत का कहना है कि पाकिस्तान का यह रवैया ताशकन्द घोषणा के विपरीत है क्योंकि उस घोषणा का मूल उद्देश्य ही यह था कि काश्मीर पर मतभेद होने के बावजूद दोनों देशों को शांति और सद्भाव स्थापित करने का प्रयास करना चाहिए, जिससे कि दूसरी जटिल समस्याओं का समाधान किया जा सके।

"इसका परिणाम यह हुआ कि काश्मीर विवाद भारत और पाकिस्तान के सम्बन्धों को कटु बनाये हुए है।

दूसरी ओर भारतीय ब्यौरे में कहा गया है कि दूसरे एशियाई देशों से सम्बन्ध सुधारने में भारत को सफलता मिली है। उसमें बर्मा से हुए सीमा निर्धारण सम्बन्धी समझौते और अफगानिस्तान नेपाल श्रीलंका मलयेशिया

और इण्डोनेशिया से सम्बन्ध सुधर होने का जिक्र किया गया है। आगे कहा गया है कि भारत और नेपाल के सम्बन्ध लगातार मधुर होते जा रहे हैं और भारत ने नेपाल की अनेकानेक योजनाओं में मदद की है। दक्षिण-पूर्व एशिया में इण्डोनेशिया और मलेशिया में तनाव समाप्त होने और इण्डोनेशिया के संयुक्तराष्ट्र में पुनः शामिल हो जाने से उस क्षेत्र के सभी देशों में भारत के मैत्री-सम्बन्ध विकसित होने के लिए अनुकूल वातावरण तैयार हुआ है।

"भारत और कम्युनिस्ट चीन का मसला बहुत जिल्द है। प्रतिवेदन में कहा गया है कि १९६६–६७ की घटनाओं से इस बात की पुष्टि होती है कि खास चीन हर मोर्चे पर भारत के प्रति आक्रमक रवैया अपना रहा है। चीन ने भारत की सीमाओं पर अपना सैनिक, मानसिक और राजनीतिक दबाव डाल रखा है। चीन नेता नागवन्द घोषणा का विरोध करते हुए समय प्रचार कर रहे हैं और तनाव बनाये रखकर पाकिस्तान को भारत के विरुद्ध भड़का रहे हैं। वह आलोचना और गुट-निरपेक्षता तथा शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भारत की विदेश नीति की निन्दा चीनी प्रचार के नियमित अंग हैं। तिब्बती शरणार्थियों को जो लगातार भारत आ रहे हैं मानवता के आधार पर सहायता और संरक्षण दिया गया है।

"इससे यह निश्चित पता चलता है कि तिब्बती शरणार्थियों ने भारत द्वारा सहयोग दिये जाने से पीकिंग में आक्रामकी बहुत नाराज हुए हैं हालांकि इस सहयोग के पीछे कोई राजनीतिक उद्देश्य नहीं है।

"कुछ दूसरे एशियाई देशों से भारत के सम्बन्धों के बारे में बहुत कुछ कहा जा चुका है। फिर भी हम यह कहना चाहेंगे कि पश्चिमी शक्तियों से मिली प्रचुर सहायता के बावजूद भारत अपनी निजी विदेश-नीति पर दृढ़ है। कुछ लोग उसकी विदेश-नीति को वामपक्ष की ओर झुका बताते हैं तथापि भारत अपनी 'तटस्थता' और 'गुट निरपेक्षता' की नीति पर दृढ़ है।"

भारतीय विदेश नीति और अणु आयुधों के निर्माण का प्रश्न

भारतीय विदेश नीति की सबसे बड़ी आलोचना शान्तिवाद पर अधिक बल देते हुए अणु बमों और आणविक आयुधों का निर्माण न करने की है। आलोचकों का कहना है कि शान्तिवादी विदेश नीति का अभिप्राय यह नहीं है कि देश की प्रतिरक्षा की दृष्टि से आणविक आयुधों का निर्माण नहीं किया जाए। भारत के अणु-आयुध उसकी अपनी रक्षा के लिए होंगे। भारत तब तक इन आयुधों का प्रयोग नहीं करेगा जब तक कि आक्रमणकारी देश भारत पर आणविक हमला करने का इरादा न कर लेंगे। तब फिर अपनी प्रतिरक्षा की दृष्टि से बनाए जाने वाले आणविक आयुधों से भारत के शान्तिवादी लक्ष्य को हानि पहुंचने की बात कहना यथार्थ से परे हटना है। विरोधियों का कहना है कि भारत चीन और पाकिस्तान जैसे दो शक्तिशाली शत्रुओं से घिरा हुआ है। चीन अनेक अणुबमों का विस्फोट कर चुका है और प्रक्षेपास्त्रों

का तेजी से विकास कर रहा है। इस बात की पूरी सम्भावना है कि संभवतः १९७० तक उसके प्रक्षेपणास्त्रों की मार की सीमा में संपूर्ण भारत आ जाए। यदि उसकी क्षमता में इतनी वृद्धि न हो पाई तो भी यह लगभग निश्चित सा है कि १९७० तक वह अपने प्रक्षेपणास्त्रों से उत्तर भारत के किसी भी औद्योगिक अथवा सैनिक अड्डे को नष्ट करने में समर्थ हो जायेगा।

आलोचकों का आरोप है कि स्वर्गीय श्री नेहरू अपने जीवन-काल में चीन की वास्तविक क्षमता और चीन इरादों के प्रति धोखा खाते रहे। १९६२ में जब चीन ने भारत की पीठ में छुरा भोंक दिया तभी उनकी नींद खुली। इसी तरह १६ अक्टूबर १९६४ को चीन ने जब अपने पहले परमाणु बम का परीक्षण किया तो श्री नेहरू की धारणाओं की इमारत फिर बहरा पड़ी क्योंकि चीन के आक्रमण के बाद दिसम्बर १९६२ में ही उन्होंने सम्वाददाताओं के प्रश्नों के उत्तर में कहा था कि "मैं नहीं सोचता कि चीन के पास पर्याप्त परमाणु शक्ति कम से कम निकट भविष्य में हो पाएगी। इसके एक साल बाद उन्होंने एक बार फिर घोषणा की कि भारत को चीन के परमाणु विस्फोट से घबराने की जरूरत नहीं है।" श्री नेहरू के बाद स्वर्गीय श्री लाल बहादुर शास्त्री ने जनता की नब्ज पहचानी। लेकिन उन्होंने भी नेहरू की नीतियों की दुहाई दी और परमाणु अस्त्र न बनाने का प्रण लिया। श्री शास्त्री के बाद भारत की बागडोर श्रीमति इन्दिरा गांधी के हाथ में आई। उन्होंने भी अब तक कूटनीतिक भाषा में बोलते हुए इसी विषय को दोहराया है कि भारत के लिए फिलहाल अणु बमों और आणविक आयुधों के निर्माण की दौड़ में न पड़ना ही श्रेयस्कर है। देश की अधिकांश जनता की, लगभग सभी विरोधी दलों और स्वयं कांग्रेस के एक शक्तिशाली वर्ग की आवाज है कि चीन परमाणु बम से हाइड्रोजन बम तक जा पहुंचा है और यह एक दुःख की बात है कि हमारे देश के कर्णधार अभी भी इसी दुविधा में पड़े हैं कि भारत को परमाणु परीक्षण करना चाहिए या नहीं। उनका कहना है कि २० साल की आजादी और इन छोटे से वर्षों के दौरान दो पड़ोसी देशों के साथ हुए संघर्ष भी हमें कोई सबक नहीं सिखा पाए हैं। १९५० में जम्मू और काश्मीर में पाकिस्तान के खिलाफ लड़ाई हुई १९६२ में चीन के साथ सघर्ष हुआ और १९६५ में फिर पाकिस्तान के साथ दो-दो हाथ होने की नौबत आ गई। अन्तिम दो संघर्षों की अवधि बहुत थोड़ी थी फिर भी उनका गम्भीर प्रभाव देश के आर्थिक सामाजिक और मनोवैज्ञानिक जीवन पर पड़ा। युद्धों से भारत को किसी किस्म का राजनीतिक या सामरिक लाभ नहीं हुआ उल्टे पड़ोसी देश भारत को नुकसान पहुंचा कर अपने लाभ-संग्रह में सफल हुए। हजारों वर्ग किलोमीटर भारतीय भू भाग उनके कब्जे में चला गया और हम अपने संपूर्ण नारों के बावजूद एक वर्ग सेंटीमीटर जगह तक वापस ले सकने में असमर्थ रहे। १९६२ के बाद तो स्थिति इतनी दुस्तर और दयनीय हो गई है कि किसी न किसी छोर पर आक्रमण की आशंका बनी रहती है। १९६५ के संघर्ष ने पाकिस्तान में प्रतिशोध की दावाग्नि जला दी है। वह अपनी सामरिक क्षमता को बढ़ाने का यत्न जोर शोर से कर रहा है और भविष्य में अगर कभी भारत को फिर उससे लोहा लेना पड़ा तो उसे

१९६२ के मुकाबले कहीं अधिक बड़ी शक्ति से टकराना होगा। चीन के साथ भारत के सम्बन्ध और भी बिगड़े हुए हैं। चीन और भारत की व्यवस्थाओं और विचारधाराओं में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। चीन अपने निर्दिष्ट उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कोई भी कदम उठाने और किसी भी सीमा तक जाने को सदा तत्पर है, वह अपने उद्देश्यों को जल्दी परिवर्तित भी नहीं करता। चीन की सीमा में १० लाख सिपाही और लगभग इतने ही होमगार्ड हैं। यदि ऐसा देश परमाणविक आयुधों से पूरी तरह सज्जित हो गया तो भारत अपने परम्परागत अस्त्र शस्त्रों के बल पर चीन की आणविक शक्ति के सम्मुख कितनी देर ठहर सकेगा, यह कल्पना सहज ही की जा सकती है। चीन पर विस्तारवादी होने का आरोप है और इसमें कोई शक नहीं कि माओ अपनी सीमाओं का विस्तार करना चाहता है ताकि उसकी बढ़ती हुई आबादी को खपाया जा सके। दक्षिण-पूर्वी एशिया में भारत ही एक मात्र ऐसा देश है जो अपनी शक्ति का उपयुक्त विकास करके चीन के प्रसारवाद को रोक सकता है और यही वजह है कि भारत चीन का कट्टर दुश्मन है।

फिर एक बात और भी है वह यह कि पाकिस्तान चीन के गठ-जोड़ ने भारत की राष्ट्रीय सुरक्षा को विशेष खतरा पैदा कर दिया है। इसलिए अब देश की सुरक्षा के लिए यह ज़रूरी हो गया है कि चीन और पाकिस्तान दोनों की सम्मिलित शक्ति से लोहा लेने लायक शक्ति अपने में पैदा की जाय। इसके लिए यह ज़रूरी है कि भारत प्रतिरक्षा के प्रत्येक साधन से सज्जित हो और एक आणविक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र बने ताकि आक्रमणकारी शक्तियाँ यह समझ लें कि यदि भारत पर हमला किया गया तो उसके अणु-आयुध उनका भी संहार कर डालेंगे। शत्रु राष्ट्रों में भय की ऐसी अनुभूति होने पर देश पर आक्रमण की उतनी आशंका नहीं रह सकती जितनी कि आज है। रूस और अमेरिका जैसी महाशक्तियाँ भी एक दूसरे से टकराने में इसलिये संकोच करती हैं कि एक का संहार दूसरे का भी अनिवार्य संहार होगा। भारत इस महाद्वीप में शान्ति स्थापित करने में प्रभावशाली योगदान तभी कर सकेगा जब वह समझ ले कि आधुनिक राजनीति में शक्ति से ही शान्ति संभव है। भारत का २० वर्ष का विगत अनुभव उसे इस सिद्धान्त को समझाने के लिये काफी है। इस देश के कर्णधारों को यह नहीं भूलना चाहिये कि वे अपने देश की स्वाधीनता के दिन से ही शान्ति और सहयोग के नारे लगाते रहे हैं, लेकिन फिर भी उनके देश को ही अपने पड़ोसियों के साथ युद्ध में जूझना पड़ा है। हमारी सुरक्षा इसी में है कि हम अपने में वह शक्ति पैदा कर लें जो शत्रु के सीने को बेध दे—संघर्ष के पहले मौके पर।

भारत की प्रतिरक्षा नीति के दो स्पष्ट उद्देश्य हैं—शत्रु को युद्ध करने का साहस न होने देना और युद्ध हो ही जाये तो उसमें शत्रु की पराजय अवश्यम्भावी बना देना। स्पष्ट है कि समुचित प्रतिरक्षा-नीति युद्ध मन्त्र तो है ही शान्ति बनाये रखने का उपादान भी है। जब चीन जैसा शत्रु परमाणविक शक्ति सम्पन्न राष्ट्र बनता जा रहा है पाकिस्तान प्रत्येक सम्भव उपाय से प्रत्येक सम्भव अस्त्र शस्त्र लेने की नीति पर चल रहा है, तो

भारत अपनी प्रतिरक्षा नीति का पूर्ण समर्थ और शान्ति बनाये रखने का उपादान तभी बना सकता है जबकि वह भी परमाणु आयुधों का इतना विकास कर ले कि प्रथम तो शत्रु को युद्ध करने का साहस ही न हो और यदि वह साहस कर ले तो हमारी सेनायें और हमारे अणु आयुध शत्रु की पराजय अवश्यंभावी बना दें। समुचित शक्ति-संतुलन ही भारतीय उपमहाद्वीप में शांति ला सकता है।

उपरोक्त तर्कों के आधार पर ही भारत के वर्तमान नीति-निर्माताओं को बारम्बार आग्रह किया जा रहा है कि वे आणविक आयुधों का निर्माण न करने की नीति को अविलम्ब तिलांजली देकर जनमत का आदर करें और देश के भविष्य को सुरक्षित बनायें। केवल आणविक शक्ति से ही हमारी सेनायें इतनी समर्थ हो सकती हैं कि आक्रमणकारी देश को वे कुछ समय आक्रमण का विचार बना सकें। हां भारत की आक्रामक प्रतिरक्षा-नीति का मतलब सिर्फ इतना होगा कि हम अपने देश की रक्षा करेंगे—भी इसके लिए जरूरत पड़ने पर आक्रमण भी कर सकते हैं। हमसे अब यह दम होना चाहिये कि हम ईंट का जवाब पत्थर से १० मैगाटन का जवाब २० मैगाटन से दे सकें। तभी हमारी सेनायें अभेद्य दीवार बन सकती। आलोचकों का कहना है कि भारत को आणविक हथियार बनाने की कल्पना भी छोड़ देनी चाहिए क्योंकि दूसरों के बल पर कूदने वाला राष्ट्र सुरक्षा की दृष्टि से कभी निश्चिन्त नहीं हो सकता।

इन आलोचनाओं और विरोध के बावजूद यद्यपि अभी तक भारत सरकार परमाणु बम न बनाने की बात ही कर रही है किन्तु इस बात के संकेत अवश्य मिलने लगे हैं कि आवश्यक होने पर भारत सरकार अणु आयुध न बनाने की अपनी नीति पर पुनर्विचार करने को तैयार हो जायेगी। यह 'आवश्यक' स्थिति कब आयेगी इसका निश्चय तो भारत सरकार ही करेगी लेकिन अनेक विदेशी पर्यवेक्षकों की धारणा है कि भारत ने परमाणु अस्त्रों के विकास की समस्या पर सक्रिय रूप से सोचना शुरू कर दिया है और अधिक समय तक जनमत की उपेक्षा करना उसके लिए संभव नहीं होगा। कनाडा के पत्र विक्टोरिया कोलोनिस्ट में एन्टनी एड ओवो ने भारत के परमाणु शक्ति सम्पन्न होने के बारे में विचार व्यक्त किया है—

आशा है भारत भी अब परमाणु शक्ति सम्पन्न देशों की बिरादरी में शामिल होगा। चीन के हाइड्रोजन बम बना लेने से भारत को परमाणु अस्त्र बनाने का फैसला करना ही पड़ेगा।"

हाइड्रोजन बम बनाने में सफल होने के बाद विश्वस्त सूत्रों से अब यह सूचना मिल रही है कि एक वर्ष के भीतर ही चीन पन्द्रह सौ मील की दूरी तक मार करने वाले प्रक्षेपणास्त्र बना लेगा। इन दो घटनाओं से मजबूर होकर भारत की वर्तमान सरकार को सार्वजनिक रूप से परमाणु अस्त्र बनाने के निर्णय की घोषणा करनी होगी। इधर भारत की राजनीतिक घटनाओं से

भी यही संकेत मिला है कि परमाणु अस्त्र बनाने के पक्ष में भारत ने अब तक भी निर्णय नहीं किया था वह शायद वर्तमान सरकार को शीघ्र ही करना पड़े। सत्ताधारी दल कांग्रेस के बहुत से नेताओं और प्रतिपक्षी दलों के संसद सदस्यों का वर्तमान सरकार पर बराबर दबाव पड़ रहा है कि एशिया में शक्ति-संतुलन बनाये रखने के लिए परमाणु बम बनाने में अब भारत को जल्दी करनी चाहिये।

भारत के सामने दो ही रास्ते हैं—या तो वह अमेरिका और सोवियत संघ से अथवा दोनों से परमाणु आक्रमण की स्थिति में सुरक्षा की गारन्टी मांगे या फिर अपना परमाणु बम बनाये। अगर भारत पहला रास्ता चुनता है तो स्वाधीनता मिलने के बाद बीस वर्ष से चली आ रही उसकी परम्परा छिन्न-भिन्न हो जायेगी इसलिए बेहतर रास्ता उसके लिए अपना परमाणु बम बनाना ही है जिससे उसके शत्रु डरते रहें।

भारत में सामरिक मामलों के जानकार सैनिक विशेषज्ञ और राजनीतिज्ञ सभी का ख्याल है कि पड़ौसी देशों के साथ लगने वाली भारत की ६ हजार २१ मील लम्बी सीमा परमाणु छाते की गारन्टी से सुरक्षित नहीं रह सकती। भारत के भाषा, मापाई मतभेदों धार्मिक असन्तोष और भिन्न अन्य ऐसी बातों को विघटन की प्रवृत्तियों का नाम देते हैं, चीन उनका अपने पक्ष में फायदा उठाना चाहता है। वास्तव में देखा जाये तो भारत ऐसी स्थिति में है कि एशिया के परमाणु-शक्ति संतुलन को ठीक रख सकता है। लन्दन में सामरिक विषय के शोध संस्थान में भारत के मेजर जनरल सोमदत्त ने बताया था कि भारत एक वर्ष में अपने प्रथम परमाणु बम का विस्फोट कर सकता है।

विश्वस्त अनुमानों से पता चलता है कि परमाणु भट्टियों के निर्माण में तेजी से काम से भारत दो वर्ष के बाद प्रति वर्ष दो सौ परमाणु अस्त्र बनाने की क्षमता रखता है। अब रहा प्रक्षेपणास्त्रों का प्रश्न। सामरिक दृष्टि से भारत में आकृयाक्र में चीनियों द्वारा निर्मित परमाणु शक्ति प्रतिष्ठान को नष्ट करने की क्षमता है और भारत को अपनी इस क्षमता पर ही भरोसा करना चाहिए।

EXERCISES

1 Describe the main features and objectives of Indian foreign policy since independence.

स्वतन्त्रता के बाद की भारतीय विदेश नीति के मुख्य लक्षणों और उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।

What do you mean by India s policy of non-align ment ? Do you think that it is a sound policy ? Give reasons.

भारत की असंलग्नता की नीति से आप क्या अभिप्राय लेते हैं ? क्या आपकी दृष्टि में यह एक ठोस नीति है ? कारण बताइये ।

3 "The policy of India is the policy of peace" Discuss and assess India's contributions to the maintenance of world peace
भारत की नीति शांति की नीति है । विश्व शांति को बनाये रखने में भारत के योगदान की विवेचना और उसका मूल्यांकन कीजिए ।

4 Discuss the significance and applicability of the Panch Shila or five principles of Peaceful co-existance.
'पंचशील' अथवा शांतिपूर्ण सह अस्तित्व के पांच सिद्धान्तों के महत्व और उनके प्रयोग की विवेचना कीजिए ।

5 Describe the role of India in world politics since 1947
१९४७ से विश्व राजनीति में भारत की भूमिका का वर्णन कीजिए ।

6. Write short notes on India's relations with the U S A., U S S.R., and Pakistan.
संयुक्त राज्य अमरिका सोवियत संघ और पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धों पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये ।

7 "The Chinese attack on India in October 1962 marks a turning point in the Indian foreign policy" Do you agree ? Give reasons.
"अक्टूबर १९६२ में भारत पर किया गया चीनी आक्रमण भारतीय विदेश नीति में परिवर्तन अथवा मोड़ लाने वाला बिन्दु है ।" क्या आप सहमत हैं ? कारण बताइये ।

8 Review India's relations with China and add a note on Colombo Proposals.
चीन के साथ भारत के सम्बन्धों का सर्वेक्षण कीजिए और कोलम्बो प्रस्तावों पर एक टिप्पणी लिखिये ।

9 Examine India's relations with Pakistan and assess how far it has affected India's relations with other countries.
पाकिस्तान के साथ भारत के सम्बन्धों की परीक्षा कीजिए और यह मूल्यांकन कीजिए कि अन्य देशों के साथ भारत के सम्बन्धों को इसने कहाँ तक प्रभावित किया है ।

10. Mark the important developments in India's relation with Pakistan since 1960.
१९६० से भारत-पाक सम्बन्धों के महत्वपूर्ण विकास का बताइये ।

11 Discuss and analys the causes and results of the Indo Pakistan War of September 1965
सितम्बर १९६५ के भारत-पाक युद्ध के कारणों और परिणामों का विश्लेषण और विवेचना कीजिए ।

12. Wrtte a critical note on Taskent Agreement.
ताशकंद समझौते पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिए।

13. Write a critical note on the foreign policy of India since independance
स्वतन्त्रता के बाद से भारत की विदेश नीति पर आलोचनात्मक नोट लिखिये।

14. Discuss the attitude of India s Foreign Policy on the activities of the U.N
संयुक्त राष्ट्र संघ की गतिविधियों या कार्यवाहियों पर भारत की विदेश नीति के दृष्टिकोण या व्यवहार की विवेचना कीजिए।

15. Examine critically the arguments for and against the Pakistan's view of the Kashmir question What difficulties prevent its solution ?
काश्मीर प्रश्न पर पाकिस्तानी दृष्टिकोण के पक्ष और विपक्ष के तर्कों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये। इस समस्या के समाधान में कौन सी कठिनाईयां बाधक हैं ?

16 Make a critical estimate of India s foreign policy
भारत की विदेश नीति का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

17 What are the defects of Indian foreign policy ? Do you think they are inherent ?
भारत की विदेश नीति के दोष क्या हैं ? क्या आप के विचार से वे परम्परागत हैं ?

12

दक्षिण और दक्षिण-पूर्वी एशिया

(SOUTH & SOUTH EAST ASIA)

१ एशिया की जागृति
२ पाकिस्तान की विदेश नीति
३ नेपाल
४ श्री लंका
५ दक्षिण-पूर्वी एशिया   अर्थ और महत्ता
६ बर्मा
७ थाईलैण्ड
८ लाओस
९. वियतनाम
१० मलेशिया
११ इण्डोनेशिया
१२ फिलिपाइन्स

"एशिया के देशों में यूरोप के सम्पर्क के पिछले सौ वर्षों में राष्ट्रीयता का
विकास सबसे अधिक महत्वपूर्ण घटना है। जहाँ राष्ट्रीयता का
विकास प्रत्यक्ष रूप में विदेशी शासकों के विरोध और परोक्षतः
पश्चिमी सम्पर्क के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली ऐतिहासिक-
महानता की चेतना और सांस्कृतिक महानता के स्वाभिमान के
कारण हुआ है तथापि एशियावाद की भावना का जन्म
विशुद्धतः यूरोपियनवाद की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ
है। उन्नीसवीं शताब्दी की समाप्ति से पहले
एशियाइज्म या एशियावाद जैसी कोई
भावना नहीं थी।"

—के० एम० पणिक्कर

"राष्ट्रवाद इस विश्व में
बहुत से लोगों के लिए एक
समयातीत सिद्धान्त हो सकता है
एशिया और अफ्रीका के हम लोगों के
लिए यह हमारे प्रयत्नों का एक प्रधान
लक्षण है। इसको समझ लीजिये और
आपके हाथ में पश्चिमोत्तर युद्धोत्तर
इतिहास की कुञ्जी आ जाती है।"

—राष्ट्रपति सुकर्णो

——एशिया में कोई ऐसी राजनीतिक वास्तविकता नहीं है विशेषतः
जिसका सम्बन्ध कम्बोडिया लाओस वियतनाम या भारत पाकिस्तान
अफगानिस्तान बर्मा या यहाँ तक कि कोरिया सोवियत रूस या
जापान से हो जो किसी न किसी रूप में चीन को रूप में
न उलझाता है या उसको प्रभावित न करे। ----
विशेषतः एशिया महाद्वीप पर किसी ऐसे
युद्ध अथवा शांति की कल्पना नहीं
की जा सकती है जिसमें
चीन लिप्त न हो।"

—चार्ल्स फिशर

एशिया की जागृति
(Rise of Asia)

एशिया पूर्व में प्रशान्त महासागर से पश्चिम में भूमध्यसागर तक तथा उत्तर में आर्कटिक महासागर से दक्षिण में हिन्द महासागर के मध्य बसा हुआ विश्व का सबसे बड़ा महाद्वीप है। दुनिया की आधी से अधिक जनसंख्या इस महाद्वीप पर निवास करती है। सभी प्रकार के धर्मों और सभी संस्कृतियों तथा भाषाओं का यह महाद्वीप घर है। इस महाद्वीप पर विभिन्न प्रकार की जटिल भौगोलिक स्थिति एवं जलवायु पाई जाती है। परन्तु इन सब भिन्नताओं के होते हुए भी इस महाद्वीप में एक चीज समान है—आर्थिक भौतिक और तकनीकी विकास की अवस्था। १८वीं व १९वीं शताब्दियों में जब यूरोप तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) के प्रभाव से मध्यकालीन अवस्था त्याग कर आधुनिक अवस्था में पहुँच रहा था तो ऐसे समय एशिया ने अपनी अर्थव्यवस्था संस्कृति एवं राजनैतिक-संगठन सम्बन्धी प्राचीन प्रथाओं का परित्याग करने से इन्कार कर दिया। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि यूरोप प्रगति करता चला गया और एशिया पिछड़ता गया। इतना ही नहीं 'पश्चिम' ने एशिया को पराजित करके उसके स्वतन्त्र अस्तित्व को भी समाप्त कर दिया। धीरे-धीरे जापान थाईलैण्ड ईरान नेपाल और चीन को छोड़ कर लगभग सम्पूर्ण एशिया पाश्चात्य राष्ट्रों के स्वामित्व में आ गया। अंग्रेज भारत बर्मा श्री लंका मलाया सिंगापुर और हांगकांग में जम गए फ्रांसीसियों ने हिन्दचीन में डेरा जमा लिया, डचों ने ईस्ट इंडीज में पैर जमा लिये रूसियों ने चीन के भाग सहित साइबेरिया या बाह्य मंगोलिया में और स्पेनिश लोगों ने (बाद में अमेरिकनों ने) फिलिपाइन्स में अपने अड्डे जमा लिये। यहां तक कि पुर्तगाल जैसे छोटे से राज्य ने भी अपने उपनिवेश कायम कर लिये। जो देश भी जो जाहिरा तौर स्वतन्त्र थे व्यावहारिक दृष्टि से विदेशी राष्ट्रों के आर्थिक और राजनैतिक प्रभाव से मुक्त नहीं रह सके। पश्चिमी एशिया अथवा मध्य-पूर्व के राष्ट्र जो प्रथम महायुद्ध से पहले 'ओटोमन साम्राज्य' के अधीन थे १९१९ के पेरिस शान्ति सम्मेलन द्वारा आविष्कृत एक नवीन व्यवस्था—संरक्षण पद्धति (Mandate System) के अन्तर्गत अब यूरोप के शोषक शासकों के नियन्त्रण में आ गये। केवल जापान ही एक ऐसा राष्ट्र रहा जिसने पाश्चात्य साम्राज्यवाद से पूरा शिक्षा लेते हुये स्वयं को औद्योगीकृत किया अपने पिछड़ेपन के सभी चिन्हों को मिटाया और शेष एशियाई राष्ट्रों के दुर्भाग्य से अपने आप को बचाने में सफल हो गया। यही नहीं वह कालान्तर में औद्योगिक एवं राजनैतिक क्षेत्र में पश्चिम का एक घोर प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध हुआ।

एशिया में स्वातन्त्र्य-आन्दोलनों का सूत्रपात

एशिया के राष्ट्र पहले से ही आर्थिक दृष्टि से अविकसित अवस्था में थे। पाश्चात्य शक्तियों ने उन पर अपना आधिपत्य जमाने के बाद उनके आर्थिक

शोषण की नीति अपनाई। इस नीति ने क्रमशः इतना भयावह रूप ले लिया कि एशिया के अनेक समृद्ध राज्यों को भी भुखमरी, पीड़ा और विभिन्न कष्टों का शिकार होना पड़ा। जब तक एशियावासियों ने विदेशी सत्ता के वास्तविक स्वरूप और प्रकृति को नहीं पहचाना तब तक वे चुपचाप और निष्क्रिय रहे लेकिन जब उन्हें वास्तविकता का भान हुआ अपने बढ़ते हुए कष्टों की विकसित कर देने वाली अनुभूति हुई तो शीघ्र ही वे यह समझ गये कि उनकी इन सब कठिनाइयों का निराकरण तभी सम्भव हो सकेगा जब वे विदेशी शासन से मुक्ति पा सकेंगे। इस प्रकार की चेतना बहुत कुछ पश्चिमी ज्ञान साहित्य कानूनों और संस्थाओं के कारण पैदा हुई। पूर्व को पश्चिम' के राष्ट्रवादी विचारों और उसके उच्च जीवनस्तर ने सर्वाधिक प्रभावित किया। प्रो० शूमैन (Schuman) के शब्दों में— इन पिछड़े हुए राष्ट्रों के नये बुद्धिजीवियों ने विज्ञान, युद्धकला तथा राजनीति में पश्चिमी राष्ट्रों की दक्षता तथा निपुणता का ज्योंही एक आंशिक भाग प्राप्त किया त्योंही उनमें इस बात की मांग करने वाले नेतागण भी पैदा हो गये कि उन्हें अपना भविष्य स्वयं निश्चित करने का अधिकार मिलना चाहिए।[1]

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर एशिया और अफ्रीका में स्वतन्त्रता राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र की पहली लहर आई। एशिया वासी 'पश्चिम' की सम्पन्नता और अपनी निर्धनता तथा दीन हीन अवस्था से परिचित होने के बाद आत्म-निर्णय' की मांग करने लगे। 'भारत भारतीयों के लिये', 'चीन चीनियों के लिये' आदि आवाजें बुलन्द होने लगीं। एशिया करवट लेकर विश्व में अपने उचित स्थान' की मांग करने लगा। सम्पूर्ण महाद्वीप में एक छोर से लेकर दूसरे छोर तक पाश्चात्य प्रभुत्व से छुटकारा पाने की एक उद्दाम लालसा जाग्रत हो गई जिसने एक लम्बे स्वातन्त्र्य आन्दोलन और संघर्ष का रूप धारण कर लिया। यद्यपि विभिन्न एशियाई राज्यों के इन राष्ट्रवादी आन्दोलनों का स्वरूप एकसा नहीं था तथापि उनका उद्देश्य अवश्य एकसा था—पश्चिम के उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद और जाति-भेदभाव का विरोध करना। फलस्वरूप एशिया के लगभग सभी पराधीन राज्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी स्थिति पर क्रान्तिकारी पुनर्विचार की मांग की। एशियाई राष्ट्रों की इस नवीन भावना की स्पष्ट अभिव्यक्ति अगस्त १९२१ में यूरोप में बायरविले (Biervillo) नामक स्थान पर आयोजित शांति के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में एशियाई प्रतिनिधियों के उस मांग-पत्र में हुई जिसमें यह घोषणा की गई कि—

"यूरोपियन विचारकों के अनुसार विश्व सम्भवतः उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित है जिनमें यूरोपियन जातियां निवास करती हैं। मानव संस्था के

1 "Once the new intellectuals among backward peoples acquired the rudiments of Western skills in science, warfare and politics, leaders arose among them to demand that they take their destinies into their own hands."

—*Schuman* International Politics, Page 315

बहुमत तथा अपनी सर्वाधिक प्राचीन सभ्यताओं वाला एशिया महाद्वीप और विशेष समस्याओं में उलझा हुआ अफ्रीका महाद्वीप यूरोपियन विचारकों के अनुसार विश्व का भाग नहीं है। हमारा यह नम्र निवेदन है कि यह दृष्टिकोण गलत है। यदि विश्व स्थायी शांति का इच्छुक है तो वहां स्थानीय या क्षेत्रीय शांति नहीं होनी चाहिये। यदि आप शांति चाहते हैं तो पहले आपको उन कारणों को दूर करना चाहिए जिनसे एशिया में यूरोप के प्रति विरोध पैदा हुआ है। यदि आप एशिया व यूरोप में एक सहगामी-अभ्युदय की स्थापना करने में सफल हो जाते हैं तो आप विश्व-शांति की दिशा में सबसे बड़ा कदम उठा लेंगे। जो चीज हम सहयोग के मार्ग को अवरुद्ध किए हुए है वह एशिया के शोषण तथा अधिक से अधिक राज्यों को अधीनस्थ बनाने के पश्चिमी राष्ट्रों की पुटबन्दी है।"

एशियाई प्रतिनिधियों द्वारा अभिव्यक्त किया गया उपरोक्त विचार सम्पूर्ण विश्व का इस बात का निश्चित संकेत था कि एशिया अब जागने लगा है और अपनी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए अब वह हाथ पर हाथ धर कर बैठे रहने की मनःस्थिति में नहीं है। एशिया के तेजी से होने वाले नव जागरण ने एशिया के इस निश्चय को शीघ्र ही प्रकट कर दिया। द्वितीय महायुद्ध ने जिसमें यूरोपियन राष्ट्रों के दो गुट परस्पर मरणांतक संघर्ष में जूझ पड़े थे सदियों से उपेक्षित और शोषित एशिया महाद्वीप को अपना उद्देश्य प्राप्त करने का शुभावसर प्रदान किया। सैनिक और औद्योगिक दृष्टि से समृद्ध व अपनी जापान ने हिन्दचीन से फ्रांसीसियों को निकाल फेंका, डच ईस्ट इंडीज को कब्जे में कर लिया, ब्रिटेन के 'अजेय' सिंगापुर व चीन लिया और फिलीपाइन्स में अमेरिका जैसी महाशक्ति को पछाड़ दिया। दूसरी ओर १९४२ के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' ने भारत में अंग्रेजी साम्राज्य की नींव हिला दी। ऐसा लगने लगा कि श्वेत जातियों का सितारा अब डूबने को है। परन्तु दुर्भाग्यवश एशिया महाद्वीप को अभी कुछ वर्षों तक साम्राज्यवादी दुर्दिन और देखने थे। १९४५ में पश्चिमी शक्तियों की विजय के पश्चात् साम्राज्यवाद की पुरानी व्यवस्था पुनः ज्यों की त्यों स्थापित रह गई।

लेकिन अब यह स्थिति अधिक समय तक जारी रहने वाली न थी। प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर आई हुई स्वतन्त्रता, राष्ट्रीयता और लोकतंत्र की लहर ने द्वितीय महायुद्ध के बाद प्रबल बाढ़ का रूप धारण करके समस्त एशिया और अफ्रीका को आप्लावित कर दिया। द्वितीय महायुद्ध में श्वेत जातियों को जिन प्रारम्भिक गहरी पराजयों का सामना करना पड़ा था उनसे एशियाई जनता को यह विश्वास हो गया कि पश्चिमी राष्ट्र अथवा 'गोरी चमड़ी' अजेय नहीं है। इस अनुभूति के फलस्वरूप स्वातन्त्र्य आन्दोलनों में नये प्राण फूंके गये। थके हुए यूरोप के लिये उनको दबाना मुश्किल हो गया और आजादी की लहर चली कि एक के बाद एक सभी राष्ट्रों के स्वप्न पूरे होते चले गये। वास्तव में यह कहना सर्वथा उपयुक्त होगा कि १९१९ के बाद एशिया और अफ्रीका के महाद्वीपों में साम्राज्यवाद की पराजय आरम्भ हुई और १९४५ के बाद इसका समूलोन्मूलन होने लगा। पश्चिम की प्रभुता और

साम्राज्यवाद के विरुद्ध एशिया के इस विद्रोह को अमेरिकन पत्रकार राबर्ट पेन (R Payne) ने वर्तमान युग की सबसे बड़ी घटना बताते हुए लिखा है कि एशिया को अब अपने महत्त्व का ज्ञान हो गया है और 'एशिया की शताब्दी आरम्भ हो गई है। एशिया के इस नव जागरण को देखते हुए ही विख्यात इतिहासकार अर्नोल्ड टॉयनबी (A. Toynbee) ने यह भविष्यवाणी की है कि— आजकल हम (पश्चिमी देश) साम्यवाद की चुनौती को अधिक महत्त्व दे रहे हैं। किन्तु जब भारत और चीन की अधिक शक्तिशाली सभ्यताएं पश्चिमी जगत की चुनौती का उत्तर देने लगेंगी तो साम्यवाद का महत्त्व कम हो जाएगा अन्ततोगत्वा ये सभ्यताएं हमारे पाश्चात्य जीवन पर उससे कहीं अधिक गहरा प्रभाव डालेंगी जितना प्रभाव रूस अपने साम्यवाद द्वारा हमारी सभ्यता पर डाल सकता है। एशिया की जागृति को स्वर्गीय श्री नेहरू ने १९४७ में प्रथम 'एशियाई-सम्बन्ध सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में घोषणा की थी— एक परिवर्तन हो रहा है एशिया अपने स्वरूप को पुनः पहिचान रहा है। हम परिवर्तन के महायुग में रह रहे हैं और इसमें नवयुग तब आएगा जब एशिया अन्य महाद्वीपों के साथ अपना उचित स्थान ग्रहण करे। विश्व इतिहास के इस संकट में एशिया अवश्य महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करेगा।"

भविष्य ने इन सभी भविष्यवाणियों को सच कर दिखाया। आज एशिया के अधिकांश भू भाग स्वतन्त्र वातावरण में सांस ले रहे हैं। पश्चिमी देशों की प्रगति की बराबरी करने की बलवती भावना है। वे अपने को औद्योगिक एवं आर्थिक दृष्टि से इतना विकसित कर लेना चाहते हैं कि इनके और औद्योगिक विकास के शिखर को प्राप्त पश्चिमी देशों के बीच कोई अन्तर न रह जाये। इस भावना को अधिक तीव्र बनाने में राष्ट्रवाद और भी अधिक समर्थ होता चला जा रहा है। परिणामतः आज उपनिवेशवाद या पश्चिमी देशों के दबाव से मुक्त होने की भावना प्रबल नहीं है वरन् उससे भी अधिक अपने पुराने ढंग के रहन सहन को बदलने के लिए प्रगति-विरोधी शक्तियों से पल्ला छुड़ाने को भी वे तत्पर हैं। सदियों की दासता और सामन्तवादी व्यवस्था के कुप्रभावों से झुकी हुई अपनी रीढ़ को पुनः खड़ा करके आज का एशिया अपना कायाकल्प करने को कटिबद्ध है। आस्ट्रेलिया के विदेश मंत्री श्री पी सी स्पैंडर के शब्दों में— एक अरब से अधिक जनता एशिया में राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन करने में लगी हुई है। सब न नई राजनीतिक और आर्थिक नीतियों और नई संस्थाओं का विकास बड़ी तेजी से हो रहा है और यह विकास राष्ट्रीय विचार की प्रेरणा से तथा आर्थिक और सामाजिक सुधार की मांग के कारण भविष्य में भी चलता रहेगा।"

आज एशिया राष्ट्रवाद की लहरों से व्याप्त है। इसके देश अपने को आर्थिक दृष्टि से विकसित करने में प्राणपण से संलग्न हैं और अपनी आर्थिक समस्याओं को सुलझाने के लिए तेज कदमों के आकांक्षी हैं। परन्तु आकांक्षाओं के अनुरूप बनने में जिन राजनीतिक व्यवस्थाओं को प्रश्रय दिया गया है उसमें तनाव पैदा हो गया है। एक तरफ एशिया का विकास जनमत

लोकतंत्रवाद के मार्ग का अनुगामी बनने के लिए सचेष्ट है और दूसरी तरफ साम्यवाद भी अपनी सत्ता जमाने की होड़ में व्यस्त है। यदि एशिया में औद्योगिक क्रांति एवं आर्थिक विकास के कदम स्वतन्त्रता के आगमन के पूर्व ही हो गये होते तो विषम परेशानी नहीं होती किन्तु आज विडम्बना यह है कि एक तरफ तो राजनीतिक स्वतन्त्रता मिलती जा रही है और दूसरी तरफ लोगों का जीवन स्तर अब भी मध्ययुगीन है। परिणामतः आज का एशिया विभिन्न वादों के संघर्ष का क्रीड़ा-स्थल बन गया है। साम्यवाद अपनी नवीन किन्तु नग्न भूमिका में अवतरित हुआ है और समग्र एशिया को अपने में समाविष्ट कर लेना चाहता है। पश्चिमी पूँजीवाद लोकतन्त्र में अधिक विकास के कदम सहम-सहम कर उठाने की प्रवृत्ति रखने के कारण सफलता की दौड़ में साम्यवाद से पिछड़-सा रहा है। रूस की तरक्की का उदाहरण तो विश्व के सामने है ही किन्तु उससे भी अधिक एशिया में साम्यवादी चीन का बेहतरीन उदाहरण है। यदि पश्चिम के शक्तिशाली और समृद्ध लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र चाहते हैं कि एशिया पूरा का पूरा लाल रंग में न रंग जाय तो यह अपेक्षित है कि उन्हें भारत जैसे लोकतन्त्रात्मक राष्ट्रों की प्रत्येक सम्भव सहायता दिल खोल कर करनी चाहिए ताकि वे लोकतंत्र के सजग स्तम्भ बन कर एशिया में बढ़ते हुए साम्यवाद पर प्रभावी अंकुश लगा सकें।

एशियाई व्यक्तित्व का विकास—बाण्डुङ्ग सम्मेलन

भिन्न-भिन्न सांस्कृतिक भूमिकाओं धार्मिक दृष्टिकोणों तथा राजनीतिक अनुभवों वाले भागों का महाद्वीप एशिया जब स्वतन्त्रता की अँगड़ाइयाँ लेने लगा तो स्वाभाविक रूप से अनेक प्रकार की विघटनकारी शक्तियाँ नवोदित स्वदेशी शासकों को चुनौती देने लगीं। जाति वैमनस्य और शत्रुताओं ने साम्प्रदायिकता व स्वार्थलिप्सा ने पूँजीवाद और साम्यवाद आदि ने अपना सिर उठाया। कुछ राज्यों में गृह-युद्ध हुए, कहीं साम्प्रदायिक दंगे और विद्रोह हुए तो कहीं भूख तथा निर्धनता से त्रस्त और पीड़ित जनता के प्रदर्शन हुए। राष्ट्रवादी नेताओं को जिन्होंने विदेशी शैतानों से लोहा लिया था अब स्वदेशी शैतानों का सामना करना पड़ा। जब उन्होंने अपने चारों ओर के विश्व पर दृष्टि डाली तो उन्हें एक-दूसरे को पराजित करने पर तुले हुए दो 'शक्ति-गुटों' का संघर्ष दिखाई दिया। यह संघर्ष एशिया-वासियों के लिए खतरनाक था क्योंकि उनकी भयावह समस्याओं के समाधान के लिए आन्तरिक स्थिरता और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति की अनिवार्य आवश्यकता थी। अपने को इन खतरनाक परिस्थितियों में पाकर एशियाई राष्ट्रों में एक प्रकार के सामुदायिक दृष्टिकोण का विकास हुआ और उसमें प्रत्यक्षतः यह अनुभूति व्याप्त हुई कि अपनी कठिनाइयों से जूझ कर विजय पाने के लिए उन्हें पारस्परिक एकता संगठन और सहयोग का परिचय देना होगा।

इस प्रकार की एकात्मकता की नवीन चेतना की अभिव्यक्ति मार्च १९४७ में विश्व मामलों की भारतीय परिषद् (Indian Council of World Affairs) के तत्वावधान में नई दिल्ली में आयोजित एक गैरसरकारी

एशियाई मैत्री सम्मेलन' (Asian Relations Conference) में हुई। सम्मेलन ने अनेक प्रस्ताव पारित किये और अनेक निर्णय लिए तथा एक 'एशियाई मैत्री संगठन' (Asian Relations Organisation) की निम्नलिखित उद्देश्यों के लिए स्थापना की—

(i) एशियाई समस्याओं और सम्बन्धों के महाद्वीपीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं के अध्ययन और ज्ञान को प्रोत्साहित करना

(ii) एशियाई राष्ट्रों में तथा एशिया और विश्व के दूसरे राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण सहयोग को बढ़ावा देना; एवं

(iii) एशियाई जनता की प्रगति और हितों में वृद्धि करना।[1]

जनवरी १९४९ में १५ राज्यों के प्रतिनिधियों ने औपनिवेशिक विषयों पर, विशेषतः इण्डोनेशिया में डच सरकार द्वारा की गई सैनिक कार्यवाही से उत्पन्न स्थिति पर विचार करने के लिए एक अन्य सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें सभापति महोदय ने घोषणा की कि "एक बात निश्चित है। अब आक्रमण के सम्मुख आत्मसमर्पण अथवा उपनिवेशवादी शासन की पुनर्स्थापना को सहन नहीं किया जायेगा। सम्मेलन में एक प्रस्ताव भी पारित हुआ जिसमें स्पष्ट रूप से कहा गया कि एकत्रित राज्यों के मतानुसार इण्डोनेशिया के विरुद्ध डच पुलिस कार्यवाही 'राष्ट्र संघीय चार्टर सुरक्षा परिषद के प्रयासों और शांतिपूर्ण हल के लिए स्थापित मध्यस्थता समिति (Good Offices Committee) की ओर अवहेलना के समान है।" जनवरी १९४९ के इस सम्मेलन में जो १५ राज्य उपस्थित हुए वे इस प्रकार थे— अफगानिस्तान, आस्ट्रेलिया, बर्मा, लंका, मिस्र, इथोपिया, भारत, ईरान, ईराक, लेबनान, पाकिस्तान, फिलीपाइन्स, सऊदी अरब, सीरिया और यमन।

मई १९५० में फिलीपाइन्स द्वारा बोगुई नामक स्थान पर एशियावासियों ने सांस्कृतिक एवं आर्थिक सहयोग की समस्या पर विचार करने के लिए एक सम्मेलन आमंत्रित किया। तत्पश्चात् अप्रैल १९५४ में भारत, पाकिस्तान, श्रीलंका, बर्मा और इण्डोनेशिया के प्रधान मन्त्रियों ने हिन्द चीन सहित अन्यान्य समस्याओं पर विचार करने के लिए परस्पर भेंट की।

दिसम्बर १९५० में उपरोक्त पाँचों प्रधान मन्त्रीगण बोगोर में एकत्र हुए और उन्होंने एशियाई एवं अफ्रीकन राष्ट्रों का एक बृहद सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया।

द्वितीय महायुद्ध के बाद एशिया और अफ्रीका में नवजागरण की जो लहर आई उसका सर्वोत्तम रूप बाण्डुङ्ग-सम्मेलन में ही प्रकट हुआ। भारत

1. Poplai, S. L. (ed.) Asia and Africa in the Modern World P 195

बर्मा और इण्डोनेशिया द्वारा मिल कर विश्व इतिहास में पहिली बार इस प्रकार के अफ्रो-एशियाई सम्मेलन का आयोजन किया गया। भारत सहित २९ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने इस सम्मेलन में भाग लिया। पहिली बार साम्यवादी चीन भी गैर-साम्यवादी राष्ट्रों के साथ सद्भावना और मैत्रीपूर्ण विचार विमर्श में भाग लेने के उद्देश्य से उपस्थित हुआ। यह सम्मेलन १८ अप्रेल १९५५ से २७ अप्रेल १९५५ तक चला और जब यह खत्म हुआ तो लगभग सम्पूर्ण संसार को यह विश्वास हो गया कि सोया हुआ एशिया और अफ्रीका अब जाग उठा है एक नई आवाज और एक नये संदेश के साथ। यह आवाज विद्रोह और सशस्त्र क्रांति की नहीं थी यह आवाज शीत-युद्ध की नहीं थी यह आवाज तो शांति मैत्री सद्भावना और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व की थी जिसमें 'जीओ और जीने दो' की भावना ओतप्रोत थी। इस नई आवाज और इस नये संदेश को बुलंद करने वालों में प्रमुख थे वीर सेनानी श्री जवाहरलाल नेहरू जिनके विवेकपूर्ण धैर्यपूर्ण और दूरदर्शितापूर्ण विचारों और उद्गारों ने उपस्थित प्रतिनिधियों का ध्यान सहज ही आकृष्ट कर लिया यहां तक हिंसा में विश्वास करने वाले राष्ट्रों को भी गम्भीरतापूर्वक उनकी बातों के वजन को स्वीकार करना पड़ा अथवा स्वीकार करने का ढोंग रचना पड़ा।

बाण्डुङ्ग सम्मेलन में उपस्थित राष्ट्रों के समक्ष एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित हुआ कि—स्वतन्त्रता से वास्तविक अभिप्राय क्या है? क्या सरकार की राजधानी से विदेशी ध्वज उतार कर और उसके स्थान पर राष्ट्रीय-ध्वज लहरा देने मात्र से स्वतन्त्रता का लक्ष्य पूरा हो जाता है? सम्मेलन में उपस्थित अधिकांश प्रतिनिधियों ने यही मत व्यक्त किया कि ध्वजारोहण मात्र से स्वतन्त्रता की प्राप्ति नहीं होती। काफी विचार विमर्श के उपरान्त प्रतिनिधिगण इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि वास्तविक स्वतन्त्रता तभी है जबकि उसमें निम्नलिखित तत्वों का समावेश हो—

(i) विदेशी प्रभाव से मुक्ति एवं पूर्ण लोकतन्त्रात्मक स्व शासन

(ii) जाति सम्प्रदाय और रंग का किसी प्रकार भेद भाव किये बिना मानव प्रतिष्ठा की मान्यता

(iii) शीघ्र आर्थिक समृद्धि जिसके लाभ अधिकाधिक जनता को सुलभ हों एवं

(iv) युद्ध का उन्मूलन तथा सद्भावना का प्रसार।

बाण्डुङ्ग सम्मेलन द्वारा इस बात की भी घोषणा की गई कि उपनिवेशवाद के सभी रूपों का समूलोन्मूलन होना चाहिए। फिर भी सम्मेलन के प्रतिनिधियों में उपनिवेशवाद के रूपों के सम्बन्ध में भारी मतभेद प्रकट हुए। श्री लंका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री जान कोटेलावाला का मत था कि उपनिवेशवाद में साम्यवादी शासन के उस रूप को भी शामिल किया जाना चाहिए जो शक्ति और विध्वंस द्वारा स्थापित किया जाता है। परन्तु सम्मेलन के अनेक प्रतिनिधियों ने साम्यवादी चीन के प्रधानमंत्री चाऊ एन लाई की उपस्थिति में इस परिभाषा को स्वीकार करने का विरोध किया।

इस विषय पर सम्मेलन में कटु और उग्र विवाद हुआ और अन्त में इस निष्कर्ष पर पहुँचा गया कि जनता की इच्छा के विरुद्ध शक्ति और निर्वंश द्वारा स्थापित शासन भी उपनिवेशवाद है।

बाण्डुङ्ग-सम्मेलन की एक प्रमुखतम विशेषता यह रही कि उसने राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक व्यवहार के दस सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिनमें से पाँच सिद्धान्त तो पंचशील के ही थे। ये दस सिद्धान्त इस प्रकार थे—

(१–२) मौलिक मानवीय अधिकारों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में सन्निहित सिद्धांतों के प्रति सम्मान की भावना

(३) सब नस्लों तथा छोटे-बड़े राष्ट्रों की समानता

(४) दूसरे देश के मामलों में हस्तक्षेप न करना

(५) संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुसार प्रत्येक देश को आत्मरक्षा करने का अधिकार

(६) किन्हीं महाशक्तियों द्वारा विशेष उद्देश्यों को पूरा करने के प्रयोजन से बनाई व्यवस्थाओं से पृथक् रहना तथा दूसरे देशों पर दबाव न डालने से बचना

(७) आक्रमण के कार्यों को न करना, इनकी धमकियाँ न देना

(८) सब अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शान्तिपूर्ण उपायों से निबटारा करना

(९) पारस्परिक हितों की वृद्धि, एवं

(१०) न्याय तथा अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों के प्रति सम्मान।

बाण्डुङ्ग-सम्मेलन के महत्व को इंगित करते हुए एक विद्वान् बार्नेट ने अपनी पुस्तक 'साम्यवादी चीन और एशिया' में लिखा है कि—"बाण्डुङ्ग सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के पुनरोत्थान का प्रतीक था। यह एक अभूतपूर्व ऐतिहासिक सम्मेलन था जिसमें एशिया और अफ्रीका के प्रमुख नेता पश्चिमी महाशक्तियों के प्रभाव से मुक्त बैठक में सम्मिलित हुए थे जो इस बात का ज्वलंत उदाहरण था कि विश्व के मामलों में अब एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों का भी प्रभाव बढ़ रहा है।

अन्त में बाण्डुङ्ग सम्मेलन में इस बात पर बल दिया गया कि "हम अफ्रो-एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारा लक्ष्य भी एक है। हम अफ्रीका और एशिया वासी सदैव एक-दूसरे के प्रति सहानुभूति और हमदर्दी रखते रहे हैं। एशिया और अफ्रीका के हम लोग उपनिवेशवाद की लूट और अत्याचारों के शिकार हुए हैं और इसके कारण गरीबी और पिछड़ेपन की स्थिति में रहने के लिए मजबूर किए गए हैं। हमारी आवाज बलपूर्वक दबाई गई है। हमारी महत्वाकांक्षाओं को कुचला गया है और हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है। अतएव इस

दासता के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं है ।"

बाण्डुङ्ग-भावना की समाप्ति

यह एक उल्लेखनीय बात है कि बाण्डुङ्ग-सम्मेलन में साम्यवादी चीन के प्रधानमंत्री चाऊ-एन-लाई ने बहुत ही चतुरतापूर्ण भूमिका का निर्वाह करके उपस्थित प्रतिनिधियों पर चीन की सदाशयता की छाप छोड़ने में कोई कसर नहीं रखी । उन्होंने सम्मेलन में प्रस्तुत प्रत्येक प्रस्ताव का पुरजोर समर्थन करते हुए इन शब्दों को बारम्बार दुहराया "हम एशियावासी एक ही प्रकार के अत्याचार से पीड़ित रहे हैं और हमारा लक्ष्य भी एक है हमारा भाग्य दूसरों की दया पर निर्भर रहा है दासता के विरुद्ध विद्रोह करने के अतिरिक्त हमारे पास अन्य कोई विकल्प शेष नहीं है ।" यही नहीं जब स्व-शासन का प्रश्न आया तो चीनी प्रधानमंत्री ने जोरदार शब्दों में अल्जीरिया मोरक्को और ट्यूनीशिया के लोगों के आत्मनिर्णय के अधिकार का प्रबल समर्थन किया । जातीय भेदभाव के प्रश्न पर नाटकीय ढंग से उन्होंने सम्मेलन के प्रतिनिधियों को प्रभावित करने की चेष्टा की । शांति का प्रश्न उपस्थित होने पर उन्होंने साम्यवादी जगत की ओर से शांतिमय सह अस्तित्व का स्वर्णिम प्रस्ताव रख कर चीनी 'उदारतावाद' का परिचय दिया । इतना ही नहीं उन्होंने अफ्रो-एशियाई देशों की सहानुभूति अर्जित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत सामूहिक सुरक्षा संगठनों की स्थापना के सिद्धान्त को भी स्वीकार कर लिया । श्री चाऊ के इस अत्यधिक विनयशील और सहयोगात्मक रुख के पीछे एक गहरी कूटनीतिक भेड़ियाचाल छिपी थी । अपने देश का विस्तारवाद का सुनियोजित नीति पर अमल करने के पहले आवश्यक सैनिक तैयारी करने हेतु चीनी प्रधानमंत्री समय चाहते थे और इसीलिए बाण्डुङ्ग-सम्मेलन में अपने व्यवहार द्वारा उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि चीन तो शांति का पुजारी है और अमेरिका के साथ लड़ने की उसके विचार में यह बेकार है । चीन की सरकार अपनी भावी साम्राज्यवादी विस्तार योजना को क्रियान्वित करने के लिए अपनी प्रति विश्व से जमा कर पड़ोसी एशियाई राष्ट्रों को बेखबर रखना चाहती थी । श्री चाऊ एशिया का नेतृत्व चीन के हाथों में आने का स्वप्न देख रहे थे ।

परंतु साम्यवादी चीन के वास्तविक इरादों से बाण्डुङ्ग सम्मेलन के प्रतिनिधि राष्ट्र अनभिज्ञ न थे । इनमें से अधिकांश देशों के कूटनीतिक प्रतिनिधि पेकिंग में अनेक वर्षों से मौजूद थे उन्हें चीन के नापाक इरादों का बहुत कुछ पता था और वे यह भी जानते थे कि साम्यवादियों के नेतृत्व में चीन की जनता को क्या मूल्य चुकाना पड़ा । अफ्रीका और एशिया के देशों के प्रतिनिधि इस प्रकार मास्को में भी परिचित न थे मास्को और पेकिंग एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में वर्षों से बनाये जा रहे थे । फिर भी यह विश्वास किसी को न था कि साम्यवादी चीन निकट भविष्य में ही बाण्डुङ्ग भावना के पलीता लगा देगा और यही विश्वास पहले भारत को और फिर इण्डोनेशिया आदि देशों को भी भयानी धोखा दे गया । बाण्डुङ्ग सम्मेलन के

कुछ ही समय बाद से साम्यवादी चीन ने भारत-चीन मैत्री के पांच सिद्धान्तों और बाण्डुङ्ग के दस सिद्धान्तों का खुला उल्लंघन कर भारत भूमि पर अपनी कुदृष्टि डालना शुरू कर दिया और अन्य देशों पर भी यह अपना प्रभाव फैलाने का प्रयत्न करने लगा। चीन ने जान बूझ कर सीमा विवाद पैदा करके १९६२ में भारत के साथ खुला संघर्ष छेड़ दिया जिससे सारे महाद्वीप का वातावरण उद्विग्न हो गया और आज तक दोनों राष्ट्र युद्ध-सन्नद्ध अवस्था में हैं।

सम्मेलन में भाग लेने वाले अन्य राष्ट्रों में भी राष्ट्रीय भावना की उग्रता अपने राष्ट्रीय हितों की भिन्नता और विघटनकारी तत्वों की प्रबलता के कारण बाण्डुङ्ग भावना धीरे धीरे समाप्त होने लगी जिसका उदाहरण इस बात में ही निहित है कि १९६४-६५ में इन्हीं राष्ट्रों का होने वाला दूसरा सम्मेलन स्थगित करना पड़ा जो आज तक नहीं हो पाया है।

वास्तव में यह एशिया का दुर्भाग्य है कि आज एशियाई ऐक्य में काफी चौड़ी दरारें पड़ चुकी हैं। भारत और चीन संघर्ष के कगार पर खड़े हैं पाकिस्तान भारत के विरुद्ध सम्भवतः भावी युद्ध की तैयारी में व्यस्त है पाकिस्तान और अफगानिस्तान में पख्तूनिस्तान के प्रश्न को लेकर तीव्र मन-मुटाव है उत्तरी व दक्षिणी वियतनाम घमासान युद्ध में फंसे हैं साम्यवादी चीन और फारमोसा स्थित राष्ट्रवादी चीनी सरकार में एक दूसरे के अस्तित्व को मिटाने की बलवती आकांक्षा पल्लवित हो अरब देश और इजरायल संघर्षपूर्ण तनाव की स्थिति में हैं अरब राज्यों में स्वयं में परस्पर स्पर्धा और विरोधी भावनायें विद्यमान हैं तथा इण्डोनेशिया एवं अन्य अनेक राष्ट्र चीन के प्रति घोर आक्रोश की स्थिति में हैं। इसके अतिरिक्त आर्थिक विकास की समस्याओं के प्रति विचार-धारा में मतभेद है और राजनीतिक व्यवस्थाओं में अन्तर है। इस प्रकार एशिया में एकता व संयोग की अपेक्षा मतभेद का क्षेत्र विस्तृत है। सम्पूर्ण महाद्वीप संसार भर में एक समस्या क्षेत्र बना हुआ है।

इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हमें प्रमुख एशियाई देशों द्वारा दिये गये योगदान का संसार की राजनीति में सामान्य रूप से और एशिया की राजनीति में विशेष रूप से विश्लेषण करना चाहिये। अध्ययन की दृष्टि से एशिया को निम्नलिखित भागों में विभक्त किया जा सकता है और उनमें निम्नलिखित राष्ट्र सम्मिलित किये जाते हैं—

(i) पूर्वी एशिया—चीन हांगकांग तथा जापान।

(ii) दक्षिण एशिया—भारत पाकिस्तान तथा श्री लंका।

(iii) दक्षिण पूर्वी एशिया—बर्मा इण्डोनेशिया हिन्द चीन मलाया फिलीपाइन्स तथा थाईलैण्ड।

(iv) पश्चिमी एशिया—अफगानिस्तान ईरान ईराक सीरिया सऊदी-अरब लबनान इजरायल ट्रांसजोर्डन टर्की साइप्रस तथा मिस्र (भौगोलिक दृष्टि से मिस्र अफ्रीका का अङ्ग है परन्तु

ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं जातीय दृष्टिकोण से यह पश्चिमी एशिया के अधिक निकट है इसलिये इसके अन्तर्गत लिया गया है) ।

पाकिस्तान की विदेश नीति पृष्ठभूमि
[Foreign Policy of Pakistan Outline]

दीर्घकाल के बाद अंग्रेजों के भारत महाद्वीप से विदा होने पर यह मुल्क दो स्वतंत्र और प्रभुता सम्पन्न राष्ट्रों में विभाजित हो गया । १४ अगस्त १९४७ को पाकिस्तान और १५ अगस्त १९४७ को भारत पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में स्थापित हुए । पाकिस्तान का दो भू-भागों जो एक दूसरे से सैकड़ों मील दूर हैं को मिला कर बनाया गया—एक पश्चिमी पाकिस्तान जिसमें पश्चिमी पंजाब सिन्ध उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रान्त (N.W.F.P.) बलूचिस्तान तथा कुछ देशी रियासतें हैं और दूसरा पूर्वी पाकिस्तान जिसमें बंगाल का पूर्वी भाग तथा आसाम का कुछ भाग सम्मिलित है । पाकिस्तान का कुल क्षेत्रफल ३,६५,९२९ वर्ग मील और आबादी लगभग १० करोड़ से भी ऊपर है ।

अपने जन्म के शीघ्र बाद ही अर्थात् १९४७-४८ में पाकिस्तान को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त हो गई । मुस्लिम लीग के प्रेसीडेन्ट एवं प्रधान नेता श्री मुहम्मद अली जिन्ना पाकिस्तान के प्रथम गवर्नर जनरल बने और प्रधानमन्त्री पद श्री लियाकत अली खां ने सम्भाला । श्री जिन्ना पाकिस्तान के लिए शक्ति और एकता के सबसे बड़े स्रोत थे और पाकिस्तान का कोई राजनीतिक दल अथवा नेता उनका विरोध करने का साहस नहीं करता था । १९४८ में कन्सर रोग से उनका निधन हो गया और इस प्रकार पाकिस्तान के राजनैतिक जीवन में शुरू से ही एक ऐसी रिक्तता आ गई जिसकी पूर्ति अन्य कोई व्यक्ति नहीं कर सकता था । श्री जिन्ना के बाद पाकिस्तान का राजनीतिक नेतृत्व प्रधानमन्त्री श्री लियाकत अली खां के कंधों पर पड़ा लेकिन न तो वे श्री जिन्ना के समान लोकप्रिय और शक्तिशाली ही थे और न उन्हें पाकिस्तान के सभी राजनीतिज्ञों का व्यापक समर्थन ही प्राप्त था । नवनिर्मित राष्ट्र के समक्ष अनेक गृह और वैदेशिक नीति सम्बन्धी समस्यायें उपस्थित थीं । इसमें काश्मीर समस्या नहरी पानी की समस्या और देश के आर्थिक विकास और शरणार्थियों की समस्यायें प्रमुख थीं । श्री लियाकत अली खां अपने नेतृत्व में इनमें से किसी भी समस्या का समाधान नहीं कर पाये और पाकिस्तान के राजनीतिक व सामाजिक क्षेत्र में उनके शासन के प्रति विरोध निरन्तर बढ़ता गया । १६ अक्टूबर १९५१ को रावलपिण्डी में आयोजित एक सभा में भाषण करते समय एक अफगान युवक अकबर द्वारा श्री लियाकत अली की हत्या कर दी गई । इस तरह अपने जन्म के ४ वर्षों के अन्तराल में पाकिस्तान को अपने दो बड़े हुए प्रमुख नेताओं के अनुभव तथा पथ प्रदर्शन से वंचित हो जाना पड़ा ।

श्री लियाकत अली खां की हत्या के उपरान्त ख्वाजा निजामुद्दीन

पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री और श्री गुलाम मुहम्मद गवर्नर जनरल बने। इस समय तक देश के प्रशासनिक ढाँचे में इतनी अस्थिरता और अव्यवस्था प्रवेश कर चुकी थी कि एक प्रकार से प्रशासनिक सत्ता का बँटवारा गवर्नर जनरल संविधान सभा के अध्यक्ष और प्रधानमन्त्री के मध्य हो गया। १९५३ तक इस प्रकार के कृत्रिम शक्ति-विभाजन के परिणाम प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर होने लगे। पाकिस्तान के समक्ष और भी अनेक नवीन समस्यायें उठ खड़ी हुईं और देश में राजनीतिक अव्यवस्था तथा भ्रष्टाचार काफी बढ़ गया। दूसरी ओर शासन के प्रति जनता में भी असंतोष व रोष का तूफान हिलोरें मारने लगा। अन्ततः स्थिति इतनी गंभीर हो गई कि गवर्नर जनरल गुलाम मुहम्मद ने प्रधानमन्त्री से बिना किसी प्रकार का परामर्श किए १७ अप्रैल १९५३ को निजामुद्दीन-मन्त्रीमण्डल को भंग कर दिया और अमेरिका स्थित पाकिस्तानी राजदूत श्री मुहम्मद अली को नया मन्त्रीमण्डल बनाने के लिए आमन्त्रित किया। संविधान सभा की बैठक भी स्थगित कर दी गई।

किन्तु स्थिति बदतर होती गई। इसी समय पाकिस्तान के सैनिक अधिकारियों में सत्ता का व्यामोह जाग उठी क्योंकि प्रथम तो सरकार और प्रशासन में भ्रष्टाचार तथा अकर्मण्यता का बोलबाला था और दूसरे अमेरिका से पर्याप्त सैनिक सहायता मिलने के कारण पाकिस्तानी सेना पूर्वापेक्षा अधिक शक्तिशाली और प्रभाव-सम्पन्न बन गई थी। अतएव उपयुक्त अवसर देख कर, प्रधान सेनापति जनरल अय्यूब के नेतृत्व में पाक सरकार के विरुद्ध सैनिक विद्रोह का बिगुल बज गया। जनरल अय्यूब के दबाव से प्रेसीडेन्ट इस्कन्दर मिर्जा ने सरकार को भंग कर ७ अक्टूबर, १९५८ को समस्त देश में मार्शल लॉ लागू किये जाने की घोषणा कर दी। यही नहीं नवनिर्मित संविधान स्थगित कर दिया गया संविधान-सभा भंग कर दी गई और समस्त राजनीतिक दलों को समाप्त घोषित कर दिया गया।

कुछ समय तक इस्कन्दर मिर्जा और अय्यूब ने मिल कर शासन चलाने का प्रयत्न किया लेकिन सफलता नहीं मिली। अन्त में श्री मिर्जा को अपना पद त्यागना पड़ा और सारी सत्ता जनरल अय्यूब के हाथ में आ गई जो आज तक भी कायम है।

जनरल अय्यूब की तानाशाही के करीब चार वर्ष बाद नये संविधान के अन्तर्गत ४ जून १९६२ को राष्ट्रीय असेम्बली की बैठक हुई और सैनिक शासन समाप्त हुआ। पाकिस्तान के इतिहास में इस दिन को ऐतिहासिक कहा गया क्योंकि लगभग ४४ माह के बाद यहाँ प्रजातान्त्रिक सरकार की पुनः स्थापना हुई भले ही कालान्तर में वह एक ढोंग ही सिद्ध हुआ हो। अय्यूब के नेतृत्व में निर्मित नवीन संविधान आज तक पाकिस्तान में लोकप्रिय नहीं हो सका है क्योंकि यह बुनियादी रूप से प्रजातान्त्रिक नहीं है। पूर्वी पाकिस्तान में तो इसके प्रति व्यापक असंतोष है। इस संविधान के विरोधियों की मुख्य मांगें इस प्रकार हैं—(i) संविधान में संशोधन हो (ii) राजनैतिक बन्दियों को रिहा किया जाय (iii) राजनीतिक दल बनाने की स्वतन्त्रता हो एवं

(iv) प्रेस व भाषण की आजादी हो। यद्यपि असूब किसी-न-किसी प्रकार अपनी सत्ता से चिपके हुए हैं लेकिन विभिन्न कारणों से पाकिस्तान के राजनीतिक क्षितिज पर काले बादल उमड़ रहे हैं और यह भय है कि घटनायें किसी भी समय गम्भीर रूप धारण कर सकती हैं।

पाकिस्तान की विदेश नीति : मुख्य लक्ष्य
(Foreign Policy of Pakistan : Main Aims)

प्रारम्भ में पाकिस्तान ने विदेशी मामलों में स्वतन्त्र नीति का अनुसरण किया और वह किसी देश अथवा गुट विशेष की ओर नहीं झुका। लेकिन भारत के प्रति जन्मजात वैमनस्य और शत्रुता की उसकी भावनायें शीघ्र ही इतनी बलवती हो गईं कि उसकी परराष्ट्र नीति का मूल प्रेरणा स्रोत भारत के विरुद्ध मित्रों की खोज करना बन गया और उसने तटस्थता की नीति को तिलांजलि दे दी। अपनी आन्तरिक समस्याओं, काश्मीर को हड़पने की उद्दाम लालसा, नहरी पानी का बंटवारा, विस्थापितों की सम्पत्ति का निबटारा, ऋणों का भुगतान, सीमा निर्धारण आदि बातों को लेकर पाकिस्तान में भारत के प्रति कटुता का ज्वालामुखी हिलोरें लेने लगा और भारत की स्थाई राजनीतिक व्यवस्था व निरन्तर आर्थिक प्रगति ने उसके मन में ईर्ष्या और भय का संचार कर दिया। डा० कैलाई के शब्दों में— 'उसकी (पाकिस्तान की) विदेश नीति पर निरन्तर केवल एक तत्व हावी रहा—भारत के विरुद्ध सुरक्षा पाने की इच्छा'। परन्तु 'भारत के विरुद्ध सुरक्षा पाने की इच्छा' की जगह भी कैलाई महोदय को 'भारत के विरुद्ध ईर्ष्या-द्वेष और शत्रुता की इच्छा" शब्दों का प्रयोग करना चाहिये क्योंकि भारत का तो आज तक का परम्परागत इतिहास शांतिप्रियता का और सहयोग व सद्भावना के प्रसार का रहा है तथा किसी भी राष्ट्र का आक्रमण करने की इच्छा भारतीय शासकों की कल्पनाओं में भी नहीं रही है।

पाकिस्तान ने अपने जन्म के तुरन्त बाद से ही 'भारत के शत्रुओं को गले लगाओ और हर कीमत पर हर तरह से भारत को क्षति पहुँचाओ' वाली नीति का अनुसरण करना शुरू कर दिया। इसलिए पाक नेताओं ने शुरू से ही पाक जनता और विश्व के सामने अपने इन मंसूबों को प्रकट कर दिया कि भारत के विरुद्ध अपना पक्ष प्रबल करने और सैनिक शक्ति बढ़ाने के लिए पाकिस्तान को ऐसे मित्रों की आवश्यकता है जो काश्मीर के प्रश्न पर उसका समर्थन तो करें ही साथ ही साथ उसे आवश्यक सैनिक सहायता भी दें। भारत-विरोध की इस भावना ने पाकिस्तान को 'एक ही दिशा में मुड़ना' सिखा दिया। इस बात की पुष्टि करते हुए ही स्वर्गीय प्रधान मंत्री श्री सोहरावर्दी ने कहा था—"हमारे लिए इस प्रकार का पृथकत्वपूर्ण जीवन व्यतीत करना कठिन है। हम अपनी सुरक्षा के लिए अभी पर्याप्त रूप से सशक्त नया [illegible] नहीं है। हमारे पास अकेले ही अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए पर्याप्त धन भी नहीं है। हमें अपनी सुरक्षा के लिए दूसरी शक्तियों की ओर मुड़ना ही पड़ेगा। पाकिस्तान का प्रत्येक शासक भारत के विरुद्ध आग

उगलता रहा और यह प्रचार करता रहा कि भारत पाकिस्तान जैसे छोटे देश की सत्ता मिटाने पर तुला हुआ है और उसे भारत के आक्रमण का सर्दैव भय है। पाकिस्तान के भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री जुल्फिकार अली भुट्टो ने २१ मार्च १९६४ को न्यूयार्क में एक टेलीविजन भेंट में भारत के विरुद्ध विषवमन करते हुए कहा कि प्रधान मन्त्री नेहरू पाकिस्तान के साथ 'नग्न आक्रमण' की नीति बरत रहे हैं और काश्मीर में पिछले १५ वर्ष में भारत के आक्रमण का रिकार्ड ऐसा है कि चंगेज खाँ भी इससे ईर्ष्या करेगा।[1]

भारत से शत्रुता के अतिरिक्त एक और भी बात ने पाकिस्तान की विदेश नीति को बहुत अधिक प्रभावित किया है। सबसे बड़ा इस्लामी गणराज्य होने के नाते पाक नेताओं की शुरू से ही यह महत्वाकांक्षा रही है कि वह समस्त इस्लामी जगत का नेतृत्व करे। लेकिन मिस्र म नासिर के उदय ने पाकिस्तान क इस इरादे को पूरा नहीं होने दिया है। नासिर का अलग स्वप्न है और वह है अरब गणराज्य के झंडे के अन्तर्गत मिस्र के नेतृत्व में समस्त अरब देशों को एकत्र कर उनका एक शक्तिशाली महासंघ हो। पाकिस्तान की इस्लाम जगत का नेतृत्व करने की महत्वाकांक्षा उन्हें कैसे सहन हो सकती है।

पाकिस्तान के सम्पूर्ण इतिहास ने यह सिद्ध कर दिया है कि पाकिस्तान द्वारा तटस्थता या किसी गुट में न मिलने क स्थान पर पश्चिमी देशों के साथ सैनिक गठबन्धन में बंध जाने का निर्णय इसीलिए किया गया कि उसके उपरोक्त दोनों उद्देश्यों—भारत को नीचा दिखाना और इस्लामी जगत का नेतृत्व करना—की पूर्ति हो सके। 'पश्चिम' (विशेषकर अमेरिका के साथ सैनिक दृष्टि से आबद्ध हो जाने का वास्तविक कारण पाकिस्तान क साम्यवाद के प्रति भय या विरोध न कभी था और न है जैसा कि भारत–चीन के मध्य सीमा के प्रश्न का लेकर युद्ध छिड़ने और पाकिस्तान द्वारा चीन के साथ सांठ-गांठ करने से भली प्रकार स्पष्ट है। पाकिस्तान की विदेश नीति के प्रमुख लक्ष्य या हमेशा से ये ही रहे हैं—

१ भारत के मुकाबले अधिक शक्तिशाली हो कर काश्मीर समस्या को अपन अनुकूल हल कराने के लिए भारत को बाध्य करना

२ सैनिक दृष्टि से अपने को इतना सक्षम बनाना कि भारत किसी हालत में उससे सैनिक दृष्टि से श्रेष्ठ न होने पावे

३ भारत के विरुद्ध पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन प्राप्त करना

४ पश्चिम समर्थक अन्य-इस्लामी राज्यों को अपने साथ मिला कर नासिर के नेतृत्व को चुनौती देना और पाकिस्तान के झण्डे के नीचे एक इस्लामी जगत का संगठन करना

५ पश्चिमी देशों और अन्य देशों के साथ सैनिक गठबन्धनों से बंध कर भारत को आतंकित करना।

---

1 The Hindustan Times, March 24, 1964

भारत को अपना प्रमुख शत्रु मानना पाक विदेश नीति का एक आधारभूत अङ्ग है जिसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह न मित्रों को बदलने में संकोच कर सकता है और न किसी भी गुट से गठबन्धन करने में ही उसे कोई हिचक हो सकती है। अतीत में पाकिस्तान मुख्यतः भारत-विरोध के कारण सभी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्नों पर अधिकांशतः पश्चिमी देशों का समर्थन करता रहा है परन्तु अब वह साम्यवादी देशों से भी मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के लिए प्राणपण से सचेष्ट है। भारत-पाक संघर्ष के बाद से रूस के प्रति बढ़ता हुआ पाकिस्तान का झुकाव और चीन से उसका नापाक गठबंधन उसकी इसी परिवर्तित नीति का द्योतक है। पाकिस्तान के शासक पश्चिमी देशों को यह चेतावनी देने से कभी नहीं चूके हैं कि यदि उन्होंने काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान का समर्थन न किया तो उन्हें पाक विदेश नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा और इसी प्रकार वे अब साम्यवादी देशों को यह स्पष्ट कर से बताने लगे हैं कि यदि काश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान को उनका समर्थन मिला तो पश्चिम की मैत्री का विशेष महत्त्व नहीं है। पाकिस्तान का यह रवैया उसकी विदेश नीति की अवसरवादिता का परिचायक है। पाकिस्तान की इस नीति का ही यह एक अनिवार्य परिणाम है कि भारतीय उपमहाद्वीप पूरी तरह शीत-युद्ध का अखाड़ा बन चुका है।

पाकिस्तान की विदेश नीति के प्रमुख तत्त्वों की चर्चा करने के उपरान्त अब हम विगत २० वर्षों की पाक-विदेश नीति के इतिहास अथवा उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर प्रकाश डालेंगे। चूँकि भारत-पाक सम्बन्धों पर विस्तार से प्रकाश भारत की विदेश नीति अध्याय के अन्तर्गत डाला जा चुका है अतः इस पर अब केवल सांकेतिक रूप में चर्चा करना ही पर्याप्त होगा।

(१) पाकिस्तान और उसका इस्लामवाद

पाकिस्तान का जन्म मुस्लिम साम्प्रदायिकता पर हुआ था अतः अपने जन्म से ही धर्म निरपेक्षता से अलग रहते हुए वह पूर्णतः एक 'इस्लामी राज्य' बन गया। उसने अपने आप को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए इस्लामवाद का सहारा लिया। मार्च १९४९ में पाकिस्तान की संविधान-सभा ने घोषणा की कि उसका उद्देश्य देश में 'एक ऐसी इस्लामी लोकतन्त्र की स्थापना करना है जिसमें मुसलमान लोग इस्लाम धर्म के सिद्धान्तों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत कर सकें।' पाकिस्तान ने अपनी विदेश नीति का एक महत्त्वपूर्ण लक्ष्य यह निर्धारित किया कि विश्व के समस्त मुस्लिम देशों को एकता के सूत्र में आबद्ध कर एक अखिल इस्लामी संघ की स्थापना की जाय जिसका नेतृत्व पाकिस्तान करे। अतः इसी उद्देश्य से प्रेरित होकर पाकिस्तान ने मुस्लिम देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने के प्रयत्न किये और साम्राज्यवाद के विरुद्ध उनकी माँग का समर्थन किया। मध्य पूर्वी देशों में 'इस्लामी एकता' (Islamic Unity) के नारे का प्रचार करने के लिए उसने शिष्ट मंडल भी भेजा। परन्तु इन देशों को इस प्रचार के पीछे 'वृहत्तर पाकिस्तान' (Greater Pakistan) का दुःस्वप्न दिखाई दिया। इस्लामी राज्य

बात को भली प्रकार भाँप गए कि पाकिस्तान का मूल उद्देश्य इस्लामी जगत से निष्कपट मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों में आबद्ध होना नहीं है, प्रत्युत पश्चिमी एशिया और समस्त अरब देशों का एक संघ बना कर उसका नेतृत्व करना है। अतः पाकिस्तान के प्रचार से मुस्लिम देश पहिले ही सावधान हो गये और उसकी इस्लामी राज्यों के नेतृत्व की मनोकामना पूरी न हो सकी। इस्लामी जगत का अगुआ बनने में पाकिस्तान को दो कारणोंवश मुँह की खानी पड़ी। प्रथम तो पाकिस्तान स्वयं एक इतना समस्याग्रस्त और आर्थिक दृष्टि से पिछड़ा हुआ देश था (और है) कि वह इस्लामी राज्यों को किसी भी प्रकार की आर्थिक सहायता देने में असमर्थ रहा। दूसरे, मिस्र के कर्नल नासिर ने पाकिस्तानी नेताओं की महत्वाकांक्षाओं को साकार नहीं होने दिया। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाकिस्तान ने कई कदम उठाए, मुस्लिम देशों के अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक-सम्मेलनों का आयोजन किया समय-समय पर पराधीनता में जकड़े हुए इस्लामी देशों के प्रमुख प्रवक्ता और समर्थक के रूप में अपने आप को प्रस्तुत किया किन्तु श्री नासिर के बढ़ते हुए प्रभाव के सामने उसके ये सारे प्रयास लगभग निष्फल सिद्ध हुए। इतना ही नहीं स्वेज नहर कांड पर पश्चिम-समर्थक दृष्टिकोण अपनाने के कारण और अफगानिस्तान से अपने सम्बन्ध बिगाड़ने के कारण मुस्लिम जगत में उसकी प्रतिष्ठा को बहुत ठेस पहुँची।

१६४७ से १६५२ तक इस्लामाबाद पूर्ण स्वतन्त्र-देश नीति अंगीकार करने के कारण वैदेशिक मामलों में पाकिस्तान गुटबन्दी का पूरी तरह शिकार बनने से बचा-सा रहा। यही कारण था कि अमेरिका ने जब संयुक्त राष्ट्र संघ में कोरिया युद्ध के बारे में साम्यवादी चीन को आक्रमक घोषित करने का प्रस्ताव रखा तो पाकिस्तान अनुपस्थित रहा। इस काल में उसने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता दिलाने के प्रस्ताव का समर्थन किया और उपनिवेशों की जनता को स्वतन्त्रता दिलाने में भी रुचि ली।

(२) पाकिस्तान और राष्ट्र मण्डल

ब्रिटिश राष्ट्र मंडल जो सन् १६४८ के बाद से केवल 'राष्ट्र मंडल' (Commonwealth of Nations) के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा है के प्रति भी पाकिस्तान का दृष्टिकोण प्रधानतः सुरक्षा और स्थिरता की आवश्यकता द्वारा ही निर्धारित हुआ। पाकिस्तान 'राष्ट्रों के इस नवीन समुदाय' का एक सम्मानित सदस्य बन गया। राष्ट्र मंडल के विभिन्न सम्मेलनों में पाकिस्तानी नेताओं ने साम्यवाद साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद की भर्त्सना करने में तथा अफ्रीका में रंग भेद की नीति का विरोध करने में एशियाई देशों को सहयोग दिया। परन्तु साथ ही भारत का विरोध करने और उसे नीचा दिखाने के किसी अवसर को भी उसने हाथ से नहीं जाने दिया। राष्ट्र मंडल के सम्मानित सदस्य की हैसियत से पाकिस्तान का सर्वदा यह असम्मानित व्यवहार रहा कि उसने राष्ट्र मंडल के सदस्यों को भारत विरोधी बनाने की हर सम्भव कोशिश की यद्यपि उसे अपने ऐसे प्रत्येक प्रयास

में अधिकांशतः असफलता ही हाथ लगी। अनेक अवसरों पर पाकिस्तान का व्यवहार स्पष्टतः इन उद्देश्यों और भावनाओं के प्रतिकूल रहा जिनके लिए राष्ट्र मंडल काम कर रहा है।

(१) पाकिस्तान का पश्चिम से गठबन्धन और उसकी साम्यवाद विरोधी नीति

भारत के विरुद्ध अपनी स्थिति को सुदृढ़ करने और देश की अर्थ व्यवस्था को भंग होने से बचाने के लिए पाकिस्तान को धन और शस्त्रास्त्रों की अत्यन्त आवश्यकता थी। जब इस्लामवाद पूर्ण स्वतन्त्र-देश नीति पर चल कर पाकिस्तान किसी तरह लाभान्वित न हो सका और अपनी तुलना में उसने भारत को दिन-प्रतिदिन विश्व मामलों में शक्ति तथा उच्चता प्राप्त करते देखा तो पाकिस्तान के राजनीतिज्ञ न केवल शोकाकुल थे बल्कि भारत को पछाड़ने के लिए बेताब हो उठे। अतएव पाक-प्रधानमन्त्री मोहम्मद अली ने पाकिस्तान की विदेश नीति का पश्चिमी गुट की ओर अभिमुख करना ही ठीक अवसर समझा। इस नीति पर चलने का निश्चय करने के तुरन्त बाद अमेरिकन विदेश सचिव स्वर्गीय श्री डलेस द्वारा संचालित साम्यवाद-विरोधी अभियान में योग देने के बहाने पाकिस्तान ने १९५४ में अमेरिका और टर्की के साथ पारस्परिक सुरक्षा संधि कर ली और वह बगदाद-संधि (अब सेंटो) और 'सीटो' में भी सम्मिलित हो गया। इन सैनिक संधियों में शामिल होकर अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में वह खुले रूप से पश्चिमी देशों का समर्थक बन गया। पाकिस्तान की इस नीति ने उसे पश्चिमी राष्ट्रों विशेष कर संयुक्त राज्य अमेरिका की विपुल आर्थिक और सैनिक सहायता अवश्य उपलब्ध कराई किन्तु इससे पूर्णतः स्पष्ट हो गया कि एशियाई राष्ट्रों की एकता पाकिस्तान के लिए कोई महत्व नहीं रखती और विभिन्न जातियों तथा धर्मावलम्बियों के एक सूत्र में आबद्ध होने और मित्र बन कर रहने के सिद्धान्त में वह विश्वास नहीं करता।

पाकिस्तानी शासकों ने पश्चिम के गुटबन्दी की नीति को अपनाते हुए अपना मानसिक संतुलन भी खो दिया और भारत के तटस्थतावाद को 'नकारात्मक तथा रंगहीन' बताया। प्रधानमन्त्री हुसेन शहीद सुहरावर्दी ने एक बार भारत के 'पर्सनलता या तटस्थता को 'शून्य' के समान महत्वहीन सम्बोधित किया। उन्होंने 'नकारात्मक तटस्थता' और 'विकासशील तटस्थता' की निन्दा की और इस नीति को आक्रामक तटस्थता की संज्ञा दी। श्री सुहरावर्दी ने तटस्थतावादियों को अवसरवादी कहते हुए उनकी तुलना ऐसे व्यक्तियों से करना उचित समझा जो भिन्न दिशाओं में चल रही दो नावों पर अपने पाँव जमाने का मूर्खतापूर्ण प्रयत्न कर रहे हैं। जब एक बार उनसे पूछा गया कि भारत की तरह पाकिस्तान भी तटस्थता की नीति का अवलम्बन क्यों नहीं करता तो श्री सुहरावर्दी ने उत्तर दिया—"हमारे लिये इस प्रकार पृथकत्व पूर्ण जीवन व्यतीत करना कठिन है। हम अपनी सुरक्षा के लिए अभी पर्याप्त रूप से सशक्त तथा दृढ़ नहीं हैं। हमारे पास अनेक ही

अपनी सुरक्षा का प्रबन्ध करने के लिए पर्याप्त स्रोत भी नहीं है.......हमें अपनी सुरक्षा के लिए दूसरी शक्तियों की ओर मुड़ना ही पड़ेगा।"

पश्चिमी गुट को प्रसन्न करके उससे प्रचुर आर्थिक एवं सैनिक सहायता प्राप्त करने की दृष्टि से पाकिस्तान ने प्रत्येक उचित अनुचित मामलों में आँख मींच कर 'पश्चिम' को समर्थन देना आरम्भ किया। बगदाद-पैक्ट सीटो-संगठन आदि में सम्मिलित होने के बाद स्वेज-नहर के मामले में उसने एंग्लो-फ्रैंच इजरायली आक्रमण का समर्थन किया। उसने मध्य पूर्व में 'आइजनहॉवर-सिद्धान्त' का स्वागत किया। पश्चिमी गुट में आने के नाते पाकिस्तान ने साम्यवाद के विरुद्ध अपने अविश्वास और घृणापूर्ण व्यवहार का प्रदर्शन किया। अमेरिका ने पाकिस्तान में रूस की मध्य-एशिया की दक्षिणी सीमा के निकट सैनिक अड्डे प्राप्त किए। अमेरिका का उद्देश्य यहां से रूस की सैनिक गति विधियों का निरीक्षण करना था। यू-२ जासूसी विमान की उड़ान पेशावर से ही शुरू हुई थी। पाकिस्तान ने अमेरिका को ये सब मनोवांछित सैनिक देना इसीलिए स्वीकार किया क्योंकि अमेरिका के साथ अपने सैनिक गठ-बन्धन को वह भारत के विरोध में सहायक समझता था। पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री सुहरावर्दी ने पाकिस्तान की धारा सभा में फरवरी १९५७ में सैनिक संधियों का निर्लज्ज समर्थन करते हुए घोषणा की थी कि—"ये पाकिस्तान के लिए आवश्यक हैं क्योंकि उस पर भारत के आक्रमण का संकट सदा बना हुआ है। जिस देश पर हमले की आशंका हो वह (सैनिक संधियों से) पृथक रहने की नीति नहीं रख सकता अतः हमें मित्र बनाने चाहिए।" स्पष्ट है कि सीटो और सैन्टो के संधि-संगठनों में सम्मिलित होने में पाकिस्तान का मूल उद्देश्य साम्यवाद के विरुद्ध ढाल बनना नहीं था बल्कि भारत के विरुद्ध विशेषतः काश्मीर के प्रश्न पर पश्चिमी देशों का सहयोग पाना था। भारत के विरुद्ध मित्रों की खोज के अपने प्रयास में पाकिस्तान की पहली नजर अमेरिका पर ही इसलिए भी पड़ी क्योंकि एक-मात्र यही देश अपनी समृद्धि के कारण पाकिस्तान के आर्थिक पुनर्निर्माण में पर्याप्त सहायता देने की क्षमता रखता था। पाकिस्तान ने अमेरिका के साथ दोस्ती का जाम पीकर उससे विपुल आर्थिक व सैनिक सहायता प्राप्त की और अपने पुनर्निर्माण एवं विकास के अनेक कार्यक्रमों में अमेरिका की जिम्मेदारी स्वीकार कर ली। अमेरिका के साथ हुए सैनिक समझौते के अन्तर्गत अमेरिकन विशेषज्ञ टैक्नीशियन इंजीनियर सैनिक अधिकारी और कूटनीतिज्ञ पाकिस्तान में आने आरम्भ हो गए और देश खुले आम 'शीत-युद्ध' में सैलाब हो गया। पाकिस्तानी राजनीतिज्ञों ने अमेरिकन-विचारधारा और आदर्शों का अनुसरण करने में गर्व अनुभव किया तथा अमेरिका की मित्रता को सम्मानपूर्वक 'विशेषाधिकार' समझा।

११ जुलाई से १८ जुलाई १९६१ तक राष्ट्रपति अय्यूब ने अमेरिका की यात्रा की। उनकी यात्रा से पहिले अमेरिकन उपराष्ट्रपति (और अब राष्ट्रपति) लिण्डन जॉनसन पाक-यात्रा पर आ चुके थे और १२ जनवरी

१९५९ को करांची में पाकिस्तान व अमरिका के बीच प्रमाण पत्रों के आदान प्रदान द्वारा एक मैत्री-संधि की पुष्टि की जा चुकी थी।

पश्चिमी राष्ट्रों विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका का पक्ष-साथ पाकिस्तान के लिए अत्यन्त गुणकर थी। पाकिस्तानी नेताओं ने अपने इस दृष्टिकोण को छिपाने की चेष्टा भी नहीं की। श्री सुहरावर्दी ने एक बार स्पष्ट शब्दों में कहा— अमरिका अविकसित तथा अर्द्ध विकसित देशों में प्रसन्नता और समृद्धि फैला कर उन्हें इस योग्य बनाने का प्रयास कर रहा है कि वे साम्यवाद नामक निराशा की विचारधारा से स्वयं को बचा सकें। 'पश्चिम' को प्रसन्न रखने के लिए पाकिस्तान ने प्रारम्भ से ही संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर सोवियत विरोधी नीति का अनुसरण किया। उसने अफगानिस्तान के साथ पख्तूनिस्तान क्षेत्र पर चल रहे अपने विवाद के लिए मास्को को उत्तरदायी ठहराया। उसने यूगोस्लाविया के साथ—जिसके १९४८ के बाद से ही सोवियत रूस के साथ सम्बन्ध मधुर नहीं थे—मैत्री पूर्ण सम्बन्ध विकसित किए। फरवरी १९६० में राष्ट्रपति टीटो ने पाकिस्तान की यात्रा की और तब जनवरी १९६१ में जनरल अय्यूब ने यूगोस्लाविया का दौरा किया तथा पाकिस्तान की द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लिए ऋण के विषय में एक समझौता किया। १९६० तक पाकिस्तान की नीति साम्यवाद के प्रति अवसरानुकूल आक्रामक रही। उसने लद्दाख के अपने क्षेत्र में चीनी अतिक्रमण पर काफी शोर मचाया और चीन की इस कार्यवाही की भर्त्सना की। १९५९ के अन्तिम चरण में जब सोवियत रूस से सम्बन्धों में कुछ सुधार होने लगा तब भी पाकिस्तान में रूस के प्रति शत्रु भाव कम होने के कोई लक्षण प्रकट नहीं हुए।

१९६१ में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटित हुई जिसने पाकिस्तान को सीटो तथा सैन्टो संधि-संगठनों में रहते हुए भी स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करने की प्रबल प्रेरणा दी। इस समय लाओस में भीषण संकट उत्पन्न होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने सीटो संगठन के सदस्यों से सहायता की मांग की परन्तु फ्रांस के राष्ट्रपति डि-गॉल (De gaulle) ने इसका कड़ा विरोध किया। फ्रांस के इस विरोध से यह स्पष्ट हो गया कि वह सीटो और नाटो में रहते हुए भी स्वतन्त्र विदेश नीति का अनुसरण करने पर कटिबद्ध था। इस घटना से राष्ट्रपति अय्यूब और उनके साथियों को यह विश्वास हो गया कि सीटो एक मृतप्राय संगठन है और फ्रांस के पद चिन्हों पर चलते हुए पाकिस्तान भी अपनी स्वतन्त्र नीति रख सकता है तथा अमरिका के प्रबल शत्रु चीन के साथ मैत्री पूर्ण सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। परिणाम स्वरूप प्रति पाकिस्तान के परिवर्तित इस नये दृष्टिकोण का स्पष्ट प्रमाण तब मिल गया जब १९६१ में उसने संयुक्त राष्ट्र संघ में साम्यवादी चीन की सदस्यता का प्रश्न आने पर इसके पक्ष में पहली बार अमरिका की इच्छा के प्रतिकूल मत दिया। चीन के साथ गठ-बन्धन बढ़ाने में पाकिस्तान का एक मात्र उद्देश्य यही था कि वह भारत के विरुद्ध एशिया के सबसे बड़े राष्ट्र का सहयोग प्राप्त

कर ले और साथ ही संयुक्त राज्य अमेरिका व अन्य पश्चिमी शक्तियों को भी एक बारगी ही झकझोर कर इस बात के लिए विवश कर दे कि वे भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को प्रत्येक प्रकार का सहयोग देने के लिए पूर्वापेक्षा अधिक सक्रिय हो जाय। यह कहना उचित होगा कि पाकिस्तान ने गुट-बन्दी की अपनी नीति को दोमीसी बना कर अधिक से अधिक अपना उल्लू सीधा करने की दिशा में आगे बढ़ना विशेष हितकर समझा। यही नहीं वह पश्चिमी देशों को चेतावनी तक भी देने लगा कि काश्मीर के सम्बन्ध में भारत के विरुद्ध उसका यदि पुरजोर समर्थन नहीं किया गया तो उसे अपनी विदेश नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ेगा। अपनी धमकियों और दूसरी तरफ अपनी मिन्नतों के बल पर पाकिस्तान अमेरिका से आधुनिकतम शस्त्रास्त्रों की सहायता पाता रहा।

अक्टूबर, १९६२ में चीन द्वारा भारत पर जब अप्रत्याशित रूप से विशाल सैनिक आक्रमण किया गया तो पाकिस्तान में खुशियां मनाई गई और जब पश्चिमी राष्ट्रों ने इस संकटकाल में भारत को तेजी से सैन्य सामग्री भेजी तो पाकिस्तान द्वारा पश्चिम की इस कार्यवाही को शत्रुतापूर्ण समझा गया। इसके बाद से ही पश्चिम के प्रति पाकिस्तान की मैत्रीपूर्ण नीति उतनी प्रगाढ़ और निर्विवाद न रह सकी जितनी पहिले थी। अब उसका झुकाव चीन की ओर होने लगा। सितम्बर, १९६५ में पाकिस्तान द्वारा भारतीय भू-भाग पर सुनियोजित आक्रमण किया गया जिसमें उस सभी सैन्य-सामग्री का खुलकर प्रयोग हुआ जो संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा साम्यवाद के विरोध के नाम पर पाकिस्तान को दी गई थी। भारत के विरुद्ध इस युद्ध में पाकिस्तान को यह आशा थी कि अमेरिका से सैनिक गठबन्धन में घनिष्ठतम रूप से आबद्ध होने के कारण उसे अमेरिका व अन्य पश्चिमी शक्तियों की सैनिक सहायता प्राप्त होगी। लेकिन पाकिस्तान की यह आशा निराशा में परिणत हो गई। संयुक्त राज्य अमेरिका और पाकिस्तान के सम्बन्धों में तब और भी बिगाड़ आ गया जब अमेरिका ने भारत के साथ ही पाकिस्तान को दी जाने वाली सैनिक-सहायता पर रोक लगा दी। पाकिस्तान के नेता अमेरिका के इस रवैये से बुरी तरह क्षुब्ध हो गए और उन्होंने अपने देश की विनष्ट शक्ति को पुनर्जीवित करने के लिए चीन से विशाल पैमाने पर शस्त्रास्त्र प्राप्त किये। चीन के अतिरिक्त पाकिस्तानी नेता सोवियत रूस की ओर भी मैत्री भाव प्रदर्शित करने लगे और इस तरह उन्होंने पश्चिमी जगत में यह भय पैदा करने में सफलता पाई कि यदि पाकिस्तान को पश्चिमी शक्तियों से सैनिक-सहायता न मिली तो उसके लिए पश्चिम की मैत्री को ठुकरा कर चीन और रूस की गोदी में जा बैठना अस्वाभाविक न होगा।

पाकिस्तान की इस कूटनीति का वांछित परिणाम निकला और अमेरिका ने १९६७ में इस बात की घोषणा कर दी कि वह पाकिस्तान के विनष्ट और क्षति ग्रस्त शस्त्रास्त्रों की आवश्यक मरम्मत के लिए उसे कल-पुर्जे देगा। अमेरिका की यह घोषणा इस बात का स्पष्ट संकेत है कि 'पश्चिम'

पाकिस्तान को नाराज नहीं करना चाहता और उसे अपने हाथ में रखने के लिए वह बराबर उसके सामने चारा डालने को मजबूर है। कल-पुर्जे बेचने की बात भारत के पक्ष में भी कही गई है। लेकिन इस तथाकथित-समदर्शी के प्रदर्शन से कि अमेरिका ने कल-पुर्जों के लिए भारत व पाकिस्तान दोनों के लिए बाजार एक जैसा खुला है इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि केवल इन कल-पुर्जों से ही तो पाकिस्तान के लगभग १० अरब रुपयों के वे हवाई जहाज और टैंक फिर से आग उगलने के काबिल हो जाएंगे जो भारत से युद्ध के बाद लूले-लंगड़े होकर रह गए हैं। पाकिस्तान भी बजाय खुश होने के नाराजगी के हो-हल्ले के बीच इस तथ्य को दबा देना चाहता है कि अमेरिकन कल-पुर्जों से उन सबके सब जहाजों और टैंकों में जान पड़ जाएगी जिनकी सांसें भी अन्यथा थोड़े दिन बाद रुकने लगती। वाशिंगटन में बड़ी मासूम अदा से कहा जा रहा है कि अमेरिका ने तो दोनों राष्ट्रों को कल-पुर्जे बेचने की बात कह कर बड़ा न्याय किया है। इस मामले में वह भारत व पाकिस्तान को एक ही आंख से देखता है। साथ ही नाना-कूटनीति के माध्यम से यह बात फैलाने में भी वाशिंगटन नहीं चूक रहा है कि अमेरिका पाकिस्तान को इसलिए सहायता देते रहना चाहता है कि कहीं वह रूठ कर चीन के बाहुपाश में न चला जाए। पर अमेरिका के इस प्रचार के पीछे हकीकत कुछ और ही है। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को खुश रखने का असली कारण चीन नहीं रूस है। रूस के मुकाबले के लिए पाकिस्तान का साथ रखना अमेरिका जरूरी समझता है। अमेरिका यह जानता है कि कुछ भी हो वह कभी भी रूस के विरुद्ध भारत का इस्तेमाल नहीं कर सकेगा। यद्यपि आज पाकिस्तान कम्युनिस्ट चीन से मेल मिलाप की पूरी कोशिश कर रहा है फिर भी उसकी रूस से दोस्ती कितनी गहरी है इसे सब जानते हैं।

अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को कल-पुर्जे बेचने के कारण चाहे कुछ भी हों इस तथ्य को नहीं झुठलाया जा सकता कि इससे पाकिस्तान की सैनिक शक्ति बढ़ेगी और यह सब देखते हुए भारत भी चुप नहीं बैठा रहेगा। नतीजा यह होगा कि दोनों पक्षों के बीच हथियारबन्दी की होड़ बढ़ेगी और अस्त्रों के इस्तेमाल की सम्भावना भी। अमेरिका की पाकिस्तान को सैनिक सहायता सम्बन्धी यह नीति विश्व शांति के हक में किसी तरह उचित नहीं कही जा सकती। अमेरिका का यह कर्तव्य है और उसमें यह सामर्थ्य भी है कि वह भारत और पाकिस्तान में दोस्ती कराये। कश्मीर के प्रश्न को लेकर दोनों राष्ट्रों में किसी भी दिन पुनः विस्फोट हो सकता है। अभी तक अमेरिका ने भारत-पाक मित्रता का गुणगान ही किया है—किया कुछ भी नहीं। भारत और पाकिस्तान को अपनी रक्षा के लिए हथियारों की जरूरत है पर दोनों की सुरक्षा-समस्याएं एक जैसी नहीं हैं। इसलिए अमेरिका को अपनी हथियार देने की नीति निर्धारित करते समय भारत और पाकिस्तान में मित्रता कराने का उद्देश्य सर्वोपरि रखना चाहिए। पर्यवेक्षकों का तकाजा है कि अमेरिका को सैनिक सहायता बन्द करके आर्थिक सहायता बढ़ानी चाहिए। बड़े देश जितना ज्यादा सैनिक सहायता पर खर्च कर रहे हैं यदि उसका आधा भी अल्पविकसित देशों के विकास पर खर्च करें तो

संसार में प्रभाव की समस्या दो महाशक्तियों में ही हल हो सकती है।

(४) पाकिस्तान की चीन से भारत-विरोधी सांठ-गांठ

पश्चिमी देशों के साथ भारत के विरुद्ध सहायता पाने के साथ-साथ पाकिस्तान ने चीन से मैत्री-सम्बन्ध बनाये रखने के प्रति भी प्रारम्भ से सजगता रखी और बीच के कुछ वर्षों को छोड़कर १९६० के बाद से चीन के साथ सांठ गांठ करने में कोई कसर बाकी नहीं छोड़ी। पाकिस्तान ने चीन की साम्यवादी सरकार को १९५० में मान्यता प्रदान की। १९५१ में दोनों राष्ट्रों में राजदूतों का आदान-प्रदान हुआ और बाद के कुछ वर्षों में रुई के आर्थिक स्वार्थ के कारण दोनों देशों के सम्बन्ध और भी आगे बढ़े। पाकिस्तान रुई बेचना चाहता था और चीन खरीदना चाहता था। दोनों देशों में व्यापार बढ़ा। इस समय पेकिंग ने अपने देश के मुस्लिम संगठनों के माध्यम से पाकिस्तान के मुस्लिम संगठनों से सम्पर्क स्थापित किया। १९५४ से पूर्व तक दोनों ही देशों के सम्बन्ध उत्तरोत्तर सुधरते ही गये और पाकिस्तान को यह आशा होने लगी कि वह चीन को भारत के विरुद्ध मोड़ सकेगा।

परन्तु १९५४ से ही पाकिस्तान और चीन के सम्बन्धों में गतिरोध व बिगाड़ की शुरुआत हो गई। १९५४ में पाकिस्तान के साम्यवाद-विरोधी सीटो संगठन में सम्मिलित होने पर पेकिंग ने इसकी कठोर शब्दों में निन्दा की। फिर भी इससे दोनों देशों के सम्बन्ध अधिक इसीलिए नहीं बिगड़े क्योंकि पाकिस्तान के सीटो संगठन में सम्मिलित होने का उद्देश्य नई-दिल्ली और मास्को का विरोध था न कि पेकिंग का। पेकिंग इस समय निरन्तर यही कहता रहा कि काश्मीर के प्रश्न का निर्णय संधि-वार्ता में होना चाहिए। इसके विपरीत रूस काश्मीर के प्रश्न पर भारत को खुला समर्थन देता रहा।

१९५४ से १९५९ तक भारत और चीन के मैत्री-सम्बन्ध प्रगाढ़ से रहे। इस अवधि में पेकिंग और दिल्ली के सम्बन्ध यद्यपि अधिक मैत्रीपूर्ण नहीं बन पाए किन्तु उनमें कटुता भी नहीं बढ़ी। १९५७ में पाकिस्तान के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री सुहरावर्दी ने यह घोषणा की कि— मैं चीन की मैत्री चाहता हूँ। मैं इस विषय में अकेला नहीं हूँ। मुझे इस बात का निश्चय है कि जब संकट का समय आयेगा चीन हमारी सहायता करेगा।

सुहरावर्दी की आशा रंग लाने लगी। १९५९ से चीन और भारत के सम्बन्धों में सीमा-प्रश्न को लेकर कटुता बढ़ने लगी। पाकिस्तान ने स्थिति का लाभ उठाते हुए चीन के साथ अपने सम्बन्धों को प्रगाढ़ बनाने की बात इस आधार पर सोची कि शत्रु के शत्रु को मित्र बनाना लाभदायक होता है। चीन भी इसी सिद्धान्त के आधार पर पाकिस्तान के निकट आने लगा। इसी समय भारत स्थित चीनी राजदूत ने नई दिल्ली को चेतावनी दी कि यदि भारत ने चीन के प्रति अपने रवैये को नहीं सुधारा तो उसे दो मोर्चों पर लड़ना पड़ेगा।

पाकिस्तान ने चीन को अपने अधिक अनुकूल और भारत के प्रतिकूल देख कर काश्मीर पर अपना प्रभुत्व सुदृढ़ करने के लिए चीन से काश्मीर और चीन की सीमा के बारे में समझौते की बातचीत प्रारम्भ कर दी जब कि यह सीमा भारत और चीन के बीच विवाद-ग्रस्त थी और काश्मीर के एक भाग पर पाकिस्तान का अनधिकृत एवं अवैध अधिकार था। १९६१ से पाकिस्तानी समाचार पत्रों ने यह प्रचार प्रारम्भ किया कि चीन के विरुद्ध किसी प्रतिरक्षा संगठन में पाकिस्तान की दिलचस्पी नहीं है। दिसम्बर १९६१ में जब भारत ने गोआ, दमन और दीव को पुर्तगाल के उपनिवेश-वादी अत्याचारी शासन से मुक्त किया तो पाकिस्तान के राजनीतिज्ञों ने प्रचारान्दोलन शुरू किया कि पश्चिमी देशों की मित्रता विश्वसनीय नहीं है क्योंकि उन्होंने नाटो संगठन के अपने मित्र पुर्तगाल की कोई सहायता नहीं की। पाक नेताओं ने यह शोर मचाया कि काश्मीर के प्रश्न को पश्चिम के समर्थन का कुछ भी भरोसा नहीं है और पाकिस्तान को चीन के साथ मैत्री बढ़ानी चाहिए। पाकिस्तानी राजनीतिज्ञों के इस प्रकार के प्रचार में दोहरी कूटनीतिक चाल छिपी थी—एक ओर तो साम्यवाद की ओर झुकने का भय दिखाकर पश्चिमी देशों का अधिक सक्रिय समर्थन प्राप्त करने की उनकी लालसा थी और दूसरी ओर पश्चिमी देशों के प्रति कुछ तीव्र रुख रख कर काश्मीर के प्रश्न पर चीन को अपनी ओर झुकाने की आकांक्षा थी। पाकिस्तान को अपनी इस कूटनीति में असफलता मिली—ऐसा नहीं कहा जा सकता।

१९५९ से १९६१ के मध्य पाकिस्तान की विदेश नीति ने कुछ और भी विचित्र कलाबाजियाँ दिखाईं। एक तरफ तो भारत के विरुद्ध समर्थन प्राप्त और सशक्त होने की दृष्टि से पाकिस्तान पश्चिम के साथ ही साथ चीन के सामने भी दोस्ती का दामन पसारने लगा और दूसरी तरफ राष्ट्रपति अय्यूब उत्तर से हमले की आशंका प्रकट करते हुए उप-महाद्वीप की रक्षा के लिए भारत और पाकिस्तान की संयुक्त रक्षा व्यवस्था की आवश्यकता पर बल देते रहे। अक्टूबर १९५९ में उन्होंने एक प्रेस सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा कि तिब्बत की सीमा पर और अफगानिस्तान में जो घटनायें घट रही हैं उनसे प्रतीत होता है कि अगले पाँच वर्षों में इस महाद्वीप के लिए भी एक खतरा उत्पन्न हो जायेगा। श्री अय्यूब ने कहा कि इस महाद्वीप के किसी भी सिरे पर हमला हो सकता है अतः इस स्थिति पर भारत और पाकिस्तान दोनों को ही गौर करना चाहिए। राष्ट्रपति अय्यूब ने उस समय यह भी स्वीकार किया कि पाकिस्तानी विदेश मन्त्रालय को एक चीनी नक्शा मिला है जिसमें कुछ पाकिस्तानी प्रदेश चीन का दिखाया गया है। नवम्बर १९५९ में तेहरान में उन्होंने यह भी स्पष्ट संकेत किया कि निकट भविष्य में चीन विस्तारवाद की दृष्टि से आगे बढ़ेगा।

परन्तु इन सब कथनों के बावजूद उस समय यह देख कर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि भारत पर चीन का बड़े पैमाने पर आकस्मिक हमला होने पर अय्यूब खाँ ने और पाकिस्तान की सरकार ने अपनी सभी पूर्वधारणाओं को दरकिनार करते हुए भारत के इस परिवेष्टन में यह विचार प्रकट किया कि

पाकिस्तान की सुरक्षा के लिए भारत चीनी साम्यवाद से भी अधिक खतरनाक है। भारत के विरुद्ध पाकिस्तान की शत्रुता का इससे बढ़कर और क्या प्रमाण हो सकता है। १९६० में पेशावर के हवाई अड्डे से उड़ने वाले यू-२ विमान कांड के समय चीन ने अमेरिका को जी भर कर गालियाँ देते हुए भी और रूस द्वारा पाकिस्तान के हवाई अड्डों को प्रक्षेपास्त्रों से नष्ट करने की धमकी देने पर भी पाकिस्तान के विरुद्ध एक भी शब्द सम्भवतः इसीलिए नहीं कहा था कि पाकिस्तानी नेताओं ने चीन को यह विश्वास दिला दिया था कि पाकिस्तान भारत से अपनी रक्षा करने के लिए सैनिक गुटों में सम्मिलित हुआ है, उसका साम्यवादी चीन से कोई विरोध नहीं है।

अक्टूबर, १९६२ में भारत पर चीन के आक्रमण के समय से पाकिस्तान ने चीन से घनिष्ठता बढ़ाने में कोई कमी नहीं रखी। इसके लिए उसने चीन से कई समझौते किए। जनवरी १९६३ में दोनों देशों में एक व्यापारिक समझौता हुआ। तत्पश्चात् २ मार्च १९६३ का सिकियांग और काश्मीर की सीमा विषयक अन्तिम समझौता' (Final Agreement on Delimitation and Demarcation of Sikiang Kashmir Border) किया गया जिसके द्वारा दोनों देशों की सीमाओं का निर्धारण हुआ। पाकिस्तान ने इस संधि के अन्तर्गत चीन को भारत की अनाधिकृत व अवैध रूप से हड़पी हुई १३,००० वर्गमील भूमि उदार अप्रेम समर्पित कर दी जिसके परिणामस्वरूप चीन का भारत चीन सीमा पर ६ दर्रों पर अधिकार हो गया। भारत ने विरोध प्रकट करते हुए कहा कि पाकिस्तान ने काश्मीर पर हमला करके इसके एक बड़े भूभाग पर अवैध अधिकार कर रखा है अतः उसे इस सीमा प्रान्त के सम्बन्ध में चीन से समझौता करने का कोई अधिकार नहीं है। ५ मार्च १९६३ के अपने भाषण में श्री नेहरू ने स्पष्ट शब्दों में चेतावनी दी कि चीन भारत और पाकिस्तान के काश्मीर के झगड़े का लाभ उठाते हुए अपने प्रभाव का विस्तार कर रहा है। भारत सरकार के विरोध के बावजूद पाकिस्तान यह दुराग्रहपूर्ण दावा करता रहा कि उसके और चीन के बीच उस प्रदेश में सीमाओं सम्बन्धी मतभेद था जिसका निपटारा उन्होंने शान्तिपूर्ण तरीकों से बातचीत द्वारा किया है। पाकिस्तान का कहना था कि यदि वह ऐसा नहीं करता तो यह सम्भव था कि जैसे भारत की सीमा का विवाद उत्पन्न हुआ है वैसा ही इस सीमा पर भी संघर्ष पैदा होने से घोर अशान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो जाती।

चीन और पाकिस्तान भारत के विरुद्ध में दुरभि संधि के मार्ग पर बढ़ते गये। अगस्त १९६३ में एक अन्य समझौते के अनुसार पाकिस्तान ने चीन के हवाई जहाजों को अपने प्रदेश के हवाई अड्डों में उतरने तथा उड़ने के कुछ अधिकार प्रदान किए। इस समझौते पर नाराजगी प्रकट करते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका ने ढाका के हवाई अड्डे के सुधार के लिये दिये जाने वाले ४३ लाख डालर का ऋण पाकिस्तान को देने के समझौते को स्थगित करने की घोषणा की। सितम्बर १९६३ में चीन ने पाकिस्तान को जूट के बदले सीमेन्ट देने का समझौता किया। अक्टूबर १९६३ में साम्यवादी चीनी

गणराज्य के समारोह में भाग लेने के लिए प्रथम बार पाकिस्तान का एक उच्च स्तरीय शिष्ट मण्डल चीन गया। मार्च १९६५ में राष्ट्रपति अयूब द्वारा चीन की राजकीय यात्रा की गई और तत्पश्चात दोनों देशों के रक्षा एवं विदेश मन्त्रियों ने एक दूसरे के देश की यात्रा की। सितम्बर १९६५ के भारत पाक संघर्ष के समय चीन ने भारत को १६, सितम्बर को तीन दिन का अल्टीमेटम देकर यह इरादा प्रकट किया कि यदि पाकिस्तान से भारत संघर्षरत रहा तो चीन को भारत से लड़ना पड़ेगा। बाद में चीन ने अपने अल्टीमेटम को २२ सितम्बर, तक बढ़ा दिया। भारत ने चीनी धमकियों का मुँहतोड़ उत्तर युद्ध में पाकिस्तान को परास्त कर के दिया। चीन का अल्टीमेटम पाकिस्तान के प्रति अपनी मित्रता निभाने का पूरा स्वांग सिद्ध हुआ। चीन ने भारत पर पुनः आक्रमण करने का साहस नहीं किया।

प्रश्न उठता है कि आखिर पाकिस्तान व चीन भारत से लड़ने के लिए आमादा क्यों हैं? इसका आधार भूत कारण यह है कि भारत में चुनी हुई सरकार है यहां जनतन्त्रात्मक शासन पद्धति है। भारत ने स्वतन्त्रता के अपने २० वर्षों के इतिहास में शान्ति और सहअस्तित्व की नीति पर चलकर दुनिया में अपनी प्रतिष्ठा प्राप्त की है। वह औद्योगिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ा है एवं एशिया का सबसे बड़ा जनतन्त्र एवं धर्म निरपेक्ष राज्य है। भारत के विपरीत पाकिस्तान में फौजी तानाशाही है। वहां फौजी तानाशाह अयूब जनता की प्रगति में ध्यान न देकर अपनी गद्दी कायम रखने के लिए युद्ध को बढ़ावा देता है। पाकिस्तान कोई उल्लेखनीय प्रगति २० सालों में नहीं कर सका है। उसे हमारी प्रगति से हमारे जनतंत्र से ईर्ष्या और जलन है। वह काश्मीर के लोगों के लिए आत्म-निर्णय चाहता है लेकिन अपने देशों में आम चुनाव नहीं कराता। चीन भी कम्युनिस्ट तानाशाही का समर्थक देश है। उसने तिब्बत पर जुल्म ढाये हैं तथा विश्व में सर्वत्र वर्ग संघर्ष करा कर कम्युनिस्ट विस्तारवादी नीति को फैलाना चाहता है। उसके मार्ग में ४८ करोड़ लोगों का जनतन्त्रवादी देश भारत सबसे बड़ी बाधा है। वह इसके जनतंत्र को फूलता फलता और सफल होता नहीं देख सकता। इसलिये ये देश भारत से लड़ाई पर उतारू हैं।

वास्तव में इस समय पाकिस्तान राजनीतिक नयारोहण और आँखें पट्टी की दुरंगी नीति चल रहा है। एक ओर तो वह रूस और चीन के साम्यवादी होए से संसार की रक्षा के लिए अमेरिका ग्रेट-ब्रिटेन आदि पश्चिमी राष्ट्रों की सैनिक गुट बन्धियों में शामिल हुआ है और दूसरी ओर उसने चीन से दोस्ती बढ़ाई है। पाकिस्तान के भाग्य विधाता इस प्रकार दोनों गुटों की अधिक से अधिक महाशक्तियों को अपने हाथ में रखने का प्रयास कर रहे हैं किन्तु इसमें सफल होने की बहुत कम संभावना है।"

(५) पाकिस्तान अफगानिस्तान सम्बन्ध

पाकिस्तान के अफगानिस्तान के साथ सम्बन्ध अपने जन्म काल से ही बड़े असंतोषप्रद रहे हैं। पख्तून लोग स्वतंत्र तथाकथित 'पख्तूनिस्तान'

की स्थापना करके अरब सागर तक पहुँचने का स्वप्न देख रहे थे, अत उन्होंने पख्तू भाषा भाषी क्षेत्र में एक ऐसे राज्य की स्थापना की मांग की जो पाकिस्तान और अफगानिस्तान की वर्तमान सीमाओं पर—'डूरेण्ड लाइन' (Durand Line) के स्थान पर एक नवीन सीमा रेखा को जन्म दे। पाकिस्तान ने अफगानों की इस मांग को ठुकरा दिया फलत दोनों देशों में कटुता और वैमनस्य के भावों का प्रसार हुआ।

१९५५ में अफगानिस्तान ने पश्चिमी पाकिस्तान में पख्तू क्षेत्र सहित एक नई प्रशासनिक इकाई की स्थापना के विरुद्ध कराची को एक विरोध पत्र भेजा। इधर पाकिस्तान ने अफगानिस्तान पर यह गंभीर आरोप लगाया कि वह पाकिस्तान के देश द्रोही तत्वों को प्रोत्साहन दे रहा है। पाकिस्तानी नेताओं द्वारा यह भी कहा गया कि अफगानिस्तान अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के हाथों का एक खिलौना मात्र है और सोवियत संघ का 'दास' बन चुका है। राष्ट्रपति अयूब ने अमेरिका को अफगानिस्तान के बारे में भ्रमित करने की पूरी कोशिश की किन्तु अमेरिका का शासक वर्ग पाकिस्तानी दृष्टिकोण को मानने के लिए तैयार नहीं हुआ। पाकिस्तान के विरोध की उपेक्षा करते हुए अमेरिका ने अफगानिस्तान की अर्थ व्यवस्था के विकास में सहयोग देने में सोवियत संघ से डट कर प्रतियोगिता की। जनवरी १९६ में अफगान विदेश मंत्री कराची आए किन्तु दोनों देशों के सम्बन्ध सुधरने के बजाय और भी अधिक बिगड़ गये। श्री अयूब ने दूसरे सम्बद्ध मुस्लिम राज्यों के अध्यक्षों को अफगानिस्तान के विरुद्ध भड़काने का प्रयास किया लेकिन टर्की के तत्कालीन राष्ट्रपति और ईरान के शाह ने उनकी बातों का समर्थन करने से इन्कार कर दिया। मार्च १९६० में पाकिस्तान को तब एक और निराशा हाथ लगी जब अपनी काबुल यात्रा के समय तत्कालीन रूसी प्रधान मंत्री श्री ख्रुश्चेव ने अफगानिस्तान के दावे का पूर्ण समर्थन किया। पाकिस्तान ने इस समर्थन का बड़ा शोर गुल मचाया और पाक-अफगान सम्बन्धों में और भी गिरावट आ गई।

दोनों देशों के सम्बन्ध तब विशेष कटु हो गए जब सितम्बर १९६० और मई १९६१ में दोनों में सीमा के बाजौर (Bajaur) क्षेत्र में लड़ाई हुई। परिणाम स्वरूप अगस्त १९६१ में दोनों ही देशों के कूटनीतिक सम्बन्ध टूट गए। पहले भी १९५५ में उनके कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद हो चुके थे किन्तु १९५७ में वे पुनःस्थापित हो गए।

ईरान के शाह के मैत्रीपूर्ण हस्तक्षेप से २८ मई १९६३ को पाकिस्तान व अफगानिस्तान व्यापारिक एवं कूटनीतिक सम्बन्ध पुनः स्थापित करने को सहमत हुए। दोनों ही देशों ने यह वचन दिया कि वे परस्पर सद्भावना मैत्री और विश्वास का वातावरण बनाने में सहायक होंगे। फिर भी अफगान प्रतिनिधि मंडल के नेता सईद रशितया ने २९ मई को तेहरान में यही कहा कि अफगानिस्तान ने डूरेण्ड रेखा को दोनों देशों के बीच की अन्तर्राष्ट्रीय सीमा रेखा नहीं माना है और पख्तूनिस्तान का प्रश्न अब भी विवाद का

पथ है। किन्तु लगभग इसी समय पाकिस्तानी विदेश मंत्री श्री भुट्टो ने असेम्बली में कहा कि पख्तूनिस्तान का प्रश्न अब समाप्त हो चुका है। साथ ही श्री भुट्टो ने यह भी संकेत कर दिया कि पाकिस्तान अब भी अफगान म्यारों को अपने देश में घुसने से रोकता रहेगा। पख्तूनिस्तान का प्रश्न आज भी दोनों देशों के मध्य एक विवाद ग्रस्त प्रश्न है।

(३) पूर्वी पाकिस्तान में स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष

पाकिस्तान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों की चर्चा के प्रसंग में पूर्वी पाकिस्तान के साथ पिण्डी के सम्बन्धों पर भी संक्षेप में प्रकाश डाल देना अनुचित न होगा क्योंकि पाकिस्तान द्वारा मचाये जाने वाले काश्मीर की प्राप्ति के नारे के पीछे उसकी अपनी डांवाडोल आन्तरिक स्थिति भी है। पूर्वी पाकिस्तान में आज असन्तोष लगातार व्याप्त है और वह स्वायत्त शासन की मांग कर रहा है। इसलिए काश्मीर को पाने का नारा लगाकर 'इस्लाम खतरे में है' की आवाज बुलन्द कर और भारत से युद्ध करने की बात कहकर पाकिस्तानी नेता अपनी जनता को भ्रमित करने और बहकाने का प्रयास करते रहते हैं। परन्तु पूर्वी पाकिस्तान की जनता ने अब बहकावे में न आने का निश्चय सा कर लिया है और इसीलिए १५ अगस्त १९६६ से वह अपनी स्वतन्त्रता के लिए आंदोलन छेड़ चुकी है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि पूर्वी पाकिस्तान में सम्पूर्ण पाकिस्तान की जनसंख्या का लगभग ५५ प्रतिशत भाग निवास करता है। १९६१ की जनगणना के अनुसार पूर्वी पाकिस्तान की जनसंख्या ५० ८४० २३५ है जब कि पश्चिमी पाकिस्तान की जनसंख्या ४२ ८ ० ३७८ है।

पाकिस्तान के इन दोनों हिस्सों में मतभेद के प्रमुख कारण ये हैं–

(१) राष्ट्रीय असेम्बली के १५० स्थानों में दोनों प्रान्तों से ७५–७५ बराबर संख्या में सदस्य लिए जाते हैं जब कि पूर्वी पाकिस्तान की जनसंख्या ५५ प्रतिशत है।

(२) १९५० से १९६१ के बीच पश्चिमी पाकिस्तान ने निर्यात की अपेक्षा ४०५ करोड़ रुपए का आयात किया है।

(३) १९५४-५५ में विदेशी ऋण का १५ प्रतिशत पूर्वी पाकिस्तान को दिया गया जब कि ५६ प्रतिशत पूर्वी पाकिस्तान को चुकाना पड़ता है।

(४) प्रथम पंचवर्षीय योजना में पूर्वी पाकिस्तान को ९८ करोड़ रुपए का कर्ज दिया गया जब कि पश्चिमी पाकिस्तान को ४९६ करोड़ रुपये का ऋण दिया गया।

इसी तरह नौकरी के स्थानों पर नियुक्ति डाक तार यातायात स्कूल आदि की सुविधा प्रदान करने के मामला में भी पश्चिमी पाकिस्तान का पूर्वी पाकिस्तान के प्रति पूर्णतः पक्षपात पूर्ण रवैया रहा है। पूर्वी पाकिस्तान निवासी इस पक्षपात को सहन करने के लिए अब तैयार नहीं है और इसीलिए

१६ अगस्त १९६६ से पूर्वी पाकिस्तान की आवामी लीग ने एक आन्दोलन छेड़ कर अपनी निम्नलिखित छः सूत्रीय मांगें प्रस्तुत की हैं—

(i) संसदीय सरकार की स्थापना और बालिग मताधिकार ।

(ii) विधान मण्डलों की सार्वभौमिकता ।

(iii) दोनों प्रान्तों के लिए स्वतंत्र आर्थिक व्यवस्था ।

(iv) पूर्वी पाकिस्तान को पृथक रूप से कर लगाने का अधिकार मिले व केन्द्र को उसका कुछ अंश ही दिया जाय ।

(v) दोनो भागो के निर्यात व्यापार का अलग २ हिसाब रखा जाय ।

(vi) दोनों राज्यों को अपनी अपनी सेना रखने का अधिकार हो ।

आवामी लीग की तरह ही पूर्वी पाकिस्तान की राष्ट्रीय आवामी पार्टी ने भी अगस्त १९६६ से इसी प्रकार का आन्दोलन शुरू कर रखा है । इस पार्टी ने अपनी १४ मांगें प्रस्तुत की हैं जो निम्नानुसार हैं—

(i) पंजाब सीमान्त प्रदेश, सिंध बलूचीस्तान और पूर्वी पाकिस्तान को लेकर पाकिस्तान संघ का गठन हो और व्यस्क मताधिकार के आधार पर विधान मंडलों का गठन हो

(ii) नागरिकों को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता रहे

(iii) सभी राजनीतिक बन्दियों की मुक्ति की जाय,

(iv) पाकिस्तान सीटो एवं सेण्टो की सदस्यता का त्याग करे,

(v) पूर्वी पाकिस्तान को सुरक्षा के मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता मिले

(vi) पूर्वी पाकिस्तान से धन ले जाने पर रोक रहे

(vii) प्रतिरक्षा उद्योग सरकारी क्षेत्र में रहे और दोनों प्रान्तों में स्थापित हो

(viii) बैंक बीमा और पटसन उद्योग सरकार के हाथ में रहे

(ix) भूमि व्यवस्था में सुधार हो

(x) श्रमिक संघ गठित करने का अधिकार दिया जाय

(xi) सर्व साधारण के लिए शिक्षा की व्यवस्था में सुधार हो

(xii) बलूचिस्तान से दमन कानून उठाया जाय

(xiii) पूर्वी पाकिस्तान में बाढ़ नियंत्रण व्यवस्था हो और

(xiv) जन साधारण पर से कर भार हल्का किया जाय ।

पाकिस्तान की तानाशाही सरकार पूर्वी पाकिस्तान के जन-आन्दोलन को कुचलने के लिए पूरी तरह अपना दमन चक्र चला रही है । इन दमन कार्यों की सूचना बाह्य जगत को न मिल सके इस दृष्टि से सरकार द्वारा समाचार पत्रों पर रोक लगा दी गई है और जन-नेताओं को जेल में ठूंस दिया गया है । लेकिन पूर्वी पाकिस्तान का सर्वजन आन्दोलन इस प्रकार के बर्बरतापूर्ण उपायों से रुक सकेगा—इसकी संभावना नजर नहीं आती ।

नेपाल (Nepal)

हिमालय पर्वत के दक्षिणी ढलान पर बसे नेपाल के उत्तर में तिब्बत का छोटा किन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण देश और दक्षिण में भारत का विशाल गणराज्य स्थित है। वर्तमान समय में नेपाल की स्थिति अत्यन्त महत्वपूर्ण हो उठी है विशेषरूप से साम्यवादी चीन द्वारा तिब्बत को आत्मसात कर लेने के बाद। इस देश के उत्तर में आक्रमणात्मक और विस्तारवादी नीति का हिंसक पुजारी साम्यवादी चीन और दक्षिण में शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व और पंचशील का निष्ठावान् प्रवर्तक भारत है। भारत के अस्तित्व के लिए नेपाल की स्थिति एक सुदृढ़ सुरक्षा स्तम्भ जैसी है। यदि हम नेपाल को भारत के विस्तृत और सर्वाधिक उपजाऊ गंगा प्रदेश का प्रवेशद्वार कहें तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं। नेपाल और भारत की सीमाएं एक दूसरे से कितनी लगी हुई हैं इसे स्पष्ट करते हुए स्वर्गीय श्री नेहरू ने ६ दिसम्बर, १९५० को कहा था कि "एक बच्चा भी इस बात को जानता है कि कोई व्यक्ति भारत में गुजरे बिना नेपाल नहीं जा सकता। इसलिए कोई भी देश नेपाल के साथ हम से अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रख सकता। हम यह चाहते हैं कि सभी देश नेपाल और भारत में विद्यमान् घनिष्ठ भौगोलिक और सांस्कृतिक सम्बन्धों को दृष्टि में रखें। आज सत्य यह है कि तिब्बत पर साम्यवादी चीन का सैनिक आधिपत्य हो जाने के बाद से भारत की सुरक्षा बहुत कुछ नेपाल की सुरक्षा पर निर्भर करती है। यदि साम्यवादी चीन येन-केन प्रकारेण नेपाल तक अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर लेने में समर्थ हो जाता है तो भारत की सुरक्षा की नींव को निश्चय ही एक गम्भीर खतरा उपस्थित हो जाएगा।

नेपाल पर चीन की कुदृष्टि आरम्भ से लगी हुई है। चीनी साम्यवादी नेता यह तर्क देते रहे हैं कि नेपाल-चीन संधि १७९२ के अनुसार नेपाल पर चीन की राजनैतिक प्रभुसत्ता होनी चाहिए क्योंकि चीन ने कभी भी उक्त संधि का परित्याग नहीं किया है। चीन का साम्यवादी शासन नेपाल को भूला है—इसका संकेत इस बात से मिलता है कि १९३९ में माओ त्से-तुंग ने अपनी पुस्तक Chinese Revolution and the Chinese Communist Party' में नेपाल को चीन के 'अधिराज्यों' (Dependencies) की सूची में शामिल कर लिया था। माओ ने अपनी इस पुस्तक में लिखा है कि "युद्ध में चीन को पराजित कर साम्राज्यवादी राज्यों ने चीन के अनेक अधिराज्यों और चीन के पर्याप्त क्षेत्र को हस्तगत कर लिया। जापान ने कोरिया, ताईवान, रियूक्यूद्वीप, पेस्काडोरेस और पोर्टआर्थर पर, इंगलैण्ड ने बर्मा, नेपाल, भूटान और हांगकांग पर, फ्रांस ने अन्नाम पर और पुर्तगाल जैसे सामान्य देश ने मकाओ पर अधिकार कर लिया।" यदि सोवियत विस्तारवाद और साम्यवादी शासन के अन्त में चीन के व्यवहार को कोई निर्देशक तत्त्व माना जाए तो इस बात में संदेह करने की कोई गुंजाइश प्रतीत नहीं होती कि चीन की निगाह उपरोक्त क्षेत्रों की ओर लगी है और वह उपरोक्त अवसर की प्रतीक्षा में है।

नेपाल और भारत की कोई प्राकृतिक सीमा-विभाजक रेखा नहीं है। निकटतम पड़ोसी होने के नाते दोनों राष्ट्रों के हित परस्पर बंधे हुए हैं। कतिपय राजनीतिक एवं सामरिक कारणों से नेपाल में भारत के इतने अधिक हित नहीं हैं कि वह नेपाल के आर्थिक राजनीतिक और सामाजिक प्रगति में प्रत्येक सम्भव योग देने के लिए उत्सुक है। किन्तु फिर भी भारत के मस्तिष्क में नेपाल की प्रभुसत्ता पर रंच मात्र भी कोरे स्वामी की कल्पना नहीं है। भारत नेपाल सम्बन्धों के बारे में १७ मार्च १९५० का भारतीय संसद में कहे गये श्री नेहरू के ये शब्द आज भी पूर्ववत् सत्य हैं कि—

"जहाँ तक कुछ एशियाई प्रतिनिधियों का सम्बन्ध है भारत और नेपाल के बीच कोई सैनिक समझौता नहीं है लेकिन भारत सरकार द्वारा किसी भी ओर से नेपाल पर आक्रमण सहन करना सम्भव नहीं है। नेपाल पर सम्भावित कोई भी आक्रमण अवश्यम्भावी रूप से भारत की सुरक्षा के लिए खतरा होगा।"

नेपाल की संक्षिप्त ऐतिहासिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि

१८६६–७० में महाराजा पृथ्वीनारायणशाह ने सम्पूर्ण नेपाल को एक शासक की अधीनता में संगठित किया। इसके पहले नेपाल के विभिन्न भागों पर विभिन्न राजाओं अथवा जागीरदारों का अधिकार था जो एक प्रकार से स्वतन्त्र शासकों के रूप में शासन करते थे। नेपाल के इतिहास में एक दुखद किन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण घटना १८४६ में घटी जब राणा जंगबहादुर ने राजा को निमन्त्रण से राज सत्ता का अपहरण कर लिया और राणा परिवार के निरंकुश क्रूर और अत्याचार पूर्ण शासन की नींव डाली। राणा जंगबहादुर के पदासीन होने के बाद से लगभग १०४ वर्षों तक राणा परिवार के विभिन्न व्यक्तियों ने प्रधानमन्त्री के रूप में नेपाल की जनता पर निरंकुश शासन किया। इस प्रकार की राणाशाही १९५१ तक चली। इसके पूर्व नेपाल न केवल राणाओं के कठोर नियन्त्रण में रहा बल्कि बाहरी जगत के सम्पर्क से भी वह वंचित ही रखा गया। ब्रिटिश सरकार भी उसे ऐसा ही रहने देना चाहती थी। राणाओं के शासन काल में नेपाल बिल्कुल शोषक समाज को प्रश्रय देता रहा और उसका आधुनिक विकास अवरुद्ध रहा। अन्ततोगत्वा १९५०—५१ में महाराजाधिराज श्री त्रिभुवन नारायणशाह के अप्रत्याशित कदम के फलस्वरूप नेपाल राणा परिवार की काली छाया से मुक्त हुआ। भारत ने राजा त्रिभुवन के इस मुक्ति-आन्दोलन को रोकने की चेष्टा नहीं की बल्कि उसने नेपाल के शासकों को प्रजातान्त्रिक सुधार लाने की सलाह ही दी क्योंकि नेपाल की भौगोलिक एवं राजनीतिक स्थिति की महत्ता को ध्यान में रख कर भारत नेपाल को एक स्थिर प्रजातान्त्रिक राज्य देखना चाहता था। फरवरी १९५१ के प्रथम सप्ताह में नई दिल्ली में नेपाली कांग्रेस के प्रतिनिधियों राणा प्रतिनिधियों और महाराजा त्रिभुवन के मध्य त्रिपक्षीय वार्ता प्रारम्भ हुई। १२ फरवरी को एक नई मन्त्री परिषद के निर्माण के बारे में एक समझौता हुआ। १८ फरवरी १९५१ को काठमाण्डू में नये मन्त्रिमण्डल ने शपथ ग्रहण की जिसके प्रधानमन्त्री श्री मोहन समशेर

जंगबहादुर बने । श्री मातृकाप्रसाद कोइराला गृहमन्त्री नियुक्त हुए । इस प्रकार एक नये नेपाल का उदय हुआ और निरंकुश सामन्तशाही शासन से नेपाली जनता को मुक्ति मिली ।

किन्तु राणाओं और नेपाली कांग्रेस के प्रतिनिधि मन्त्रियों में अधिक समय तक नहीं बन सकी । महाराजा त्रिभुवन भी इस संयुक्त मन्त्रिमण्डल के मतभेदों को दूर करने में असफल रहे । परिणाम-स्वरूप मन्त्रिमण्डल अस्थिरता और संघर्ष की अवस्था में चलता रहा । मन्त्रिमण्डल के राणा गुट और नेपाली कांग्रेस गुट के इस आन्तरिक संघर्ष में अन्त में राणा गुट की शक्ति घटती गई और उपयुक्त अवसर पाकर महाराजा त्रिभुवन १६ अप्रेल १९५१ को प्रधानमन्त्री मोहन शमशेर जंगबहादुर राणा को सर्वोच्च सेनापति के पद से हटा कर यह पद स्वयं ने सम्भाल लिया । इस पर दोनों दलों (राणा दल व नेपाली कांग्रेस दल) ने पुनः भारत सरकार से मध्यस्थता करने की अपील की । मई १९५१ में नई दिल्ली में हुई वार्ता में यह तय किया गया कि श्री मोहन शमशेरजंग प्रधानमन्त्री के पद पर बने रहें किन्तु मन्त्रिमण्डल का पुनर्गठन हो और साथ ही ४० सदस्यों की एक परामर्शदात्री परिषद् भी बनाई जाय । परन्तु पुनर्गठित मन्त्रिमण्डल भी उग्र मतभेदों का शिकार बना और १० नवम्बर १९५१ को प्रधानमन्त्री श्री मोहन शमशेरजंग ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया । १४ नवम्बर १९५१ को महाराजा त्रिभुवन ने श्री मातृका प्रसाद कोइराला को मन्त्रिमण्डल बनाने को कहा । इनके प्रधानमन्त्रित्व में भी नेपाल की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ । इस समय (१९५२) में डा० के० आई० सिंह ने सरकार का तख्ता उलटने का असफल प्रयास किया ।

६ अगस्त १९५२ को अपने प्रति बढ़ते हुए विरोध को देख कर, श्री मातृकाप्रसाद कोइराला ने प्रधानमन्त्री पद से इस्तीफा दे दिया । इसके दो माह बाद ही सितम्बर १९५२ में परामर्शदात्री परिषद् भी भंग कर दी गई । विषम परिस्थिति में महाराजा त्रिभुवन ने दूसरी बार श्री मातृकाप्रसाद कोइराला को मन्त्रिमण्डल बनाने के लिये आमन्त्रित किया । श्री कोइराला द्वारा अपने नये मन्त्रिमण्डल में श्री टंकाप्रसाद आचार्य को शामिल किया गया (जो बाद में प्रधानमन्त्री पद पर आसीन हुए) । जनवरी १९५५ में श्री टंकाप्रसाद आचार्य को मन्त्रि पद से मुक्त कर दिया गया और मार्च १९५५ में श्री मातृकाप्रसाद कोइराला ने भी त्यागपत्र दे दिया । चूंकि महाराजा त्रिभुवन बीमार थे अतः उन्होंने सम्पूर्ण अधिकार सिंहासन के उत्तराधिकारी राजकुमार महेन्द्र विक्रमशाह को सौंप दिया । राजकुमार महेन्द्र ने मन्त्रिमण्डल को समाप्त करके सम्पूर्ण शासन का दायित्व स्वयं ग्रहण कर लिया । १३ मार्च १९५५ को महाराजा त्रिभुवन की मृत्यु हो गई और श्री महेन्द्र वीरविक्रमशाह नेपाल के राजसिंहासन पर आरूढ़ हुए । २७ जनवरी १९५६ तक नेपाल नरेश स्वयं शासन-सूत्र का संचालन करते रहे और उन्होंने अनेक प्रशासनिक व आर्थिक सुधार क्रियान्वित करने के ईमानदारी पूर्ण प्रयास किये ।

२७ जनवरी १९५६ के उपरान्त महाराजा महेन्द्र ने श्री टंकाप्रसाद आचार्य को प्रधानमन्त्री नियुक्त किया। जुलाई १९५७ में श्री आचार्य के स्थान पर डा. के. आई. सिंह प्रधानमन्त्री बने किन्तु श्री सिंह भी नेपाल नरेश से मिल कर कार्य न कर सके। १४ नवम्बर, १९५७ को उनके त्यागपत्र के उपरान्त शासनसूत्र एक बार फिर नरेश के हाथों में केन्द्रित हो गया। इसी बीच नेपाली कांग्रेस, नेपाली नेशनल कांग्रेस और प्रजा परिषद ने मिल कर एक संयुक्त मोर्चा स्थापित करते हुए आम चुनावों की मांग की। दिसम्बर १९५७ में नेपाल नरेश द्वारा घोषणा की गई कि फरवरी १९५९ में आम चुनाव अवश्य होंगे।

१९५९ के राष्ट्र व्यापी चुनाव में नेपाली कांग्रेस ने १०९ में से ७४ सीटों पर विजय प्राप्त की और उसके अध्यक्ष श्री बी. पी. कोइराला प्रधानमन्त्री बने। लोगों को यह आशा हुई कि अब नेपाल में लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हो गया है। लेकिन यह आशा फलीभूत नहीं हुई। १८ माह बाद ही राजा महेन्द्र ने सरकार को भंग करके सम्पूर्ण शासन-सूत्र अपने हाथ में ले लिया। यह स्थिति कुछ समय बने रहने के बाद नेपाल में पुनः लोकतन्त्रात्मक मार्ग प्रशस्त हुआ। जनवरी १९६१ में श्री तुलसी गिरी के स्थान पर श्री सूर्यबहादुर थापा नेपाल के प्रधानमन्त्री बने।

नेपाल की विदेश नीति और भारत-नेपाल सम्बन्ध

यह कहा जा चुका है कि फरवरी १९५१ में नेपाली कांग्रेस के प्रतिनिधियों, राणा के प्रतिनिधियों और महाराजा त्रिभुवन के मध्य त्रिपक्षीय वार्ता होने के फलस्वरूप ही नेपाल में निरंकुश साम्राज्यशाही शासन के स्थान पर संयुक्त मन्त्रिमण्डल स्थापित हुआ और इस तरह लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की आधार शिला रखी गई। परन्तु यह संयुक्त मन्त्रिमण्डल भली प्रकार काम नहीं कर सका। संयुक्त सरकार की स्थापना के प्रयास पूरी तरह असफल हो गए। नेपाली नेताओं द्वारा स्थिर प्रशासन देने और जनता के हित में कार्य करने में असफल रहने के कारण भारत को अपयश का भागी बनना पड़ा। इस समय एक अन्य बात यह हुई कि गोरखा दल और नेपाली कांग्रेस दोनों ने ही भारत विरोधी नीति अपना ली। मार्च १९५१ में नेपाली कांग्रेस के एक पक्ष ने भारत-विरोधी प्रचार में सक्रिय रूप से भाग लेना प्रारम्भ कर दिया। नेपाली कांग्रेस की कार्य समिति द्वारा एक प्रस्ताव पारित करके यह मांग की गई कि नेपाल और भारत के बीच स्वस्थ सम्बन्ध बनाये रखने और इन दोनों देशों के नागरिकों में गलतफहमियां बढ़ने से रोकने के लिए भारत द्वारा अपने नागरिक विशेषज्ञों और सैनिक मिशन को नेपाल से हटा लेना चाहिए। १९५३–५४ में काठमाण्डू घाटी में भारत विरोधी भावनायें बढ़ती रहीं। नेपालियों में यह भावना और पकड़ने लगी कि नेपाल को भारत और चीन के मध्य एक अवरोधक (बफर) राज्य की भूमिका का निर्वाह करना चाहिए, क्योंकि तिब्बत के पदाक्रान्त हो जाने के उपरान्त भारत और चीन एक दूसरे के बिल्कुल आमने-सामने खड़े हो गए हैं। नई

१९५४ में जब भारत का एक संसदीय प्रतिनिधि मण्डल काठमाण्डू की सद्भावना यात्रा पर आया तो उसे विरोधी जनसमूह का सामना करना पड़ा। यहाँ तक की भारतीय राजदूत की कार पर पत्थर फेंके गये। यह घटना नेपाल में स्पष्ट रूप से विद्यमान भारत-विरोधी भावना की परिचायक थी जिसमें आगे आने वाले कुछ समय तक उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी।

जनवरी १९५६ में श्री टंकाप्रसाद आचार्य के प्रधानमन्त्री बनने से नेपाल की विदेश नीति साम्यवादी चीन की ओर विशेष रूप से झुकी। प्रधानमन्त्री बनने से पहले राणाशाही के समय से ही श्री आचार्य ने यह स्पष्ट कर दिया था कि उनकी प्रत्यक्ष सहानुभूति साम्यवादी प्रणाली के साथ है और यदि उनका वश चले तो वह इसी प्रकार की क्रान्ति द्वारा नेपाल को राणाओं के चंगुल से मुक्त करना चाहेंगे। उन्होंने यहाँ तक कहा था कि साम्यवाद न केवल एक नवीन राजनीतिक आर्थिक और सामाजिक दर्शन है बल्कि एक नया धर्म भी है और एकमात्र ऐसा साधन है जिसके द्वारा पूँजीवादी व्यवस्था पर प्रभावशाली ढंग से प्रहार किया जा सकता है। प्रधानमन्त्री बनने पर श्री आचार्य ने अपनी विदेश-नीति पर कुछ विस्तार से प्रकाश डाला और कहा कि नेपाल विश्व की शान्ति प्रेमी शक्तियों के साथ मिल कर विश्व शान्ति की स्थापना के लिए प्रयत्नशील रहेगा तथा अपने विकास के लिए सोवियत रूस सहित सभी देशों से सहायता प्राप्त करेगा बशर्ते कि उस सहायता के साथ कोई शर्त न जुड़ी हो। श्री आचार्य ने विश्व शांति और पराधीन देशों की स्वतन्त्रता के हित में कार्य करने की बात कह कर बाहर से तो यही प्रकट किया कि नेपाल भारत की नीति का अनुसरण करना चाहता है लेकिन उनका वास्तविक झुकाव स्पष्टतः मास्को और विशेषतः पेकिंग द्वारा अपनाई गई नीति की ओर था। श्री आचार्य ने भारत को धोखे में रखने के लिए गोलमोल ढंग से अपनी नीति की व्याख्या की जिसका प्रमुख उद्देश्य नेपाल में भारत के विशिष्ट हितों को आघात पहुँचाना था। ब्रिटिश शासनकाल से ही नेपाल भारत की परराष्ट्र नीति का अनुसरण करता रहा था। विश्व शांति के लिए कार्य करने की प्रिय लगने वाली बात कह कर श्री आचार्य ने यह संकेत दिया कि नेपाल अब किसी एक देश के साथ मिल कर कार्य नहीं करेगा अथवा स्पष्ट शब्दों में विदेश-नीति के मामले में वह अब भारत का अनुवर्ती नहीं रहेगा। इसी तरह पराधीन देशों के मुक्ति आन्दोलनों के समर्थन की बात कह कर श्री आचार्य ने स्पष्ट कर दिया कि शीतयुद्ध में वह पश्चिमी देशों का पक्ष न लेकर साम्यवादी गुट के अधिक निकट होगा। टंकाप्रसाद की विदेश-नीति का यही उद्देश्य रहा कि साम्यवादी चीन से दोस्ताबाजी करके नेपाल में भारत के राजनीतिक प्रभाव को कमजोर कर दिया जाय। उन्होंने दिसम्बर १९५६ में भारत यात्रा के समय दिए गये एक वक्तव्य में कहा कि नेपाल भारत और चीन के मध्य एक सेतु रूप में कार्य करना चाहता है और दोनों से अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहता है।

श्री आचार्य के नेतृत्व में नेपाल द्वारा इस प्रकार की नीति अपनाने

का दूरगामी फल यह हुआ कि साम्यवादी चीन ने नेपाल के साथ सम्बन्ध बढ़ाना शुरू कर दिया। अक्टूबर १९५६ में श्री आचार्य ने चीन की यात्रा की और जनवरी १९५७ में चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई नेपाल आए। अपनी यात्रा में श्री चाऊ ने नेपाल को अपनी स्वतन्त्रता और स्वाधीनता को अक्षुण्ण रखने में यथाशक्ति सहायता का आश्वासन ऐसे ढंग से दिया जिससे यह ध्वनित होता था कि मानो नेपाल की स्वतन्त्रता को चीन से नहीं बल्कि भारत से खतरा हो। उन्होंने नेपालियों की एक सभा में यह भी घोषणा की कि नेपालियों और चीनियों में एक ही रक्त प्रवाहित होता है। चीनी प्रधानमन्त्री का यह कथन वास्तव में बड़ा सारगर्भित और अत्यन्त कूटनीतिक था। इससे प्रथम तो यह अभिप्राय था कि चीनियों और नेपालियों दोनों के पूर्वज मंगोल वंश से सम्बन्धित हैं और दूसरा अभिप्राय यह था कि चीन नेपाल भूटान और सिक्किम को एक सूत्र में आबद्ध हो जाना चाहिए। पश्चिमी उपनिवेशवाद के वापिस लौटने का भय दिखा कर श्री चाऊ ने नेपालियों के हृदय में यह धारणा बैठाने की कोशिश की कि नेपाल और चीन के सम्बन्ध अधिक घनिष्ट होने चाहिए।

श्री आचार्य ने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में श्री चाऊ के द्वारा प्रदर्शित मार्ग को स्वीकार कर लिया और उन्हीं की भाषा या भावना में बोलते हुए कहा कि "एशिया के अधिकांश देश अविकसित हैं। अतः यह स्वाभाविक है कि अपने हित साधन में वे कभी-कभी एशियाई एकता की उपेक्षा कर बैठें और मामूली बातों के लिए भटक जायें। हमें इस सम्भावना पर गम्भीरतापूर्वक विचार करना चाहिए और ऐसे कदम उठाने चाहिए कि ऐसे अवसर उपस्थित न हों। स्पष्टतः श्री आचार्य का लक्ष्य भारत जैसे अमेरिकन सहायता प्राप्त करने वाले एशियाई देशों की ओर ही था। श्री आचार्य ने कोमलमान भाषा का प्रयोग करते हुए कहा कि भारत को अपने ही हित में नेपाल में राष्ट्रीयता के विकास में सहयोग देना चाहिए क्योंकि राष्ट्रीयता के विकास द्वारा ही एशिया में साम्यवाद के प्रसार को रोका जा सकता है। उनका यह कथन अप्रत्यक्ष रूप से भारत पर यह आरोप लगाना था कि भारत नेपाल को अपना पिट्ठू देश बनाने का प्रयास करता है जो उसे नहीं करना चाहिए।

श्री आचार्य के शासनकाल में ही नेपाल और चीन के मध्य तिब्बत के सम्बन्ध में एक संधि हुई और साम्यवादी चीन ने ३ वर्ष की अवधि में नेपाल को ६ करोड़ रुपयों की सहायता देने का वचन दिया। यह समझौता वास्तव में नेपाल में साम्यवादी प्रसार की एक राजनीतिक चाल थी और इससे स्पष्ट हो गया कि नेपाल का चीन के प्रति बहुत अधिक झुकाव हो रहा है। इस समझौते से भारतीय जनमत नेपाल के इरादों के प्रति स्वाभाविक रूप से सशंकित हो गया। ९ अक्टूबर १९५६ को इस समझौते पर टिप्पणी करते हुए हिन्दुस्तान-टाइम्स ने लिखा—"नेपाल की वर्तमान सरकार चीन के साथ ६ करोड़ रुपयों की आर्थिक सहायता-समझौते पर हस्ताक्षर करके सही मार्ग से हट रही है। नेपाल इस समय उस सहायता का ही सदुपयोग

करण की स्थिति में नहीं है जो भारत से उसे मिल रही है। इन स्थितियों में चीन के साथ आर्थिक सहायता-समझौता करना केवल एक राजनीतिक चाल है।"

नेपाल और चीन की इस बढ़ती हुई मैत्री की स्थिति में यह नितान्त स्वाभाविक था कि भारत हिमालय के इस क्षेत्र में अपनी कूटनीति सुधारने का प्रयत्न करता। अतः भारत के तत्कालीन राष्ट्रपति स्वर्गीय डा० राजेन्द्र प्रसाद ने अक्टूबर १९५६ में नेपाल की यात्रा की और दिसम्बर १९५६ में श्री आचार्य को भारत यात्रा के लिए प्रेरित किया। भारतीय राष्ट्रपति ने अपनी यात्रा के दौरान नेपाली जनता और शासक वर्ग को स्पष्ट शब्दों में इस बात का आश्वासन दिया कि भारत की नेपाल के सम्बन्ध में कोई क्षेत्रीय महत्त्वाकांक्षायें नहीं हैं और न ही वह नेपाल के आन्तरिक मामलों में कोई हस्तक्षेप करना चाहता है। राष्ट्रपति महोदय ने यह भी घोषणा की कि भारत नेपाल के आर्थिक विकास की ११ करोड़ की योजना में पूरा पूरा सहयोग देगा। २२ अक्टूबर १९५६ को काठमाण्डू में अपने एक भाषण में डा० प्रसाद ने भारत और नेपाल के घनिष्ठ सम्बन्धों और पारस्परिक हितों को इन शब्दों में व्यक्त किया—

"नेपाल की शांति और सुरक्षा को कोई भी खतरा भारत की शांति और सुरक्षा के लिए भी उतना ही बड़ा खतरा है। आपके मित्र हमारे मित्र हैं और हमारे आपके।"[1]

परन्तु दोनों देशों के नेताओं की इन सद्भावना यात्राओं के उपरान्त भी कोई वांछित परिणाम नहीं निकला और श्री टंका प्रसाद आचार्य के नेतृत्व में नेपाल की विदेश नीति पूर्ववत् साम्यवादी चीन की ओर अभिमुख रही। जुलाई १९५७ में श्री आचार्य के स्थान पर डा० के० आई० सिंह नेपाल के प्रधान मन्त्री बने। यद्यपि उनकी नीति भारत के साथ सम्बन्ध सुधारने की थी परन्तु श्री आचार्य के समर्थक समाचार पत्रों ने भारत के विरुद्ध तीव्र प्रचारात्मक आन्दोलन छेड़ते हुए उस पर तरह-तरह के आरोप लगाने शुरू कर दिए। फलस्वरूप भारत के प्रति नेपाली दृष्टिकोण में कोई विशेष परिवर्तन नहीं हो पाया। डा० सिंह को गृह-काज में असफलता मिली और नवम्बर १९५७ में उन्हें त्याग पत्र देना पड़ा। डा० सिंह ने नेपाल के ऊपर संयुक्त राज्य अमेरिका के दबाव की चर्चा की और यहां तक आरोप लगाया कि अमेरिकन मिशन नेपाल में साम्यवाद विरोधी प्रभावों को मदद करना चाहता है। डा० सिंह के प्रधानमन्त्रित्व काल में अमेरिका और नेपाल के सम्बन्धों में तनाव बढ़ा। भारत-स्थित अमेरिकन राजदूत ने डा० सिंह के इस आरोप का खण्डन किया कि अमेरिका नेपाल को अन्तर्राष्ट्रीय झंझटों में घसीटना चाहता है।

---

1 Any threat to tho peace and security of Nepal is as much a threat to the peace and security of India Your friends are our friends and our friends yours

—Dr Rajendra Prasad

सन् १९५९ में आम निर्वाचन होने के बाद श्री बी० पी० कोइराला नेपाल के प्रधान मन्त्री बने। किन्तु उनके १८ महीनों के प्रधान मन्त्रित्व काल में भारत-नेपाल सम्बन्धों में कोई सुधार नहीं हुआ। श्री कोइराला ने अपने शासन काल में चीन की यात्रा की और श्री चाऊ-एन-लाई को पुनः नेपाल आने के लिए आमन्त्रित किया। श्री कोइराला ने अपनी यात्रा के समय साम्यवादी चीन के साथ एवरेस्ट-पर्वत शिखर के बारे में प्रारम्भिक समझौता वार्ता की और बाद में काठमाण्डू में जो अन्तिम समझौता हुआ वह एक प्रकार से भारत के साथ नेपाल सरकार का विश्वासघात था। वास्तव में कोइराला मन्त्रिमण्डल द्वारा चीन से इस प्रकार का समझौता भारत को तंग करने के उद्देश्य से किया गया था। अतः जब महाराजा महेन्द्र द्वारा कोइराला मन्त्रिमण्डल को बर्खास्त करके शासन पुनः अपने हाथ में ले लिया गया तो लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के पतन की दृष्टि से भारत वासियों को खेद भले ही हुआ, परन्तु कोइराला-सरकार के प्रति कोई विशेष सहानुभूति भी प्रकट नहीं की गई।

कोइराला-मन्त्रिमण्डल के पतन के बाद १९६१ तक भारत और नेपाल के सम्बन्ध तनावपूर्ण रहे। इस तनाव और कटुता के उत्पन्न होने का एक प्रमुख कारण यह था कि यद्यपि कोइराला-मन्त्रिमण्डल भंग करने के साथ ही नेपाली कांग्रेस के अनेक नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था परन्तु कुछ व्यक्ति भाग कर भारत चले आये थे और भारत में रहते हुए ही नेपाल में जन आन्दोलन की योजनायें निर्धारित करने को सचेष्ट थे। इस बात को लेकर कि भारत नेपाल-नरेश के विरोधियों को अपने यहाँ से नेपाल सरकार विरोधी कार्यवाहियाँ करने की छूट दे रहा है, दोनों देशों के राजनीतिक और कूटनीतिक सम्बन्ध में विशेष कटुता आ गई। इसके अतिरिक्त दोनों देशों के सम्बन्धों में बिगाड़ आने का दूसरा प्रमुख कारण यह रहा कि भारत की अनेक चेतावनियों के बावजूद महाराजा महेन्द्र ने काठमाण्डू ल्हासा सड़क-मार्ग बनाने के सम्बन्ध में चीन से समझौता करके स्पष्टतः भारत विरोधी कदम उठाया। चीन के निमन्त्रण पर महाराजा महेन्द्र ने न केवल चीन की यात्रा की बल्कि वहाँ पहुँच कर अपने शासन के लिए साम्यवादी नेताओं का समर्थन प्राप्त करने का पूरा प्रयास किया। इस सम्बन्ध में उनका रुख भारत के प्रति उपेक्षा का रहा। इस प्रसंग में उल्लेखनीय है कि महाराजा द्वारा चीन की यात्रा किये जाने से पूर्व नेपाल सरकार ने २४ सितम्बर, १९६१ को ६ पृष्ठों की एक पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें कहा गया कि विदेशों से नेपाल को जितनी भी मदद मिली है उसमें चीन से मिलने वाली मदद सर्वाधिक उदार व स्वार्थ विहीन थी। इतना ही नहीं अक्टूबर–नवम्बर १९६२ में जब चीन द्वारा भारत पर अप्रत्याशित रूप से विशाल एवं विश्वासघाती आक्रमण हुआ तब भी इस आक्रमण के प्रति नेपाल का रुख तटस्थता का रहा। उस समय नेपाल का मौन रहना यही इंगित करता था कि नेपाल की प्रच्छन्न सहानुभूति साम्यवादी चीन के प्रति थी यद्यपि तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री की नेपाल-यात्रा से नेपाल की भारत विरोधी नीति में कमी अवश्य आ गई थी। श्री शास्त्री की यात्रा से भारत-नेपाल सम्बन्धों में सुधार

सम्भाव की जो आधार-शिला रखी उसे बाद में महाराजा महेन्द्र की भारत यात्रा और राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन की नेपाल यात्रा से बड़ी मजबूती मिली। दोनों देशों के शासनाध्यक्षों और शीर्षस्थ नेताओं की पारस्परिक यात्राओं से भ्रमपूर्ण धारणाओं का निराकरण हुआ और नेपाल का शासक वर्ग साम्यवादी चीन के वास्तविक खतरे का सही रूप में पहिचानने लगा। इसी के परिणामस्वरूप भारतीय दूतावास द्वारा मनाये जाने वाले स्वतन्त्रता समारोह में नेपाल की राष्ट्रीय पंचायत के चेयरमैन श्री थापा ने कहा कि जब तक एक भी नेपाली जीवित है तब तक नेपाल के रास्ते से किसी भी आक्रमणकारी के लिए भारत पर आक्रमण करना सम्भव नहीं है।

२१ सितम्बर, १९६४ को भारत के विदेश मन्त्री सरदार स्वर्ण सिंह की नेपाल यात्रा भी बड़ी महत्वपूर्ण रही। श्री स्वर्ण सिंह ने अपनी स्पष्टवादिता से और नेपाल के प्रति भारत की हार्दिक मैत्री के सही प्रस्तुतीकरण से बाहरी प्रचार के रहे सहे कोहरे को भी साफ कर दिया। नेपाल की मन्त्री परिषद् के उपाध्यक्ष डॉ० बिष्ट मन्त्री थापा तथा श्री स्वर्ण सिंह में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार भारत द्वारा नेपाल के लिए १ करोड़ रुपयों की लागत से सीमावर्ती … में … और मध्यपूर्वी नेपाल में घोरवरा घाटी के बीच १२८ मील लम्बी सड़क का निर्माण करने का निश्चय किया गया। काठमाण्डू से भारतीय सीमा रक्सौल को जोड़ने वाली एक अन्य सड़क-योजना भी भारत ने अपने हाथ में ली। इसके अतिरिक्त भारत ने अपने खर्च से कोसी-योजना पूरी करने का निश्चय किया। कोसी योजना के पश्चिमी नहर-कार्य का उद्घाटन भारत के स्वर्गीय प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री द्वारा २४ अप्रैल १९६५ को किया गया। इस योजना का उद्देश्य नेपाल को बाढ़ की क्षति से बचाना व बिजली व सिंचाई से उसे लाभ पहुंचाना है। भारत नेपाल मैत्री संघ के अध्यक्ष ने भारत द्वारा नेपाल को दी गई उदार सहायता के प्रति आभार प्रकट करते हुए कहा—"भारत नेपाल के सम्बन्ध पुरातन काल से ही चले आ रहे हैं। भौगोलिक ऐतिहासिक सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से जो सम्बन्ध हैं-वे अमर हैं और हिमालय के समान पवित्र तथा शाश्वत हैं।"

भारत और नेपाल के सम्बन्ध उत्तरोत्तर मधुर होते गये। दिसम्बर, १९६५ में नेपाल नरेश ने भारत यात्रा की समाप्ति पर प्रधान मन्त्री श्री शास्त्री के साथ जिस संयुक्त विज्ञप्ति पर हस्ताक्षर किये वह इस बढ़ती हुई मैत्री का प्रमाण था। इस विज्ञप्ति में, काश्मीर का स्पष्ट उल्लेख न करते हुए भी महाराजा महेन्द्र ने घोषित किया कि— 'आत्म-निर्णय का सिद्धान्त केवल पराधीन और न्यास (Trust के आधीन) राज्यों में ही लागू किया जा सकता है और प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों के अभिन्न अंगों पर इसे कदापि लागू नहीं किया जा सकता है। इस विज्ञप्ति में महाराजाधिराज ने यह भी स्वीकार किया कि भारत की सहायता से नेपाल में चल रहे विकास-कार्यों की प्रगति संतोषजनक है। श्री शास्त्री ने भी घोषणा की कि नेपाल के पंच-वर्षीय आयोजन की पूर्ति की दिशा में भारत अधिकाधिक सहायता प्रदान

करता रहेगा। अपनी इसी भारत-यात्रा के दौरान महाराजा महेन्द्र ने भारतीय जनता को पटना से प्रसारित अपने एक संदेश में कहा कि— "नेपाल और भारत के सम्बन्ध और सुधरे हैं और दोनों देशों के बीच एक दूसरे की बात समझने की, एक दूसरे का सम्मान करने की तथा एक दूसरे की राष्ट्रीय आकांक्षाओं, अनुभूतियों व परिस्थितियों का आंकलन करने की क्षमता बढ़ी है।" (विज्ञान जनवरी १९६६)

जनवरी १९६६ में भारत में श्रीमती इन्दिरा गांधी ने और नेपाल में श्री तुलसी गिरि के स्थान पर श्री सूर्य बहादुर थापा ने प्रधान मन्त्री पद ग्रहण किया। मार्च १९६६ में श्री थापा भारत की सद्भावना-यात्रा पर आये। यह हर्ष का विषय है कि वर्तमान में दोनों ही देश पारस्परिक मैत्री के पथ पर दृढ़ता के साथ अग्रसर हैं। यह दोनों के ही हित में है कि वे राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में घनिष्ठतम रूप से आबद्ध हैं।

श्री लंका (Ceylon)

श्री लंका भारत के दक्षिणी अन्त बिन्दु के समीप एक छोटे आकार का द्वीप है जो भारत के साथ सांस्कृतिक आधारों पर अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। हिन्द महासागर में भारत की समीपता के कारण इसका सैनिक महत्व बहुत पहले से ही स्वीकार किया जाता रहा है। इस द्वीप का क्षेत्रफल २५,३३२ वर्गमील और जनसंख्या लगभग ९१,१९,००० है। इस के तट प्रदेश की लम्बाई १०० वर्गमील है।

सामरिक महत्व का ठिकाना होने से भारतीय महाद्वीप पर आक्रमण और अधिकार करने वाली किसी भी महत्वाकांक्षी शक्ति की युद्ध दृष्टि से यह द्वीप नहीं बच पाया। बाहरी देशों के आक्रमण का शिकार बनते-बनते अन्त में यह ब्रिटेन का उपनिवेश बन गया। ब्रिटिश उपनिवेश बन कर इसका भी पूर्ण शोषण हुआ क्योंकि ब्रिटेन की औपनिवेशिक नीति यहां भी वैसी ही थी जैसी की अन्य देशों में। फिर भी यहां की राजनीतिक व्यवस्था अंग्रेजी-शिक्षा शासन-व्यवस्था की कुशल परम्परा आदि ने यहां स्व शासन का वातावरण बना दिया और प्रथम महायुद्ध के दौरान विल्सन के १४ सूत्रीय सिद्धान्त तथा भारत की राष्ट्रीयता की लहर ने यहां राष्ट्रीय आन्दोलन का बीजारोपण कर दिया। वास्तव में प्रथम महायुद्ध साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के लिए एक दुःखद घटना सिद्ध हुआ क्योंकि इसके बाद से ही एशिया के विभिन्न देशों में राष्ट्रवाद अपने विभिन्न रूपों में—कहीं क्रान्तिकारी हिंसात्मक रूप में और कहीं संवैधानिक तथा सुधारवादी रूप में—प्रकट होने लगा। भारत की भांति ही श्री लंका में यह संवैधानिक और सुधारवादी आन्दोलन के रूप में प्रकट हुआ। भारत के स्वातन्त्र्य संग्राम का भी इस पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। १९१९ में श्री लंका में राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई जिसके नेतृत्व में स्वाधीनता आंदोलन चलने लगा। ब्रिटिश सरकार द्वारा

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति तक विभिन्न संवैधानिक सुधार किए गये लेकिन लंका का जनमत तो अपने राष्ट्र की स्वाधीनता के लिए बेताब था। जुलाई १९४५ में श्री सेनानायके द्वारा ब्रिटिश सरकार के समक्ष श्री लंका को Dominion Status प्रदान करने की एक योजना प्रस्तुत की गई। इसके साथ ही प्रतिरक्षा और विदेशी मामलों के क्षेत्र में एक नीति का प्रारूप भी रखा गया।

काफी विचार-विमर्श के बाद अन्त में श्री लंका के लिए एक नया संविधान तैयार किया गया और अन्त में आम चुनावों की व्यवस्था हुई। इन चुनावों में United National Party को सबसे अधिक सीटें मिलीं। इस दल के नेता और श्री लंका के प्रथम प्रधान मन्त्री श्री डी० एस० सेनानायके ने लंका को Dominion Status दिये जाने की माग दोहराई। जून १९४७ में ब्रिटेन द्वारा इस माग को स्वीकार किये जाने की घोषणा कर दी गई। ११ नवम्बर १९४७ को ब्रिटिश संसद में श्री लंका को स्वतन्त्रता प्रदान करने का बिल प्रस्तुत किया गया जो चार सप्ताह के अन्दर ही दोनों सदनों द्वारा पारित हो गया। इस प्रकार लगभग १३३ वर्षों के ब्रिटिश शासन के उपरान्त श्री लंका को अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता पुनः मिली। ४ फरवरी १९४८ को ब्रिटिश सरकार द्वारा उसे पूर्ण Dominion Status प्रदान कर दिया गया।

जुलाई, १९५६ में श्री लंका ने राष्ट्र मण्डल में एक गणराज्य के रूप में शामिल होने की इच्छा प्रकट की और ब्रिटिश सरकार द्वारा इस अनुरोध को स्वीकार कर लिया गया। अप्रैल १९५६ के निर्वाचनों में विजयी होने वाले People's Front के नेता श्री भंडारनायके इस समय श्री लंका के प्रधान मन्त्री थे।

२५ सितम्बर १९५९ को श्री भंडारनायके की एक बौद्ध-भिक्षु द्वारा हत्या कर दी गई। इससे देश में गम्भीर राजनीतिक-संकट उठ खड़ा हुआ। १९ मार्च १९६० के दूसरी बार के आम चुनावों में United National Party पुनः सबसे बड़े दल के रूप में प्रकट हुई और श्री डडले सेनानायके ने अपना मन्त्री मण्डल बनाया। अप्रैल १९६० में सेनानायके-मन्त्रिमण्डल को अविश्वास प्रस्ताव का शिकार होना पड़ा। जुलाई १९६० में पुनः चुनाव हुए जिसमें Freedom Party ने अधिकांश सीटों पर कब्जा जमाया और इस दल की नेतृ सिरिमावो भंडारनायके (स्वर्गीय श्री भंडारनायके की पत्नी) ने प्रधान मन्त्री पद सम्भाला। श्रीमती भंडारनायके दिसम्बर १९६४ तक बड़ी कुशलतापूर्वक शासन का संचालन करती रहीं और तत्पश्चात् २५ मार्च १९६५ को श्री डडले सेनानायके प्रधान मन्त्री बने। श्री सेनानायके के प्रधान मंत्रित्व काल में अब तक भारत और लंका के सम्बन्ध संतोषप्रद एवं मधुर रहे हैं।

श्री लंका की विदेश नीति और भारत-लंका सम्बन्ध

अपनी निर्बलता राजनीतिक परिस्थितियों भौगोलिक स्थिति और आर्थिक विकास की आवश्यकता के कारण श्री लंका ने विश्व-मामलों में प्रारम्भ से ही एक तटस्थतावादी नीति अपनाई और इस देश के अधिकांश नेतागण सह-अस्तित्व व शांति के प्रचारक बन गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही श्री लंका ने अपनी विदेश नीति के ये प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किये —

(i) श्री लंका की मतप्रकाश-स्वतन्त्रता की रक्षा,

(ii) एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य के रूप में राष्ट्र मंडल की सदस्यता स्वीकार करना

(iii) दक्षिण पूर्वी एशिया के सभी देशों विशेषकर भारत से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना

(iv) औपचारिक रूप से किसी शक्ति-गुट के साथ सम्बद्ध न होना और शीत-युद्ध से अलग रहना एवं

(v) मित्र देशों के साथ सहयोग करते हुए शांति और आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहना।

श्री लंका ने एशिया और अफ्रीका के देशों के प्रति सदैव सहयोग-भावना रखी है और साम्प्रदायवाद साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का तीव्र विरोध किया इस देश के नेताओं द्वारा सभी की स्वाधीनता और न्यायपूर्ण मांगों को हमेशा समर्थन दिया जाता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी श्री लंका ने अपने को किसी गुट विशेष के साथ सम्बद्ध नहीं किया है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के गुणावगुणों के आधार पर ही उसने यथासम्भव मतदान किया है।

अपनी स्वाधीनता के समय से ही श्री लंका के एक समान साझेदार के रूप में 'राष्ट्रमण्डल' से निकट सम्बन्ध रहे हैं। यह उल्लेखनीय है कि 'कोलम्बो-योजना' की आधार शिला १९५० में कोलम्बो में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन में ही रखी गयी थी। कोलम्बो-योजना के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र में भारत और श्री लंका ने प्रशंसनीय सहयोग किये और भारत द्वारा लंका के आर्थिक विकास में विविध रूपों में पर्याप्त सहायता प्रदान की गयी।

अपनी स्वतन्त्रता के तुरंत बाद श्री सेनानायके के प्रधान मन्त्रित्व काल में श्री लंका ने पश्चिम के साथ निकट-सम्बन्ध स्थापित किये। अमेरिकन प्राविधिक सहायता-कार्यक्रम (American Technical Assistance Programme) के अन्तर्गत पश्चिमी सहायता का लाभ प्राप्त करने वाला यह प्रथम देश बना। १९५३ में सर जॉन कोटेलावाला लंका के प्रधानमन्त्री बने। उनके नेतृत्व में श्री लंका के पश्चिम के साथ और भी निकट के सम्बन्ध स्थापित हुए। उन्होंने १९५५ के बांडुग-सम्मेलन में महत्वपूर्ण भाग लिया

और पश्चिम के मध्यस्थ की भूमिका अदा की। एशियाई देशों के और भी अनेक सम्मेलनों में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की। इन सभी सम्मेलनों में भी लंका ने एशिया की आध्यात्मिकता और प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में अपनी गहरी आस्था प्रकट करते हुए सैनिक गुटबन्दी को बुरा बतलाया और यह स्पष्ट कर दिया कि वह केवल आर्थिक सहायता को पसंद करता है यदि उसके पीछे कोई अन्य बन्धन न हो।

१९५६ के आम चुनावों के बाद श्री कोटलेवाला का स्थान ब्रिटेन में शिक्षित श्री भंडारनायके ने लिया। इस नये प्रधानमन्त्री ने लंका की तटस्थतावादी नीति को पूरा निखार दिया और ब्रिटेन को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह ट्रिंकोमली (Trincomale) तथा कातु-नके (Katu-Nake) से अपने सैनिक अड्डे हटाये। फलस्वरूप ब्रिटेन इन अड्डों को मालदीव द्वीप समूह में ले जाने को सहमत हो गया। श्री भंडारनायके की यह मांग लन्दन के प्रति किसी प्रकार की शत्रुता की द्योतक नहीं थी अपितु यह देश की सभी राष्ट्रों से मैत्री व सहयोग तथा शक्ति-गुटों से असम्बद्धता की नीति के लिए एक अनिवार्यता थी। सन् १९५९ में एक बौद्ध साधु द्वारा उनकी हत्या कर दिये जाने से तो लंका की निर्विघ्न प्रगति में गम्भीर क्षति उठानी पड़ी।

श्री भंडारनायके के निधन के बाद केवल कुछ महीनों के लिए श्री सेनानायके प्रधानमन्त्री बने और तत्पश्चात् चुनाव, १९६० में श्रीमती भंडारनायके संसार की प्रथम महिला प्रधानमंत्री बनी। इस विदुषी प्रधानमन्त्री ने अपने शासन काल में अनेक क्रान्तिकारी कदम उठाए जिनका श्री लंका के अनेक वर्गों में विरोध किया गया और सरकार का तख्ता पलटने के लिए कई असफल प्रयत्न हुए। श्रीमती भंडारनायके ने भारत-चीन सीमा विवाद पर तटस्थ देशों के 'कोलम्बो-सम्मेलन' का आयोजन किया और सम्मेलन द्वारा पारित 'कोलम्बो प्रस्तावों' को लेकर स्वयं पेकिंग और दिल्ली गईं।

अपने शासन-काल में श्रीमती भंडारनायके ने अमेरिकन तेल-कम्पनियों के विरुद्ध राष्ट्रीयकरण के कदम उठाए और इस सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों के तीव्र दबाव का दृढ़तापूर्वक विरोध किया। श्री लंका को 'एस्सो' (Esso) और काल्टैक्स (Caltex) कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के कदमों से विमुख करने में असफल होकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने लंका को आर्थिक सहायता के अपने वायदे से मुकर जाने का निश्चय किया। किन्तु अमेरिका के इस निश्चय का श्री लंका पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि विदेशी तेल-कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की उसकी नीति ने संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा दी जाने वाली आर्थिक तुलना में उसे कहीं अधिक लाभ पहुंचाया।

अनेक सरकारों के बावजूद अपने उग्र और क्रांतिकारी दृष्टिकोण

श्री लंका की विदेश नीति और भारत-लंका सम्बन्ध

अपनी निर्धनता राजनीतिक परिस्थितियों भौगोलिक स्थिति और आर्थिक विकास की आवश्यकता के कारण श्री लंका ने विश्व-मामलों में प्रारम्भ से ही एक तटस्थतावादी नीति अपनाई और इस देश के अधिकांश नेतागण सह-अस्तित्व व शांति के प्रचारक बन गये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद से ही श्री लंका ने अपनी विदेश नीति के ये प्रमुख लक्ष्य निर्धारित किये —

(i) श्री लंका की नवजात-स्वतन्त्रता की रक्षा

(ii) एक पूर्ण स्वतन्त्र राज्य के रूप में राष्ट्र मंडल की सदस्यता स्वीकार करना

(iii) दक्षिण पूर्वी एशिया के सभी देशों विशेषकर भारत से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना

(iv) औपचारिक रूप से किसी शक्ति-गुट के साथ सम्बद्ध न होना और शीत-युद्ध से अलग रहना एवं

(v) मित्र देशों के साथ सहयोग करते हुए शांति और आर्थिक विकास के लिए प्रयत्नशील रहना।

श्री लंका ने एशिया और अफ्रीका के देशों के प्रति सदैव सहयोग-भावना रखी है और साम्यवाद साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का तीव्र विरोध किया इस देश के नेताओं द्वारा सभी की स्वाधीनता और न्यायपूर्ण मांगों को हमेशा समर्थन किया जाता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी श्री लंका ने अपने को किसी गुट विशेष के साथ सम्बद्ध नहीं किया है बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्या के गुणावगुणों के आधार पर ही उसने यथासम्भव मतदान किया है।

अपनी स्वाधीनता के समय से ही श्री लंका ने एक समान साझेदार के रूप में 'राष्ट्रमण्डल' से निकट सम्बन्ध रखे हैं। यह उल्लेखनीय है कि 'कोलम्बो-योजना' की आधार शिला १९५० में कोलम्बो में होने वाले राष्ट्रमण्डलीय प्रधानमन्त्री सम्मेलन में ही रखी गयी थी। कोलम्बो-योजना के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र में भारत और श्री लंका ने प्रशंसनीय सहयोग किये और भारत द्वारा लंका के आर्थिक विकास में विभिन्न रूपों में पर्याप्त सहायता प्रदान की गयी।

अपनी स्वतन्त्रता के तुरंत बाद श्री सेनानायके के प्रधान मन्त्रित्व काल में श्री लंका ने पश्चिम के साथ निकट-सम्बन्ध स्थापित किये। अमेरिकन प्राविधिक सहायता-कार्यक्रम (American Technical Assistance Programme) के अन्तर्गत पश्चिमी सहायता का लाभ प्राप्त करने वाला यह प्रथम देश बना। १९५३ में सर जॉन कोटेलावाला लंका के प्रधानमन्त्री बने। उसके नेतृत्व में श्री लंका के पश्चिम के साथ और भी निकट के सम्बन्ध स्थापित हुए। उन्होंने १९५५ के बांडुग-सम्मेलन में महत्वपूर्ण भाग लिया

और पश्चिम के एकता की भूमिका अदा की। एशियाई देशों के और भी अनेक सम्मेलनों में अपने विचारों की अभिव्यक्ति की। इन सभी सम्मेलनों में भी लंका ने एशिया की आध्यात्मिकता और प्रजातांत्रिक व्यवस्था में अपनी गहरी आस्था प्रकट करते हुए सैनिक गुटबन्दी को बुरा बतलाया और यह स्पष्ट कर दिया कि वह केवल आर्थिक सहायता को पसंद करता है यदि उसके पीछे कोई अन्य बन्धन न हो।

१९५६ के आम चुनावों के बाद श्री कोटलेवाला का स्थान ब्रिटेन से शिक्षित श्री भंडारनायके ने लिया। इस नये प्रधानमन्त्री ने लंका की तटस्थतावादी नीति को पूरा निखार दिया और ब्रिटेन को इस बात के लिए बाध्य किया कि वह ट्रिंकोमली (Trincomale) तथा काटु-नायके (Katu-Nake) से अपने सैनिक अड्डे हटाये। फलस्वरूप ब्रिटेन इन अड्डों को मालदीव द्वीप समूह में ले जाने को सहमत हो गया। श्री भंडारनायक की यह मांग लन्दन के प्रति किसी प्रकार की शत्रुता की द्योतक नहीं थी अपितु यह देश की सभी राष्ट्रों से मैत्री व सहयोग की शक्ति-गुटों से असम्बद्धता की नीति के लिए एक अनिवार्यता थी। सन १९५९ में एक बौद्ध-साधु द्वारा उनकी हत्या कर दिये जाने से श्री लंका को निश्चित रूप से गम्भीर क्षति उठानी पड़ी।

श्री भंडारनायके के निधन के बाद केवल कुछ महीनों के लिए श्री सेनानायके प्रधानमन्त्री बने और तत्पश्चात् जुलाई, १९६० में श्रीमती भंडारनायके संसार की प्रथम महिला प्रधानमन्त्री बनी। इस विदुषी प्रधानमन्त्री ने अपने शासन काल में अनेक क्रान्तिकारी कदम उठाए जिनका श्री लंका के अनेक वर्गों में विरोध किया गया और सरकार का तख्ता पलटने के लिए कई असफल प्रयत्न हुए। श्रीमती भंडारनायके ने भारत-चीन सीमा विवाद पर तटस्थ देशों के कोलम्बो-सम्मेलन का आयोजन किया और सम्मेलन द्वारा पारित कोलम्बो प्रस्तावों को लेकर स्वयं पेकिंग और दिल्ली गईं।

अपने शासन-काल में श्रीमती भंडारनायके ने अमेरिकन तेल कम्पनियों के विरुद्ध राष्ट्रीयकरण के कदम उठाए और इस सम्बन्ध में पश्चिमी राष्ट्रों के तीव्र दबाव का दृढ़तापूर्वक विरोध किया। श्री लंका को एस्सो (Esso) और काल्टैक्स (Caltex) कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण के कदमों से विमुख करने में असफल होकर संयुक्त राज्य अमरिका ने लंका को आर्थिक सहायता के, के अपने वायदे से मुकर जाने का निश्चय किया। किन्तु अमरिका के इस निश्चय का श्री लंका पर कोई विपरीत प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि विदेशी तेल-कम्पनियों के राष्ट्रीयकरण की उसकी नीति से संयुक्त राज्य अमरिका द्वारा दी जाने वाली आर्थिक सहायता की तुलना में उसे कहीं अधिक लाभ पहुंचाया।

अनेक सहायताओं के बावजूद अपनी उग्र और क्रांतिकारी दृष्टिकोण

के कारण १९६५ के चुनावों में श्रीमती भंडारनायके पराजित हुईं और उनका स्थान मार्च १९६५ में श्री डडले सेनानायक ने लिया। श्री सेनानायके के नेतृत्व में भी श्री लंका अपनी परम्परागत मूलभूत नीति पर ही चल रहा है। भारत के प्रति सेनानायके सरकार का मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध है। श्री सेनानायके की निष्पक्षता और न्यायसंगत दृष्टिकोण का पता इसी से चल जाता है कि पद ग्रहण करने के तुरन्त बाद अपने एक वक्तव्य में भारत व चीन सीमा विवाद में उन्होंने भारत के न्यायोचित पक्ष का समर्थन किया और चीन द्वारा भारत पर आक्रमण करने व कोलम्बो प्रस्ताव न मानने के कारण उसकी निन्दा की। हमें आशा करनी चाहिये कि दोनों पड़ोसी देशों की मित्रता उत्तरोत्तर प्रगाढ़ होती जायगी। यदि श्री लंका के किसी वर्ग को अथवा कुछ व्यक्तियों को भारत के प्रति किसी प्रकार का सन्देह हो तो उन्हें उसे निकाल फेंकना चाहिये क्योंकि स्वर्गीय श्री नेहरू के शब्दों में हम एक स्वतन्त्र और मित्र लंका चाहते हैं। प्रत्येक दृष्टि से—सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, भाषायी या धर्म के सम्बन्ध में भी श्री लंका किसी भी दूसरे देश की अपेक्षा हम से अधिक समीप है।

श्री लंका में भारतीयों की समस्या और भारत-लंका समझौता १९६४

यद्यपि भारत और श्री लंका के सम्बन्ध सभी क्षेत्रों में सामान्य रूप से प्रारम्भ से ही अच्छे रहे हैं फिर भी इन दोनों देशों के बीच कटुता का एक कारण विद्यमान रहा है और वह है—श्री लंका में रहने वाले भारतीय प्रवासी। यथार्थ में यह समस्या ब्रिटेन के औपनिवेशिक शासन से मिली थी। लगभग १२५ वर्ष पूर्व ब्रिटिश पूंजीपतियों ने प्राचीन काण्डियन राजाओं की जागीरों में रोपणोद्योग (Plantation Industry) आरम्भ किया था। इस उद्योग में काम करने के लिये उन्होंने दक्षिणी भारत से सस्ते मजदूरों का लंका में आयात किया और उन्हें वहीं बसा दिया। इन मजदूरों को कानून द्वारा विशेष सुविधायें भी प्रदान की गईं। कालान्तर में काण्डियन गांवों में सिंहली जन संख्या भी बढ़ने लगी। परिणाम यह निकला कि शनैः शनैः दक्षिणी भारत के तामिल मजदूरों और लंका के सिंहली लोगों के बीच प्रतिद्वन्द्विता स्वाभाविक रूप से पैदा हो गई। सिंहली लोग यह चाहने लगे कि प्रवासी भारतीय वापिस भारत लौट जायं क्योंकि उनके कारण सिंहली लोगों को रोजगार के अवसरों से वंचित रहना पड़ता है।

जब श्री लंका ने स्वाधीनता प्राप्त की तो वहां की स्वतन्त्र सरकार यह अनुभव करने लगी कि मूल लंका वासियों के हित में इन भारत प्रवासियों को वापिस भारत भेज दिया जाना चाहिये। लंका सरकार ने अपने इस विचार के पक्ष में निम्नलिखित तीन कारण दिये—

प्रथम लंका में रहने वाले भारतीय वहां के स्थानीय नागरिकों के साथ अभी तक घुल मिल नहीं सके हैं। उनकी जड़ें अभी तक भारत में ही हैं। प्रति वर्ष वे अपने पर्वों पर भारतीय निवास स्थानों को जाते हैं और उनके विवाह सम्बन्ध भी भारत में ही होते हैं। चूंकि श्री लंका के साथ उनका

कोई मानसिक अथवा आध्यात्मिक लगाव नहीं है अतः उन्हें अपने मूल देश भारत को लौट जाना चाहिये।

द्वितीय इन प्रवासी भारतीयों के कारण सिंहली लोगों को रोजगार के अवसरों से वंचित रहना पड़ता है। भारतीय मजदूर जो कुछ भी कमाते हैं उसे भारत को भेज देते हैं अथवा उसे भारत में खर्च करते हैं। इसका श्री लंका के विदेशी विनिमय पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

तृतीय इस समस्या का एक राजनैतिक पहलू भी है। इन मूल भारतीयों में साम्प्रदायिक बन्धन बहुत दृढ़ होने के कारण इनके द्वारा अपनी मतदान की शक्ति से श्री लंका के राजनैतिक भविष्य को प्रभावित किया जा सकता है। श्री कोटलेवाला ने कहा कि भारतीयों का साम्प्रदायिक संगठन श्री लंका के ३ निर्वाचन क्षेत्रों के परिणामों को निर्णायक रूप से प्रभावित करता है।

समस्या के राजनैतिक पहलू का अन्त करने के लिये सन् १९४९ में एक निर्वाचकीय कानून पास किया गया जिसके अनुसार मताधिकार केवल लंका के मूल ही नागरिकों तक सीमित कर दिया गया। इस कानून के कारण श्री लंका में बसे हुए भारतीय एक बड़ी संख्या में मताधिकार से वंचित हो गये। अब उनके समक्ष १९५२ के चुनाव का बहिष्कार करने के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं रहा।

भारत सरकार ने इस समस्या को हल करने के लिये श्री लंका की सरकार से वार्ता आरम्भ की। जून १९५३ में श्री नेहरू और डडले सेना नायके ने समस्या पर लन्दन में विचार किया किन्तु यह वार्ता असफल हो गई। श्री सेनानायके ने भारतीयों की अनिवार्यतः वापसी पर जोर दिया जिसे स्वीकार करना श्री नेहरू के लिये असम्भव था। बाद में कोटलेवाला के प्रधान मन्त्रित्व काल में जनवरी १९५४ में दोनों देशों के बीच एक समझौता हुआ जो नेहरू-कोटलेवाला समझौता के नाम से प्रख्यात है। इस समझौते के द्वारा यह निश्चित हुआ कि जो भारतीय श्री लंका की नागरिकता प्राप्त करना चाहते हैं उनके नाम एक रजिस्टर में दर्ज कर लिये जायें और जो अपनी भारतीय नागरिकता को छोड़ने को तैयार न हों उन्हें भारत वापिस कर दिया जाय। समझौते में यह कहा गया कि ऐसे प्रत्येक भारतवासी को गैर कानूनी अप्रवासी माना जायगा जिसका राजस्थलीकरण नहीं हुआ है। गैर कानूनी अप्रवासी के भारत लौटने की व्यवस्था भी इस समझौते में की गई और साथ ही भविष्य में भारतीयों के लंका-प्रवास पर रोक लगा दी गई।

नेहरू-कोटलेवाला समझौते का भारत-लंका-विवाद के उचित और सम्मानजनक हल के रूप में स्वागत किया गया। परन्तु व्यवहार में यह

समझौता सफल नहीं हो सका क्योंकि श्री लंका में स्थित भारतीयों में बहुत से ऐसे हैं जिन्हें न तो भारत अपनी नागरिकता देने को तैयार है और न श्री लंका ही।

नेहरू-कोटलेवाला समझौते के अन्तर्गत सितम्बर १९५१ से जनवरी १९५५ तक श्री लंका सरकार ने नागरिकता प्राप्त करने के इच्छुक ८१५० व्यक्तियों के प्रार्थनापत्रों में से केवल ७५० व्यक्तियों के प्रार्थना-पत्र स्वीकार किये जबकि इसी काल में भारतीय उच्चायुक्त ने भारत लौटने के इच्छुक ८,००० व्यक्तियों में से ५५०० व्यक्तियों के प्रार्थना-पत्र स्वीकार किये। अक्टूबर १९५४ में दिल्ली में पुनः नेहरू और कोटलेवाला की मुलाकात हुई। इस भेंट में दोनों प्रधान मन्त्री इस बात पर सहमत हो गये कि दोनों सरकारों द्वारा राज्य विहीन व्यक्तियों की संख्या कम करने के प्रयत्न किये जाने चाहिये। यह निश्चय हुआ कि श्री लंका सरकार अपनी पंजिकरण (Registration) प्रक्रिया में शीघ्रता करे और भारत व लंका के नागरिकों का पंजिकरण दो वर्ष की अवधि में समाप्त कर दिया जाय। इस सम्बन्ध में १९५६-५७ में श्री लंका के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री भण्डार नायके द्वारा भी वार्ता की गई परन्तु समस्या का कोई हल नहीं निकल सका। फिर भी इस सम्बन्ध में प्रयत्न जारी रखे गये।

लंका में निवास करने वाले करीब दस लाख भारतीय प्रवासियों की समस्या का शांतिपूर्ण समाधान आखिर २९ अक्टूबर १९६४ को भारतीय प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री और श्री लंका की प्रधान मन्त्री श्रीमती भण्डार नायके के बीच हुए समझौते के द्वारा हुआ। यह समझौता किसी संधि के रूप में नहीं है अपितु दोनों प्रधान मन्त्रियों के बीच हुए पत्र व्यवहार एवं अक्टूबर १९६४ में दोनों की भारत में परस्पर वार्ता के पश्चात् प्रकाशित संयुक्त विज्ञप्ति में निहित है। इस भारत-लंका-समझौते (India-Ceylon Agreement, 1964) की मुख्य बातें इस प्रकार हैं—

(१) समझौते का मुख्य उद्देश्य यह घोषित किया गया कि श्री लंका में निवास करने वाले समस्त भारतीय प्रवासी जो अभी तक भारत अथवा श्री लंका किसी के नागरिक नहीं हैं किसी एक देश के नागरिक अवश्य बन जाएं।

(२) इस प्रकार के राज्य विहीन नागरिकों की संख्या उस समय तक ९,७५,००० आंकी गई, जिसके सम्बन्ध में यह समझौता हुआ कि इनमें से ३,००,००० व्यक्तियों को उनके परिवारों की स्वाभाविक वृद्धि के साथ श्री लंका द्वारा नागरिकता प्रदान कर दी जायगी तथा ५,२५,००० व्यक्तियों का उनके परिवारों की स्वाभाविक वृद्धि सहित भारत अपने यहाँ बुलाना स्वीकार करता है। समझौते में शेष १,५०,००० व्यक्तियों के भविष्य का निर्णय एक अलग समझौते पर छोड़ दिया गया जो अभी तक नहीं हो पाया है।

(३) भारत को लौटाये जाने वाले व्यक्ति अगले १५ वर्षों में एक योजना के अनुसार निश्चित संख्या में प्रति वर्ष भारत आते रहेंगे और इसी प्रकार श्री लंका द्वारा भी नागरिकता प्रदान करने का कार्य १५ वर्षों में इसी प्रकार की एक आनुपातिक योजना द्वारा पूरा किया जायगा।

(४) भारत को लौटाये जाने वाले व्यक्तियों को उनके भारत जाने के समय तक श्री लंका की सरकार सभी प्रकार की ऐसी सुविधाएं प्रदान करेगी जो अन्य विदेशी नागरिकों को प्रदान की जाती हैं परन्तु उन्हें विदेशों को धन भेजने की सुविधा नहीं दी जायगी।

(५) भारत को लौटते समय ऐसे व्यक्ति अपने साथ उस समय के नियन्त्रणों के अनुसार अपनी कमाई की पूंजी आदि लेजा सकेंगे जिसकी सीमा चार हजार रुपये से कम किसी हालत में नहीं होगी।

इस समझौते के द्वारा भारत और श्री लंका के बीच भारतीय प्रवासियों की समस्या का शांतिपूर्ण हल निकाला गया किन्तु यह समझौता कतिपय क्षेत्रों में दोनों ही देशों में आलोचना का पात्र बना। भारत में कहा गया कि सुदीर्घकाल तक श्री लंका में निवास करने वाले सभी व्यक्तियों को श्री लंका द्वारा ही नागरिकता प्रदान किया जाना आवश्यक था। भारत द्वारा उन्हें वापिस लेना स्वीकार करना अनुचित है। श्री लंका में समझौते की आलोचना इस आधार पर हुई कि इसमें मनुष्यों को एक वस्तु के रूप में मान कर उनका बंटवारा सम्पत्ति के बंटवारे की तरह किया गया है जिसमें व्यक्तियों की इच्छा का कोई स्थान नहीं है। आलोचकों के अनुसार १,५०,००० व्यक्तियों के भाग्य का निपटारा नहीं करना और ५,२५,००० व्यक्तियों के भाग्य का निपटारा करके भी उनका अन्तिम निर्णय १५ वर्षों के लम्बे समय में करना समझौते का बड़ा भारी दोष है।

दक्षिण-पूर्वी एशिया : अर्थ और महत्ता
(South-East Asia : Meaning and Importance)

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों और विश्व शान्ति के दृष्टिकोण से दक्षिण पूर्वी एशिया संसार के सर्वाधिक विस्फोटक एवं महत्वपूर्ण स्थानों में से एक है। एशिया का साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह २०वीं शताब्दी की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है, किन्तु यह विद्रोह कहीं भी इतना स्पष्ट और सफल नहीं रहा जितना कि दक्षिणी पूर्वी एशिया में। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में लगभग सम्पूर्ण दक्षिणी पूर्वी एशिया साम्राज्यवाद के चंगुल में फंसा हुआ था परन्तु अब यह सम्पूर्ण प्रदेश स्वतन्त्र और मुक्त होकर विश्व राजनीति को प्रभावित कर रहा है। इस क्षेत्र के अधिकांश देशों का अपना कोई स्वतन्त्र इतिहास नहीं रहा और न यहां किन्हीं ऐसी स्थाई प्रणालियों और संस्थाओं का विकास हो पाया जिन पर शक्ति प्राप्त करने और पथ प्रदर्शन के लिए निर्भर रहा जा सकता। भारत से स्वतन्त्रता की जो लहर उठी वह बर्मा होती हुई इन देशों

दक्षिण पूर्वी एशिया
(South East Asia)

दक्षिणी पूर्वी एशिया के राज्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

क्र सं	देश का नाम	स्वतन्त्र होने की तिथि	किसके अधीन थे	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	चीनियों की संख्या	चीनियों की कुल जनसंख्या में अनुपात
१	बर्मा	४ जनवरी १९४८	ब्रिटेन	२ ६१ ७८९	२ ०० ५४ ००	१ २ ०००	१ ६
२	थाईलैंड	—	—	२ ०० १४८	२ १० ७६ ०००	३१ ६० ०००	११ ३
३	कम्बोडिया	प्रथम जुलाई १९५४ जेनेवा सम्मेलन के फलस्वरूप	फ्रांस	८८ ७८	५० ० ०००	२ ३० ०००	५ ५
४	लाओस			९१ ० ०	३० ० ०००	१० ०००	० ६
५	वियतनाम			६२ ० ०	१ ६०,०० ०००	५० ०००	० ४
	(a) उत्तरी (साम्यवादी)			६२ ०००	१ १ ०० ०००	७ ८० ० ०	६ २
	(b) दक्षिणी (गणराज्य)			५ ६६०	६२ ७६ ६६५	२१ २६ ०००	३७ ८
६	मलेशिया	३१ अगस्त १९५७	ब्रिटेन				
७	इण्डोनेशिया (३ हजार द्वीपों का समूह)	२८ दिसम्बर १९४९	हॉलैंड	७ ३५ ८६५	८ ५५ ७ ०००	२२ ५० ०००	२ ०
८	फिलीपाइन्स	४ जुलाई १९४६	अमेरिका	१ १५,७५८	२ ४७ १८ ०००	२ ७० ०००	१ २

की सीमाओं से टकराई और कुछ औपनिवेशिक शासकों ने हवा का रुख देख कर स्वेच्छा से और कुछ ने वर्षों के रक्त रंजित संघर्ष के उपरान्त विवश होकर इन्हें स्वतन्त्रता प्रदान कर दी। फिर भी स्वतन्त्र हो जाने के उपरान्त भी अधिकांश देशों को इस बात का कोई स्पष्ट आभास नहीं था कि भविष्य के लिए उन्हें कौन सा मार्ग अपनाना चाहिए और कौन सी प्रणाली उनके लिए श्रेयस्कर तथा उपयुक्त होगी? स्वतन्त्रता इन देशों को अवश्य मिल गई, परन्तु उस स्वतन्त्रता को सुरक्षित और सुदृढ़ करने तथा उसे आधार बना कर शक्तिशाली एवं प्रगतिशील राष्ट्र बनने के लिए उन्हें उचित पथ प्रदर्शन और साधन नहीं मिल सके। यही कारण हुआ कि आज अधिकांश दक्षिणी पूर्वी एशियाई देश विभिन्न विचारधाराओं प्रणालियों गुट-बन्दियों आदि के शिकार बने हुए हैं और विश्व की महाशक्तियां उन्हें अपने हाथ का खिलौना बनाये हुए हैं। दक्षिण पूर्वी एशिया का क्षेत्र वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय युग में संघर्ष का एक प्रमुख केन्द्र बन गया है।

यह एक रोचक सत्य है कि 'दक्षिण पूर्वी एशिया' एक नया शब्द है जिसका प्रयोग द्वितीय महायुद्ध के पूर्व होता ही नहीं था। दक्षिण पूर्वी एशिया' शब्द का प्रचलन एक भौगोलिक प्रदेश के लिए द्वितीय महायुद्ध के मध्य हुआ। महायुद्ध के दौरान जब इस क्षेत्र को जापानियों के नियन्त्रण से मुक्त करने के लिए अगस्त १९४३ में क्यूबेक सम्मेलन के द्वारा एडमिरल माउन्ट बैटन की अधीनता में दक्षिणी पूर्वी एशिया कमान (South East Asia Command) की स्थापना हुई, तभी से इस शब्द का उपयोग होने लगा। प्रारम्भ में यह शब्द उन ६ देशों के लिए प्रयुक्त किया जाता था जो "भारत के पूर्व में और चीन के दक्षिण पश्चिम में स्थित थे।[1] डाक्टर बी० आर० चटर्जी के अनुसार दक्षिण पूर्वी एशिया पूर्व से पश्चिम तक फिलिपाइन्स वियतनाम लाओस कम्बोडिया थाईलैंड और बर्मा तथा दक्षिण की ओर मलाया और सुमात्रा से लेकर न्यूगिनी तक इण्डोनेशियन द्वीप समूह से मिल कर बना है।"[2] कुछ विद्वान भारत पाकिस्तान नेपाल और श्री लंका को भी दक्षिण पूर्वी एशिया के अन्तर्गत सम्मिलित करते हैं जबकि कुछ विद्वान इन देशों को दक्षिण-एशिया नामक एक पृथक भौगोलिक प्रदेश मानते हैं।

द्वितीय महायुद्ध के पूर्व वर्तमान 'दक्षिण पूर्वी एशियन क्षेत्र' को इतना अधिक महत्व प्राप्त नहीं था। परन्तु युद्धोपरान्त उपनिवेशवादी शासन के अन्त और साम्यवादी चीन के उदय के कारण इस क्षेत्र को सहसा ही अन्तर्राष्ट्रीय महत्व प्राप्त हो गया और आज तो यह अन्तर्राष्ट्रीय संकट और सम्भावित महायुद्ध की भूमिका का निर्माण कर रहा है। यहां

---

1. F G Carnel South East Asia and the Modern World India Quarterly April June 1957 p. 101
2. B R Chatterji South East Asia in Transition India Quarterly Oct. Dec. 1956 p 789

अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार और उसको रोकने के लिए जो प्रयत्न चल रहे हैं, वे समस्त संसार के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को प्रभावित कर रहे हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में दक्षिण पूर्वी एशिया प्रधानतः दो कारणों से विशेष महत्वपूर्ण है—आर्थिक एवं सामरिक या युद्धनीतिक (Strategic)। आर्थिक दृष्टि से यह क्षेत्र अनेक ऐसे कच्चे मालों का प्रधान उत्पादक है जिनकी औद्योगिक संसार में अत्यधिक माँग है। यह क्षेत्र सामरिक अथवा युद्धनीतिक दृष्टि से इसलिए अधिक महत्वपूर्ण है क्योंकि यह विश्व के प्रधान वायु और समुद्री मार्गों पर स्थित है तथा साम्यवादी चीन व संयुक्त राज्य अमेरिका के मध्य संघर्ष का प्रधान केन्द्र है। चूँकि शीत-युद्ध के सम्बन्ध में इस प्रदेश के अधिकांश राज्यों ने एक तटस्थतावादी नीति अपनाई है अतः दोनों ही गुटों की दृष्टि में इसका विशेष महत्व है।

दक्षिणी पूर्वी एशिया के देश विश्व मामलों में अथवा अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में सक्रिय भाग ले रहे हैं। इन देशों में प्रधानतः बर्मा थाईलैंड, हिन्द-चीन वियतनाम मलयेशिया इण्डोनेशिया फिलिपाइन्स आदि के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर विचार करना आवश्यक है।

बर्मा
(Burma)

भारत की पूर्वी सरहद पर दक्षिण पूर्वी एशियाई राज्यों में महत्वपूर्ण राज्य बर्मा अवस्थित है। इस देश का क्षेत्रफल २,६१,७८९ वर्ग मील है। यहाँ की जनसंख्या १९६१ की जन-गणना के अनुसार २,०६४,००० है।

बर्मा बौद्ध-धर्मावलम्बियों का देश है जिस पर सबसे पहले १९१२ में ब्रिटिश प्रभाव स्थापित हुआ। कालान्तर में यह प्रभाव बढ़ने के उपरान्त १८८५ से १९३७ तक बर्मा का शासन भारत के एक अंग में होता रहा। परन्तु १ अप्रैल १९३७ से इसे भारत से पृथक कर दिया गया और इसके लिए एक पृथक प्रशासनिक ढाँचे की व्यवस्था की गयी। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर १९४२ से १९४४ तक इस पर जापानियों का अधिकार रहा। महायुद्ध समाप्त होने पर यहाँ ब्रिटिश प्रभुसत्ता पुनः स्थापित की गई। अब बर्मी जनता का पहले से चला आ रहा राष्ट्रवादी आन्दोलन विशेष तीव्र हो गया और बर्मी नेता अपने देश को अविलम्ब स्वतन्त्र किये जाने की माँग ज़ोर शोर से बुलन्द करने लगे। बर्मा की स्वतन्त्रता की आशा तब अधिक उज्ज्वल हो गई जब १९४५ में लन्दन में श्रम दलीय सरकार स्थापित हुई और उसकी स्वाधीनता के लिए निरन्तर संघर्षशील फासिस्ट विरोधी जन स्वतन्त्रता लीग (Anti-Facist People's Freedom League, A.F.P.F.L.) के नेताओं के साथ विचार-विनिमय हुआ। इस लीग के नेता जनरल आंगसान् थे। प्रारम्भिक निराशाओं के बाद अन्त में ब्रिटिश सरकार

और बर्मा के मध्य एक सन्धि पर हस्ताक्षर हुए जिसमें संविधान-सभा के निर्माण के लिए अप्रैल १९४७ में चुनाव कराने का निर्णय किया गया। चुनावों में पीपुल्स-लीग (A.F.P.F.L.) को शानदार विजय मिली। २१ मई १९४७ को बर्मा के संविधान का मसविदा तैयार किया गया जिसके अन्तर्गत बर्मा को एक पूर्ण प्रभुता सम्पन्न गणराज्य के रूप में संगठित करने का निर्णय हुआ। दुर्भाग्यवश १९ जुलाई १९४७ को एक भूतपूर्व प्रधानमन्त्री यू० सा० स्वा (U Saw) द्वारा भेजे गये कुछ हत्यारों ने श्री आगसान (Aung San) और उनके कुछ अन्य साथियों को गोली चला कर हत्या कर दी। यू० सा० स्वा स्वयं सत्ता हथियाना चाहता था किन्तु उसे सफलता नहीं मिली। आंगसान का स्थान थाकिन नू (Thakin Nu) ने लिया जो बाद में चलकर ऊ नू (U Nu) के नाम से विख्यात हुए। ४ जनवरी १९४८ को बर्मा ने पूर्ण स्वाधीनता प्राप्त की और इस प्रकार बर्मा संघ (Union of Burma) अस्तित्व में आया।

स्वाधीनता प्राप्त करने के उपरान्त बर्मा को अनेक गम्भीर आन्तरिक समस्याओं का सामना करना पड़ा। पीपुल्स लीग (A.F.P.F.L.) में फूट पड़ गई। एक गुट ऊनू का समर्थन करने लगा तो दूसरा उसका विरोध। बर्मा के साम्यवादियों ने जो पीपुल्स लीग में अल्प-संख्यक थे अपनी स्थिति से असन्तुष्ट होकर जगह-जगह हड़तालें और सरकार के विरुद्ध कटुता की भावनाओं को उत्तेजित किया। साम्यवादियों के अतिरिक्त विरोधी संगठन अभियान में 'कारेन' (Karens) नामक जन जाति के विद्रोही भी शामिल हो गए। इसी मध्य बर्मा ने एक गणराज्य-संविधान अथवा शासन पद्धति स्वीकार किया और वह राष्ट्रमण्डल से पृथक हो गया।

बर्मा की अव्यवस्था तब और भी गंभीर हो गई जब लगभग १०००० कोमिन्तांग सैनिक साम्यवादी चीन से भाग कर बर्मा में प्रविष्ट हो गये और सीमान्त क्षेत्रों में उपद्रव फैलाने लगे। परन्तु ऊनू के सौभाग्य से सरकार-विरोधी शक्तियाँ स्वयं एक दूसरे के भी उतनी ही विरुद्ध थीं जितनी कि केन्द्रीय शासन की। अतः ऊनू ने बड़े साहस और संयम के साथ अपने शत्रुओं का सामना किया और उन्हें छिन्न-भिन्न करने में सफलता प्राप्त की। १९५३ में बर्मा ने संयुक्त राष्ट्रसंघीय महासभा में यह शिकायत की कि उसके देश में राष्ट्रवादी चीन की चिआंगी सेनाएं (K.M.T. Troops) घुस आई हैं और बर्मा में लूटमार कर रही हैं अतः उनको शीघ्र बाहर निकाला जाना चाहिए। अप्रैल १९५३ को महासभा ने एक प्रस्ताव पारित करते हुए बर्मा से विदेशी सैनिकों की उपस्थिति की निन्दा की और कहा कि सन्धि-वार्ता द्वारा तथा कतिपय राष्ट्रों के सद्प्रयासों द्वारा इन सेनाओं को बाहर निकाला जाना चाहिए। १९५३-५४ में बर्मा ने इस प्रश्न को महासभा में पुनः उठाया और शिकायत की कि इस बारे में बहुत कम प्रगति हुई है। इसी मध्य बर्मा, राष्ट्रवादी चीन, थाईलैंड और संयुक्त राज्य अमेरिका की एक संयुक्त सैनिक समिति ने बर्मा से चीनी सैनिकों को

निकालना शुरू किया और अन्ततः यह समस्या शांतिपूर्वक हल हो गई। इस प्रकार अपनी दृढ़ता और कुशल सूझ-बूझ से ऊ नू ने देश के विद्रोही तत्त्वों पर काबू पा लिया। श्री ऊ नू के प्रभावी नेतृत्व में बर्मा की राजनीतिक और आर्थिक स्थिति सुधरती गई। प्रभावशाली सैनिक कार्यवाहियों द्वारा कारेन विद्रोहियों को भी बहुत कुछ शान्त कर दिया गया।

अपनी पश्चिमी सीमा पर स्थित भारत जैसे महान् गणराज्य से प्रेरणा पाकर बर्मा ने भी अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में तटस्थता और शान्तिपूर्ण सहयोग की नीति अपनाई। यह तथ्य स्मरणीय है कि श्री ऊ नू ने साम्यवादियों की समस्या का एक पूर्णतया गृह समस्या के रूप में मुकाबला किया और विदेशी शक्तियों को इस समस्या की आड़ में बर्मा में आन्तरिक हस्तक्षेप करने से दूर रखा। साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान करके अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में बर्मा ने अपने स्वतन्त्र दृष्टिकोण का परिचय दिया। यह मान्यता भी तब दी गयी जब कि दोनो देशों के पारस्परिक सम्बन्ध सन्तोषजनक नहीं थे।

यद्यपि राष्ट्रवादी चीनी सेनाओं के बर्मी-क्षेत्र से हट जाने से चीन-बर्मा सम्बन्धों के बीच का एक काँटा दूर हो गया किन्तु फिर भी उनके सम्ब बहुत अच्छे नहीं हो पाये और सीमा-निर्धारण को लेकर दोनों दशों में का तनाव बना रहा। अक्टूबर १९५६ में बर्मी प्रधानमन्त्री ऊ नू ने चीन शान्तिपूर्ण वार्ता द्वारा सीमा-विवाद का समाधान करने के लिए पेकिंग यात्रा की। परन्तु चीन ने न केवल बर्मा के १२० मील लम्बे सीमान्त क जिसका निर्धारण 'मैक-महोन'—रेखा के विस्तार द्वारा किया गया प स्वीकार करने से इन्कार कर दिया बल्कि उसने बर्मी-प्रदेश के कुछ भा नामों पर भी अपने दावे को दोहराया। स्वभावतः बर्मा को चीन के दा किसी भी रूप में स्वीकार नहीं हो सकते थे अतः दोनों देशों के नेताओं की वार्ता असफल रही।

संयुक्त राष्ट्र संघ में ऊ नू-सरकार का रवैया सन्तोषजनक और निर्गुटता का रहा। अप्रैल १९४८ में बर्मा संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना। उसने स्वयं को 'शीत-युद्ध' के दाव-पेचों से पूर्णतया अलग रखा। बर्मा ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित करने में अमेरिका का साथ दिया और कोरिया में संयुक्त राष्ट्र संघीय कार्यवाही का भी समर्थन किया, किन्तु उसने साम्यवादी चीन को आक्रमण का भागीदार मानने से इन्कार कर दिया। ऊ नू ने अमेरिका और संयुक्त राष्ट्र संघ से आर्थिक सहायता लेने में कोई हिचक नहीं की लेकिन अपने देश को अमेरिका के प्रभाव में नहीं आने दिया और इसीलिए उन्होंने विश्व साम्यवाद के विस्तार को अवरुद्ध करने की अमेरिकन नीति को बर्मा का समर्थन व सहयोग देने से स्पष्ट इन्कार कर दिया। इसी प्रकार श्री ऊ नू ने एक ओर तो अपने देश के साम्यवादियों के विद्रोह को दबाया और उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता देना स्वीकार नहीं किया और दूसरी ओर विभिन्न साम्यवादी देशों से आर्थिक व अन्य प्रकार

की सहायता भी प्राप्त की। श्री ऊनू ने उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद और साम्यवाद सभी की खुलकर निन्दा की। उनके नेतृत्व में बर्मा ने इण्डोनेशिया के राष्ट्रवाद और हिन्द-चीन में हो ची मिन्ह के अनुयायियों का समर्थन किया। श्री ऊनू ने इस बात का पूरा प्रयास किया कि उनका देश विभिन्न राष्ट्रों की पारस्परिक मैत्री और शांतिपूर्ण सह अस्तित्व का एक प्रमुख प्रवक्ता बन जाए।

ऊनू सरकार ने न केवल राजनीतिक क्षेत्र में दृढ़ता और सूझ-बूझ का परिचय दिया बल्कि आर्थिक क्षेत्र में भी उसने कुछ क्रांतिकारी कदम उठाए। दुर्भाग्यवश देश की आर्थिक स्थिति को स्थिरता प्रदान न की जा सकी और ऊनू सरकार की उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नीति ने जनता में असन्तोष पैदा कर दिया। अपनी सरकार के प्रति बढ़ते हुए असन्तोष को देखकर श्री ऊनू ने अक्टूबर १९५८ को यह अप्रत्याशित घोषणा की कि वह बर्मा के प्रधान सेनापति जनरल ने विन (General Ne Win) को स्थाई तौर पर सत्ता सौंप रहे हैं और उनसे निर्दलीय सरकार की स्थापना करने के लिए कह रहे हैं।

श्री नेविन यद्यपि एक सैनिक अधिकारी थे किन्तु उन्होंने भी बर्मा को शांति और सह-अस्तित्व की नीति पर ही आगे बढ़ाया तथा इस बात की पूरी चेष्टा की कि विभिन्न राष्ट्रों से बर्मा के जो भी विवाद हों उन्हें शांतिपूर्ण ढंग से सुलझा लिया जाये। इसी भावना से प्रेरित होकर अक्टूबर १९५९ में उन्होंने कराची की यात्रा की ताकि बर्मा और पूर्वी पाकिस्तान के सीमा विवाद का निपटारा हो सके और नदी-जल सम्बन्धी समस्याओं के बारे में बात की व्यवस्था की जा सके। श्री नेविन की इस यात्रा का परिणाम सुखद ही निकला। श्री नेविन के समय में ही चीन और बर्मा के सीमा विवाद का समाधान हुआ। फरवरी १९६० में सोवियत प्रधान मंत्री श्री ख्रुश्चेव की बर्मा भारत और इण्डोनेशिया की भावी यात्रा को ध्यान में रखते हुए चीनी सरकार ने जनवरी १९६० में ही श्री नेविन को इसलिए पेकिंग में आमंत्रित किया कि दोनों देशों के मध्य चल रहे सीमा-विवाद का हल खोजा जा सके। सम्भवतः वे चाऊ सोवियत प्रधान मंत्री को चीन के शांतिपूर्ण इरादों के प्रति आश्वस्त करना चाहते थे। श्री नेविन की पेकिंग यात्रा के फलस्वरूप २८ जनवरी १९६० को बर्मा और चीन के मध्य एक मैत्री एवं अनाक्रमण समझौता सम्पन्न हुआ और इस तरह लम्बे समय से चला आ रहा सीमा विवाद सुलझा लिया गया।

श्री ऊनू के पद-त्याग के समय लोगों ने यही अनुमान लगाया था कि दक्षिण-एशिया का एक और देश जनरल नेविन के नेतृत्व में सैनिक तानाशाही का शिकार हो गया है। उन्हें यह आशा नहीं थी कि बर्मा में पुनः लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था की स्थापना हो सकेगी। परंतु आशा के विपरीत जनरल नेविन ने फरवरी १९६० में चुनाव कराए। चुनावों में श्री ऊनू की पार्टी ने प्रचंड बहुमत प्राप्त किया। परिणाम स्वरूप श्री ऊनू एक

बार फिर बर्मा के प्रधान मंत्री बने। जनरल नेविन अथवा सेना ने इस ... कोई आपत्ति नहीं की।

ऊ नू ने अपने नये शासन काल में साम्यवादियों का दमन करने और कारेन विद्रोहियों को कुचलने में उल्लेखनीय सफलतायें प्राप्त की और प्रशासन भी पहले से अधिक सुव्यवस्थित और सक्षम हो गया। विदेश नीति के क्षेत्र में भी ऊ नू की मान्यतायें पहले वाली ही रहीं। अगस्त १९६१ में जर्मन प्रजातन्त्रीय गणराज्य के साथ वाणिज्य दूत सम्बन्ध स्थापित किये गये परन्तु बर्मा सरकार ने घोषणा की कि इसका अर्थ कूटनीतिक मान्यता नहीं माना जायगा।

जून १९६१ में बर्मा में तब कुछ संकट पैदा हो गया जब शान राज्य के नेताओं ने यह आवाज बुलन्द की कि बर्मा में एक संघ राज्य की स्थापना की जाय जिसमें सभी प्रान्त स्वतन्त्र रहते हुए केन्द्रीय सरकार का मिल कर गठन करें। इसका स्पष्ट अर्थ था कि केन्द्रीय सरकार केवल उनका संगठन मात्र रह जाये। ऊ नू की पार्टी में इस प्रश्न को लेकर फूट पड़ गई और ऊ नू के समर्थक कमजोर पड़ते गए। दूसरी ओर ऊ नू की सरकार की आयात व्यापार के राष्ट्रीयकरण करने की नीति से बर्मा के व्यापारी वर्ग भी असन्तुष्ट हो उठा था और तब सहसा ही २ मार्च १९६२ को प्रातःकाल संसार यह समाचार सुनकर स्तब्ध रह गया कि बर्मा में सैनिक क्रांति हो गई है और जनरल नेविन के नेतृत्व में बर्मा की सेना ने एक रक्तहीन क्रान्ति के बाद देश के शासन को अपने कब्जे में ले लिया है।

वास्तव में १९५८ से ही इस बात के स्पष्ट आभास मिल रहे थे कि बर्मा में संसदीय ढंग की सरकार ठीक प्रकार नहीं चल पा रही है। 'एन्टी फासिस्ट पीपुल्स फ्रीडम लीग' या 'एफ्पल' (A F P F L) में फूट पड़ने के उपरान्त उसका स्थान लेने के लिये उतना ही प्रभावशाली अन्य कोई दल सामने नहीं आया था। जनता में भी काफी राजनीतिक जागृति आ चुकी थी और वह दूसरे प्रकार का प्रगतिशील तथा दूरदर्शी नेतृत्व चाहती थी। जनरल नेविन ने पहले के अपने अन्तःकालीन शासन काल में जनता का काफी आदर पाया था। अत उपयुक्त अवसर पाकर ऊ नू के नेतृत्व को उखाड़ फेंकना उनके लिये कठिन नहीं हुआ। श्री ऊ नू और उनके मंत्रिमण्डल के सभी मंत्री गिरफ्तार या नजर बंद कर लिये गये और देश का शासन चलाने के लिये ८ सदस्यों की क्रांतिकारी परिषद की स्थापना भी की गई। यह कहा गया कि सेना के इस कदम का उद्देश्य उन परिवर्तनों को रोकना था जिनकी योजना शान अलगावादियों द्वारा की गई थी।

मार्च १९६२ से बर्मा का शासन जनरल नेविन के नेतृत्व में चल रहा है। इनके नेतृत्व में भारत और बर्मा के सम्बन्ध उत्तरोत्तर मधुर होते गये हैं। दिसम्बर १९६५ में स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री शास्त्री जनरल नेविन ...

करने के लिये रंगून गये थे और दोनों ही नेताओं ने बर्मा व भारत के भौगोलिक ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक सम्बन्धों पर जोर दिया था और आशा प्रकट की थी कि ये दोनों देश एशिया तथा संसार में शांति बनाये रखने में सहयोग करते रहेंगे। दोनों नेताओं की यह आशा अब तक फलीभूत हुई है और भविष्य में भी फलीभूत होती रहेगी यद्यपि प्रवासी भारतीयों की समस्या को लेकर कभी-कभी वातावरण में कुछ कटुता आ जाती है किन्तु यह समस्या भी अन्तिम रूप से शीघ्र ही समाप्त हो जायगी ऐसी आशा हमें करनी चाहिये। बर्मा के विश्व के अन्य राष्ट्रों से भी अच्छे सम्बन्ध हैं। वह आज भी सैनिक गठबन्धनों से दूर है और एशिया की स्वाधीनता का समर्थक है।

बर्मा-चीन-विवाद, १९६७

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि विगत कुछ वर्षों से बर्मा और साम्यवादी चीन के सम्बन्ध सामान्यतः मित्रतापूर्ण चले आ रहे थे किन्तु जून-जुलाई १९६७ में तमगों के प्रश्न पर लड़ाई मोल लेकर साम्यवादी चीन ने एक बार फिर यह प्रकट कर दिया है कि वह संघर्ष प्रिय है और मैत्री का उसकी दृष्टि में कोई मूल्य नहीं है। झगड़े का कारण भी बड़ा मामूली था है। 'रंगून के दो स्कूलों में चीनी विद्यार्थी माओ के तमगे लटका कर गये। स्कूल के अधिकारियों ने इस पर आपत्ति की। इस पर चीनी विद्यार्थी उत्तेजित पड़े। अधिकारियों ने स्कूल बंद करने के आदेश जारी किये। (यहां यह बात ध्यान रखने की है कि चीन सरकार अपने देश में विदेशी स्कूलों को चलाने की अनुमति नहीं देती। इसके अलावा उन्होंने पिछले वर्ष उन सभी विदेशी छात्रों को अपने घर की राह लेने को कहा था जो चीन में पढ़ते थे। इसके प्रतिकूल बर्मा में ३० चीनी स्कूल हैं। जब चीनियों ने ज्यादा हाय-तोबा मचानी शुरू की तो बर्मी छात्रों ने कहा कि अगर आपको हमारी नीति मंजूर नहीं तो आप चीन की राह लें। इस पर उन्होंने कई अध्यापकों को जिनमें एक अध्यापिका भी थी स्कूल के कमरे में बन्द कर दिया। चीनी विद्यार्थियों ने बर्मी छात्रों के साथ और भी तरह तरह की बद दिमागी और बदमिजाजी का परिचय दिया। इस पर पुलिस आई और तब जाकर अध्यापकों का निजात मिली। इस समय तक चीनियों की इन हरकतों की खबर रंगून के अलावा अन्य शहरों में भी फैल गई। वातावरण बड़ा तनावपूर्ण हो गया। देखते देखते छात्रों के झगड़े ार दो देशों की मित्रता पर बन गई। कुछ बर्मी प्रदर्शनकारियों ने बर्मा स्थित चीनी दूतावास को घेर लिया। गोलीबारी शुरू हुई। १७ लोग हताहत हुए। तीन चीनी इमारतों ११ कारों तथा २ अन्य गाड़ियों को स्वाहा कर दिया गया। रंगून में कर्फ्यू लग गया। जब इससे भी स्थिति शान्त न हुई तो मार्शल ला की घोषणा की गई। आगजनी गोलीबारी का दौर जरूर समाप्त हो गया है लेकिन आरोपों-प्रत्यारोपों के घोड़े बड़े जोर से दौड़ रहे हैं। चीन सरकार ने स्थिति की गम्भीरता को देखते हुए अपने राजदूत को बर्मा न भेजने का निर्णय ले रोष प्रकट किया। स्थिति को सुलझाने के लिए चीन सरकार ने बर्मा से एक पांच-सूत्रीय कार्यक्रम पर अमल करने की मांग की है। इसके अनुसार बर्मा (१) अपराधियों को दंड दे (२) चीन अधिकारों के

लोग मरे या जख्मी हुए हैं, उनको राहत दे। (३) सार्वजनिक रूप से चीन से माफी मांगे (४) चीनी दूतावास के कर्मचारियों तथा एजेंसियों के संरक्षण की गारंटी दे और (५) चीनियों के खिलाफ 'फासी नीतियों' पर तुरन्त अंकुश लगाये। इसके अलावा चीन ने कहा है कि चीन पर लगाये गये बर्मी के झूठे आरोप मनगढ़न्त हैं कि बर्मा में बहुत दिनों से असन्तोष का वातावरण व्याप्त है जिससे सरकार ने लोगों का ध्यान दूसरी तरफ खींचने के लिए यह चीन विरोधी अभियान छेड़ा है।" चीन सरकार का कहना है कि बर्मा ने एक ऐसी चट्टान को हिलाया है जिसके नीचे खुद बर्मा दब कर रह जायेगा। शायद चीन सरकार यह भूल कर रही है कि अगर बर्मा अपनी ही खिसकाई हुई चट्टान के नीचे दब सकता है तो उन लगभग चार लाख चीनियों का क्या हाल होगा जो बर्मा में व्यापार करते हैं। (साप्ताहिक दिनमान जुलाई, १९६७)

थाईलैण्ड (Thailand)

दक्षिण-पूर्वी एशिया के महत्वपूर्ण देशों में थाईलैंड का नाम आता है क्योंकि इस क्षेत्र के मध्य में इसका भौगोलिक स्थान है। पहले इसका नाम स्याम (Siam) था लेकिन १९३९ में इसे बदलकर थाईलैंड कर दिया गया जिसका अर्थ स्वतन्त्र लोगों का देश है। बाद में राष्ट्रीय प्रतिष्ठा की भावना से प्रेरित होकर इसका नाम १९४५ में फिर स्याम कर दिया गया किन्तु १९४९ में पुनः इसका नाम थाईलैंड कर दिया गया।

प्राचीनकाल से भारतीय सभ्यता और संस्कृति के क्षेत्र इस प्रदेश के पश्चिम में बर्मा, दक्षिण में मलाया प्रायद्वीप तथा उत्तर पूर्व में हिन्द चीन स्थित है। थाईलैण्ड ने दो साम्राज्यवादी राष्ट्रों बर्मा व मलाया में ब्रिटेन तथा हिन्द-चीन में फ्रांस-के मध्य एक बफर स्टेट (Buffer State) के रूप में काम किया। यह देश अपनी स्वाधीनता को सुरक्षित रखने में सफल रहा क्योंकि फ्रांस और इंग्लैण्ड एक-दूसरे को इसकी भूमि पर कब्जा जमाने का मौका ही नहीं देते थे। परन्तु फिर भी इसे अपनी भूमि के कुछ महत्वपूर्ण भाग इन दोनों शक्तियों को प्रदान करने पड़े। पड़ोसी उपनिवेश राज्यों का राजनैतिक और आर्थिक जीवन का भी इस पर व्यापक प्रभाव पड़ता रहा। आर्थिक असन्तुलन के कारण ही यहां बराबर राजनैतिक उथल पुथल होती रही। १९३२ में यहां के तत्कालीन राजा के विरुद्ध सफल रक्तहीन क्रांति हुई और राजा के भतीजे आनन्द को सिंहासन पर बिठाया गया। जून १९४० में थाईलैण्ड ने जापान के साथ एक शांति और मैत्री संधि की जिसके अनुसार दोनों देशों ने एक दूसरे की प्रादेशिक संप्रभुता का आदर करने तथा किसी ऐसे तीसरे राज्य को सहायता न देने का वचन दिया जो उनमें से किसी पर आक्रमण करे।"

दिसम्बर १९४१ में थाईलैण्ड ने धुरी राष्ट्रों (Axis Powers) के साथ सैनिक गठबन्धन किया और इसके तुरन्त बाद जनवरी १९४२ में ब्रिटेन

व अमेरिका के विरुद्ध युद्ध घोषणा कर दी। किन्तु सन् १९४३–४४ में ही जापान की गतिविधियों से थाईलैण्ड का उसकी मित्रता में विश्वास समाप्त हो गया और २ जुलाई १९४४ को नाई प्रीदी (Nai Pridi) के नेतृत्व में जापान विरोधी सरकार स्थापित हो गई। जापान समर्थक मार्शल फिबुन (Phibun) को सत्ताच्युत कर के जेल में डाल दिया गया। किन्तु १९४७ में मार्शल फिबुन जेल से भाग कर सत्ता के फिर से हथियाने में सफल हो गया। राजा फूमी फान अदुल्येत (Phumiphon Adundet) को जो राजा आनन्द की मृत्यु पर जून १९४६ में सत्तारूढ़ हुआ था संविधान के अन्तर्गत एक वैधानिक राज्याध्यक्ष (Constitutional Head of the State) बना दिया गया। १९५८ में थाईलैण्ड के सेनापति मार्शल सरित थनरत ने सरकार का तख्ता पलट दिया १९५२ का संविधान स्थगित कर दिया और वहां के सम्राट से अन्तरिम संविधान की घोषणा करके भी सरित को वहां का प्रधान मंत्री बना दिया। दिसम्बर १९६३ में सरित का देहान्त हो गया। उनके बाद जनरल थानम प्रधान मंत्री नियुक्त हुए।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में थाईलैण्ड

जापान के आत्मसमर्पण करने के पश्चात् थाईलैण्ड और ग्रेट ब्रिटेन में १ जनवरी १९४६ को एक संधि हुई जिसके अन्तर्गत थाईलैण्ड ने वे सब भूप्रदेश इङ्गलैण्ड को वापिस कर दिये जिन पर उसने ७ दिसम्बर १९४७ के बाद कब्जा कर लिया था। इसके अतिरिक्त थाईलैण्ड द्वारा यह भी निश्चय किया गया कि टीन, रबर टीक-लकड़ी और १२ लाख टन चावल वह ब्रिटेन को मुफ्त प्रदान करेगा। नवम्बर १९४६ में फ्रांस और थाईलैण्ड के मध्य संधि हुई जिसके द्वारा दोनों ने पारस्परिक युद्ध स्थिति को समाप्त करने की घोषणा की और थाईलैण्ड ने फ्रांस को हिन्द-चीन का विवादपूर्ण प्रदेश वापिस कर दिया। चीन के साथ अपने विवादों का समाधान भी उसने इसी प्रकार शांतिपूर्ण ढंग से कर लिया। २९ अप्रैल १९४७ को थाईलैण्ड संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बनाया गया।

अमेरिका का थाईलैण्ड के प्रति व्यवहार पहले से ही नम्र रहा था किन्तु जब मार्शल फिबुन ने सत्ता हथियाने के बाद विदेश मामलों में प्रत्यक्ष रूप से साम्यवाद विरोधी मनोवृत्ति व्यक्त की तो उसने थाईलैण्ड के साथ और भी अधिक मैत्रीपूर्ण व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया। थाईलैण्ड ने वियतनाम की बाओदाई सरकार को मान्यता प्रदान की और बाद में १९५० में कोरियाई युद्ध में संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही में सहायता देने के लिए अपनी एक छोटी सी सैनिक टुकड़ी भेजी। इन सहयोग सूचक कार्यों ने अमेरिका में थाईलैण्ड के प्रति गहरी सहानुभूति पैदा कर दी और उसने इसे प्रभूत आर्थिक सहायता दी। साम्यवादी खतरे का मुकाबला करने के लिए भारी मात्रा में सैनिक सहायता भी प्रदान की गई। वास्तव में वियतनाम में चीनियों की उपस्थिति से और हिन्द चीन लाओस व कम्बोडिया में 'वियतमिन्ह छापामारों' की गतिविधियों से अमेरिका बहुत चिन्तित हो गया।

थाईलैण्ड द्वारा साम्यवाद विरोधी नीति ग्रहण करने के फलस्वरूप इसे साम्यवादी देशों की सहानुभूति नहीं मिली और पड़ोस के साम्यवादियों के प्रकोप का भय पैदा हो गया। साम्यवाद के आक्रमण के भय से उसने सीटो का सदस्य बन जाना उचित समझा अत जब सितम्बर १९५४ में अमेरिका ब्रिटेन फ्रांस, आस्ट्रेलिया न्यूजीलैण्ड पाकिस्तान और फिलिपाइन्स ने सीटो संधि पर हस्ताक्षर किये तो थाईलैण्ड ने भी उनका साथ दिया और इस तरह साम्यवादी आक्रमण का सामना करने के लिए स्वयं को एक सैनिक संधि में आबद्ध कर लिया। बर्मा के साथ थाईलैण्ड के पहले से अच्छे सम्बन्ध न थे किन्तु इस समय तक दोनों देशों ने अपने सम्बन्धों को मधुर बना लिया।

फरवरी १९५५ में सीटो राष्ट्रों के विदेश मन्त्रियों ने बैंकाक में थाईलैण्ड के राजकुमार वानवैथा योकन (Prince Wan Waitha Yakon) की अध्यक्षता में वार्ता कर के बैंकाक में एक सचिवालय स्थापित करने का निश्चय किया। साम्यवादी विश्व की दृष्टि में थाईलैण्ड पिट्ठू अमेरिकन साम्राज्यवाद का आज्ञाकारी कुत्ता' और 'जनता का विश्वासघाती बन गया।

अमेरिका समर्थक थाईलैण्ड सरकार ने इजराइल के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए। २८ अगस्त १९५८ को पाकिस्तान के साथ भी एक मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किये गये। कम्बोडिया के साथ नवम्बर १९५८ में तोड़े गये राजनीतिक सम्बन्ध १९६१ में पुन जोड़ लिये गये अगस्त १९६० में लाओस में सैनिक क्रान्ति हो जाने के बाद उसके साथ थाईलैण्ड के सम्बन्ध बिगड़ गये। मार्च १९६२ में लाओस में तीनों राजकुमारों की संयुक्त सरकार स्थापित करने सम्बन्धी वार्ता भंग हो गई तो लाओस के साम्यवादियों ने युद्ध विराम संधि की अवहेलना करके पुन आक्रमण कर दिया। साम्यवादी थाईलैण्ड की सीमा की ओर भी बढ़े। आक्रमण की सम्भावना से आतंकित होकर थाईलैण्ड ने सीटो संधि के अन्तर्गत अमरिका से सैनिक सहायता देने की माँग की। अमेरिका द्वारा इस अनुरोध को स्वीकार करते हुए, अपने लगभग ५,००० सैनिक थाईलैण्ड में उतार दिये गये और एक लड़ाकू हवाई टुकड़ी भी भेज दी गई। बाद में लाओस में तटस्थ सरकार की स्थापना और युद्ध विराम हो जाने पर यह सेना हटा ली गई। अमेरिका की इस कार्यवाही की अनेक एशियाई देशों विशेष रूप से साम्यवादी देशों ने कटु आलोचना की और उस पर एशिया को युद्ध के कगार की ओर ठेलने का आरोप लगाया। सोवियत प्रधान मन्त्री ने थाईलैण्ड में अमेरिकन सेनाओं के उतारे जाने की तुलना कोरिया में अमरिकन सैनिकों के आगमन से की और इसे अमेरिका का एक दुष्टतापूर्ण काम बताया।

थाईलैण्ड में चीनियों की पर्याप्त संख्या है अत संयुक्त राज्य अमरिका इसके साम्यवादी देश बनने के डर से इसे अब तक आर्थिक सहायता देता आ रहा है। थाईलैण्ड की नीति भी अभी तक पश्चिमी देशों से मिलकर चलने की रही है और यह प्रमुखत अमेरिका की नीतियों पर ही अवलम्बित है।

थाईलैण्ड दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्य लघु काय मुल्कों की तरह आज एक संभावित विस्फोट का केन्द्र बना हुआ है। छापामार युद्ध की ज्वालामुखी के मुंह पर खड़ा एशिया का यह विक्षुब्ध भूभाग कभी भी भयानक और निर्णायक शक्ति-परीक्षण का अखाड़ा बन सकता है। दक्षिण वियतनाम का छापामार युद्ध अब तृतीय महायुद्ध की संभावनाएं सेता आ रहा है। थाई देश में भी ऐसी ही आग के धधकने के समाचार मिलने लगे हैं। दक्षिण पूर्वी एशिया की राजनीति के विशेषज्ञों ने कहना शुरू कर दिया कि थाई देश भी अब दक्षिण वियतनाम के रास्ते पर चलने लगा है। उत्तर-पूर्व के ग्राम के सघन खेतों में जहां जाकर सभी रास्ते समाप्त हो जाते हैं और जहां राहगीरों को नये रास्ते नजर नहीं आते छापामारों ने एक नई साजिश का सिलसिला शुरू कर दिया है जो १९५४ की जेनेवा संधि के कुछ वर्षों बाद के पश्चात् दक्षिण वियतनाम में छापामारों की साजिश से बहुत कुछ मिलती जुलती है। अमेरिका इस स्थिति से कितना परेशान है इसका कुछ अन्दाजा तो इसी से लग जाता है कि अभी से थाई देश में उसने १५ हजार सैनिक तैनात कर रखे हैं। यह सच है कि अधिकतर सैनिक वहां थाई छापामारों से हाथापाई न कर के उत्तर वीयतनाम की बम वर्षा में भाग लेते हैं लेकिन जैसे-जैसे थाई देश में कम्युनिस्ट छापामारों की विस्फोटात्मक गति बढ़ती जा रही है उनकी भूमिका भी महत्वपूर्ण होती जा रही है। विचारशील अमेरिकी नेता इस बात से कितने चिन्तित हैं इसका थोड़ा सा एहसास तो सेनेटर मैंसफिल्ड के उस कथन से ही हो जाता है जिसमें उन्होंने थाई देश को हिन्द-चीन का छोटा वीयतनाम कहा है। अमेरिकी संसद के रिपब्लिकन नेता लेयर्ड को अभी से यह संदेह होने लगा है कि थाई देश में छापामार युद्ध धीरे धीरे अपने पहले दौर से बाहर निकलने लगा है और गृह युद्ध का रूप लेता जा रहा है। उदारवादी अमेरिकी जो नहीं चाहते कि अमरिका अपने आपको दुनियां की पुलिस की भूमिका में पेश करे, जानना चाहते हैं कि थाई देश में अमेरिका का उद्देश्य अन्ततः क्या है?

पहला दौर—थाई देश दक्षिण पूर्वेशिया में अमेरिका के सर्वाधिक विश्वसनीय सहचर राष्ट्रों में से है। जब थाई सरकार ने यह घोषणा की कि हम एक हजार सैनिक दक्षिण वीएतनाम में भेजने जा रहे हैं तो अमेरिका को बेहद खुशी हुई थी। अमेरिका थाई देश को प्रतिवर्ष जो १० करोड़ डालर की सहायता दे रहा है उसमें ६ करोड़ डालर की केवल सैनिक सहायता दी जाती है। शुरू में थाई देश वीयतनाम युद्ध में अमेरिका को अपना नैतिक समर्थन देकर ही अपने को सन्तुष्ट समझता था लेकिन कुछ सप्ताह पूर्व थाई देश स्थित अमेरिकी राजदूत ने घोषणा की कि अमेरिका बी-५२ बम वर्षक जहाज अब पांच हजार मील की लम्बी दूरी न तय कर के उत्तर वीएतनाम पर बमवर्षा के बाद सीधे थाईदेश के अमेरिकी अड्डे पर विश्राम करेंगे। राजनीतिक पर्यवेक्षकों का कहना है कि थाई देश की सरकार के लिए छापामारों से निपटना दिनों दिन कठिन होता जा रहा है और वीएतनाम युद्ध में उसने सैनिक भेजने का जो निश्चय किया है उसका प्रमुख कारण आन्तरिक ही है। थाई सरकार अमरीका से अधिक से अधिक सैनिक सहायता

चाहती है। सुरक्षा मंत्री मैकनमारा और थाई सरकार के बीच नयी जानकारी के बाद अमेरिकी सैनिक सहायता की मद में दो करोड़ डालर की वृद्धि से भी वह सन्तुष्ट नहीं है। इस तरह अमेरिका धीरे-धीरे थाई देश की आन्तरिक राजनीति में उलझता जा रहा है। मसलन दिसम्बर के महीने में अमेरिकी अधिकारियों ने स्वीकार किया कि अमेरिकी हेलिकाप्टर-चालक थाई सैनिकों को न केवल छापामारों से निपटने के लिए प्रशिक्षण दे रहे हैं बल्कि मुठभेड़ में उनके साथ भाग भी ले रहे हैं। हाल के कुछ महीनों में थाई सैनिकों को छापामार युद्ध में दीक्षित करने के लिए विशेष अमेरिकी सैन्य टुकड़ियां भी थाई देश रवाना की गयी।

अमेरिकी सैनिक सलाहकार थाई देश से छापामार युद्ध की सम्भावनाओं को शुरू से ही खत्म कर देना चाहते हैं क्योंकि उन्हें भय है कि आगे चल कर हनोई और पीकिंग की गुप्त मदद से थाई छापामार भी उनकी नींद हराम कर सकते हैं। ऊपर से शांत दीखने वाला थाई देश अन्दर से कितना अशान्त है इसका कुछ अन्दाजा गत नवम्बर की उस सरकारी घोषणा से लग जाता है जिसमें कहा गया है कि १९६६ में सरकारी सेना से मुठभेड़ में १५० कम्युनिस्ट छापामार मारे गये २०० गिरफ्तार किये गये और दो हजार ने आत्म समर्पण किया। थाई राज की स्थिति दिनों-दिन कितनी बिगड़ती जा रही है इसकी कुछ झलक यहां के गृहमंत्री के इस कथन से भी मिलती है कि छापामारों को नियन्त्रित करने के लिए सरकार अपनी आय का बहुत बड़ा भाग खर्च कर रही है। गत वर्ष अकेले अन्तर्राष्ट्रीय विकास की अमेरिकी एजेंसी ने १ करोड़ ७० लाख डालर छापामारों की बाढ़ रोकने में लगा दिये। जब तक हनोई वीएतनाम युद्ध में फंसा हुआ है तब तक थाई देश के कम्युनिस्ट छापामारों की वह उतनी मदद नहीं कर सकता जितनी कि छापामार युद्ध के दूसरे दौर में प्रवेश करने के लिए जरूरी है। लेकिन थाई देश में कम्युनिस्ट छापामारों की तोड़-फोड़ की कार्यवाहियों में जिस तेजी से वृद्धि हो रही है उसे देखते हुए यह शंका निरर्थक नहीं लगती कि थाई देश में आगे चल कर अमेरिका को एक दूसरे वीएतनाम का सामना करना पड़ सकता है। (साप्ताहिक दिनमान फरवरी १९६७)

लाओस
[Laos]

लाओस हिन्द चीन प्रायद्वीप का एक देश है। हिन्द चीन मलाया प्रायद्वीप के उत्तर तथा थाईलैण्ड के दक्षिण में स्थित एक दक्षिण पूर्वी एशियाई प्रदेश है जिसमें लाओस कम्बोडिया व वियतनाम सम्मिलित हैं। सामरिक दृष्टि से दक्षिण-पूर्वी एशिया में लाओस की भौगोलिक स्थिति अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है। हिन्द चीन प्रायद्वीप के मध्य गलियारे का निर्माण करने वाले इस देश की सीमायें साम्यवादी चीन साम्यवादी उत्तरी वियतनाम वियत-नाम गणतन्त्र (दक्षिणी वियतनाम) कम्बोडिया थाईलैण्ड और बर्मा की सीमाओं से मिली हुई हैं। इस देश का कुल क्षेत्रफल ८९,००० वर्ग मील और जनसंख्या लगभग ३० लाख है। इसके अधिकांश भाग में

पहाड़ियां और जंगल छाये हुए हैं। यहां के लोगों में अनेक जातियों के लोग शामिल हैं जो छोटे-छोटे आत्म-निर्भर समुदायों में विभाजित हैं।

लाओस में तीन दल होने के कारण स्थिति बड़ी जटिल है। ये तीन दल इस प्रकार हैं—(१) साम्यवादियों के नेतृत्व में पाथेट लाओ दल (Pathet Lao) इसके नेता राजकुमार सुफानो वोंग हैं। (२) राजसत्तावादी (Royalists) इनके नेता बौम बौम हैं। (३) तटस्थतावादी (Neutralists) इनके नेता राजकुमार सौवन्ना फौमा हैं।

लाओस पर पहले फ्रांस का अधिकार था किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद यह एक सर्वोच्च सत्ता सम्पन्न राष्ट्र बन गया। स्वर्गीय सम्राट सिसावोंग के शासन के अन्तर्गत ११ मई १९४७ को यहां एक संवैधानिक राजतन्त्र की स्थापना हुई। १९ जुलाई १९४९ को लाओस को फ्रांसीसी संघ के अन्तर्गत वैधानिक रूप से स्वतन्त्र देश बना दिया गया। किन्तु युवराज सुफानो वोंग के नेतृत्व में एक साम्यवादी समर्थक अल्पसंख्यक दल ने इस व्यवस्था को मानने से इन्कार कर दिया। उसने 'पाथेट लाओ' या लाओ भूमि नामक आन्दोलन संगठित किया और उत्तरी वियतनाम के साम्यवादियों के साथ मिल कर यह कार्यवाही करने लगा। पाथेट लाओ की सेनाओं ने १९५३ और १९५४ के प्रारम्भ में अनेक सशस्त्र आक्रमण किए। अन्त में ११ जुलाई १९५४ को जेनेवा में हुए समझौते के अन्तर्गत लाओस राज्य की सर्वोच्च प्रभुत्व सम्पन्न स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की गई। इसमें यह विचार निहित था कि १९५४ के निर्वाचन द्वारा निर्मित होने वाली राष्ट्रीय सरकार में पाथेट लाओ विद्रोहियों को भी शामिल कर लिया जायगा।

किन्तु पाथेट लाओ दल ने निर्वाचन का बहिष्कार किया और अपनी सैन्य शक्ति को बढ़ाना और सुदृढ़ करना प्रारम्भ कर दिया। पाथेट लाओ ने सैम-नुआ और फोंगसैली नामक दो उत्तरी प्रांतों को अपना अड्डा बनाया। पाथेट लाओ ने तोड़-फोड़ की और अन्य हिंसात्मक कार्यवाहियां जारी रखीं।

९ अगस्त १९६० को छतरीधारी सेना के एक वामपंथी कमांडर कैप्टन कोंगली ने लाओस सरकार को अपदस्थ कर दिया। उसने देश में 'तटस्थता की स्थापना' और साम्यवादियों के साथ शांति संधि करने का संकल्प व्यक्त किया। तटस्थतावादी नेता राजकुमार सौवन्ना फौमा (अथवा सुवन्न फौमा) के नेतृत्व में एक तटस्थ सरकार स्थापित की गई। परन्तु जनरल फौमी नौसावान के नेतृत्व में सशस्त्र सेनाओं ने उसका विरोध किया। दिसम्बर १९६० में फौमी नौसवान ने लाओस की प्रशासनिक राजधानी वियेन तियेन पर अधिकार कर लिया और सौवन्न फौमा की तटस्थ सरकार को निकाल बाहर किया। सम्राट सावंग वाथन्ना ने युवराज बोन औम को जनरल नौसवान समर्थक नई सरकार का प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। ४ जनवरी १९६१ को इस सरकार के प्रति राष्ट्रीय असेम्बली में विश्वास प्रस्ताव पारित

कर दिया। इधर अपदस्थ राजकुमार सोवन्ना अथवा सुवन्न फौमा ने साम्यवादी समर्थक दल पाथेट लाओ से मिल कर बौन-ओम की सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। अन्त में ३ मई १९६१ में युद्ध-विराम समझौता हो जाने पर यह लड़ाई बन्द हुई। इसी माह लाओस की समस्या पर विचार करने के लिए १४ राष्ट्रों का एक सम्मेलन जेनेवा में शुरू हुआ जिसमें लाओस तथा कम्बोडिया में लड़ाई खत्म करने और अन्तर्राष्ट्रीय आयोग की देख रेख में आम चुनाव आयोजित करने के लिए समझौते किये गये।

जून १९६१ में राष्ट्रपति कैनेडी और प्रधानमन्त्री ख्रुश्चेव ने वियना में हुई अपनी भेंट के अवसर पर तटस्थ और स्वतन्त्र लाओस की स्थापना की आवश्यकता पर मतैक्य व्यक्त किया। इस समझौते के आधार पर जेनेवा में लाओस के लिए एक संयुक्त सरकार की योजना तैयार की गई जिसमें राजभक्त लाओस सरकार, तटस्थ गुट और पाथेट लाओ तीनों ही को प्रतिनिधित्व प्राप्त था। संयुक्त सरकार के स्वरूप निर्माण के सम्बन्ध में वार्ता शनै: शनै: प्रगति करती रही और अन्त में जून १९६२ में लाओस के तीनों राजकुमारों में लाओस में एक तटस्थ सरकार की स्थापना करने के बारे में समझौता हुआ। परिणामस्वरूप २३ जून १९६२ को लाओस में संयुक्त सरकार की स्थापना हुई। तत्पश्चात् २ जुलाई १९६२ को जेनेवा सम्मेलन की बैठक पुनः बुलाई गई और उसमें लाओस की तटस्थता की गारन्टी प्रदान की गई। जिस तटस्थ लाओस-सरकार की स्थापना हुई उसमें तटस्थतावादी राजकुमार सुवन्न फौमा को प्रधानमन्त्री बनाया गया। लाओस के तटस्थतावादी घोषणापत्र में बताया गया कि लाओस की सरकार आन्तरिक मामलों में किसी भी विदेशी सत्ता का हस्तक्षेप स्वीकार नहीं करेगी। इसके अतिरिक्त घोषणा पत्र में निम्नलिखित बातें और कही गईं—

(i) अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के ५ सिद्धान्तों का पालन किया जायेगा तथा लाओस की स्वतन्त्रता व सार्वभौमिकता के प्रति आदर एवं समानता के आधार पर सभी राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित होंगे व कूटनीतिक सम्बन्धों में रुचि होगी।

(ii) लाओस की जनता की इच्छा के अनुरूप लाओस की स्वतन्त्रता, सार्वभौमिकता तटस्थता और क्षेत्रीय एकता के प्रति आदर बनाए रखा जाएगा।

(iii) अन्य राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं किया जाएगा और न ही धमकी या बल प्रयोग को समर्थन दिया जाएगा।

(iv) तटस्थतावादी नीति के लिए खतरा पैदा करने वाला कोई सैनिक या असैनिक समझौता नहीं किया जायगा और न ही लाओस में विदेशी सैनिक अड्डे बनाने की अनुमति दी जायगी।

(v) किसी भी देश को दूसरे देश के विरोध में लाओस की भूमि पर सैनिक शक्ति का प्रयोग करने या विदेशी मामलों में हस्तक्षेप करने की अनुमति नहीं दी जायगी। साथ ही किसी भी देश को सहायता देने के

लिए सैनिक संगठन को भी मान्यता नहीं दी जायगी जिसमें 'सीटो' भी सम्मिलित है।

(vi) लाओस के अतिरिक्त मामलों में किसी भी विदेशिक शक्ति को हस्तक्षेप करने की अनुमति प्रदान नहीं की जायेगी। विदेशी सैनिक और सैनिक अधिकारी लाओस में नहीं रह सकेंगे।

(vii) प्रत्यक्ष और बिना शर्त सहायता सभी राष्ट्रों से स्वीकार की जायगी। ये देश लाओस को स्वतन्त्र और आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न बनाने के उद्देश्य से जो भी सहायता देंगे उसका स्वागत किया जायेगा।

(viii) शांति और तटस्थतावादी नीति के आधार पर किये गये समझौतों और संधियों का आदर किया जायगा किन्तु इस सिद्धान्त के विरोधी समझौतों का बहिष्कार होगा।

यद्यपि घोषणा-पत्र में निहित सिद्धान्त बड़े उच्च और श्रेष्ठ थे तथा जेनेवा सम्मेलन में किये गये समझौते के अनुसार स्थापित तटस्थ संयुक्त सरकार के स्थाई होने की आशा की जाने लगी थी किन्तु लाओस के भाग्य में स्थाई शांति का आना इतनी जल्दी बदा न था। अतः उपरोक्त समझौते का विधिपूर्वक कभी पालन नहीं किया गया। समझौते के थोड़े समय बाद ही लाओस में एक दक्षिण पंथी सैनिक क्रांति हुई जिसके परिणामस्वरूप दो वामपंथी मन्त्रियों को मन्त्रिमण्डल से निकाला गया। युद्ध विराम की देख रेख के लिए भारत, कनाडा और पोलैण्ड के जिस अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण-आयोग की स्थापना की गई थी वह भी लाओस में शांति स्थापित नहीं रख सका। अप्रेल १९६४ में तटस्थतावादी सेनाओं और पाथेट लाओ सेनाओं में जार के मैदान में युद्ध पुनः प्रारम्भ हो गया। यद्यपि २१ अप्रेल १९६४ को फिर अस्थाई युद्ध विराम हो गया किन्तु युद्ध की चिनगारियाँ रह रह कर भड़क उठती हैं और तटस्थतावादी प्रधानमन्त्री सुवन्न फौमा को पाथेट लाओ के विरुद्ध अमेरिका से सहायता लेने को विवश होना पड़ा है।

आज भी लाओस की स्थिति अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के प्रमुख कारणों में से है। वियतनाम में वियतकाँग की तरह यहाँ पर पाथेट लाओ की सैनिक सफलताओं से संयुक्त राज्य अमेरिका पूर्णतः चिन्तित है और उसने वहाँ हस्तक्षेप करने की धमकी तक दी है। दूसरी ओर फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल का मत है कि लाओस वियतनाम आदि सम्पूर्ण हिन्द चीन की समस्याओं का कोई सैनिक हल सम्भव नहीं है। इन समस्याओं का समाधान तो राजनीतिक आधार पर ही हो सकता है जिसके लिए उन्होंने जेनेवा की तरह का एक सम्मेलन फिर बुलाने का सुझाव दिया है। स्वयं भारत ने भी इसी प्रकार का मत व्यक्त किया है तथा सोवियत संघ भी इसे मानने को राजी है। परन्तु संयुक्त राज्य अमेरिका इस बात के लिए तैयार नहीं है। परिणाम स्वरूप लाओस की स्थिति भी निकट भविष्य में वियतनाम जैसी हो जाय तो कोई आश्चर्य की बात नहीं होगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा जेनेवा सम्मेलन का शायद इसीलिए विरोध किया जा रहा है कि कहीं सम्मेलन में इस बात पर समझौता करना पड़ जाय कि इस क्षेत्र के सभी राज्यों को तटस्थ मानकर उनमें विदेश सेनाओं का प्रवेश नहीं होने दिया जायेगा। संयुक्त राज्य अमेरिका दक्षिण वियतनाम में तटस्थता की स्थिति इसलिए स्वीकार नहीं कर सकता क्योंकि तब दक्षिण वियतनाम अथवा लाओस में साम्यवादियों के शासन की स्थापना हो जाने की निश्चित सम्भावनायें पैदा हो जायेंगी। यदि लाओस व दक्षिणी वियतनाम साम्यवादी शिकंजे में फंस गये तो धीरे-धीरे सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया ही साम्यवादी बन सकता है। संयुक्त राज्य अमेरिका को एक यह कल्पित भय भी है कि लाओस एवं दक्षिण वियतनाम से पीठ मोड़ लेने पर उसे विश्व जनमत के सम्मुख अपमानित होना पड़ेगा।

स्पष्ट है कि महाशक्तियों के द्वन्द्व के कारण आज तक लाओस और वियतनाम की गुत्थियाँ उलझी पड़ी हैं और इनके शीघ्र सुलझने के कोई लक्षण दृष्टिगोचर नहीं हो रहे हैं।

कम्बोडिया (Cambodia)

कम्बोडिया ख्मेर सम्राटों की भूमि अथवा अंगकोर के साम्राज्य के नाम से भी जाना जाता है। कम्बोडिया का प्राचीन ऐतिहासिक विवरण चीन के रिकार्ड में मिलता है। इस रिकार्ड के अनुसार फूनान प्रदेश में भारतवंशीय शासक का उल्लेख आता है। इस फूनान साम्राज्य के उत्तर में लाओस, पूर्व में अनाम (अब वियतनाम) और दक्षिण में थाईलैंड था। इस साम्राज्य में चेनला प्रदेश था जो बाद में काम्बुज कहलाने लगा। यही काम्बुज प्रदेश आज कम्बोडिया का राज्य है। फूनान साम्राज्य का संस्थापक कौण्डिन्य नामक ब्राह्मण था जो सोम नाम से विख्यात था। कुछ इतिहासकार इसी को कम्बोडियन जाति और ख्मेर राज्य का प्रवर्तक मानते हैं। कालान्तर में चेनला प्रान्त (काम्बुज) के शासक ने फूनान से स्वतन्त्र होने की घोषणा कर दी। इसके उपरान्त ख्मेर राजवंश का उदय हुआ जिसके प्रतापी सम्राटों में जयवर्मन द्वितीय और सूर्य वर्मन द्वितीय के नाम सर्वाधिक उल्लेखनीय हैं। सूर्य वर्मन द्वितीय के समय में ही अंगकोर में राजधानी का निर्माण हुआ। इस प्राचीन नगरी के खण्डहर आज भी कम्बोडिया में विद्यमान हैं।

११ वीं शताब्दी के मध्य ख्मेर वंश का पतन हो गया। १३५७ में स्याम (अब थाईलैंड) के राजा रामाधिपति ने वहाँ अधिकार कर लिया जिसके परिणामस्वरूप काम्बुज को २०० वर्षों तक प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से स्याम के आधिपत्य में रहना पड़ा। १९ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में फ्रांस ने इण्डोचीन में प्रवेश किया। फ्रांसीसियों ने सर्वप्रथम चीन पर अपना नियन्त्रण स्थापित किया। कम्बोडिया ने पड़ोसियों के आक्रमणों से बचने के लिए फ्रांस का संरक्षण स्वीकार कर लिया। १८८४ में इस राज्य को

(कम्बोडिया को) फ्रांस द्वारा समठित इण्डोचीन या हिन्दचीन संघ में शामिल कर लिया गया। फ्रांस के संरक्षण में यहां की जनता पश्चिमी आचार विचारों से प्रभावित हुई और कम्बोडियन राष्ट्रीयता का प्रादुर्भाव हुआ। द्वितीय महायुद्ध के दौरान इस पर जापान का अधिकार हो गया। जापानी अधिकार के समय कम्बोडियन देश भक्तों ने जापानियों के विरुद्ध छापामार संघर्ष छेड़ कर उन्हें बहुत तंग किया। परिणामत कष्ट पाकर जापानियों ने कम्बोडिया के कुछ प्रदेश थाईलैण्ड को दे दिये।

युद्ध की अन्तिम अवस्था में जब जापान को अपनी पराजय निश्चित हो गई तो उसने हिन्दचीन को स्वतन्त्र घोषित कर दिया। १२ मार्च १९४५ को कम्बोडियन प्रधान मन्त्री ने अपने देश की स्वतन्त्रता घोषित कर दी। जापान द्वारा जो कम्बोडियन प्रदेश थाईलैण्ड को दे दिये गये थे वे युद्ध की समाप्ति पर वाशिंगटन सम्मेलन के आदेश से कम्बोडिया को वापिस मिल गये। १९४७ में कम्बोडिया का एक राष्ट्रीय संविधान बनाया गया। ८ नवम्बर १९४९ को यहां की असेम्बली ने फ्रेन्च यूनियन के अन्तर्गत एक स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप में रहना स्वीकार कर लिया और अन्त में ९ नवम्बर १९५३ को कम्बोडिया पूर्ण स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित हुआ।

कम्बोडिया की विदेश नीति प्राय भारत की तरह ही तटस्थता की रही है। अब पश्चिम के अतिरिक्त साम्यवादी देशों के साथ भी अच्छे सम्बन्ध रखने के लिए यह सचेष्ट है। १९५४ के जेनेवा सम्मेलन में लिए गये निर्णयों के अनुसार कम्बोडिया से समस्त विदेशी सैनिक हटा लिए गए और तभी से कम्बोडिया अपनी विदेश नीति में एक पूर्ण स्वतन्त्र देश जैसा आचरण कर रहा है। कम्बोडिया यद्यपि तटस्थ है किन्तु फिर भी उसका झुकाव धीरे धीरे साम्यवाद की ओर होता जा रहा है और वह भी विशेषत साम्यवादी चीन की ओर। दिसम्बर १९६२ में छ तटस्थ राष्ट्रों के कोलम्बो सम्मेलन में कम्बोडिया की ओर से राजकुमार नरोत्तमसिंहनक (Prince Norodom Sihanouk) ने भाग लिया था। इस सम्मेलन का आयोजन भारत चीन सीमा विवाद के समाधान की खोज के लिए हुआ। नवम्बर १९६३ में कम्बोडिया ने यह घोषणा करके अमेरिका के साथ अपने बिगड़ते हुए सम्बन्धों का स्पष्ट संकेत दिया कि भविष्य में वह अमेरिका से कोई आर्थिक सहायता नहीं लेगा। दिसम्बर १९६३ में अमेरिका और कम्बोडिया के सम्बन्धों में इस तथाकथित आरोप को लेकर और बिगाड़ आ गया कि कम्बोडिया के रेडियो से राष्ट्रपति कैनेडी की मृत्यु पर सन्तोष व्यक्त किया गया था। दोनों देशों के कूटनीतिक सम्बन्धों में अस्थाई रूप से विच्छेद आ गया यद्यपि बाद में इन सम्बन्धों की पुनर्स्थापना हो गई। वियतनाम में अमेरिका के सशक्तकरण की नीति को और युद्ध-विस्तार के इरादों को लेकर कम्बोडिया और अमेरिका के सम्बन्धों में पुन तनाव बढ़ता जा रहा था।

वियतनाम
(Vietnam)

वियतनाम भाग न केवल दक्षिणी पूर्वी एशिया अपितु सम्पूर्ण विश्व

में सर्वाधिक नृशंस संहार और युद्ध का केन्द्र बना हुआ है और इस बात की प्रत्येक सम्भावना है कि यदि बिगड़ती हुई स्थिति पर शीघ्रता से काबू न पाया गया तो वियतनाम का युद्ध कभी भी तृतीय महायुद्ध का विस्फोट कर देगा

महाकाली के ताण्डव नृत्य की रंगस्थली बने हुए इस देश का क्षेत्रफल १ २७००० वर्गमील है। यहाँ की जनसंख्या लगभग १ करोड़ है। वियतनाम को दक्षिणी पूर्वी एशिया का सबसे पुराना और शूरवीर राष्ट्र होने का गौरव प्राप्त था। लगभग २ हजार वर्ष से भी अधिक समय से यह राष्ट्र अनेक नामों—लोहन युमोन्स नम और वियतनाम से इतिहास प्रसिद्ध रहा है।

इस राष्ट्र का आरम्भ लाल नदी की घाटी में हुआ और धीरे-धीरे यह इधर उधर फैलता गया। लगभग ८०० वर्षों तक इसके विस्तार की गति मन्दगति से चलती रही। इस देश के किसान शान्तिकाल में अपने कृषि कार्यों में संलग्न रहते परन्तु युद्ध के समय सशस्त्र सिपाहियों के रूप में रणक्षेत्र में कूद पड़ते।

ऐतिहासिक तथ्यों के अनुसार वियतनाम राष्ट्र का जन्म सर्वप्रथम वानलोय साम्राज्य के नाम से हुआ। होंग बींग वंश ने २८७ ई० पू० तक यहाँ शासन किया। तत्पश्चात थोमक वंश की स्थापना हुई ई० पू० २०७ के आसपास उनका भी नाश हो गया। बाद में नामवीत वंश की स्थापना हुई जिसने लगभग १०० वर्षों तक चीनी आक्रमणों का वीरता के साथ मुकाबला किया। १११ ई० पू० में शक्तिशाली हनवंश की चीनी सेनाओं ने नामवीत साम्राज्य को पदाक्रान्त कर दिया और तब वियतनाम में चीन के हजार वर्ष से भी अधिक के अत्याचार पूर्ण शासन का प्रारम्भ हुआ। चीन के निरंकुश शासन के विरुद्ध और वियतनामी जनता बारम्बार विद्रोह करती रही। वियतनामी राष्ट्रवादियों और चीनी सेनाओं के मध्य सबसे भयंकर युद्ध ९३९ ई० में लाल नदी की घाटी में हुआ जिसमें चीनी सेनाओं को विस्मयिक पराक्रम का सामना करना पड़ा और तब सैकड़ों वर्षों तक चीन को वियतनाम की ओर मुख करने का साहस तक नहीं हो सका। इस निर्णायक विजय के बाद लगभग ९०० वर्षों तक वियतनाम शान्ति और स्वतन्त्रता का उपभोग करता रहा।

१६वीं शताब्दी में वियतनाम में यूरोपियन जातियों ने प्रवेश किया। पहिले पुर्तगाली आये और तब डच। फ्रांसीसियों ने यहाँ सर्वप्रथम १६६४ में प्रवेश किया और कुछ ही वर्षों में उन्होंने न केवल वियतनाम बल्कि समस्त हिन्द-चीन को अपने साम्राज्यवादी शिकंजे में कस लिया। वियतनाम लाओस कम्बोडिया आदि सभी भागों में फ्रांस के उपनिवेश बन गये। साम्राज्यवाद का यह जुआ लगभग तीन सौ वर्षों तक हिन्द चीन के कंधों पर रहा। फ्रांस ने स्थानीय जनता को फ्रेंच भाषा संस्कृति और रीति—रिवाजों के जरिये पूर्णत

विजित करने की नीति अपनाई और उसकी अपनी आवाज को कभी किसी प्रकार का महत्त्व नहीं दिया। प्रथम महायुद्ध के दौरान संयुक्त राज्य अमेरिका के आदर्शवादी राष्ट्रपति विल्सन की पराधीन देशों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने की घोषणा हिन्द-चीन के निवासियों को बड़ी प्रेरणात्मक लगी। हिन्द चीन के युवकों ने सैनिकों और श्रमिकों के रूप में युद्ध-मोर्चों पर काम किया और लौटने पर वे अपने साथ स्वाधीनता समानता और सामाजिक न्याय की विचार धारायें भी लाये। महायुद्ध के बाद फ्रेंच साम्राज्यवादियों ने हिन्द चीन की राष्ट्रवादी महत्वाकांक्षाओं का बुरी तरह दमन किया लेकिन यह दमन-चक्र जनता के जागरणरूपी बीज को अंकुरित होने से न रोक सका। परिणामस्वरूप वहां की जनता धीरे धीरे विदेशी प्रभुत्व से घृणा करने लगी।

द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने पर फ्रेंच सैन्य शक्ति धुरी राष्ट्रों के सामने निर्बल प्रमाणित हुई। हिन्द चीन की फ्रेंच सेना जापान की बढ़ती हुई सेनाओं का मुकाबला न कर सकी। परन्तु कूटनीतिक चाल का सहारा लेते हुए जापान ने हिन्द चीन पर अपनी सैन्य शक्ति से अधिकार नहीं किया प्रत्युत सैन्य शक्ति के आतंक की छाया में फ्रेंच प्रशासन के साथ २१ जुलाई, १९४१ को एक पारस्परिक सुरक्षा समझौता करके हिन्द चीन में प्रविष्ट होने की अनुमति प्राप्त कर ली। युद्ध-काल में जापान ने इस प्रदेश के प्राकृतिक स्रोतों को अपनी सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए पूरा उपयोग किया। मार्च १९४५ में उसने इस क्षेत्र में फ्रेंच प्रशासक वर्ग को पद-च्युत कर दिया।

जापान के युद्ध-कालीन शासन-काल के दौरान वियतनाम की राष्ट्रवादी शक्तियां विशेष रूप से प्रबल हो गयी। उन्होंने वीत मिन्ह लीग नामक एक राष्ट्रवादी क्रांति-दल की स्थापना की जिसका नेतृत्व साम्यवादी छापामार नेता श्री हो ची-मिन्ह को सौंपा गया। वियतनाम के क्रांतिकारी और राष्ट्रवादी तत्वों ने जापान के इस क्षेत्र से हटने के समय इतनी प्रचुर युद्ध-सामग्री हस्तगत कर ली कि वह दीर्घ-काल तक छापामार युद्ध चला सकने की स्थिति में आ गये। वीत मिन्ह लीग (यह नाम स्थानीय भाषा में था) अथवा वियतनाम स्वतन्त्र लीग जापानियों से भी उतनी ही नफरत करती थी जितनी कि फ्रांसीसियों से। अतः जब अगस्त १९४५ में जापान ने आत्म समर्पण किया और वियतनाम वासियों को जापानी नियन्त्रण से छुटकारा मिला तो वीत मिन्ह राष्ट्रवादियों ने सितम्बर में फ्रांस से अपनी स्वतन्त्रता घोषित करके 'वियतनाम गणतन्त्र' का उद्घाटन किया। अगस्त १९४५ में उन्होंने एक राष्ट्रीय महासभा आयोजित की और अपने देश की नव-स्थापित सरकार के लिए डा० हो ची मिन्ह को राष्ट्रपति चुना। बाओदाई ने (जो अनाम का पूर्ववर्ती सम्राट था और जिसने द्वितीय महायुद्ध के दौरान वियतनाम की स्वतन्त्रता की घोषणा करके स्वयं को वियतनाम का शासक घोषित किया था) क्रांतिकारियों की शक्ति से भयभीत होकर अपना सिंहासन त्याग दिया और हो-ची-मिन्ह द्वारा हनोई में स्थापित की गई साम्यवादी सरकार के

सर्वोच्च राजनीतिक परामर्शदाता का पद प्राप्त करके ही सतोष प्राप्त कर लिया। वियतनाम की इस नव-स्थापित सरकार ने राज्य का पूरा नाम वियतनाम लोकतन्त्रीय गणराज्य रखा। सरकार ने कोचीन चीन टौंगकिंग और अन्नाम (ये प्रदेश हिन्द चीन में सम्मिलित हैं) पर अपने प्रभुत्व का दावा किया।

वियतनाम के राष्ट्रवादियों द्वारा की गई उपरोक्त कार्यवाही फ्रांस के लिए असह्य थी। जापान के हिन्द चीन से पलायन के बाद जब वियतनाम पुनः फ्रेंच प्रभुत्व के अन्तर्गत आ गया तो फ्रांस ने राष्ट्रवादियों से किसी प्रकार का समझौता करने के बजाय उनका दमन करने का निर्णय लिया। फलस्वरूप वीत मिन्ह–राष्ट्रवादियों और फ्रेंच साम्राज्यवाद में युद्ध छिड़ गया।

१९४६ से लेकर १९५४ तक फ्रांस और हो-ची मिन्ह के बीच निरन्तर लड़ाइयां चलती रहीं। डा० हो-ची-मिन्ह को स्थानीय साम्यवादियों कुछ गैरसाम्यवादियों और बाद में चीनी साम्यवादियों की सहायता प्राप्त हुई। उनके अनुयायियों ने देश में व्यापक रूप छापामार युद्ध और विध्वंस का वातावरण पैदा कर दिया तथा इस प्रकार फ्रांस के लिए वियतनाम में व्यवस्था स्थापित करना असम्भव बना दिया।

सैनिक साधनों द्वारा हो-ची मिन्ह पर विजय पाने में अपने को नाकामयाब पाकर फ्रांस ने राजनीतिक साधनों का आश्रय लिया। उसने असंतुष्ट बाओदाई को अन्नाम में एक नई कार्यकारी सरकार (Provisional Government) स्थापित करने के लिये उकसाया। ५ जून १९४८ को बाओदाई ने कोचीन चीन सहित 'रिपब्लिक ऑफ वियतनाम' के नाम से एक नई सरकार स्थापित कर ली। इस तरह अब वियतनाम में दो सरकारें काम करने लगीं—दक्षिणी वियतनाम में बाओदाई की 'रिपब्लिक ऑफ वियतनाम' सरकार और उत्तर में डा० हो-ची मिन्ह का वियतनाम गणतन्त्र जिसे 'वीतमिन्ह' कहा जाने लगा। मार्च १९४९ में बाओदाई ने फ्रांस की यात्रा की। फ्रेंच सरकार के साथ कुछ समझौते किये गए जिनके अन्तर्गत वियतनाम (वीत मीन्ह नहीं) फ्रेंच संघ का एक उपराज्य (Associated State of the French Union) बना दिया गया। इसके वैदेशिक मामलों व इसकी सेनाओं पर फ्रेंच शासन का नियन्त्रण स्थापित हो गया। १० दिसम्बर १९४९ को बाओदाई ने सैगोन (Saigon) में स्वयं को राज्याध्यक्ष घोषित कर दिया। यह बाओदाई-शासित वियतनाम की राजधानी बनी। डा० हो-ची मिन्ह द्वारा शासित वियतनाम की राजधानी हनोई ही रही।

फ्रेंच साम्राज्यवाद की इस प्रकार की कूटनीतिक चालों ने स्पष्टतः वियतनाम में भीषण गृह-युद्ध की शुरुआत कर दी क्योंकि एक तरफ तो हनोई की सरकार स्वयं को सम्पूर्ण वियतनाम की वैधानिक सरकार कहने लगी और दूसरी ओर सैगोन-सरकार सारे वियतनाम की वैधानिक सरकार होने

का दावा करने लगी। शीघ्र ही इस गृह-युद्ध ने एक राष्ट्रव्यापी-युद्ध का रूप धारण कर लिया। एक तरफ अमेरिकन डालरों शस्त्रास्त्रों, टैंकों और वायुयानों से सुसज्जित १,५०,००० फ्रैंच सैनिक थे तो दूसरी तरफ साम्यवादी चीन की सहायता-प्राप्त डा० हो-ची मिन्ह के अपेक्षाकृत कम संख्या में सैनिक। स्थिति तब और भी विषम हो गई जब सन् १९५० में अमेरिका और रूस 'शीत-युद्ध' (Cold-War) को भी हिन्द चीन के द्वार तक खींच लाये। फरवरी १९५० में सैगोन की 'वियतनाम सरकार' को संयुक्त राज्य अमेरिका ब्रिटेन थाईलैण्ड एवं स्वतन्त्र विश्व के अधिकांश राज्यों ने कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी। दूसरी तरफ डा० हो ची 'हनोई सरकार' को यूगोस्लाविया से 'कूटनीतिक मान्यता' मिली। इसके अतिरिक्त रूस साम्यवादी चीन, 'लौह-आवरण' से सम्बन्धित अन्य देशों और कुछ एशियाई राष्ट्रों का 'कूटनीतिक समर्थन' प्राप्त हुआ। डा० हो-ची मिन्ह के राष्ट्रवादी अनुयायी वियतनाम के ग्रामीण क्षेत्रों में अपने प्रभाव का विस्तार करने के लिए प्रबल श्रम करने लगे। उन्होंने फ्रैंच साम्राज्यवाद द्वारा पोषित संरक्षित और पूर्ण सहायता प्राप्त सैगोन सरकार के विरुद्ध अपना अद्भुत छापामार युद्ध जारी रखा। हनोई की सफलताओं ने वाशिंगटन को इस भय से शंकित कर दिया कि कहीं सम्पूर्ण वियतनाम ही साम्यवादी शिकंजे में न चला जाय। अतः उसने फ्रैंच सेनाओं को अधिकाधिक अस्त्र सहायता देना आरम्भ कर दिया। इधर साम्यवादी चीन और रूस हनोई की 'वीत मिन्ह या वियत मिन्ह सरकार' को यथासम्भव हर प्रकार की सहायता प्रदान करने लगे। इस तरह 'उपनिवेशवादी शासकों' और उपनिवेशी शासितों के बीच शुरू होने वाले युद्ध ने अब 'स्वतन्त्र विश्व' तथा 'अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद' के मध्य संघर्ष का रूप धारण कर लिया।

७ मई १९५४ को 'वीत मिन्ह' सेनाओं ने डीन बीन फु में फ्रैंच सेनाओं को सबसे बड़ी और निर्णायक पराजय दी। फ्रांस के लगभग १२,००० सैनिक बंदी बना लिये गये। इस भीषण पराजय ने हिन्द-चीन में फ्रैंच साम्राज्यवादियों की कमर तोड़ दी। फ्रांस ने अमेरिका से और सैनिक सहायता भेजने की अपील की। वाशिंगटन ने लन्दन के समक्ष संयुक्त सैनिक हस्तक्षेप का प्रस्ताव रखा किन्तु लंदन ने साफ इन्कार कर दिया। एडमिरल रैडफोर्ड द्वारा एक पक्षीय अमेरिकन हस्तक्षेप और आणविक शस्त्रों के प्रयोग का सुझाव दिया गया लेकिन युद्ध के विश्व व्यापी बन जाने के भय से राष्ट्रपति आइजनहोवर ने समस्या के शान्तिपूर्ण समाधान का ही निश्चय किया।

जेनेवा में युद्ध-विराम संधि और वियतनाम का विभाजन

२६ अप्रैल से २१ जुलाई १९५४ तक जेनेवा में हिन्द चीन की समस्याओं पर वार्तायें चलती रहीं और अन्त में २१ जुलाई दोनों पक्षों में युद्ध विराम संधि हुई। इस संधि के अनुसार निम्नलिखित बातें स्वीकार हुई—

(i) यह देश दो भागों में बट गया—उत्तरी वियतनाम और दक्षिण

वियतनाम। १७वीं अक्षांश रेखा के उत्तर में हनोई नगरी से लगता हुआ सारा उत्तरी वियतनाम साम्यवादियों को मिला और उसके दक्षिण में दक्षिण वियतनाम गणराज्य की स्थापना हुई।

(ii) दोनों भागों के बीच एक बफर क्षेत्र की भी स्थापना की गई।

(iii) फ्रेंच सेना द्वारा सारा वियतनाम खाली करने का निर्णय हुआ।

(iv) समस्त देश के भविष्य का निर्णय करने के लिये यह व्यवस्था की गई कि जुलाई १९५६ में निष्पक्ष रीति से नये चुनावों द्वारा दोनों भागों का एकीकरण किया जायेगा।

(v) दोनों पक्षों द्वारा संधि की शर्तों का पालन करने के लिए त्रिसदस्यीय अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग की स्थापना की गई। इसके सदस्य—भारत कनाडा और पोलैण्ड बनाये गये।

युद्धविराम की असफलता और वियतनाम संघर्ष

जैनेवा समझौते से आशा हुई थी कि वियतनाम में निकट भविष्य में ही पूर्ण शांति स्थापित हो सकेगी और आम चुनाव द्वारा उत्तरी व दक्षिणी वियतनाम का एकीकरण हो जायगा। परन्तु इस प्रकार की कोई आशा फलीभूत नहीं हुई। उत्तरी वियतनाम ने जनमत-संग्रह कराने से इन्कार कर दिया। इस पर दक्षिणी वियतनाम में मई १९५६ में संविधान सभा के लिये चुनाव करके विधिवत् संसद की स्थापना कर दी गई। इस तरह दक्षिण वियतनाम लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली की प्रथम सीढ़ी पर चढ़ा।

जैनेवा समझौते के अनुसार जब साम्यवादियों ने दक्षिण वियतनाम को खाली किया तो वे इस क्षेत्र के जंगलों में विशाल संख्या में शस्त्रास्त्र छिपा कर छोड़ गये। ये सभी शस्त्रास्त्र सामरिक महत्व के स्थानों पर या तो सावधानी के साथ छिपा दिये गये अथवा धरती में गाड़ दिये गये। यही नहीं साम्यवादी अनेक छापामार दस्तों को भी पीछे छोड़ गये जो जंगलों और पर्वतों में छिप कर मौके और आदेश का इन्तजार करने लगे। इधर अपने क्षेत्र में उत्तरी वियतनाम में भी साम्यवादी सरकार तेजी के साथ अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने लगी। उसे साम्यवादी चीन और सोवियत रूस से भारी परिमाण में शस्त्रास्त्र सहायता और टैक्नीकल सहायता सुलभ होने लगी। सैगोन और हनोई एक दूसरे पर सशस्त्र सेना की वृद्धि के आरोप लगाने लगे। डा० हो ची मिन्ह की सरकार ने अन्तर्राष्ट्रीय युद्ध-विराम निरीक्षण आयोग से शिकायत की कि अमेरिका दक्षिण वियतनाम को हथियार दे रहा है। दूसरी ओर डायम (Diem—दक्षिण वियतनाम के प्रथम राष्ट्रपति) की सरकार ने हनोई पर आरोप लगाया कि वह उसकी सरकार का तख्ता उलटने के लिये साम्यवादियों की सहायता ले रहा है।

इस प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों से उत्तरी व दक्षिण वियतनाम के

बीच की कटुता बढ़ती गई। इसी मध्य ३० अगस्त १९५९ को दक्षिण वियतनाम में आम चुनाव हुए और राष्ट्रपति डायम की सरकार ने भारी बहुमत प्राप्त किया। दूसरी ओर १५ जुलाई १९६० को उत्तरी वियतनाम की राष्ट्रीय संसद ने सर्व-सम्मति से ७० वर्षीय डा० होचीमिन्ह को राज्याध्यक्ष (Head of State) चुन लिया। दोनों ही नेता सत्ता से चिपके रहे और एक-दूसरे पर जेनेवा का शांति समझौता भंग करने का दोष लगाते रहे। उत्तर की प्रेरणा से दक्षिण वियतनाम में साम्यवादियों ने १९६० में 'राष्ट्रीय मुक्ति सेना' (National Liberation Front) की स्थापना की। इन सैनिकों को सरकारी बयानों में वियत-कांग (Viet Cong—Vietnamese Communists) कहा गया। यह वियतकांग संगठन सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने लगा।

इधर तो अपनी सैनिक शक्ति बढ़ा लेने के बाद हनोई सरकार ने दक्षिण के विरुद्ध पुनः तोड़-फोड़ पूर्वक और छापामार लड़ाई प्रारम्भ कर दी और उधर १९६०–६१ के दौरान वियतकांग छापामार सैनिकों ने अपनी कार्यवाही देश के बहुत से भागों में अत्यधिक बढ़ा दी। १९६१ के अन्त तक लगभग २० हजार साम्यवादी वियतकांग छापामार सैनिक दक्षिण वियतनाम में जहाँ-तहाँ आतंक पूर्ण कृत्य करने लगे। लाचार होकर दक्षिण वियतनाम के राष्ट्रपति नो दिन्ह डायम (Ngo Dinh Diem) ने १८ अक्टूबर १९६१ को सारे वियतनाम में आपातकालीन स्थिति की घोषणा कर दी। मई १९६१ में अमेरिकन उपराष्ट्रपति लिण्डन जानसन ने सैगोन का दौरा किया। उन्होंने वापिस लौटकर अपनी सरकार को यह सिफारिश की कि दक्षिण वियतनाम को अमेरिकन सहायता में वृद्धि की जाय और इस सहायता की गति को बढ़ाने के उपाय किये जायं। इस पर राष्ट्रपति कैनेडी ने अक्टूबर १९६१ में जनरल मैक्सवेल टेलर को दक्षिण वियतनाम इसलिए भेजा कि वह साम्यवादी चुनौती का सामना करने के लिये सैगोन सरकार की आवश्यकताओं को आंके।

१० दिसम्बर को अमेरिकन राज्य-विभाग ने 'शान्ति को खतरा' (A threat to the peace) के नाम से दो भागों में एक श्वेत-पत्र निकाला और आरोप लगाया कि वियतकांग 'मुक्ति आन्दोलन' का निर्देशन व संचालन उत्तरी वियतनाम से होता है, साम्यवादियों द्वारा दक्षिण वियतनाम को विजित कर लिये जाने का स्पष्ट रूप से खतरा उपस्थित है और यदि ऐसा हुआ तो साम्यवादी गुट में १४० ०० ००० व्यक्ति और सम्मिलित हो जायेंगे जिससे आसियान की प्रगति का मार्ग पूर्णतः बन्द हो जायेगा जहाँ कि साम्यवादियों का पहले से ही आधे देश पर अधिकार है। दक्षिण वियतनाम सरकार और अमेरिकन प्रशासन का यह सामान्य आरोप था कि हनोई सरकार का यह प्रयास है कि वह दक्षिण वियतनाम की सरकार के विरुद्ध विद्रोह करने वाले साम्यवादी वियतकांग लोगों को शस्त्रास्त्रों की सहायता देकर वहाँ की सरकार को नष्ट कर दे और दक्षिण वियतनाम को उत्तरी वियतनाम के साथ मिला ले।

४ जनवरी १९६२ को संयुक्त राज्य अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम की आर्थिक और सैनिक सहायता देने की योजनाएं घोषित की। लगभग एक मास बाद एक अमेरिकन सैनिक कमान स्थापित की गई और लगभग ४ हजार अमेरिकन सैनिक युद्ध-कार्य में भाग लेने के लिए भेजे गए।

दक्षिण वियतनाम द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग (International Control Commission) से शिकायत की गई कि उत्तरी वियतनाम घुसपैठ और विनाश की कार्यवाहियां कर रहा है। किन्तु जब शिकायत पर आयोग द्वारा विचार किया जाने लगा तो पोलिश सदस्य ने आपत्ति की कि आयोग को दक्षिण वियतनाम की शिकायत की जांच पड़ताल करने का अधिकार नहीं है। परन्तु आयोग द्वारा निर्णय लिया गया कि उसे जांच करने का पूर्ण अधिकार है। सोवियत संघ और चीन ने दक्षिण वियतनाम के आन्तरिक मामलों में अमेरिका के अनुचित हस्तक्षेप की निन्दा करते हुए आरोप लगाया कि अमेरिका द्वारा जो सैनिक कमान नियुक्त की गई है वह दक्षिणी वियतनामी जनता के उस देश भक्ति पूर्ण संघर्ष का दमन करने के लिए स्थापित की गई है जो अन्यायी और साम्राज्यवाद के हाथों की कठपुतली शासन सरकार के विरुद्ध लड़ा जा रहा है। साम्यवादी चीन द्वारा आग्रह किया गया कि जेनेवा सम्मेलन का सहायक प्रधान आवश्यक परामर्श करके 'दक्षिण वियतनाम से युद्ध के मण्डराते खतरे दूर करने के उचित उपाय करे। मार्च १९६२ में रूस द्वारा मांग की गई कि अमेरिका दक्षिण वियतनाम में युद्ध-सामग्री भेजना बन्द कर दे और वहां से अपने सैनिक अमले को वापस बुला ले। रूस द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के सदस्यों से भी आग्रह किया गया कि वे दक्षिण वियतनाम में अमेरिकन हस्तक्षेप बन्द करने के लिए दबाव डालें।

२ जून १९६२ को अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग के भारतीय और कनाडियन सदस्यों ने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया—

(i) उत्तरी वियतनाम आक्रमक कार्यवाहियों का दोषी है। उसने दक्षिण वियतनाम में शत्रुतापूर्ण कार्यवाहियों को प्रोत्साहन व समर्थन देकर जेनेवा समझौते की अवहेलना की है।

(ii) दक्षिण वियतनाम व संयुक्त राज्य अमेरिका ने वास्तविक सैनिक गठबन्धन करके जेनेवा समझौते की १९वीं और १७वीं धारा की अवहेलना की है।

आयोग का निर्णय किसी भी पक्ष को अपनी कार्यवाहियों से विरत न कर सका। दोनों वियतनामों के भविष्य और भावी सम्बन्धों का प्रश्न 'शीतयुद्ध' में उलझ कर रह गया। आरोपों प्रत्यारोपों की बौछारें होने लगीं। रूस व साम्यवादी चीन उत्तरी वियतनाम के खुले समर्थक बने और ब्रिटेन व कुछ अन्य पश्चिमी राष्ट्र दक्षिण वियतनाम में अमेरिका की स्थिति का समर्थन करने लगे।

दिसम्बर १९६१ में अमेरिकन प्रतिरक्षा सचिव रोबर्ट मैकनमारा (Robert McNamara) ने कुछ अन्य उच्च अधिकारियों के साथ सैगोन का दौरा किया और घोषणा की कि— 'दक्षिण वियतनाम को जब तक आवश्यकता होगी अमेरिकन सैनिक सहायता दी जायगी। किन्तु अमरिका की इस घोषणा से वियतकांग के साहस में कोई कमी नहीं आई अपितु उसकी आतंकपूर्ण कार्यवाहियों की भयानकता में वृद्धि होती गई। जनवरी १९६४ में फ्रांस के राष्ट्रपति डिगाल ने जोर देकर कहा कि वियतनाम का तटस्थीकरण किया जाना चाहिए। मार्च १९६४ में अमेरिका के राज्य सचिव डीन रस्क द्वारा कहा गया कि यदि वियतकांग अपनी सैनिक कार्यवाही समाप्त कर दें चीन व उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम के मामलों में हस्तक्षेप करना छोड़ दें और उसे शांतिपूर्वक रहने दें तो अमरिका उसमें दक्षिण वियतनाम का तटस्थीकरण भी स्वीकार कर सकता है। श्री डीन रस्क द्वारा यह विचार व्यक्त करने के तुरन्त बाद ८ मार्च को श्री मैकनमारा व अन्य सैनिक तथा राजनीतिक अधिकारी पुनः सैगोन गये जहां उन्होंने एक प्रेस सम्मेलन में स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि दक्षिण वियतनाम को आवश्यक सभी आर्थिक सैन्य प्रशिक्षण सम्बन्धी और सैन्य सामग्री की सहायता अमेरिका देने को तैयार है। अमेरिका द्वारा इस सहायता का उद्देश्य दक्षिण वियतनाम की जनता का साम्यवादी वियतकांगो की क्रूरताओं से छुटकारा दिलाना बताया गया। २३ जून १९६४ को राष्ट्रपति जानसन द्वारा संयुक्त सेनाध्यक्षों के प्रधान और अमेरिका के वरिष्ठ सैन्य अधिकारी श्री मैक्सवैल डी टेलर को दक्षिण वियतनाम में राजदूत नियुक्त किया गया। इधर उत्तरी वियतनाम की ओर से १७वीं अक्षांश रेखा पर दबाव बढ़ता गया चीनी साम्यवादी सेना उत्तरी वियतनाम से लगती हुई चीन की दक्षिणी सीमा पर विशाल संख्या में एकत्र हो गई और कुछ चीनी सेना तो उत्तरी वियतनाम के भीतर तक जम कर बैठ गई। साथ ही लगभग १५०००० साम्यवादी सैनिक दक्षिण वियतनाम में पूर्ण रूप से सक्रिय हो गये।

अगस्त १९६४ से वियतनाम में और भी विषम परिस्थिति उत्पन्न हो गई। ७ अगस्त को दक्षिण वियतनाम के तत्कालीन राष्ट्रपति जनरल न्गुयन खान्ह (General Nguyen Khanh) ने आपत्कालीन स्थिति की घोषणा करते हुए उत्तरी वियतनाम में प्रत्याक्रमण की मांग की क्योंकि दक्षिण वियतनाम के साम्यवादी वियत कांग छापामारों को उत्तरी वियतनाम से विपुल संख्या में अस्त्रास्त्रों और सैनिकों की सहायता मिल रही थी। राष्ट्रपति खान्ह की यह घोषणा संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति के प्रतिकूल थी क्योंकि वह उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही नहीं करना चाहता था। अत सैगोन सरकार को सन्तुष्ट करने के लिए, अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को सैनिक व आर्थिक सहायता में वृद्धि की घोषणा की। साम्यवादी रूस ने यह अनुमान लगाते हुए कि उ० वियतनाम के साम्यवादी सैनिक ठिकाने बम-वर्षा के शिकार बन सकते हैं अमेरिका को चेतावनी दी कि यदि हमला हुआ तो वह उत्तरी वियतनाम को भरपूर सहायता देने को बाध्य होगा। साम्यवादी चीन ने भी घोषणा की कि यद्यपि पेकिंग ने हिन्द चीन में एक भी

भेजा है लेकिन यदि उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण हुआ तो उसके सब्र का बांध टूट जाएगा। इस प्रकार की घोषणाओं और आरोपों-प्रत्यारोपों के बीच ही एक अत्यंत उत्तेजक घटना घटित हो गई। उत्तरी वियतनाम की पनडुब्बियों ने टोनकिन (अथवा टोंगकिंग) की खाड़ी में संयुक्त राज्य अमेरिका के एक विध्वंसक पोत पर आक्रमण कर दिया और इसका बदला लेने के लिए अमेरिका ने ५ अगस्त १९६४ को उत्तरी वियतनाम की पनडुब्बियों के अड्डों पर तथा तेल के भंडारों पर पांच घंटे तक भीषण बम-वर्षा की। इस बम-वर्षा के बाद ही रूस और चीन ने अमेरिका को अपनी उपरोक्त कड़ी चेतावनियां दीं।

परिस्थिति दिन-प्रतिदिन विषम से विषमतर होती गई। साम्यवादी वियतकांग छापामार विद्रोहियों ने उत्तरी वियतनाम से भारी सैनिक सहायता प्राप्त करके दक्षिण वियतनाम के सैनिक अड्डों को तहस-नहस करने का प्रयास शुरू कर दिया। १ नवम्बर, १९६४ को वियतकांग छापामारों ने बियन होआ के हवाई अड्डे पर आकस्मिक रूप से भीषण हमला करके २७ विमान नष्ट कर दिये। इस आक्रमण में अनेक अमेरिकन सैनिक मरे और घायल हुए। इस घटना से अमेरिकन राष्ट्रपति जॉनसन ने अपनी उत्तरी वियतनाम पर आक्रमण करने की नीति की पराकाष्ठा बनाते हुए स्पष्ट शब्दों में यह घोषणा कर दी कि अमेरिका उत्तरी वियतनाम द्वारा वियतकांग छापामारों को दी जाने वाली सैनिक सहायता बंद करने के लिए शक्ति का प्रयोग करने को तैयार है। श्री जॉनसन ने कहा कि यह सैनिक सहायता लाओस के मार्ग से आ रही है और जेनेवा समझौते के सर्वथा प्रतिकूल है। दिसम्बर, १९६४ को व्हाइट हाउस से एक विज्ञप्ति प्रकाशित की गई जिसमें दक्षिण वियतनाम को सैनिक सहायता देने का वचन दिया गया। १९६५ के प्रारम्भ में दक्षिण वियतनाम में बौद्ध-धर्मावलम्बियों ने अमेरिका विरोधी प्रदर्शन किये जिससे स्थिति विशेष तनावपूर्ण हो गई। इन प्रदर्शनों को जिनमें युद्ध विराम वार्ता प्रारम्भ करने तथा वियतनाम का पुनः एकीकरण की मांग की गई थी, क्रूरता पूर्वक दबा दिया गया।

इसके बाद ही अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम में अमेरिकन सेना पर वियतकांग के आक्रमण के प्रतिशोधस्वरूप ७ फरवरी १९६५ को उत्तरी वियतनाम पर हवाई हमले प्रारम्भ कर दिये। अमेरिकन वायुयान वियतकांग सैनिकों को सहायता पहुंचाने वाले सैनिक अड्डों, पुलों तेल भंडारों और सामरिक महत्त्व के अन्य ठिकानों पर भीषण बमबारी करने लगे। २७ फरवरी १९६५ को वाशिंगटन ने अपनी नीति को पुष्ट करने के लिए उत्तरी वियतनाम द्वारा दक्षिण वियतनाम पर वियतकांग छापामारों द्वारा किये जाने वाले हमलों का विस्तृत विवरण एक श्वेतपत्र के रूप में प्रकाशित किया। रूस और चीन ने अमेरिकन बम वर्षा की कटु निन्दा करते हुए अमेरिका को इस आक्रमण के सम्भावित परिणामों के बारे में कठोर चेतावनी दी। मार्च से ही अमेरिकन हवाई हमलों की गति में तेजी आने लगी। २५ मार्च को साम्यवादी चीन ने घोषणा की कि वह वियतनाम में लड़ने के लिये अपनी

सेनायें भेजने को तैयार है। इसके साथ ही उत्तरी वियतनाम रूस और चीन द्वारा अमेरिका पर यह आरोप लगाया गया कि वह अपने हवाई हमलों में मस्टर्गैस का तथा उल्टी और उबकाई लाने वाली गैसों का प्रयोग कर रहा है। विश्व के निष्पक्ष समुदाय द्वारा भी इन विषैली गैसों के प्रयोग की तीव्र निन्दा की गई। फ्रांस, रूस और भारत की सरकारों ने दोनों पक्षों (उत्तरी व दक्षिण वियतनाम) में कोई समझौता कराने के लिये पुन: जेनेवा-सम्मेलन बुलाये जाने की अपील की। संयुक्त राष्ट्र संघ के महा सचिव श्री ऊ थांट ने सम्बन्धित देशों के बीच वार्ता का प्रस्ताव किया और १७ तटस्थ राष्ट्रों ने युद्ध बंद करने की अपील की।

अप्रैल १९६५ के आरम्भ में उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति डा० हो-ची मिन्ह ने एक चार-सूत्रीय प्रस्ताव रखा जिसमें और बातों के अतिरिक्त दक्षिणी वियतनाम से अमेरिकन सेनाओं के पूर्णत: हटाये जाने उत्तरी वियतनाम पर बम-वर्षा बंद किये जाने तथा सैगोन में वियतकांग के राजनीतिक कार्यक्रम के अनुसार निपटारा किये जाने की मांग की गई। इस प्रस्ताव के प्रत्युत्तर में ७ अप्रैल को राष्ट्रपति जॉन्सन द्वारा घोषणा की गई कि यदि दक्षिण वियतनाम को स्वतन्त्र रहने दिया जाए और सुरक्षा के लिए अमेरिकन सेना नहीं रहे तो अमेरिकन सरकार बिना शर्त वार्ता करने को तैयार है। हनोई द्वारा राष्ट्रपति जॉन्सन के इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया गया। सोवियत संघ और साम्यचीन ने हनोई के दृष्टिकोण का समर्थन किया। अमेरिकन सैनिक-हस्तक्षेप और वायु आक्रमण के विरुद्ध उत्तरी वियतनाम को सशक्त करने के लिए रूस ने हनोई के निकट वायुयान भेदी प्रक्षेपणास्त्रों के अड्डे बनाना शुरू किया। उधर चीन ने भी उत्तरी वियतनाम को रूसी सैनिक सामग्री से आने की सुविधायें प्रदान की। रूस और चीन की इस कार्यवाही के जवाब में अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम में अपनी सैनिक शक्ति में और वृद्धि कर दी। मई १९६५ में अमेरिकन कांग्रेस द्वारा एक विधेयक पारित किया गया जिसके अन्तर्गत वियतनाम में युद्ध-कार्यों के लिये ७० करोड़ डालर की अतिरिक्त राशि स्वीकार की गई।

विश्व के विभिन्न राष्ट्रों द्वारा विशेषकर एशिया और अफ्रीका के देशों द्वारा वियतनाम युद्ध बंद करने की बारम्बार अपीलें की जाने लगीं। जून १९६५ में लन्दन में हुए १४ वें राष्ट्र मंडलीय प्रधानमंत्री सम्मेलन में एक वियतनाम शांति आयोग स्थापित किया गया। इस आयोग को वियतनाम की समस्याओं से प्रत्यक्ष सम्बन्धित देशों की सरकारों से सम्पर्क करने और वियतनाम में युद्ध समाप्त कराने में सहायता करने का काम सौंपा गया। अमेरिका और दक्षिण वियतनाम द्वारा राष्ट्र मंडलीय मध्यस्थता के प्रति कोई आपत्ति नहीं की गई किन्तु सोवियत संघ चीन और उत्तरी वियतनाम ने इसे अस्वीकार कर दिया। जब जुलाई १९६५ में युगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो और भारत के स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्री लाल बहादुर शास्त्री ने वियतनामी-संघर्ष के शांतिपूर्ण समाधान के लिये एक संयुक्त अपील जारी की तो चीन की युद्धप्रिय सरकार के समाचार पत्र पीपुल्स डेली ने इस

प्रयास की निन्दनीय आलोचना करते हुए टीटो और नासिर को 'अमेरिकन साम्राज्यवाद के एजेन्ट' कह कर अपनी कुत्सित मनोवृत्ति का परिचय दिया। वास्तव में यह एक खेदजनक और उपहासास्पद बात थी कि 'शांति-वार्ता' को 'षड्यंत्र' की संज्ञा दी गई।

वियतनाम के मामले में नेतृत्व की प्रतिस्पर्धा सोवियत चीन मतभेदों को भी उभारने लगी। १० अगस्त १९६५ को साम्यवादी चीन ने सोवियत रूस की वियतनाम सम्बन्धी नीति के लिये उसकी आलोचना की। वास्तव में चीन को भय था कि वियतनाम में शांति-स्थापना के लिए रूस वार्ता करने को सहमत होकर शांतिप्रिय राष्ट्र होने की वाह-वाही न लूट ले। इसलिए चीन बारम्बार आग्रहपूर्वक यह कहता रहा कि वियतनाम विषयक शांति वार्ता के लिए अनिवार्य रूप से प्रथम शर्त यह होनी चाहिए कि वियतनाम से बिना शर्त अमेरिकन सेना हटा ली जाय। नवम्बर १९६५ में साम्यवादी चीन ने यह भी प्रकट किया कि फरवरी १९६५ में जब सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन ने पेकिंग की यात्रा की थी तो उन्होंने चीन की सरकार को वियतनामी-युद्ध समाप्त करने में अमरिका की सहायता करने को कहा था। ११ नवम्बर को चीनी-साम्यवादी दल के समाचार पत्रों 'पिपुल्स डेली' और 'दी रेड-फ्लैग' में यह गम्भीर और मनगढ़न्त आरोप लगाया कि अमेरिका और रूस मिल कर सारे संसार पर अपना प्रभुत्व स्थापित करने की योजना पर चल रहे हैं और वियतनामी जनता की विद्रोह रूपी भीषण ज्वाला को शांत करने में संलग्न हैं। इन समाचार-पत्रों ने रूस के इस प्रस्ताव की भी कटु आलोचना की कि बिना किसी शर्त के हिन्द चीन पर एक नया अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन आमंत्रित किया जाय।

वियतनाम-युद्ध में अमेरिका अपनी अधिकाधिक सैनिक-शक्ति झोंकता गया किन्तु उत्तरी वियतनाम के साहस को कम नहीं किया जा सका। जहां अप्रैल मई १९६२ में दक्षिण वियतनाम में सिर्फ ६००० अमेरिकन सैनिक थे और सितंबर, १९६३ में इनकी संख्या लगभग १७०० थी वहां १९६५ के अन्त तक वाशिंगटन के प्रतिरक्षा विभाग की घोषणा के अनुसार यह संख्या १८११६२ तक पहुंच गई। किन्तु फिर भी यह समझा जाता था कि इस युद्ध को सैनिक दृष्टि से जीतने के लिये २ से ५ लाख तक अमेरिकन सैनिक आवश्यक हैं।

दिसम्बर १९६५ में सोवियत प्रधानमंत्री श्री कोसीगिन ने साम्यवादी नेता एलेक्जेंडर शेलेपिन को वियतनाम-युद्ध शांत कराने के उद्देश्य से हनोई भेजा। यह वह अवसर था जबकि क्रिसमस के अवसर पर कुछ समय के लिए युद्ध विराम की घोषणा की गई थी अमेरिका ने वियतनामी ठिकानों पर बम गिराना बंद कर रखा था और संघर्ष को परस्पर वार्ता द्वारा निपटाने के लिए जी-तोड़ कूटनीतिक प्रयत्न किये जा रहे थे। दुर्भाग्यवश इस अनुकूल अवसर का कोई लाभ नहीं उठाया जा सका। साम्यवादी चीन को रूस और अमेरिका के ये शांति प्रयास अपनी विश्व-प्रभुत्व प्राप्ति की कामनाओं के प्रति

बाधक प्रतीत हुए । चीनी पत्रों ने रूस और अमेरिका पर पुनः तरह-तरह के दोषारोपण करना प्रारम्भ कर दिया । यही नहीं पेकिंग ने उत्तरी वियतनाम की सरकार को यह भी कह दिया कि रूस से मतभेद दूर करना मार्क्सवाद लेनिनवाद के प्रति विश्वासघात समझा जायेगा । चीनी नेताओं ने इस बात के प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किये कि उत्तरी वियतनाम में कोसीगिन का उद्देश्य पूरा न होने पाये ।

१७ दिन तक हवाई हमले बंद रखने से भी जब उत्तरी वियतनाम के रुख में कोई परिवर्तन नहीं हुआ उल्टे हनोई-सरकार अपनी सैन्य-शक्ति को पुनर्गठित करने में व्यस्त रही तो जनवरी १९६६ के अन्त में अमरिका पुनः हवाई हमले करने के प्रश्न पर विचार करने लगा । वास्तव में अमेरिकन नीति-निर्माताओं को रूस द्वारा आधुनिकतम हथियार उत्तरी वियतनाम को दिये जाने से गम्भीर चिंता सता रही थी । जब अमेरिका को यह निश्चय हो गया कि हवाई हमले बंद रखने से उत्तरी वियतनाम बिना शर्त वार्ता करने के प्रति सहमति के कोई लक्षण प्रकट नहीं कर रहा है बल्कि इस शांतिकाल का उपयोग उत्तरी वियतनाम को जाने वाले पृष्ठपेठ के मार्गों की मरम्मत करने व अपने प्रतिरक्षा साधनों को सुदृढ़ करने में कर रहा है तो बम-वर्षा पुन-तेजी से आरम्भ कर दी गई ।

१९६६ के सम्पूर्ण वर्ष में वियतनाम-समस्या का समाधान करने के लिये अनेक प्रयास किये जाते रहे, किन्तु उत्तरी वियतनाम के राष्ट्रपति डा० होची-मिन्ह अपनी निम्नलिखित चार बातों पर डटे रहे—

(i) संयुक्त राज्य अमेरिका दक्षिण वियतनाम से अपनी सारी सेनायें तुरंत हटावे ।

(ii) दक्षिण वियतनाम में संधि वार्ता का आधार वियतकांग सैनिकों के राजनीतिक संगठन 'राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे' (National Liberation Front) से की जाये क्योंकि यही दक्षिण वियतनामी जनता का एक मात्र प्रतिनिधि है ।

(iii) समझौते के लिये उत्तरी वियतनाम की चतु:सूत्री योजना स्वीकार की जावे ।

(iv) उत्तरी वियतनाम पर की जाने वाली बमबारी को फौरन बन्द किया जाये ।

डा० हो-ची-मिन्ह ने ब्रिटेन कनाडा भारत आदि अनेक देशों को और समाजवादी राष्ट्रों को पत्र भेजे जिनमें उपरोक्त बातों पर बल दिया गया । ये पत्र जनवरी १९६६ में भेजे गये थे । भारत के राष्ट्रपति डा० राधाकृष्णन ने प्रत्युत्तर में लिखा कि अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण आयोग का सदस्य होने के नाते भारत १९५४ के जेनेवा समझौते के अनुसार दोनों देशों का एकीकरण करना चाहता है । डा० राधाकृष्णन ने लिखा कि भारत का संयुक्त राज्य अमेरिका से यही अनुरोध है कि बम-वर्षा बन्द की जाये और

संयुक्त राष्ट्र संघ की अध्यक्षता में दोनों गुटों से अलग (Non-aligned) देशों से सैनिक प्राप्त करके एक अन्तर्राष्ट्रीय सेना का संगठन किया जाये जो इस समस्या का समाधान होने तक दोनों देशों की सीमाओं पर शांति स्थापित करने का कार्य करें। प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने वियतनाम में युद्ध विराम के लिये जेनेवा-सम्मेलन के पुनः आमंत्रित किये जाने का प्रस्ताव रखा। भारत के प्रस्ताव महाशक्तियों को पसन्द नहीं आये। संयुक्त राज्य अमेरिका बिना शर्त बम-वर्षा बन्द करने को सहमत न था तो सोवियत संघ जेनेवा-सम्मेलन को तब तक बुलाने के लिये तैयार नहीं था जब तक कि उत्तरी वियतनाम इसके लिये सहमत न हो जाये।

फ्रेंच राष्ट्रपति दिगॉल ने उत्तरी वियतनाम पर अमेरिकन बम-वर्षा और दक्षिण वियतनाम में उसके हस्तक्षेप का घोर विरोध किया। एशियाई देशों की अपनी यात्रा के दौरान राष्ट्रपति महोदय ने इस बात पर बहुत बल दिया कि अमेरिका को दक्षिण वियतनाम से अपनी फौजें हटा लेनी चाहिये। और वियतनाम-समस्या का समाधान जेनेवा-समझौते के अनुसार दोनों भागों का पुनः एकीकरण करके तथा इसको तटस्थ देश बना कर किया जाना चाहिये। १ सितम्बर १९६६ को श्री दिगॉल ने पुनः कहा— अमेरिका को वियतनाम से अपनी सेनायें तुरन्त हटा लेनी चाहिये और हिन्द चीन प्रायद्वीप की तटस्थता की अन्तर्राष्ट्रीय गारण्टी को स्वीकार करना चाहिये। भारत की प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी द्वारा भी इसी प्रकार का विचार व्यक्त किया गया। अक्टूबर १९६६ में भारत में यूगोस्लाविया संयुक्त अरब गणराज्य एवं भारत के शिखर-सम्मेलन के अवसर पर भी राष्ट्रपति टीटो नासिर और श्रीमती इन्दिरा गांधी के वियतनाम समस्या पर एक-से विचार इस प्रकार थे— वियतनाम में तुरन्त लड़ाई बन्द हो वहाँ से विदेशी सेनाएं हटा ली जायें कोई बाहरी देश वहां के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करे और वहाँ की जनता की इच्छानुसार उसके राजनीतिक स्वरूप का गठन किया जाये।"[1] यह उल्लेखनीय है कि उपरोक्त राजनेताओं के अनुसार 'सम्बन्धित पक्षों' में वियतकांग व राजनीतिक दल राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे को भी सम्मिलित करने की बात थी (और है) जिसके सम्बन्ध में संयुक्त राज्य अमेरिका का उग्र विरोध था (और है)।

आधुनिक विश्व की गम्भीरतम समस्या वियतनाम-संघर्ष का समाधान करने की दिशा में संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा किसी प्रकार का कोई प्रयत्न नहीं किया गया क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ के परस्पर विरोधी हित इस दिशा में संघ को पंगु किये हुये थे। इसी बात से अत्यन्त दुःखी और क्षुब्ध होकर महासचिव ऊथांट ने १ नवम्बर १९६६ को अपने पद का कार्यकाल समाप्त होने पर पुनः उस पद पर बने रहने तक से इन्कार कर

---

1 हिन्दुस्तान दैनिक २१ अक्तूबर पृष्ठ—२ व २४ अक्तूबर १९६६। पृष्ठ—१

दिया। इसी प्रश्न पर संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्यों के नाम उन्होंने एक पत्र में भेजा जिसमें लिखा कि—

"घटना-चक्र लगातार एक बड़ी लड़ाई की तरफ बढ़ता जा रहा है और उसे रोकने के उपाय बेहद कमजोर हैं। वियतनाम की लड़ाई में संयुक्त राष्ट्र संघ सर्वथा निस्सहाय सिद्ध हो रहा है। शांति की आड़ में हथियारों का इस्तेमाल बार-बार किया जा रहा है। ऐसी हालत में अपने पद पर बने रहने में मुझे कोई सार दिखाई नहीं पड़ता।[1] यद्यपि श्री ऊथांट को बड़े राष्ट्रों द्वारा शांति-स्थापन सम्बन्धी आश्वासन देकर पद पर बने रहने को राजी तो कर लिया गया परन्तु दुर्भाग्य से उन आश्वासनों को पूरा नहीं किया गया और वियतनाम-युद्ध आज पूर्वापेक्षा और भी अधिक भीषण रूप लिये विद्यमान है।

जिस समय अक्टूबर १९६६ में भारत में टीटो-नासिर-गांधी का त्रि राष्ट्र शिखर-सम्मेलन हो रहा था, उन्हीं दिनों वियतनाम-समस्या के बारे में ही फिलिपाइन्स की राजधानी मनीला में भी एक शिखर-सम्मेलन हुआ जिसमें संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति जॉन्सन के अतिरिक्त फिलिपाइन्स थाईलैण्ड ऑस्ट्रेलिया दक्षिणी वियतनाम दक्षिण कोरिया और न्यूजीलैण्ड के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। इस सम्मेलन की विज्ञप्ति में यह मांग की गई कि वियतनाम में शांति-स्थापना के लिये सबसे पहले यह आवश्यक है कि वियतकांग अपनी आक्रमक कार्यवाहियां समाप्त करें और उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनामी प्रदेश से अपनी फौजें हटा ले। ऐसा हो जाने के बाद अमेरिका द्वारा भी अपने सैनिक हटा लिये जाएंगे और सम्बन्धित पक्षों में वार्ता हो सकेगी।

वियतनाम समस्या के समाधान के बारे में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव श्री ऊथांट ने दि गॉल और श्रीमती गांधी के विचारों का काफी हद तक समर्थन किया और कहा कि अमेरिका द्वारा उत्तरी वियतनाम पर पहले बम-वर्षा बन्द की जानी चाहिए क्योंकि तभी शान्ति वार्ता प्रारम्भ होने के अनुकूल उपयुक्त परिस्थितियों का निर्माण हो सकता है। श्री थांट के ही शब्दों में— 'वियतनाम की समस्या वास्तव में अपनी आजादी के लिए लड़ने वाले देशवासियों की समस्या है। जब-जब आजादी मिलने में ज्यादा देर लगती है तब-तब प्रतिवादी शक्तियां प्रबल हो उठती हैं और दूसरी सन्तुलित शक्तियों को दबा देती हैं।

वियतनाम प्रश्न के हल के लिए पोप द्वारा सुझाव दिया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ तटस्थ देशों को इस विवाद में पंच बना कर उनसे इस समस्या का समाधान कराये। श्री ऊथांट भी वियतनाम संघर्ष में संयुक्त राष्ट्र संघ की निष्क्रियता अधिक समय तक सहन नहीं कर सके। उन्होंने जब

---

1 साप्ताहिक दिनमान ९ सितम्बर १९६६ पृष्ठ–११

वर्ष के दिन १ जनवरी १९६७ को इस समस्या को सुलझाने के लिए एक त्रि–सूत्रीय योजना प्रस्तुत की, जो इस प्रकार थी—

(i) उत्तरी वियतनाम पर की जाने वाली बम-वर्षा अविलम्ब बन्द की जाय।

(ii) दक्षिणी वियतनाम में सभी दल अपनी सम्पूर्ण सैनिक कार्यवाहियाँ बन्द कर दें।

(iii) शांति–संधि की बातचीत में युद्ध करने वाले सभी दल भाग लें जिसमें राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (National Liberation Front N.L.F.) के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हों।

१४ मार्च १९६७ को महासचिव ऊथांट ने उपरोक्त प्रस्तावों को संशोधित रूप में प्रस्तुत किया। परन्तु अभी तक इस प्रश्न पर महाशक्तियों में घोर मतभेद होने के कारण कोई समझौता नहीं हो सका है। इस विषय में प्रमुख महाशक्तियों के दृष्टिकोण इस प्रकार हैं—

संयुक्त राज्य अमेरिका का कहना है कि वियतनाम में उसकी उपस्थिति सैगोन सरकार की रक्षा और दक्षिण वियतनामी जनता को साम्यवादी आतंक से मुक्त रखने के लिए है। वह अपने मित्र दक्षिण वियतनाम की प्रार्थना पर उत्तर वियतनामी आक्रमणों से उसे बचाने के लिए आया है अतः उस समय तक किसी संधि वार्ता में भाग लेना उसके लिए उचित नहीं है जब तक कि उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम पर अपने हमले बन्द नहीं कर दे। अमेरिकन प्रशासन का यह भी दृढ़ विश्वास है कि दक्षिण पूर्वी एशिया में राजनीतिक स्थिति इतनी अस्थिर, अनिश्चित और डाँवाडोल है कि अमेरिका के वियतनाम एवं लाओस छिन्न भिन्न हो जाने पर इस सम्पूर्ण क्षेत्र में साम्यवादी शासन स्थापित हो जाने में विशेष देर नहीं लगेगी। अतः यदि वियतनाम से अमेरिका को हटना ही है तो इसके पहिले इस बात का पूरा प्रबन्ध कर लेना होगा कि उत्तरी वियतनाम पहले ही के समान अपनी आक्रमक कार्यवाहियों को पुनः आरम्भ करके दक्षिणी वियतनाम के अस्तित्व को कहीं खतरे में न डाल दे। इस क्षेत्र में साम्यवाद के प्रसार का बिना उचित निरोध हुए अमेरिका का वर्तमान प्रशासन पीछा नहीं पड़ना चाहता। यद्यपि अमेरिका में जनमत वर्तमान प्रशासन की नीति के विरुद्ध दिनों–दिन प्रबल होता जा रहा है किन्तु अधिकांश अमेरिकन राजनीतिज्ञों और राष्ट्रपति जॉन्सन को भय है कि यदि सैगोन सरकार को अमेरिका की सहायता से वंचित कर दिया गया तो साम्यवादी चीन से प्रचुर सैनिक सहायता पाकर उत्तरी वियतनाम दक्षिणी वियतनाम को हड़प लेगा और इस तरह सम्पूर्ण वियतनाम पर साम्यवादी चीन की प्रभुता स्थापित हो जायेगी। वियतनाम को जीत लेने के बाद कम्बोडिया और लाओस भी सरलता से पेकिंग के प्रभुत्व में चले जायेंगे। इसके बाद दक्षिण पूर्वी एशिया में थाईलैंड चीन का अगला शिकार बनेगा। चारों ओर से साम्यवादी चीन व उसके समर्थक दलों से घिर जाने पर थाईलैंड देर तक अपनी स्वतन्त्र सत्ता सुरक्षित नहीं रख सकेगा। इस प्रकार अकेले वियतनाम में चीनी मंसूबों की विजय होने का

भय होगा लगभग सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन का वर्चस्व स्थापित हो जाना। चूंकि यह स्थिति अमेरिका के लिए अग्राह्य होगी पश्चिम के अस्तित्व के लिए गम्भीरतम चुनौती होगी अतः दक्षिण वियतनाम की रक्षा करके चीनी प्रसारवाद को रोकना अमेरिका के लिए अनिवार्य है। वियतनाम में अमेरिका की नीति पर साप्ताहिक लिंकन (१४ मई १९६७ पृष्ठ १७) के सम्पादकीय में जो विचार प्रस्तुत किये गये हैं वे पठनीय हैं। यह सम्पादकीय इस प्रकार है—

"वियतनाम को लेकर अमेरिका को एक साथ कई लड़ाइयां लड़नी पड़ रही हैं। एक लड़ाई वह है जो दक्षिण वियतनाम के मैदानों में लड़ी जा रही है दूसरी लड़ाई वह है जिसके अन्तर्गत उत्तर वियतनाम की अर्थव्यवस्था और सम्पूर्ण सत्ता पर बमबारी की जा रही है तीसरी वह है जिसका उद्देश्य दक्षिण वियतनाम के सैगोन शासित प्रदेशों में वियतकांग का प्रतिरोध करने के लिए आवश्यक आर्थिक उन्नति और स्थानिक लोकतन्त्र का आयोजन किया जा रहा है चौथी वह है जो विश्व मत अपने पक्ष में करने के लिए लड़ी जा रही है और पांचवी तथा अमरिकी राष्ट्रपति की दृष्टि में सबसे महत्वपूर्ण वह लड़ाई है जो अमेरिकी जनमत की अदालत में लड़ी जा रही है। अमरिकी जनमत जहां एक ओर वियतनाम में साम्यवादी शासन स्थापित होने की सम्भावना को दूर रखना चाहता है वहां दूसरी ओर वियतनामी दलदल में अमेरिका के और और ज्यादा धंसते जाने की आशङ्का से घबराता है। यह दुविधा उसके लिये वियतनाम सम्बन्धी लगभग सभी सम्भावित नीतियों को समान रूप से अस्वीकार्य बना देती है।"

वियतनाम युद्ध में सोवियत रूस और साम्यवादी चीन दोनों ही उत्तरी वियतनाम को समर्थन व अप्रत्यक्ष सहयोग दे रहे हैं परन्तु दोनों में मतैक्य नहीं है। इस सम्बन्ध में दोनों की नीति का उल्लेख करते हुए एक ब्रिटिश पत्र 'सन्डे टेलीग्राफ' ने अपने सम्पादकीय में इस प्रकार लिखा है—"इसमें सन्देह नहीं है कि सोवियत रूस वियतनाम युद्ध का अन्त देखना चाहता है, पर उसके रास्ते में बड़ी बाधा चीन का रवैया है। युद्ध समाप्त करने के किसी भी प्रयत्न का समर्थन यदि सोवियत रूस ने किया तो चीन तुरन्त ही यह कह कर सोवियत रूस की निन्दा करेगा कि उसने अपने को अमरीका के हाथों बेच दिया है। राजनीतिज्ञों का यह मत है कि वियतनाम युद्ध में चीन ही एक मात्र ऐसा देश है जो शान्ति नहीं चाहता है। उसकी अपनी विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य तो सम्पूर्ण एशिया की भूमि से अमरीकन सेनाओं को हटाना है ताकि दक्षिण एशिया पर उसका प्रभुत्व स्थापित हो सके। एक अमेरिकन पत्र Progressive के अनुसार चीनियों का मत है कि—'दक्षिण वियतनाम में अमेरिकन सेनाओं का जमाव इतना अधिक वियतनामियों के विरुद्ध नहीं है जितना चीनियों के।" स्वयं चीनी नेताओं के कथनानुसार—अमेरिका ने चीन के चारों तरफ घेरा डालने के लिये सोवियत रूस, ब्रिटेन जापान और भारत के साथ गुटबन्दी कर रखी है।" दक्षिण पूर्वी एशिया में अपने प्रभाव के विस्तार का इच्छुक साम्यवादी चीन उत्तरी वियतनाम को अपने उद्देश्य की सिद्धि का साधन और संयुक्त राज्य अमेरिका के हमलों को

रोकने के लिए एक मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) बनाये रखना चाहता है। उसे लड़ाई कराने में ही अधिक लाभ है इसलिए वह दक्षिण वियतनाम के विषय में कोई सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता नहीं समझता। वह तो केवल इसी बात पर बल देता है कि अमेरिकन सेनाएं बिना किसी शर्त के दक्षिण वियतनाम छोड़कर चली जाएं ताकि उसे निगलने में साम्यवादी दैत्य को किसी पीड़ा का अनुभव न करना पड़े।

सोवियत रूस की स्थिति इस मामले में बड़ी दुविधापूर्ण है। एक तरफ तो वह अपने जाति भाई उत्तरी वियतनाम को सहायता देने में चीन से पीछे नहीं रहना चाहता क्योंकि इससे चीन को मास्को को बदनाम करने का अवसर मिलता है और दूसरी तरफ रूस को यह चिन्ता भी सताती है कि यदि उत्तरी वियतनाम सफल हो गया तो सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया में उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी चीन की तूती बोलने लगेगी। वियतनाम के प्रश्न को लेकर वह अमेरिका से टकराने की स्थिति से भी बचना चाहता है। रूस की दशा यह है कि बदनामी से बचने के लिए जब स्थल मार्ग से वह उत्तरी वियतनाम को सैनिक सहायता पहुंचाना चाहता है तो चीन उसके मार्ग में बाधाएं डालता है क्योंकि उत्तरी वियतनाम को संघर्ष में विजयी बनाने का सारा श्रेय वह (चीन) स्वयं लेना चाहता है और यदि 'रूस' समुद्री मार्ग से उत्तरी वियतनाम को अस्त्रशस्त्र भेजता है तो उसे अमेरिका के समुद्री बेड़े से भय रहता है। फिर भी दोनों ही स्थितियों से किसी न किसी तरह बचते हुए सोवियत संघ उत्तरी वियतनाम को इतनी प्रचुर मात्रा में सैनिक सहायता पहुंचा रहा है कि हनोई की चीनी सहानुभूति के प्रति शंका होने लगी है।

वियतनाम संघर्ष में भारत की नीति स्पष्ट होते हुए भी बड़ी दुविधापूर्ण और उलझन भरी है। चीन भारत का प्रबलतम शत्रु है अतः दक्षिणी पूर्वी एशिया में उसकी प्रभाव वृद्धि भारतीय हितों के लिए अत्यन्त घातक होगी। इस दृष्टि से उचित यही लगता है कि इस संघर्ष में भारत को दक्षिण वियतनाम का पक्ष लेना चाहिये। परन्तु यदि दक्षिणी वियतनाम की नीति अपनाई जाय तो सोवियत रूस से जुड़े हुए हमारे राष्ट्रीय हितों की हानि पहुंचती है। भारत-पाक संघर्ष भारत चीन विवाद और काश्मीर समस्या आदि के बारे में सोवियत मैत्री हमारे लिए कितनी मूल्यवान है यह कोई छिपा तथ्य नहीं। अतः यदि इस दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो समुचित यही प्रतीत होता है कि भारत को उत्तरी वियतनाम का समर्थन करना चाहिए। यदि दोनों दृष्टिकोणों पर सन्तुलित विचार किया जाए तो राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ठीक यही है कि भारत १९५४ के जेनेवा समझौते के क्रियान्वयन पर ही पूर्ण बल दे। दोनों पक्षों में समझौते के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ही भारत उत्तरी वियतनाम पर बम-वर्षा बन्द करने का पक्ष-पोषक है। भारत की मान्यता है कि बम-वर्षा रोकने से प्रथम तो युद्ध के विस्तार का भय कम हो जायेगा दूसरे महायुद्ध की विस्फोटक स्थिति टल जायेगी और तीसरे पारस्परिक वार्ता के लिए वाता-

करण में सुधार हो सकेगा। जब विरोधी पक्ष आमने-सामने चर्चा के लिए बैठेंगे तो सभी गतिरोध एक-एक करके शनै शनै दूर हो जाएंगे और वियतनाम में शांति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

वास्तव में वियतनाम में शान्ति की स्थापना तभी हो सकती है जब कि सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे के निकट आकर अपनी मित्रता बढ़ाएं और साम्यवादी चीन के विरुद्ध संगठित मोर्चा बनाएं। ऐसा न होने पर आधुनिक विश्व में स्थायी शान्ति की सम्भावना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। यह एक शुभ लक्षण है कि अब इस बात के संकेत मिलने लगे हैं कि एक तरफ तो राष्ट्रपति जॉनसन बिना शर्त बम वर्षा बन्द करने के लिए तैयार हैं ताकि हनोई को वार्तालाप करने में बम-वर्षा की बाधा की बात कहने का मौका न मिले और दूसरी तरफ हनोई और वियतकांग भी अपने दुराग्रहपूर्ण रवैये में नरमी लाने को सहमत हों।

मलेशिया
(Maleshiya)

लगभग ९५ लाख जनसंख्या और ५०६६० वर्गमील क्षेत्र का मलाया प्रायद्वीप दक्षिण पूर्वी एशिया के एक छोर पर स्थित है। पहले इस क्षेत्र पर कई सुल्तानों का शासन था जो बहुधा परस्पर लड़ते रहते थे। कालान्तर में अंग्रेज लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से यहां आये। धीरे-धीरे अपनी विस्तारवादी नीति द्वारा उन्होंने सन् १९०९ तक इस सम्पूर्ण प्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

अंग्रेजों ने अपने अधीनस्थ प्रदेश को राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से तीन असमान भागों (Unequal parts) में विभाजित किया—

(i) प्रथम राजनीतिक विभाग का नाम असंघीय मलयराज्य' (Unfederated Malaya State) रखा गया। यह पांच राज्यों को मिला कर बनाया गया। ये पांच राज्य थे: जोहोर केडाह कलान्तिन परलिस तथा ट्रेंगानु (Johore Kedah Kalantin Perlis and Trengganu)। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से ये पांचों राज्य स्वतन्त्र थे परन्तु ये सब संधियों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बद्ध थे और ब्रिटिश परामर्शदाताओं द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलते थे।

(ii) द्वितीय विभाग का नाम 'संघीय मलय राज्य' (Federated Malaya State) रखा गया। इस विभाग की रचना या स्थापना पेरक (Perak) नेगरी सेमबिलान् (Negri Semkilan) सेलांगर (Selangour) तथा पेहंग (Pahang) को मिला कर की गई। सन् १८९६ में चारों राज्यों को एक संघ के रूप में संगठित करके कुआलालम्पुर (Kuala Lumpur) में एक ब्रिटिश रैजिडेन्ट जनरल के अधीन कर दिया गया।

रोकने के लिए एक मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) बनाये रखना चाहता है। उसे लड़ाई कराने में ही अधिक लाभ है इसीलिए वह दक्षिण वियतनाम के विषय में कोई सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता नहीं समझता। वह तो केवल इसी बात पर बल देता है कि अमेरिकन सेनाएं बिना किसी शर्त के दक्षिण वियतनाम छोड़कर चली जाएं ताकि उसे निगलने में माओ रूपी दैत्य को किसी पीड़ा का अनुभव न करना पड़े।

सोवियत रूस की स्थिति इस मामले में बड़ी दुविधापूर्ण है। एक तरफ तो वह अपने जाति भाई उत्तरी वियतनाम को सहायता देने में चीन से पीछे नहीं रहना चाहता क्योंकि इससे चीन को मास्को को बदनाम करने का अवसर मिलता है और दूसरी तरफ रूस को यह चिन्ता भी सताती है कि यदि उत्तरी वियतनाम सफल हो गया तो सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया में उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी चीन की तूती बोलने लगेगी। वियतनाम के प्रश्न को लेकर वह अमेरिका से टकराने की स्थिति से भी बचना चाहता है। रूस की दशा यह है कि बदनामी से बचने के लिए जब स्थल मार्ग से वह उत्तरी वियतनाम को सैनिक सहायता पहुंचाना चाहता है तो चीन उसके मार्ग में बाधाएं डालता है क्योंकि उत्तरी वियतनाम को संघर्ष में विजयी बनाने का सारा श्रेय वह (चीन) स्वयं लेना चाहता है और यदि 'रूस' समुद्री मार्ग से उत्तरी वियतनाम को अस्त्रशस्त्र भेजता है तो उसे अमेरिका के समुद्री बेड़े से भय रहता है। फिर भी दोनों ही स्थितियों से किसी न किसी तरह बचते हुए सोवियत संघ उत्तरी वियतनाम को इतनी प्रचुर मात्रा में सैनिक सहायता पहुंचा रहा है कि हनोई की चीनी सहानुभूति के प्रति शंका होने लगी है।

वियतनाम संघर्ष में भारत की नीति स्पष्ट होते हुए भी बड़ी दुविधापूर्ण और उलझन भरी है। चीन भारत का प्रबलतम शत्रु है, अतः दक्षिणी पूर्वी एशिया में उसकी प्रभाव वृद्धि भारतीय हितों के लिए अत्यन्त घातक होगी। इस दृष्टि से उचित यही लगता है कि इस संघर्ष में भारत को दक्षिण वियतनाम का पक्ष लेना चाहिये। परन्तु यदि दक्षिणी वियतनाम की नीति अपनाई जाये तो सोवियत रूस से जुड़े हुए हमारे राष्ट्रीय हितों की हानि पहुंचाती है। भारत पाक संघर्ष भारत-चीन विवाद और काश्मीर समस्या आदि के बारे में सोवियत मैत्री हमारे लिए कितनी मूल्यवान है यह कोई छिपा तथ्य नहीं। अतः यदि हम दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो समुचित यही प्रतीत होता है कि भारत को उत्तरी वियतनाम का समर्थन करना चाहिए। यदि दोनों दृष्टिकोणों पर सन्तुलित विचार किया जाए तो राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ठीक यही है कि भारत १९५४ के जेनेवा समझौते के क्रियान्वयन पर ही पूर्ण बल दे। दोनों पक्षों में समझौते के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ही भारत उत्तरी वियतनाम पर बम-वर्षा बन्द करने का पक्ष-पोषक है। भारत की मान्यता है कि बम-वर्षा रोकने से प्रथम तो युद्ध के विस्तार का भय कम हो जायेगा दूसरे महायुद्ध की विस्फोटक स्थिति टल जायेगी और तीसरे पारस्परिक वार्त्ता के लिए वाता-

करण में सुधार हो सकेगा। जब विरोधी पक्ष आमने-सामने वार्ता के लिए बैठेंगे तो सभी गतिरोध एक-एक करके शनैः शनैः दूर हो जाएंगे और वियतनाम में शांति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

वास्तव में वियतनाम में शान्ति की स्थापना तभी हो सकती है जब कि सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे के निकट आकर अपनी मित्रता बढ़ाएं और साम्यवादी चीन के विरुद्ध संगठित मोर्चा बनाएं। ऐसा न होने पर आधुनिक विश्व में स्थायी शान्ति की सम्भावना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। यह एक शुभ लक्षण है कि अब इस बात के संकेत मिलने लगे हैं कि एक तरफ तो राष्ट्रपति जॉन्सन बिना शर्त बम वर्षा बन्द करने के लिए तैयार हैं ताकि हनोई को वार्तालाप करने में बम-वर्षा की बाधा की बात कहने का मौका न मिले और दूसरी तरफ हनोई और वियतकांग भी अपने दुराग्रहपूर्ण रवैये में नरमी लाने को सहमत हों।

मलेशिया
(Maleshiya)

लगभग ९१ लाख जनसंख्या और ५०६९० वर्गमील क्षेत्र का मलाया प्रायद्वीप दक्षिण पूर्वी एशिया के एक छोर पर स्थित है। पहले इस क्षेत्र पर कई सुल्तानों का शासन था जो बहुधा परस्पर लड़ते रहते थे। कालान्तर में अंग्रेज लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से यहां आये। धीरे-धीरे अपनी विस्तारवादी नीति द्वारा उन्होंने सन् १९०९ तक इस सम्पूर्ण प्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

अंग्रेजों ने अपने अधीनस्थ प्रदेश को राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से तीन असमान भागों (Unequal parts) में विभाजित किया—

(i) प्रथम राजनीतिक विभाग का नाम 'असंघीय मलयराज्य' (Unfederated Malaya State) रखा गया। यह पांच राज्यों को मिला कर बनाया गया। ये पांच राज्य थे : जोहोर, केदाह, कलान्तिन, परलिस तथा ट्रेंगानु (Johore Kedah Kalantin Perlis and Trengganu)। यद्यपि वैधानिक रूप से ये पांचों राज्य स्वतन्त्र थे परन्तु ये सब संधियों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बद्ध थे और ब्रिटिश परामर्शदाताओं द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलते थे।

(ii) द्वितीय विभाग का नाम 'संघीय मलय राज्य' (Federated Malaya State) रखा गया। इस विभाग की रचना या स्थापना पेरक (Perak) नेगरी सेमबिलान (Negri-Semkilan) सेलांगर (Selangour) तथा पेहंग (Pahang) को मिला कर की गई। सन् १८९६ में चारों राज्यों को एक संघ के रूप में संगठित करके क्वालालम्पुर (Kuala Lumpur) में एक ब्रिटिश रेजिडेन्ट जनरल के अधीन कर दिया गया।

रोकने के लिए एक मध्यवर्ती राज्य (Buffer State) बनाये रखना चाहता है। उसे लड़ाई जारी रहने में ही अधिक लाभ है इसीलिए वह दक्षिण वियतनाम के विषय में कोई सम्मेलन बुलाने की आवश्यकता नहीं समझता। वह तो केवल इसी बात पर बल देता है कि अमेरिकन सेनाएं बिना किसी शर्त के दक्षिण वियतनाम छोड़कर चली जाएं ताकि उसे निकट में माओ रूपी देत्य को किसी पीड़ा का अनुभव न करना पड़े।

सोवियत रूस की स्थिति इस मामले में बड़ी दुविधापूर्ण है। एक तरफ तो वह अपने जाति भाई उत्तरी वियतनाम को सहायता देने में चीन से पीछे नहीं रहना चाहता क्योंकि इससे चीन को मास्को को बदनाम करने का अवसर मिलता है और दूसरी तरफ रूस को यह चिन्ता भी सताती है कि यदि उत्तरी वियतनाम सफल हो गया तो सम्पूर्ण दक्षिण पूर्वी एशिया में उसके प्रबल प्रतिद्वन्द्वी चीन की तूती बोलने लगेगी। वियतनाम के प्रश्न को लेकर वह अमेरिका से टकराने की स्थिति से भी बचना चाहता है। रूस की दशा यह है कि बदनामी से बचने के लिए जब स्थल मार्ग से वह उत्तरी वियतनाम को सैनिक सहायता पहुंचाना चाहता है तो चीन उसके मार्ग में बाधाएं डालता है क्योंकि उत्तरी वियतनाम को संघर्ष में विजयी बनाने का सारा श्रेय वह (चीन) स्वयं लेना चाहता है और यदि 'रूस' समुद्री मार्ग से उत्तरी वियतनाम को अस्त्र-शस्त्र भेजता है तो उसे अमेरिका के समुद्री बेड़े से भय रहता है। फिर भी दोनों ही स्थितियों से किसी न किसी तरह बचते हुए सोवियत संघ उत्तरी वियतनाम को इतनी प्रचुर मात्रा में सैनिक सहायता पहुंचा रहा है कि हनोई को चीनी सहानुभूति के प्रति सन्देह होने लगी है।

वियतनाम संघर्ष में भारत की नीति स्पष्ट होते हुए भी बड़ी दुविधापूर्ण और उलझन भरी है। चीन भारत का प्रबलतम शत्रु है, अतः दक्षिणी पूर्वी एशिया में उसकी प्रभाव वृद्धि भारतीय हितों के लिए अत्यन्त घातक होगी। इस दृष्टि से उचित यही लगता है कि इस संघर्ष में भारत को दक्षिण वियतनाम का पक्ष लेना चाहिये। परन्तु यदि दक्षिणी वियतनाम की नीति अपनाई जाये तो सोवियत रूस से जुड़े हुए हमारे राष्ट्रीय हितों की हानि पहुंचती है। भारत पाक संघर्ष भारत-चीन विवाद और काश्मीर समस्या आदि के बारे में सोवियत मैत्री हमारे लिए कितनी मूल्यवान है यह कोई छिपा तथ्य नहीं। अतः यदि इस दूसरे दृष्टिकोण से विचार करते हैं तो समुचित यही प्रतीत होता है कि भारत को उत्तरी वियतनाम का समर्थन करना चाहिए। यदि दोनों दृष्टिकोणों पर समुचित विचार किया जाए तो राष्ट्रीय हित की दृष्टि से ठीक यही है कि भारत १९५४ के जेनेवा समझौते के क्रियान्वयन पर ही पूर्ण बल दे। दोनों पक्षों में समझौते के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ही भारत उत्तरी वियतनाम पर बम-वर्षा बन्द करने का पक्ष पोषक है। भारत की मान्यता है कि बम-वर्षा रोकने से प्रथम तो युद्ध के विस्तार का भय कम हो जायेगा दूसरे महायुद्ध की विस्फोटक स्थिति टल जायेगी और तीसरे पारस्परिक वार्ता के लिए वाता-

करण में सुधार हो सकेगा। जब विरोधी पक्ष आमने-सामने चर्चा के लिए बैठेंगे तो सभी गतिरोध एक-एक करके शनैः शनैः दूर हो जाएंगे और वियतनाम में शांति का मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।

वास्तव में वियतनाम में शान्ति की स्थापना तभी हो सकती है जब कि सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमेरिका एक दूसरे के निकट आकर अपनी मित्रता बढ़ाए और साम्यवादी चीन के विरुद्ध सङ्गठित मोर्चा बनाए। ऐसा न होने पर आधुनिक विश्व में स्थायी शान्ति की सम्भावना असम्भव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। यह एक शुभ लक्षण है कि अब इस बात के संकेत मिलने लगे हैं कि एक तरफ तो राष्ट्रपति जॉनसन बिना शर्त बम वर्षा बन्द करने के लिए तैयार हैं ताकि हनोई को वार्तालाप करने में बम-वर्षा की बाधा की बात कहने का मौका न मिले और दूसरी तरफ हनोई और वियतकांग भी अपने दुराग्रहपूर्ण रवैये में नरमी लाने को सहमत हों।

मलेशिया
(Maleshiya)

लगभग ६२ लाख जनसंख्या और ५०६९० वर्गमील क्षेत्र का मलाया प्रायद्वीप दक्षिण पूर्वी एशिया के एक छोर पर स्थित है। पहले इस क्षेत्र पर कई सुल्तानों का शासन था जो बहुधा परस्पर लड़ते रहते थे। कालान्तर में अंग्रेज लोग ईस्ट इण्डिया कम्पनी के माध्यम से यहां आये। धीरे धीरे अपनी विस्तारवादी नीति द्वारा उन्होंने सन् १९०९ तक इस सम्पूर्ण प्रदेश पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया।

अंग्रेजों ने अपने अधीनस्थ प्रदेश को राजनीतिक एवं प्रशासनिक दृष्टि से तीन असमान भागों (Unequal parts) में विभाजित किया—

(i) प्रथम राजनीतिक विभाग का नाम 'असंघीय मलयराज्य' (Unfederated Malaya State) रखा गया। यह पांच राज्यों को मिला कर बनाया गया। ये पांच राज्य थे: जोहोर केदाह कलान्तिन परलिस तथा ट्रेंगानु (Johore Kedah Kalantin, Perlis and Trengganu)। यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से ये पांचों राज्य स्वतन्त्र थे परन्तु ये सब संधियों द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य से सम्बद्ध थे और ब्रिटिश परामर्शदाताओं द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलते थे।

(ii) द्वितीय विभाग का नाम 'संघीय मलय राज्य' (Federated Malaya State) रखा गया। इस विभाग की रचना या स्थापना पेराक (Perak) नेगरी सेमबिलान् (Negri-Semkilan) सेलांगर (Selangour) तथा पेहग (Pahang) को मिला कर की गई। सन् १८९६ में चारों राज्यों को एक संघ के रूप में संगठित करके कुआलालम्पुर (Kuala Lumpur) में एक ब्रिटिश रेजिडेन्ट जनरल के अधीन कर दिया गया।

(iii) तृतीय राजनीतिक विभाग का नाम 'स्ट्रेट्स सैटलमेंट' (Straits Settlement) रखा गया। इसमें कुछ छोटे-बड़े द्वीप और मुख्य भू-प्रदेश के कुछ राज्य शामिल थे। ये द्वीप अथवा भू-राज्य थे थे—मलक्का (Malacca) पेनांग (Penang) वेलेजली प्रांत (Province Wellesley) डिंडिंग्स (Dindings) तथा सिंगापुर (Singapore)। सन् १८६७ तक इनका प्रशासन भारत के साथ ही किया गया किन्तु बाद में इन्हें 'क्राउन' (Crown) की अधीनता में एक पृथक उपनिवेश बना दिया गया।

द्वितीय महायुद्ध में सिंगापुर सहित सम्पूर्ण मलाया प्रायद्वीप पर जापानियों का कब्जा हो गया। उन्होंने अपनी औद्योगिक एवं सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मलाया प्रायद्वीप के आर्थिक स्रोतों का खूब कर शोषण किया। इस शोषण ने मलायी राष्ट्रवाद को जागृत कर दिया। १९४५ में जापान के आत्मसमर्पण कर देने के बाद मलाया प्रायद्वीप वापस ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत आ गया।

चूंकि मलाया प्रायद्वीप में स्वाधीनता के लिये राष्ट्रवादी आन्दोलन विशेष सक्रिय हो उठे थे अतः अक्टूबर १९४५ में ब्रिटिश सरकार ने सर हेरोल्ड मैक माइकेल को सुल्तानों के साथ संधि वार्ता करने के लिए भेजा। १ अप्रैल १९४६ को सिंगापुर को 'स्ट्रेट्स सैटलमेंट' से अलग करके एक नया 'क्राउन उपनिवेश' (Crown Colony) बना दिया गया। इसके अतिरिक्त पेनांग और मलक्का सहित ६ मलीय राज्यों (पांच असंघीय और चार संघीय) को मिला कर ब्रिटिश शासन की अधीनता में एक 'मलाया संघ' (Malayan Union) के रूप में संगठित करने की व्यवस्था भी की गई। सिंगापुर को पृथक क्राउन उपनिवेश इसलिये घोषित किया गया क्योंकि वहाँ राष्ट्रीयता की एक ऐसी भावना विद्यमान थी जो मलय की राष्ट्रीयता को स्वीकार न कर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व चाहती थी।

चूंकि 'मलाया संघ' की योजना का लोगों ने विरोध किया अतः ब्रिटिश सरकार ने इस संघ योजना का परित्याग करके १ फरवरी १९४८ को ब्रिटिश संरक्षण में ९ राज्यों के एक संघ की स्थापना की घोषणा की। परन्तु जनता इस घोषणा से भी सन्तुष्ट न हुई। फलतः जगह-जगह आन्दोलन और विध्वंसात्मक कार्य होने लगे हालांकि जातीय धार्मिक एवं विचारधाराओं आदि अन्य विभिन्नताओं के कारण कोई एकीकृत राष्ट्रीय आन्दोलन शुरू न हो सका। साम्यवादी तत्व सम्पूर्ण प्रदेश में अराजकता व अस्थिरता पैदा करने लगे। ब्रिटिश शासन ने अराजक तत्वों का कठोरता पूर्वक दमन किया। किन्तु समय की गति को देखते हुए अन्त में ३१ अगस्त १९५७ को 'राष्ट्रमण्डल' के एक स्वशासित अधिराज्य के रूप में मलाया संघ (Federation of Malaya) की स्वतन्त्रता घोषित कर दी गई। इस प्रकार अनेक शताब्दियों की ब्रिटिश दासता के बाद ३१ अगस्त १९५७ को मलाया ने स्वतन्त्रता की सांस ली। १९ नवम्बर १९५७ को क्वालालम्पुर में घोषणा की गई कि मलाया के नागरिकों को आगे से ब्रिटिश टाइटल (Titles) नहीं दिये जायेंगे। सिंगापुर

'क्राउन उपनिवेश' ही बना रहा और उसका प्रशासन सन् १९५४ में लागू किये गये एक पृथक् संविधान के अनुसार चलता रहा। तथापि सिंगापुर में स्वशासन की मांग जोर पकड़ती गई और कुछ वर्षों के लम्बे वाद विवादों अनुरोधों प्रतिरोधों के बाद अन्त में २-३ जून १९५९ की अर्द्धरात्रि में सिंगापुर के द्वीपीय राज्य (Island State) को स्वशासन और स्वाधीनता की प्राप्ति हुई। श्री लीकुआनयिऊ (Lee Kuan yew) इस नये स्वाधीन राज्य के प्रथम प्रधान मन्त्री बने। १३-१४ जून १९५९ को श्री लीकुआनयिऊ तथा सिंगापुर के अन्य मन्त्रियों ने मलाया के प्रधान मन्त्री से बातचीत करने के लिये कुआलालम्पुर की यात्रा की। दोनों ही ने एक संयुक्त विज्ञप्ति में आशा प्रकट की कि पारस्परिक सहयोग के महत्त्व को समझते हुए दोनों देश व्यापार, वित्त और शिक्षा की उन्नति करेंगे।

बृहत् मलेशिया योजना

चूंकि मलाया में साम्यवादी आन्दोलन बड़ा जबरदस्त था और बहुत बड़ी संख्या में रहने वाले प्रवासी चीनी यहां के राजनीतिक जीवन पर छाने लगे थे अतः साम्यवादी चीन के इस क्षेत्र में सम्भावित विस्तार की विकट समस्या के समाधान के लिये १९६१ की ग्रीष्म के प्रारम्भ में मलाया के प्रधान मन्त्री श्री टंकू अब्दुल रहमान ने मलाया सिंगापुर उत्तरी बोर्नियो ब्रूनी और सारवाक को मिला कर 'बृहत् मलेशिया' अथवा मलेशिया संघ की स्थापना की योजना प्रस्तुत की। इस संघ के उद्देश्य थे—(१) चीन के विस्तार को रोकना, (२) इस क्षेत्र के राजनीतिक जीवन पर प्रवासी चीनियों के प्रभाव को कम करना और (३) इस क्षेत्र का आर्थिक विकास करना। पहले तो सिंगापुर ने इसमें सम्मिलित होने से इन्कार कर दिया। पीछे इस प्रश्न पर जनमत संग्रह कराया गया जिसमें सिंगापुर के ७१ प्रतिशत लोगों ने 'मलेशिया' में शामिल होने के पक्ष में वोट दिया। कुछ कारणों से फिलिपाइन्स ने भी मलेशिया संघ का विरोध किया पर ब्रिटेन के हस्तक्षेप से वह शांत हो गया। इण्डोनेशिया द्वारा बृहत् मलेशिया की इस योजना का न केवल विरोध किया गया बल्कि उसने यह भी घोषणा की कि वह मलेशिया के मार्ग में 'बाधा डालने' की नीति का अनुसरण करेगा। मलाया और इण्डोनेशिया में परस्पर कटु आरोपों व उपेक्षापूर्ण व्यवहार का आदान प्रदान हुआ। किन्तु जून १९६३ में मनीला वार्ता के समय मलाया, इण्डोनेशिया और फिलिपाइन्स में सहमति हो गई और उन्होंने तीनों देशों के बीच मैत्री-सम्बन्धों की आवश्यकता को समझा। वास्तव में साम्यवादी चीन का खतरा सभी को लगभग समान लगता था और इसी बात ने उन्हें परस्पर मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की दिशा में अग्रसर किया। इण्डोनेशिया की सद्भावना प्राप्त करने के लिए मलाया ने दक्षिण-पूर्वी एशिया में मलेशिया, इण्डोनेशिया और फिलिपाइन्स को मिला कर 'मफिलिन्डो' महासंघ बनाना भी स्वीकार कर लिया। यह आशा की जाने लगी कि मनीला समझौते के बाद इण्डोनेशिया का विरोध शान्त हो जायगा। परन्तु यह आशा पूर्ण नहीं हो सकी क्योंकि इण्डोनेशिया मलेशिया संघ निर्माण-योजना का विरोध करता ही रहा।

अन्त में अनेक विघ्न बाधाओं और विचार विमर्श के बाद १६ सितम्बर, १९६३ को मलेशिया संघ की स्थापना हो गई। इसमें सिंगापुर उत्तरी बोर्नियो (साबा) और सारावाक सम्मिलित हुए। संघ को ब्रिटेन की पूरी सहानुभूति प्राप्त थी परन्तु इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्णो ने इसका विरोध किया। मलेशिया संघ के निर्माण के विरोध में जकार्ता में ब्रिटिश दूतावास के सामने इण्डोनेशिया के निवासियों ने हिंसात्मक उग्र प्रदर्शन किये। इस हिंसात्मक प्रदर्शन की मलेशिया संघ पर भी बड़ी प्रतिकूल प्रतिक्रिया हुई और १७ सितम्बर १९६३ को कुआलालुम्पुर स्थित इण्डोनेशियाई दूतावास के समक्ष मलेशियायी जनता ने भी उग्र और हिंसात्मक प्रदर्शन किये। इण्डोनेशिया ने मलेशिया संघ को न केवल मान्यता देने से इन्कार कर दिया अपितु इसे नष्ट करने के लिए छापामार सैनिक भी भेजे। मलेशिया संघ ने इण्डोनेशियाई कार्यवाहियों के प्रति उग्र विरोध प्रकट करते हुए इण्डोनेशिया और उसके समर्थक फिलिपाइन्स दोनों से ही कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिये।

मलेशिया और इण्डोनेशिया का पारस्परिक विवाद शीतयुद्ध का प्रधान मुद्दा बन गया। इण्डोनेशिया ने संयुक्त राष्ट्र संघ में मलेशिया के प्रतिनिधित्व पर आपत्ति की। राष्ट्रपति सुकार्णो ने घोषणा की कि वे बलपूर्वक इस संघ का नामोनिशान मिटा देंगे। चूंकि इण्डोनेशियाई छापामार सैनिक मलेशिया में चुपचाप भेजे जा चुके थे अतः मलेशिया ने अपनी सुरक्षा की दृष्टि से ब्रिटेन से सैनिक सहायता मांगी जिसके अन्तर्गत लगभग ६०,००० सैनिक साबा और सारावाक प्रान्तों में स्थापित किये गये। मलेशिया संघ को कुचल देने के इण्डोनेशियाई षड्यंत्र से बचाव के लिए मलेशिया द्वारा सैनिक सहायता प्राप्त किया जाना वस्तुतः बड़ा अनिवार्य था। कहा जाता है कि मलेशिया को कुचलने के उद्देश्य की पूर्ति हेतु इण्डोनेशिया और साम्यवादी चीन के बीच एक गुप्त समझौता हुआ था जिसके द्वारा यह निश्चय किया गया था कि मलेशिया को कुचलने के बाद वे दोनों देश उसे आपस में बांट लेंगे।[1]

इण्डोनेशिया और मलेशिया संघ के बीच एक बार तो तनातनी इतनी बढ़ गई कि यह लगभग निश्चित सा लगने लगा कि दोनों के बीच युद्ध शुरू होकर ही रहेगा। इस स्थिति को टालने के लिये २० जून १९६४ को टोकियो में एक शिखर सम्मेलन हुआ जिसमें इण्डोनेशिया फिलिपाइन्स तथा मलेशिया के शासनाध्यक्ष शामिल हुए किन्तु मतभेद इतने गहरे थे कि किसी तरह का समझौता नहीं हो सका।

मलेशिया संघ के प्रति इण्डोनेशिया के इतने उग्र विरोध का एक स्पष्ट कारण यही था कि पश्चिमी इरियन को प्राप्त करके ही राष्ट्रपति सुकार्णो की

---

1 New York Herald Tribune February 7,1965, p 4

प्रादेशिक महत्वाकांक्षा समाप्त नहीं हो गई थी। उनकी नजर उत्तरी बोर्नियो (साबा) पर बराबर रही और वे उसे भी इण्डोनेशिया की छत्रछाया में लेने के अभिलाषी रहे। इसी बात को लेकर मलेशिया और इण्डोनेशिया के मध्य मनोमालिन्य और विरोध का सागर उमड़ पड़ा। इण्डोनेशिया की मांग यह थी कि ब्रिटेन सर्वप्रथम उत्तरी बोर्नियो को आजाद कर दे और तदुपरान्त स्वतन्त्र बोर्नियो इस बात का फैसला करे कि वह मलेशिया संघ में शामिल होना चाहता है या नहीं। परन्तु ब्रिटेन ने इण्डोनेशिया की मांग को अस्वीकार करते हुए मलेशिया संघ के निर्माण में योग दिया और उसे मान्यता प्रदान की। प्रतिक्रियास्वरूप इण्डोनेशिया ने मलेशिया संघ के निर्माण का केवल विरोध ही नहीं किया अपितु राष्ट्रपति सुकार्णो ने उसका नामोनिशान मिटा देने की भी कसम खायी।

मलेशिया संघ के निर्माण के बारे में यह स्मरणीय है कि सिंगापुर शुरू में ही इसमें शामिल नहीं होना चाहता था। परन्तु अमेरिका और ब्रिटेन ने उसे संघ में शामिल होने के लिये बाध्य किया किन्तु संघ में शामिल होने से सिंगापुर की आर्थिक कठिनाईयां पूर्वापेक्षा अधिक हो गईं। अतः ९ अगस्त १९६५ को वह मलेशिया संघ से पृथक हो गया। यद्यपि संघ का निर्माण संयुक्त राष्ट्र संघीय दल के निर्देशन में वहाँ की जनता के मत के आधार पर हुआ था और इसीलिये इसका विघटन भी जनमत के आधार पर ही होना चाहिये था परन्तु सिंगापुर के प्रधानमन्त्री श्री लीकुआन यू तथा मलेशिया के प्रधानमन्त्री श्री टंकु अब्दुल रहमान ने परस्पर समझौते के आधार पर इसका विघटन कर दिया। समझौते के समय दोनों ने पारस्परिक सहयोग की बात कही थी परन्तु बाद में शीघ्र ही उनमें व्यापारिक युद्ध छिड़ गया। सिंगापुर में मलेशियाई उत्पादन के १८५ आयात कोटे स्वयं ले लिये। इस प्रकार लगभग ४० प्रतिशत व्यापार उसके हाथ से निकल गया। ४ जून १९६६ को इण्डोनेशिया ने २२५ वर्गमील के क्षेत्रफल और लगभग १७ लाख की आबादी वाले सिंगापुर को मान्यता प्रदान कर दी। सिंगापुर स्वतन्त्र होकर संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया और इस तरह मलेशिया संघ में मलाया उत्तरी बोर्नियो कूगी और सारवाक ही रह गये। यह उल्लेखनीय है कि मलेशिया संघ से पृथक होते समय सिंगापुर ने यह आश्वासन दिया था कि वह किसी ऐसे देश के साथ कोई संधि समझौता नहीं करेगा जिससे मलेशिया की सुरक्षा खतरे में पड़ जाय।

मलेशिया संघ से इण्डोनेशिया का विरोध इतना उग्र था कि जब जनवरी १९६५ में मलेशिया संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद का सदस्य निर्वाचित हुआ तो इण्डोनेशिया ने घृणा और विरोध का निर्लज्ज प्रदर्शन करते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता तक छोड़ने की घोषणा कर दी यद्यपि बाद में वह संघ में पुन सम्मिलित हो गया। जब अगस्त ६५ में सिंगापुर मलेशिया संघ से अलग हो गया तब भी इण्डोनेशिया के विरोध में कोई कमी नहीं आई। मलेशिया इण्डोनेशिया विवाद दक्षिण-पूर्वी एशिया के अन्तर्राष्ट्रीय संकट का मुख्य कारण बना रहा तथापि यह अवश्य निश्चित हो गया कि

इण्डोनेशिया का कोई भी उग्रतम विरोध मलेशिया संघ के अस्तित्व को नहीं मिटा सकता। अक्टूबर १९६५ में स्वयं इण्डोनेशिया भयंकर गृह कलह का शिकार हुआ। इस हालत में इण्डोनेशिया के नेताओं को 'मलेशिया कुचलो' अभियान को बन्द करना पड़ा। मलेशिया और इण्डोनेशिया में लगभग २ वर्षों तक कटुता का वातावरण बना रहा जिसका अन्त जून १९६६ में बैंकॉक सम्मेलन में हुआ। इण्डोनेशिया में दक्षिण पंथी क्रांति के बाद वहाँ के विदेश मन्त्री डॉ. आदम मलिक और मलेशिया के उप प्रधान तुन अब्दुलरज्जाक की मई-जून १९६६ में थाईलैण्ड की राजधानी बैंकॉक में शांति-वार्ता हुई। इस वार्ता में दोनों ने आपस में चीम मैत्री का आदान प्रदान किया और अपने सम्बन्धों को मधुर व मृदु बनाने की घोषणा की। इस सन्दर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि दोनों ही देशों ने अपनी शांति-वार्ता बिना किसी मध्यस्थ की सहायता के प्रत्यक्ष और सीधी बातचीत द्वारा पूरी की जिसे बैंकॉक भावना की संज्ञा दी गई।

बैंकॉक सम्मेलन के बाद से ही दोनों देशों के सम्बन्ध निरन्तर मधुर होते गए। जुलाई १९६६ से इण्डोनेशिया की राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) की बैठक हुई जिसने मलेशिया से संघर्ष समाप्त करने की १ जून १९६६ को घोषित की गई सरकारी नीति को स्वीकार किया। जनरल सुहार्तो के नेतृत्व में नई सरकार मलेशिया संघ को मान्यता पहले ही दे चुकी थी। दोनों राज्यों ने विवादग्रस्त साराबाक और साबा के प्रदेशों में परिस्थिति शांत होने पर जनमत संग्रह करने का निश्चय किया है। दोनों राष्ट्रों के इस सम्मेलन से दक्षिण-पूर्वी एशिया के एक बड़े क्षेत्र में प्राय शान्ति स्थापित हो गई है।

इण्डोनेशिया
[Indonesia]

इण्डोनेशिया या ईस्ट इण्डीज (East Indies) सैकड़ों द्वीपों का एक विशाल समूह है जो यूरोप-एशिया और एशिया-आस्ट्रेलिया को मिलाने वाले सामुद्रिक मार्गों के आर-पार तथा भू-मध्य रेखा के किनारे स्थित है। द्वितीय महायुद्ध के पहले जिस प्रदेश को ईस्ट इण्डीज कहा जाता था वही अब इण्डोनेशिया कहा जाता है। इस प्रदेश में प्रशान्त महासागर के चार बड़े द्वीप—जावा सुमात्रा कालीमंटन और सेलीबीज अथवा अन्य छोटे द्वीप तथा हजारों छोटे-छोटे द्वीप सम्मिलित हैं। छोटे द्वीपों में उल्लेखनीय लोम्बाक सोएम्बावा, सोएम्बा पश्चिमी न्यूगिनी या इरियन पश्चिमी व दक्षिणी-पूर्वी बोर्नियो, फ्लोरेस तिमोर, मेदुर मोलुक्कास आदि हैं। इण्डोनेशिया द्वीप समूह का भू क्षेत्र लगभग ७½ लाख वर्गमील और जनसंख्या लगभग ८ करोड़ है, जिसमें स्वयं इण्डोनेशिया वासियों के अतिरिक्त मलायावासी चीनी व मुसलमान आदि सम्मिलित हैं।

यद्यपि उपरोक्त द्वीपों में से कुछ पर डच लोगों (हॉलैंड वासियों) का आधिपत्य काफी पहिले स्थापित हो चुका था तथापि इण्डोनेशिया का

अधिकांश भू भाग उनके कब्जे में द्वितीय महायुद्ध से पूर्व लगभग ५० वर्षों के दौरान ही हुआ। द्वितीय महायुद्ध के दौरान इस सम्पूर्ण क्षेत्र पर जापान का अधिकार हो गया। डा० हट्टा तथा सुकार्णो नामक दो युवक इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादी नेताओं ने युद्ध के उपरांत स्वाधीनता प्राप्ति की आशा से जापानियों के साथ पूर्ण सहयोग किया परन्तु दूसरी ओर शरीफुद्दीन (Sjarifuddin) तथा शहरिर (Sjahrir) ने युद्ध-काल में ही विदेशी आधिपत्य से देश को छुटकारा दिलाने के लिये जापान के विरुद्ध छापामार-युद्ध छेड़ दिया। महायुद्ध की अन्तिम अवस्था में जापान के आत्म-समर्पण के दो दिन बाद ही १७ अगस्त १९४५ को इण्डोनेशियाई जनता के एक समूह ने डा० सुकार्णो को राष्ट्रपति और जकार्ता (बटेविया) को राजधानी बना कर "स्वतन्त्र इण्डोनेशियाई गणतन्त्र" (Independent Republic of Indonesia) की स्थापना की घोषणा कर दी। चूंकि जापान के आत्म-समर्पण करने के पहिले यह तय किया जा चुका था कि इण्डोनेशिया पर पुनः डच-प्रभुसत्ता को कायम किया जायेगा अतः डा० सुकार्णो और उनके सहयोगियों तथा 'स्वतन्त्र इण्डोनेशियाई-गणतंत्र' की नव-स्थापित सरकार को यह आशंका सताने लगी कि डच लोग इण्डोनेशिया पर अपने आधिपत्य की पुनर्स्थापना का शीघ्र ही प्रयास करेंगे। इस सम्भावित और निश्चित खतरे का मुकाबला करने के लिये तथा अपने देश को अन्तिम रूप से साम्राज्यवादी पंजे से मुक्त करने के लिये लगभग सम्पूर्ण इण्डोनेशियाई जनता संयुक्त रूप से कटिबद्ध हो गई।

अगस्त से सितम्बर, १९४५ तक उपरोक्त 'इण्डोनेशियाई गणतन्त्र' किसी प्रकार काम करता रहा। इस अवधि में कुछ सरकारी संस्थायें स्थापित करने का प्रयास भी किया गया किन्तु इसी समय मित्र राष्ट्रों की सेनायें इण्डोनेशियाई भू-क्षेत्र में उतर गईं और कुछ झड़पों के बाद जावा के अधिकांश भाग पर उन्होंने कब्जा कर लिया। इस घटना से इण्डोनेशिया वासियों में क्षोभ और विरोध की भावना उमड़ पड़ी क्योंकि उन्हें विश्वास हो गया कि ये मित्र राष्ट्रीय सेनायें इण्डोनेशिया पर डच-साम्राज्यवाद को पुनः लादने के लिए आई हैं। मित्र राष्ट्रीय सेनाओं का इण्डोनेशियाई क्षेत्र में डचों की सहायता के लिये ही प्रवेश हुआ था। इस समय नीदरलैण्ड्स जर्मन आधिपत्य से मुक्त हुआ ही था अतः उसमें इतनी सामर्थ्य शेष न थी कि वह अकेले अपने सैनिक बल पर इण्डोनेशिया में अपना प्रभुत्व म नियन्त्रण कर सकता।

इण्डोनेशियाई जनता का राष्ट्रवाद अब साम्राज्यवाद के दैत्य के सामने झुकने को तैयार न था अतः मित्र राष्ट्रीय ब्रिटिश सेनाओं से इण्डोनेशियाई युवकों की झड़पें होने लगीं। २१ अक्टूबर १९४५ को उनमें खुल कर जोरदार टक्कर हो गई। इस संघर्ष में दोनों पक्षों के हजारों व्यक्ति मारे गए। २५ अक्टूबर, १९४५ को इण्डोनेशिया की राष्ट्रवादी सरकार ने यह घोषणा की कि वह प्रभुसत्ता के हस्तांतरण के विषय में डच-सरकार से समझौता-वार्ता करने के लिये तैयार है। मध्यस्थों के प्रयास से नीदरलैण्ड भी वार्ता के लिये

तैयार हो गया और उसने एक नौ-सूत्रीय प्रस्ताव रखा। परन्तु राष्ट्रवादी सरकार ने इस प्रस्ताव को मानने से इन्कार कर दिया। दोनों पक्षों में समझौता कराने के विभिन्न प्रयास हुए लेकिन किसी को सफलता नहीं मिली।

इसी मध्य सुरक्षा परिषद में इण्डोनेशियाई विवाद उपस्थित हुआ। १७ जनवरी १९४६ को यूक्रेन ने सुरक्षा परिषद में यह आरोप लगाया कि ब्रिटिश और डच-फौजों ने इण्डोनेशिया पर अपना कब्जा जमा लिया है और उनका यह कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये गम्भीर खतरा उत्पन्न कर रहा है। यूक्रेन ने मांग की कि संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा घटना की जांच की जाकर इण्डोनेशिया को विदेशी सेनाओं से मुक्ति दिलाई जावे। यद्यपि परिषद में यूक्रेन के प्रस्ताव पर विचार तो अवश्य किया गया किन्तु आवश्यक बहुमत के अभाव में वह प्रस्ताव पारित न हो सका और फलस्वरूप इस सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से कोई कार्यवाही नहीं की जा सकी।

इण्डोनेशिया और डच सरकार में समझौता कराने के लिए सुरक्षा परिषद के बाहर भी विभिन्न प्रयास चलते रहे। ११ मार्च १९४६ को इण्डोनेशियाई गणराज्य के तत्कालीन प्रधानमन्त्री शहरिर ने यह प्रस्ताव रखा कि वार्ता प्रारम्भ करने से पहिले डच सरकार इण्डोनेशिया के गणराज्य को मान्यता प्रदान कर दे और समझौता होते ही इण्डोनेशिया से अपनी सेनाएं वापिस बुला ले। डच सरकार ने इन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। तत्पश्चात् १४ अप्रेल १९४६ को हेग में दोनों दलों के बीच पुनः समझौता वार्ता प्रारम्भ हुई परन्तु इसका भी कोई परिणाम नहीं निकला। २४ अप्रेल को यह वार्ता भंग हो गई और साथ ही दोनों पक्ष भी अब पहिले से अधिक कठोर हो गये।

अब डच सरकार ने इण्डोनेशियाई जनता में फूट पैदा कराने की नीति का अवलम्बन किया। इण्डोनेशिया के कुछ स्वार्थी तत्वों को भड़काया गया भाड़े के टट्टुओं को उकसाया गया और जुलाई, १९४६ में उनके द्वारा मलिनो-सम्मेलन का आयोजन कराया गया। इस सम्मेलन में शामिल होने वालों ने इण्डोनेशियाई गणतन्त्र का विरोध किया और हॉलैण्ड की छत्रछाया में एक संघीय राज्य की स्थापना की मांग की। इसी तरह के और भी अनेक प्रयास किये गये और इस प्रकार अन्ततः इण्डोनेशिया में पार्थक्यवादी आन्दोलन ने जोर पकड़ लिया।

इस सम्पूर्ण अवधि में इण्डोनेशियाई राष्ट्रवादियों व डच सेनाओं में निरन्तर छोटे-मोटे संघर्ष होते रहे और युद्ध-युद्ध की सी स्थिति बनी रही। अक्टूबर १९४६ में यद्यपि ब्रिटिश मध्यस्थता के फलस्वरूप दोनों पक्षों में सैनिक युद्ध विराम हुआ फिर भी कभी कभी लड़ाई चलती रही। परन्तु १५ नवम्बर १९४६ को डच सरकार और इण्डोनेशिया-वासियों के एक गुट में 'संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया' (United States of Indonesia) की

स्थापना-सम्बन्धी समझौता हो जाने पर इण्डोनेशियाई उग्रवादियों ने अपनी हिंसात्मक छापामार गतिविधियाँ पुनः तेज कर दीं। 'संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया' का यह प्रस्तावित संघीय राज्य तीन स्वायत्त राज्यों को मिला कर बनाया जाना निश्चित हुआ था।—(१) इण्डोनेशियाई गणतन्त्र (२) महापूर्व (The Great East) एवं (३) बोर्नियो का डच भाग। उपरोक्त समझौते (जिसका नाम लिंगाजती समझौता Lingeadjati Agreement रखा गया) के अन्तर्गत नीदरलैण्ड्स नीदरलैण्ड्स वेस्ट इंडीज या पश्चिमी इरियन सुरीनाम कुराकाओ तथा संयुक्त संघीय राज्य इण्डोनेशिया (The Federated United States of Indonesia) को मिलाकर एक नीदरलैण्ड्स-इण्डोनेशियाई संघ' की स्थापना की भी व्यवस्था की गई थी।

उपरोक्त समझौते का इण्डोनेशिया के नरमपंथियों द्वारा स्वागत और उग्रवादियों द्वारा विरोध किये जाने की अवस्था में डच अधिकारियों ने इन द्वीपों की आंतरिक एकता भंग करने की चाल अपनाई। डचों की कूटनीति सफल हुई। अप्रेल १९४७ में पश्चिमी जावा ने इण्डोनेशियाई गणतन्त्र' के विरुद्ध विद्रोह करके डच-सैनिक संरक्षण में एक पृथक राज्य की स्थापना कर ली। मई, १९४७ में पश्चिमी बोर्नियो का संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया के अन्दर ही एक स्व शासित भू प्रदेश घोषित कर दिया और अगस्त में यही स्तर पूर्वी बोर्नियो को भी प्रदान कर दिया गया। सन् १९४७ के अन्त तक स्वायत्त भू-प्रदेश स्थापित करने का यह सिलसिला चलाया जाता रहा।

अप्रेल में पश्चिमी जावा और पश्चिमी बोर्नियो की घटनाओं ने इण्डोनेशिया के गणराज्य को डच सरकार के इरादों के प्रति पूरी तरह शंकित कर दिया। २७ जून को प्रधान मन्त्री शहरिर ने त्याग पत्र दे दिया और उनके स्थान पर शरीफुद्दीन (Sharifuddin) गणराज्य के प्रधान मन्त्री बने। शरीफुद्दीन सरकार ने डच सरकार के प्रति कठोर रुख अपनाना शुरू किया। अब इण्डोनेशिया की स्थिति अतिशय गम्भीर होने लगी। चूँकि डच सरकार इण्डोनेशियाई द्वीपों की आन्तरिक एकता भंग करने में सफल हो चुकी थी और कुछ द्वीप अपनी स्वायत्तता की घोषणा करने लगे थे। अतः जुलाई, १९४७ में डच अधिकारियों ने 'कानून व व्यवस्था' स्थापित करने के बहाने 'इण्डोनेशियाई गणतन्त्र में 'पुलिस-कार्यवाही' करने का निश्चय किया। १४ जुलाई, को डच सरकार ने गणराज्य की सरकार को यह अल्टीमेटम दिया कि वह १६ जुलाई तक डच विरोधी हिंसात्मक कार्यवाहियों को समाप्त कर दे विदेशी नागरिकों की जब्त सम्पत्ति को वापिस कर दे और डच अधिकृत क्षेत्रों के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध उठा ले, अन्यथा डच सरकार उसके विरुद्ध अपनी इच्छानुसार कार्यवाही करेगी। गणराज्य सरकार ने इस अल्टीमेटम को अस्वीकार कर दिया। इस पर २१ जुलाई को डच सेनाओं ने गणराज्य अधिकृत जावा और सुमात्रा पर हमला बोल दिया। डच सरकार ने इसे 'सीमित पुलिस कार्यवाही' की संज्ञा दी और इसकी सूचना संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को दे दी।

इस घटना के तुरन्त बाद जुलाई में ही भारत और आस्ट्रेलिया ने सुरक्षा परिषद का ध्यान डच इण्डोनेशियाई लड़ाई की ओर आकर्षित किया। भारत ने संयुक्त राष्ट्र संघ से इण्डोनेशिया में अविलम्ब हस्तक्षेप करने की अपील की और डच वायुयानों को अपने क्षेत्र से गुजरने की मनाही कर दी। १ अगस्त से २६ अगस्त १९४७ तक सुरक्षा परिषद में इण्डोनेशियाई समस्या पर विचार होता रहा। परिषद द्वारा दोनों पक्षों को अविलम्ब युद्ध बन्द कर देने और पंच फैसले अथवा शांतिपूर्ण समझौता-वार्ता द्वारा समस्या को सुलझाने के लिए कहा गया। परिषद में युद्ध विराम आयोग की स्थापना का प्रस्ताव तो पास नहीं हो सका परन्तु झगड़े के शांतिपूर्ण निराकरण में दोनों पक्षों को सहायता देने के लिए अमेरिका आस्ट्रेलिया और बेल्जियम के प्रतिनिधियों को मिला कर एक 'सत्कार्य या मध्यस्थता समिति (Good Offices Committee) की स्थापना कर दी गई। इस समिति के प्रयासों से लड़ाई बन्द हो गई और १७ जनवरी १९ ८ को एक विराम संधि समझौते पर हस्ताक्षर हो गये। समझौते के अनुसार लड़ाई स्थगित कर दी गई निशस्त्रीकृत क्षेत्र बनाये गये और विवाद के राजनीतिक समाधान के लिए कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये गये।

अब दोनों पक्षों में स्थायी संधि के लिए वार्ता चलने लगी। इस सम्बन्ध में अनेक प्रस्ताव आये परन्तु दोनों पक्षों में स्थायी आधार पर कोई समझौता नहीं हो सका। डच-सरकार ने संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया' को अन्तिम एवं औपचारिक रूप प्रदान करने का निश्चय किया तथा संघ और उसके सदस्यों के अधिकारों को अधिक महत्व दे करके 'गणराज्य' की स्थिति को गिराने की चेष्टा की। मार्च १९४८ में डच-सरकार ने 'नीदरलैंड्स-ईस्टइण्डीज' के लिए एक 'कार्यकारी संघीय सरकार' (Provisional Federal Government) की नियुक्ति की किन्तु 'गणराज्य' ने स्वयं को इससे सम्बद्ध करने से इन्कार कर दिया। इसी बीच १६-१७ अगस्त को सिमूर (बटेविया) में एक अप्रिय घटना घट गई जिसके फलस्वरूप गणराज्य के सैनिकों और डच सैनिकों के मध्य लड़ाई पुनः शुरू हो गई।

१९ दिसम्बर, १९४८ को, युद्ध विराम संधि को भंग करते हुए, डच अधिकारियों ने गणतन्त्र' के समर्थकों की तथाकथित आतंकवादी कार्यवाहियों का दमन करने के लिये पुनः 'पुलिस-कार्यवाही' का आश्रय लिया। डच सरकार की यह दूसरी पुलिस (अर्थात् सैनिक)-कार्यवाही पहिले की अपेक्षा कहीं अधिक कठोर थी। इसके फलस्वरूप गणराज्य की सेनायें तितर बितर कर दी गयीं और उसके नेताओं को जिनमें हट्टा व सुकार्नो भी थे कैद कर लिया गया। डच अधिकारियों ने अपने क्रूर और अमानवीय कार्यों से बाह्य विश्व की सद्भावना पूर्णतः खो दी। सुरक्षा परिषद की एक संकटकालीन बैठक में २२ दिसम्बर को समस्या पर पुन विचार किया गया। परिषद ने एक दूसरा युद्ध-विराम आदेश जारी किया और डच सैन्य को गणराज्य के प्रधान तथा अन्य राजनीतिक कैदियों को छोड़ देने की हिदायत दी। दूसरी

और वाशिंगटन ने इण्डोनेशिया के डच अधिकारियों को आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया। इसी बीच २० जनवरी से २३ जनवरी १९४९ तक नई दिल्ली में इण्डोनेशियाई समस्या पर विचार करने के लिये एक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें डच-कार्यवाही की कठोर निन्दा की गई तथा इण्डोनेशिया वासियों के स्वाधीनता संग्राम का पुरजोर समर्थन किया गया। २८ जनवरी १९४९ को सुरक्षा परिषद ने पुनः युद्ध-विराम का आदेश जारी किया।

उपरोक्त सब कार्यवाहियों और विश्व के बढ़ते हुए विरोधी जनमत से बाध्य होकर नीदरलैण्ड अथवा डच-सरकार अपना साम्राज्यवादी एवं दुराग्रही नीति से विचलित हुई। उसने फरवरी १९४९ में इण्डोनेशिया की स्वाधीनता पर विचार करने के लिए एक 'गोलमेज सम्मेलन' आयोजित करने की घोषणा की। लम्बी वार्ता के बाद डचों ने अपनी सेनायें जावा और सुमात्रा से हटा लीं। बाद में लगभग ढाई महीने तक (२३ अगस्त से २ नवम्बर १९४९ तक) हेग में गोलमेज सम्मेलन चला और अन्त में २ नवम्बर १९४९ को एक समझौते पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अनुसार संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया को १६ राज्यों सहित नीदरलैण्ड्स का साझेदार न एक ही सम्प्रभु की अध्यक्षता में समान स्तर पर एक सार्वभौम लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में परिणत करने का निश्चय किया गया। परन्तु इस प्रस्तावित संघ सरकार में 'डच-न्यूगिनी' या 'पश्चिमी इरियन' को समाविष्ट नहीं किया गया। २७ दिसम्बर, १९४९ को नीदरलैण्ड-सरकार ने इण्डोनेशिया को प्रभुसत्ता पूर्ण रूप से हस्तांतरित कर दी। राजधानी का नाम बटेविया से बदल कर जकार्ता (Djakarta) रखा गया। वाशिंगटन ने शीघ्र ही इस नव राज्य को कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी और २८ सितम्बर १९५० को इण्डोनेशिया संयुक्त राष्ट्र संघ का भी सदस्य बन गया।

इण्डोनेशिया गणतन्त्र (एकात्मक राज्य) की स्थापना

उपरोक्त 'संघीय संयुक्त राज्य इण्डोनेशिया' (The Federated United States of Indonesia) की 'डच क्राउन' (Dutch-Crown or Sovereign) की अध्यक्षता में स्थापना से भी देश में शान्ति का वातावरण पैदा नहीं हो सका। इण्डोनेशिया-वासी तो नीदरलैण्ड से पूर्णरूपेण पृथक एवं 'एकात्मक' राज्य के इच्छुक थे। अतः उन्होंने राज्य के 'संघीय' स्वरूप को समाप्त करने के लिए आन्दोलन छेड़ दिया। अन्त में १५ अगस्त १९५० को १६ राज्यों के इस संघ (Federation) के स्थान पर 'इण्डोनेशिया गणतन्त्र' (Republic of Indonesia) के नाम से १० प्रान्तों वाले एक एकात्मक (Unitary) राज्य की स्थापना हो गई। शीत युद्ध और महाशक्तियों के संघर्ष के सम्बन्ध में इण्डोनेशिया ने प्रारम्भ से भारत के समान ही असंलग्नता की नीति पर चलने का निश्चय किया। १९५१ में प्रथम राष्ट्र दिवस पर बोलते हुए राष्ट्रपति सुकार्णो ने कहा—"हमारी नीति विरोधी गुटों के बीच की स्वामी विहीन भूमि (No-Man's Land) पर है और हम इन विरोधी

गुटों के बीच एक 'पुल' के रूप में सहायक होने की आशा रखते हैं।"[1] १० अगस्त १९५४ को पारस्परिक सहमति से इण्डोनेशिया और नीदरलैण्ड के मध्य प्रस्तावित संघ को भी समाप्त किया गया और दोनों देशों में पारस्परि सार्वभौम राज्यों वाले सम्बन्ध स्थापित [illegible]।

पश्चिमी इरियन की समस

दोनों देशों में उपरोक्त सम्बन्धों की स्थापना के बाद भी पश्चिम इरियन या पश्चिमी न्यूगिनी विवाद का प्रश्न बना रहा। नीदरलैंड (अथ हॉलैंड) ने इण्डोनेशिया को तो स्वतन्त्र कर दिया था किन्तु इरियन को ए सौंपने से इन्कार कर दिया था। अतः यह स्वाभाविक था कि इण्डोनेशि डच साम्राज्यवाद के इस अवशेष को अपनी भूमि से मिटाने का प्रय करता। इण्डोनेशिया ने पश्चिमी इरियन के भविष्य का निर्धारण करने लिए जनमत संग्रह का सुझाव भी ठुकरा दिया और दूसरी ओर नीदरलैंड्स भी इण्डोनेशिया के सभी दावों को अस्वीकार कर दिया। दिसम्बर १९५० इण्डोनेशिया यह घोषणा कर चुका था कि नीदरलैंड्स से वार्ता केवल सत्ता हस्तान्तरण के प्रश्न पर ही होगी। बाद में अगस्त १९५४ में इण्डोनेशिया ओर से संयुक्त राष्ट्र संघ से यह अनुरोध किया गया कि वह दोनों पक्षो उचित हल ढूंढने में सहायता करे। नीदरलैंड्स द्वारा इसका विरोध कि गया। २९ नवम्बर १९५७ को १९ अफ्रेशियाई राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र की महासभा में पश्चिमी इरियन से सम्बन्धित एक प्रस्ताव पास किया २/३ बहुमत न मिल सकने से गिर गया। इस घटना से इण्डोनेशिया में ग रोष की लहर फैल गई। जनता ने डच उद्योगों कारखानों बैंकों कार्याल आदि पर अधिकार करना शुरू कर दिया। इण्डोनेशियाई सरकार ने भी क कार्यवाही करते हुए लगभग १०,००० डच नागरिकों को निष्कासित किया। प्रतिक्रियास्वरूप नीदरलैंड्स ने पश्चिमी इरियन में अपने और अ सैनिक भेज दिये तथा दो युद्ध पोत भी वहां के लिए रवाना कर दिये। दे देशों के सम्बन्ध इतने कटु हो गये कि राष्ट्रपति सुकार्णो ने नीदरलैंड्स साथ राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद करने की घोषणा कर दी। राष्ट्र सुकार्णो ने इण्डोनेशियाई जनता को पश्चिमी इरियन को [illegible] भूमि का अंग बनाने के लिये संगठित प्रयास करने की अपील की।

स्थिति को अधिक बिगड़ते देखकर अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव ऊथांट ने पश्चिमी इरियन की समस्या समाधान के लिए प्रयास शुरू किये। इसी समय अमेरिकन कूटनीतिज्ञ एल्सवर्थ बंकर ने एक योजना प्रस्तुत की जो बंकर योजना कहलायी। योजना के आधार पर नीदरलैण्ड्स व इण्डोनेशिया में पश्चिमी इरियन प्रश्न पर समझौता हो गया और दोनों देशों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के माध्यम समस्या को हल करने की बात स्वीकार कर ली। १ अक्तूबर, १९६२ पश्चिमी इरियन में डच राज्य समाप्त कर के इस प्रदेश को एक प्रस

1 Schuman International Politics, Page-379

संयुक्त राष्ट्रीय अधिशासन (U N Temporary Executive Authority) के प्रशासन में रख दिया गया। यह अधिशासन पश्चिमी इरियन पर १ मई, १९६३ तक राज्य करता रहा। बाद में पश्चिमी इरियन का नियन्त्रण इण्डोनेशिया ने सम्भाल लिया और इस प्रकार इस प्रदेश को डच प्रभुसत्ता से मुक्ति मिल गई।

इण्डोनेशिया की आन्तरिक राजनीति

चूंकि विश्व राजनीति के प्रति इण्डोनेशिया का दृष्टिकोण बहुत कुछ उसकी अपनी आन्तरिक परिस्थितियों से प्रभावित रहा है अतः उसके अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर दृष्टिपात करने से पहले यह उचित होगा कि उसकी आन्तरिक राजनीति पर एक विहंगम दृष्टि डाल ली जाय।

जब इण्डोनेशिया विदेशी आधिपत्य से मुक्त हुआ तो न केवल वहां की ८० प्रतिशत जनता अशिक्षित थी बल्कि राजनीतिक दलों का भी बाहुल्य था। इनमें राष्ट्रवादी दल (The Nationalist or the PNI), साम्यवादी दल (The PKI) मुसलमानों के दो संगठन मुस्लिम संघ या मसजुमी (The Muslim Federation or the Masjume) तथा कट्टरवादी इस्लाम (The Orthodox Islam or the Nu) ये चार दल मुख्य प्रतिद्वन्द्वी थे। अक्टूबर १९५६ में राष्ट्रपति सुकार्णो ने इन सारे राजनीतिक दलों के प्रति स्पष्ट रूप से अपना विरोध प्रकट किया और कहा कि एशियाई देशों के लिए पाश्चात्य उदारवादी जनतंत्र हानिकारक है।

१९५२ में पश्चिमी राष्ट्रों की समर्थक मसजुमी सरकार अमेरिकन सहायता स्वीकार करने के कारण एक अविश्वास प्रस्ताव द्वारा अपदस्थ कर दी गई और राष्ट्रवादियों ने साम्यवादियों की सहायता से डा० अली शास्त्रोमिद जोजो (Sastromidjojo) के नेतृत्व में नई सरकार बनाई। सितम्बर १९५५ में इण्डोनेशिया में प्रथम संसदीय चुनाव हुए जिनमें २२ राजनीतिक दलों के उम्मीदवार खड़े हुए। स्पष्ट बहुमत किसी भी दल को न मिल सकने के कारण मिली जुली सरकार की स्थापना की गई। इसके शीघ्र बाद ही सरकार की आर्थिक नीति से असन्तुष्ट होकर सुमात्रा एवं कुछ अन्य द्वीपों में विद्रोह हो गया और १४ मार्च १९५७ को सरकार अपदस्थ हो गई। अब राष्ट्रपति सुकार्णो ने सम्पूर्ण देश में सैनिक शासन लागू करते हुए डा० जुआन्डा (Djuanda) को प्रधान मन्त्री नियुक्त किया। परन्तु सुमात्रा वासियों तथा सेलिबीज ने केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन करने से इन्कार करते हुए अपना विद्रोह जारी रखा। १५ फरवरी १९५८ को सुमात्रा के विद्रोहियों ने एक पृथक सरकार स्थापित कर ली। इस समय राष्ट्रपति सुकार्णो विदेश भ्रमण पर गये हुए थे। वे तुरन्त वापिस आये। १५ मार्च १९५८ को उन्होंने विद्रोहियों पर पूरी शक्ति के साथ आक्रमण किया और सम्पूर्ण देश में आपात की घोषणा कर दी। चार महीनों में ही सारे विद्रोही कुचल दिये गये और सम्पूर्ण इण्डोनेशिया पर केन्द्रीय सरकार पुनः सत्ता स्थापित करने में सफल हो गई।

१२ जनवरी १९६० को सुकार्णो ने देश के सभी राजनीतिक दलों का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया और कुछ ही दिनों बाद अपनी अध्यक्षता में उन्होंने नासकम फ्रंट नाम से एक नये राजनीतिक संगठन और पापुल्स कंग्रेस सटयम कांग्रेस के नाम से एक सर्वोच्च राज्य संस्था जिसके प्रति (राष्ट्रपति) उत्तरदायी होंगे कि स्थापना की घोषणा की। ५ मार्च १९६० को सुकार्णो ने इण्डोनेशियाई संसद को यह कह कर भंग कर दिया कि उसका यथा शीघ्र सुधार और पुनर्गठन कर दिया जायगा। इस तानाशाही रवैये के विरोध में १९६१ में राष्ट्रपति सुकार्णो की हत्या के दो असफल प्रयत्न किये गये। धीरे-धीरे इण्डोनेशिया की आन्तरिक परिस्थिति बिगड़ती चली गई। इण्डोनेशियाई साम्यवादी दल (PKI) जिसका सुकार्णो पर प्रबल प्रभाव था, निरन्तर शक्तिशाली होता गया और इसी कारण चीन व इण्डोनेशिया के सम्बन्ध निरन्तर बढ़ते रहे। परन्तु ज्यों-ज्यों देश के आर्थिक प्रश्न महत्वपूर्ण बनते गए त्यों-त्यों इण्डोनेशियाई सेना और इण्डोनेशियाई साम्यवादी दल में मतभेद बढ़ने लगे। १९६५ के मध्य तक स्थिति यह हो गई कि साम्यवादी दल राष्ट्रपति सुकार्णो की आर्थिक नीति से पूरी तरह असन्तुष्ट होकर उनके खिलाफ विद्रोह करने की साजिश में जुट गया। साम्यवादियों द्वारा प्रेरित एक सैनिक विद्रोह हुआ। ३० सितम्बर १९६५ को सैनिकों के कमाण्डर ले० क० उन्तुंग (Lt. Col. Untung) ने एकाएक राष्ट्रपति भवन पर धावा कर के सुकार्णो के शासन का अन्त करने का साहसिक प्रयास किया। उन्तुंग ने सुरक्षा मंत्री जनरल नसूतियो और इण्डोनेशियाई सेना के अनेक उच्च अफसरों को कैद कर लिया तथा राष्ट्रपति सुकार्णो को 'रक्षात्मक कैद' में रख दिया। किन्तु इस सैनिक विद्रोह को सुकार्णो के प्रति वफादारी रखनेवाली सेना ने पूरी तरह कुचल दिया। विद्रोहियों ने सेना के ६ उच्च अधिकारियों की हत्या कर दी और वे भाग गए। जनरल नसूतियो और राष्ट्रपति सुकार्णो की जान किसी तरह बच गई।

यद्यपि विद्रोह दबा दिया गया किन्तु इससे साम्यवादी दल की शक्ति को कोई विशेष आघात नहीं पहुँचा। साम्यवादी दल शक्ति से त्रस्त सुकार्णो ने इस घटना को भूल जाने की अपील की और विद्रोहियों को क्षमा कर देने का आश्वासन दिया परन्तु इण्डोनेशियाई सेना अपने अधिकारियों की हत्या का बदला लेने को उतारू थी। इसके अतिरिक्त और भी अनेक पार्टियां साम्यवादियों की विरोधी थीं। अतः देश में साम्यवादियों और इन विरोधी शक्तियों में संघर्ष होने लगा। ५ अक्टूबर, १९६५ को अनेक संगठनों ने इण्डोनेशियाई सरकार से मांग की कि साम्यवादी दल (PKI) को अवैध संस्था घोषित कर दिया जाय। १८ अक्टूबर को इण्डोनेशियाई सेना ने साम्यवादी दल को अवैध घोषित करते हुए उसके कार्यालय और समाचार पत्र आदि को भस्म कर दिया। इण्डोनेशियाई साम्यवादी पार्टी विरोधी आन्दोलन ने शीघ्र ही चीन विरोधी आन्दोलन का रूप धारण कर लिया क्योंकि लोगों का विचार था कि ३० सितम्बर के विद्रोह में चीन की साजिश थी। देश भर में चीनियों के विरुद्ध आग भड़क उठी। जकार्ता के चीनी विश्व विद्यालय में

आग लगा दी गई और चीनी दूतावास पर हमले हुए। चीन के साथ सम्बन्ध विच्छेद की मांग की जाने लगी।

सम्पूर्ण इण्डोनेशिया में साम्यवाद और चीन विरोधी लहर ने वहां की राजनीति को बिल्कुल अनिश्चित बना दिया। राष्ट्रपति सुकार्णो पूरी तरह से साम्यवाद विरोधी शक्तिशाली सेना के प्रभाव में आ गये। इण्डोनेशिया में चीन के विरुद्ध जो वातावरण बन गया उसने पिण्डी-पेकिंग जकार्ता-धुरी (पाकिस्तान चीन इण्डोनेशिया धुरी) का अन्त करके ही छोड़ा। १२ मार्च, १९६६ को ले० ज० सुहार्तो के नेतृत्व में सैनिक नेताओं ने राष्ट्रपति सुकार्णो के साथ लम्बी बातचीत के बाद शांतिपूर्ण ढंग से सत्ता अपने हाथ में ले ली। जकार्ता रेडियो ने घोषणा की कि राष्ट्रपति सुकार्णो ने अपने सारे अधिकार जनरल सुहार्तो को सौंप दिये हैं। अब स्थिति यह थी कि यद्यपि सुकार्णो राष्ट्रपति पद पर आसीन बने रहे परन्तु वास्तविक सत्ता उनके हाथ से छिन गई। इसके बाद जुलाई १९६६ में जनरल सुहार्तो ने इण्डोनेशियाई राजनीति को पूरी तरह अपने वशवर्ती बनाते हुए सुकार्णो को राष्ट्रपति पद से भी अपदस्थ करवा दिया।

इण्डोनेशिया के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(Indonesia in International Relations)

आन्तरिक क्षेत्र में राजनीतिक अस्थिरता और आर्थिक पिछड़ेपन के कारण नव स्वतन्त्रता प्राप्त इण्डोनेशिया को विश्व राजनीति के प्रति तटस्थतावादी नीति ही सर्वोत्तम दिखाई पड़ी और १९५० में राष्ट्रपति सुकार्णो ने यह घोषणा भी कर दी कि इण्डोनेशिया का इरादा विरोधी गुटों के बीच एक पुल के रूप में सहायक होने का है। इण्डोनेशिया ने अमेरिका अथवा रूस के उकसाये जाने पर भी 'शीतयुद्ध' में उलझने से स्वयं को बचाये रखा। इसने विश्व के दोनों गुटों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की। परन्तु उसकी असंलग्नता अथवा तटस्थता की नीति केवल कुछ प्रारम्भिक वर्षों तक ही ठीक-ठाक तरीके से चल पाई। बाद में साम्यवादी चीन का प्रभाव बढ़ने से इण्डोनेशियाई सरकार व्यवहार में तटस्थतावादी नहीं रह सकी। चीन प्रभावित सुकार्णो शासन के समाप्त हो जाने के बाद वर्तमान सरकार पुनः तटस्थतावादी और विवेकपूर्ण दृष्टिकोण विश्व-समस्याओं के प्रति अपनाने लगी है।

अब हमें देखना चाहिए कि विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के साथ इण्डोनेशिया के वैदेशिक सम्बन्ध किस प्रकार के रहे हैं।

इण्डोनेशिया और रूस के सम्बन्ध प्रारम्भ में मधुर नहीं थे। द्वितीय महायुद्ध के तुरन्त बाद सोवियत संघ ने अमेरिका और इंगलैण्ड पर इण्डोनेशिया में साम्राज्यवादी षड्यन्त्र रचने का आरोप लगाया। हालैण्ड को भी इण्डोनेशिया वासियों का गला घोटने का प्रयास करने के लिए दोषी

ठहरा गया। परन्तु इण्डोनेशियाई नेताओं को ये बातें रुचिकर नहीं लगीं क्योंकि वे शीतयुद्ध को अपने देश में नहीं आने देना चाहते थे। रूस प्रारम्भ में यह आरोप लगाता रहा कि इण्डोनेशिया पश्चिम की कठपुतली है। इसके अतिरिक्त जब जनवरी १९४८ में डच और इण्डोनेशियाई प्रतिनिधियों ने अपने विवाद का हल निकालने के लिए पारस्परिक समझौता किया तो सोवियत संघ ने इस समझौते का विरोध किया और इसे देश की प्रगतिशील शक्तियों के लिए हानिकारक बताया। उसने इण्डोनेशियाई साम्यवादी दल को समझौते के विरुद्ध विद्रोह करने के लिए उत्तेजित किया। इसके बाद २ नवम्बर, १९४९ के हेग समझौते का भी रूस द्वारा विरोध किया गया। इण्डोनेशियाई गणतन्त्र शीतयुद्ध को अपनी भूमि तक न आने देने के लिए कटिबद्ध हो गया और उसने साम्यवादी दल को गैर कानूनी करार करके उसके अधिकांश नेताओं को जेलों में ठूंस दिया। इण्डोनेशिया की मजबूत स्थिति से लाभ उठाने में असफल होकर सोवियत संघ ने शीघ्र ही अपना रुख बदल दिया और कटुता को न बढ़ने देने के लिए १० सितम्बर, १९५४ को इण्डोनेशिया के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लिए। कालान्तर में ये सम्बन्ध घनिष्ठ हो गए और रूस इण्डोनेशिया को आर्थिक व तकनीकी सहायता देने लगा। दोनों राष्ट्रों के सम्बन्ध आज भी यथापूर्व मधुर हैं।

संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रति भी इण्डोनेशिया में प्रारम्भ में नफरत थी। इण्डोनेशियाई स्वतन्त्र्य-संघर्ष में अमेरिका ने कई तरह से डचों की सहायता की थी। उसने डच युद्ध-पोतों को प्रशिक्षित किया था और डच अधिकारियों को अस्त्रशस्त्र प्रदान किये थे, किन्तु फिर भी इण्डोनेशिया वासियों को इस बात से कुछ सान्त्वना मिली कि अमेरिका ने डचों की 'पुलिस कार्यवाही' का विरोध किया था और 'यूरोपियन पुनर्निर्माण योजना' के अन्तर्गत इण्डोनेशिया के डच प्रशासकों को आर्थिक सहायता देनी बन्द कर दी थी। यही नहीं अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ में भी डच लोगों पर इस बात के लिए दबाव डाला था कि वे संयम से काम लें। इन्हीं सब कारणों से स्वतन्त्र इण्डोनेशिया ने अमेरिका के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने का प्रयास किया। इण्डोनेशियाई गणतन्त्र ने अमेरिका की तकनीकी सहायता स्वीकार की किन्तु यह ध्यान रखा कि उसकी आन्तरिक नीति में कहीं अमेरिकन हस्तक्षेप प्रवेश न कर जाय। इण्डोनेशियाई नेताओं से यह बात छिपी न थी कि अमेरिका इण्डोनेशिया की आन्तरिक अस्थिरता तटस्थतावाद और साम्यवाद के प्रभाव की वृद्धि से चिन्तित है और मौका पाकर इण्डोनेशिया के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप करने से नहीं चूकेगा। इसीलिये उसने अमेरिका के पारस्परिक सुरक्षा समझौतों में भाग लेने से इन्कार कर दिया। उसने सन् १९५४ में सीटो की सदस्यता के लिए याचना नहीं की अपितु उसका विरोध ही किया। १९५६ में अमेरिका के विदेश सचिव डलेस का जकार्ता में हार्दिक स्वागत किया गया और उसी वर्ष राष्ट्रपति सुकार्णो का भी वाशिंगटन में उसी जोश से स्वागत हुआ।

इण्डोनेशिया और चीन के सम्बन्धों में पूरा उतार-चढ़ाव आता रहा।

प्रारम्भ में दोनों देशों की मैत्री तेजी से बढ़ी। इण्डोनेशिया ने तुरन्त चीन को मान्यता दी और कोरिया युद्ध में चीन को आक्रामक घोषित करने के प्रस्ताव का विरोध किया। १९५५ के बाण्डुंग सम्मेलन में दोनों राष्ट्रों के नेताओं में प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित हुआ और दोनों देशों की सरकारों ने इण्डोनेशिया में बसे चीनियों की स्थिति की देखरेख के लिए एक समझौता किया। १९५९ के प्रारम्भ से मैत्री के ये धागे टूटने लगे। उस वर्ष इण्डोनेशिया की सरकार ने चीनियों की व्यापारिक गतिविधियों पर कुछ प्रतिबंध लगा दिये। ये चीनी व्यापारी इण्डोनेशिया के व्यापारिक जीवन पर एकाधिकार कायम किये हुए थे जिसका प्रभाव इण्डोनेशिया की अर्थ-व्यवस्था पर बड़ा विपरीत पड़ रहा था। साम्यवादी चीन ने इण्डोनेशिया के इस कदम का कड़ा विरोध किया। २१ दिसम्बर १९५९ को चीन ने सुझाव दिया कि दोनों सरकारों में प्रवासी चीनियों के बारे में कोई समझौता हो जाना चाहिए परन्तु इण्डोनेशिया के सहमत न होने से कटुतापूर्ण सम्बन्धों में और भी वृद्धि हो गयी। अन्त में १९६० में इण्डोनेशिया में बसे प्रवासी चीनियों के बारे में दोनों देशों के बीच समझौता हो गया और चीन तथा इण्डोनेशिया के सम्बन्ध पुनः ठीक हो गए। फिर भी पारस्परिक अविश्वास तथा भेदभाव दूर नहीं हुए। सितम्बर अक्टूबर १९६५ में साम्यवादी चीन के प्रभाव से इण्डोनेशिया में वामपक्षी क्रान्ति हुई और डा० सुकार्णो की सरकार का तख्ता उलटने का प्रयास किया गया। इण्डोनेशियाई सरकार ने स्पष्टतः आरोप लगाया कि यह सब कुछ चीन की दुरभिसंधि के कारण हुआ है। पेकिंग ने स्वयं को निर्दोष बताया परन्तु इण्डोनेशियाई नेता संतुष्ट नहीं हुए और दोनों देशों के सम्बन्ध बिगड़ गए। कुछ नेताओं ने यह आशंका प्रकट की कि इस क्रान्ति में सुकार्णो स्वयं का हाथ था। इस आरोप ने शीघ्र ही इतना तूल पकड़ा कि इण्डोनेशिया में कुछ राजनेताओं और अधिकांश छात्रों द्वारा सुकार्णो के त्याग पत्र तक की माँग शुरू हो गई। १९६४-६५ में वास्तव में साम्यवादी चीन का इण्डोनेशियाई शासन पर इतना प्रभाव था कि उसने भारत-विरोधी रुख अपनाया और भारत के विरुद्ध पाकिस्तान को सैनिक सामग्री देने का समझौता किया। इण्डोनेशियाई नेता इस बात को भूल बैठे कि भारत ने उनके राष्ट्र को स्वतन्त्रता दिलाने में कितना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया था।

१९६६ में राष्ट्रपति सुकार्णो के हाथ से वास्तविक सत्ता छीन कर जनरल सुहार्तो के हाथों में आ गई और तभी से इण्डोनेशियाई शासन पर से साम्यवादी प्रभाव हट गया। जनवरी १९६७ में हमारे भूतपूर्व विदेश मन्त्री श्री छागला की इण्डोनेशिया की यात्रा के परिणामस्वरूप दोनों देशों के सम्बन्ध पुनः मृदु बने। इण्डोनेशिया ने पाकिस्तान को सैनिक सामान देने का समझौता समाप्त कर दिया और इस बात का आश्वासन दिया कि भारत-पाक युद्ध के दौरान पाकिस्तान को भेजा गया गोला-गोली का साज-सामान भी वापिस ले लिया जायगा। साम्यवादी चीन द्वारा इण्डोनेशिया में जो असफल क्रान्ति कराई गई उसके बाद से ही दोनों देशों के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते गये और आज संपूर्ण इण्डोनेशिया में चीन-विरोध की आग लगी हुई है। यहाँ का साम्यवादी दल जो एक समय काफी शक्तिशाली था, अब बहुत टूट

तक अपनी लोकप्रियता खो बैठा है किन्तु फिर भी उसकी शक्ति अभी पूर्णतः नष्ट नहीं हुई है और साम्यवादी चीन क्वेमोय समाप्त करने का प्रत्येक संभव प्रयास कर रहा है।

फिलीपाइन्स (Philippines)

फिलीपाइन्स दक्षिणी प्रशांत महासागर में स्थित है जिसमें कई हजार छोटे-बड़े द्वीप सम्मिलित हैं। यहां की भाषा और बोलियों की संख्या ८७ से भी अधिक है, परंतु इनमें प्रमुख विसयान इलनोय और इलोकानो हैं। यहां की जनसंख्या में लगभग ८०% रोमन कैथोलिक ईसाई हैं और केवल ४% मुसलमान।

यह प्रदेश ३०० वर्षों तक स्पेन के और उसके बाद लगभग ५० वर्षों तक अमेरिका के अधीन रहा। द्वितीय महायुद्ध के पहिले यह द्वीप समूह अमेरिका के ही अधीनस्थ था। किंतु जहाँ स्पेन ने अपने शासन-काल में इस प्रदेश का पूर्ण शोषण किया वहाँ अमेरिका ने फिलीपाइन्स-वासियों को स्वशासन प्राप्त करने के लिये तैयार किया। द्वितीय महायुद्ध प्रारम्भ होने से पहिले ही कॉमनवेल्थ-एक्ट के अंतर्गत यह घोषणा कर दी गई कि १९४६ में किसी समय फिलीपाइन्स को स्वतंत्रता दे दी जायेगी। द्वितीय महायुद्ध काल में इसे जापानी आक्रमण का शिकार होना पड़ा। ७ दिसम्बर १९४१ को जब पर्ल हार्बर पर आक्रमण किया गया तो मनीला (फिलपाइन्स की राजधानी) को भी नहीं छोड़ा गया। नगर पर खूब बम वर्षा की गई। मई १९४२ में इस देश पर जापानियों का अधिकार स्थापित हो गया। उन्होंने इसकी अर्थ-व्यवस्था का खुलकर शोषण किया फलस्वरूप देश में चारों ओर विप्लव निर्धनता व असंतोष का वातावरण व्याप्त हो गया। ज्यों-ज्यों धुरी राष्ट्रों की पराजय सन्निकट आने लगी फिलीपाइन्स की जनता को अपनी स्वाधीनता की आशा होने लगी। २९ जून १९४४ को संयुक्त राज्य अमेरिका की कांग्रेस ने अपने एक प्रस्ताव द्वारा फिर से यह दुहराया कि फिलीपाइन्स को पूर्ण स्वाधीनता दी जायेगी। कांग्रेस ने राष्ट्रपति को यह शक्ति प्रदान की कि वह वहां ४ जुलाई १९४६ से पहिले ही स्वतंत्र राज्य की स्थापना की घोषणा कर दे। अमरिका ने अपने वचन का दृढ़ता से पालन किया और जापान द्वारा आत्म-समर्पण कर दिये जाने के बाद ४ जुलाई, १९४६ को फिलीपाइन्स को स्वतंत्रता प्रदान कर दी गई। स्वतंत्र फिलीपाइन्स के प्रथम राष्ट्रपति ओस्मेना बने।

फिलीपाइन्स सरकार के सामने तुरंत ही दो समस्यायें भयंकर रूप में उपस्थित हुईं। एक ओर समाजवादी विचारों वाले हुक गुरिल्ला-सैनिक जिन्होंने जापान के विरुद्ध युद्ध किया था ओस्मेना-सरकार के सामने आत्म-समर्पण करने को तैयार नहीं थे तथा भूमि और कृषि सम्बन्धी व्यापक सुधारों की मांग कर रहे थे। दूसरी ओर जमींदारों धनिकों और अमेरिकन हितों द्वारा समर्थित उदारवादी दल था जिसका नेतृत्व फिलीपाइन्स की सीनेट

के अध्यक्ष रोक्सास कर रहे थे। ऐसी स्थिति में ओस्मेना ने देश का शासन चलाने में स्वयं को असफल पाकर त्यागपत्र दे दिया। उनके पश्चात् रोक्सास नये राष्ट्रपति चुने गये। उन्होंने हुक सैनिकों के विरुद्ध अभियान चलाया किन्तु शीघ्र ही उनकी हत्या कर दी गई। १९४९ के निर्वाचनों के परिणाम स्वरूप एल्पीडियो क्विरीनो नये राष्ट्रपति बने। विद्रोहियों का दमन करने के लिये उन्होंने रामन मगसाईसाई नामक एक अत्यन्त योग्य व्यक्ति को प्रतिरक्षा मन्त्री नियुक्त किया। श्री मग साई साई ने हुक विद्रोहियों के दमन में आशातीत सफलता प्राप्त की। साथ ही उनकी ईमानदारी ने उन्हें देश की जनता के मन में बैठा दिया। श्री मगसाईसाई ने फिलीपाइन्स की राष्ट्रीय एकता सुरक्षा और लोकतन्त्र का सुदृढ़ आधार प्रदान किया। जनता ने नवम्बर १९५३ के निर्वाचनों में उन्हें अपना राष्ट्रपति चुना। १९५७ में एक विमान-दुर्घटना में इस महान् मानवतावादी राष्ट्रपति की मृत्यु पर उपराष्ट्रपति गार्शिया राष्ट्रपति पद पर आसीन हुए। नवम्बर १९५७ के निर्वाचनों में उन्हें ही पुन देश का राष्ट्रपति चुन लिया गया। श्री गार्शिया के बाद राष्ट्रपति पद को श्री मकापगाल ने सुशोभित किया। वर्तमान में फिलीपाइन्स के राष्ट्रपति मार्कोस हैं।

अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में फिलीपाइन्स

फिलीपाइन्स में राजनीतिक सूझबूझ और स्व-शासन की क्षमता स्वतंत्रता से पूर्व ही आ गई थी। स्वाधीन होने से पहिले ही फिलीपाइन्स ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में भाग लेना शुरू कर दिया था। १० जून १९४२ को की जाने वाली संयुक्त राष्ट्रों की घोषणा पर हस्ताक्षर करने वालों में फिलीपाइन्स के तत्कालीन राष्ट्रपति क्विजोन भी थे। प्रशान्त युद्ध-परिषद में भी क्विजोन व ओस्मेना सदस्य रहे। फिलीपाइन्स के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्र सहायता व पुनर्वास अभिकरण तथा ब्रेटन वुड्स सम्मेलन की कार्यवाही पर हस्ताक्षर किये। उन्होंने सान-फ्रांसिस्को में संयुक्त राष्ट्र घोषणा पत्र का प्रारूप तैयार करने में भी भाग लिया। फिलीपाइन्स संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रारम्भिक सदस्य था अर्थात् घोषणा पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों में से वह एक था।

स्वाधीनता प्राप्त करने के तुरंत बाद १४ मार्च १९४७ को अमेरिका और फिलीपाइन्स के मध्य एक ९९ वर्षीय पारस्परिक सहायता-समझौता हुआ जिसके अन्तर्गत अमरिका को फिलीपाइन्स की भूमि पर सैनिक व नौ-सैनिक अड्डे स्थापित करने का अधिकार मिला। शीघ्र ही अमरिकन धन प्रचुर मात्रा में फिलीपाइन्स में प्रविष्ट होने लगा और मनीला व वाशिंगटन में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित हो गये। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी फिलीपाइन्स और अमेरिका परस्पर घनिष्ठ सहयोग से चलने लगे। फिलीपाइन्स के प्रतिनिधि जनरल रोमोलो १९४९ में महासभा के अध्यक्ष बनाये गये। १९४८ से १९५० तक फिलीपाइन्स संरक्षण-परिषद का सदस्य रहा और सुरक्षा परिषद का सदस्य भी चुना गया। साम्यवादी खतरे से बचने के लिये सन् १९५४ में फिलीपाइन्स 'सीटो' अर्थात् दक्षिण-पूर्वी एशिया सुरक्षा संधि संगठन का सदस्य बन गया।

फिलीपाइन्स के नेताओं ने प्रारम्भ से ही यह स्पष्ट कर दिया था कि उनका राष्ट्र तटस्थता' की नीति में विश्वास नहीं करता है। फिलीपाइन्स के स्वर्गीय राष्ट्रपति रामन मगसायसाय ने कहा था 'हम उन देशों के दृष्टिकोण से सहमत नहीं हैं जो वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय तनावों को दो शक्तिशाली प्रतिद्वन्द्वी गुटों के मध्य चल रही प्रतिस्पर्धा का परिणाम मानते हैं।

इस सम्बन्ध में दो कारणों से हम अपने अनेक पड़ौसी देशों के दृष्टिकोण को स्वीकार करने के लिये तैयार नहीं हैं। पहला कारण यह कि हम साम्यवाद को ऐसी शक्ति नहीं मानते जिसकी तृष्णा भूमि में स्वर्ण पाकर ही संतुष्ट हो जाये। अपने देश में चलाये गये साम्यवादी हिंसात्मक आंदोलन से हमने यह अनुभव प्राप्त किया है कि साम्यवाद एक विकृत राष्ट्रीय महत्वाकांक्षा मात्र नहीं (जैसा कि हिटलर का नाजीवाद था) बल्कि एक ऐसा सतत विश्व व्यापी आन्दोलन है जिसका लक्ष्य समस्त भूमंडल पर शासन करना व्यक्तिगत स्वाधीनता का पूरी तरह नष्ट करना और ईश्वर तथा मनुष्य की आत्मा को तिरस्कृत एवं लांछित करना है।" अमेरिका और फिलीपाइन्स के सम्बन्ध दिन प्रतिदिन प्रगाढ़ होते गये। सन् १९६० में राष्ट्रपति आइजन हॉवर ने मनीला का औपचारिक रूप से दौरा किया और मित्रता को सुदृढ़ बनाया। आज भी दोनों देशों की मैत्री यथापूर्व कायम है।

एशिया की राजनीति में भी फिलीपाइन्स ने प्रारम्भ से ही बड़ी रुचि ली। उसने बांडुंग-सम्मेलन में भाग लिया। वास्तव में दक्षिण-पूर्वी एशिया की प्रतिरक्षा सम्बन्धी आवश्यकताओं को फिलीपाइन्स ने अमेरिका से भी पहिले अनुभव किया और मई, १९५० में बागुई में एक सम्मेलन का आयोजन किया। कोरिया के युद्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से लड़ने के लिए उसने एक सैनिक दस्ता भी भेजा। फिलीपाइन्स ने जापान के साथ संधि के प्रश्न पर स्वतन्त्र नीति अपनाई और उससे क्षतिपूर्ति की मांग की। जहां तक चीन के साथ सम्बन्धों का प्रश्न है उसने साम्यवादी चीन को मान्यता नहीं दी और इस बारे में अमेरिकन नीति का ही अनुसरण किया। भारत के साथ फिलीपाइन्स के सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण रहे। १ जनवरी १९५८ को मनीला व नई दिल्ली के दूतावासों (L-gations) का स्तर बढ़ कर राजदूतावासों (Embassies) का कर दिया गया। इजराइल के साथ भी कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये गये। फरवरी, १९६१ में फिलीपाइन्स ने मलाया व थाईलैण्ड के साथ मिल कर सांस्कृतिक व आर्थिक सहयोग बढ़ाने के लिये एक संगठन बनाया। राष्ट्रवादी चीन के साथ भी सम्बन्ध पुष्ट किये गये। २६ अप्रैल १९५९ को दक्षिण-वियतनाम के साथ एक मैत्री-संधि सम्पन्न की गई।

जब मलेशिया संघ का निर्माण होने लगा तो फिलीपाइन्स ने उत्तरी बोर्नियो को उसमें सम्मिलित किये जाने का विरोध किया। फिलीपाइन्स का दावा था कि समूचे उत्तरी बोर्नियो पर उसका अधिकार है क्योंकि अंग्रेजों ने इसे १८७८ में सुलू टापू के सुल्तान से लिया। अब अंग्रेजों के यहाँ से हट

जाने पर यह प्रदेश सुलू के सुल्तान के उत्तराधिकारी फिलीपाइन्स राष्ट्र को सौंप दिया जाना चाहिये। फिलीपाइन्स के इस दावे के फलस्वरूप इण्डोनेशिया और मलयेशिया की तरह फिलीपाइन्स और मलेशिया में भी कुछ समय के लिये विवाद उत्पन्न हो गया और दोनों ने अपनी कौंसल सम्बन्ध (Diplomatic Relations) तोड़ दिये। परन्तु साम्यवादी चीन के आक्रमण के भय से शीघ्र ही उत्तरी बोर्नियो के प्रश्न पर फिलीपाइन्स का रुख नरम पड़ गया। तत्पश्चात् फिलीपाइन्स के राष्ट्रपति मकापगाल (Macapagal) ने माफीलिंडो (Maphilindo) के नाम से इस प्रदेश में एक संघ बनाने की योजना रखी जिसमें मलयेशिया फिलीपाइन्स और इण्डोनेशिया इन तीनों को सम्मिलित करने की बात थी परन्तु इण्डोनेशिया और मलयेशिया में संघर्ष की स्थिति के कारण इस संघ का निर्माण न हो सका। आशा है इण्डोनेशिया और मलयेशिया में अच्छे सम्बन्ध स्थापित हो जाने से अब इस संघ की योजना भी भविष्य में कार्यान्वित हो सकेगी।

EXERCISES

1 How has the Second World War affected the political development of South East Asia ?
द्वितीय महायुद्ध ने दक्षिण-पूर्वी एशिया के राजनीतिक विकास को किस प्रकार प्रभावित किया है ?

2. Discuss the importance of South East Asia in International affairs.
अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों में दक्षिण-पूर्वी एशिया के महत्व की विवेचना कीजिये।

3 Write a essay on the role of South East Asia in World Affairs.
विश्व-मामलों में दक्षिण-पूर्वी एशिया की भूमिका पर एक निबन्ध लिखिये।

4 Indonesia is now quinckly gaining a reputation as a regional bully" Discuss the foreign policy of Indonesia in the light of the statement
"इण्डोनेशिया अब एक क्षेत्रीय शक्ति के रूप में तेजी से प्रसिद्धि प्राप्त करता जा रहा है। इस कथन के प्रकाश में इण्डोनेशिया की विदेश नीति की विवेचना कीजिये।

5. Discuss the Vietnam crisis. Do you think that the Vietnamese crisis can escalate into a world war ?
वियतनाम-संकट की विवेचना कीजिये। क्या आपका ख्याल है कि वियतनाम-संकट विश्व युद्ध के रूप में परिणत हो सकता है ?

6. Give a short account of the struggle of Burma for freedom What is its foreign policy after independence ?

स्वतन्त्रता के लिये बर्मा के संघर्ष का संक्षिप्त विवरण दीजिये। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद इसकी क्या विदेश नीति रही है?

7 Describe the position and importance of Malaya, Phillipine and Thailand in the International Affairs.
अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में मलाया फिलीपाइन और थाईलैण्ड की स्थिति तथा इनके महत्व का वर्णन कीजिये।

8. Discuss the problem of Indo-China after the Second World War What is its importance in the international sphere?
द्वितीय महायुद्धोत्तर हिन्द–चीन की समस्या की विवेचना कीजिये। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में इसका क्या महत्व है?

9 "The United States regards Geneva as far eastern Munich and settlement reacted at Geneva on July 21 1954 is one of the greatest communist victory of the decade" Discuss
"संयुक्त राज्य अमेरिका जेनेवा को सुदूर पूर्वीय म्यूनिख मानता है और २१ जुलाई १९५४ को जेनेवा में किया गया समझौता इस दशाब्दि की एक महानतम साम्यवादी विजय है।' विवेचना कीजिये।

10. "Laos problem may lead to an international crisis if not successfully solved" Discuss
'यदि लाओस की समस्या को शांतिपूर्ण ढंग से नहीं सुलझाया गया तो यह अन्तर्राष्ट्रीय संकट उत्पन्न कर सकता है।' विवेचना कीजिये।

11 Write short notes on the following —
(a) Bandung Conference
(b) Geneva Settlement of 1954 and problems of Laos Cambodia and Vietnam.

निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियां लिखिये —
(अ) बांडुंग सम्मेलन
(ब) १९५४ का जेनेवा–समझौता और लाओस कम्बोडिया तथा वियतनाम की समस्यायें।

13

पूर्वी एशिया

(EAST ASIA)

१ चीन (साम्यवादी)

(a) चीन में साम्यवादी दल का अभ्युदय और उत्कर्ष

(b) साम्यवादी क्रान्ति के परिणाम

(c) साम्यवादी प्रसार के कारण

(d) विदेश नीति के आधारभूत तत्व

(e) विदेश नीति के साधन

(f) चीन की विदेश नीति एवं उसकी प्रधान अवस्थायें

(g) चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

(i) मान्यता एवं स. रा. संघ में प्रवेश का प्रश्न

(ii) चीन तथा स. रा. अमेरिका के सम्बन्ध

(iii) चीन तथा भारत के सम्बन्ध

(iv) चीन तथा सोवियत रूस एवं समाजवादी देशो के अन्य देश

(v) चीन एवं बाह्य मंगोलिया

(vi) चीन एवं तिब्बत तथा अन्य एशियाई व अफ्रीकन देश

(h) चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति

२ हिंदचीन

३ जापान

"विश्व की शान्ति चीन पर आश्रित है और जो कोई चीन को समझ सकेगा उसी के हाथ में आगामी पांच शताब्दियों तक विश्व-राजनीति की कुञ्जी होगी।"

—जान है

चीन—यह एक दैत्य पड़ा सो रहा है। उसको सोने दो क्योंकि जब यह उठेगा तो दुनियाँ को हिला डालेगा।"

—नैपोलियन बोनापार्ट

साम्यवादी चीन
(Communist China)

यह एक अत्यधिक दुर्भाग्यपूर्ण विडम्बना की बात है कि एक ऐसा देश जो कुछ समय पूर्व तक साम्राज्यवादी लिप्सा, दमन, अत्याचार और शोषण का शिकार बन रहा था आज स्वयं एक नृशंस और क्रूरतम साम्राज्यवाद का बाना पहन कर अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर उभर आया है। अपने मित्र और शत्रुओं को समान रूप से धमका रहा है, युद्ध का नारा बुलन्द कर रहा है और युद्ध को मानव जाति के कल्याण का एकमात्र साधन बता रहा है। यह देश है साम्यवादी चीन। आज अन्तर्राष्ट्रीय जगत की सुनहरी आशाएं और विश्व शांति बहुत कुछ इसके आचरण और इसकी नीतियों पर ही निर्भर करती हैं। आज का साम्यवादी चीन एशिया के क्षितिज पर एक अशुभ छाया है और कोई नहीं कह सकता कि यदि इस छाया को समय रहते बढ़ने से न रोका गया तो यह सम्पूर्ण विश्व पर कितने भयंकर रूप में छा जाएगी। इस देश के वर्तमान अशुभ और आतंककारी रूप पर विचार करने से पहिले इसमें साम्यवादी दल के अभ्युदय और उत्कर्ष के इतिहास के बारे में कुछ जान लेना पृष्ठ भूमि के रूप में अधिक उपयुक्त होगा।

चीन में साम्यवादी दल का अभ्युदय और उत्कर्ष

प्रथम महायुद्ध के बाद चीन में साम्यवाद के सिद्धान्तों का प्रभावी प्रचार और प्रसार चेन-तू-स्यू (Cheo Tu Hsiu) के सुप्रसिद्ध पत्र न्यू चाईना के ओजस्वी लेखों से हुआ। श्री चेन ने मास्को से आये व्यक्तियों की सहायता से सितम्बर, १९२० में शंघाई में चीनी साम्यवादी दल (Chinese Communist Party) की नींव डाली। शीघ्र ही चीन के विभिन्न नगरों और विदेशों में साम्यवादी दल की छोटी-छोटी शाखायें (Cells) स्थापित होने लगीं। जुलाई १९२१ में शंघाई में चीनी साम्यवादी नेताओं का प्रथम सम्मेलन हुआ। इसमें वर्तमान चीनी गणराज्य के अनेक जाने-माने नेता माओ-त्से-तुंग, चाऊ-एन-लाई, चू तेह, ल्यू शाओ-ची आदि सम्मिलित हुए। सन् १९२२ में चीनी साम्यवादी दल ने अपना लक्ष्य मजदूरों और किसानों के अधिनायक तन्त्र की स्थापना, व्यैक्तिक सम्पत्ति का उन्मूलन और शनैः शनैः साम्यवादी समाज का निर्माण बनाया। दल के सदस्यों को निर्देशित किया गया कि वे कुओमिनतांग के सदस्यों के साथ संयुक्त मोर्चा बनाकर राष्ट्रीय एकता और स्वतन्त्रता के कार्य में सहयोग दें। १९२२ से १९२७ तक माओत्से-तुंग और च्यांगकाई शेक पारस्परिक सहयोग के पथ के अनुगामी रहे। इस अवधि में माओ ने साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति के अध्यक्ष और कुओमिनतांग के प्रचार विभाग के अध्यक्ष पद पर काम किया। वह कुओमिनतांग की राजनीतिक ब्यूरो का भी सदस्य रहा। इसके अतिरिक्त 'पोलीटिकल वीकली' नामक पत्र के सम्पादक के पद को भी उसने सुशोभित किया।

इस समय माओ ने साम्यवादियों व कुओमिन्तांग के राष्ट्रवादियों के पारस्परिक सहयोग की नीति को साम्यवाद के सुदृढ़ आरोपण के लिए आवश्यक समझा जबकि श्री चेन तू स्यू को इस तरह का सहयोग कतई पसन्द न था और वह जोशपूर्वक यह कहता था कि साम्यवादी राष्ट्रवादियों के लिये कुलियों का काम कर रहे हैं। माओ और चेन के इस विरोधी दृष्टिकोण में सोवियत रूस का मत माओ की नीति के पक्ष में था और इसीलिये रूसी प्रतिनिधि बोरोदिन ने भी चेन को समझाया कि यह एक ऐसा समय है जब किसानों व मजदूरों द्वारा राजनीतिक सत्ता हथियाने के लिए स्वतन्त्र मार्ग ग्रहण करने का परिणाम भीषण रक्तपात होगा।

साम्यवादियों और राष्ट्रवादियों का यह सहयोग अधिक समय तक नहीं चल सका क्योंकि राजनीतिक सत्ता और प्रभुता पर एकाधिपत्य रखने के दोनों ही भूखे थे। स्पष्ट था कि एक म्यान में दो तलवारें नहीं समा सकती थी। साम्यवादी दल अभी अपने प्रारम्भिक चरणों में था अतः च्यांग-काइ शेक के शक्तिशाली राष्ट्रवादी दल ने साम्यवादियों को कुओमिन्तांग के महत्वपूर्ण पदों से हटाना शुरू कर दिया। फलस्वरूप संयुक्त मोर्चा (United front) भंग हो गया और गृह-युद्ध छिड़ गया। च्यांग-काइशेक ने चीन के शहरों में साम्यवादी दल का दमन करना शुरू कर दिया अतः साम्यवादी नेता दुर्गम देहाती क्षेत्रों में चले गये और वहीं कृषकों की छावनियाँ बनाकर अपने क्रान्तिकारी संगठन को सुदृढ़ करने लगे। इस समय माओ व चू-तेह ने यह नीति अपनाई कि शहरों से दूर रहा जाए, भूमि सुधार की दिशा में बढ़ा जाए, बड़े जमींदारों को समाप्त करके भूमि का किसानों में पुनर्वितरण किया जाए, किसानों के कर और सूद की दर कम की जाए तथा उन्हें कुओमिन्तांग के विरुद्ध पूरी तरह भड़का दिया जाए। अपनी नीति के समर्थन में माओ का कहना था जनता समुद्र है हम मछलियां हैं जब तक इसमें तैरते रहेंगे तब तक हम बचे रहेंगे। देहाती जनता से और कृषकों से सम्पर्क बढ़ाना व उन। प्रिय बनने की इस नीति से साम्यवादी शीघ्र ही बाढ़ एवं दुर्भिक्ष पीड़ित अनेक प्रान्तों में प्रबल हो गये। माओ-चे तेह गुट पूरी शक्ति से सरकार विरोधी तत्वों को संगठित करने में जुट गया।

१९३१ में क्यांगसी तथा उसके आसपास के प्रांतों में चीनी सोवियत गण राज्य स्थापित कर लिया गया। १९३२ तक लगभग ५ करोड़ जनता द्वारा बसा हुआ चीन का छठा भाग साम्यवादियों के नियंत्रण में हो गया। परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी १९२७ ई० के दशक में च्यांग-काइ शेक जनता पर बहुत बड़ी सीमा तक छाया रहा। साम्यवादियों का अन्त करने के लिए उसने इन पर बारम्बार विशाल आक्रमण किये यद्यपि उसे इनका दमन करने में विशेष उल्लेखनीय सफलता हासिल नहीं हुई। १९३४ में साम्यवादियों ने यह अनुभव किया कि उनकी सेना राष्ट्रवादियों की सेना द्वारा चारों ओर से घिर जाएगी। अतः इस घेराव से बचने के लिए लाल सेना ने दक्षिणी चीन में क्यांग सी प्रान्त से उत्तर पश्चिम में शेन्सी प्रान्त में जाने के लिये ८ महीने में ६ हजार मील तय करने वाला विख्यात ऐतिहासिक प्रयाण (Long March)

किया। कहा जाता है कि इस लम्बे मार्ग में लाल सेना के लगभग ८० हजार चीनियों को मृत्यु का ग्रास बनना पड़ा किन्तु शेष सैनिकों को युद्ध के सभी कष्टों का पूरा-पूरा अनुभव हो गया। शेन्सी प्रान्त में साम्यवादियों को अनेक लाभ थे—प्रथम यह प्रान्त रूस के निकट था अतः सोवियत सहायता सुगमता पूर्वक प्राप्त हो सकती थी द्वितीय यह प्रान्त च्यांगकाई-शेक द्वारा अधिकृत प्रदेश से बहुत दूर था एवं तृतीय जिन जापानियों को चीनी साम्यवादी अपने देश से निष्कासित करना चाहते थे उनके द्वारा अधिकृत मंचूरिया के भी यह प्रान्त अधिक निकट था।

पारस्परिक कलह मतभेदों राजनीतिक एवं प्रशासनिक भ्रष्टाचारों तथा साम्यवादियों से संघर्ष के कारण च्यांग-काई-शेक की शक्ति निरन्तर क्षीण होती गई। वे प्रतिगामी और प्रतिक्रियावादी विचारधाराओं के प्रभाव को रोकने में असमर्थ रहे और साम्यवादियों ने इस मौके का पूरा लाभ उठाया। १९३७ तक च्यांग-काई-शेक का लक्ष्य यही रहा कि चीन के दो बड़े शत्रुओं जापानियों व साम्यवादियों में से पहले साम्यवादियों को विनष्ट किया जाए। परन्तु साम्यवादियों के शेन्सी प्रान्त में पलायन कर जाने से च्यांग को इनके दमन में कोई सफलता नहीं मिल सकी। इधर चीन की जनता जापानी आक्रमणों से आशंकित होकर उस ही (जापान को) अपना प्रधान शत्रु मान रही थी और उसके आक्रमणों से रक्षा चाहती थी। च्यांग माओ के विरुद्ध तो कठोर सैनिक कार्यवाही करने में संलग्न थे परन्तु जापानी आक्रमण के विरुद्ध उनका प्रतिरोध प्रभावशाली नहीं सिद्ध हो रहा था। १९३१-३६ तक वे बराबर जापानी आक्रमण के सामने पीछे हटते रहे। १९३६ में यह मांग पूरी जोर पकड़ने लगी कि माओ की लाल सेना और च्यांग की राष्ट्रवादी सेना संयुक्त होकर विदेशियों से लड़ें। इस विचार का प्रचार सेनाओं में भी इतना प्रभावशाली हो गया कि दिसम्बर १९३६ में च्यांग को उसके दो अधीनस्थ सेनापतियों—च्याम सुये-ल्यांग तथा यांग हु-चेंग ने बन्दी बना लिया। उन्होंने च्यांग को इस बात के लिये बाध्य किया कि वह साम्यवादियों से मिलकर जापान के विरुद्ध लड़ें। वास्तव में इस समय यदि साम्यवादी चाहते तो च्यांग का वध कर सकते थे परन्तु स्टालिन के परामर्श से ही उन्होंने ऐसा नहीं किया।"[1]

इस समय साम्यवादी पार्टी के सदस्यों की संख्या लगभग एक लाख और उनका प्रभाव क्षेत्र १० लाख जनता का प्रदेश था। माओत्से तुंग की नीति यह थी कि पहिले कुओमितांग के साथ समानता का दर्जा प्राप्त किया जाय और तब उसका स्थान ग्रहण कर लिया जाए। माओत्सेतुंग कुओमितांग के सिद्धान्तों को मानता हुआ भी साम्यवादी आदर्शों को परित्यक्त करने को उद्यत नहीं था। उसका स्पष्ट कहना था कि मेरी नीति ७० प्रतिशत साम्यवादी २० प्रतिशत समझौतावादी और १० प्रतिशत जापान विरोधी है। साम्यवादियों ने जापानियों के विरुद्ध संघर्ष में भयंकर छापामार युद्ध छेड़ा

1 Claudd Buss The Far East, p. 409

और बारानिया को मार्गों पर चला दिया। इस छापामार अथवा गुरिल्ला युद्ध के विषय में एक जापानी सेनापति का कहना था— यदि हम इनके विरुद्ध छोटे सैनिक दस्ते भेजते हैं तो वे कभी वापिस नहीं लौटते यदि बड़ी सेना भेजते हैं तो उन्हें कभी साम्यवादी नहीं मिलते। एक अन्य जापानी सेनापति ने छापामार चीनियों को तुलना मधुमक्खियों से करते हुए बताया इसे जितना हटाओ या इनसे जितना बचो उतनी ही प्रबलता से ये आक्रमण करते हैं।

च्यांग माओ सहयोग की स्थिति किसी न किसी तरह १९४५ तक बनी रही किन्तु जापान के पतन के साथ ही यह संधि भंग हो गई और १९४७ तक देश पूरी तरह गृह-युद्ध के कगार तक पहुंच गया। माओ की सेनाओं ने च्यांग की सेनाओं पर शस्त्रों से ही नहीं बल्कि नये विचारों से सुसज्जित होकर धावा बोल दिया और इसके बाद साम्यवादी सेनायें दो वर्षों तक विजय पर विजय प्राप्त करती गयी फलस्वरूप ७ सितम्बर १९४९ को पेकिंग में विजयी लाल सेनाओं के हर्षनाद के मध्य माओ ने चीन जनराज्य की स्थापना की विधिवत घोषणा कर दी।

राष्ट्रवादी चीन की सेनाओं के फारमोसा पलायन कर जाने के उपरान्त चीन की मुख्य भूमि पर माओ-चाऊ-एन लाई की साम्यवादी योजनाओं का क्रियान्वित करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। साम्यवादियों ने अपनी शक्ति संगठन करने के लिए प्रारम्भ में चीन के देहातियों और कृषकों को तरह-तरह के सब्ज बाग दिखाये थे किन्तु ज्यों-ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों वास्तविकता स्पष्ट होती गई और चीन की जनता इस बात का अनुभव करने लगी कि वह साम्यवादी तानाशाही के गाढ़ शिकंजे में फंस गई है। साम्यवादी शासन के प्रारम्भिक दिनों में ही चीन के किसानों को यह आभास हो गया कि उन्होंने बहुत बड़ा धोखा खाया है और जमींदार तथा चीनी सामन्तों से भी बढ़ कर कठोर और निर्मम अत्याचारी शासन प्रणाली के वे क्रीत दास बन गये हैं।

साम्यवादी क्रान्ति के परिणाम

आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में चीन की क्रांति के महत्त्व को बताते हुए माओ-त्सेतुंग ने कहा था— हम लोग समान रूप से यह अनुभव करते हैं कि हमारा कार्य मानव जाति के इतिहास में स्वर्णी स्थान ग्रहण करेगा। उसमें यह कहा जाएगा : मनुष्य जाति का चतुर्थांश चीन की जनता मान से उठ खड़ी हुई है। १०० वर्षों के विदेशी आक्रमण तथा भ्रष्ट एवं दुर्बल सरकार का अन्त हो गया और चीन की जनता एकता की असाधारण भावना से अनुप्राणित होकर उस सरकार के पीछे खड़ी हुई है जिसकी जनता के राजनीति परामर्शदात्री सम्मेलन ने रचना की थी। चीन के लम्बे और घटनापूर्ण इतिहास में पहिली बार एक ऐसी सरकार की स्थापना हुई है जिसके आदेश का समूचे देश में सम्मान किया जाता है। इसलिए शक्तिशाली

एकता-बद्ध एवं दृढ़ निश्चय सम्पन्न नये चीन का अभ्युदय संसार के इतिहास में अत्यधिक महत्वपूर्ण तथ्य है।[1]

फ्रीडमैन ने भी लिखा है, साम्यवादी नेतृत्व में एक एकीकृत राष्ट्रीय शक्ति के रूप में चीन का उदय अर्वाचीन वर्षों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण घटना है।[2] वस्तुतः साम्यवादी चीन का उदय एक ऐसी घटना है जिसने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में न केवल एक क्रांतिकारी मोड़ उत्पन्न किया है बल्कि अनेक सर्वथा नई और विषम परिस्थितियों को जन्म दिया है। इस क्रांति के जो परिणाम निकले हैं अथवा इसने विश्व राजनीति को और परिस्थितियों को जो नया मोड़ दिया है वह संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

प्रथम इस क्रांति का स्वयं चीन की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर गहरा प्रभाव पड़ा। यद्यपि साम्यवादी क्रांति से पूर्व ही चीन को पांच बड़ी महाशक्तियों में से एक के रूप में मान्यता प्रदान की गई थी किन्तु चीन वास्तव में एक महाशक्ति था नहीं। लेकिन साम्यवादियों के नेतृत्व में एक सुसंगठित और शक्तिशाली चीन का उदय हुआ जिसने तेजी से प्रगति करते हुए आज के विश्व में सही अर्थों में एक महाशक्ति का रूप धारण कर लिया। यह सच है कि संयुक्त राष्ट्र संघ और उसकी सुरक्षा परिषद में साम्यवादी चीन को सदस्यता प्राप्त नहीं है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जगत की प्रत्येक घटना उसके व्यवहार से प्रभावित होती है और विश्व की कोई भी नीति अथवा कोई भी राष्ट्र उसकी उपेक्षा करने की पूर्ण स्थिति में नहीं है। संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों के लिए आज भी चीन एक समस्या बना हुआ है। उनकी राष्ट्रीय सुरक्षा और वैदेशिक सम्बन्धों की सम्पूर्ण नीतियां चीनी विस्तारवाद की आशंका से पूरी तरह प्रभावित होने लगी हैं।

---

1 We have a feeling in common that our work will be written in the history of mankind. It will say the Chinese people, one quarter of humanity, from this day forth stood up. One hundred years of foreign aggression, corrupt and weak internal government have come to an end and the Chinese people inspired by a remarkable spirit of unity have stood behind the government that the Peoples Political Consultative Conference has set up for the first time in the long and eventful history of china. A strong central government whose command is respected throughout the length and breadth of the land has been established. The emergence of New China strong, unified and determined is therefore a factor of capital importance in the history of the world.

—Mao Tse Tung.

2 W. Friedmann, An Introduction to World Politics, page 239

दूसरे, चीन में साम्यवादियों की विजय ने साम्यवादी और पश्चिमी शक्तियों के मध्य एक नया शक्ति-संतुलन स्थापित कर दिया है। द्वितीय महायुद्ध से पहिले एक मात्र सोवियत संघ ही विश्व का साम्यवादी देश था। द्वितीय महायुद्ध के उपरान्त पूर्वी यूरोप के विभिन्न देश—पूर्वी जर्मनी उत्तरी कोरिया और बाह्य मंगोलिया में भी साम्यवादी शासन की स्थापना हो गई। लेकिन साम्यवादी चीन के उदय से पूर्व जनसंख्या सैन्य शक्ति, आर्थिक स्रोतों आदि सभी दृष्टिकोणों से पश्चिमी गुट साम्यवादी गुट से अधिक शक्तिशाली था। साम्यवादी चीन के उदय से पासा पलट गया। आज स्थिति यह है कि यदि *सम्पूर्ण साम्यवादी जगत और पश्चिमी जगत* को शक्ति की दृष्टि से आंका जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि पश्चिमी गुट किसी बेहतर स्थिति में है। जनसंख्या की दृष्टि से तो साम्यवादी गुट पश्चिमी गुट से आगे बढ़ा हुआ है ही लेकिन सैनिक शक्ति के क्षेत्र में भी वह पश्चिमी गुट को पछाड़ने की स्थिति में आने लगा है।

तीसरे, साम्यवादी चीन के उदय से पाश्चात्य देशों की स्थिति और नीति में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ। चीन में साम्यवाद की विजय पश्चिमी गुट, विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका की कूटनीति की एक महान असफलता थी। जापान की पराजय के उपरान्त अमेरिका ने चीन की तत्कालीन राष्ट्रवादी सरकार को विपुल आर्थिक और सैनिक सहायता दी थी। १४ करोड़ १३ लाख डालर के जहाज दिए गये थे ७० करोड़ डालर उधार पट्टे के अन्तर्गत राष्ट्रवादी चीन को मिले थे और साढ़े बारह करोड़ डालर का अनुदान १६४८ के "चीन कानून" अनुसार उसे प्राप्त हुआ था। परन्तु इतनी प्रचुर सहायता के बावजूद च्यांग-काई-शेक साम्यवादियों के हाथों बुरी तरह पराजित हुआ और संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। चीन की राष्ट्रवादी सरकार के पलायन ने (जिसने फारमोसा में अमेरिका की संरक्षकता में शरण ली) अमेरिका को चिन्तित बना दिया और साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिए वह अपनी नीति में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन करने को बाध्य हुआ यथा—

(i) अमेरिका ने फारमोसा में च्यांग की भगोड़ी राष्ट्रवादी सरकार की रक्षा को अपना उत्तरदायित्व मान लिया।

(ii) उसने यूरोप के अतिरिक्त एशिया में भी साम्यवाद के अवरोध की नीति पर आचरण करना शुरू कर दिया। इसके लिए एक तरफ तो एशियाई देशों के गैर-साम्यवादी तत्वों को अधिकाधिक आर्थिक सहायता देने की नीति अपनाई गई और दूसरी तरफ उन्हें सैनिक साज-सामान दिया गया तथा साम्यवादी विरोधी प्रादेशिक सुरक्षा संगठनों की स्थापना करने के मार्ग का अनुसरण किया गया। दक्षिणी पूर्वी एशिया में सीटो और पश्चिमी एशिया में बगदाद पैक्ट या सैन्टो की स्थापना इसी नीति का परिणाम था।

(iii) अमेरिका ने यह भी निश्चय किया कि यदि आवश्यकता हुई तो वह स्वयं अपने सैनिक साधनों से प्रत्यक्ष रूप में साम्यवादी प्रसार का विरोध करेगा। इसी निश्चय के फलस्वरूप १६५० में दक्षिणी कोरिया की

साम्यवादियों से मुठभेड़ हुईं और आज रक्षा के लिए अमेरिकन फौजें उत्तरी वियतनाम के विरुद्ध वियतनाम में लगभग ५ लाख अमेरिकन सेना और भी अनेक अपना सैनिक अभियान चलाये हुए है। एशिया महाद्वीप में अमेरिकन सैनिक सहायता और राष्ट्र साम्यवाद के अवरोध के नाम पर सैनिक संगठनों के जाल में फंसाये गए।

(iv) विपुल सैनिक सहायता के बावजूद च्यांग-काई-शेक की पराजय ने अमेरिकन नीति-निर्माताओं को इस तथ्य की अनुभूति करा दी कि केवल सैनिक सहायता से साम्यवाद के प्रसार को नहीं रोका जा सकता। अत विश्व के अल्प विकसित और पिछड़े हुए देशों को अधिकाधिक मात्रा में आर्थिक और प्राविधिक सहायता देने की नीति का अनुसरण किया गया। विशेष रूप से अमेरिका ने जापान और भारत के आर्थिक पुनर्निर्माण में सहायता देकर उन्हें लोकतन्त्र का सुदृढ़ दुर्ग बनाने का प्रयत्न किया। अमेरिका इस बात को समझ गया कि बेकारी, भुखमरी और गरीबी वे परिस्थितियां हैं जो साम्यवाद के प्रसार के लिए विशेषरूप से अनुकूल होती हैं अत: इन परिस्थितियों का निराकरण किया जाना अनिवार्य है एवं

(v) अमेरिका ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता देने से इन्कार कर दिया। चूंकि ब्रिटेन, फ्रांस आदि अनेक पश्चिमी देशों ने अपने व्यापारिक मार्गों के कारण साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान की और उससे सम्पर्क वृद्धि की, अत: उनके और अमेरिका के मध्य कुछ मतभेद उत्पन्न हो गये।

चीन में साम्यवादियों की विजय सोवियत संघ के लिए वरदान और अभिशाप दोनों ही सिद्ध हुई। वरदान इसीलिए क्योंकि इससे जनसंख्या साधन स्रोतों और सैन्य शक्ति की दृष्टि से साम्यवादी जगत अत्यधिक शक्ति सम्पन्न बना और विश्व में शक्ति संतुलन स्थापित कर सका। अभिशाप इसलिये कि माओ-त्से-तुंग के नेतृत्व में चीन सोवियत संघ का एक प्रतिद्वन्द्वी बन गया और आज सैद्धान्तिक संघर्ष की आड़ में दोनों देश शक्ति संघर्ष के भय से आशंकित हैं। वास्तव में साम्यवादी क्रांति में रूस के लिए भारी कठिनाइयों के बीज निहित रूप से निहित थे। १९४९ तक सोवियत संघ साम्यवादी जगत का एकछत्र अविजित नेता था और विश्व के सभी साम्यवादी देश उसके पिछलग्गू थे। लेकिन साम्यवादी चीन के उदय ने रूसी नेतृत्व को चुनौती दी। ज्यों-ज्यों वह शक्तिशाली होता गया उसने यह स्पष्ट कर दिया कि वह सोवियत संघ का अनुवर्ती बन कर नहीं रह सकता। आज यह एक तथ्य है कि साम्यवादी चीन रूस का घोर प्रतिस्पर्धी बन गया है। इस ओर चीन की प्रतिस्पर्धा स्वयं साम्यवादी जगत के लिए एक गम्भीरतम समस्या बन गई है। पामर और पर्किन्स के मतानुसार चीन में साम्यवादी क्रांति का सम्पूर्ण एशिया पर क्रांतिकारी प्रभाव पड़ना निश्चित है।" एक ओर तो चीन की साम्यवादी क्रांति ने एशिया और अफ्रीका में राष्ट्रवादी शक्तियों को विशेष रूप से प्रोत्साहित किया है और दूसरी तरफ जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रतिनिधि सदन की रिपोर्ट

सम्बन्ध-नीति-समिति का मत था सम्भवतः चीन साम्यवादियों के लिए विश्व के सभी औपनिवेशिक दृष्टि से पिछड़े हुए भागों के लिए साम्यवादी सिद्धांत और दावपेच के विकास के लिए प्रायोगिक संयंत्र और परीक्षण स्थल" बन जाएगा।

इस साम्यवादी चीनी क्रांति का पूर्वी तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया की राजनीति पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा है। श्री के.एम. पणिक्कर के शब्दों में "चीन एक महाशक्ति बन गया है और इस रूप में मान्यता प्रदान किये जाने पर जोर दे रहा है—इस प्रकार की मान्यता जिन समस्याओं की माग करता है वे सरल नहीं हैं और सुदूर पूर्व में जो संघर्ष है वह इस प्रतिवाद का परिणाम है। संयुक्त राज्य अमेरिका आज भी साम्यवादी सरकार को चीन की वैधानिक सरकार मानने को उद्यत नहीं है। वह फारमोसा स्थित च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को ही चीन की वैधानिक सरकार मानता है और उसे अपना संरक्षण प्रदान किये हुए है। इस समय अमेरिका की सहायता से यहाँ लगभग ६ लाख सेना रखने वाले च्यांग-काई-शेक का ही पूर्ण शासन है। उसने इस टापू का नाम बदल कर ताइवान रख दिया है। इसके पश्चिम में फारमोसा जलडमरूमध्य पेस्काडोर्स के ४८ छोटे द्वीप तथा चीन के तट से १० मील दूर क्विमोय और मात्सु के टापू हैं। इस समय इन सब पर च्यांग का अधिकार है किन्तु साम्यवादी चीन इन्हें अपना हिस्सा समझता है और इन पर अपना अधिकार करना चाहता है। चीनी नेताओं का कहना है कि इन पर संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना की सहायता से च्यांग का शासन साम्यवादी चीन के लिए बहुत बड़ा खतरा है। वास्तव में चीन में साम्यवाद के उदय का ही यह परिणाम है कि एशिया में चीन और अमेरिका एक दूसरे के प्रबल प्रतिद्वन्द्वी और शत्रु बन गये हैं जिससे यह प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का तूफान केन्द्र बना हुआ है। अमेरिका के विरोध के कारण ही संघ में चीन का वास्तविक प्रतिनिधित्व नहीं हो पा रहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चीन में साम्यवादियों की विजय का विश्व राजनीति पर अत्यन्त महत्वपूर्ण और दूरगामी प्रभाव पड़ा है। इससे नवीन समस्यायें और उलझनें उत्पन्न हुई हैं तथा पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी एशिया विश्व राजनीति का केन्द्र स्थल बन गया है। १९२१ में जनरल स्मट्स द्वारा कहे गये ये शब्द कि "रंगमंच अब यूरोप से दूर पूर्वी एशिया और प्रशान्त महासागर में पहुँच गया है" सम्भवतः उस समय सत्य नहीं था परन्तु साम्यवादी चीन के उदय के फलस्वरूप विश्व राजनीति में उत्पन्न हुए परिवर्तनों से आज ये शब्द विश्व-राजनीति की यथार्थता के परिचायक बन गए हैं।

चीन में साम्यवाद के प्रसार के कारण

चीनी गृह-युद्ध में साम्यवादियों की विजय एक अप्रत्याशित घटना थी। च्यांग काई शेक चीन की मान्यता प्राप्त सरकार का शक्तिशाली अध्यक्ष था।

जापान की पराजय के पश्चात चीन के अधिकांश भाग पर उसकी एकछत्र सत्ता स्थापित हो गई थी। इसके अतिरिक्त संयुक्त राज्य अमरिका से भी उसे विपुल आर्थिक एवं सैनिक सहायता मिली थी। किन्तु फिर भी साम्यवादियों के साथ संघर्ष में वह अन्तिम रूप से पराजित हुआ। राष्ट्रवादी सरकार की इस पराजय और साम्यवाद की चीन में इस निर्णायक विजय के मुख्यतया निम्न लिखित कारण बताये जाते हैं—

(१) च्यांग काई शेक ने किसानों के महत्व को नहीं समझा था जब कि माओ इनके महत्व को समझ कर उन्हें संगठित करने में जुट गया था। १ जुलाई १९४९ को माओ ने "जनता के लोकतन्त्रीय अधिनायक तंत्र" विषय पर लिखे गये अपने प्रसिद्ध लेख में बताया था कि नवीन लोकतन्त्र चार वर्गों—मजदूर किसान छोटी बुर्जुआ का सम्मिलित मंच होगा और इसका नेतृत्व साम्यवादी दल द्वारा कृषक और श्रमिक करेंगे। इसीलिए चीन के नये राष्ट्र झण्डे में दल के सूचक एक बड़े तारे के साथ चार पीले छोटे तारे रखे गये। श्री माओ ने स्पष्ट शब्दों में यह कहा कि 'साथियो हम साम्राज्यवाद के जमींदार वर्ग के तथा नौकरशाही वाले पूंजीवादियों के वर्ग पर किसानों मजदूरों लघु बुर्जुओं और राष्ट्रीय बुर्जुआ के अधिनायक तन्त्र स्थापित कर रहे हैं।" किसानों और मजदूरों की संगठित सहायता के बल पर ही सितम्बर के अन्त तक साम्यवादी सेनाओं ने सम्पूर्ण चीनी महाद्वीप को जीत लिया।

(२) चीन की राष्ट्रवादी सरकार का मुख्य आधार मध्यम वर्ग बना रहा और उसने किसानों और मजदूरों की स्थिति सुधारने की ओर कभी कोई ध्यान नहीं दिया। साम्यवादियों ने इसका पूरा लाभ उठाया। माओ ने किसानों को सब्ज बाग दिखा कर अपनी ओर आकर्षित कर लिया। डा० सनयातसेन का मान्य उत्तराधिकारी होते हुए भी च्यांग-काई-शेक अन्ततः चीनी भूमिपतियों और पूंजीपतियों का प्रतिनिधि सिद्ध हुआ अत वह भूमि सुधारों का वैसा आकर्षक कार्यक्रम प्रदर्शित न कर सका जैसा कि चीन के किसानों में आवश्यक था। लेकिन माओत्सेतुंग ने कृषक वर्ग को अपने कार्यक्रम का आधार बनाया। साम्यवादी होते हुए भी उसका कार्यक्रम मार्क्सवाद की अपेक्षा डा० सनयातसेन के त्रि-सूत्रीय सिद्धान्त–राष्ट्रवाद लोकतन्त्र और आजीविका या आर्थिक समानता के अधिक अनुकूल था। चीन का कृषक और श्रमिक वर्ग माओ के आकर्षक कार्यक्रम के वशीभूत होकर साम्यवादियों को हृदय से सहयोग देने लगा फलतः च्यांग काई शेक की राष्ट्रवादी सरकार को पराजय का मुख देखना पड़ा।

(३) च्यांग-काई-शेक की सरकार अथवा कुओमिन्तांग का प्रशासन अत्यन्त भ्रष्ट और अकुशल था। वह युद्ध से उत्पन्न हुई भीषण मुद्रा स्थिति और अन्य आर्थिक समस्याओं का समाधान करने में असफल रहा और जनता की सहानुभूति खो बैठा। परिणामतः चीन में नये-नये क्रान्तिकारी विचारों को पनपने का अवसर मिल गया।

(४) च्यांग को अमरिका से साम्यवादियों के विरुद्ध जो सहायता

मिली यह न केवल पर्याप्त थी बल्कि उचित समय पर भी नहीं मिल सकी। इस सहायता का एक बड़ा भाग—अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्र चीनी आवश्यकताओं के अनुरूप न था। इसके अतिरिक्त साम्यवादियों की सैन्य कला और युद्ध प्रणाली भी राष्ट्रवादियों से कहीं अधिक श्रेष्ठ थी। साम्यवादियों ने छापा मार युद्ध नीति का अनुसरण किया था और यह युद्ध नीति इनकी सफलता का एक बहुत बड़ा कारण बनी।

(५) च्यांग-काई-शेक राष्ट्र को शक्तिशाली बनाने की अपेक्षा अपनी व्यक्तिगत शक्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए अधिक चिंतित था। वह अपने सहयोगियों से भी सहायता प्राप्त करने में असफल रहा। उसकी असहिष्णुता ने चीन के बुद्धिजीवियों व विद्यार्थियों को अपने शासन का विरोधी बना दिया। एक विद्वान ने इस सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि आक्रमणकारी की सैनिक का शक्ति सामना करने, पश्चिमी राष्ट्रों से सैनिक सहायता प्राप्त करने तथा राष्ट्र संघ को हस्तक्षेप के लिए प्रेरित करने में अपनी असमर्थता के कारण च्यांग की सरकार को अपने देश के सर्वाधिक सम्पन्न तथा समृद्धशाली भाग जापान को सौंप देना पड़ा यहां तक कि दक्षिण चीन के तटवर्ती नगर तथा नानकिंग और पेकिंग जैसे महत्त्वपूर्ण केन्द्र भी उससे छिन गये।

(६) साम्यवादी च्यांग के राष्ट्रवादियों से कहीं अधिक सुसंगठित उत्साही और ईमानदार थे। साम्यवादियों की अपने देश की जनता में गहरी जड़ें थी। जिन प्रदेशों में उनकी सरकार कायम थी वहां की शासन व्यवस्था किसी भी मापदण्ड के अनुसार अच्छी कही जा सकती थी। सम्पूर्ण देश में साम्यवादी अपनी कार्यकुशलता और ईमानदारी के लिए प्रख्यात थे। साथ ही सम्पूर्ण देश यह जानता था कि जापान के विरुद्ध साम्यवादियों ने ही चीन की प्रतिष्ठा और गौरव की रक्षा की थी। च्यांग-काई-शेक को उसके अधिनस्थ दो सेनानियों ने गिरफ्तार करके इसी शर्त पर छोड़ा था कि वह साम्यवादी चीनियों के विरुद्ध अभियान समाप्त करके जापान विरोधी संयुक्त मोर्चे को दृढ़ बनाये और साम्यवादियों तथा उत्तर के सैनिक नेताओं के साथ जापान के विरुद्ध सहयोग करे। साम्यवादियों से सहयोग करने पर ही जापान को पराजित किया जाना सम्भव हो सका था।

अतः पहिले जापानियों और फिर च्यांग की पराजय के बाद जहां जहां साम्यवादियों की सेनायें पहुंची वहीं उनका मुक्तिदाता के रूप में स्वागत हुआ। १९४८ के अन्त में च्यांग ने स्वयं कहा था—'विद्रोहियों के विरुद्ध अपने अभियान में हमें सैनिक तथा जन साधारण के संयुक्त व सम्बद्ध प्रयासों का लाभ प्राप्त नहीं हुआ। हमें कई बार मुंह की खानी पड़ी है। यही हमारी असफलता का कारण है।"

संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी देशों में बहुधा यह कहा जाता है कि साम्यवादियों की विजय सोवियत सहायता के कारण सम्भव

हुई। लेकिन उनका यह कथन सत्य से कोसों दूर है। इस सम्बन्ध में श्यूमैन ने लिखा है कि—

"प्रथम महायुद्ध के विनाश एवं विध्वंस ने मित्र राष्ट्रों और उनके शत्रुओं की मूर्खता के साथ मिल कर रूस को साम्यवाद के हवाले कर दिया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के विध्वंस और विनाश ने मित्र राष्ट्रों तथा शत्रुओं की मूर्खता के साथ मिलकर चीन को साम्यवाद के हाथों में सौंप दिया। इन दोनों घटनाओं से संयुक्त राज्य अमेरिका को इतना जबरदस्त धक्का लगा कि १९१७–१८ में कुछ अमेरिकन यह कहने लगे कि रूसी क्रांति जर्मन षड्यन्त्र का परिणाम थी और १९४९–५० में उन्होंने कहा कि चीनी क्रांति या तो रूसी षड्यन्त्र का परिणाम है अथवा यह वाशिंगटन स्थित कुछ देशद्रोहियों के षड्यन्त्र का फल है। ये व्याख्याएँ ऐसी नहीं हैं जिनके ऊपर गम्भीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता हो। रूस में कम्युनिस्टों की विजय का यद्यपि २०वीं शताब्दी में रूस की महानतम विजय और अमेरिका की महानतम पराजय के नाम से पुकारा जा सकता है। तथापि यह न तो अमेरिकनों का कार्य थी और न उनका रूसियों से ही कोई सम्बन्ध था अपितु यह चीनियों के द्वारा ही सम्पन्न हुई थी।"[1]

—

यदि सार रूप में प्रकट किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि साम्यवादियों को २२ वर्ष के उग्र संघर्ष के बाद सफलता मिलने के प्रमुख कारण ये थे—च्यांग-काई-शेक की अयोग्यता, भ्रष्टाचार, युद्ध से उत्पन्न हुई भीषण मुद्रा स्फीति तथा अन्य आर्थिक समस्याओं का हल न कर सकने के कारण और जमींदारों और पूंजीपतियों का समर्थन करने से सारी जनता की सहानुभूति खो देना; साम्यवादियों का सुदृढ़ और सुनियन्त्रित संगठन एवं अपने आदर्शों को क्रियान्वित करने का प्रबल उत्साह, दृढ़ संकल्प उत्कृष्ट श्रद्धा अडिग विश्वास तथा अनथक लगन, लोकप्रिय भूमि सुधार

---

1 "The ruin and destruction of World War I coupled with the follies of Allies & enemies deliverd Russia to Communism. The destruction and ruin of World War II coupled with the follies of allies and the enemies delivered China to Communism. Both developments were so shocking to the U.S.A. as to cause many Americans in 1917-18 to explain the Russian Revolution as a German Plot" and in 1949-50 to explain the Chinese revolution as a "Russian Plot or the consequence, somehow of a conspiracy of traitors" in Washington. Since these explanations are unworthy of serious consideration they need not be dwelt upon here. Red conquest of Russia was the work of Russians. Red conquest of China albeit Russia's greatest victory and America's greatest defeat in the 20th Century was the work neither of Americans nor of Russians, but of Chinese."

—Schuman

उनका परिस्थितियों म पूरा लाभ उठाने की सामर्थ्य तथा जनता के सब वर्गों की सहानुभूति प्राप्त करने वाला प्रगतिपरक कार्यक्रम। वास्तव में यह अयोग्यता निष्क्रियता उपेक्षा और उदासीनता का सक्षमता क्रियाशीलता उत्साह साहस श्रद्धा और विश्वास के साथ संघर्ष था जिसमें दूसरे पक्ष की विजय सर्वथा स्वाभाविक थी।

साम्यवादी चीन की विदेश नीति के आधारभूत एवं प्रभावशाली तत्त्व

साम्यवादी चीन की विदेश नीति अन्य देशों की भांति कुछ आधारभूत सिद्धान्तों के आश्रय पर संचालित है और उसके ऊपर अनेक तत्त्वों का प्रभाव है जिनमें से कुछ प्रमुख संक्षेप में इस प्रकार हैं—

(१) साम्यवादी विचारधारा

सोवियत रूस की भांति चीन की विदेश नीति पर भी मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों का पूरा प्रभाव है। चीनी साम्यवादी सरकार की स्थापना की दसवीं वर्षगांठ के अवसर पर राज्य अध्यक्ष ल्यूशाओची ने जो घोषणा की थी उससे चीन का साम्यवाद पर भारी जोर देना स्पष्ट हो जाता है। साम्यवादी चीन का यह विश्वास है कि उसने जिस तीव्र गति के साथ आर्थिक प्रगति की है उसकी प्राचीनकाल में कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। चीन में आधुनिक कृषि उद्योग विज्ञान एवं संस्कृति का विकास इसलिए सम्भव हो सका कि उसने क्रांति द्वारा साम्राज्यवाद सामन्तवाद और नौकरशाही—पूंजीवाद एवं पूंजीवादी व्यवस्था को उखाड़ फेंका है। साम्यवादी दल का वहां के जन-जीवन में भारी महत्त्व बढ़ गया है। जनता की समस्त सफलताओं को दल की विजय घोषित किया जाता है। यह सामाजिक क्रांति तथा निर्माण दल की सहायता से ही सम्भव हो सका है। ल्यूशाओची के शब्दों में— हमारी सारी सफलतायें मार्क्सवाद—लेनिनवाद की नवीन पुष्टियां एवं नवीन सफलतायें हैं। साम्यवाद के कारण ही चीन इतना समर्थ हुआ है कि उसने अतीत के अपने अपमान का समाप्त कर दिया है तथा विश्व के अन्य राष्ट्रों की साम्यवादी क्रांति करने में सहायता कर सकता है। साम्यवाद के मुख्य सिद्धान्त वर्ग संघर्ष इतिहास की भौतिक व्याख्या पूंजीवाद का साम्राज्यवादी रूप आदि से चीन की विदेश नीति पर्याप्त मात्रा में प्रभावित हुई है। इस दृष्टि से एशिया तथा अफ्रीका में साम्यवाद के प्रसार को चीन अपना उत्तरदायित्व मान कर चलता है।

(२) राष्ट्रीय हित

साम्यवादी चीन की विदेश नीति अपने राष्ट्रीय हित की साधना में विचारधारा को भी साधन बना लेती है। सोवियत रूस नि:शस्त्रीकरण पर जोर दे रहा है तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति पर चल रहा है। किन्तु चीन द्वारा इन व्यवहारों की कटु आलोचना की जाती है क्योंकि वहां के नेताओं की दृष्टि में ये नीतियां चीन के राष्ट्रीय हित को साधने में असमर्थ हैं। जहां तक चीन की विदेश नीति का प्रश्न है उसमें सिद्धान्त तथा राष्ट्रीय हित

बातों ही साथ-साथ चलते हैं। 'सिद्धान्त' राष्ट्रीय हित को प्रभावित करता है तथा राष्ट्रीय हित' के अनुसार ही सिद्धान्त का रूप भी ढाल दिया जाता है। सिद्धान्तों की व्याख्या करते समय उस देश के भूगोल, इतिहास, राष्ट्रीय परम्परा, अतीत के अनुभव तथा देश की वर्तमान आवश्यकताओं का भारी प्रभाव पड़ता है। चीन के नेताओं के प्रत्येक कार्य का मूल लक्ष्य देश के शक्ति-स्तर (Power Status) को बढ़ाना होता है। वे चीन को सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा अमरीका के समकक्ष बनाना चाहते हैं। उनका विचार है कि इसके पास भी इतना शक्ति आ जाय जो एक महान् शक्ति (Great Power) के पास होती है। जो देश इसे महान् शक्ति मानने से इन्कार करे उसे ऐसा मानने के लिए बाध्य किया जाना चाहिए अथवा कोई बड़ी शक्ति उसे अपने समान न माने तो उसको उसका पाठ पढ़ाया जाना चाहिए। शक्ति को पाने एवं बढ़ाने में चीनी नेता किसी भी बलिदान को बड़ा नहीं मानते। भारत भ्रमण के समय चाऊ-एन-लाई ने उत्तर प्रदेश के राज्यपाल से कहा था कि यदि सारे विश्व को साम्यवादी बनाने के प्रयत्न में चीन की आधी जनसंख्या की बलि देना पड़े तो भी हम कोई परवाह नहीं करेंगे।[1]

(३) पूंजीवाद का विरोध

साम्यवादी देश होने के नाते चीन की विदेशनीति पूंजीवादी देशों के साथ प्रतिद्वन्द्वितापूर्ण सम्बन्ध रखती है। इन सम्बन्धों के पीछे अतीत के अनुभवों की कटुता काम करती है जबकि इसे साम्राज्यवादी शक्तियों के अत्याचार एवं शोषण का शिकार बनना पड़ा था। इस समय जहाँ भी कहीं उपनिवेशवादी शक्तियों का विरोध किया जाता है वहीं पर चीन का हस्तक्षेप प्रारम्भ हो जाता है। चीनी नेताओं का कहना है कि सभी शोषित देशों में चीनी जनता अपना प्रतिबिम्ब देखती है। यही कारण है कि एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के देशों में राष्ट्रीय स्वतन्त्रता एवं प्रजातन्त्र प्राप्त करने के लिए जो भी संघर्ष किया है चीन की जनता ने उनको यथाशक्ति सहायता प्रदान की है। पिछड़े देशों में राष्ट्रवादी तत्वों को उभार कर वहाँ साम्यवादी क्रांति के उपयुक्त वातावरण बनाना चीन की विदेश नीति का मूल सिद्धान्त एवं आधारभूत तत्व रहा है।

(४) राष्ट्रवादी चीन की समस्या

साम्यवादी चीन के अन्तर्राष्ट्रीय स्तर में सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रवादी चीन की फारमोसा में स्थित सरकार को माना जा सकता है। राष्ट्रवादी चीन के नेता च्यांग-काई शेक को ही विश्व के कई प्रमुख राष्ट्रों द्वारा चीन का उचित शासक माना जाता है। सुरक्षा परिषद में भी इसी चीन का स्थायी पद प्राप्त है। फारमोसा चीन की भूमि से केवल सौ मील की दूरी पर स्थित है इसलिए यह साम्यवादी चीन की सुरक्षा के लिए एक बहुत बड़ा खतरा है। फारमोसा की रक्षा में अमरीका का सातवाँ बेड़ा तथा सम्मानित सशस्त्र सेना

1 "Evening News, Bombay, 8th March 1962.

लगी हुई है। इस भय के कारण साम्यवादी चीन की विदेश नीति हर संभव प्रयत्न द्वारा अपनी सुरक्षा एवं एकीकरण की दिशा में प्रयाण करती है। सारा चीन के नेता फारमोसा की समस्या पर अनौचित्य व्यवहार पर उतर आते हैं। वे किसी प्रकार का ऐसा समझौता नहीं करना चाहते जिससे कि इस समस्या को अधूरा ही छोड़ दिया गया हो।

(५) विदेश नीति के जनक 'माओ'

जिस प्रकार शान्तिप्रिय भारत की विदेश नीति सृजनकर्ता स्वर्गीय जवाहरलाल नेहरू थे उसी प्रकार युद्धप्रिय विस्तारवादी लाल चीन की विदेश नीति का निर्माण बहुत कुछ साम्यवादी नेता माओत्से-तुङ्ग के मस्तिष्क द्वारा हुआ था। माओ एक साम्यवादी है अतः चीन के सोचा एवं वस्तुओं का उसका ज्ञान बहुत व्यापक है किन्तु पश्चिमी विचार एवं संस्कृति के बारे में वह शून्य प्राय है। माओ ने एक बार लिखा था कि पश्चिमी साम्राज्यवादियों ने वियतनाम बर्मा कोरिया नेपाल और भूटान को चीनी साम्राज्य से अलग कर दिया था जैसे असल में ये चीन के ही भाग हैं। इससे स्पष्ट होता है कि माओ चीनी परम्पराओं में पूरी तरह रंगा हुआ है। जैसे ये भाग कभी भी राजनैतिक दृष्टि से चीनी साम्राज्य के भाग न थे। ये संस्कृति एवं सभ्यता की उच्चता के कारण चीन को अवसरवश कुछ भुगतान करते थे। वास्तविकता चाहे कुछ भी हो किन्तु माओ के विचारों से चीन की विदेश नीति के स्वरूप की एक झलक प्राप्त होती है। माओ को अपने देश के महान् अतीत पर गर्व है तथा उसे यह देख कर भारी असन्तोष होता है कि रूस एवं अमेरिका द्वारा चीन को समानता का स्तर नहीं दिया जाता और महान् शक्तियों के साथ बैठ कर विश्व की समस्याओं पर विचार करने से उसे रोका जाता है। यह असन्तोष ही चीन के आक्रमणकारी राष्ट्रवाद के विभिन्न कारणों में प्रधान है।

माओ चीन में सबसे प्रमुख शक्तिशाली व्यक्ति है जिसने मार्क्सवाद एवं लेनिनवाद की नीतियों के लिए व्याख्या की है चीन के साहित्य एवं कला के आदर्श एवं स्तर निर्धारित किये हैं सभी राजनीतिक नीतियां एवं कार्यवाहियां उसी के नाम से प्रसिद्ध होती हैं। सारा देश माओ की नीतियों एवं कार्यों का गुणगान करता है। माओ के नेतृत्व में चीन द्वारा जो नीतियां अपनायी जा रही हैं वे शायद ही किसी अन्य नेता के नेतृत्व में अपनायी जा सकती थीं। इसमें सन्देह नहीं कि चीन द्वारा अपनी नीतियों में अपनाई गई मजबूती एवं दृढ़ता में माओ का बहुत कुछ हाथ रहा है। यहां तक कि कई बार चीन की विदेश नीति के अनेक जोखिम (Risk) भी उठाने का साहस किया है। उदाहरण के लिये सोवियत संघ के साथ उसके मतभेद को लिया जा सकता है। साम्यवादी चीन ने एक स्वतन्त्र बड़ी शक्ति के रूप में व्यवहार करना प्रारम्भ कर दिया है। महान् शक्ति की समस्त आवश्यकताओं को वह प्राप्त करने में प्रयत्नशील है जैसे सीमाओं पर सुरक्षा पड़ौसी देशों में मनपसन्द शासन इसके स्वयं के प्रभाव क्षेत्र प्रभावशील सन्धि-व्यवस्था अपनी नीति को क्रियान्वित करने के लिये सब प्रकार के साधन अपनाना आदि।

चीन की विदेश नीति के साधन

आज का चीन पूरी तरह साम्यवाद में बस चुका है अथवा बसता जा रहा है। यहां जीवन की प्राचीन परम्पराओं धर्म और जीवन पद्धतियों को बुर्जुआ कह कर ठोकर मार दी गई है। साम्यवादी चीन ने अपनी जिस एक मात्र परम्परा की रक्षा की है वह है विस्तारवाद एवं साम्राज्यवाद की भूख। जिस किसी भी देश पर चीनी राजा ने अस्थायी या नाममात्र को कभी अधिकार किया था उसे चीन की वर्तमान सरकार 'खोया हुआ भाग' कह कर पुकारती है। अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिये चीन की विदेश नीति जिन साधनों का प्रयोग करती है वे मुख्यतः निम्न प्रकार हैं—

(१) युद्ध एवं हिंसा

चीन को युद्धप्रिय एवं विश्व शांति का दुश्मन बनाने वाले अनेक तत्व हैं। उदाहरण के लिये नेताओं की महत्वाकांक्षा, साम्यवादी क्रान्ति का समर्थन, यूरोप के पूंजीपतियों के शोषण का कटु अनुभव आदि। सन् १९३९ में माओ ने लिखा था कि साम्राज्यवादियों ने चीन के बहुत से भाग उससे ले लिये हैं। जापान ने कोरिया, र्यूक्यू द्वीप, पेस्काडोरस और पोर्ट-आर्थर, इंगलैंड ने बर्मा, भूटान, नेपाल तथा हांगकांग, फ्रांस ने एनाम तथा पुर्तगाल जैसे मामूली देश ने मेकाओ का क्षेत्र चीन से छीन लिया।[1] इस प्रकार की भावनायें व्यक्त करने वाला व्यक्ति जब पूरी शक्ति अपने हाथ में ले ले तो यह कल्पना की जा सकती है कि वह क्या करेगा? माओ तथा चीन के अन्य नेता युद्ध को अनिवार्य तथा उचित मानते हैं। उनका विचार है कि अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिये उनके पास एक मात्र मार्ग युद्ध ही है। माओ ने लिखा है कि—हम साम्यवादी युद्ध को सर्वव्यापक मानते हैं। यह युद्ध अनुचित न हो कर उचित एवं मार्क्सवादी होता है। रूस ने बन्दूक के जोर से समाजवाद स्थापित किया है। सारा संसार केवल बन्दूक की सहायता से ही बदला जा सकता है। युद्ध को केवल युद्ध से ही समाप्त किया जा सकता है। बन्दूक से छुटकारा पाने के लिए बन्दूक हाथ में लेनी होगी।[2] चीन युद्ध को साम्यवाद के प्रसार के लिए आवश्यक मानता है। उसका मत है कि शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति जिसका सोवियत संघ पालन कर रहा है वह साम्यवाद के विरुद्ध है तथा संशोधनवाद का प्रसार है।

(२) लम्बे संघर्ष की योजना

चीन के साम्यवादी अधिकारियों का विश्वास है कि एशिया में साम्यवाद के प्रसार के लिये लंबे संघर्ष की योजना का उपयोग करना पड़ेगा। यह योजना साम्यवादी सिद्धान्तों से ही ली गई है किन्तु इसकी व्याख्या माओ

1 Mao-Tse Tung Chinesa Revolution and the Chinese Communist Party

2. Selected Works of Mao-Ts-Tung Vol II Bombay p p 272-73

ने की है। माओ का विचार है कि पूंजीवादी देशों में युद्ध निश्चय तथा साहस नहीं होता इसलिये जब उनके विरुद्ध सावधानी के साथ अवसर देख कर एक सबल समर्थ बेड़ा आयगा तो वे टिक नहीं सकेंगे। साम्यवादी देशों में पीछे सिद्धान्त का बल होता है तथा राजनीति का सहारा और इसी कारण वे पूंजीवादी दलों से तोड़ फोड़ कर सकते हैं। इसके संघर्ष की योजना के अधीन पश्चिमी देशों का तीव्र विरोध किया जाता है और अन्य देशों में साम्यवादी दलों की सहायता की जाती है। चीन द्वारा पश्चिमी शक्तियों के विरुद्ध आक्रमण की धमकी देने की नीति अपनाई जाती है। इस धमकी का लक्ष्य पहले ताईवान को लेना वहां स्थित अमरीकी शक्ति को उखाड़ना तथा एशिया के देशों में जहां साम्यवादी आन्दोलन हो रहे हों वहां पश्चिम के हस्तक्षेप को रोकना है। कोरिया वियतनाम आदि स्थानों पर इस धमकी ने वास्तविकता भी ग्रहण कर ली है।

(३) साम्यवादी प्रचार

एशिया तथा अफ्रीका महाद्वीप में कहीं-कहीं साम्यवादी आन्दोलन हो रहे हैं। चीन द्वारा इनको सहयोग एवं मार्ग-दर्शन दिया जाता है। उसका यह प्रयास रहता है कि ये आन्दोलन चीन को आदर्श मान कर मन न रूप धारण कर लें। ऐसा करने के लिए चीन द्वारा न केवल शब्दों का समर्थन ही प्रदान किया जाता है बल्कि शस्त्रास्त्रों की सहायता भी। चीन का विश्वास है कि इस प्रकार के हिंसात्मक आन्दोलनों द्वारा साम्यवाद का पक्ष मजबूत होता है पूंजीवाद की जड़ें ढीली पड़ती हैं और सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि चीन को लोकप्रियता प्राप्त होती है।

(४) सैनिक सहायता कार्यक्रम

साम्यवाद की स्थापना एवं अपने प्रभाव का रंग जमाने के लिये चीन द्वारा किसी भी देश को सैनिक सहायता दी जा सकती है अथवा देने की धमकी दी जाती है। जिस देश को इस प्रकार की सहायता दी जा रही है उसमें कुछ बातों का होना जरूरी है जैसे—उस देश के लक्ष्य प्रायः वही हों जो स्वयं चीन के हैं इस सहायता से चीन की सुरक्षा को किसी प्रकार का खतरा पैदा न हो उस सहायता की प्रतिक्रिया स्वरूप किसी बड़े देश का मुकाबला न करना पड़े, पश्चिम द्वारा उस देश में हस्तक्षेप की सम्भावना न हो आदि। साम्यवाद की स्थापना के लिये किसी देश को सैनिक सहायता प्रदान करते समय चीन सदैव इस बात का ध्यान रखता है कि वह किसी बड़े युद्ध में न पड़ जाए। यह सहायता गैर सरकारी एवं लचीली होती है तथा खतरनाक मुकाबला होने की अवस्था में इसे कभी भी बन्द किया जा सकता है।

(५) शांतिपूर्ण सह अस्तित्व

इस साधन का उपयोग प्रायः लोकप्रियता प्राप्त करने के लिये किया जाता है। चीनी नेताओं ने शान्तिपूर्ण सह अस्तित्व की नीति की व्याख्या इस प्रकार से की है कि वे अवसर के अनुसार युद्ध एवं शांति दोनों ही रास्तों

को अपनाने के लिये स्वतन्त्र हो जाते हैं और उनकी प्रतिष्ठा को किसी प्रकार की आँच नहीं आती। चीन यह कहता है कि पश्चिमी देश आक्रमणकारी है। यदि वह सैनिक कार्यवाही करता है तो इसका लक्ष्य वह आत्मरक्षा बताता है इसी प्रकार जब उसे लगता है कि विपक्षी का पलड़ा भारी है तो सेना का घोर प्रयोग भी नहीं उठाता तथा सैनिक आक्रमण व अपमान पर शांतिप्रिय होने का मुफ्त गौरव लूट लेता है। अपनी इस नीति के अधीन चीन एशिया के देशों से यह माँग करता है कि वे तटस्थ बने रहें तथा अपना रुख पश्चिम की ओर झुका हुआ न रखें वरन् इस प्रकार की नीति अपनायें जो चीन की नीति के अनुकूल हो। कोई देश जो कि शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व मे विश्वास करता है यदि पश्चिम के साथ सहयोग करने लगे तो यह आवश्यक नहीं रहता कि चीन उसकी स्वतन्त्रता तथा शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व में वर्णित अन्य सिद्धान्तों के प्रति सम्मान दिखायेगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जो देश चीन की लोकप्रिय राजनीतिकता का स्वागत नहीं करता, स्थानीय साम्यवादी दल द्वारा किये गये चीनी प्रकार का दमन करता है, स्थानीय साम्यवादी आन्दोलन के प्रति सक्रिय रुख उठाता है तथा पश्चिम के साथ उदार रुख अपनाता है वह चीन का मित्र नहीं रह सकता शत्रु बन जायेगा तथा उसके साथ चीन शांतिपूर्ण सह-अस्तित्व जैसे किसी सिद्धान्त का पालन नहीं करेगा।

(६) दोहरी नीति

चीन की विदेश नीति पर विचारधारा एवं राष्ट्रीय हित इन दो तत्वों का मुख्य रूप से प्रभाव है। इन दोनों के बीच असन्तुलन पैदा हो जाने या सामंजस्य न रहने पर जो नीति बन जाती है उसका अनुमान चीन और रूस के सम्बन्धों को देख कर लगाया जा सकता है। इन दोनों देशों की नीति एक ही साथ सहयोग एव प्रतिस्पर्धा की है। दोनों देशों के बीच सहयोग का आधार एक-सी विचारधारा है। दोनों ही विश्व में साम्यवाद का प्रसार करना चाहते है, दोनों ही पूँजीवाद के शत्रु हैं। इन कारणों से दोनों देशों के बीच परस्पर मैत्री एवं सहयोगपूर्ण सबंधों की रचना हुई किन्तु सन् १९६३ के आस पास से ही यह स्पष्ट होने लग गया है कि चीन के हित सोवियत संघ के हितों से भिन्न ही नहीं वरन् विरोधी भी हैं। चीन यह प्रयत्न करता है कि साम्यवाद के प्रसार का कार्य वह सोवियत संघ के अनुचर के रूप में नहीं वरन् साथी के रूप में करे तथा गैर-साम्यवादी देशों में उसे एक बड़ी शक्ति माना जाए। इस प्रकार सोवियत संघ के साथ चीन के सम्बन्ध प्रतिस्पर्धापूर्ण हो गये।

जब इन दो साम्यवादी देशों के आपसी सबंधों का यह रूप हो गया तो सोवियत संघ द्वारा चीन को दी जाने वाली सहायता में भी सावधानी ब्योरेबाजी आ गई। चीन का रूस से आर्थिक सहायता चाहिये और शिक्षण कार्यकर्त्ता एव सहायता आक्रमणों द्वारा दुनिया में साम्यवाद के प्रसार के लिए सहयोग चाहिये। यह उसे तभी प्राप्त हो सकेगा जबकि वह रूस के हितों की साधना में सहयोग दे। रूस का सबसे बड़ा हित है अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवादी

तन्त्र को अपने हाथों में रखना। चीन रूस के इस मत का प्रतिद्वन्दी है। माओ इस बात को सहन करने के लिये तयार नहीं है कि रूस चीन पर अपना प्रभाव रखे अथवा उसके विस्तार पर नियन्त्रण लगाने की चेष्टा करे। आज दोनों ही देशों के हितों के बीच गम्भीर विरोध विद्यमान है। दोनों में कटु सैद्धान्तिक और पारस्परिक हितों का संघर्ष छिड़ा हुआ है। इस उलझन में से निकलने के लिये चीन आर्थिक दृष्टि से आत्म निर्भर होने का अथक प्रयास कर रहा है जहां सभी प्रकार के अमानवीय साधनों का प्रयोग कर मानव शक्ति के सहारे देश का औद्योगिक विकास किया जा रहा है। दोनों देशों के बीच की प्रतिस्पर्धा अब इतनी बढ़ चुकी है कि यह किसी के अनुमान का विषय न रह कर एक स्पष्ट तथ्य बन गई है। माओ ने अपने भाषणों में रूस की वर्तमान नीतियों को संशोधनवादी बुर्जुआवादी या प्रतिक्रियावादी कह कर कटु आलोचना की है। चीनी नेताओं का यह दावा है कि वे जिस मार्ग पर चल रहे हैं वह अपेक्षाकृत अधिक सक्रिय तथा मार्क्सवाद और लेनिनवाद के अधिक नजदीक है। दोनों देशों के मतभेद इतने बढ़ चुके हैं कि इनमें समझौता होने की निकट भविष्य में संभावना नजर नहीं आती।

साम्यवादी चीन की विदेश नीति
(Foreign Policy of Communist China)

पहिले बताया जा चुका है कि चीन का विदेश नीति मार्क्सवाद लेनिनवाद के सिद्धान्तों पर आधारित है और इन सिद्धान्तों की भी माओ-त्से-तुङ्ग की अपनी व्याख्या है। अतः चीनी साम्यवाद का निर्माण करने वाली महत्वपूर्ण और निर्णायक विचारधारा माओवाद ही है। चीनियों का दावा है कि माओ ने मार्क्सवाद और लेनिनवाद को अपने नवीन विचारों के माध्यम से समृद्ध किया है। चीनी साम्यवाद यह मानता है कि साम्राज्यवाद क्षीण होने वाले पूंजीवाद की अन्तिम अवस्था है पूंजीवादी वर्गों के विरुद्ध क्रान्तिकारी संघर्ष में उपनिवेशवादी और अर्द्ध उपनिवेशवादी वर्ग महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं विश्व क्रान्ति में साम्राज्यवाद का विरोध नितान्त महत्वपूर्ण है कृषक वर्ग की क्रान्तिकारी महत्ता स्वीकार्य है, राज्य की शक्ति का समग्र अधिकारवादी (Totalitarian) संगठन ही पूर्ण उपयुक्त है और राज्य द्वारा ही वस्तु के आर्थिक विकास का संचालन वांछनीय है।

मार्क्सवाद लेनिनवाद और माओवाद के सिद्धान्तों को पूर्णतः ध्यान में रखते हुए ही सितम्बर १९४९ में जन-परामर्शदात्री सम्मेलन में साम्यवादी चीन की विदेश नीति निम्न प्रकार से निर्धारित की गई—

चीनी गणराज्य की विदेश नीति का उद्देश्य देश की स्वतन्त्रता सम्प्रभुता व प्रादेशिक सम्मान की रक्षा करना स्थायी विश्व शांति को सुरक्षित रखना विभिन्न राज्यों में मैत्रीपूर्ण सहयोग को प्रोत्साहित करना तथा आक्रमण व युद्ध की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करना है।

चीनी गणराज्य विदेशों में बसने वाले चीनियों के उचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिये भरसक प्रयास करेगा।

चीनी गणराज्य उन सभी लोगों को राजनीतिक शरण प्रदान करेगा जो जन-हित शांति तथा जनतन्त्र के लिए संचालित संघर्ष में भाग लेने के कारण अपनी सरकारों द्वारा सताये गये हों।

इसी आधार पर १ अक्टूबर १९४९ को जब चीन की साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई तो उसने अपनी विदेश नीति के ये लक्ष्य घोषित किये—

(i) चीन की स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा करना
(ii) स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सब देशों के बीच मत्रीपूर्ण सहयोग के लिये प्रयत्न करना
(iii) उन विदेशी सरकारों के साथ मैत्रीपूर्ण संबंध स्थापित करना जो राष्ट्रवादी चीन से अपना संबंध विच्छेद कर चुकी हों
(iv) साम्राज्यवादियों और विशेषतः संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष में साम्यवादी देशों का साथ देना एवं
(v) प्रवासी चीनियों के हितों और अधिकारों की रक्षा करना आदि।

चीन की विदेश नीति के उपरोक्त सभी लक्ष्य ऊपर से बहुत सुन्दर और आकर्षक दिखाई देते हैं किन्तु इनकी व्याख्या चीन की अपनी स्वेच्छाचारी विस्तारवादी व्याख्या है जिसका विश्व का कोई भी शांतिप्रिय राष्ट्र कभी स्वागत नहीं करेगा। इस मुखमेजी विदेश नीति का वास्तविक व्याख्या करने से पहिले यह और जोड़ देना उपयोगी होगा कि वर्तमान समय में चीन अपनी विदेश नीति के इन आधारभूत लक्ष्यों को प्राप्त करने में प्राणपन से सचेष्ट है—

(१) सम्पूर्ण एशिया में साम्यवाद का प्रसार रूस के रूसी ढंग का नहीं हो, बल्कि विशुद्ध मार्क्सवाद लेनिनवाद-माओ का शुद्ध साम्यवाद हो।

(२) हिंसा छल बल और कौशल द्वारा साम्यवादी चीन की सीमाओं का अधिकाधिक विस्तार किया जाए ताकि एशिया में पूर्वी यूरोपियन ढंग के कठपुतली देशों की स्थापना की जा सके।

(३) एशिया के समस्त देशों पर प्रभावशाली राजनीतिक सैनिक और आर्थिक नियन्त्रण स्थापित किया जाए।

(४) सम्पूर्ण एशिया और सुदूरपूर्व में पश्चिम के विशेषकर अमेरिका के प्रभाव को समाप्त कर दिया जाए ताकि उसकी (चीन की) सैनिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में कोई बाधा न पड़े।

(५) एशिया ही नहीं अपितु समस्त विश्व का एकछत्र साम्यवादी नेता बनने की दिशा में हर उपाय से आगे बढ़ा जाए, चाहे इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये उसे शांति मार्गों से ही संघर्ष क्यों न मोल लेना पड़े—रूस चीन अन्तर्विरोध का यही एक प्रमुख कारण है।

(६) सेना को आधुनिकतम और आणविक शस्त्रास्त्रों एवं सैनिक उपकरणों से सुसज्जित करके तथा चीन की राष्ट्रीय शक्ति का सैनिक आधार पर पूर्ण संगठन करके उपरोक्त लक्ष्यों को प्राप्त किया जाए।

अब हम चीन की विदेश नीति की वास्तविक व्याख्या पर आते हैं।

चीनी विदेश नीति का प्रथम महत्वपूर्ण लक्ष्य चीन की स्वतन्त्रता और अखण्डता की रक्षा का है। इस लक्ष्य का अभिप्राय यह है कि साम्यवादी चीन उन भागों पर भी अपना ही अधिकार मानता है जिन पर अधि-राष्ट्रीय सरकार का अधिकार है। इस प्रकार फारमोसा अथवा ताइवान पर चीन की सरकार अपना प्रभुत्व मानती है और उसे येन-केन प्रकारेण लेने को प्रयत्नशील है। वे भाग जिन पर चीन का अधिकार था और जो कालान्तर में चीन से अलग हो गये और जिन्हें राष्ट्रीय सरकार वापिस नहीं ले सकी उन्हें भी साम्यवादी चीन लेने का दावा करता है। पिछले दो हजार वर्षों में चीन ने शक्तिशाली होने पर अपनी विस्तारवादी नीति पर चलते हुए सुदूरपूर्व मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वी एशिया में विशाल साम्राज्य स्थापित किये थे। अपने को साम्राज्यवाद का कट्टर विरोधी कहने वाले चीनी साम्यवादी क्रान्तिकारी अपने इतिहास की विस्तार वादी परम्परा को चंगेजखाँ और कुबलाई खाँ जैसे विश्व विजयी को नहीं भूले हैं। वे चीन को विश्व की महाशक्ति बना कर पश्चिमी शक्तियों तथा जापान के प्रभाव और प्रभुत्व का समूलोन्मूलन कर देना चाहते हैं। सुदूरपूर्व मध्य-एशिया और दक्षिणी पूर्वी एशियाई क्षेत्रों में साम्राज्यवादी आन्दोलनों को प्रत्येक सम्भव प्रोत्साहन देकर चीन के साम्यवादी शासक विस्तारवाद की अपनी कुत्सित प्रवृत्तियों को पूरा करना चाहते हैं। इसी कारण वे वियतनाम के विरोध में शांति के विरोधी हैं, भारत के जनतन्त्र को अपने मार्ग में बाधा समझते हैं और उसके शत्रुओं को अपना मित्र। किन्तु इससे भी रोचक तथ्य यह है कि भारत के शत्रु भी चीन के केवल तब ही तक मित्र हैं जब तक वे चीन के निशाना बनने के क्षेत्र में नहीं आते। ज्यों ही चीन उनके माध्यम से अपना उल्लू सीधा कर लेगा त्यों ही उन्हें भी अपने में आत्मसात् कर लेने की कार्यवाहियों से वह बाज नहीं आयेगा। साम्यवादी चीन सबसे पहिले भारत और बर्मा द्वारा नियंत्रित सीमावर्ती क्षेत्र तथा मलेशिया और कोरिया पर अपना अधिकार चाहता है। यही कारण है कि उसने मैक-महोन रेखा को मान्यता न दे कर भारत के साथ सीमा संघर्ष छेड़ रखा है।

अपनी विदेश नीति में साम्यवादी चीन ने स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शांति की बात कही है। इस संबंध में चीन का विशेष मंतव्य यह है कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति में स्थायित्व तब ही आ सकता है जबकि विश्व में साम्राज्यवाद की समाप्ति और साम्यवाद की स्थापना हो जाए और इस उद्देश्य की पूर्ति का एक मात्र साधन युद्ध ही है। माओ के अनुसार विदेश नीति शक्ति की प्राप्ति के लिये साम्यवादियों द्वारा संचालित विश्व व्यापी संघर्ष का ही एक मात्र है। इसका उद्देश्य सर्वत्र क्रान्तियों को पैदा करना विश्व के सर्वहारा वर्ग का संगठित करना तथा उसका साम्राज्यवादियों पर विजय अभियान के लिये

विश्लेषण करता है। माओ ने १९३६ में ही लिख दिया था— वर्ग युक्त समाज के प्रारंभ से ही विकास की एक निश्चित दशा में वर्गों राष्ट्रों राज्यों अथवा राजनीतिक समूहों में विरोधों के समाधान के लिये (अर्थात् अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये) युद्ध संघर्ष का सबसे उच्चतम रूप है। इतिहास में दो ही प्रकार के युद्ध हैं—क्रान्तिकारी और क्रान्ति विरोधी। हम पहिले के समर्थक और दूसरे के विरोधी हैं। केवल क्रान्तिकारी युद्ध ही पवित्र है। हम पवित्र राष्ट्रीय क्रान्तिकारी युद्धों के तथा पवित्र वर्ग क्रान्तिकारी युद्धों के समर्थक हैं। साम्यवादी चीन का विश्वास है कि एक नया विश्व-युद्ध साम्राज्यवादी शिविर का पूर्ण विध्वंस और समूची पूंजीवादी व्यवस्था का पूर्ण विनाश करके स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय शांति का निर्माण कर सकेगा। माओ और उसके अनुयायी युद्ध एवं शक्ति के प्रयोग को आवश्यक समझते हैं। नीति के रूप में वे भले ही इसका प्रयोग न करें परन्तु आवश्यकता पड़ने पर इसका उपयोग करने में उन्हें कोई संकोच नहीं है। भारत के विरुद्ध पेकिंग ने इसी आधार पर अक्टूबर १९६२ में शक्ति का नग्न प्रदर्शन किया था।

मैत्रीपूर्ण भावना वाले देश के साथ मैत्रीपूर्ण संबंधों की स्थापना की नीति से साम्यवादी चीन का आशय यह है कि गैर-साम्यवादी देशों से अस्थाई मित्रता स्थापित करके साम्राज्यवादी देशों की शक्ति को कमजोर किया जाए। आज चीन ने जिन गैर-साम्यवादी देशों से मैत्रीपूर्ण संबंध बना रखे हैं वे किसी स्थायी मित्रता के सूचक नहीं हैं। आवश्यकता पड़ने पर साम्यवादी चीन अपने इन सभी मैत्रीपूर्ण व्यवहारों को आकस्मिक रूप से तुरन्त तिलांजलि दे देगा।

चीनी विदेश नीति में साम्राज्यवादियों और विशेषतया संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध संघर्ष की चर्चा की गई है। इस नीति को स्पष्ट करते हुए प्रो० ब्यूमेन ने काफी समय पहिले ही लिख दिया था कि— लाल चीन की विदेश नीति अधिकांश रूप में अमेरिका के विरुद्ध है, क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका ने नये शासन के शत्रुओं को हथियार दिये हैं उसे मान्यता देने से इनकार कर दिया है निरन्तर उसको उलटने की चेष्टा की है फारमोसा में राष्ट्रवादी सरकार का संरक्षण किया है तथा चीन की मुख्य भूमि से समाजिक छुटकारे की दृष्टि से व्यापक एवं नवीनतम सहायता प्रदान की है।[10] चीन अमेरिका को अपना मुख्य शत्रु समझते हुये उसे नीचा दिखाने ~~का यथा प्रयत्न~~ प्रयत्न करता है। वस्तुतः पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति चीन वासियों की परंपरागत घृणा और विरोध का बदला साम्यवादी चीन अमेरिका से चुकाने पर उतारू प्रतीत होता है और इसीलिये अमेरिका को अपमानित करने का कोई मौका वह अपने हाथ से नहीं जाने देता। चीनी युवकों और युवतियों के दिमाग में यह बात ठूंस-ठूंस कर भर दी गई है कि अमेरिका उनका सबसे बड़ा शत्रु है। अमेरिका के विरुद्ध जनता में घृणा और उत्तेजना फैला कर चीन की साम्यवादी सरकार ने वहां की जनता पर अपना शिकंजा और भी कस दिया है तथा सैनिक आवश्यकताओं की आड़ लेकर चीन की प्राचीनकाल से चली आ रही पूर्व प्रणाली को छिन्न-भिन्न कर दिया है।

साम्यवादी चीन की विदेश नीति का एक घोषित लक्ष्य सोवियत संघ के साथ घनिष्ठ संबंध बनाये रखना है। हुमान मिनर्ला नामक एक साम्यवादी लेखक ने प्रारम्भिक वर्षों में चीन की विदेश नीति के संबंध में कहा था—'साम्यवादी चीन की विदेश नीति मार्क्स एंजिल्स, लेनिन और स्टालिन के वैज्ञानिक सिद्धान्तों तथा सामाजिक विकास के नियमों पर आधारित है।' वर्नेर लेवी ने भी लिखा है—'समाजवादी क्रान्ति की मातृभूमि तथा साम्यवाद के संरक्षक के रूप में सोवियत संघ की रक्षा करना सभी साम्यवादियों का कर्त्तव्य है तथा यह साम्यवादी विदेश नीति का एक प्रमुख उद्देश्य है।" जुलाई १९४९ में अपने एक लेख में माओत्सेतुंग ने लिखा था—

चीन की जनता को या तो साम्राज्यवाद की ओर झुकना चाहिये अथवा समाजवाद की ओर। इस नियम का कोई अपवाद नहीं हो सकता। मुंडेर पर बैठना असम्भव है और कोई तीसरा मार्ग नहीं है। ... तटस्थता केवल छद्मावरण है तीसरे मार्ग का अस्तित्व ही नहीं पाया जाता। ... अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोणों से हमारा संबंध उस साम्राज्यवादी विरोधी मोर्चे के साथ है जिसका नेता सोवियत संघ है। सच्ची एवं मैत्रीपूर्ण सहायता के लिये हम केवल इसी मोर्चे से सहायता की अपेक्षा कर सकते हैं साम्राज्यवादी मोर्चे से नहीं।"[1]

परन्तु सोवियत संघ से पूर्ण मित्रता के संबंध बनाये रखने की चीनी विदेश नीति भी भ्रामक है क्योंकि अन्तिम रूप से चीनी विदेश नीति का लक्ष्य विश्व में साम्यवादी चीन की एक प्रमुख शक्ति की स्थापना है। इस दिशा में चीन रूस का कठोर प्रतिद्वन्द्वी है अतः उससे स्थायी मैत्री बनाये रखना चीनी नेताओं के लिये संभवतः मुमकिन नहीं है। सोवियत रूस स्वयं यह बात भली प्रकार समझता है और जानता है कि विश्व में उसे दो सशक्ततम शक्तियों से मुकाबला करना है—एक तो पश्चिमी जगत विशेषकर संयुक्त राज्य अमेरिका से और दूसरे उसके ही जाति भाई साम्यवादी चीन से। दोनों देशों के बीच विद्यमान हितों और सिद्धान्तों के वर्तमान संघर्ष यही संकेत करते हैं कि इनके द्वारा पारस्परिक मित्रता की बात करना केवल एक प्रदर्शन है अथवा पर्दे के पीछे दाम ठाके हुए दोनों ही पहलवान अपने अपने प्रभुत्व विस्तार के लिये अपने-अपने दाँव-पेच खेल रहे हैं।

---

1 "The Chinese people must either incline towards the side of imperialism or towards that of socialism. There can be no exception to this rule It is impossible to sit on the fence there is no third road Naturality is merely a camouflage, a third road does not exist ...... Internationally we belong to the side of the anti-imperialist front, headed by the Soviet Union. We can only turn to this side for genuine and friendly assistance not to the side of imperialist front."

—Mao Tse Tung.

चीन की विदेश नीति में प्रवासी चीनियों के हितों की रक्षा का भी स्थान है। इस संदर्भ में हमें यह जान लेना चाहिये कि चीन से बाहर दूसरे देशों में लगभग सवा करोड़ प्रवासी चीनी हैं। दक्षिणी एशिया के विभिन्न देशों में बसे हुए चीनियों की संख्या लगभग निम्नानुसार है[1]।

देश का नाम	चीनियों की जनसंख्या	कुल जनसंख्या का अनुपात
मलाया	२३ ६५ ०००	३७ ८
सिंगापुर	९ ६५ ०००	७६ ६
थाईलैंड	२३ १० ०००	११ ३
ब्रिटिश बोर्नियो	२ ७० ०००	२७ ००
कम्बोडिया	२ ३० ०००	६ ५
दक्षिण वियतनाम	७ ८० ०००	६ २
उत्तरी वियतनाम	५० ०	० ९
इण्डोनेशिया	२२ ५० ००	०
बर्मा	३ ०० ०००	११
फिलीपाइन्स	२ ७० ०००	१२
लाओस	१० ०००	० ६

चीन की मान्यता है कि विदेशों में रहने वाले लगभग एक करोड़ चीनियों के साथ चीन के विरोधी देशों में बड़ा दुर्व्यवहार और भेदभाव होता है और साम्यवादी चीन अपने भाइयों के साथ किये जाने वाले इस अपमान व अन्याय को सहन नहीं कर सकता। इसीलिये चीनी प्रवासियों के न्यायोचित अधिकारों और हितों की रक्षा के लिये वह सभी आवश्यक उपाय करेगा। १९५१ में चीनी प्रधान मन्त्री चाऊ ने घोषणा की थी कि प्रवासी चीनियों के साथ अन्याय भेदभाव या उत्पीड़न चीन के लिए चिन्ता का गंभीर विषय होगा। सितम्बर १९५४ में उन्होंने फिर घोषणा की कि— प्रवासी चीनियों के साथ चीन के विरोधी देशों में बड़ा दुर्व्यवहार और भेद भाव होता है। हम आशा करते हैं कि ये देश प्रवासी चीनियों के साथ ऐसा नहीं करेंगे और हम भी इन चीनियों को यह प्रेरणा देंगे कि वे जिन देशों में रहते हैं उनकी सरकारों के कानूनों का तथा सामाजिक पद्धतियों का सम्मान करेंगे। चीन ने इसी प्रकार का एक मधुर आश्वासन चीनियों के आतंक से संत्रस्त एशियाई देशों को १९५५ में दिया— कुछ लोग यह कहते हैं कि एक करोड़ प्रवासी चीनियों का उपयोग दूसरे देशों की सरकारों को उलटने के लिये किया जा रहा है। चीन का ऐसा कोई इरादा नहीं है कि वह पड़ौसी देशों में इनकी सहायता से पड़ौसी राज्यों की सरकारों को उलटने का प्रयत्न करेगा। परन्तु चीन के नेताओं की इस प्रकार की घोषणायें कोरी भ्रामक सिद्ध हुई हैं। मलाया इण्डोनेशिया बर्मा थाईलैंड वियतनाम लाओस आदि में चीनी प्रवासियों ने जिस प्रकार के घातकपूर्ण कार्य किये हैं और जनतांत्रिक सरकारों को उखाड़ कर साम्यवादी शासन स्थापित

1 Communist China and Asia : Book by Dock Bernett, page 176–77

स्थापित करने की जो चेष्टायें वे आज भी कर रहे है, उनसे यह भली भाँति प्रमाणित हो गया है कि चीनी प्रभाव ना साम्यवादी चीन के साम्राज्यवादी विस्तार की नीति का एक भाग है

चीनी विदेश नीति की प्रधान अवस्थाएं
(Main Phases of China's Foreign Policy)

चीनी विदेश नीति के प्रसग में यह उल्लेखनीय है कि अक्टूबर १९४९ से लेकर अब तक यह तीन प्रधान अवस्थाओं में से होकर गुजरी है—

(१) आन्तरिक पुनर्गठन एव उग्रनीति का युग (१९४९–१९५३)
(२) मृदुतावादी युग (१९५४–१९५९)
(३) नया उग्रतावादी युग (१९५९ से वर्तमान तक)

प्रथम युग जिसे हम आन्तरिक पुनर्गठन का युग कह सकते हैं १९४९ से १९५३ तक रहा। इस युग में चीन ने अपनी सम्पूर्ण शक्ति अब आन्तरिक व्यवस्था को सुदृढ करने में लगा दी। इस अवधि में उसकी विदेश नीति कठोरता और उग्रता की रही—विशेषकर पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति। चीन ने सर्वप्रथम दिसम्बर १९४९ में सोवियत सघ से मैत्री सम्बन्ध स्थापित किये और तत्पश्चात् उसके साथ विभिन्न मैत्रीपूर्ण सुरक्षा एव पारस्परिक सहायता सम्बन्धी तथा आर्थिक सधियाँ की। चीनी नेताओं ने सोवियत सहायता से विश्व के अन्यान्य देशों में विशेषकर एशिया राष्ट्रों में साम्यवाद के प्रसार का बीड़ा उठाया। इसी उद्देश्य से नवम्बर, १९४९ में ट्रेड यूनियन के विश्व सघ के तत्वावधान में पेकिंग में एशिया और आस्ट्रेलिया के देशों का ट्रेड-यूनियन सम्मेलन बुलाया गया। इसमें उपर्युक्त महाद्वीपों के वामपक्षी श्रमिक नेता सम्मिलित हुए। सम्मेलन में श्री ल्यू शाओ ची द्वारा यह घोषणा की गई कि इस सम्मेलन को सम्पूर्ण एशिया में राष्ट्रीय मुक्ति-सग्रामों का समर्थन करना चाहिये। श्री ल्यू-शाओ-ची ने वियतनाम, बर्मा, इण्डोनेशिया, मलाया, फिलीपाइन्स आदि के मुक्ति-सघर्षों की ओर सकेत करते हुए सम्मेलन के प्रतिनिधियों को उपदेश दिया कि— "चीनी जनता के पथ का अनुसरण करते हुए सशस्त्र सघर्ष द्वारा एशिया के अधिकांश भाग में क्रान्ति का विकास किया जाना चाहिए।" चीनी नेता ने चीन जनता के पथ का स्वरूप भी स्पष्ट किया। उसने इस सबध में चार बातों पर विशेष बल दिया—(i) श्रमिक वर्ग को साम्राज्यवाद विरोधी सभी वर्गों और सगठनों के साथ मिल जाना चाहिये (ii) श्रमिक-वर्ग को केन्द्र बना कर साम्राज्यवाद के विरुद्ध राष्ट्रव्यापी सयुक्त मोर्चा बनाया जाना चाहिये और इसका केन्द्र साम्यवादी दल होना चाहिये (iii) साम्राज्यवाद के विरुद्ध सघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तों से पूर्णतया परिचित और जनता से घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला साम्यवादी दल होना आवश्यक है एव (iv) साम्यवादी दल के नेतृत्व में शत्रुओं से लड़ने के लिये राष्ट्रीय सेना का संगठन भी किया जाना चाहिये।

आन्तरिक पुनर्गठन की दिशा में चीनी साम्यवादियों ने दो उद्देश्यों पर विशेष बल दिया—चीन से विदेशी प्रभाव को पूर्णतः समाप्त कर देना और चीन का एकीकरण करके सब चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाना। इस समय से ही चीनियों ने रूसियों को छोड़ कर अन्य सभी पश्चिम देशीय व्यक्तियों को चीन से निकालना शुरू कर दिया। चीन के एकीकरण के लिये चीनी प्रदेशों को साम्यवादी शासन के अन्तर्गत लाने के उद्देश्य से १९५० में पेकिंग द्वारा तिब्बत पर आक्रमण और कोरियाई युद्ध में हस्तक्षेप किया गया तथापि कतिपय कारणों से चीन ने अपनी युद्ध-नीति में परिवर्तन वांछनीय समझा। पहला कारण व्यापारिक प्रतिबन्धों से उत्पन्न आर्थिक कठिनाइयाँ थीं। इन्हें दूर करने के लिए अप्रेल १९५२ में मास्को में अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक सम्मेलन का आयोजन हुआ जिससे साम्यवादी देशों को गैर-साम्यवादी देशों के साथ व्यापार का द्वार खुला। दूसरा कारण १९५२ में स्टालिन की यह घोषणा बनी कि—पूँजीवाद और साम्यवाद का शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व सम्भव है। अपने एक लेख में स्टालिन ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि समाजवाद के प्रसार के साथ-साथ पूँजीवादी देशों की शक्तियाँ कम हो रही हैं। परिणामतः पूँजीवादी विश्व नाना संकटों और संघर्षों का शिकार बनेगा और अन्ततः समाजवाद से पराभूत होगा। अतः साम्यवादियों को पश्चिम के साथ आर्थिक प्रतियोगिता करनी चाहिये क्योंकि ऐसा करने से बिना युद्ध किये ही पूँजीवाद की इतिश्री हो जायगी। तीसरा कारण चीन द्वारा यह अनुभव किया जाना था कि एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका की शक्ति का विस्तार हो रहा है। चौथा कारण कोरिया युद्ध द्वारा चीन की आर्थिक व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ना था। अपनी पंचवर्षीय योजनाओं के सफल संचालन के लिये दूसरे देशों से सहयोग अपेक्षित था और इसके लिये मृदुतावादी नीति अपनाना अधिक उचित था। इन्हीं सब कारणों से प्रभावित हो कर साम्यवादी चीन के प्रतिनिधि सुरक्षा-परिषद के सम्मुख भी उपस्थित हुए और उन्होंने १९५१ से १९५३ तक कोरिया में युद्ध विराम सम्बन्धी वार्ताएं कीं।

१९४९ से १९५३ तक की अवधि में साम्यवादी चीन ने विदेश नीति के क्षेत्र में प्रधानतः रूस का अनुसरण किया। उसका अपना कोई स्वतन्त्र और महत्वपूर्ण कार्य नहीं रहा। रूस से मित्रता और अमरिका से शत्रुता—ये दो बातें उसके सम्पूर्ण कार्य-कलापों का आधार बनी।

द्वितीय युग जिसे हम चीन की मृदुतावादी नीति का युग कह सकते हैं १९५४ से १९५९ तक रहा यद्यपि इसका श्रीगणेश १९५२-५३ में ही हो चुका था। चीन की उग्र और युद्धवादी क्रान्तिकारी नीति में परिवर्तन की पहली सूचना पेकिंग में अक्टूबर १९५२ में होने वाले एशियाई और प्रशान्त शांति-सम्मेलन से मिली। इसमें १९४९ की ट्रेड-यूनियन-सम्मेलन के सर्वथा विपरीत क्रान्ति और हिंसा के स्थान पर शांति तथा सहअस्तित्व की चर्चा की गई। इस सम्मेलन ने संयुक्त राष्ट्र संघ से अनुरोध किया कि वह वियतनाम मलाया एवं अन्य देशों में युद्ध समाप्त करके सन्धि-वार्ता द्वारा न्यायपूर्ण

समझौता कराने की दिशा में प्रयत्नशील था। सम्मेलन में चीनी प्रतिनिधि द्वारा घोषणा की गई कि विभिन्न सामाजिक पद्धतियों का शांतिपूर्ण ढंग से सहअस्तित्व संभव है। जून १९५३ में कोरिया की युद्ध विराम-संधि से चीन की इस परिवर्तित सद्‌भावी मृदुतावादी प्रवृत्ति को पुष्टि मिली। १९५४ में चीन ने विश्व राजनीति में सक्रिय भाग लेना शुरू कर दिया। इस वर्ष उसने जेनेवा सम्मेलन में महत्वपूर्ण भाग लिया और शांतिवादी नीति का अनुसरण करते हुए १७वीं अक्षांश रेखा पर वियतनाम का विभाजन तथा लाओस और कम्बोडिया की पृथक् व्यवस्था स्वीकार कर ली। अपनी इस स्वीकारोक्ति द्वारा चीन ने अपनी शांतिवादिता का ढिंढोरा पीटा जबकि वास्तविकता यह थी कि उसने समझौता इसलिये स्वीकार किया था कि इससे आधे वियतनाम के साम्यवादी राज्य को अन्तर्राष्ट्रीय स्वीकृति मिल रही थी और इसे अड्डा बना कर चीनी साम्यवाद आगे बढ़ सकता था। इस सम्मेलन में चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ ने यह अनुभव किया कि विभिन्न सरकारों के साथ कूटनीतिक सम्बन्ध और संधियाँ स्थापित कर चीन की शक्ति को अधिक बढ़ाने के प्रयास करने चाहिये ताकि अवसर आने पर चीन उस शक्ति का अपने पक्ष में उपयोग कर सके। इस नीति पर चलते हुए चीन ने सर्वप्रथम अप्रैल १९५४ में तिब्बत के बारे में भारत से संधि की और पंचशील के सिद्धान्तों में 'हार्दिक' आस्था प्रकट की। चीन की नेकनीयती का विश्वास कराने के लिये श्री चाऊ ने नई दिल्ली में घोषणा की—

> "संसार के सभी देश चाहे वे छोटे हों या बड़े निर्बल हों या बलवान विभिन्न सामाजिक पद्धतियों के बावजूद शांतिपूर्ण रीति से रह सकते हैं। प्रत्येक राष्ट्र की जनता के राष्ट्रीय स्वतंत्रता और आत्म-निर्णय के अधिकारों का सम्मान किया जाना चाहिये। प्रत्येक राष्ट्र की जनता को यह अधिकार है कि वे अपनी सामाजिक पद्धति को चुनें और इसमें दूसरे देश हस्तक्षेप न करें। क्रांति का निर्यात नहीं किया जा सकता।"

पश्चिमी राष्ट्रों ने चीन की नेकनीयती पर कोई भरोसा नहीं किया और पंचशील का कोरा प्रचार समझा। फिर भी एशिया के विभिन्न देशों को अपने मधुर जाल और अपनी कुशल कूटनीति द्वारा प्रभावित करने में चीन को उल्लेखनीय सफलता मिली। कोरिया-युद्ध में अमेरिका को टक्कर देकर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में अपनी सैनिक शक्ति का भय वह पहले ही पैदा कर चुका था अतः इन्हें शक्तिशाली चीन को अपना मित्र बना लेने में क्या संकोच हो सकता था। चीन को अपनी छद्मवेशी मृदु-नीति में सफलता इस लिये भी मिली कि चीन ने पश्चिमी साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के विरुद्ध जो जिहाद छेड़ा था उससे सभी एशियाई देशों को सहानुभूति थी क्योंकि वे सब उससे पीड़ित रह चुके थे। चीनी सफलता का एक और भी कारण था। कोरिया-युद्ध के बाद से ही संयुक्त राज्य अमेरिका साम्यवाद से सुरक्षा के लिये सैनिक-संधियों का जाल बुन रहा था और भारत जैसे देशों की मान्यता थी कि इन सैनिक संधियों द्वारा 'शीत-युद्ध' को एशिया के इस भाग में लाया जा रहा है। चीन ने एशियाई राष्ट्रों की इस मनोदशा का पूरा लाभ

उठाया। उसने पश्चिम द्वारा समर्थित सैनिक-संधियों और अड्डों के विरुद्ध आग उगली। पश्चिम की इस नीति को नवीन साम्राज्यवादी चाल की संज्ञा दी और शांति का क्षेत्र विस्तृत करने पर बल देते हुए मित्रों के साथ मैत्रीय सम्बन्ध बढ़ाने शुरू किए। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देशों में चीनी राजदूत प्रतिष्ठित हो गये। अप्रैल १९५५ में चीन ने बाण्डुङ्-सम्मेलन में भाग लिया और एशिया तथा अफ्रीका के २९ राष्ट्रों के सम्मुख अत्यन्त कूटनीतिज्ञता के साथ अपनी शांतिवादी मृदुनीति की दुहाई दी। श्री चाऊ ने सम्मेलन में कहा—"चीनी दूत-मंडल यहाँ एकता बढ़ाने आया है, झगड़ा करने नहीं। हमारा ध्येय मतभेद पैदा करना नहीं किंतु सामान्य भूमि की खोज करना है और यह उपनिवेशवाद के कष्टों और मुसीबतों को दूर करने में पाया जा सकता है। साम्यवादी चीन एशिया और अफ्रीका के सब देशों से सामान्य सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है।" बाण्डुङ् सम्मेलन में चाऊ-एन लाई ने दो कार्यों से अपने राष्ट्र को शांति प्रेमी सिद्ध करने में सफलता पाई—(i) प्रवासी चीनियों के बारे में इण्डोनेशिया के साथ संधि करके उसने एशियाई देशों को आश्वस्त किया कि उन्हें अपने यहाँ के चीनी प्रवासियों से आशंकित नहीं होना चाहिए एवं (ii) ताइवान क्षेत्र में तनाव कम करने के लिए चाऊ ने संधि वार्ता का प्रस्ताव रखा। बाण्डुङ् सम्मेलन के अवसर पर चीनी की बड़ी प्रशंसा हुई और बाद में १९५८ तक चीन का शांति प्रेम का यह ढोंग बदस्तूर चलता रहा।

तृतीय युग जिसे हम नया उग्रतावादी युग कह सकते हैं, १९५९ से चला यद्यपि इसके लक्षण १९५७ के अन्तिम भाग में ही दृष्टिगोचर होने लग गये। १९५७ से ही पश्चिमी देशों के साथ-साथ एशियाई देशों के प्रति भी चीनी व्यवहार में कठोरता आने लगी। नवम्बर में मास्को में बोल्शेविक क्रान्ति की ४० वीं वर्ष गाँठ के अवसर पर संसार के सभी साम्यवादी दलों के सम्मेलन में चीन की नवीन उग्र नीति का स्पष्ट संकेत मिला। माओत्से तुंग ने १८ नवम्बर के अपने भाषण में पूर्व और पश्चिम के संघर्ष पर बल देते हुए चीन की नवीन नीति का सिंहनाद इन शब्दों में किया— इस समय विश्व में दो हवायें हैं—पूर्वी हवा और पश्चिमी हवा। चीन में एक कहावत है 'यदि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी नहीं होगी तो पश्चिमी हवा पूर्वी हवा पर हावी हो जायगी।' मेरे विचार में वर्तमान स्थिति की यह विशेषता है कि पूर्वी हवा पश्चिमी हवा पर हावी है अर्थात् समाजवाद की शक्ति पूंजीवाद की शक्ति से अधिक है।"

अपनी नई उग्रवादी नीति का श्री गणेश करते हुए चीन ने सर्वप्रथम उन मामों का प्रबल विरोध किया जिनके अनुसार साम्यवाद की नीति में कुछ शिथिलता होनी चाहिए थी। तत्पश्चात् १९५८ के लेबनान के संकट में चीन के तटवर्ती टापुओं के संकट में तथा १९५९ के लाओस के संकट में चीन ने कड़ा रुख अपनाया। १९५९ से तो चीन की विदेश नीति में अतिस्पष्ट रूप में एक नया मोड़ उत्पन्न हुआ और वह अधिक चिड़चिड़ा उग्र आक्रामक तथा साम्राज्यवादी बनती गई। १९५९ में अपने वचनों का उल्लंघन कर चीन ने

तिब्बत की स्वायत्तता का भङ्ग कर दिया और दलाई लामा को अपना देश छोड़ कर भागना पड़ा। इसी समय से चीन भारत के साथ सीमा विवाद में कठोर नीति अपनाने लगा और धीरे धीरे भारतीय सीमा पर उस के अतिक्रमण बढ़ते गये। १९५९ में ही श्री ख्रुश्चेव ने संयुक्त राज्य अमरिका की यात्रा की जिसे चीनी नेताओं ने पसंद नहीं किया और उनका दृष्टिकोण रूस के प्रति आशंकापूर्ण हो गया। इसके बाद धीरे धीरे रूस अधिकाधिक मात्रा में शांतिपूर्ण सहअस्तित्व का समर्थक बनता गया और चीनी दृष्टिकोण इस नीति तथा रूस के प्रति अधिकाधिक विरोधपूर्ण होता गया। १९६२ में अपने मित्र देश भारत पर चीन के आक्रमण ने उसके साम्राज्यवादी स्वरूप को सूर्य के प्रकाश की भांति स्पष्ट कर दिया।

अपनी नवीन उग्र नीति के कारण चीन ने दिसम्बर १९६३ से एक नवीन कूटनीतिक अभियान आरम्भ किया। अफ्रीकन महाद्वीप को क्रांति के लिये एकदम अनुकूल समझ कर वहां अपने प्रभाव का तीव्र गति से विस्तार करने के उद्देश्य से दिसम्बर ६३ में चाऊ-एन लाई ने विभिन्न अफ्रीकन देशों की ८ सप्ताह की यात्रा शुरू की। चीनी प्रधानमंत्री संयुक्त अरब गणराज्य अल्जीरिया मास्को ट्यूनीशिया घाना माली गिनी, सूडान इथोपिया सोमालिया आदि देशों में गए और फरवरी ६४ में बर्मा पाकिस्तान और लंका की यात्रा भी की। अपनी इस यात्रा के दौरान श्री चाऊ ने इस बात का पूरा प्रयास किया कि प्रथम तो इन देशों पर से सोवियत व पश्चिमी प्रभाव क्षीण होकर चीनी प्रभाव में वृद्धि हो जाय और दूसरे भारत और रूस के साथ सीमा विवाद में उसे इन देशों का समर्थन प्राप्त हो परन्तु १९६६ के अन्त तक होने वाली अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं ने चीन की विदेश नीति और नवीन कूटनीतिक अभियान की असफलताओं को प्रमाणित कर दिया। वह एशियाई व अफ्रेशियाई राष्ट्रों के बाण्डुङ्ग जैसा सम्मेलन बुलाने में असफल रहा। अफ्रीका में अपने शिष्य बेन बेल्ला द्वारा अल्जीरिया में सम्मेलन का आयोजन करके अफ्रोएशियाई देशों पर चीन की धाक बैठाना चाहता था। परन्तु सम्मेलन शुरू होने से पहले ही बेनबेल्ला का पतन हो गया। सम्मेलन के आयोजन में सफलता पाने के उद्देश्य से चीन ने अल्जीरिया की नई सरकार का समर्थन किया। परंतु भारत आदि राष्ट्रों ने सम्मेलन को स्थगित करवा दिया। बेन बेल्ला के विरोधियों के चीनी समर्थन ने यह सिद्ध कर दिया कि अपने स्वार्थ-पूर्ति के उद्देश्य से चीन साम्यवाद के सिद्धान्तों की भी उपेक्षा कर सकता है। चीन की इस स्वार्थपरता ने अफ्रेशियाई देशों में उसे बदनाम कर दिया। पाकिस्तान के प्रति चीन की हमदर्दी की पोल भी उस समय खुल गई जब भारत-पाक संघर्ष के दौरान चीन केवल भारत का धमकी देता रहा और इस तरह उसने पाकिस्तान की इस आशा को आघात पहुंचाया कि चीन भारत को गहरी क्षति पहुंचाकर पाकिस्तान के प्रति अपनी दोस्ती का सबूत देगा। चीन के इस रुख से पाकिस्तान को मन ही मन बड़ी नाराजगी व निराशा हुई। इसके अतिरिक्त साम्यवादी देशों को भी इस बात से बड़ी ठेस पहुंची कि चीन अपने घोर शत्रु संयुक्त राज्य अमेरिका के पिट्ठू और उससे सैनिक सहायता पाने वाले

पाकिस्तान का खुल्लम खुल्ला समर्थन कर रहा था। १९६५ में ही इण्डोनेशिया में चीन के इरादों को धूल चटा दी गई। चीन प्रेरित साम्यवादी क्रांति असफल हुई और इण्डोनेशियाई सेना ने साम्यवादियों का बुरी तरह दमन किया। विश्व के साम्यवादी दलों में इण्डोनेशियाई साम्यवादी दल का एक विशिष्ट स्थान था। इसके प्रथम पतन से विश्व के साम्यवादी आन्दोलन को गहरा आघात लगा और साथ ही पेकिंग पिंडी-जकार्ता धुरी छिन्न-भिन्न हो गई। अफ्रेशियाई देशों में भी चीन का प्रभाव क्षीण हो गया और वे चीनी साम्यवाद के खतरे को समझने लग गये। दिसम्बर, १९६५ में मलावी के प्रधानमन्त्री डॉ. हेस्टिंग्स बान्डा ने स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि —

'अफ्रीका के लाभी स्वार्थों के बारे में चीनी यह समझते हैं कि ये उनके लिये बनाये गये हैं। पेकिंग के लोग चंगेज खां की कल्पना में भी बड़ा एक साम्राज्य बनाना चाहते हैं जिसमें सम्पूर्ण एशिया तथा अफ्रीका सम्मिलित हों यदि जनता आपत्ति न करे तो इसमें यूरोप और अमेरिका भी सम्मिलित हों। जब मैं अफ्रीका पर विचार करता हूं तो मुझे रूसियों से उतना भय नहीं है जितना चीनियों से है। अनेक वर्ष बीत जाने के कारण रूसी नरम पड़ गये हैं, किन्तु चीनी नरम नहीं पड़े हैं।"

अफ्रीका महाद्वीप में चीन तेजी से अपनी प्रतिष्ठा खो गया और पेकिंग से कूटनीतिक सम्बन्ध विच्छेद का सिलसिला भी शुरू हो गया। यह कहना अनुचित न होगा कि चीनी विदेश नीति की दिलचस्पी के तीन प्रधान क्षेत्र रहे हैं—रूस एवं अन्य साम्यवादी देश, अमेरिका एवं पश्चिमी गुट के देश तथा एशिया व अफ्रीका के नवोदित राष्ट्र—और इन तीनों ही प्रधान क्षेत्रों में चीन की वैदेशिक नीति अधिकांशतः असफल हुई है।

अब हम विश्व के प्रमुख राष्ट्रों के साथ चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर दृष्टिपात करेंगे।

चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध
(China's International Relations)

(१) मान्यता एवं संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश का प्रश्न

१ अक्टूबर, १९४९ को नवीन शासन तन्त्र की स्थापना पर साम्यवादी चीन ने संसार के विभिन्न देशों से कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी मान्यता प्रदान करने की प्रार्थना की गई। सोवियत संघ पूर्वी यूरोपियन देशों भारत बर्मा श्री लंका पाकिस्तान इण्डोनेशिया ब्रिटेन स्केण्डिनेवियन राज्यों आदि ने साम्यवादी शासन को मान्यता प्रदान करके उनके साथ कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित किये।[1] किन्तु

---

१ ब्रिटेन आदि कुछ राज्यों द्वारा साम्यवादी चीन को मान्यता तो प्रदान कर दी गई किन्तु साथ ही साथ तुरन्त कूटनीतिक स्थापित नहीं किए गये।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने 'प्रतीक्षा की नीति' अपनाई। संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी ऐसा ही किया क्योंकि उसके अधिकांश सदस्य अमेरिका के प्रभाव में थे। इस पर जनवरी १९५० में सोवियत रूस ने अस्थाई रूप से संघ के उन सभी मञ्चों का बहिष्कार कर दिया जिनमें च्यांग-काई-शेक के राष्ट्रवादी चीन को स्थान मिला हुआ था। नवम्बर १९५० में साम्यवादी चीन ने उत्तरी कोरिया के पक्ष में कोरियाई-युद्ध में हस्तक्षेप किया। इस पर वाशिंगटन द्वारा घोषित किया गया कि इस आक्रामक कदम के कारण साम्यवादी चीन ने सभी राज्यों की मान्यता प्राप्त करने का अधिकार खो दिया है। इसके बाद साम्यवादी चीन को मान्यता देने के विरुद्ध कारणों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती चली गई और अमरिका ने स्पष्ट शब्दों में बता दिया कि पीकिंग सरकार को मान्यता प्रदान नहीं की जायगी।

संयुक्त राज्य अमेरिका ने साम्यवादी चीन को मान्यता न देने के संबन्ध में प्रधानतः निम्नलिखित कारण प्रस्तुत किये हैं:—

(i) यह ठीक है कि चीन की जनसंख्या का अधिकांश भाग साम्यवादियों द्वारा नियन्त्रित मुख्य भूमि पर निवास करता है लेकिन इसके साथ ही इस तथ्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती कि ताइवान (फारमोसा) में भी इस समय एक करोड़ दस लाख चीनी सैनिक रहते हैं और उनकी सरकार उस सरकार का प्रतिनिधित्व करती है जिसने संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना में प्रमुख तथा महत्वपूर्ण भूमिका अदा की है।

(ii) संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए यह किसी प्रकार उचित व न्यायसंगत नहीं होगा कि वह एक ऐसे राष्ट्र को अपनी सदस्यता से वंचित कर दे जिसने शुरू से लेकर आज तक इस अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के साथ पूर्ण सहयोग किया। संघ के लिए यह सर्वथा अनुचित होगा कि एक सहयोगी तथा शान्तिप्रिय राष्ट्र के स्थान पर वह एक ऐसी सरकार को प्रतिनिधित्व प्रदान करे जिसका संपूर्ण रिकार्ड आक्रमणात्मक इतिहास से भरा पड़ा है।

(iii) प्रश्न केवल साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र में प्रतिनिधित्व प्रदान करने का नहीं बल्कि यह भी है कि फारमोसा में रहने वाले एक करोड़ से भी अधिक निवासियों को क्या साम्यवादियों के हवाले कर उनको स्वतन्त्रता और आधारभूत मानवीय अधिकारों से वंचित कर दिया जाना चाहिये।

(iv) साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान देने का अभिप्राय होगा कि संघ ताइवान पर साम्यवादी चीन द्वारा आक्रमण किये जाने का मूक समर्थन करता है क्योंकि चीनी प्रधानमन्त्री यह स्पष्ट घोषणा कर चुके हैं कि जब तक फारमोसा पर साम्यवादी चीन का अधिकार नहीं हो जाता तब तक संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सहयोग करने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता।

(v) यद्यपि यह सत्य है कि साम्यवादी चीन की ६०–७० करोड़ की जनसंख्या की तुलना में फारमोसा की एक करोड़ जनसंख्या बहुत कम है

परन्तु साथ ही यह बात भी मिथ्या नहीं है कि फारमोसा की जनसंख्या उन ५५ से भी अधिक देशों की जनसंख्या से कहीं ज्यादा है जिन्हें संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त है।

(vi) क्या संयुक्त राष्ट्र संघ के लिए यह एक न्यायपूर्ण कार्य होगा कि लाखों लोगों की स्वतन्त्रता और उनकी सरकार के कानूनी अधिकार समाप्त कर दिये जायें ?

(vii) संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अनुच्छेद (२) में लिखा है कि संयुक्त राष्ट्र संघ में उन सभी सदस्यों को प्रवेश-पत्र दिया जा सकता है जो शांतिप्रिय हों और अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों को स्वीकार करने को तैयार हों। घोषणा-पत्र के अनुच्छेद (१) के अनुसार संघ के सदस्यों का मुख्य दायित्व है अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखना और इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए एवं शांति के लिए उत्पन्न किसी खतरे को दूर करने या रोकने के लिए प्रभावशाली सामूहिक कार्यवाही करना और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों (जिनसे शांति भंग होने का खतरा हो) के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का सहारा लेना। साम्यवादी चीन संघ के इन अनुच्छेदों का किसी भी रूप में पालन नहीं करता है। १९५० से लेकर अब तक हिंसात्मक और आक्रमणात्मक कार्यवाहियों में संलग्न रहते हुए पग-पग पर उसने संघ और उसके आदेशों की अवहेलना की है।

संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध के बावजूद कुछ राष्ट्रों का मत यह है कि यदि साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दे दिया जायेगा तो उसकी उग्र हिंसात्मक नीति पर कुछ हद तक नियन्त्रण किया जा सकेगा। परन्तु अब तक का इतिहास तो यही बताता है कि चीन अपनी विस्तारवादी आक्रमण की नीति का परित्याग नहीं करना चाहता है और संयुक्त राष्ट्र संघ में अपनी दुराग्रहपूर्ण शर्तों के आधार पर ही स्थान प्राप्त करना चाहता है। साम्यवादी चीन के नेताओं शासकों में समस्याओं पर समझौता वार्ता करने की स्वाभाविक इच्छा ही विद्यमान नहीं है। जो राष्ट्र हर समस्या का समाधान युद्ध ही समझता हो उससे समझौता-वार्ता की गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है ?

अमेरिका का एक तर्क यह है कि साम्यवादी शासन चीनी जनता का प्रतिनिधि ही नहीं है क्योंकि साम्यवादियों द्वारा सैनिक शक्ति के बल पर ही सरकार पर कब्जा किया गया है और इसके बाद भी लाखों चीनियों की हत्या की गई है।

विगत अनेक वर्षों से साम्यवादी चीन के संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश का प्रश्न महा सभा के सम्मुख आता रहा। आज स्थिति यह है कि ब्रिटेन व फ्रांस सहित ५० से भी अधिक राष्ट्र संघ में चीन के प्रवेश करने का समर्थन करने वाले हो गये हैं हालांकि दो तिहाई बहुमत के हिसाब से यह संख्या ८० से भी अधिक होना आवश्यक है। फिर भी मुख्य परिषद् में संयुक्त

राज्य अमेरिका मौजूद है जो ऐसे किसी भी प्रश्न को अपने निषेधाधिकार से समाप्त करने को कटिबद्ध है। अभी महसूस नहीं किया जाता है कि संघ में निकट भविष्य में साम्यवादी चीन का प्रवेश पा सकना संभव नहीं है।

(२) चीन तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के सम्बन्ध

जैसा कि कहा जा चुका है साम्यवादी चीन का सबसे बड़ा शत्रु अमेरिका है। चीन में साम्यवाद के उदय काल से ही लेकर अमेरिका माओ त्से-तुङ्ग और उसके साथियों की आंखों का कांटा रहा है। च्यांग-काई-शेक की राष्ट्रवादी सरकार को प्रचुर सैनिक सहायता देकर संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीनी साम्यवाद को धराशायी करने में कोई कसर बाकी नहीं रखी। बाद में जब राष्ट्रवादी अथवा कुओमिताँग दल ने स्वयं को फारमोसा में 'चीन' की गणराज्य सरकार के रूप में संस्थापित कर लिया तो माओ और उसके सहयोगियों को यह खतरा पैदा हो गया कि कहीं अमेरिका शस्त्रास्त्रों की सहायता से हस्तक्षेप द्वारा चीन के नवजात साम्यवादी शासन को नष्ट भ्रष्ट करने की कोशिश न करे। गाईविंट (Guywint) के अनुसार इसी बात का यह परिणाम हुआ कि पेकिंग ने यह देखने के लिए प्रतीक्षा नहीं की कि अमेरिका क्या कदम उठाता है, अपितु उसने तुरन्त पूर्वी एशिया से अमेरिकन प्रभाव को विलुप्त करने के लिए धमकियों भरे प्रयास प्रारंभ कर दिये।[1]

अमेरिका और चीन की परस्पर विरोधी कार्यवाहियां विरोधी क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं को जन्म देने लगी। वाशिंगटन ने न केवल स्वयं साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान करने से इन्कार किया बल्कि उसने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त करने के चीनी-मार्ग को भी अवरुद्ध किया। इसके अतिरिक्त साम्यवादी चीन के उदय के प्रारम्भिक वर्षों में एक महत्वपूर्ण विवाद चलता रहा जिसमें बड़े-बड़े अमेरिकन विद्वानों और राजनीतिज्ञों ने चीन में साम्यवादियों की विजय के लिए ट्रूमैन प्रशासन को उत्तरदायी ठहराया। इस विवाद में प्रकट किए गये अमेरिकन राजनीतिज्ञों के विचारों से साम्यवादी चीन का यह विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि अमेरिका-वासी अभी तक चीन के साम्यवादी शासन को विनष्ट करने का स्वप्न देख रहे हैं। इस अनुभूति के फलस्वरूप चीनी साम्यवादियों में अमेरिका के प्रति घृणा और विद्वेष को विशेष बल मिला। चीनी युवकों और युवतियों के मस्तिष्क में यह बात ठूस ठूस कर भर दी गई कि संसार में अमेरिका ही उनका महानतम शत्रु है।

१९५० में कोरिया-युद्ध का श्रीगणेश हुआ। यू एन ओ की उत्तरी कोरिया के विरुद्ध दण्डात्मक कार्यवाही चीन साम्यवादियों को अपने निकटवर्ती मित्र राज्य के विरुद्ध अमेरिकन आक्रमण के समान प्रतीत हुई क्योंकि युद्ध-क्षेत्र में प्रमुखतः अमेरिकन शक्ति ही काम कर रही थी। साम्यवादी चीन को

1. Guy Wint Spotlight on Asia, Page 181

'अमेरिका-प्रेरित' यह कार्यवाही 'समाजवादी आन्दोलन पर' एक तीव्र आघात के समान लगी। अतः ज्योंही संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनायें यालू नामक स्थान के पास पहुंची त्यों ही चीनी सैनिक टिड्डी-दल की भांति उन पर टूट पड़े। कोरिया का युद्ध अब प्रधानतः अमेरिका व चीन का युद्ध बन गया। अक्टूबर १९५१ में माओ-त्से-तुङ्ग ने कहा— हम केवल अपने देश की रक्षा के लिए साम्राज्यवादी आक्रमणों के विरुद्ध लड़ रहे हैं। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि यदि अमरिकन सेनाओं ने हमारे ताइवान (फारमोसा) पर कब्जा न किया होता तो हमारे साम्यवादी मित्र राज्य ने दक्षिणी कोरिया पर आक्रमण न किया होता और स्वयं अपनी आक्रमक कार्यवाहियों का विस्तार हमारी उत्तरी-पूर्वी सीमा तक न कर लिया होता तो हम आज अमरिकन सेनाओं के विरुद्ध न लड़ रहे होते।[1]

कोरियाई युद्ध के फलस्वरूप अमेरिकन नीति निर्माताओं ने इस बात का पूर्ण निश्चय कर लिया कि फारमोसा को साम्यवादी चीन के सम्भावित आक्रमणों से सुरक्षित रखने के लिए खुल कर सैनिक सहायता दी जाय। अमेरिका के इस निश्चय ने दोनों देशों के सम्बन्धों को और भी अधिक विषाक्त कर दिया। चीन में वाशिंगटन विरोधी प्रचार-अभियान तीव्र कर दिया गया। कोरिया-युद्ध शुरू करने और उसमें तथाकथित कीटाणु-युद्ध प्रारम्भ करने के लिए अमरिका को दोषी ठहराया गया तथा अधिकांश चीनी इन आरोपों में विश्वास भी करने लगे। साम्यवादी शासकों ने इस बात का प्रत्येक सम्भव प्रयत्न किया किया कि चीनी और अमरिकन जनता के मध्य की खाई अधिक चौड़ी हो जाये। क्लॉड बस (Claude Buss) के शब्दों में— चीन वासियों ने अमरिका पर जापान में फासिस्टवाद तथा सैनिकवाद की पुनर्स्थापना करने तथा एशिया में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए जापान का एक साधन के रूप में प्रयोग करने के आरोप लगाये। इसी तरह उन्होंने अमेरिका को दक्षिणी कोरिया के राष्ट्रपति सिंगमन री की सहायता करने एवं कोरिया में गृह-युद्ध छेड़ने के लिए भी दोषी ठहराया।[2] चीन के साम्यवादी नेताओं ने कोरिया-युद्ध की यह व्याख्या करते हुए कहा कि—"यह युद्ध कोरिया फारमोसा हिन्द चीन एवं फिलीपाइन्स पर कब्जा करने तथा फिर एशियाई मामलों में हस्तक्षेप करने के अमरिकन षड्यंत्र का ही पहला चरण है।"[2]

साम्यवाद के प्रसार का अवरुद्ध करने के लिए संयुक्त राज्य अमेरिका ने विभिन्न सैनिक और प्रतिरक्षात्मक संगठनों का निर्माण किया। अमरिका द्वारा निर्मित और प्रेरित नाटो सीटो अन्जुस (ANZUS), बगदाद पैक्ट (मध्य सैंटो) तथा मध्य पूर्वी कमान आदि सन्धियों की साम्यवादी चीन ने यह कह कर कटु भर्त्सना की कि इन सब का उद्देश्य विश्व में अमेरिकन प्रभुत्व को स्थापना करना है। अमेरिकनों के लिए चीन की मुख्यभूमि के द्वार

Quoted by Buss, C. A The Far East Page 553
2. Claude Buss The Far East, Page—554

बन्द कर दिये गये। अनेक बार तो अमरीकन पत्रकारों तक का प्रवेश की अनुमति नहीं दी गई। चीन स्थित अमरीकन सम्पत्ति भी जब्त कर ली गई। अमरीका के साथ व्यापारिक सम्बन्ध पूर्णतः समाप्त कर दिये गये। उसके साथ सभी प्रकार के सम्पर्कों पर—चाहे वे सामाजिक हों सांस्कृतिक हों या कूटनीतिक हों—रोक लगा दी गई। कोरियाई युद्ध में जिन अमेरिकन चालकों को बन्दी बना लिया गया था उन्हें भी बड़े वाद-विवाद के बाद और सोवियत रूस के आग्रह पर मुक्त किया गया।

कोरिया और फारमोसा की घटनाएँ तो दोनों राष्ट्रों के वैमनस्य का प्रधान कारण बना ही। १९५४ में हिन्द चीन के प्रश्न पर भी दोनों देशों में काफी तनाव पैदा हो गया। डीन-बिन-फू में फ्रेंच सेनाओं की निर्णायक पराजय के उपरांत जब वाशिंगटन ने भारी संख्या में अपनी सेनायें फ्रांस की सहायतार्थ भेजने का निश्चय किया तो अमेरिका और साम्यवादी चीन में प्रत्यक्ष युद्ध का गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया। सौभाग्यवश जेनेवा समझौता सम्पन्न होने के कारण यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति टल गई। सन् १९५५ में चीन और अमेरिका के बीच संघर्ष और नये कारण उपस्थित हो गये। आक्रोश व संघर्ष के लिए चीन ने अमेरिका को उत्तरदायी ठहराया और कहा कि वह वियतनाम के प्रश्न आत्मक अपराजय एवं चीन की सुरक्षा को सीधी चुनौती देने के लिए ही सुदूर पूर्व में संघर्ष चाहता है। तिब्बत की क्रांति के बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका का रुख देख कर भी चीन को भारी असंतोष हुआ। इसके अतिरिक्त जनवरी १९६० में जापान तथा अमेरिका के बीच सहयोग एवं सुरक्षा की संधि हुई। इससे भी चीन के सम्बन्ध कटु बने। चीन ने हर सम्भव प्रयत्न द्वारा जापान व अमेरिका के गठ-बंधन को तोड़ने का प्रयास किया। पेकिंग रेडियो ने अमेरिका पर एशिया में साम्राज्यवादी षड्यंत्र रचने का आरोप लगाया। ९ सितम्बर १९६२ को साम्यवादी चीन की वायु सेना ने च्यांग-काई-शेक सेना के एक यू-२ सैनिक जासूस-वायुयान को चीन की मुख्यभूमि पर मार गिराया। चीन सरकार ने इस घटना पर एक विस्तृत बयान जारी किया और इस विमान की उड़ान का उत्तरदायी अमरीका को ठहराया। अक्टूबर १९६२ में 'क्यूबा-संकट' के समय साम्यवादी चीन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध भारी विष वमन किया गया। सम्पूर्ण चीन में क्यूबा समर्थक विशाल प्रदर्शन संगठित किये गये क्यूबा समर्थक नारे लगाये गये और क्यूबा के नेताओं के चित्र प्रदर्शित किये गये। १९६२ में ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने चीनी आक्रमण के विरुद्ध भारत को प्रभावशाली सैनिक सहायता भेजी। इससे भी साम्यवादी चीन के आक्रोश में वृद्धि हुई।

१९६५–६६ में वियतनाम समस्या को लेकर अमेरिका व चीन की कटुता में पुनः वृद्धि हुई। वियतनाम में शांति-स्थापना के प्रत्येक प्रयास को साम्यवादी चीन ने असफल बनाने की कोशिश की। यह मुख्यतः चीन की हठधर्मिता का ही परिणाम है कि उत्तरी वियतनाम की सरकार सभी शांति-प्रस्तावों के विरुद्ध कठोर रुख अपनाये हुए केवल अपने ही प्रस्तावों को मानने पर भार दे रही है। उत्तरी वियतनाम की सरकार को पेकिंग निरंतर

युद्ध के लिए उकसाया जा रहा है जिसके फलस्वरूप अमेरिका को भी दक्षिणी वियतनाम की ओर से जी-तोड़ युद्ध करना पड़ रहा है। वियतनाम में शांति स्थापना की दिशा में यह एक शुभ लक्षण है कि अब हनोई सरकार धीरे धीरे पेकिंग की अपेक्षा मास्को के अधिक निकट आ रही है। अमरिका के दृढ़ निश्चय से साम्यवादी चीन के सम्पूर्ण वियतनाम और तब एशिया के अन्य क्षेत्रों पर छा जाने के मनसूबों को प्रबल आघात पहुँचाया है। वियतनाम युद्ध में और एशिया में संयुक्त राज्य अमेरिका की नीति चाहे कतिपय मसलों पर कितनी ही प्रश्नास्पद क्यों न हो लेकिन इससे इन्कार नहीं किया जा सकता कि अमेरिका की कठोर और मुंह-तोड़ जवाब देने की नीति ने युद्ध-पिपासु साम्राज्यवादी चीन को बहुत कुछ नियन्त्रित कर रखा है। दोनों देशों के बीच वर्तमान स्थिति यही है कि साम्यवादी चीन के नेता जहाँ अमरिका को अपने राष्ट्र का घोरतम शत्रु मानते हैं वहाँ अमेरिका चीन को शांति मानवता और प्रजातन्त्र का निकृष्टतम शत्रु मानते हुए उसके अस्तित्व को घातक चुनौती देने वाला समझता है।

(३) चीन तथा भारत के सम्बन्ध

चीन और भारत के संबंधों पर विस्तारपूर्वक प्रकाश भारत की विदेश नीति के पूर्ववर्ती अध्याय में भारत चीन सीमा विवाद शीर्षक के अन्तर्गत डाला जा चुका है। अतः इसकी पुनरावृत्ति न करते हुए प्रस्तुत सन्दर्भ में केवल उन कारणों का उल्लेख किया जायगा जिनसे प्रेरित होकर साम्यवादी चीन ने अक्टूबर, १९६२ में भारत पर सुनियोजित किन्तु एक अप्रत्याशित विशाल सैनिक आक्रमण किया। भारत की बहुमूल्य मैत्री को ठुकरा कर किए गए अपने इस विश्वासघाती आक्रमण में एक महीने के अन्दर भीतर चीन ने लगभग लद्दाख और कामेंग सीमा डिवीजन तक सेना भेजी, असम में मैदान के निकट तक पहुँच गए और लद्दाख में उन्होंने लगभग उस सारे प्रदेश पर अधिकार कर लिया जिसे अपनी स्वेच्छाचारिता के आधार पर वे अपना बताते हैं। इस विजय के बाद चीनियों ने आकस्मिक रूप से यह घोषणा की कि वे २० नवंबर की मध्य रात्रि के बाद युद्ध बन्द कर देंगे और उनके 'सीमांत प्रहरी (Frontier guards) १ दिसंबर, १९६२ से चीन और भारत की ७ नवंबर १९५९ की वास्तविक नियन्त्रण रेखा के पीछे २० किलोमीटर (12½ मील) तक वापिस लौट जायेंगे। १ दिसंबर से चीनी सेनाओं ने पीछे लौटना भी शुरू कर दिया परन्तु चीन की यह एक भ्रामक और गहरी कूटनीतिक चाल थी। चीन का वास्तविक अभिप्राय यह था कि लद्दाख के अक्साई चिन प्रदेश पर और १९५९ से १९६२ तक के बीच में भारतीयों द्वारा अपने प्रदेश में स्थापित चौकियों पर चीन का अधिकार मान लिया जाय। चीन के इस धोखे को समझते हुए भारत-सरकार ने उसके इस एकपक्षीय शांति-प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया परन्तु साथ ही युद्ध विराम तोड़ने का प्रयास न करने का भी निश्चय किया। भारत सरकार ने इस बात पर बल दिया कि संधि वार्ता तभी हो सकती है जबकि चीन अपनी सेनाओं को ८ सितम्बर १९६२ से पहले की स्थिति में ले जाय। बाद में चीन और भारत के इस सीमा-विवाद के समाधान की दिशा में

सम्बन्धी प्रस्ताव सामने आये। परन्तु चीन द्वारा इन्हें न मानने के कारण अभी तक समस्या का कोई समाधान नहीं हो सका है और दोनों देशों की फौजें आमने-सामने खड़ी हुई हैं।

अब प्रश्न उठता है कि चीन ने भारत पर आक्रमण क्यों किया? उत्तर में कहा जा सकता है कि चीनी आक्रमण के मूल में एक नहीं बल्कि अनेक कारण निहित थे। इन कारणों को भारतीय और विदेशी राजनीतिज्ञों नेताओं तथा पर राष्ट्र-नीति विचारकों ने विभिन्न प्रकार से प्रकट किया है।

२७ नवम्बर १९६२ को ब्रिटिश-टेलीविजन के लिए एक भेंट में स्वर्गीय श्री नेहरू ने बताया कि चीन का यह आक्रमण प्रमुखतः तीन कारणों से हुआ है—

(i) चीन की प्रवृत्ति विस्तारवाद की है। शक्तिशाली होने पर चीन सदैव अपने साम्राज्य का विस्तार करता है और उन सभी प्रदेशों पर अधिकार करने की चेष्टा करता है जिन पर उसका किसी भी कारणवश शासन रह चुका हो।

(ii) चीन यह नहीं चाहता कि भारत लोकतन्त्रात्मक पद्धति पर चलते हुए उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हो। इसीलिए वह युद्ध द्वारा भारत पर सैनिक तैयारियों का इतना बोझ डाल देना चाहता है कि जिससे भारत का अर्थ-तन्त्र बोझिल बन जाये और यह महान राष्ट्र सफलता के मार्ग पर न बढ़ सके।

(iii) तिब्बत के प्रति भारत की नीति और दलाईलामा को भारत द्वारा शरण दिये जाने से चीन भारत के प्रति अत्यन्त क्रुद्ध है।

४ नवम्बर, १९६२ को संयुक्त राज्य अमेरिका के सुदूर-पूर्वी मामलों के सहायक सचिव हैरीमैन ने चीनी आक्रमण के निम्नलिखित उद्देश्य अथवा कारण बताये—

(i) चीन लद्दाख में प्रदेश की प्राप्ति का इच्छुक है।

(ii) भारत पर आक्रमण की आड़ में चीन अपने देश की आर्थिक विफलताओं से उत्पन्न अप्रतिष्ठा को धो देना चाहता है।

(iii) चीन का तीसरा उद्देश्य भारत को बदनाम करना उसके आर्थिक विकास में बाधा डालना और कृषि एवं उद्योगों की उन्नति की ओर से उसका ध्यान हटाना है।

ब्रिटिश पार्लियामेंट के एक सदस्य श्री वायट (Wyatt) ने कहा था कि भारत पर अपने इस विशाल आक्रमण से चीन एशिया को यह बता देना चाहता है कि वह पूर्व का स्वामी तथा रूसी नियन्त्रण से सर्वथा स्वतन्त्र है और युद्ध को अनिवार्य समझने वाले साम्यवादी जगत का नेता है।[1] सम्पूर्ण

---

1 The Hindusthan Times November 19 1962 p 7

और दक्षिण पूर्वी एशिया के मामलों के अमेरिकन सहायक सचिव श्री टैलबाट ने मत प्रकट किया कि चीनी आक्रमण का उद्देश्य उत्तर पूर्वी सीमान्त प्रदेश में दबाव डाल कर लद्दाख में सुविधायें प्राप्त करना था।[1]

अनेक ब्रिटिश विद्वानों और पत्रकारों के मतानुसार चीनी साम्यवादियों का लक्ष्य लद्दाख की सड़क को सुरक्षित बनाना था और अपने आक्रमण द्वारा उन्होंने भारत को यह सूचित कर दिया कि इस सड़क पर और हिमालय के विभिन्न प्रदेशों पर साम्यवादी चीन का अधिकार उसे (भारत को) स्वीकार करना पड़ेगा। श्री विद्याप्रकाश दत्त का तर्क है कि केवल मात्र इसी कारण से चीन को भारत पर आक्रमण की आवश्यकता नहीं थी क्योंकि वह हमला शुरू करने से पहले ही लद्दाख में दो सड़क बना चुका था और इस बात से भी भली प्रकार परिचित था कि भारत उसे शीघ्र ही सैनिक दृष्टि से वहाँ से नहीं हटा सकता। श्री दत्त के मतानुसार चीनी आक्रमण के अनेक बहुत बड़े उद्देश्य थे—

(i) भारत का एक ईर्ष्यालु पड़ोसी होने के नाते चीन कई कारणों से यह दिल्ली से बहुत चिढ़ा हुआ था। साम्यवादी पद्धति के परम उपासक चीनी नेताओं ने अपने राष्ट्र के आर्थिक पुनरोत्थान के लिए एक लम्बी छलांग (Big leap) की नीति इस विश्वास से आरम्भ की थी कि यह सफल होगी और एशिया के सब देश चीन द्वारा दिखाये गये मार्ग का अनुसरण करेंगे। चीनी नीति के विपरीत भारत लोकतन्त्रात्मक रीति से पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा अपनी प्रगति में लगा हुआ था जो मन्द होते हुए भी स्थाई थी। दोनों पद्धतियों की इस प्रतियोगिता में दुर्भाग्यवश 'लंबी छलांग' की नीति न केवल पिछड़ ही गई बल्कि बुरी तरह असफल भी हुई। इस नीति की असफलता से चीन की साम्यवादी पद्धति के स्थान पर भारतीय लोकतन्त्रात्मक योजनाबद्ध प्रणाली अधिक श्रेष्ठ प्रतिपादित हुई। इससे चीन को यह भय हो गया कि एशिया के दूसरे देशों में उसकी प्रतिष्ठा और उसके नेतृत्व को आघात पहुँचेगा। प्रतिक्रियास्वरूप भारत की प्रतिष्ठा को बुरी तरह झकझोर देने के उद्देश्य से साम्यवादी चीन ने भारत पर विशाल सैनिक आक्रमण कर देना उचित समझा। सैनिक दृष्टि से भारत को पराजित करके वह इस बात का ढिंढोरा पीट देना चाहता था कि भारत एशिया में चीन के नेतृत्व और प्रभाव को चुनौती देने जैसी शक्ति नहीं है। चीन इस बात से भी बहुत चिढ़ा हुआ था कि जब उसके देशवासी अपना खून-पसीना बहा कर उन्नति करने में लगे हुए थे। तभी उसके जाति-भाई सोवियत रूस ने उन्हें मँझधार में छोड़ दिया था कि भारत को वह पहले से भी अधिक प्रचुर आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता देता रहा। इन सब बातों से चीनी नेताओं ने निश्चय कर लिया कि नेहरू को नीचा दिखाया जाये, भारत की गुटों से अलग रहने की नीति को बदनाम किया जाय तथा उसकी शक्ति और स्थिति को प्रबल हानि पहुँचा दी जाये। इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'भारत पर चीन का आक्रमण बड़े क्रूर विचारों से किया गया जिसके उद्देश्य थे—हिमालय में पीकिंग की शक्ति और

1 Ibid November 3 1962, p 7

अधिकार को स्थापित करना, भारत की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचाना, नेहरू का नीचा दिखाना, चीन को एशिया म सबसे बड़ी वास्तविक शक्ति सिद्ध करना, चीनी नक्शों के स्थान पर नेहरू के नेतृत्व में भारतीय प्रतिक्रियावादियों की सहायता करने वाले कांग्रेस को पाठ पढ़ाना और संसार की शक्तियों को यह सूचना देना कि दुनिया में तब तक शांति नहीं रह सकती जब तक कि चीन को महाशक्ति के रूप मे स्वीकार न किया जाय और उससे ऐसा व्यवहार न हो।[1]

स्टैबिन्स के मतानुसार चीनी आक्रमण के प्रधान कारण ये थे — आन्तरिक असंतोष, अन्तर्राष्ट्रीय निराशा, एशिया में चीन को सर्वोच्च शक्ति बनाने की चिन्ता, भारत को नीचा दिखाने की इच्छा और सोवियत संघ को परेशान करने की आकांक्षा।

संयुक्त राज्य अमेरिका में भारत के तत्कालीन राजदूत श्री बी० के० नेहरू ने चीनी आक्रमण का विस्तार से विश्लेषण करते हुए अपनी एक टेलीविजन–भेंट में चीनी आक्रमण के निम्नलिखित कारण बताये —

(i) चीन को भारत द्वारा की गई आर्थिक प्रगति से ईर्ष्या थी। वह इस प्रगति को अवरुद्ध करना चाहता था और इसका सर्वोत्तम उपाय उसकी दृष्टि में यही था कि भारत के साधनों को विकास कार्यों की ओर से प्रतिरक्षा के कार्यों की ओर उन्मुख कर दिया जावे। युद्ध छेड़ कर चीन ने भारत में ऐसी ही स्थिति पैदा करने की चेष्टा की।

(ii) चीन के पास तेल की कमी है और अब तक इस बारे में वह रूस पर पूरी तरह निर्भर था। चीनियों को इस बात का विश्वास था कि यदि हिमालय पार करके उन्होंने आसाम पर अधिकार प्राप्त कर लिया तो इस प्रदेश के तेल–कूप उन्हें मिल सकते थे।

(iii) दक्षिण–पूर्वी एशिया में और दोनों गुटों से पृथक रहने वाली शक्तियों में भारत को जो प्रतिष्ठा प्राप्त थी वह पेकिंग को अत्यधिक खटकती थी। पेकिंग नई दिल्ली को सैनिक दृष्टि से पराजित करके संसार को बताना चाहता था कि एशिया का नेता भारत नहीं बल्कि चीन है।

(iv) चीन सोवियत रूस द्वारा भारत को दी जाने वाली सहायता से सख्त नाराज था और आक्रमण की स्थिति पैदा करके रूस को इस बात के लिये बाध्य करना चाहता था कि वह भारत का पक्ष लेना छोड़ दे और उसकी सहायता न करे।

भारत पर आक्रमण करने में चीन का एक प्रधान उद्देश्य पाकिस्तान को अमेरिकन–गुट से निकाल कर अपने साथ मिलाना और दक्षिण पूर्वी एशिया में अमरीका के प्रभाव को नगण्य बनाना था। भावी घटनाओं ने यह सिद्ध कर दिया कि पाकिस्तान को अमरीका की ओर से विमुख करने में चीन बहुत कुछ सफल हुआ।

1 Current History March 1963 p 179

चीनी मामलों के विशेषज्ञ श्री सी० एफ० हडसन ने चीनी आक्रमण के उद्देश्यों का विशद् रूप से विश्लेषण करते हुए यह मत प्रकट किया कि इस समय भारत एवं प्रमुख एशिया के नेतृत्व के लिये संघर्ष है। रूस एशिया की दृष्टि में आज भी एक पश्चिमी देश है और द्वितीय महायुद्ध में पराजित होने के बाद जापान के एशियाई-नेतृत्व की संभावना धूमिल हो गई है। ऐसी स्थिति में आज एशिया के नेतृत्व की प्रतिस्पर्धा केवल भारत और चीन के बीच है। चीन सर्वाधिकारवादी साम्यवादी पद्धति का पोषक है तो भारत पश्चिमी देशों की राजनीतिक लोकतन्त्रात्मक प्रणाली पर चलते हुए वैयक्तिक स्वतन्त्रता और कानून के शासन (Rule of Law) का अनुयायी है। चीन के साम्यवादी नेताओं ने देखा कि जहां लोकतन्त्रात्मक पद्धति की योजनाओं में भारत स्थायी आर्थिक प्रगति कर रहा है वहां 'लंबी छलांग' की नीति की असफलता से चीन की प्रतिष्ठा को गहरा आघात लगा है और इस क्षति की पूर्ति केवल सैनिक आक्रमण में भारत को युद्ध-क्षेत्र में पराजित करके ही की जा सकती है। इसी विचारधारा के प्रभाव में आकर चीनी नेताओं ने अपनी विशाल स्थलीय सेना को भारत पर आक्रमण करने के आदेश दे दिये। जब चीन अपने आक्रमण के विभिन्न उद्देश्यों को बहुत कुछ प्राप्त कर चुका तो उसने सहसा ही युद्ध बन्द करने की एक-पक्षीय घोषणा करके शांति प्रियता की वाहवाही लूटने की चेष्टा की।

(४) चीन तथा सोवियत रूस एवं समाजवादी खेमे के अन्य देश

जैसा कि कहा जा चुका है चीन के नये संविधान की प्रस्तावना में 'सोवियत संघ तथा जनता के लोकतन्त्र के साथ अटूट मैत्री' का उल्लेख है। वस्तुतः उसके जन्म के समय से ही यह मैत्री चीनी विदेश नीति की आधार शिला रही यद्यपि बाद में आकर चीन स्वयं साम्यवादी जगत के नेतृत्व के लिये सोवियत संघ की कठोर प्रतिस्पर्द्धा करने लगा और उनमें न केवल सैद्धान्तिक संघर्ष ही उठ खड़ा हुआ बल्कि उनके पारस्परिक हित भी टकराव की नौबत आ गई और आज स्थिति यह है कि दोनों देश एक दूसरे की निन्दा करने व एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप की झड़ी लगाने में एक दूसरे को मात देने की मनोदशा में हैं। इतना ही नहीं अपनी पार पार लगती हुई सीमा पर दोनों देशों की सेनायें भी लगी हुई हैं।

शांति के फौरन बाद चीन और सोवियत संघ की मैत्री तेजी से फलती-फूलती रही। माओत्सेतुङ् ने रूस की यात्रा की और २४ फरवरी १९५० को दोनों देशों के मध्य तीन संधियां हुयीं—(१) ३० वर्ष के लिये मैत्री और पारस्परिक सहायता की संधि (२) च्यांग चुन-रेलवे पोर्ट-आर्थर और डाइरन (Dairen) से संबद्ध संधि एवं (३) ऋण संबन्धित समझौता।

प्रथम संधि के द्वारा यह निश्चय किया गया कि जापानी आक्रमण की स्थिति में अथवा जापान के सहयोग से किसी दूसरे देश के आक्रमण की

स्थिति में दोनों देश परस्पर एक दूसरे की सहायता करेंगे और साथ ही वे ऐसी किसी भी संधि में लिप्त न होंगे जिससे उनमें से किसी के हितों पर आंच आती हो। उन्होंने यह भी तय किया कि वे जापान के साथ शीघ्र एक शांति संधि के लिये प्रयास करेंगे समान हितों के सभी अन्तर्राष्ट्रीय मसलों पर परस्पर विचार-विमर्श करेंगे समस्त विश्व में शांति एवं सुरक्षा की प्राप्ति हेतु की जाने वाली कार्यवाहियों में भाग लेंगे तथा परस्पर निकटतर आर्थिक एवं सांस्कृतिक संबंध स्थापित करेंगे।

द्वितीय संधि के द्वारा सोवियत संघ ने च्यांग चुन-रेलवे को जापानी शांति संधि के बाद और अधिक से अधिक १९५२ के अन्त तक चीन को हस्तांतरित करने की प्रतिज्ञा की। इस संधि के द्वारा यह भी निश्चित हुआ कि १९५२ तक सोवियत संघ की सेनायें पोर्ट आर्थर से वापिस बुला ली जायेंगी। डायरन के भविष्य के संबंध में अन्तिम निर्णय उस समय तक के लिये स्थगित कर दिया गया जब तक कि जापान के साथ शांति संधि न हो जाए। फिर भी अस्थायी रूप से वह संपूर्ण संपत्ति चीन को दे देना जिसे रूस ने पट्टे में प्राप्त किया था।

तृतीय संधि के द्वारा सोवियत संघ ने चीन को ५ वर्ष की अवधि के लिए ३ करोड़ डालर का कर्जा देना स्वीकार किया। इस ऋण का ५ किश्तों में दिया जाना तथा ३१ दिसंबर, १९५४ के पश्चात् १० किश्तों में लौटाया जाना निश्चित हुआ।

इन संधियों द्वारा १९४५ की सोवियत संघ और चीन की संधियों को खत्म कर दिया गया।

उपरोक्त संधियों के सम्पन्न होने के उपरान्त सोवियत रूस और चीन के संबंध कुछ वर्षों तक अत्यन्त मैत्रीपूर्ण रहे। सितम्बर, १९५२ में च्यांग चुन-रेलवे चीन को लौटा दी गई परन्तु पोर्ट आर्थर के बारे में यह निश्चय हुआ कि यह तब तक नहीं लौटाया जाएगा जब तक कि जापान की रूस और चीन के साथ शांति-संधि नहीं हो जाती। बाद में यह १९५४ में तय किया गया कि पोर्ट आर्थर १९५५ में चीन को दे दिया जाएगा। मई, १९५५ में इसे चीन को हस्तांतरित भी कर दिया गया।

इस अवधि में सोवियत संघ द्वारा चीन को दी जाने वाली वित्त वाणिज्य और प्राविधिक सहायता में भी निरन्तर वृद्धि होती गई। सिक्यांग में तेल तथा विभिन्न प्रकार की धातुओं का दोहन (Exploitation) हेतु संयुक्त पूंजी कम्पनियां (Joint Stock Companies) स्थापित करने के और चीन तथा रूस के बीच आना-वायु सेवायें प्रारंभ करने के लिए एक समझौता किया गया। दोनों राष्ट्रों के मध्य सभी प्रकार के आर्थिक संबंधों का विकास हुआ। तीन संयुक्त निगमों की स्थापना की गई—सिक्यांग में तेल स्रोतों की खोज, उसके उत्पादन व शोधन के लिये चीनी–रूसी तेल निगम

सिक्यांग में टुंगस्टन एवं अन्य प्रकार की धातुओं की खानें खोजने संबंधी निगम तथा चीनी-रूसी नगर उड्डयन निगम। चीन का लगभग ७० प्रतिशत व्यापार रूस के साथ होने लगा जिसमें १९५० के बाद निरन्तर वृद्धि होती चली गई। रूस ने विकास संस्था में प्राविधिक कर्मचारी और परामर्शदाता चीन भेजे और हजारों की संख्या में चीनी युवक औद्योगिक मशीनों खानों तथा रेल्वे संबंधी प्रशिक्षण के लिये रूस लाये गये। सन् १९५३ में 'औद्योगीकरण योजना आरंभ करने ९१ नये संस्थानों की स्थापना करने तथा ५० पुराने संस्थानों के स्वरूप परिवर्तन के लिये' रूस द्वारा चीन को और अधिक ऋण प्रदान किया गया। ११ अक्टूबर, १९५४ को एक नये समझौते द्वारा यह निश्चित हुआ कि— सोवियत संघ चीन को लगभग १ अरब रूबल (रूसी मुद्रा) मूल्य के यन्त्र-उपकरण तथा ऋण देगा, मिश्रित कम्पनियों संबंधी सभी रूसी अधिकार चीन को सौंप देगा तथा रेल्वे निर्माण वैज्ञानिक और प्राविधिक गतिविधियों में उसके साथ सहयोग करेगा।" १९५४ में ही रूस ने चीन की अणुशक्ति उत्पादन में भी सहयोग देना स्वीकार किया परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि चीन द्वारा अणु-परीक्षण रूस की पूर्व अनुमति के बिना नहीं किया जा सकेगा। इसके अतिरिक्त चीनी-रूसी मैत्री संगठन स्थापित किये गये। इसे स्थायी अटूट एवं शक्तिशाली बनाने के लिए प्रचार का सहयोग लिया गया। रूसी साहित्य का चीनी भाषा में अनुवाद करवाना भी आरंभ हुआ।

राजनीतिक क्षेत्र में भी दोनों राष्ट्रों ने एक दूसरे के साथ काफी समय तक सहयोग से काम किया। सोवियत संघ ने चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिलाने के लिये निरन्तर प्रयास किया और इस दिशा में अपने चीन से मतभेदों के बावजूद भी आज भी वह प्रयत्नशील है। १९५४-५५ में दोनों ही देशों ने पश्चिमी शक्तियों विशेषकर अमेरिका द्वारा निर्मित किये जाने वाले प्रादेशिक सैनिक संगठनों की कटुतम आलोचना की। १९५६-५७ में दोनों ने मिस्र पर ब्रिटेन व फ्रांस के आक्रमण की निन्दा की। हंगरी और पोलैण्ड में जब दक्षिण पंथी दंगे हुए तब भी दोनों देशों में नियमित रूप से विचार-विमर्श होते रहे। १९५८ में टीटो के संशोधनवाद की कटु आलोचना भी दोनों ही देशों के द्वारा की गई। सोवियत संघ की भांति ही अन्य समाजवादी देशों के साथ भी चीन ने मैत्रीपूर्ण संबंध कायम रखे। उनके साथ विद्यार्थियों खिलाड़ियों संगीतकारों नृत्यकारों और प्राविधिक विशेषज्ञों का आदान-प्रदान किया तथा अनेक व्यापारिक समझौते भी किये।

परन्तु चीन और समाजवादी क्षेत्र के अन्य देश—विशेषकर रूस के पारस्परिक संबंध अधिक समय तक मैत्रीपूर्ण नहीं रह सके। वास्तव में उनके संबंधों में तनाव का बीजारोपण तो तब ही हो गया था जब १९५६ में सोवियत संघ की साम्यवादी पार्टी की २०वीं कांग्रेस की बैठक सम्पन्न हुई। इस कांग्रेस में भाषण करते हुए ख्रुश्चेव ने दो बातें ऐसी कहीं थीं जो कट्टरपंथी माओवादियों की समझ से परे थीं और जिनसे साम्यवादी जगत में सैद्धान्तिक संघर्ष को अकारण ही जन्म दे दिया। अभी तक अनुदार साम्यवादी आन्दोलन

यह मानता आया था कि जब तक पूंजीवादी व्यवस्था का अस्तित्व रहेगा तब तक संसार में युद्धों की अनिवार्यता भी बनी रहेगी। साम्यवादी आन्दोलन की यह भी मान्यता थी कि विभिन्न देशों में समाजवाद की स्थापना क्रान्ति के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। परन्तु श्री ख्रुश्चेव ने परम्परागत इन दोनों मान्यताओं की उपेक्षा की और आणविक आयुधों के वर्तमान युग के लिए इन्हें असंगत बताया। उन्होंने कहा कि समाजवादी देश आज इतना शक्तिशाली है कि किसी भी गैर-साम्यवादी देश का उस पर आक्रमण करने का दुस्साहस नहीं हो सकता अतः यह कहना अनुचित है कि युद्ध अवश्यम्भावी है। इसी तरह क्रांति की अनिवार्यता के संबंध में भी ख्रुश्चेव ने कहा कि आज संसार के सभी देशों में जन-आन्दोलन इतने सशक्त बन चुके हैं कि कुछ देशों में समाजवाद की स्थापना हिंसात्मक क्रांति द्वारा नहीं बल्कि विकास की स्वाभाविक प्रक्रिया द्वारा ही और सम्भवतः संसदीय तरीके से ही संपन्न हो सकी है। श्री ख्रुश्चेव की ये दोनों स्थापनायें चीनी नेताओं के गले नहीं उतर सकीं। फलस्वरूप चीनी साम्यवादी पार्टी ने सोवियत नेताओं विशेषकर श्री ख्रुश्चेव पर संशोधनवादी होने का आरोप लगाया और उनकी कटु आलोचना करना शुरू कर दिया। चीनी नेताओं ने कहा कि श्री ख्रुश्चेव व उनके सहयोगी मार्क्स और लेनिनवाद के बताये गये सिद्धान्तों से अलग हट रहे हैं।

सन् १९५९ के बाद दोनों देशों के बीच शक्ति के लिए संघर्ष छिड़ जाने के कारण दोनों के राष्ट्रीय हितों में भी क्लेश पैदा हो गया। साथ ही दोनों का सैद्धान्तिक संघर्ष भी पूर्वापेक्षा तीव्रतर हुआ। श्री ख्रुश्चेव द्वारा मास्को में रूसी साम्यवादी दल की सन् १९५६ में आयोजित कांग्रेस (और १९६१ की २२ वीं कांग्रेस में भी) स्टालिन की तीव्र भर्त्सना एवं निन्दा की गई। श्री ख्रुश्चेव के इस स्टालिन विरोधी अभियान को डिस्टालिनिकरण की संज्ञा दी गई। पैकिंग को रूस के नये नेताओं का यह व्यवहार बड़ा नागवार गुजरा। इसी तरह जब मास्को युगोस्लाविया को साम्यवादी मातृत्व में वापिस बुलाने के लिए तत्पर हुआ था भी चीन को बड़ा बुरा लगा। चीनी विदेश मंत्री श्री चेन यी ने यूगोस्लाव पुनर्विचारवाद पर तीखा आक्रमण आरम्भ कर दिया – तीखा इसलिये क्योंकि चीनियों की दृष्टि में यूगोस्लाव राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने अमेरिकावासियों के साथ सहअस्तित्व का इरादा जाहिर करके घोर अपराध किया था।

सोवियत रूस और चीन के मध्य मतभेदों की खाई निरन्तर चौड़ी होती गई। जब सितम्बर १९५९ में चीन अमेरिका यात्रा के दौरान प्रधान मंत्री श्री ख्रुश्चेव ने आइज़नहावर से कैम्प डेविड में मुलाकात की और अमेरिका के प्रति सोवियत कठोरता में कुछ संभावित नरमता के संकेत दिये तो दूसरी ओर चीन ने वाशिंगटन विरोधी निन्दा प्रचार अविरल गति से जारी रखा और इस बात की भरसक चेष्टा की कि रूस तथा अमेरिका के मध्य चलने वाले शीत युद्ध में किसी प्रकार कमी न आ पाये। चीन ने अमेरिका के साथ समझौते की जरा भी इच्छा प्रदर्शित नहीं की। श्री ख्रुश्चेव की अमेरिका

यात्रा को चीन ने बहुत बुरा समझा इसीलिए श्री ख्रुश्चेव को, जब उन्होंने चीन की यात्रा की पेकिंग में कोई विशेष स्वागत प्राप्त नहीं हुआ। पुनश्च जब उन्होंने माओत्सेतुंग से विश्व में एक ऐसा नवीन वातावरण पैदा करने में सहयोग देने का अनुरोध किया जिसमें पूर्व व पश्चिम के निशस्त्रीकरण तथा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करने की दिशा में सहायता मिल सके तो चीनी नेताओं ने उनके इस विचार के प्रति कोई उत्साह प्रकट नहीं किया। वास्तव में चीनियों ने श्री ख्रुश्चेव के सुझाव को अपमान सूचक समझा कि वे लोग सोवियत संघ को ऐसे शत्रुओं के साथ समझौता स्थापित करने में सहयोग दें जो फारमोसा की च्यांग सरकार को सक्रिय सहायता देती है जो पेकिंग को कूटनीतिक मान्यता प्रदान करने में इन्कार करती है और जो संयुक्त राष्ट्र संघ में चीन के सदस्यता प्राप्त करने के मार्ग को अवरुद्ध करती है। पेकिंग सरकार ने अपने व्यवहार से अपनी इस नाराजगी और नापसंदगी को साफ जाहिर कर दिया कि एक तरफ तो श्री ख्रुश्चेव राष्ट्रपति आइजनहावर से यह आश्वासन प्राप्त करने में असफल रहे हैं कि अमेरिका साम्यवादी चीन के प्रति कुछ नर्म रुख अख्तयार करेगा और दूसरी तरफ वे चीन-वासियों से यह अपेक्षा करते हैं कि अन्तर्राष्ट्रीय तनाव कम करने में वे सहयोगी बनें।

श्री ख्रुश्चेव ने अपनी इस चीन यात्रा (१९५९ में) के दौरान इस बात पर बल दिया कि चाहे साम्यवादी कितने ही सशक्त क्यों न हो जाएं उन्हें पूंजीपति राष्ट्रों के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग करने से बचे रहना चाहिए। चीन के मार्क्सवादी नेताओं को श्री ख्रुश्चेव का यह कथन 'प्रतिक्रियावादी शक्तियों की प्रगतिवादी शक्तियों पर विजय के समान प्रतीत हुआ। श्री ख्रुश्चेवने अमेरिकन राष्ट्रपति आइजनहावर की राजनीतिज्ञता की जो प्रशंसा की वह भी चीन-वासियों के गले न उतर सकी। वास्तव में यह कहना कोई अतिशयोक्तिपूर्ण न होगा कि चीनियों को श्री ख्रुश्चेव की अमेरिका यात्रा एक प्रकार का विश्वासघात लगी।

चीन और रूस के सम्बन्धों में तब और भी कटुता आई जब १९५९-६० में चीन के भारत के साथ चल रहे सीमा विवाद पर श्री ख्रुश्चेव ने यह आशा व्यक्त की कि दोनों देश अपने सीमा सम्बन्धी झगड़ों का शीघ्र ही कोई शान्तिपूर्ण हल खोज लेंगे। श्री ख्रुश्चेव न चीन का कोई पृष्ठपोषण न करते हुए उसकी मित्रता को लगभग वैसा दर्जा दिया जो भारत को। माओ चाऊ और अन्य चीनी नेताओं को यह भी बड़ा बुरा लगा कि जहां चीन अपने एशियाई पड़ोसी देशों के साथ तीव्र मतभेदों में और संघर्षों में संलग्न था वहां श्री ख्रुश्चेव रंगून नई दिल्ली और जकार्ता शान्ति व सदभावना यात्राओं पर जा रहे थे और इन राजधानियों में मैत्री सूचक दावतें खा रहे थे।

साम्यवादी चीन ने सोवियत संघ से १९६० में विभिन्न प्रश्नों पर सैद्धान्तिक मतभेद प्रगट किए। साम्यवादी दुनिया में [illegible] संसार भर में फैल गये [illegible] अधिक [illegible]। जून १९६० में बुखारेस्ट में हुए रूमानिया कम्युनिस्ट दल के तृतीय सम्मेलन के अवसर पर श्री ख्रुश्चेव ने अपने इस मत की पुनः पुष्टि की कि लेनिन का पूंजीवाद के

अधीन युद्ध की अनिवार्यता का सिद्धान्त अब लागू नहीं होता। दूसरी ओर चीनी प्रतिनिधि मंडल के नेता ने घोषणा की कि जब तक साम्राज्यवाद विद्यमान है युद्धों का खतरा बना रहेगा। इसके बाद नवम्बर १९६० में मास्को में साम्यवादी नेताओं का जो अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ उसमें भी रूसी चीनी सैद्धान्तिक मतभेद और भी तेजी से उभर कर सामने आये। रूसी समाचार पत्रों में चीनी 'कट्टर पंथी' रुख के विरुद्ध भर्त्सनापूर्ण लेख प्रकाशित होते रहे और दूसरी ओर चीनी समाचार-पत्र व रेडियो रूसी "संशोधनवाद" की कटु शब्दों में निन्दा करते रहे। चीन रूस से इस कारण भी बहुत अधिक चिढ़ गया कि जुलाई १९६० को रूस ने चीन की विकास योजनाओं में लगे समस्त सोवियत वैज्ञानिकों को तीन दिन का नोटिस देकर बुला लिया और वह रूसी कर्मचारी अपने साथ विकास योजनाएं व नक्शे तक साथ लेते आये। सोवियत संघ ने चीन को सामग्री और मशीनें आदि भेजना भी बन्द कर दिया। दोनों देशों के बीच के मतभेदों की यह खाई तब और भी अधिक चौड़ी हुई जब १९६१ में सोवियत साम्यवादी पार्टी का कार्यक्रम प्रकाशित हुआ जिसमें २ वर्ष की अवधि में सोवियत संघ में साम्यवाद की स्थापना का नारा दिया गया। इस कार्यक्रम में साम्यवाद का अर्थ वस्तुओं की प्रचुरता बताई गई। चीनी साम्यवादी पार्टी को कार्यक्रम में दी हुई साम्यवाद की यह व्याख्या अत्यन्त आपत्तिपूर्ण लगी। दोनों देशों के संबंध तब और भी अधिक कटु हुए जब १९६२ में सोवियत रूस ने भारत को मिग विमान देने तथा उनको बनाने के कारखानों में सहायता देने का समझौता किया। १९६२ में ही क्यूबा संकट में अपनाई गई रूसी नीति ने भी चीनियों को बहुत रुष्ट किया। चीनी नेताओं ने आरोप लगाया कि क्यूबा के सम्बन्ध में सोवियत नीति आदि से अन्त तक गलत रही है। रूस ने पहले तो क्यूबा में अपने प्रक्षेपास्त्र भेजे किन्तु बाद में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा युद्ध की धमकी देने पर उन्हें वापिस मंगा लिया। चीनी नेताओं ने कहा कि रूस का पहिला दोष 'दुस्साहस' का था और दूसरा कायरों जैसा अमेरिकन साम्राज्यवाद के आगे 'घृणित आत्मसमर्पण' करने का। १९६२ में ही भारत पर चीन के आक्रमण के सम्बन्ध में रूसी नीति ने भी चीन को अप्रसन्न करके अग्नि में घी का काम किया। दोनों देशों के मध्य सैद्धान्तिक मतभेदों की यह खाई बढ़ती ही गई। १४ नवम्बर, १९६२ को सोफिया में हुए बल्गेरियन साम्यवादी दल के सम्मेलन में रूसी प्रतिनिधि ने कहा कि शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के अतिरिक्त किसी भी नीति को युक्तिसंगत नहीं माना जा सकता। उधर चीनी प्रतिनिधि ने सोवियत सरकार के दृष्टिकोण की घोर निन्दा की।

जुलाई १९६३ में रूस और चीन की साम्यवादी पार्टियों में वार्ता हुई ताकि परस्पर विचारधारा में मतैक्य प्राप्त किया जा सके। किन्तु मास्को में हुई यह वार्ता पूरी तरह असफल हो गई और दोनों ही देशों के द्वारा एक दूसरे की कटु शब्दों में निन्दा की गई। रूसी नेताओं ने अपना यह स्पष्ट मत प्रकट किया कि पश्चिम के साथ युद्ध होने पर मानव जाति समूल नष्ट हो जाएगी जिसमें रूसी जनता और उसकी सम्पत्ति भी सम्मिलित है अतः ऐसे विनाशक युद्ध की बात सोचना मूर्खतापूर्ण होगा। किन्तु इसके विपरीत चीनी

नेताओं का यह विचार बना रहा कि साम्राज्यवाद के सम्पूर्ण विनाश के लिए युद्ध अत्यावश्यक है। उनकी (रूसी नेताओं की) विचार प्रणाली कुछ इस प्रकार की थी कि परमाणविक युद्धों से लड़ा गया तृतीय महायुद्ध अन्तिम रूप से अमेरिका और रूस को ही समाप्त करेगा चीन को नहीं। अपनी विशाल संख्या के बल पर, महायुद्ध के बाद भी चीन संसार की महानतम शक्ति शेष रह जाएगा और तब संसार में साम्यवादी क्रान्ति का प्रश्न सुगम हो जाएगा।

२५ जुलाई १९६३ को मास्को में अमेरिका रूस और ब्रिटेन ने एक अणु परीक्षण निरोध संधि पर हस्ताक्षर कर के आकाश बाह्य अन्तरिक्ष और जल के नीचे अणु परीक्षणों पर रोक लगा दी। किन्तु साम्यवादी चीन ने न केवल इस संधि का बहिष्कार ही किया बल्कि अपने इस कार्य को उचित ठहराते हुए सोवियत संघ पर यह आरोप लगाया कि वह संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ मिलकर आणविक अस्त्रों के क्षेत्र में अपना एकाधिकार कायम रखना चाहता है। उसकी सम्मति में इस संधि का केवल एक ही प्रयोजन है—चीन को आणविक शक्ति बनने से रोकना।

१९६३ तक दोनों देशों के बीच कटुता की एक गहरी और लगभग स्थायी खाई बन गई। फिर भी रूस ने जहां संयम से काम लिया वहां चीन सोवियत रूस के राजनीतिक व्यवहार, विचारधारा व अन्य नीतियों का अप्रत्यक्ष या प्रत्यक्ष रूप से कटुतम रूप में विरोध करने लगा। फलस्वरूप रूस को भी अपने बचाव के लिए खुल कर आगे आना पड़ा और इस तरह इन दोनों महारथियों का वाग्युद्ध सम्पूर्ण साम्यवादी जगत की एकता को गहरा आघात पहुंचाने लगा। मिल्टन कोवनर (Milton Kovner) के शब्दों में "एक विशाल ज्वालामुखी की तरह विरोध और संघर्ष की चिंगारियां जो अब तक मित्र एवं सद्भावना के झूठे आवरण से आच्छादित थी पूर्ण सक्रिय होकर चमक उठीं जिनके शान्त होने की सम्भावना निकट भविष्य में दिखाई नहीं देती।"[1]

१९६४–६५ के वर्षों में भी रूस और चीन के सम्बन्धों में घोर बिगाड़ हुए। चीन रूस को पाश्चात्य देशों का अनुचर बताने लगा और उस पर यह आरोप लगाया कि वह (रूस) अमेरिका और उसके मित्र राष्ट्रों के साथ मिलकर विश्व साम्यवादी आन्दोलन की पीठ में छुरा भोंकना चाहता है। अक्तूबर १९६४ में श्री ख्रुश्चेव को पदच्युत कर दिये जाने पर पेकिंग में बड़ी खुशियां मनाई गई और यह आशा प्रकट की गई कि रूस के नये नेता शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति को त्याग कर विश्व साम्यवादी आन्दोलन को बलपूर्वक

1 "Like a long Smouldering Valcano now active now quiescent, the Sino Soviet dispute has erupted anew with unprecedented intensity and the dust has not yet settled."
—Milton Kovner Sino Soviet Dialogue in Current History September 1963 page 120

भाग बढ़ायेंगे । परन्तु जब रूस के नये प्रधानमंत्री श्री ख्रुश्चेव और राष्ट्रपति ब्रेजनेव ने पाश्चात्य देशों के साथ सहअस्तित्व की नीति का परित्याग नहीं किया तथा उसके साथ अपने विवादों को शांतिपूर्वक सुलझाने के मार्ग पर चलने का निश्चय किया तो चीनी नेताओं को बड़ी निराशा हुई और उन्होंने रूस के नये नेतृत्व पर भी उसी प्रकार के लांछन लगाये जिस प्रकार के वे श्री ख्रुश्चेव पर लगाते रहे थे । आज भी रूस और चीन की तनातनी निरन्तर बढ़ती जा रही है तथापि यह भविष्यवाणी करना कठिन है कि रूस और चीन के भावी सम्बन्धों की गति क्या होगी । हां प्रतीत ऐसा होता है कि शक्तियों का पुनर्संगठिकरण सम्भव हो सकेगा रूस पाश्चात्य देशों के साथ अपने भेदभाव मिटा सकेगा और वे सम्मिलित शक्तियां चीनी खतरे से विश्व को विमुक्त करा सकेंगी ।

(४) चीन एवं बाह्य मंगोलिया

बाह्य मंगोलिया पूर्वी एशिया का एक छोटा सा देश है । यद्यपि यह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया है परन्तु उसका व्यवहारतः कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है । इसकी स्थिति एक प्रकार से पूर्वी यूरोपीय कठपुतली साम्यवादी देशों जैसी है । इस पर प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में सोवियत रूस का प्रभाव और नियन्त्रण है । मास्को के आदेश पर ही इसकी नीतियों का संचालन होता है ।

पहले बाह्य मंगोलिया पर चीन का प्रभुत्व था । तत्पश्चात् जापानियों ने चीन से इसे छीन कर वहां एक अलग सरकार स्थापित कर दी । सोवियत रूस के प्रयास से १९२४ में पृथक राज्य के रूप में इसकी स्थापना हुई । तब से ही मंगोलिया रूस और चीन के बीच बफर (Buffer) राज्य है । चीन का साम्यवादी शासन बाह्य मंगोलिया पर सोवियत प्रभुत्व का प्रतिद्वन्द्वी और इस भू-क्षेत्र को अपने प्रभुत्व में लेना चाहता है । पहले चीन ने बाह्य मंगोलिया के स्वतन्त्र अस्तित्व को इसलिये स्वीकार किया था कि उसे रूसी सहायता और समर्थन की अत्यधिक आवश्यकता थी । उस समय वह सोवियत रूस को नाखुश नहीं कर सकता था । परन्तु अब स्थिति बदलती जा रही है और सोवियत रूस व साम्यवादी चीन का अन्तर्विरोध बढ़ रहा है । चीनी नेता कई बार स्पष्ट तौर पर कह चुके हैं कि बाह्य मंगोलिया उनका है । चीन बाह्य मंगोलिया में अपने प्रभाव बढ़ाने की जी-तोड़ कोशिश कर रहा है । १९५२ में चीन ने उसे ५० लाख डालर का ऋण सहायता योजना के लिए दिया और अब तो वहां हजारों चीनी-कार्यकर्ता कार्य रहे हैं ।

(५) चीन और तिब्बत

तिब्बत का क्षेत्रफल ४ लाख ७० हजार वर्गमील था जब कि जनसंख्या लगभग १२ लाख । यह हिमालय और कुनलुन पर्वत और घाटियों पर इतनी ऊंचाई पर बसा हुआ है कि इसे संसार की छत (Roof of the World) कहा जाता है । साथ ही यह प्रदेश इतना दुर्गम है कि इसे रहस्यमय

देश (Mysterious Country) के नाम से भी पुकारा जाता है। इसके उत्तर में सिक्यिांग (चीन) और दक्षिण में नेपाल बर्मा भारत और पाकिस्तान से सीमा लगती है। ७ वीं शताब्दी में तिब्बत एक शक्तिशाली राज्य था और ८ वीं शताब्दी में तो यह चीन से नजराना लिया करता था। १८ वीं शताब्दी में छठे दलाईलामा के उत्तराधिकार के प्रश्न पर तिब्बतियों और मंगोलों में झगड़ा हो गया तथा चीन ने तिब्बत की राजधानी ल्हासा पर अधिकार करके ७ वें दलाईलामा की अपनी इच्छानुसार नियुक्ति कर दी।

सन् १९०६ में चीन और ब्रिटेन ने एक संधि पर हस्ताक्षर किये जिसके अन्तर्गत तिब्बत पर चीन का संरक्षण (Suzerainty) स्वीकार कर लिया गया। चीनी सरकार ने 'संरक्षण' के इस अधिकार का दुरुपयोग करते हुए १९०८ में तिब्बत की व्यावहारिक प्रशासनिक शक्तियां स्वयं हस्तगत करके दलाईलामा के पास केवल उसका नाम मात्र का पद रहने दिया। सन् १९११ में तिब्बतवासियों ने चीनी सैनिकों को निकाल बाहर किया और दलाईलामा ने अपने देश को स्वाधीन घोषित कर दिया। चीन ने तिब्बत में पुनः अपना प्रभुत्व स्थापित करने का असफल प्रयास किया। अप्रैल १९१४ में चीनी अधिकारियों और भारत के ब्रिटिश अधिकारियों ने एक अन्य समझौते द्वारा तिब्बत पर चीन के संरक्षण की पुष्टि कर दी। तिब्बत को दो भागों में बांटने की योजना बनाई गई—एक 'बाह्य तिब्बत' जिसमें ल्हासा समाविष्ट था और दूसरा 'आंतरिक तिब्बत' जिसकी सीमायें चीन की सीमाओं से मिलती थी। 'बाह्य तिब्बत' की स्वायत्तता स्वीकार की गई और चीन ने 'इस क्षेत्र के प्रशासन में हस्तक्षेप न करने, इसको चीनी संसद में प्रतिनिधित्व न देने, उसमें अपनी सेनायें न भेजने, वहां अपने सिविल अधिकारीगण नियुक्त न करने और उसकी भूमि को एक चीनी उपनिवेश में परिणत न करने' का वचन दिया। परन्तु चीनी संसद ने इस समझौते को संपुष्ट करने से इन्कार कर दिया। सन् १९३३ में चीन ने ल्हासा से मांग की कि तिब्बत के वैदेशिक संबंधों के संचालन का अधिकार चीन को दिया जाय और साथ ही गृह प्रशासन में भी चीनियों को पर्याप्त भाग मिले। दलाईलामा ने न केवल चीन की मांग को ठुकरा दिया बल्कि उसने जबरदस्ती थोपे गये चीनी 'संरक्षण (Suzerainty) को भी मानने से इन्कार कर दिया। १९३६ में चीन ने तिब्बत में अपना प्रभुत्व स्थापित करने का पुनः असफल प्रयास किया। द्वितीय महायुद्ध में जापानियों से पराजित होने वाली चीनी राष्ट्रवादी सरकार की सेनाओं ने पीछे हटने की क्रिया में कुछ तिब्बती भूमि पर अधिकार कर लिया। युद्ध समाप्त होने के उपरान्त तिब्बत ने इस भूमि को वापिस लौटाये जाने की मांग की जिसे ठुकरा दिया गया। १९४९ में चीन में साम्यवादी शासन की प्रस्थापना हुई जिसने अपने साम्राज्यवादी आकांक्षा की पूर्ति के लिए तिब्बत को मनमाने ढंग से चीन का एक परिच्छिन्न तथा अविभाज्य भाग घोषित किया। ७ अक्टूबर, १९५० को तिब्बत की स्वायत्तता का उल्लंघन करते हुए चीन ने उस पर आक्रमण कर दिया। तिब्बती सेनाओं ने थोड़ा बहुत प्रतिरोध किया परन्तु वे चीन की विशाल शक्ति का सामना करने में असमर्थ रहीं। भारत ने चीन को विरोध पत्र

भेजा जिसके उत्तर में कहा गया कि चीन का उद्देश्य तिब्बत को 'साम्राज्यवादी दासत्व' से मुक्ति दिलाना है। चीन ने यह भी लिखा कि तिब्बत संबंधी उसकी कार्यवाही उसका घरेलू मामला है और इस बारे में भारत का विरोध विदेशी प्रभाव के कारण है। इस पर भारत ने ७ नवंबर १९५० को संयुक्त राष्ट्र संघ से सहायता मांगी किन्तु तब तक चीन की पाशविक शक्ति से दब कर तिब्बत स्वयं अपने पर उसका अधिकार मान चुका था। ऐसी अवस्था में संयुक्त राष्ट्र संघ ने भारत के प्रस्ताव पर विचार करना स्थगित कर दिया।

२३ मई १९५१ को चीन और तिब्बत के मध्य निम्नलिखित संधि हुई—

(i) तिब्बत को स्वायत्त शासन का पूर्ण अधिकार होगा और चीन उसके आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(ii) परन्तु तिब्बत के विदेशी संबंधों का दायित्व चीन पर होगा।

(iii) प्रतिरक्षा कार्य को सुदृढ़ बनाने के लिए चीनी सेना तिब्बत में रहेगी वहां की सेना का पुनर्गठन करेगी तथा अन्ततः चीनी सेना में उसको आत्मसात् कर लेगी।

(iv) चीनी सरकार दलाईलामा को उचित सम्मान प्रदान करेगी तथा वे अपने अधिकारों के साथ तिब्बत लौट आयेंगे।

(v) तिब्बत में धार्मिक स्वतन्त्रता रहेगी।

(vi) स्थानीय सरकार द्वारा किए जाने वाले सुधार कार्यों में चीन हस्तक्षेप नहीं करेगा तथा विकास कार्यों में सहयोग देगा।

(vii) जिन तिब्बतियों ने चीनी सेना का साथ दिया है उन्हें दण्डित नहीं किया जायेगा।

(viii) चीन का एक सैनिक तथा प्रशासकीय मण्डल तिब्बत में रहेगा।

परन्तु चीन ने इस संधि के प्रति कोई आदर प्रदर्शित न करते हुए तिब्बत के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने और वहां साम्यवाद का प्रसार करने की नीति जारी रखी। चीन ने तिब्बत की सेनाओं को चीनी सेनाओं में समाविष्ट कर लिया और तिब्बत के लिये कुछ सैनिक समितियों की स्थापना की। अक्टूबर १९५१ में चीनी फौजों ने तिब्बती-भूमि के औद्योगीकरण का बहाना लेकर ल्हासा में प्रवेश किया और देश पर चीनी नियन्त्रण का विस्तार करना शुरू कर दिया। अप्रैल १९५४ में नई दिल्ली ने उदारतावश किन्तु एक महान् राजनीतिक भूल के रूप में तिब्बत पर चीन की सार्वभौमिकता को स्वीकार कर लिया और कुछ व्यापारिक अधिकारों के बदले में वहां से अपनी सैनिक टुकड़ियां वापिस बुलाने की सहमति दे दी।

अब चीनी साम्यवादियों का तिब्बती जीवन के हर पहलू पर नियंत्रण तीव्रगति से बढ़ने लगा। इसके फलस्वरूप १९५६ में पूर्वी तिब्बत के खम

प्रान्त के खम्पा लोगों ने विद्रोह कर दिया। खम्पाओं को यह बात बड़ी अपमानजनक लगी कि चीनी साम्यवादी तिब्बत के पवित्र धर्म और धार्मिक गुरुओं का अपमान करें और साम्यवाद के प्रसार के लिये उनके देशवासियों पर क्रूर अत्याचार करें। चीन द्वारा खम्पाओं के इस विद्रोह को दबाने के लिये सभी प्रयत्न किये गये। यद्यपि माओ-त्से तुंग ने तिब्बत में क्रांतिपूर्ण शांति स्थापना के लिए जनवादी सुधारों को अस्थायी रूप से स्थगित कर दिया किन्तु फिर भी यह विद्रोह पूरे तिब्बत में व्याप्त हो गया। मार्च १९५९ में ल्हासा में एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसका क्रूरतापूर्वक दमन कर दिया गया और दलाई लामा को जिन्हें तिब्बती जनता अपना सर्वस्व और ईश्वर का अवतार मानती है तिब्बत छोड़ कर भारत में शरण लेनी पड़ी। २८ मार्च को तिब्बत की सरकार भंग कर दी गई और उसके स्थान पर १९ सदस्यों की एक 'तिब्बत के स्वराज्य प्राप्त क्षेत्र के लिये प्रारम्भिक समिति' स्थापित की गई जिसके प्रधान पंचनलामा बनाये गये और जिसमें चार चीनी अधिकारियों को भी सम्मिलित किया गया। तिब्बत में साम्यवादी चीन के दमन चक्र की समग्र विश्व में निन्दा हुई और दलाईलामा के पलायन पर बड़ी चिंता व्यक्त की गई। चीन ने हजारों निर्दोष तिब्बतियों को जेल में डाल दिया और उनकी सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया। ल्हासा शिगत्से और ग्यानत्से चीनियों के गढ़ बन गये। तिब्बत के धार्मिक संस्थान सैनिक शिविरों में परिवर्तित कर दिये गये। सितम्बर १९५९ में दलाईलामा ने संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव को एक तार भेज कर औपचारिक रूप से इस बात का आग्रह किया कि संघ तिब्बत की जनता पर अमानुषिक अत्याचार तथा मानवता व धर्म के प्रति अनाचार एवं अत्याचार के विरुद्ध हस्तक्षेप करे। २१ सितम्बर को आयरलैण्ड और मलाया द्वारा प्रस्तुत एक प्रस्ताव में यह आग्रह किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ तिब्बती जनता को धार्मिक और नागरिक स्वतंत्रताएं पुनः दिलाये। महासभा द्वारा इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया। चीन में इसके विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई और पेकिंग सरकार ने इसे अवैध एवं कलंकित करने वाला प्रस्ताव की संज्ञा दी। ५ जून १९६० को अन्तर्राष्ट्रीय 'स्मृतिज्ञ आयोग' (The International Commission of Jurist) ने अपनी एक रिपोर्ट प्रकाशित की जिसमें स्पष्ट रूप से यह आरोप लगाया गया कि पेकिंग सरकार तिब्बती जनता के राष्ट्रीय जातीय और धार्मिक दल को पूर्णतः नष्ट करने का प्रयास कर रही है। इसी बीच चीन सरकार ने तिब्बत को भी अन्य राज्य का एक प्रान्त बना दिया और वहां भारतीय व्यापारियों के व्यापार पर भारी रोक लगा दी। इस सम्बन्ध में भारत सरकार द्वारा भेजे गये विरोधपत्रों को रद्दी की टोकरी में डाल दिया गया। १० दिसम्बर १९६५ को संयुक्त राष्ट्र संघ महासभा में एक प्रस्ताव द्वारा तिब्बती जनता के मौलिक अधिकारों और उसकी स्वतन्त्रता के हनन पर दुःख व्यक्त करते हुए चीन से दमनकारी कार्यवाही समाप्त करने का अनुरोध किया किन्तु चीन द्वारा संयुक्त राष्ट्र महासभा की इस कार्यवाही को साम्राज्यवादियों के षड्यन्त्र की संज्ञा दी गई और उद्घोषित किया गया कि संघ की इस प्रकार की कार्यवाही चीन के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप है। तिब्बत चीन के साम्राज्यवादी शिकंजे में फंसता चला गया। चीन ने पंचनलामा को भी सब पदों से वंचित

कर दिया और उसे एक तिब्बती लड़की से विवाह करने को बाध्य किया।

चीन तिब्बत में अन्यायपूर्ण ढंग से चाहे कितना ही अधिकार जमा लें किन्तु उसे यह कभी नहीं भूलना चाहिये कि तिब्बत सदा से एक स्व-शासित देश रहा है और एक न एक दिन वह चीन से अपनी स्वाधीनता वापिस छीन कर ही दम लेगा। आज चीन तिब्बत की संस्कृति परंपरा और इतिहास को मिटाने पर तुला हुआ है किन्तु तिब्बती जनता अपने प्राणों को होम करके भी चीन के इस स्वप्न को पूरा नहीं होने देगी। तिब्बत के मूलभूत मानव अधिकारों की रक्षा के लिये जिसके लिये संयुक्त राष्ट्र संघ वचनबद्ध है कोई सक्रिय कदम अवश्य उठाना चाहिये।

इस प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि भारत के विरोधी दलों ने साम्यवादी चीन द्वारा तिब्बत के इस अपहरण के लिये स्वर्गीय नेहरू और उनकी सरकार को दोषी ठहराया। विरोधियों का तर्क है कि ब्रिटिश शासन काल में भारत को तिब्बत में व्यापार आदि की कुछ सुविधायें प्राप्त थीं जिन्हें नेहरू सरकार ने सन् १९५४ में चीन के प्रति अपनी मित्रता की बलि-वेदी पर चढ़ा दिया। भारत द्वारा १९५४ में चीन से किया गया तिब्बत संबंधी समझौता वस्तुतः चीन द्वारा तिब्बत के अपहरण पर भारत द्वारा स्वीकृति की मोहर सिद्ध हुआ। भारत की कमजोरी का लाभ उठा कर ही साम्यवादी चीन ने तिब्बत का नग्न रूप से अपहरण किया। आलोचकों का कहना है कि भारत को अपने यहां दलाईलामा को शरण देने के साथ-साथ उनकी निष्कासित सरकार (Emigre Government) को भी मान्यता देकर उनको अपना प्रदेश वापिस दिलाने में सहायता करनी चाहिए थी।

बर्मा थाईलैण्ड कोरिया, हिन्दचीन, इण्डोनेशिया आदि देशों के साथ साम्यवादी चीन के जो वैदेशिक संबंध रहे हैं उन पर इन विभिन्न देशों की विदेश-नीति की चर्चा करते समय पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। चीन के संदर्भ में निष्कर्ष रूप में केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि वह एक शक्तिशाली युद्धप्रिय हिंसात्मक और विस्तारवादी देश है जिसके इरादे अच्छे नहीं हैं। उसके विरुद्ध अपनी स्वतन्त्रता शान्ति एवं सम्मान को बनाये रखने के लिए एशिया और अफ्रीका के गैर-साम्यवादी देशों के लिए यह अनिवार्य है कि वे तुरन्त ही अपनी उन कमजोरियों को दूर कर लें जिनसे अप्रत्यक्ष आक्रमण को प्रोत्साहन प्राप्त होता है। दूसरी ओर उन्हें अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने की ओर भी पर्याप्त ध्यान देना चाहिए, क्योंकि चीन के विरुद्ध किसी भी देश की आर्थिक प्रगतियां तभी सुरक्षित रह सकती हैं जबकि वह देश सैनिक दृष्टि से चीन के विस्तारवादी इरादों का मुंहतोड़ उत्तर देने के लिए सक्षम हो। आर्थिक और सैनिक प्रगति के दोनों कार्यों की साधना में यह उचित रहेगा कि एशिया और अफ्रीका के राष्ट्र एक दूसरे के साथ सहने की अपेक्षा सहयोग करके चलें। कुछ विचारकों का मत है कि इन देशों की आपातानुभूत कमजोरियों की सबसे अच्छी औषधि यह है कि वे अपने आर्थिक एवं राजनीतिक एकीकरण की दिशा में सामुदायिक क्षेत्रीय प्रगति करें।

चीन की सांस्कृतिक क्रान्ति
(Cultural Revolution)

साम्यवादी चीन के अन्तर्राष्ट्रीय सबंधों के सबंध में चीन की वर्तमान सांस्कृतिक क्रान्ति का संक्षिप्त विवरण देना सर्वथा प्रासंगिक होगा क्योंकि किसी भी देश की गृह-नीति बहुत कुछ उसकी विदेश-नीति को प्रभावित करती है।

१८ वर्ष पहले १९४९ में माओ ने चीनी गणराज्य की स्थापना की घोषणा की। उसने देश की जनता से अपील करते हुए कहा कि यदि प्रत्येक चीनी कड़ी मेहनत करे और त्याग की भावना का परिचय दे तो चीन शीघ्र ही अपना मध्यकालीन गौरव प्राप्त कर लेगा। माओ ने अपनी नीतियों और विचारों से यह स्पष्ट कर दिया कि वह एक ऐसा आदर्शवादी है जो लोगों की दशा सुधारने की अपेक्षा उनके स्वभाव को बदलने में विश्वास करता है।

सत्ता पाने के साथ ही माओ ने चीनी जनता को पूरी तरह बदल डालने का सपना देखा। यह मानते हुए भी कि इस काम में पूरी दो शताब्दियां लगेंगी माओ ने अपने सपने को साकार करने की कोशिश की। उसने न केवल उद्योगतन्त्रवादियों शिक्षाविदों और भूतपूर्व शासकों के वंशजों के उत्थान को रोकने का दृढ़ संकल्प किया बल्कि वर्ग-भेद को मिटा कर एक नीरस समाज की रचना करने का फैसला किया। माओ ने अपने साथियों को बताया कि क्रान्ति को जीवित रखने और साम्यवाद लाने का यही एक रास्ता है।

माओ का यह सपना इतना सनकपूर्ण और अव्यावहारिक था कि विदेशियों के साथ ही अनेक चीनी नागरिक और नेता भी उसे पागल समझने लगे। हालांकि चीन ने औद्योगिक व सैनिक क्षेत्र में तीव्र प्रगति की लेकिन इस सब के बावजूद माओ को नीरस समाज बनाने में सफलता नहीं मिली। १९५८ से ही छिपे-छिपे माओ की इस सनक का विरोध होने लगा। इन विरोधियों में सेना के अधिकारी सरकार की योजना निर्माता और पार्टी के पदाधिकारी सभी थे। १९६२ में माओ को इस विरोध की स्पष्ट अनुभूति हुई। अतः वह अपनी शक्ति संगठित करने के लिए पेकिंग छोड़ कर शंघाई चला गया और नवम्बर १९६५ में उसने अपने विरोधियों का सफाया करने के लिए एक जोरदार अभियान चलाया जिसका पता अप्रैल १९६६ में सारे संसार को चल गया जबकि लाल रक्षकों ने अपनी कार्यवाही खुले रूप में प्रारंभ की। १० अप्रैल १९६६ को चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई ने इस अभियान को प्रथम एक सरकारी भाषण में—'महान सर्वहारावर्गीय सांस्कृतिक क्रांति" (Great Proletarian Revolution) की संज्ञा दी। इस सांस्कृतिक क्रांति का श्रीगणेश करते हुए चाऊ ने घोषणा की कि बौद्धिक शैक्षणिक तथा साहित्य और संस्कृति के सभी क्षेत्रों में पूंजीवादी विचारधारा (Bourgeois Ideology) के समूलोन्मूलन का उग्र एवं तीव्र प्रयास करने की आवश्यकता है। यह कहा गया कि इस महान सांस्कृतिक क्रान्ति का

उद्देश्य ऐसे बुद्धिजीवियों का प्रबल प्रतिवाद करना है जो सामन्तवादी (Feudal) पूंजीवादी (Bourgeois तथा संशोधनवादी (Revisionist) विचारों का प्रचार कर रहे हैं।

माओ ने एक नई शक्ति के निर्माण और पार्टी के भीतर अपने विरोधियों का सामना करने की दृष्टि से रक्षामन्त्री लिन पियाओ को अपने विश्वास में ले लिया। लिन पियाओ कट्टर माओवादी है। माओ को उम्मीद थी कि सत्ता के लिए होने वाले किसी भी संघर्ष में लिन पियाओ की मदद से २५ लाख सैनिक उनका साथ देंगे। लिन पियाओ ने एक स्वामिभक्त की तरह माओ के अभियान की बागडोर संभाल ली। इसके साथ ही माओ ने महान् सांस्कृतिक क्रांति का नारा बुलन्द किया और बड़े साहस तथा विश्वास के साथ पिछले वर्ष सारे हाईस्कूल ६ महीने के लिए बंद करने की घोषणा कर दी ताकि उनमें पढ़ने वाले लगभग दो करोड़ युवक लालरक्षकों की सूची में अपना नाम लिखा सकें। सांस्कृतिक क्रांति के नाम पर गठित लालरक्षकों की इस सेना ने पीकिंग और दूसरे शहरों में माओ तथा लिन पियाओ के विरोधियों को प्रताड़ित करना शुरू कर दिया।

महान सर्वहारा वर्गीय सांस्कृतिक क्रांति की ओट में अपने राजनीतिक विरोधियों का शिकार करने का जो अभियान माओ ने चलाया उसमें अनेक उच्च सत्ताधारी व्यक्तियों को पदच्युत कर दिया गया। इस प्रकार पदच्युत किये जाने वाले व्यक्तियों में पीकिंग-साम्यवादी दल के सचिव पौ चेंग-चेन (Peng-Chen) सांस्कृतिक विषयों के मन्त्री तथा उप प्रधान मन्त्री लू तिंग-यी (Lu Ting-Ye) सेना में जनरल स्टॉफ के अध्यक्ष लो-जुई चिंग (Lo-Jui-Ching) तथा राष्ट्रपति लिउ-शाओ-ची के नाम उल्लेखनीय हैं।

समय के साथ लालरक्षकों की गतिविधियां जोर पकड़ती गयीं और १९६६ का अन्त होते होते उन्होंने व्यापक रूप धारण कर लिया। जनवरी १९६७ तक यह सांस्कृतिक क्रांति लाल रक्षकों द्वारा इतने अधिक उग्ररूप में होने लगी कि कई स्थानों पर इसने गृहयुद्ध का रूप धारण कर लिया तथा माओ समर्थकों एवं माओ विरोधियों में गुत्थम गुत्था भीषण संघर्ष होने लगा। फरवरी १९६७ में चाऊ-एन-लाई ने इस क्रांति के अग्रदूत लालरक्षकों (Red-Guards को विश्वविद्यालयों स्कूलों और खेतों पर वापिस जाने का आदेश देकर इस क्रांति की भयंकरता को कम करने का असफल प्रयास किया। स्वयं माओ लालरक्षकों के क्रिया-कलापों से चिंतित हो गया किन्तु फिर भी उसने अपनी सांस्कृतिक क्रांति की इति-श्री करना उचित नहीं समझा।

लाल रक्षकों की हरकतों से माओ विरोधी शिविर में खलबली मच गयी और आत्मरक्षा के उपाय खोजे जाने लगे। आम चीनी भी सांस्कृतिक क्रांति के वास्तविक अर्थ को समझ गया, क्योंकि शक्ति के मद में चूर लाल

रक्षकों को अपने अतिरिक्त और सभी माओ विरोधी नजर आये और उन्होंने उन सबको एक ही डंडे से हांकना चाहा। इसका स्वाभाविक परिणाम यह निकला कि माओ विरोधियों का भी एक सगठित मोर्चा बन गया जिसे जनता और सेना के एक मजबूत पक्ष का समर्थन मिल गया। वास्तव में चीनी जनता और सम्पूर्ण विश्व को इस बात से बड़ा आश्चर्य हुआ कि चीन में साम्यवादी क्रांति को १९४९ में सफल बनाने और ७ वर्ष तक इसके सिद्धान्तों को क्रियात्मक रूप देने के बाद माओ और उसके साथियों को एक नवीन क्रांति करने की और यह घोषणा करने की आवश्यकता प्रतीत हुई कि जनता को 'क्रांति की रक्षा करने के लिये सत्तारूढ़ व्यक्तियों के विरुद्ध विद्रोह करना चाहिये। चीनी जनता और संपूर्ण साम्यवादी जगत के लिये सांस्कृतिक क्रांति की यह एक अनोखी व्याख्या थी। चीन की सामान्य जनता को तब बड़ी हैरानी हुई जब उसने देखा कि उपरोक्त संघर्ष में एक ओर चीन पर शासन करने वाले साम्यवादी प्रधान माओत्सेतुङ्ग और प्रधान सेनापति लिनपियाओ हैं तथा दूसरी ओर साम्यवादी चीन के राष्ट्रपति लिऊ-शाओ-ची साम्यवादी दल के महामन्त्री तथा नीति निर्धारक संस्था (Politbureau) के सचिवालय के अध्यक्ष तेंगहसियाओ पिंग (Teng–Hsiao-Ping) और माओ लिन तथा चाऊ के बाद चीन में चौथा स्थान रखने वाले पेंगचेन जैसे महारथी हैं।

इस अनोखी सांस्कृतिक क्रांति बनाम विरोधी-सफाया क्रांति' से चीनी जनता को स्पष्ट हो गया कि यद्यपि माओ चीन की समृद्धि की बात करता है, लेकिन उसका वास्तविक लक्ष्य चीन की सम्पन्नता नहीं है। वह उग्र क्रांति का हिमायती है और सैनिक शक्ति के बल पर पूर्णत: एक माओ समर्थक समाज' की रचना करना चाहता है। माओ के सिद्धान्तों का प्रचार करने वाले समाचार पत्र रक्त-ध्वज' (Red Flag) ने स्वयं घोषणा की कि—'यह संघर्ष उन व्यक्तियों से अधिकार और सत्ता छीनने के लिये है जो माओ विरोधी सिद्धान्तों का अनुसरण कर रहे हैं। इनसे सत्ता इसलिये छीनी जानी चाहिये कि ये पूंजीवादी मार्ग पर चल पड़े हैं।" इसमें कोई संदेह नहीं कि माओ को अपने सिद्धान्तों को सुरक्षित बनाये रखने की चिंता ने पागल बना दिया है। माओ स्वयं अपनी आंखों से यह देख चुका है कि रूस में स्टॉलिन के मरने के बाद वहां किस प्रकार उसकी भर्त्सना हुई और उसके सिद्धांतों में संशोधन हुआ तथा रूस ने मार्क्स और लेनिन के मूल सिद्धान्तों की व्यावहारिक दृष्टि से उपेक्षा कर दी। माओ सशंकित है कि उसके मरने के बाद माओ वाद' को उसके विरोधी कब्र में ही दफना देंगे। इसीलिये वह चाहता है कि अपने जीवन काल में ही अपने विरोधियों का सफाया करके वह अपने माओ उत्तराधिकार को सुरक्षित बना ले। यह उल्लेखनीय है कि माओ ने ५८ वर्षीय प्रधान राष्ट्रपति लिनपियाओ को अपना उत्तराधिकारी चुना है। पुनश्च माओ सतत क्रांति' (Uninterrupted Revolution) के सिद्धांत का समर्थक है। माओ और उसके साथियों को आशंका है कि रूस की भांति चीन में भी पुनर्योजावादी शक्तियों से समझौता करके सहअस्तित्व की बात करने वाले दक्षिणपंथी प्रबल हो रहे हैं जिन्हें रोकने के लिए क्रांति की उग्रता और प्रबलता सतत बनाये रखनी चाहिये। माओ के अनुसार साम्राज्य

क्रांति शाश्वत आवश्यकता (Enternal Vigilianco) की प्रतीक है। यह चीनी समाज में उत्पन्न होने वाली पूंजीवादी प्रवृत्तियों के दमन का और साम्यवादी क्रांति को विभिन्न मलिनताओं और दोषों से मुक्त रखने वाला उग्र संघर्ष है।

माओ ने उपरोक्त विभिन्न कारणों से प्रेरित होकर जिस भयावह सांस्कृतिक क्रांति का सूत्रपात किया उसने सम्पूर्ण चीन में अशांति और अराजकता पैदा कर दी। चीन की मुख्य भूमि और उसके बाहर अनेक स्थानों पर लाल रक्षकों की गतिविधियों का प्रतिरोध होने लगा। कई प्रांतों में माओ विरोधी सेना ने शासन की बागडोर अपने हाथों में सम्भाल ली। अनेक स्थानों पर किसानों और मजदूरों ने लाल रक्षकों की पिटाई की। जब लाल रक्षकों को समठित विरोध का सामना करना पड़ा तो उनके शिविर में तहलका मच गया। माओ का दिखाया रास्ता ही सही है, इस विश्वास से अन्धे बने लाल रक्षक पिटने के बाद भी स्थिति की वास्तविकता न भांप सके और अपनी असफलताओं के लिये एक दूसरे पर कीचड़ उछालने लगे। अगर तू वैसा न करता तो ऐसा नहीं होता की भावना ने उनके अपने घर में आग लगा दी और वे आपस में ही लड़ने झगड़ने लगे।

माओ की सांस्कृतिक क्रांति ने अनेक रंग लिये। अगस्त १९६६ को पेकिंग में सांस्कृतिक क्रांति के महोत्सव के लिये दस लाख व्यक्तियों का जन समूह एकत्र हुआ। इसके बाद लाल रक्षकों ने पूंजीवादी तथा सोवियत संशोधनवादी समझे जाने वाले सभी रीति-रिवाजों और धर्म के विरुद्ध प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिये। माओ और लिन पियाओ अनिश्चित काल के लिये चीन के सभी स्कूलों और विश्व विद्यालयों को बन्द करके लगभग दो करोड़ बीस लाख की विशाल बालर सेना (छात्र) का निर्माण कर चुके थे और इसे माओ का सन्देश फैलाने व पूंजीवाद का विध्वंस करने का कार्य सौंप चुके थे। अब इस छात्र-सेना ने सारे चीन में क्रांति का एक अजीब तमाशा बना दिया। इन लाल रक्षकों ने दुकानदारों को पश्चिमी ढंग के वस्त्र बेचने से तथा पश्चिमी ढंग के बाल काटने से मना किया नवयुवकों की तंग मोरी की पतलूनों को चाकू से चीरना शुरू किया स्त्रियों को लहरदार बाल रखने से मना किया किताबों की दुकानों में उपन्यासों व राजनीतिक साहित्य के स्थान पर माओ की रचनाओं को रख दिया कुत्तों और डाक टिकिटों की दुकानों को बन्द कर दिया तथा सुगन्धित पदार्थों व प्रसाधन द्रव्यों की बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा दिया। लाल रक्षकों द्वारा दीवारों पर लगाये गये पोस्टरों में कहा गया कि माओ की रचनाओं से भिन्न मत रखने वाली रचनाओं को जला देना चाहिये। मोटर गाड़ियों में निजी गाड़ियों में और रेल की प्रथम श्रेणी में यात्रा करने की निन्दा की गई। रिक्शाओं में इस खींचने वाले के स्थान पर सवारी का तथा सवारी के स्थान पर खींचने वाले को बिठा कर श्रम की श्रेष्ठता को प्रतिपादित किया गया। और तो और उद्यानों में विहार करने वाले तथा प्रेम-पत्र लिखने वाले दम्पत्तियों की निन्दा की गई, पेकिंग के प्रोटेस्टेंट और कैथोलिक चर्च बन्द कर दिये गये तथा धार्मिक चित्रों और मूर्तियों

को नष्ट करके इनके स्थान पर माओ के चित्र और लाल झंडे लगाये गये।

लाल रक्षकों का अमानुषिक आन्दोलन अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गया और दूसरी ओर विरोधियों का पलड़ा भी भारी होने लगा। आज स्थिति यह है कि सम्पूर्ण चीन माओ विरोधियों और माओ-समर्थकों का संघर्ष स्थल बना हुआ है। चीन में अब माओ का विरोध सतही नहीं है और उसे केवल कुछ प्रतिक्रियावादियों का विरोध कह कर उपेक्षित नहीं किया जा सकता। माओ के विरोधियों में चीनी साम्यवादी पार्टी के कुछ ऐसे नये हुए नेता शामिल हैं जिन्होंने माओ के कंधे से कंधा भिड़ा कर चीनी क्रांति में भाग लिया था। आज ये नेता चीन से माओ की जड़ें खोद फेंकने के लिये कटिबद्ध हैं। हालात को देखते हुए यह आभास मिलता है कि उन्हें इस काम में कामयाबी मिलेगी। कुछ पक्षों की मान्यता है कि चीन में होने वाला संघर्ष छोटे छोटे गुटों का संघर्ष है बड़े पैमाने पर होने वाला गृह युद्ध नहीं। जो भी हो चीन के बाहर से चीन के बारे में मिलने वाली खबरें यही बताती हैं कि वहाँ गृह युद्ध की नौबत आ गई है।

चीन की वर्तमान उथल-पुथल का तात्कालिक प्रभाव यही पड़ा है कि जहाँ एक ओर राजनीतिक क्षेत्र में उसका प्रभाव कम हुआ है वहाँ दूसरी ओर कुछ समय के लिए उसका आर्थिक विकास भी रुक गया है। कुछ विशेषज्ञों का मत है कि इस उथल-पुथल के कारण अगले दो-तीन वर्षों तक चीन कोई आर्थिक प्रगति नहीं कर सकेगा और हो सकता है कि उसकी आर्थिक दशा पर गम्भीर विपरीत प्रभाव पड़े। सम्भवतः माओ इस स्थिति से चिन्तित है। लेकिन फिर भी लाल रक्षकों की क्रांति का अन्त करने का उसका इरादा नजर नहीं आता। माओ का इरादा इसे गाँव-गाँव में पहुँचाने का है। माओ की सांस्कृतिक क्रांति का अन्तिम दृश्य अभी भविष्य के गर्भ में है लेकिन एक बात साफ उभर कर सामने आ गई है कि चीन की राजनीतिक स्थिति पहिले जैसी कभी नहीं होगी और चीनी साम्यवादी पार्टी की एकता की हवा सदा-सदा के लिये खत्म हो गई है। युवा-वर्ग को क्रांति के लिये उकसा कर माओ ने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया है जिस पर काबू पाना कठिन साबित होगा। इसके अतिरिक्त क्रांति में सेना को उलझा कर माओ ने अपनी स्थिति को संकटमय बना लिया है। ऐसी हालत में कान्न टैसर के इन शब्दों में काफी वजन है कि—"चीन की वर्तमान उथल-पुथल का तात्कालिक परिणाम चाहे कुछ भी क्यों न हो लेकिन इससे माओवाद की मौत का—न केवल ७५ करोड़ चीनियों के लिये बल्कि सारी दुनियाँ के लिए—संकेत मिलता है।"

हांगकांग
(Hongkong)

चीन की मुख्य भूमि के काफी निकट हांगकांग का द्वीप स्थित है। वर्तमान हांगकांग की सीमायें एक चीनी गाँव को दो भागों में बाँटती हैं। लगभग सवा सौ वर्ष पहिले हांगकांग एक बंजर पथरीला टापू था जहाँ न

तो कोई उद्योग था और न उसका कोई राजनीतिक महत्व। अफीम युद्ध के बाद तत्कालीन चीनी सरकार ने इस द्वीप को १८४२ के नार्नकिंग-समझौते के अन्तर्गत ब्रिटेन के हवाले कर दिया। तब से आज तक यह अग्रेजों के ही अधीन रहा है। इस भू-क्षेत्र में स्वयं हांगकांग द्वीप के अतिरिक्त कुछ पड़ोसी द्वीप—कोलून प्रायद्वीप (Kowloon Peninsula) तथा 'नवीन प्रदेश' (New Territories)—भी सम्मिलित हैं। ब्रिटेन का एक उपनिवेश बन जाने पर हांगकांग शीघ्र ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का एक महत्वपूर्ण केन्द्र बन गया और सुदूर पूर्व में ब्रिटेन के हितों की सुरक्षा की दृष्टि से इसकी महत्ता में काफी वृद्धि हुई। ३१ वर्गमील क्षेत्र का यह टापू औद्योगिक रूप से आज एशिया के सबसे विकसित क्षेत्रों में से है जहां लगभग ८५०० कारखाने चल रहे हैं। सम्पूर्ण हांगकांग की कुल आबादी ३८ लाख के करीब है। हांगकांग में निर्मित वस्तुओं का निर्यात १५% से बढ़ कर अब ७७% हो गया है। कपड़ा-उत्पादन जहाज निर्माण कृषि और मछली-व्यापार अब भी यहां के मुख्य उद्योग हैं। हांगकांग यूरोपियन और पूर्वी व्यापारियों के लिए एक विशाल बाजार का काम देता है क्योंकि हांगकांग प्रशासन ने इसे स्वतन्त्र व्यापार क्षेत्र बना रखा है अत यहां व्यापार की गति जितनी तेज है उतनी शायद ही किसी अन्य नगर में हो। ब्रिटेन के लिए यह उपनिवेश व्यापारिक दृष्टि से तो महत्वपूर्ण है ही राजनीतिक दृष्टिकोण से आवश्यक भी है। सम्पूर्ण हांगकांग में जनसंख्या और व्यापारिक संस्थान इतने घनिष्ठ हैं कि कृषि के लिए पर्याप्त भूमि नहीं मिलती। इसलिए खाद्य-पदार्थों की दृष्टि से हांगकांग-निवासी मुख्यतः चीन की मुख्य भूमि पर ही निर्भर हैं। चीन से प्रतिदिन हजारों किसान अपनी चीजें बेचने के लिए हांगकांग पहुंच जाते हैं। चीन निर्यात योग्य अनेक वस्तुओं को हांगकांग के बाजार से ही बाहरी विश्व को बेचता है। खाद्य पदार्थों के अतिरिक्त पानी के बारे में भी हांगकांग चीन की मुख्य भूमि पर ही निर्भर है। इसलिए व्यावहारिक दृष्टि से प्रशासन को छोड़ कर हांगकांग और चीन में विशेष अन्तर नहीं है। चीन में जो कुछ होता है उसका प्रभाव हांगकांग पर पड़ना अवश्यम्भावी है। एक कहावत के अनुसार—'जब चीन छींक लेता है तो हांगकांग कांप उठता है।' हांगकांग की राजधानी विश्व के श्रेष्ठतम बंदरगाहों में से है। चीनी नगर केंटन से ९१ मील दूर विक्टोरिया बंदरगाह आधुनिक सभ्यता वाणिज्य और उद्योग का एक अच्छा उदाहरण है।

हांगकांग के राजनीतिक इतिहास की दृष्टि से हमने देखा कि १८४२ में चीन द्वारा यह द्वीप ब्रिटेन को हस्तांतरित किया गया। लगभग सौ वर्ष तक ब्रिटिश आधिपत्य में रहने के बाद द्वितीय महायुद्ध के दौरान दिसम्बर १९४१ से अगस्त १९४५ तक जापानियों ने इस पर अधिकार कर लिया। १९४५ में जापान की पराजय के पश्चात् ब्रिटिश लोग हांगकांग में फिर से दिखाई दिये और शीघ्र ही उन्होंने वहां अपना प्रभुत्व पुनः स्थापित कर लिया। इस सम्बन्ध में ब्रिटेन द्वारा चीन के तत्कालीन राष्ट्रवादी शासकों के विरोध की कोई परवाह नहीं की गई उल्टे ब्रिटिश-सरकार ने हांगकांग पर अपना नियन्त्रण पहले से भी अधिक मजबूत बनाने का निश्चय किया।

१९४९–५० में साम्यवादियों द्वारा मुख्य चीन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर लेने के उपरान्त ब्रिटिश सरकार ने और भी अधिक सचेत होकर कदम उठाये। सन् १९५० के प्रारम्भ में ही ब्रिटेन ने साम्यवादी चीन को कूटनीतिक मान्यता प्रदान कर दी और यह भी घोषणा की कि ब्रिटिश लोगों के हांगकांग में व्यापारिक हित हैं उनका वहां रह कर किसी को किसी प्रकार की हानि पहुंचाने का इरादा नहीं है। ब्रिटेन ने अमेरिका के इस सुझाव को भी स्वीकार नहीं किया कि चीन के विरुद्ध हर प्रकार के व्यापारिक प्रतिबंध लगाये जाय। तथापि संयुक्त राष्ट्र संघ के एक प्रस्ताव के अनुपालन में उसने चीन के विरुद्ध सैनिक महत्व के व्यापार पर अवश्य प्रतिबंध लगाये।

साम्यवादी चीन ने कई बार ब्रिटेन से हांगकांग को छीनने की धमकी दी, किन्तु उसने अपनी धमकी को कार्यान्वित करने की चेष्टा कभी नहीं की। फारमोसा से राष्ट्रवादी सरकार ने भी हांगकांग पर अपने दावे को बराबर दुहराना जारी रखा और कई बार वहां के आन्तरिक उपद्रवों को उत्तेजित तथा प्रोत्साहित किया। अक्टूबर १९५६ में हांगकांग के मुख्य भू क्षेत्र काउलून नामक स्थान पर गम्भीर उपद्रव हुए और यह आरोप लगाया गया कि ये दंगे 'राष्ट्रवादियों द्वारा भड़काये गये थे। ब्रिटिश अधिकारियों ने उपद्रवों का सख्ती से दमन करते हुए चीन-वासियों को चेतावनी दी कि "दक्षिणी पूर्वी एशिया में विश्व के स्वतन्त्र हितों के प्रहरी हांगकांग की रक्षा के लिए ब्रिटेनवासी मृत्युपर्यन्त लड़ेंगे।"

१९५६ के बाद हांगकांग में छुटपुट उपद्रव होते ही रहे। लेकिन मई १९६७ से वहां गम्भीर उपद्रवों की शुरूआत हो गई। लगभग ३ सप्ताह तक सम्पूर्ण हांगकांग साम्यवादियों द्वारा किये गये उपद्रवों से अभिशप्त रहा। स्वयं हांगकांग टापू में माओवादियों ने शहरों के उस क्षेत्र में हिंसा और आगजनी शुरू कर दी जहां ब्रिटिश तथा अमेरिकन नागरिक रहते हैं। ब्रिटिश प्रशासन ने लगभग १००० साम्यवादियों को गिरफ्तार किया। उपद्रवों पर काबू पाने से पहले मुख्य भूमि के चीनियों की एक ब्रिटिश सैनिक शिविर पर गोलाबारी भी हुई परन्तु ब्रिटिश सैनिकों और गोरखों ने चीनियों को वापिस भगा दिया। इन उपद्रवों के बाद से हांगकांग में अभी तक पूर्ण तनाव की स्थिति बनी हुई है और मुख्य भूमि से चीनी जब तब गोलाबारी शुरू कर देते हैं।

चीनी पक्ष

हांगकांग में दंगे फसाद करवा कर चीन क्या लाभ प्राप्त करना चाहता है—इसका निश्चित उत्तर भविष्य के गर्भ में है। हांगकांग का स्वतंत्र रहना में अंग्रेजों का स्वार्थ निहित है किन्तु आर्थिक रूप से चीन का भी इसमें भारी लाभ है। चीनी नागरिक यहां मांस सब्जियां और अन्य उपभोग्य वस्तुएं बेचते हैं। कुल मिला कर चीन को हांगकांग से ७० करोड़ डालर की वार्षिक आय विदेशी मुद्रा में मिलती है। चीन को इस विदेशी मुद्रा की

सख्त जरूरत है विशेषकर तब तक जब तक कि उसे खाद्यान्नों और मशीनी सामान के आयात पर प्रति वर्ष करोड़ों डालर खर्च करने पड़ते हैं। इसलिए ऊपर से यह अनुमान न तो ठीक ही है कि चीन से हांगकांग को कोई सैनिक खतरा नहीं है किन्तु गहराई से अध्ययन करने पर पता चलेगा कि चीन हांगकांग पर अपनी निर्भरता को कम करने की कोशिश कर रहा है। इसके अतिरिक्त क्या इस बात में भी तथ्य नहीं कि हांगकांग में माओवादी यदि ऐसी स्थिति पैदा कर दें कि चीन के लिए उन्हें या तो अपमाना या उनसे नाता तोड़ना जरूरी हो जाये तो उस अवस्था में चीन की परिस्थितियाँ हांगकांग के मामले में हस्तक्षेप करने पर विवश करेंगी ? १९६६ के दंगे के बाद भी प्रधान मन्त्री चाऊ-एन-लाई ने कहा था "चीनी सरकार चीन के दरवाजे पर इस किस्म की गड़बड़ बरदाश्त नहीं कर सकती।

जापान
[JAPAN]

पूर्वी एशिया में साम्यवादी चीन के अलावा जापान ही ऐसी प्रमुख शक्ति है जो अन्तर्राष्ट्रीय घटनाचक्र को प्रभावित कर सकने में सक्षम है। जापान एक द्वीप समूह है। प्रशान्त सागर में स्थित इस द्वीप समूह में चार बड़े तथा तीन हजार छोटे द्वीप सम्मिलित हैं। इन सब की कुल लम्बाई उत्तर से दक्षिण तक लगभग १४०० मील है। जापान का क्षेत्रफल १ लाख ४२ हजार वर्गमील है और यहाँ की जनसंख्या अनुमानतः १० करोड़ है।

इस छोटे से देश ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में न केवल सैनिक शक्ति और राजनीति के क्षेत्र में पश्चिम की श्रेष्ठता के दावे की धज्जी उड़ा दी थी बल्कि सम्पूर्ण यूरोप को अच्छी तरह बता दिया था कि पूर्व निष्प्राण नहीं है इसमें साहस शौर्य दूरदर्शिता लगन और क्षमता है। १९वीं शताब्दी के अन्तिम भाग में आक्रमणकारी राष्ट्र के रूप में जापान ने साम्राज्यवादी शराब का स्वाद चख लिया। इस मधुपान से उसकी प्यास बुझी नहीं उल्टे और बढ़ती गई मंचूरिया और कोरिया के प्रश्न को लेकर १९०४–५ में जापानियों के हाथ रूसी सेनाओं की जो दुर्गत हुई उससे जापान के साहस और महत्वाकांक्षा की कोई सीमा न रही। प्रथम महायुद्ध के दौरान जर्मनी अधिकृत प्रशान्त द्वीपों पर भी उसने कब्जा कर लिया। १९३२ से ही जापान की वास्तविक शासन सत्ता सैनिकवादियों के हाथों में आ गई और चीन जैसे विशाल भूखण्ड पर अपना अधिकार कर तथा उसके समस्त साधन स्रोतों का उपयोग कर जापान समस्त एशिया महाद्वीप का एकछत्र शासक बनने का स्वप्न देखने लगा। मंचूरिया पर पूरी तरह अपना कब्जा जमा लेने के बाद नवम्बर १९३६ में उसने धुरी राष्ट्रों से संधि करके चीन पर अपना कब्जा जमाने की पूरी तैयारी कर ली। जापानी सेनाओं ने पूरे जोर शोर से चीन पर हमला बोला परन्तु मित्रराष्ट्रों—विशेषकर अमेरिका द्वारा चीन को आर्थिक और सैनिक सहायता करने के फलस्वरूप जापानियों के इरादे पूरी तरह सफल न हो सके। इसी बीच तृतीय महायुद्ध छिड़ गया और दिसम्बर १९४१ में पर्लहार्बर पर भयंकर बम वर्षा करके जापान ने

अमेरिका के विरुद्ध खुले युद्ध की घोषणा कर दी। महायुद्ध-काल में प्रशान्त क्षेत्र में सभी देशों पर जापानी सेनायें टिड्डी दल की भाँति छा गयी और कुछ समय तक के लिए प्रशान्त व हिन्द महासागर पर जापानी नौसेना का पूरी तरह प्रभाव जम गया। किन्तु १९४२ से ही हवा का रुख बदलने लगा। अब मित्र राष्ट्रों का सितारा चढ़ने लगा और अन्त में अणु बमों की प्रलयकारी शक्ति के सामने जापान ने घुटने टेक दिये। लगभग एक सदी पूर्व साम्राज्य की जिस प्यास से जापान का हृदय छोम गया था उसका अन्तिम परिणाम मानो जापानवासियों के कारुणिक अन्त के रूप में सामने आया। २ सितम्बर १९४५ को जापान ने आत्म समर्पण की अन्तिम शर्तों पर विधिवत् हस्ताक्षर कर दिये।

जापान पर मित्र राष्ट्रों का नियंत्रण

आत्म समर्पण करने के ४ मास बाद ही जापान ने अपने आपको पूरी तरह 'पश्चिम' के विशेषकर संयुक्त राज्य अमरिका के कब्जे में पाया। यद्यपि वैधानिक दृष्टि से जापान पर अन्तर्राष्ट्रीय नियंत्रण था लेकिन व्याव हारिक रूप में यह नियंत्रण वैधानिक समझौतों की सीमाओं के अन्दर अमरिका का ही था। दिसम्बर, १९४५ में मास्को में जापान के लिए एक संयुक्त परिषद' (Allied Council for Japan) की रचना की गई। इसमें अमेरिका ब्रिटेन रूस और चीन के प्रतिनिधियों की व्यवस्था हुई और इसकी अध्यक्षता जनरल मैकार्थर को सौंपी गई। उसे 'मित्र राष्ट्रों के सर्वोच्च समादेष्टा' का पद प्रदान किया गया। वास्तव में उपरोक्त संयुक्त परिषद् का सर्वोच्च सेनाध्यक्ष जनरल मैकार्थर पर कोई नियंत्रण नहीं था। यह परिषद् केवल अमरिकन अधिकारियों को आत्म समर्पण की धाराओं को कार्यान्वित करने के बारे में परामर्श देती थी। क्लाड बस (Claude Buss) के शब्दों में 'यह पूर्णत शक्तिहीन थी और इसकी बैठकें बहुधा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों के हास्यास्पद व विकृत रूप के समान होती थी। कई बार यह केवल उपस्थिति के क्रम (Roll Call) के लिए ही अपनी बैठकें आयोजित करती थी और कुछ ही क्षणों में उठ भी जाती थी।[1] जापान के प्रशासन से संबंधित दूसरी संस्था 'सुदूरपूर्वी आयोग' था जिसका कार्य सर्वोच्च सेनाध्यक्ष की देख भाल करना था और जनरल मैकार्थर इसी के निर्देशन में कार्य करता था। इस आयोग के मुख्य उत्तरदायित्व दो थे—प्रथम 'उन नीतियों सिद्धान्तों और स्तरों का निर्धारण करना जिनके द्वारा जापान आत्मसमर्पण सम्बन्धी अपने दायित्वों का पालन कर सके और द्वितीय सर्वोच्च कमाण्डर के नीति निर्णयों से सम्बन्धित आदेशों पर पुनर्विचार तथा उनका परीक्षण करना।"

यद्यपि उपरोक्त दोनों ही संस्थायें अन्तर्राष्ट्रीय थी किन्तु दोनों में संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति ही व्यावहारिक रूप से अधिक महत्वपूर्ण थी और जापान के प्रशासन की एक मात्र शक्ति का उपभोग अमेरिकन

---

1 Buss C. A The Far East page 441

सेनानायक जनरल मैकार्थर ही करता था। उसकी आवास नीति निर्धारण के कार्य में प्राय निर्णायक होती थी। १९४५ से १९४७ के बीच मैकार्थर ने जापानी सरकार को लगभग एक हजार निर्देश दिये। जापान के युद्ध और नौ सेना मन्त्रालय खत्म कर दिये गये सैनिक सेवाओं से सभी जापानियों को हटा दिया गया जापान की सुरक्षा संस्थाओं को उपयोगिता हीन बना दिया गया अस्त्रोशस्त्रों व गोलाबारूद के उत्पादन पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया विस्फोटक पदार्थों को समुद्र में डुबो दिया गया और लगभग ६५ लाख जापानी सैनिकों व सामान्य नागरिकों को एशिया व प्रशान्त महासागरीय द्वीपों में इधर-उधर भेज दिया गया। सैनिक अधिकारियों को बंदी बना लिया गया। उनमें से अनेक को मृत्युदंड और कारावास की सजायें मिलीं। जापान की गुप्त पुलिस का भी विघटन कर दिया गया। इसी तरह युद्ध-पूर्व एवं युद्ध-कालीन प्रतिक्रियावादी संस्थाओं के संगठन और नेतृत्व को समाप्त कर दिया गया। विदेशों में जापानी नागरिकों की सम्पत्ति उन देशों को क्षति-पूर्ति के रूप मे प्रदान की गई और जापान की विदेशी सम्पत्ति जो लगभग १ अरब डालर के मूल्य की थी हस्तगत कर ली गई। सन् १९४६ में राष्ट्रपति ट्रूमैन द्वारा भेजे गये पाले मिशन' (Pauley Mission) ने जापान की भावी शक्ति का सर्वेक्षण कर के यह सिफारिश की कि "जापान की युद्ध क्षमता सख्ती से कुचल दी जानी चाहिये ताकि उसका जीवन स्तर न्यूनतम हो जाय। इस मिशन के सुझाव पर जापान के विभिन्न महत्वपूर्ण उद्योगों को पूर्णतया नष्ट कर दिया गया और अनेक कारखानों की संख्या अत्यधिक कम कर दी गई। चूंकि अमेरिका को जापान की जनता के लिए भोजन-सामग्री जुटाने पर प्रतिदिन लगभग १ लाख डालर व्यय करने पड़ रहे थे अत अमेरिका की नीति यही रही कि जापान से इस 'कब्जे' का व्यय और क्षतिपूर्ति एकत्रित की जानी चाहिये।

अमेरिकन सेनाओं के आधिपत्यकाल में ही जापानी सम्राट हिरोहितो को अपने वयक्रम में १२४ वें सम्राट थे की निरंकुश सत्ता समाप्त हो गई और ३ मई, १९४७ को जापानी जनता ने एक नया संविधान स्वीकार कर लिया जिसकी मुख्य विशेषतायें ये हैं—

(१) राष्ट्रीय नीति के रूप में युद्ध का सदैव के लिए परित्याग
(२) सम्राट के निरंकुश ईश्वर प्रदत्त अधिकारों की समाप्ति
(३) संसद की सर्वप्रभुता और सर्वोच्च सत्ता को मान्यता
(४) धर्म और राजनीति का विभागीकरण
(५) स्त्रियों को मताधिकार
(६) संसद के प्रति उत्तरदायी जनप्रतिनिधियात्मक सरकार की स्थापना।

जापान के पुनरुत्थान के प्रयास

जापान के सैनिक आर्थिक और औद्योगिक पतन से विकट समस्यायें पैदा हो गई। एक तरफ तो अमेरिका को जापानी खाद्य सामग्री के व्यापक

अभाव को दूर करने तथा आवास चिकित्सा आदि समस्याओं के हल खोजने के विपुल व्यवसाध्य प्रयास करने पड़ रहे थे और दूसरी ओर जापानी उद्योगों व अर्थव्यवस्था के इतने पतन से यह चिन्ता हो गई कि पूर्वी एशियाई बाजारों पर कहीं रूस अथवा उसके गुट का कोई अन्य राज्य प्रभुत्व न जमा ले। मास्को स्वयं भी एशिया के निर्धन राज्यों में साम्यवाद के प्रचार को हर प्रकार से उत्साहित कर रहा था और जापान के छात्रों व श्रमिकों में साम्यवाद द्रुत गति से फैलने लगा था। इसके अतिरिक्त 'पूर्व' व 'पश्चिम' के युद्धकालीन सहयोग का स्थान 'शीत युद्ध' ने ले लिया और इस बात की तीव्र आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी कि 'स्वतन्त्र विश्व' अपनी पूरी शक्ति के साथ अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद से संघर्ष करे। चीन में तेजी से पनपता हुआ साम्यवाद एशियाई राज्यों के लिए गंभीर खतरा पैदा कर रहा था।

इन सब परिस्थितियों में अमेरिका के लिए यह स्वाभाविक था कि वह जापान को पुनः एक आदर एवं सम्मानपूर्ण स्तर प्रदान करे तथा उसके पुनरुत्थान की दिशा में प्रयत्न हो। वास्तव में पूर्वी तथा दक्षिणपूर्वी एशिया में साम्यवाद के प्रभाव का मुकाबला करने के लिए अमेरिका ने अपनी नीति को एक नया मोड़ देने का निश्चय कर लिया। अब अमेरिकावासियों ने प्रशान्त सागरीय क्षेत्र में अपने हितों की सुरक्षा के लिए जापान के पुनर्जागरण को अनिवार्य मान लिया।

अमेरिका ने सर्व प्रथम एक "नौ सूत्री आर्थिक स्थिरता कार्यक्रम" अपनाया। इसका उद्देश्य बजट को सन्तुलित करना कर एकत्रित करने के कार्य को सुगम बनाना ऋण प्रदान को सीमित करना वेतनक्रम स्थिर बनाना मूल्य नियंत्रण को दृढ़ीकृत करना विदेशी व्यापार तथा विदेशी मुद्रा नियंत्रण में सुधार करना 'राशनिंग' व्यवस्था को सुधारना कच्चा माल तथा तैयार शुदा माल के उत्पादन में वृद्धि करना और खाद्य-सामग्री एकत्रित करने के कार्यक्रम को सुधारना आदि था। इस कार्यक्रम को प्रभावशाली ढंग से कार्यान्वित किया गया। सन् १९४८ में कुछ विख्यात अमेरिकन व्यवसायियों के एक प्रतिनिधि मंडल ने जापान की यात्रा की एवं बिगड़ती हुई अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति को ध्यान में रखते हुए अपनी सरकार को यह सुझाव दिया कि जापान को यथाशीघ्र अमेरिकन निर्भरता से मुक्त कर दिया जाय।

अब अमेरिकन प्रशासन ने जापान को एक स्वतन्त्र राष्ट्र का स्तर प्रदान करने की नीति पर विशेष सक्रिय रूप से चलना शुरू कर दिया है। जापान की आर्थिक दशा सुधारने के लिए क्षति-पूर्ति को स्थगित कर दिया गया और हड़तालों पर निश्चित प्रतिबंध लगा दिये गये ताकि उत्पादन कार्य बंद न हो सके। दिसम्बर, १९४८ में जापानवासियों को निर्यात के लिए उत्पादन में अपरिमित वृद्धि करने का अधिकार दे दिया गया। जापान का संसार की गतिविधियों में पुनः भाग लेने का अधिकार प्रदान किया गया। अतएव अनेक जापानी विद्वानों और नेताओं ने एशिया एवं यूरोप की विस्तृत यात्रायें की। प्राविधिक योग्यता प्राप्त विभिन्न जापानियों ने अमरीका

पाकिस्तान और भारत का भ्रमण किया। जापान ने वाणिज्य और व्यापार के लिए विदेशों में अपनी एजेंसियाँ स्थापित की और संयुक्त राष्ट्र संघ की विभिन्न संस्थाओं में भाग लेना आरम्भ कर दिया। साम्यवादी प्रभाव से जापान को मुक्त करने की दृष्टि से विश्वविद्यालयों आदि से साम्यवादी विचारों वाले प्राध्यापकों व प्रोफेसरों को निष्कासित कर दिया गया। साम्यवाद को प्रोत्साहित करने वाली प्रत्येक प्रकार की अभिव्यक्ति को निषिद्ध ठहरा दिया गया। खतरनाक विचारों का दमन करने के लिये समाचारपत्रों सम्बन्धी कठोर कानून बना दिये गये। युद्ध अपराधियों को समाज में सम्मानजनक दर्जा वापिस प्रदान किया गया।

१९४९ में अमेरिका ने यह निश्चय किया कि जापान को अपनी सुरक्षा के लिये स्वयं समर्थ बनाया जाय। अतः इस मार्ग की संवैधानिक बाधाओं को दूर कर दिया गया और उसका शस्त्रीकरण पुनः आरम्भ हुआ। सैनिक प्रवृत्ति वाले जापानियों को इससे बड़ी प्रसन्नता हुई। जनवरी १९५१ में जनरल मैकार्थर ने घोषणा की कि— यदि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय अव्यवस्था शांति के लिये इसी तरह खतरनाक बनी रही और मानव जीवन पर छाई रही तो यह आवश्यक है कि निःशस्त्रीकरण का आदर्श 'आत्मरक्षा' के अधिक महत्वपूर्ण आदर्श के सम्मुख झुक जाय और यह आपका (जापानवासियों का) कर्तव्य होगा कि आप संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धांतों के दायरे में अन्य स्वतन्त्रता प्रेमी राष्ट्रों के सहयोग से शक्ति का शक्ति से सामना करें। जापान के पुनर्शस्त्रीकरण की दिशा में सर्वप्रथम ७५ हजार जापानी सैनिकों को राष्ट्रीय पुलिस संगठन (National Police Force) के नाम से संगठित किया गया। सन् १९५४ में यही संगठन एक सुसज्जित 'सुरक्षा सेना' (Defence Force) में परिवर्तित कर दिया गया। मार्च १९५४ में वाशिंगटन और टोकियो के मध्य 'पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता समझौता (Mutual Defence Assistance Agreement) हुआ जिसके अन्तर्गत जापान को काफी सैनिक सहायता मिली। अगस्त १९५५ में जापान ने एक अच्छी खासी स्थल जल-वायु सेना की स्थापना के लिए ६ वर्षीय योजना क्रियान्वित की। १९५६ में 'राष्ट्रीय प्रतिरक्षा परिषद' (National Defence Council) की स्थापना की गई। जापान के प्रतिरक्षा बजट में प्रतिवर्ष वृद्धि होती चली गई और शीघ्र ही जापान आधुनिक युद्धकला से सज्जित राष्ट्र बन गया।

जापान के साथ शांति संधि

यह स्मरणीय है कि जापान की पराधीनता का काल १९४५ से १९५२ तक रहा। १९५२ में शांति-संधि पर हस्ताक्षर हो जाने के बाद जापान पुनः स्वतन्त्र हो गया। इस शांति संधि का उल्लेख पुस्तक के प्रारम्भिक अध्याय में 'शांति समझौते के अन्तर्गत किया जा चुका है, तथापि संक्षेप में यह इस प्रकार है—

साम्यवादियों द्वारा चीन पर कब्जा कर लिए जाने और कोरिया में युद्ध छेड़ देने पर सितम्बर १९५० में अमेरिकन राष्ट्रपति ट्रूमैन ने जान फॉस्टर डलेस को जापान के साथ शांति सन्धि सम्पन्न करने का कठिन कार्य

सौंप दिया। डलेस ने संयुक्त राष्ट्र संघ में विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मण्डलों से बातचीत की। इसके बाद उन्होंने संधि के लिए निम्नलिखित ७ सिद्धान्त प्रस्तुत किये—

१ शांति संधि पर जापान के विरुद्ध युद्ध करने वाले सभी राष्ट्र हस्ताक्षर करें।

२ जापान के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता ग्रहण के हेतु निश्चित समझी जाय।

३ जापान द्वारा कोरिया की स्वतन्त्रता को मान्यता प्रदान की जाय। र्यूक्यूस (Ryu Kyus) और बोनिन (Bonin) पर अमरीका का न्यास पद्धति (Trusteeship System) के अनुसार अधिकार माना जाय। फारमोसा पेस्काडोर्स दक्षिणी सखालिन तथा कुराइल्स आदि द्वीपों के भविष्य के लिए ४ महान शक्तियों (Big Four) का निर्णय जापान द्वारा स्वीकार किया जाय। जापान चीन में अपने विशेष अधिकारों और हितों को त्याग दे।

४ विश्व शांति के लिए संयुक्त राज्य की सेनाओं तथा अपनी सुविधाओं के सहयोगी उत्तरदायित्व को मान्यता प्रदान करे।

५ जापान को most favoured nation माना जाय। यह दशा उस समय तक रहेगी जब तक कि अन्य व्यापारिक संधियां सम्पन्न न हो जायें।

६ पारस्परिक संघर्षों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय अथवा कूटनीतिक उपायों द्वारा किया जाय।

७ जापान के ऊपर समस्त दावे समाप्त किये जायें।

जुलाई १९५१ में ५४ राष्ट्रों को संधि सम्मेलन के लिए आमन्त्रित किया गया। भारत और बर्मा इस सम्मेलन में शामिल नहीं हुए। भारत की दृष्टि में संधि की शर्तें जापान के लिए अपमानजनक थी यद्यपि बर्मा के अनुसार शांति की ये शर्तें आवश्यकता से अधिक उदार। कुल मिलाकर सम्मेलन में ५२ राष्ट्रों ने भाग लिया। रूस चेकोस्लोवाकिया और पोलैण्ड भी उपस्थित थे। सम्मेलन में सोवियत प्रतिनिधि ग्रोमिको (Gromiko) द्वारा संधि के प्रारूप में ११ संशोधन प्रस्तुत किये गये और ८ आपत्तियां उठाई गई। यह भी कहा गया कि संधि के लिए प्रस्तुत अमेरिकन शर्तें शांति संधि की शर्तें नहीं हैं अपितु सुदूर-पूर्व में नए नये युद्ध का पथ प्रशस्त करने वाली शर्तें हैं।" आस्ट्रेलिया ने जापान के पुन शस्त्रीकरण पर नियंत्रण एवं निश्चित सीमायें लगाने का अनुरोध किया इण्डोनेशिया और फिलिपाइन्स ने जापान से क्षति-पूर्ति लेने पर बल दिया। मध्यपूर्वीय देशों ने मिस्र द्वारा जापान में विदेशी सेनाओं के रखने पर चिन्ता व्यक्त की तथा यूगोस्लेविया ने संधि की आर्थिक व राजनीतिक धाराओं के प्रति असंतोष व्यक्त किया। कहने का अभिप्राय यह है कि अमेरिका को छोड़ कर लगभग प्रत्येक राष्ट्र ने संधि की शर्तों के प्रति कोई न कोई असंतोष प्रकट किया। किन्तु फिर भी अमेरिका के प्रभाव के कारण ४९ राष्ट्रों ने ८ सितम्बर १९५१ को संधि पर हस्ताक्षर

कर दिये और २८ अप्रैल १९५२ को संधि क्रियान्वित कर दी गई। रूस पोलैण्ड एवं चेकोस्लोवाकिया ने संधि पर हस्ताक्षर नहीं किये।

जापान के साथ की जाने वाली उपरोक्त शांति संधि में २७ धारायें थी। इनके अनुसार निम्नलिखित प्रमुख व्यवस्थायें की गई —

१ यह स्पष्ट कर दिया गया कि सभी हस्ताक्षर कर्ता राज्य अपनी संप्रभुता और समानता के आधार पर अन्तर्राष्ट्रीय सुरक्षा और शांति बनाये रखने तथा समान हितों को विकसित करने के उद्देश्य में परस्पर मैत्रीपूर्ण सहयोग स्थापित करेंगे।"

२ मित्रराष्ट्र जापान वासियों को जापानी भूक्षेत्र और प्रादेशिक जल क्षेत्र पर पूर्ण प्रभुत्व की मान्यता प्रदान करते हैं।"

३ "जापान संयुक्त राष्ट्र संघ का समर्थन करने एवं उसकी सदस्यता के लिए प्रार्थना पत्र देने को तैयार है तथा वह कोरिया फारमोसा पैस्काडोर्स कुराइल्स दक्षिणी सखालिन स्प्राटले द्वीप समूह पाराशेल द्वीप–समूह और एन्टार्टिका पर अधिकार त्यागने व रयूकस दायतो (Daito) बोलिन बोसेकेनो इत्यादि द्वीपों के प्रशासन के लिये अमेरिका की देख रेख में राष्ट्र संघीय ट्रस्टीशिप व्यवस्था की स्थापना पर सहमत है।"

४ "कब्जे अथवा आधिपत्य Occupation) के लिए रखी गई सभी विदेशी सेनायें जापान से हटा ली जायेंगी और केवल प्रतिरक्षा के लिए कुछ विदेशी सेनायें पूर्ववत् मौजूद रहेंगी

५. "चार वर्ष तक अर्थात् जब तक वाणिज्य व व्यापार सम्बन्धी कोई नई संधियां नहीं हो जाती जापान आयात-निर्यात के मामले में मित्र राष्ट्रों के सभी निवासियों के साथ 'अनिष्ठतम मैत्री' (most favoured nation) का व्यवहार करेगा।"

६ "क्षतिपूर्ति केवल श्रम की प्राप्ति तक ही सीमित रहेगी और इसके प्राप्त कर्ता बा शन को कच्चा माल प्रदान करेंगे जिससे उस पर विदेशी मुद्रा सम्बन्धी कोई अनुचित बोझ न पड़ सके।

७ "जापान मित्र राष्ट्रों के निवासियों की सम्पत्ति या तो उन्हें वापिस लौटायेगा या उसके बदले में उन्हें मुआवजा देगा।"

८ "विदेशों में जापानी सम्पत्ति कुछ अपवादों के साथ सम्बन्धित देशों द्वारा हस्तगत कर ली जायेगी।

शांति संधि में शस्त्रास्त्रों के संबंध में कोई उल्लेख नहीं किया गया।

जापान ने एक स्वाधीन राष्ट्र की हैसियत से और भी अनेक संधियां संपन्न की। पहले तो संधि पर हस्ताक्षर करने के दिन ही वाशिंगटन के साथ एक 'सुरक्षा-समझौते' पर हस्ताक्षर किये गये और बाद में २८ अप्रैल १९५२ को व्यावहारिक रूप में शांति संधि के क्रियान्वित हो जाने पर जापान ने राष्ट्रवादी चीन (फारमोसा) के साथ एक शांति संधि की। अमेरिकन प्रभाव के कारण टोकियो ने साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान नहीं की।

९ जून १९५२ को भारत और जापान के मध्य एक पृथक शांति-समझौते पर हस्ताक्षर हुए जिसके अन्तर्गत भारत ने क्षतिपूर्ति के सभी दावे त्याग दिए। दोनों देशों ने परस्पर घनिष्ठ 'मैत्री' का व्यवहार करने और एक दूसरे की संपत्ति वापिस लौटाने का निश्चय किया। सन् १९५४ में फिलिपाइन्स के साथ एक क्षतिपूर्ति समझौता किया गया जिसके द्वारा फिलिपाइन्स ने अपना दावा ८ अरब डालर धनराशि से घटा कर ८० करोड़ डालर कर दिया। दोनों देशों के मध्य सामान्य कूटनीतिक सबंध भी पुनः स्थापित हो गये। नवम्बर १९५४ में जापान और बर्मा के मध्य एक शांति संधि हुई तथा दोनों देशों ने परस्पर कूटनीतिक दूतों का आदान प्रदान किया।

जापान के साम्यवादी देशों—विशेषतः चीन एवं रूस के साथ सम्बन्ध

अपनी स्वाधीनता के उपरान्त १९५४ तक जापान अपने प्रधानमन्त्री योशिदा के नेतृत्व में अपने आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये अथक प्रयास करता रहा। इस अवधि तक अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों का राजनीतिक स्तर पर उल्लेखनीय विकास जापान ने नहीं किया क्योंकि वह संयुक्त राज्य अमरिका के साथ अनेक दृष्टियों से बंधा हुआ था। दिसम्बर १९५४ में जापान का देशभक्त राजनीतिज्ञ हातोयामा प्रधानमन्त्री बना। उसने प्रगतिशील दल के नेता शिगे-मित्सु को अपना विदेश मन्त्री बनाया। हातोयामा और शिगेमित्सु ने मिल कर जापान के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को एक नई दिशा में मोड़ना प्रारम्भ कर दिया। विदेश मन्त्री ने इस सम्बन्ध में अपने एक वक्तव्य में कहा — 'हमारी सरकार उन समस्त साधनों की खोज करेगी जो एशिया के हमारे मित्रों के साथ हमारे निकट और मधुर सम्बन्ध स्थापित कर सकें।

"अतः हम इस बात के लिए तैयार हैं कि दोनों पक्षों को स्वीकार्य आधारों पर रूस और चीन के साथ सामान्य सम्बन्ध स्थापित किये जायें, परन्तु इससे स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ हमारे मौलिक सहयोग के सम्बन्धों को कोई आंच नहीं आने दी जायेगी। जहां तक सोवियत संघ और चीन के साथ व्यापार का प्रश्न है हम वर्तमान अनिश्चित समय में यह नहीं मानते कि उससे कोई बहुत लाभ की आशा की जा सकती है तथापि हम अपने वर्तमान व्यापार की संकुचित मात्रा को बढ़ाने के अवसरों का स्वागत करेंगे।"

इस वक्तव्य से यह स्पष्ट हो गया कि अमेरिका के साथ अपने सम्बन्धों को सैद्धान्तिक आधारों पर प्रतिष्ठित मानते हुए भी जापान रूस और चीन के साथ संधि करने के लिए तैयार था। जापान और चीन में १९५२ और १९५३ में दो व्यापारिक समझौते हो चुके थे। १९५४ के बाद उनके अन्तर्गत व्यापार में पर्याप्त वृद्धि हुई। दिसम्बर १९५४ में ही चीनी प्रधानमन्त्री चाऊ-एन-लाई ने दोनों देशों के पारस्परिक व्यापार से प्राप्त होने वाले लाभों का जोरदार समर्थन किया। तदुपरांत दोनों देशों के आयात निर्यात में उल्लेखनीय वृद्धि हुई। जापान ने साम्यवादी चीन के साथ सभी प्रकार का प्राविधिक और तकनीकी सहयोग प्रारम्भ कर दिया किन्तु फिर भी चीन

के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना नहीं की गई। इस बारे में जापान के हाथ बंधे हुए थे। मित्र राष्ट्रों के साथ की गई शांति-संधि में उसने वचन दिया था कि वह चीन की राष्ट्रवादी सरकार को ही वैधानिक सरकार मानेगा और साम्यवादी चीन के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना नहीं करेगा। अमेरिका का ख्याल करते हुए ही जापान ने चीन के साथ वैयक्तिक स्तर पर व्यापारिक सम्बन्धों की स्थापना को अधिक प्रोत्साहित किया। चीन के साथ जापान के व्यापारिक सम्बन्ध शनैः शनैः प्रगति करते गये। १९६२ में गैर सरकारी स्तर पर एक और व्यापारिक समझौता हुआ। तत्कालीन प्रधान मन्त्री इकेडा ने चीन से सम्बन्ध बढ़ाने की नीति अपनाई। परन्तु उनके बाद इसाकु साटो ने इस नीति को उलट दिया। इसाकु साटो के नेतृत्व में वर्तमान जापानी सरकार का विचार है कि कल या परसों चीन एशिया में जापान का प्रतिद्वन्द्वी सिद्ध होगा इसलिए पेकिंग की तुलना में वाशिंगटन से अधिक मधुर सम्बन्ध बनाये रखना अधिक उपयोगी है। फिर दक्षिणी-पंथी होने के नाते साम्यवाद उन्हें (इसाकु साटो को) यों भी नहीं सुहाता। सितम्बर १९६७ में श्री साटो की ताइपेह यात्रा और च्यांग काई-शेक को टोकियो आने का निमंत्रण देना सिद्ध करता है कि साटो पेकिंग से व्यापार बढ़ाने को अधिक उत्सुक नहीं हैं। शायद यही कारण है कि उन्होंने कुछ दिन पहले पेकिंग के व्यापारिक शिष्टमंडलों को जापान आने की अनुमति नहीं दी और चीन जाने का इच्छुक छात्रों को पासपोर्ट नहीं दिया। जापान सरकार ने माओ के चीन को राजनयिक मान्यता नहीं दी है। १९६२ में चीन से गैर-सरकारी स्तर पर जो व्यापार समझौता हुआ था उसके नया किये जाने की अब कोई उम्मीद नजर नहीं आती। साटो का रुख देखते हुए चीन ने इसी साल ही में दो चार जापानी संवाददाताओं को पेकिंग से वापिस भेज दिया। इन्हीं सब कारणों से जापान के वामपंथी मौजूदा सरकार से बहुत नाराज हैं और जब भी मौका मिलता है कहने करने से बाज नहीं आते।

प्रारम्भ में सोवियत संघ के साथ जापान के सम्बन्ध कतई संतोषजनक नहीं रहे। मास्को की 'जापान संबंधी मित्र राष्ट्रीय परिषद्' तथा 'सुदूर पूर्वी आयोग' में विघ्न पैदा करने वाली नीति दोनों देशों के बीच वैमनस्य का मुख्य कारण थी। इसके अतिरिक्त जापान की रूस से सखालिन तथा क्यूराइल द्वीपों को वापिस लेने की लालसा युद्ध काल में सोवियत रूस द्वारा पकड़े गये जापानी सैनिकों और नागरिकों की वापसी का प्रश्न उत्तरी सामुद्रिक क्षेत्र में मत्स्य-उद्योग की समस्या जापान को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त किये जाने के मार्ग में बाधा पैदा करने की रूसी नीति और जापान व अमेरिका के पारस्परिक सुरक्षा-समझौते आदि ने टोकियो व मास्को के मतभेदों को और भी अधिक उग्र बना दिया। अमेरिका और जापान के मध्य सम्पन्न हुई शांति-संधि की रूसी सरकार ने कटु आलोचना की और अप्रेल १९५२ में इस संधि के लागू कर दिये जाने पर मई में जापान ने मास्को से स्पष्ट शब्दों में कह दिया कि वह अपना दूतावास जापान से हटा ले।

सितम्बर १९५२ में सोवियत संघ ने जापान को संयुक्त राष्ट्र संघ

की सदस्यता प्रदान करने के प्रस्ताव के विरुद्ध निषेधाधिकार का प्रयोग किया। अगस्त १९५४ में जापानियों द्वारा अपने सामुद्रिक क्षेत्र में एक रूसी जलयान पकड़ लिये जाने की घटना से दोनों देशों के मध्य तनाव में और भी वृद्धि हुई। परन्तु शीघ्र ही दोनों राष्ट्रों ने यह अनुभव किया कि उनके मध्य यह अनावश्यक वैमनस्य उनके पारस्परिक हितों के लिये घातक है। जापान के कतिपय नेताओं ने अनुभव किया कि पूर्णतः अमेरिका के इशारों पर नाचना घातक होगा क्योंकि अमेरिका किसी भी समय यूरोप प्रथम अथवा किसी नये 'पृथक्तावाद' की दलील देकर उसका साथ छोड़ सकता है। इसी तरह सोवियत संघ को लगा कि जापान के साथ उसका यह निरंतर द्वेष अथवा प्रतिरोध सुदूरपूर्व और दक्षिणी-पूर्वी एशिया में उसके हितों के लिये हानिप्रद होगा। इस प्रकार की अनुभूति के फलस्वरूप दोनों ही देश एक दूसरे के निकट आने का प्रयास करने लगे। जापानी प्रधानमन्त्री हातोयामा ने १९५४ में यह निश्चय किया कि जापान स्वयं अपनी ओर से सोवियत संघ और चीन से युद्ध स्थिति समाप्त करने अर्थात् शांति संधि के लिए निवेदन करे। इस निश्चय के अनुसार जून १९५५ में लंदन में इन देशों का सम्मेलन हुआ। सम्मेलन की चर्चायें १९५६ के पूरे समय चलती रहीं परन्तु कोई निश्चय नहीं हो सका। जापान सखालिन दक्षिणी कुराइल (या क्यूराइल) द्वीप समूह होबोमाई द्वीप समूह और शिकोतान को फिर से प्राप्त करना चाहता था। परन्तु रूस सखालिन और कुराइल को छोड़ने को तैयार नहीं था ये प्रदेश उसे मित्र राष्ट्रों के 'याल्टा सम्मेलन' में दिये गये थे। इन मतिरोधों के कारण समझौता-वार्ता २० मार्च १९५६ को भंग हो गई।

संधि-वार्ता भंग हो जाने से प्रधान मन्त्री हातोयामा निराश नहीं हुए। अगस्त १९५६ में जापानी विदेश मन्त्री शिगेमित्सू ने मास्को को विशेष दूत के रूप में मास्को भेजा और शांति-वार्ता की पुनः शुरूआत की। इसके बाद अपनी अस्वस्थता के बावजूद प्रधान मन्त्री हातोयामा स्वयं मास्को गये। अन्त में १९ अक्टूबर १९५६ को मास्को में एक शांति घोषणा पर हस्ताक्षर किये गये जिसके अन्तर्गत "युद्ध-स्थिति समाप्त कर दी गई, कूटनीतिक सम्बन्धों की पुनर्स्थापना का निश्चय हुआ, सोवियत संघ ने जापान को संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता दिलाने में समर्थन का आश्वासन दिया, रूस में बंदी जापानियों की रिहाई की व्यवस्था हुई और अन्त में रूस द्वारा क्षति पूर्ति की मांग भी त्याग दी गई।" इसके साथ ही यह भी घोषणा की गई कि जापान और रूस में शांति-संधि हो जाने के बाद रूस जापान को हाबोमाई तथा शिकोतान टापू हस्तांतरित कर देगा। दोनों देशों के मध्य एक व्यापारिक समझौता भी हुआ जिसके द्वारा उन्होंने परस्पर 'अनिष्टतम मत्री' का व्यवहार करने का निश्चय किया। १८ दिसम्बर १९५६ को जापान संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया। फरवरी १९५७ में दोनों देशों में विधिवत् कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गये और मार्च १९६० में दोनों के मध्य पुनः एक तीन वर्षीय व्यापारिक समझौता सम्पन्न हुआ।

रूस और जापान के वर्तमान सम्बन्ध यद्यपि मधुर हैं तथापि दोनों

में अभी तक कोई औपचारिक शांति-संधि नहीं हो सकी है और वास्तविक सहयोग की स्थापना आज भी काफी दूर है। रूस सखालिन और कुराइल द्वीप-समूह पर अपना आधिपत्य छोड़ने को सहमत नहीं है।

स्वतन्त्र जापान के संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ सम्बन्ध

२८ अप्रैल १९५२ को पुनः एक स्वाधीन राष्ट्र बनने तथा वाशिंगटन के साथ एक पारस्परिक सुरक्षा समझौते पर हस्ताक्षर करने के बाद जापान और अमेरिका के संबंध उत्तरोत्तर घनिष्ठ होते चले गये। १२ नवम्बर, १९५२ को तट रक्षा के लिए अमेरिका ने उधार पट्टे के आधार पर जापान को ७० फ्रिगेट (Frigates) प्रदान किये। ३० सितम्बर १९५३ को दोनों देशों के मध्य एक नवीन व्यापारिक संधि पर हस्ताक्षर हुए। ३० अक्टूबर १९५३ को जापान की प्रतिरक्षा सज्जा और आर्थिक सहायता के लिये अमेरिकन सामग्री के आयात के बारे में एक समझौता हुआ। दोनों देशों के सम्बन्ध तब एक कदम और आगे बढ़े जब २१ दिसम्बर १९५३ को अमेरिका ने र्युकुस (या रयुक्यू RyuKyu) द्वीप-समूह के अमामीव आशिमा आदि द्वीपों पर अपना अधिकार त्याग दिया। ८ मार्च १९५४ को जापान और अमेरिका ने पारस्परिक प्रतिरक्षा सहायता संबंधी सात मूल समझौतों पर हस्ताक्षर किये। यद्यपि अमेरिका के संकेत पर जापान ने साम्यवादी देशों के साथ सरकारी स्तर पर संबंध बढ़ाने की विशेष चेष्टा नहीं की किन्तु सितम्बर १९५४ में अमेरिका द्वारा प्रस्तावित 'दक्षिण-पूर्वी-एशियाई सामूहिक सुरक्षा संधि' पर उसने हस्ताक्षर करने से इन्कार कर दिया। अमेरिका द्वारा जापान को संयुक्त राष्ट्र संघ में सदस्यता दिलाने में तभी सफलता मिल सकी जब सोवियत रूस ने दिसम्बर, १९५६ में इस विषय पर जापान को अपना समर्थन प्रदान किया। जून १९५७ में जापानी प्रधानमन्त्री किशी ने अपनी अमेरिका यात्रा में राष्ट्रपति आइजनहावर से वार्ता की। २२ जून को एक संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित की गई जिसमें कुछ अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी घोषित किया गया कि—

१ अमेरिका जापान-स्थित अपनी सेनाओं में भारी कटौती करेगा।

२ ओकीनावा पहले ही के समान अमेरिका के नियन्त्रण में ही रहेगा किन्तु वह उसके निवासियों के चतुर्दिक विकास के लिए भरसक प्रयास करेगा।

३ अमेरिका जापान-स्थित अपनी लड़ाकू स्थल सेनाओं के प्रयोग पर जापानी सरकार से परामर्श लेगा।

४ जापानी सरकार उन देशों के साथ सैनिक महत्व के व्यापार को सीमित ही रखेगी जो अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के प्रसार द्वारा स्वतन्त्र राज्यों की सुरक्षा के लिये खतरा पैदा करता है।

५. दोनों देशों की सरकारें पारस्परिक व्यापार को उच्च स्तर प्रदान करने के लिए आवश्यक कदम उठायेंगी।

संयुक्त विज्ञप्ति में पारस्परिक सहयोग के निम्नलिखित पांच सिद्धान्तों पर जोर दिया गया—

१ 'दोनों राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्तों के अनुरूप स्वतन्त्रता और न्याय के आधार पर शांति के उपासक हैं तथा दोनों ही सामूहिक अथवा व्यक्तिगत आत्मरक्षा के अलावा शक्ति प्रयोग के विरोधी हैं।

२ शस्त्रास्त्रों पर कोई प्रभावशाली नियन्त्रण स्थापित न होने तक यह विश्व शांति के हित में है कि सभी राष्ट्रों के पास सुरक्षा के लिये पर्याप्त शक्ति और सामर्थ्य हो।

३ दोनों देश स्वतन्त्र राष्ट्रों के लाभ के लिए अनावश्यक और स्वेच्छाचारी नियन्त्रणों से विहीन पारस्परिक सुव्यवस्थित व्यापार में दृढ़ विश्वास रखते हैं।

४ दोनों ही राष्ट्र इस बात पर सहमत हैं कि विश्व के भविष्य की दृष्टि से अणु-आयुधों तथा पुराने ढंग के शस्त्रास्त्रों पर एक प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय समझौते का होना अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इस विषय पर दोनों ही देश परस्पर मिल,र विमर्श करते रहेंगे।

५ दोनों देशों के पारस्परिक सम्बन्ध सार्वभौम समानता पारस्परिक हित एवं सहयोग पर आधारित होंगे।

विज्ञप्ति में यह आशा प्रकट की गई कि भविष्य में दोनों देशों के पारस्परिक संबंध और भी मैत्रीपूर्ण होंगे।

अमेरिका और जापान के सम्बन्ध मैत्री पथ पर अग्रसर होते रहे और १९ जनवरी १९६० को दोनों देशों में एक दस वर्षीय प्रतिरक्षा-समझौता सम्पन्न हुआ। इस समझौते के अनुसार 'जापान की सुरक्षा में योगदान देने एवं सुदूर पूर्व में शांति तथा सुरक्षा का वातावरण बनाये रखने के लिये जापान में सैनिक अड्डों पर अपना कब्जा जारी रखने का अधिकार मिल गया। जून १९६१ में जापानी प्रधानमन्त्री इकेडा अमेरिका गये। उनकी वार्ता के फलस्वरूप दोनों देशों में आर्थिक शैक्षणिक सांस्कृतिक और वैज्ञानिक सहयोग के विस्तार के लिये विभिन्न संयुक्त समितियों का निर्माण हुआ।

यद्यपि सरकारी स्तर पर अमेरिका और जापान के संबंध सहयोगपूर्ण बने रहे किन्तु जापान की जनता में अमेरिका के प्रति असन्तोष और रोष प्रकट होता रहा। जापान के जनसाधारण के मन में ये बातें निरन्तर खटकती रहीं—जापान की भूमि पर अमेरिका द्वारा अणुबम गिराया जाना जापानी भूमि पर अमेरिका के सैनिक अड्डे अमेरिका द्वारा जापान का निःशस्त्रीकरण और विसैन्यीकरण के लिये विवश किया जाना और जापान से सैनिक प्रशासन के मूल्य के रूप में करोड़ों डालर की राशि मांगना। यही सब कारण थे कि जब १९६१ के आरम्भ में जापानी सरकार के निमन्त्रण पर राष्ट्रपति आइजनहावर जापान की राजकीय यात्रा पर आने को तैयार हुए तो उन्मत्त

के समाजवादी तत्वों और विश्वविद्यालय के छात्रों ने उनकी प्रस्तावित यात्रा का तीव्र विरोध किया और सारे जापान में मारी दंगे हुए। विरोध का दावानल इतना फैला कि किशी दल के बहुमत का अस्तित्व ही खतरे में पड़ गया। अन्त में स्थिति को सम्भालने के लिये प्रधानमन्त्री किशी ने अमेरिकन राष्ट्रपति के दौरे का कार्यक्रम ही रद्द करने की घोषणा करते हुए स्वयं अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। उनके दल ने उनके त्यागपत्र से बहुत राहत की सांस ली और उनके स्थान पर इकेदा को प्रधानमन्त्री बना दिया गया। प्रधानमन्त्री इकेदा ने अमेरिका के साथ सम्बन्ध बनाये रखने के साथ—साथ साम्यवादी राष्ट्रों—विशेषकर चीन से—सम्बन्ध बढ़ाने की नीति अपनाई। परन्तु उनके बाद आने वाले वर्तमान प्रधानमन्त्री श्री इसाकू सातो ने इस नीति को जारी रखना उचित नहीं समझा।

प्रधानमन्त्री सातो 'जापान—अमेरिका परस्पर सुरक्षा सन्धि' को बहुत महत्व देते हैं और यह भी चाहते हैं कि ओकिनावा द्वीप उन्हें वापस मिल जाये मगर अमेरिका को नाराज करके नहीं। इसलिए १३ नवम्बर १९६७ को सिएटल में जब अमेरिकी पत्रकारों ने जापान-प्रदर्शनों के बारे में पूछा तो उन्होंने कहा— दूसरे विश्वयुद्ध के बाद जापान ने और अमेरिका ने जिस सन्धि पर हस्ताक्षर किये हैं वह अपरिवर्तनीय है।" उन्होंने अपनी ओर से आश्वासन दिया कि यदि ओकिनावा द्वीप का नियन्त्रण जापान को वापस मिल जाये तो भी ओकिनावा में अमेरिकी सैनिक अड्डों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आने पायेगा। यह उल्लेखनीय है कि ओकिनावा अमेरिका का विदेश-स्थित सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण सैनिक अड्डा है जहां पर परमाणु अस्त्रों का अच्छा—खासा भण्डार है।

यद्यपि अमेरिकन परमाणु-छतरी जापान के लिए वरदान सिद्ध हुई है फिर भी सातो की हार्दिक इच्छा यही है कि धीरे-धीरे जापान पर निर्भरता से मुक्त हो जाये। जापानी संविधान के अनुसार जापान विधिवत् सेना का गठन नहीं कर सकता तथापि आत्म-सुरक्षा के नाम पर जापान ने इतनी सामरिक शक्ति जुटा ली है जितनी द्वितीय महायुद्ध के पहले थी। अब जापानी नेता अनुभव करते हैं कि बढ़ती हुई आर्थिक शक्ति को सुरक्षित रखने के लिए उनके राष्ट्र के पास आधुनिक साज-सामान भी होना चाहिए। चीन के परमाणु प्रयोगों ने इस भावना को प्रोत्साहन दिया है। उसके पास साधन हैं तकनीक है केवल समय का इन्तजार है। जिस दिन जापान शस्त्र—संचय की होड़ में कूद पड़ेगा, उस दिन कोई भी ताकत उसे रोक नहीं पायेगी। द्वितीय महायुद्ध के दौरान और बाद में अमेरिकन सैनिक प्रशासन के अन्तर्गत कुचल कर रख दिया गया जापान आज अमेरिका और सोवियत संघ के बाद बड़ी ताकतों में नाम लिखाने का हकदार बन चुका है। यह आशा की जाती है कि १९७० तक वह रूस और अमेरिका के बाद दुनिया का तीसरा सम्पन्न देश बन जायेगा। १० करोड़ की आबादी वाला टापुओं पर बसा यह देश दुनिया के आधे तैलवाहक जहाज बनाता है, ब्रिटेन से प्रति व्यक्ति ज्यादा इस्पात तैयार करता है और संगणकों के उपयोग में वह केवल अमेरिका से पीछे है।

एशिया में चीन उत्तरी वियतनाम उत्तरी कोरिया सरीखे कुछ गिने-चुने देशों को छोड़ कर कोई देश ऐसा नहीं है जिसे आर्थिक विकास के लिये जापान सहायता न दे रहा हो या न दे सकता हो। यहां तक कि सोवियत संघ भी उत्तर-पूर्व विशाल प्रदेश साइबेरिया के भौतिक विकास में जापानी सहयोग चाहता है।

EXERCISES

1 Discuss critically the impact of the emergence of Communist China upon international relations since 1949

१९४९ के उपरान्त के अन्तर्राष्ट्रीय संबंधों पर साम्यवादी चीन के अभ्युदय के प्रभाव की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये।

2. Examine critically the foreign policy of Communist China.

साम्यवादी चीन की विदेश नीति का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए।

3. Give the relations of the Communist China with the neighbouring countries.

अपने पड़ौसी देशों के साथ साम्यवादी चीन के संबंधों को बताइये।

Or

Examine critically the foreign policy of the Communist China with the neighbouring countries.

अपने पड़ौसी देशों के साथ साम्यवादी चीन की विदेश नीति की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिये।

4 "As long as the Chinese Communist regime remains in power there are several developments that may and will be anticipated in the Far East" (C P Schleicher)

Explain the statement clearly bringing out the impact of the People's Republic of China on Far Eastern affairs.

'जब तक चीनी साम्यवादी शासन सत्तारूढ़ है सुदूर पूर्व में अनेक घटनायें हो सकती हैं और होंगी।"

इस कथन को स्पष्टतापूर्वक समझाइये और सुदूर पूर्वी मामलों पर चीन के जनगणराज्य का प्रभाव बताइये।

5 How has the rise of Peoples Republic of China affected the alignment of the international forces in recent years ? Give a brief account of the foreign policy of people's China.

हाल ही के वर्षों में अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों के संगठन को चीनी गणराज्य के उदय ने किस प्रकार प्रभावित किया ? चीनी गणराज्य की विदेश नीति का संक्षिप्त विवरण दीजिये।

6. Examine the truth of the view that China's foreign policy is fast becoming imperialistic.

इस विचार की सत्यता की परीक्षा कीजिये कि चीन की विदेश नीति तेजी से साम्राज्यवादी होती जा रही है।

7 Write what you know about the restoration of Japan to her independance after the Second World War Discuss the foreign policy of Japan since 1950

द्वितीय महायुद्ध के बाद जापान के पुनरुद्धार के बारे में आप जो कुछ जानते हैं—लिखिये। १९५० के बाद से जापान की विदेश नीति की विवेचना कीजिये।

8 Write a short essay on "Hong-Kong after 1945"

"१९४५ के बाद का हांग-कांग" पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

14

मध्यपूर्व (पश्चिमी) एशिया

[MIDDLE-EAST (WEST) ASIA]

१ मध्य पूर्व का स्वरूप
२ मध्य पूर्व का महत्व और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्धारक तत्व
३ संयुक्त-अरब-गणराज्य (मिस्र)
४ सीरिया
५ जोर्डन
६ लेबनान
७ सऊदी अरब
८ इजरायल
९ साइप्रस
१० टर्की
११ ईराक
१२ ईरान
१३ यमन तथा दक्षिण अरब संघ
१४ मध्य पूर्व में महाशक्तियों का संघर्ष

'संसार में पैट्रोलियम की खपत बहुत अधिक बढ़ गई तथा अमेरिकन
विशेषज्ञों ने अचानक यह पता लगाया कि यदि संयुक्त राज्य
अमेरिका का पैट्रोलियम इसी तरह व्यय किया जाता रहा तो
वर्तमान शताब्दी के अन्त तक अमेरिका के तेल के कुए
सूख जायेंगे अतः उन्होंने अमेरिकन भू-गर्भ शास्त्रियों
को नये तेल की खोज में भेजा जिन्होंने मध्यपूर्व
में तेल का पता लगा लिया तथा वहां एक
नये युग का सूत्रपात किया।"

—लेयर हौलिसवर्थ

समस्त मध्यपूर्व में
कोई भी शब्द इतना
घृणित नहीं है जितना कि
साम्राज्यवाद। अमीर लड़की
की तरह मध्यपूर्व की जनता
यह नहीं चाहती है कि उनके तेलों
की खानों या सम्पत्ति के कारण
उसको प्रसन्न करने का प्रयत्न किया जाये
वरन् वे चाहते हैं कि उनकी संस्कृति और
सभ्यता का आदर किया जाये।"

—सिडनी एन० फिशर

मध्य-पूर्व (पश्चिमी) एशिया
(MIDDLE-EAST ASIA)

मध्य-पूर्व के राज्यों का संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है —

क्रम संख्या	राज्यों का नाम	क्षेत्रफल (वर्गमील में)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या
(१)	अदन का ब्रिटिश संरक्षित प्रदेश (Aden Protectorate)	१ ८५,०००	६ ५० ००
(२)	अफगानिस्तान (Afghanistan)	२ ५० ९९९	१,७० ०० ०००
(३)	बहरीन (Behrin)	२३१	२० ०००
(४)	साइप्रस (Cyprus)	३ ५८४	५ ९२ ०००
(५)	संयुक्त अरब गणराज्य (UAR) (मिस्र, Egypt)	३ ८६,१९८	३ ०४ १० ०००
(६)	ईरान (Iran)	६ २८ ० ० ०	२ ०० ८१ ५१०
(७)	ईराक (Iraq)	१ ७१ ५९९	६६ ३८ १०९
(८)	इजरायल (Israel)	७ ९९३	२१ ७२ ०००
(९)	जोर्डन (Jordan)	३७ ५००	२३ ०० ०००
(१०)	कुवैत (Kuwait)	८ ०००	३ ५० ०००
(११)	ओमन मस्कट (Oman)	८२ ०००	५,५०,०००
(१२)	सऊदी अरब (Saudi Arabia)	८,३० ०००	१ १० ०० ०००
(१३)	लेबनान (Lebanon)	४१ ०००	१८ ५० ०००
(१४)	सीरिया (Syria)	७२ २३४	४८ ५१ ०००
(१५)	तुर्की (Turkey)	२ ९६,५४१	३ ४७ ९७ ०००
(१६)	यमन (Yaman)	७५ २९०	५० ०० ०००

मध्य-पूर्व का स्वरूप

मध्यपूर्व का क्षेत्र तीन महाद्वीपों का संगम-क्षेत्र है—यूरोप एशिया और अफ्रीका। इस क्षेत्र में तीन समुद्र—मारमरासागर कालासागर तथा एड्रियाटिक सागर तीन जलडमरूमध्यों के द्वारा चौथे समुद्र भू-मध्यसागर के साथ जुड़े हुए हैं। इसने अनेक साम्राज्यों का उत्थान-पतन देखा है। सीमा की दृष्टि से मध्यपूर्व अल्जीरिया और ट्यूनीसिया की पूर्वी सीमा से मकर

अफगानिस्तान तथा पाकिस्तान तक फैला हुआ है। इसका क्षेत्रफल २,६००,००० वर्गमील है जो रूस रहित यूरोप के बराबर तथा भारत के दुगने से भी अधिक है। परन्तु यहाँ की जनसंख्या केवल ८ करोड़ के आसपास है। इसका कारण विशाल मरुस्थल है। यह विश्व के तीन बड़े धर्मों—ईसाई इस्लाम और यहूदी—का जन्म स्थल है। यहाँ पर बहुतायत से इस्लाम धर्म है परन्तु इजरायल में यहूदी और लेबनान में ईसाई धर्म प्रमुख है। भाषा की दृष्टि से तुर्की इजरायल और ईरान को छोड़ कर अरबी प्रमुख है। यह प्रदेश प्राचीन सभ्यताओं की भूमि है जिनमें मिस्र हिट्टाइट यूनानी सुमेरियन असीरियन बेबीलोनियन अरब और तुर्की सभ्यतायें आती हैं। इस्लाम के सर्वाधिक पवित्र तीर्थ स्थल—मक्का और मदीना—और इस्लामी विद्या की महानतम संस्थायें इसी प्रदेश में स्थित हैं। सऊदी अरब मिस्र और ईरान के विशाल मरुस्थल होते हुए भी इस क्षेत्र में नील नदी के प्रदेश टिगरिस यूफ्रेट घाटी के प्रदेश अच्छे उपजाऊ हैं।

मध्यपूर्व में कौन कौन से भौगोलिक क्षेत्र सम्मिलित किये जायें इस विषय में विभिन्न मत रहे हैं। भारतीय उपमहाद्वीप के पश्चिम और रूस के दक्षिण-पश्चिम में स्थित प्रदेश को जो एशिया अफ्रीका और यूरोप का संगम स्थल है ब्रिटिश सरकार ने मध्य पूर्व की संज्ञा दी है। अमेरिकावासी इसे निकट पूर्व (Near East) और भारत सरकार पश्चिमी एशिया (West Asia) के नाम से सम्बोधित करती है। जार्ज लैंसजोवस्की (George Lenczowski) के अनुसार मध्यपूर्व में एशिया के वे सब देश जो सोवियत संघ के दक्षिण में और पाकिस्तान के पश्चिम में स्थित हैं तथा अफ्रीकी महाद्वीप पर स्थित मिस्र सम्मिलित हैं।"[1] परन्तु मार्टिन के अनुसार 'मध्यपूर्व के सीमित अर्थ में मिस्र तथा एशिया के अरब राज्य समझे जाते हैं किन्तु प्राय इसमें ईरान और तुर्की तथा भूमध्य सागर पर अवस्थित लिबिया ट्यूनिसिया अल्जीरिया और मोरक्को का भी समावेश किया जाता है।"[2] श्लीचर के मतानुसार 'यदि इसमें केवल मिस्र से अफगानिस्तान तक के प्रदेश को ही सम्मिलित करें तो इसका क्षेत्रफल २७ लाख वर्गमील है।"[3] कुछ लोग सस्टो का मत न होने के कारण पाकिस्तान को भी मध्यपूर्व में सम्मिलित करते हैं परन्तु अधिकांशतः मध्यपूर्व का तात्पर्य रूस के दक्षिण और पाकिस्तान के पश्चिम में स्थित एशियाई देशों तथा अफ्रीका के दो देशों—मिस्र और सूडान से समझा जाता है। मध्यपूर्व के उल्लेखनीय राज्यों में उन नामों को गिना सकते हैं जिनकी सूची पूर्ववर्ती तालिका में दी जा चुकी है।

मध्यपूर्व का महत्व और उसकी अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के निर्धारक तत्व

मध्यपूर्व की महान महत्ता उसकी विशिष्ट भौगोलिक स्थिति के

---

1 Lenczowski George The Middle East in World Affairs p. xvii
2 Wint Guy Middle East Crisis Page 16
3 Schleicher Introduction to International Relations P 435

कारण है। सैनिक और सामरिक दृष्टि से यह क्षेत्र एक ऐसा भाग है जिसके द्वारा आक्रमणकारी तीन दिशाओं—तीन महाद्वीपों की ओर एक साथ अग्रसर हो सकता है। दूसरे शब्दों में यह वह क्षेत्र है जो यूरोप एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों को एक शृंखला में आबद्ध करता है। विश्व विजय की आकांक्षा से उन्मुक्त किसी भी आक्रमणकारी की योजना को विफल बनाने के लिए मध्यपूर्वीय क्षेत्र की सुरक्षा व्यवस्था का सबल और सुदृढ़ होना अत्यधिक जरूरी है। विश्व के समस्त समुद्री और वायु मार्ग जो व्यापारिक एवं सैनिक दृष्टि से सर्वाधिक उपयोगी हैं मध्यपूर्वी (अथवा पश्चिमी एशिया) से होकर गुजरते हैं। इसके जलमार्ग यूरोप को दक्षिणी और पूर्वी एशिया आस्ट्रेलिया अमेरिका एवं यूरोप से जोड़ते हैं। पश्चिमी यूरोप के औद्योगिक कारखानों में तैयार होने वाला माल दक्षिण-पूर्वी एशिया का इसी प्रदेश के जलमार्गों से होकर जाता है। पश्चिम को अपने उद्योग धन्धों को चलाने का एक प्रधान आवश्यक तत्व पट्रोल भी इसी मार्ग से प्राप्त होता है। स्वेज नहर इसी क्षेत्र में स्थित है तथा काला सागर और भूमध्य सागर को जोड़ने वाले वर्दे दानियाल तथा बास्फोरस जलडमरूमध्य यहीं पर स्थित हैं। ये जलडमरूमध्य अभी टर्की के अधिकार में हैं। रूस ने इन्हें भूतकाल में लेने का काफी प्रयास किया था। उसने १८५४—५६ में क्रिमिया का युद्ध इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु लड़ा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद भी उसने टर्की पर इनकी प्राप्ति हेतु दबाव डाला था। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस क्षेत्र के महत्व को समझते हुए इस क्षेत्र में ग्रीस टर्की आदि की सहायतार्थ ट्रूमैन सिद्धान्त व आइजनहोवर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया था। यदि रूस उपरोक्त जलडमरूमध्यों पर अधिकार कर ले तो उसके जंगी जहाज पूर्वी भूमध्यसागर से होकर एशिया और आस्ट्रेलिया के मार्ग की सुरक्षा को संकट में डाल सकते हैं। नाटो संधि के दक्षिणी पार्श्व की तथा अफ्रीका के उत्तरी तट की सुरक्षा की दृष्टि से रूस का यहाँ आना पश्चिम के लिए सर्वथा अवांछनीय है।

मध्यपूर्व के देशों का एक बड़ा महत्व यह है कि वे टर्की से अफगानिस्तान तक रूस की दक्षिणी सीमा बनाते हैं। अगर यहाँ के देशों में संयुक्त राज्य अमेरिका को सैनिक अड्डे प्राप्त हो जाते हैं तो युद्ध की दशा में वह सोवियत संघ पर सुगमतापूर्वक आक्रमण कर सकता है। स्पष्टतः इसीलिए मध्यपूर्वी क्षेत्र के प्रदेशों पर अपना प्रभाव जमाने की अमरीका व रूस में प्रतिस्पर्द्धा लगी हुई है। इस क्षेत्र में अपना प्रभाव बनाये रखने और साम्यवाद के प्रसार को अवरुद्ध करने के लिए ही पहले बगदाद पैक्ट और बाद में सैण्टो का निर्माण हुआ। इस समय सऊदी अरब के धाहरान स्थान में संयुक्त राज्य अमेरिका का एक बहुत बड़ा हवाई अड्डा है तथा मध्यपूर्व के और भी कई स्थानों पर उसके सैनिक अड्डे हैं। उधर सोवियत रूस भी इस क्षेत्र में अपना प्रभाव स्थापित करने के लिए प्राणपण से सचेष्ट है। संयुक्त अरब गणराज्य सीरिया लेबनान आदि देशों में उसने अपने प्रभाव में उल्लेखनीय वृद्धि की है। आज रूस और अमरिका के संघर्ष में मध्यपूर्व का यह क्षेत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विस्फोटक बन चुका है।

विशाल तेल-सम्पदा

मध्यपूर्व में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक महत्वपूर्ण निर्णायक तत्त्व वहां का तेल भण्डार है। तेल (पैट्रोल) औद्योगिक विकास के लिए एक अनिवार्य वस्तु है। फिर भी एक तथ्य है कि कोई भी आक्रमणकारी अपनी विश्व-विजय की योजना को पूरी करने के लिए सबसे पहले तेल से समृद्ध क्षेत्रों पर ही अपने दांत गड़ाएगा क्योंकि बिना तेल के आधुनिक युद्ध मशीन एक पंगु व्यक्ति के समान बेकार हो जाएगा। मध्यपूर्व का क्षेत्र तेल की दृष्टि से कितना समृद्ध है इसका पता कर्नल मासिर के इस कथन से ही स्पष्ट हो जाता है कि जहां संयुक्त राज्य अमेरिका में पैट्रोल का औसत दनिक-उत्पादन ११ बोल (Barrels और वेनजुएला मे २० बोल है वहां अरब-क्षेत्र में ४ ०० बोल प्रतिदिन निकालने की औसत है। विश्व के संपूर्ण ज्ञात तेल का लगभग ६६ प्रतिशत ईरान की खाड़ी के आसपास के प्रदेशों—मुख्य रूप से कुवैत ईरान ईराक और सऊदी अरब—में पाया जाता है। मध्यपूर्व का यह तेल यूरोप के आर्थिक जीवन का प्राण है सोवियत संघ के लिए प्रबल आकर्षण है और मध्यपूर्व के उद्योगहीन दरिद्र देशों की आय का प्रकृति-प्रदत्त अक्षय-स्रोत है। इस तेल का लगभग ६६ प्रतिशत यूरोप को तथा ३ प्रतिशत से अधिक सुदूरपूर्व तथा संयुक्त राज्य अमेरिका को दिया जाता है। रूस और अमेरिका यद्यपि तेल के सम्बन्ध में लगभग आत्म निर्भर हैं, परन्तु यूरोप अपने लिये आवश्यक तेल का अनुमानतः ८० प्रतिशत मध्यपूर्व से प्राप्त करता है। यदि यूरोप को यह तेल प्राप्त न हो तो उसके अधिकांश उद्योग धंधे ठप्प हो जायेंगे और उसकी सामरिक क्षमता एक बड़ी सीमा तक नष्ट हो जायेगी। यही कारण है कि पश्चिम इस प्रदेश पर अपना प्रभुत्व बनाये रखना चाहता है।

मध्यपूर्व की यह तेल सम्पदा विश्व की सभी प्रमुख शक्तियों के लिए इतना प्रबल आकर्षण है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को 'तेल-कूटनीति' (Oil-Diplomacy) कहा जाने लगा है। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि तेल और पैट्रोलियम के नवीन स्रोतों की खोज के कारण ही जहां एक ओर यह सारा क्षेत्र पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकार बना वहां दूसरी ओर इस तेल के खेल ने इस क्षेत्र में गहन राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना भी उत्पन्न की। विशेषतः ईरान में तेल उद्योग का राष्ट्रीयकरण एक निर्णायक घटना सिद्ध हुआ और उसके बाद से इस क्षेत्र में पश्चिमी साम्राज्यवाद के पनपने के अवसर समाप्त होते चले गये और आज यह सम्पूर्ण क्षेत्र विदेशी दासता से लगभग सर्वथा मुक्त हो चुका है।

मध्यपूर्व के इस तेल के अतिरिक्त इसे निकालने वाली कम्पनियों ने भी इस क्षेत्र को अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व प्रदान किया है। तेल निकालने का कार्य मुख्य रूप से तीन देशों—ब्रिटेन फ्रांस और अमेरिका की कम्पनियां कर रही हैं। द्वितीय महायुद्ध से पूर्व इसमें ब्रिटेन को और द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् संयुक्त राज्य अमेरिका को अधिक सफलता प्राप्त हुई। १९३८ में

ब्रिटिश कम्पनियों ने लगभग एक करोड़ पच्चीस लाख टन तेल का उत्पादन किया जब कि अमेरिकन कम्पनियों के द्वारा किया गया उत्पादन ब्रिटिश उत्पादन का केवल 1/६ भाग अर्थात् २० लाख टन ही रहा। परन्तु १९५४ में अमेरिकन उत्पादन चालीस गुना बढ़ कर ८ करोड़ टन हो गया जबकि ब्रिटिश उत्पादन इसका आधा लगभग $4\frac{1}{2}$ करोड़ टन ही रहा। जहाँ १९३९ में मध्यपूर्व के कुल तेल का केवल १२ प्रतिशत उत्पादन अमेरिकन कम्पनियों द्वारा होता था वहाँ १९५६ में वे मध्यपूर्व के ६० प्रतिशत तेल का उत्पादन करने लगे। इसके विपरीत ब्रिटिश कंपनियाँ १९३९ में इस क्षेत्र के ८० प्रतिशत तेल का उत्पादन करती थीं जबकि १९५६ में उनका भाग केवल ३० प्रतिशत रह गया। आज अमेरिका की लगभग सवा अरब डालर से अधिक पूँजी मध्यपूर्व के तेल-व्यापार में लगी हुई है उसने रास-अल-तनूरा (सऊदी अरब) कुवैत बहरीन में तेल शोधक कारखाने बनाये हैं और सऊदी अरब से लेबनान के समुद्र तट (सैदा) तक पाइप लाइन बना ली है। ब्रिटिश कारखाने कुवैत आदि में हैं।

मध्यपूर्व की विशाल तेल सम्पदा ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति का अखाड़ा बना रखा है।

अरब राष्ट्रीयता और यहूदीवाद से उसका विरोध

मध्यपूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व अरबियों का उग्र राष्ट्रीयवाद और यहूदियों के प्रति उनकी घोर शत्रुता है। प्रथम महायुद्ध के बाद से ही मध्यपूर्व में राष्ट्रीयता का उदय आरम्भ हुआ। सबसे पहले टर्की ने धार्मिक कट्टरता का परित्याग करके पाश्चात्य जीवन प्रणाली और राष्ट्रीय राज्य व्यवस्था को ग्रहण किया। यह महान् क्रांति कमालपाशा के नेतृत्व में संपन्न हुई और आज टर्की अपने आपको एशिया का अङ्ग मानने के स्थान पर यूरोप का अङ्ग मानने लगा है। अरबियों का यह राष्ट्रवाद केवल राजनीतिक स्वतन्त्रता के लक्ष्य तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सामाजिक और आर्थिक क्रांति का भी वाहक बना। यह राष्ट्रीय भावना प्रथम महायुद्ध के बाद मध्यपूर्व के देशों पर थोपी गई नयी राजनीतिक और आर्थिक पराधीनता के कारण और भी अधिक उग्र हो उठी। २२ सितंबर, १९४५ को सिकन्दरिया में 'अरब लीग' की स्थापना के द्वारा इस क्षेत्र के लोगों ने अपनी अरब-एकता की महत्वाकांक्षा को अभिव्यक्त किया। अरब-लीग समूचे मध्यपूर्व के विकास और स्वतन्त्रता की प्रतीक बन गई।

द्वितीय महायुद्ध के बाद मध्य-पूर्व के देशों में जहाँ राजनीतिक चेतना ने स्वतन्त्रता की लहर को फैलाया वहाँ आर्थिक चेतना के फलस्वरूप उन्होंने विदेशों के आर्थिक शोषण के विरुद्ध उठ खड़े होने का संकल्प कर लिया। यह संकल्प विदेशी उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के रूप में अभिव्यक्त हुआ— ईरान द्वारा तेल उद्योग का मिस्र द्वारा स्वेज का और कुवैत द्वारा भी अपने तेल उद्योग का।

राजनीतिक स्वतन्त्रता पा लेने के बाद अरब राष्ट्रवाद का एक रूप अपने देशों में स्थित विदेशी फौजी अड्डों की समाप्ति के रूप मे प्रकट हुआ। ये फौजी अड्डे विदेशी दासता के मूर्तिमान् प्रतीक थे और इनका बना रहना राष्ट्रीय गौरव के लिए घोर कलंक था। अतः मिस्र और ईराक ने अपने देशों से विदेशी फौजों व सैनिक अड्डों को हटाने का प्रबल अभियान छेड़ा। जुलाई १९५८ मे जब अमेरिकन व ब्रिटिश फौजें लेबनान और जोर्डन में उतरीं तो संपूर्ण अरब-जगत ने निन्दा और विरोध का एक तूफान खड़ा कर दिया और अन्त में इन फौजों को शीघ्र ही वहां से हटना पड़ा।

अरब राष्ट्रवाद का एक अन्य रूप यहूदियों के साथ अपने मरणात्मक संघर्ष के रूप में प्रकट हुआ। यद्यपि इस्लाम-यहूदी संघर्ष बहुत प्राचीन काल से चला आ रहा था किन्तु द्वितीय महायुद्ध के बाद यहूदियों के एक पृथक राज्य इजरायल की स्थापना हो जाने से द्वेष और संघर्ष की एक नवीन राजनीति का उदय हुआ जिसमें संयुक्त अरब गणराज्य अरब राष्ट्रों का अगुआ बना। आज अरब-यहूदी संघर्ष मध्यपूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का महत्वपूर्ण निर्धारक तत्व बना हुआ है। यद्यपि अरब राष्ट्रों और इजरायल के मध्य हुए पिछले युद्धों और जून १९६७ के वर्तमान युद्ध ने यह स्पष्ट कर दिया है कि न तो अरब राष्ट्र इजरायल को नष्ट करने की सामर्थ्य रखते हैं और न ही इजरायल अरब-राष्ट्रों से और अधिक प्रदेश छीनने की स्थिति में है फिर भी दोनों पारस्परिक शत्रुता का त्याग करने को प्रस्तुत नहीं है। १९६७ के वर्तमान युद्ध मे जिसका आगे यथा-स्थान वर्णन किया गया है इजरायल ने संयुक्त अरब गणराज्य व दूसरे अरब-देशों की जो कुछ भी भूमि हथिया ली है उस पर वह अपना कब्जा बनाये नहीं रख सकता और इसी तरह अरब राष्ट्र भी इजरायल के अस्तित्व से इन्कार नहीं कर सकते। यदि इन दोनो पक्षों में शान्ति स्थापित हो जाये तो इसमे कोई संदेह नहीं कि मध्यपूर्व का इतिहास एक क्रांतिकारी नवीन मोड़ ले लेगा।

प्रगतिशील तत्वों और सामंतवाद के मध्य संघर्ष

मध्यपूर्व के क्षेत्र में प्रगतिशील और सामंतवादी तत्वों के मध्य का संघर्ष भी एक प्रमुख समस्या है। इसका एक प्रमाण यमन का आंतरिक संघर्ष है जिसमे एक ओर यमन के अपदस्थ शाह के समर्थक तत्व हैं तो दूसरी ओर यमन के क्रांतिकारी। क्रांतिकारियों को संयुक्त अरब गणराज्य और शाही तत्वों को सऊदी अरब का समर्थन मिलता रहा है। यों अरब-लीग के भीतर ये दोनों देश एक-दूसरे के साथ सहयोग करते हैं परन्तु आंतरिक राजनीति में ये एक-दूसरे के प्रतिद्वन्द्वी हैं।

अरब-राज्यों के एकीकरण का स्वप्न

मध्यपूर्व की अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक शतरंज को प्रभावित करने वाली एक महत्वपूर्ण बात अरब-राज्यों के एकीकरण की है। अरब-लीग का यह प्रयास रहा है कि उत्तरी अफ्रीका और मध्यपूर्व के सब अरबी-भाषी राज्यों

का एक स्तंभ बने। वास्तव में यह मुस्लिम-प्रभुता के स्वर्णिम अतीत को पुनः साकार बनाने की योजना है। मिस्र के महान नेता कर्नल नासिर अरब-एकता के इस स्वप्न को साकार करना चाहते हैं। वह समस्त अरब राज्यों के एक संयुक्त गणतन्त्र की स्थापना के विचार के पोषक हैं। उन्होंने १ फरवरी १९५८ को मिस्र तथा सीरिया को संयुक्त करके संयुक्त अरब गणराज्य' की स्थापना करके अरब राज्यों की एकता की दिशा में पहला पग उठाया। इन दोनों देशों का एक शासनाध्यक्ष एक विधान सभा एक संयुक्त सेना और एक भण्डा निश्चित हुआ। ८ मार्च १९५८ को अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखते हुए यमन राज्य भी इसमें सम्मिलित हुआ और संयुक्त अरब राज्यों (United Arab States) का निर्माण हुआ। श्री नासिर की आकांक्षा थी कि इसमें धीरे धीरे ईराक अल्जीरिया जोर्डन सऊदीअरब लेबनान कुवैत मोरक्को लीबिया ट्यूनिशिया मारीटानिया चाड सूडान अदन मस्कत-श्रोमन बहरीन और कातार के प्रदेश भी सम्मिलित हो तथा इन सब के सहयोग से सब अरब राज्यों का एकीकरण हो।

परन्तु श्री नासिर का अरब राज्यो के एकीकरण का यह स्वप्न कुछ आगे बढ़ने के पहिले ही भग हो गया। उग्र आन्तरिक मतभेदो के कारण १ फरवरी १९५८ में स्थापित हुआ मिस्र और सीरिया का संयुक्त राज्य भी अधिक समय तक नहीं चल सका। २६-२८ सितम्बर १९६१ को सीरिया मे क्रांति हुई और वह इस राज्य से पृथक हो गया। २९ सितम्बर को श्री नासिर को यह स्थिति स्वीकार करनी पड़ी। परन्तु उन्होंने अपने देश का नाम मिस्र के स्थान पर संयुक्त अरब गणराज्य' ही रहने दिया। २६ दिसम्बर १९६१ को मिस्र ने यमन के साथ भी अपना संघ समाप्त कर दिया। परन्तु ८ मार्च १९६३ को सीरिया में पुनः एक नासिर समर्थक क्रांति हुई और अप्रैल में मिस्र सीरिया तथा ईराक मे मिल कर पुनः अरब-संघ का निर्माण किया। यह १९५८ के संघ की भाँति सुदृढ़ और एकात्मक नहीं था। इसमें प्रत्येक सदस्य राज्य की पृथक सरकार और संसद की व्यवस्था की गई थी। इसका स्वरूप संघीय (Federal) था। यह संघ भी आगे चल कर भंग हो गया। श्री नासिर का कहना था कि—"हमने संघ को सुदृढ़ इकाई बनाने का प्रयत्न करने में भूल की। इसलिये हम असफल रहे। पूर्ण एकता अव्यावहारिक है। हम इन देशों के प्रतिक्रियावादी और स्वेच्छाचार-पोषक तत्वों से दूर रह कर प्रगतिशील राजनीतिक दलों के सहयोग से अरब राष्ट्र संघ बनाने का लक्ष्य पूरा करना है।

भविष्य ही यह बतायगा कि अरब राज्यो की एकता का प्रयास कहाँ तक सफल होता है। अरब राज्यो में एकता का एकमात्र आधार इजरायल का उग्र विरोध ही प्रतीत होता है किन्तु जून १९६७ में इजरायल के साथ संघर्ष में बुरी तरह पराजित होने के बाद एकता के इस आधार को आघात पहुँचा है और कतिपय अरब राष्ट्र इजरायल के प्रति अपनी नीति पर पुनर्विचार आवश्यक समझने लगे हैं। यद्यपि इस पराजय ने नासिर की प्रतिष्ठा को गहरी क्षति पहुँचाई है और उन नेतृत्व को प्रत्यक्ष रूप से

चुनौतियां मिलने लगी है और वह स्वयं भी इजरायल के प्रति यथार्थवादी नीति अपनाने की दिशा में झुके हैं तो भी शूमैन (Schuman) के इन शब्दों की सत्यता अभी बहुत कुछ स्थिर है कि — 'नासिर युगों पुरानी अरब महत्वाकांक्षाओं का केन्द्रीय प्रतीक बन गया है और इन महत्वाकांक्षाओं की आंशिक पूर्ति ही इजरायल के लिए नवीन संकटों सोवियत संघ के लिए तमाम अवसरों तथा अमेरिका के लिए नवीन दुविधाओं की सम्भावना उत्पन्न करती है।'[1]

यह उल्लेखनीय है कि राजनीतिक चेतना के बावजूद राजनीतिक दृष्टि से मध्य-पूर्व के क्षेत्र में अभी तक राजनीतिक स्थिरता नहीं आई है। १९५२ की क्रांति से पहले दस वर्षों में मिस्र में १७ सरकारें बदलती रही और अब भी वहां तानाशाही तरह का ही शासन है और कोई नहीं कह सकता कि वर्तमान में नासिर के नेतृत्व को कब उखाड़ दिया जाय। १९४९ से १९५४ तक सीरिया में २४ सरकारें बदली और आज भी वहां की राजनीतिक दशा अस्थिर है। मध्य-पूर्व सैनिक षड्यंत्रों और शासनाध्यक्षों की हत्याओं का घर कहा जा सकता है। यहां के अधिकांश देशों में सरकारों का आना-जाना चलता ही रहता है।

अब हम मध्यपूर्व के प्रमुख राष्ट्रों व अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों पर दृष्टिपात करेंगे।

संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र)
(United Arab Republic–Egypt)

जैसा कि बताया जा चुका है संयुक्त अरब गणराज्य का पुराना नाम मिस्र है। यह नाम मिस्र और सीरिया के संघ का निर्माण होने पर रखा गया था परन्तु सितम्बर १९६० में सीरिया अरब गणराज्य से पृथक हो गया और मिस्र ने अपना नाम संयुक्त अरब गणराज्य ही बनाये रखने का निश्चय किया। मिस्र का कुल क्षेत्रफल ३,८६,१९८ वर्गमील है और जनसंख्या लगभग साढ़े तीन करोड़ है। इसकी राजधानी काहिरा है।

बहुत समय तक मानव सभ्यता का यह प्राचीन स्थल टर्की के आटोमन साम्राज्य का अङ्ग रहा। १९ वीं शताब्दी के आरम्भ में मिस्र के तुर्की पाशा मोहम्मद अली ने खदीव की उपाधि लेकर स्वतन्त्र मिस्र की स्थापना की यद्यपि उस समय भी टर्की का प्रभाव उस पर कायम रहा। प्रथम महायुद्ध के दौरान *टर्की द्वारा जर्मनी से मिल जाने पर ब्रिटेन ने मिस्र को टर्की के नियन्त्रण से* पूर्णतः मुक्त कर अपने संरक्षण में ले लिया। २८ फरवरी १९२२ को ब्रिटेन ने अपना संरक्षण समाप्त कर के मिस्र को सर्वोच्च प्रभुता सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य माना परन्तु साथ ही यह निर्णय भी हुआ कि जब तक दोनों में निम्न विषयों पर कोई अन्य समझौता नहीं हो जाता तब तक इन पर ब्रिटिश

1 Schuman International Politics Page 431

सरकार का पूरा अधिकार माना जायगा—(i) मिस्र में ब्रिटिश साम्राज्य के मार्गों की सुरक्षा (ii) प्रत्यक्ष या परोक्ष विदेशी आक्रमणों और हस्तक्षेप से मिस्र की रक्षा एवं (iii) मिस्र और सूडान में विदेशी हितों तथा अल्पसंख्यकों का संरक्षण। परन्तु मिस्रवासी इससे संतुष्ट नहीं हुए और उन्होंने विदेशी प्रभाव से पूर्ण मुक्ति का आन्दोलन छेड़ दिया। अगस्त १९३६ में दोनों पक्षों में यह समझौता हुआ कि युद्धकाल में वे परस्पर सहायता देंगे मिस्र युद्ध के समय ब्रिटेन को सब सुविधायें प्रदान करेगा परन्तु शांति-काल में ब्रिटेन के दस हजार सैनिकों और चार सौ चालकों से अधिक सेना स्वेज नहर के उत्तरी सिरे पर नहीं रहेगी।

द्वितीय महायुद्ध में यद्यपि मिस्र ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा नहीं की किन्तु ब्रिटेन और अन्य मित्र राष्ट्रों ने इस देश का सैनिक छावनियों की भांति प्रयोग किया। बाद में १९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माण के लिए होने वाले सानफ्रांसिस्को सम्मेलन में प्रतिनिधित्व प्राप्त करने की दृष्टि से मिस्र ने जर्मनी और जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

एंग्लो मिस्री संघर्ष राजतन्त्र का अन्त व सैनिक शासन की स्थापना और स्वेज का राष्ट्रीयकरण

महायुद्ध समाप्त होने के बाद से ही मिस्र और ब्रिटेन के सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। मिस्र ने यह मांग की कि उसकी भूमि से सम्पूर्ण ब्रिटिश सेनायें हटा ली जायें। मिस्री राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता चाहते थे कि १९३६ की संधि रद्द कर दी जाये स्वेज नहर के क्षेत्र से ब्रिटिश सेनायें हट जायें और स्वेज का राष्ट्रीयकरण हो। सूडान भी दोनों देशों के मध्य संघर्ष का एक प्रधान कारण बना। उस समय तक सूडान पर ब्रिटिश नियन्त्रण था जबकि मिस्र उस पर अपना प्रभुत्व स्थापित करना चाहता था। धीरे-धीरे दोनों देशों के संबंध कटुतर होते गये। ब्रिटेन अब केवल स्वेज-क्षेत्र से ही संतुष्ट न था बल्कि मिस्र को स्थायी तौर पर अपनी एक सैनिक छावनी के रूप में रखना चाहता था ताकि वह मध्यपूर्व के देशों में अपने हितों की रक्षा कर सके। दूसरी ओर एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों में आत्म-चेतना की प्रबल लहर फैल चुकी थी और मिस्र की जनता अपने राष्ट्रीय हितों की रक्षा के लिये कटिबद्ध थी।

दोनों पक्षों के मध्य जो समझौता-वार्ता चली उसके फलस्वरूप १९४६ में मिस्री प्रधानमन्त्री सिदकी ने ब्रिटिश विदेश मन्त्री बेविन के साथ एक समझौता करके यह तय किया कि ब्रिटिश सेना काहिरा और सिकन्दरिया से ३१ मार्च १९४७ तक तथा शेष भाग से सितम्बर १९४९ तक हट जायेगी। परन्तु यह समझौता क्रियान्वित नहीं हो सका। फलस्वरूप ८ जुलाई १९४७ को मिस्र ने संयुक्त राष्ट्र संघ में मामला पेश कर दिया। मिस्र द्वारा सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की गई कि मिस्री

परीक्षण की स्थिति एक स्थायी सत्य बन चुकी है। इसका एक खास कारण यह है कि साइप्रस की लगभग ६ लाख जन-संख्या में यूनानी ईसाइयों की संख्या ८० प्रतिशत के लगभग है। यूनानी साइप्रस वासियों की अपनी सेना है और उन्हें अपनी मुख्य भूमि यूनान से लगातार मदद मिल रही है। लगभग २० हजार यूनानी सैनिक भी साइप्रस में मौजूद हैं। ऐसी स्थिति में वे किसी भी समय तुर्क साइप्रस वासियों के इलाके पर अधिकार कर सकते हैं। इधर तुर्क साइप्रस वासियों को भी टर्की सरकार का पूरा समर्थन प्राप्त है। १९६४ में टर्की ने स्पष्ट कर दिया था कि यदि तुर्क साइप्रस वासियों को कुचलने या उन्हें साइप्रस से खदेड़ने की कोशिश की गई तो स्थिति का सामना करने के लिए टर्की साइप्रस में अपनी वायु सेना का प्रयोग करेगा और आवश्यकता पड़ने पर यूनान से भी दो दो हाथ करने में कतरायेगा नहीं। यह कोरी धमकी न थी। उस समय टर्की ने बमबारी की थी और इस बार भी नवम्बर-दिसम्बर १९६७ में कई बार उसके एफ १०४ जैट विमानों ने साइप्रस पर उड़ानें भरी हैं। ऐसी दशा में तुर्क सिप्रसी स्थानीय संघर्षों में भले ही यूनानी सिप्रसियों के हाथों मार खा जायें लेकिन किसी बड़ी लड़ाई के लिये वे किसी भी स्थिति में युद्ध को असमर्थ नहीं समझते हैं। यही कारण है कि दोनों पक्षों में बराबर तनातनी बनी रहती है और जब-तब हाथापाई भी हो जाती है। यह सत्य है कि सिप्रस में यूनानी सिप्रसियों की शक्ति तुर्क सिप्रसियों से कहीं अधिक है, लेकिन तुर्की सरकार द्वारा कार्यवाही की जाने की आशंका से यूनानी सिप्रसी नेताओं ने १९६४ के बाद भी तुर्क सिप्रसियों के इलाकों पर बड़ा हमला करने की जुर्रत नहीं की। हालांकि सिप्रस में संयुक्त राष्ट्र के ४ ०० सैनिक मौजूद हैं लेकिन यूनानी सिप्रसी सेनायें यदि तुर्क सिप्रसी इलाकों पर कोई बड़ा आक्रमण कर तो ये सैनिक संघर्ष रोकने के लिये ना काफी होंगे और तुर्की से भी सहायता पहुंचने में कुछ विलम्ब लगेगा फिर भी पिछले वर्षों में किसी भी यूनानी सरकार ने सिप्रस में बड़ी लड़ाई छेड़ने का खतरा मोल नहीं लिया। यूनानी सरकारें सिप्रस की समस्या का सैनिक समाधान करने से क्यों कतराती रही हैं? शायद इसका सब से प्रमुख कारण यही है कि सिप्रस में यूनानी सेनाओं के प्रधान सेनापति जनरल ग्रिवास की यह नीति रही है कि यदि तुर्क सिप्रसियों के विरुद्ध तरह-तरह की आक्रामकियां की जाती रहीं तो एक न एक दिन वे अपनी पराजय स्वीकार कर लेंगे। इसी उद्देश्य से तुर्क सिप्रसियों के साथ आये दिन छेड़खानियां की जाती हैं। हाल के हिंसक कांड भी इसी नीति के परिणाम थे।

टर्की
[Turkey]

टर्की मध्य पूर्व का होते हुए भी अनेक दृष्टियों से इस क्षेत्र के देशों से भिन्न है और यूरोपियन सभ्यता की समानता रखता है। यूरोप से लगा होने के कारण टर्की एक लम्बे समय तक यूरोप के महान् राज्यों में से एक गिना जाता रहा था। आज भी टर्की यूरोप के विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों से घनिष्ट रूप से संबंधित है। इसलिये टर्की को अंशतः यूरोपियन और अंशतः पूर्वीय राज्य (Partly European & Partly Middle Eastern)

कहना अनुचित न होगा। सामाजिक और राजनीतिक एकता तथा सैनिक शक्ति की दृष्टि से टर्की आज भी मध्य पूर्व की महानतम शक्ति में से एक है।

एक राष्ट्रीय राज्य के रूप में टर्की का इतिहास प्रथम महायुद्ध से प्रारम्भ होता है। मध्यपूर्व में राष्ट्रीय आन्दोलन का प्रारम्भ सब प्रथम टर्की में ही हुआ, प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर टर्की एक दुर्बल और पतनोन्मुख देश था। प्रथम महायुद्ध में समस्त केन्द्रीय यूरोपीय देशों में टर्की की पराजय सर्वाधिक रूप से हुई थी और उसकी राजधानी तक पर मित्र राष्ट्रीय सेनाओं का कब्जा हो गया था। युद्ध में इस पूर्ण पराजय ने टर्की को सेव की अपमानजनक सधि पर हस्ताक्षर करने को विवश कर दिया। यह सधि १० अगस्त १९२० को की गई जिसके अनुसार टर्की ने लगभग अपनी सम्पूर्ण गैर-तुर्की जनसंख्या की प्रभुसत्ता समर्पित की और मिश्र सूडान साइप्रस मुरक्का ट्यूनेशिया अरब फिलिस्तीन मैसोपोटामिया और सीरिया आदि पर अपने सब अधिकारों का परित्याग किया इस सधि के फलस्वरूप उसे अपने साम्राज्य के विभिन्न भागों से हाथ धोना पड़ा। टर्की द्वारा शासित पहिले वाले अरब राज्य ब्रिटेन और फ्रांस के संरक्षण में रख दिये गये। टर्की ने आरमीनिया (Arminia) को स्वतन्त्रता राज्य स्वीकार किया और कुरदिस्तान को भी स्वतंत्रता देने का वचन दिया। इस सधि में टर्की के विशाल साम्राज्य में केवल अनातोलिया का पहाड़ी भाग और कुस्तुनुनिया (Constantinople) के आसपास का कुछ प्रदेश ही रह गया।

इस संधि का सम्पूर्ण टर्की में उग्र विरोध हुआ और टर्की के तत्कालीन सुल्तान के प्रतिनिधियों द्वारा हस्ताक्षर कर दिये जाने पर भी इसकी सम्पुष्टि और क्रियान्विति नहीं हुई। मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व मे राष्ट्रवादियों ने सुल्तान को उखाड़ फैंका। २९ अक्टूबर १९२३ को टर्की एक गणतन्त्र राज्य घोषित किया गया जिसका प्रथम राष्ट्रपति कमालपाशा बना। उसने सेव की संधि ठुकरा दी और बाध्य हो कर पश्चिमी राष्ट्रों व रूस आदि को लोसाने की संधि १९२३ में सम्पन्न करनी पड़ी जो से है की भावना की प्रतीक थी। इस संधि के बाद टर्की के जीवन में आत्मसम्मान और ख्याती के एक नये युग का समारम्भ हुआ।

टर्की ने पश्चिमी शक्तियों की सफलतापूर्वक अवहेलना प्रकट कर दी लेकिन पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति का स्वागत करने में कोई हिचक प्रदर्शित न की। कमाल पाशा के योग्य निर्देशन में टर्की ने अपना आधुनिकीकरण किया और वह शीघ्र ही एक प्रगतिशील राष्ट्र बन गया। द्वितीय महायुद्ध में मित्र राष्ट्रों और धुरी राष्ट्रों-दोनों पक्षों की ओर से टर्की पर युद्ध म शामिल होने के लिए दबाव डाला गया परन्तु टर्की किसी न किसी प्रकार अपनी तटस्थता को युद्ध के अन्तिम अवस्था तक सुरक्षित रख पाया। सन् १९४५ के प्रारम्भ में लन्दन और वाशिंगटन में घोषणा की कि संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के लिए आयोजित किए जाने वाले सान् फ्रांसिस्को सम्मेलन में केवल वे ही राष्ट्र आमंत्रित होंगे जिन्होंने एक मार्च से पहिले-२ धुरी राष्ट्रों

के विरुद्ध युद्ध घोषित कर दिया है। अतः विवश होकर १८ फरवरी, १९४५ को टर्की ने भी जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

द्वितीय महायुद्ध के बाद टर्की

अभी युद्ध समाप्त ही हुआ था कि सोवियत संघ ने टर्की के प्रति शत्रुतापूर्ण रुख अपना लिया। रूस ने १९२१ में हुई 'रूसी-टर्की मैत्री सन्धि' जो सन् १९४५ में खत्म होने वाली थी निन्दा की। साथ ही उसने टर्की के अरादान (Aradan) तथा कार्स (Kars) क्षेत्रों पर भी दावा किया। टर्की रूस के साथ अपने सम्बन्धों पर पुनर्विचार के लिये तत्पर था लेकिन वह अपनी प्रभुसत्ता अथवा भूमि से सम्बन्धित रूसी मांगों के समक्ष नतमस्तक होने के लिये तैयार नहीं था। अतः उसने सभी रूसी मांगों को अस्वीकार कर दिया।

सोवियत संघ के शत्रुतापूर्ण रवैये का परिणाम यह हुआ कि टर्की पश्चिमी राष्ट्रों की शरण में जाने के लिये विवश हो गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने १९४७ में टर्की को आर्थिक और सैनिक सहायता देना स्वीकार कर लिया। अमेरिका ने मार्शल योजना निर्धारित की जिसका उद्देश्य यूरोप के आर्थिक पुनर्निर्माण की गति को बल प्रदान करना था। इस योजना में टर्की को भी सम्मिलित किया गया। इसके बाद टर्की निरन्तर पश्चिमी राष्ट्रों के निकट आता चला गया। मार्च १९४८ में वह 'यूरोपीय पुनर्निर्माण कार्यक्रम" में सम्मिलित हुआ और अमेरिका ने उसे अपने विकास हितों के लिये आर्थिक और प्राविधिक सहायता प्रदान की। सन् १९४९ में उसे 'यूरोपीय परिषद" का एक संस्थापक सदस्य बनाया गया। वह 'यूरोपीय भुगतान संघ" का भी सदस्य बना। अगस्त १९५० में टर्की ने नाटो की सदस्यता के लिये प्रार्थना की जो प्रारम्भ में कुछ सामरिक कारणों से अस्वीकृत कर दी गई किन्तु फरवरी १९५२ में स्वीकार कर ली गई। टर्की को नाटो की सदस्यता प्रदान करके पश्चिमी राष्ट्रों ने यह आश्वासन दिया कि आक्रमण की स्थिति में उसे उनकी प्रत्येक सम्भव सहायता मिलेगी। टर्की ने कोरिया में लड़ाई के समय संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनाओं में अपनी ओर से ५,००० सैनिक भेजे। १९५१ में उसने "मध्य पूर्वी प्रतिरक्षा संगठन' की स्थापना के प्रस्ताव का स्वागत किया। फरवरी १९५४ में टर्की और पाकिस्तान ने शांति और सुरक्षा तथा अन्य विषयों पर परस्पर निकटतर सहयोग करने की घोषणा की। फरवरी १९५५ में टर्की और ईराक के मध्य एक प्रतिरक्षा समझौता हुआ और इसी वर्ष नवम्बर में टर्की द्वारा "बगदाद पैक्ट" पर भी हस्ताक्षर कर दिये गये। १९५५ में ही इटली और टर्की के मध्य मैत्री के निकट सम्बन्धों" की स्थापना हुई। टर्की ने नाटो के प्रति अपनी दृढ़ निष्ठा व्यक्त की। मार्च १९५६ में टर्की के प्रधानमंत्री ने पाकिस्तान की यात्रा की और दोनों ही देशों ने बगदाद पैक्ट में पूर्ण विश्वास व्यक्त किया। फरवरी १९५७ में इंगलैंड के प्रति अपने ऋण के भुगतान के लिये टर्की ने उसके साथ एक नया समझौता किया।

चूंकि टर्की अपने आर्थिक विकास के लिये विशेष चिंतित था अतः पश्चिमी जर्मनी संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और कनाडा ने उसे आर्थिक सहायता देने में विशेष अभिरुचि प्रकट की। इसके अतिरिक्त उसे अन्तर्राष्ट्रीय वित्त कोष से भी पर्याप्त आर्थिक सहायता प्राप्त हुई। मई १९५७ में जर्मनी के "क्रुप औद्योगिक संगठन" ने टर्की को औद्योगिक विकास में सहायता देने के लिये उसके साथ दो समझौते किये। मार्च १९५७ में घोषणा की गई कि वाशिंगटन और अंकारा (अमेरिका व टर्की) अन्तर्राष्ट्रीय साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने में पारस्परिक सहयोग को जारी रखने पर एक मत हैं तथा अमेरिका टर्की को वित्तीय सहायता देगा। कनाडा ने "नाटो-पारस्परिक सहायता समझौते" के अन्तर्गत टर्की को कुछ युद्धपोत देने का निश्चय किया। जनवरी १९५८ में अमेरिका ने टर्की को दी जा रही प्राविधिक आर्थिक व वैज्ञानिक सहायता में वृद्धि कर दी। मार्च १९५९ में एक ओर अमेरिका तथा दूसरी ओर टर्की ईरान और पाकिस्तान में द्विपक्षीय प्रतिरक्षा समझौते सम्पन्न हुए। अप्रेल १९५९ में टर्की और स्पेन के मध्य शांति तथा स्थायी मैत्री की संधि हुई। जून में टर्की ने इटली के साथ आर्थिक व प्राविधिक सहयोग विषयक समझौता किया। अक्टूबर १९५९ में टर्की के प्रधानमन्त्री मेंडेरेस ने सैंटो (बगदाद पैक्ट का नया नाम) की मन्त्री परिषद की बैठक में भाग लिया। इस तरह टर्की अधिकाधिक पाश्चात्य देशों के प्रभाव में चला गया।

२७ मई १९६० को टर्की के सेनापति गुरसेल ने राष्ट्रपति बेयर तथा प्रधानमंत्री मेन्डेरस को कैद करके सैनिक शासन की स्थापना कर ली। इस क्रांति से टर्की में लोकतन्त्र को भारी हानि पहुंची तथापि नई सरकार ने पुरानी सरकार की अन्तर्राष्ट्रीय नीतियों को चालू रखने की घोषणा की। सितम्बर १९६१ में सीरिया ने संयुक्त अरब गणराज्य से कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये परन्तु अप्रेल १९६३ में ये सम्बन्ध पुनः स्थापित हो गये। सैंटो का सदस्य होने के नाते और पाकिस्तान से घनिष्ट सम्पर्क रखने के कारण भारत के प्रति टर्की का रवैया आपत्तिजनक ही रहा है।

टर्की की वर्तमान सरकार पूर्णतः पश्चिमी गुट के साथ है। साइप्रस के विषय में उसने बहुत उग्र रुख अपना लिया है। वह चाहता है कि साइप्रस का बटवारा कर दिया जाए तथा साइप्रस की तुर्क जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार प्राप्त हो।

ईराक
(Iraq)

ईराक के उत्तर में टर्की पश्चिम में सीरिया और जोर्डन दक्षिण में सऊदी अरब दक्षिण पूर्व में कुवैत और फारस की खाड़ी के तट का एक छोटा-सा भाग तथा पूर्व में ईरान है। बगदाद उसकी राजधानी "इस्लाम सरकारी धर्म और अरबी सरकारी भाषा।

सन् १९०७ में ईराक ओटोमन अथवा टर्की साम्राज्य का एक भाग बन गया था। परन्तु प्रथम महायुद्ध के समय जब टर्की ने धुरी राष्ट्रों का साथ दिया तो ब्रिटिश सेनाओं ने ईराक पर आधिपत्य जमा लिया। महायुद्ध के बाद राष्ट्र संघ के निर्णय के अनुसार १९२० में ईराक को ब्रिटिश संरक्षता के अन्तर्गत (U der British Mandate) रख दिया गया। ब्रिटिश संरक्षण से ईराक के लोगों को बड़ा असंतोष हुआ। ईराकी राष्ट्रवादियों ने बड़े उग्र रूप से यह मांग की कि ईराक को तुरन्त स्वतन्त्रता प्रदान की जाए और उसे सीरिया में सम्मिलित होने दिया जाए। ईराक की बिगड़ती हुई राजनीतिक स्थिति को देखकर ब्रिटिश सरकार ने शरीफ हुसैन के पुत्र फैजल को ईराक की गद्दी पर बिठाने के लिये आमंत्रित किया जिसको कि १९२० मे फ्रांसीसियों ने सीरिया से निकाल दिया था। फैजल अगस्त १९२१ में विधिवत ईराक की गद्दी पर बैठा दिया गया। उसने अक्टूबर १९२२ में ब्रिटेन के साथ एक संधि की जिसके अनुसार ईराक स्थित ब्रिटिश हाई कमिश्नर शाह फैजल का सलाहकार हो गया। इस स्थिति संधि में संरक्षण की व्यवस्थायें और ईराक में ब्रिटेन के विशेष स्वार्थों की गारन्टी" समाविष्ट थी। ईराकियों को इस संधि से संतोष नहीं हुआ क्योंकि वे तो ब्रिटिश गुलामी से प्रत्येक रूप में शीघ्रातिशीघ्र मुक्त होना चाहते थे। राष्ट्रवादियों के बढ़ते हुए आन्दोलन के फलस्वरूप १९३० में एक नई एंग्लो ईराकी संधि सम्पन्न हुई जिसके द्वारा ब्रिटेन ईराक मे अपना संरक्षण समाप्त करने और साथ ही ईराक को राष्ट्र संघ का सदस्य बनाने में पूरा समर्थन देने को सहमत हो गया। परन्तु इस संधि के द्वारा भी उसने ईराक में अपने अनेक व्यापक अधिकार और हित बनाये रखे। उसे कुछ क्षेत्रों में हवाई अड्डे बनाने और ब्रिटिश सेनायें रखने का अधिकार भी मिला। ईराकी राष्ट्रवादियों ने इस संधि का विरोध करना भी निरन्तर जारी रखा। सितम्बर १९३३ में शाह फैजल के मरने पर उसका युवक पुत्र गाजी गद्दी पर बैठा जिससे १९३६ में सेना ने सत्ता हथिया ली। अमैत्री के वातावरण मे ब्रिटेन और ईराक के सम्बन्ध बिगड़ते चले गये। १९३६ में सेना द्वारा शासन अपहरण के पश्चात ईराक में नाजीवाद की भावनायें उभर आई। १९३९ में बालक फैजल द्वितीय ईराक की गद्दी पर बैठा।

सितम्बर, १९३९ मे द्वितीय महायुद्ध आरम्भ होने पर १९३० की एंग्लो ईराकी संधि के अनुसार ईराक ने धुरी राष्ट्रों के साथ अपने सम्बन्ध समाप्त कर लिये जबकि आन्दोलनकर्ता राष्ट्रवादियों की मांग थी कि युद्ध न किया जाए और जर्मनी के साथ अपने कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना हो। अप्रेल १९४१ में ईराक म पुन सैनिक क्रांति हुई और नई सैनिक सरकार ने युद्ध मध्यस्थता घोषित करते हुए धुरी राष्ट्रों का पक्ष लिया। इस घटना से ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्ध विशेष रूप से बिगड़ गये। ईराकी सैनिक सरकार के नेता रशीद अली किलानी ने १९४२ में ब्रिटिश फौजों को अपने प्रदेश से गुजरने की अनुमति नहीं दी। अपने सैनिक हितों को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने ईराक पर हमला कर दिया रशीद अली की सरकार को उखाड़ फेंका और सम्राट् फैजल को वापिस गद्दी-नशीन करके अपने अनुकूल

सरकार का निर्माण कर लिया। शासक फज़ल के संरक्षक शासनकर्ताओं ने ब्रिटेन के साथ समस्त विरोध समाप्त कर दिया और मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयत्नों में पूरा सहयोग दिया। जनवरी १९४३ में ईराक ने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी और १९४५ में संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र पर भी हस्ताक्षर किये।

द्वितीय महायुद्ध के बाद ईराक

द्वितीय महायुद्ध के अंतिम दिनों में ईराक और ब्रिटेन के सम्बन्धों में तनाव आने लग गया क्योंकि प्रथम तो १९३० की संधि द्वारा ब्रिटेन ने ईराक पर जो अनुचित प्रतिबन्ध लगा रखे थे उनसे जनता को असंतोष था और द्वितीय इराकी जनता को ब्रिटेन की पेलेस्टाइन नीति कतई पसन्द न थी। ईराक अरब देशों की मैत्री का प्रबल समर्थक था और अरब राष्ट्रवाद के उदय में अपना योगदान देने की नीति से विलग होना उसे रुचिकर नहीं था। १९४५ में उसने अरब मैत्री संधि घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर कर दिये थे।

महायुद्ध के बाद ईराक ने ब्रिटेन से कहा कि वह अपनी फौजें ईराकी भूमि से हटा ले और अन्ततः सन् १९४७ तक केवल दो अड्डों को छोड़कर सारे ईराक से ब्रिटिश सेनायें हटा ली गई। ईराक ने जोर्डन और टर्की के साथ अपनी मैत्री संधि स्थापित की। जनवरी १९४८ में ब्रिटेन के साथ पुन एक संधि की गई जिसके द्वारा ब्रिटेन ने ईराकी रेल्वे पर से अपने अधिकार छोड़े और बसरा के बन्दरगाह का प्रशासन एवम् हवाई अड्डे ईराक को सौंप दिये। बदले में ईराक ने ब्रिटेन को वचन दिया कि वह शांति संधियां लागू होते ही उसे हवाई अड्डों का प्रयोग करने देगा और युद्ध की सम्भावना होने पर उसे सैनिक सुविधायें भी प्रदान करेगा। परन्तु ईराकी जनता ने इस संधि का तीव्र विरोध किया जिसके कारण संधि रद्द कर दी गई और ईराकी प्रधानमन्त्री को त्याग-पत्र देना पड़ा। ईराक में भी ईरान की भांति ही तेल उद्योग का प्रश्न उठा और १९५२ में ईराक को यह आश्वासन प्राप्त हो गया कि उसे प्रति वर्ष दो करोड़ पौंड की राशि तेल की रोयल्टी के रूप में मिलेगी। परन्तु ब्रिटिश और फ्रैंच तेल कम्पनियों के साथ हुए इस समझौते से सारे देश में विद्रोह उठ खड़ा हुआ जिसका परिणाम सन् १९५२ म सैनिक शासन की स्थापना हुई।

इस समय ईराक स्वयं को साम्यवादियों की ओर से सुरक्षित अनुभव नहीं करता था। मार्च १९५० में ही ईराक के तत्कालीन प्रधानमन्त्री ने जनता से कहा था कि ईराक को सोवियत प्रभाव से सर्वाधिक खतरा है तथा इस देश को साम्यवाद के प्रसार के लिये एक "भावी पुल" के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ईराकी सरकार का यह भी विश्वास था कि ईराकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में मिस्र एक बहुत बड़ी बाधा का काम कर रहा है। अत आंतरिक स्थिति और बाह्य हित एवम् साम्यवाद के संभावित खतरे आदि की दृष्टि से ईराक ने पश्चिमी गुट की ओर झुकना ही

लाभप्रद देखा। लेकिन साथ ही अरब एकता के स्वप्न का भी उसने परित्याग नहीं किया। फरवरी १९५५ में टर्की और ईराक के मध्य पारस्परिक सहयोग की एक सन्धि हुई। मिस्र और सीरिया ने इस सन्धि का कटु विरोध किया और दोनों ही देशों में ईराक विरोधी प्रदर्शन हुए।

ईराक ने विभिन्न पश्चिमी एशियाई देशों के विरोध की कोई परवाह न करते हुए अपने गठबन्धन का विस्तार करने की योजना बनाई।

अप्रैल, १९५५ को ईराक ने ब्रिटेन के साथ एक मैत्री सन्धि की। धीरे-धीरे इस सन्धि में पाकिस्तान और ईरान भी सम्मिलित हो गये और इसे बगदाद सन्धि के नाम से पुकारा जाने लगा। इस सन्धि को संयुक्त राज्य अमेरिका का आशीर्वाद प्राप्त था और उसने ईराक को लगभग ७० लाख डालर सहायता के तौर पर दिये तथा सन्धि संगठन को सैनिक सहायता देने का वचन दिया। बगदाद और वाशिंगटन में अणुशक्ति के शांतिपूर्ण उपयोग पर भी एक समझौता हुआ। ब्रिटेन के साथ ईराक की मैत्री उस समय संकट में पड़ गई जब स्वेज नहर को लेकर ब्रिटेन ने मिस्र पर सैनिक आक्रमण कर दिया। ईराक ने ब्रिटेन से सेनायें हटाने की मांग की। नवम्बर १९५६ में बेरूत में होने वाले अरब राज्यों के मुखियाओं के सम्मेलन में ईराक के शाह फैसल ने भाग लिया और उस वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये जिसमें आक्रमणकारियों से अविलम्ब व बिना शर्त अपनी सेनायें मिस्र से हटाने की मांग की गई थी। यही नहीं ईराक ने बगदाद सन्धि संगठन में भी ब्रिटेन का बहिष्कार प्रारम्भ कर दिया। लेकिन आक्रमण समाप्त होने पर दोनों देशों के सम्बन्ध फिर से सुधरने शुरू हो गये। अप्रैल १९५६ में ब्रिटेन ने ईराक को कुछ लड़ाकू वायुयान प्रदान किये। १९५७ में ईराक ने संयुक्त राज्य अमेरिका की आइजन हावर योजना के अन्तर्गत सैनिक सहायता लेना स्वीकार कर लिया। अमेरिका ने उसके निर्माण कार्यों में सहायता देने का वचन दिया और ईराक ने यह घोषणा की कि वह सोवियत साम्यवाद को अपनी ओर नहीं बढ़ने देगा।

१४ जुलाई १९५८ को अकस्मात ही अब्दुल करीम कासिम के नेतृत्व में ईराकी सेना ने क्रांति कर दी और सम्राट फैसल को उनके पुत्र व प्रधानमंत्री सहित मार डाला। क्रांति के कारणों की व्याख्या करते हुए २२ जुलाई, १९५८ को कासिम ने कहा कि "यह क्रांति ईराक की जनता को देश के आंतरिक मामलों में व्यापक भ्रष्टाचार एवम् अत्याचार से बचाने के लिये की गई है पुराने शासन के अन्तगत ईराक में न कोई कानून था और न ही कोई न्याय था। उस शासन के अन्तर्गत कानून प्रशासन का एक मात्र उद्देश्य शासक वर्ग के हितों की वृद्धि करना था। परन्तु अब जिन व्यक्तियों ने सत्ता धारण की है वे जनता के हितों को सर्वोच्च स्थान देंगे और स्वयं को कानून से मुक्त करने अथवा न्याय को विकृत करने की कभी चेष्टा नहीं करेंगे।"

क्रांति के पश्चात देश में गणतन्त्रात्मक सरकार बनाई गई जिसका नेतृत्व कासिम ने किया। इस सरकार को मिस्र सोवियत संघ पूर्वी यूरोप के साम्यवादी देशों युगोस्लाविया साम्यवादी चीन इण्डोनेशिया टर्की पाकिस्तान ईरान और लंका के अतिरिक्त पश्चिमी जर्मनी यूनान बेल्जियम और जापान ने भी मान्यता प्रदान की। धीरे-धीरे ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका और अन्य पश्चिमी राज्यों ने भी नई सरकार को मान्यता प्रदान कर दी। फ्रांस ने जिसने कि १९५६ में स्वेज संकट के समय ईराक ने कूटनीतिक सम्बन्ध तोड़ लिये थे इन सम्बन्धों की पुनः स्थापना का प्रस्ताव रखा। परन्तु उसकी अल्जीरिया नीति के कारण ईराक ने ४ अगस्त १९५८ को यह सुझाव अस्वीकृत कर दिया। ईराक में सैनिक प्रशासन भी शांतिपूर्ण न रह सका। जनरल कासिम ने अनुभव किया कि यद्यपि प्रधानमंत्री आरिफ उसे सत्ता से हटाना और ईराक को संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) के साथ मिलाना चाहता है। अतः ४ नवम्बर १९५९ को आरिफ को गिरफ्तार कर लिया गया और फांसी की सजा सुना दी गई यद्यपि फांसी दी नहीं गई क्योंकि बाद में जनरल कासिम ने उसे क्षमा कर दिया।

फरवरी १९५९ में कासिम की कैबीनेट से आरिफ का दंडित किये जाने तथा कासिम पर साम्यवाद समर्थक अफसरों के बढ़ते हुए प्रभाव के विरोध स्वरूप त्याग पत्र दे दिया। ७ फरवरी को कासिम ने नई कैबीनेट की घोषणा की लेकिन इसके तुरन्त बाद सरकार और साम्यवादियों के पारस्परिक सम्बन्धों का प्रश्न गम्भीर रूप से उठ खड़ा हुआ जिसमें जनरल कासिम का साम्यवाद-पक्षीय दृष्टिकोण और झुकाव स्पष्ट हो गया।

६ मार्च १९५९ को ईराक के लगभग ढाई लाख साम्यवाद समर्थक लोगों ने मोसल में एक विराट प्रदर्शन का आयोजन किया। कासिम सरकार ने इस प्रदर्शन पर रोक लगाने की अपेक्षा इसे उत्साहित किया। प्रदर्शन नियोजित रूप से शुरू किया गया। इसके विरोध में अगले ही दिन मोसल स्थित सेना की एक टुकड़ी ने कर्नल शावफ के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया। परन्तु सरकार की ओर से विद्रोहियों के प्रधान कार्यालय पर बम्ब वर्षा की गई और विद्रोह को कुचल दिया गया। इस प्रकार विद्रोह ने साम्यवादियों की राजनीतिक स्थिति को और भी सुदृढ़ बना दिया।

ईराक सरकार साम्यवाद की ओर झुकती गई। मार्च १९५९ में ईराक ने बगदाद सन्धि संगठन की सदस्यता से त्याग-पत्र देकर पश्चिमी राष्ट्रों, ईरान और टर्की आदि के मनसूबों को बड़ा आघात पहुंचाया। इतना ही नहीं ईराकी सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका से सैनिक सहायता लेना भी बन्द कर दिया और जून १९५९ में यह घोषणा भी कर दी कि ईराक ने ब्रिटेन के साथ अपने आर्थिक सम्बन्धों को भी तोड़ लिए हैं।

ईराक की सैनिक सरकार ने सोवियत संघ के साथ उन राजनीतिक सम्बन्धों को फिर से स्थापित कर लिया जो सन् १९५५ में तोड़ लिये गये थे।

इतना ही नहीं दूसरे साम्यवादी देशों—साम्यवादी चीन पूर्वी जर्मनी यूगोस्लाविया रोमानिया पोलैंड और चैकोस्लोवाकिया के साथ भी सम्बन्धों की स्थापना की गई। परन्तु राष्ट्रपति कासिम ने घोषणा की कि ईराक भविष्य में तटस्थवादी नीति ही अपनाएगा वह संयुक्त राज्य अमेरिका या सोवियत संघ किसी के भी गुट में सम्मिलित नहीं होगा।

१९५८ की सैनिक क्रांति स्थायी सिद्ध नहीं हुई। फरवरी १९६१ में कर्नल आरिफ के नेतृत्व में कासिम के विरुद्ध विद्रोह हुए। ८ फरवरी को कासिम की हत्या कर दी गई और आरिफ ईराक के नये राष्ट्रपति बने। नई सरकार ने ईराक को सैंटो संगठन के बाहर ही बनाये रखा और ईराक की तटस्थता की नीति की रक्षा की। आरिफ ने संसार के सभी देशों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना के प्रयास किये। मार्च १९६४ में उन्होंने पाकिस्तान और भारत की यात्रा की और भारत को एक असाम्प्रदायिक देश बताते हुए उसकी गृह और विदेश नीतियों की प्रशंसा की।

ईराक और अरब एकता

पश्चिमी और साम्यवादी शक्तियों के साथ ईराक के महत्वपूर्ण सम्बन्धों को बताने के बाद अब "ईराक और अरब एकता" को भी संक्षेप में देख लेना चाहिये।

ईराक और सीरिया के मध्य १९४९ से ही तनावपूर्ण सम्बन्ध चले आये थे। १९५० में ईराक ने अरब एकता की दिशा में चेष्टा शुरू की लेकिन सन् १९५५ में उसके बगदाद सन्धि संगठन में शामिल हो जाने से अरब एकता को गहरा आघात पहुँचा। उसने अरब देशों की सहानुभूति भी खो दी। लेकिन स्वेज पर ब्रिटिश आक्रमण के समय ईराक ने पश्चिमी राष्ट्रों का तीव्र विरोध करके अरब देशों की सहानुभूति फिर से प्राप्त कर ली। उस समय उसने पूर्ण रूप से मिस्र का साथ दिया। १९५८ के आरम्भ में ईराक के तत्कालीन सम्राट् फैसल और उनके चचेरे भाई जोर्डन के शाह हुसैन ने एक सन्धि द्वारा 'अरब संघ' के नाम से एक संघात्मक राज्य की स्थापना की। लेकिन अगस्त के आरम्भ में ही जोर्डन के शाह ने संघ को भंग करने की घोषणा कर दी क्योंकि जुलाई, १९५८ में ईराक के सम्राट् फैसल की हत्या करके कासिम ने ईराक को गणतन्त्र घोषित कर दिया था। क्रांति के बाद ही जुलाई, १९५८ में ईराक और संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) के मध्य एक सुरक्षा संधि हो गई और दोनों देशों में अरब लीग के सिद्धान्तों की पूर्ण स्वीकृति की घोषणा की गई। तत्पश्चात् दोनों देशों में और भी अनेक व्यापारिक एवम् प्राविधिक सहायता-सम्बन्धी समझौते हुए। परन्तु फिर भी उनके मध्य मधुरता का वातावरण अधिक समय तक नहीं बना रह सका। जब ईराक को यह विश्वास हो गया कि संयुक्त अरब गणराज्य कासिम सरकार के विरुद्ध विद्रोह को प्रोत्साहन दे रहा है तो दोनों देशों के बीच तनाव बढ़ने लगे। कासिम सरकार ने संयुक्त अरब गणराज्य पर मोसल विद्रोह का समर्थन करने का आरोप लगाया और संयुक्त अरब गणराज्य के

ए अधिकारियों को ईराक छोड़कर चले जाने का आदेश दे दिया। दोनों देशों में कटुता बढ़ती गई और उनके मध्य सम्बन्ध टूट गये।

फरवरी १९६३ में कासिम सरकार का तख्ता एक नई सैनिक क्रांति द्वारा पलट दिया गया और आरिफ नई सरकार के राष्ट्रपति बने। इस नई सरकार ने अरब राष्ट्रों के साथ पुन अच्छे सम्बन्धों की स्थापना की। हाल ही में जून १९६७ के अरब-इजरायल संघर्ष में भी ईराक की पूर्ण और सक्रिय सहानुभूति अरब राष्ट्रों के साथ रही और उसने इजराइल के विरुद्ध संघर्ष में महत्वपूर्ण योग दिया।

ईराक और कुर्द समस्या

यहां ईराक और कुर्द समस्या पर भी कुछ विचार आवश्यक है। उत्तरी ईराक में लगभग दस लाख कुर्द जाति के लोग निवास करते हैं। १९२३ में लोसाने की सन्धि ने कुर्दिस्तान को टर्की ईराक और ईरान के मध्य बांट दिया था। तब से ही यह लोग निरन्तर विद्रोह करते रहे हैं और कुर्दिस्तान के नाम से एक अलग राज्य की स्थापना करना चाहते हैं। इसकी भाषा और साहित्य भी अरब भाषा व साहित्य से भिन्न है। १९३१ में इनके नेता मुल्ला मुस्तफा ने विद्रोह किया जिसके कारण उसे देश निकाले का दण्ड भोगना पड़ा। वापिस लौटने पर उसने ईराकी सेनाओं पर हमला किया लेकिन पराजित होकर उसे सोवियत संघ भाग जाना पड़ा। १० वर्ष रहने के बाद वह वापिस स्वदेश लौटा और कुर्दिस्तान राज्य की स्थापना के प्रयास करता रहा। जब १९५८ में ईराक में सैनिक क्रांति हुई तो वह आशान्वित हुआ कि कुर्द लोगों की मांगों पर अधिक सहानुभूति के साथ विचार किया जाएगा। लेकिन जुलाई, १९६१ में कासिम ने कुर्द लोगों की सभी आकांक्षाओं को ठुकरा दिया। इस पर मुस्तफा बगदाद छोड़कर कबायली क्षेत्र में चला गया जहां उसने लगभग सात हजार छापामार सैनिकों को प्रशिक्षित किया और कासिम सरकार के विरुद्ध छुरिल्ला युद्ध छेड़ दिया। अप्रैल १९६२ में उत्तरी पहाड़ियों में इन विद्रोहियों ने एक पूरे सैनिक दस्ते का सफाया कर दिया।

फरवरी १९६३ में होने वाली दूसरी सैनिक क्रांति के फलस्वरूप कर्नल आरिफ राष्ट्रपति बने। इस अवसर पर मुल्ला मुस्तफा ने युद्धबन्दी की घोषणा करके अपने दो प्रतिनिधियों को बगदाद भेजा जिन्हें यह काय सौंपा गया कि वे ईराक की नई सरकार का अभिनन्दन करते हुए उसके साथ समझौता वार्ता करें। कुर्द लोग ईराक में स्वशासन चाहते थे और साथ ही उनकी यह मांग भी थी कि सभी कुर्द-बन्दी रिहा किये जाए कुर्दिस्तान की आर्थिक नाकेबन्दी समाप्त कर दी जाए समस्त विद्रोहियों को आम माफी दी जाए तथा उनकी जब्त सम्पत्ति लौटाई जाए, उत्तरी ईराक में काम कर रहे लोक-सेवकों में से अवांछनीय व्यक्तियों को हटाया जाए और कुर्दिस्तान पर से शासन की फौजें हटा ली जाए। मार्च १९६३ में ईराक की राष्ट्रीय परिषद ने इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया कि विकेन्द्रीकरण के आधार पर कुर्द

लोगों को राष्ट्रीय सरकार प्रदान की जाए। कुर्द नेताओं ने भी यह मान लिया कि सरकार की विकेन्द्रीयकरण की यह योजना एक प्रकार से उनकी मांग की स्वीकृति ही है। आरिफ सरकार ने कुर्दों की नई मांगें मान स्वीकार कर ली।

परन्तु कुर्द प्रतिनिधि तलबानी ने यह इच्छा प्रकट की कि कुर्दों की अपनी पुलिस हो उनके क्षेत्र में कुर्दिश भाषा ही राज्य भाषा के तौर पर प्रयुक्त हो और सुरक्षा स्वास्थ्य यातायात तथा स्थानीय शासन सम्बन्धी मामले पूरी तरह कुर्दों को सौंपे जाएं। इस हठ के फलस्वरूप सन्धि वार्ता भंग हो गई और जून १९६३ में ईराकी सेनाओं ने कुर्द छापामार सैनिकों पर आक्रमण कर दिया। कुर्दिश नेता तलबानी भागकर जिनेवा चला गया और उसने संयुक्त राष्ट्र संघीय महासचिव ऊ थांट से हस्तक्षेप की प्रार्थना की। ईराकी सेनायें कुर्दी विद्रोहियों को कुचलती हुई आगे बढ़ती रहीं यद्यपि सोवियत सरकार ने उनका पक्ष लिया और ईराक सरकार पर यह आरोप भी लगाया कि वह हिटलरी नीति पर चलकर अल्पसंख्यकों को नष्ट करने का प्रयास कर रही है। दूसरी ओर ईराक सरकार के कुछ मंत्रियों ने भी सरकार की दमन नीति के विरोध में अपने त्याग पत्र दे दिये। अन्तत: इस आन्तरिक और बाह्य दबाव के कारण आरिफ सरकार इस बात के लिये सहमत हो गई कि कुर्दों को प्रादेशिक स्वशासन का अधिकार दे दिया जाए और उनकी एक परिषद का निर्माण हो जिसका निर्वाचन प्रत्यक्ष मतदान द्वारा किया जाए। परन्तु कुर्द नेताओं ने इन प्रस्तावों को अस्वीकार करते हुए संयुक्त राष्ट्रसंघ से अपील की कि वह इस मामले में हस्तक्षेप करे। कुर्द छापामार सैनिक ईराकी सेना का डटकर मुकाबला करते रहे। संयुक्त राष्ट्र संघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद ने जुलाई १९६३ में इस सोवियत प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया कि ईराक की सरकार सम्पूर्ण कुर्द जाति को समाप्त करना चाहती है। उधर कुर्द नेता मुल्ला मुस्तफा ने सितम्बर १९६३ में अस्थायी कुर्द सरकार और कुर्द राज्य बनाने की घोषणा कर दी।

कुर्द विद्रोहियों व ईराकी फौजों में संघर्ष चलता रहा जिसमें सीरिया फौजों ने ईराक की मदद की।

फरवरी १९६४ में ईराकी राष्ट्रपति आरिफ ने दूसरी बार कुर्द नेता बर्जानी के साथ युद्धबन्दी समझौता कर लिया और कुर्द नेताओं की इस मांग को लगभग स्वीकार कर लिया कि कुर्दों को स्वायत्त शासन के अधिकार प्रदान कर दिये जाएं।

ईरान
(Iran)

पहले फारस के नाम से पुकारा जाने वाला ईरान भौगोलिक दृष्टि से उत्तर में कैस्पियन सागर व रूस दक्षिण में फारस की व ओमान की खाड़ी

पूर्व में रूस अफगानिस्तान तथा बलुचिस्तान और पश्चिम में ईराक व टर्की से घिरा हुआ है। इस प्रदेश की राजधानी तेहरान और यहां का प्रमुख धर्म इस्लाम है। १९०६ तक ईरान में निरंकुश राजतन्त्र था जिसमें काजार वंश का शासन था। जनता राजतन्त्र शासन से सुखी न थी, अतः आन्तरिक कलह के कारण १९०६ में वहां क्रान्ति हो गई और सुल्तान मुजफ्फर शाह एक नवीन विधान बनाने को विवश हुआ।

ईरान में एक तरफ तो आन्तरिक अशान्ति का बोलबाला था और दूसरी तरफ विदेशी षडयन्त्र का कुचक्र अपना जाल फैलाये हुए था। रूस और ब्रिटेन इस पर अपनी आंखें गड़ाये हुए थे। अगस्त १९०७ में एक एंग्लो रूसी संधि हुई जिसके द्वारा रूस और ब्रिटेन ने ईरान को अपने प्रभाव क्षेत्र में विभाजित कर लिया। प्रथम महायुद्ध में यद्यपि ईरान तटस्थ रहा किन्तु उसके विभिन्न प्रदेशों पर ब्रिटेन रूस टर्की और जर्मन सेनाओं ने कब्जा कर लिया और ईरान इन सेनाओं के लिए एक युद्ध क्षेत्र बन गया। १९१७ में रूस में साम्यवादी क्रान्ति हुई और रूसी फौजें उत्तरी ईरान से हटा ली गईं। फलस्वरूप ब्रिटेन ने भी १९१८ में वहां से अपनी फौजें हटा लीं। प्रथम महायुद्ध के बाद १९१९ में ब्रिटेन ने ईरान के साथ एक संधि की जिसके फलस्वरूप ब्रिटेन का ईरान पर एक प्रकार से सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो गया और व्यवहारतः ईरान की स्थिति एक ब्रिटिश उपनिवेश जैसी हो गई। परन्तु ईरान की संसद ने इस सन्धि की पुष्टि नहीं की।

ईरान के अस्थिर राजनीतिक वातावरण से ऊब कर ईरानी सेना के एक अफसर रिजाखां पहलवी ने देश में एक सैनिक क्रान्ति कर दी। १९२१ में सत्ता ग्रहण करते ही उसने ब्रिटिश संधि को ठुकरा दिया और रूस से एक सन्धि की जिसके अन्तर्गत रूस द्वारा ईरान की पूर्ण स्वतन्त्रता को स्वीकार किया गया। इस संधि की ईरान की राष्ट्रीय सभा ने भी पुष्टि कर दी। १९२५ में रिजाखां को ईरान की नवगठित संविधान सभा ने सम्राट घोषित कर दिया।

नये सम्राट रिजाखां ने अपने देश में कानून और व्यवस्था की स्थापना करने पर पूरा ध्यान दिया और शासन पर इतना प्रभाव जमा लिया कि संसद १९४१ में उसके पुत्र के गद्दी पर बैठने के समय तक बिल्कुल निष्क्रिय बनी रही। रिजाखां ने मुस्तफा कमाल पाशा की तरह ही ईरान में सामाजिक राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्रों में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये। उसके शासन काल में ही १९३५ में वैधानिक रूप से फारस का नाम ईरान पड़ा।

द्वितीय महायुद्ध छिड़ने पर यद्यपि ईरान ने तटस्थ रहने की घोषणा कर दी परन्तु जर्मनी के प्रति उसकी सहानुभूति बनी रही। रूस और ब्रिटेन ने मांग की कि ईरान से नाजी समर्थकों को निकाल दिया जाए। ईरान के शाह ने कहा कि उसके देश में नाजी समर्थक लोग नहीं हैं। परन्तु फासिस्टों के प्रति हमदर्दी की आशंका से ब्रिटेन और रूस ने संयुक्त रूप में

अगस्त १९४१ में ईरान पर आक्रमण कर दिया और उसे अपने अधिकार में कर लिया। सितम्बर १९४१ में उन्होंने सम्राट रिज़ाशाह को हटा कर उसके पुत्र मुहम्मद रिज़ाशाह पहलवी को गद्दी पर बिठाया। नये शाह ने मित्र राष्ट्रों से वार्ता आरम्भ की जिसके फलस्वरूप १९४२ में एक त्रिपक्षीय सहायता संधि सम्पन्न हुई। संधि के अन्तर्गत ईरान ने मित्र राष्ट्रों से प्रतिज्ञा की कि वह उनकी सेनाओं को ईरान में होकर जाने की अनुमति देगा, उन्हें खाद्य सामग्री व अन्य सहायता देगा और मित्र राष्ट्रीय सेनायें युद्ध काल में ईरान में रह सकेंगी हालांकि युद्ध समाप्ति के ६ महीने बाद उन्हें वापिस हटा लिया जाएगा। ब्रिटेन और रूस ने ईरान को वचन दिया कि वे उसकी प्रादेशिक अखण्डता प्रभुसत्ता और राजनीतिक स्वाधीनता का सम्मान करेंगे। इस संधि के बाद ईरान ने सितम्बर १९४३ में जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

ईरान द्वारा मित्र राष्ट्रों के पक्ष में युद्ध में सम्मिलित हो जाने पर एक दिसम्बर १९४३ को रूजवेल्ट, चर्चिल और स्टालिन ने सुप्रसिद्ध तेहरान घोषणा (Teheran Declaration) प्रकाशित की जिसमें 'उन्होंने युद्ध सम्बन्धी आर्थिक सहायता ईरान को प्रदान करते रहने का उत्तरदायित्व लिया और ईरान की स्वाधीनता प्रभुसत्ता तथा प्रादेशिक अखण्डता कायम रखने की इच्छा व्यक्त की।' थोड़े ही दिनों में ईरान विदेशी सेनाओं का अड्डा बन गया। अजरबैजान, कैस्पियन प्रान्तों और खुरासान के भागों में रूसी फौजें तथा ईरान के दक्षिणी भागों में ब्रिटेन और अमेरिका की फौजें आ गईं।

द्वितीय महायुद्ध के बाद ईरान

ईरान इस स्थिति को बहुत समय तक सहन नहीं कर सकता था। उसने सबसे पहिले सोवियत संघ के विरुद्ध संघर्ष किया। सोवियत संघ ने १९४४ में उत्तरी ईरान में तेल सम्बन्धी कुछ सुविधाओं की मांग की और ईरान की सरकार पर यह दबाव डाला कि उसकी मांगों को तुरन्त स्वीकार कर लिया जाए। ईरान के उत्तरी क्षेत्र अजरबैजान में तुदेह राजनीतिक दल ने सोवियत संघ के प्रभाव में आकर १९४५ के अन्त में एक स्वतन्त्र सरकार की स्थापना कर दी। ईरान ने इस पर अपना प्रतिरोध प्रकट किया किन्तु सोवियत संघ पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। तब ईरान द्वारा मामला सुरक्षा परिषद के समक्ष ले जाया गया किन्तु अन्तत यह विवाद दोनों देशों के मध्य पारस्परिक वार्ता से हल हो गया और ९ मई १९४६ को सोवियत फौजें ईरानी भूमि से हट गईं। अक्टूबर, १९४७ में ईरानी संसद ने विदेशियों को दी जाने वाली तेल सम्बन्धी सारी रियायतें समाप्त कर दीं। इससे सोवियत संघ बहुत नाराज हो गया और उसने ईरान के साथ अपना राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। सोवियत रूस ने ईरानी सरकार पर दोनों देशों के सामान्य सम्बन्धों के विरुद्ध अपनी प्रतिक्रियाओं और वचनों की पूर्णतापूर्वक अवहेलना करने का आरोप लगाया।

रूस के व्यवहार से ईरान को आशंका हो गई, अत उसने अमेरिका से

मैत्री का प्रस्ताव किया और उससे सहायता व संरक्षण की मांग की। मार्च १९४७ में अमेरिका ने साम्यवाद के विस्तार को अवरुद्ध करने के लिये तथाकथित 'ट्रूमैन सिद्धान्त' की घोषणा की। ईरान पर राजनीतिक दबाव डाला गया जिसके फलस्वरूप अक्टूबर १९४७ में एक अमेरिकन ईरानी सैनिक संधि सम्पन्न हुई। इस संधि के अन्तर्गत यह निश्चित हुआ कि संयुक्त राज्य अमेरिका ईरान में एक सैनिक मिशन भेजेगा जो ईरानी सेना को प्रशिक्षित करेगा। इसके शीघ्र बाद ही संयुक्त राज्य अमेरिका ने ईरान को तीन करोड़ डालर की सैनिक सामग्री प्रदान की और ढाई करोड़ डालर का ऋण भी दिया।

इस समय ईरान में राष्ट्रीयता की प्रबल लहरें हिलोरें ले रही थीं और ईरान राष्ट्रीयता की एक ऐसी रंगभूमि बनता जा रहा था जो समग्र देश में अविवेक और उत्साह को व्याप्त कर रहा था। इस प्रबल राष्ट्रवाद के कारण ईरान शीघ्र ही एक ऐसे तेल विवाद में फंस गया जिसने एक बार तो उसकी आर्थिक और राजनीतिक स्थिरता की नींव को हिला दिया। यह विवाद एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद था। ईरान के तेल का अधिकांश भाग एंग्लो-ईरानियन तेल कम्पनियों के नियन्त्रण में था। जब ईरानी संसद ने रूस को तेल उत्पादन के अधिकार देने से इन्कार कर दिया तो राष्ट्रवादियों ने विदेशियों को दिये गये सभी तेल अधिकारों की आलोचना करना शुरू कर दिया। एंग्लो-ईरानी तेल कम्पनी ईरान सरकार की मांग पर जुलाई १९५० में इस बात के लिए तैयार हो गई कि वह ईरान को रायल्टी की बढ़ी हुई दरें देगी परन्तु १९५० के अन्त में ईरानी संसद ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया। ईरान के एक नेता डा० मुसद्दिक के नेतृत्व में तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण की मांग की गई। मार्च १९५१ में ईरानी प्रधानमन्त्री जनरल रजमारा (General Razmara) की हत्या कर दी गई क्योंकि वह तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण को अव्यावहारिक मान कर उसका विरोध कर रहा था। अप्रैल के अन्त में ईरानी संसद के दोनों सदनों ने तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण के विधेयक पास कर दिये। ईरान के शाह को न केवल इन विधेयकों को स्वीकार करना पड़ा वरन् प्रतिवादी डा० मुसद्दिक को प्रधानमन्त्री नियुक्त करना पड़ा।

ब्रिटेन इस स्थिति को स्वीकार करने के लिए तैयार न था। अतः ब्रिटेन की सरकार और कम्पनियों ने ईरान द्वारा १९३३ में सम्पन्न किए एक पक्षीय बन्धन के विरुद्ध अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से अपील की। परन्तु ईरान ने न्यायालय के क्षेत्राधिकार को मानने से इन्कार कर दिया। सितम्बर १९५१ में ब्रिटेन द्वारा मामला सुरक्षा परिषद में भी उठाया गया किन्तु डा० मुसद्दिक ने तेल उद्योग के राष्ट्रीयकरण को ईरान का घरेलू मामला बता कर सुरक्षा परिषद के क्षेत्राधिकार को अस्वीकार कर दिया। अक्टूबर में तेल कम्पनी ने अपने कार्य को जारी रखने में असमर्थता बताते हुए अपने तेल कारखाने छोड़ दिये। संयुक्त राज्य अमेरिका इस संघर्ष में ब्रिटेन के साथ था। उसने जनवरी १९५२ में यह घोषणा कर दी कि ईरान को सैनिक सहायता देना

बन्द कर देना। उसने ईरान को इस बात के लिये विवश करना चाहा कि ईरान इस विवाद को किसी निष्पक्ष अन्तर्राष्ट्रीय संस्था को पंच निर्णय के लिए सौंप दे। जुलाई १९५२ में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने यह निर्णय दे दिया कि एंग्लो-ईरानी तेल विवाद उसके क्षेत्राधिकार के बाहर है। अब चर्चिल और राष्ट्रपति ट्रूमैन दोनों ने ईरान से समझौता करने का संयुक्त प्रयास किया। परन्तु डा० मुसद्दिक ने एंग्लो अमेरिकन प्रस्तावों को ठुकरा दिया और २२ अक्टूबर १९५२ को ब्रिटेन से कूटनीतिक सम्बन्ध भी तोड़ दिये।

लेकिन १९५३ में ईरान में डा० मुसद्दिक का विरोध बढ़ने लगा क्योंकि ब्रिटेन द्वारा ईरानी तेल के बहिष्कार के कारण ईरान की आर्थिक अवस्था तेजी से बिगड़ने लगी। जून १९५३ के अन्तिम दिनों में राष्ट्रपति आइजनहावर ने मुसद्दिक को एक पत्र लिख कर स्पष्ट कर दिया कि ईरान को तब तक कोई अमेरिकन सहायता नहीं दी जाएगी जब तक ईरान ब्रिटेन के साथ चल रहे उसके तेल विवाद का निपटारा न हो जाता अथवा उसे किसी तटस्थ अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सुपुर्द करने के लिये तैयार न हो जाता। इस की आर्थिक स्थिति के पूर्णतया अव्यवस्थित होने का खतरा पैदा हो जाने पर शाह ने अगस्त १९५३ में प्रधानमन्त्री मुसद्दिक से त्यागपत्र देने के लिए कहा और जनरल फजुल्ला जेहदी को प्रधानमन्त्री नियुक्त कर लिया। डा० मुसद्दिक द्वारा पद त्यागने से इन्कार कर देने पर सेना और बगदाद र जनता की मदद से उसे बलपूर्वक हटा दिया गया। बाद में उसके विरुद्ध अभियोग चलाया गया और उसे तीन वर्ष के कारावास का दण्ड दिया गया। नये प्रधानमन्त्री और शाह ने मिल कर अमेरिका से वार्ता आरम्भ की। अमेरिकन सरकार ने ईरान को सम्भावित दिवालियापन से बचाने के लिये चार करोड़ पचास लाख डालर की आपातकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करने का निश्चय किया। इसके अतिरिक्त वाशिंगटन ने ३० जून १९५४ तक २३४०००० डालर से अधिक की सैनिक और प्राविधिक सहायता देने का भी आश्वासन दिया गया। इसी वर्ष अमेरिका ने चतुर्थ सूत्री कार्यक्रम (Point four programme) के अन्तर्गत ईरान को और अधिक तकनीकी सहायता प्रदान करने का आश्वासन दिया। दिसम्बर १९५० में ब्रिटेन और ईरान में पुनः कूटनीतिक सम्बन्ध स्थापित हो गये। अमेरिका के प्रयत्नों से कुछ समय पश्चात् एंग्लो-ईरानी तेल कम्पनी सहित अमेरिकन डच और फ्रेंच कम्पनियों के एक संघ का निर्माण किया गया। ५ अगस्त १९५४ को इस संघ और ईरानी सरकार के मध्य ईरानी तेल उद्योग के संचालन के बारे में २५ वर्षीय समझौता हुआ जिससे न केवल एंग्लो-ईरानी तेल विवाद का समाधान हुआ बल्कि ईरानी और पश्चिमी शक्तियों के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना भी हो गई।

ईरान अब पश्चिमी गुट में सम्मिलित हो गया। वह उत्तरोत्तर पश्चिमी गुट की गतिविधियों में भाग लेने लगा। फरवरी १९५५ में जापान के साथ कूटनीतिक सम्बन्धों की स्थापना करने का निश्चय किया गया। अप्रैल १९१५ में एक ब्रिटिश फर्म को अवहाज तेल क्षेत्र से तेहरान तक ६०० मील लम्बी पाइप लाईन के निर्माण का ठेका दिया गया। ईरान

सरकार ने पश्चिमी जर्मनी, अमेरिका फ्रांस और ब्रिटेन की विभिन्न कम्पनियों को विभिन्न व्यापारिक ठेके दिये। १५ अगस्त १९५५ को तेहरान में ईरान और अमेरिका के मध्य मैत्री आर्थिक सम्बन्धों और कूटनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित एक संधि पर हस्ताक्षर हुए। ईरान का पश्चिम पक्षपाती रुख ११ अक्टूबर, १९५५ को चरम सीमा पर पहुंच गया जब वह बगदाद पैक्ट में सम्मिलित हो गया। सोवियत संघ ने बगदाद पैक्ट में ईरान के प्रवेश को अनुचित बताते हुए उसकी कटु आलोचना की।

ईरान के शाह ने साम्राज्ञी सुरैया सहित मई १९५६ में टर्की की यात्रा की। मार्च १९५७ में ईरान द्वारा "आइजनहावर सिद्धान्त" का पूर्ण समर्थन किया गया। ईरानी सरकार ने संयुक्त राज्य अमेरिका के साथ इस वक्तव्य पर हस्ताक्षर किये कि अमेरिका की मध्यपूर्व में न तो कोई प्रादेशिक महत्वाकांक्षा है और न ही उसे किसी प्रकार के प्रभाव क्षेत्र को निर्धारित करने की कोई इच्छा ही है।

ब्रिटेन के साथ यद्यपि ईरान के आर्थिक सम्बन्ध सुधर गये थे किन्तु दोनों देशों में बहरीन (Behrien) के प्रश्न को लेकर पुनः विवाद उठ खड़ा हुआ। ब्रिटिश विदेश मन्त्रालय ने यह वक्तव्य प्रसारित किया कि बहरीन एक स्वतन्त्र शेख तन्त्रीय राज्य (Shekhodom) है। इसके विपरीत ईरान ने बहरीन पर अपनी प्रभुसत्ता का दावा किया। नवम्बर १९५७ में तेहरान में यह घोषणा की गई कि सरकार बहरीन को ईरान का चौदहवां प्रान्त घोषित करना चाहती है।

ईरान ने अगले दो वर्षों में इटली पाकिस्तान ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देशों से विभिन्न व्यापारिक समझौते किये। इतना ही नहीं ईरान के शाह ने सोवियत संघ की यात्रा भी की और उसके साथ भी अपने सम्बन्ध मधुर बनाये। परन्तु रूस और ईरान की मैत्री विकसित न हो सकी। ५ मार्च १९५९ को ईरान ने जब अमेरिका के साथ एक द्विपक्षीय प्रतिरक्षा समझौते पर हस्ताक्षर किये तो ईरान और रूस के सम्बन्धों में कटुता आ गई। रूस को यह भय हुआ कि संयुक्त राज्य अमेरिका ईरान को उसके विरुद्ध अपने एक सैनिक अड्डे के रूप में प्रयुक्त करना चाहता है।

धीरे धीरे ईरान ने अब राजनीतिक स्थिरता प्राप्त कर ली है। आज न वह संयुक्त राज्य अमेरिका की कठपुतली मात्र है और न ही सोवियत संघ से उसके सम्बन्ध खराब हैं। ईरान की राजनीतिक स्थिरता का कारण उसकी आर्थिक अवस्था का ठीक होना है। तेल ईरान का सबसे बड़ा उद्योग है जिससे इस देश को करोड़ों रुपयों की विदेशी मुद्रा की बचत होती है। १९६६ में ईरान ने 4½ अरब रुपये का तेल निकाला। इस वर्ष इस उत्पादन में कम से कम २० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। हाल ही में अमेरिका और ब्रिटानी तेल कम्पनियों में जो समझौते हुए हैं उनमें ईरान अपने तेल का

उद्योग बहुत विस्तृत क्षेत्र मे फैला सकता है। इस सम्बन्ध में ईरान ने पूर्वी-
यूरोप और सोवियत संघ से भी कुछ उपयोगी समझौते किये हैं। तेल के
अतिरिक्त ईरान कालीन कच्चे सूत घूले मेवे खालें कच्ची ऊन और धातुओं
का निर्यात करता है। ईरान की कृषि अब भी उतनी विकसित नहीं है
जितनी कि एक सम्पन्न देश की कृषि होनी चाहिये। इसका मुख्य कारण
योजना न होकर पानी की कमी है।

यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि ईरान के शाह पश्चिमी पूंजीवाद के
सबसे बड़े समर्थक हैं किन्तु वह यह समर्थन अपनी और अपने देश की
सुरक्षा के बदले दे रहे हैं। इसलिए ईरान और मध्य एशिया के अरब देशों
के बीच तनावपूर्ण सम्बन्ध जिन प्रतिदिन अधिक जटिल होते जा रहे हैं।
अब्दुल नासिर के प्रति आशंकित होने के कारण ईरान की विदेश नीति में
कुछ महत्वपूर्ण मोड़ आये हैं जिनमें सबसे महत्वपूर्ण ईरान का भारत-
विरोधी रुख है। ईरान की विदेश नीति में भारत विरोध की अपेक्षा
पाकिस्तान की मित्रता अधिक महत्वपूर्ण है। पाकिस्तान के साथ ईरान की
सीमायें मिलती हैं दोनों देशों का धर्म एक है। मध्य एशिया में दोनों देश
किसी न किसी रूप में अब्दुल नासिर के प्रभाव को पसन्द नहीं करते। शाह
का कहना है कि ईरान को सैनिक रूप से शक्तिशाली बनाने के लिए यह
जरूरी है कि वह न केवल शस्त्रों के मामले में आत्मनिर्भर हो बल्कि शक्ति-
शाली सहायक भी बन जाये। इस सम्बन्ध में ईरान की नजरें पाकिस्तान पर
हैं। १९६५ में भारत-पाक युद्ध में ईरान ने पाकिस्तान का साथ दिया था
और उसके बाद इन दो देशों के बीच काफी बड़े पैमाने पर सैनिक सहयोग
जारी रहा। हाल ही में ईरान और पाकिस्तान की सीमाओं पर कुछ इस
प्रकार की हलचल दिखाई दे रही है जिससे इस बात का स्पष्ट संकेत मिलता
है कि दोनों देश सैनिक रूप से एक दूसरे के अधिक निकट आ रहे हैं।
पाकिस्तान अपनी फौजी छावनियों को भारतीय वायु सेना के प्रभावी क्षेत्र से
दूर ले जाने की कोशिश में ईरान की सीमाओं के साथ लगा रहा है। इसके
अतिरिक्त ईरान द्वारा पाकिस्तान को पश्चिम के शस्त्र प्राप्त करने में भी
सहयोग मिलता है। शाह ईरान ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कहा है कि
"अगर ईरान बन्दूक के लिए पैसे देता है तो फिर यह उसके अधिकार है कि
वह किसी भी रूप में उसका प्रयोग करे।" ईरान और पाकिस्तान एशिया
में एक नये सैनिकगुट को जन्म दे रहे हैं।

अदन तथा दक्षिण अरब संघ

ब्रिटेन ने अदन तथा दक्षिण अरब संघ को स्वाधीनता प्रदान कर दी
है। यह स्वाधीनता इस प्रदेश को गृह संघर्ष की ओर घसीट रहा है। अदन
और दक्षिण अरब की अराजक स्थिति इस क्षेत्र के निवासियों के पारस्परि
संघर्ष का परिणाम है। जिस समय से ब्रिटेन ने इस प्रदेश को स्वतन्त्रता देने
का इरादा प्रकट किया था तब से ही यह संघर्ष तेज होता गया। यों बाहर
से देखने में ऐसा प्रतीत होता है कि यह संघर्ष सत्ता का एक विशेष

संघर्ष है, परन्तु इसकी जड़ें बहुत गहरी हैं तथा इसके पीछे विश्व की महान् शक्तियों का सबल हाथ छिपा हुआ है—एक ओर मिस्र यमन और सोवियत संघ हैं तथा दूसरी ओर ब्रिटेन सऊदी अरब और वे परम्परागत शेख और इमाम हैं जो शताब्दियों तक दक्षिण अरब संघ के सत्रह राज्यों पर शासन करते रहे हैं। विवाद का मूल कारण भूमि नहीं भूमिगत तेल है जो समूचे पश्चिमी एशिया की राजनीति को सुलगाये हुए हैं।

ब्रिटेन का पदार्पण

अंग्रेज पहले पहल १८३९ में अदन पहुँचे। उस समय वर्तमान यमन अदन तथा दक्षिण-अरब के शेख राज्य सब मिलाकर यमन के नाम से पुकारे जाते थे। ब्रिटेन ने अदन पर अपना शासन स्थापित किया तथा शेख राज्यों को अदन और तुर्की द्वारा शासित यमन के बीच एक सुरक्षित क्षेत्र के रूप में संगठित किया। उसने शेखों को आन्तरिक मामलों में मनमानी करने की छूट दे रखी थी तथा वह उन्हें शस्त्र धन और ताड़ना के द्वारा वश में रखता था।

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति पर यमन तुर्क आधिपत्य से मुक्त हो गया तथा उसने अदन और सुरक्षित शेख राज्यों पर अपना दावा ब्रिटेन के सामने पेश किया। ब्रिटेन ने यह दावा अस्वीकार कर दिया जिसके परिणाम स्वरूप दोनों के बीच दीर्घकाल तक संघर्ष चलता रहा। १९३४ में दोनों के मध्य एक सन्धि द्वारा यह तय हुआ कि यद्यपि यमन को अपना दावा पेश करने का अधिकार होगा परन्तु दोनों में से कोई भी देश सेना के बल पर यथा स्थिति में परिवर्तन नहीं करेगा।

१९६० में ब्रिटेन ने शेख राज्यों को मिला कर दक्षिण अरब संघ का गठन किया तथा अदन को एक ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में विकसित करना प्रारम्भ किया। इस पर यमन के तत्कालीन इमाम ने यमन की दक्षिणी सीमाओं के पार गुरिल्ला-युद्ध छेड़ दिया। इस संघर्ष में इमाम अहमद और उसके बेटे मुहम्मद अल बदर को मिस्र तथा सोवियत संघ की शरण में जाने के लिए विवश किया। उधर ब्रिटेन यह चाहता था कि दक्षिण अरब संघ को एक शक्तिशाली आधुनिक राज्य के रूप में गठित करके अन्ततः स्वराज्य दे दिया जाये एवं उसे राष्ट्र मण्डल के भीतर रखा जाये। जहाँ तक अदन का प्रश्न था ब्रिटेन के मन में उसे छोड़ने की तैयारी न थी क्योंकि स्वेज पर से ब्रिटिश नियन्त्रण हट जाने के बाद फारस की खाड़ी और अरब सागर में ब्रिटिश हितों और तेल के व्यवसायों की रक्षा की दृष्टि से अदन का सैनिक अड्डा महत्वपूर्ण माना जाता था। इतना ही नहीं हिन्द महासागर में ब्रिटिश नौसैनिक बेड़े की दृष्टि से भी अदन ब्रिटेन के लिए अपरिहार्य बन गया था।

विद्रोह की चिनगारी

ब्रिटेन की इच्छा इस बारे में निर्णायक नहीं हो सकती थी। अदन में

अब्दुल्ला असनाग के नेतृत्व में जन समाजवादी दल और अदन श्रमिक संघ का निर्माण हुआ। यमन में भी लगभग इसी समय मिस्र की सहायता से इमाम अहमद के विरुद्ध विद्रोह संगठित किया गया। ब्रिटेन ने अदन की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का दमन करने के लिए अदन और दक्षिण अरब राज्यों को मिला कर दक्षिण अरब संघ बनाने का निश्चय किया। इसके पीछे ब्रिटेन की यह चाल थी कि अदन के प्रगतिवादी तत्व शेखों के प्रतिक्रियावादी तत्व से सन्तुलित हो जायेंगे। शेखों को अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटेन पर निर्भर होना पड़ता था अतः ब्रिटेन सोचता था कि वे लोग निश्चित रूप से अदन को ब्रिटेन का सैनिक अड्डा बनाये रखने के लिए सहमत हो जायेंगे। ब्रिटेन की यह चाल राष्ट्रवादियों से छिपी न रह सकी उन्होंने इसका विरोध किया। इसी समय ब्रिटेन को एक उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया यमन में सलाम ने इमाम को अपदस्थ करके सत्ता पर अधिकार कर लिया। ठीक उसी दिन ब्रिटेन ने अदन विधान-परिषद के भीतर एक प्रस्ताव पारित करा लिया कि अदन और दक्षिण अरब राज्यों को मिला कर संघ का निर्माण किया जाय। परिषद के आठ सदस्यों ने मतदान का बहिष्कार किया तथा प्रस्ताव का समर्थन करने वाले सदस्यों में से सात यूरोपियन और दो मनोनीत थे। अदन के प्रमुख राष्ट्रवादी दलों ने इस मतदान में भाग नहीं लिया तथापि दक्षिण अरब संघ नामक नया राज्य बन गया एवं इस दिन से अदन का पृथक अस्तित्व समाप्त हो गया।

विरोधी अरब मोर्चे

दक्षिण अरब के राष्ट्रवादियों ने कहतान-अल-शाबी के नेतृत्व में १४ अक्टूबर १९६३ को राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे का निर्माण किया। मोर्चे को प्रारम्भ में मिस्र का पूरा समर्थन मिलता रहा। दूसरी ओर असनाग ने अधिकृत दक्षिण यमन मोर्चे का संगठन किया। राष्ट्रवादी नेता निरन्तर यह माँग करते रहे कि संघ को भंग किया जाय तथा ब्रिटेन इस संघ की स्वाधीनता के लिए निश्चित तिथि की घोषणा करे। उन्होंने यह माँग भी रखी कि ब्रिटिश सेनायें इस क्षेत्र से सर्वथा हटा ली जाय और संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में निर्वाचन कराये जाये। ब्रिटेन के सत्तारूढ़ अनुदारवादी दल ने इन माँगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु १९६४ में ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार बनी जिसके कारण सारी स्थिति बदल गई। उसने यह घोषणा की कि वह स्थानीय लोगों की इच्छा के विरुद्ध कहीं भी ब्रिटिश सैनिक अड्डे नहीं बनाये रखेगी। १९६६ के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि वह अदन से अपने सैनिकों को हटा लेगी तथा दक्षिण अरब संघ को स्वाधीनता प्रदान कर देगी।

दक्षिण अरब संघ में राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे का प्रभाव बढ़ता गया और उसका ऐसा आतंक स्थापित हो गया कि ब्रिटेन को विवश होकर अदन का संविधान निलम्बित करना पड़ा। वास्तव में यह क्षेत्र मिस्र और ब्रिटेन के मध्य शक्ति परीक्षण का अखाड़ा बन गया तथा मिस्र ने स्वाधीनता मोर्चे की अपेक्षा यमनवादी मोर्चे को अधिक विश्वसनीय मान कर उसे

उकसाना शुरू किया एवं शस्त्र दिये। मिस्र और सऊदी अरब के बीच गहरी होड़ चल रही थी, उसका परिणाम यह हुआ कि राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चा सऊदी सम्राट फसल का सहारा लेने लगा। संघ एक बहुमुखी संघर्ष में ग्रस्त हो गया। एक ओर ब्रिटेन तथा राष्ट्रवादी शक्तियां आपस में संघर्ष कर रही थीं, दूसरी ओर दोनों राष्ट्रवादी दल आपस में लड़ रहे थे तथा तीसरी ओर ब्रिटेन द्वारा प्रशिक्षित एवं संगठित दक्षिण अरब सेना के अरबी सैनिकों ने ब्रिटेन के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। इसी समय स्वाधीनता मोर्चे ने दक्षिण अरब संघ में सम्मिलित सत्रह शेख राज्यों में से १४ पर अधिकार कर लिया और इस मामले में संघीय सेना को तटस्थ रहने के लिए तैयार कर लिया। यह व्यूह रचना सफल रही तथा ब्रिटेन का यह घोषणा करनी पड़ी कि संघ-सरकार भंग हो गई है और वह राष्ट्रीय शक्तियों के साथ सत्ता के हस्तांतरण के बारे में चर्चा के लिए तैयार है।

स्वतन्त्रता की घोषणा

ब्रिटेन की इस घोषणा ने समस्त अरब क्षेत्र की राजनीति में हलचल पैदा कर दी। इसका मुख्य कारण यह था कि राष्ट्रवादी शक्तियों के हाथों में राज्य सत्ता सौंपने का अर्थ यह हुआ कि ब्रिटेन ने इस क्षेत्र के परम्परागत शासक अर्थात शेखों की उपेक्षा कर दी। यह उपेक्षा सऊदी अरब कुवैत मीबिया बहरीन अबू-धाबा तथा ईरान के शेखों बादशाहों और अमीरों के लिए चिंता का विषय बन गई उनको ऐसा प्रतीत होने लगा कि अदन से ब्रिटेन के हटने का अर्थ होगा कि इस क्षेत्र में समाजवाद और लोकतन्त्र के माध्यम से राजतन्त्र की नींव खोखला। इन राजतन्त्रात्मक देशों ने अदन के अड्डे का हटाया जाना अपने लिए घातक माना और ब्रिटेन से अनुरोध किया कि वह अदन से अपनी सेना और सामग्री बहरीन में लाये। ये शेख इजरायल के कारण ब्रिटेन भी अप्रसन्न क्यों न हो तथापि ब्रिटेन और अमरीका के समर्थन और सक्रिय सहयोग के बिना काम नहीं चला सकते। ब्रिटेन और अमरीका भी इस तथ्य से भली भांति परिचित हैं।

ब्रिटेन के लिए इस क्षेत्र का शासन आर्थिक एवं प्रतिष्ठा की दृष्टि से बहुत ही महंगा सिद्ध हो रहा था अतः ब्रिटेन ने निश्चय किया कि वह ३० सितंबर १९६७ को अदन से अपनी सेनायें पूरी तरह हटा लेगा और इस क्षेत्र को स्वतन्त्रता प्रदान कर देगा। उसके आमन्त्रण पर दक्षिण अरब संघ सेना ने राज्य शासन संभाल लिया और उसके सैनिक कमान ने निश्चय किया कि वह सत्ता के संघर्ष में दमनवादी मोर्चे का विरोध तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे का समर्थन करेगा। उसने ब्रिटेन से मांग भी कि वह सत्ता के विधिवत् हस्तांतरण के लिए इसी मोर्चे के नेता से बात करे। परिणामतः ब्रिटेन ने मोर्चे को आमन्त्रित किया। इसी समय दमनवादी मोर्चे ने मिस्र की सहायता से सत्ता का अपहरण करने की चेष्टा की। ब्रिटिश एवं संघ सैनिकों ने इस प्रयास को विफल कर दिया। कुछ गुटों ने दोनों मोर्चों में बीच बातचीत आयोजित करने की चेष्टा की परन्तु चर्चा अन्ततः विफल हो गई।

अब्दुल्ला असनाग के नेतृत्व में जन समाजवादी दल और अदन श्रमिक संघ का निर्माण हुआ। अदन में भी लगभग इसी समय मिस्र की सहायता से इमाम अहमद के विरुद्ध विद्रोह संगठित किया गया। ब्रिटेन ने अदन की राष्ट्रवादी प्रवृत्ति का दमन करने के लिए अदन और दक्षिण अरब राज्यों को मिला कर दक्षिण अरब संघ बनाने का निश्चय किया। इसके पीछे ब्रिटेन की यह धारणा थी कि अदन के प्रगतिवादी तत्व शेखों के प्रतिक्रियावादी तत्वों से सन्तुलित हो जायेंगे। शेखों को अपने अस्तित्व के लिए ब्रिटेन पर निर्भर होना पड़ता था अतः ब्रिटेन सोचता था कि वे लोग निश्चित रूप से अदन को ब्रिटेन का सैनिक अड्डा बनाये रखने के लिए सहमत हो जायेंगे। ब्रिटेन की यह चाल राष्ट्रवादियों से छिपी न रह सकी उन्होंने इसका विरोध किया। इसी समय ब्रिटेन को एक उपयुक्त अवसर प्राप्त हो गया यमन में इमाम को अपदस्थ करके सत्ता पर अधिकार कर लिया। ठीक उसी दिन ब्रिटेन ने अदन विधान-परिषद के भीतर एक प्रस्ताव पारित करा लिया कि अदन और दक्षिण अरब राज्यों को मिला कर संघ का निर्माण किया जाय। परिषद के आठ सदस्यों ने मतदान का बहिष्कार किया तथा प्रस्ताव का समर्थन करने वाले सदस्यों में से सात यूरोपियन और दो मनोनीत थे। अदन के प्रमुख राष्ट्रवादी दलों ने इस मतदान में भाग नहीं लिया तथापि दक्षिण अरब संघ नामक नया राज्य बन गया एवं उस दिन से अदन का पृथक अस्तित्व समाप्त हो गया।

विरोधी अरब मोर्चे

दक्षिण अरब के राष्ट्रवादियों में क्वाहतान-अल-शाबी के नेतृत्व में अक्टूबर १९६३ को राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे का निर्माण किया। मोर्चे को प्रारम्भ में मिस्र का पूरा समर्थन मिलता रहा। दूसरी ओर असनाग ने अधिकृत दक्षिण यमन मोर्चे का संगठन किया। राष्ट्रवादी नेता निरन्तर यह मांग करते रहे कि संघ को भंग किया जाय तथा ब्रिटेन इस संघ की स्वाधीनता के लिए निश्चित तिथि की घोषणा करे। उन्होंने यह मांग भी रखी कि ब्रिटिश सेनाएं इस क्षेत्र से सर्वथा हटा ली जाएं और संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में निर्वाचन कराये जायें। ब्रिटेन के सत्तारूढ़ अनुदारवादी दल ने इन मांगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया परन्तु १९६४ में ब्रिटेन में मजदूर दल की सरकार बनी जिसके कारण सारी स्थिति बदल गई। उसने यह घोषणा की कि वह स्थानीय लोगों की इच्छा के विरुद्ध कहीं भी ब्रिटिश सैनिक अड्डे नहीं बनाये रखेगी। १९६६ के मध्य में ब्रिटिश सरकार ने यह निश्चय किया कि वह अदन से अपने सैनिकों को हटा लेगी तथा दक्षिण अरब संघ को स्वाधीनता प्रदान कर देगी।

दक्षिण अरब संघ में राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे का प्रभाव बढ़ गया और उसका ऐसा आतंक स्थापित हो गया कि ब्रिटेन को विवश होकर अदन का अभियान निलम्बित करना पड़ा। वास्तव में यह क्षेत्र मिस्र और ब्रिटेन के मध्य शक्ति परीक्षण का अखाड़ा बन गया तथा मिस्र ने स्वाधीनता मोर्चे की अपेक्षा असनाग के मोर्चे को अधिक विश्वसनीय मान कर उं

मिस्र ने राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे की मजबूत स्थिति को पहचान कर यमनवादी मोर्चे का समर्थन ढीला कर दिया है जिसके कारण उसकी स्थिति पहले जैसी मजबूत नहीं रही। उत्तर यमन में सल्लाल का पतन हो जाने के कारण भी यमनवादी मोर्चों की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा है। यमन के वर्तमान राष्ट्रपति काजी इरियानी यह नहीं चाहते कि नये दक्षिण अरब संघ गणराज्य के साथ यमन के सम्बन्ध प्रारम्भ से ही खराब रहें अतः वे भी यमनवादी मोर्चे को निरुत्साहित कर रहे हैं। तथापि यमनवादी मोर्चे के नेता मकावी ने घोषणा की है कि उनके सात हजार सैनिक नई सरकार के विरुद्ध तब तक संघर्ष करते रहेंगे जब तक वे उसको नष्ट नहीं कर देते।

पेरिम द्वीप का प्रश्न

पश्चिम एशिया के लिये दक्षिण अरब संघ की स्वाधीनता से एक नई समस्या पैदा हो सकती है। दक्षिण अरब संघ स्वाधीनता के परिणाम स्वरूप अदन की खाड़ी और लालसागर के बीच पेरिम द्वीप का स्वामी बनेगा। राष्ट्रीय स्वाधीनता मोर्चे के नेताओं ने अनेक बार यह घोषणा की है कि वे इजरायली जहाजों को यहां से होकर नहीं जाने देंगे। इजरायल ने पूर्वी अफ्रीकी तट के साथ अपने व्यापार को बनाये रखने के लिए ही अकाबा की खाड़ी को बलपूर्वक खोला है यह निश्चय है कि वह पेरिम और अदन के बीच संकरे जलमार्ग पर जल-प्रवाह का बंद किया जाना किसी भी स्थिति में सहन नहीं करेगा। ब्रिटेन ने बहुत पहिले ही इस बारे में चेतावनी दे दी थी और संयुक्त राष्ट्र संघ से कहा था कि पेरिम द्वीप का प्रशासन वह सम्भाल ले जिससे कि इस अन्तर्राष्ट्रीय-जलमार्ग को लेकर अकाबा जैसे युद्ध होने की आवश्यकता ही न रहे परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

पेरिम द्वीप पश्चिमी एशिया के लिए दूसरा मर्म-स्थल सिद्ध हो सकता है। सम्भव है कि पराजय के दंश से पीड़ित मिस्र और सऊदी अरब नई दक्षिण अरब सरकार को इस बारे में सक्षम रहने का परामर्श दे।

आज कोई नहीं जानता कि गृह-संघर्ष की कुनीतियों से घिरी यह स्वतन्त्रता इस देश को कहां ले जायेगी। परिस्थितियाँ ऐसी आशंका उत्पन्न करती हैं कि दक्षिण अरब कहीं दूसरा कांगो न बन जाये जिसकी स्वाधीनता नासूर बन कर अब सात वर्षों से बराबर रिस रही है। अरब प्रतिष्ठा के लिए यह आवश्यक है कि दक्षिण अरब संघ में स्वाधीनता के उपरान्त रक्तपात न हो।

मध्यपूर्व में महाशक्तियों का संघर्ष

जैसा कि हम देख चुके हैं मध्यपूर्व के सामरिक महत्व के कारण १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही महाशक्तियाँ इस प्रदेश में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्ष कर रही हैं। २० वीं शताब्दी में जब इस प्रदेश

में स्थित तेल के विशाल स्रोतों का पता लगा तब उनकी दिलचस्पी और भी अधिक बढ़ गई। अरबों के पास तेल था लेकिन उनके पास अपने इस बहुमूल्य खनिज सम्पत्ति से लाभ उठाने के लिए आवश्यक तकनीकी ज्ञान न था और साथ ही धन का भी अभाव था। परिणामतः विभिन्न अरब राज्य जो खनिज तेल की दृष्टि से धनाढ्य थे ब्रिटिश डच फ्रेंच अमेरिकन एवं रूसी लोगों की साझेदारी में काम करने के लिए विवश हो गये। शनैःशनैः मध्यपूर्व विभिन्न प्रतिस्पर्धी हितों के संघर्ष और तेल कूटनीति का अड्डा बन गया।

मध्यपूर्व को सबसे अधिक प्रभावित करने वाली शक्तियाँ तीन रही— ब्रिटेन संयुक्त राज्य अमेरिका और रूस।

मध्यपूर्व और ब्रिटेन

मध्यपूर्व से ब्रिटेन के सम्बन्ध सबसे अधिक पुराने हैं। प्रथम महायुद्ध के बाद ब्रिटेन ही इस प्रदेश की प्रधान शक्ति बन गया। फिलिस्तीन जोर्डन तथा सीरिया उसके संरक्षित प्रदेश हो गये। ईरान ईराक और कुवैत के तेल व्यवसायों पर उसका नियन्त्रण स्थापित हो गया। मिस्र भी उसका संरक्षित राज्य था और स्वेज नहर पूर्णतः ब्रिटिश नियन्त्रण में थी। अदन और साइप्रस में ब्रिटेन के सैनिक अड्डे स्थापित हो गये। लेकिन द्वितीय महायुद्ध के बाद ब्रिटिश शक्ति और प्रभाव का सूर्य तेजी से अस्त होने लगा। मध्यपूर्व में भी उसका तेजी से ह्रास हुआ। एक के बाद एक लगभग सभी प्रदेश ब्रिटेन के हाथों से निकलते गये। ईरान में ब्रिटिश तेल कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण कर लिया गया तो स्वेज क्षेत्र से उसे अपमानजनक परिस्थितियों में हटना पड़ा। ब्रिटेन के हटने से मध्यपूर्व के क्षेत्र में जो शक्ति शून्यता आई उसे अमेरिका तेजी से भरने लगा और आज ब्रिटेन केवल इस प्रदेश में अमेरिका के प्रधान सहायक की भूमिका अदा कर रहा है।

मध्यपूर्व एवं अमेरिका

अमेरिका ने मध्यपूर्व क्षेत्र में प्रथम महायुद्ध के बाद ही रुचि लेना शुरू किया लेकिन इस क्षेत्र में उसके हित तेजी से व्यापक होते गए और आज वह इस प्रदेश में सर्वाधिक रुचि लेने वाला देश है। इस प्रदेश की सामरिक महत्ता और यहां के पेट्रोल का प्रचुर भंडार वाशिंगटन और मास्को को परस्पर कटुतम प्रतिद्वन्द्वी बनाए हुए है।

संयुक्त राज्य अमेरिका की मध्यपूर्व सम्बन्धी नीति प्रधानतः तीन तत्वों से निर्धारित है—तेल फिलिस्तीन तथा शीतयुद्ध और आत्मरक्षा की आवश्यकतायें।

अमेरिका मध्यपूर्व की ओर उसके विशाल तेल स्रोतों के कारण ही सबसे पहिले आकर्षित हुआ। उसे ईराक कुवैत सऊदी अरब और बहरीन में तेल उत्पादन के अधिकार प्राप्त करने में सफलता मिली। ब्रिटेन और ईरान के तेल विवाद में उसने पूर्ण रुचि ली और आज ईरान के तेल उत्पादन में उसे सर्वाधिक हिस्सा प्राप्त है।

फिलिस्तीन के प्रश्न में भी प्रथम महायुद्ध के बाद से ही अमेरिका की रुचि जागृत हुई और उसमें वहाँ यहूदियों के राज्य की स्थापना का प्रबल समर्थन किया। जिस दिन यहूदी राज्य के निर्माण की घोषणा हुई उसी दिन वाशिंगटन ने इजरायल को मान्यता प्रदान कर दी और आज भी वह इस यहूदी राज्य का प्रधान संरक्षक बना हुआ है। अमेरिका की पक्षपाती नीति उसे अरब देशों में लोकप्रिय बनाने में विशेष सहायक रही है।

मध्यपूर्व में अमेरिका की दिलचस्पी का सबसे प्रधान कारण शीतयुद्ध और आत्मरक्षा की आवश्यकता है।

इस प्रदेश में साम्यवादी रूस के प्रभाव को रोकना अमेरिकन नीति का एक प्रधान लक्ष्य है। इसलिए ही उसने १९४७ में ट्रूमैन सिद्धान्त और १९५७ में आइजनहोवर सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जिनके अन्तर्गत वह मध्यपूर्व के देशों को भारी परिमाण में सहायता देता आ रहा है। अमेरिका इस प्रदेश के राष्ट्रों का सहयोग पाने के लिये अपनी थैली का मुँह खोला हुआ है। इस प्रकार कूटनीति के द्वारा वाशिंगटन मध्यपूर्व पर हावी होने का प्रयत्न कर रहा है। रूसी प्रभाव को रोकने के लिए ही अमेरिका ने मध्यपूर्व में सैनिक संगठन के निर्माण को प्रोत्साहन दिया है। १९५५ में उसी प्रेरणा से ही बगदाद पैक्ट (और अब सैंटो) का निर्माण हुआ।

अमेरिका की मध्यपूर्व सम्बन्धी नीति कभी भी विशेष सफल सिद्ध नहीं हुई है क्योंकि इस प्रदेश में पश्चिमी साम्राज्य विरोधी भावना प्रबल रूप से व्याप्त है। यद्यपि टर्की ईरान और और सऊदी अरब वाशिंगटन के समर्थक हैं फिर भी अधिकांश अरब राज्य उसकी इजरायली पक्षपाती नीति के कारण उससे अत्यधिक असंतुष्ट हैं।

मध्यपूर्व और रूस

मध्यपूर्व के क्षेत्र में रूस की रुचि जार शासकों के समय से ही चली आ रही है। तब ही से वह टर्की से डर्रे दानियाल और बास्फोरस जलडमरू मध्यों को हथिया लेने और ईरान में अपना प्रभाव क्षेत्र स्थापित करने का प्रयत्न करता रहा था। द्वितीय महायुद्ध के बाद सोवियत रूस ने मध्यपूर्व के आर्थिक और सामाजिक पिछड़ेपन एवं इस प्रदेश की पश्चिम विरोधी भावना का पूरा-पूरा लाभ उठाने का प्रयत्न किया। २९ अक्टूबर १९५६ को मिस्र पर इजरायल फ्रांस और ग्रेट ब्रिटेन का आक्रमण होने पर रूस ने पश्चिमी देशों को अपनी सेनायें अविलम्ब हटाने की चेतावनी दी और न हटाने पर आणविक आयुधों के प्रयोग तक की धमकी दी। रूस के इस कदम से सम्पूर्ण अरब जगत में उसे जो वाह-वाही समर्थन और सहानुभूति मिली वह अमेरिका को ब्रिटेन पर युद्ध बन्द कर देने का भारी दबाव डालने पर भी प्राप्त न हो सकी। इसी तरह लेबनान और जोर्डन में जुलाई १९५८ में जब अमेरिकन और ब्रिटिश फौजें उतरीं तो सोवियत संघ ने उनके इस कदम को साम्राज्यवाद की संज्ञा दी और इन क्षेत्रों से विदेशी फौजों के हटाने पर पूरा

कर दिया। अपने इस कदम से भी रूस ने अरब राज्यों की सद्भावना प्राप्त की। इसी तरह जब अमेरिका ने संयुक्त अरब गणराज्य (मिस्र) को आस्वान बांध बनाने के लिए आर्थिक सहायता देना स्वीकार नहीं किया तो ख्रुश्चेव ने अक्टूबर १९५८ में घोषणा की कि वह इस योजना को पूरा करने के लिए मिस्र को दस करोड़ डालर का ऋण प्रदान करेगा। अपने इस प्रकार के सक्रिय सहयोग के कारण सोवियत रूस ने मिस्र और अधिकांश अरब राष्ट्रों की कृतज्ञता जीत ली। १९५८ की क्रांति के बाद ईराक में भी उसका प्रभाव काफी बढ़ता गया। परन्तु इतना सब कुछ होने पर भी अभी तक रूस मध्यपूर्व में अपना प्रत्यक्ष विस्तार करने में सफल नहीं हुआ है और न ही मध्यपूर्व के किसी भी देश में साम्यवादी सरकार की स्थापना हो चुकी है। हां इतना दुरुस्त है कि मध्यपूर्व के तटस्थतावादी राष्ट्र वाशिंगटन की अपेक्षा मास्को के प्रति अधिक उदार भावनायें रखते हैं। राष्ट्रपति नासिर का नेतृत्व सोवियत संघ के प्रभाव के विस्तार में विशेष सहायक सिद्ध हो रहा है तथापि इसका अभिप्राय यह नहीं है कि नासिर अरब देशों द्वारा साम्यवाद अपना लेने के पक्ष में है। वस्तु स्थिति यह है कि वाशिंगटन और मास्को के शक्ति संघर्ष के मध्य अरब राष्ट्रवादी नासिर के नेतृत्व में एक तटस्थतावादी नीति का अनुकरण करते हुए एक विशाल स्वतन्त्र और शक्तिशाली अरब राज्य की स्थापना करना चाहता है, हालांकि उसका यह अखिल अरबवाद न तो टर्की को पसन्द है और न ईराक तथा कुछ अन्य अरब राष्ट्रों को। साथ ही अरब इजरायली संघर्ष भी मध्यपूर्व की राजनीति को बड़ा अस्थिर और जटिल बनाए हुए है।

EXERCISES

1 Discuss the importance of Middle East in the diplomacy of Great Powers during years of 1940-56

१९४० से १९५६ के वर्षों के दौरान महाशक्तियों की कूटनीति में मध्यपूर्व के महत्व की समीक्षा कीजिये।

2. Write a short essay on international politics of the Middle East after World War II

मध्यपूर्व की द्वितीय महायुद्धोत्तर अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

3. Discuss the part played by Middle East Oil in international diplomacy

अन्तर्राष्ट्रीय कूटनीति के क्षेत्र में मध्यपूर्व के तेल ने क्या भूमिका अदा की है उसकी विवेचना कीजिये।

4 How was the Zionist problem influenced international politics in the Middle East ?

मध्यपूर्व में यहूदीवाद की समस्या ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को किस तरह प्रभावित किया है?

5. Give a brief history of Anglo-Egyptian relations in the period leading to the Suez Crisis
स्वेज संकट के समय पर आंग्ल-मिस्री सम्बन्धों का संक्षिप्त इतिहास लिखिये।

6. Write detailed notes on the following—
(a) Sena (b) Jordan (c) Lebanon (d) Saudi Ara
(e) Cyprus (f) Turkey (g) Iraq (h) Iran (i) Arab-Israel War 1967

7. Write a note on Arab nationalism
अरब राष्ट्रवाद पर एक नोट लिखिये।

8. Trace the origin of the Arab League and indicate its role in the Middle Eastern Politics.
अरब लीग की उत्पत्ति बताइये और मध्यपूर्व की राजनीति में उसकी भूमिका इंगित कीजिये।

9. What do you know of the Palestine problem and its settlement after the Second World War ?
फिलस्तीन समस्या और द्वितीय महायुद्ध के बाद इसके समाधान के बारे में आप क्या जानते हैं ?

10. How did Egypt become a republic ? Write a short essay on Nasser s foreign policy with particular reference to Israel, Soviet Russia and the Western bloc.
मिस्र एक गणराज्य कैसे बना? इजरायल रूस और पश्चिमी गुट के विशेष संदर्भ में नासिर की विदेश नीति पर संक्षिप्त निबन्ध लिखिये।

11. Write a short history of Iraq with particular reference to its foreign policy from the end of the Second World War to the present day
द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति से लेकर वर्तमान काल तक की ईराकी विदेश नीति पर विशेष रूप से चर्चा करते हुए ईराक का इतिहास संक्षिप्त में लिखिये।

12. Write a note on Cyprus problem indicating its importance in world politics.
विश्व राजनीति में साइप्रस समस्या का महत्व बताते हुए इस पर एक नोट लिखिए।

15

अफ्रीका की जागृति

[THE RISE OF AFRICA]

१ अफ्रीका की जागृति और विभिन्न अफ्रीकन देशों का स्वतन्त्र होना

२ कुछ प्रमुख अफ्रीकन देश—

(i) लीबिया

(ii) ट्यूनीशिया

(iii) मोरक्को

(iv) इथोपिया

(v) कांगो

(vi) नाइजीरिया

(vii) यूगाण्डा

(viii) केनिया

(ix) घाना

(x) अल्जीरिया

(xi) दक्षिणी रोडेशिया

३ स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की समस्यायें

४ अफ्रीकी एकता आन्दोलन

'यह बहुत स्पष्ट है कि अगले दस वर्षों में विश्व की शान्ति और स्थिरता अफ्रीका के विकास उसके प्रजातीय सम्बन्धों की दिशा तथा शेष संसार द्वारा अफ्रीकी जनता के आर्थिक और सामाजिक विकास में सहायता की पद्धतियों से बहुत अधिक प्रभावित होगी।

—डाग हैमरशोल्ड

हमारी नई स्वतन्त्रता
हमारे सम्मुख नये-नये
दायित्व प्रस्तुत कर रही है;
जातीय पक्षपात और विरोधी लोगों
के प्रति घृणा से सावधान रहो।
सभी ट्यूनीसियाई भाई-भाई हैं।
मुस्लिम और यहूदी दोनों समान हैं और
हमें आपस में भाईचारे का सम्बन्ध रखना चाहिये।

—बोरगुबा

अफ्रीका की जागृति और विभिन्न अफ्रीकन देशों का स्वतन्त्र होना

अफ्रीका कोई एक देश नहीं है अपितु एक महाद्वीप है जिसमें अनेक देश हैं। उत्तरी अफ्रीका विशेषत अल्जीरिया संयुक्त अरब गणराज्य और लीबिया के निवासी गोरे हैं, किन्तु शेष अफ्रीका के मूल निवासी काले हैं। लेकिन इन गोरो और कालों के बीच पर्याप्त मात्रा में एकता और प्रेम विद्यमान है।

अफ्रीका महाद्वीप मे आज से हजारों वर्ष पूर्व नील नदी की घाटी और कार्थेज की महान सभ्यताओं का विकास हुआ फिर भी केवल एक शताब्दी पूर्व तक इसका बाह्य संसार से अत्यन्त थोड़ा सम्पर्क रहा और इसलिए इसे अन्ध महाद्वीप (Dark Continent) की संज्ञा दी जाती थी। १६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक यूरोप और एशिया वासी इस महाद्वीप के उत्तर तटवर्ती प्रदेशों और मिस्र से ही थोड़ा बहुत परिचित थे। सहारा के विशाल मरुस्थल और भूमध्यरेखा के दक्षिण मे स्थित प्रदेश से वे लगभग अपरिचित ही थे। इस समय तक अफ्रीका उनके लिए एक महाद्वीप न होकर एक तट मात्र था' और इस प्रदेश में उनकी रुचि केवल इतनी ही थी कि वे यहाँ कुछ ऐसे बन्दरगाहों की स्थापना कर सकें जो भारत जाने वाले जहाजों के लिए विश्राम स्थल बन सकें जहाँ से ये जहाज ईंधन ले सकें और साथ ही अमेरिका के गन्ने और कपास के बगानों में काम करने के लिए उन्हें गुलाम भी मिल सकें।

लेकिन सन् १८७० के बाद से ही यूरोपियन शक्तियों में अफ्रीका में उपनिवेशों की प्राप्ति की होड़ लग गई। १८८० से १८९० के बीच उन्होंने सम्पूर्ण अफ्रीका के विभिन्न प्रदेशों को आपस में बाँट लिया। १८७० के बाद के केवल २० वर्ष की अल्पावधि में ही यूरोपियन शक्तियों ने अफ्रीका के लगभग ९/१० भाग को आपस म विभाजित कर लिया। १८८० में उनके पास १ लाख वर्गमील का प्रदेश था जो १० वर्ष बाद ६ लाख वर्गमील का प्रदेश हो गया। अफ्रीका महाद्वीप के समस्त देशों में से जिनकी संख्या इस समय कुल मिलाकर ५० के लगभग है प्रथम महा-युद्ध से पूर्व केवल एबीसीनिया (अथवा इथोपिया) ही स्वतन्त्र राज्य रह गया था किन्तु १९३६ में इसकी स्वतन्त्रता भी इटली द्वारा समाप्त कर दी गई हालांकि द्वितीय महायुद्ध में यह राष्ट्र पुनः स्वतन्त्र हो गया था।

द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति पर १९४५ में अफ्रीका महाद्वीप में केवल ४ राज्य स्वतन्त्र थे-एबीसीनिया लाइबीरिया दक्षिण अफ्रीका का संघ और मिस्र। महायुद्धोत्तरकाल में सम्पूर्ण अफ्रीका में स्वतन्त्र होने की इच्छा बलवती

होती गई और अफ्रीका वासियों का 'हाँ' की भावना अंगड़ाई ले उठी। स्वतन्त्रता से पूर्व सामान्य तौर पर अधिकांश अफ्रीका महाद्वीप विभिन्न शक्तियों के मध्य इस प्रकार विभाजित था—

क०सं०	नाम	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या
१	फ्रांसीसी अफ्रीका	४० २२ १५०	४,४१ ५२,६००
२	ब्रिटिश अफ्रीका	२० २५ ७१६	६,२४ ११ ९७५
३	बेल्जियम अफ्रीका	१ ९४ १००	१ २० ०० ०००
४	पुर्तगीज अफ्रीका	५ ७८ ०००	९५,०० ०००
५	स्पेनिश अफ्रीका	१ १४ २००	१४ ९५ ०००

द्वितीय महायुद्ध के बाद यह सम्भाव्य अथवा अफ्रीका महाद्वीप स्वतन्त्रता की आकांक्षा के इतने तीव्र प्रकाश से आलोकित हो उठा कि सम्पूर्ण क्षेत्र में यूरोपियन साम्राज्यों का उसी तीव्रता से अन्त हो गया जिस तीव्रता से उनका निर्माण हुआ था। २० वर्ष के अल्प काल में ही अफ्रीका के ९/१० देश स्वतन्त्र हो गये। जाति भाषा इतिहास परम्परा और धर्म आदि की विभिन्नताओं के विद्यमान होते हुए भी अफ्रीका में राष्ट्रवाद की यह अंगड़ाई विस्मयजनक थी। वस्तुतः इस राष्ट्रवाद का प्रधान कारण यह था कि यूरोपियन लोग अपने जातीय सिद्धान्त के आधार पर अफ्रीका के अश्वेत लोगों को अपने से निम्नकोटि का मानते थे। इस सिद्धान्त की तीव्र प्रतिक्रिया ने अफ्रीका के दुर्दमनीय राष्ट्रवाद को जन्म दिया। अफ्रीकन राष्ट्रवाद को मुख्य प्रेरणा जातीय समानता की आकांक्षा की प्राप्ति से मिली और राजनीतिक स्वतन्त्रता उनके लिये जातीय समानता की प्राप्ति का साधन बन गई। ई० हक्सले (E. Huxley) के शब्दों में 'समानों के रूप में स्वीकृति के अर्थों में 'अभिज्ञान' (Identity) की मांग प्रस्तुत अधिकांश अफ्रीका की राष्ट्रीयता का आधार है।'[1] अफ्रीका में राष्ट्रवाद और स्वतन्त्रता के जागरण के उदय का दूसरा प्रमुख कारण यह रहा कि युद्धोपरान्त भारत की स्वतन्त्रता के साथ ही एशिया के विभिन्न भागों में भी स्वतन्त्रता की लहर व्याप्त हो गई। विदेशी दासता से मुक्त हो कर एक-एक कर एशिया के राष्ट्र स्वतन्त्र होते गये। अरब महासागर से लेकर हिन्द महासागर और प्रशान्त के तटवर्ती देशों में स्वतन्त्रता के पारिजात खिल उठे। समय और बदलती हुई हवा के रुख के साथ-साथ इन पुष्पों की सुरभि हिन्द महासागर और अरब सागर की लहरों पर बहते हुए अफ्रीकन महाद्वीप के तटों से आ टकराई और तब इस महाद्वीप के करोड़ों लोग स्वतन्त्रता देवी का वरण करने के लिए उठ गये। उक्त दो प्रमुख कारणों के अतिरिक्त पाश्चात्य शिक्षा के प्रभाव महायुद्ध के दौरान स्वातन्त्र्य प्रिय अमेरिकनों के सम्पर्क और राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ आदि में

1 Quoted in International Relations, p. 565 (by Palmer and Perkins)

उपनिवेशवाद के विरोध ने भी अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण के विकास में उल्लेखनीय भूमिका अदा की। अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने भी अफ्रीका के देशों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में बहुत सहायता दी। द्वितीय महायुद्ध ने उपनिवेशवादी शक्तियों को अत्यन्त दुर्बल बना दिया और फ्रांस ब्रिटेन आदि विजयी राष्ट्र इतने दुर्बल हो गये कि उनमें अपने उपनिवेशों की प्रबल स्वतन्त्रता की आकांक्षा का दमन करने की शक्ति नहीं रह गई। इस तरह उनके एशिया और अफ्रीका के उपनिवेश तेजी से इनके हाथ से निकल गये। पहले एशिया के उपनिवेश तेजी से स्वतन्त्र हुए जिससे अफ्रीकी राष्ट्रवादियों में प्रबल आत्म विश्वास जागृत हुआ।

द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका महाद्वीप में एक-एक करके स्वतन्त्रता की तीन उत्तरोत्तर जबरदस्त लहर आई। जैसा कि कहा जा चुका है महायुद्ध की समाप्ति पर अफ्रीका में केवल ४ राज्य स्वतन्त्र थे—एबीसीनिया लाईबीरिया दक्षिण अफ्रीका का संघ और मिस्र। यह ११० लाख वर्गमील का क्षेत्र अफ्रीका महाद्वीप के कुल क्षेत्रफल का केवल ११ प्रतिशत था और इसकी २८ करोड़ की आबादी अफ्रीका की कुल जनसंख्या का २६ प्रतिशत थी। इसके बाद स्वतन्त्रता की पहली लहर आई। इस लहर में केवल अल्जीरिया के अपवाद को छोड़ कर अरबों द्वारा आवासित उत्तरी अफ्रीका ने उपनिवेशवादी और साम्राज्यवादी शक्तियों का सफाया किया। इस पहली लहर द्वारा स्वतन्त्र होने वाले राष्ट्रों में १९५१ में स्वतंत्र होने वाला लीबिया और १९५६ में स्वाधीनता पाने वाले सूडान मोरक्को तथा ट्यूनीसिया थे। इसके बाद स्वतन्त्रता की दूसरी लहर आई जिसने काले अर्थात् नीग्रो लोगों द्वारा आवासित अफ्रीका पर प्रभाव डाला। १९५७ में ब्रिटेन द्वारा घाना को स्वतन्त्रता प्रदान की गई और १९५८ में गिनी पंचम फ्रेंच गणराज्य से पृथक हो गया। १९५९ तक अफ्रीका में ग्यारह राज्य स्वाधीन हो गये किन्तु अभी तक सहारा के दक्षिण का और जम्बेसी नदी के उत्तर का मध्य अफ्रीका पराधीन था। १९६० में स्वतन्त्रता की तीसरी जबरदस्त लहर आई जिसने इस प्रदेश के अधिकांश गुलाम देशों को आजाद कर दिया। यह वर्ष अफ्रीका के स्वतन्त्रता का वर्ष कहा जाता है जिसमें १७ देश स्वतन्त्र हो गये। इसके बाद एक-एक कर के अफ्रीका के शेष देश भी स्वतन्त्र हो गये। १९६६ के अन्त तक केवल इने गिने प्रदेशों को छोड़ कर सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप आजाद हो गया। इस समय तक जो विभिन्न अफ्रीकन देश स्वतन्त्र हो गये उनका ब्योरा इस प्रकार से है—

क०सं०	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतन्त्र होने की तिथि
१	लाइबेरिया	अमेरिका	४३,०००	२७,५०,०००	१८४७
२	इथियोपिया	—		२ करोड़	१९४१
३	लिबिया	—	१,७५,९५८	१२,००,०००	२४ नवंबर १९५१
४	इरिट्रिया	इटली	—	—	सितंबर १९५२

क्र सं	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतंत्र होने की तिथि
५.	सूडान	ब्रिटेन	९,६७,५००	१० करोड़	जनवरी १९५६
६	मोरक्को	फ्रांस	—	—	मार्च १९५६
७	ट्यूनिशिया	फ्रांस	४८,३१३	३९,२५,०००	मार्च १९५६
८	घाना	ब्रिटेन	९१,८४३	४८ लाख	मार्च १९५७
९	गिनी	फ्रांस	१,०५,२००	३०,००,०००	अक्टूबर १९५८
१०	संयुक्त अरब गणराज्य	—	३,८६,१९८	३ करोड़	१९५८
११	कैमरून	फ्रांस	१,६६,४८९	३२,६५,०००	जनवरी १९६०
१२	मोरक्को (दक्षिण भाग)	स्पेन	—	—	मार्च १९६०
१३	टोगो	फ्रांस	४,२१,८८१	१२ लाख	अप्रैल १९६०
१४	माली संघ	फ्रांस	—	—	जुलाई १९६०
१५	कांगोली गणराज्य	बेल्जियम	९,०५,०००	१ ४० करोड़	जुलाई १९६०
१६	सोमालिया	ब्रिटेन व इटली	—	—	जुलाई १९६०
१७	मालागासी गणराज्य	फ्रांस	२,२८,०००	५१,७४,६२१	जुलाई १९६०
१८	चाड	फ्रांस	४,९५,०००	२५,८०,०००	अगस्त १९६०
१९	नाइजर	फ्रांस	४९,४२,०००	१४ लाख	अगस्त १९६०
२०	आइवरी कोस्ट	फ्रांस	—	—	अगस्त १९६०
२१	वोल्टाई गणराज्य	फ्रांस	—	—	अगस्त १९६०
२२	गैबन	फ्रांस	१,०३,०००	४,१९,५००	अगस्त १९६०
२३	डोमी	फ्रांस	४५,१००	१७,११,०००	अगस्त १९६०
२४	कांगो गणराज्य	—	—	—	अगस्त १९६०
२५	मध्यवर्ती अफ्रीका	—	—	—	अगस्त १९६०
२६	नाइजीरिया	ब्रिटेन	३,७३,२२०	३ ५ करोड़	अक्टूबर १९६०
२७	मारिटेनिया	फ्रांस	४,१५,६००	५ लाख	नवम्बर १९६०
२८	सियरालियोन	फ्रांस	—	—	अप्रैल १९६१
२९	रुआंडा-उरुंडी	बेल्जियम	२०,५४०	४९,३०,०००	१ जुलाई १९६२
३०	अल्जीरिया	फ्रांस	९५,९१,०००	१,०२,१५,०००	सितम्बर १९६२
३१	युगांडा	ब्रिटेन	९३,९८१	६५,१७,०००	अक्टूबर १९६२
३२	टांगानिका	ब्रिटेन	३,६२,६८८	९० लाख	दिसम्बर १९६२
३३	केनिया	ब्रिटेन	—	—	दिसम्बर १९६३
३४	जंजीबार	ब्रिटेन	—	—	१० दिसम्बर १९६३
३५.	(मलावी) न्यासालैंड	ब्रिटेन	—	—	१९६४

क्र.सं.	नाम प्रदेश	स्वतन्त्रता पूर्व प्रशासकीय देश	क्षेत्रफल (वर्गमील)	१९६१ के अनुसार जनसंख्या	स्वतंत्र होने की तिथि
३६	जैम्बिया (उत्तरी रोडेशिया)	ब्रिटेन	—	—	१९६४
३७	गैम्बिया	ब्रिटेन	—	—	१९६५
३८	ब्रिटिश गियाना (नया नाम गुयाना)	ब्रिटेन	८३ ०००	६,५० ०००	२६ मई १९६६
३९	बोत्सवाना (बचुआनालैंड)	ब्रिटेन	२७५००	५,१७,०००	३०सितम्बर १९६६
४	लेसोथो (बसुतोलैंड)	ब्रिटेन	११ ७१६	१ २४,०००	३ अक्टूबर १९६६
४१	बारबाडोस	ब्रिटेन	१६६	२५० ०००	३० नवम्बर १९६६

यह स्मरणीय है कि अफ्रीका महाद्वीप की राजनीतिक परम्परायें प्रारम्भ से ही अधिनायकवादी और सर्वसत्तावादी रही हैं। औपनिवेशिक युग के शुरू होने से पहले अफ्रीका महाद्वीप में एकतन्त्रात्मक शासन का बोलबाला था। कबीलों के सरदार स्वेच्छाचारी ढंग से शासन करते थे। जब औपनिवेशिक युग प्रारम्भ हुआ तब भी इस स्थिति में कोई विशेष अन्तर नहीं आया और इस महाद्वीप की शोषित प्रजा साम्राज्यवादी शक्तियों के निरंकुश शासन से प्रताड़ित रही। इस राजनीतिक अवस्था का परिणाम यह हुआ कि अफ्रीका महाद्वीप के किसी भी देश में स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराओं का विकास नहीं हो सका। यद्यपि अब भूतपूर्व ब्रिटिश उपनिवेशों में संसदात्मक लोकतन्त्र की स्थापना की गई है, तथापि वहां भी उत्तर लोकतंत्र बहुत सीमा तक सफल नहीं हुआ है। अल्जीरिया या घाना या इथोपिया अथवा मिस्र किसी भी देश को लें हमें सर्वत्र यही दिखलाई पड़ेगा कि इन सभी देशों में निर्वाचित एकतंत्र की स्थापना की गई है।

अफ्रीका में साम्यवादी प्रभाव अभी तक विशेष रूप से उग्र नहीं हो पाया है, तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि साम्यवादी देशों ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध अफ्रीकावासियों के संघर्ष को नैतिक बल पहुंचाने में सक्रिय सहायता की है। इनमें अग्रणी सोवियत संघ रहा है। वह समय समय पर संयुक्त राष्ट्र संघ में और उसके बाहर अफ्रीकन जनता की स्वाधीनता का समर्थन करता रहा है। कांगो के प्रथम प्रधानमंत्री पैट्रिस लुमुम्बा की मृत्यु पर मास्को में एक अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना की गई थी जिसमें आज भी अफ्रीका के विभिन्न देशों के विद्यार्थी वैज्ञानिक शिक्षा ग्रहण करते हैं। इस तरह सोवियत संघ अफ्रीका में साम्यवाद का प्रचार प्रसार करने हेतु यथेष्ट है। यही नहीं उसने स्वयं को अफ्रीका के जन आन्दोलनों से साथ जोड़ने की चेष्टा की है और अफ्रीका के गरीब देशों को आर्थिक सहायता देकर उनकी पर्याप्त सहानुभूति अर्जित कर ली है। फिर भी अफ्रीका के राष्ट्र

इस बात से अनभिज्ञ नहीं हैं कि साम्यवादी देश उनके प्रति सहानुभूति तो रखते हैं लेकिन यह भी चाहते हैं कि अफ्रीका में साम्यवाद की स्थापना हो। अफ्रीका महाद्वीप में भी चीन सोवियत संघ का प्रतिद्वन्द्वी है। सोवियत संघ और चीन दोनों ही अफ्रीका के देशों को अपने-अपने साम्यवादी ढंग से प्रभाव में लाना चाहते हैं। इसी दृष्टि से दोनों पक्षों के उच्च नेतागण अफ्रीका के विभिन्न देशों के दौरे करते रहे हैं।

अफ्रीका की समस्या न केवल राजनीतिक अपितु एक बहुत बड़ी सीमा तक आर्थिक और औद्योगिक भी है। आर्थिक दृष्टि से अफ्रीका के देश बहुत अधिक पिछड़े हुए हैं यद्यपि प्राकृतिक साधनों की दृष्टि से अफ्रीका संसार का एक सौभाग्यशाली देश है। अब तक साम्राज्यवादी और उपनिवेशवादी शक्तियाँ अफ्रीका महाद्वीप के विशाल प्राकृतिक साधनों का शोषण अपने लिए करती रही थीं परन्तु अब उनका उपयोग राष्ट्रीय हितों में होना है। अफ्रीका के देश इस बात के लिए प्रयत्नशील हैं कि विकसित देश उन्हें वांछित आर्थिक और प्राविधिक सहायता दें किन्तु साथ ही उनकी सम्प्रभुता और स्वतन्त्रता पर भी किसी प्रकार की आँच न आ पाये। अब यह सम्भव नहीं है कि अफ्रीका महाद्वीप के इन पाश्चात्य औद्योगिक-उत्पादन के लिए बाजार बन कर रह जाए।

अफ्रीका के विभिन्न देशों की एक गम्भीर राजनीतिक समस्या गोरे यूरोपियनों की है जिनके पूर्वज यूरोपियन देशों से आकर अफ्रीका में बस गये थे। यद्यपि अफ्रीका की जनता की तुलना में ये लोग अत्यन्त अल्प संख्या में हैं, लेकिन दीर्घकाल तक अफ्रीकावासियों पर शासन करने के कारण उनके मन में उच्चतम की भावना घर किए हुए है। साथ ही उनके अपने विशिष्ट आर्थिक स्वार्थ भी हैं। अफ्रीका के मूल निवासी इन गोरे उपनिवेशकारियों को घृणा और अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं। दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद-नीति ने संपूर्ण संसार के समक्ष निर्लज्ज रूप से यह स्पष्ट कर दिया है कि यहाँ के गोरे उपनिवेशकारी मानवीय न्याय और सभ्यता की समस्त मर्यादाओं को लांघ कर अपने विशिष्ट आर्थिक हितों की पूर्ति के लिए शक्ति के बल पर अपने आपको अफ्रीका महाद्वीप में बनाये रखना चाहते हैं।

कुछ प्रमुख अफ्रीकन देश

अफ्रीका महाद्वीप की इस संक्षिप्त ऐतिहासिक एवं राजनीतिक पृष्ठभूमि के बाद अब हम कुछ प्रमुख अफ्रीकन देशों की अन्तर्राष्ट्रीय नीति का संक्षेप में वर्णन करेंगे। इन प्रमुख देशों में लीबिया ट्यूनीशिया मोरक्को घाना नाइजीरिया कांगो इथोपिया युगाण्डा कीनिया अल्जीरिया रोडेशिया आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

लीबिया

लीबिया नामक संघात्मक राज्य की स्थापना २४ दिसम्बर, १९५१ को इटली के तीन उपनिवेशों-त्रिपोलीतानिया सायरेनिका तथा फेजान को

मिलाकर की गई। यह एक राजतंत्रात्मक राज्य है जिसकी जनता अधिकांशतः मुस्लिम मतावलम्बी है। लीबिया अरब लीग का एक प्रमुख सदस्य है और इस नाते उसने अफ्रीका के अरब प्रदेशों की स्वाधीनता के लिए सराहनीय काम किया है। यद्यपि आर्थिक दृष्टि से लीबिया एक साधन सम्पन्न देश नहीं है, किन्तु फिर भी उसने स्वयं को संयुक्त राज्य अमेरिका के आर्थिक साम्राज्यवाद से बचाये रखने की सफल चेष्टा की है। दिसम्बर १९५५ से लीबिया संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य है और संघ में रहकर अफ्रीकन देशों की स्वतन्त्रता के लिये अपने हिमायती देशों का साथ दे रहा है।

ट्यूनीशिया

ट्यूनीशिया एक प्राचीन देश है जो उत्तरी अफ्रीका के भूमध्य सागर के तट पर स्थित है। इसकी गणना भी अरब देशों में की जाती है। पाश्चात्य सभ्यता से गम्भीर रूप में प्रभावित इस देश का राष्ट्रवाद धार्मिक संकीर्णता और सामन्तवाद से मुक्त रहा है। द्वितीय महायुद्ध काल में मई १९४३ में इस देश को धुरी राष्ट्रों से छीन कर वापिस फ्रांस को लौटा दिया गया था। फ्रांस ने ट्यूनीशिया के राष्ट्रवादी आन्दोलन का दमन करने की पूरी चेष्टा की। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों के प्रयासों के फलस्वरूप संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इस दमन की कटु निन्दा की गई। जुलाई १९५४ में महासभा ने फ्रेंच सरकार और ट्यूनीशिया के राष्ट्रवादी नेताओं से अपील की कि वे ट्यूनीशिया के सम्बन्ध में कोई ऐसा समझौता कर लें जो दोनों पक्षों के लिए सम्माननीय हो। अन्त में काफी विचार विमर्श और समझौता वार्ता के बाद २० मार्च, १९५६ को फ्रांस द्वारा ट्यूनीशिया की स्वतन्त्रता स्वीकार कर ली गई और नवम्बर, १९५६ में ट्यूनीशिया संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बन गया। ट्यूनीशिया के नेता अफ्रीकन देशों की एकता के विशेष रूप से समर्थक हैं। दुर्भाग्यवश अरब राष्ट्रों के साथ इस देश के सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे हैं। मिस्र मोरक्को और अल्जीरिया के साथ किसी न किसी प्रश्न पर ट्यूनीशिया का विवाद चलता रहा है। फिर भी १९६१ में अदीस-अबाबा शिखर सम्मेलन के समय से ट्यूनीशिया अपने पड़ोसियों के साथ संबंध सुधारने की निरन्तर चेष्टा करता रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य के रूप में उसने अफ्रीकी एशियाई देशों का साथ दिया है।

मोरक्को

अरब देशों में मोरक्को ही एक ऐसा देश है जो लगभग पिछले १२०० वर्षों तक एक स्वाधीन देश बना रहा यद्यपि इस दीर्घ अवधि में वहाँ अनेक आंतरिक झगड़े चलते रहे। १९१२ में पहली बार मोरक्को की स्वतन्त्रता को आघात पहुँचा और उसे फ्रांस का संरक्षण स्वीकार करना पड़ा। यह स्थिति १९१२ से १९५६ तक रही। ४४ वर्ष के इस औपनिवेशिक काल में मोरक्को ने दासता का पूरा स्वाद चखा किन्तु मोरक्को की स्वाधीनता प्रिय जनता गुलामी की बेड़ियाँ अधिक समय तक सहन न कर सकी। फलतः १९१० से ही वहाँ स्वतंत्रता का आन्दोलन शुरू हो गया। १९२१ में वहाँ भयंकर दंगे हुए और अनेक यूरोपियनों की हत्या कर दी गई।

मारक्को के सुल्तान और फ्रांस सरकार के बीच काफी संघर्ष चला। अगस्त १९५३ में सुल्तान को गद्दी से हटा दिया गया। परन्तु चूंकि राष्ट्रवादी शक्तियां सुल्तान का समर्थन कर रही थीं अत: नवम्बर १९५५ में उसे फिर से गद्दी मिल गई। अब फ्रांस के लिए मोरक्को को गुलाम बनाये रखना सम्भव न रहा और २ मार्च १९५६ को मोरक्को की जनता ने पुन: स्वाधीनता की सांस ली। १९१ की फ्रेंच संधि ने मोरक्को का एक भाग स्पेन को दिया था और टैन्जियर्स का प्रदेश अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र बना दिया था। ७ अप्रेल १९५६ का स्पेनिश मोरक्को भी स्वतन्त्र हो गया। दिसम्बर १९५६ में मोरक्को संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य बना लिया गया।

स्वाधीनता के बाद भी मोरक्को और फ्रांस के सम्बन्ध मधुर न बन सके क्योंकि मोरक्को ने इस बात की मांग की कि वहां से समस्त फ्रेंच सैनिक हटा लिए जाएं। इसके अतिरिक्त फ्रांस से इस बात पर भी बड़ी तनातनी हो गई कि उसने मोरक्को के उस वायुयान को जबरन उतरवा कर अपने अधिकार में ले लिया जो कुछ अल्जीरियन नेताओं को मोरक्को के शाही अतिथि के रूप में ले जा रहा था। फ्रांस ने इन नेताओं को गिरफ्तार भी कर लिया। इस घटना को लेकर मारक्को में तूफान उठ खड़ा हुआ और अनेक फ्रेंच नागरिकों की हत्या कर दी गई। प्रतिक्रिया स्वरूप फ्रांस ने मारक्को को आर्थिक सहायता देना बन्द कर दिया। परन्तु इससे मोरक्को हताश नहीं हुआ। उसने फ्रेंच आर्थिक सहायता के अभाव की पूर्ति अमेरिकन आर्थिक सहायता से कर ली और बदले में यह स्वीकार कर लिया कि संयुक्त राज्य अमेरिका मोरक्को प्रदेश में सैनिक अड्डों की स्थापना कर ले। मोरक्को का अपने पड़ौसी देश मॉरिटानिया के साथ भी सीमा संघर्ष चला और इसी कारण १९६१ में होने वाले अदीस-अबाबा राष्ट्राध्यक्ष शिखर-सम्मेलन में मोरक्को को आमंत्रित नहीं किया गया।

इथोपिया

इथोपिया जिसे एबीसीनिया भी कहा जाता था द्वितीय महायुद्ध के बाद स्वतंत्र हो गया और १९३० से चले आ रहे इथोपियन सम्राट हेल सेलासी ने पुन: शासन का भार सम्भाल लिया। इथोपिया अफ्रीका के सर्वाधिक प्रगतिशील राष्ट्रों में से एक है और आर्थिक दृष्टि से उसने स्वयं को काफी सुदृढ़ कर लिया है। इथोपिया अफ्रीका राष्ट्रों की एकता का प्रतीक है। मई, १९६३ में सम्राट हेल सेलासी ने अफ्रीकन राष्ट्रों के अध्यक्षों के शिखर सम्मेलन को अपनी राजधानी अदीस अबाबा में आयोजित किया। संयुक्त राष्ट्र संघ में भी इथोपिया ने साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में सराहनीय योग दिया। फरवरी १९६४ में इथोपिया और सोमालिया के मध्य सीमा संघर्ष छिड़ गया लेकिन सूडान के राष्ट्रपति की मध्यस्थता से दोनों पक्षों ने युद्ध बन्दी समझौता स्वीकार कर लिया।

(7) कांगो (ब्रेजेबील एवं लियोपोल्डविले)

अफ्रीका में दो कांगो हैं जिनमें से एक फ्रांस के अधीन था और दूसरा

बैल्जियम के। १९६० में दोनों ही कांगो को स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई और दोनों ही में गणतंत्रात्मक शासन की स्थापना की गई। फ्रैंच कांगो की राजनीति में फ्रांस के राजनीतिज्ञ बाद में भी दिलचस्पी लेते रहे। अगस्त १९६१ में वहां एक राज्य क्रान्ति हुई जिसमें राष्ट्रपति यूमू की सरकार का तख्ता उलट दिया गया।

कांगो (लियोपोल्डविल) का वर्णन संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनीतिक कार्यों के प्रसंग में किया जा चुका है। ० जून, १९६० को यह स्वतन्त्र हुआ और तुरन्त ही एक भयानक गृह युद्ध में फंस गया जिसमें दो महान बलिदान हुए प्रथम प्रधानमंत्री पैट्रिस लुमुम्बा का और द्वितीय संयुक्त राष्ट्र संघ के महा सचिव श्री डाग हैमरशोल्ड का। कांगो में स्थित कटंगा प्रान्त ने विद्रोह किया जिसका दमन कर दिया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयासों से कांगो खंड–२ होने से बच गया।

नाइजीरिया

नाइजीरिया का ब्रिटिश उपनिवेश एक अक्टूबर १९६० को स्वतन्त्र हो गया। इसका क्षेत्र फल ३,३९,१६८ वर्गमील और जनसंख्या लगभग ३,४०,००,००० है। यह जनसंख्या अफ्रीका के देशों में सबसे अधिक है। नाइजीरिया अफ्रीका का समृद्धतम और महत्वपूर्ण उपनिवेश है। ग्रेट ब्रिटेन इस स्वतन्त्रता के लिए निरन्तर एवं शनैः २ तैयारी करता रहा था और इसलिए स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद उसने ब्रिटेन की महारानी को नाम मात्र के लिए राज्य का अध्यक्ष बनाना स्वीकार कर लिया। १ अक्टूबर १९६१ को नाइजीरिया ने नए संविधान के द्वारा उत्तरी पूर्वी और पश्चिमी देशों को मिलाकर एक संघ बनाया तथा औपनिवेशिक स्वराज्य को समाप्त करके उस दिन एक गणराज्य की स्थापना की गई। नाइजीरिया के भूतपूर्व गवर्नर जनरल डा० एन मामदी अजीकिवे नाइजीरिया के प्रथम राष्ट्रपति बनाये गये। नाइजीरिया शीघ्र ही अफ्रीका महाद्वीप की स्वतन्त्रता और राष्ट्रीयता का एक महान प्रतीक बन गया। मई १९६१ के अन्तिम सप्ताह में अफ्रीकी राष्ट्राध्यक्षों का जो शिखर सम्मेलन हुआ उसमें घाना के तत्कालीन राष्ट्रपति एन्क्रूमा और नाइजीरिया संघ के प्रधानमंत्री सर अबूबकर तफावा बलेवा ने ही नेतृत्व किया।

नाइजीरिया की संधियां और लोकतन्त्रात्मक परम्परायें पर्याप्त रूप से दृढ़ हैं और यह तीव्रता से आर्थिक प्रगति के मार्ग पर बढ़ रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ में नाइजीरिया ने उपनिवेशवाद साम्राज्यवाद और रंगभेद की नीति के विरुद्ध अन्य अफ्रीकी-एशियाई देशों के साथ मिलकर संघर्ष किया है। इस देश ने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अपनी निरपेक्ष और मानवीय नीतियों के लिये बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त कर ली है। यह समझा जाता है कि नाइजीरिया सम्पूर्ण पश्चिमी अफ्रीका के लिये एक आदर्श राज्य हो गया।

युगाण्डा

लगभग ६८ वर्षों तक ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के अन्तर्गत रहने

के पश्चात युगाण्डा भी ९ अक्टूबर १९६२ को स्वतन्त्र हो गया। अपनी स्वतन्त्रता के समय ही यह राष्ट्र मंडल का सदस्य बन गया। युगाण्डा एक संघात्मक राज्य है जिसमें केन्द्रीय प्रदेश के अतिरिक्त चार राजतंत्रात्मक प्रान्त और एक सामन्तवादी प्रान्त सम्मिलित हैं। युगाण्डा के सामने सबसे बड़ा प्रश्न इन प्रान्तों के हितों के साथ समन्वय करके चलने का है। आर्थिक दृष्टि से युगाण्डा एक समृद्ध देश है और संयुक्त राज्य अमेरिका को कपास तथा काफी का निर्यात करता है। अक्टूबर १९६३ में युगाण्डा ने अपने आपको एक गणराज्य घोषित कर दिया और बुगाण्डा प्रान्त के सरदार काबाका को अपना अध्यक्ष बनाया। गणराज्य बन जाने के बाद भी युगाण्डा ने राष्ट्र मंडल की सदस्यता का परित्याग नहीं किया। जनवरी १९६४ में युगाण्डा सरकार की प्रार्थना पर ब्रिटिश सैनिक टुकड़ी वहाँ भेजी गई ताकि आंतरिक विद्रोह की सम्भावना होने पर वे उसका दमन कर सकें। युगाण्डा ने बड़े आत्मविश्वास के साथ अफ्रीकन राष्ट्रीयता का प्रतिनिधित्व किया है। यह राष्ट्र भी अन्य अफ्रीकन राज्यों की भांति रंगभेद नीति और पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यवाद का विरोधी रहा है।

केनिया

केनिया युगाण्डा के उत्तर पूर्व में स्थित है। इस देश का कुल क्षेत्रफल लगभग २ लाख २५ हजार वर्गमील और आबादी लगभग ६५ लाख है। द्वितीय महायुद्ध के बाद केनिया में जो कि उस समय ब्रिटिश उपनिवेश था स्वातन्त्र्य आन्दोलन बहुत तीव्र हो गया। इस आन्दोलन का नेतृत्व केनिया के सबसे पुराने राष्ट्रवादी नेता श्री जोमो केन्याटा २०वीं शताब्दी की प्रथम दशाब्दी के अन्त से ही कर रहे थे। वस्तुतः केनिया के साथ जोमो केन्याटा का नाम उसी प्रकार जुड़ा हुआ है जिस प्रकार फूल से सुगन्ध। एशिया और अफ्रीका की धरती पर शायद ही कोई ऐसा आदमी होगा जो अफ्रीका में राष्ट्रीयता का प्रथम शंख फूंकने वाले जोमो केन्याटा का नाम न जानता हो। १९४८ में केनिया के राष्ट्रवादी तत्वों ने मिल कर केनिया अफ्रीकन संघ का निर्माण किया। उसका अध्यक्ष श्री केन्याटा को ही बनाया गया। ब्रिटिश सरकार केन्याटा के राष्ट्रवादी तत्वों के प्रति दमनकारी नीति बरतने लगी। जून १९५३ में केनिया अफ्रीकन संघ का उसने कठोरतापूर्वक दमन किया और केन्याटा को गिरफ्तार करके ७ वर्ष का दण्ड दिया गया। १९६० के प्रारम्भिक दिनों में जब लंदन में केनिया पर संवैधानिक सम्मेलन हुआ तो उसमें अफ्रीका ने मांग की कि केन्याटा को रिहा करके सम्मेलन में भाग लेने के लिए लंदन बुलाया जाए, परन्तु ब्रिटिश सरकार ने यह बात स्वीकार नहीं की।

कारावास की अवधि समाप्त होने पर अपनी रिहाई के बाद जोमो केन्याटा ने अपने दल को केनिया अफ्रीकन नेशनल यूनियन (कानू) के नाम से संगठित किया और अपने देश के लिए स्वतन्त्रता की लड़ाई जारी रखी। आखिर विवश हो कर ब्रिटेन को केनिया की स्वतन्त्रता के बारे में निर्णय करना पड़ा। मई सन १९६३ में वहाँ द्वि-सदनात्मक संसद के लिए निर्वाचन

कार्य किया जिसमें प्रतिनिधि सदन के ११२ में से ६२ स्थान जोमो केन्याटा के दल को प्राप्त हुए ३२ स्थान विद्रोही दल काडू (Kadu) को प्राप्त हुए, ८ स्थान काडू की समर्थक अफ्रीकन पीपुल्स पार्टी को मिले और शेष स्थान स्वतन्त्र उम्मीदवारों ने जीते। निर्वाचन में जीतने के फलस्वरूप १ जून १९६३ को जोमो केन्याटा के नेतृत्व में केनिया की प्रथम अफ्रीकन सरकार का निर्माण हुआ। १४ जून को मन्त्रीमण्डल के प्रमुख सदस्य और राष्ट्रवादी नेता थी टाम एमबोया लंदन गये और उन्होंने केनिया की पूर्ण स्वाधीनता के लिए ब्रिटिश सरकार को सहमत कर लिया। किन्तु इस समय केनिया का अपने पड़ोसी गणराज्य सोमालिया के साथ संघर्ष हो गया। संघर्ष सोमालिया की इस माँग पर हुआ कि सोमालिया बहुसंख्या वाला उत्तरी सीमान्त क्षेत्र उसे लौटाया जाए। केनिया अपने देश का कोई भाग छोड़ने को तैयार न था। अन्ततः, संघर्ष और संधि वार्तायें असफल हो गईं तथा यह सीमान्त क्षेत्र केनिया का अङ्ग ही बना रहा। १२ दिसम्बर १९६३ को केनिया एक स्वतन्त्र देश बन गया और उसे सर्वसम्मति से राष्ट्रमंडल का सदस्य बना लिया गया। इसके शीघ्र बाद ही केनिया ने संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता भी प्राप्त कर ली। जनवरी, १९६४ में केनिया की सेना की ओर से विद्रोह की आशंका होने पर प्रधानमन्त्री जोमो केन्याटा की प्रार्थना पर वहाँ ब्रिटिश फौजें भेजी गयीं जिसने शान्ति की स्थापना की। दिसम्बर, १९६४ में केनिया ने अपने आपको एक गणराज्य घोषित किया और श्री केन्याटा इस गणराज्य के प्रथम राष्ट्रपति बने।

केनिया अफ्रीका में चीनी साम्राज्यवाद का प्रबल विरोधी और स्वतंत्र लोकतंत्रात्मक समाजवादी और संगठित अफ्रीका का समर्थक है।

घाना

पश्चिमी अफ्रीका में ब्रिटेन का एक उपनिवेश गोल्ड कोस्ट था। वहाँ की जनता औपनिवेशिक दासता से छुटकारा पाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रही। द्वितीय महायुद्ध के बाद वहाँ यूनाइटेड गोल्ड कोस्ट कन्वेन्शन नामक एक दल की स्थापना हुई जिसके नेता डा० जे० बी० दंकाह और डा० क्वामें एन्क्रूमा थे। मार्च १९५२ में डा० एन्क्रूमा प्रधान मन्त्री पद पर आसीन हुए और जुलाई १९५१ में ब्रिटेन की सहमति से गोल्ड कोस्ट एक स्वतन्त्र प्रभुता सम्पन्न राज्य के रूप में प्रादुर्भूत हुआ। बाद में ब्रिटिश टोगोलैंड के साथ मिल कर १९५७ में गोल्ड कोस्ट घाना के नाम से एक गणतन्त्रात्मक संघ बन गया और वहाँ अध्यक्षात्मक शासन की स्थापना की गई। राष्ट्रपति पद डा० एन्क्रूमा को मिला जिन्होंने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असंलग्नतावादी नीति का अनुसरण करने की घोषणा की। जुलाई १९६० में उन्होंने असंलग्नतावादी राष्ट्रों के सम्मेलन का सुझाव दिया और इस प्रकार १९६१ में होने वाले बेलग्रेड सम्मेलन के स्वप्न द्रष्टाओं में से वे एक बने। डा० एन्क्रूमा ने बेलग्रेड सम्मेलन में प्रमुख भूमिका अदा की। भारत पर चीन के आक्रमण के समय जब लंका की तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्रीमति भंडारनायके ने समस्या पर विचार करने के लिए तटस्थ देशों का एक सम्मेलन आयोजित किया तो

घाना ने भी उसमें भाग लिया। संयुक्त राष्ट्र संघ में घाना उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद और दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति के विरुद्ध बोलता रहा। अदीस अबाबा में होने वाले अफ्रीकन राष्ट्राध्यक्षों के सम्मेलन में भी डा० एन्क्रूमा ने बहुत महत्त्वपूर्ण भाग लिया और यह मत प्रकट किया कि अफ्रीकन देशों को क्षेत्रीय संगठनों के निर्माण से दूर रहना चाहिए। उन्होंने यही मत प्रकट किया कि सम्पूर्ण अफ्रीका महाद्वीप को मिल कर एक संघ बनाने की दिशा में अग्रसर होना चाहिये। डा० एन्क्रूमा ने इस बात की स्पष्ट शब्दों में घोषणा की कि अफ्रीका की भूमि पर किसी प्रकार की गोरी सरकार सहन नहीं की जानी चाहिए, चाहे वह दक्षिणी रोडेशिया में हो या दक्षिणी अफ्रीका में। कांगो में संयुक्त राष्ट्र संघ की सेनायें भेजे जाने में घाना का विशेष हाथ था।

घाना राष्ट्र मंडल वियतनाम-शांति मिशन के सदस्य के रूप में वियतनाम में शांति स्थापित करने की चेष्टा में संलग्न रहा और राष्ट्रपति एन्क्रूमा इस समस्या के निदान के लिये विदेश यात्रा पर गये। किन्तु पीछे से सैनिक अधिकारियों ने उनकी सरकार का तख्ता पलट दिया। तब डा० एन्क्रूमा गिनी की राजधानी कोनाक्री पहुंच गये जहां के राष्ट्रपति ने अपने पद को छोड़कर उन्हें राष्ट्रपति बना दिया। वहां से डा० एन्क्रूमा घाना की विरोधी सरकार को हटाने के प्रयत्न में लग गये किन्तु अभी तक उन्हें इस दिशा में सफलता नहीं मिल पाई है।

अल्जीरिया
(Algeria)

भूमध्य सागर के तट पर ही अफ्रीका का एक अन्य अरब देश अल्जीरिया है। उसके एक ओर ट्यूनिशिया और दूसरी ओर मोरक्को देश है। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में अल्जीरिया एक फ्रेंच उपनिवेश था। इस पर फ्रांस का अधिकार १८३० में प्रारम्भ हो गया। अच्छी जलवायु के कारण यहां पर्याप्त संख्या में फ्रांसीसी आकर बस गये और उन्होंने अल्जीरिया के सभी भूभागों और प्राकृतिक साधनों पर अपना अधिकार जमा लिया।

अल्जीरिया की जनता ने फ्रेंच शासन को कभी भी हृदय से स्वीकार नहीं किया। अन्य औपनिवेशिक देशों की ही भांति अल्जीरिया ने भी फ्रेंच औपनिवेशिक शासन के आगे आत्मसमर्पण करने की बात कभी नहीं सोची। उसका स्वाधीनता-संग्राम एक लम्बे समय तक संसार के स्वातंत्र्य प्रेमियों के लिए कुतूहल का विषय बना रहा। अल्जीरिया का राष्ट्रीय आन्दोलन सन् १९२१ में मुखरित हुआ जब उसने अपने देश की स्वतन्त्रता के लिए स्पष्ट शब्दों में मांग की। स्वाधीनता के लक्ष्य की पूर्ति के लिए राष्ट्रीय आन्दोलन क्रमशः अग्रसर होता रहा और अन्त में इस आन्दोलन के विभिन्न दलों ने ७ जुलाई, १९५१ को एक राष्ट्रीय मोर्चे का निर्माण किया जो 'राष्ट्रीय स्वाधीनता का मोर्चा' (Front of National Liberation, F N L) के नाम से प्रख्यात हुआ।

राष्ट्रीय स्वाधीनता के मोर्चे के नेतृत्व में १ नवम्बर १९५४ को फ्रेंच शासन के विरुद्ध सशस्त्र संग्राम प्रारम्भ हो गया जो १९६२ तक लगातार चलता रहा और जिसमें दोनों ही पक्षों के लोग लाखों की संख्या में कीड़े मकोड़ों की तरह मारे गये। एक फ्रेंच विवरण के अनुसार १९६१ तक इस युद्ध में १ लाख ४१ हजार मुस्लिम विद्रोही सैनिक और १६ हजार २५० फ्रेंच सैनिक मारे गये। इसके विपरीत अल्जीरिया के राष्ट्रवादी नेताओं के कथनानुसार लगभग १० लाख से भी अधिक अल्जीरियाइयों को अपने स्वाधीनता संग्राम में प्राणों की आहुति देनी पड़ी थी। अल्जीरिया में युद्ध का अन्त करने के लिए अनेक प्रयास हुए लेकिन वे सब व्यर्थ गये। यह प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ में भी उठाया गया किन्तु फ्रांस की हठधर्मी के कारण वहाँ कुछ न हो सका। अल्जीरियावासियों ने अपने स्वाधीनता-संग्राम को सफलतापूर्वक संचालित करने के लिए काहिरा में फरहत अब्बास की अध्यक्षता में सितम्बर १९५८ में अल्जीरिया की एक समानान्तर सरकार की स्थापना की। इस सरकार को चीन ने अविलम्ब मान्यता प्रदान की। यद्यपि सोवियत संघ ने इसे मान्यता नहीं दी तथापि इसके साथ उसकी सहानुभूति अत्यधिक स्पष्ट थी।

भीषण रक्तरंजित संग्राम और कठोरतम दमनकारी उपायों के उपरान्त भी जब अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों को आत्म-समर्पण के लिए झुकाया न जा सका तो फ्रेंच साम्राज्यवादियों ने यह निश्चय किया कि अल्जीरिया की स्वतन्त्रता के प्रश्न पर वहाँ जनमत संग्रह कराया जाय। फ्रेंच राष्ट्रपति दिगॉल ने आत्म निर्णय और जनमत के आधार पर अल्जीरिया को स्वतन्त्रता देने का आश्वासन दिया। स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों की ओर से यह माँग की गई कि जनमत-संग्रह करने से पूर्व फ्रेंच सेना अल्जीरिया से हटा ली जाय किन्तु दिगॉल इसे मानने के लिए तैयार न था। फरहत अब्बास ने अपने अनुयायियों को मतदान न करने का आदेश दिया। किन्तु फिर भी जनवरी १९६१ में जनमत संग्रह का कार्य हुआ जिसमें लगभग डेढ़ करोड़ लोगों ने अल्जीरिया में स्वायत्त शासन स्थापित होने के पक्ष में और पचास लाख लोगों ने इसके विपक्ष में मत दिये। परन्तु दिगॉल द्वारा प्रस्तावित स्वायत्त शासन प्राप्त करने पर भी अल्जीरिया पूर्ण स्वतन्त्र नहीं होता था क्योंकि किसी न किसी रूप में उस पर फ्रांस का अधिकार बना ही रहता।

कुछ दिनों बाद अल्जीरिया की समानान्तर सरकार ने वार्तालाप का रुख अपनाया और यह संभव प्रतीत होने लगा कि अल्जीरिया की समस्या का कोई समाधान हो जायगा। इसी बीच दिगॉल की अल्जीरिया-नीति से असन्तुष्ट कुछ फ्रेंच सैनिक अधिकारियों ने २२ अप्रैल १९६१ को सहसा अल्जीरिया पर आक्रमण करके उस पर अपना आधिपत्य जमा लिया। किन्तु दिगॉल द्वारा इस सैनिक विद्रोह का कुचल दिया गया और मई १९६१ में एवियन में अल्जीरियन राष्ट्रवादियों के साथ समझौता-वार्ता शुरू की गई जो सफल नहीं हुई। दिसम्बर १९६१ में एक दूसरा सम्मेलन हुआ और राष्ट्रपति दिगॉल ने स्वतन्त्र अल्जीरिया के साथ एक समझौता करने की घोषणा की। १८ मार्च १९६२ को फ्रेंच सरकार की ओर से घोषणा की गई कि

अल्जीरिया और फ्रांस के बीच युद्ध विराम समझौता हो गया है। अन्त में १ जुलाई १९६२ को अल्जीरिया स्वतन्त्र हो गया और इस प्रकार एक महान् स्वतन्त्रता संग्राम का अन्त हुआ।

८ अक्तूबर १९६२ को अल्जीरिया संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया गया और तब से यह अफ्रीका में विकासशील राष्ट्र का प्रतीक बना हुआ है।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त बाद अल्जीरिया की राजनीतिक स्थिति कुछ डांवा-डोल हो गई। वहां के दो नेताओं बेनबेला और बेनखेदा के बीच सत्ता प्राप्त करने के लिये संघर्ष शुरू हो गया। स्वतन्त्र अल्जीरिया के प्रथम प्रधानमन्त्री बेनखेदा बन गये परन्तु शीघ्र ही बेनबेला ने सत्ता अपने हाथ में ले ली और धीरे-धीरे चोटी के सभी राष्ट्रवादी नेताओं जैसे बेनखेदा बिलकासिम करीम और फरहत अब्बास को सत्ता से च्युत कर दिया। सितम्बर, १९६३ में अल्जीरिया में एक अध्यक्षात्मक शासन की स्थापना कर दी गई और बेनबेला राष्ट्रपति बन गए। बेनबेला के सत्ता ग्रहण करने के बाद फ्रांस और अल्जीरिया के सम्बन्धों में पुनः बिगाड़ आ गया। अल्जीरिया ने एक तरफ तो सहारा की मरुभूमि में फ्रेंच अणु-परीक्षणों का विरोध किया और दूसरी ओर यूरोपियनों की सम्पत्ति का राष्ट्रीयकरण शुरू कर दिया। अल्जीरिया की इस नीति से फ्रांस बड़ा क्षुब्ध हुआ। फ्रांस का मन अल्जीरिया के प्रति तब और भी अधिक शंकालु हो गया जब अल्जीरिया द्वारा न केवल संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति कर्नल नासिर को ही बल्कि साम्यवादी क्यूबा के प्रधानमंत्री फिडेल-कास्ट्रो को भी आमंत्रित किया गया।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद प्रारम्भ में तो अल्जीरिया ने समाजवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन किया किन्तु तत्पश्चात् उसकी नीति में परिवर्तन दृष्टिगोचर होने लगा। जुलाई १९६१ में अल्जीरिया में साम्यवादी दल पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया और उसने असंलग्नतावादी अन्तर्राष्ट्रीय नीति का अनुसरण करने की घोषणा की। परन्तु फिर भी सोवियत संघ ने उसे आर्थिक सहायता देना जारी रखा। उसे ब्रिटेन और अमेरिका से भी आर्थिक सहायता प्राप्त होती रही। सितम्बर १९६३ में अल्जीरिया को गृहयुद्ध का सामना करना पड़ा जिसे राष्ट्रपति बेनबेला ने पूरी शक्ति से दबा दिया। तत्पश्चात् अक्टूबर १९६३ में मोरक्को के साथ उसका सीमा-संघर्ष छिड़ गया जो पारस्परिक वार्ता के फलस्वरूप फरवरी १९६४ में समाप्त हुआ।

बेनबेला का शासन भी अधिक समय तक नहीं चल सका। जून १९६५ में अल्जीरिया के उप-प्रधानमन्त्री और प्रतिरक्षामन्त्री कर्नल बूमेदीन के नेतृत्व में एक सैनिक क्रांति हुई और राष्ट्रपति बेनबेला को अपदस्थ कर दिया गया। कर्नल बूमेदीन ने बेनबेला पर तानाशाही का आरोप लगाया और घोषणा की कि इतिहास में तानाशाहों के साथ जिस प्रकार का व्यवहार किया गया है वैसा ही बेनबेला के साथ किया जायगा। बेनबेला को अपदस्थ

करने के बाद कर्नल बूमेद्दीन नवीन अल्जीरियन सरकार के अध्यक्ष बन गये। अल्जीरिया की नई सरकार ने घोषणा की कि वह फ्रांस के साथ सहयोग करेगी और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में असंलग्नता की नीति पर दृढ़ रहेगी।

दक्षिणी रोडेशिया का संकट
(The Crises of South Rodesia)

जम्बेजी नदी तथा उत्तरी ट्रांसवाल के मध्य में स्थित दक्षिणी रोडेशिया अफ्रीका का एक देश है। इसके पूर्व में पुर्तगाली पूर्वी अफ्रीका और पश्चिम बेचुआनालैंड है। इस देश का क्षेत्रफल 1 लाख 50 हजार 333 वर्गमील है। यहाँ की अफ्रीकी जनसंख्या 38 लाख यूरोपियन 2 लाख और अन्य देशवासी लगभग 12 हजार हैं। इस प्रकार यहाँ गोरों और अफ्रीकियों का अनुपात 1 : 12 है। 11 नवम्बर, 1965 को इयानस्मिथ के प्रधानमन्त्रित्व में यहाँ की श्वेत सरकार ने ब्रिटेन के खिलाफ एक तरफा स्वतन्त्रता की घोषणा (Unilateral Declaration of Independence) करके एक महान् अन्तर्राष्ट्रीय संकट खड़ा कर दिया। इस संकट का वर्णन करने से पूर्व दक्षिणी रोडेशिया की राजनीतिक व ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर दो शब्द लिख देना उचित होगा।

आधुनिक दक्षिणी रोडेशिया में 19 वीं शताब्दी में मशोने और मताबिले नामक दो राज्य थे। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में सेसिल रोड नामक एक महत्वकांक्षी अंग्रेज ने इस देश में प्रवेश करके इस देश पर अधिकार कर लिया। दक्षिणी और मध्य अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विस्तार के उद्देश्य से ब्रिटिश साउथ अफ्रीका कम्पनी के प्रथम व्यवस्थापक और साम्राज्यवाद के प्रबल प्रचारक इसी सेसिलरोड के नाम पर कम्पनी ने स्थानीय सरदारों से प्राप्त किये गये उक्त विशाल प्रदेश को रोडेशिया का नाम दिया। उत्तर-पश्चिमी रोडेशिया तथा उत्तर-पूर्वी रोडेशिया को मिला कर उत्तरी रोडेशिया और शेष भाग दक्षिणी रोडेशिया कहलाया। इन दोनों पर ब्रिटिश साउथ कम्पनी का शासन चलता रहा। 20 वीं शताब्दी के प्रारम्भ से दक्षिणी रोडेशिया में काफी संख्या में यूरोपियन आकर बसने लगे। 1921 में यहाँ एक मतदान हुआ जिसमें यह पूछा गया कि दक्षिण रोडेशिया के यूरोपियन दक्षिण-अफ्रीका यूनियन के साथ मिलना चाहते हैं अथवा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व कायम रखना चाहते हैं। मतदान पृथक स्वशासित रहने के पक्ष में हुआ और परिणामस्वरूप 1921 में दक्षिण रोडेशिया एक स्वशासित देश बन गया जिसका प्रभुत्व ब्रिटेन के हाथों में रहा। यहाँ का शासन विधान इस प्रकार बनाया गया कि अफ्रीकी जनता पर मुट्ठीभर गोरों का शासन बना रहे।

1953 में ब्रिटिश सरकार ने उत्तरी रोडेशिया (जिसका शासन ब्रिटेन ने 1924 में अपने हाथ में ले लिया था), दक्षिणी रोडेशिया और न्यासालैंड (रोडेशिया का पड़ोसी देश जिस पर ब्रिटेन ने 1891 में अधिकार

कर लिया था) को मिलाकर 'मध्य अफ्रीकी संघ' (Central African Federation) बना डाला। उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैंड के लोगों द्वारा इस संघ का विरोध किया गया लेकिन कोई परिणाम नहीं निकला। यह संघ यूरोपियन प्रभाव से अभिभूत था और इसका शासन यूरोपियन साम्राज्यवाद का जीता जागता नमूना। इस संघ में अफ्रीकन लोगों को बहुलता थी। यूरोपियनों और अफ्रीकनों का अनुपात क्रमशः इस प्रकार था—दक्षिणी रोडेशिया—१ : १२, उत्तरी रोडेशिया १ : ४२ एवं न्यासालैंड—१ : १०८। संघ की कुल ७६ लाख आबादी में से ७१ लाख अफ्रीकन थे। किन्तु फिर भी उनका जीवन पराधीनता का था। संघ के संविधान में यह व्यवस्था की गई कि विधान सभा की कुल ५९ सीटों में से ५१ सीटें निर्वाचन से भरी जाय। लेकिन निर्वाचन की योग्यता इस प्रकार रखी गई थी कि कोई अफ्रीकी चुनाव में खड़ा नहीं हो सके। निर्वाचक कानून इस प्रकार का बनाया गया कि शायद ही कोई अफ्रीकी उसकी योग्यता पूरी कर सके। इसीलिये संघ के जो प्रथम चुनाव हुए उसमें जहां दक्षिणी रोडेशिया के ४० हजार यूरोपियनों को मतदान का अवसर मिला वहां अफ्रीकी मतदाताओं की संख्या केवल ४२१ ही रही। उत्तरी रोडेशिया में तो मतदान का अवसर केवल तीन अफ्रीकियों को प्राप्त हुआ।

उत्तरी रोडेशिया और न्यासालैंड अफ्रीकी संघ से अलग होकर अपनी स्वतन्त्रता की मांग करने लगे। विरोध बढ़ जाने पर रोडेशिया और न्यासालैंड के भविष्य पर विचार करने के लिये १९६० में लंदन में एक सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन में विख्यात अफ्रीकन नेता हेस्टिंग्सबांडा अन्य राष्ट्रवादी नेताओं के साथ सम्मिलित हुए। गोरों की तरफ से संघ के प्रधानमंत्री राय वेलेन्स्की ने भाग लिया। अफ्रीकन राष्ट्रवादियों द्वारा यह मांग की गई कि न्यासालैंड को संघ से पृथक करके स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान किया जाय। परन्तु राय वेलेन्स्की ने इस मांग का दृढ़ता से विरोध किया। वास्तव में मध्य अफ्रीका संघ को बनाये रखने में धूर्ततापूर्ण चाल यह थी कि इन तीनों देशों में ब्रिटिश शासन को समाप्त करके स्थानीय गोरों की सरकारें बना दी जायें। अन्त में बहु [illegible] विवाद के बीच लंदन सम्मेलन असफल हो गया और संघ यथावत् कायम रहा।

अप्रैल, १९६० में संघ के प्रधानमंत्री वेलेन्स्की ने संघ को बनाये रखने की और अफ्रीकियों के विरोध को कुचलने की एक नई कूटनीतिक चाल चली। उसने विधान सभा को भंग करके २७ अप्रैल १९६० को नये चुनाव करवाने की घोषणा की जिसमें जनता को यह निर्णय करना था कि संघ कायम रहे अथवा नहीं। किन्तु अफ्रीकनों ने इस निर्णय का घोर विरोध किया क्योंकि वे जानते थे कि गोरे मतदाताओं की तुलना में बहुत ही कम अफ्रीकनों को मतदान का अधिकार दिया जायगा। इसीलिये सभी अफ्रीकी राष्ट्रवादियों ने घोषणा की कि वे चुनाव का बहिष्कार करेंगे और किसी भी हालत में संघ में नहीं रहेंगे। [illegible] सरकार ने अफ्रीकियों की राष्ट्रवाद की भावना से क्षुब्ध हो [illegible] पाशविक दमन चक्र चलाना शुरू कर

लिया। अफ्रीकी नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया और शांति व्यवस्था की रक्षा के नाम पर न्यूनतम नागरिक स्वतन्त्रता भी छीन ली गई किन्तु अफ्रीकी जनमत उत्तरोत्तर प्रबल होता गया। विवश होकर वेलेन्स्की सरकार को सभी नेताओं को मुक्त करना पड़ा जिन्होंने स्वतन्त्रता की अपनी माँग फिर बुलन्द की। ब्रिटेन का संघ पर प्रभुत्व था किन्तु उसने वेलेन्स्की सरकार की मनमानियों को रोकने की कोई चेष्टा नहीं की क्योंकि उसकी सहानुभूति तो गोरों के साथ थी।

धीरे-धीरे संघ में राष्ट्रवाद की लहर इतनी प्रबल हो गई कि ब्रिटिश सरकार ने संघ की कार्यप्रणाली पर पुनर्विचार करके प्रतिवेदन पेश करने के लिये मोंकटन कमीशन नियुक्त किया। परन्तु इस कमीशन में अफ्रीकियों का प्रतिनिधित्व नाम मात्र का था। इसके निराशाजनक प्रतिवेदन में स्पष्ट रूप से यही संकेत किया गया कि संघीय रूप को विनष्ट करने के बजाय उसमें उचित सुधार करना ही अच्छा रहेगा। किन्तु फिर भी कमीशन अफ्रीकन राष्ट्रीयता की पूर्ण उपेक्षा नहीं कर सका और उसे यह कहना पड़ा कि संघ की किसी इकाई को पृथक होने की छूट कुछ शर्तों के साथ या निर्दिष्ट वर्षों के बाद दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में कमीशन के प्रतिवेदन में अफ्रीकियों की स्वतन्त्रता की माँग आरम्भ में स्वीकार कर ली गई।

वेलेन्स्की सरकार ने मोंकटन कमीशन की रिपोर्ट को पूर्णतः ठुकराते हुए अफ्रीकियों पर दमन चक्र चलाने के लिये बड़े पैमाने पर यूरोपियन सेना को संगठित करना शुरू कर दिया। दिसम्बर, १९६१ में समस्या पर विचार करने के लिये लंदन में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन हुआ किन्तु कोई निर्णय नहीं लिया जा सका।

ब्रिटिश सरकार उमड़ती हुई अफ्रीकन राष्ट्रीयता की अधिक समय तक उपेक्षा नहीं कर सकी और १९६३ में मध्य अफ्रीकन संघ भंग हो गया। न्यासालैण्ड और उत्तरी रोडेशिया स्वतन्त्र हो गये। आजादी के बाद उत्तरी रोडेशिया जैम्बिया कहलाने लगा और न्यासालैण्ड का नया नाम मलावी पड़ा। दक्षिणी रोडेशिया अब भी ब्रिटिश प्रभुत्व में ही बना रहा। वेलेन्स्की ने पदत्याग कर दिया और इयानस्मिथ दक्षिण रोडेशिया के नये प्रधान मन्त्री बने।

दक्षिणी रोडेशिया द्वारा स्वतन्त्रता की एकतरफा घोषणा

नये प्रधान मन्त्री इयानस्मिथ (Ian Smith) ने अपने पुराने राग को अलापते हुए ब्रिटिश सरकार से माँग की कि वह दक्षिणी रोडेशिया को स्वतन्त्र कर दे और साथ ही यह धमकी भी दी कि यदि ब्रिटेन ऐसा नहीं करेगा तो दक्षिणी रोडेशिया की सरकार अपनी ओर से स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगी। ब्रिटेन द्वारा १९६१ में दक्षिणी रोडेशिया में जिस संविधान को लागू किया गया था उसमें अफ्रीका की जनता का मताधिकार बहुत ही सीमित था। देश भर में २ लाख लोगों में से ९९ हजार व्यक्ति

मतदाता थे जब कि ३८ लाख अफ्रीकनों में से केवल ११० व्यक्ति ही मतदाता थे। दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार ऐसी स्वतन्त्रता चाहती थी जिसमें वहाँ रहने वाले २ लाख लोगों का ३८ लाख अफ्रीकनों पर स्थाई प्रभुत्व बना रहे। अतः अपनी स्थिति सुदृढ़ करने के लिये इयानस्मिथ सरकार ने मई १९६५ में इसी संविधान के अन्तर्गत चुनाव करवाये जिसके परिणामस्वरूप गोरी सरकार को प्रबल बहुमत प्राप्त हुआ और अब यह ब्रिटिश सरकार से दक्षिणी रोडेशिया को स्वतन्त्रता प्रदान करने की माँग पर उत्तरोत्तर बल देने लगी।

स्पष्ट था कि उक्त स्वतन्त्रता का अर्थ २ लाख गोरों को ३८ लाख अफ्रीकनों पर निरंकुश शासन करने का अधिकार देना होता। अतः ब्रिटिश सरकार ने स्मिथ सरकार की माँग का विरोध करते हुए इस बात पर बल दिया कि देश के शासन में बहुसंख्यक अफ्रीकन वर्ग को अधिक बड़ा भाग मिलना चाहिए। ब्रिटिश सरकार ने यह भी स्पष्ट किया कि स्वतन्त्रता निम्नलिखित दो शर्तों के पूरा होने पर ही दी जा सकेगी—

(i) सब अफ्रीकन लोगों को मताधिकार प्राप्त हो एवं

(ii) गोरे लोगों के लिए सुरक्षित किए गये विशेष प्रदेशों की व्यवस्था समाप्त कर दी जाय।

परन्तु इयान स्मिथ की गोरी सरकार इन शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं हुई क्योंकि इन से उसका प्रभुत्व और अस्तित्व समाप्त हो जाने की आशंका थी। स्मिथ सरकार ने ब्रिटिश सरकार से मई १९६५ के निर्वाचन के आधार पर ही स्वतन्त्रता देने की माँग की। चूंकि ब्रिटिश सरकार को यह माँग भी स्वीकार्य न थी अतः दोनों में कोई समझौता न हो सका। इसी दौरान स्मिथ सरकार की हरकतों से आशंकित होकर कुछ अफ्रीकन राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में दक्षिणी रोडेशिया का प्रश्न उठाया और महासभा में अनेक बार इस आशय के प्रस्ताव स्वीकृत हुए कि प्रजातान्त्रिक न्याय के आधार पर दक्षिणी रोडेशिया को स्वतंत्र करना चाहिये।

अक्टूबर १९६५ में लंदन में इयान स्मिथ और ब्रिटिश प्रधानमंत्री विल्सन ने मिल कर इस समस्या का समाधान करने का निष्फल प्रयत्न किया। स्मिथ का कहना था कि रोडेशिया के समझदार, सुशिक्षित एवं उत्तरदायी अफ्रीकी नेता उसके साथ हैं तथा केवल अनपढ़ और साम्यवादियों द्वारा बहकाये हुए अफ्रीकी ही उसका विरोध कर रहे हैं। सम्मेलन की असफलता पर स्मिथ ने स्वदेश वापिस लौटने पर यह घोषणा कर दी कि यदि ब्रिटिश सरकार द्वारा उसकी शर्तों पर स्वतन्त्रता प्रदान नहीं की गई तो वह मजबूर हो कर एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर देगा। दूसरी ओर ब्रिटिश सरकार ने स्मिथ को इस बात की स्पष्ट चेतावनी दी कि वह इस प्रकार एक-पक्ष द्वारा की जाने वाली स्वतन्त्रता की घोषणा (Unilateral Declaration of Independence) को राजद्रोहपूर्ण कार्य समझेगी और दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने को

विरुद्ध हो जायगी तथा इस विद्रोह को कुचलने के लिए सभी संभव उपायों का अवलम्बन करेगी।

परन्तु इयान स्मिथ की अल्पसंख्यक गोरी सरकार ने ब्रिटिश चेतावनी की कोई परवाह न करते हुए ११ नवम्बर १९६५ को दक्षिणी रोडेशिया की एकपक्षीय स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी जिसके परिणाम स्वरूप रोडेशिया सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण संवैधानिक संकट पैदा हो गया। इयान स्मिथ ने संयुक्त राज्य अमेरिका के विरोध से बचने के लिए अपने पक्ष में अमेरिकन इतिहास का एक उदाहरण प्रस्तुत किया। उसने कहा कि वर्तमान संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रारम्भिक १३ उपनिवेश १८वीं शताब्दी में ब्रिटेन की मातहती में थे। उन लोगों ने भी विद्रोह करके अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। दक्षिणी रोडेशिया भी उन्हीं का अनुकरण कर रहा है। परन्तु इयान स्मिथ इस उदाहरण की दुहाई देते समय यह भूल गया कि दक्षिणी रोडेशिया और संयुक्त राज्य अमेरिका की स्थिति में बहुत भेद था। अमेरिका में बहुसंख्यक अल्पसंख्यक का कोई प्रश्न नहीं था जबकि दक्षिणी रोडेशिया का मुख्य प्रश्न ही यह था कि क्या अल्पसंख्यक गोरों को बहुसंख्यक अफ्रीकियों पर शासन करने का अधिकार है।

दक्षिणी रोडेशिया की इस एकतरफा स्वतन्त्रता की कार्यवाही की प्रतिक्रिया सम्पूर्ण संसार में हुई। सबों ने स्मिथ के इस कदम की कटु निन्दा की। संसार के लोकमत ने यह मांग की कि ब्रिटेन को हस्तक्षेप करके इस विद्रोह को कुचल देना चाहिए। परन्तु संभवतः यह समस्त कांड ब्रिटेन की गुप्त सहानुभूति के कारण ही संभव हो सका था और इसीलिए उसने कोई सैनिक कार्यवाही करके विद्रोह को दबाना अनुचित समझा। तथापि संसार के सामने अपनी नेकनीयती जताने के लिए ब्रिटिश सरकार ने घोषणा की कि दक्षिणी रोडेशिया की यह एकतरफा स्वतन्त्रता की घोषणा उसे अमान्य है। दक्षिणी रोडेशिया के ब्रिटिश गवर्नर ने इयान स्मिथ और उसके मन्त्रीमण्डल को पदच्युत कर दिया और ब्रिटेन ने दक्षिणी रोडेशिया के साथ अपने कूटनैतिक सम्बन्ध भंग कर दिये। साथ ही ब्रिटेन ने इसके साथ अस्त्रों की बिक्री पर तथा यहां की मुख्य पैदावार तम्बाकू और चीनी की खरीद पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया ताकि आर्थिक परेशानियों के कारण स्मिथ अपनी नीति बदलने को बाध्य हो जाय। परन्तु दक्षिणी रोडेशिया द्वारा इन बातों की कोई परवाह नहीं की गई। दक्षिणी रोडेशिया के ब्रिटिश गवर्नर ने ब्रिटिश नागरिकों को आदेश दिया कि वे स्मिथ की गैर-कानूनी सरकार से किसी तरह का सम्बन्ध नहीं रखें। चीनी रेडियो ने ब्रिटेन की इस सारी कार्यवाही को 'व्यर्थ की बोस पट्टी' कहा क्योंकि इयान स्मिथ की सरकार को केवल दिखावे के लिए वैधानिक रूप से ही पदच्युत कर दिया गया था परन्तु उसके हाथ से सत्ता छीनने की कोई कोशिश नहीं की गई थी।

११ नवम्बर, १९६५ को संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में एक प्रस्ताव द्वारा दक्षिणी रोडेशिया सरकार के कार्य की घोर निन्दा की गई

तथा समस्त सदस्य राष्ट्रों से अनुरोध किया गया कि वे इयान स्मिथ की सरकार को मान्यता (Recognition) प्रदान नहीं करें तथा उसके साथ व्यापार करना बन्द कर दें। यह बात उल्लेखनीय है कि महासभा में यह प्रस्ताव १०९ मतों के बहुमत से स्वीकार किया गया और विरोध में केवल दक्षिणी अफ्रीका और पुर्तगाल के ही दो राष्ट्र थे।

दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार की एकतरफा स्वतन्त्रता की घोषणा से अफ्रीका के अन्य राज्य भी अत्यन्त क्षुब्ध हुए। इस समस्या का मुकाबला करने लिए अफ्रीकी-एकता संगठन (Organisation of African Unity) की एक बैठक अदीस अबाबा में ? दिसम्बर, १९६५ को हुई जिसमें एक प्रस्ताव पारित करके यह निश्चय किया गया कि यदि १५ दिसम्बर तक ब्रिटेन दक्षिणी रोडेशिया के विद्रोह को नहीं कुचल देगा तो अफ्रीका के सभी स्वतन्त्र राज्य उसके साथ अपने राजनयिक सम्बन्ध समाप्त कर देंगे। यह भी निश्चय किया गया कि अफ्रीका का कोई देश दक्षिण रोडेशिया के साथ किसी प्रकार का आर्थिक सम्बन्ध नहीं रखे और दक्षिणी रोडेशिया से आने-जाने वाले वायुयानों को अपने आकाश से नहीं गुजरने दें। ब्रिटेन के साथ सम्बन्ध विच्छेद के निश्चय को १५ दिसम्बर १९६५ को गिनी और तन्जानिया ने कार्यान्वित कर दिया किन्तु अन्य अफ्रीकन देश परिस्थिति का अवलोकन करते रहे।

दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्धों का कोई प्रभावकारी परिणाम नहीं निकला क्योंकि संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन के साम्राज्यवादी पूँजीपतियों की सहानुभूति स्मिथ की गैर-कानूनी सरकार को प्राप्त रही। दक्षिणी अफ्रीकन संघ और पुर्तगाल के अफ्रीकन उपनिवेशों की सीमायें दक्षिणी रोडेशिया से मिली हुई हैं अतः वहाँ से भी उसे हर तरह का सामान प्राप्त होता रहा।

दक्षिणी रोडेशिया के इस संकट पर सितम्बर १९६६ में लंदन के राष्ट्र मण्डलीय प्रधान मन्त्री सम्मेलन में गम्भीरतापूर्वक विचार किया गया। सम्मेलन में भाग लेने वाले अफ्रीकी प्रधान मन्त्रियों का मत था कि ब्रिटेन को स्मिथ-सरकार के विरुद्ध सैनिक शक्ति का प्रयोग करना चाहिये क्योंकि उसके विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध सफल नहीं हो सकते और इस प्रकार के प्रतिबन्धों के दबाव से उसे सही रास्ते पर नहीं लाया जा सकता। किन्तु विश्व लोकमत की अवहेलना करते हुए ब्रिटेन द्वारा अब तक दक्षिणी रोडेशिया की गोरी सरकार के विरुद्ध कोई सैनिक कार्यवाही नहीं की गई है और उसका रुख अपेक्षाकृत नरम पड़ता जा रहा है। आलोचकों का मत है कि ब्रिटेन का व्यवहार गुप्त रूप से स्मिथ सरकार को प्रोत्साहित करने का है। उनका आरोप है कि भूतकाल में इस प्रकार की परिस्थितियाँ एशिया के कुछ देशों में होने पर ब्रिटेन ने सैनिक कार्यवाही करने पर किसी प्रकार की देरी नहीं की थी जबकि दक्षिणी रोडेशिया में गोरी सरकार के विरुद्ध उसने वास्तविक रूप से कोई कठोर रुख भी नहीं अपनाया है।

ब्रिटेन द्वारा दिसम्बर १९६६ में दक्षिणी रोडेशिया ने माथ शांतिपूर्वक तरीके से समस्या का हल निकालने हेतु प्रयत्न किया गया। ब्रिटिश प्रधान मन्त्री विल्सन और रोडेशिया के प्रधान मन्त्री स्मिथ की मुलाकात जिब्राल्टर के निकट H M S Tigar नामक जहाज पर हुई। दोनों प्रधान मन्त्रियों में २ दिनों तक मन्त्रणा होने के पश्चात् एक गुप्त समझौता हुआ और यह आशा प्रकट होने लगी कि रोडेशिया-मसले का शांतिपूर्ण हल निकल गया है। परन्तु स्वदेश लौटने पर १० दिसम्बर १९६६ को रोडेशिया के प्रधान मंत्री स्मिथ ने समझौते की किसी बात को मानने से इन्कार कर दिया और अपनी बात पर अड़े रहना पसन्द किया। ब्रिटेन द्वारा विवश हो कर संयुक्त राष्ट्र संघ की सुरक्षा परिषद में रोडेशिया के विरुद्ध संघ के चार्टर की धारा ४१ के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव किया गया जो स्वीकार हो गया। इसके द्वारा दक्षिणी रोडेशिया को भेजे जाने वाली १२ मुख्य वस्तुओं के निर्यात पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। परन्तु उल्लेखनीय बात यह रहा कि प्रतिबंधित वस्तुओं में तेल का सम्मिलित नहीं किया गया क्योंकि ब्रिटेन का कहना था कि ऐसा करने से दक्षिणी अफ्रीका के मोजम्बिक के पड़ौसी राज्यों को कष्ट उठाना पड़ेगा।

ब्रिटेन द्वारा प्रस्तावित आर्थिक प्रतिबन्ध दक्षिणी रोडेशिया के विरुद्ध असफल सिद्ध हुए हैं। ब्रिटेन स्मिथ सरकार के विरुद्ध कोई भी कठोर कार्यवाही करने से किसी न किसी बहाने बचता रहा है। अतः इस बात की कोई संभावना नजर नहीं आती कि दक्षिणी रोडेशिया की अल्पसंख्यक गोरी सरकार का बहुसंख्यक अफ्रीकनों पर से निरंकुश शासन निकट भविष्य में समाप्त हो सकेगा।

3 ✓ स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की समस्यायें
(Problems of Independent African Continent)

नवोदित अफ्रीका के राज्यों को अनेक प्रकार की समस्या का सामना करना पड़ रहा है। इसमें से अधिकांश समस्यायें तो यहां की पिछड़ी हुई आर्थिक सामाजिक एवं राजनीतिक स्थिति से उत्पन्न होता है। यहां के देशों के सामने विश्व के अन्य देशों के बराबर आने के लिए पार करने को एक लम्बा रास्ता पड़ा है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद यहां के कुछ देशों में क्रान्ति हुई गृह-युद्ध छिड़े तथा जातीय भेद भाव के आधार पर अनेकों उपद्रव किए गए। महाद्वीप के देशों में विकास के लिए आर्थिक प्रतिस्पर्धा का सूत्रपात हुआ। उनके हित राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक प्रश्नों को लेकर परस्पर टकराने लगे। अन्तर्राष्ट्रीय एवं महाद्वीपीय स्तरों पर सर्वोच्चता पाने के लिए यहां के विभिन्न देशों के बीच शक्ति का संघर्ष छिड़ गया। इस कारण स्वतन्त्र अफ्रीका में अनेकता संघर्ष और प्रतियोगिता का वातावरण जोर पकड़ने लगा। यहां के राष्ट्रों के विकास के लिये परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्धों की आवश्यकता प्रमुख है किन्तु यहां हम आवश्यकता के विपरीत प्रवृत्तियां जन्म ले रही हैं। विश्व की दूसरी शक्तियों के द्वारा इस पूर्ण का लाभ उठाया जा रहा है। साम्यवादी गुट तथा पश्चिमी गुट दोनों ही अफ्रीका

में अपना प्रभाव बढ़ाने के प्रयासों में सफल हैं। यूरोप के जिन देशों ने अफ्रीका के अपने उपनिवेशों को आजादी प्रदान कर दी है वे भी यहां किसी न किसी रूप में अपना प्रभाव जमाये रखना चाहते हैं। उनका हित इस बात में रहता है कि इन देशों पर गोरी जाति का ही प्रमुख बना रहे। स्वतन्त्र अफ्रीका महाद्वीप की प्रमुख समस्यायें निम्न हैं—

(१) अफ्रीका महाद्वीप में मिली-जुली संस्थाओं तथा विचारों के सहारे क्रान्ति को सफल बनाने का प्रयास किया जा रहा है जिसमें एक नवीन अफ्रीका की सम्भावना निहित है। किन्तु नवीन विचारों एवं संस्थाओं का यह प्रयोग अफ्रीका के पुराने रीति-रिवाजों तथा परम्पराओं से भिन्न पड़ता है तथा इसके प्रति यहां के लोगों में विरोध की भावनायें हैं। समाज के परम्परावादी रूप के विध्वंस से जो असुरक्षा की भावना पैदा होती है वह इन देशों में विकास कार्यों की सफलता में मुख्य रूप से बाधक है।

(२) विकास कार्यक्रमों को फलदायक बनाने के लिये अफ्रीका महाद्वीप में पहले सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्रान्ति का लाना परम आवश्यक है। यहां के धार्मिक नियम राजनीतिक विचार अनुशासनहीनता की प्रवृत्तियां आदि में मूलभूत परिवर्तन किया जाना आवश्यक है। हो सकता है कि इस परिवर्तन काल में यहां के देशों को अनेक हिंसात्मक तथा गृहसत्तापूर्ण अनुभव भी करने पड़ जायें।

(३) अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में महत्व जानने से पूर्व यह समझना उपयोगी है कि यहां की क्रान्ति का लोगों के जीवन पर बड़ा भारी प्रभाव पड़ा है। स्वतन्त्रता से पूर्व यहां के लोगों पर हजारों मील दूर बैठे शासकों की आज्ञायें शासन करती थीं। उपनिवेशवादी शक्तियों के प्रतिनिधि ही यहां के सब कुछ थे। उनके साथ अफ्रीकावासियों का सम्बन्ध नौकर और स्वामी का सम्बन्ध था किन्तु आज यह स्थिति नहीं रही है तो भी जातीय सभ्यता के आधार पर योरोप के देश इन देशों पर अपने पूर्ण प्रभाव को बनाये हुए हैं।

(४) गोरे और काले का भेद प्रकृति से उत्पन्न होता है। यह मनुष्य कृत नहीं है और न ही मनुष्य इसे परिवर्तित कर सकता है किन्तु यह शारीरिक भेद अफ्रीका के सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन को प्रभावित करने वाला सबसे अधिक प्रभावशाली तत्व है। गन्थर (Gunther) महोदय के अनुसार 'सब चीजों से ऊपर रंग भेद ही है जो कि अफ्रीका में असन्तोष तथा विद्वेष उत्पन्न करता है। यह अफ्रीकी हीनता का प्रधान कारण है जिससे उपद्रव और विद्रोह पैदा होते हैं। यह गोरे तथा काले दोनों ही प्रकार के लोगों के मस्तिष्क को बिगाड़ देता है।"[1] योरोपियन शासनकाल में जातीय

1 "It is the color bar above everything, that makes Africa boil with discontent. It is the root cause of Africa inferiority which in turn leads to resentment and revolt it warps the minds of white man and black man both.

—Gunther op cit, P 15

तथा रंग पर आधारित भेद भाव की नीति को पर्याप्त बढ़ावा दिया गया था। रंग भेद के कारण पूरे महाद्वीप में ही एक प्रकार की गहरी खाई पड़ गई थी तथा जिन देशों में योरोपियन समाज नहीं रहते वहां के काले लोग भी अपने आपको गोरों से हीन मानते हैं। यह खाई तब तक बनी रहेगी जब तक चमड़ी के योरेपन के आधार पर अधिकांश जन-समुदाय के विरुद्ध थोड़े से लोगों को विशेषाधिकार प्राप्त रहेंगे। जान हेच (John Hatch) के शब्दों में 'अफ्रीका के लोग आत्म विश्वास को जो कि सहिष्णुता के लिए आवश्यक होता है, तब तक प्राप्त नहीं कर सकते जब तक कि वे रंग के आधार पर किए जाने वाले भेद भाव से अपने आपको स्वतन्त्र नहीं कर लेते।'[1] धीरे-धीरे अफ्रीका के देशों में अब अफ्रीकियों की सरकारें स्थापित होती जा रही हैं तथा गोरे लोगों के विरुद्ध काले लोगों को कुछ विशेषाधिकार देने की प्रवृत्ति घर करती जा रही है।

(५) केवल रंग भेद तथा जाति भेद को समाप्त कर देना ही पर्याप्त नहीं है। अफ्रीका के देशों में योरोपीय वर्गों द्वारा अनेक मूलभूत परिवर्तनों की स्थापना करके सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन को बदल दिया गया था। अफ्रीका में क्रांति को पूर्ण बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इस क्रान्ति को सामाजिक तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में भी लाया जाए। स्वतन्त्रता प्राप्त करने के बाद इन देशों में जो सरकारें स्थापित की गई हैं, यद्यपि उनका संचालन देश के निवासियों द्वारा ही किया जाता है किन्तु फिर भी वे इतनी अधिक सत्ता एवं अधिकार का प्रयोग करती हैं जितना कि विदेशियों द्वारा किया जाता था।

अनेक अफ्रीकी देशों में एक दलीय व्यवस्था का अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इस मान्यता पर अफ्रीका के आदिवासी जीवन का प्रभाव है। आदिवासी जीवन की सामान्य परम्परा के अनुसार संगठित विरोधी का होना अनुचित है क्योंकि यह अनेक प्रकार के झगड़े उत्पन्न करता है। जो भी निर्णय लिए जाते हैं उन पर सभी व्यक्तियों के मत का प्रभाव रहता है। आज एक सामान्य अफ्रीकी अपने जीवन में यह पायेगा कि उसके ऊपर सत्ता की जिस मात्रा का स्वतन्त्रता के बाद में प्रयोग किया जा रहा है वह स्वतन्त्रता के पूर्व प्रयोग की जाने मात्रा से कहीं अधिक है। सत्ता की इस मात्रा को भी यहां के लोग अपनी सुरक्षा के नाम पर स्वीकार कर रहे हैं। इस प्रकार प्रायः पूरे अफ्रीका में ही सरकार के नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के बीच बड़ा असंतुलन होते हुए भी कोई उसका विरोध नहीं करता और न ही किसी को इससे असन्तोष होता है।

(६) राष्ट्रवाद की भावना से अफ्रीका के देशों में एकता का सूत्रपात

---

1 'Africans themselves will never gain that self confidence essential to tolerance untill they feel themselves free from the last hint of discrimination on colour grounds."

—Johan Hatch, Africa Today and Tomorrow P 303

किया और इसी एकता के आधार पर वे विदेशी शक्तियों से अपने आपको छुड़ा सके हैं। महाद्वीप के प्रत्येक कोने में राष्ट्रवाद का भारी प्रभाव है। हैच (Hatch) के शब्दों में स्वतन्त्रता एकता की मांग करती है और राष्ट्रीयता की तेज मानसिक शराब ने सारे देश को साम्राज्यवादी शक्तियों के विरुद्ध एकीकृत करने में महत्त्वपूर्ण कार्य किया है।'[1] किन्तु सभ्यता एवं विज्ञान में पिछड़े होने के कारण यहां के देशों में राष्ट्रवाद उतना प्रभावशाली नहीं है जितना कि यह एशिया महाद्वीप में रहा है। यद्यपि राष्ट्रवाद की आवृत्ति को रोका नहीं जा सकता तो भी अफ्रीका के बड़े क्षेत्र अभी तक राष्ट्रवाद के प्रभावशाली व्यवहार के लिये तैयार नहीं हैं अर्थात् यहां पर स्वशासन की स्थापना के अनुकूल वातावरण अभी तक नहीं बना है।

(७) अफ्रीका के देशों में नवीन जीवन के प्रति स्वशासन के प्रति व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के प्रति पारस्परिक सहयोग के प्रति तथा जातीय एकता के प्रति प्रबल की भावनायें हैं। अफ्रीका अपने इसी रूप में अन्तर्राष्ट्रीय समाज में आया है। अब यह स्वाभाविक है कि अन्तर्राष्ट्रीय मतभेदों का घटनाओं का तथा मनमुटावों का प्रभाव इस महाद्वीप के देशों पर भी पड़े। किन्तु ये देश आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं हैं इसलिए किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय प्रश्न पर अपना स्वतन्त्र विचार नहीं रख सकते। अफ्रीका का आर्थिक जीवन अब भी बहुत कुछ शेष संसार पर निर्भर करता है। इस आर्थिक परनिर्भरता की अवस्था में जब देश उपनिवेशवाद से स्वतन्त्रता की स्थिति में आये तो अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गई। नये राज्यों का निर्माण उन प्रदेशों में से किया गया है जिनका योरोपीय शक्तियों ने विभाजन कर रखा था। ये राज्य आर्थिक सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास के लिए सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण नहीं रखते।

(८) प्राय पूरे अफ्रीका महाद्वीप में अफ्रीकीपन की भावना का प्रभाव है। सभी अफ्रीकी यह निर्णय कर चुके हैं कि सम्पूर्ण अफ्रीका पर भविष्य में केवल अफ्रीकियों का ही राज्य रहेगा। इस दृष्टिकोण के कारण अफ्रीका में विभिन्न संघ तथा उपसंघ बनाने के प्रस्तावों पर समय समय पर विचार किया जाता रहा है। भाषा, संचार-साधन तथा आर्थिक विकास जैसी कुछ बाधायें इस प्रकार के संघ निर्माण के मार्ग में हैं जिनको दूर करने के बाद यहां के लोगों में सुरक्षा की भावना आयेगी तथा उनके पारस्परिक सम्बन्धों में भी विकास होगा।

(९) अफ्रीका का महाद्वीप शीतयुद्ध के प्रसार को रोकने के लिए प्रयत्नशील है और इसी उद्देश्य से इसने अन्तर्राष्ट्रीय समाज में पदार्पण किया

---

1 "Independence demands national unity and the heavy wine of Nationalism has usually served to unify the country against the imperialists."

—John Hatch, op cit. P 304

है। यद्यपि अफ्रीकी देश संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक कार्यों की आलोचना करते हैं तो भी यह उनके लिए एक आशा का प्रतीक है जो उनके आर्थिक तथा राजनीतिक विकास में सहायता देकर उन्हें विश्व राजनीति को प्रभावित करने योग्य बना सकता है तथा पूर्व और पश्चिम के झगड़े से दूर रख सकता है। अफ्रीका के देश यह चाहते हैं कि संयुक्त राष्ट्र संघ साम्यवादी तथा पूञ्जीवादी शक्तियों के हाथ की कठपुतली न रह कर पूर्व पश्चिम और निष्पक्षों का बराबर प्रतिनिधित्व करने वाली संस्था बन जाए। उनके मतानुसार यह संस्था उपनिवेशवाद नवीन उपनिवेशवाद तथा साम्राज्यवाद के नये तरीकों से अछूता है। वे चाहते हैं कि यह उनके अपने आर्थिक विकास में सहायता करे, उनकी राजनीतिक परेशानियों में सहायक बने तथा यही एक मात्र ऐसा अभिकरण है जो कि विश्व युद्ध को रोकने की सामर्थ्य रखता है।

अफ्रीकी एकता आन्दोलन
[African Unity Movement]

अफ्रीका के विभिन्न देशों ने जब से स्वतन्त्रता प्राप्त की है तभी से उसके एकीकरण के लिए अनेकों प्रयास किए जा रहे हैं। अफ्रीका के राज्यों की समस्यायें समान हैं तथा स्वतन्त्रता के बाद इनमें परस्पर भिन्नता की भावना की वृद्धि हुई है। समय समय पर इस महाद्वीप के दो या दो से अधिक देशों का किसी निश्चित लक्ष्य के लिये संघ बन जाता है। किन्तु समस्या यह है कि इस एकता को किस प्रकार प्राप्त किया जाय इसी प्रश्न को लेकर अफ्रीका के राज्यों का विभाजन हो गया है। अफ्रीकी राज्यों के एकीकरण के मार्ग में अनेक बाधायें हैं। यहां के स्वतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रवाद की भावना का उदय नवीन युग की देन है। राष्ट्रवाद से प्रभावित अनेक नेताओं ने अफ्रीका के विभिन्न राज्यों के बीच जिन मन-मुटावों की स्थापना की थी उसका अभी तक दूर नहीं किया जा सका है। उन्नीसवीं शताब्दी में योरोपियन शक्तियों ने अफ्रीका का जो विभाजन किया था उसके कारण एक उपनिवेश दूसरे से पृथक हो गया तथा उनमें उपनिवेशी एकता के भाव आ गये। वर्तमान समय में इन उपनिवेशी संघों को नवीन अन्तर-अफ्रीकी संघ में परिवर्तित करना बड़ा कठिन है। योरोपियन शक्तियों ने अफ्रीकी संघ के महत्व को पहले से नहीं पहचाना तथा इस ओर कोई महत्वपूर्ण कार्य न किया।

अफ्रीकी भ्रातृत्व (Pan Africanism) का आन्दोलन महाद्वीप के एकीकरण के प्राचीनतम आन्दोलनों में से एक है। इसके समर्थक प्राय "संयुक्त राज्य अफ्रीका" के लक्ष्य का प्रस्ताव रखते हैं। उनके मतानुसार एक संघ के निर्माण के लिये जिन चीजों की आवश्यकता होगी वे सभी अफ्रीका महाद्वीप में पाई जाती हैं। किन्तु जैसा कि रूपर्ट ईमर्सन (Rupert Emerson) ने लिखा है—"एक यथार्थवादी तो यह चाहेगा कि अफ्रीकी भ्रातृत्वभाव को एक पावन तथा रंगीन स्वप्न मान कर अस्वीकार कर दिया जाय क्योंकि यह राज्य सम्प्रभुता की उन ठोस दीवारों का उपयोगी उल्लंघन

पटका जाय तथा यहाँ प्रणुमस्त्रों के परीक्षणों को किसी प्रकार का ...ाहन न दिया जाय ।

EXERCISES

"The most significant development of the period following World War II has been the emergence of the struggle of the African people for national self determination." Comment.
"द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में सब से महत्वपूर्ण विकास राष्ट्रीय आत्म निर्णय के लिये अफ्रीकन लोगों के संघर्ष का उदय रहा है।" विवेचना कीजिये ।

Discuss the emergence of independent states in Africa and its effect on international politics
अफ्रीका में स्वतन्त्र राज्यों के उदय की समीक्षा कीजिए और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर इसके प्रभाव को बताइये ।

. What has been the problems of Africa after the Second World War and how are they effecting the international relations ?
द्वितीय महायुद्ध के बाद अफ्रीका की क्या समस्यायें रही हैं और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों को वे कैसा प्रभावित कर रही हैं ।

Write a note on the resurgence of Africa.
अफ्रीका के जागरण पर एक नोट लिखिए ।

5. Write an essay on the growth and development of the movements towards continental unity in Africa. What do you think about the prospect of such unity ?
अफ्रीका में महाद्वीपीय एकता के लिये जो विभिन्न आन्दोलन हुए उनके उदय और विकास पर एक निबन्ध लिखिये । इस एकता के भविष्य के बारे में आपके क्या विचार हैं ?

6. Describe how Algeria achieved her indepedence. Critically analyse the attitude of the French Government towards Algeria. How far has President De Gaulle succeeded in solving the Algerian problem ?
अल्जीरिया ने किस प्रकार अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त की उसका वर्णन कीजिये । अल्जीरिया के प्रति फ्रेंच सरकार के दृष्टिकोण का आलोचनात्मक विश्लेषण कीजिये । अल्जीरिया समस्या का समाधान करने में राष्ट्रपति डिगॉल को कहाँ तक सफलता मिली ?

7. Discuss the main stages in the development of the Congo-question What part has the U N played in solving it ?
कांगो प्रश्न के विकास के महत्वपूर्ण चरणों की समीक्षा कीजिये । इस समस्या का समाधान करने में संयुक्त राष्ट्र संघ ने क्या महत्वपूर्ण भूमिका अदा की ?

8. Write a note on Afro-Asian unity
अफ्रो-एशियाई एकता पर टिप्पणी लिखिये ।

16

एशिया व अफ्रीका के देशों के सम्मेलन

[AFRO-ASIAN NATIONS CONFERENCES]

१ प्रथम एशियाई सम्मेलन १९४७
२ द्वितीय एशियाई सम्मेलन, १९४९
३ बाण्डुंग सम्मेलन, १९५५
४ बेलग्रेड सम्मेलन १९६१
मोशी सम्मेलन १९६३
६ अदीस अबाबा सम्मेलन, १९६३
७ काहिरा सम्मेलन, १९६४
८ नई दिल्ली सम्मेलन, १९६६

"एक सौ अस्सी वर्ष पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये जिस महान् यज्ञ का समारंभ हुआ था वह अभी पूर्ण नहीं हुआ है। वह उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक संसार में उपनिवेशवाद का एक चिन्ह भी जीवित है। एशिया और अफ्रीका के अनेक देश अब भी परतंत्र हैं और आज इस सम्मेलन को यह स्पष्ट कर देना है कि अन्तर्राष्ट्रीय रंगमंच पर एक नये अफ्रीका और नये एशिया का उदय हुआ है।"

—राष्ट्रपति मुकर्जी (बेलग्रेड सम्मेलन)

एशिया और अफ्रीका के देशों के सम्मेलन
(Afro-Asian Nations Conferences)

सैकड़ों वर्षों तक एशिया और अफ्रीका के देश यूरोपियन साम्राज्यवाद के शिकंजे में फंसे रहे और १९ वीं शताब्दी के अन्त तक इन दोनों ही महाद्वीपों पर लगभग पूर्णतः यूरोपियन देशों का कब्जा हो गया। किन्तु प्रथम महायुद्ध के बाद विभिन्न कारणोंवश एशिया के देशों में जागृति की लहर फैली और उनमें राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ। द्वितीय महायुद्ध के बाद तो एशिया एकदम जाग उठा और जागरण के इस संदेश से अफ्रीका महाद्वीप अछूता न बच सका। दोनों महाद्वीपों के विभिन्न देशों के विभिन्न सम्मेलन होने लगे जिनके कारण इन देशों के प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क बढ़ा। जैसे १९२७ में साम्यवादियों एवं कुछ प्रगतिशील तत्वों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विश्व के पराधीन देशों के एक सम्मेलन का सर्वप्रथम आयोजन बेल्जियम के ब्रूसेल्स नगर में किया गया था जिसमें विश्व के परतन्त्र राष्ट्रों के राष्ट्रीय आंदोलनों के विभिन्न नेता सम्मिलित हुए थे और उन्होंने पहले पहल प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित करते हुए एक सम्मेलन के रूप में विचार-विमर्श किया था। द्वितीय महायुद्धोत्तर युग में समय समय पर एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों ने तथा विश्व के तटस्थ देशों ने अपने सम्मेलनों द्वारा विश्व राजनीति की समस्याओं पर सम्मिलित रूप से विचार करके महत्वपूर्ण सुझाव दिये और विश्व की साम्राज्यवादी शक्तियों को स्पष्ट रूप से बता दिया कि सोते हुए एशिया और अफ्रीका अब जाग चुके हैं। ऐसे ही कुछ महत्वपूर्ण सम्मेलनों का संक्षिप्त विवरण आगे दिया जा रहा है।

प्रथम एशियाई सम्मेलन

स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व एशियाई देशों का संगठित करने के आंदोलन में भारत की दिलचस्पी बहुत बढ़ गई थी। इसी कारण देश के आजाद होने से पहिले ही स्वर्गीय पंडित नेहरू की प्रेरणा से इण्डियन कौंसिल आफ वर्ल्ड अफेयर्स (Indian Council of World Affairs) ने मार्च अप्रैल १९४७ में एशियाई देशों के एक सम्मेलन का आयोजन किया जिसमें २८ देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। यद्यपि यह एक गैर सरकारी सम्मेलन था किन्तु इसका महत्व इस बात में था कि एशिया के विभिन्न देशों के राष्ट्रीय आन्दोलन के नेता इसमें सम्मिलित हुए थे।

इस प्रथम एशियाई सम्मेलन ने एशियाई देशों की राजनीतिक स्वतन्त्रता उनके आर्थिक विकास और रंगभेद आदि विभिन्न समस्याओं पर विचार किया। एशियाई देशों का एक स्थायी संगठन स्थापित करने के प्रस्ताव पर भी विचार हुआ। इस सम्मेलन से किसी प्रकार के क्रांतिकारी निर्णयों की आशा करना व्यर्थ था। सम्मेलन में प्रकट किये गये विचारों से

यह प्रयास स्पष्ट हो गया कि विभिन्न एशियाई देशों की अनेक समस्याएं समान रूपसी हैं और उनका समाधान तब ही हो सकता है जबकि सब एशियाई देश मिलकर संयुक्त रूप से प्रयास करें। परन्तु फिर भी एशियाई देशों के मतभेद छिप न रह सके हालांकि वे अपने आप में अधिक महत्वपूर्ण न थे। इस सम्मेलन का वास्तविक महत्व यही था कि एशिया के देश एक सम्मेलन में एक स्थान पर मिलें और वे अपनी-अपनी समस्याओं पर निःसंकोच कर विचार करें। सम्मेलन का महत्व इस दृष्टि से भी था कि इसने यह संकेत किया कि एशिया अब जाग चुका है और अधिक समय तक उस पर साम्राज्यवादी शासन नहीं रह सकता। इस सम्मेलन ने विश्व को बता दिया कि एशियाई देश यूरोपियन साम्राज्यवाद का विरोध करने के लिये पूरी तरह कटिबद्ध हैं।

द्वितीय एशियाई सम्मेलन

एशियाई देशों का द्वितीय सम्मेलन भी देहली में २० से ३० जून १९४९ को हुआ। इस सम्मेलन का आमंत्रित करने का उद्देश्य इण्डोनेशिया पर डच आक्रमण से उत्पन्न परिस्थितियों पर विचार करना था। यह सम्मेलन भारत सरकार द्वारा आमंत्रित किया गया था। सम्मेलन में डच कार्यवाही की कठोर शब्दों में निन्दा की गई, डच आक्रमण को असफल बनाने के लिये विभिन्न कार्यक्रम बनाये गये और संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद आस्ट्रेलिया एवम् न्यूजीलैण्ड का सहयोग प्राप्त करके हॉलैण्ड के प्रति कठोर रुख अपनाने को बाध्य किया गया। इस द्वितीय एशियाई सम्मेलन ने एक बार फिर यह स्थापित कर दिया कि संगठित एशिया की उपेक्षा करना अब सुगम नहीं है और एशियाई देशों पर यूरोपियन साम्राज्यवाद को अधिक समय तक लादे रखना असम्भव है।

बांडुंग सम्मेलन

१८ अप्रैल से २४ अप्रैल १९५५ तक इण्डोनेशिया के नगर बांडुंग में एशिया और अफ्रीका के लगभग २९ राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन हुआ जिसका उद्घाटन इण्डोनेशिया के राष्ट्रपति सुकार्णो ने किया। उन्होंने अपने स्वागत भाषण में कहा— मुझे आशा है कि यह सम्मेलन मानव समाज का मार्ग निर्देशन करेगा। मुझे आशा है कि यह इस बात का प्रमाण प्रस्तुत करेगा कि एशिया और अफ्रीका का पुनर्निर्माण हो चुका है।" राष्ट्रपति सुकार्णो ने यह भी कहा कि "१८० वर्ष पूर्व स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिये जिस महान युग का समारम्भ हुआ था वह अभी पूर्ण नहीं हुआ है। यह उस समय तक पूर्ण नहीं हो सकता जब तक कि संसार में उपनिवेशवाद का एक चिन्ह भी जीवित हो। एशिया और अफ्रीका के अनेक देश अब तक परतन्त्र हैं और आज इस सम्मेलन को यह स्पष्ट कर देना है कि अन्तर्राष्ट्रीय रंगमञ्च पर एक नए अफ्रीका और एक नये एशिया का उदय हुआ है।

बांडुंग सम्मेलन का विस्तारपूर्वक वर्णन एक पूर्ववर्ती अध्याय में किया जा चुका है अतः यहां इसकी चर्चा सांकेतिक रूप में कर देना ही पर्याप्त होगा।

बांडुंग सम्मेलन में ये बातें विशेष रूप से निर्धारित की गई—लोकतांत्रिक स्वशासन और विदेशी नियन्त्रण से पूर्ण मुक्ति जाति सम्प्रदाय और रंगभेद किये बिना मानव प्रतिष्ठा की स्थापना तीव्रगति से आर्थिक प्रगति एवम् युद्ध का परित्याग तथा सद्भावना का प्रसार। सम्मेलन की वास्तविक उपलब्धियों का सबसे अच्छा और विस्तारपूर्वक उल्लेख अन्तिम दिन प्रकाशित एक विज्ञप्ति में किया गया। इस विज्ञप्ति में "विदेशी सहायता एक संयुक्त राष्ट्र संघीय फण्ड, तकनीकी ज्ञान और बहु-पक्षीय व्यापार के आदान प्रदान एवम् भिन्न प्रकार के निर्यात द्वारा विश्व के एशियाई एवम् अफ्रीकी क्षेत्र के आर्थिक विकास की आवश्यकता" पर बल दिया। इसने 'एशियाई व अफ्रीकी देशों के पर्याप्त प्रतिनिधित्व से युक्त एक अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति संस्था की स्थापना" की मांग की फिलिस्तीन में अरब लोगों के अधिकारों का समर्थन किया फिलिस्तीन समस्या के शांतिपूर्ण हल पर जोर दिया और संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रस्ताव को क्रियान्वित करने की अपील की। इसने संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य संख्या में वृद्धि और अफ्रीका एवम् एशिया को अधिक प्रतिनिधित्व देने" की मांग की तथा निःशस्त्रीकरण प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण में आणविक अस्त्रों के निषेध और इन शस्त्रों के परीक्षणों को बन्द करने' की अपील की। विज्ञप्ति में जाति स्वतन्त्रता मानवीय अधिकारों के प्रति आदर अहस्तक्षेप द्वारा सहिष्णुता सभी राज्यों की एकता और सम्प्रभुता प्रत्येक राज्य और जाति की समानता अहस्तक्षेप संयुक्त राष्ट्र के चार्टर के सिद्धान्तों के अनुसार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक सुरक्षा के अधिकार शक्ति राजनीति और आक्रमणकारी प्रयत्नों से पृथकता तथा झगड़ों के शांतिपूर्ण हल' आदि का समर्थन किया गया।

वास्तव में बांडुंग सम्मेलन के द्वारा एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों के जीवन में एक नवीन आत्मविश्वास और आशा का उदय हुआ तथा एशिया की एक नई आवाज सम्पूर्ण विश्व में गूंज उठी। यह आवाज थी कि एशिया और अफ्रीका के वासी अब पराधीन नहीं रहेंगे अपने हाथों अपने भविष्य का निर्णय करेंगे और स्वतन्त्रता तथा शांति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को उखाड़ फेंकेंगे। एशिया की राजनीति के दृष्टिकोण से बांडुंग सम्मेलन के दो महत्वपूर्ण परिणाम निकले—प्रथम इसने अन्तर्राष्ट्रीय विश्व राजनीति की समस्याओं के प्रति एशिया और अफ्रीका में एक समान दृष्टिकोण को जन्म दिया तथा द्वितीय संयुक्त राष्ट्रसंघ में एक ऐसे एशियाई अफ्रीकी गुट की आधारशिला रखी जिसने आगे चलकर पूर्व और पश्चिम के संघर्ष में सन्तुलन पैदा करने का महत्वपूर्ण काम किया।

बेलग्रेड सम्मेलन १९६१

एशियाई और अफ्रीकी देशों का तृतीय सम्मेलन सितम्बर १९६१ में युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में हुआ। इसको तटस्थ राज्यों का सम्मेलन कहना अधिक उचित होगा क्योंकि इसमें एशिया और अफ्रीका महाद्वीपों के अतिरिक्त अन्य महाद्वीपों के देश भी सम्मिलित हुए थे। इस प्रकार के सम्मेलन का सर्वप्रथम सुझाव युगोस्लाविया के प्रधान मार्शल टीटो

में १९५५ में रखा था। इसकी तैयारी में अफगानिस्तान बर्मा कम्बोडिया श्री लंका, क्यूबा इथोपिया, घाना गिनी, भारत, इण्डोनेशिया ईराक, मोरक्को नेपाल सऊदी अरब सोमालिया सूडान संयुक्त अरब गणराज्य यमन यूगोस्लाविया आदि २२ राष्ट्रों ने भाग लिया था। इन राष्ट्रों द्वारा उन देशों को ही इस सम्मेलन में आमंत्रित किया गया जो (१) स्वतन्त्र नीति का परिपालन करते हुए तटस्थता और शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में विश्वास करते हों (२) जो उपनिवेशवाद विरोधी आन्दोलनों का समर्थन करते हों (३) जो पूर्व पश्चिम के संघर्ष में किसी सैनिक गुटबन्दी में न हों (४) जो बहु-पक्षीय सैनिक संधियों के सदस्य न हों एवम् (५) जो अपनी भूमि पर विदेशी सैनिक अड्डों को धारण न किये हों।

२६ अप्रेल १९६१ को संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति नासिर और यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो ने २८ तटस्थ राज्यों को पत्र भेजा और उन्हें बेलग्रेड सम्मेलन में शामिल होने के लिये आमन्त्रित किया। तटस्थ राष्ट्रों का यह सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में १ सितम्बर से ६ सितम्बर १९६१ तक हुआ। इसमें २५ देशों ने अपने प्रतिनिधि भेजकर भाग लिया जबकि तीन देशों ने अपने पर्यवेक्षक (Observers) ही भेजे। जो राष्ट्र इसमें सम्मिलित हुए उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) अफगानिस्तान (२) अल्जीरिया (३) बर्मा (४) कम्बोडिया (५) श्री लंका (६) कांगो (७) क्यूबा (८) साइप्रस (९) इथोपिया (१०) घाना (११) गिनी (१२) भारत (१३) इण्डोनेशिया (१४) ईराक (१५) लेबनान (१६) माली (१७) मोरक्को, (१८) नेपाल (१९) सऊदी अरब (२०) सोमालिया (२१) सूडान (२२) ट्यूनेशिया (२३) संयुक्त अरब गणराज्य (२४) यमन और (२५) यूगोस्लाविया।

पर्यवेक्षक भेजने वाले राष्ट्र थे—(१) बोलीविया (२) ब्राजील, एवम् (३) इक्वडार।

सम्मेलन का विवरण

बेलग्रेड सम्मेलन में उपस्थित राष्ट्रों ने विभिन्न विषयों पर विचार विमर्श किया। उस समय जर्मनी की समस्या को लेकर शीत युद्ध बड़ा उग्र हो गया था और अन्तर्राष्ट्रीय शांति के लिये बड़ा ही खतरनाक वातावरण उत्पन्न हो गया था। विश्व में उस समय अनेक ऐसी घटनायें घटी थीं जिनमें से किसी को भी लेकर विश्व युद्ध की शुरुआत हो सकती थी। ये समस्यायें प्रमुखतः जर्मनी व बर्लिन की समस्या राष्ट्रसंघ में चीन की सदस्यता का प्रश्न कांगो प्रश्न इत्यादि की थी। सम्मेलन ने संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ दोनों ही महाशक्तियों से अनुरोध किया कि वे शीतयुद्ध की उग्रता कम करें और पारस्परिक वार्ता द्वारा समस्याओं के समाधान हूंढ निकालें। सम्मेलन में उपनिवेशवाद का अविलम्ब समापन करने की भी मांग की गई।

उस समय हथियार बन्दी की होड़ और अमेरिका द्वारा परमाणविक परीक्षण अपनी चरम सीमा पर पहुंच गया था। सम्मेलन ने इस ओर भी सम्बद्ध राष्ट्रों का ध्यान आकृष्ट किया। परन्तु सम्मेलन का यह दुर्भाग्य था कि जिस दिन उसकी कार्यवाही शुरू हुई उसी दिन सोवियत संघ ने पुनः परमाणविक परीक्षण प्रारम्भ कर दिये। फिर भी सम्मेलन द्वारा यह निश्चय किया गया कि तटस्थ राज्यों की ओर से एक प्रतिनिधि मंडल संयुक्त राज्य अमेरिका और सोवियत संघ को भेजा जाए तथा राष्ट्रपति कैनेडी और प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव से अनुरोध किया जाए कि विश्व की समस्त मानवता के लिये शांति और सुरक्षा की स्थापना करने हेतु निःशस्त्रीकरण की दिशा में वे सक्रिय रूप से आगे बढ़ें और प्रत्यक्ष वार्ता करके निःशस्त्रीकरण, परमाणविक परीक्षा एवम् शीतयुद्ध की समस्याओं का समाधान करें। भारत यूगोस्लाविया और संयुक्त अरब गणराज्य ने बड़े असमानी शब्दों में कहा कि बड़े राष्ट्रों को अपना स्वार्थ त्याग कर निःशस्त्रीकरण के प्रश्न पर एक मत हो जाना चाहिये। सम्मेलन ने विश्व में स्थायी शांति स्थापित करने के लिये यह मत प्रकट किया कि सभी देशों को आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक पिछड़ेपन से मुक्ति दिलाकर उन्नत अवस्था की ओर ले जाना चाहिये। सम्मेलन में उपस्थित सभी राष्ट्र इस विचार से सहमत थे कि हर तरह का उपनिवेशवाद तथा प्रजातीय विभेदवाद संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के सिद्धांतों का उल्लंघन है और संसार के पराधीन देशों को तुरन्त ही मुक्ति मिलनी चाहिये।

सम्मेलन की विज्ञप्ति में कहा गया कि प्रत्येक देश और उसके देश वासियों को अपने ढंग से शासन संचालन की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिये और उसके मामलों में किसी विदेशी शक्ति को हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। सम्मेलन द्वारा प्रत्येक प्रकार के साम्राज्यवाद को विश्व हित की दृष्टि से हानिकारक समझा गया और इसीलिये सम्मेलन में एक स्वर से यह आवाज उठाई गई कि साम्राज्यवादी शक्तियों को तुरन्त अपनी शोषण की नीति समाप्त कर देनी चाहिये।

सम्मेलन द्वारा यह विचार दृढ़ शब्दों में प्रकट किया गया कि वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में यह अत्यन्त आवश्यक है कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र को उसकी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता का उपभोग करने दे। सम्मेलन में इस बात की तीव्र निन्दा की गई कि कुछ राष्ट्रों में रंगभेद के नाम पर मनुष्य-मनुष्य में भेद किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका में काले गोरे के नाम पर किये जाने वाले जघन्य अपराधों पर चिन्ता प्रकट की गई और उनके इस कार्य की भर्त्सना की गई।

सम्मेलन ने यह भी अनुभव किया कि शांति के नाम पर स्थापित सैनिक अड्डे ही वास्तव में शांति भंग के मूल कारण हैं। अमेरिका और रूस ने अपनी शक्ति प्रदर्शित करने के लिये विश्व के विभिन्न देशों में इन्हें स्थापित कर रखा है और इनसे पारस्परिक प्रेम व शांति के स्थान पर

स्पर्द्धा और विद्वेष उत्पन्न होता है। इन सैनिक अड्डों से एक दूसरे में प्रति स्पर्द्धा की भावना जागृत होती है जो अन्ततः संसार को अशांति और युद्ध की ओर धकेलती है। अतः सम्मेलन में सैनिक अड्डों की स्थापना पर क्षोभ व्यक्त किया गया और इन्हें समाप्त करने की अपील की गई।

सम्मेलन ने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व में आस्था प्रकट की। सम्मेलन का मत था कि जहां एक ओर सोवियत रूस अपनी समाजवादी व्यवस्था को सर्वोत्तम बतलाता है और दूसरे पश्चिमी राष्ट्र रूसी व्यवस्था की आलोचना करके अपनी प्रजातन्त्रीय शासन प्रणाली को उत्तम बतलाते हैं—यह रवैया अनुचित है। विश्व में नाना विचारधारायें और शासन प्रणालियाँ हैं जो एक दूसरे से भिन्न हैं। किन्तु इनकी आलोचना करने से शांति स्थापित नहीं हो सकती। संसार शांति की ओर तो तब ही अग्रसर हो सकता है जब कि सभी व्यवस्थायें और विचारधारायें एक दूसरे के अस्तित्व को स्वीकार करते हुए परस्पर सहयोग प्रदान करें।

सम्मेलन द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ के क्रिया-कलापों को मानव हित में बतलाते हुए उसमें दृढ़ विश्वास व्यक्त किया गया और इस बात पर बल दिया गया कि राष्ट्रों द्वारा संघ के निर्णयों को पूर्णतः मान्यता प्रदान करके उसे मजबूत बनाने का प्रयास करना चाहिये। सम्मेलन ने आर्थिक व प्राविधिक सहयोग पर बल दिया और यह मत व्यक्त किया कि विश्व के विकसित राष्ट्र पिछड़े देशों को आर्थिक राजनीतिक सामाजिक और शैक्षणिक सभी दृष्टियों से विकसित करने के कार्यक्रम को अपनाना अपना कर्त्तव्य समझें।

बेलग्रेड सम्मेलन में एशियाई देशों के अनेक मतभेद भी स्पष्ट हुए। जहां इण्डोनेशियाई राष्ट्रपति सुकार्णो ने उपनिवेशवाद को समकालीन विश्व की सभी बुराइयों की जड़ बतलाया वहां भारत के स्वर्गीय प्रधान मन्त्री पंडित नेहरू ने विश्व शांति की स्थापना को मुख्य स्थान दिया और इस बात पर उन्हें राष्ट्रपति टीटो और कर्नल नासिर का पूरा समर्थन मिला। इस प्रकार सम्मेलन में दो दृष्टिकोणों में परस्पर टक्कर हो गई और सम्मेलन विफल होते होते बचा। अन्त में यह निश्चय हुआ कि सम्मेलन के प्रस्तावों को लेकर राष्ट्रपति सुकार्णो अमेरिका जायें और राष्ट्रपति कैनेडी से मिल कर उन्हें सम्मेलन के निर्णयों से अवगत करवायें। इस तरह का दायित्व पंडित नेहरू और एन्क्रूमा को दिया गया जो ख्रुश्चेव से मिलने मास्को गये।

बेलग्रेड सम्मेलन का प्रभाव

बेलग्रेड सम्मेलन में संसार की लगभग १/३ जनसंख्या के देशों ने भाग लिया। अतः यह स्वाभाविक था कि विश्व को महाशक्तियां अमेरिका व रूस और अन्य देशों की आंखें इस सम्मेलन पर लगी रहीं। सभी देश यह जानने के लिए उत्सुक थे कि संसार की एक प्रबल जनता क्या निश्चय करने जा रही है? यद्यपि अमेरिका रूस आदि राष्ट्र अत्यन्त

शक्तिशाली थे किन्तु फिर भी वे अनुभव करने लगे कि उनकी शक्ति की मात्रा में अपर्याप्त उनके प्रभाव में कमी आना शुरू हो गई है। अब वे यह सोचने को विवश हो गये कि विश्व जनमत को अब अधिक समय तक नहीं ठुकराया जा सकता और न ही उसे अधिक समय तक भ्रम में रखा जा सकता है। साथ ही उन्हें यह भी भय लगा कि तटस्थ राष्ट्र कहीं अपना एक अलग गुट बना कर उनकी शक्ति को ही चुनौती न देवें। लेकिन उनका इस प्रकार का भय निराधार सिद्ध हुआ क्योंकि बेलग्रेड सम्मेलन तीसरे गुट की कार्यवाही एवं शक्ति संचय से दूर रहते हुए शांति प्रेम और सहयोग पर आधारित अपने किस्म का पहिला और निराला आयोजन था।

बेलग्रेड सम्मेलन को विभिन्न दृष्टियों से सफलतायें प्राप्त हुई—

(१) संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के १६ वें अधिवेशन में एक तटस्थ राष्ट्र बर्मा के राजनीतिज्ञ ऊ थान्ट को महासचिव बनाया गया। उनका कार्यकाल १९६१ में समाप्त होने पर दोनों ही महाशक्तियों द्वारा उनमें विश्वास व्यक्त किये जाने पर यह आग्रह किया गया कि वे अपने पद पर आगे भी बने रहें।

(२) अणु परीक्षण स्थगित होने की सम्भावना बढ़ी और उनके सम्बन्ध में आगे चल कर महाशक्तियों के बीच एक सन्धि भी हो गई। १४ जुलाई १९६३ को तीन बड़े राष्ट्रों ने अणु परीक्षण निषेध संधि की जिस पर चीन और फ्रांस को छोड़कर लगभग १०१ राष्ट्र हस्ताक्षर कर चुके हैं।

(३) तटस्थ राष्ट्रों में पारस्परिक एकता की स्थापना एवं उपनिवेशवाद तथा जातीवाद के विरोध में भी सफलता प्राप्त हुई। समस्त अफ्रीका और एशिया महाद्वीप में साम्राज्यवाद के विरुद्ध एक व्यापक और शक्तिशाली लहर फैल गई तथा एशियाई अफ्रीकी जनता में आत्माभिमान और आत्मविश्वास की भावनाओं को बल मिला।

बेलग्रेड सम्मेलन के महत्व को संसार के प्रत्येक देश ने समझा गया और ऐसा प्रतीत हुआ कि दुनियां में एक नई शक्ति का आविर्भाव हो रहा है। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी ने इस सम्मेलन को "उत्साहवर्धक" बतलाया। रूस ने इसका स्वागत किया और इसकी प्रतिक्रिया भी बड़ी अनुकूल रही परन्तु साम्यवादी चीन ने तटस्थ राष्ट्रों के इस शिखर सम्मेलन का अन्त तक विरोध करके एशियाई एकता को गहरा आघात पहुंचाया। वह एशिया और अफ्रीका के विभिन्न राष्ट्रों को इसमें भाग न लेने के लिए भी फुसलाता रहा यद्यपि उसे इस प्रयास में किसी प्रकार की सफलता नहीं मिल पाई। फिर भी इण्डोनेशिया के माध्यम से चीन का प्रभाव सम्मेलन में कुछ न कुछ काम करता रहा।

मोशी सम्मेलन १९६३

फरवरी १९६३ में मोशी (टंगानिका) में अफ्रेशियाई एकता

सम्मेलन हुआ जिसमें विभिन्न प्रस्ताव पारित किए गये। इन प्रस्तावों का संक्षिप्त ब्यौरा इस प्रकार है—

१ ब्रिटेन से अपील की गई कि वह बासुतोलैण्ड बेचुआनालैण्ड और स्वाजीलैण्ड को तत्काल एवं बिना शर्त स्वतन्त्रता प्रदान कर दे। उस यह भी कहा गया कि वह रोडेशिया संघ को शीघ्र भंग कर के तीनों प्रदेशों को अलग-अलग मान कर स्वतन्त्र करे।

२ समस्त राष्ट्रों से अपील की गई कि वे उपनिवेशवादी तत्वों और उपनिवेशवादी सरकारों के दमन के शिकार लोगों को राजनीतिक शरण प्रदान करें।

३ सम्मेलन में इजरायल की इस बात के लिए घोर निन्दा की गई कि वह एक नवीन उपनिवेशवादी अड्डा बनता जा रहा है। सम्मेलन द्वारा अफ्रेशियाई राष्ट्रों से अपील की गई कि वे यहूदी घुसपैठ को रोकें।

४ सम्मेलन में यमन का समर्थन किया गया और यमन सीमा पर सऊदी अरब जोर्डन तथा इजरायली आक्रमण की भर्त्सना की गई।

५. सम्मेलन ने यह मत प्रकट किया कि केनिया में तत्काल आम चुनाव हों और उसके बाद ही उसे स्वतन्त्रता प्रदान की जाय। साथ ही केनिया युगाण्डा जंजीबार और टंगानिका का अफ्रीकन संघ बनाने का समर्थन किया गया।

६ सम्मेलन में साम्यवादी चीन के फारमोसा को मुक्त करने के अधिकार को स्वीकार किया गया।

७ सम्मेलन द्वारा सभी राष्ट्रों से अपील की गई कि वे पुर्तगाल के विरुद्ध आर्थिक व कूटनीतिक बहिष्कार लागू करवायें। पुर्तगाल को अफ्रेशियाई सम्मेलन में भाग लेने से रोका जाय तथा अंगोला और मोजाम्बिक के मुक्ति आंदोलनों को प्रत्येक संभव सहायता प्रदान की जाये।

८. सम्मेलन ने सिफारिश की कि उत्तरी रोडेशिया को लोकतन्त्रात्मक संविधान प्रदान किया जाय और संघ को भंग किया जाय। सदस्य राष्ट्रों से अपील की गई कि वे दक्षिणी रोडेशिया के लोगों को उनके स्वातन्त्र्य आंदोलन में सहयोग दें।

९ सम्मेलन ने सोमालीलैण्ड की जनता पर फ्रांस के अत्याचारों की निन्दा की।

१० सम्मेलन द्वारा यह मांग की गई कि अमरीका दक्षिणी वियतनाम के प्रति अपनी वर्तमान नीति का परित्याग करे आक्रमणात्मक कार्यवाहियाँ बंद करे और समस्त सैनिक एवं परामर्शदाता वापिस बुलायें।

BIBLIOGRAPHY

1 Deutscher Isaac Russia What next ?
2. Haines, C. Grove, ed The threat of Soviet Imperialism.
3 Hunt, R. N C. The Theory and Practice of Communism.
4 Kubki, W W The Soviet regime Communism in practice
5 Nagy Ferenc The struggle behind the Iron Curtain
6 Schuman Frederick L. Soviet politics at home and abroad
7 Tara Covzio T A War and Peace in Soviet Diplomacy
8. Williams, William A American Russian Relations
9 Yakhontoff Victor A. : U.S.S R. Foreign Policy
10. Morgenthau and Thompson Principles and problems of International politics.
11 केनेडी के प्रोग्रसी विचार (इण्डियन बुक कम्पनी दिल्ली)
12 Allen Henry C. Great Britain and the U S
13 Bollard Sir Reader Britain and the middle-East.
14. Fitzsimons, M A. The Foreign policy of the British Labour Govt.
15. Mckittrick, I. E. M. Conditions of British Foreign Policy
16. Reynolds P A. British Foreign Policy in the inter war years.
17 Soward, E. H ed. : The changing Commonwealth.
18. Wolfers, Arnold Britain and France between two Wars
19 Panikkar K. M. In two Chinas
20. Nan Poria N J The Sino Indian dispute
21 S. Chandrashekher Communist China Today
22. Heller, Andor No more Comrades
23 Henry Jan Escaree China then and now
24 Walker China Under Communism
25 Acheson, Dean G The Premises of American Policy
26 Hartmann Fredrick The Relations of Nations.
27 Kennedy J F The Strategy of Peace.
28. Langsome, W C The World since 1919
29 Munroe, Dana Gardner The Latin American Republics
30. The Major addresses of the 3*th President of the United States published by U S. I. S., New Delhi.

31 North John Cuba Hope of an Hemisphere.
32 Schleicher, Charles P International Relation—Cooperation and Conflict
33 Schuman Fredrick L. International Politics.
34 Sweezy Paul and Leo Hubarman, Cuba—Anatomy of a Revolution
35 The Great Debate (Published by Foreign Languages Publishi g House Moscow)
36 Bozeman Adda B India s foreign policy today's world politics
37 Chipman W India s Foreign Policy
38 Durgadas India and the World.
39 Kamath M. V India s Dynamic neutralism Current History
40. Crowley D W The Background to Current Affairs.
41 Crankshaw Edward The New Cold War—Moscow V/s. Peking.
42. Dentsber I The Great Contest, 1960.
43 Khrusonev Nikita The Victory in the Peaceful Competition with Capitalism
44 Seton-Watson From Lenin to Khruschev
45 Smith Gorden Connel Pattern of the Post War World.
4 Kundra J C. Indian Foreign Policy
47 Mukherjee M Our Foreign Policy AICC Economic Review
48 Coyle David Cushman The United Nations and How it works
49 Maclaurin, John The United Nations and Power Politics
50 Nicholas, H. G The United Nations as a Political Institution
51 Potter P B An Introduction to the study of International Organization
52 Everyman s United Nations (Published by the United Nations Department of Public Information).
53 Arora, S. K. American Foreign Policy towards India.
54 Mazumdar H. T India and America
55 Roy N C. India and the United States of America
56 Sohan Lal Red Star over India ?
57 Berkes Ross N India and the Communist World Current History
58 Patel Satyavrata Ramdas Foreign Policy of India.
59 Braine B "Will India stay in the Commonwealth ?"
60 Dwedi Surendranath Why leave Commonwealth ?
61 Kachroo J L. India and the Commonwealth
62. Surjeet Harkishan Singh, Kashmir and its Future.
63. Kamath M. Y India at the United Nations.
64 Bhagat, B. R., Role of foreign assistance in India's economic development

65 Zikkin Maurice Development of Free Asia
66. Barghoorn, Frederic C The Soviet image of the United States; A study in Distortion
67 Bains, J S. India s International Disputes
68. Brown, W N , The United States and India and Pakistan
69 Chakravarti P C. India-China Relations
70. Dutt, V P , China s Foreign Policy
71 Dutt, R. P India Today and Tomorrow
72. Dutt R. P Crisis of British Empire.
73. Gupta, Karunakar Indian Foreign Policy
74. Karunakaran, K. P India in World Affairs.
75 Natarajan, L. The American Shadow over India
76. Nehru, Jawaharlal India s Foreign Policy
77 Nehru, Jawaharlal The Discovery of India
78. Panikar K. M. Asia and Western Dominance.
79 Panikar K. M. , India and the Indian Ocean
80. Poplai, S. L . Asia and Africa in the Modern World.
81. Karunakaran, K. P India In World Affairs.
82. Thapar Romesh ; India in Transition.
83. Bharadwaj R. P Peaceful Co-existence.
84. Bowles, Chester A friendly peep at Asia s glass house
85. Blackett, Patrick, M S , Atomic Weapons and East West Relations.
86. King Hall, Sir Stephen , Defence in the Nuclear Age.
87. Kessinger Henry A. Arms Control Inspection and Surprise Attack.
88. Russel Bertrand Commonwealth and Nuclear Warfare Foreign Affairs, Vol XXXVIII.
89 Friedmann, W An Introduction to World Politics.
90. Hartmann Fredrick, H. , The Relations of Nations
91 Panikkar K. M. , Regionalism and Security
92. Schleicher Charles, P , Introduction to International Relations.
93. Parameshwaran C. Nehru s Foreign Policy—Rayed
94 Srivastava, G P some aspects of Indian Foreign Policy
95 Mookherji S K. India s role in world peace.
96. Clark, Colin British Trade In the Common Market.
97 Coatman, J The British Commonwealth of Nations.
98. Arora, S K. Indian Attitudes towards China International Journal.
99 Ismail Sir Mirza ; India and her neighbours.
100 Hardy A short History of International Affairs.
101. Banerjee, J K. ' The Middle East in World Politics.
102. Horskins, Halford L. ' The Middle East.
103 Lenczowski, George The Middle East in World Affairs
104 Longrigg Stephen Hemsley ; Oil in the Middle East.
105 Guy Wint and Peter Calvocrass The Middle East in Crisis.

106 Dean V M., Main Trends in post war American foreign policy
107 Edwards, Michael Asia in the European Age.
108 Harrison Brain South-East Asia.
109 Hall D G E. A History of South-East Asia.
110. Levi Werner India s Himalayan Border
111 Panikkar K. M. Asia and Western dominance.
112. Guillian Robert The blue ants—600 millions Chinese under the Red Flag
113 Velky Through Unknown Tibet.
114 Faber The red army of China
115 Schwartz, Benjamin Chinese Communism and the rise of Mao
116 Walker Richard China under Communism The first five years
117 Donelon Michael The ideas of American foreign policy
118 Balbey Thomas A America Faces Russia Russian-American Relations from early times to our day
119 Bartlett, Ruhl, ed The Record of American diplomacy
120 Bemis, Samuel F A diplomatic history of the United States.
121 Byrnes, James F Speaking Frankly
122 Dulles, John Foster War or peace.
123 Feis Herbert The China Tangle
124 Guerrant, Edward O Roosevelt s Good Neighbour policy
125 Kennan George F American diplomacy
126. Lippman Walter The Cold War A study in U S. Foreign policy
127 Perkins Dexter The American Approach to foreign policy
128. Pratt, Julius W America s colonial experiment.
129 Pratt, Julius W A history of U S. foreign policy
130 Reichaver Edwin O : Wanted An Asian policy
131 Rostow W W An American policy in Asia.
132. Tannenbaum Frank The American tradition in foreign policy
133 Hatch, John Africa Today and Tomorrow
134 Hutt, W H The Economics of Colour Bar
135 Hudson, Robert, D The Changing Map of Africa.
136. Segal. Ronald African Profiles.
137 Wal Bink Walter T Documents on Modern Africa
138 Savel, V and Vasilyev G An Outline History of Africa
139 Antonius George The Arab Awakening.
140 Ben Horain E. The Middle East at Crossroads of History
141 Karanjia, R. K. : The Arab Dawn.

142. Karanjia R. K. China stands up.
143. Pannikar K. M In Two Chinas
144 Pannikar K. M Afro-Asian States and their Problems.
145 Snow Edgar Red Star Over China.
146. Strong, Anna Lolus Dawn out of China
147 Wehl, D The Birth of Indonesia.
148. Mirsky & Stepanov Asia and Africa, A New Era
149 Sakran, F C. Palestine Dilemma.
150. Fitzerald, C. P Revolution in China
151 Aarnes, Leonord Soviet Light on Colonies.
152. Crankshaw, E.; The New Cold War Moscow Vers. Peking.
153 Prasad B. Origin of Indian Foreign policy
154 Coyajee J C. India and the League of Nations.
155 Levi, W Free India in Asia.
156 Kothari S. India s Emerging Foreign Policy
157 Rosinger L. K. India and United States.
158. Publication Division Delhi Independance and After Speeches of Jawaharlal Nehru.
159 Government of India ; White Paper on India-China Relations
160 Ministry of External Affairs India Foreign Affairs Records
161 Breakes, R. N & Badi M. S The Diplomacy of India.
162. Poplai S. L. & Tolbot, P India and America.
163 Link (Weekly) New Delhi.
164. Peter Lyons Neutralism.
165. Ronald Segal Crisis of India.
166. Bertrand Russel The unarmed Victory
167 D R. Mankekar, Twenty Two Fateful Days.
168. K. S Murty, Indian Foreign Policy
169 दिनमान (साप्ताहिक) दिल्ली।
170 Beloff M The Foreign Policy of Soviet Russia.
171 Carr, E. H. German-Soviet Relations between the two World Wars 1919-1939
172 Grankshaw E. Russia without Stalin.
173 Dallin, D J Soviet Russia s Foreign policy
174 Molotov V M. Problems of Foreign Policy
175 Taraconzio T A War and Peace in Soviet Diplomacy
176 Yakhontoff V A. U S S R. Foreign Policy

177 Vyshinsky A. On Eliminating the Danger of a War and Strengthening the Peace and Security of Natio
178 Report of the Officials of the Government of India the People s Republic of China on the Boundry Questi
179 Chalmers, H World Trade politics.
180. Mendes France, P ; Economic and Action
181. Gunther J Inside Africa
182. Lenzowski, G Middle East in World Affairs.
183 Lequeur W Z ; Communism and Nationalism in Middle East
184 Bengurion, D The Rebirth and Destiny of Israel.
185 Bowles, Chester : Ideas People and Peace.
186. Kirk, Grayson ; The Changing Environment of International Relations.

---

११ सम्मेलन द्वारा ब्रिटेन को सुझाव दिया गया कि वह १९६१ के मध्य तक जंजीबार को स्वतन्त्र कर दे।

१२ सम्मेलन के अन्य प्रस्ताव में कहा गया कि कांगो की स्थिति इस बात को इंगित करती है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अमेरिकन साम्राज्यवाद का साधन बना हुआ है। अतः सम्मेलन समस्त राष्ट्रों से यह अपील करता है कि वे संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनर्गठन पर बल दें ताकि वह एशिया और अफ्रीका के लोगों की आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व कर सकें।

अदीस अबाबा सम्मेलन १९६३

२२ मई, १९६३ को एक अफ्रीकी सम्मेलन हुआ जिसमें ३२ स्वतन्त्र राष्ट्रों के शासनाध्यक्षों ने भाग लिया। इस शिखर सम्मेलन का आयोजन इथोपिया के सम्राट हेलसेलासी द्वारा किया गया था और यह २२ से २६ मई तक इथोपिया की राजधानी अदीस अबाबा में हुआ।

इस अदीस अबाबा सम्मेलन में संयुक्त अफ्रीका की स्थापना के विषय में विचार किया गया और इसके निर्माण-सम्बन्धी रूपरेखा इस प्रकार निर्धारित की गई—

१ राष्ट्राध्यक्षों की एक असेम्बली और सरकार (सर्वोच्च संस्था) बनाई जाय जिसकी बैठक वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य हो।

२ समस्त राज्यों की एक मन्त्री-परिषद स्थापित हो जिसमें सदस्य राष्ट्रों के परराष्ट्र मंत्री शामिल हों। वे कम से कम वर्ष में एक दो बार अवश्य विचार-विनिमय हेतु मिलें।

३ एक स्थाई सचिवालय स्थापित किया जाय जिसका प्रधान कार्यालय अदीस अबाबा में हो। इसमें एक महासचिव और उसके कुछ सहायक हों।

उपरोक्त निश्चयों के अनुसार सम्मेलन द्वारा कार्य किया गया। सचिवालय का नाम अफ्रीकी एकता संगठन (O. A. U i. e. Organisation of African Unity) रखा गया और गिनी के श्री दियालोतैल्ली को इसका महासचिव बनाया गया। सम्मेलन ने अफ्रीकी राज्यों के मध्य होने वाले झगड़ों को सुलझाने के लिए एक आयोग की स्थापना भी की।

सम्मेलन द्वारा यह निश्चय किया गया कि अफ्रीका के पराधीन देशों को औपनिवेशिक दासता से तथा दक्षिण अफ्रीका की अश्वेत जनता को रंगभेद नीति के अत्याचारों से मुक्त कराने के लिए एक मुक्ति-सेना बनाई जाय और मुक्तिकोष की भी स्थापना की जाय। सम्मेलन में यह भी निर्णय लिया कि दक्षिणी अफ्रीका और पुर्तगाल के विरुद्ध राजनीतिक व आर्थिक बहिष्कार

की नीति अपनाई जाय। संयुक्त राष्ट्र संघ से यह मांग की गई कि वह सुरक्षा परिषद तथा आर्थिक और सामाजिक परिषद में अफ्रीकी राष्ट्रों का आनुपातिक स्थिति प्रदान करे। ब्रिटेन से कहा गया कि वह दक्षिणी रोडेशिया को तब तक स्वतन्त्रता प्रदान न करे जब तक कि वहां अफ्रीकी जनता को गोरों के समान अधिकार प्राप्त न हो जायें।

अदीस अबाबा सम्मेलन की सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि इसमें अफ्रीकी एकता का एक घोषणा-पत्र स्वीकार किया गया जो सार रूप में निम्नलिखित था—

१ अफ्रीकी राज्यों और मालागासी के मध्य एकता स्थापित की जाए तथा पराधीन अफ्रीकी राष्ट्रों को स्वतन्त्रता प्राप्त करने में भरसक सहायता और सक्रिय सहयोग दिया जाय।

२ सदस्य राज्यों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने के लिए किये जाने वाले प्रयत्नों में सामंजस्य स्थापित किया जाय।

३ सदस्य राज्यों की प्रभुता और प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा की जाय।

४ अफ्रीकी महाद्वीप से प्रत्येक प्रकार के उपनिवेशवाद को समाप्त किया जाय।

५ अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहित किया जाय और संयुक्त राष्ट्र संघ एवं मौलिक मानवीय अधिकारों का आदर किया जाय।

घोषणापत्र में समूचे अफ्रीका महाद्वीप को दासता से मुक्त कराने की प्रतिज्ञा की गई। इस कार्य के लिए नौ अफ्रीकी देशों टांगानिका अल्जीरिया इथोपिया संयुक्त अरब गणराज्य यूगाण्डा कांगो, गिनी सेनेगल तथा नाईजीरिया को मिला कर एक स्वाधीनता समिति (Liberation Committee) बनाई गई। इसका प्रधान कार्यालय दारेस्सलाम में रखा गया।

सम्मेलन में घाना के तत्कालीन राष्ट्रपति एन्क्रूमा ने यह प्रस्ताव पेश किया कि अफ्रीका को एक संघात्मक राष्ट्र का स्वरूप दिया जाए एवं एक अफ्रीकन कार्यपालिका प्रतिरक्षा संगठन तथा सदस्य राज्यों के लिए एक सामान्य नीति का निर्माण किया जाए। परन्तु उनका यह प्रस्ताव अस्वीकार कर दिया गया था।

काहिरा सम्मेलन, १९६४

एशियाई और अफ्रीकी राज्यों का यह सम्मेलन संयुक्त अरब गणराज्य की राजधानी काहिरा में ५ अक्टूबर, १९६४ को प्रारम्भ हुआ और ११ अक्टूबर को इसकी समाप्ति हुई। इस सम्मेलन में ४८ देशों के शासनाध्यक्षों व राज्याध्यक्षों तथा ११ देशों के पर्यवेक्षकों ने भाग लिया। सम्मेलन में प्रधानता अफ्रीकन देशों की रही।

काहिरा सम्मेलन का उद्देश्य तटस्थतावादी क्षेत्र को विस्तृत करना और इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को कम करना था। संयुक्त अरब गणराज्य के राष्ट्रपति कर्नल नासिर ने अपने उद्घाटन भाषण में निम्नलिखित बातों पर बल दिया—

(i) सर्व नाश से मानवता की रक्षा का एक-मात्र उपाय तटस्थता ही है।
(ii) तटस्थता का काम केवल रियायतें प्राप्त करना ही नहीं है बल्कि सद्भावना का निर्माण करना भी है।
(iii) विश्व शांति के लिए उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद का अन्त आवश्यक है।
(iv) स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले मुक्ति आन्दोलनों को प्रोत्साहित करना जरूरी है।
(v) साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में स्थान दिया जाना न्याय संगत है।

सम्मेलन में युगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो ने जर्मनी के एकीकरण न हो पाने और अफ्रीका में रंगभेद की नीति जारी रहने की तीव्र भर्त्सना की। भारत के तत्कालीन प्रधान मन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री ने विश्व शान्ति की स्थापना के लिए एक पंच-सूत्री प्रस्ताव पेश किया जो निम्नलिखित प्रश्नों से सम्बन्धित था—

(i) अणु निःशस्त्रीकरण,
(ii) सीमा-विवादों का शांतिपूर्ण हल
(iii) विदेशी प्रभुत्व आक्रमण एवं तोड़फोड़पूर्ण कार्यवाहियों से मुक्ति
(iv) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग द्वारा आर्थिक विकास एवं
(v) संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यक्रम का समर्थन।

भारत ने उपरोक्त प्रस्ताव के अतिरिक्त समस्त राष्ट्रों के लिए पंचशील की भांति आचार संहिता सम्बन्धी एक दस-सूत्री योजना भी प्रस्तुत की। इस योजना में इन बातों पर बल दिया गया—

(i) प्रत्येक राष्ट्र को अपनी आवश्यकताओं समस्याओं और परिस्थितियों के अनुरूप अपनी राजनीतिक आर्थिक एवं सामाजिक प्रणालियों के निर्धारण का अधिकार प्राप्त होना चाहिए।
(ii) विभिन्न प्रणालियों पर चलने वाले राष्ट्रों के मध्य शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की भावना विद्यमान होनी चाहिए और किसी भी राष्ट्र को अपनी प्रणाली को अन्य राष्ट्रों पर थोपने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए।

(iii) सभी राष्ट्रों को अन्य राष्ट्रों की सम्प्रभुता और समानता को मान्यता देनी चाहिए।

(iv) अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के क्षेत्र में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रयोजनों के विरुद्ध किसी भी राष्ट्र को न बल प्रयोग करना चाहिये और न ही किसी राष्ट्र को धमकी देनी चाहिये। बल प्रयोग द्वारा क्षेत्रीय स्थिति में जो भी परिवर्तन लाया गया हो उसे मान्यता नहीं दी जानी चाहिए।

(v) सभी राष्ट्रों को दूसरे राष्ट्रों की राजनीतिक स्वाधीनता एवं प्रादेशिक अखण्डता का सम्मान करते हुए निश्चित रूप से निर्धारित एवं परम्परागत सीमा रेखाओं को मान्यता देनी चाहिए।

(vi) सभी अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का निपटारा शांतिपूर्ण ढंग से होना चाहिए।

(vii) सभी राष्ट्रों को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के इस प्रस्ताव को मान्यता देनी चाहिए कि उपनिवेशों को अविलम्ब और बिना किसी शर्त के स्वतन्त्रता मिलनी चाहिए।

(viii) सभी राष्ट्रों को मौलिक मानव-अधिकारों और स्वतन्त्रताओं का आदर करना चाहिए।

(ix) सभी राष्ट्रों को एक दूसरे की आर्थिक और मानव कल्याण के लिए परस्पर अधिकाधिक सहयोग देना चाहिए।

(x) अन्तर्राष्ट्रीय तनाव को दूर करने एवं निःशस्त्रीकरण के लिए सभी राष्ट्रों को मिल कर प्रयास करने चाहिए।

इस सम्मेलन में भी कुछ मतभेद उग्र रूप से प्रकट हुए जिनके कारण यह विफल होते होते बचा। किन्तु अन्त में ११ अक्टूबर १९६४ को सर्व सम्मति से एक विज्ञप्ति प्रसारित की गई जिसका शीर्षक था "शान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए कार्यक्रम।"[1] इस विज्ञप्ति में उपनिवेशवाद के पूर्ण अन्त की बात कही गई और यह घोषित किया गया कि स्वाधीनता प्रत्येक राष्ट्र का अधिकार है तथा पराधीन देश अपनी स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए उपनिवेशवादी राष्ट्रों के विरुद्ध शस्त्र प्रयोग कर सकते हैं। इस विज्ञप्ति अथवा घोषणापत्र में लगभग ८,३०० शब्दों में निम्नलिखित बातों पर विशेष रूप से बल दिया गया—

(१) यह सम्मेलन उपनिवेशिक मुक्ति आन्दोलन का समर्थन करता है और यह स्वीकार करता है कि यदि वहाँ की जनता विवश हो कर शक्ति और शस्त्रों का सहारा ले तो उसका यह कार्य अनुचित न होगा।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय विवादों का शांतिपूर्ण हल निकालना ही श्रेयस्कर है।

(३) विश्व की महान शक्तियों को पूर्ण निःशस्त्रीकरण की दिशा

में अग्रसर हो कर समझौता कर लेना चाहिए और अफ्रीका, दक्षिणी अमेरिका, यूरोप के कुछ भागों तथा विश्व के महा सागरों को अणु मुक्त क्षेत्र बनाना चाहिए ।

(४) संयुक्त राष्ट्र संघ के शांतिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों को संहिताबद्ध कर दिया जाना चाहिए ।

(५) क्यूबा स्थित नौ-सैनिक अड्डों को खाली कर दिया जाना चाहिए और साथ ही अमेरिका को व्यापारिक व आर्थिक घेरेबन्दी भी उठा लेनी चाहिए ।

(६) अदन स्थित ब्रिटिश सैनिक अड्डे समाप्त कर दिये जाने चाहिये ।

(७) दक्षिण अफ्रीका सरकार की रंगभेद नीतियों के विरुद्ध आर्थिक प्रतिबन्ध लगाने के बारे में सभी देशों को आगे आना चाहिए ।

(८) विभिन्न राजनीतिक और सामाजिक प्रणाली वाले देशों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व सम्भव और आवश्यक है तथा विश्व के सभी देशों को इस बात में विश्वास करना चाहिए ।

(९) किसी भी देश को दूसरे देशों की प्रादेशिक अखण्डता और राजनीतिक स्वतन्त्रता के विरुद्ध बल प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

(१०) अफ्रीका और एशिया की पुर्तगाली बस्तियों को बिना शर्त अविलम्ब स्वतन्त्र कर देना चाहिए और ऐसा न होने पर सभी तटस्थ देशों को उन देशों को आर्थिक व सैनिक सहायता देनी चाहिये ।

(११) दक्षिणी रोडेशिया की अल्प सम्मत सरकार की दमन और आतंकपूर्ण कार्यवाहियां बन्द की जानी चाहियें ।

(१२) संयुक्त राष्ट्र संघ को स्वाजीलैंड बासुतोलैंड और बेचुआनालैंड की प्रादेशिक अखण्डता की गारण्टी देनी चाहिए और इन्हें शीघ्रातिशीघ्र स्वतन्त्रता प्रदान करने की कार्यवाही करनी चाहिये ।

(१३) सभी सीमा सम्बन्धी विवादों को शांतिपूर्ण समझौतों द्वारा अथवा पंचनिर्णय द्वारा हल किया जाना चाहिए ।

(१४) जेनेवा समझौते पर हस्ताक्षर करने वाले राष्ट्रों को दक्षिण एशिया में स्थिति को बिगाड़ने वाली सम्भावित कार्यवाहियों से दूर रहना चाहिये । उन्हें दक्षिण पूर्वी एशिया में हस्तक्षेप समाप्त करना चाहिए और कम्बोडिया की तटस्थता व अखण्डता को मान्यता देते हुए उसका राजनीतिक हल प्राप्त करने के लिए जेनेवा सम्मेलन पुनः बुलाना चाहिये ।

(१५) संयुक्त राष्ट्र संघ को साम्यवादी चीन को सदस्यता प्रदान कर देनी चाहिये ।

काहिरा सम्मेलन की सफलता की कामना विश्व के सभी बड़े राष्ट्रों ने की। सोवियत रूस ने इस सम्मेलन के घोषणा-पत्र की सराहना करते हुए कहा—"काहिरा घोषणा में शांति सुदृढ़ करने उपनिवेशवाद के अवशेषों का उन्मूलन करने और विभिन्न राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्थाओं वाले राष्ट्रों में सहअस्तित्व जैसी उच्च भावनायें जो कि सभी लोगों के हित के भाव हैं, निहित है।"

नई दिल्ली सम्मेलन, १९६६

तीन प्रमुख तटस्थतावादी राष्ट्रों–यूगोस्लाविया, संयुक्त अरब गणराज्य और भारत के शासनाध्यक्षों का एक शिखर सम्मेलन २१ से २४ अक्टूबर, १९६६ तक नई दिल्ली में हुआ। इस सम्मेलन की मुख्य विशेषता यह थी कि राष्ट्रपति नासिर, राष्ट्रपति टीटो और प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने सम्मेलन में राजनीतिक प्रश्नों की अपेक्षा आर्थिक प्रश्नों पर अधिक ध्यान दिया तीनों ही महान नेता इस बात पर एक मत थे कि किसी भी देश की राजनीतिक स्वतन्त्रता को बनाये रखने के लिये उसकी आर्थिक स्वतन्त्रता अनिवार्य है। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के अविकसित देशों के आर्थिक विकास से विभिन्न पहलुओं पर विचार किया गया और विभिन्न आर्थिक समस्याओं के उपायों पर गम्भीरतापूर्वक चिन्तन हुआ।

सम्मेलन के बाद जो संयुक्त विज्ञप्ति प्रकाशित हुई उसमें इस बात पर गहरी चिन्ता प्रकट की गई कि हथियारों की होड़ बढ़ाने शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीति का पालन न करने और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के समाधान के लिये शक्ति का प्रयोग करने की प्रवृत्ति से विश्व शांति को खतरा बढ़ रहा है। विज्ञप्ति में अपील की गई कि इस बढ़ते हुए खतरे को नि:शस्त्रीकरण के द्वारा तथा अणु आयुधों के विस्तार पर रोक लगा कर समाप्त किया जाना चाहिये।

विज्ञप्ति में उपनिवेशवाद नव उपनिवेशवाद और जातिभेद के नये खतरों तथा वियतनाम की स्थिति पर भी चिन्ता व्यक्त की गई। इस बात की सराहना की गई कि अफ्रीकी एवं एशियाई राष्ट्र उपनिवेशवाद एवं जातिवाद के विरुद्ध संघर्ष कर रहे हैं। विज्ञप्ति में इस बात पर सन्तोष व्यक्त किया गया कि यूरोप में तनावपूर्ण स्थिति पूर्वापेक्षा कम है। विज्ञप्ति में इस बात को दोहराया गया कि उत्तरी वियतनाम पर बम वर्षा बिना किसी पूर्व शर्त के अविलम्ब बन्द की जानी चाहिये और किसी भी शांति वार्ता में दक्षिणी वियतनाम के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे (*National Liberation Front*) को प्रतिनिधित्व देना चाहिये। सम्मेलन द्वारा इस बात पर बल दिया गया कि वियतनाम की समस्या को बिना किसी बाह्य हस्तक्षेप के १९५४ के जनेवा सम्मेलन के अनुसार हल करना उचित है। विज्ञप्ति में दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण पश्चिम अफ्रीका और दक्षिणी रोडेशिया में जाति भेदभाव की तीव्र निन्दा की गई। यह भी आशा व्यक्त की गई कि पश्चिमी अफ्रीका अंगोला मोजम्बिक क्रिम्बावे तथाकथित पुर्तगाल गिनी एवं अदन आदि देश उपनिवेशवाद से शीघ्र मुक्ति प्राप्त करेंगे।

तीनों तटस्थ राष्ट्रों के नेताओं ने निःशस्त्रीकरण पर बल देते हुए इसके लिए एक विश्व सम्मेलन का आयोजन करने की अपील की जिसमें सभी देशों का प्रतिनिधित्व हो। तीनों ही नेताओं ने संयुक्त राष्ट्र संघ के महत्व और उसकी उपयोगिता में आस्था प्रकट की और उसे सशक्त बनाने के लिये अपने समर्थन की घोषणा की। उन्होंने निगुटता व शांतिपूर्ण सहअस्तित्व की नीतियों के लाभों को दोहराया और शांति के लिये उन्हें अनिवार्य बतलाया।

सम्मेलन की संयुक्त विज्ञप्ति में विश्व के सभी विकासशील देशों से अपील की गई कि सहायता देने वाले समृद्ध देश उन पर जो दबाव और शर्तें लाद रहे हैं उनका उन्हें पारस्परिक सहयोग से मुकाबला करना चाहिये। विकासशील देशों से अनुरोध किया गया कि वे अपने विकास को तीव्र गति देने के लिये नये कदम उठायें और प्रयास करें और अपने विभिन्न प्रयासों में समन्वय स्थापित करें। वे आपस में सहयोग बढ़ायें एक दूसरे से अधिक व्यापार करें एक दूसरे के तकनीकी और वैज्ञानिक अनुभव से लाभ उठायें और संयुक्त उद्योग स्थापित करें। यह आशा व्यक्त की गई कि इनके द्वारा उनके पारस्परिक लाभ में वृद्धि होगी।

BIBLIOGRAPHY

1. Deutscher Isaac Russia What next ?
2. Haines, C. Grove, ed The threat of Soviet Imperialism
3. Hunt, R. N C. The Theory and Practice of Communism.
4. Kolski W W The Soviet regime, Communism in practice
5. Nagy Ferenc The struggle behind the Iron Curtain
6. Schuman Frederick L. Soviet politics at home and abroad
7. Tara Covzio T A War and Peace in Soviet Diplomacy
8. Williams, William A . American Russian Relations
9. Yakhontoff Victor A. : U.S.S.R. Foreign Policy
10. Morgenthau and Thompson Principles and problems of International politics.
11. कैनेडी के ओजस्वी विचार (इण्डियन बुक कम्पनी दिल्ली)
12. Allen Henry C. Great Britain and the U S
13. Bullard Sir Reader Britain and the middle-East.
14. Fitzsimons, M A. The Foreign policy of the British Labour Govt.
15. Mckitterick, I B. M Conditions of British Foreign Policy
16. Reynolds, P A. : British Foreign Policy in the inter war years.
17. Soward E. H ed : The changing Commonwealth
18. Wolfers, Arnold Britain and France between two Wars
19. Panikkar K. M. In two Chinas
20. Nan Poria N J The Sino Indian dispute
21. S. Chandrashekher Communist China Today
22. Heller Andor No more Comrades
23. Henry Jan Escaree China then and now
24. Walker China Under Communism
25. Acheson Dean G. The Premises of American Policy
26. Hartmann Fredrick The Relations of Nations.
27. Kennedy J F The Strategy of Peace.
28. Langsome W C The World since 1919
29. Munroe, Dana Gardner The Latin American Republics
30. The Major addresses of the 35th President of the United States published by U S. I. S., New Delhi

106 Dean V M. ; Main Trends in post war American foreign policy
107 Edwards, Michael Asia in the European Age.
108 Harrison brain South-East Asia.
109 Hall, D G E. A History of South-East Asia.
110 Levi Werner India s Himalayan Border
111 Panikkar K. M Asia and Western dominance.
112. Guillian Robert The blue ants—600 millions Chinese under the Red Flag
113. Velky Through Unknown Tibet.
114 Faber The red army of China
115 Schwartz, Benjamin Chinese Communism and the rise of Mao
116 Walker Richard China under Communism The first five years
117 Donelon, Michael The ideas of American foreign policy
118 Baibey Thomas A America Faces Russia Russian-American Relations from early times to our day
119 Bartlett, Ruhl, ed The Record of American diplomacy
120 Bemis, Samuel F A diplomatic history of the United States.
121 Byrnes, James F Speaking Frankly
122. Dulles, John Foster War or peace.
123 Feis Herbert The China Tangle
124 Guerrant Edward O Roosevelt s Good Neighbour policy
125 Kennan, George F American diplomacy
126 Lippman Walter The Cold War A study in U S. Foreign policy
127 Perkins Dexter The American Approach to foreign policy
128, Pratt, Julius W America s colonial experiment.
129 Pratt, Julius W A history of U S. foreign policy
130. Reichaver Edwin O : Wanted An Asian policy
131 Rostow W W An American policy in Asia.
132. Tennenbaum Frank The American tradition in foreign policy
133 Hatch John Africa Today and Tomorrow
134 Hutt W H The Economics of Colour Bar
135 Hudson, Robert, D The Changing Map of Africa.
136. Segal, Ronald African Profiles.
137 Wal Bank Walter T Documents on Modern Africa
138. Savel, V and Vasilyev G An Outline History of Africa
139 Antonius George The Arab Awakening.
140 Ben Horsin E. The Middle East at Crossroads of History
141 Karanjia R. K. The Arab Dawn.

142. Karanjia R. K. China stands up
143. Pannikar K. M In Two Chinas.
144 Pannikar K. M Afro-Asian States and their Problems.
145. Snow, Edgar Red Star Over China.
146. Strong, Anna Lolus Dawn out of China
147 Wehl D The Birth of Indonesia.
148 Miraky & Stepanov Asia and Africa, A New Era.
149 Sakran, F C. Palestine Dilemma.
150. Fitzerald C. P Revolution in China
151 Aarnes, Leonord Soviet Light on Colonies
152. Crankshaw, E. ; The New Cold Wer Moscow Vers Peking.
153 Prasad B Origin of Indian Foreign policy
154 Coyajee, J C. India and the League of Nations.
155 Levi, W Free India in Asia.
156 Kothari, S. India s Emerging Foreign Policy
157 Rosinger L. K. , India and United States.
158 Publication Division Delhi Independance and After Speeches of Jawaharlal Nehru.
159 Government of India White Paper on India-China Relations
160 Ministry of External Affairs India Foreign Affairs Records
161 Breakes, R. N & Badi, M S The Diplomacy of India.
162. Poplai S. L. & Tolbot, P India and America.
163 Link (Weekly) New Delhi
164. Peter Lyons Neutralism
165 Ronald Segal Crisis of India.
166. Bertrand Russel The unarmed Victory
167 D R. Mankekar Twenty Two Fateful Days.
168. K. S Murty Indian Foreign Policy
169 दिनमान (साप्ताहिक) दिल्ली।
170 Beloff, M The Foreign Policy of Soviet Russia.
171 Carr E. H. German-Soviet Relations between the two World Wars 1919-1939
172 Crankshaw, E. Russia without Stalin.
173 Dallin D J Soviet Russia s Foreign policy
174 Molotov V M. Problems of Foreign Policy
175 Taracouzio T A. War and Peace in Soviet Diplomacy
176 Yakhontoff V A. U S S R. Foreign Policy

177 Vyshinsky A. On Eliminating the Danger of a New War and Strengthening the Peace and Security of Nations.
178 Report of the Officials of the Government of India and the People's Republic of China on the Boundry Question.
179 Chalmers. H World Trade politics.
180 Mendes France, P ; Economic and Action
181 Gunther J Inside Africa
182 Lenzowski, G Middle East in World Affairs.
183 Lequeur W Z. ; Communism and Nationalism in the Middle East
184 Bengurion, D The Rebirth and Destiny of Israel
185 Bowles, Chester Ideas, People and Peace.
186. Kirk, Grayson ; The Changing Environment of International Relations

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य और प्रयोजन
[Aims & Purposes of U N O]

राष्ट्र संघ का स्वरूप निर्धारण करते समय इसके व्यवस्थापकों ने उन लक्ष्यों को अपनी दृष्टि में रखा था जिनको वे इसके माध्यम से प्राप्त करना चाहते थे। संयुक्त राष्ट्र संघ का चार्टर इसके लक्ष्यों की स्पष्ट व्यवस्था करता है।

चार्टर की प्रस्तावना के आरम्भ में सदस्य राष्ट्रों के द्वारा अपने विश्व शांति और सुरक्षा सम्बन्धी संकल्पों को प्रकट करते हुए कहा गया है कि—

आगामी पीढ़ियों को युद्ध की तबाही से बचाने के लिये जिससे कि हमारे जीवन काल में ही दो बार मानवता को अवर्णनीय कष्ट मिला है व्यक्ति के मान और मूल्य में विश्वास को पुनः दोहराने के लिये संधियों और अन्य अन्तर्राष्ट्रीय विधि-स्रोतों से निकलने वाले दायित्वों का सद्भावना पूर्वक निर्वाह करने के लिये और उत्तरोत्तर आर्थिक एवं सामाजिक प्रगति के लिये हम संयुक्त राष्ट्र संघ के लोगों ने—

"सहिष्णुता से कार्य करने और अच्छे पड़ौसियों की भाँति एक दूसरे के साथ शांति से रहने"

अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को स्थिर रखने के लिये अपनी शक्ति को संगठित करने"

केवल सर्वहित को छोड़कर सशस्त्र शक्ति का उपयोग न करने के सिद्धान्त का अनुसरण करने,"

अन्तर्राष्ट्रीय संगठन से मानव का आर्थिक तथा सामाजिक विकास के लिये अपने प्रयासों को सम्मिलित करने का निश्चय किया है।" हमारी सरकारों ने संयुक्त राष्ट्र संघ चार्टर पर अपनी सहमति प्रकट की है और इस प्रकार हम संयुक्त राष्ट्र नामक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्थापित करते हैं।"*

---

* We the people of the United Nations determined to save succeeding generations from the scourge of war which twice in our lifetime has brought untold sorrow to mankind and

to reaffirm faith in fundamental human rights, in the dignity and worth of the human person, in the equal rights of men and women and of nations large and small and

to establish conditions under which justice and respect for the obligations arising from treaties and other sources of international law can be maintained, and

to promote social progress and better standards of life in large freedom, and for these ends to practice tolerance and live together in peace with one another as good neighbours; and

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा पत्र की १११ धाराओं में उसके उद्देश्यों और सिद्धान्तों की विशद् व्याख्या की गई है। संयुक्त राष्ट्र संघ के अनेक उद्देश्य हैं जिन्हें विविध कार्यक्रमों के द्वारा पूर्ण किया जाता है। ये उद्देश्य हैं—

"(१) दुनिया में शांति और सुरक्षा बनाये रखना और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिये शान्ति पर होने वाले आक्रमणों को रोकना तथा उनके विरुद्ध प्रभावपूर्ण सम्मिलित कार्यवाही करना। न्यायपूर्ण सिद्धान्तों एवं अन्तर्राष्ट्रीय कानून के अनुसार शान्ति भंग करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं अथवा स्थितियों पर शान्तियुक्त साधनों से समझौता अथवा आपसी निर्णय करवाना।

(२) आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के आधार पर राष्ट्रों के बीच मित्रता पूर्ण सम्बन्धों का विकास करवाना और सार्वभौम शान्ति का बल प्रदान करने के लिये अन्य आवश्यक कदम उठाना।

(३) दुनिया की आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक या अन्य मानवीय समस्याओं को हल करने में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना तथा मूलवंश लिंग भाषा या धर्म भेद के बिना, मानव मात्र के लिये मानव अधिकारों और स्वतंत्रता के मूल अधिकारों को बढ़ाना और प्रोत्साहन देना, तथा

(४) उक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये राष्ट्रों की कोशिशों में सामंजस्य स्थापित करना और उसके लिये एक केन्द्र का कार्य करना है।"†

---

to unite our strength to maintain international peace and security and

to ensure, by the acceptance of principles and the institutions of methods that armed force shall not be used save in the common interest and

to employe international machinery for the promotion of the economic and social advancement of all peoples have resolved to combine our efforts to accomplish these aims.

Accordingly our respective Governments, through representatives assembled in the city of San Francisco who have exhibited their full powers found to be in good and due form, have agreed to the present Charter of the United Nations and do hereby establish an international organisation to be known as the United Nations.,

†"The purpose of the United Nations are

1 To mantain international peace and security and to that end to take effective collective measures

सदस्यता (Membership)—संयुक्त राष्ट्र संघ के वे सब राष्ट्र सदस्य हैं जिन्होंने सान फ्रान्सिसको में हस्ताक्षर किये थे। इनकी संख्या ५१ थी। संघ की सदस्यता उन सब राज्यों के लिये खुली है जो शान्तिप्रिय हों और संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में विश्वास रखते हों।

संघ के अनुच्छेद ४ [Article-4] में नये सदस्य बनने के लिये निम्न लिखित शर्तें रखी गई हैं जिनका मानना अनिवार्य है—

१ वह एक राज्य हो
२ शान्तिप्रिय हो
३ चार्टर के द्वारा प्रस्तावित कर्त्तव्यों को स्वीकार करता हो
४ संघ के निर्णय के अनुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने में समर्थ हो
५ संघ के निर्णयानुसार उन कर्त्तव्यों को पूरा करने की इच्छा रखता हो।

उपरोक्त शर्तों को पूरा करने वाला राज्य संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य तब ही बन सकता है जब कि महासभा या साधारण सभा (General Assembly) के २/३ बहुमत और सुरक्षा परिषद् (Security Council) की स्वीकृति प्राप्त हो। सुरक्षा परिषद् के ११ में से ७ और अब १५ में से ९ सदस्यों का बहुमत तथा स्थायी सदस्यों का निर्णायक मत उसके पक्ष में होना चाहिये। इतना ही नहीं बल्कि साधारण सभा में निर्णय लेने से पहले सुरक्षा परिषद् की स्वीकृति आवश्यक है।

---

for the prevention and removal of threats to the peace, and for the suppression of acts of aggression or other breaches of the peace, and to bring about by peaceful means, and in conformity with the principles of justice and international law adjustment or settlement of international disputes or situations which might lead to a breach of the peace

2. To develop friendly relations among nations based on respect for the principle of equal rights and self determination of peoples, and to take other appropriate measures to strengthen universal peace

3 To achieve international cooperation in solving international problems of an economic, social, cultural, or humanitarian character and in promoting and encouraging respect for human rights and for fundamental freedoms for all without distinction as to race, sex language or religion and

4 To be a centre for harmonizing the actions in the attainment of these common ends.

सदस्यता समाप्त करने के सम्बन्ध में कोई उल्लेख नहीं किया गया है। अनुच्छेद ५ और ६ के अनुसार संघ के किसी भी सदस्य को चार्टर के सिद्धान्तों को निरन्तर भंग करने पर सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा संघ से बाहर निकाला जा सकता है या उसकी सभी सुविधायें रोकी जा सकती हैं।

यह भी आवश्यक है कि सभी सदस्य राष्ट्र अपने समझौतों और संधियों को संघ के कार्यालय में रजिस्टर करवायें। चार्टर में संशोधन ५ बड़े राष्ट्रों की सहमति पर महासभा द्वारा २।३ बहुमत से स्वीकृति करने पर ही किया जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान सदस्यों की संख्या कुल १११ है। ये सदस्य इस प्रकार हैं—

संघ के प्रारम्भिक ५१ सदस्य थे अ—अर्जेण्टाइना आस्ट्रेलिया बेल्जियम बोलिविया ब्राजील बाइलोरशिया कनाडा चिली चीन कोलम्बिया कोस्टारिका क्यूबा चैकोस्लोवाकिया डेन्मार्क डामिनिकन रिपब्लिक इक्वेडोर मिस्र अल साल्वाडोर ईथियोपिया फ्रान्स यूनान ग्वाटेमाला होण्डूरास भारत, ईरान ईराक लेबनान लाइबीरिया लक्जमबर्ग मेक्सिको हालैण्ड न्यूजीलैण्ड निकारगुआ नार्वे पानामा पैरागुए, पेरू फिलिप्पाइन द्वीप समूह सउदी अरब सीरिया टर्की यूक्रेन दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन सोवियत यूनियन ग्रेट ब्रिटेन सं० रा० अमरीका युरुग्वे वेनजुएला यूगोस्लाविया और पोलैण्ड। इसके बाद निम्नलिखित देश इसके और सदस्य बने— अफगानिस्तान आइसलैण्ड स्वीडन थाईलैण्ड [१९४६] पाकिस्तान, यमन [१९४७] बर्मा [१९४८] इजरायल [१९४९] इण्डोनेशिया [१९५०] स्पेन [१९५५]।

निम्नलिखित १६ राज्यों को बड़े विवाद के बाद दिसम्बर १९५५ में सदस्य बनाया गया—अल्बानिया आस्ट्रिया बल्गेरिया सीलोन कम्बोडिया फिनलैण्ड हंगरी आयरिश रिपब्लिक इटली जोर्डन लिबिया लाओस नेपाल पुर्तगाल रूमानिया और स्पेन। इसके बाद इसके सदस्यों की कुल संख्या ७६ हो गयी। १९५६ में जापान इसका ८० वां सदस्य बना। १९५७ में घाना और मलाया के सदस्य बनने से यह संख्या ८२ हो गई। १२ दिसम्बर १९५९ को गिनी इसका सदस्य बना। १९६० में अफ्रीका में स्वतंत्र हुए १५ नये राज्यों [कैमरून गणराज्य टोगोलैण्ड गणराज्य मलगासी (मैडागास्कर) गणराज्य डहोमी नाइजर अपर वोल्टा आइवरी कोस्ट सोमालिया गणराज्य चैडोन तथा मध्य अफ्रीका के गणराज्य कांगो (लियोपोल्डविल) माली सेनेगाल तथा नाइजीरिया] तथा साइप्रस के इसका सदस्य बनने से संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या ९९ हो गई। इसके बाद दिसम्बर १९६१ तक निम्नलिखित १४ राज्यों को कोष्ठों में दी गई तिथियों में इसके सदस्य बने—सियारालियोन (१ अक्टूबर १९६१) मंगोलिया (२० अक्टूबर १९६१) मारीतानिया (२७ अक्टूबर १९६१) टांगानिका (२४ नवम्बर १९६१) जमैका तथा रुआण्डा (१८ सितम्बर १९६२) ट्रिनीडाड टोबेगो तथा बरुंडी (१८ सितम्बर १९६२) अल्जीरिया (८ अक्टूबर १९६२)

युगान्डा (२५ अक्टूबर १९६२) कुवैत (१४ मई १९६३) जंजीबार व केनिया (१२ दिसम्बर १९६३)। इस प्रकार १९६४ के प्रारम्भ मे सयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की कुल संख्या ११३ थी। १९६४ में मलावी (न्यासालैंड) माल्टा तथा उत्तरी रोडेशिया (भूतपूर्व रोडेशिया) एवं १९६५ में सिंगापुर और मालदिव द्वीप समूह सघ के सदस्य बने। महासभा के सितम्बर १९६ के अधिवेशन के समय इसके सदस्यों की सख्या ११८ हो गई है। तत्पश्चात् गुयाना बोत्सवाना लिसोथे और बारबडास के सदस्य बनने पर इसकी सदस्य सख्या १२२ हो गई है।

सघ की सदस्यता के बारे मे यह और उल्लेखनीय है कि-

१ इन्डोनेशिया ने मार्च १९६५ में सयुक्त राष्ट्र सघ छोड़ दिया था, परन्तु अब वह पुनः सदस्य बन गया है

२ मलाया सघ १७ सितम्बर, १९५७ को सयुक्त राष्ट्र सघ में शामिल हुआ। १६ सितम्बर १९६३ को इसका नाम बदल कर मलेशिया हो गया

३ सीरिया २४ अक्टूबर १९४५ को सयुक्त राष्ट्र सघ का सदस्य बना था। २१ फरवरी १९५८ को जनमत सग्रह के द्वारा वह सयुक्त अरब गणराज्य में मिल गया। १३ अक्टूबर, १९६१ को उसने पुन सयुक्त अरब गणराज्य से अलग होकर अपनी सदस्यता प्राप्त करली तथा-

४ तंगानिका और जंजीबार २६ अप्रैल १९६४ को परस्पर मिल गए और अब तन्जानिया गणराज्य के नाम से सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य हैं

सहयोग के मूल आधार—सयुक्त राष्ट्र सघ के सदस्य राष्ट्रों के अधिकारों और जिम्मेवारियों के बारे में अनुच्छेद २ में यह स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक राष्ट्र को वैयक्तिक और सामूहिक रूप से इसका पालन करना होगा प्रत्येक सदस्य राज्य को सात साधारण शर्तों के अन्तर्गत कार्य करना होता है। सयुक्त राष्ट्र सघ के शान्ति और सहयोग स्थापना के कार्य मे ये सामान्य शर्तें इस अन्तर्राष्ट्रीय सगठन की आधार शिलाएं हैं। ये शर्तें अग्र करती है कि—

१ सयुक्त राष्ट्र सघ अपने सभी सदस्य राज्यों की प्रभुत्व शक्ति की समानता के आधार पर आधारित है।

२ सघ के सभी सदस्य चार्टर के अधीन अपनी जिम्मेवारियों को ठीक नियमों से पूरा करेगा।

३ वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को शान्तिपूर्वक उपायो से इस प्रकार हल करेंगे कि जिससे शान्ति सुरक्षा और न्याय को कोई खतरा पैदा न हो।

४ वे अपने अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में आक्रमण की धमकी देने अथवा दूसरे राज्य के प्रति बल प्रयोग से दूर रहेंगे।

५ सयुक्त राष्ट्र सघ द्वारा चार्टर अनुसार, की जाने वाली प्रत्येक कार्यवाही में सभी हर प्रकार की सहायता देंगे और उन राज्यों की

मदद नहीं करेंगे जिसके विरुद्ध रोकथाम या किसी फैसले को लागू करने के लिये कार्यवाही भी जा रही हो।

६ राष्ट्र संघ विश्व के गैर-सदस्य राज्यों की गतिविधियों के प्रति इतना सजग अवश्य होगा कि वे जहाँ तक सम्भव हो ऐसा काम न करें जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा को खतरे में डाल दें।

७ इस चार्टर का कोई भी अंश संयुक्त राष्ट्र को किसी सदस्य राज्य के विशुद्ध घरेलू मामले में दखल करने का अधिकार नहीं देता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग (Organs of the U N O)

संयुक्त राष्ट्र संघ के ६ प्रधान अंग हैं—

१ महासभा (Genral Assembly)
२ सुरक्षा परिषद् (Security Council)
३ आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic & Social Council)
४ न्यास परिषद् (Trusteeship Council)
५ अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
६ सचिवालय (Secretariat)

इसके अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्र संघ सहायक अंगों की स्थापना भी र सकता है।* अपने इसी आधार के अन्तर्गत कर्तव्यों का ठीक ढंग निर्वाह करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने अनेक विशिष्ट समितियों Specialised Agencies) की स्थापना की है जैसे अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ I L O) यूनेस्को (UNESCO) आदि।

संघ के महामन्त्री और संघ का बजट—सन् १९४६ में सुरक्षा रिषद् की सिफारिश पर साधारण सभा ने संयुक्त राष्ट्र संघ का पहला महा न्त्री नार्वे के श्रमिक दल के नेता और भूतपूर्व प्रधान मन्त्री ट्रिग्वे ली Trygave Halfdan Lie) को नियुक्त किया था। श्री ट्रिग्वे ली ने ७ र्ष तक बड़ी निष्ठापूर्वक और घोर परिश्रम के साथ अपना कार्य सम्पन्न किया। किन्तु इस पर भी जब साम्यवादी रूस द्वारा विरोध किया गया तो उन्होंने त्याग-पत्र दे दिया। श्री ट्रिग्वे ली के बाद सन् १९५३ में उनके स्थान र स्वीडन के वित्त विशेषज्ञ डाग हैमरशोल्ड (Hammarskjold) संघ के महामन्त्री बने। सन् १९६१ में इनकी मृत्यु पर बर्मा के ऊथान्ट (U Thant) ३० नवम्बर, १९६२ को महामन्त्री निर्वाचित हुए जो अभी तक इस पद पर आसीन हैं।

---

* "There are established as the principle organs of the United Nations A General Assembly a Security Council and Economic and Social Council a Trusteeship Council, and International Court of Justice and a Secretariat

Such subsidiyry organs as may be found necessary may be established in accordance with the present charter (Article 7)

संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट १६४८ में साढ़े तीन करोड़ डालर
था और १६६० में ६११४६७०० अमेरिकन डालर। संघ के बजट की राशि
सदस्य राज्यों द्वारा दिये जाने वाले अनुदानों से पूरी की जाती है। १६६
में इसका सबसे बड़ा हिस्सा ३२.५१ प्रतिशत संयुक्त राज्य अमरीका ने
था। इसके बाद रूस ने १३.६२ प्रतिशत और भारत ने २.६०
अनुदान दिया।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का ढांचा (रूप विधान) या संगठन (Structure or Organisation of the United Nations)

जैसा कि बताया जा चुका है चार्टर के ७वें अनुच्छेद में संयुक्त राष्ट्
के ६ प्रमुख अंगों की व्यवस्था की है—१ साधारण सभा २ सुरक्षा परि
३ आर्थिक और सामाजिक परिषद ४ ट्रस्टीशिप परिषद ५. अन्तर्राष्ट्री
न्यायालय और ६ सचिवालय।

हम यहां इन ६ अंगों की एक–एक करके व्याख्या करेंगे।

साधारणसभा या महासभा (General Assembly)

साधारण सभा [महासभा अथवा वृहद् सभा] जिसे सीनेटर वैंडेनब
संसार की नगर सभा' की संज्ञा दी है संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थापिका
कही जा सकती है यद्यपि इसके प्रस्तावों को बाध्यकारी सत्ता प्राप्त नहीं
इसमें संयुक्त राष्ट्र के सभी राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। प्रत्ये
सदस्य राज्य को महासभा या साधारण सभा में ५ प्रतिनिधि तथा ५ वैकल्पि
प्रतिनिधि [Alternate delegates] भेजने का अधिकार है किन्तु वह म
[Vote] एक ही दे सकता है। साधारण सभा में 'एक राज्य एक वोट"
सिद्धान्त को मान्यता देकर छोटे और बड़े राष्ट्रों के भेद को समाप्त कर दिया
है। इसकी प्रक्रिया के सम्बन्ध में चार्टर में लिखा गया है कि "किसी सदस्य का
प्रतिनिधि मंडल ५ प्रतिनिधियों ५ वैकल्पिक प्रतिनिधियों तथा उतने ही मंत्रणा
देने वालों विशिष्ट विषयक मंत्रणा देने वालों विशेषज्ञों तथा उसी प्रकार की
स्थिति के उतने ही व्यक्तियों से जितने कि प्रतिनिधि मंडल द्वारा अपेक्षित सि
जाए, अधिक न होगा।"

साधारण सभा का एक अध्यक्ष और ७ उपाध्यक्ष होते हैं। सभा
प्रत्येक अधिवेशन के लिये अपना सभापति चुनती है। यह उल्लेखनीय है कि
इसके ८वें अधिवेशन के लिये भारतीय प्रतिनिधि श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डि
को सभापति निर्वाचित किया गया था। विश्व की वह पहली और अभी तक
एक मात्र महिला हैं जिसे इस प्रकार का सम्मान प्राप्त हुआ।

साधारण सभा या महा सभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार सितम्ब
महिने के तीसरे बृहस्पतिवार से प्रारम्भ होता है। वर्ष में एक अधिवेशन होना
तो अनिवार्य ही है परन्तु विशेष अधिवेशन महामंत्री सुरक्षा परिषद की अथवा
संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर बुला सकता है।
उदाहरणार्थ ऐसे अधिवेशन पैलेस्टाइन की समस्या पर २८ अप्रैल से १५ मई
१६४७ को तथा १६ अप्रैल से १४ मई, १६४८ को स्वेजनहर की स्थिति पर
१ से १ नवम्बर १६५६ को तथा हंगरी की स्थिति पर ४ से

१९५१ का सेवनान पर ८ से २१ अगस्त, १९५८ को और कोर्मों पर १७ से २० सितम्बर, १९६० को बुलाये गये थे ।

महासभा में मतदान की प्रणाली इस सिद्धान्त पर आधारित है कि महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिये २।३ बहुमत और साधारण प्रश्नों के निर्णय के लिये उपस्थित सदस्यों का साधारण बहुमत पर्याप्त होना चाहिये । चार्टर के अनुच्छेद १८ के अनुसार * महत्वपूर्ण प्रश्न ये माने गये हैं—१ अन्तर्राष्ट्रीय शांति की सुरक्षा संबंधी सिफारिशें २ सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों का चुनाव ३ आर्थिक तथा सामाजिक परिषद के सदस्यों का चुनाव ४ संरक्षण परिषद के सदस्यों का चुनाव ५ संयुक्त राष्ट्रसंघ के नये सदस्य बनाना ६ सदस्यों के अधिकारों और सुविधाओं का स्थगन ७ संरक्षण व्यवस्था को कार्यान्वित करने सम्बन्धी प्रश्न एवं बजट सम्बन्धी धारा १९ के अनुसार उस सदस्य को जिसने संयुक्त राष्ट्रसंघ को अपना पूरा चन्दा नहीं दिया है मत देने का अधिकार नहीं होता किन्तु महासभा किसी ऐसे सदस्य को मत [illegible] की अनुमति प्रदान कर सकती है जिसकी तरफ से उसे यह सन्तोष हो गया हो कि चन्दे का भुगतान करना सदस्य राष्ट्र के नियन्त्रण से बाहर है The failure to pay is due to Conditions beyond the Control of the Member)

महासभा का कार्य ७ मुख्य समितियों में बटा हुआ है । प्रत्येक सदस्य इनमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है । ये समितियां इस प्रकार हैं—

---

*"Article 18"—1 Each member of the General Assembly shall have one vote.

2. Decisions of the General Assembly on important questions shall be made by a two-thirds majority of the members present and voting. These questions shall include; recommendations with respect to the maintenance of international peace and security the election of the nonpermanent members of the Security Council the election of the members of the Trusteeship Council in accordance with paragraph 1 (c) of Article 86, the admission of new Members to the United Nations. the suspension of the rights and privileges of membership the expulsion of Members, questions relating to the operation of the trusteeship system and budgetary questions

3 Decisions on others questions, including the determination of additional categories of questions to be decided by a two-third majority, shall be made by a majority of the members present voting.

१ राजनीतिक और सुरक्षा समिति [First Political and Security Committee] इसमें शस्त्रास्त्रों का नियन्त्रण भी सम्मिलित है।
२ आर्थिक और वित्तीय समिति (Economic and Financial Committee)
३ सामाजिक मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति (Social humanitarian and Cultural Committee)
४ न्यास समिति (Trusteeship Committee)
५ प्रशासनात्मक एवं बजट कमेटी (Administrative Budgetary Committee)
६ वैधानिक समिति (Legal Committee)
७ विशेष राजनीतिक समिति (Special Political Committee)

इनके अतिरिक्त २ अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियां होती हैं १ सामान्य समिति—इसका कार्य महासभा को तथा इसकी विभिन्न समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करना होता है २ प्रमाण पत्र समिति (Credential Committee)—यह प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जांच करती है।

काम चलाऊ समितियों की नियुक्ति महासभा अथवा इसकी किसी भी अन्य समिति द्वारा विशेष उद्देश्यों की पूर्ति के लिये की जा सकती है। ऐसी समितियों के उदाहरण हैं—संघीय विभाग परामर्शदात्री समिति अणु शक्ति के शांतिपूर्ण प्रयोग सम्बन्धी परामर्शदात्री समिति कोरिया के एकीकरण तथा पुनर्स्थापन सम्बन्धी संघीय आयोग फिलिस्तीन के लिए संघीय आयोग आदि।

महासभा के कार्यों की प्रकृति मुख्य रूप से निरीक्षणात्मक एवं अन्वेषणात्मक होती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की अर्थ व्यवस्था का संचालन इसके हाथ ही रहता है। यह न्यास परिषद के अधीन देशों से सम्बन्धित कुछ काम भी करती है। इसके अतिरिक्त सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर नये देशों को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाती है। सुरक्षा परिषद के साथ मिल कर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का चुनाव करती है। चार्टर में महासभा को अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार करने की शक्ति प्रदान की है। यह उन प्रयासों की खोज करती है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा प्राप्त की जा सकती हो तथा विश्व के राष्ट्रों के मध्य पारस्परिक सहयोग की स्थापना की जा सकती हो। महासभा शस्त्रों को सीमित करने और निःशस्त्रीकरण के विषयों पर विचार करती है। विश्व में शांति स्थापित करना इसका प्रमुख ध्येय है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह कोई भी सम्भव कदम उठा सकती है। संघ के अन्य अंगों की शक्ति की सीमा के सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद उत्पन्न होने पर उसका निर्णय यहां सभा द्वारा ही किया जाता है। सुरक्षा परिषद का यह कर्तव्य है कि वह अपनी वार्षिक तथा विशेष रिपोर्ट महासभा को प्रस्तुत करे। महासभा उन पर विचार करती है। संघ का बजट भी इसी के द्वारा स्वीकार किया जाता है

तथा यही इस बात का निर्णय करती है कि किस देश को संघ के खर्चे का कितना भाग वहन करना चाहिये। इस तरह महासभा अनेक कार्य करती है। इन कार्यों को करते समय सभा द्वारा वादविवाद किया जाता है, सिफारिशें की जाती हैं, ध्यान आकर्षित किया जाता है, सूचित किया जाता है और आगे अध्ययन करने की पहल की जाती है। जिन विषयों पर सुरक्षा परिषद् विचार कर रही हो उन पर महासभा विचार तब कर सकती है जब कि सुरक्षा परिषद् द्वारा ऐसा करने के लिये अनुरोध किया जाए।

महासभा के अधिकार और कार्य—महासभा के कार्यों की प्रकृति मुख्य रूप से निरीक्षणात्मक एवं अन्वेषणात्मक होती है। महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अधिकार क्षेत्र में आने वाले सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इनमें इसके किसी भी उपांग के कार्यों और अधिकारों से सम्बन्धित विषय भी सम्मिलित हैं। महासभा के अधिकारों और कार्यों को निम्नलिखित रूप में प्रकट किया जा सकता है —

(१) संयुक्त राष्ट्र संघ की अर्थ व्यवस्था का संचालन महासभा के ही हाथों में रहता है। महासभा को संघ के बीच तथा धारा ५७ में वर्णित विशेष एजेन्सियों के वार्षिक बजट पर विचार करने और निर्णय करने का अधिकार है। यही इस बात का निर्णय करती है कि किस देश को संघ के खर्चे का कितना भाग वहन करना चाहिये।

(२) महासभा को यह अधिकार है कि वह इस प्रश्न पर विचार करे कि अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की व्यवस्था की जाए। अपने इस अधिकार के अन्तर्गत महासभा उन उपायों की खोज करती है जिनके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा प्राप्त की जा सकती है और विश्व के राष्ट्रों के बीच पारस्परिक सहयोग की स्थापना की जा सकती है। विश्व में शान्ति स्थापित करना इसका प्रमुख लक्ष्य है और इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये यह कोई भी कदम उठा सकती है।

(३) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की व्यवस्था जिन सिद्धान्तों पर की जानी चाहिये उनके सम्बन्ध में यह सभा सुरक्षा परिषद् को अथवा सदस्यों को या दोनों को ही अपनी सिफारिशें प्रस्तुत कर सकती है।

(४) महासभा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के लिये खतरा उपस्थित करने वाली प्रत्येक समस्या पर सुरक्षा परिषद् के अनुरोध पर अथवा किसी सदस्य राष्ट्र के अनुरोध पर अथवा घोषणा-पत्र की ३५वीं धारा के अनुसार ऐसे किसी भी राष्ट्र के अनुरोध पर भी जो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं है विचार करने का अधिकार रखती है। इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि ऐसी किसी भी शिकायत का जिसके बारे में महासभा कुछ कार्यवाही करना आवश्यक समझती है, सुरक्षा परिषद् से बहस के पहले अथवा बाद में परामर्श अवश्य किया जाना चाहिये।

(५) महासभा ऐसी अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं एवं परिस्थितियों के बारे में सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित कर सकती है, जिनके फलस्वरूप उसकी

...ति में विश्व शांति के लिये कोई खतरा पैदा हो गया अथवा खतरा पैदा होने की संभावना हो।

(६) अनुच्छेद १३ के अनुसार राजनीतिक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शैक्षणिक और स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को प्रोत्साहन देने के लिये महासभा प्रारम्भिक अध्ययन और खोज-पड़ताल की व्यवस्था कर सकती है और इस विषय में अपनी सिफारिशें भी प्रस्तुत कर सकती है। साथ ही जाति, लिंग भाषा अथवा धर्म का भेदभाव किये बिना सबको मानव अधिकार और मूल स्वतंत्रता दिलाने में सहायता देना इसका कर्तव्य है।

(७) अनुच्छेद १४ के अनुसार यदि किसी कारण से कोई ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो जाए जिससे महासभा की राय में राष्ट्रों के साधारण कल्याण या राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्धों को ठेस पहुंचती है तो १२वें अनुच्छेद के उपबन्धों के अधीन रहते हुए महासभा उस परिस्थिति को शांतिपूर्ण ढंग से सुलझाने के लिये सिफारिश कर सकती है।

(८) अनुच्छेद १५ के अनुसार महासभा सुरक्षा परिषद् से उसकी वार्षिक रिपोर्ट मांगती है और उन पर विचार करती है। इन रिपोर्टों में सुरक्षा परिषद् को उन सारी कार्यवाहियों का लेखा-जोखा रहना आवश्यक है जो सुरक्षा परिषद् अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाये रखने के लिए कर चुकी है अथवा करने वाली है। महासभा संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंगों से भी अपनी अपनी रिपोर्टें मांग सकती है और उन पर विचार कर सकती है।

(९) चार्टर के अनुच्छेद ५७ में अन्तर सरकारी समझौते द्वारा प्रस्तुत अन्तर्राष्ट्रीय उत्तरदायित्वों से सम्पन्न आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक, शैक्षणिक एवं स्वास्थ्य सम्बन्धी क्षेत्रों में विशेष माध्यम खोले जाने का महासभा द्वारा आदेश दिया जा सकता है। आर्थिक और सामाजिक परिषद् इनमें से किसी भी माध्यम के साथ समझौता करके उसे संयुक्त राष्ट्र संघ में सम्मिलित करा सकती है। ऐसे समस्त समझौता के प्रति महासभा का अनुमोदन करना आवश्यक है। महासभा को यह अधिकार है कि वह इन माध्यमों की नीतियों और गतिविधियों को परस्पर सहयोगपूर्ण बनाने के लिये आवश्यक सिफारिश करे।

(१०) अनुच्छेद ८५ के अनुसार न्यास समझौते की शर्तों और उनमें परिवर्तन तथा संशोधन के अनुमोदन सहित युद्ध के लिये अनिश्चित क्षेत्रों के न्यास समझौतों के जितने भी काम संयुक्त राष्ट्र संघ के जिम्मे हों उनको महासभा पूरा करती है। इस सम्बन्ध में यह भी व्यवस्था है कि महासभा के अधिकार में काम करते हुए न्यास परिषद् इन कामों को पूरा करने में महासभा की सहायता करेगी।

(११) महासभा को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करने होते हैं। उपस्थित सदस्यों के २/३ बहुमत से यह सुरक्षा परिषद के ६ अस्थायी सदस्यों, आर्थिक और सामाजिक परिषद् के १८ सदस्यों तथा न्यास परिषद् के निर्वाचित...

सदस्यों का चयन करती है। प्रतिवर्ष यह सुरक्षा परिषद् के तीन सदस्यों का दो साल के लिये और आर्थिक तथा सामाजिक परिषद् के ६ सदस्यों का ३ वर्ष के लिये नाम निर्दिष्ट करती है। साथ ही साथ किन्तु पृथक मतदान द्वारा महासभा और सुरक्षा परिषद् बिल्कुल अलग अलग अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन करती है। महासभा सुरक्षा परिषद् के परामर्श पर संघ के महासचिव की नियुक्ति करती है। इसी तरह सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर ही यह संयुक्त राष्ट्र संघ में नये सदस्यों को सदस्यता प्रदान करती है।

(१२) संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में संशोधन करने की सिफारिश भी महासभा द्वारा की जा सकती है परन्तु इस सम्बन्ध में यह आवश्यक है कि महासभा के २/३ सदस्यों द्वारा इसका समर्थन किया जाय। यह २/३ बहुमत प्राप्त होने पर ही संशोधन सुरक्षा परिषद में विचारार्थ उपस्थित किया जा सकता है। सुरक्षा परिषद में भी २/३ बहुमत से (जिसमें ५ बड़े राष्ट्रों का होना आवश्यक है) स्वीकृति होने पर ही घोषणा-पत्र में संशोधन किया जा सकता है।

लघु सभा (Little Assembly)—यह उल्लेखनीय है कि महासभा के राजनीतिक कार्य धीरे धीरे इतना बढ़ा दिया गया और बढ़ता जा रहा है जितना कि संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने सोचा भी न था। महासभा की शक्ति में वृद्धि होने का मुख्य कारण यह है कि द्वितीय महायुद्ध के बाद महाशक्तियों के बीच जो शीतयुद्ध छिड़ा उसके कारण सुरक्षा परिषद अपनी शक्तियों का प्रयोग करने में प्रभावहीन हो गई। निषेधाधिकार का प्रयोग एवं महाशक्तियों के बीच की खींचा-तानी के कारण यह सोचा जाने लगा कि सुरक्षा परिषद आक्रमण को रोकने तथा शांति के शत्रुओं का सामना करने के लिए एक मत नहीं हो सकती अतः कोई आवश्यक कदम भी नहीं उठा सकती और इसलिए कोई उपाय किया जाना चाहिये। यही सोच कर १३ नवम्बर १९४७ को महासभा द्वारा एक 'अन्तरिम समिति (Interim Committee)' नामक एक नया सहायक अंग स्थापित किया गया जिसे सामान्य रूप से 'छोटी असेम्बली' या लघु सभा (Little Committee) कहा जाता है। इस असेम्बली या अन्तरिम समिति" पर यह दायित्व डाला गया कि वह सभा का अधिवेशन न होने के काल में शांति और सुरक्षा के प्रश्नों पर अपने प्रस्ताव प्रस्तुत करे। इसके लिए इसे जांच कमीशन नियत करने आवश्यक अन्वेषण कराने और महासभा को महासभा का विशेष अधिवेशन बुलाने की सिफारिश करने का अधिकार दिया गया। इसकी स्थिति को सुस्पष्ट करने के लिए महासभा ने यह भी निश्चय किया कि "अन्तरिम समिति चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद के दायित्वों का ध्यान रखेगी। यह उल्लेखनीय है कि महासभा के समान इस समिति को भी संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राष्ट्रों का प्रतिनिधित्व दिया गया है अर्थात् महासभा के प्रत्येक सदस्य को इसमें एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। इस प्रकार वास्तव में यह समिति महासभा का एक लघु संस्करण है। यह महासभा से बहुत छोटी उसका अंगमात्र और सदा अधिवेशन में रहने वाली स्थायी संस्था है। प्रारम्भ में यह दो बार एक वर्ष के

लिए बनाई गई। नवम्बर, १६४६ में इसे अनिश्चित अवधि के लिए पुनः स्थापित किया गया किन्तु रूस और उसके समर्थक देश इसके घोर विरोधी थे। प्रारम्भ में इस समिति ने इतना अधिक कार्य किया कि इसके स्थायी बनने की सम्भावनायें होने लगी, परन्तु बाद में इसका कार्य विभिन्न नियमित एवं विशेष समितियों तथा आयोगों द्वारा सम्पन्न किया गया। १६५२ के बाद इसकी कोई बैठक नहीं हुई।

महासभा की बढ़ती हुई शक्ति और महत्ता—संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के बाद महासभा की शक्ति और उसकी महत्ता निरन्तर इतनी बढ़ती जा रही है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने सम्भवतः इसकी कल्पना भी न की होगी।

महासभा की शक्तियों में उल्लेखनीय वृद्धि ३ नवम्बर, १६५० के "शांति के लिये एकता" (Unity for peace) प्रस्ताव के पास होने के बाद हुई। १६५० में कोरिया का युद्ध छिड़ने पर पश्चिमी शक्तियों को यह डर हो गया कि रूस के विरोध के कारण सुरक्षा परिषद द्वारा आक्रमणकारी के खिलाफ कोई कदम नहीं उठाया जा सकेगा। इसी आशंका के कारण संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि सुरक्षा परिषद में गतिरोध होने की दशा में महासभा द्वारा विचार किया जाना चाहिये क्योंकि महासभा में निषेधाधिकार की व्यवस्था न होने के कारण किसी देश विशेष द्वारा कार्यवाही में जानबूझ कर बाधा नहीं पहुँचाई जा सकती। सोवियत रूस के घोर विरोध के बावजूद भी और यह कहने के बाद भी कि इससे सुरक्षा परिषद की सत्ता क्षीण हो जाएगी, यह "एचेसन योजना" (Acheson plan) पेश कर दी गई। इस योजना के अनुसार सुरक्षा परिषद के निषेधाधिकार विहीन ७ सदस्यों के वोट से या संघ के सदस्यों के बहुमत से २४ घंटे का नोटिस देकर महासभा का आपातकालीन अधिवेशन आमन्त्रित किया जा सकता है। यदि सुरक्षा परिषद पारस्परिक मतभेदों के कारण शांति भंग की अथवा आक्रमण की आशंका में या आक्रमण को रोकने में अपने कर्तव्य का पालन नहीं करती तो महासभा को अधिकार है कि इस विषय पर फौरन विचार करके वह 'सामूहिक उपायों' के लिए अपनी सिफारिशें प्रस्तुत करे और अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए सैनिक कार्यवाही का भी निर्देश दे। इस प्रस्ताव में अन्तर्राष्ट्रीय तनाव वाले क्षेत्रों में स्थिति का निरीक्षण करने और रिपोर्ट देने के लिए १४ व्यक्तियों का 'शान्ति निरीक्षण आयोग' (Peace Observation Committee) की व्यवस्था भी की गई। प्रस्ताव के तीसरे (C) भाग के अनुसार संघ द्वारा सदस्यों से यह प्रार्थना की गई कि वे आवश्यकता पड़ने पर महासभा अथवा सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर संघ के अधीन कार्यवाही करने के लिए सशस्त्र सुशिक्षित सेना प्रदान करें।

उपरोक्त प्रस्ताव संघ के विधान में वस्तुतः बड़ा क्रान्तिकारी परिवर्तन लाने वाला है। इसने निश्चय ही महासभा को सुरक्षा परिषद से अधिक महत्वपूर्ण बना दिया है। जहाँ पहले संयुक्त राष्ट्र संघ का केन्द्र सुरक्षा परिषद

भी यहां अब यह गौरवपूर्ण स्थान इस प्रस्ताव के बल पर महासभा ने प्राप्त कर लिया है। यद्यपि इससे निषेधाधिकार की समाप्ति तो नहीं हुई है परन्तु इससे उत्पन्न गतिरोध को दूर करने का हल निकल आया है। यद्यपि महासभा इस विषय में केवल सिफारिशें ही करती है और इनका मानना अथवा न मानना और इन्हें न मानते हुए भी चार्टर का उल्लंघन न करते फिर भी ये सिफारिशें बड़ा महत्व रखती हैं। पामर तथा पर्किन्स (Palmer and Parkins) का यह कहना सही है कि महासभा की सिफारिशों का प्रभाव भी काफी हो सकता है।* नवम्बर १९५६ में मिस्र पर इजराइल व ग्रेट ब्रिटेन और फ्रान्स का संयुक्त आक्रमण होने पर महासभा के विशेष अधिवेशन ने इस प्रस्ताव के अनुसार कार्य करते हुए ही सफलतापूर्वक शांति स्थापित की।

वस्तुतः १९४९ से ही सुरक्षा परिषद की तुलना मे महासभा का महत्व बढ़ता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं का विचार था कि सुरक्षा परिषद संघ की प्रधान कार्यकारी अंग होगी और महासभा एक वाद विवाद-मंच (Debating forum) के रूप में कार्य करेगी। इसीलिए जहां परिषद को बाध्यकारी शक्ति प्रदान की गई वहां महासभा को केवल सिफारिशें करने का ही अधिकार दिया गया। लेकिन कालान्तर में व्यवहार ने यही सिद्ध किया है कि महासभा का महत्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है जब कि सुरक्षा परिषद का प्रभाव तुलनात्मक रूप से घटा है। महासभा का महत्व बढ़ने का उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त एक प्रधान कारण यह रहा है कि इसके सदस्यों की संख्या तेजी से बढ़ी है। आज १२१ राज्यों की इस सभा में कुछ अपवादों को छोड़ कर विश्व के लगभग सभी राज्यों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

१५ सदस्यों की सुरक्षा परिषद उन अर्थों में विश्व-प्रतिनिधि नहीं कही जा सकती जिन अर्थों में महासभा को सम्पूर्ण विश्व का अन्तर्राष्ट्रीय संसद कहा जा सकता है। क्लार्क आइकलबर्गर (Clark M Eicheberger) के मतानुसार महासभा मानव जाति की संसद का एक रूप है जिसमें राष्ट्र शांतिपूर्ण परिवर्तन की भारी समस्याओं पर विचार करने का साधन ढूंढ रहे हैं, वह भी कानून तथा संसदात्मक प्रक्रिया के ढांचे में* महासभा में सदस्य

---

*"The Assembly still can only make recommendations in this field but its recommendations may have considerable weight."

—*Palmer and Parkins* International Relations, Page 357

* "Here one sees developing a parliament of mankind for which the nations are seeking means to dealing with the overwhelming problems of peaceful change within the frame-work of Law and parliamentary procedure."

—*Clark M Eicheberger*, U N, The First Twenty Years, 1965 Page 18

राष्ट्र स्वतन्त्र रूप में अपनी विचारधाराएँ प्रस्ताव और सुझाव आदि प्रस्तुत करते हैं। इस तरह यह विश्व का सम्मुक्त अन्तःकरण (Open Concience of the world) है। महासभा में 'अणुबम से लेकर मानवीय समस्याएं भोजन वस्त्र और आवास साधन तक की सभी समस्याओं पर विचार किया जाता है। स्टार्क (Starke) के शब्दों में यह बात उल्लेखनीय है कि 'महासभा ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा सम्बन्धी प्रश्नों के समाधान में प्रधान भाग लिया है। इसने संयुक्त राष्ट्र संघ के सम्मुख लाये गये कुछ मुख्य प्रश्नों पर विचार करके फिलिस्तीन यूनान स्पेन और कोरिया के सम्बन्ध में कार्यवाही की है।†

(२) सुरक्षा परिषद
(Security Council)

संगठन (Composition)—संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने सुरक्षा परिषद की रचना उसकी कार्यकारिणी और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग के रूप से की थी। पामर और पर्किन्स (Palmer & Perkins) ने सुरक्षा परिषद को 'संयुक्त राष्ट्र की कुन्जी' (*Key organs of the U.N.*) कहा है।*

चार्टर के ५वें अध्याय में अनुच्छेद २३ से ३२ तक सुरक्षा परिषद का संगठन कार्यों अधिकारों और मतदान पद्धति का वर्णन है। चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार पहले सुरक्षा परिषद में कुल ११ सदस्य होते थे—५ स्थायी और ६ अस्थायी किन्तु अगस्त, १९६५ में संघ के चार्टर का संशोधन किया गया और परिषद के सदस्यों की संख्या ११ से बढ़ा कर १५ कर दी गई। सुरक्षा परिषद के निर्णयों के न्यूनतम आवश्यक मतों की संख्या भी बढ़ा कर ७ से ९ कर दी गई। २६ जून, १९४५ को ५१ देशों द्वारा हस्ताक्षर किये जाने के बाद चार्टर में संशोधन किये जाने का यह पहला अवसर था। वास्तव में पिछले अनेक वर्षों से सुरक्षा परिषद के सदस्यों की संख्या में वृद्धि करने के लिए कई राष्ट्र प्रयत्नशील थे क्योंकि संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों की निरन्तर बढ़ती हुई संख्या को दृष्टि में रखते हुए यह परमावश्यक था कि सुरक्षा परिषद का विस्तार किया जावे।

उपरोक्त संशोधन के अनुपालन में सुरक्षा परिषद के वर्तमान सदस्य इस प्रकार हैं—

(i) स्थायी सदस्य—ये ५ हैं संयुक्त राज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन सोवियत संघ फ्रांस और राष्ट्रवादी चीन।

(ii) अस्थायी सदस्य—ये १० हैं जनवरी १९६० से ये इस प्रकार हैं—अर्जेन्टाइना ब्राजील बल्गेरिया कनाडा डैनमार्क इथोपिया भारत जापान माली और नाइजीरिया।

---

†*Starke* An Introduction to International Law page 373

**Palmer and Perkins* International Relations, page 358.

महासभा द्वारा १९६३ में यह निर्णय लिया गया था कि १० अस्थायी सदस्यों में से ५ एशियाई और अफ्रीका राज्यों में से, एक पूर्वी यूरोप में से, २ लैटिन अमरीका व २ पश्चिमी यूरोप और अन्य राज्यों में से होने चाहिए। सुरक्षा परिषद का अस्थायी सदस्यों का वर्तमान निर्वाचन इस निर्णय से माना जाता है। चार्टर के अनुच्छेद २३ में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि परिषद के अस्थायी सदस्य दो वर्ष के लिए चुने जायेंगे। २ वर्ष की अवधि समाप्त होने पर किसी सदस्य को तुरन्त पुनः चुनाव के लिए खड़े होने का अधिकार नहीं है। परिषद में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक प्रतिनिधि ही भाग ले सकता है जो स्थायी रूप से वहीं रहता हो।

कार्य और शक्तियाँ (Functions & Powers)—सुरक्षा परिषद के कार्य और उसकी शक्तियों के सम्बन्ध में अनुच्छेद २४ में लिखा गया है कि—

(१) "संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने की मुख्य जिम्मेदारी सुरक्षा परिषद को दे दी है और यह मानते हैं कि इस जिम्मेदारी के अधीन अपने कर्त्तव्यों को पूरा करने में सुरक्षा परिषद उनकी ओर से ही काम करती है। यह इसलिए किया जाता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढंग से हो सके।

(२) इन कर्त्तव्यों को सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्रों के प्रयोजनों और सिद्धान्तों के अनुसार ही पूरा करती और इन कर्त्तव्यों को पूरा करने के लिए सुरक्षा परिषद को जो निश्चित अधिकार दिये गये हैं वे ६, ७, ८ और १२वें अध्यायों में बताये गये हैं।

अनुच्छेद २५ इस बात की घोषणा करता है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य इस बात पर राजी हैं कि वे वर्तमान चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद के फैसलों को मानेंगे और उन पर अमल करेंगे।"

अब हमें देखना चाहिए कि अध्याय ६, ७, ८ और १२ के अनुसार सुरक्षा परिषद के कार्य और शक्तियाँ क्या हैं? अध्याय ६ झगड़ों के शान्तिपूर्ण निपटारे से सम्बन्धित है जिसमें ३३ से ३८ तक के अनुच्छेद सम्मिलित हैं। अध्याय ७ शांति को खतरे में डालने वाली, शांति भंग और आक्रमण की चेष्टाओं के बारे में कार्यवाही से सम्बन्धित है इसमें ३९ से ५१ तक के अनुच्छेद शामिल हैं। अध्याय ८ प्रादेशिक प्रबन्ध से सम्बन्धित है जिसमें ५२ से ५४ तक के अनुच्छेद शामिल हैं। अध्याय १२ अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-पद्धति की चर्चा करता है और इसमें सुरक्षा परिषद के विभिन्न न्यास सम्बन्धी अधिकार सम्मिलित हैं।

उपरोक्त सभी अध्याय में सुरक्षा परिषद के जिन कार्यों और शक्तियों का उल्लेख है वे निम्न प्रकार से हैं—

(१) यदि किसी झगड़े से विश्व की शांति और सुरक्षा को खतरा हो तो दोनों विवादी पक्ष उस झगड़े को सबसे पहले बातचीत पूछताछ, बीचबचाव मेल न्यायपूर्ण समझौतों प्रादेशिक संस्थाओं या व्यवस्थाओं द्वारा या अपनी पसन्द के अन्य शांतिपूर्ण साधनों से सुलझाने का प्रयास करेंगे और

सुरक्षा परिषद आवश्यकता समझने पर विवादी पक्ष को अपने झगड़े ऐसे साधनों से निपटाने की मांग करेगी। (अनुच्छेद ३३)

(२) सुरक्षा परिषद किसी ऐसे झगड़े अथवा स्थिति की जांच-पड़ताल कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा झगड़ा उठ सकता हो। सुरक्षा परिषद इस बात का भी निश्चय करेगी कि वे झगड़े अथवा स्थिति जारी रहे तो उससे विश्व की शांति और सुरक्षा का कोई खतरा पैदा हो सकता है अथवा नहीं। ऐसे झगड़े या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा परिषद किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या सुलझाने के उपायों की सिफारिश कर सकती है। (अनुच्छेद ३४ ३६)

(३) उपरोक्त सिफारिशें करते समय सुरक्षा परिषद को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के विधान के उपबन्धों के अनुसार पेश किया जावे। (अनुच्छेद ३६)

(४) सुरक्षा परिषद ही इस बात का निर्णय करेगी कि कौनसी चेष्टायें शांति को खतरे में डालने वाली शांति भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टायें समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से स्थापित करने के लिये कौनसी कार्यवाही की जानी चाहिये। किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिये सुरक्षा परिषद अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पहिले विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियां करने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझे। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी पक्षों के अधिकारों दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित न होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियां नहीं करता है तो सुरक्षा परिषद उसका भी विधिवत ध्यान रखेगी। (अनुच्छेद ३६ ४०)

(५) सुरक्षा परिषद अपने फैसलों पर अमल कराने के लिये ऐसी कार्यवाहियां भी निश्चित कर सकती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की मांग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किये जा सकते हैं अमुद्र वायु, डाक तार, रेडियो और आवागमन के अन्यान्य साधन बन्द किये जा सकते हैं अथवा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। (अनुच्छेद ४१)

(६) अनुच्छेद ४१ में बताई गई उपरोक्त कार्यवाहियां यदि सुरक्षा परिषद की दृष्टि से नाकाफी हों अथवा नाकाफी सिद्ध हो गई हों तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने या फिर से स्थापित करने के लिये वह जल स्थल और वायु सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में संयुक्त राष्ट्रों के सदस्य देशों की जल थल वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है अथवा अन्य दूसरे प्रकार की कार्यवाहियां कर सकती है। (अनुच्छेद ४२)

(७) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों का यह कर्त्तव्य बताया गया है कि वे सुरक्षा परिषद के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार, अपनी सशस्त्र सेनायें सहायता और अन्य सुविधायें जिनमें मार्ग-अधिकार भी शामिल होंगे मुहय्या करेंगे। सेनाओं की संख्या उनके प्रकार उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे में निश्चय समझौते या समझौतों से किये जाएंगे और इस प्रकार के समझौतों की बातचीत सुरक्षा परिषद की प्रेरणा से जल्दी से जल्दी शुरू की जानी चाहिये। ये समझौते सुरक्षा परिषद और सदस्यों अथवा सुरक्षा परिषद तथा सदस्य वर्गों के बीच किये जाएंगे और इन पर अमल तब ही किया जा सकेगा जब हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी २ वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा इनकी पुष्टि कर देंगे। चार्टर में यह भी लिखा गया है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिये अपनी २ राष्ट्रीय वायु-सेना के दल जल्दी से जल्दी उपलब्ध करायेंगे ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक दलों की संख्या और तैयारी आदि के बारे में निश्चय सुरक्षा परिषद अपनी सैनिक स्टाफ समिति की मदद से करेगी। सैनिक स्टाफ समिति की मदद से ही सामूहिक कार्यवाही के लिये योजनायें बनाई जाएंगी। (अनुच्छेद ४३ ४५)

(८) अनुच्छेद ४७ के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद को निम्नलिखित प्रश्नों पर स्वतन्त्र सलाह देने और सहायता के लिये एक सैनिक स्टाफ समिति बनाई जाएगी—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा परिषद की सैनिक आवश्यकतायें (ख) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान (ग) शस्त्रों का नियमन और (घ) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टाफ समिति में सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों के स्टाफ अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहेंगे। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई सदस्य समिति का स्थायी प्रतिनिधि न हो और समिति के दायित्वों को ठीक तरह पूरा करने में उस सदस्य का भाग लेना आवश्यक हो तो समिति उसको अपने साथ काम करने के लिये बुला लेगी। इस अनुच्छेद में यह भी लिखा गया है कि सुरक्षा परिषद के उपयोग के लिये जो सशस्त्र सेनायें दी जाएंगी उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टाफ समिति के हाथ में रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद के अधीन रहेगी। सैनिक स्टाफ समिति उपयुक्त प्रादेशिक संस्थाओं से सलाह लेने के लिये प्रादेशिक उपसमितियों का निर्माण भी कर सकती है। सैनिक स्टाफ समिति को यह अधिकार सुरक्षा परिषद द्वारा प्रदान किया जाएगा।

(९) जब सुरक्षा परिषद किसी राष्ट्र के विरुद्ध रोकथाम की या अपने अपने निर्णयों को अमल कराने की कोई कार्यवाही कर रही हो उस समय यह हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएं उठ खड़ी हों। अतः अनुच्छेद ५० में यह व्यवस्था की गई है कि ऐसी सूरत में उस राष्ट्र को चाहे वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य हो या नहीं अपनी समस्याओं को हल कराने के लिये सुरक्षा परिषद से सलाह लेने का अधिकार होगा।

सुरक्षा परिषद आवश्यकता समझने पर विवादी पक्ष को अपने झगड़े ऐसे साधनों से निपटाने की मांग करेगी। (अनुच्छेद ३३)

(२) सुरक्षा परिषद किसी ऐसे झगड़े अथवा स्थिति की जांच-पड़ताल कर सकती है जो अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष का रूप ले सकता हो अथवा जिससे कोई दूसरा झगड़ा उठ सकता हो। सुरक्षा परिषद इस बात का भी निश्चय करेगी कि ये झगड़े अथवा स्थिति जारी रहे तो उससे विश्व की शांति और सुरक्षा को कोई खतरा पैदा हो सकता है अथवा नहीं। ऐसे झगड़े या इस प्रकार की कोई स्थिति पैदा हो जाने पर सुरक्षा परिषद किसी भी समय उसके लिए उचित कार्यवाही करने या सुलझाने के उपायों की सिफारिश कर सकती है। (अनुच्छेद ३४, ३५)

(३) उपरोक्त सिफारिशें करते समय सुरक्षा परिषद को इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि सामान्य रूप से कानूनी झगड़ों को अन्तर्राष्ट्रीय अदालत के विधान के उपबन्धों के अनुसार पेश किया जाये। (अनुच्छेद ३६)

(४) सुरक्षा परिषद ही इस बात का निर्णय करेगी कि कौनसी चेष्टायें शांति को खतरे में डालने वाली, शांति भंग करने वाली और आक्रमण की चेष्टायें समझी जा सकती हैं। वही सिफारिश करेगी और तय करेगी कि अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम करने अथवा फिर से स्थापित करने के लिये कौनसी कार्यवाही की जानी चाहिये। किसी स्थिति को बिगड़ने से बचाने के लिये सुरक्षा परिषद अपनी सिफारिशें करने अथवा किसी कार्यवाही का निश्चय करने से पहिले विवादी पक्षों से ऐसी अस्थायी कार्यवाहियां करने की मांग करेगी जिन्हें वह उचित या आवश्यक समझे। इन अस्थायी कार्यवाहियों से विवादी पक्षों के अधिकारों, दावों या उनकी हैसियत का कोई अहित न होगा। यदि कोई पक्ष इस प्रकार की अस्थायी कार्यवाहियां नहीं करता है तो सुरक्षा परिषद इसका भी विधिवत ध्यान रखेगी। (अनुच्छेद ३९, ४०)

(५) सुरक्षा परिषद अपने फैसलों पर अमल कराने के लिये ऐसी कार्यवाहियां भी निश्चित कर सकती है जिनमें सशस्त्र सेना का प्रयोग न हो। वह संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों से इस प्रकार की कार्यवाही करने की मांग कर सकती है। इन कार्यवाहियों के अनुसार आर्थिक सम्बन्ध पूर्णतः अथवा आंशिक रूप से समाप्त किये जा सकते हैं, समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्यान्य साधन भंग किये जा सकते हैं अथवा राजनीतिक सम्बन्ध विच्छेद किया जा सकता है। (अनुच्छेद ४१)

(६) अनुच्छेद ४१ में बताई गई उपरोक्त कार्यवाहियां यदि सुरक्षा परिषद की दृष्टि से नाकाफी हों अथवा नाकाफी सिद्ध हो गई हों तो अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने या फिर से स्थापित करने के लिये वह जल, स्थल और वायु सेनाओं की सहायता से आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। इस कार्यवाही में संयुक्त राष्ट्रों के सदस्य देशों की जल, थल, वायु सेना विरोध प्रदर्शन कर सकती है, घेरा डाल सकती है अथवा अन्य दूसरे प्रकार की कार्यवाहियां कर सकती है। (अनुच्छेद ४२)

(७) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाये रखने में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों का यह कर्तव्य बताया गया है कि वे सुरक्षा परिषद के मांगने पर और विशेष समझौते अथवा समझौतों के अनुसार अपनी सशस्त्र सेनायें सहायता और अन्य सुविधायें जिनमें मार्ग अधिकार भी शामिल होंगे सुलभ करेंगे। सेनाओं की संख्या उनके प्रकार उनकी तैयारी और स्थिति आदि के बारे में निश्चय समझौते या समझौतों से किया जायगा और इस प्रकार के समझौता की बातचीत सुरक्षा परिषद की प्रेरणा से जल्दी से जल्दी शुरू की जानी चाहिये। ये समझौते सुरक्षा परिषद और सदस्यों अथवा सुरक्षा परिषद तथा सदस्य वर्गों के बीच किये जाएंगे और इन पर अमल तब ही किया जा सकता जब हस्ताक्षरकर्ता राष्ट्र अपनी २ वैधानिक प्रक्रियाओं द्वारा इसकी पुष्टि कर देंगे। चार्टर में यह भी लिखा गया है कि सदस्य सामूहिक अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही के लिए अपनी २ राष्ट्रीय वायु-सेना के दल जल्दी से जल्दी उपलब्ध करायगें ताकि संयुक्त राष्ट्र संघ तुरन्त सैनिक कार्यवाही कर सके। इन सैनिक दलों की संख्या और तैयारी आदि के बारे में निश्चय सुरक्षा परिषद अपनी सैनिक स्टाफ समिति की मदद से करेगी। सैनिक स्टाफ समिति की मदद से ही आयुधिक कार्यवाही के लिये योजनायें बनाई जायगी। (अनुच्छेद ४३ ४५)

(८) अनुच्छेद ४७ के अनुसार यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद को निम्नलिखित प्रश्नों पर स्वतन्त्र सलाह देने और सहायता के लिये एक सैनिक स्टाफ समिति बनाई जाएगी—(क) अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा परिषद की सैनिक आवश्यकतायें (ख) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान (ग) शस्त्रों का नियमन और (घ) सम्भावित निःशस्त्रीकरण। सैनिक स्टाफ समिति में सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों के स्टाफ अध्यक्ष या उनके प्रतिनिधि रहेंगे। यदि संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई सदस्य समिति का स्थायी प्रतिनिधि न हो और समिति के दायित्वों को ठीक तरह पूरा करने में उस सदस्य का साथ लेना आवश्यक हो तो समिति उसको अपने साथ काम करने के लिये बुला लेगी। इस अनुच्छेद में यह भी लिखा गया है कि सुरक्षा परिषद के उपयोग के लिये जो सशस्त्र सेनायें दी जाएगी उनका युद्ध सम्बन्धी निर्देशन सैनिक स्टाफ समिति के हाथ में रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद के अधीन रहेगी। सैनिक स्टाफ समिति उपर्युक्त प्रादेशिक संस्थाओं से सलाह लेने के लिये प्रादेशिक उपसमितियों का निर्माण भी कर सकती है। सैनिक स्टाफ समिति को यह अधिकार सुरक्षा परिषद द्वारा प्रदान किया जाएगा।

(९) जब सुरक्षा परिषद किसी राष्ट्र के विरुद्ध रोकथाम की या अपने अपने निर्णयों को अमल कराने की कोई कार्यवाही कर रही हो उस समय यह हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष आर्थिक समस्याएं उठ खड़ी हों। अतः अनुच्छेद ५० में यह व्यवस्था की गई है कि ऐसी सूरत में उस राष्ट्र को चाहे वह संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य हो या नहीं अपनी समस्याओं को हल कराने के लिये सुरक्षा परिषद से सलाह लेने का अधिकार होगा।

(१०) यदि संयुक्त राष्ट्र संघ के किसी सदस्य पर कोई सशस्त्र आक्रमण होता है तो वह व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से आत्मरक्षा करने का अधिकारी है। अनुच्छेद ५१ यह व्यवस्था करता है कि उस राष्ट्र पर उस समय तक कोई रोक नहीं होगी जब तक कि सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा के लिये स्वयं कोई कार्यवाही न करे। आत्मरक्षा के लिये सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उसकी सूचना तुरन्त ही सुरक्षा परिषद को दी जाएगी। लेकिन इससे सुरक्षा परिषद के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने या फिर से स्थापित करने के लिये जब कभी जो कार्यवाही चाहे कर सकती है।

(११) स्थानीय झगड़ों और विवादों के समाधान के लिये सुरक्षा परिषद प्रादेशिक संगठनों और एजेन्सियों को माध्यम के रूप में इस्तेमाल कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन या एजेन्सियाँ अपने क्षेत्रों में शान्ति और सुरक्षा बनाये रखने की दिशा में जो भी कदम उठाती हैं, उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा परिषद को देनी पड़ती है।

(१२) सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के सम्बन्ध में संयुक्त राष्ट्र संघ ने जो दायित्व ग्रहण किया है उन्हें निभाने का भार भी सुरक्षा परिषद पर ही है। संरक्षित प्रदेशों को किसी भी राष्ट्र के संरक्षण में देते समय संरक्षण सम्बन्धी शर्तें भी सुरक्षा परिषद द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों में फेर बदल या संशोधन कर सकती है। यदि ऐसे कुछ सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्र हों जो संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में हों तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति के लिये सुरक्षा परिषद के साथ मिलकर आवश्यक कदम उठा सकती है।

क्रिया विधि (Procedure)—सुरक्षा परिषद की क्रियाविधि के संबंध में अनुच्छेद २८ से ३२ तक व्यवस्थायें दी गई हैं। सुरक्षा परिषद का संगठन इस प्रकार का है कि वह लगातार काम कर सके। इसलिये संघ-स्थान में सुरक्षा परिषद के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधित्व हर समय रहना आवश्यक है। सुरक्षा परिषद की बैठकें समय-समय पर होती रहती हैं और इसमें यदि कोई सदस्य राष्ट्र चाहे तो उसका प्रतिनिधित्व उसकी सरकार का सदस्य या विशेष रूप से नामजद (Nominated) कोई दूसरा प्रतिनिधि कर सकता है। सुरक्षा परिषद संघ-स्थान के अलावा किसी दूसरी ऐसी जगह जहाँ वह काम करने में सुगमता समझे, अपनी बैठकें कर सकती है। परिषद अपने कार्यों के लिये आवश्यक समझने पर सहायक संघों की स्थापना कर सकती है। अनुच्छेद ३० द्वारा यह व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद अपनी क्रियाविधि के नियम स्वयं बनायेगी और अपने अध्यक्ष चुनने की विधि भी वह स्वयं तय करेगी।

संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई भी सदस्य चाहे वह सुरक्षा परिषद का सदस्य न भी हो परिषद के सामने आये हुए किसी भी मामले की बहस में भाग ले सकता है बशर्ते कि सुरक्षा परिषद को यह विश्वास हो कि उस मामले से उस सदस्य के हितों पर विशेष रूप से प्रभाव पड़ता है लेकिन ऐसे सदस्य को मतदान का अधिकार नहीं होता। अनुच्छेद ३२ द्वारा यह व्यवस्था की गई

है कि जब कोई झगड़ा सुरक्षा परिषद में पेश हो तो संयुक्त राष्ट्र संघ का वह सदस्य जो सुरक्षा परिषद का सदस्य नहीं है अथवा वह राज्य जो संयुक्त राष्ट्र संघ का वह सदस्य नहीं है यदि वह विवादी पक्ष है तो बहस में भाग लेने के लिये बुलाया जा सकता है परन्तु ऐसे सदस्य को वोट देने का अधिकार नहीं होगा। सुरक्षा परिषद अपनी बहसों में ऐसे राष्ट्र के भाग लेने के लिये जो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य न हो, न्याय-सम्मत नियम बनाने का अधिकार रखती है।

मतदान की प्रक्रिया और निषेधाधिकार
[Voting and Veto Power]

प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त है लेकिन मतदान की प्रक्रिया मुख्य रूप विभिन्न प्रश्नों के स्वरूप या परिषद के कार्यों पर निर्भर करती है। परिषद् के कार्यों को दो भागों में विभाजित किया गया है—(१) साधारण और (२) असाधारण। साधारण कार्यों में परिषद् के कार्यक्रम आदि आते हैं जैसे परिषद् की बैठक के सम्बन्ध में स्थान और समय का निर्णय तथा परिषद के सहायक अंगों की स्थापना करना कार्यवाही सम्बन्धी नियम बनाना एवं बैठक में सम्मिलित होने के लिये सदस्यों को आमन्त्रित करना आदि। इसके अतिरिक्त अन्य मामले असाधारण कार्यों में आते हैं जैसे विवादों के शान्तिपूर्ण समाधान सम्बन्धी मामले आक्रमणकारी शक्ति के विरुद्ध प्रतिबन्ध लगाना आदि।

साधारण मामलों पर किन्हीं ९ सदस्यों के स्वीकारात्मक (Affirmative) मत पर्याप्त हैं लेकिन असाधारण मामलों पर ९ सदस्यों के स्वीकारात्मक मतों में ५ स्थायी सदस्यों के मत शामिल होना आवश्यक है। इन ५ स्थायी सदस्यों में कोई भी सदस्य अपनी असहमति प्रकट करे अथवा प्रस्ताव के विरोध में मतदान करे तो प्रस्ताव को स्वीकृत नहीं समझा जाता। निषेधाधिकार या वीटो (Veto) की सुप्रसिद्ध व्यवस्था है। इस प्रकार सुरक्षा परिषद के कार्य-प्रणाली सम्बन्धी मामलों को छोड़ कर अन्य निर्णयों पर इन ५ स्थायी सदस्यों की सहमति अनिवार्य है परन्तु स्थायी सदस्यों में से कोई सुरक्षा परिषद की बैठक में अनुपस्थित हो अथवा अपना मत न दे तो ऐसी स्थिति में निषेधाधिकार (Veto) नहीं माना जाता।

परिषद का कोई भी सदस्य अथवा अस्थायी सदस्य यदि प्रस्तुत विवाद से सम्बन्धित हो तो उसे भी मतदान करने का अधिकार नहीं रहता। यह पहले ही कहा जा चुका है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का कोई भी सदस्य राष्ट्र ऐसे किसी भी प्रश्न पर जो विचाराधीन हो सुरक्षा परिषद में हो रहे वाद विवाद में भाग ले सकता है, यदि उसकी समझ से उस विवाद का उसके हितों पर कोई प्रभाव पड़ता हो। सुरक्षा परिषद यदि उचित समझे तो ऐसे किसी भी राष्ट्र को जो सुरक्षा परिषद अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ का भी सदस्य न हो उससे सम्बन्धित विवाद पर विचार करते समय उसे बैठकों में भाग लेने के लिये आमन्त्रित कर सकती है। इस प्रकार आमन्त्रित करने वाले राष्ट्र मतदान में भाग नहीं ले सकते।

दोहरा निषेधाधिकार (Double veto)—ऊपर परिषद की साधारण और असाधारण दो प्रकार की क्रिया प्रणालियों को बताया गया है पर संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में इन दोनों में भेद करने वाली कोई व्यवस्था न दी गई है। अतः जब यह प्रश्न उठता है कि कोई साधारण मामला माना जाए अथवा असाधारण तब दोहरे निषेधाधिकार (Double veto) का प्रयोग होता है अर्थात् पहले तो निषेधात्मक मतदान द्वारा किसी प्रश्न को साधारण विषय बनाने से रोका जाता है और तत्पश्चात् प्रस्ताव के तत्वों (Substance) के विरोध में दोबारा मत दिया जाता है। जॉन और एडवर्ड ने इसे स्पष्ट करते हुए लिखा है जहां कि सीमावर्ती मामलों का सम्बन्ध है यह प्रारम्भिक प्रश्न है कि क्या विषय साधारण (Procedural) है और अतः यह एक निषेधाधिकार का विषय है। वास्तव में इसी नियम ने निषेधाधिकार को दोहरा निषेधाधिकार में बदल दिया है। पहले तो एक नकारात्मक वोट दिया जाता है जिससे सुरक्षा परिषद किसी विषय को साधारण न मान ले और उसके बाद दूसरी बार वोट दिया जाता है ताकि प्रस्ताव का तत्व ही निष्फल हो जाए।*

निषेधाधिकार की समालोचना—सुरक्षा परिषद में मतदान प्र... के अध्ययन से स्पष्ट है कि सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों में कोई किसी भी प्रस्ताव के विरोध में मत दे कर उसे पारित होने से रोक सकता है। इसके केवल दो ही अपवाद हैं—प्रथम प्रक्रिया सम्बन्धी मामले द्वितीय मामले जिनमें स्वयं विरोध में मत देने वाली एक महा शक्ति एक पक्ष हो। आलोचकों का कहना है कि इस निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद अपने सामूहिक सुरक्षा के कार्य में असफल हो गई है। अर्नोल्ड फोस्टर (... Arnold Foster) के अनुसार "निषेधाधिकार का भय सम्पूर्ण व्यवस्था पर छाया हुआ है। ऐसी व्यवस्था के रूप में ही पक्षाघात है। यह उस ... के समान है जिसका स्टार्टर (Starter) किसी भी समय उसकी अन्य-व्यवस्था में गड़बड़ करके उसके ... को रोक सकता है।" अतः निषेधाधिकार जैसी दूषित और हानिकारक व्यवस्था का उन्मूलन अथवा संशोधन होना चाहिये।

निषेधाधिकार उचित है या अनुचित—इस प्रश्न की समुचितमीमांसा ... पूर्व निषेध व्यवस्था (Veto System) की पृष्ठ भूमि पर विचार करना आवश्यक है। निषेधाधिकार सम्बन्धी उपबन्धों का प्रस्ताव याल्टा सम्मेलन में राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रखा था और स्टालिन तथा चर्चिल दोनों ने इसको उत्साहपूर्ण समर्थन प्रदान किया था। रूजवेल्ट ने इस व्यवस्था को इसलिये आवश्यक समझा था कि युद्ध के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी अन्तर्राष्ट्रीय

---

*"First a negative vote is cast to prevent the cou... from treating a question as procedural and a vote ... cast for the second time to defeate the substance ... the motion."

—Andrew Martin, John and Edward

इस संगठन को तब ही सफलता मिल सकती थी जब कि इसे सभी महाशक्तियों का पूरा-पूरा सहयोग मिले। दूरदर्शी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने यह अनुभव कर लिया था कि सोवियत संघ अथवा संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे बड़े देशों के लिए किसी भी ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं होगा जिसमें अन्य राष्ट्र केवल अपने बहुमत के बल पर ही महाशक्तियों को कोई काम करने के लिये बाध्य कर दें। इस प्रकार की स्थिति को रोकने का एक मात्र उपाय निषेधाधिकार (Veto Power) था। यह स्पष्ट था कि महाशक्तियों के सहयोग के बिना अन्तर्राष्ट्रीय अथवा विश्व संगठन की कोई भी व्यवस्था सफल नहीं हो सकती थी और महाशक्तियों को उनकी इच्छा के विरुद्ध जबरदस्ती किसी भी कार्य को करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता था क्योंकि इसका परिणाम स्वयं अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की समाप्ति हो सकता था। अतः इन सब बातों का सोच-विचार कर संयुक्त राज्य अमेरिका ने यही मत प्रस्तुत किया कि वह निषेधाधिकार से सम्पन्न अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को ही स्वीकार करेगा और यदि इसमें निषेधाधिकार की व्यवस्था नहीं होगी तो उसके लिए इस संगठन को स्वीकार करना असम्भव होगा। संयुक्त राज्य अमेरिका का यह स्पष्ट मत था कि सुरक्षा परिषद ऐसे निर्णय कर सकती है जिनके अनुसार उसे अपनी सेना का उपयोग करना पड़े परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि वह ऐसा उपयोग अपनी इच्छा से करे न कि अन्य राष्ट्रों द्वारा बाध्य हो कर। यदि संयुक्त राज्य अमेरिका ऐसे किसी उपाय से सहमत नहीं है तो उसे इस बात का पूरा अधिकार होना चाहिए कि वह अपनी निषेधाधिकार द्वारा उस उपयोग के प्रस्ताव को रद्द कर दे।

परन्तु निषेधाधिकार का प्रबल समर्थन करते हुए भी वाशिंगटन इस अधिकार को सीमित रखना चाहता था। जहाँ वह ऐसे किसी अन्तर्राष्ट्रीय संगठन को स्वीकार करने को तैयार नहीं था जिसमें निषेधाधिकार की व्यवस्था न हो वहाँ वह इस बात के लिए उद्यत था कि विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे और नवीन सदस्यों के संगठन में प्रवेश—इन दोनों बातों के सम्बन्ध में निषेधाधिकार की व्यवस्था न की जाए परन्तु रूस इसके लिए तैयार न था। वह निषेधाधिकार को सीमित रखना चाहता था। रूस को यह पता था कि पश्चिमी शक्तियों ने यद्यपि विवशता के कारण जर्मनी के विरुद्ध रूस का सहयोग किया था किन्तु यथार्थ में दोनों के बीच सैद्धान्तिक मतभेद इतने थे कि दक्षिणी और उत्तरी ध्रुवों की भाँति इनका आपस में मेल हो ही नहीं सकता था। रूस को आशंका थी कि बाद में चल कर सुरक्षा परिषद में पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व हो जाएगा तथा वे बहुमत के आधार पर स्वेच्छा का व्यवहार कर सकेंगी। यही कारण था कि उसने अपने हितों की रक्षा के लिये निषेधाधिकार की व्यवस्था पर जोर दिया और कहा कि या तो सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को यह अधिकार दिया जाए अथवा संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना ही न की जाए।

निषेधाधिकार की इस पृष्ठभूमि के उपरान्त अब हम इसकी समीक्षा करने आते हैं। सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों के इस अधिकार की उपयोगिता और आवश्यकता के बारे में सभी विचारक एक मत नहीं हैं। इस

की माँग समय-समय पर अनेक बार महासभा में विश्व के छोटे राज्यों द्वारा उठाई रही है। १९४९ में फिलीपाइन्स के प्रतिनिधि ने तो यहाँ तक कह दिया कि निषेधाधिकार एक फ्रैंकस्टीन दानव (Frankenstein) है। यह संयुक्त राष्ट्र में सभी व्यावहारिक कार्यवाहियों को रोक देता है। हम इस स्पष्ट तथ्य को क्यों नहीं स्वीकार कर लेते कि संयुक्त राष्ट्र संघ जिस रूप में आज संगठित है, उस रूप में वह मानव को युद्ध की विभीषिका से बचाने में असमर्थ है।**

वास्तव में एक आलोचक द्वारा सही कहा गया है कि 'पाँच महान शक्तियों में एकता के अभाव ने चार्टर में स्थापित सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था को पंगु बना दिया है अथवा कम से कम संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य महत्वपूर्ण कार्यों के प्रयोग को बाधित कर दिया है या रोक दिया है।***

उपरोक्त सभी समालोचनाओं से स्पष्ट है कि कुल मिला कर निषेधाधिकार के विपक्ष में प्रधानतः चार बातें कही जाती हैं—

प्रथम यह कहा जाता है कि निषेधाधिकार के कारण ही सुरक्षा परिषद शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था के अपने उत्तरदायित्व का पूरा करने में असमर्थ हो गई है। यह अधिकार ही अन्तर्राष्ट्रीय विवादों के शान्तिपूर्ण हल में सब से बड़ा बाधक है। ऐसी कुछ परिस्थितियाँ होती हैं जिनमें प्रयोग अनिवार्य हो जाता है, परन्तु निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद एसा नहीं कर पाती। इस विषय में ट्रिग्वेली (Trygve Lie) ने कहा था कि संयुक्त राष्ट्र संघ "निषेधाधिकार के कारण पंगु बन गया है। यह महा शक्तियों के संघर्ष द्वारा पक्षाघातग्रस्त कर दिया गया है।"

दूसरे, निषेधाधिकार विधि के समक्ष समता और राष्ट्रों की सम्प्रभु-समानता के मौलिक सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है। इस मत को केल्सन (Hans Kelson) ने भली प्रकार स्पष्ट किया है जिसका उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है।

तीसरे निषेधाधिकार पृष्ठपोषक राज्यों (Client States) की एक न्यूनाधिक सुसी राजनीतिक व्यवस्था को जन्म दे सकता है। यह हो सकता है कि प्रत्येक स्थायी सदस्य अपने मित्र राष्ट्रों को निषेधाधिकार का संरक्षण प्रदान करे। ऐसी स्थिति में यह भय पैदा होना स्वाभाविक है कि संयुक्त राष्ट्र के सदस्य स्थायी सदस्यों के नेतृत्व में गुटों में विभक्त हो जाएँगे। यह भय निराधार नहीं है। हम सभी जानते हैं कि अमेरिका और सोवियत रूस के नेतृत्व में ऐसे दो शक्तिशाली गुट जन्म ले भी चुके हैं।

चौथे निषेधाधिकार के कारण सुरक्षा परिषद में जो गतिरोध उत्पन्न होता रहा है, उसने विश्व के राज्यों की सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था में आस्था

**Leonard International Organization, page 206.

***Lack of unanimity of the Five Great Powers has paralysed the system of collective security bestablished in the charter and has provided or at least hampered the exercise of other important functions of the United Nations Organisations.

को पूरी तरह समझा लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की तरफ से निराश होकर ही उन्होंने अपनी सुरक्षा के लिये NATO SEATC जैसे प्रादेशिक सुरक्षा संगठनों का आश्रय लिया है।

पक्ष में व्यक्त तर्क (निषेधाधिकार की अनिवार्यता)—निषेधाधिकार की व्यवस्था में निःसंदेह कुछ दोष अवश्य हैं किन्तु उनके आधार पर यह कहना अनुचित है कि इस व्यवस्था को समाप्त कर दिया जाना चाहिये। वास्तव में निषेधाधिकार व्यवस्था को विनष्ट करना न तो वांछनीय है और न व्यावहारिक ही। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि किसी भी संगठन को सफलता तभी मिल सकती है जब उसे विश्व की महान् शक्तियों का सहयोग प्राप्त हो परन्तु इन महान देशों का किसी ऐसे संगठन में भाग लेना सम्भव नहीं है जिसमें अन्य देश केवल अपने बहुमत से उन्हें किसी कार्य को करने अथवा न करने के लिये बाध्य कर दें। इसे रोकने का एक मात्र उपाय निषेधाधिकार ही है। शूमैन (Shuman) ने लिखा है "इसके निर्माताओं ने यह स्पष्ट ही समझा था कि यदि सुरक्षा परिषद किसी महान राज्य के विरुद्ध कोई कार्यवाही करती है तो इसका अर्थ विश्व शान्ति नहीं वरन् युद्ध होगा।"*

निषेधाधिकार के पक्ष में व्यक्त की जाने वाली कुछ प्रमुख विद्वानों की सम्मतियाँ इस प्रकार हैं—

"निषेधाधिकार हमारी कठिनाईयों का आधारभूत कारण नहीं है। रूस के लोगों के साथ हमारे दुर्भाग्यपूर्ण विभेदों का प्रतिबिम्ब मात्र ही है। यदि हम इस संकट से बचना चाहते हैं तो हमें उन विभेदों को कम कर लेना चाहिये। केवल मतदान की विधि को बदलना यथेष्ट न होगा। मतैक्य नियम का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन की वास्तविकताओं से हो[ता] है। यदि पाँच महान राज्य किसी मामले पर राजी नहीं होते हैं तो उनमें से किसी के विरुद्ध शक्ति का प्रयोग एक बड़े युद्ध को पैदा करेगा। संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना इसी सम्भावना से बचने के लिये हुई थी।

(ए ई स्टीवेन्स)

निषेधाधिकार (Veto) असहमति सूचक लक्षण है न कि इसका कारण। अब निषेध व्यवस्था के समाप्त कर देने से महा शक्तियों के मतभेद दूर नहीं होंगे और न ही इसमें कोई बड़ा लाभ होगा। फिर निषेध कई प्रकार के प्रश्नों के लिए प्रयुक्त होता है। मध्यस्थता और शान्तिपूर्ण समझौते के सम्बन्ध में इस व्यवस्था की समाप्ति लाभप्रद है। किन्तु शांति भंग की तथा आक्रमण की दशा में सैनिक कार्यवाही के सम्बन्ध

---

*"But as the framers clearly perceived, the fact is ineca pable that any coercion of a Great Power or of small power supported by a Great Power is prescriptio[n] not for law order or peace but for wholesale viol-ance."

—*Schuman* International Politics p.p 232 33.

में निषेध की व्यवस्था को समाप्त करना बहुत विवादास्पद और नवीन समस्याओं को उत्पन्न करने वाला है अत इस सम्बन्ध में निषेध व्यवस्था बनी रहनी चाहिये।*

"निषेधाधिकार की व्यवस्था न होने पर अनेक क्षेत्रों में यह आलोचना की जाती है कि यह स्थिति हमारी अनिच्छुक गुलामी की स्थिति है। निषेधाधिकार की यह व्यवस्था अवश्य ही ऐसी आलोचना के विरुद्ध हमारी रक्षा करती है। यह ऐसे विवेकपूर्ण भयों का पूर्ण उत्तर है कि हम विदेशी हुकूमतों के हाथों में अपने भाग्य को आधीन बना रहे हैं। निषेधाधिकार की व्यवस्था अन्तर्राष्ट्रीय आज्ञाओं या आदेशों में हमारी निरन्तर स्वतंत्रता की गारन्टी है।*

(सीनेटर वेन्डनबर्ग)

"ऐसे उदाहरणों का विचार करते समय जिनमें निषेधाधिकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाहियों को रोकने सम्बन्धी प्रभाव डाला है यह स्मरण रखना महत्त्वपूर्ण है कि निषेधाधिकार एक लक्षण है न कि एक कारण। यह वास्तव में शक्ति की राष्ट्रीय व्यवस्था और संयुक्त राष्ट्र की विकासमान शक्ति को जोड़ने वाली कड़ी है। यह वह सुरक्षा-दीप है जो संयुक्त राष्ट्रों को राजनीतिक क्षेत्र में ऐसे उत्तरदायित्वों को लाने से रोकता है जिन्हें पूरा करने की शक्ति उसके पास नहीं है।**

(जैसप)

"संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य किसी भी लक्षण की अपेक्षा निषेधाधिकार अधिक उसके आलोचकों के लिये उत्तरदायी है यह सही है कि

---

*Schleicher An introduction to International Politics, Page 625-26

**"It is our defence against what I venture to believe would be betterly condemned in many quarter as our 'involuntary servitude' if our veto power did not exist It is the complete answer to any rational fears that we may be subordinating our destiny to alien commands It guarantees our perpetual independence of international dictation."

—*Senator Vandenberg*

** ——— In considering those instances in which the veto has had effect of preventing U N action It is important to remember that veto is a symptom and not a cause. The veto is indeed the link between Nation state system of power and the developing power of the U N It is the safety value that prevents the U N from undertaking commitments in the political field which is presently lacks the power to fulfil."

—*Dr Jessop*

प्रत्येक बार वीटो में प्रयोग का अर्थ असफलता है परन्तु दोष संयुक्त राष्ट्रसंघ की मशीनरी का नहीं है और न ही वीटो को समाप्त कर देने से ही कठिनाई का हल हो जाएगा।'*

(जान मैक्लारिन)

वस्तुतः यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं कि निषेधाधिकार एक अनिवार्यता है। विद्वानों और विधि शास्त्रियों द्वारा व्यक्त विचारों और अब तक की सुरक्षा परिषद की कार्यवाहियों के आधार पर अनेक कारण इस पक्ष में प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

प्रथम संयुक्त राष्ट्रसंघ को सुचारु रूप से चलाने के लिये निषेधाधिकार का होना अत्यावश्यक है। निषेधाधिकार इस सत्य की अनुभूति पर आधारित है कि बिना महा-शक्तियों के सहयोग के सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था सम्भव नहीं है। राष्ट्रसंघ की असफलता का एक प्रमुख कारण संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत रूस का उससे पृथक रहना था। आज भी रूस और अमरीका निषेधाधिकार के बिना संयुक्त राष्ट्रसंघ में रहने को उद्यत नहीं होंगे और उनके बिना संयुक्त राष्ट्रसंघ निरर्थक तथा निष्फल होकर राष्ट्रसंघ की कहानी की पुनरावृत्ति कर देगा। इस सम्बन्ध में विशिन्स्की (Vishinsky) का मत है कि 'निषेधाधिकार की शक्ति के अन्त का अर्थ होगा संयुक्त राष्ट्रसंघ का अन्त क्योंकि एक महा-शक्ति के विरुद्ध प्रयोग का अर्थ है युद्ध का निश्चित निमन्त्रण।" इसमें कोई संदेह नहीं कि निषेधाधिकार के अभाव में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थिति एक बिना पहिये के रथ के समान हो जायगी। यदि वर्तमान संघ में से बहुमत द्वारा किसी महा-शक्ति को किसी कार्य के लिये कभी बाधित किया जाता तो उसका परिणाम विश्व युद्ध और संघ से उस शक्ति का पृथक हो जाना होता। निषेध का मूल विचार स्वर्गीय पण्डित नेहरू के शब्दों में विश्व युद्ध की सम्भावना को हटाने और विवादों को सम्मेलनों द्वारा सुलझाना है।

दूसरे यह कहना गलत है कि निषेधाधिकार के कारण स्वरूप सुरक्षा परिषद का काम ठप्प हो गया है। अब तक का अनुभव बताता है कि निषेधाधिकार शक्ति के इतने अधिक प्रयोग होने के कारण किसी महत्वपूर्ण निर्णय लेने में इससे अधिक बाधा नहीं पहुंचाई है। जिन निर्णयों के लेने में यह बाधक बना है उनके न लेने पर भी विश्व शांति में किसी प्रकार का खतरा नहीं पहुंचा है। श्लीचर (Schleicher) का यह कथन ठीक है कि "यह बताना बड़ा कठिन है कि निषेधाधिकार ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य पर कितना प्रतिकूल प्रभाव डाला है। प्रथम ७ वर्षों में जितने निषेधों का प्रयोग किया गया था उसमें से आधे सदस्यता के प्रार्थना-पत्रों से सम्बन्धित थे और अब

*"The veto is responsible for more mis statements than any other feature of the U N O It is true that each time the veto is used it means a failure, but it is not the U N machinery that is at fault nor would abolishing the veto do away with the trouble"

—John Maclarin

विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे के बारे में। कुछ निषेध ऐसे थे जिनका प्रयोग कई बार एक ही विषय पर किया गया था। इस बात को स्वीकार करने के बाद भी इन राष्ट्रों की संघ की सदस्यता का प्राप्त न होना दुर्भाग्यपूर्ण था यह नहीं कहा जा सकता कि संघ में इनकी अनुपस्थिति से उसके कार्यों को कोई क्षति पहुँची हो।

तीसरे, कई बार निषेधाधिकार समस्यापूर्ण निर्णय लेने में बाधक रहा है और अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शांतिपूर्ण उपायों से सुलझाने में सफल हुआ है। उदाहरणार्थ जब काश्मीर का प्रश्न सुरक्षा परिषद के समक्ष प्रस्तुत था और ब्रिटेन व अमरीका खुल कर पाकिस्तान का समर्थन कर रहे थे तो सोवियत रूस के निषेधाधिकार के प्रयोग ने स्थिति को सुलझाने में और सत्य की रक्षा करने में सहायता प्रदान की। इस निषेधाधिकार का ही यह परिणाम निकला कि सभी पक्षों ने समस्या के एक दूसरे ऐसे समाधान को ढूंढ निकालने का प्रयास किया जो सबको मान्य हो सके। इसी तरह जब ब्रिटेन व अमरीका ने जारिंग रिपोर्ट की अवहेलना करके काश्मीर के विसैन्यीकरण का प्रस्ताव सुरक्षा परिषद से पारित कराना चाहा तो सोवियत रूस ने पुनः निषेधाधिकार की धमकी देकर उन्हें ऐसा प्रस्ताव पेश करने के लिये बाध्य किया जो सभी पक्षों को स्वीकार हो। काश्मीर समस्या के सम्बन्ध में रूस द्वारा और भी अनेक अवसरों पर इस अधिकार का प्रयोग इस बात का स्पष्ट उदाहरण है कि निषेधाधिकार पक्षपातपूर्ण निर्णयों पर कुठार घात करके सत्य की रक्षा करने में समर्थ होता है। यह अधिकार संघ में विभिन्न पक्षों में संतुलन कायम रखने में सहायक सिद्ध हुआ है। यदि निषेध की व्यवस्था न होती तो संयुक्त राष्ट्रसंघ पूरी तरह एक गुट विशेष का शस्त्र बन जाता और उस गुट विशेष को अपनी मनमानी करने की पूरी छूट मिल जाती।

चौथे सुरक्षा परिषद की सीमित निषेधाधिकार प्रणाली दोषपूर्ण होते हुए भी राष्ट्रसंघ परिषद की सर्व सम्मपति मतदान प्रणाली से कहीं अधिक श्रेष्ठ है।

पाँचवे सुरक्षा परिषद का अधिकांश कार्य महासभा द्वारा सम्हाल लिया गया है तथा १९५० में 'शांति के लिये एकता का प्रस्ताव' पास होने के बाद से निषेधाधिकार का तथा निषेध (Veto) करने वाली सुरक्षा परिषद का महत्व घट गया है। जैसा कि कहा जा चुका है इस प्रस्ताव के द्वारा यह व्यवस्था की गई थी कि सुरक्षा परिषद के निषेधाधिकार विहीन सात (अब १०) सदस्यों के मत या संघ के सदस्यों के बहुमत से अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को संकट में डालने वाली किसी भी परिस्थिति पर विचार करने के लिये महासभा का आवश्यक विशेष अधिवेशन बुलाया जा सकता है। इस तरह इस व्यवस्था ने एक बड़ी सीमा तक निषेधाधिकार को प्रभावहीन बना दिया है। अब इसका प्रभाव मुख्य रूप से सदस्यता के सम्बन्ध में ही रह गया है। न तो यह कोई नया अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष उत्पन्न करता है और न इसके मार्ग ही बढ़ता है। निषेधाधिकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्य को पंगु भी नहीं करता। इसके होते हुए भी महासभा द्वारा अनेक कार्य सम्पादित किये जाते हैं। संयुक्त-राष्ट्रसंघ की वास्तविक सफलता तो इस बात में

निहित है कि वह विभिन्न राज्यों में अपने निर्णयों को क्रियान्वित करा सकने में सफल हो।

ऐसे अनेक और भी ऐसे व्यावहारिक पग उठाये जा चुके हैं जिसने निषेधाधिकार के महत्व का पूर्वापेक्षा बहुत कम कर दिया है। अन्तरिम समिति या लघु सभा (Interim Committee or Little Assembly) शान्ति निरीक्षण आयोग (Peace Observation Commission) तथा सामूहिक उपाय समिति (Collectiv Measures Committee) आदि की स्थापना के द्वारा महासभा ने सामूहिक सुरक्षा-व्यवस्था को निषेधाधिकार के दुष्प्रभाव से मुक्त कराने का प्रयास किया है।

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि नई सदस्यता और शान्तिपूर्ण समझौतों के सम्बन्ध में तो निषेधाधिकार वास्तिक है अतः समाप्त होनी चाहिये। परन्तु शान्ति भंग और आक्रमण की स्थिति में सैनिक कार्यवाही के लिये इस अधिकार का प्रयोग अपरिहार्य है अतः इसे बनाये रखना लाभप्रद है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद
(The Economic and Social Council-ECOSOCO)

गठन (Composition)—संयुक्त राष्ट्रसंघ का तीसरा महत्वपूर्ण अंग आर्थिक और सामाजिक परिषद है जिसके द्वारा मुख्य रूप से संघ के अराजनैतिक प्रकृति के लक्ष्यों को पूरा किया जाता है।

मूल चार्टर के अनुच्छेद ६१ (१) के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद में महासभा द्वारा चुने हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के १८ सदस्यों के रहने की व्यवस्था थी। किन्तु अगस्त १९६१ में जब चार्टर में पहली बार संशोधन किया गया तो इस परिषद के सदस्यों की संख्या भी बढ़ा कर १८ से २७ कर दी गई और यह संशोधन १९६६ से लागू भी हो गया है। इन २७ सदस्यों में से ९ सदस्य प्रति वर्ष ३ वर्ष के लिये चुने जाते हैं अर्थात् १/३ सदस्य प्रति तीसरे वर्ष पद त्याग कर देते हैं। जिन सदस्यों की अवधि समाप्त हो जाती है, वे अनुच्छेद ६१ (२) के अनुसार तुरन्त ही पुनः चुनाव में खड़े हो सकते हैं।

अनुच्छेद ६१ (४) में यह व्यवस्था की गई है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि रहेगा। परिषद में ५ बड़े राष्ट्रों को कोई विशेष स्थान अथवा अधिकार प्रदान नहीं किये गये हैं। इसमें न तो किसी राष्ट्र को निषेधाधिकार प्राप्त है और न ही स्थायी सदस्यता। सदस्यों की योग्यता आदि के सम्बन्ध में कोई लिखित निर्देश अथवा व्यवस्था नहीं है। महासभा अपनी इच्छानुसार किसी भी सदस्य राष्ट्र को इस परिषद में चुन सकती है।

मतदान और कार्य विधि (Voting and Procedure)—अन्य अंगों की तरह आर्थिक और सामाजिक परिषद में भी प्रत्येक निर्वाचित सदस्य राष्ट्र का एक प्रतिनिधि बैठकों में उपस्थित रहता है। सभी निर्णय उपस्थित सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा किये जाते हैं। परिषद जब किसी ऐसे

आर्थिक विकास की परिस्थितियाँ उपलब्ध हो सकें। इसके लिये विभिन्न राष्ट्रों के बीच यदि सांस्कृतिक सामाजिक आर्थिक आदि क्षेत्रों में वाद-विवाद व झगड़ा हो तो यह परिषद उनको मिटाने का प्रयत्न करती है तथा विश्व के चौमुखी विकास में सभी देशों के सहयोगपूर्ण दृष्टिकोण का विकास करती है। संसार के विभिन्न क्षेत्रों में बसने वाले सभी मनुष्यों के बीच जो भारी असमानता पाई जाती है वह मानव अधिकारों की मान्यता के विरुद्ध है। इसलिये यह परिषद उनको ऊँचा उठाने का हर सम्भव प्रयास करती है। यह उनकी शिक्षा का विकास करने तथा संस्कृति एवं व्यवहार की अन्य परम्परायें प्रचलित करने में प्रयत्नशील रहती है।

पिछड़े हुए देशों के आर्थिक विकास के लिये इस संस्था द्वारा आर्थिक एवं प्राविधिक सहायता योजनाओं की स्थापना की गई है। आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी हुई जातियों और जन समुदायों का विकास करके ही उनको सामाजिक रूप से ऊँचा उठाया जा सकता है। परिषद की 'प्राविधिक सहायता समिति का मुख्य उद्देश्य ही युद्ध और दरिद्रता से मानव जाति को छुटकारा दिलाना है।" इस समिति का उद्घाटन करते हुए अमेरिका के राष्ट्रपति ट्रूमैन ने कहा था— विश्व की आधे से अधिक जनता दरिद्रता के दुख भोग रही है, उन्हें पर्याप्त भोजन नहीं मिलता। वे बीमारियों की शिकार होती हैं। उनका आर्थिक संगठन आदिम ढंग का है। उनकी दरिद्रता उनकी उन्नति में बाधक है और समृद्ध प्रदेशों के लिये बड़ा संकट है। इतिहास में पहली बार मनुष्य जाति को जनता के दुख को दूर करने का ज्ञान और क्षमता प्राप्त हुई है अतः हमें वैज्ञानिक और औद्योगिक उन्नति के लाभों द्वारा कम विकसित प्रदेशों को उन्नत करने की नई साहसपूर्ण योजनाओं को कार्यान्वित करना चाहिये।" संयुक्त राष्ट्रसंघ की आर्थिक और सामाजिक परिषद इन उद्देश्यों की पूर्ति का प्रयास करती है। यह अर्ध-विकसित देशों को विशेषज्ञ भेजती है और इन्हें मशीनों यन्त्रों उपकरणों आदि की प्राप्ति के लिये आर्थिक सहयोग देती है। भारत जैसे कम विकसित देशों को वर्तमान समय में दो प्रकार की सहायता की पूर्ण अपेक्षा है—(१) प्राविधिक क्षमता (Technical Skill) नई विधियों और उपायों की सहायता से उत्पादन बढ़ा कर दरिद्रता का विनाश एवं (२) आवश्यक उपकरणों यन्त्रों मशीनों भवनों, सड़कों बन्दरगाहों को प्रस्तुत करके व्यापार उद्योग कृषि-उत्पादन में वृद्धि। आर्थिक और सामाजिक परिषद उपरोक्त प्रकार की सहायता उपलब्ध करा के भारत जैसे अन्य अथवा अर्ध-विकसित एशियाई एवं अफ्रीकन देशों को यथा-सम्भव बड़ा लाभ पहुँचा रही है।

चार्टर के अनुच्छेद ६२ (२) के अनुसार आर्थिक और सामाजिक परिषद समाज के लिये मानव अधिकारों तथा मूल स्वतंत्रताओं के प्रति आस्था बढ़ाने अथवा उनके पालन कराने के लिये सिफारिशें कर सकती है। वास्तव में परिषद का लक्ष्य मुख्य रूप से मानव-अधिकारों (Human Rights) को प्रोत्साहन देना है। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा राष्ट्रसंघ की अपेक्षा इन अधिकारों पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि द्वितीय महायुद्ध से पहिले और महायुद्ध काल में बर्बरतापूर्ण अत्याचारों से मानवीय अधिकारों का अत्यधिक

हनन होने के कारण 'मानव अधिकार की रक्षा' एक ज्वलन्त प्रश्न बन गया था। चारों ओर से यह माँग की जाने लगी थी कि मानव अधिकारों को विनष्ट करने वाली क्रूरताओं की पुनरावृत्ति नहीं होनी चाहिये और संयुक्त राष्ट्रसंघ को इस दिशा में विशेष प्रयत्न करना चाहिये। अतएव संघ के चार्टर में महासभा को एवम् आर्थिक और सामाजिक परिषद को मानव अधिकारों की अभिवृद्धि के कार्य का विशेष दायित्व दिया गया है। इस दायित्व की पूर्ति के लिये परिषद ने विभिन्न प्रकार के मानव अधिकारों का अध्ययन किया है और इस के लिये विभिन्न आयोग स्थापित किये हैं। शरणार्थियों तथा राज्य हीन व्यक्तियों के लिये नियम बनाये गये हैं, ट्रेड यूनियनों के अधिकारों की रक्षा का और प्रसार का अध्ययन किया गया है। महासभा ने जाति नाश (Genocide) के सम्बन्ध में एक प्रस्ताव पारित किया है जिसके अनुसार किसी भी राष्ट्रीय जाती अथवा धार्मिक समुदाय को पूर्णतः विनष्ट करने के प्रयत्नों को अवैध घोषित किया गया है। भारत दक्षिणी-अफ्रिका में भारतीयों के मानव-अधिकारों के अपहरण के प्रश्न को महासभा में बारम्बार उठाता रहा है। परिषद् ने स्त्रियों की स्थिति पर सूचना और प्रेस की स्वतन्त्रता पर आयोग का निर्माण कर इन विषयों में विभिन्न समझौतों अथवा अभिसमयों (Conventions) के प्रारूप तैयार किये हैं।

लेकिन इस विषय में सबसे बड़ा कार्य मानव अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा (The universal declaration of human rights) का है। इस घोषणा को एक आयोग ने तैयार करने के उपरान्त सामाजिक परिषद को दिया था। परिषद ने इसको महासभा में विचार के लिये प्रस्तुत किया। घोषणा का यह प्रस्ताव १० दिसम्बर १९४८ को महासभा ने निर्विरोध रूप से ४८ मतों के बहुमत से स्वीकार कर लिया। मानव अधिकारों के व्यापक प्रचार के लिये प्रति वर्ष १० दिसम्बर का दिन 'मानवीय अधिकार दिवस' (Human rights day) के रूप में मनाया जाता है।

मानव-अधिकारों की सार्वभौमिक घोषणा में प्रस्तावना सहित ३० अनुच्छेद हैं जिनमें राजनीतिक आर्थिक व सामाजिक अधिकारों का विस्तार से वर्णन किया गया है। इस अनुच्छेदों की मुख्य बातें निम्नलिखित हैं।

अनुच्छेद १ के अनुसार सभी मानव स्वतन्त्र रूप से जन्मे हैं और गौरव और अधिकारों में समान हैं।

अनुच्छेद २ के अनुसार प्रत्येक मानव को घोषणा में निहित अधिकारों को प्राप्त करने का अधिकार है।

अनुच्छेद ३ में व्यक्तिगत स्वतंत्रता के सिद्धान्त का उल्लेख है।

अनुच्छेद ४ के अन्तर्गत दासता और दास-व्यापार, शारीरिक कष्ट या पीड़ा पहुँचाना एवम् अमानवीय व्यवहार करना निषिद्ध ठहराया गया है।

अनुच्छेद ६ से ११ तक सर्वमान्य मानवीय अधिकारों का उल्लेख है।

अनुच्छेद १२ में निजी गोपनीयता का वर्णन है।

अनुच्छेद १३ में पत्र-व्यवहार की स्वतंत्रता एवम् स्वदेश में प्रत्येक स्थान पर आने जाने की स्वतंत्रता का उल्लेख है।

आर्थिक एवम् सामाजिक परिषद की भुजायें (The arms of Economic and Social council)-इस परिषद का कार्य बहुत महत्वपूर्ण व्यापक एवम दीर्घगामी है जिसे केवल एक संस्था मात्र द्वारा सम्पन्न नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि इस परिषद के अधीन अनेक आयोगों विशेषीकृत अभिकरणों तथा समितियों की स्थापना की गई जो इसके कार्यों में सामञ्जस्य की स्थापना करती है।

परिषद के आयोग दो प्रकार के है —

(१) क्रियात्मक (Functional)
(२) प्रादेशिक (Regional)

क्रियात्मक आयोग निम्नलिखित है–

(१) आर्थिक रोजगार एवम् विकास आयोग (Economic Employment and Development Commission)
(२) यातायात तथा संचार आयोग (Transport & Communication Commis ion)
(३) वित्तीय आयोग (Financial Commission)
(४) सांख्यिकी आयोग (Statistical Commission)
(५) जनसंख्या आयोग (Population Commission)
(६) सामाजिक आयोग (Social Commission)
(७) मानव अधिकारों संबंधी आयोग (Commission on Human Rights)
(८) स्त्रियों की स्थिति संबंधी आयोग (Commission on Status of Women)
(९) नशीले द्रव्य सम्बन्धी आयोग (Commission on Narcotic Drugs)

इन आयोगों में परिषद द्वारा निर्वाचित संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के प्रतिनिधि लिये जाते है। इनके प्रमुख कर्तव्य ये है—अपने अधिकार क्षेत्र में विषयों का अध्ययन करना परिषद के सम्मुख सिफारिशें करना और इन योजनाओं और सिफारिशों को कार्यान्वित कराने में सहयोग देना।

प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोग निम्नलिखित है —

(१) यूरोप के लिए आर्थिक आयोग (Economic Commission for Europe)

(२) एशिया के तथा सुदूरपूर्व के लिये आर्थिक आयोग (Economic Commission for Asia and Far East)

(३) लैटिन अमेरिका के लिये आर्थिक आयोग (Economic Commission for Latin America)—दक्षिणी और मध्य अमेरिका को लैटिन अमेरिका कहा जाता है।

(४) अफ्रिका के लिये आर्थिक आयोग (Economic Commission for Africa)—प्रादेशिक या क्षेत्रीय आयोग विविध आर्थिक समस्याओं का अध्ययन और निपटारा सुगम बनाने की दृष्टि से नियुक्त किये जाते है। इन आयोगों की सदस्यता संबंधित क्षेत्रों के राष्ट्रों को दी जाती है परन्तु यदि

वे संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य न हों तो उनका चुनाव साथी सदस्यों के रूप में किया जाता है । ये क्षेत्रीय आयोग अपनी क्षेत्रीय सरकारों से सीधा पत्र-व्यवहार कर सकते हैं और सुझाव भी दे सकते हैं ।

उपरोक्त आयोगों के अतिरिक्त आर्थिक और सामाजिक परिषद् में कुछ विशेष अभिकरण (Specialised agencies) भी सम्मिलित हैं जो निम्न लिखित हैं—

(१) सर्वव्यापी डाक संघ (Universal Postal Union)—यह सन् १८७४ में प्रथम बार स्थापित हुआ इसका प्रधान कार्यालय बर्न (Bern) में है ।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (International Labour Organisation)—इसकी स्थापना सन् १९१९ में हुई थी । इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है ।

(३) पुनर्निर्माण एवम् विकास के लिये अन्तर्राष्ट्रीय बैंक (International Bank for reconstruction & Development)—यह सन् १९४४ में स्थापित हुई । इसका प्रधान कार्यालय वाशिंगटन में है ।

(४) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (International Monetary Fund)—यह भी सन् १९४४ में स्थापित हुआ तथा इसका प्रधान कार्यालय भी वाशिंगटन में है ।

(५) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक वायुयान संगठन (International Civil Aviation Organisation)—यह भी १९४४ में स्थापित हुआ । इसका प्रधान कार्यालय मोन्ट्रील (Montrial) में है ।

(६) खाद्य एवम् कृषि संगठन (Food and Agriculture Organisation)—यह सन् १९४५ में स्थापित हुआ । इसका प्रधान कार्यालय रोम में है ।

(७) संयुक्त राष्ट्र शिक्षा विज्ञान एवम् सांस्कृतिक संगठन (United Nations Educational Scientific and Cultural Organisation)—यूनेस्को १९४५ में स्थापित हुई थी । इसका प्रधान कार्यालय पेरिस में है ।

(८) विश्व स्वास्थ्य संगठन (World Health Organisation)—यह १९४६ में स्थापित हुई तथा इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है ।

(९) अन्तर्राष्ट्रीय दूरगामी संचार संघ (International Telecommunication Union)—इसका प्रधान कार्यालय भी जेनेवा में है तथा इसे १९३४ में ही बना दिया गया था ।

(१०) विश्व ऋतु विद्या सम्बन्धी संगठन (World Meteorological Organisation)—यह १९४७ में स्थापित किया गया था तथा इसका प्रधान कार्यालय लौसाने (Lausanne) में है ।

संयुक्त राष्ट्र अन्तर्राष्ट्रीय बाल-कल्याण आपत्कालीन कोष (U N International Children's Emergency Fund UNICEF) की गणना विशिष्ट समितियों में नहीं की जाती पर यह भी आर्थिक और सामाजिक परिषद् से सम्बन्धित संस्थाओं में से एक है । इस संस्था की स्थापना महासभा

द्वारा ११ दिसम्बर १९४६ को हुई थी। यह स्वशासी संस्था है। ३० देशों का एक कार्यकारी मंडल इसका संचालन करता है। इस कोष में ११८ देश अपनी अपनी मुद्रा में चन्दा देते हैं। इसका वार्षिक बजट लगभग ३ करोड़ डालर का है। इस संस्था का उद्देश्य बच्चों के स्वास्थ्य और पोषण आदि कार्यक्रमों द्वारा बच्चों के कल्याण में सहयोग देना है जो स्वास्थ्य सुधार पौष्टिक भोजन पढ़ाई लिखाई, व्यवसाय, शिक्षा सम्बन्धी कार्यक्रम आदि के द्वारा पूरा किया जाता है।

आर्थिक और सामाजिक परिषद की स्थायी समितियां ये हैं —

१ प्राविधिक सहायता समिति
२ अन्तर्राजकीय संस्थाओं से बातचीत करने वाली समिति
३ गैर-सरकारी संगठनों या संस्थाओं से परामर्श की व्यवस्था करने वाली समिति
४ कार्यावलि समिति और
५ बैठकों के कार्यक्रम की अन्तरिम समिति

इन सब में प्राविधिक सहायता समिति (Technical Assistance Committee)—सर्वाधिक महत्वपूर्ण है जिसके कार्यों का वर्णन ऊपर किया जा चुका है। उपरोक्त सभी अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों एवं विशेष निकायों का बड़ा महत्व है क्योंकि इनके द्वारा संसार के लोगों के जीवनस्तर को ऊंचा उठाने तथा उनकी मूलभूत आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के सुलझाने की दशा में उल्लेखनीय कार्य किया जाता है। इनके अतिरिक्त ये विश्व के राष्ट्रों के बीच परस्पर सहयोगपूर्ण सम्बन्ध स्थापित कराने में भी सहायक होती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय यातायात एवं संचार व्यवस्था को सुधारने डाक व्यवस्था को सुचारु बनाने भोजन के उत्पादन तथा वितरण को संतोषजनक बनाने अन्तर्राष्ट्रीय विनिमय की प्रणाली को स्थापित करने बीमारियों को कम करने तथा स्वास्थ्य के स्तर को सुधारने में इन विशेष अभिकरणों द्वारा जो कार्य किया गया है तथा किया जा रहा है उनको भुलाया नहीं जा सकता।

इस प्रसंग में गैर-सरकारी संगठनों (Non-Governmental Organisations) की चर्चा भी उल्लेखनीय है। प्रायः सामान्य हितों की पूर्ति के लिये विभिन्न देशों के व्यक्तिगत तथा गैर सरकारी समुदाय एक संयुक्त संगठन की रचना कर लेते हैं। ऐसे संगठनों में प्रत्येक वर्ग व्यापारिक एवं व्यापारियों की संस्थाएं सामुदायिक समाज विभागों के संगठन स्त्रियों के संगठन तथा साथ ही अनेक व्यावसायिक वैज्ञानिक मानवीय और समाज सुधार संगठनों का योगदान रहा है। इस प्रकार से गैर-सरकारी संगठन विश्व के विभिन्न भागों की विशाल जनता से सम्बन्धित रहते हैं। इन संगठनों के के द्वारा छोटे से लेकर बड़े तक तथा घर से लेकर विश्व तक के सभी सामान्य विषयों पर विचार किया जाता है। इन संगठनों के लिये चार्टर के अनुच्छेद ७१ में कहा गया कि आर्थिक और सामाजिक परिषद अपने कार्य क्षेत्र से सम्बन्धित विषयों पर गैर-सरकारी संगठनों के साथ आवश्यकतानुसार बातचीत

एक समझौते कर सकती है। इस उपबन्ध के अधीन ३ प्रकार के संगठनों की रचना की गई है—प्रथम प्रकार के वे संगठन हैं जिनका आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के अधिकांश कार्यों से सम्बन्ध है तथा जो अपने क्षेत्र के लोगों के सामाजिक तथा आर्थिक जीवन में भी गहरा सम्बन्ध रखते हैं। इस प्रकार के संगठनों की संख्या ६ है। द्वितीय प्रकार के संगठन जो केवल एक मामले से ही सम्बन्ध रखते हैं और इनकी संख्या लगभग ८५ है। तीसरे प्रकार के संगठनों में १०० से भी अधिक ऐसे संगठन हैं जो कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव द्वारा रजिस्टर में अंकित कर दिये जाते हैं।

स्पष्ट है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद ने मानव जाति के उत्थान एवं सुखी जीवन की दिशा में अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य किया है। महायुद्ध के बाद प्रसार के आर्थिक और सामाजिक समस्याओं से पीड़ित होने के कारण इस परिषद का कार्यक्षेत्र और भी बढ़ गया है। परन्तु सम्प्रभु राज्यों के रहते हुए यह संस्था अपने कार्यों में आंशिक रूप से ही योगदान कर सकी है। प्रारम्भ में तो यह अपने कार्यों को सम्पन्न करने में असमर्थ असफल सी ही रही थी। इसमें लम्बे वाद विवाद होते थे योजनायें बनती थी तथा कार्यक्रम से सम्बन्धित निर्णय लिये जाते थे परन्तु अपने लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में इसके कदम नहीं के बराबर ही बढ़ पाते थे। अमरिका के परराष्ट्र सचिव ने एक बार इसके सीमित स्वरूप को स्पष्ट करते हुए कहा था कि—

एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन आर्थिक और सामाजिक समस्याओं के हल में सहायक हो सकता है लेकिन सम्प्रभु राष्ट्रों के कार्यों और अधिकारों में दखल नहीं दे सकता। यह वैयक्तिक सदस्य राष्ट्रों को कोई भी कार्य करने को कोई आदेश नहीं दे सकता। राष्ट्रों के अतिरिक्त मामलों तक उसकी पहुँच नहीं है। उसके साधन और उसकी कार्य पद्धति केवल यह है—अध्ययन विचार-विमर्श रिपोर्ट एवं सुझाव।

वास्तव में किसी के द्वारा यह ठीक ही कहा गया है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद 'कानूनी सुरक्षा परिषद की छुपी भीम बहिन है।

प्रो फेनविक (Fenwick) ने मत प्रकट किया है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद कोई नीति निर्धारण की संस्था नहीं है बल्कि एक विशिष्ट समिति के समान है जिसका उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में व्यावहारिक काम करता है।

---

*"It is not a policy forming body but rather a special committee designed to promote and to carry on the practical work of International economic and social co-operation without detracting from the ultimate responsibility to the General Assembly in the matter."
—*Charles G Fenwick* International Law p 186.

स्टार्क (Starke) के शब्दों में इस संस्था को मुश्किल से ही कार्यकारी अंग बताया जा सकता है क्योंकि इसका कार्य तो केवल सिफारिशें करना एवं राय देना है। इसके निर्देश और मार्गदर्शन द्वारा सरकारें एवं विशिष्ट एजेन्सियाँ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में आर्थिक तथा सामाजिक समस्याओं का समाधान करने में सहायता प्राप्त करती हैं।*

प्रो० शूमन (Schuman) ने लिखा है कि चार्टर की ६१ से ७२ तक की धाराओं में आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की व्यवस्था की गई है। १८ राज्यों (अब २७) की इस संस्था को भी परामर्श देने अध्ययन एवं सिफारिशें करने तक ही सीमित बना दिया गया है—यह एक सही तथ्य है जो संघ की जटिल और उसके विशिष्ट साधनों की बहुलता से परिवर्तित नहीं होता।+

४ न्यास-परिषद (Trusteeship Council) और न्यास-व्यवस्था (Trusteeship System)—संयुक्त राष्ट्रसंघ का चौथा महत्वपूर्ण अंग न्यास-परिषद (Trusteeship Council) है। संघ के चार्टर में अध्याय १२ के अन्तर्गत पहिले अनुच्छेद ७५ से ८५ तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यास व्यवस्था Trusteeship System) को समझाया गया है एवं तत्पश्चात अध्याय १३ के अन्तर्गत अनुच्छेद ८६ से ९१ तक न्यास-परिषद के संगठन, कार्य एवं अधिकार, मतदान तथा कार्य विधि आदि पर प्रकाश डाला गया है। अतः हम पहिले न्यास–पद्धति या न्यास व्यवस्था पर ही चर्चा करेंगे।

(क) न्यास-पद्धति —पहले राष्ट्रसंघ में संरक्षण व्यवस्था (Mandat System) थी। उसके स्थान पर संयुक्त राष्ट्रसंघ ने न्यास–व्यवस्था अपनाई है जिसका मुख्य सिद्धान्त यह है कि विश्व में अनेक पिछड़े हुए एवं अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तब ही सम्भव है जब कि अन्य

---

* "The Economic and Social council is provided for in articles 6 to 72 of the charter. This body of 18 states is also limited to giving advice and making studies and recommendations–a fact which is not altered by the complexity of its organisation and by the multiplicity of the specialised agencies which it consults."

—*Starke* An Introduction to International Law p. 385

+"The Economic and Social Council can hardly be described as an executive organ as its functions are primarily advisory and recommendatory. Through its guidance and direction, Governments and the specialised agencies are enabled to work towards a common goal in solving economic and social problems of international concern."

—*Frederick L. Schuman.*

और सम्पन्न देश उन्हें सहयोग प्रदान करें। अतः उन्नत देशों का यह कर्तव्य है कि उस समय तक अपने आपको न्यासी (Trustee) समझ कर अविकसित प्रदेशों के हितों की देखभाल करते हुए उनके विकास में हर सम्भव सहयोग दें। इस सम्बन्ध में अध्याय ११ के अन्तर्गत अनुच्छेद ७३ में संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य प्रतिज्ञाबद्ध हुए हैं। यह अनुच्छेद इस प्रकार है—

"संयुक्त राष्ट्र संघ के वे सदस्य जिन पर प्रदेशों के प्रशासन की जिम्मेदारियाँ हैं या होगी जहाँ लोगों को पूर्ण रूप से स्वतंत्रता नहीं मिली है यह स्वीकार करते हैं कि उन प्रदेशों के निवासियों के हितों की रक्षा सबसे पहिले होनी चाहिये और वे एक पुण्य न्यास के रूप में अपना यह उत्तरदायित्व मानते हैं कि वर्तमान चार्टर द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा प्रणाली के अधीन, अधिक से अधिक इन देशों के निवासियों की भलाई करनी है और इसके लिये उन्हें—

१ इन प्रदेशों के लोगों की संस्कृति का पूरा ध्यान रखते हुए, उनकी राजनीतिक आर्थिक सामाजिक और शैक्षणिक उन्नति करनी होगी तथा उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार और उन्हें अत्याचारों से बचाने का पूरा प्रबन्ध करना होगा।

२ प्रत्येक प्रदेश और उसके लोगों की अपनी-अपनी परिस्थितियों तथा उनके विकास की अवस्था के अनुसार स्वशासन को प्रोत्साहन देने, उनकी राजनीतिक आकांक्षाओं के प्रति उचित ध्यान रखने का एवं उनकी स्वतंत्र राजनीतिक संस्थाओं के विकास में अधिकाधिक सहायता देने का पूरा प्रयत्न करना होगा।

३ अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की अभिवृद्धि करनी होगी।

४ इस अनुच्छेद में बताये गये सामाजिक आर्थिक एवं वैज्ञानिक प्रयोजनों की पूर्ति के लिये विकास के रचनात्मक कार्यों को प्रारम्भ कर देना होगा, शोध-कार्यों को बढ़ावा देना होगा और एक दूसरे के साथ तथा जब और जहाँ ठीक हो विशिष्ट कार्य करने वाली अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के साथ सहयोग स्थापित करना होगा।

५. सुरक्षा एवं संवैधानिक बाधाओं की सीमाओं को ध्यान में रखते हुए महासचिव को इन प्रदेशों की आर्थिक सामाजिक शैक्षणिक परिस्थिति के अलग-अलग आंकड़ों द्वारा अन्य तकनीकी सूचनाएं देनी होंगी जिनके लिये वे उत्तरदायी हैं सिवाय उन प्रदेशों के जिन पर १२वें और १३वें अध्यायों के उपबन्ध लागू होते हैं।

यह स्मरणीय है कि संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास-व्यवस्था राष्ट्र संघ की संरक्षण व्यवस्था (Mandate Sy tme) का विकसित और नवतर रूप है और संरक्षण अथवा मैंडेट व्यवस्था के समान ही यह श्वेत जातियों के भार" (Whiten-n s burden) के साथ उपनिवेशवादी सिद्धान्तों एवं आत्मनिर्णय और स्वशासन के साम्राज्यवाद विरोधी सिद्धान्तों के मध्य एक समझौता है किन्तु यह प्रकट है कि इसका साम्राज्यवाद विरोधी पक्ष मैंडेट व्यवस्था की अपेक्षा अधिक प्रबल है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना होगा कि अगस्त १९४१ के अटलांटिक चार्टर में सभी पराधीन देशों के लिए आत्मनिर्णय के

सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया गया था। सान-फ्रान्सिस्को के सम्मेलन म फ्रांस हॉलैण्ड दक्षिण अफ्रीका तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के सैनिक दल पुरानी मैण्डेट व्यवस्था म किसी प्रकार के विस्तार के और अमेरिकन प्र- पति रूजवेल्ट की तथा विदेश मन्त्री कार्डेल हल की न्यास-पद्धति के विचारों के विरोधी थे। वे अपने उपनिवेशों पर अपना नियन्त्रण छोड़ने को तैयार न थे। इसके विपरीत न्यूजीलैंड आस्ट्रेलिया मध्यपूर्व तथा दक्षिण अमेरिका के दल सोवियत रूस चीन आदि साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद के उन्मूलन के पक्ष में थे। अन्ततः इन दोनों दृष्टिकोणों एवं परस्पर विरोधी हितों के मध्य समझौता होने से संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास पद्धति (Trusteeshi System) का जन्म हुआ और चार्टर के अनुच्छेद ७५ में यह व्यवस्था दी गई।

"संयुक्त राष्ट्र संघ अपने अधिकारों के अधीन ऐसे प्रदेशों के शा शासन और संरक्षण के लिये अन्तर्राष्ट्रीय न्यास पद्धति बनायेगा जो म व्यक्तिगत समझौतों द्वारा उसके अधीन रखे जाएं। इन प्रदेशों को बस कर न्यास-प्रदेश कहा जाएगा।'

यह बात उल्लेखनीय है कि राष्ट्र संघ (League of Nations मैण्डेट व्यवस्था केवल जर्मनी टर्की आदि से पीड़ित हुए प्रदेशों के लि किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवा साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाये गये सभी क्षेत्रों के लिये है।

न्यास-व्यवस्था के उद्देश्य (Purposes of Trusteeship System)–

न्यास व्यवस्था के उद्देश्यों को बड़े स्पष्टतापूर्वक अनुच्छेद ७६ में दिया गया है। यह अनुच्छेद इस प्रकार है–

"वर्तमान चार्टर के अनुच्छेद १ में संयुक्त राष्ट्र संघ के जो प्रयोजन बताये गये हैं उनके आधार पर न्यास-पद्धति के निम्नलिखित मूल उद्देश्य होंगे —

(१) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा को बढ़ाना

(२) लोगों की राजनीतिक आर्थिक सामाजिक एवं शैक्षणिक उन्नति में योग देना तथा स्वशासन अथवा स्वतन्त्रता के क्रमिक विकास में सहायता प्रदान करना। यह सब प्रत्येक प्रदेश में वहां के लोगों की विशेष परिस्थितियों के अथवा उन लोगों की स्वतन्त्र सम्मति के अनुसार किय जाएगा और प्रत्येक न्यास-समझौते की शर्तों में जो कुछ उपबन्ध किया गया हो उनका पूरा ध्यान रखा जाएगा।

(३) जाति लिंग भाषा और धर्म का भेद किये बिना सब के लिए मानव-अधिकारों एवं मूल स्वतन्त्रताओं के प्रति विश्वास में अभिवृद्धि और उनमें इन भावनाओं की जागृति कि संसार के सभी लोग परस्पर एक दूसरे पर निर्भर हैं।

(४) सामाजिक आर्थिक और वाणिज्य सम्बन्धी मामलों में संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों और उनके प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना साथ ही इन लोगों को इस बात का भी विश्वास दिलाना कि न्याय करने की दिशा में सब के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाएगा।"

न्यास-व्यवस्था के अन्तर्गत आने वाले प्रदेश—जैसे कि कहा जा चुका है न्यास-व्यवस्था का क्षेत्र मैनडेट-व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक है। मैनडेट-व्यवस्था केवल उन उपनिवेशों तक सीमित थी जो शत्रु राष्ट्रों (जर्मनी एवं टर्की आदि) से छीन लिये गये थे परन्तु न्यास-व्यवस्था संसार के सभी पराधीन देशों से सम्बन्ध रखती है।

न्यास-पद्धति के अन्तर्गत आने वाले प्रदेशों को दो भागों में विभाजित किया गया है—

(१) अ-स्वशासित प्रदेश (Non-Self Governing Territories)

(२) न्यास या संरक्षित प्रदेश (Trust Territories)

अ-स्वशासित अर्थात् स्वशासन न करने वाले प्रदेशों में वे सब पराधीन प्रदेश और उपनिवेश शामिल हैं जो संरक्षित प्रदेश नहीं बना दिये गये हों। वे ब्रिटेन फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्य के अन्तर्गत आते हैं। इनके सम्बन्ध में चार्टर में विशेष नियम निर्धारित नहीं किये गये हैं। केवल इतना ही है कि इन्हें समय-समय पर विशिष्ट सूचनायें देनी पड़ती हैं।

न्यास प्रदेश (Trust Territories) के अन्तर्गत वे प्रदेश आते हैं जो न्यास समझौतों के द्वारा न्यास प्रदेश बना दिये जाते हैं। ये समझौते सम्बन्धित राज्यों में मध्य होते हैं पर उन पर महा सभा की स्वीकृति अनिवार्य है।

निम्नलिखित ३ प्रकार के प्रदेश न्यास प्रदेश बनाये जा सकते हैं—

(१) मैनडेट के अधीन प्रदेश

(२) द्वितीय महायुद्ध के परिणामस्वरूप शत्रु राज्यों से छीने गये प्रदेश एवम्

(३) अपनी इच्छा से महा शक्तियों द्वारा संघ को सौंपे जाने वाले प्रदेश।

उल्लेखनीय है कि अभी तक किसी भी देश ने अपने अधीनस्थ किसी भी क्षेत्र को संयुक्त राष्ट्र संघ को सौंपने की उदारता प्रदर्शित नहीं की है। राष्ट्र संघ (League of Nations) के मैनडेट वाले प्रदेशों में दक्षिणी अफ्रिका संघ ने दक्षिण-पश्चिमी अफ्रिका को तीव्र आलोचना के बावजूद संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास पद्धति के अन्तर्गत सौंपना स्वीकार नहीं किया है। मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को सौंपा जाने पर न्यायालय का निर्णय यह था कि यद्यपि दक्षिण को इस बात के लिये बाध्य नहीं किया जा सकता कि वह दक्षिण-पश्चिमी अफ्रिका को न्यास प्रदेश बना दे, लेकिन उस पर राष्ट्र संघ का मैनडेट विद्यमान है और राष्ट्र संघ के उत्तराधिकारी के रूप में संयुक्त राष्ट्र संघ की उस प्रदेश पर वे अधिकार प्राप्त हैं जो राष्ट्र संघ को प्राप्त थे किन्तु दक्षिण अफ्रिका पर इस निर्णय का कोई प्रभाव नहीं पड़ा और उसने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा स्थापित समिति को इस प्रदेश के शासन के सम्बन्ध में आवश्यक रिपोर्ट प्रेषित करने से इन्कार कर दिया। ३१ अक्टूबर, १९५८ को न्यास समिति की दक्षिण अफ्रिका सम्बन्धी समिति की रिपोर्ट उपस्थित होने पर जब यह सुझाव दिया गया कि अन्य मित्र

शक्तियों के साथ इस प्रदेश का विभाजन करते हुए राष्ट्रसंघ जैसा मैण्डेट इस पर स्थापित किया जाए, भारत के प्रतिनिधि श्री कृष्णा मेनन ने इस बात का घोर विरोध किया। उन्होंने घोषणा की कि—'यह बातों की मण्डी नहीं है जहां एक दल दूसरे दल को यह कहे कि हम तुम्हें प्रदेश का भाग सौंपते हैं पर इसके बदले में तुम दूसरे भाग की ओर ध्यान नहीं दोगे। दक्षिण अफ्रिका के संघ के दीर्घ संघर्ष के कारण ही यह समस्या अब तक नहीं सुलझ पाई है।

यह जानना रोचक होगा कि न्यास पद्धति के अन्तर्गत कौन-कौन से प्रदेश थे और कौन से प्रदेश अब तक स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं।

कुछ वर्ष पूर्व इस पद्धति के अन्तर्गत ११ प्रदेश थे जिनकी जनसंख्या १ ७४ ७५ ९६० थी तथा क्षेत्रफल ९ ०७ ९६० वर्ग मील था। इनका विस्तृत वर्णन निम्नलिखित है।

क्रम संख्या	न्यास पद्धति के प्रदेश का नाम	प्रशासक प्रदेश का नाम	जनसंख्या	क्षेत्रफल (वर्गमील में)
१	न्यूगिनी	आस्ट्रेलिया	१० ९६०	९३ ०००
२	रूआण्डा उरून्डी	बेल्जियम	३७ १८ ६९६	२ ९९९
३	फ्रेंच कैमरून्स	फ्रांस	२७ २५००	१ ६६ ७८७
४	फ्रेंच टोगोलैण्ड	फ्रांस	९,४४ ४४६	२१ २३६
५	पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड	७२ ९६६	१ १११
६	टांगा निक्का	ग्रेट ब्रिटेन	७० ७५ ५५७	९,९२ ६८८
७	ब्रिटिश कैमरून्स	ग्रेट ब्रिटेन	९,९१ ०००	१४ ८१
८	नौरू	आस्ट्रेलिया	३ ९६२	८२
९	प्रशान्त महासागर के द्वीपों का न्यास प्रदेश	संयुक्त राज्य अमरिका	९ ,००	६८७
१०	सुमाली लैण्ड	इटली	९ १५	१ ६४ ०
११	टोगो लैण्ड	ग्रेट ब्रिटेन	१ ८२ २००	११ ०००
		योग	१ ७४ ७५ ९६०	९ ०७ ९६०

उपरोक्त में निम्न प्रदेश स्वतन्त्रता प्राप्त कर चुके हैं जिनका वर्णन नीचे लिखे अनुसार है—

क्र०सं०	न्यास पद्धति के प्रदेश का नाम	प्रशासक प्रदेश का नाम	स्वाधीनता प्राप्त करने की तिथी
१	टोगोलैण्ड	ब्रिटेन	६ मार्च १९५७
२	फ्रेंच कैमरून्स	फ्रांस	१ जनवरी १९६०
३	फ्रेंच टोगोलैण्ड	फ्रांस	२७ अप्रैल १९६०
४	सुमालीलैण्ड	इटली	१ जुलाई १९६
५	ब्रिटिश कैमरून्स	ब्रिटेन	१ जुलाई १९६१
६	टांगानिक्का	ब्रिटेन	९ दिसम्बर १९६१
७	पश्चिमी समोआ	न्यूजीलैण्ड	१ जनवरी १९६२
८	रूआण्डा और उरून्डी	बेल्जियम	१ जुलाई १९६२ (दोनों पृथक राज्य बने)

अब नौरू द्वीप को छोड़ कर केवल दो प्रदेश ही न्यास पद्धति मे रह गए हैं जिन्हें स्वशासन का अधिकार प्राप्त नहीं हुआ है।

यह ध्यान रखने योग्य बात है कि चार्टर के अनुच्छेद ७८ में यह व्यवस्था की गई है कि—

यह न्यास पद्धति उन देशों पर लागू नहीं होगी जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य बन गये हैं और जिनके बीच सम्बन्ध सबकी समान प्रभुता के सिद्धान्त के प्रति आस्था रखने पर आधारित होंगे।

न्यास पद्धति के अन्तर्गत आने वाले प्रदेशों के सम्बन्ध मे यह उल्लेखनीय है कि न्यास प्रदेशों का भी दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(१) सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रदेश एवं

(२) ऐसे प्रदेश जिनका सामरिक दृष्टि से कोई विशेष महत्व न हो अर्थात सामान्य न्यास-प्रदेश।

सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण प्रदेशों को सुरक्षा परिषद का संरक्षण प्राप्त है जब कि दूसरे श्रेणी के सामान्य न्यास प्रदेश महासभा और न्यास परिषद के अधिकार क्षेत्र मे आते हैं। इस प्रकार के न्यास प्रदेशो के शासन के लिए एक राज्य अनेक राज्यो अथवा स्वयं संयुक्त राष्ट्र संघ को प्रशासक नियुक्त किया जा सकता है।

(ख) न्यास-परिषद संगठन (Composition)—न्यास प्रदेशों से सम्बन्धित संयुक्त राष्ट्र संघ के अधिकारो एव उत्तरदायित्वों का सम्पादन करने की मुख्य सत्ता न्यास-परिषद है। यह राष्ट्र संघ के स्थायी मैन्डेट आयोग (Permanent Mandate Commission) की अपेक्षा एक अधिक शक्तिशाली संस्था है और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रमुख अंगों में से एक है। इसका कार्यारम्भ १९४७ से हुआ था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित सदस्य इसके भी सदस्य होते हैं—

(अ) सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य चाहे वे न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करते हों अथवा नहीं

(आ) संयुक्त राष्ट्र संघ के वे सदस्य जो न्यास-क्षेत्र का प्रशासन करते हों और।

(इ) महासभा द्वारा ३ वर्ष के लिए निर्वाचित उतने सदस्य जितने न्यास-परिषद में न्यास-प्रदेशों का शासन करने और न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हों।

मतदान और कार्य-विधि (Voting and Procedure)—चार्टर के अनुच्छेद ८९ में न्यास-परिषद की मतदान-प्रणाली उल्लिखित है। इसके अनुसार—

(१) न्यास-परिषद के प्रत्येक सदस्य का एक वोट होगा,

(२) न्यास-परिषद में निर्णय उपस्थित एवं वोट देने वाले सदस्यों के बहुमत से किया जायगा।

चार्टर के अनुच्छेद ९० में इस परिषद की कार्यविधि का वर्णन है। अनुच्छेद के अनुसार—

(१) न्यास-परिषद अपनी कार्य विधि के नियम स्वयं बनाएगी। अपना अध्यक्ष चुनने की विधि भी यह तय करेगी।

(२) न्यास-परिषद की सभाएं उसके नियमों के अनुसार हुआ करेंगी। इन नियमों में यह भी प्रबन्ध होगा कि सदस्यों के बहुमत की प्रार्थना पर इसकी बैठकें आमन्त्रित की जा सकें।

अनुच्छेद ९१ में यह व्यवस्था की गई है कि—

न्यास परिषद जहाँ भी उचित होगा आर्थिक और सामाजिक परिषद तथा विशेष कार्य करने वाली संस्थाओं से उन मामलों पर सहायता ले सकेगी जिनसे उनका अपना अपना सम्बन्ध है।

कार्य और शक्तियां (Functions and Powers) यद्यपि न्यास परिषद संयुक्त राष्ट्रसंघ की एक प्रमुख अंग है परन्तु इसे कोई स्वतन्त्र सत्ता अथवा अधिकार प्राप्त नहीं है। इसे अपने समस्त अधिकारों का प्रयोग सामान्य प्रकार के न्यास प्रदेशों के सम्बन्ध में महासभा के आदेश और माध्यम से तथा विशेष प्रकार अर्थात सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण न्यासी प्रदेशों के सम्बन्ध में सुरक्षा परिषद के अधीन और माध्यम से करना पड़ता है। कोई भी न्यास प्रदेश किन शर्तों पर किसी देश के संरक्षण में रखा जाए, इसका निर्णय सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के बारे में सुरक्षा परिषद और अन्य प्रकार के क्षेत्रों के बारे में महासभा को करना पड़ता है। इन समझौतों में आवश्यक परिवर्तन एवम् संशोधन भी इन्हीं की सहमति से किया जा सकता है। अक्टूबर १९४९ में महासभा में तत्कालीन ईराकी प्रतिनिधि अवनीखालिद (Awnikhalid) ने सही ही कहा था कि न्यास-परिषद "संयुक्त राष्ट्र के सर्वाधिक चुपचाप रूप से उपयोगी कार्य करने वाले अंगों में है।"

न्यास-परिषद प्रधानतः ३ प्रकार के कार्य करती है—

प्रथम, न्यास परिषद एक विस्तृत प्रश्नावली तैयार करती है और उसके आधार पर शासनकर्ता देश से न्यास प्रदेश की शासन व्यवस्था के सम्बन्ध में वार्षिक रिपोर्ट प्राप्त करती है। इसमें न्यास प्रदेशों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक आदि सभी क्षेत्रों की प्रगति का विवरण होता है। न्यास-परिषद द्वारा तैयार की गई प्रश्नावली में न्यास प्रदेशों के शासन से सम्बन्धित सूक्ष्म सूक्ष्म बातों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। यह प्रश्नावली इतनी जटिल एवम् सूक्ष्म होती है कि शासनकर्ता अथवा अभिभावक देश को अपनी शासन प्रणाली के बारे में सम्पूर्ण प्रश्नों का उत्तर देने के लिए सजग रहना पड़ता है।

द्वितीय यह न्यास प्रदेशों के निवासियों के लिखित तथा मौखिक आवेदन पत्रों पर विचार करती है। १९५१ तक परिषद ने एसे ७० आवेदन पत्रों पर विचार किया था। १९५५ में इनकी संख्या बढ़कर एक ही अधिवेशन में १,२०० हो गई थी और १९५७ में यह संख्या ४०० तक पहुँच गई थी। १९५७ में परिषद को १२११ आवेदन-पत्र विचार के लिये प्राप्त हुए थे। परिषद के एक भूतपूर्व अध्यक्ष लैसलीनोक्स मुनरो (Leslieknox Munro) के अनुसार आवेदन-पत्र पर विचार करना न्यास-परिषद की एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण विधि है क्योंकि चार्टर द्वारा प्रत्याभूतित आवेदन पत्र देने का अधिकार प्रदेशों की देशी जनता और परिषद के मध्य सीधा सम्बन्ध स्थापित करता है।

तृतीय न्यास-परिषद प्रति वर्ष भ्रमण निरीक्षक मंडल (Visiting Missions) पूर्वी अफ्रिका, पश्चिमी अफ्रिका, प्रशान्त महासागर, टांगानिक सोमाली लैंड आदि स्थित देशों में इस प्रकार भेजती है कि ३ वर्षों में एक बार प्रत्येक प्रदेश का निरीक्षण हो जाए। ये निरीक्षक मंडल पराधीन प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण के अत्यन्त प्रभावशाली साधन माने जाते हैं। इन्हें परिषद का "नेत्र और कान" कहा गया है क्योंकि एक ओर तो ये निरीक्षक मंडल परिषद के सदस्यों को व्यक्तिगत एवम् प्रत्यक्ष रूप से न्यास परिषद के निवासियों के जीवन का अध्ययन करने का अवसर प्रदान करते हैं और दूसरी ओर वे न्यास प्रदेशों की जनता को इस बात का सन्तोष प्रदान करते हैं कि परिषद उनकी स्थिति की वास्तविकता से अनभिज्ञ नहीं है। ये निरीक्षक मंडल न्यास परिषद के प्रति उत्तरदायी होने के कारण निष्पक्ष और स्वतंत्र पर्यवेक्षण कर सकते हैं। निरीक्षक मंडल न केवल न्यास प्रदेश में प्रशासन चलाने वाली सरकार की स्वशासन, आर्थिक विकास, शिक्षा प्रसार, श्रम व्यवस्था, सामाजिक सुधार और भूमि सुधार आदि विषय में सम्बन्धित नीतियों का अध्ययन करते हैं बल्कि आवश्यक आलोचना भी करते हैं और सुधार के लिये आवश्यक सुझाव भी देते हैं।

राष्ट्र संघ की मैंडेट प्रणाली (Mandate System) और संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास व्यवस्था (Trusteeship System) की तुलना—राष्ट्रसंघ (League of Nations) के अन्तर्गत महा-शक्तियों ने १९१९ में अपने साम्राज्य का बनाये रखने के साथ ही साथ कुछ अधीन प्रदेशों की जनता के हितों की रक्षार्थ एक नई व्यवस्था की स्थापना की थी जो संरक्षण-प्रथा अथवा मैंडेट प्रणाली के नाम से प्रसिद्ध है। यद्यपि जिस उद्देश्य को लेकर मैंडेट-प्रथा की स्थापना की गई थी वह पूरी न हो सकी तथापि १९वीं सदी के उपनिवेशवाद की तुलना में यह एक उत्तम कदम ही था क्योंकि इसके अन्तर्गत राजनीतिक एवम् आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए प्रदेशों पर अन्तर्राष्ट्रीय-देखभाल एवम् नियन्त्रण की बात सिद्धान्ततः स्वीकार करली गई थी। द्वितीय महायुद्ध समाप्त होने के बाद पुनः इसी सिद्धान्त के आधार पर न्यास-व्यवस्था की आधारशिला स्थापित की गई और ऐसा करते समय राजनीतिज्ञों ने पुरानी मैंडेट-व्यवस्था की त्रुटियों को भी ध्यान में रखा। कुछ त्रुटियों अथवा कमियों के होने के बावजूद भी यह कहा जा सकता है कि न्यास प्रणाली राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत मैंडेट प्रणाली से उत्कृष्ट है। इसको स्पष्ट करते हुए फौस्टर मार्शल स्मट्स ने कहा था कि यह भावना क्षेत्र की दृष्टि में राष्ट्रसंघ की पुरानी योजना से भी बहुत भिन्न है। इस न्यास का सिद्धान्त सामान्य रूप से लागू किया गया है। यह सब पराधीन देशों में पश्चात्य लोगों के लिये लागू होता है। इस सिद्धान्त का किया गया यह विस्तार अत्यन्त दूरगामी और महत्वपूर्ण है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यास-पद्धति राष्ट्रसंघ की आदेश-पद्धति (Mandate System) का विकास मात्र नहीं है। यह अन्तर्राष्ट्रीय निरीक्षण की एक नवीन व्यवस्था है। इसका क्षेत्र विस्तृत है। इसकी शक्तियां व्यापक हैं और इसकी सफलता की सम्भावना आदेश पद्धति की अपेक्षा कहीं अधिक है। अलेक्जेंडर यून (Al-xander Ulil) का मत है कि यद्यपि 'न्यास

व्यवस्था सम्बन्धी अध्याय को किसी प्रकार भी पराधीन लोगों की एक विषय नहीं कहा जा सकता परन्तु यह संयुक्त राष्ट्र संघ से यह स्वीकार करा लेती है कि साम्राज्यों के पुराने विचार मृत हो चुके हैं। वस्तुतः इस व्यवस्था द्वारा देशी हितों की प्रधानता स्पष्ट भाषा में घोषित करदी गई है। इसी तरह डा० रास्फ जे बुन्च का कथन है कि "नई व्यवस्था पुरानी आदेश-व्यवस्था (Mandate System) का परिवर्तित रूप नहीं है। यह निश्चित रूप से एक विस्तृत क्षेत्र रखती है और इसमें अधिक व्यापक अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण सम्भव है। यह न्यास प्रदेशों के निवासियों को स्वशासन एवम् स्वाधीनता के लिये शिक्षित करने की क्षमता रखता है।

कुछ आलोचकों ने पुरानी मैन्डेट-व्यवस्था और वर्तमान न्यास-व्यवस्था को एक ही सिक्के के दो पहलू कह कर कटु आलोचना की है और संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास व्यवस्था को राष्ट्र संघ की मन्डेट-व्यवस्था के समान "एक चमकीला धोखा (Aglamorous fraud)" कहा है किन्तु वास्तविकता यह है कि प्रशासनिक दृष्टिकोण से दोनों प्रणालियों के गठन में समान सिद्धान्तों और उपायों का अवलम्बन किया गया है लेकिन विस्तार की बातों में दोनों में कई महत्वपूर्ण अन्तर दृष्टिगत होते हैं और ये अन्तर प्रकट करते हैं कि न्यास-पद्धति कई कारणों से मैन्डेट-व्यवस्था से अधिक उत्कृष्ट व्यवस्था है।

पहला कारण यह है कि मैन्डेट-व्यवस्था का क्षेत्र बहुत सीमित था जबकि न्यास-व्यवस्था का क्षेत्र अपेक्षाकृत बहुत विस्तृत है। मैन्डेट-व्यवस्था केवल जर्मनी और टर्की से छिने हुए प्रदेशों तक सीमित थी किन्तु न्यास व्यवस्था केवल शत्रु से छीने गये प्रदेशों के लिए है अपितु स्वशासन न करने वाले (Non SelfGoverning) पराधीन और साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का शिकार बने सभी क्षेत्रों पर लागू होती है।

दूसरा कारण यह है कि न्यास-व्यवस्था में न्यासी प्रदेशों पर शासन करने वाली शक्तियों पर मैन्डेट-व्यवस्था की अपेक्षा अधिक कठोर निरीक्षण स्थापित किया गया है। न्यास परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का एक स्थायी और प्रधान अंग है। मैन्डेट-व्यवस्था में स्थायी मैन्डेट आयोग को न तो संरक्षित प्रदेशों में जाकर निरीक्षण करने का अधिकार था और न ही वह संरक्षण के सम्बन्ध में किसी प्रकार के प्रार्थना पत्रों पर ही विचार कर सकता था तात्पर्य यह है कि संरक्षण के सम्बन्ध में देखने और सुनने दोनों प्रकार के अधिकारों से संरक्षण आयोग (Mandate Commission) वंचित था। न्यास-व्यवस्था में न्यास-परिषद आवेदन पत्र सुन सकती है और जाँच पड़ताल के लिये अपने संरक्षक-मंडल तक भेज सकती है। अतः इसका निरीक्षण मैन्डेट प्रणाली के निरीक्षण से निश्चित रूप से अधिक प्रभावशाली, विस्तृत एवं क्षमतापूर्ण है।

तीसरा कारण यह है कि न्यास परिषद का गठन भी स्थायी मैन्डेट आयोग से भिन्न और श्रेष्ठतर है क्योंकि—

(क) न्यास-परिषद जहाँ संयुक्त राष्ट्र संघ का एक स्थायी और प्रधान

प्राप्त है वहाँ स्थायी मैण्डेट आयोग राष्ट्र संघ द्वारा नियुक्त किया गया था।

(ख) न्यास-परिषद के सदस्य सरकारों के प्रतिनिधि होते हैं जबकि मैण्डेट-आयोग के सदस्य विशेषज्ञ थे जिनकी नियुक्ति राष्ट्र संघ की परिषद में उनकी विशेष योग्यता के आधार पर की थी।

(ग) न्यास-परिषद में न्यास-प्रदेशों पर शासन करने वाले और गैर शासक देशों की संख्या बराबर-२ है जब कि मैण्डेट आयोग में अधिकांशतः सदस्य राज्य ऐसे थे जो मैण्डेट में शामिल नहीं थे एवं

(घ) सुरक्षा-परिषद के प्रत्येक स्थायी सदस्य को न्यास-परिषद में स्थान प्राप्त है इस प्रकार पाँच महान शक्तियों और न्यास प्रदेशों पर शासनकर्ता दलों को भी यहाँ स्थायी प्रतिनिधित्व प्राप्त है जब कि शेष सदस्यों का चुनाव महासभा ३ वर्ष के लिये करती है।

चौथा कारण यह है कि न्यास-व्यवस्था में मैण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा उत्तरदायित्व का अधिक विस्तृत विचार रखा गया है। न्यास व्यवस्था इस बात पर स्पष्ट रूप से बल देती है कि देशी जनता का हित न्यास प्रदेशों के प्रशासन का सर्वप्रमुख लक्ष्य है। इसमें उपनिवेशवाद के उन्मूलन की स्पष्ट व्यवस्था है जबकि मैण्डेट प्रणाली में ऐसा नहीं था।

पाँचवां कारण यह है कि मैण्डेट प्रणाली के अन्तर्गत मैण्डेटों की समस्या प्रधानतः स्थायी मैण्डेट आयोग का क्षेत्र समझी जाती थी; लेकिन न्यास व्यवस्था के अन्तर्गत न्यास परिषद के अतिरिक्त महासभा और सुरक्षा परिषद भी पराधीन देशों की समस्या में रुचि लेती है। विशेषतः महासभा जिसमें एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के राज्यों का बहुमत है गैर स्वशासित (Nonself-Governing Territories) देशों को स्वशासन एवं स्वाधीनता दिलाने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील है।

छठा कारण यह है कि व्यवहार में भी न्यास-व्यवस्था मैण्डेट व्यवस्था की अपेक्षा कहीं अधिक सफल सिद्ध हुई है। महासभा के चौथे अधिवेशन के अध्यक्ष सी टी रोमुलो (C.T Romulo) ने कहा था कि "न्यास पद्धति की सतत् प्रगति आधुनिक जगत् में राजनीतिक और नैतिकता के उच्च बिन्दु का प्रतिबिम्बित करती है। न्यास पद्धति की व्यावहारिक सफलता का ज्वलन्त प्रमाण यही है कि जहाँ अधिकांश मैण्डेट प्रदेश राष्ट्र संघ का अन्त हो जाने तक भी पराधीन रहे वहाँ अधिकांश न्यास प्रदेश १५ वर्ष की छोटीसी अवधि में ही स्वाधीन हो गये जैसा कि पूर्व पृष्ठों में दी गयी सूची से स्पष्ट है।

उपरोक्त सभी कारणों के फलस्वरूप निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि सर्वथा निर्दोष और आदर्श न होते हुए भी न्यास व्यवस्था मैण्डेट व्यवस्था से अधिक श्रेष्ठ है। न्यास व्यवस्था की श्रेष्ठता और महत्ता न्यास-

परिषद के प्रथम अध्यक्ष प्रो० बी० मायरे (Prof. B. Sayre) के इन शब्दों में प्रतिध्वनित होती है—

"जब तक एशिया और अफ्रीका में पिछड़े हुये क्षेत्र हैं हमें स्थायी शान्ति की नींवों का अभाव रहेगा। न्यास-व्यवस्था पिछड़े हुए लोगों में ऐसी शान्ति की प्राप्ति का व्यावहारिक मार्ग प्रदान करती है।"

५. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(The International Court of Justice)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का मुख्य न्यायिक अंग है। संघ का यह अंग नवीन नहीं है। यह वही पुराना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जिसे राष्ट्र संघ ने १९२१ में हेग में स्थापित किया था। संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर (अनुच्छेद ९२–९६) ने उक्त पुराने न्यायालय में केवल जान डाली है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रथम अधिवेशन सन् १९४६ में ३ अप्रेल से ६ मई तक चला था जिसमें मुख्य रूप से प्रशासनात्मक एवं संगठनात्मक मामलों पर विचार किया गया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सभी सदस्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के आधीन हैं। न्यायिक प्रश्नों पर आधारित सदस्य राज्यों के सभी विवादों का निर्णय इस न्यायालय में अन्तर्राष्ट्रीय विधानों के अनुसार होता है। वह देश भी जो संयुक्त राष्ट्र संघ का सदस्य न हो सुरक्षा परिषद की सिफारिशों के आधार पर महासभा द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान का पक्षकार (Party) बनाया जा सकता है। व्यक्तिगत तौर पर अपने मामले न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत नहीं किये जा सकते। केवल राज्य ही न्यायालय के समक्ष उपस्थित हो सकते हैं।

संगठन (Composition)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में १५ न्यायाधीश होते हैं जिनमें एक सभापति और एक उप-सभापति होता है। सभापति और उप-सभापति न्यायालय के न्यायाधीशों द्वारा उन्हीं में से निर्वाचित किया जाता है। न्यायालय के इन १५ न्यायाधीशों में संसार की सभी प्रमुख कानूनी व्यवस्थाओं का प्रतिनिधित्व करने वाले कानून विशेषज्ञ होते हैं। इनकी नामजदगी स्थायी अन्तर्राष्ट्रीय पंच न्यायालय (Permanent Court of Arbitration) की सूची से की जाती है। न्यायाधीशों का चुनाव महासभा और सुरक्षा परिषद मिल कर करती है।

न्यायालय का उम्मीदवार होने के लिये व्यक्ति में निम्नलिखित योग्यताओं का होना आवश्यक है :—

(i) उच्च नैतिक चरित्रवान हो
(ii) अपने देश के सबसे उच्च न्यायिक पद पर आसीन हो अथवा नियुक्त होने के योग्य हो
(iii) अन्तर्राष्ट्रीय कानून में मान्यता प्राप्त योग्यता रखता हो, और
(iv) जिसका नाम सदस्य राष्ट्रों द्वारा प्रस्तावित हो।

न्यायाधीशों का चुनाव करते समय यह भी ध्यान रखा जाता है कि न्यायालय में संसार की सभी न्याय-व्यवस्थाओं को प्रतिनिधित्व मिल जाए। यह भी नियम है कि कोई दो न्यायाधीश एक ही राज्य के नहीं होने चाहियें। न्यायाधीशों का सामान्य कार्यकाल ९ वर्ष है और वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। प्रथम निर्वाचन में पाँच वर्ष के लिये (९ ९ वर्ष के लिये) तथा शेष पाँच ९ वर्ष के लिये चुन गये थे। जो कानून विशेषज्ञ सुरक्षा परिषद और महासभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त कर लेते हैं वे स्वभावतः ही चुन लिये जाते हैं।

न्यायालय के सदस्यता काल में न्यायाधीशों को किसी अन्य व्यवसाय में भाग लेने की मनाही होती है। न्यायालय का कोई सदस्य किसी भी मामले में प्रतिनिधि परामर्शदाता वकील के रूप में कार्य नहीं कर सकता। जब तक अन्य सभी सदस्यों के सर्वसम्मत विचार से कोई सदस्य आवश्यक शर्तों का भंग करने का दोषी नहीं माना जाए उसे पदच्युत नहीं किया जा सकता। न्यायालय की सेवाकाल की अवधि में सदस्य अर्थात् न्यायाधीशों को "कूटनीतिक सुविधायें (Privileges) तथा राजनयिक स्वतन्त्रता (Immunities)" प्राप्त होती है। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान की धारा ४२ (३) में यह भी निश्चित है कि न्यायालय के सम्मुख वादियों के प्रतिनिधि परामर्शदाता और वकीलों को भी स्वतन्त्रतापूर्वक काम करने की छूट देने के लिये आवश्यक कूटनीतिक रियायतें तथा राजनयिक स्वतन्त्रतायें प्रदान की जायेंगी।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के विधान में १५ न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थायी न्यायाधीशों को नियुक्त करने की भी व्यवस्था की गई है। यदि किसी ऐसे राष्ट्र का कोई मामला अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के समक्ष उपस्थित हुआ हो जिसका कोई भी प्रतिनिधि न्यायाधीश न्यायालय के १५ न्यायाधीशों में नहीं है तो उसे यह अधिकार होता है कि वह अपने एक कानून विशेषज्ञ को मामले की सुनवाई के दौरान अस्थायी न्यायाधीश के पद पर नियुक्त कराए। लेकिन इस प्रकार नियुक्त अस्थायी न्यायाधीश का कार्यकाल मामले की सुनवाई खतम होते ही समाप्त हो जाता है। यह उल्लेखनीय है कि इस कानून विशेषज्ञ अथवा अस्थायी न्यायाधीश से राय ली जाती है परन्तु निर्णय में उसका कोई हाथ नहीं रहता।

किसी भी मामले की सुनवाई के समय कम से कम ९ न्यायाधीशों का उपस्थित होना आवश्यक है।

न्यायालय की कार्य-विधि (Procedure of the Court)—न्यायालय में मामले विशेष स्वीकारोक्ति पर अधिसूचना द्वारा या रजिस्ट्रार के नाम दिये गये लिखित प्रार्थना-पत्र के आधार पर आते हैं। किसी भी मामले या विवाद की सुनवाई के लिये ९ न्यायाधीशों की उपस्थिति होना आवश्यक है। सभी निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं। ऐसा न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है। न्यायालय द्वारा किया गया निर्णय अन्तिम होता है और उसकी कोई अपील नहीं की जा सकती। हाँ न्यायालय द्वारा ही विशेष परिस्थितियों में अपने निर्णयों पर पुनः विचार सम्भव है।

अनुच्छेद ३८ के भाग दो में लिखा गया है कि यदि विवादी राज्य हो तो न्याय और हित के आधार पर किसी मामले का फैसला करने की न्यायालय की शक्ति पर इस उपबन्ध का कोई असर नहीं पड़ेगा।"

न्यायालय का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the Court)—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को तीन भागों में बांटा जा सकता है—(१) ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (ii) अनिवार्य क्षेत्राधिकार एवम् (iii) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार।

(i) ऐच्छिक क्षेत्राधिकार (Voluntary Jurisdiction)—न्यायालय के विधान अथवा अधिनियम (Statute of International Court of Justice) के अनुच्छेद ३६ के अनुसार न्यायालय उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनसे सम्बन्धित राज्य पारस्परिक सहमति से उन विवादों को न्यायालय के विचारार्थ प्रस्तुत करें।

(ii) अनिवार्य क्षेत्राधिकार (Obligatory Jurisdiction)—इसे वैकल्पिक आवश्यक (Optional Compulsory) क्षेत्राधिकार भी कहा जाता है। न्यायालय के अधिनियम के ३६ वें अनुच्छेद के दूसरे पैराग्राफ में जिसे वैकल्पिक धारा (Optional Clause) भी कहा जाता है यह व्यवस्था दी गई है कि कोई भी राज्य किसी भी समय यह घोषणा कर सकता है कि यदि अन्य राज्यों का भी ऐसा ही हो तो वह निम्नलिखित चार बातों से सम्बन्धित सभी वैधानिक विवादों में अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्राधिकार को स्वत अपने लिये आवश्यक (Ipso-facto-Compulsory) मानते हैं—

(क) सन्धि की व्याख्या
(ख) अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रश्न से सम्बन्धित सभी मामले
(ग) किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाए
(घ) किसी अन्तर्राष्ट्रीय उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिमाण।

उपरोक्त घोषणा से स्थापित न्यायालय के क्षेत्राधिकार को ओपेनहेम ने वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) इसलिये कहा है कि—(१) यह वैकल्पिक है क्योंकि यह उन्हीं राज्यों पर लागू होता है जो उपरोक्त घोषणा करें, और लागू भी तब ही होता है जब विवाद से सम्बन्धित अन्य राज्य भी इसी प्रकार की घोषणा कर चुका हो। (२) यह आवश्यक है क्योंकि जो राज्य इस तरह की घोषणा कर देता है उनसे सम्बन्धित विवाद किसी विशेष समझौते बिना भी न्यायालय के समक्ष लाये जा सकते हैं।

उपरोक्त प्रकार की घोषणा करते समय अनेक राष्ट्र कुछ शर्तें लगा देते हैं। उदाहरणार्थ संयुक्त राज्य अमेरिका, मैक्सिको और पाकिस्तान ने यह शर्त लगाई कि वे जिन मामलों को घरेलू अधिकार-क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) नहीं समझेंगे उनके विषय का अधिकार-क्षेत्र स्वीकार नहीं करेंगे। ऐसी शर्तों से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के क्षेत्र बहुत संकुचित और सीमित हो गये हैं। इस सम्बन्ध का मत है कि न्यायालय के अधिनियम के ३६वें

अनुच्छेद के दूसरे पैराग्राफ के अनुसार विभिन्न राज्यों द्वारा की गई घोषणाएं ऐसी शर्तों के साथ हैं जो इसे क्रियात्मक दृष्टि से बिल्कुल निरर्थक बना देती हैं।* परन्तु ओपनहेम के अनुसार "प्रतिबन्धों (Reservations) के होते हुए भी वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक व्यापक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है। वैकल्पिक धारा के कारण ग्रहण किये गये उत्तरदायित्व से न्यायालय की कार्यशीलता में एक महत्वपूर्ण स्तर की वृद्धि होती है।

(iii) परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार (Advisory Jurisdiction)—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद ९६ के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय निम्नलिखित प्रश्नों पर परामर्श दे सकता है—

(अ) महासभा तथा सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय से किसी वैधानिक प्रश्न पर परामर्शदात्री सम्मति देने के लिये प्रार्थना कर सकती हैं एवम्

(आ) संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंग और विशिष्ट अभिकरण भी महासभा द्वारा इस सम्बन्ध में कभी भी अधिकार दिये जाने पर अपने-अपने अधिकार क्षेत्रों के भीतर उत्पन्न होने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय की परामर्शदात्री सम्मति के लिये प्रार्थना कर सकते हैं।

न्यायालय द्वारा परामर्शदात्री सम्मतियों के सम्बन्ध में न्यायालय के अधिनियम के अनुच्छेद ६५ में लिखा हुआ है कि—

(१) न्यायालय किसी ऐसी संस्था की प्रार्थना पर किसी कानूनी सवाल के बारे में सलाह के रूप में अपनी सम्मति दे सकता है जिसको संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान चार्टर के अनुसार या उसके द्वारा ऐसी प्रार्थना करने का अधिकार प्राप्त हो।

(२) जिस प्रश्न पर सलाह के रूप में सम्मति मांगी जाए, वह न्यायालय के पास लिखित प्रार्थना के रूप में रखा जाएगा। इस प्रार्थना-पत्र में सम्मति मांगे जाने वाले प्रश्न पर विवरण होगा और उसके साथ वे सब दस्तावेज रहेंगे जिनसे सवाल पर कुछ प्रकाश पड़ता है।

यह स्मरणीय है कि अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की राय या सलाह केवल 'परामर्शपूर्ण' है तथा सिद्धान्त रूप से महासभा अथवा सुरक्षा परिषद चाहे तो इसकी अवहेलना कर सकती है परन्तु विश्व में राष्ट्र संघ (League) तथा संयुक्त राष्ट्र संघ (U N) दोनों में ही उनके लिये ऐसा करना कठिन सिद्ध हुआ है। ओपनहेम (Oppenheim) का मत है कि परामर्श सम्बन्धी क्षेत्राधिकार वास्तव में उससे कहीं अधिक उत्पादक और महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है जितना कि प्रारम्भ में सोचा गया था। न्यायालय द्वारा दिये गये परामर्श मतों की संख्या निर्णय के रूप में दिये गये मतों की संख्या की लगभग बराबरी करती है।"+ ओपनहेम ने अपना यह मत अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में व्यक्त किया था लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के सम्बन्ध में भी उसका यह मत ठीक उतरता है। उदाहरणार्थ १९५८

---

*Hans Kelson—Principles of International Law, P 292.

+Oppenheim—International Law, Vol II, P. 55.

के अन्त तक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में १४ मामलों पर परामर्शदात्री सम्मतियाँ दी गयीं और १५ मामलों में निर्णय दिया था। महासभा की प्रार्थना पर दक्षिण-पश्चिमी अफ्रिका के सम्बन्ध में दिया गया परामर्श-मत न्यायालय द्वारा दिये गये परामर्श-मतों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है।

इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि वादी पक्ष अपने मनोरथ के अनुसार उत्तम कानूनी राय प्राप्त करता है जिसके औचित्य व अनौचित्य का वह भली भांति समझता है। स्टोन ने लिखा है कि "वादी राज्य की पोल खुलने से बचाने के लिये वे विवाद के सहमतिपूर्ण निपटारे के लिये तैयार हो जाते हैं। न्यायालय के मत का नैतिक बल भी बहुत अधिक होता है और यदि कोई राज्य अडियलपना करे भी तो उसे विश्व के जन-मत के सम्मुख मस्तक झुकाना पड़ता है। अतः यह परामर्शदात्री मत चाहे कानूनी रूप से अनिवार्य नहीं है परन्तु राजनीतिक दृष्टि से अत्यन्त मूल्यवान है।"

व्यावहारिक सफलता—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण विवादों के निपटारे में महत्वपूर्ण सहयोग दिया है जैसे मारक्को का मामला (फ्रान्स और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच मोरक्को के अमरिकी नागरिकों के सम्बन्ध में) एंग्लो-ईरानियन मामला (ग्रेट ब्रिटेन और ईरान के मध्य में) भारत-पुर्तगाल का भारतीय प्रदेश में से पुर्तगाल को माग देने के अधिकार का विवाद कोरफू चैनल विवाद एंग्लो-नार्वेजियन मछलीगाह विवाद आदि। परन्तु रूस एवं उसके अन्य सहयोगी व दूसरे साम्राज्यवादी राज्यों की अवहेलना और असहयोगपूर्ण रुख के कारण न्यायालय बहुत अधिक शक्तिशाली एवं उपयोगी संस्था नहीं बन पाया है फिर भी जैसा कि भारत के श्री एम. सी. छागला का मत है– 'अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। यद्यपि यह पूर्ण नहीं है इसके पास वह सत्ता और अधिकार नहीं है जो इसे प्राप्त होने चाहिये फिर भी यह एक महान विचार का मूर्त रूप है—एक मात्र यही विचार राष्ट्रों में शांति और सद्भाव ला सकता है। इस विचार के अनुसार जैसे व्यक्ति आपस में विवाद होने पर एक दूसरे का गला काटने को नहीं दौड़ते वैसे ही राष्ट्रों को भी आपस में मतभेद होने पर शस्त्रों का सहारा नहीं लेना चाहिये बल्कि एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायालय के निर्णयों को स्वीकार करना चाहिये।"

सचिवालय
(Secretariat)

संयुक्त राष्ट्र संघ के कार्यों के सम्पादन के लिये एक सचिवालय की स्थापना की गई है। चार्टर के १५वें अध्याय में अनुच्छेद ९७ से १०१ तक इसके संगठन का वर्णन है। इसका संगठन प्रायः वैसा ही है जैसा राष्ट्र संघ के सचिवालय का था।

चार्टर के अनुच्छेद ९७ में लिखा हुआ है कि—

"सचिवालय में महासचिव और संघ की आवश्यकतानुसार कर्मचारी-वर्ग रहेगा। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर

महासभा करेगी । वही संघ का प्रमुख प्रशासक (प्रशासकीय अधिकारी) होगा ।"

महासचिव सचिवालय की सहायता से ही अपना सारा कार्य सम्पन्न करता है । यदि हम राष्ट्र संघ के सचिवालय से वर्तमान सचिवालय की तुलना करें तो जो महत्वपूर्ण अन्तर देखने को मिलता है वो महासचिव के कार्य और अधिकारों से सम्बन्धित है । संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत महासचिव को कुछ ऐसे अधिकार मिले हैं और उसे कुछ ऐसे कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है जिनका पुराने राष्ट्र संघ में सर्वथा अभाव था । चार्टर के अनुसार महासचिव के कार्य निम्नलिखित हैं—

(१) अनुच्छेद ६८ में उल्लिखित है कि "महासचिव इसी हैसियत से महासभा में सुरक्षा परिषद में आर्थिक और सामाजिक परिषद में और न्याय परिषद की सभी बैठकों में काम करेगा । इसके अलावा वह उन कामों को भी पूरा करेगा जो ये अंग उसे सौंप दें ।"

(२) महासचिव संघ के काम के विषय में महासभा को वार्षिक रिपोर्ट भी देता है ।

(३) अनुच्छेद ९९ में यह व्यवस्था की गई है कि "यदि महासचिव यह समझे कि किसी मामले में अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को खतरा पैदा होता है तो वह सुरक्षा परिषद का ध्यान उस मामले की ओर आकर्षित कर सकता है ।" यह महासचिव का निश्चय ही सब से बड़ा अधिकार है । —इस तरह का कोई अधिकार राष्ट्र संघ के महासचिव को नहीं था । अपने इस अधिकार के बल पर संयुक्त राष्ट्र संघ का महासचिव अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में व्यक्तिगत दिलचस्पी ले कर विश्व-शांति कायम रखने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दे सकता है ।

(४) अनुच्छेद १०१ के अन्तर्गत महासचिव संघ के पदाधिकारियों अथवा कर्मचारियों की नियुक्ति महासभा द्वारा बनाए गये नियमों के अनुसार करता है । यह व्यवस्था है कि आर्थिक और सामाजिक परिषद तथा न्याय-परिषद को स्थायी रूप में यथोचित कर्मचारी दिए जाएंगे और संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्य अंगों को भी आवश्यकतानुसार कर्मचारी प्रदान किए जाएंगे । ये कर्मचारी सचिवालय के ही एक भाग होंगे । कर्मचारियों की भर्ती करने और उनकी नौकरी की शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता है जिससे क्षमता, समता और ईमानदारी के ऊंचे से ऊंचे स्तर कायम हो सकें । विश्व के विभिन्न देशों के कर्मचारी भर्ती किये जाएं ताकि अधिक से अधिक देशों को सचिवालय की सेवाओं में प्रतिनिधित्व मिल सके ।

यह उल्लेखनीय है कि महासचिव और उसके कर्मचारी केवल संयुक्त राष्ट्र के प्रति निष्ठावान हैं । अनुच्छेद १०० में यह स्पष्ट लिख दिया गया है कि—"अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति में महासचिव और कर्मचारी वर्ग किसी राज्य या संघ के बाहर किसी दूसरे अधिकारी से सलाह नहीं मांगेंगे और न लेंगे । वे अन्तर्राष्ट्रीय अधिकारी हैं और केवल संघ के प्रति उत्तरदायी हैं । कोई भी काम नहीं करेंगे जिससे उनकी इस हैसियत पर प्रभाव पड़े ।"

स्पष्ट है कि दी गई व्यवस्था के अनुसार महासचिव और उसके कर्मचारी वर्ग से यह अपेक्षित है कि वे कोई भी ऐसा काम नहीं करेंगे जिससे यह प्रतीत हो कि उनके काम पर किसी प्रकार का बाह्य प्रभाव है। फिर भी ऐसे उदाहरण हैं जब अनेक बार इस आदर्श के विपरीत काम हुआ है। उदाहरणार्थ कुछ वर्ष पहले साम्यवादी विरोधी आन्दोलन बहुत उग्र होने पर संयुक्त राज्य अमेरिका ने अपने प्रभाव का प्रयोग करते हुए महासचिव को सहायता से संघ में कार्य करने वाले लेकिन साम्यवादी प्रवृत्ति वाले कुछ अमरिकनों को सचिवालय से निष्कासित किया था।

अनुच्छेद १०० (२) के अनुसार संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय स्वरूप को मानेगा और उन दायित्वों के निर्वाह में किसी प्रकार का प्रभाव डालने का प्रयत्न नहीं करेगा।

महासचिव का संघ में महत्वपूर्ण स्थान होने के कारण उसके द्वारा शक्ति के दुरुपयोग की सम्भावना भी बढ़ जाती है। इसी कारण भूतपूर्व सोवियत प्रधानमन्त्री निकिता ख्रुश्चेव ने यह सुझाव दिया था कि महासचिव के वर्तमान पद को समाप्त कर देना चाहिये तथा इसके स्थान पर ट्रियमवीरेट (Triumvirate) की स्थापना करनी चाहिये। अर्थात् तीन राष्ट्रों की कार्यकारिणी बना दी जाये जो कि सोवियत रूस संयुक्त राज्य अमेरिका तथा अस लग्न देशों का प्रतिनिधित्व करे। तीनों के पास वीटो का अधिकार होना चाहिये। इस सुझाव को अनेक व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण अनुपयोगी समझा गया।

महासचिव की स्थिति—संयुक्त राष्ट्र संघ में महासचिव के पद पर अभी तक तीन व्यक्तियों की नियुक्ति हुई है—ट्रिग्वेली हैमर शोल्ड तथा ऊ-थान्ट। १ फरवरी १९४६ को नार्वे के ट्रिग्वेली (Trygve Lie) ५ वर्ष के लिये महासचिव के पद पर नियुक्त किये गये थे। १ नवम्बर, १९५० को उनके कार्यकाल में ३ वर्ष की वृद्धि कर दी गई। १० नवम्बर, १९५२ को उन्होंने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। १० अप्रैल, १९५३ को स्वीडन के डाग हैमरशोल्ड (Dag Hammarshoeld) को उनके स्थान पर महासचिव नियुक्त किया गया। २६ सितम्बर, १९५७ को हैमरशोल्ड को १० अप्रैल १९५८ से शुरू होने वाले ५ वर्ष के लिये पुनः नियुक्त किया गया। लेकिन कांगो समस्या के दौरान १८ सितम्बर १९६१ को एक हवाई दुर्घटना में उनका असामयिक निधन हो जाने के कारण उनके स्थान पर बर्मा के ऊ-थांट को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त किया गया। बाद में उनकी नियुक्ति ५ वर्ष की पूरी अवधि तक के लिये कर दी गई। १९६६ के बाद पुनः उनके कार्यकाल में ५ वर्ष की अभिवृद्धि हो गई है।

वास्तव में महा-सचिव का पद बड़ा महत्व का है और उसे न केवल प्रशासनिक अपितु राजनीतिक कार्य भी करने पड़ते हैं। राजनीतिक कार्यों में वह बहुत बड़ी भूमिका अदा कर सकता है। १९५ में जब रूस द्वारा यह घोषणा की गई कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाहियों में तब तक भाग नहीं लेगा जब तक चीन की साम्यवादी सरकार को प्रतिनिधित्व प्रदान नहीं

किया जायगा । जब संयुक्त राष्ट्र संघ के समक्ष उपस्थित इस भयंकर संकट को टालने के लिये महा सचिव ट्रिग्वेली ने अथक प्रयास किये और वह देशों के प्रमाणों के साथ लगभग सारे संसार की यात्रा की । उन्होंने सदस्य राज्यों से अपील की और समझौते के लिये योजनायें प्रस्तुत की । जून १९५० में जब कोरिया के सम्बन्ध में विचार करने के लिए सुरक्षा परिषद की बैठक आमन्त्रित हुई तो महा-सचिव ट्रिग्वेली ने ही इस समस्या पर सर्व प्रथम प्रकाश डाला । उत्तरी कोरिया के विरुद्ध कार्यवाही करने की प्रभावकारी अपील की । इसके बाद परिषद द्वारा जब उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही करने की छूट दे दी गई तो उन सैनिक कार्यवाहियों के लिए सदस्य राज्यों का सहयोग अर्जित कराने और उनमें समन्वय स्थापित कराने का उत्तरदायित्व भी महा-सचिव को ही उठाना पड़ा ।

इसी प्रकार कांगो में छिड़े गृह युद्ध के सम्बन्ध में भी महा सचिव को बहुत बड़े उत्तरदायित्व का निर्वाह करना पड़ा । वहाँ गृह-युद्ध को समाप्त करके शांति की स्थापना करने का भार संयुक्त राष्ट्र संघ ने अपने ऊपर ले लिया । फलस्वरूप राष्ट्र संघीय सेना कांगो में प्रविष्ट हुई और उसे बड़ा भयंकर युद्ध करना पड़ा । महा-सचिव हैमरशोल्ड ने अत्यन्त साहस और सूझबूझ के साथ इस सैनिक अभियान का निर्देशन किया तथा अपने दायित्वों को निभाते हुए, प्राणों की परवाह न करते हुए भी वे अनेक बार कांगो गए और वहीं अन्त में हवाई दुर्घटना में प्राणों से हाथ भी धोना पड़ा । इससे स्पष्ट है कि महा-सचिव का पद कितना उत्तरदायित्वपूर्ण है और एक उत्तरदायित्वपूर्ण महा-सचिव को किन विकट परिस्थितियों में अपने दायित्वों का निर्वाह करना पड़ता है ।

महा-सचिव की राजनीतिक जिम्मेदारी का ताजा उदाहरण सन् १९६५ में भारत पाक युद्ध में अदा की गई ऊ-थांट भूमिका से मिलता है । सितम्बर १९६५ में दोनों देशों में महायुद्ध छिड़ा तो युद्ध बन्द करवाने के महा-सचिव ने घोर प्रयास किये और उन्हीं के अथक प्रयासों के फलस्वरूप दोनों देशों में युद्ध बन्दी की व्यवस्था निश्चित हुई ।

वस्तुतः महा सचिव को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के अनेक अवसर मिलते हैं और वह, चतुरता तथा समझदारी से काम करते हुए, विश्व शांति की दिशा में उल्लेखनीय कार्य कर सकता है । महा सचिव का विभिन्न देशों के प्रतिनिधि मंडलों के साथ निरन्तर सम्पर्क रहता है अतः उसकी स्थिति ऐसी होती है कि वह संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सरकारों को प्रभावित कर सके । महा सचिव को यह स्वतंत्रता होती है कि वह सदस्य राज्यों के विदेश मंत्रालयों से जा सके और स्वतंत्रतापूर्वक सलाह मशवरा कर सके । उसे सार्वजनिक भाषण देने का भी अधिकार होता है । अपने भाषणों द्वारा वह विश्व जन-मत को प्रभावित कर सकता है । इतना ही नहीं अपनी रिपोर्टों में भी वह इस तरह की सिफारिशें कर सकता है कि संघ को कौनसी नीति एवं कार्यक्रम अपनाना चाहिये ।

सचिवालय के विभाग—सचिवालय में इस समय आठ विभाग हैं जो इस प्रकार हैं :— १. आर्थिक कार्य २. सामाजिक कार्य ३. न्याय सम्बन्धी

तथा स्वप्रशासन रहित क्षेत्रों से सूचना ४ सुरक्षा परिषद सम्बन्धी कार्य ५ जन सूचना, ६ सम्मेलन तथा सामान्य सेवायें ७ प्रशासकीय एवं आर्थिक सेवायें और ८ वैधानिक विभाग। १ जनवरी १९५५ को महा सचिव का काम भार कम करने के लिये सात अधीन महा सचिवों (Under Secretary Generals) की नियुक्ति की गई। वैसे सचिवालय के प्रधान कार्यालय न्यूयार्क तथा जेनेवा में हैं किन्तु क्षेत्रीय सेवाओं प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केन्द्रों के लिए इसके कर्मचारी विश्व के कई भागों में बिखरे रहते हैं। सचिवालय द्वारा बड़े महत्वपूर्ण एवं आवश्यक काय सम्पन्न किये जाते हैं। यह संघ के अंगों एवं अभिकरणों की मीटिंग के लिए अनेक सेवायें प्रदान करता है। यह इन मीटिंगों के लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है। यह अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय को छोड़ कर संघ के अन्य सभी अंगों के लिये सचिवालय सम्बन्धी सेवायें प्रदान करता है तथा एक कार्यकारिणी की भांति व्यवहार करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यवाही के सदय का ध्यान में रख कर यह प्रत्येक साधन द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

संघ के चार्टर का संशोधन
(Amendments to the Charter)

संयुक्त राष्ट्र संघ के पुनरावलोकन तथा संशोधन के लिए आवश्यक निर्देशों का समावेश इसकी धारा १०८-१०९ में है। धारा अथवा अनुच्छेद १०८ एवं १०९ इस प्रकार हैं।

अनुच्छेद १०८—"वर्तमान चार्टर में जो भी संशोधन होंगे वे संयुक्त राष्ट्र संघ के सब सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महा सभा दो-तिहाई बहुमत से मान ले और सुरक्षा परिषद के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अपनी अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई के बहुमत से उनका समर्थन (Ratification कर दें।"

अनुच्छेद १०९—१ जब कभी वर्तमान चार्टर के पुनरावलोकन (Review) की बात हो तो उसके लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन (General Conference) किया जा सकता है जिसकी तारीख और जिसका समय व स्थान महा सभा दो-तिहाई बहुमत से तथा सुरक्षा परिषद अपने किन्हीं सात सदस्यों के वोट से तय करेगी। इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रत्येक सदस्य का एकमत (Vote) होगा।"

२ "यदि सम्मेलन में वर्तमान चार्टर का कोई परिवर्तन दो-तिहाई के बहुमत से मान लिया जाता है तो वह लागू तभी हो सकेगा जब सुरक्षा परिषद के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य अपनी अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई के बहुमत से उसका समर्थन कर दें।

३ "चार्टर के अमल में आने के बाद महा सभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन के पहले अगर ऐसा सम्मेलन नहीं होता तो ऐसा सम्मेलन करने का प्रस्ताव महासभा के उसी अधिवेशन के कार्यक्रम (Agenda) पर रखा

जायगा और यदि महासभा में बहुमत से तथा सुरक्षा परिषद में किन्हीं सात सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है तो ऐसा सम्मेलन किया जायगा।'

चार्टर में संशोधन के सुझाव—चार्टर में अब तक अनेक दोष बताये जाते रहे हैं और उन्हें दूर करने के लिए समय समय पर अनेक सुझाव दिये गये हैं। महा सभा के प्रथम अधिवेशन में ही क्यूबा द्वारा यह मांग की गई थी कि चार्टर के १०९ वें अनुच्छेद के अन्तर्गत चार्टर के संशोधन के लिए एक सम्मेलन आमंत्रित किया जाना चाहिए। महा सभा के दूसरे अधिवेशन में अर्जेन्टाइना द्वारा यह प्रस्ताव रखा गया कि निषेधाधिकार की समाप्ति की जाय। १९५३ में महा सभा के ८ वें अधिवेशन में अर्जेन्टाइना, नीदरलैण्ड्स और मिस्र ने चार्टर के संशोधन के सम्बन्ध में तीन प्रस्ताव रखे। १९५५ में ही महा सभा के १०वें अधिवेशन में महा सभा के सभी सदस्यों की एक समिति नियुक्त की गई और उसे यह कार्य सौंपा गया कि उचित अवसर पर यह चार्टर में संशोधन के लिए एक सम्मेलन बुलाये। इस समिति ने ३ जून १९५७ को यह प्रस्ताव पास किया कि विश्व-स्थिति को ध्यान में रखते हुए चार्टर के संशोधन के लिए प्रस्तावित सम्मेलन को सितम्बर १९५९ तक के लिए स्थगित कर दिया जाय। ऐसा इसी आशा से किया गया कि तब तक अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों में अनुकूल सुधार हो जायगा किन्तु १९५९ में सम्मेलन का बुलाया जाना पुनः स्थगित कर दिया गया। तब से अब तक चार्टर में संशोधन का प्रश्न फिर नहीं उठाया गया है क्योंकि यही दृष्टिकोण अधिक प्रबल है कि अभी चार्टर में संशोधन करने का उपयुक्त अवसर नहीं है। केवल दिसम्बर १९६३ में महा सभा ने दो प्रस्ताव पारित कर निम्नलिखित संशोधनों को प्रस्तावित किया जिन्हें १९६५ में महा सभा के सदस्य राज्यों का अनुमोदन भी मिल गया और १ जनवरी १९६६ से वे लागू भी हो गये—

१ सुरक्षा परिषद के अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ा कर १५ कर दी जाय तथा प्रस्तावों को पास करने के लिए ९ सदस्यों के स्वीकारात्मक मत आवश्यक हूं।

२ आर्थिक और सामाजिक परिषद के सदस्यों की संख्या बढ़ा कर १८ के स्थान पर २७ कर दी जाय।

उपरोक्त अल्पकारी प्रस्तावों के अतिरिक्त चार्टर में संशोधन के किसी भी प्रस्ताव के पारित होने की आशा सदैव निराशा में ही बदलती रही है। वास्तव में जब तक सुरक्षा परिषद में पूर्वी और पश्चिमी गुट, मास्को और लन्दन का पेरिस तथा वाशिंगटन का संघ कौशल से विद्यमान है तब तक यह पूरा भय है कि चार्टर में संशोधन करने हेतु लाया गया कोई भी प्रस्ताव किसी न किसी पक्ष की ओर से वीटो (Veto) कर दिया जायगा।

यद्यपि निकट भविष्य में चार्टर में किसी संशोधन के होने की संभावना नजर नहीं आती किन्तु फिर भी विगत १५ वर्षों का इतिहास बताता है कि चार्टर की निम्नलिखित व्यवस्थाओं में संशोधन किया जाना उपयुक्त होगा—

(१) नवीन राज्यों के संघ में प्रवेश के लिए स्थायी सदस्यों द्वारा निषेधाधिकार के प्रयोग की व्यवस्था हटा दी जानी चाहिए।

(२) चार्टर के दूसरे अनुच्छेद के सातवें पैराग्राफ में यह व्यवस्था दी गयी है कि—"वर्तमान चार्टर में जो कुछ कहा गया है उससे संयुक्त राष्ट्र संघ किसी भी राज्य के उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकारी न होगा जो निश्चित रूप से उस राज्य के घरेलू क्षेत्र के भीतर आते हों।" घरेलू क्षेत्र (Domestic Jurisdiction) की इस व्यवस्था ने संघ की कार्यवाहियों के क्षेत्र को बहुत सीमित बना दिया है। उदाहरण के रंगभेद की नीति किसी राष्ट्र का घरेलू मामला न होकर सम्पूर्ण मानवता के प्रति अपराध है किन्तु दक्षिण अफ्रीका ने इसे अपना घरेलू मामला बता कर संयुक्त राष्ट्र संघ में रंगभेद विरोधी भारतीय प्रस्ताव का विरोध करने में सफलता प्राप्त की। इसी तरह एंग्लो-ईरानियन तेल विवाद में और कोरिया के सम्बन्ध में भी घरेलू-क्षेत्र की व्यवस्था की आड़ में संघ की कार्यवाही को रोकने के प्रयास किये गये थे। वास्तव में घरेलू-क्षेत्र की व्यवस्था इतनी लचीली है कि इसके आधार पर राष्ट्रों द्वारा संघ की कार्यवाहियों में अड़ंगे लगाये जा सकते हैं। संघ अपने उद्देश्यों की दिशा में अधिक शक्तिशाली व समर्थ बने—इसके लिए घरेलू-क्षेत्र की व्यवस्था में समुचित संशोधन किया जाना चाहिए।

(३) चार्टर के अनुच्छेद ४ में संघ की सदस्यता के लिए दो शर्तें हैं—(१) सभी शांति चाहने वाले राष्ट्र सदस्य बन सकते हैं बशर्ते कि वे चार्टर में दिये हुए दायित्वों को मानें और संघ की राय में इन दायित्वों को पूरा करने की उनमें इच्छा तथा योग्यता दोनों हो एवं (२) कोई राष्ट्र संघ का सदस्य तभी बनाया जायगा जब सुरक्षा परिषद सिफारिश करे व महासभा सिफारिश पर अनुकूल निर्णय दे। स्पष्ट है कि संघ की सदस्यता की दूसरी शर्त विवादों को आमन्त्रित करने वाली है। सुरक्षा परिषद में महाशक्तियों को निषेधाधिकार प्राप्त हैं। रूस और पश्चिमी राष्ट्र स्वयं की स्थिति को संयुक्त राष्ट्रसंघ में सुदृढ़ बनाये रखने की दृष्टि से अपने विरोधी नवीन राज्यों के प्रवेश को निषेधाधिकार के बल पर रोक सकते हैं। उदाहरणार्थ आयरलैण्ड, इटली, पुर्तगाल, आस्ट्रिया, जोर्डन, सीलोन और जापान के संघ में प्रवेश का रूस ने तीव्र विरोध किया क्योंकि उसकी दृष्टि में ये अमेरिका समर्थक थे। इसी तरह अमेरिका ने अल्बानिया, बल्गेरिया, हंगरी, रूमानिया, मंगोलियन जनगण राज्य के सोवियत पक्षपाती होने के कारण इनके सदस्य बनने के मार्ग में रोड़ा अटकाया। वस्तुतः सदस्यता के प्रवेश सम्बन्धी शर्त संघ के सामों पक्षों में कटुता बढ़ाने वाली है और इसी वजह से विश्व के कुछ देशों का प्रतिनिधित्व संघ में अभी तक नहीं हो पा रहा है। अतः यह उचित है कि सदस्यता के लिए सुरक्षा परिषद की सिफारिश की शर्त हटा देनी चाहिए अथवा उसमें बहुमत के आधार पर निर्णय की व्यवस्था की जानी चाहिये।

(४) न्यास पद्धति से सम्बन्धित अनुच्छेद ७६ (ख) बड़ा अस्पष्ट है। इसमें पराधीन देशों को स्वतन्त्र करने की बात अवश्य कही गयी है लेकिन इसके लिए कोई अवधि निश्चित नहीं की है। इस अनुच्छेद में इस तरह की

व्यवस्था होनी चाहिये कि विभिन्न प्रदेशों के विकास को देखते हुए उन्हें कितनी अवधि में स्वाधीनता दे दिया जाना उपयुक्त है।

(५) न्यास पद्धति से सम्बन्धित ७७ (क) में इस तरह का संशोधन किया जाना चाहिए कि राष्ट्रसंघ के सभी मैन्डेट प्रदेश न्यास परिषद् के अधीन समझे जाएं। दक्षिणी अफ्रीका द्वारा दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका को न्यास प्रदेश न बनाने के दुराग्रह के कारण इस तरह का संशोधन आवश्यक है।

(६) अनुच्छेद ५१,५२ में चार्टर द्वारा प्रादेशिक संगठनों को बनाने की अनुमति दी जाने का ही यह परिणाम है कि नाटो (NATO) सीटो (SEATO) जैसे सैनिक संगठन बन गये हैं। इस धारा में ऐसा संशोधन होना चाहिए कि जिससे सैनिक संगठनों की स्थापना को प्रोत्साहन न मिल सके।

(७) अनुच्छेद २७ में सुरक्षा परिषद में मतदान की व्यवस्था में प्रक्रिया सम्बन्धी (Procedural Matters) और अन्य सभी विषय (On All Other Matters) शब्द इतने अनिश्चित और अस्पष्ट हैं कि जिनसे निषेधाधिकार का बहुत अधिक प्रयोग हुआ है। अतः यह उपयुक्त है कि इन शब्दों को अधिक स्पष्ट किया जाय।

(८) सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यों का प्रतिनिधित्व समुचित एवं संतुलित नहीं है। एशिया के सदस्य के रूप में च्यांग काई शेक के फारमोसा वाले चीन को सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्य बना रखा है जो तर्क की किसी भी कसौटी पर उचित नहीं कहा जा सकता। साम्यवादी चीन और भारत दो एशिया के ऐसे महान राष्ट्र हैं जिन्हें सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्य बनाया जाना चाहिए। निष्पक्षता और संतुलित विचारों की दृष्टि से तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रति अर्पित किये गये महान सहयोग को ध्यान में रखते हुए भारत को तो सुरक्षा परिषद में स्थायी सदस्यता मिल ही जानी चाहिए। संयुक्त राष्ट्र संघ में भारतीय प्रतिनिधि श्री कृष्णमेनन ने अक्टूबर १९५६ में कहा भी था कि सुरक्षा परिषद में एशिया और अफ्रीका के देशों का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। सुरक्षा परिषद अन्तर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना के अपने लक्ष्य को तभी पूरा कर सकता है जब कि विश्व के इन दो बड़े भूभागों को भी इसमें यथेष्ट प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय।

(९) चार्टर में उल्लिखित मानवीय अधिकारों की प्राप्ति को क्रियात्मक बनाने के लिए उपयुक्त संस्थाओं की स्थापना सम्बन्धी प्रावधानों और अन्य व्यवस्थाओं का होना भी आवश्यक है।

महाशक्तियों की चार्टर में संशोधन की रुचि—संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर का संशोधन करने के पक्ष में संयुक्त राज्य अमेरिका प्रारम्भ से ही जोर देता रहा है। जनवरी, १९५४ में जॉन फास्टर डलेस ने चार्टर के संशोधन के मुख्य विषयों का उल्लेख करते हुए कहा था कि उसके मतानुसार संशोधन निम्नलिखित विषयों में अवश्य किये जाने चाहिए—

(१) सर्वव्यापी सदस्यता

(२) सुरक्षा

(३) सुरक्षा परिषद की सदस्यता एवं मतदान प्रणाली
(४) महासभा में मतदान प्रणाली
(५) शस्त्रों की समस्या
(६) अन्तर्राष्ट्रीय कानून आदि।

सोवियत रूस पहले चार्टर में संशोधन का समर्थक नहीं था। उसका विचार था कि जब तक साम्यवादी चीन को संघ का सदस्य नहीं बना लिया जाता तब तक वह किसी भी प्रकार के संशोधन का समर्थन नहीं करेगा किन्तु बाद में (१९६० में) जब सुरक्षा परिषद में रूस द्वारा प्रस्तुत किये गये कुछ प्रस्ताव वीटो के कारण असफल हो गये और यू-२ तथा (R B.) आर बी. ४७ नामक अमेरिकन विमानों की रूसी प्रदेश पर जासूसी उड़ानों से संबंधित अमेरिका की निन्दा करने का प्रस्ताव सुरक्षा परिषद में पास नहीं हो सका तो रूस चार्टर की व्यवस्था में परिवर्तन करने का हामी हो गया। रूस के तत्कालीन प्रधान मंत्री ख्रुश्चेव ने २८ सितम्बर १९६० को न्यूयार्क के एक पत्र सम्मेलन में घोषणा की कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में अब परिवर्तन करने का समय आ गया है क्योंकि संघ अमेरिका के प्रभाव में है और सुरक्षा परिषद अमेरिकन जासूसी उड़ानों के सम्बन्ध में अमेरिका की निन्दा करने में असफल रही है। इसके अतिरिक्त संघ के निर्माण के समय से अब तक उसमें अनेक परिवर्तन आ गये हैं। पहले एक मात्र संयुक्त राज्य अमेरिका सर्वशक्तिमान देश था किन्तु अब साम्यवादी गुट भी काफी बड़ा और शक्तिशाली हो गया है तथा अफ्रीका और अन्य स्थानों के उपनिवेश भी पर्याप्त संख्या में स्वतंत्र हो चुके हैं। श्री ख्रुश्चेव ने आरोप लगाया कि संघ के महामंत्री एकाधिकारवादी पूँजीवादियों के चाकर हैं।

सोवियत रूस ने संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में अनेक परिवर्तन करने के सुझाव समय-समय पर दिये जिन्हें जानना हमारे लिए आवश्यक है। ये विभिन्न सुझाव संक्षेप में निम्न प्रकार से थे—

(१) संघ की सभी परिषदों में से अमेरिका का हस्तक्षेप कम किया जाय और इनमें अफ्रीका तथा एशिया के देशों को अधिकाधिक प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाय।

(२) साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्रसंघ का सदस्य बना लिया जाय।

(३) संघ का महासचिव एक न होकर तीन बनाये जावें। २१ सितम्बर १९६० को संयुक्त राष्ट्रसंघ में भाषण करते हुए रूसी प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने कहा कि एक महासचिव वाली व्यवस्था दोषपूर्ण है क्योंकि वह प्रायः एक पक्ष का ही समर्थक बन जाता है तथा उस पक्ष द्वारा संघ की शक्तियों का अनुचित लाभ उठाया जाता है। ख्रुश्चेव का कहना था कि इस समस्या का समाधान करने के लिए एक के स्थान पर तीन महासचिवों की नियुक्ति की जाय-एक साम्यवादी गुट की ओर से, दूसरा पश्चिमी शक्तियों की ओर से तथा तीसरा तटस्थ या असंलग्न राष्ट्रों की ओर से। ऐसा करने पर कोई भी समस्या जो सुरक्षा परिषद में राजनीतिज्ञों के मतभेद के कारण गतिरोध उत्पन्न कर देती है वह महासचिवों के स्तर पर विचार-विमर्श के बाद एक ऐसा रास्ता

निकालकर तय की जा सकेगी जो कि तीनों पक्षों को स्वीकार हो। इस सुझाव का अधिकांश विचारकों एवं राजनीतिज्ञों द्वारा सन्देह एवं आशंका द्वारा स्वागत किया गया। यह समझा गया कि इस सुझाव को क्रियान्वित करने पर महासचिव स्तर पर राजनीति उतर आयगी तथा सुरक्षा परिषद की भाँति यहाँ भी गतिरोध की समस्या पैदा हो जायगी तथा कोई भी निर्णय लेना असम्भव बन जायगा। मलाया के प्रधानमन्त्री टुंकू अब्दुल रहमान ने ७ सितम्बर १९६० में इस सुझाव को एक खतरनाकपूर्ण विचार बताया और कहा कि इसका लक्ष्य विश्व के देशों को परस्पर लड़ाना है। यह एक घृणा पूर्ण चाल है और इससे संयुक्तराष्ट्र विभक्त राष्ट्र बन जायगा।

(४) चार्टर में परिवर्तन से सम्बन्धित एक अन्य सुझाव सोवियत पक्ष द्वारा यह दिया जाता है कि संघ का प्रधान कार्यालय संयुक्त राज्य अमेरिका में न रखकर किसी अन्य देश में रखना चाहिए। यह अन्य देश स्वयं सोवियत संघ, स्विट्ज़रलैण्ड या आस्ट्रिया हो सकते हैं।

यह तथ्य रोचक और स्मरणीय है कि यद्यपि रूस और अमेरिका के द्वारा चार्टर के संशोधन के बारे में अनेक सुझाव प्रस्तुत किये गये किन्तु ये सुझाव इस प्रकार के हैं कि वे दूसरे को मान्य नहीं होते। ऐसा सोचा जाता है कि चार्टर पर पुनर्विचार करने का समय अभी तक नहीं आ पाया है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर [illegible] तथा संकट का बड़ा प्रभाव है। इस समय यदि चार्टर का परिवर्तन किया गया तो हो सकता है कि वह अपने मूल स्वरूप की अपेक्षा और भी अधिक कठोर बन जाय। यदि पुनर्विचार सम्मेलन (Review Conference) बुलाई जाती तो रूस महासचिव की शक्तियाँ कम करने के सुझाव रखता तथा पूरी शक्ति से उसका समर्थन करता। आशा है कि वह ट्रायका (Troika) का सुझाव अवश्य रखता। सम्भावना है कि वह महासभा की शक्ति जो निरन्तर बढ़ती जा रही है, को भी कम करने का प्रयास करता तथा पुनः सुरक्षा परिषद की शक्ति को बढ़ाने की सिफारिश करता जिसमें कि महाशक्तियों की वीटो शक्ति सुरक्षित रहे।

कई विचारकों का मत है कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने अभी तक यह निश्चय नहीं किया है कि वह संघ को कितना शक्तिशाली बनाना चाहता है और यह मत भी चार्टर के संशोधन के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा है।

अनौपचारिक संशोधन—यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि औपचारिक रूप से चार्टर में संशोधन नहीं हो पाये हैं किन्तु अनौपचारिक रूप से व्यवहार द्वारा चार्टर के कुछ उपबन्धों को प्रभावी अथवा प्रभावहीन किया जा चुका है, उदाहरण के लिए ३ नवम्बर १९५० के शान्ति के लिए एकता के प्रस्ताव ने निषेधाधिकार को लगभग प्रभावहीन ही कर दिया है और महासभा को सुरक्षापरिषद से अधिक शक्तिशाली बना दिया है। होता यह है कि सुधार के सुझावों के सम्बन्ध में महाशक्तियाँ एकमत हो सकती हैं चाहे वे चार्टर के वास्तविक रूप में कोई परिवर्तन करने पर राजी हों या न हों। सुधार के सम्बन्ध में सुझाव तथा उनका संघ के चरित्र रूप एवं संगठन पर प्रभाव यद्यपि चार्टर में परिवर्तन तो नहीं कहा जा सकता किन्तु इससे संघ शक्तिशाली बनता है इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। पामर तथा

परकिन्स ने इसे अनौपचारिक संशोधन की प्रक्रिया (The Process of informal amendment) कहा है। इस तरीके से अनेकों परिवर्तन किये जा चुके हैं तथा निश्चय ही आज का संयुक्त राष्ट्र संघ ठीक वही नहीं है जो वह सन् १९४५ में था। इस प्रक्रिया में महाशक्तियों की आवश्यक सहमति जरूरी नहीं होती। फ्रान्सिस विलकॉक्स (Francis O. Wilcox) के मतानुसार चार्टर निम्न प्रकार से संशोधित किया गया है—

(१) चार्टर के कुछ उपबन्धों को क्रियान्वित न करके;

(२) संघ के विभिन्न अंगों तथा सदस्यों द्वारा चार्टर की व्याख्या करके;

(३) सहायक सन्धियों एवं समझौतों के निर्णयों के द्वारा;

(४) विशेष अंगों एवं अभिकरणों की रचना करके।

क्लाइड इगल्टन (Clyde Eagleton) आदि विचारकों के मत से बहुत सी बातें जिन पर सम्मेलन में विचार करने की बात कही जाती है उनको सामान्य स्वीकृति द्वारा वैसे ही पूरा किया जा सकता है किन्तु यह तभी है जबकि इस प्रकार की स्वीकृति पहले से ही प्राप्त की जा सके। चार्टर के संशोधनार्थ सम्मेलन न बुलाये जाने पर कुछ लोगों को असंतोष हो सकता है किन्तु यह असंतोष तब और भी अधिक बढ़ जायेगा जबकि ऐसा सम्मेलन बुलाया जाने के बाद भी किसी निर्णय पर नहीं आ पाये।

राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ की तुलना
(The League of Nations & The U N O)

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्भव विकास और रूप विधान आदि पर विचार करने के उपरान्त यह देखना चाहिये कि अपनी पूर्ववर्ती अन्तर्राष्ट्रीय संस्था राष्ट्रसंघ (League of Nations) से यह कहाँ तक श्रेष्ठ है। दोनों में क्या सादृश्य तथा अन्तर है और क्या संयुक्त राष्ट्र संघ को राष्ट्रसंघ का एक अगला कदम (One step further to League of Nations) कहा जा सकता है। दोनों संस्थाओं के तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि यद्यपि दोनों में अनेक समानताएं और साथ ही मौलिक अन्तर विद्यमान हैं तथापि कुल मिला कर संयुक्त राष्ट्र संघ राष्ट्रसंघ की अपेक्षा व्यापक उत्कृष्ट और प्रभावशाली सिद्ध हुआ है।

समानताएं—पामर एवं परकिन्स (Palmer & Perkins) का मत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ बहुत कुछ राष्ट्रसंघ की ही प्रकृति का है। ध्यान से देखने पर दोनों ही संस्थाओं में निम्नलिखित समानतायें दृष्टिगोचर होती हैं—

(१) इन दोनों ही अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रणेता अमेरिकन राष्ट्रपति थे। राष्ट्रपति विल्सन ने १९१९ में राष्ट्र संघ की और राष्ट्रपति ट्रूमैन ने १९४५में संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना की प्रेरणा दी। दोनों ही संस्थाओं का जन्म अन्तर्राष्ट्रीय जगत में युद्ध और तनाव के मध्य हुआ तथा दोनों ही को उत्तराधिकार में युद्ध ध्वस्त विश्व की जटिल राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक समस्याएं प्राप्त हुईं।

(२) दोनों ही संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में शक्ति-प्रयोग के अधिकार पर कुछ परिसीमाओं को छोड़कर सभी राष्ट्र अपनी इच्छानुसार

कुछ भी कार्य करने को वैधानिक दृष्टि से स्वतंत्र हैं। इस प्रकार आधारभूत विषयता की दृष्टि से दोनों में अत्यधिक साम्यता है। दोनों ही की स्थापना प्रभुसत्ता सम्पन्न राष्ट्रों के केवल सीमित अधिकार सम्पन्न संगठनों के रूप में हुई थी। दूसरे शब्दों में दोनों ही संस्थाओं ने राज्यों की सम्प्रभुता का आदर करना स्वीकार किया और सिद्धान्त रूप में प्रत्येक देश के मत को बराबर का महत्व प्रदान करने की मान्यता दी।

३ मूल रूप से दोनों ही संस्थाओं की स्थापना के समय विजेता राष्ट्रों ने पराजित राष्ट्रों को छोड़ दिया। जब राष्ट्र संघ की स्थापना हुई तो इसकी सदस्य संख्या विजेता राष्ट्रों तक ही सीमित रही और संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना के समय ५० राष्ट्रों तक।

४ जहां तक दोनों संस्थाओं के संगठन अथवा ढांचे का सम्बन्ध है दोनों के संविधानों और अधिकारों में आश्चर्यजनक समानता दिखाई देती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान तथा सहायक अंगों का निर्माण करते समय राष्ट्र संघ के संगठन से बहुत कुछ प्रेरणा ली गई है। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि इसने राष्ट्र संघ के अंगों में थोड़ा सुधार करने के बाद उन्हें अपना लिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा सुरक्षा परिषद और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय राष्ट्र संघ की असेम्बली परिषद स्थायी-अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय तथा सचिवालय के प्रतिरूप हैं। जहां तक अराजनीतिक कार्यों का सम्बन्ध है राष्ट्र संघ की भांति संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न सहायक अंग भी विश्व की जनता को गरीबी बीमारी भुखमरी अशिक्षा अज्ञान आदि से छुटकारा दिला कर वहां सामाजिक सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक विकास करना चाहते हैं।

दोनों ही संगठनों में परिषद के अध्यक्ष पद को क्रमानुसार रखने की व्यवस्था की गई और दोनों ही में व्यवहार तथा तत्व निर्णयों और सिफारिशों में अन्तर रखा गया है।

दोनों ही संस्थाओं में समस्त विवादों के निर्णय के सर्वोत्तम उपाय परस्पर वार्तालाप द्वारा समझौता कर समझे गये। इसे यों भी कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्र संघ भी अपने अग्रज की भांति परस्पर विचार—विमर्श तथा वार्तालाप के बाद ही किसी निर्णय पर आता है।

५. दोनों ही संगठनों की प्रकृति कुछ इस प्रकार की है कि इनके सदस्यों के सक्रिय सहयोग के बिना ये सफलतापूर्वक अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकते। सदस्यों के सहयोग के अभाव में ही राष्ट्र संघ समाप्त हो गया और यदि संयुक्त राष्ट्र संघ को इस भविष्य से दूर रखना है तो हमें निश्चय ही ऐसी परिस्थितियाँ एवं ऐसे वातावरण तैयार करने की आवश्यकता है जिनमें इसके छोटे व बड़े शक्तिशाली और कमजोर सभी राष्ट्रों का यथाशक्ति सहयोग प्राप्त हो सके।

अन्तर —अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग एवं शांति के लिये प्रयत्नशील इन दोनों संस्थाओं के बीच उपर्युक्त समानतायें पाई जाती हैं, किन्तु फिर भी इसमें कोई संदेह नहीं कि संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्माताओं ने राष्ट्र संघ के अभावों एवं इसकी कमजोरियों के परिणामों के अनुभवों का लाभ उठा कर नवीन संस्था को उनकी पुनरावृत्ति से बचाने का यथासम्भव प्रयास किया है

और इस प्रकार संयुक्त राष्ट्र संघ को राष्ट्र संघ का संशोधित, परिवर्धित एवं परिवर्तित संस्करण कहा जा सकता है। सच्चे अर्थों में यह राष्ट्र संघ का अगला चरण है तथा उसकी अपेक्षा कहीं अधिक प्रभावशाली साधन-सम्पन्न और अधिकार सम्पन्न है। दोनों संगठनों के संविधान, व्यवस्था और व्यवहार में जो प्रमुख अन्तर देखने को मिलता है वह निम्न प्रकार है :—

१. दोनों ही संस्थाओं का प्रादुर्भाव विभिन्न प्रकार से हुआ है। राष्ट्र संघ केवल विजेता राष्ट्रों की संस्था कही जाती है। अतिशयोक्ति होने पर भी इस कथन में आंशिक सत्यता है क्योंकि इसका मुख्य कार्य युद्ध के बाद की गई शांति-संधियों को क्रियान्वित करना था और इसका संविधान या संविदा (Covenant) वरसाय की संधि तथा अन्य संधियों का एक आवश्यक भाग था। संयुक्त राष्ट्र संघ का सम्बन्ध पराजित राष्ट्रों पर थोपे गये ऐसी किसी संधि से नहीं है। यह विजेता एवं विजित शक्तिशाली एवम् दुर्बल सभी देशों को समानता का स्तर देता है। इसका सम्बन्ध विजयी शक्तियों के शासन एवम् दमन को बनाये रखना नहीं है वरन् समय के साथ-साथ उसे कम करना और समाप्त कर देना है। वर्तमान काल में एशिया और अफ्रीका के नवोदित राष्ट्रों का प्रभाव इसमें बढ़ता जाता है। यह निश्चय ही सत्य है कि राष्ट्र संघ की भाँति संयुक्त राष्ट्र संघ पर "विजयी राष्ट्रों द्वारा अपने स्वार्थों की रक्षा के लिये थोपी गई व्यवस्था" का आरोप या आक्षेप नहीं लगाया जा सकता।

२. संयुक्त राष्ट्र संघ का नाम ही राष्ट्र संघ के नाम से अधिक प्रभावशाली और अर्थपूर्ण प्रतीत होता है। यद्यपि घोषणा-पत्र के अन्तर्गत सदस्य राष्ट्रों की सम्प्रभुता अक्षुण्ण रखी गई है परन्तु भविष्य में अधिक श्रेष्ठ और सद्भावनापूर्ण परिस्थिति उत्पन्न होने पर राष्ट्रों के अधिक घनिष्ट सम्पर्क में आने की सम्भावना व्यक्त होती है।

३. संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या से अधिक है क्योंकि १२२ सदस्य इस संगठन के भागीदार हैं। राष्ट्र संघ में तत्कालीन ५ महा शक्तियों में से २ ही स्थायी सदस्य के रूप में सम्मिलित रही थीं जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ में द्वितीय महायुद्धोत्तर तीनों महा शक्तियाँ सम्मिलित हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका कभी भी राष्ट्र संघ का सदस्य नहीं बना और रूस के इसमें प्रवेश करते ही जापान तथा जर्मनी इसमें से निकल गये। अतः विश्व के महान शक्तिशाली राष्ट्रों का जैसा जमघट संयुक्त राष्ट्र संघ में है वैसा राष्ट्र संघ में कभी भी नहीं रहा। राष्ट्र संघ को सभी विश्व शक्तियों का वह विश्वास प्राप्त न हो सका जो आज संयुक्त राष्ट्र संघ को प्राप्त है।

४. राष्ट्र संघ तथा संयुक्त राष्ट्र संघ दोनों ही संगठनों में महासभा का परिगठन मिलता है किन्तु दोनों के स्वभाव एवम् व्यवहार में भारी अन्तर है। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में निर्णय २/३ मत से लिया जाता है तथा यह निर्णय सदस्य देशों पर बाध्य रूप से लागू नहीं होता वरन् इसकी प्रकृति सिफारिश के रूप में होती है। दूसरी ओर राष्ट्र संघ की महासभा के निर्णय सदस्य की सर्व सम्मति से लिये जाते थे तथा सदस्यों द्वारा बाध्य रूप से इसका

पालन किया जाता था। इस दृष्टि से यह कहना चाहिए कि संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा राष्ट्र संघ की महासभा से निर्बल है।

२. राष्ट्र संघ के मुख्य अंग केवल तीन थे — असेम्बली (महासभा) परिषद और सचिवालय। इसके विपरीत संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान अंग ६ हैं—महासभा, सुरक्षा परिषद आर्थिक और सामाजिक परिषद अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय और सचिवालय। इससे यह स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन राष्ट्र संघ से व्यापक है। पुनश्च राष्ट्र संघ के कार्य प्रधान रूप से राजनीतिक क्षेत्र तक सीमित थे जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ के राजनीतिक कार्यों के अतिरिक्त आर्थिक सामाजिक सांस्कृतिक एवम् मानवीय कार्यों तथा ऐसे ही अन्य विषयों को भी बहुत महत्व दिया गया है। इस संगठन में मानव व्यक्तित्व के विकास और व्यक्तियों के मानवीय अधिकारों के संरक्षण के महत्व को समझा गया है। इसके विभिन्न संगठन जैसे अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष विश्व स्वास्थ्य संगठन संयुक्त राष्ट्रीय शैक्षणिक वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन आदि मानव जाति की आर्थिक सामाजिक और सांस्कृतिक एकता की वृद्धि के लिये प्रयत्नशील हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा इन कार्यों को जो प्राथमिकता दी गई है वह यूनेस्को के संविधान की भूमिका के इन शब्दों से स्पष्ट होती है— "क्योंकि युद्ध पहले मनुष्यों के मन में उत्पन्न होता है अतः शांति की आधार शिलाएं मनुष्य के मन में स्थापित की जानी चाहियें।"

३. संयुक्त राष्ट्र के चार्टर में महासभा और सुरक्षा परिषद के कार्यों का राष्ट्र संघ की सभा और परिषद (Assembly and Council) के कार्यों की अपेक्षा अधिक स्पष्ट विभाजन है। राष्ट्र संघ में इन दोनों के कार्यों का स्पष्ट विभाजन नहीं था अतः अनिश्चितता और संदेह विद्यमान था तथा इस कारण राष्ट्र संघ की स्थिति अन्त तक बड़ी ही दुर्बल रही। लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में इस प्रकार की दुबलता के प्रति सावधानी बरती गई है। अन्तर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम रखने का कार्य सुरक्षा परिषद का विषय है। सुरक्षा परिषद का कार्य क्षेत्र राष्ट्र संघ की कौंसिल की अपेक्षा मर्यादित होते हुए भी सुस्पष्ट है। उसके निर्णयों का पालन सदस्यों के लिये बाध्य है। इस तरह वह राष्ट्र संघ की कौंसिल की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। १९५० में पारित शांति के लिये एकता के प्रस्ताव (Unition for peace resolution) द्वारा महासभा को शांति रक्षा का कार्य मिल गया है किन्तु यह इस तब ही करती है जब सुरक्षा परिषद किसी महत्वपूर्ण विषय पर कार्यवाही करने में निषेधाधिकार के कारण विफल हो जाए और विश्व में शांति भंग होने की आशंका पैदा हो जाए। किन्तु इस स्थिति में भी महासभा सम्बंधित प्रश्न पर विचार विमर्श और सिफारिश ही कर सकती है किन्तु कार्यवाही नहीं कर सकती। कार्यवाही करने का अधिकार केवल सुरक्षा परिषद को ही है। इस प्रकार साफ जाहिर है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर द्वारा सुरक्षा परिषद एवं महासभा के बीच कार्यों का विभाजन जितने स्पष्ट रूप से किया गया है राष्ट्र संघ के अधीन उतना स्पष्ट नहीं था। सुरक्षा परिषद राष्ट्र संघ की कौंसिल की अपेक्षा अधिक उत्कृष्ट तथा शक्तिशाली है। इसके पास वास्तविक शक्ति है, उसके संगठन एवं व्यवहार के अनेक नियमों ने इसे महत्वपूर्ण संस्था बना दिया है।

७ सुरक्षा परिषद राष्ट्र संघ की कौंसिल या परिषद से इस दृष्टि से भी उत्कृष्ट है कि यह एक स्थायी संस्था है और १४ दिन में इसकी एक बैठक अवश्य होती है। राष्ट्र संघ की परिषद की बैठकें वर्ष भर में कदाचित् तीन ही होती थीं। यही नहीं संकट काल में सुरक्षा परिषद की आवश्यक बैठक बहुत थोड़े समय में तुरन्त ही बुलाई जा सकती है। उदाहरणार्थ उत्तरी कोरिया द्वारा दक्षिण कोरिया पर आक्रमण होने पर २५ जून, १९५० को सुरक्षा परिषद की आपातकालीन बैठक तुरन्त ही आमंत्रित करली गई थी।

८ राष्ट्र संघ की तुलना में संयुक्त राष्ट्र संघ एक अधिक समर्थ और प्रभावकारी संस्था है तथा विश्व शांति की स्थापना में यह तुलनात्मक रूप से अधिक महत्वपूर्ण है। निम्नलिखित तथ्य इसे स्पष्ट करते हैं —

(क) राष्ट्र संघ आक्रमण होने पर ही उसे रोकने के लिये कोई कार्यवाही कर सकता था जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ वास्तविक युद्ध छिड़न पर ही नहीं वरन् शांति भंग होने की आशंका और आक्रमण होने के भय से प्रभावित होकर भी अपनी कार्यवाही आरम्भ कर सकता है।

(ख) राष्ट्र संघ में शांति भंग करने वाले के विरुद्ध मुख्य रूप से आर्थिक प्रबन्धों (Economic sanctions) की व्यवस्था थी। यद्यपि संयुक्त राष्ट्र संघ भी अपनी कार्यवाही अधिकतर आर्थिक प्रबन्धों तक ही सीमित रखता है परन्तु विशेष परिस्थिति में विशेष खतरा उत्पन्न होने पर सुरक्षा परिषद जल थल और वायु मार्गों से सैनिक कार्यवाही कर सकती है। वह अपने सदस्यों से सेनाओं की मांग करती है और उसकी सैनिक योजनाओं को सुचारु रूप से कार्यान्वित करने के लिये एक सैनिक स्टाफ समिति (Military Staff Committee) भी है। राष्ट्र संघ इस सम्बन्ध में असहाय था। उसके पास संकट में प्रयुक्त की जा सकने वाली इस प्रकार की कोई सेनायें न थीं और इसीलिये उस पर आक्रान्ता को रोकने की व्यवस्था संयुक्त राष्ट्र संघ की अपेक्षा शक्तिशाली तथा प्रभावपूर्ण नहीं थी। इतना ही नहीं संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की ४३वीं धारा के अन्तर्गत सुरक्षा परिषद को आवश्यकता पड़ने पर अन्तर्राष्ट्रीय सेना संगठित करने का भी अधिकार है। इस अधिकार का प्रयोग पिछले वर्षों में कई बार किया जा चुका है तथा आज भी साइप्रस तथा पश्चिमी एशिया में संयुक्त राष्ट्र संघीय सेनायें विद्यमान हैं।

(ग) आक्रमण को रोकने की कार्यवाही के सम्बन्ध में राष्ट्र संघ और संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञापत्र या संविदा (Covenant) में सदस्यों के सशस्त्र सेनाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में किसी प्रकार की बाध्यता नहीं थी और संघ के सदस्यों का यह कार्य था कि वे यह निर्णय करें कि किसी सदस्य ने संघ के प्रतिज्ञा-पत्र के दायित्वों का उल्लंघन किया है या नहीं तथा उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की जाए या नहीं जबकि संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में शांति भंग की दशा का निश्चित करना और सैनिक कार्यवाही करने का निर्णय करना सदस्यों पर नहीं अपितु सुरक्षा परिषद पर छोड़ दिया गया है तथा उसके निर्णयों का पालन सदस्यों की इच्छा पर नहीं अपितु आवश्यक है। शांति के लिये एकता के प्रस्ताव से महासभा को भी सुरक्षा परिषद में निषेधाधिकार के कारण गतिरोध होने पर शांति स्थापित करने

के लिये सैनिक कार्यवाही करने का अधिकार प्रदान किया है। इस प्रकार की व्यवस्था राष्ट्र संघ की संविदा में न थी। इस तरह संयुक्त राष्ट्र संघ की आक्रमणकारी के विरुद्ध सदस्यों द्वारा सैनिक कार्यवाही करने की व्यवस्था राष्ट्र संघ की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक स्पष्ट और शक्तिशाली है।

९. शांति और युद्ध के मामलों में राष्ट्र संघ अपनी तरफ से कोई पहल नहीं कर सकता था। किसी सदस्य द्वारा मामला प्रस्तुत करने पर ही वह उस पर विचार कर सकता था लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ में इस कमजोरी को दूर कर दिया गया है। चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद और महासभा दोनों इस दिशा में पहल करने में समर्थ हैं। महासचिव पर भी इस सम्बन्ध में विशेष दायित्व है।

१० राष्ट्र संघ की सदस्यता ऐच्छिक थी और कोई भी राष्ट्र दो वर्ष का नोटिस देकर सदस्यता का परित्याग कर सकता था परन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में ऐसी कोई छूट नहीं दी गई है। इसकी सदस्यता अनिवार्य है।

११ संयुक्त राष्ट्र संघ की अन्तर्राष्ट्रीय न्यास प्रणाली (Trustee ship System) राष्ट्र संघ की संरक्षण व्यवस्था (Mandate System) की अपेक्षा अधिक सुनिश्चित है। न्यास प्रणाली में सीधी योजना करने की प्रणाली समय-समय पर दौरा करने वाले शिष्ट मण्डल तथा मौखिक सुनवाई आदि की व्यवस्था है और न्यास क्षेत्रों की जनता की राजनीतिक सामाजिक आर्थिक एवं शैक्षणिक प्रगति को सुनिश्चित करने पर पूरा ध्यान दिया गया है। राष्ट्र संघ की संरक्षण व्यवस्था का तीन श्रेणियों—अ, ब, स—में वर्गीकरण किया गया था कि संरक्षित क्षेत्रों के राजनीतिक विकास के मापदण्ड के अनुसार था लेकिन संयुक्त राष्ट्र संघ की न्यास व्यवस्था के अन्तर्गत न्यास क्षेत्रों और स्वशासन प्राप्त क्षेत्रों को स्वतंत्रता प्रदान करने की निश्चित तिथियाँ तय कर दी गई थीं उदाहरणार्थ लीबिया के मामले में १९५२ तथा इटली-सोमाली लैंड के मामले में १९६० का वर्ष निश्चित किया गया था। राष्ट्र संघ के अन्तर्गत ऐसा करना असम्भव था।

१२ संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र की एक उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसमें इस बात की व्यवस्था की गई है कि सुरक्षा परिषद के सभी सदस्य संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रधान कार्यालय में सदा एक स्थायी प्रतिनिधि रखें ताकि आवश्यकता पड़ने पर तुरन्त विचार-विमर्श सम्भव हो सके। राष्ट्र संघ की परिषद के विधान में इस प्रकार की कोई व्यवस्था नहीं थी।

१३ संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर की प्रस्तावना में व्यक्त किये गये संयुक्त राष्ट्र संघ के लक्ष्य बहुत ही व्यापक तथा सारगर्भित हैं। यदि चार्टर में संयुक्त राष्ट्र संघ अधिक शक्तिशाली बन जाता है और इस बात की व्यापक व्याख्या करने का प्रश्न प्रस्तुत होता है कि किन्हीं विशेष परिस्थितियों में क्या संघ को प्रभावशाली अन्तर्राष्ट्रीय कार्यवाही करने का अधिकार है तो इस संदर्भ में यह प्रस्तावना निश्चय ही अत्यन्त सहायक तथा उपयोगी सिद्ध हो

सकती है।' "इस व्यवस्थाओं का उपयोग विश्व-समाज की श्रेष्ठता अथवा सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिये किया जा सकता।" संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में शांति रक्षा के लिए प्रादेशिक संगठन (Regional Organisations) बनाने की अनुमति दी गई है जबकि राष्ट्र संघ के संविदा अथवा प्रतिज्ञा-पत्र में ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है।

१५. राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में "आत्मरक्षा' के अधिकार के सम्बन्ध में कोई बात स्पष्ट रूप से नहीं कही गई थी केवल अनुच्छेद १५ (८) में इसका गोलमाल संकेत था किन्तु संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर के अनुच्छेद ५१ में संघ द्वारा कार्यवाही करने से पहले आक्रमण का शिकार बने राज्यों को आत्मरक्षा का अधिकार बड़े स्पष्ट शब्दों में दिया गया है।

१६ संयुक्त राष्ट्र संघ मानवीय अधिकारों मौलिक स्वतंत्रताओं तथा अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक एवं सामाजिक सहयोग पर भारी बल देता है। राष्ट्र संघ के प्रतिज्ञा-पत्र में इसका बहुत कम उल्लेख था।

१७ दोनों संस्थाओं में "घरेलू अधिकार क्षेत्र" (Domestic Jurisdiction) के सम्बन्ध में भी मौलिक अन्तर पाया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ इस विषय में राष्ट्र संघ की अपेक्षा अधिक व्यापक व्यवस्था करता है तथा सदस्यों को अधिक स्वतन्त्रता देता है। चार्टर के अनुच्छेद २७ में उल्लिखित है कि "संयुक्त राष्ट्र संघ को किसी भी राज्य के उन मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होगा जो निश्चित रूप से उस राज्य के घरेलू क्षेत्र में भीतर आते हों।" यह अनुच्छेद इस बात को स्पष्ट नहीं करता कि 'घरेलू क्षेत्र' का निश्चय कौन करेगा। स्पष्ट ही अनुच्छेद द्वारा प्रत्येक सदस्य को 'घरेलू क्षेत्र' का निर्णय करने की स्वतंत्रता मिल जाती है और इस तरह संयुक्त राष्ट्र संघ का कार्य क्षेत्र व प्रभाव संकुचित हो जाता है। राष्ट्र संघ की इस विषय की व्यवस्था अधिक अच्छी थी क्योंकि उसमें 'घरेलू क्षेत्र' का निर्धारण सदस्यों पर नहीं छोड़ा गया था अपितु अन्तर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर इसके निर्णय करने का भार परिषद पर डाल दिया गया था।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि संयुक्त राष्ट्र संघ का संगठन राष्ट्र संघ के संगठन से अनेक अंशों में अधिक उत्कृष्ट एवं श्रेष्ठ है। प्रो० ईगल्टन (Prof Eagleton) का यह कहना सत्य है कि "यद्यपि दोनों व्यवस्थाओं के रूप और साधारण ज्ञान में एकरूपता दिखाई देती है किन्तु इनके बीच जो मौलिक अन्तर है उनको देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि संयुक्त राष्ट्र

"... Although there is a resemblance between the two Systems in structure and general appearance, fundamental differences show when added up that the United Nations is quite different in concept and character from the League."

—*Prof Eagleton* 'Covenant of the League of Nations and the Charter of U.N points of difference. Department of State Bulletin August 19 1945

संघ मान्यता और प्रकृति में पर्याप्त भिन्न है।"* पुनिश्चय एक बात और भी है और वह यह कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक निर्दोष संस्था नहीं है। इसमें अनेक त्रुटियां हैं जिनका परिमार्जन होने पर यह संस्था और भी अधिक प्रभावशाली तथा प्रभावशाली बन सकती है। अब भी यह अन्तर्राष्ट्रीय कानून को यथेष्ट नैतिक और भौतिक समर्थन प्रदान करने में असमर्थ है। इसके पास ऐसी ठोस नैतिक शक्ति का अभाव है जिसके बल पर वह सभी राष्ट्रों को अन्तर्राष्ट्रीय कानून का पालन करवा सके। आशा है विश्व के राजनीतिज्ञ उचित समय आने पर इन त्रुटियों का परिमार्जन करने में समर्थ हो सकेंगे। संघ को अधिक प्रभावशाली किस प्रकार बनाया जाय इस विषय में जो सुझाव समय-समय पर दिए जाते रहे हैं उनका उल्लेख आगे यथास्थान किया गया है।

संघ की कमजोरियां या अपूर्णता
(The Weak Points of the U N)

संयुक्त राष्ट्र संघ एक संगठन नहीं है। इसमें अनेक अपूर्णताएं हैं। इसने आज तक जिन राजनीतिक झगड़ों को सुलझाने का कार्य हाथ में लिया है उनमें इसके प्रयत्नों को पूरी तरह से सफलता नहीं मिली हो ऐसी बात नहीं है। अनेक बार इसे आशा के विपरीत बुरी तरह से असफल भी होना पड़ा है। महाशक्तियों के बीच इतने अधिक मौलिक मतभेद हैं कि सुरक्षा-परिषद का कार्य करना भी कभी-कभी असम्भव सा हो जाता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सफल कार्य-संचालन में निम्नलिखित बाधाओं अथवा अपूर्णताओं पर ध्यान देना आवश्यक है—

१ संघ की सदस्यता में सार्वभौमिकता का अभाव है। अभी तक विश्व के समस्त राष्ट्र इसके सदस्य नहीं बन पाये हैं। इसके जन्म के लगभग २० वर्ष पश्चात भी ८० करोड़ की जनसंख्या वाला जनवादी चीन अभी तक इसमें स्थान नहीं पा सका है। इसके साथ साथ गत महायुद्ध में पराजित राष्ट्र जर्मनी (पश्चिमी जर्मनी और पूर्वी जर्मनी) भी इसके सदस्य नहीं हैं। वियतनाम वीतमिन्ह उत्तरी एवं दक्षिणी कोरिया जैसे छोटे छोटे राष्ट्र भी संयुक्त राष्ट्र संघ से बाहर हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि संघ का अधिकार सीमा सीमित है और वह सम्पूर्ण विश्व की जनता का प्रतिनिधित्व नहीं करता।

२ संयुक्त राष्ट्र संघ में राष्ट्र संघ की त्रुटियों में से एक त्रुटि की पुनरावृत्ति भी की गई है। यह संगठन इस सिद्धान्त पर आधारित है कि क्षेत्रफल अथवा सीमा तथा जनसंख्या की विभिन्नता होते हुए भी सभी सदस्य राष्ट्र समान हैं। वैधानिक समानता की इस मान्यता के कारण मताधिकार की दृष्टि से बड़े राष्ट्र भी छोटे राष्ट्रों के समकक्ष आ गए हैं। वस्तुतः यह एक हास्यास्पद बात है कि ४५ करोड़ की विशाल जनसंख्या वाले देश भारत को भी वही अधिकार प्राप्त है जो २० लाख की जनसंख्या वाले एल साल्वाडोर एवं १२-१३ लाख की कम संख्या वाले लेबनान को है।

३ संयुक्त राष्ट्र संघ जैसा कि इसके नाम से ही प्रकट होता है राष्ट्रों का एक संघ है इसमें भाग लेने वाले राजनीतिज्ञ अपनी सरकार का

प्रतिनिधित्व करते हैं। इस प्रकार संघ राष्ट्रों की सम्प्रभुता के व्यवहार पर ही आधारित रहता है जबकि इसमें सरकारों के स्थान पर जनता के विश्व के लोगों के प्रतिनिधि होने चाहियें। क्लार्क आइकबर्गर (Clark Eicheberger) के मतानुसार 'संयुक्त राष्ट्र संघ एक ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय व्यक्ति है जिसके निर्माताओं ने इसे अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्य करने की शक्ति का बाना पहिनाया है तथा जिसके सदस्यों ने इसके प्रति महत्वपूर्ण दायित्व सम्भाले हैं किन्तु यह न तो एक राज्य है और न ही सर्वोच्च राज्य। यह अन्तर्विरोध तो विश्व समाज के विकास में निहित ही रहता है।'* संयुक्त राष्ट्र संघ तो केवल चर्चा वाद-विवाद तथा विवादों के शांतिपूर्ण हल के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय स्थल मात्र बना हुआ है। इसके पास अपनी स्वयं की ठोस शक्ति नहीं है सिवाय उन अधिकारों के जो सदस्य राष्ट्रों ने इसे स्वेच्छा से प्रदान किये हैं। विभिन्न देशों के "घरेलू मामलों" में संघ का कोई अधिकार नहीं है और "घरेलू मामलों" की स्पष्ट परिभाषा घोषणा-पत्र में नहीं दी गई है। इस दुर्बलता का परिणाम यहां तक निकला है कि औपनिवेशिक प्रश्न अथवा गैर स्वशासन क्षेत्रों को आत्म-निर्णय का अधिकार देने के प्रश्न पर भी औपनिवेशिक शक्तियों ने इसे अपने "घरेलू अधिकार क्षेत्र" के अन्तर्गत मान कर विचार किया है।

४ संयुक्त राष्ट्र संघ के वाद विवाद एवम् निर्णय पक्षपातपूर्ण होते हैं। अधिकांश देशों द्वारा एक प्रस्ताव को केवल इसी कारण सहमति प्रदान की जाती है क्योंकि वह उसके गुट वाले किसी देश की ओर से उठाया गया है। विरोधी गुट वालों का उपयोगी एवम् महत्वपूर्ण प्रस्ताव भी अनुचित तरीकों के आधार पर ठुकरा दिया जाता है। सुरक्षा-परिषद में संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रभाव है और इसी कारण सोवियत रूस को अनेक बार वीटो का सहारा लेकर अपनी रक्षा करनी पड़ती है।

५ संयुक्त राष्ट्र संघ निषेधाधिकार के दुरुपयोग का रंगमंच बना हुआ है। सुरक्षा परिषद में ५ महा शक्तियों ब्रिटेन अमेरिका फ्रांस रूस और राष्ट्रवादी चीन को निषेधाधिकार प्राप्त है। इसमें से कोई भी शक्ति किसी भी उचित किन्तु अपने विरोधी वाले को निषेधाधिकार के प्रभाव से अमान्य ठहरा देती है। इस तरह यह निषेध-शक्ति विश्व में शान्ति एवम् सुरक्षा को स्थिर करने की दिशा में प्रभावकारी कार्यवाहियों में अवरोध उत्पन्न कर देती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रथम महासचिव ट्रिग्वेली तक ने स्वीकार किया था कि "निषेधा

---

*"Here then is the U.N and International personality clothed by its frames with authority to operate on an international plan and whose members have taken important obligations towards it. But it is neither State nor a Supereme State. The dilema is inherent in the development of worthy society"

—*Clark Eicheberger* U.N. : The First Twenty Years, 1965 Page129

धिकार के कारण संयुक्त राष्ट्र संघ असफल है, बड़े राष्ट्रों के संघर्ष ने इसे पङ्गु बना दिया है तथा शीत युद्ध ने इसकी गतिशीलता को और भी ठप्प कर दिया है। हेरोल्ड लास्की ने इस सम्बन्ध में अपना मत व्यक्त करते हुए लिखा है 'अन्तयुद्धीय वर्षों में हम वस्तुतः ऐसा पाठ सीखा है जिसकी वास्तविकता से मुँह नहीं मोड़ा जा सकता और वह पाठ यह है कि एक बार किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था के सदस्यों ने उन सिद्धान्तों को जिनके लिए वे वचनबद्ध हैं अपने पक्ष के बचाव के लिये तोड़ना-मरोड़ना प्रारम्भ कर दिया तो फिर अन्ततः समस्त संस्था छिन्न-भिन्न होनी प्रारम्भ हो जाती है। छिन्न-भिन्नता जब होती है तो टुकड़े हो जाती है। रूस अब तक १०० से भी अधिक बार निषेधाधिकार का प्रयोग कर चुका है। निषेधाधिकार का प्रयोग कर चुका है। सुरक्षा-परिषद् में उपयुक्त उपयोग और दुरुपयोग ने संयुक्त राष्ट्र संघ में विश्व की जनता की आस्था को जितना कम किया है उतना और किसी बात ने नहीं। एटलीरेल का कथन है कि इस निश्चय करने का कि ऐसे प्रत्येक मामले में वीटो को स्वतन्त्रतापूर्वक प्रयोग किया जाए जिसमें कि सुरक्षा परिषद को कार्यवाही करना आवश्यक होता हो अभिप्राय यह होगा कि केवल एक महा शक्ति परिषद के अन्य सदस्यों की इच्छाओं को दबा सकती है और यहाँ तक कि वह महासभा की इच्छाओं का भी शांति एवम सुरक्षा के अतिरिक्त अन्य मामलों में दबा सकती है। इस अधिकार के प्रयोग से संयुक्त राष्ट संघ पूर्ण रूप से अमहत्व का हो जाएगा। आलोचकों की मान्यता है कि निषेधाधिकार का अनुभव यह बताता है कि साधारण रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ अपर्याप्त है तथा मद और शांति की समस्या को प्रभावपूर्ण ढंग से नहीं सुलझा सकता।

६ संयुक्त राष्ट्र संघ की एक कमजोरी यह मानी जाती है कि इसके पास अपने निर्णयों को क्रियान्वित कराने की शक्ति नहीं रहती। अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों का निवारण कर विश्व में शांति एवम् सुरक्षा की स्थापना के लिये इसे महा शक्तियों के मुँह की ओर ताकना पड़ता है जिनके सक्रिय सहयोग के बिना यह अपने लक्ष्य को प्राप्त नहीं कर सकता। दूसरी ओर कोई भी 'राष्ट्र' संघ के कार्यों का समर्थन करते समय अपने राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखता है। एक प्रचलित भाषा में यह कहा जा सकता है कि 'संघ के पास काटने के लिये दांत नहीं है।' वास्तव में संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्णयों का महत्व सिफारिशों से अधिक कुछ नहीं है तथा एक सदस्य राष्ट्र को यह छूट है कि वह उन्हें स्वीकार करे अथवा ठुकरा दे।

७ संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में आत्मरक्षा एवम् आक्रमण के मध्य का भेद स्पष्ट शब्दों में उल्लिखित नहीं है। इसी अस्पष्टता का लाभ उठाते हुए उत्तरी कोरिया पर आक्रमण करने के मामले में भी केवल १६ राष्ट्रों ने ही संयुक्त राष्ट्र संघ को सैनिक सहायता दी।

८ संघ के सभी सदस्य राष्ट्र समान रूप से साम्राज्यवादी तथा जातीय भेदभाव के विरोधी नहीं हैं। अफ्रीका महाद्वीप में जातीय भेदभाव का अवसर इतना अधिक है कि वह प्रजातन्त्र स्वतन्त्रता समानता एवम मानव अधिकारों आदि का पूरी तरह से मखौल करता-सा दिखाई देता है।

इस समय रोडेशिया में २ प्रतिशत गोरे लोगों द्वारा सम्पूर्ण शासन का बल पूर्वक अपने हाथों में ले लिया गया है। ईआनस्मिथ की स्वतन्त्रता की एक तरफा घोषणा–अमानुषिक एवम् अनुचित होने पर भी ब्रिटेन तथा अनेक राष्ट्रों के तीव्र विरोध एवम् प्रतिक्रिया का कारण नहीं बन सकी।

९. संयुक्त राष्ट्र संघ के बाहर की गई सैनिक संधियों के कारण भी इसका महत्व कुछ कम हो गया है। नाटो सीटो तथा ऐसे ही अन्य सैन्य-संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ के शांति स्थापना के कार्य को निर्मूल करते हुए पारस्परिक विद्वेष और संघर्ष भाव को प्रोत्साहन देने वाले हैं।

१०. संयुक्त राष्ट्र संघ की निर्बलता एवम् असफलता का एक प्रमुख कारण यह है कि आधुनिक विश्व दो परस्पर विरोधी शक्ति गुटों में बटा हुआ है और पूंजीवादी तथा साम्यवादी दो प्रमुख विचारधाराओं में निरन्तर संघर्ष चला आ रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ भी रूस और उसके सहयोगी राष्ट्र तथा अमेरिका और उसके साथी राष्ट्रों की पारस्परिक खींचतान का रंगमंच बना हुआ है। दोनों के पारस्परिक मतभेदों के कारण ही अभी तक जर्मनी की समस्या का अंतिम समाधान नहीं हो सका है और निःशस्त्रीकरण के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर किसी तरह का समझौता नहीं हो पाया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा किये जाने वाले निःशस्त्रीकरण प्रयासों पर पानी इसीलिये पड़ा है कि रूस और अमेरिका के दोनों विरोधी गुट परस्पर एक दूसरे को अविश्वास की दृष्टि से देखते हुए संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों की पूर्ति के विषय में ईमानदार नहीं हैं। विश्व के ये दोनों गुट संघ में और उसके बाहर भी प्रायः प्रत्येक प्रश्न पर एक दूसरे के विरोधी विचार ही व्यक्त करते हैं। शिखर सम्मेलनों के द्वारा दोनों को समझौतों के विभिन्न प्रयासों ने उनकी वैमनस्य की भावना में अभिवृद्धि ही की है। किसी भी देश के गृह युद्ध में ऐसे दोनों गुट परस्पर विरोधी शक्तियों को सहायता देकर विश्व–शांति के लिए खतरा पैदा करने में सहायक होते रहे हैं। वियतनाम का संघर्ष इसका ज्वलन्त प्रमाण है। वर्तमान समय में साम्यवादी चीन के रूप में एक नई गुटबन्दी नये रूप में सामने आ रही है। आज यह दिखाई पड़ता है कि एक तरफ साम्यवादी जगत में रूस और चीन में खाई बढ़ती जा रही है तो दूसरी तरफ पूंजीवादी देशों में भी फ्रान्स के नाटो (NATO) से पृथक होने की घोषणा के कारण मतभेद स्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। इन सभी बातों ने संयुक्त संघ को निर्बल बनाने में ही सहायता पहुंचाई है।

११. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना का एक उद्देश्य विश्व के समस्त राष्ट्रों को स्वतन्त्रता एवम् समानता दिलाना है परन्तु संघ की स्थापना के बाद भी विश्व के राष्ट्रों में साम्राज्यवाद की मनोवृत्ति का पूर्ण अन्त नहीं हो सका है और आज भी अनेक पराधीन राष्ट्रों को अपनी स्वतन्त्रता के लिये घोर प्रयत्न करने पड़ रहे हैं तथा वहां की जनता को स्वतन्त्रता की मांग करने पर गोलियों का शिकार बनना पड़ता है। जब तक आधुनिक विश्व में यह साम्राज्यवादी भावना कायम रहेगी तब तक संघ की सफलता में बाधा उपस्थित होना स्वाभाविक बात है।

१२ संयुक्त राष्ट्र संघ तब ही सफल हो सकता है जब कि इसे सदस्यों का सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहे। क्लार्क आइकलबर्गर के शब्दों में "अन्तिम विश्लेषण में संयुक्त राष्ट्र संघ को सफल बनाने का काम इसका प्रतिनिधित्व करने वाले लोगों तथा राजनीतिज्ञों पर ही निर्भर है।"* किन्तु इन पर राष्ट्रीयता एवम् सम्प्रभुता जैसी भावनाओं का प्रभाव पड़ता रहता है अतः वे संघ की सफलता में यथासम्भव सहयोग प्रदान नहीं कर पाते।

१३ जैसा कि पहले प्रसंगवश बताया जा चुका है संघ का एक गम्भीर दोष यह है कि शस्त्रों के एकत्रीकरण और निर्माण को कम करने के मामलों में इसके सदस्य राष्ट्रों में विशेष कर बड़ी शक्तियों में ईमानदारी का अभाव है। अणु बम एवं उद्जन बम तथा विध्वंसकारी अस्त्रों के परागमन ने अन्तर्राष्ट्रीय शांति के स्थान पर अन्तर्राष्ट्रीय संघर्ष की स्थिति उत्पन्न कर दी है और एक छोटी सी भी चिंगारी सम्पूर्ण विश्व को युद्ध की ज्वाला में झोंक सकती है। विवादास्पद मामलों के समाधान में महा-शक्तियां संयुक्त राष्ट्र संघ का अतिक्रमण भी कर देती हैं जैसा कि फ्रान्स ने जुलाई १९५४ में हिन्द-चीन युद्ध विराम-समझौते में किया।

कुछ भी हो दुर्बलताओं के बावजूद भी यह निर्विवाद सत्य है कि संयुक्त राष्ट्र संघ अब तक विश्व युद्ध को रोकने और शांति को बनाए रखने में बहुत कुछ सफल हुआ है और इसने अपने आपको राष्ट्र संघ के समान एक मृतप्राय संस्था नहीं बनने दिया है।

संघ को शक्तिशाली बनाने के लिये सुझाव
(Suggestions for strengthening the U. N.)

हमने देखा कि संयुक्त राष्ट्र संघ के संगठन एवं प्रक्रिया के क्रम में कुछ बाधायें हैं तथा दोषपूर्ण व्यवस्थायें हैं जिनके कारण चार्टर के लक्ष्यों को प्राप्त करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य बन गया है। इसके अतिरिक्त संघ के अनेक उपबन्ध आज समयातीत बन चुके हैं। संघ के संस्थापकों के सामने जिस संसार का चित्र था वह आज के नवीन विकासों के कारण कई नवीन रंगों से परिपूरित हो गया है। इसलिये अब यह आवश्यक हो गया है कि संयुक्त राष्ट्र संघ के रूप एवं संगठन में परिवर्तन किया जाए। अणु शक्ति के विकास एवं अन्य वैज्ञानिक आविष्कारों ने अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को बहुत बदल दिया है। इसके अतिरिक्त विश्व-शांति का महत्व दिनों दिन बढ़ता ही जा रहा है। निशस्त्रीकरण योजनाओं को प्रभावशाली बनाने की दृष्टि से भी संयुक्त राष्ट्र संघ को शक्तिशाली बनाना आवश्यक है। विश्व बड़ी तेज गति से बदल रहा है और राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तरों पर घटनाओं का ज्वार इतना जल्दी रूप-परिवर्तन कर रहा है कि पूर्व-कल्पना एवं भविष्यवाणियों के लिये अधिक स्थान नहीं

---

*"In the final analysis it is up to the Statesman and the people they represent to make a success of the United Nations."

—*Clark Eichelberger* op. cit. P XII.

बन पाया है। क्रान्ति मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में ही हो रही है। औपनिवेशिक राज्यों की जनता में चेतना बढ़ रही है जहाँ दासता की कड़ियाँ एक के बाद एक टूटती जा रही हैं। पिछड़े हुए देश में गरीबी बीमारी एवं अशिक्षा आदि मानवता के अभिशापों के विरुद्ध संघर्ष बड़े जोर से प्रारम्भ कर दिया गया है। अन्तर्राष्ट्रीय जीवन में पहले पाँच शक्तियाँ राष्ट्रों का प्रभावपूर्ण हस्तक्षेप थो किन्तु युद्ध के बाद ये मिट गईं और विश्व रंगमंच पर केवल दो शक्तियाँ ही दिखाई देने लगीं। इन सब परिवर्तनों के संदर्भ में संयुक्त राष्ट्र संघ को शक्तिशाली बनाने के उपायों पर विचार करना सामयिक तथा नितान्त आवश्यक है।

संघ को शक्तिशाली बनाने के लिये चार्टर में जो आवश्यक संशोधन एवं परिवर्तन वांछनीय हैं उनका विस्तृत उल्लेख "चार्टर में संशोधन" के पूर्ववर्ती शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। किन्तु उनके अतिरिक्त भी संघ को शक्तिशाली बनाने के लिये अनेक सुझाव समय-समय पर दिये जाते रहे हैं जो प्रमुखतया निम्नलिखित हैं—

१ संघ सम्प्रभु राज्यों की एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था है और इस रूप में उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि इसके नियमों को क्रियान्वित करने में सदस्य राष्ट्रों द्वारा कितनी रुचि ली जाती है। यदि संघ को शक्तिशाली बनाना है तो सदस्य राज्यों को अधिक स्वामिभक्ति एवं कल्पनात्मक (Imaginative) रूप से अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना चाहिये।

२ चार्टर की व्याख्या करते समय उदार दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। क्लार्क आइक्लबर्गर (*Clark Eichelberger*) के विचारानुसार *विश्व शान्ति* के लिए यह सौभाग्यपूर्ण होगा कि चार्टर की कठोरता की अपेक्षा उदारता पूर्वक व्याख्या की जाये।* शांति के लिए एकता के प्रस्ताव को इस प्रकार की व्याख्या का उदाहरण माना जा सकता है। उदार दृष्टिकोण वालों के मतानुसार संयुक्त राष्ट्र संघ उन सभी कार्यों को कर सकता है जो कि उसके लक्ष्य की पूर्ति के लिये आवश्यक हैं। सोवियत रूस इस प्रकार के दृष्टिकोण का विरोध करता है। उसके मतानुसार संघ का कोई भी अंग वह कार्य नहीं कर सकता जो कि संघ के चार्टर द्वारा उसे सौंपा नहीं गया है। सुरक्षा परिषद की शक्तियों के मूल्य पर यदि महासभा कोई भी कार्य करने का उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेती है तो रूस द्वारा उसका विरोध किया जाता है जब कि यह नहीं होना चाहिये।

३ संघ के वर्तमान रूप को विस्तृत बना देना चाहिए ताकि आवश्यकता के अनुरूप नवीन संस्थाओं का निर्माण किया जा सके।

४ जो क्षेत्र राष्ट्रीय संप्रभुता के आधीन नहीं हैं वहाँ पर अन्तर्राष्ट्रीय

---

*"It is fortunate for the peace of the world that the Charter has been liberally interpreted, instead of being a straight jacket."

—*Clark Eichelberger* op cit. p 16.

सत्ता स्थापित कर लेनी चाहिए, उदाहरण के लिए बाहरी आकाश (Outer Space)।

५ संघ को सर्वव्यापी बनाने के हर संभव प्रयास किए जायें। यदि संघ का कानून पर आधारित विश्व समाज बनाना है तो सभी राष्ट्र इसके सदस्य होने चाहिए।

६ आय का कोई स्वतन्त्र स्रोत रखना चाहिए। राष्ट्रों के चन्दा एवं सहयोग पर अवलम्बित रह कर संघ सच्चे अर्थों में अपने कर्त्तव्य को पूरा करने में असफल रहता है। संघ को चाहिए कि वह विकास कर (Improvement Tax) सेवा कर (Service Tax) यात्री कर (Traveller Tax) आदि लगाए तथा विश्व बैंक की आय तथा बाहरी आकाश की फीस आदि द्वारा अपनी आय को बढ़ाये।

७ वर्तमान अंगों की बनावट तथा कार्य प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिए।

८ विश्व कानून की प्रक्रिया का विकास करना चाहिए तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के प्रयोग से अधिक लोकप्रिय बनाना चाहिए।

९ चार्टर का परिवर्तन करना चाहिए।

महासचिव के सुझाव (Suggestions of Secretary General)—संयुक्त राष्ट्र संघ को मजबूत करने की दृष्टि से इसके प्रथम महासचिव ट्रिग्वेली (Triggvo Lie) ने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये थे। उनके मुख्य सुझाव इस प्रकार हैं—

(i) जर्मनी के भविष्य की समस्या का कोई प्रभावपूर्ण समझौता कर लेना चाहिए।

(ii) सुरक्षा परिषद के पास अन्तर्राष्ट्रीय झगड़ों को सुलझाने तथा शान्ति को कायम रखने के लिए जो भी शक्तियां हैं उनका उपयोग करना चाहिए।

(iii) सुरक्षा परिषद के प्रयोग के लिए अनुच्छेद ४३ के आधीन सदस्यों को सशस्त्र सेना देनी चाहिए।

(iv) घातक शस्त्रों से उत्पन्न समस्याओं पर नियन्त्रण करने के लिए संघ को इसका अध्ययन कराना चाहिए।

(v) सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों को अपनी वीटो शक्ति का अधिक प्रयोग नहीं करना चाहिये।

(vi) संघ के सदस्यों को महासभा एवं सुरक्षा परिषद के निर्णयों को यथासम्भव समर्थन देना चाहिए चाहे वे सदस्यों के लिए सिफारिश के रूप में ही क्यों न हों।

६ जून १९५० को ली महोदय ने संयुक्त राष्ट्र संघ द्वारा शांति प्राप्त करने के लिए २० वर्ष की एक योजना प्रस्तुत की तथा दस-सूत्री कार्यक्रम को पूरा करने को कहा। ये सूत्र निम्नलिखित हैं—

१ समय-समय पर विदेश मंत्रियों या राष्ट्रों के प्रधानों की बैठक की जाय ताकि उनके बीच का सम्बन्ध घनिष्ट हो तथा तत्कालीन समस्याओं के समाधान की आधार-भूमि ढूंढी जाय तथा आपसी मतभेदों को दूर कर

लिया जाय।

२ अणु शक्ति के अन्तर्राष्ट्रीय नियन्त्रण पर समझौता करने के प्रयास नये सिरे से किये जायें।

३ सब प्रकार के शस्त्रों पर नियन्त्रण रखने के नए सिरे से प्रयास किये जायें।

४ सुरक्षा परिषद को सेना प्राप्त कराने के नये प्रयास।

५ संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता को सर्वव्यापी बनाने के प्रयास।

६ एक विस्तृत एवं सुदृढ़ तकनीकी सहायता योजना।

७ संयुक्त राष्ट्र के विशेष अभिकरणों का अधिक व्यापक प्रयोग।

८ मानव अधिकारों का सम्मान।

९ अधीन लोगों की समानता का विकास।

१० अन्तर्राष्ट्रीय कानून का विकास।

इस दस-सूत्री कार्यक्रम में प्रथम सूत्र एक ऐसी नवीन विशेषता है जो पहली योजना में समाहित नहीं की जा सकी थी। ली तथा उनके उत्तराधिकारी डाग हेमरशोल्ड (Dag Hammarskjold) दोनों ही महासचिव क्षेत्रीय सैनिक संगठनों का पूरी तरह विरोध करते थे क्योंकि इनके द्वारा संयुक्त राष्ट्र संघ को महत्वहीन बना दिया जाता है। संयुक्त राष्ट्र संघ विश्व शान्ति एवं सुरक्षा का प्रतीक है किन्तु इस प्रतीक का प्रयोग पूरी तरह एवं सन्तोषजनक रूप से अभी तक नहीं किया गया है। कार्लोस रोमुलो (Carlos Romulo) का मत है कि संयुक्त राष्ट्र संघ मर रहा है। इस मत को अतिशयोक्ति ही माना जायगा। संयुक्त राष्ट्र संघ पूरी तरह से सफल नहीं हो पाया है यह कथन सत्य है किन्तु यह भी सत्य है कि यह पूरी तरह असफल भी नहीं रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने आंशिक सफलतायें प्राप्त की हैं। यद्यपि निरन्तर इसका अपमान किया गया है अवहेलना की गई है तथा इसे समाप्त करने जैसे प्रयास भी किये गये हैं तो भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में इसने शान्ति बनाये रखने के अनेक बार सफल प्रयास किये हैं। विश्व के राष्ट्रों एवं लोगों की सेवा के लिये जो विभिन्न संगठन तथा आयोग कार्य कर रहे हैं उनके बीच संघ ने समन्वय की स्थापना की है। संयुक्त राष्ट्र संघ वर्तमान अन्तर्राष्ट्रीय की एक आवश्यक उपयोगी एवं अपेक्षित विशेषता है तथा अणु-युग में अस्तित्व की आवश्यक शर्त है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के परिवार की विशिष्ट एजेन्सियां एवं संस्थाएं
[Specialized Agencies & Institutions of the U N O]

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंगों का अध्ययन करने के साथ-साथ हमारे लिये इसकी अन्य प्रमुख एजेन्सियों और संस्थाओं का अध्ययन करना भी अनिवार्य हो जाता है। संघ के परिवार की एजेन्सियां और संस्थाएं विश्व के विभिन्न देशों की जनता के रहन-सहन के स्तर को ऊंचा करने आर्थिक व सामाजिक विकास को बढ़ावा देने बालकों व शरणार्थियों जैसे खास वर्ग को सहायता पहुंचाने व प्राविधिक तथा वैज्ञानिक ज्ञान को प्रदान करने के लिये विभिन्न देशों की सरकारों के साथ मिल कर काम कर रही हैं।

संघ की प्रमुख एजेन्सियां एवं संस्थाएं निम्नलिखित हैं —

१ अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन
[International Labour Organization I. L. O]

२ खाद्य और कृषि संगठन
[Food and Agriculture Organization F. A. O]

३ अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
[International Monetary Fund IMF]

४ पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक
[The International Bank for Reconstruction and Development]

५ अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ
[The International Civil Aviation Organization]

६ संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक संगठन
[The United Nations Educational, Scientific and Cultural Organization UNESCO]

७ विश्व स्वास्थ्य संगठन
[The world Health Organization WHO]

८ अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन
[The international Refugee Organization]

९ अन्तर्राष्ट्रीय समुद्र परामर्श संगठन
[The international Maritime Consultative Organization]

१० विश्व डाक संघ
[The Universal Postal Union]

११ अन्तर्राष्ट्रीय दूर संचार संघ
[The International Telecommunications Union]

१२ विश्व अन्तरिक्ष-ऋतु विज्ञान संघ
[The World Meterological Organization]

१३ अन्तर्राष्ट्रीय अणु शक्ति एजेन्सी
[International Atomic Energy Agency]

१४ अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
[International Finance Corporation]

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन

(International Labour Organization)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन संयुक्त राष्ट्र संघ की विशिष्ट समितियों में सर्वाधिक प्राचीन है। इसकी स्थापना ११ अप्रैल १९१९ को वर्साय की संधि के भाग १३ के अनुसार श्रमिकों के हित साधन के उद्देश्य से की गई थी। प्रथम एवं द्वितीय महायुद्ध के मध्यवर्ती काल में यह संस्था राष्ट्र संघ की एक सहायक संस्था के रूप में कार्य करती रही। द्वितीय महायुद्ध के बाद राष्ट्र संघ की समाप्ति हो गई और तब १९४६ में इसे संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशिष्ट समिति के रूप में पुनर्गठित किया गया। संयुक्त राष्ट्र संघ और

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार इस संगठन ने विश्व के देशों में श्रम तथा सामाजिक कार्यों के करने का दायित्व अपने ऊपर ले लिया।

सिद्धान्त तथा उद्देश्य—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन इस विश्वास पर आधारित है कि सार्वभौमिक तथा स्थायी शांति की स्थापना सामाजिक न्याय की आधारशिला पर ही सम्भव है। १९४४ में फिलाडेलफिया में अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक सम्मेलन हुआ जिसमें इस संगठन की शांतिपूर्ण नीति को दुहराया गया। इस घोषणा में निम्नलिखित सिद्धान्त निश्चित किये गये—

(क) श्रम कोई वस्तु नहीं है।

(ख) कहीं भी दरिद्रता हो वह सब जगह की समृद्धि के लिये खतरा है।

(ग) निरन्तर उन्नति के लिये यह आवश्यक है कि अभिव्यक्ति और संगठन की स्वतंत्रता हो।

(घ) अभाव एवं दरिद्रता के विरुद्ध प्रत्येक देश में पूर्ण उत्साह के साथ युद्ध किया जाना चाहिये।

फिलाडेलफिया में हुई बैठक में की गई घोषणा में जिन उद्देश्यों का प्रतिपादन किया गया उनमें से प्रमुख इस प्रकार हैं—

(i) पूर्ण रोजगार और जीवन निर्वाह के लिये आवश्यक पूर्ण वेतन;
(ii) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था
(iii) पर्याप्त भोजन एवं आवास की व्यवस्थाओं का विस्तार
(iv) सामूहिक रूप से मोल-तोल अथवा सौदा करने का अधिकार;
(v) अवसरों की समानता;
(vi) स्वास्थ्य और सुरक्षा के साधनों की उपयुक्त व्यवस्था।

संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं—

(१) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (International Labour Conference);
(२) शासक मंडल अथवा संस्था (Governing Body); एवं
(३) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय (International Labour Office)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन श्रम संगठन (I.L.O.) की सर्वोच्च संस्था है। इसका निर्माण उन सभी राज्यों के राष्ट्रीय प्रतिनिधि मंडलों से हुआ है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य हैं। प्रत्येक राष्ट्रीय प्रतिनिधि मंडल में ४ सदस्य होते हैं जिनमें से २ सरकार का एक मालिकों का तथा एक श्रमिकों का प्रतिनिधित्व करते हैं। सम्मेलन का प्रमुख कार्य समझौते (Conventions) के रूप में अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक मापदंड (Standards) का निर्धारण करना है। सम्मेलन का वर्ष में एक बार अधिवेशन अवश्य होता है। इसके निर्णय केवल मार्ग दर्शन का कार्य करते हैं वे किसी भी देश पर बाध्य नहीं हैं, दूसरे शब्दों में यह अनिवार्य नहीं है कि किसी देश के श्रम सम्बन्धी

कानून सम्मेलन के नियमों के अनुसार ही बनाये जाएं। सम्मेलन ही शासक मंडल का नामांकन करता है तथा वार्षिक बजट भी पास करता है।

शासक मंडल अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की कार्यकारी परिषद है। इसमें ४० सदस्य होते हैं २० सरकारों के १० मालिकों के तथा १० श्रमिकों के। ये प्रतिनिधि प्रत्येक तीसरे वर्ष निर्वाचित होते हैं। सरकारों के २० प्रतिनिधियों में से १० राज्यों की सरकारों को अपनी औद्योगिक महत्ता के कारण संगठन की सदस्यता प्राप्त है। ये १० स्थायी सदस्य हैं—कनाडा चीन फ्रांस जर्मनी भारत इटली जापान रूस संयुक्त राज्य अमरीका एवम् ग्रेट ब्रिटेन। शासक मंडल एक महा निदेशक (Director General) का चुनाव करता है जो इसके कार्यालय का काम देखता है। शासक मंडल का प्रधान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय एवम् श्रम संगठन के अनेक आयोगों तथा समितियों के कार्यों की देखरेख करना है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय संगठन (ILO) के सचिवालय के रूप में कार्य करता है। इसका प्रधान महा सचिव होता है। वर्तमान में इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में स्थित है।

श्रम संघ के कार्य और उसकी सफलताएं—सामाजिक न्याय पर ही विश्व शान्ति निर्भर करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्रमिक मालिक एवं सरकार के प्रतिनिधि मिलकर अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की नीतियों एवं कार्यों की देखभाल करते हैं। इस प्रकार इस संगठन का त्रिदलीय स्वरूप अद्वितीय है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के प्रमुख कार्य और उसकी सफलताएं निम्नानुसार हैं—

(१) इसका एक प्रधान कार्य अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक समझौतों (Conventions) व सिफारिशों के रूप में विविध प्रकार की श्रम-सम्बन्धी दशाओं के अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक मानदण्डों (Standards) का निर्माण करना है। संगठन के सदस्यों से यह आशा की जाती है कि वे अपनी सरकारों से इन समझौतों का अनुसमर्थन (Ratification) करवा कर इन्हें कानून का रूप दिलवाने का प्रयत्न करेंगे। वे श्रम कार्यालय को इस बात की रिपोर्ट भी देंगे कि इनका पालन कहां तक हो रहा है। स्पष्ट ही यह कर्तव्य इस नवीन सिद्धान्त का परिचायक है कि संघ की केवल सदस्यता मात्र ही कुछ ऐसे उत्तरदायित्व उत्पन्न कर देती है जो केवल औपचारिक नहीं है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन में अब तक सौ से भी अधिक अन्तर्राष्ट्रीय श्रम समझौतों (Conventions) को (जिनमें से ६३ इस समय लागू हैं) स्वीकार किया है तथा जनेवा में इस संगठन के प्रधान कार्यालय में समझौतों की १८७० संपुष्टियां (Ratifications) जमा हो चुकी हैं। इसके अतिरिक्त विधान निर्देशन के रूप में १११ से ऊपर सिफारिशें भी की गई हैं। कुछ समझौतों या कन्वेन्शनों में समुदाय-स्वतंत्रता के अधिकार, दिन में ८ घंटे काम वेतन की सुरक्षा व सवेतन अवकाश की बात है तो कुछ में बालकों और स्त्रियों के लिए कठोर श्रम कार्यों में स्त्रियों को काम पर लगाने तथा

बपार लेने अथवा चपरासी के काम को वर्णित किया गया है। उपरोक्त प्रकार के समझौतों व सिफारिशों को सम्मिलित रूप से 'अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संहिता" (International Labour Code) कहा जाता है।

(२) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन श्रमिकों की दशाएं सुधारने के लिए विभिन्न प्रकार के सामाजिक अनुसंधान करता है आँकड़े तथा रिपोर्ट प्रकाशित करता है। यह अमेरिका एशिया और यूरोप में समय-समय पर क्षेत्रीय अधिवेशन बुलाता है और विश्व के प्रधान उद्योगों के सम्बन्ध में सरकार श्रमिक और मालिकों के त्रिदलीय सम्मेलन आमन्त्रित करता है।

(३) यह विभिन्न देशों को प्राविधिक सहायता (Technical As istance) प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण कार्यक्रमों की व्यवस्था करता है। इस तरह श्रमिकों मालिकों और सरकारों को यह संगठन सिखलाता है कि किस तरह अधिक व अच्छा माल उत्पादित किया जावे।

(४) यह विभिन्न देशों को जीवन स्तर ऊंचा करने मजदूरों की क्षमता बढ़ाने बेकारी को रोकने आदि के बारे में परामर्श देता है। सहकारिता सामाजिक सुरक्षा औद्योगिक सुरक्षा स्वास्थ्य आदि के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यों को दिये गये इसके परामर्श अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

(५) श्रमिक संगठन सरकारों के उन नियमों को जिनके कारण घने बसे हुए देशों से अल्प विकसित क्षेत्रों में जहां श्रमिक शक्ति की कमी हो श्रमिकों के जाने में बाधा पड़ती है हटाने में भी सहायता करता है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन के जेनेवा कार्यालय के कर्मचारी मण्डल व संसार भर में उसके शाखा-कार्यालयों के प्रमुख को महानिदेशक कहते हैं। इसका स्थाई कार्यालय जेनेवा में है और क्षेत्रीय कार्यालय (Field offices) एशिया के लिए बंगलौर (भारत) में दक्षिण अमेरिका के लिए लामा (पेरू) में मध्य अमेरिका के लिए मेक्सिको नगर में और मध्य पूर्व के लिए इस्तम्बूल में है।

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन अपने कार्यों में अनेक समितियों से सहायता लेता है। किसी उद्योग विशेष की सामाजिक व आर्थिक समस्याओं के निराकरण में आठ औद्योगिक समितियां सहायता पहुंचाती हैं व अन्य सहायक अंग संगठन का काम आगे बढ़ाते हैं।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि विश्व में श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा उठाने में इस संस्था का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। नाना उपयोगी कार्य करके इसने अपने महत्व में वृद्धि ही की है। एन एन कौल (N N Kaul) के शब्दों में "अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ ने अपनी स्थापना मात्र से सामाजिक न्याय को अभिव्यक्ति की लहरों और प्रतिक्रियावाद के प्रभुत्व से बन्धन मुक्त कर दिया और विश्व के अन्तःकरण को सबल कर दिया। अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संघ के संविधान ने उन शक्तियों को बल प्रदान किया है जो उन व्यवस्थाओं को सुधारने का प्रयत्न कर रही थीं जिनमें श्रमिक वर्ग कार्य कर रहा और जीवन यापन कर रहा था तथा इसने विरोधी उपायों को चुप करने में मदद दी है।"

खाद्य एवम् कृषि संगठन

(Food and Agriculture Organisation—F.A.O)

स्थापना.—इस संगठन की स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्तर्गत १९४५ में द्वितीय महायुद्ध के बाद सबसे पहले हुई।

संगठन—इस संगठन के तीन प्रमुख अंग हैं—सामान्य सभा (General Conference) कार्यकारिणी परिषद तथा कार्यालय। संगठन का नियंत्रण सामान्य सभा द्वारा होता है जिसमें ७७ सदस्य राष्ट्रों का एक-एक प्रतिनिधि होता है। सभा की प्रति दो वर्ष में एक बैठक अवश्य की जाती है। सदस्यों में से प्रत्येक का एक वोट होता है। सभा के विशेष अधिवेशन कम-से-कम एक तिहाई सदस्यों की प्रार्थना अथवा 'कृषि एवं खाद्य संगठन की परिषद' (कार्यकारिणी परिषद) के आदेशों पर बुलाया जा सकता है।

कार्यकारिणी परिषद में सामान्य सभा द्वारा चुने हुए २४ राष्ट्रों के सदस्य होते हैं। इसका एक महा निदेशक (Director General) होता है। इस संस्था का कर्मचारी वर्ग पाँच तकनीकी विभागों में विभक्त है—(a) कृषि (Agriculture) (b) अर्थ और सम्बन्धीय (Economics and Statistics) (c) मत्स्य पालन (Fisheries) (d) वन्य [Forest], [e] आहार [Nutrition]। कार्यकारिणी परिषद ही सभा के अधिवेशनों के बीच नियंत्रक अंग की तरह कार्य करती है।

संगठन का मुख्य एवं स्थाई कार्यालय रोम में है। इसके अतिरिक्त वाशिंगटन काहिरा बैंकाक मेक्सिको सिटी रियो डि जेनेरो व सेंटियागो में प्रादेशिक कार्यालय हैं व नई दिल्ली में एक सूचना कार्यालय व संयुक्त राष्ट्र संघीय प्रधान कार्यालय न्यूयार्क में सम्पर्क व सूचना कार्यालय हैं।

उद्देश्य एवं कार्य—खाद्य एवं कृषि संगठन के प्रमुख उद्देश्य ये हैं—रहन-सहन के स्तर को ऊँचा करने में राष्ट्रों की मदद करना समस्त देशों के लोगों की खुराक को उन्नत करना कृषि वनसम्पदा व मछली उद्योग की क्षमता को बढ़ाना ग्रामीण लोगों की हालत को अच्छा करना व इन सब साधनों के जरिये उत्पादन काम के लिए समस्त लोगों के अवसर व्यापक करना।

खाद्य एवं कृषि संगठन का प्रधान कार्य खाद्य तथा कृषि सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन और अनुसंधान करना विश्व में खाद्य सामग्री एवं कृषि की परिस्थितियों का निरीक्षण करना विभिन्न सरकारों को इस विषय में आंकड़े अनुमान तथा भावी सम्भावनाओं की सूचनायें देना आदि है।

कृषि वन-सम्पदा और मछली पालन आदि के बारे में निम्नलिखित उद्देश्यों को पूरा करने के लिए उपयुक्त अन्तर्राष्ट्रीय एवं राष्ट्रीय कार्य करने हेतु यह संगठन अपनी सिफारिशें देता है—

(i) खाद्यान्नों वन्य सम्पत्ति तथा मछलियों का उत्पादन बढ़ाना तथा इसके वितरण की उन्नत व्यवस्था करना।

(ii) जीवन-पालन और पोषण के स्तर को उन्नत करना।

(iii) अपने कार्य क्षेत्र में शिक्षण एवं प्रशासन सुधार करना।

(iv) प्राकृतिक साधनों का संरक्षण करना।

(४) भूमि धारण व्यवस्था की विभिन्न पद्धतियों में सुधार और कृषि के लिए साख का प्रबन्ध करना।

यह संगठन प्रार्थना करने वाली सदस्य सरकारों को प्राविधिक सहायता देता है अल्प विकसित देशों के राष्ट्रीय विकास के कार्यक्रमों में सहायता देने के लिए अपने विशेषज्ञ भेजता है। समान समस्याओं में रुचि रखने वाले देशों अथवा किसी क्षेत्र विशेष के देशों के मध्य (जो उसके सदस्य हों) सामूहिक कार्यवाही को प्रोत्साहन देता है।

खाद्य एवं कृषि संगठन की सफलताएं (Achievements)—खाद्य एवं कृषि संगठन ने अपने क्षेत्र में सराहनीय सफलता अर्जित की है। इसने राष्ट्रीय पोषण-सेवाओं की स्थापना व टिड्डी दलनिरोधी अभियानों में सहायता पहुँचाई है। इसने भारत में चावल के अनुसंधान का एक केन्द्र स्थापित किया है। उत्तर प्रदेश के तराई क्षेत्र को कृषि योग्य बनाने में सहायता दी है। इण्डोनेशिया में इसकी सहायता से मछली और चावल का उत्पादन बढ़ा है। इसके कारण ही थाईलैण्ड और हैटी में कृषि की नवीन विधियों का प्रचार हुआ है। मध्य एवं सुदूर पूर्व लाखों पशुओं को घातक बीमारियों से बचाकर इस संगठन ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। इसने पशुओं का संहार करने वाली बीमारियों के प्रतिकार ढूंढ़े हैं। इस संगठन ने यूनान ग्वाटेमाला फिलिपाइन द्वीपसमूह और थाईलैण्ड में पोषण की समस्याओं का अध्ययन किया है यूरोप तथा दक्षिण अमेरिका में इमारती लकड़ी का उत्पादन बढ़ाने में सहायता की है और कृषि समस्याओं पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन किया है। खाद्य और कृषि के क्षेत्र में अनेक देशों को परामर्श एवं तकनीकी सहायता देकर तथा प्रतिवर्ष विश्व खाद्यान्नों का सर्वेक्षण (World Food Survey) करके इस क्षेत्र में इसने बड़ा नाम पहुँचाया है। इसके द्वारा बुनियादी प्राकृतिक साधनों को समुन्नत करने और उत्पादन के विकसित तरीकों का प्रयोग करने पर विशेष रूप से बल दिया गया है।

(६) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष
(International Monetary Fund–I.M.F.)

जुलाई १९४४ में संयुक्त राष्ट्र का एक वित्तीय सम्मेलन ब्रेटनवुड्स में हुआ। अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति रूजवेल्ट द्वारा आमन्त्रित इस सम्मेलन में ४५ देशों ने भाग लिया और इसी में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष की स्थापना का निर्णय लिया गया। इस निर्णय के अनुसार २७ दिसम्बर, १९४५ को इस संस्था की स्थापना हुई।

संगठन—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रमुख अंग ४ हैं—(i) गवर्नरों का बोर्ड (Board of Governors) (ii) कार्यकारी निर्देशक (Executive Directors) (iii) प्रबन्धकर्ता निर्देशक (Managing Director) एवं (iv) कर्मचारी वर्ग (Staff)।

३१ दिसम्बर, १९६५ तक १०२ राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता स्वीकार की। अब यह संख्या बढ़कर १०७ हो गई है।

कोष के उद्देश्य कार्य आदि—अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के प्रत्येक सदस्य

के लिए एक कोटा निर्धारित है और उसी कोटा के हिसाब से उस देश को मत देने का अधिकार आंका जाता है तथा यह निश्चय किया जाता है कि कितनी राशि की विदेशी मुद्रा वह कोष से विनिमय कर सकता है। कोटा के बराबर ही राष्ट्र का योग होता है जिसका भुगतान कुछ अंश स्वर्ण में तथा शेष उसे अपनी मुद्रा में करना होता है। कोटा की राशि ५,००,००० डालर से लेकर २७५,००,००,००० डालर तक भी होती है। १९५८ के अन्त तक 'कोष' की कुल राशी ९२ अरब २१ करोड़ ९४ लाख डालर थी जिसमें अब पर्याप्त वृद्धि हो गई है।

इस संस्था का मुख्य उद्देश्य राष्ट्रों में मुद्रा सम्बन्धी सहयोग बढ़ाना विनिमय में स्थिरता लाना अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के प्रसार में सुविधायें प्रदान करना उत्पादन में वृद्धि करना तथा सदस्यों को आर्थिक सहायता प्रदान करना आदि है।

'कोष' अपने ३ प्रमुख सैद्धान्तिक तरीकों द्वारा अपने उद्देश्यों की प्राप्ति करता है।

(१) अपने सदस्यों की अल्पकालीन अथवा मध्यकालीन भुगतान-कठिनाइयों का सामना करने के लिए उचित सुरक्षा के अन्तर्गत अपने विदेशी मुद्रा-विनिमय साधनों को उन्हें उपलब्ध करके

(२) प्रार्थना किये जाने पर सदस्यों को उनकी आर्थिक एवं मौद्रिक समस्याओं के समाधानार्थ विशेषज्ञों एवं तकनीकिओं की सेवाएं प्रदान करके और

(३) वित्तीय एवं मुद्रा विनिमय के मामलों पर बराबर तथा पूर्ण विचार विनिमय करके।

सदस्यों की प्रार्थना पर यह संस्था कुछ शर्तों के अधीन सदस्य राष्ट्रों की मुद्रा के बदले विदेशी मुद्रा का विक्रय भी करती है। इस संस्था का यह प्रमुख प्रयास रहता है कि वह सदस्यों के मुद्रा संचय को स्तर तक कायम रख सके ताकि वह संचय उन सदस्यों के लिए सदैव उपलब्ध हो सके जो अस्थाई रूप से विदेशी भुगतान-कठिनाइयों का सामना कर रहे हों।

अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष ने धन एवं वित्तीय मामलों के प्रविधिज्ञों का जो स्टाफ रखा हुआ है वह अत्यन्त प्रवीण है तथा संगठन एवं संगठन के सदस्यों की समस्याओं को एकत्र करके उनसे सम्बन्धित ह्रास की सूचनाओं का विश्लेषण करता है। इस संगठन अथवा संस्था द्वारा सदस्य देशों के आमन्त्रण पर शिष्ट मण्डल भी भेजे जाते हैं। यह संस्था इस बात के लिए प्रोत्साहित करती है कि प्रत्येक सदस्य के साथ उसका उसकी अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति के बारे में सलाह-मशविरा हो, अथवा सम्बन्धित समस्याओं के बारे में सभी सदस्यों के विचार एक साथ प्रस्तुत किये जावें। संस्था का यह कर्तव्य है कि वह अपने प्रत्येक सदस्य को विश्व की आर्थिक स्थितियों के परिवर्तन की सूचनाओं से नियमित रूप से अवगत रखे।

'कोष' अर्थात् संस्था (I.M.F.) ने विभिन्न सरकारों को उनकी मुद्राओं के सोने तथा डालर में विनिमय दर निश्चित करने में सहयोग प्रदान

किया है तथा विनिमय सम्बन्धी व्यवहार में आने वाली बाधाओं को दूर किया है।

कोष का प्रधान कार्यालय वाशिंगटन डी० सी० में है।

(४) पुनर्निर्माण और विकास के लिए अन्तर्राष्ट्रीय बैंक [International Bank for Reconstruction and Development–IBRD]

ब्रेटनवुड्स सम्मेलन जुलाई १९४४ में किये गए निर्णय के अनुसार ही इस संस्था का उद्गम हुआ और इसने अपना काम जून १९४६ में प्रारम्भ किया। इस संस्था का मुख्य कार्यालय भी वाशिंगटन में ही है और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष का सदस्य होने पर कोई भी राष्ट्र इसका भी सदस्य हो सकता है। इस बैंक को विश्व बैंक [World Bank] के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

संगठन– इस विकास बैंक के प्रमुख अंग ५ हैं

(i) गवर्नरों का बोर्ड (Board of Governors)
(ii) कार्यवाहक निर्देशक (Executive Delrectors)
(iii) अध्यक्ष (President)
(iv) अधिकारी वर्ग (Officers) एवं
(v) कर्मचारी वर्ग (Staff)।

सितम्बर १९६५ तक इस संस्था के भी १२ सदस्य थे। अब यह संख्या बढ़ कर १०३ हो गई है।

पूंजी सहायता एवं कार्य – प्रारम्भ में बैंक की अधिकृत पूँजी (Authorised C pital) एक हजार मिलियन (१० बिलियन) डालर थी। ११ सितम्बर १९६३ में यह बढ़ कर २२ मिलियन (२२ बिलियन) डालर हो गयी है।

विश्व बैंक के समझौते की धारा १ के अनुसार इसके निम्नलिखित उद्देश्य हैं —

(१) विश्व बैंक का प्रथम मुख्य उद्देश्य विकसित सदस्य देशों की अर्थ-व्यवस्थाओं के पुनर्निर्माण कार्य में वित्तीय सहायता देना तथा अविकसित सदस्य राष्ट्रों को पर्याप्त मात्रा में मौद्रिक व औद्योगिक सहायता प्रदान करके इन देशों के तीव्र आर्थिक विकास को सम्भव बनाना है।

(२) विश्व बैंक का दूसरा प्रमुख उद्देश्य व्यक्तिगत तथा संस्थागत निवेशकर्ताओं को उनके ऋणों के भुगतानों की गारंटी देकर अथवा उनके साथ निवेशकर्ता के रूप सम्मिलित हो कर सदस्य देशों में व्यक्तिगत तथा संस्थागत ऋण पूंजी का विस्तार करना है।

(३) विश्व बैंक का तीसरा प्रमुख उद्देश्य संसार में मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के स्थायी संतुलित विकास में सहायता प्रदान करना तथा अन्तर्राष्ट्रीय निवेशकर्ताओं को उत्पादक साधनों के विकास के लिए प्रोत्साहन देकर सदस्य देशों में उत्पादन, रोजगार, आय तथा जीवन स्तर में वृद्धि करना है।

(४) विश्व बैंक का चौथा प्रमुख उद्देश्य सदस्य राष्ट्रों में शान्तिकालीन अर्थ-व्यवस्था की स्थापना के लिए समुचित दबाए उत्पन्न करना है।

विश्व बैंक सदस्य देशों को सामान्यतया निम्नलिखित रूपों में ऋण सहायता प्रदान करता है—

[i] अपनी पूंजी में से प्रत्यक्ष ऋण देकर अथवा किसी अन्य संस्था के साथ ऋण देने की क्रिया में भाग लेकर

[ii] ऋण की राशि को सदस्य अथवा अन्य देशों के मुद्रा बाजारों से प्राप्त करके

[iii] व्यक्तिगत निवेशकर्त्ताओं द्वारा प्राप्त होने वाले ऋणों के सम्बन्ध में ऋण तथा ब्याज के भुगतानों की गारंटी देकर।

ऋण देने अथवा ऋण के भुगतान की गारंटी करने के पूर्व बैंक सभी प्रकार की आवश्यक जांच पड़ताल करता है। साधारणतः बैंक सदस्यों का उत्पादक योजनाओं के विकास के लिए दीर्घकालीन तथा मध्यकालीन ऋण सहायता देता है।

बैंक की उपयोगिता का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि इसके द्वारा ३० सितम्बर १९६९ तक की २० वर्षों की अवधि में प्रदान किये गये ऋणों की राशि ६००० मिलियन डालर है जो लगभग ८० विभिन्न उधार लेने वाले देशों में लगभग ४६० ऋणों के रूप में फैली हुई है।

अन्तर्राष्ट्रीय बैंक और भारत—भारत को विश्व बैंक ने अब तक अनेक विकास-कार्यों के लिए ऋण प्रदान किये हैं। इनमें से प्रमुख कार्य जिनके लिए ऋण दिये गये हैं—[i] रेलों के इंजनों की खरीद करना [ii] जंगलों की भूमि को कृषि योग्य बनाना तथा ट्रैक्टर बुलडोजर आदि कृषि उपकरण खरीदना [iii] दामोदर घाटी की बोकारो कोनार योजना की पूर्ति करना [iv] एयर इण्डिया इन्टरनेशनल द्वारा नये हवाई जहाज खरीदना [v] भारत स्टील कम्पनी तथा टाटा आयरन कम्पनी का विस्तार व आधुनिकीकरण करना [vi] ट्राम्बे में बिजली के लिए थर्मल प्लांट लगाना [vii] विभिन्न बांध बनाना और बन्दरगाहों तथा रेलों आदि का विकास करना।

भारत विश्व बैंक की सहायता के कारण अपने आर्थिक विकास में अत्यन्त उपयोगी सहायता प्राप्त कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ
(The International Civil Aviation Organization-ICAO)

अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संघ ने अन्तरिम रूप से अगस्त १९४५ में काम करना शुरू किया किन्तु ४ अप्रैल १९४७ से यह एक स्थायी संगठन में बदल दिया गया। इसका मुख्य कार्यालय कनाडा के मोन्ट्रियल (Montreal) नगर में है।

संगठन—इसका संगठन इस प्रकार है—

(i) सभा—इसमें ७४ राज्यों के प्रतिनिधि हैं। यह सभा ही संगठन की धारा सभा है।

(ii) कौंसिल—इसमें सभा द्वारा निर्वाचित २१ राष्ट्रों के प्रतिनिधि होते हैं। इसका चुनाव करते समय सभा यह ध्यान रखती है कि इसमें ऐसे देशों को भी प्रतिनिधित्व मिले जो हवाई यातायात से विशेष महत्व रखते हों

सभी छोटे बड़े देश और संयुक्त राष्ट्र संघीय संरक्षित प्रदेश इस संघ के सदस्य हैं। मई १९६६ तक ही संघ की सदस्य संख्या १२७ हो गई थी।

इस संस्था के मुख्य अंग इस प्रकार हैं—विश्व डाक कांग्रेस [Universal Postal Congress] कार्यकारिणी एवं सम्पर्क समितियाँ [Executive and Liaison Committees] डाक अध्ययन पर परामर्शदात्री आयोग [Consultative Commission on Postal Studies] एवं अन्तर्राष्ट्रीय ब्यूरो [International Bureau]। विश्व डाक कांग्रेस की बैठक आम तौर से पांच वर्ष बाद होती है। यह सदस्य देशों के सुझावों के आधार पर विश्व डाक संधि और उसके सहायक समझौतों पर विचार करती है। यही कार्यकारिणी समिति का चुनाव करती है जिसमें २० सदस्य होते हैं। कार्यकारिणी और सम्पर्क समितियाँ संयुक्त राष्ट्र संघ तथा विभिन्न अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं से सम्बन्ध कायम करने सलाह-मशविरे करने डाक समस्याओं का अध्ययन करने और कांग्रेस से सिफारिशें करने का काम करती हैं।

विश्व डाक संघ द्वारा १९६२ में पहली बार अविकसित देशों के बहुत से डाक अधिकारियों को विकसित देशों में प्रशिक्षण के लिए भेजा गया। इस संघ ने अनेक अन्य विकसित एवं पिछड़े हुए देशों को डाक-सेवा विशेषज्ञों की सेवायें प्रदान की हैं और कांगो गणराज्य में डाक व वित्तीय सेवाओं के पुनर्गठन में सहायता प्रदान की है। सोमालिया में डाक कानूनों और डाक दरों के कार्य को पूरा करने के लिए डाक-संघ के विशेषज्ञ कार्यरत हैं।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ
(The International Tele-Communications Union—ITU)

अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ वह संगठन है जिसके जरिये राज्य अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार को नियमित करते हैं। इस संगठन की स्थापना द्वितीय महायुद्ध के पूर्व १९३२ में हुई थी। युद्ध के बाद १९४७ में अटलांटिक नगर में इसका पुनर्संगठन किया गया। १० जनवरी १९४९ को संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस संस्था से समझौता करके इसको भी अपने कार्यक्रम में सम्मिलित कर लिया।

संचार संघ का मुख्य कार्यालय जेनेवा में है। विश्व के लगभग सभी छोटे-बड़े राष्ट्र इस संघ के सदस्य हैं। १९६५ में ही इसकी सदस्य संख्या १२७ हो चुकी थी।

संगठन—इस संघ का संगठन इस प्रकार है—

(i) पूर्ण अधिकारों से सम्पन्न एक सम्मेलन इस संघ का सर्वोच्च अंग है। सम्मेलन की बैठक आमतौर पर पांच वर्ष में एक बार होती है।

(ii) एक प्रशासकीय सम्मेलन है जिसके अधिवेशन आमतौर से पूर्ण अधिकार से सम्पन्न सम्मेलन के साथ-साथ ही होते हैं।

(iii) एक प्रबन्ध अथवा कार्यकारी परिषद है जिसमें पूर्ण अधिकार सम्पन्न सम्मेलन द्वारा निर्वाचित संघ के २५ सदस्य होते हैं। इन सदस्यों के निर्वाचन में उचित भौगोलिक प्रतिनिधित्व का ध्यान रखा जाता है। परिषद की बैठक साधारणतः वर्ष में एक बार होती है लेकिन आवश्यकता पड़ने पर

या कुछ सदस्यों द्वारा प्रार्थना किए जाने पर अधिक बैठकें भी बुलायी जा सकती हैं। एक अधिवेशन समाप्त होने से दूसरे अधिवेशन के शुरू होने तक परिषद् ही पूर्ण अधिकार सम्पन्न सम्मेलन की ओर से काम-काज चलाती है।

(iv) संचार संघ का एक सामान्य सचिवालय है जो जेनेवा में स्थित है। संघ में एक अन्तर्राष्ट्रीय रजिस्ट्रेशन बोर्ड और तार, टेलीफोन व रेडियो सम्बन्धी सलाहकार समितियाँ भी हैं।

उद्देश्य एवं कार्य—अन्तर्राष्ट्रीय दूर-संचार संघ के प्रमुख उद्देश्य तीन हैं—

प्रथम दूर-संचार के साधनों को विकसित करने तथा उनके सदुपयोग के लिए अन्तर्राष्ट्रीय प्रयोग को स्थिर रखना तथा उनका विस्तार बढ़ाना।

द्वितीय उपरोक्त साधनों की उपादेयता को बढ़ाने के लिए उनके विकास को प्रोत्साहन देना।

तृतीय दूर-संचार सम्बन्धी प्राविधिक सुविधाओं को यथासंभव सभी राष्ट्रों को उपलब्ध कराना ताकि समान सदयों की प्राप्ति की जा सके।

दूर-संचार संघ की तार व टेलीफोन सलाहकार समिति टेलीग्राफी फैक्सिमिल व टेलीफोन सम्बन्धी संचालन और दर सम्बन्धी सवालों पर अध्ययन तथा सिफारिशें करती है। रेडियो सलाहकार समिति रेडियो-तकनीकों और उन संचालन मसलों जिनका निराकरण विशेषतया प्राविधिक सुझावों पर ही निर्भर है के बारे में अध्ययन एवं सिफारिशें करती है।

इस संस्था ने अब तक सैकड़ों विशेषज्ञ अविकसित तथा पिछड़े हुए देशों को भेजे हैं और उन देशों को प्रशिक्षण-सामग्री भी प्रदान की है।

(१२) विश्व ऋतु विज्ञान संघ

(World Meteorological Organization—W M O)

विश्व ऋतु विज्ञान संघ उस अन्तर्राष्ट्रीय ऋतु विज्ञान संगठन का उत्तराधिकारी है जो १८७८ से अपने सदस्यों के मध्य मौसम-सूचना-सेवाओं में तालमेल स्थापित करता रहा है। इस संघ की स्थापना २३ मार्च १९५० को हुई और संयुक्त राष्ट्र संघ के साथ सम्बद्ध विशेष एजेन्सी के रूप में इसका प्रादुर्भाव २० दिसम्बर, १९५१ को हुआ। तभी से इस संगठन का कार्य-क्रम संयुक्त राष्ट्र संघ के अपने कार्य क्रम में सम्मिलित हो गया है।

विश्व ऋतु विज्ञान संघ के सदस्य वे सब राज्य व प्रदेश हैं, जिनकी अपनी स्वतन्त्र मौसम-सेवाएं हैं।

संगठन—इस संघ का संगठन संक्षेप में निम्नलिखित रूप से है—

(i) एक विश्व ऋतु विज्ञान कांग्रेस है जिसमें संघ के समस्त सदस्य राष्ट्रों की ओर से ऋतु विज्ञान व्यवस्थाओं के अध्यक्ष प्रतिनिधित्व करते हैं। संघ की प्रति चार वर्ष में कम से कम एक बैठक अवश्य होती है। कांग्रेस ऋतु विज्ञान सम्बन्धी प्रणालियों और कार्य-विधियों के बारे में प्राविधिक नियम स्वीकार करती है तथा आम नीति का निर्धारण करती है।

(ii) एक प्रबन्ध अथवा कार्यकारी समिति है जो कांग्रेस के प्रस्तावों के पालन की देखरेख करती है। यह उन मामलों में सिफारिश करती है जिन

पर अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर कदम उठाना आवश्यक हो। सदस्यों को प्राविधिक जानकारी परामर्श व सहयोग देने का काम यह समिति करती है। वर्ष में कम से कम एक बार इसकी बैठक का होना आवश्यक है। इसके सदस्य हैं—विश्व ऋतु विज्ञान संघ के प्रधान तथा उप प्रधान संघ के ऋतु विज्ञान सम्बन्धी छः प्रादेशिक ऋतु विज्ञान—एसोसियेशनों के प्रधान एवं ६. निर्वाचित सदस्य।

(iv) संघ का एक सचिवालय है और प्राविधिक आयोग भी।

६. प्रादेशिक ऋतु विज्ञान एसोसियेशन क्रमशः अफ्रीका एशिया दक्षिण अमेरिका उत्तर व मध्य अमेरिका यूरोप एवं दक्षिण-पश्चिम प्रशान्त के लिए हैं। संघ का मुखिया एक महासचिव होता है जिसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है।

उद्देश्य एवं कार्य—विश्व ऋतु विज्ञान संघ के उद्देश्य एवं कार्य ये हैं—

(i) संसार की ऋतुविज्ञानीय क्रियाओं के बीच समन्वय स्थापित करना उनका प्रमापीकरण करना।

(ii) ऋतु विज्ञान सम्बन्धी सेवाओं की व्यवस्थाओं के लिए केन्द्र रूप में कार्य करना और उन्हें ठीक ठाक रखना।

(iii) मौसम की जानकारी के तेजी से आदान-प्रदान के लिए आवश्यक व्यवस्था करना और उसे सुव्यवस्थित रखने में योग देना।

(iv) ऋतु विज्ञान के क्षेत्र में अध्ययन तथा प्रशिक्षण को प्रोत्साहन देना।

(v) विमान संचालन जहाजरानी कृषि एवं अन्य मानवीय उद्योगों में ऋतु विज्ञान से लाभ उठाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा देना।

प्राविधिक सहायता क्रम मे विश्व ऋतु विज्ञान संघ का सम्बन्ध राष्ट्रीय ऋतु-सेवाओं और ऋतु विज्ञान के कृषि स्वास्थ्य तथा यातायात जैसे कार्यों से रहता है।

(११) अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी
(International Atomic Agency)

अन्तर्राष्ट्रीय अणुशक्ति एजेन्सी एक नवीनतम अन्तर सरकारी संगठन है। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति आइजनहोवर द्वारा ८ दिसम्बर १९५३ को संयुक्त राष्ट्र संघीय महासभा के सामने दिये गये एक भाषण में इस अणु शक्ति एजेन्सी का प्रस्ताव सामने आया और औपचारिक रूप से २९ जुलाई १९५७ को इसकी स्थापना हुई। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वावधान में की गयी।

उद्देश्य एवं कार्य—इस एजेन्सी की स्थापना का उद्देश्य अणुशक्ति के शांतिमय उपयोग को और आगे बढ़ाना था। यह शांतिमय उपयोग के लिए अणुशक्ति सम्बन्धी अनुसंधान में सहायता पहुंचाती है इस ज्ञान के विकास और उसे काम में लाने में सहयोग देती है। एजेन्सी वैज्ञानिक तथा प्राविधिक सूचनाओं के आदान-प्रदान में योग देती है और वैज्ञानिकों का प्रशिक्षण एवं आदान-प्रदान को प्रोत्साहित करती है। इस रूप में एक मध्यस्थ का काम

महासभा के द्वितीय अधिवेशन में प्रस्तुत की गई थी किन्तु पृष्ठभूमि के रूप में समस्या के पूर्ववर्ती इतिहास की रूप रेखा पर दृष्टि डालना बोधगम्यता की दृष्टि से उपयोगी होगा ।

पृष्ठभूमि—कोरिया द्वितीय महायुद्ध से पूर्व जापान के नियंत्रण में था वह इसे १९१० में चीन से जीत चुका था । दिसम्बर, १९४३ को काहिरा सम्मेलन में यह निश्चय किया गया था कि जापान नियंत्रित कोरिया को युद्ध में विजय के उपरान्त स्वतन्त्रता प्रदान कर दी जाय । काहिरा घोषणा की शब्दावली इस प्रकार थी—'संयुक्त राज्य अमेरिका, ब्रिटेन और चीन कोरियाई जनता की दासता से परिचित हैं और उनका यह दृढ़ निश्चय है कि उचित समय पर कोरिया को स्वतन्त्रता प्रदान की जाय ।' फरवरी १९४५ में यह तय हुआ कि कोरिया स्वतंत्र होने के पूर्व कुछ समय तक संयुक्त राष्ट्र संघ के संरक्षण में रहे । जुलाई १९४५ के पोट्सडम सम्मेलन में भी काहिरा घोषणा को स्वीकार कर लिया गया और इस तरह कोरियाई स्वतंत्रता के प्रश्न को सोवियत संघ की भी मान्यता प्राप्त हो गई । दिसम्बर १९४५ में मास्को में आयोजित ३ बड़े राष्ट्रों के विदेश मंत्रियों के सम्मेलन में यह फैसला किया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ की कोरिया पर संरक्षण की अवधि ५ वर्ष रहे । लेकिन युद्ध समाप्त होने पर स्थिति बिल्कुल बदल गई । जब जापानी सेनाओं ने कोरिया और मञ्चूरिया में आत्म समर्पण किया उस समय सैनिक सुविधा की दृष्टि से ३८ अक्षांश रेखा के उत्तर में सोवियत रूस के तथा इसके दक्षिण में अमेरिकन सेनाओं के आगे हथियार डाले गये । यही रेखा उत्तरी और दक्षिणी कोरिया को विभाजित करने वाली सुदृढ़ सीमान्त रेखा बन गई और एक तरह से कोरिया दो भागों में विभक्त हो गया । कई महीनों तक सोवियत रूस और अमेरिका के मध्य कोरिया का एकीकरण करने और उसे ४ राष्ट्रों के संरक्षण में लेने के प्रश्न पर वार्ता होती रही किन्तु कोई समझौता नहीं हो सका । वस्तुतः दोनों ही पक्ष कोरिया में अपनी स्थिति को दृढ़ बनाना चाहते थे अतः इस पृष्ठभूमि में समझौते की कोई सम्भावना हो ही नहीं सकती थी ।

संयुक्त राष्ट्र संघ और कोरिया संकट—१९४७ की ग्रीष्म ऋतु में दोनों पक्षों की वार्ता में पूर्ण गतिरोध उत्पन्न हो गया और तब १७ सितम्बर, १९४७ को अमेरिका ने महासभा के द्वितीय अधिवेशन में कोरिया की स्वतंत्रता का प्रश्न प्रस्तुत कर दिया । अपने प्रस्ताव में अमेरिका ने कोरिया का एकी-करण कर उसे अविलम्ब स्वतंत्रता प्रदान करने की सिफारिश की । अमेरिका द्वारा यह भी सुझाव दिया गया कि संयुक्त राष्ट्र संघ एक कमीशन (आयोग) की स्थापना करे और यह कमीशन अथवा आयोग अपनी देख रेख में समस्त कोरिया में स्वतंत्र निर्वाचन कराये, तथा बहुमत प्राप्त दल को कोरिया की सत्ता सौंप दी जाय । सोवियत रूस की ओर से अमेरिकन प्रस्ताव का घोर विरोध हुआ परन्तु ६ के विरुद्ध ४१ के बहुमत से महासभा ने कोरिया में एक 'अस्थायी आयोग' भेजने का निर्णय किया । इस आयोग को यह भी निर्देश दिया गया कि वह कोरिया में स्वतंत्र निर्वाचन द्वारा एक स्वतंत्र सरकार की स्थापना के कार्य में योग प्रदान करे ।